KALYAN FEB-DEC 1949 G.K.U.

वर्ष २३
अङ्क २

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम । जय रघुनन्दन जय सियाराम ॥
रघुपति राघव राजा राम । पतितपावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा । जय गणेश जय शुभ-आगारा ॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर फाल्गुन, फरवरी सन् १९

चित्र-सूची

तिरंगा

वार्षिक मूल्य भारतमें ६≡) विदेशमें ८॥=) (१३ शिलिङ्ग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत् चित् आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री

मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

वेणुवादनशीलाय गोपालायाहिमर्दिने । कालिन्दीकूललीलाय लोलकुण्डलधारिणे ॥
वल्लवीनयनाम्भोजमालिने नृत्यशालिने । नमः प्रणतपालाय श्रीकृष्णाय नमो नमः ॥

वर्ष २३ | गोरखपुर, सौर फाल्गुन २००५, फरवरी १९४९ | संख्या २ पूर्ण संख्या २६७

सेवाके आदर्श

बसे रघुनंदन कानन जाय ।
जनकलली लछिमन दोउ सेवत संतत सहज सुभाय ॥
प्रमुदित-मन पदकमल पलोटति सीय सहित अनुराग ।
निरखति नित निरुपम छबि माधुरि भरि नयनन्हि, बड़भाग ॥
सूर संत सौमित्रि अन्न-निद्रा-तियदर्शन त्याग ।
सदा सचेत धनुष कर धारे रहे रैन-दिन जाग ॥
अतुलित मूर्तिमंत सेवा जनु शोभित उभय शरीर ।
सर्वभाव सर्बस करि अर्पन भजत सदा रघुबीर ॥

याद रक्खो—श्रीभगवान्के आश्रय बिना सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्यादि सद्गुण वैसे ही नहीं ठहर सकते, जैसे बिना प्राणोंके शरीरकी इन्द्रियाँ। भगवान्का आश्रय न होनेपर सद्गुणोंसे मनुष्यके मनमें वह अभिमान उत्पन्न होता है, जो समस्त सद्गुणोंका नाशक और दुर्गुणोंका जनक है और तुरंत ही अपने परिवारको फैलाकर सद्गुणोंको हृदयसे निकाल देता है।

याद रक्खो—अभिमान मनुष्यको अपने दोष देखनेका अवसर ही नहीं आने देता, वह निरन्तर उसे अंधा बनाये रखता है, जिससे मनुष्य अपनी तनिक-सी भी सच्ची समालोचना, जो उसके लिये परम हितकर होती है, नहीं सह सकता; एवं इसलिये सहज ही दोषोंका घर बन जाता है।

याद रक्खो—जो मनुष्य अभिमानके वशमें होकर केवल जगत्-सम्मानके लिये लालायित हो उठता है, उसमें एक ऐसी दुर्बलता आ जाती है जो उसके हृदयमें एक विषाक्त क्षत कर देती है। फिर वह सम्मानके लोभसे अपने अपराध, पाप, दोष, स्वार्थपरता, कृतघ्नता, नीचाशयता, परस्वापहरणता, परसुखकातरता आदि जघन्य वृत्तियोंको छिपाकर अपनेको सत्पुरुष प्रसिद्ध करनेके लिये न मालूम कितनी नयी-नयी झूठ बोलता है, कितने सुन्दर स्वाँग बनाता है और कितने उपदेश करता है, इससे उसको परिणाममें सम्मान तो मिलता ही नहीं; प्रत्युत उसके भीतरका घाव बढ़ता ही जाता है एवं अन्तमें ऐसी स्थिति हो जाती है कि एक दिन उसकी भीषण यन्त्रणासे छटपटाकर उसे आर्त पुकार करनी पड़ती है, परंतु फिर उसकी रक्षाका कोई सहज साधन नहीं रह जाता।

याद रक्खो—जो अपने अपराधोंको छिपाता है और दूसरोंपर सहस्रों नये-नये दोष मढ़नेका प्रयत्न करता है—वह बड़ा ही अभागा है। उसमें कभी सद्गुण आ ही नहीं सकते। सद्गुणोंको लाना और उन्हें स्थायीरूपसे अपने अंदर बसाना हो तो समस्त सद्गुणोंके समुद्र भगवान्को हृदयमें बसा लो।

याद रक्खो—भगवान्के हृदयमें आते ही समस्त दुर्गुण वैसे ही नष्ट हो जायँगे, जैसे सूर्यका उदय होते ही अन्धकार मर जाता है। जगत्का यह सूर्य तो फिर छिपता भी है, परंतु भगवान् एक बार जिसके हृदयमें उदय हो जाते हैं—फिर वे कभी छिपते ही नहीं; एक बार जिसके हृदयमें आ बसते हैं, फिर वहाँसे निकालनेपर भी नहीं निकलते।

याद रक्खो—दुर्गुणोंका ही परिणाम दुःख है, जब दुर्गुण नहीं रहेंगे, तब दुःख भी नहीं रहेंगे। और सद्गुण आ जायँगे तो सद्गुणोंका स्वाभाविक परिणाम सुख भी अनायास ही आवेगा। साथ ही भगवान्की निवासभूमिमें सद्गुण उनके स्वभावगत होनेसे सबसे बड़ा लाभ यह होगा कि ये सद्गुण फिर कभी नष्ट नहीं होंगे, इसलिये सुख भी स्थायी और आत्यन्तिक होगा।

याद रक्खो—वस्तुतः सुख किसी सद्गुणमें नहीं है या सद्गुणका परिणाम भी नहीं है। यह तो भगवान्में स्वभावगत वैसे ही है, जैसे सूर्यमें स्वभावतः ही प्रकाश और उष्णता होती है और उनसे अन्धकार एवं सर्दीका स्वाभाविक नाश होकर विलक्षण दृष्टिशक्ति और स्फूर्ति प्राप्त होती है। भगवान्से रहित जो सद्गुण हैं, वे वस्तुतः सद्गुण ही नहीं हैं। वे तो वैसे ही नकली गुण हैं जैसे मिट्टीपर रंग चढ़ाये हुए नकली आम, अमरूद, संतरे, सेब आदि खिलौने होते हैं। जो ऊपरसे फल-से दीखते हैं परंतु वे हैं केवल मिट्टी-ही-मिट्टी। इसी प्रकार भगवान्से रहित सद्गुण केवल

कल्पनामात्र होते हैं। इस बातको समझो और समझकर निरन्तर अपने हृदयमें भगवान्‌को बसानेका प्रयत्न करो।

याद रक्खो—भगवान् तो सभीके हृदयमें हैं; परंतु तुम इस बातपर विश्वास नहीं करते, इसीसे नित्य निवास करनेवाले भगवान् भी वहाँ प्रकट नहीं हो पाते। और इसीसे सद्गुण टिक नहीं पाते तथा दुर्गुणोंका परिवार बढ़ता रहता है। भजनके द्वारा विश्वास प्राप्त करो और फिर विश्वासकी आँखोंसे देखो, भगवान् तुम्हारे अंदर प्रकट हो जायँगे। उनके प्रकट होते ही तुम सब प्रकारसे निहाल हो जाओगे।

'शिव'

संसारका वास्तविक स्वरूप

(श्री १००८ श्रीपूज्य स्वामीजी श्रीकरपात्रीजी महाराज)

सम्पूर्ण व्यावहारिक प्रपञ्च स्वप्नवत् है, फिर भी अबाधित चिरकालानुवृत्त होनेके कारण उसमें दृढ़ प्रत्यय होता है, अचित् बाधित होनेसे स्वप्नमें इतना दृढ़ प्रत्यय नहीं होता। कभी किसी दीर्घ स्वप्नमें अभिनिवेशाधिक्यसे जागनेपर भय-कम्पादि होता रहता है, सहसा उसकी सत्तामें अविश्वास नहीं होता। प्राणियोंके भोगारम्भक शुभाशुभ अदृष्ट भी कुछ प्रत्यय-दार्ढ्यमें हेतु हो जाते हैं। यह बात अलग है कि सब स्वप्न एक-से नहीं होते, उनकी विचित्रता स्पष्ट ही है। भ्रममें कोई भी बात असम्भव नहीं है। समुद्रमें बड़वानलके समान जलमें अग्नि, आकाशमें नगर, शिलामें पङ्कज, शिलाके भीतर सृष्टि, शिलाओंका उड़ना आदि भी सम्भव होते हैं। यन्त्रपुमान्‌के समान अचेतनका भी कर्म करना दृष्ट है। स्वप्ननिमग्नबुद्धि प्राणी स्वप्नकी स्थिरता और सत्यताका जैसे अनुभव करता है, वैसे ही सर्गनिमग्नबुद्धि प्राणी सर्गको सत्य और स्थिर देखता है। स्वप्नसे स्वप्नान्तरगमनके समान ही सर्गभ्रमण भी होता है।

इसी सम्बन्धमें 'योगवाशिष्ठ'का भिक्षूपाख्यान है। समाधिसम्पन्न भिक्षुके शुद्ध चित्तके सङ्कल्पसे लीलया एक जीवट नामक सामान्य मनुष्य उत्पन्न हुआ। वही स्वप्नमें अपने-आपको वेदपाठी ब्राह्मण देखने लगा। ब्राह्मणने भी निद्रामें पड़कर स्वप्नमें अपनेको सामन्त देखा। सामन्तने स्वप्नमें अपनेको सम्राट् देखा। सम्राट् स्वप्नमें अप्सरा हो गये। अप्सरा भी स्वप्नमें मृगी बन गयी। मृगी स्वप्नमें लता बन गयी। लता कटकर भ्रमर बन गयी और पद्मिनीमें आसक्त होकर मदान्ध गजद्वारा कमलिनीके साथ ही वह भी नष्ट होकर मदान्ध गज बन गया। गज भी मरकर भ्रमरोंको देखता-देखता भ्रमर हो गया और फिर गजपादसे चूर्णित हो गया। हंसकी भावनासे वही हंस हो गया। हंस मरकर सारस हो गया, सारसने रुद्रको देखकर रुद्र होना चाहा और रुद्र हो गया (यहाँ रुद्रका अर्थ रुद्रसारूप्यप्राप्त रुद्रगण है)। रुद्र होते ही जब सर्वज्ञता आ गयी, तब अपने अनेकानेक जन्मों और स्वप्नोंकी सब कथा उसकी स्मृतिमें आयी। अहो! असत्या ही जगन्मोहिनी माया मरुभूमिमें यद्यपि जलके समान ही है, तथापि कितनी विचित्रता इसमें है। जो मैं प्रथम केवल चिन्मात्र था, वह चित्त बना। गगनादि प्रपञ्चकी भावना करके जीव बना। फिर भिक्षु, फिर स्वप्नसे स्वप्नमें भटकते हुए कहाँसे कहाँ गया। यह सब भावना और सङ्कल्पके अभ्यासका ही परिणाम है। देहादिप्राप्तिमें भी सङ्ग, सङ्कल्प, भावना ही निमित्त होती है। यह भावना आदि विचार करने-

पर कुछ भी नहीं ठहरते । इस सम्पूर्ण संसारभ्रमका एकमात्र असंवेदन ही मार्जन है । यह सब विचारकर रुद्र-ने शयान भिक्षुको जगाया । जागकर तत्त्वज्ञ भिक्षुने विचित्र स्वप्नपरम्पराका स्मरण किया । पुनः दोनों मिलकर जीवटके पास गये , उसे प्रबुद्ध किया । ये सब पृथक्-पृथक् सर्गके ही आकाशमें थे । फिर उन तीनोंने विप्रके संसारमें जाकर उसे जगाया । इस तरह सामन्त, राजा, सुराङ्गना आदि पूर्वोक्त सभी मिलकर अन्तमें रुद्रभावको प्राप्त हुए । सभी निरावरण चित्स्वरूप होकर अवेदनात्मक मोक्षको प्राप्त हुए ।

संवेदन ही सर्ग और बन्ध है, अवेदन ही मोक्ष है । सर्वसाधारणके सङ्कल्पमें अभ्यासाभावसे शक्ति नहीं होती, तथापि एकाग्रतासे दृढ़ सङ्कल्प करनेवाले योगी-लोग एक क्षणमें ही अनेक देहोंका निर्माण कर लेते हैं । जैसे क्षीरसागरमें रहते हुए शेषशायी भगवान् अन्यत्र सहस्रों अवतारकार्य करते हैं, वैसे ही सिद्धसङ्कल्प योगियोंके सङ्कल्पानुसार ही सृष्टिपरम्परा चल पड़ती है । दूसरे प्राणी प्राक्तन शुभाशुभ कर्मानुसारी दृढ़ सङ्कल्पके अनुसार संसारको प्राप्त होते हैं । इस तरह कर्मानुसार सभी जीव एक स्वप्नसे दूसरे स्वप्नमें भटक रहे हैं । शान्त, निर्विकार ब्रह्मभावका बोध होनेपर प्राणरोध, इन्द्रियरोधके बिना, दृश्य प्रपञ्चके अस्तगमनके बिना भी सब कुछ सर्वदा शान्त, शुद्ध, मौन ब्रह्म ही उपलब्ध होता है । प्रयत्नानपेक्ष इसी अवस्थाको सौषुप्त मौन कहा है । इसमें यथास्थित वस्तुके बोधमात्रसे यथास्थित अनाद्यनन्त उदयास्तवर्जित, आकाशसे भी परम सूक्ष्म, शिलासे भी अनन्त घन, निरवकाश, ठोस, शुद्ध, अमल ब्रह्म अपने आपमें ही स्थित रहता है ।

वासनामात्र ही चित्त है । चित्तके अभावमें ही परम-पद है । रज्जु-सर्पभ्रमके समान इस संसृतिका विवेक-मात्रसे बाध हो जाता है । एकार्थाभ्यास, प्राणरोध, मनोनाश ये सब संसृतिसमाप्तिमें कारण हैं । प्राणके शान्त होनेपर मन शान्त होता है, मनःस्पन्दके शान्त होनेपर प्राणस्पन्द भी शान्त होता है । ये दोनों आपसमें रथ-रथीके समान हैं । एकके अभावमें दोनोंका ही अभाव हो जाता है । अनन्तात्मतत्त्वका विचार करके उसीका दृढाभ्यास करनेसे मनको ब्रह्माकार बनाना चाहिये । अज्ञान और ज्ञान दोनोंका ही बाध होनेसे अधिष्ठानतत्त्व ही रह जाता है । सम्पूर्ण द्वैत अविद्यामात्र है । अविद्या भी चित्तमात्र है । चित्त भी स्वभासक अधिष्ठानमात्र है । विचारसे क्षणमें जीव अजीव, चित्त अचित्त हो जाता है । मृगतृष्णा-जलके समान ही मन और अहन्तादि संसार उपलब्ध होता है । सब असत् ही है । किञ्चिन्मात्र विचारसे इसका बाध हो जाता है ।

जीवन जलके बुद्बुदेके समान है

फूले फूले फिरत कहौ तौ तुम कापै अहो याकी तो महत्ता सत्ता सब कछु जानी है ।
कहै 'रतनाकर' विडंबना विचित्र जेती जीवनके चित्र सौं न अधिक प्रमानी है ॥
हाँ सौं नहीं होति औ नहीं सौं होति हाँ है सदा तातैं हाँ चहैयनि नहीं सौं रुचि मानी है ।
इहिं भवसागर मैं स्वास आस ही पै बस पानीके बबूले-सी थिरानी जिंदगानी है ॥

दुःखनाशका अमोघ उपाय

परिस्थिति कैसी है, इसपर हमारा सुख-दुःख निर्भर नहीं करता। हम परिस्थितिको किस प्रकार ग्रहण करते हैं, उसके प्रति हमारा दृष्टिकोण क्या है, इसीमें हमारा सुख-दुःख समाया हुआ है। मान लें, एक व्यक्तिकी मृत्यु होती है। अब जिनका उसके प्रति राग या ममत्व होता है, मित्रभाव रहता है, वे तो हाहाकार कर उठते हैं। पर जिनकी उसके प्रति द्वेष-बुद्धि होती है, शत्रु-भावना रहती है, वे हर्षित होते हैं। घटना एक है; एक ही व्यक्तिकी मृत्यु हुई है; किंतु उस मृत्युके प्रति भाव भिन्न-भिन्न होनेके कारण किसीको दुःख एवं किसी-को हर्ष होता है। इस प्रकार हम चाहे जिस घटनाको भी लें, यह सर्वथा अखण्ड स्थिर नियम है कि यदि घटनाके प्रति हमारी प्रतिकूल भावना होगी तो हमें निश्चित रूपसे कम या अधिक मात्रामें दुःख होगा ही; तथा अनुकूल भावना रहनेपर, भावनाके तारतम्यसे उसी मात्रामें सुखकी अनुभूति भी होगी ही।

हममेंसे ऐसा कौन है, जिसे सुखकी चाह नहीं है, जो दुःखसे बचना नहीं चाहता? सुख-दुःखकी सीमासे पार गये हुए संतोंकी बात छोड़ दें, अन्यथा उनके अतिरिक्त हममेंसे प्रत्येकके मनमें सुखकी वासना रहती ही है। साथ ही हमारा यह अनुभव है कि चाह न रहनेपर भी दुःखकी प्राप्ति हमें होती ही है। यह भी नितान्त सत्य है कि दुःख हमारे भावोंका परिणाम है, घटनाका नहीं। अतः यदि हम किसी प्रकार अपने भावोंकी शुद्धि कर सकें, प्रत्येक घटनाको ठीक-ठीक ग्रहण करना सीख जायँ तो हमारे दुःखोंका अन्त हो जाय।

आवश्यकता इस बातकी है कि घटना—परिस्थितिके बाह्यरूपसे अपनी आँखें हटाकर उसके अन्तरालमें, वहीं छिपे हुए प्रभुके मङ्गलमय हाथको हम देखना आरम्भ कर दें, परिस्थितिके सूत्रधारकी ओर हमारी दृष्टि केन्द्रित हो जाय। जहाँ हम उनकी ओर देखने लगे कि घटना-की वास्तविकता हमारे सामने क्रमशः व्यक्त होने लगेगी। जगत्‌में वस्तुतः कभी कुछ भी, तनिक-सा भी, किसीके भी प्रतिकूल होता ही नहीं, सदा सब कुछ सर्वथा सबके अनुकूल-ही-अनुकूल होता है—यह तथ्य हमारे सामने आने लगेगा और हम दुःखसे त्राण पा जायँगे।

यह सत्य है कि प्रभुकी ओर दृष्टि फेर लेनेकी बात-का कहना-सुनना तो सहज है, पर वास्तवमें विपत्तिके समय सब ओरसे प्रतिकूल परिस्थितियोंसे घिर जानेपर प्रभुकी ओर देखने लग जाना, अमङ्गलके अन्तरालसे मङ्गलमयके हाथको ढूँढ़ निकालना उतना सहज नहीं है; किंतु यदि हम अपने अंदर प्रभुकी दी हुई शक्तियोंका सदुपयोग करते हुए इस प्रयत्नमें तत्परता-से लग जायँ तो थोड़े दिनोंमें ही दृढ़ अभ्यास होकर हमारी वृत्ति ऐसी बन सकती है कि प्रत्येक परिस्थिति-को ही हम अनुकूल, प्रभुके द्वारा भेजी हुई, हमारे मङ्गलके लिये ही आयी हुई अनुभव करने लग जायँ। हम किसी भी वस्तुकी प्राप्तिका उद्देश्य लेकर क्यों न चलें, उसकी सफलताके लिये हमारे अंदर तीन बातोंका रहना आवश्यक है। वस्तु है, वह लोगोंको मिलती है, मिली है, हमें भी मिल सकती है—यह दृढ़ विश्वास हमारे अंदर हो, यह पहली बात है। वस्तुको पानेके लिये हमारे अंदर पूर्ण प्रयत्न (लगन) हो, यह दूसरी बात। तथा तीसरी बात यह कि हमारे अंदर मन-बुद्धि-इन्द्रियकी जितनी भी शक्तियाँ हैं, उनका प्रवाह जिस-जिस ओर है, उन सब ओरसे हटकर अपने लक्ष्य-में ही नियन्त्रित हो जाय। इन्हींका नाम शास्त्रीय भाषामें श्रद्धा, तत्परता एवं संयम है। अतः यदि हमें भी प्रत्येक परिस्थितिमें प्रभुकी मङ्गलमयता ढूँढ़ निकालनी हो तो

हमारे अंदर ये तीन बातें होनी चाहिये । वास्तवमें ही प्रभुका प्रत्येक विधान मङ्गलसे ही भरा होता है, प्रत्येक परिस्थितिकी ओटमें उनके मङ्गलमय हाथ छिपे हैं । लोगोंको ऐसी अनुभूति होती है, हो चुकी है, हमें भी ऐसा अनुभव हो सकता है, यह दृढ़ विश्वास हमारे अंदर हो । तथा इस विश्वासके अनन्तर इसे प्रत्यक्ष अनुभव कर लेनेके लिये हमारा प्रयत्न आरम्भ हो । प्रयत्नका रूप सर्वथा सबके लिये एक नहीं हो सकता । अधिकारीभेदसे उसके अनेकों रूप बन सकते हैं । पर अधिकांशके लिये लाभकारी एक साधन यह है—

हमारा जीवन कितना भी व्यस्त क्यों न हो, हमें चाहिये कि प्रतिदिन हम कुछ समय निकालकर यथासम्भव किसी एकान्तस्थानमें जा बैठें । सुखपूर्वक बैठकर अपने नेत्र बंद कर लें । निद्रा आ जानेकी सम्भावना हो तो नेत्र खुले ही रक्खें । तदनन्तर मनकी वृत्तियोंको सब ओरसे बटोरकर शान्तिसे मन-ही-मन इन भावोंकी आवृत्ति आरम्भ करें—

'हमारे चारों ओर इस निर्मल आकाशके अणु-अणुमें प्रभु ओतप्रोत हैं, वायुके प्रत्येक स्पन्दनमें प्रभु भरे हैं, सूर्य-चन्द्रकी किरणोंमें, अग्निमें प्रभुकी ही ज्योति भरी है, जल प्रभुके ही रससे परिपूर्ण है, पृथ्वीके कण-कणमें प्रभु विराजित हैं, चर-अचर समस्त प्राणियोंमें प्रभुका निवास है, सबकी सत्ता प्रभुकी सत्तापर ही निर्भर है, हमारी इन्द्रियोंमें समस्त शक्तियाँ सर्वशक्तिमान् प्रभुकी ओरसे आ रही हैं । नेत्र प्रभुकी शक्तिसे देख पाते हैं । कान प्रभुकी शक्तिसे श्रवण करते हैं । त्वचा प्रभुकी शक्तिसे स्पर्शका अनुभव करती है । नासा प्रभुकी शक्तिसे गन्ध ग्रहण करती है । रसना प्रभुकी शक्तिसे रस लेती है । हाथोंमें काम करनेकी शक्ति प्रभुकी ओरसे आ रही है । पैरोंमें चलनेकी शक्ति प्रभु देते हैं । हमारा मन प्रभुकी शक्तिसे मनन करता है । हमारी बुद्धि प्रभुकी शक्तिसे निश्चय करती है । समस्त जगत्में जहाँ जिसमें, जो कुछ भी हलन-चलन क्रिया है, सब प्रभुकी सत्ता एवं शक्तिसे ही हो रही है । प्रभु अनन्त मङ्गलमय हैं, उनमें सर्वथा सदा मङ्गल-ही-मङ्गल भरा है । प्रभु एवं प्रभुका विधान दो वस्तु नहीं है । जो प्रभु है, वही प्रभुका विधान है । विधाता और विधान, लीलामय और लीला एक ही है । अतः मङ्गलमय प्रभुका प्रत्येक विधान अनन्त असीम मङ्गलसे भरा है । जगत्में जो कुछ हुआ है, हो रहा है, होगा—सबमें मङ्गल भरा है । अबतक मेरे लिये जिसने जो भी जैसी भी चेष्टा की है, कर रहा है, करेगा—सबमें मेरे प्रभु भरे हैं, उनकी मङ्गलमयता भरी है ।'

इस प्रकारके भावोंकी, कुछ देर पुनः-पुनः रस ले-लेकर आवृत्ति करते रहें । इस भावनाका परिणाम यह होगा कि ये विचार हमारे चारों ओर फैल जायँगे तथा अन्य समयमें भी, जब कि हम दूसरे-दूसरे कार्योंमें व्यस्त रहेंगे, ये रह-रहकर हमारे मनमें स्फुरित होते रहेंगे । जैसे-जैसे एकान्तका अभ्यास दृढ़ होगा, वैसे-वैसे व्यवहारके समय ऐसी स्फुरणाएँ अधिकाधिक होने लगेंगी । आज जो हमारा वातावरण प्रभुसे शून्य है, वह प्रभुसे भरने लगेगा । क्षण-क्षणमें क्षुद्र-से-क्षुद्र घटनामें अमङ्गलकी भावना होकर हमें जो प्रतिकूलताकी प्रतीति होती है, वह मिटने लगेगी । पद-पदपर जो हमारा अहङ्कार जाग उठता है, वह भी शिथिल पड़ने लगेगा । शत्रु-मित्र, दुष्ट-साधु, ऊँच-नीच—सर्वत्र सबमें समानरूपसे एकमात्र प्रभुकी सत्ता स्फुरित होने लगेगी । अन्तमें प्रभुके अतिरिक्त अन्य कोई भी सत्ता नहीं बच रहेगी । बस, उसी समय हमारी प्रतिकूलताका भी अन्त हो जायगा, हमारा दुःख भी सदाके लिये जाता रहेगा ।

किंतु यह स्थिति प्राप्त होगी पूरी लगनसे इस अभ्यासमें जुट पड़नेपर ही । आज किया, कल नहीं; दो दिन भावना की, चार दिन नहीं—ऐसे अभ्याससे सफलताकी आशा नहीं है । प्रतिदिन नियमपूर्वक

कोई भी व्यतिक्रम न करके ऐसी भावनाके अभ्यासमें जब हम लगेंगे, तभी हमारे उद्देश्यकी सिद्धि होगी। अन्यथा प्रतिकूल परिस्थिति सामने आते ही ठीक अवसर-पर ही हमें इस भावनाकी विस्मृति हो जायगी तथा स्वभाववश पूर्वकी भाँति ही प्रतिकूलताका अनुभव करके हम दुखी होते रहेंगे।

इस अभ्यासका क्रम निभता रहे, इसके लिये अपने अंदर प्रभुकी दी हुई शक्तियोंका सदा सदुपयोग हो, दुरुपयोग कदापि न हो जाय, इसके लिये भी सावधानी रखना आवश्यक है। जबतक हममें अहङ्कार है, तबतक हम सदा सजग रहें—व्यवहारके समय हमारे नेत्र सदा उचित, आवश्यक, पवित्र, निर्मल दृश्य-को ही अपने अंदर भरें; कदापि अनुचित, अनावश्यक अशुद्ध मलिनको स्थान न दें। श्रवणेन्द्रिय सदा पवित्र शब्द ही ग्रहण करे, कदापि अश्लील अनावश्यक शब्दों-की ओर न झुके। घ्राण, त्वक्, रसना, कर्मेन्द्रियाँ, मन, बुद्धि—सभी शुभमें प्रवृत्त हों; भूलकर भी घ्राण शौकीनीके लिये किसी गंदी गन्धसे न जुड़ जाय; ऐश-आरामकी भावना लेकर त्वक् कदापि अनुचित अवैध स्पर्शमें न संलग्न हो जाय; स्वादकी आसक्तिवश रसना अखाद्य-में तो प्रवृत्त हो ही नहीं, खाद्यमें भी चटोरी न बन जाय। कर्मेन्द्रियाँ अनावश्यक क्रियाशील कदापि न हों; हमारा मन अनर्थक सङ्कल्प-विकल्पोंमें न लगे। बुद्धि क्षणभरके लिये भी व्यर्थ बातोंका निर्णय देनेमें निश्चय करनेमें न फँस जाय। इस प्रकार हमारे अंदर प्रभुकी दी हुई सम्पूर्ण शक्तियोंको हम नियन्त्रित करके अपने निश्चित उद्देश्यकी सिद्धिमें लगा दें। इनका सदुपयोग करें, दुरुपयोग नहीं। फिर प्रत्येक घटनाको ठीक-ठीक ग्रहण करनेकी—प्रभुसे जुड़ी हुई देखनेकी योग्यता हमारे अंदर उत्तरोत्तर बढ़ती जायगी। क्षोभ—दुःखके प्रसङ्ग उपस्थित होनेपर भी क्रमशः दुःखका भाव कम होता जायगा।

हम कह सकते हैं कि ठीक है, बाहरकी घटनाओंमें तो हमारा प्रतिकूल भाव ही हमारे दुःखमें हेतु है, उसके प्रति भावना परिवर्तन करनेसे हमारा दुःख मिट सकता है; किंतु मान लें, हमारे शरीरमें कहीं भयङ्कर फोड़ा हो गया, उसकी पीड़ासे हम व्याकुल हो रहे हैं। हमें दुःख हो रहा है। ऐसे अवसरपर तो हमें प्रतिकूलताकी अनुभूति होगी ही, दुःख होगा ही। यह दुःख तो घटनाजन्य ही है, इसमें हमारा भाव कैसे हेतु हुआ? तो इसका उत्तर यह है कि यहाँ भी हमारे दृष्टिकोणका ही अन्तर है। साथ ही यह भी समझ रखनेकी बात है कि पीड़ाका अनुभव होना और बात है तथा दुःख होना दूसरी बात है। यदि हमारा दृष्टिकोण बदल जाय, इस घटनाको भी हम ठीक-ठीक ग्रहण करना सीख जायँ तो पीड़ाकी अनुभूति तो होगी, पर दुःख हमें सर्वथा नहीं होगा। यदि किसी प्रकार फोड़ेके प्रति हमारी यह भावना हो जाय कि यह तो प्रभुका प्रसाद है, दयामयके विधानसे आया है, और आया है मेरे दुष्कर्मोंका भार हलका करनेके लिये; नहीं-नहीं, स्वयं ही प्रभु इस रूपमें मुझे स्पर्श कर रहे हैं—ऐसा हमारा दृष्टिकोण हो जाय तो फिर सच मानें, पीड़ाकी अनुभूतिके साथ-ही-साथ एक परम सात्त्विक सुखकी अनुभूति होगी; दुःख तो रत्तीमात्र भी नहीं होगा। ऐसी भावना हो जाना अथवा इस भावना-की बातको अच्छी तरह समझ लेना मात्र भी कठिन अवश्य है। पर कठिनाई भी इसीलिये है कि हमने कभी भी सच्चे मनसे प्रभुकी सत्ताको स्वीकार नहीं किया। जिन्होंने स्वीकार किया है, उनके लिये यह ध्रुव सत्य सिद्धान्त है। उन्हें इसके आचरणमें ऐसी भावना करने-में परिश्रम भी नहीं करना पड़ता। प्रभुके अस्तित्वकी स्वीकृति उन्हें स्वतः ऐसे भावना-राज्यमें पहुँचा देती है।

बृहदारण्यक श्रुति है—

एतद् वै परमं तपो यद् व्याहितस्तप्यते परमꣳ हैव लोकं जयति य एवं वेद।

'कोई ज्वरादि व्याधियोंसे अत्यन्त पीड़ित है, शरीर ज्वरके तापसे जल रहा है। उसे ऐसी भावना करनी चाहिये कि यही मेरे लिये परम तप है, मैं तप कर रहा हूँ। जो ऐसा मानता है वह इस भावनाके फलस्वरूप परम लोकको जीत लेता है।'

ऐसे ही यदि हम फोड़ेमें अथवा शरीरकी अन्य व्याधियोंमें, शरीरसम्बन्धी प्रत्येक प्रतिकूल घटनामें प्रभुके प्रसादकी, स्वयं प्रभुकी भावना करके उस घटनाके प्रति अपना दृष्टिकोण बदल लें, तो पीड़ाकी अनुभूति होनेपर भी हमारा दुःख तो निश्चय ही जाता रहे।

लोकमें भी हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि एक व्यक्ति आत्मशुद्धिके लिये किसी दिन व्रत रखकर उपवास करता है, वही किसी दिन संयोग-क्रमसे भोजनकी व्यवस्था न होनेके कारण भूखा रह जाता है। दोनों ही दिन भूखकी पीड़ा तो उसे समान भावसे होती है; किंतु व्रतवाले दिन वह पीड़ाको सुखपूर्वक सहन करता है, साथ ही व्रतका पालन हो रहा है, इस सुखका अनुभव करते हुए उस दिन होनेवाले उत्सवमें वह उल्लास-पूर्वक सम्मिलित भी होता है। भूखकी पीड़ा होते हुए भी उसके अन्तरमें दुःखकी छाया भी नहीं है। पर वही व्यक्ति दूसरे दिन भोजन न मिलनेके कारण दुखी है, चिन्तित हो रहा है कि क्या करें, भोजनकी व्यवस्था अभीतक नहीं हो सकी है, सन्ध्या होने जा रही है। उस दिन अन्य कार्योंमें भी उसका मन नहीं लगता। भूखकी पीड़ासे मन-ही-मन व्यथित होकर वह सारा उत्साह खो बैठता है। ऐसा क्यों? भूखका अनुभव तो दोनों दिन समान भावसे ही होता है? ऐसा इसीलिये कि पहले दिन वह भूख, भूखकी पीड़ा उसके लिये अनुकूल है, और दूसरे दिन प्रतिकूल। दृष्टिकोणमें भेद होनेसे ही एक ही प्रकारकी घटना एक दिन सुख और दूसरे दिन दुःखका कारण बन जाती है। कदाचित् वह दृष्टिकोण बदल सके; ऐसा सोच ले कि मङ्गलमय प्रभु-के विधानसे ही आज मुझे भोजन नहीं मिला, इसमें निश्चय ही मेरा कोई अत्यन्त मङ्गल छिपा है, तो वह तत्क्षण सुखी हो जाय।

अबतकके विवेचनका सारांश यह है कि घटनामें दुःख नहीं है। घटनाके प्रति प्रतिकूल भावना ही हमारे दुःखका सृजन करती है। अतः यदि हम अपना दुःख मिटाना चाहते हों तो घटनाकी ओर न देखकर उसमें ओतप्रोत प्रभुकी ओर दृष्टि स्थिर करें। उनकी ओर दृष्टि लगी कि बस, वे-ही-वे दीखने लगेंगे, सर्वत्र उनके ही मङ्गलमय कर-कमल काम करते दीखेंगे। फिर हमारी प्रतिकूलता मिट जायगी और हमारा दुःख भी सदाके लिये समाप्त हो जायगा। दुःखनाशका यही अमोघ उपाय है।

दुःखसे तरनेका उपाय

जो नर दुखमें दुख नहिं मानै।
सुख सनेह अरु भय नहिं जाके, कंचन माटी जानै॥
नहिं निंदा नहिं अस्तुति जाके, लोभ मोह अभिमाना।
हरष-सोकतें रहै नियारो, नाहिं मान-अपमाना॥
आसा-मनसा सकल त्यागिकै, जगतें रहै निरासा।
काम क्रोध जेहि परसै नाहिन, तेहिं घट ब्रह्म निवासा॥
गुरु किरपा जेहिं नरपै कीन्ही, तिन यह जुगति पिछानी।
नानक लीन भयो गोबिंदसों, ज्यों पानी सँग पानी॥

—नानकजी

श्रीकृष्णलीलाका चिन्तन

[वर्ष २२, पृष्ठ १४५६ से आगे]

(२८)

कज्जलमिश्रित अश्रुप्रवाह उनके कपोलोंको सिक्त कर रहा है, आकुल नेत्र बारंबार आभीरसुन्दरियोंसे कुछ मूक विनय, दया-याचना-सी कर रहे हैं; कुन्तलराशि सुखचन्द्रपर बिखर गयी है—इस प्रकार श्रीकृष्णचन्द्र अतिशय करुण-अवस्थामें ऊखलसे बँधे खड़े हैं। गोपसुन्दरियाँ उन्हें घेरे खड़ी हैं। सभी चाहती हैं—व्रजेश्वरी अब द्रवित हो जायँ, स्वल्प अपराधके लिये पर्याप्त दण्ड वे अपने नीलमणिको दे चुकीं। एकने यशोदारानीसे बन्धन खोल देनेकी प्रार्थना की—

जसुदा तेरौ मुख हरि जोवै।
कमलनैन हरि हिचिकिनि रोवै, बंधन छोरि जसोवै॥

दूसरी समझाने लगी—

जो तेरौ सुत खरौ अचगरौ, तऊ कोखिकौ जायौ।
कहा भयौ जो घरकैं ढोटा, चोरी माखन खायौ॥

तीसरीने भी समझाया—

जसुदा यह न बूझिकौ काम।
कमलनैनकी भुजा देखि धौं, तैं बाँधे हैं दाम॥
पुत्रहु ते प्यारौ कोउ है री, कुल-दीपक मनि-धाम।
हरि पर वारि डारि सब तन, मन, धन गोरस अरु ग्राम॥

एक वृद्धा गोपीमें तो कुछ दैवी आवेश हो गया, उसके नेत्रोंमें रोष भर आया, सारे अङ्ग किसी विचित्र तेजःपुञ्जसे व्याप्त हो गये। वह यशोदारानीकी भर्त्सना करती हुई भगवत्तत्त्वकी बातें बताने लगी और श्रीकृष्ण-चन्द्रको छोड़ देनेके लिये व्रजेश्वरीको शपथ देने लगी—

(जसोदा!) तेरौ भलौ हियौ है माई।
कमल-नैन माखनकैं कारन, बाँधे ऊखल ल्याई॥
जो संपदा देव-मुनि-दुर्लभ सपनेहुँ देइ न दिखाई।
याही तैं तू गर्ब भुलानी, घर बैठे निधि पाई॥
जो मूरति जल-थल मैं व्यापक निगम न खोजत पाई।
सो मूरति तैं अपनैं आँगन, चुटकी दै जु नचाई॥
तब काहू सुत रोवत देखति, दौरि लेति हिय लाई।
अब अपने घरके लरिका सौं इती करति निठुराई॥
बारंबार सजल लोचन करि चितवत कुँवर कन्हाई।
कहा करौं, बलि जाउँ छोरि तू, तेरी सौंहँ दिवाई॥
सुर पालक, असुरनि उर सालक, त्रिभुवन जाहि डराई।
सूरदास प्रभुकी यह लीला, निगम नेति नित गाई॥

किंतु व्रजेश्वरीका हृदय तो आज मानो पाषाण बन गया है। वे किसीकी बातसे तनिक भी द्रवित नहीं होतीं। अपि तु सबका इतना आग्रह देखकर उलटे खीझ जाती हैं और कहने लगती हैं—

जाहु चली अपनैं-अपनैं घर।
तुमहिं सबनि मिलि ढीठ करायौ, अब आईं छोरन बर॥
मोहिं अपने बाबाकी सौंहैं, कान्हहिं अब न पत्याउँ।
भवन जाहु अपनैं-अपनैं सब, लागति हौं मैं पाउँ॥
मोकौ जनि बरजौ जुवती कोउ, देखौ हरिके ख्याल।
सूर स्याम सौं कहति जसोदा, बड़े नंदके लाल॥

व्रजरानी इतनी कठोर तो कभी नहीं थीं! उन्होंने इतना रूक्ष व्यवहार तो हम सबसे आजतक कभी नहीं किया! गोपरामाओंके हृदयमें ठेस-सी लगती है। उन सबमें रोषका सञ्चार हो जाता है। वे बोलीं—

ऐसी रिस तोकौं नँदरानी।
भली बुद्धि तेरैं जिय उपजी, बड़ी बैस अब भई सयानी॥
ढोटा एक भयौ कैसैंहु करि, कौन-कौन करबर बिधि भानी।
क्रम-क्रम करि अब लौं उबरयौ है, ताकौं मारि पितर दै पानी!
को निरदई रहै तेरैं घर, को तेरैं सँग बैठै आनी॥

तथा हृदयमें दुःखका भार लिये, अत्यन्त उदास, अतिशय खिन्न वे अपने घरकी ओर चल पड़ीं—

सुनहु सूर कहि-कहि पचि हारीं, जुवती चलीं घरनि बिरुझानी॥

पुरसुन्दरियाँ मुझे जननीके अनुशासनसे, जननी-प्रदत्त बन्धनसे मुक्त कर देंगी—श्रीकृष्णचन्द्रकी यह आशा टूट गयी। अब वे अश्रुपूरित कण्ठसे अग्रज बलरामका

नाम ले-लेकर पुकारने लगते हैं; किंतु अग्रज यहाँ कहाँ ? वे तो जननीके साथ उपनन्द-गृहमें हैं। फिर भी अनुजका आह्वान व्यर्थ नहीं होता। रोहिणी मैया कुछ भी न जान सकीं, पर रोहिणीनन्दन बलरामके हृत्तन्तुओंपर श्रीकृष्णचन्द्रका करुण क्रन्दन झङ्कृत हो उठा। वे व्याकुल हो उठे। माताके लौटनेमें तो अभी पहरभरका विलम्ब है। इतना धैर्य राममें कहाँ ? वे भाग चले, क्षणोंमें ही निर्विघ्न नन्दभवनके समीप जा पहुँचे। मार्गमें कोई बाधा नहीं आयी; क्योंकि योगमायाने उपनन्दपत्नी एवं श्रीरोहिणीके स्मृति-पथमें, 'राम यहीं खेल रहा है, या कहीं चला गया ?' इसके सामने एक झीनी चादर डाल दी थी। अस्तु—

नन्दप्राङ्गणसे लौटती हुई कुछ व्रजपुरन्ध्रियोंने बलरामकी ओर देखा एवं बलरामने उनकी ओर। एक अतिशय व्यथित गोपी चटपट श्रीकृष्णचन्द्रके ऊखल-बन्धनकी सारी बात रामको सुनाने लगी—

हलधरसौं कहि ग्वालि सुनायौ।
प्रातहिं तैं तुम्हरौ लघु भैया, जसुमति ऊखल-बाँधि लगायौ॥

फिर तो रोहिणीनन्दन दौड़ पड़े, श्रीकृष्णचन्द्रके समीप चले आये। पर आह ! अनुजकी दशा देखकर रोहिणीनन्दनके नेत्र तो छल-छल करने लगे—

यह सुनिकै हलधर तहँ धाए।
देखि स्याम ऊखल सौं बाँधे, तबहीं दोउ लोचन भरि आए॥

बलराम अपने हाथसे यशोदारानीका अञ्चल धारणकर गद्गद कण्ठसे बोले—

स्यामहिं छोरि मोहिं बाँधै बरु, निकसत सगुन भले नहिं पाए।
मेरे प्रान-जिवन-धन कान्हा, तिनके भुज मोहिं बँधे दिखाए॥

ओह ! अग्रजकी बात सुनते ही यशोदारानीके प्राणोंमें टीस-सी चलने लगी। उन्हें भान हुआ कि अब कठोरताके इस झूठे स्वाँगका निर्वाह करना उनके लिये तो असंभव है; किंतु नहीं, उसी क्षण अचिन्त्यलीला-महाशक्तिने वात्सल्यरसघनमूर्ति यशोदारानीके मनको अपने हाथोंमें ले लिया। व्रजेश्वरी तो उमड़ते हुए वात्सल्य-सिन्धुमें बहने जा रही थीं, पर लीलाशक्ति उन्हें बाहर निकाल ले आयीं तथा उनपर अपना हाथ फेरकर कुछ समयके लिये धैर्य धारण करने योग्य बना डाला। अवश्य ही मैया अग्रजको बोलकर उत्तर न दे सकीं। केवल उनकी प्रार्थनाको अस्वीकार करते हुए अपना सिर किञ्चिन्मात्र हिला पायीं।

अब तो रोहिणीनन्दनको क्रोध हो आया। नेत्र और भी अरुण हो उठे। कुछ क्षण तिरछी चितवनसे जननीकी ओर देखकर वे बोले—

काहे कौं कलह नाध्यौ, दारुन दाँवरि बाँध्यौ,
कठिन लकुट लै तैं, त्रास्यौ मेरै भैया।
नाहीं कसकत मन, निरखि कोमल तन,
तनिक-से दधि-काज, भली री तू मैया॥
हौं तौ न भयौ री घर, देखत्यौ तेरी यौं अर,
फोरतौ बासन सब, जानति बलैया।
सूरदास हित हरि, लोचन आए हैं भरि,
बलहू कौं बल जाकौं सोई री कन्हैया॥

इस बार जननी मन-ही-मन हँस पड़ती हैं। साथ ही यह अनुभव करती हैं कि अब यहाँ और रुकना उचित नहीं; अन्यथा वे अपना धैर्य खो बैठेंगी; तथा इस प्रकार अबतकका सारा प्रयास निष्फल हो जायगा। इस विचारसे व्रजेश्वरी पार्श्ववर्ती प्राङ्गणमें चली जाती हैं। यहाँ रह जाते हैं—गोपशिशुओंसे आवृत, ऊखलमें निबद्ध श्रीकृष्णचन्द्र एवं उनकी ओर सकरुण दृष्टिसे देखते हुए रोहिणीनन्दन बलराम। इनके अतिरिक्त अन्तरिक्षमें अवस्थित हैं अमरवृन्द, जो श्रीकृष्णचन्द्रकी इस भक्तवत्सलताको निहार-निहारकर आनन्दसिन्धुमें डूब-उतरा रहे हैं। क्यों न हों ? सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र, स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रका जननीके प्रति यह आत्मसमर्पण इस योग्य ही है। समस्त लोकपालोंके सहित यह परिदृश्यमान जगत् जिनके वशमें है, जिनपर किसीका बन्धन—शासन नहीं है, जो नित्य परम स्वतन्त्र हैं, उन

अनन्त ऐश्वर्यनिकेतन, यशोदानन्दन श्रीकृष्णचन्द्रने जननीके द्वारा दिये हुए बन्धनको स्वीकार कर आज वास्तवमें अपनी भक्ताधीनताको प्रत्यक्ष प्रकट जो कर दिया है—

एवं सन्दर्शिता ह्यङ्ग हरिणा भृत्यवश्यता ।
स्ववशेनापि कृष्णेन यस्येदं सेश्वरं वशे ॥
(श्रीमद्भा० १० । ९ । १९)

जिस कृपा-वैभवका आस्वाद व्रजेश्वरीने पाया, उसे आजतक नारायणके नाभिकमलसे उत्पन्न, प्रापञ्चिक भक्तोंके आदिगुरु जगत्-विधाता ब्रह्माने भी न पाया, आत्मस्वरूप शङ्करने भी कभी उसे अनुभव न किया, वक्षःस्थल-विलासिनी लक्ष्मीको भी वह न मिला । मुक्तिपर्यन्त पुरुषार्थदाता श्रीकृष्णचन्द्रसे जो प्रसाद गोपमहिषीने पाया, वह किसीने नहीं—

नेमं विरिञ्चो न भवो न श्रीरप्यङ्गसंश्रया ।
प्रसादं लेभिरे गोपी यत्तत् प्राप विमुक्तिदात् ॥
(श्रीमद्भा० १० । ९ । २०)

आज यह भी प्रत्यक्ष हो गया—यशोदानन्दन स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रको अनायास सुखपूर्वक पा लेनेका मार्ग कौन-सा है ? व्रजवासियोंके समान केवल प्रेमके लिये ही प्रेम करनेवाले भक्तोंको वे जितने सुलभ हैं, उतने सुलभ किसी भी प्राणीके लिये नहीं और तो क्या अपने आत्मभूत तत्त्वज्ञानियोंके लिये भी नहीं—

नायं सुखापो भगवान् देहिनां गोपिकासुतः ।
ज्ञानिनां चात्मभूतानां यथा भक्तिमतामिह ॥
(श्रीमद्भा० १० । ९ । २१)

यह सब प्रत्यक्ष देखकर, अनुभव कर देववृन्द तो आनन्दमत्त हो गये हैं; किंतु यशोदारानीके ध्यानमें बस, इतनी-सी बात है कि अपने चञ्चल नीलमणिको उन्होंने कुछ क्षणोंके लिये ऊखलसे बाँध दिया है । 'भर्त्सनासे अपमानित मानकर, रूठकर कहीं वह वनकी ओर एकाकी भाग न जाय, इसकी उचित व्यवस्थामात्र मैंने की है ।' वे तो इतना ही जानती हैं । इसीलिये दूसरे कक्षमें जाकर निश्चिन्त मनसे गृहकार्यमें संलग्न हो गयी हैं ।

इधर अनुजके प्रति इतनी कठोरता एवं अपनी प्रार्थनाकी जननीकृत उपेक्षा—दोनों ही रोहिणीनन्दन-के लिये असह्य हो जाती है । वे क्रोधसे दाँत पीसने लगते हैं; किंतु श्रीकृष्णचन्द्रका क्रन्दन क्रमशः शान्त होने लगता है । जबतक गोपसुन्दरियाँ थीं, जननी उपस्थित थीं, तबतक तो वे अत्यन्त व्याकुल थे । पर उनके जानेके कुछ क्षणोंके पश्चात् ही वे शान्त होने लगे । धीरे-धीरे क्रन्दन समाप्त हो जाता है; और अब तो उसके बदले उनके अरुण अधरोंपर मन्द मुसकान छा जाती है । अवश्य ही अभी यह मुसकान व्रजरानीके वात्सल्य-रसपानसे मत्त हुए, अपने अनन्त ऐश्वर्यको विस्मृत हुए स्वयं भगवान् व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रकी नहीं है, यह मुसकान है उनके अधरोंकी ओटमें उनके लीलामञ्चकी अधिष्ठात्री योगमायाकी ! वह व्यक्त हुई है अतिशय व्याकुल बलरामको आश्वासन देनेके लिये, क्षणभरके लिये बलराममें उनके अनुजके अनन्त असमोर्द्ध्व ऐश्वर्य-का उन्मेष कर उनकी चिन्ता हर लेनेके लिये, साथ ही रसपानप्रमत्त श्रीकृष्णचन्द्रमें एक सुदूर अतीतकी—अपने परमभक्त नारदके द्वारा दी हुई प्रतिश्रुतिकी स्मृति जगाने-के लिये । उस मुसकानने रोहिणीनन्दनकी चिन्ता हर ली । ठीक वैसी ही एक किरण उनके अधरोंपर भी व्यक्त हो जाती है, तथा नेत्रोंमें ऐश्वर्यका चित्रपट भर जाता है—

निरखि स्याम हलधर मुसुकाने ।
को बाँधै, को छोरै इनकौं, यह महिमा येई पै जाने ॥
उतपति प्रलय करत हैं येई, सेष सहस-मुख सुजस बखाने ।
जमलार्जुन तरु तोरि उधारन, कारन करन आपु मन माने ॥
असुर-सँहारन, भक्तनि तारन, पावन-पतित कहावत बाने ।
सूरदास प्रभु भाव-भक्तिके, अति हित जसुमति हाथ बिकाने ॥

श्रीकृष्णचन्द्र भी मानो जाग-से उठते हैं । नन्दसदन-के समीप खड़े गगनचुम्बी यमलार्जुन वृक्षोंकी ओर उनकी दृष्टि चली जाती है । उसी क्षण बाल्यावेशके अन्तरालसे उनकी सर्वज्ञता-शक्ति सङ्केत करने लगती

है—'लीलाविहारिन् ! दामोदर ! देखो नाथ ! देव-परिमाणसे शतवर्ष पूर्व ये युग्म अर्जुन-वृक्ष यहाँ आकर तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे हैं। कुबेरपुत्र नलकूबर एवं मणिग्रीव ही वृक्ष बनकर तुम्हारी कृपाकी बाट देख रहे हैं। धनमदने इन्हें अन्धा कर दिया था; किंतु तुम्हारे परम भक्त देवर्षि नारदकी इनपर कृपा हुई। देवर्षिने शाप देकर इन्हें वृक्ष-योनि दे दी, अनुग्रह करके तुम्हारे क्रीडा-प्राङ्गणके किनारे निवास दे दिया। तबसे बारंबार ग्रीष्मके आतपका, पावसकी झड़ीका, शिशिरके हिमका और पवनके प्रचण्ड झंझावातका उपभोग करते हुए ये अपनी सारी मलिनता धो चुके हैं। अब समय पूर्ण हो चुका है, नाथ ! अपना पावन स्पर्श दानकर इन्हें कृतार्थ करो, प्रभो ! अवसर भी सुन्दर है, जननी गृहकार्यमें व्यस्त हैं।'—

कृष्णस्तु गृहकृत्येषु व्यग्रायां मातरि प्रभुः।
अद्राक्षीदर्जुनौ पूर्वं गुह्यकौ धनदात्मजौ॥
पुरा नारदशापेन वृक्षतां प्रापितौ मदात्।
नलकूबरमणिग्रीवाविति ख्यातौ श्रियान्वितौ॥

(श्रीमद्भा० १०। ९। २२-२३)

सर्वज्ञताशक्तिके उपर्युक्त सङ्केतपर श्रीकृष्णचन्द्र भी अपनी स्वीकृति दे देते हैं—

हरि चितए जमलार्जुनके तन।
अबहीं आजु इन्हैं उद्धारौं, ये हैं मेरे निज जन॥
× × × ×
ये सुकुमार, बहुत दुख पायौ, सुत कुबेरके तारौं।
सूरदास प्रभु कहत मनहिं मन, यह बंधन निरवारौं॥

श्रीरामानुजाचार्यका विशिष्टाद्वैतवाद

[एक विहङ्गम-दृष्टि]

(साहित्यमहोपाध्याय पं० श्रीजनार्दनजी मिश्र 'पङ्कज' साहित्य-व्याकरणाचार्य, काव्यतीर्थ, बी० ए०, साहित्यरत्न, साहित्यालङ्कार)

आचार्य श्रीरामानुजकी दार्शनिक चिन्तन-धारा श्रीशङ्कराचार्यके अद्वैतवाद और मायावादके विरोध और प्रतिक्रियाका परिणाम है। इनकी दार्शनिक अट्टालिकाके तीन स्तम्भ हैं—चित् (जीव), अचित् (जड-समूह) और पुरुषोत्तम। उनका ईश्वर अचिन्त्यानन्त-कल्याण-गुणाकर, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और स्वतःप्रकाश है। वह सृष्टि-स्थिति-पालनका एकमात्र नियन्ता है। स्थूल, सूक्ष्म—चेतनाचेतनविशिष्ट ब्रह्म ही ईश्वर है। अनन्त जीव और जगत् उसीके शरीर हैं।

श्रीप्रज्ञानन्द सरस्वतीने (यतीन्द्रमतदीपिका—प्रथम परिच्छेदके आधारपर) अपने वेदान्त-दर्शनके इतिहास, द्वितीय भागमें ऊपरके तीनों तत्त्वोंके समर्थनके लिये निम्न-लिखित विषयोंपर विचार किया है।

१. स्थूल-सूक्ष्म—चेतनाचेतनविशिष्ट ब्रह्मका एकत्व।
२. द्वैत और अद्वैत श्रुतिका अविरोध।
३. ब्रह्मका सगुणत्व और विभुत्व—ब्रह्म सविशेष।
४. ब्रह्मके निर्गुणत्व और निर्विशेषत्ववादका खण्डन।
५. जीवका अणुत्व, ब्रह्मस्वभावत्व और दासत्व।
६. जीवका बन्धन और उसका कारण—अविद्या।
७. जीवका मोक्ष और उसका उपाय—विद्या।
८. उपासनारूपी भक्तिका श्रेष्ठत्व और मोक्षसाधनत्व।
९. मुक्तावस्थामें जीवकी ब्रह्मस्वभाव-प्राप्तिका निरसन।
१०. शाङ्करमतकी अविद्या या मायावादका खण्डन।
११. अनिर्वचनीयतावादका खण्डन।
१२. जगत्की तुच्छताका खण्डन और सत्यताका स्थापन।
१३. जीव और जगत्का ब्रह्म अथवा ईश्वर-शरीरत्वका निरूपण।

आचार्य रामानुजके मतानुसार प्रमाण तीन प्रकारके हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द। प्रमेय दो प्रकारके हैं—द्रव्य और अद्रव्य। और पदार्थसमूह प्रमाण-प्रमेयके भेदसे दो प्रकारके हैं। द्रव्यके दो भेद हैं—जड और अजड। जडके दो भेद हैं—प्रकृति और काल। प्रकृति चतुर्विंशत्यात्मिका (२४ प्रकारकी) है और काल तीन प्रकारके हैं—अतीत, वर्तमान और भविष्यत्। पराक् और प्रत्यक्के भेदसे अजडके दो प्रकार हैं—नित्य विभूति और धर्मभूत ज्ञानरूप पराक् तथा जीव और ईश्वर—प्रत्यक् कहलाते हैं। बद्ध, मुक्त और नित्यके भेदसे जीव तीन प्रकारके हैं। बद्धके दो भेद हैं—बुभुक्षु और मुमुक्षु। बुभुक्षु दो प्रकारके

हैं—'अर्थकामपरायण' और 'धर्मपरायण'। मुमुक्षु भी दो प्रकारके हैं—कैवल्यपर और मोक्षपर।

आचार्य रामानुजके छः प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं—(१) वेदार्थसंग्रह—इसमें श्रीशङ्कराचार्य और भास्कराचार्यके मतवादोंका खण्डन है। (२) वेदान्तसार—ब्रह्मसूत्रकी लघ्वक्षरटीका। (३) वेदान्त-दीप—ब्रह्मसूत्रकी वेदान्तसारसे विस्तृत टीका। (४) गद्यत्रय—इसमें ईश्वरका, प्रपत्तिका उत्कृष्ट वर्णन है। (५) गीताभाष्य—वेदान्तदेशिककृत तात्पर्यचन्द्रिका टीका और (६) श्रीभाष्य—यह श्रीरामानुजके दार्शनिक पाण्डित्यका उत्कृष्ट उदाहरण है। इसमें विशिष्टाद्वैतके सिद्धान्तोंकी विस्तृत और प्रामाणिक आलोचना की गयी है।

श्रीरामानुजके चित्, अचित् और ईश्वर—पदार्थत्रयकी कल्पना मौलिक नहीं है। बल्कि श्वेताश्वतर-उपनिषद्के भोक्ता, भोग्य और प्रेरिता ब्रह्मके आधारपर प्रतिष्ठित है। ईश्वर पाँच प्रकारके हैं—पर, विभु, व्यूह, अन्तर्यामी और अर्चावतार। पर—एक नारायण हैं। व्यूह—वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्धके भेदसे चार हैं। केशवादि व्यूहान्तर हैं। मत्स्य-कच्छपादि अनन्त विभव हैं। अन्तर्यामी प्रत्येक शरीरमें स्थित है। जीव नित्य पदार्थ होते हुए भी ईश्वराधीन है। अर्चावतार—श्रीरंगम्, वेंकट और वरदराजादि स्थूल-मूर्तिविशेष हैं। अद्रव्य—दस प्रकारके हैं—सत्त्व, रज, तम, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, संयोग और शक्ति।

आचार्य रामानुजके मतानुसार जगत्में निर्गुण वस्तुकी कल्पना असम्भव है। अतएव सगुण या सविशेष ब्रह्म ही उपनिषत्प्रतिपाद्य है। जगत्के सभी पदार्थ परिदृश्यमान और गुणविशिष्ट होते हैं। अतएव निर्विकल्पक प्रत्यक्षमें भी सगुण या सविशेष वस्तुकी प्रतीति होती है।

श्रीरामानुजके मतसे प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द—ये तीन ही प्रमाण हैं। प्रमाका करण ही प्रमाण है और यथावस्थित व्यवहारानुगुण ज्ञान ही प्रमा है। शुक्ति (सीप) में रजत-ज्ञान भी ज्ञानपद-वाच्य हो सकता है। उसकी निवृत्तिके लिये व्यवहारानुगुण शब्द व्यवहृत हुआ है। प्रमाणके बलसे तत्काल ही ज्ञानोत्पत्ति होती है। सविकल्प और निर्विकल्पके भेदसे प्रत्यक्ष दो प्रकारके होते हैं। प्रत्यक्ष ज्ञानकी प्रक्रिया—जैसे, आत्मा मनके साथ युक्त होता है और इन्द्रियाँ विषयोंके साथ। ज्ञानोत्पत्तिका यही क्रम है। अथ च ज्ञान विषयावगाही है। निर्गुण या निर्विशेष वस्तुका ज्ञान नहीं हो सकता। कारण, स्मृति भी प्रत्यक्षके ही अन्तर्भुक्त है। पूर्वानुभूत वस्तुके संस्कारसे स्मृति जगती है, अतएव वह कोई प्रमाण नहीं। प्रत्यभिज्ञा भी प्रत्यक्षके अन्तर्भुक्त है। अभाव भावान्तररूप है। अतएव वह भी प्रत्यक्षके अन्तर्भुक्त है। पुण्यवान् मनुष्यकी प्रतिभा (योगजज्ञान) भी प्रत्यक्षके अन्तर्भुक्त है। इनके मतसे सभी ज्ञान सत्य और सविशेषविषयक हैं*, आचार्य श्रीरामानुज विशिष्टाद्वैतके प्रवर्तक हैं। अतएव इनकी ईश्वर-कल्पना शाङ्करमतकी कल्पनासे बिल्कुल भिन्न है। इनके मतानुसार अन्तर्यामी ईश्वर और जगत्प्रपञ्चका निर्माता ईश्वर दोनोंमें तत्त्वतः एकता है। इसी तात्त्विक एकताके कारण एक विशेषणसे विशिष्ट ईश्वर तदन्यविशेषणसे विशिष्ट ईश्वरके साथ बिल्कुल अभिन्न है। यह नितान्त अभिन्नता अर्थात् एकता विशिष्ट (ईश्वर) की है। 'अथ च विशिष्टयोरैक्यम्'—सूत्रके अनुसार आचार्य श्रीरामानुजद्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त 'विशिष्टाद्वैत' कहलाता है।

श्रीरामानुजकी 'अपृथक्सिद्धि' से भी विशिष्टाद्वैतका ही समर्थन होता है। उन्होंने द्रव्य और गुण अथवा द्रव्य और अन्य द्रव्यमें विद्यमान रहनेवाले सम्बन्धको स्वीकार किया है। उनका यह स्वीकृत सम्बन्ध न्याय-वैशेषिक-सम्मत होते हुए भी समवायकी अनुरूपताके कारण उससे प्रभिन्न है। समवाय बाह्य और अपृथक्सिद्धि आन्तर सम्बन्ध है।† शरीर वही है, जिसे आत्मा धारण करती है, नियमन करती है और कार्यमें प्रवृत्त करती है।

ईश्वर भी उसी प्रकार चित् (जीव) और अचित् (जडसमूह) को आश्रित और कार्यमें प्रेरित करता है। इनमें जो प्रमुख है, वही नियामक होता है और विशेष कहलाता है। जो गौण होता है, वह नियम्य होता है और विशेषण कहलाता है। नियम्य और गौण होनेसे जीव 'विशेषण' तथा नियामक और प्रधान होनेसे ईश्वर 'विशेष्य' कहलाता है। चित् और अचित् उस विशेष्य भूतके ही विशेषण हैं। विशेषण विशेष्यसे पृथक् नहीं हो सकता। अथ च विशेषणयुक्त विशेष्यकी एकत्व-कल्पना युक्तिसंगत है और विशिष्टाद्वैतका यही गूढार्थ है।

अपौरुषेय और नित्य वेदवाक्य ही रामानुजका शब्द-प्रमाण है। ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य रामानुजने

---

* 'भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्॥' (श्वेता० १। १२)।

† श्रीभाष्य।

जैमिनिकी पूर्वमीमांसाके मतके सामञ्जस्यकी रक्षा की है। जैमिनिके मतानुसार सभी वेदवाक्य प्रामाणिक हैं और आचार्यके मतसे सभी सिद्ध ब्रह्मपर-वाक्य उपासनारूप कार्यान्वयी हैं।

ज्ञान—श्रीशङ्करके मतानुसार निरपेक्ष और रामानुजके मतानुसार आपेक्षिक है। शङ्करके मतसे ज्ञान स्वप्रकाश और निर्विशेष है। ज्ञानका सविशेषत्व उपाधिकृत है और ज्ञान प्रत्यगात्मस्वरूप है; किंतु रामानुजके मतसे ज्ञान सविशेष-विषयक हैं। दोनोंमें दर्शनगत यही मौलिक भेद है। शङ्करके मतसे माया अथवा अज्ञान एक ही पदार्थ है। संशय, विपर्यय और मिथ्या ज्ञान सभी अज्ञान हैं। रामानुजके मतसे माया भगवान्की शक्ति है। माया और अज्ञान एक ही पदार्थ नहीं। माया भगवान्की आश्रिता है और अज्ञान ज्ञानका अभाव है और वह जीवाश्रित है। दोनोंके दार्शनिक सिद्धान्तोंमें यह मौलिक पार्थक्य है।

आचार्य रामानुजके मतानुसार कर्म-सम्बन्धमें जिसका ज्ञान है, वही व्यक्ति ब्रह्मजिज्ञासाका अधिकारी है। जैसे—पहले वेदाध्ययन, वेदाध्ययनके फलस्वरूप कर्मके अनित्य फलका ज्ञान, उसके बाद मुक्तिकी ब्रह्मजिज्ञासा उत्पन्न होती है। कर्ममीमांसा और ब्रह्ममीमांसा—दोनोंका मूल एक ही वेद है। वेदमें प्रथम कर्मकाण्ड और पश्चात् ज्ञानकाण्ड है। अथ च मुक्तिका प्रथम साधन कर्ममीमांसा है। ब्रह्ममीमांसा द्वितीय साधन है। ज्ञान और कर्ममें कार्य-कारण-भाव विद्यमान है। निष्काम कर्मसे चित्तकी शुद्धि होती है। सुतरां ज्ञान कार्य या उत्पाद्य है और कर्म उसका कारण या उत्पादक है।

रामानुजके मतानुसार कहीं भी निर्विशेष वस्तुकी सिद्धि या प्रतीति नहीं होती। यहाँतक सुषुप्ति, मत्तता और मूर्च्छाकालीन अनुभव भी निर्विशेषमें नहीं होता। वह भी सविशेष ही है। यहाँतक कि शब्द और शास्त्र भी निर्विशेष वस्तुका प्रतिपादन नहीं कर सकते; क्योंकि शब्द और पद वाक्यरूपमें परिणत होकर ही अर्थबोधक होते हैं। अथ च शब्द सगुण—सविशेष वस्तुके प्रतिपादनमें ही समर्थ हैं; क्योंकि पद प्रकृति और प्रत्ययके योगसे सिद्ध होता है। प्रकृति और प्रत्यय एक नहीं हैं। यही कारण है कि कोई भी विशिष्टार्थके प्रतिपादनका परित्याग नहीं कर सकता है। अर्थभेदके कारण पद-पार्थक्य होता है। अथ च निर्विशेष वस्तुका प्रतिपादन करना शब्दकी सामर्थ्यसे बाहर है।

आचार्य शङ्करके मतानुसार निर्विशेष चिन्मात्र ब्रह्म ही प्रतिपाद्य है। एक अद्वितीय ब्रह्म ही तत्त्व है। श्रुति निषेधमुखसे ही उसका प्रतिपादन करती है। उसका इदमित्थं या इदन्तया प्रतिपादन नहीं किया जा सकता। कारण, वह अवाङ्मनसगोचर है। वह प्रत्यगात्मस्वरूप है। ब्रह्म ज्ञानकी वस्तु नहीं है। ज्ञानके विषय जड पदार्थ हैं। ज्ञान प्रकाशक है और जड दृश्य—प्रकाश्य। यदि ब्रह्म ज्ञानका विषय हो तब तो वह भी दृश्य हो जाता है और दृश्य होते ही वह जड हो जायगा। अथ च ब्रह्मका जडत्व स्वीकार नहीं किया जा सकता।

शङ्करके मतसे ब्रह्मका गुणमय भाव मायिक है—निर्गुण-भाव ही पारमार्थिक है। ब्रह्मको सगुण और ज्ञानका विषयीभूत स्वीकार करते ही ब्रह्म मूर्त वस्तु बन जाता है और मूर्त वस्तुका परिणाम अनिवार्य विनाश है; अतएव ब्रह्म निर्गुण है।

इसके उत्तरमें रामानुजका तर्क है कि ब्रह्म या पुरुषोत्तम प्रतिपाद्य और शास्त्र प्रतिपादक है। शास्त्र सगुण और सविशेष ब्रह्मका ही प्रतिपादन करता है। निर्विशेष वस्तुकी प्रतिपत्ति (या प्रपत्ति) असम्भव है। साथ ही अनुमानादिकी सहायतासे ब्रह्मका निर्णय नहीं किया जा सकता।

ईश्वर सम्पूर्ण जगत्का निमित्त और उपादान-कारण है। यह कारण न तो अविद्या-कर्मनिबन्धन है और न परनियोग-मूलक। यह स्वेच्छाजन्य है। सृष्टिका प्रयोजन केवल लीला है। आचार्य रामानुजके मतानुसार ब्रह्म सविशेष और सगुण है। माया ब्रह्मकी शक्ति है। जीव और जगत् दोनों उसके शरीर हैं और दोनों ही नित्य हैं। ब्रह्मके गुणोंकी इयत्ता नहीं और न उसमें कोई दोष है। वही सृष्टिकर्ता है—वही कर्मफलदाता है। वही नियन्ता है—वही सर्वान्तर्यामी है। प्रकृति पुरुषसे भिन्न है। तद्विशिष्ट परब्रह्म नारायण ही पुरुषोत्तम है। शिव प्रभृति पुरुषोत्तम या परब्रह्म नहीं हैं। परंतु शङ्करके मतमें शिव ही परब्रह्म है।

आचार्य रामानुजके मतानुसार अविद्या-निवृत्तिका प्रयोजन है, क्योंकि जीवमें अज्ञान है। उपासनाके बलसे ब्रह्म-साक्षात्कार होनेपर अज्ञान विदूरित हो जाता है। जीव मुक्त होकर भी ईश्वरका दास बना रहता है और वह ईश्वरकी अपार लीलामें आनन्दका उपभोग करता है। ब्रह्मरूपता ही परमानन्दस्वरूपता है। अविद्या शङ्कर और रामानुज दोनोंको मान्य है। शङ्करके मतसे ज्ञान होनेपर अविद्या या अज्ञान लुप्त हो जाता है और रामानुजके मतसे ईश्वरकी उपासनासे

अविद्याका नाश होता है; परंतु शङ्करके मतानुसार अज्ञान ज्ञानका अभाव नहीं, बल्कि वह भाव वस्तु है।

रामानुजका ईश्वर विभु है। विभुका अर्थ है व्यापक। ईश्वरका व्यापकत्व तीन प्रकारका है—स्वरूपतः, धर्मभूत-ज्ञानतः और विग्रहतः। वह अनन्त है। अनन्तका अर्थ त्रिविध परिच्छेदशून्य है। देश, काल और वस्तु ही त्रिविध परिच्छेद हैं।

आचार्य रामानुजके मतानुसार ब्रह्म ही जगत्‌का सूक्ष्म-रूपमें कारण है। स्थूलरूपमें वह जगत् है। जगत्‌रूपमें परिणत होते हुए भी वह अविकृत है। जगत् सत् है—मिथ्या नहीं।

जीव ब्रह्मका शरीर है। ब्रह्म और जीव दोनों ही चेतन हैं। ब्रह्म विभु और जीव अणु है। दोनोंमें सजातीय या विजातीय भेद नहीं है। फिर भी स्वगतभेद है। जीव कार्य और ईश्वर कारण है। ब्रह्म पूर्ण और जीव खण्डित (अंश) है। दोनों ही स्वयंप्रकाश हैं।

दोनों चेतन और ज्ञानाश्रय हैं। जीव तीन प्रकारके हैं—बद्ध, मुक्त और नित्य। जिसकी संसारसे निवृत्ति नहीं हुई है, वह बद्ध है। देवता, मनुष्य, तिर्यग्, वनस्पति और अचरादि सभी बद्ध हैं। अविद्या जीवके बन्धनका कारण है। वह बीजाङ्कुरन्यायेन अनादि है। भक्ति या उपासनासे अविद्या-का नाश होता है। भक्तिमार्गमें त्रिवर्णका अधिकार है।

श्रीरामानुजके मतानुसार भगवान्‌का कैङ्कर्य मिलना ही मुक्ति है। प्राकृत देहके छूट जानेपर अप्राकृत देहसे नारायणके समान उपभोग करना ही मुक्ति है। वैकुण्ठमें श्री, भू, लीला देवियोंके साथ नारायणकी सेवा करना ही परम पुरुषार्थ है। जीव स्वभावतः नित्य है। जीव नित्य दास है—वह नित्य अणु है। वह अणु है—अतएव विभु कभी नहीं हो सकता। मुक्त जीव अपने प्रयोजनवश ही नित्य नैमित्तिक भगवान्‌की आज्ञाका कैङ्कर्य साधन करता हुआ देहावसानके समय पुण्य और पाप, मित्र और शत्रु—सभीको समर्पण कर देता है।

हाँ, एक बात और है। रामानुज योगशास्त्रपर भी चर्चा करना नहीं भूले हैं। मुक्तिद्वारभूत सुषुम्ना नामकी हृदय-नाड़ीमें प्रविष्ट होकर जीव ब्रह्मरन्ध्र नाड़ीसे उत्क्रमण करता है। हृदयस्थित देवताओंके साथ वह सूर्य-किरणके द्वारा अग्निलोकमें प्रवेश करता है। रास्तेमें दिन, पूर्वपक्ष, (कृष्ण-शुक्ल) उत्तरायण और संवत्सर प्रभृति अभिमानी देवताओंके द्वारा सत्कृत होकर सूर्यमण्डलका भेद करता है। तत्पश्चात् चन्द्र, विद्युत्, वरुण और इन्द्रादि लोकोंका अतिक्रमण करता हुआ वैकुण्ठ-सीमा-परिच्छेदक 'विरजा' उत्तीर्ण होता है। यहाँ आनेपर सूक्ष्म शरीर छूट जाता है। तब मानवीय स्पर्श नहीं रह जाता। वहाँ दिव्य—अप्राकृत देह प्राप्त होती है। चतुर्भुज होकर ब्रह्मालङ्कारोंसे अलङ्कृत इन्द्र और प्रजापति नामके द्वारपालोंकी अनुमतिसे वह वैकुण्ठनगरमें उपनीत होता है। वहाँ पहुँचकर गरुड़ और अनन्तयुक्त ध्वजाओंसे अलङ्कृत—दधि-प्रासादवेष्टित गोलोकमें वह प्रवेश करता है। वहाँ 'ऐरम्मद' नामक सरोवर और 'सोम-सवन' नामक अश्वत्थ वृक्षके दर्शनके उपरान्त अप्सराओंसे अभिनन्दित होता है। अनन्त, गरुड़ और विष्वक्सेन प्रभृतिको प्रणाम करनेके पश्चात् अपने आचार्यगणको प्रणाम करता है। उसके बाद पर्यङ्कके समीप पहुँचाया जाता है। उसी पर्यङ्कपर—धर्म्यादि पीठकमलके ऊपर नानाभरणाभूषित, अपरिमित उदार, कल्याण-गुण-गण-सागर, श्री, भू, लीलासेवित भगवान् विराजमान हैं।

श्रीशङ्करके मतानुसार उत्क्रान्ति-गति-वर्जित ब्रह्मस्वरूपता ही मुक्ति है। अविद्याका अस्त होना ही मोक्ष है। शङ्कर जीवन्मुक्तिको स्वीकार करते हैं। उनके मतसे मुक्ति क्रिया-साध्य नहीं—आत्मा नित्य मुक्त है। केवल अज्ञानका नाश होते ही मुक्त आत्मा अपने स्वरूपमें प्रकाशित होता है। मुक्ति आप्य है—संस्कार्य, उत्पाद्य या विकार्य नहीं।

उन्होंने सबल युक्तियोंसे जीवन्मुक्तिका प्रतिपादन किया है; परंतु रामानुजने उसका खण्डन किया है। उनका मत है कि मुक्तावस्थामें भी जीव ब्रह्मका दास ही है; क्योंकि एक ईश है, दूसरा अनीश। एक असीम है—दूसरा ससीम। एक प्राज्ञ है—दूसरा अज्ञ। जिस प्रकार स्फुलिङ्ग (चिनगारी) अग्निका अंश है, उसी प्रकार जीव भी ब्रह्मका अंश है। अतएव जीव और ब्रह्ममें अंशांशिभाव या विशेषण-विशेष्य-भाव है।

रामानुजका 'तत्त्वमसि' भी इस प्रसङ्गमें उल्लेखनीय है। उनके मतानुसार 'तत्त्वमसि' वाक्य जीव और ब्रह्मका अभिन्नताबोधक नहीं है; किंतु आचार्य शङ्करके मतानुसार 'तत्त्वमसि' वाक्य सामानाधिकरण्यके बलसे निर्विशेष ब्रह्मात्मैक्यपर है। रामानुजने सामानाधिकरण्यको स्वीकार किया है। पर साथ ही यह बतलाया है कि 'तत्' और 'त्वम्' सविशेष ब्रह्मपरक है। 'त्वम्' पदार्थका साधारणतः जीवको ही प्रतीक

माना जाता है। पर 'विशिष्टाद्वैत' में 'त्वम्'का अर्थ है विशिष्ट जीव—शरीरवाला ब्रह्म। 'तत्' पदसे सर्वज्ञ, सत्यसङ्कल्प और जगत्कारण ईश्वरसे ही अभिप्राय है। साथ ही विशेषण-विशेष्य-भावापन्न 'त्वम्' पद भी जडसहकृत जीव-शरीरधारी ब्रह्मका ही बोधक है। कारण, विभिन्न पदार्थोंकी एकार्थबोधकता ही सामानाधिकरण्य है। 'तत्' और 'त्वम्'—पदोंमें यदि प्रकार-गत भेद स्वीकार न किया जाय, तब तो शब्द-व्यवहारमें जो प्रधान कारण है, वह प्रवृत्ति-निमित्तमें प्रभेद न रहनेसे दोनों ही पदोंका सामानाधिकरण्य छोड़ना होगा। पक्षान्तरमें दोनों पदोंका मुख्यार्थ बाधित होनेके कारण गौणार्थकी भी लक्षणा या कल्पना करनी पड़ेगी; किंतु मुख्यार्थ सम्भव हो तो लक्षणा दोषावह हो जाती है।

आचार्य रामानुजने शङ्कराचार्यके—'सोऽयं देवदत्तः'—वह देवदत्त यही है—का इस प्रकार खण्डन किया है। कहा है कि यहाँ लक्षणा करनेकी कुछ आवश्यकता ही नहीं। कारण, एक ही देवदत्तमें अतीत और वर्तमानकालकी प्रतीति-में कुछ भी विरोध नहीं है। भिन्न देशोंमें अवस्थितिसे भी ऐक्य-प्रतीतिमें बाधा नहीं पड़ती। कारण, एक ही व्यक्ति विभिन्न समयमें—विभिन्न स्थानमें बिना किसी बाधाके रह सकता है। विशेषतः 'तत्' शब्दका निर्विशेषत्व-अर्थ ग्रहण कर लेनेपर जिस उपक्रममें 'तदैच्छत्, बहु स्याम्' श्रुतिमें प्रयुक्त हुए हैं, उनके साथ भी विरोध घटित होता है। यहाँ-तक कि 'एकविज्ञाने सर्वविज्ञानम्'-जैसी प्रतिज्ञा भी नहीं टिक सकती। अतएव रामानुजके मतसे 'तत्' और 'त्वम्' इन पदोंसे जीव जिसका शरीर है और जो जगत्का कारण है, उसीका बोध होता है।

परंतु आचार्य शङ्करका कहना है कि 'सोऽयं देवदत्तः' अर्थात् यह वही देवदत्त है—ऐसा कहनेपर लक्षणाके बिना तो इस वाक्यका अर्थ ही नहीं सङ्गत होता। कारण, 'तत्' शब्दका साधारण अर्थ अतीतकालीन इन्द्रियोंका अगोचर कोई पदार्थ है और 'अयम्' शब्दका अर्थ वर्तमान और नेत्रादि इन्द्रियोंका ग्राह्य पदार्थ है। जो इन्द्रियोंद्वारा अग्राह्य और अतीत है, वही फिर इन्द्रियग्राह्य और वर्तमान किस तरह रह सकता है? फलतः एक ही पदार्थ, एक ही समयमें कभी अतीत और कभी वर्तमान रह ही नहीं सकता।

अतएव 'सः अयम्' वाक्योक्त सामानाधिकरण्यमें विरोध पड़ता है। अथ च 'सः' और 'अयम्' पदोंका मुख्य अर्थ परोक्षत्व, अपरोक्षत्व आदि विशेष-विशेष धर्मोंको छोड़कर केवल देवदत्तरूपी एकमात्र विशेष्यरूप अर्थमें लक्षणा करनी पड़ती है। अतएव 'तत्त्वमसि' वाक्यमें भी उसी प्रकार 'तत्' और 'त्वम्' पदोंके विरोधी अंशोंको छोड़कर केवल एक निर्विशेष चैतन्य आत्मामें लक्षणा करनेसे ही विरोधका परिहार हो सकता है।

जीव-पक्षमें ईश्वरकी शरणागति और ईश्वर-पक्षमें जीवके प्रति 'अहैतुकी' कृपा है—ये श्रीरामानुजके दर्शनमें दो सबसे बड़ी खूबियाँ हैं। जीवके शुद्धसत्त्व, मिश्रसत्त्व और सत्त्वशून्य—ये तीन भेद हैं। शुद्धसत्त्वमें रजोगुण और तमोगुणका लेश भी नहीं रहता। मिश्रसत्त्व रजोगुण और तमोगुणसे मिश्रित रहता है और यही सृष्टिका उपादानकारण है। सत्त्वशून्य तत्त्वको ही 'काल' कहते हैं।

न्यासविद्या रामानुजके शब्दमें प्रपत्ति है। आनुकूल्यका सङ्कल्प और प्रातिकूल्यका वर्जन ही प्रपत्ति है। संक्षेपमें भगवान्‌को आत्मसमर्पण करना ही प्रपत्ति है। उनके 'गद्यत्रय' में इसपर यथेष्ट प्रकाश डाला गया है। साथ ही इसमें शरणापत्तिके विषय भी प्रतिपादित हुए हैं। आत्मनिवेदनका भाव इसमें सर्वत्र परिस्फुटित—ओतप्रोत है। श्रीरामानुजकी भक्तिमें भावुकता अधिक है।

शङ्करके मतानुसार मायावादकी प्रधानता सर्वोपरि है। रामानुजके मतानुसार शङ्करकी माया या अविद्या एक कल्पना-मात्र है और यह कल्पना सात प्रकारसे अनुपपन्न की गयी है। शङ्करके मतानुसार अविद्या सत् भी हो सकती है। कारण, सत्पदार्थकी कोई भी बाधा नहीं हो सकती; किंतु अविद्या या अज्ञानकी बाधा ज्ञानोदय है। अतएव अविद्याको सत् (Existing) क्योंकर कहा जा सकता है?

फिर भी अविद्याको असत् कैसे कहा जाय? कारण, असत् वस्तु प्रत्यक्ष नहीं होती। जैसे—आकाशकुसुम, वन्ध्यापुत्र और शशक-शृङ्ग। विशेषतः जिसका अस्तित्व था ही नहीं, उसकी बाधा कैसी? जिसकी सत्ता है, अवस्था-भेदसे उसकी बाधा हो सकती है। अविद्याकी जब प्रतीति होती है, तब वह नहीं है, ऐसा नहीं कहा जा सकता।

श्रीरामानुजने शङ्कराचार्यके अनिर्वचनीयतावादका खण्डन किया है। श्रीशङ्करके मतसे सदसद्-विलक्षण होनेके कारण ही माया अनिर्वचनीय है। कारण, सीपमें चाँदीका भ्रम होता है और वहाँ सचमुच ही चाँदीकी तत्काल सृष्टि हो जाती है। शुक्ति-अविच्छिन्न जो चैतन्य है, वही चैतन्यनिष्ठ है और जो

अज्ञान है, वही अज्ञान रजतका उपादान और शुक्ति उसका अधिष्ठान या आश्रय है। यह रजत 'प्रातिभासिक' और अनिर्वचनीय है।

इसपर श्रीरामानुजका तर्क है कि अनिर्वचनीयता युक्ति-युक्त नहीं हो सकती। कारण, एक वस्तुकी अन्य आकारमें प्रतीति ही भ्रम है। इस प्रकारका भ्रम तो अनिर्वचनीयतावादियों-को भी मानना पड़ेगा। शुक्तिमें उत्पन्न प्रतीतिको, जो इस तरहका भ्रम स्वीकार कर लिया जायगा—जब कि पूर्वोक्त प्रतीति, प्रवृत्ति और बाध-व्यवहारादि सङ्गत हो सकते हैं—तो अनुभवविरुद्ध और प्रत्यक्षादिके प्रमाणोंसे अग्राह्य अनिर्वचनीयताको स्वीकार करनेकी आवश्यकता ही क्या है? विशेषतः वह रजत, जो अनिर्वचनीय है, लोकप्रसिद्ध रजतसे सर्वथा भिन्न है; ऐसा तो कोई भी दर्शक उस समय अनुभव नहीं कर पाता। यदि ऐसी अनुभूति हो सकती तो यह भ्रम ही किस प्रकार हो सकता था? अथ च कहना पड़ता है कि वास्तवमें सीप ही मिथ्या चाँदीके रूपमें प्रकाशित होती है। अतएव अनिर्वचनीयतावाद अयौक्तिक और अश्रौत है।

साथ ही श्रीरामानुजने इस प्रकरणमें असत् ख्याति—माध्यमिक बौद्धोंकी, आत्मख्याति—योगाचार बौद्धोंकी; अख्याति—प्रभाकरनामक पूर्वमीमांसककी, अन्यथाख्याति नैयायिकोंकी—का खण्डन किया है। उनके मतमें निर्विकल्पक ज्ञान न्याय, शाङ्करमत, सांख्य और पातञ्जल मतसे पृथक् है। न्यायके अनुसार निर्विकल्पक ज्ञान विशेष्य-विशेषण-भावरहित वस्तु-स्वरूपमात्र ज्ञान है। शङ्करका मत भी प्रायः वैसा ही है। पातञ्जलकी असम्प्रज्ञात समाधिमें निरवलम्ब स्वरूपमात्रनिष्ठ ज्ञानका उदय होता है; परंतु रामानुजके मतानुसार निर्विकल्पक ज्ञान सविकल्पक ज्ञानका आश्रित है। निर्विकल्पक विषयमें प्रत्यक्ष ज्ञान तो हो ही नहीं सकता।

नाथ-भागवत

(लेखक—श्रीवि० हर्षे एम्० ए०, 'साहित्य-विशारद')

संतशिरोमणि एकनाथजीका लिखा हुआ 'नाथ-भागवत' मराठीके धार्मिक साहित्यका एक अमर ग्रन्थ-रत्न है। यह श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धकी एक विस्तृत टीकाके रूपमें है। श्रीमद्भागवतके प्रथम दस स्कन्धोंतक चला आता हुआ कथा-सूत्र एकादश स्कन्धमें लुप्त-सा हो जाता है। इस स्कन्धमें केवल अध्यात्म-चर्चाको ही स्थान दिया गया है। इसमें परमार्थके विविध अङ्गोपाङ्गोंका जो विस्तृत विवरण है, कदाचित् उसीके कारण श्रीएकनाथजीकी अध्यात्म-प्रवण बुद्धिको इस स्कन्धमें अनुपम माधुरी दीख पड़ी होगी और सम्भवतः इसीलिये अपने प्रवचनके लिये उन्होंने इस स्कन्ध-का चुनाव किया होगा। इसमें कुल ३२ अध्याय हैं। इन अध्यायोंके प्रत्येक श्लोकपर श्रीएकनाथजीने मराठीमें विस्तृत टीका लिखी है। टीका पद्यबद्ध है। सम्पूर्ण ग्रन्थकी छन्द-संख्या १८००० के ऊपर है। इसीसे ग्रन्थ-विस्तारकी कल्पना की जा सकती है। दूसरी बात यह है कि इस ग्रन्थमें कई छन्द ऐसे भी हैं, जिनका अर्थ पूर्णरूपसे समझने-समझानेके लिये विवेचनात्मक व्याख्याकी आवश्यकता पड़ जाती है। अतः अर्थबोधकी दृष्टिसे ग्रन्थका विस्तार और भी अधिक हो जाता है। इस द्विविध विस्तार और भाषाकी क्लिष्टताके कारण सहस्रों अध्यात्मप्रेमी इस ग्रन्थकी माधुरीका आस्वाद नहीं ले सकते। इसीलिये नाथ-भागवतका सारांश एक लेख-मालामें देनेका विचार है। यद्यपि ऐसी इच्छा करना बौनेका आकाश छूना है; और जिस ग्रन्थको समझनेके लिये विस्तृत टीकाकी आवश्यकता है, उसीको संक्षिप्त करके छोटा बनाना उल्टी गङ्गा बहाना है, तथापि जिस प्रकार परम पावनी श्रीगङ्गाजी-का थोड़ा-सा भी जल समस्त पाप-ताप-नाशनमें समर्थ है, उसी प्रकार नाथ-भागवतका सारांश भी परम कल्याणमय होगा।

अपनी टीकामें श्रीएकनाथजीने संस्कृत-श्लोकोंका केवल अनुवाद ही नहीं किया है। कुछका अनुवाद, कुछका विस्तार और कई स्थानोंपर परिवर्तन भी किया है। जहाँ मूल श्लोकों-का केवल अनुवाद है, उन स्थानोंपर प्रस्तुत लेख-मालामें विशेष प्रकाश नहीं डाला जायगा, क्योंकि उन्हें तो हिंदी-टीकाद्वारा हिंदी-भाषी जान सकते हैं; किंतु श्रीएकनाथजीने जिन आध्यात्मिक सिद्धान्तोंका वैशिष्ट्यपूर्ण प्रतिपादन किया है तथा जिन सिद्धान्तोंको उन्होंने व्यावहारिक दृष्टान्तोंद्वारा हृदयङ्गम करनेके योग्य बना दिया है, उन्हीं सिद्धान्तोंका यहाँपर संक्षेपमें सारांश दिया गया है। आज इस प्रथम लेखमें एकादश स्कन्धके प्रथम पाँच अध्यायोंकी चर्चा की जाती है।

एकादश स्कन्धके प्रथम पाँच अध्यायोंका मुख्य विषय नारदकथित 'जनक और नौ ऋषियोंका संवाद' है। एक बार महामुनि नारदजी भगवान् श्रीकृष्णके पिता वसुदेवजीके यहाँ

गये। वसुदेवजीने उनका यथोचित स्वागत-सत्कार किया। उनकी पूजा करनेके बाद वसुदेवजीने उनसे प्रार्थना की, 'हे मुनीश्वर! जिन धर्मोंके आचरणका सहारा लेकर मनुष्य समस्त भयोंसे मुक्त हो जाता है, उन धर्मोंका उपदेश आप हमें कीजिये।' वसुदेवजीके इस प्रश्नका साङ्गोपाङ्ग उत्तर देनेके उद्देश्यसे नारदजीने उन्हें उस संवादका वृत्तान्त सुनाया जो राजा जनकका नौ ऋषियोंके साथ एक यज्ञ-सत्रमें हुआ था। इस संवादमें राजा जनकने उन नौ ऋषियोंसे अध्यात्मविषयक नौ प्रश्न पूछे थे, जिनके उत्तर ऋषियोंने दिये थे। इन प्रश्नोत्तरोंमें एक प्रकारसे समस्त अध्यात्म-शास्त्रका सार आ जाता है। इसीलिये श्रीएकनाथजीने समूचे एकादश स्कन्धमें इस पञ्चाध्यायीको परमोच्च स्थान दिया है। उनका कहना है कि ये पाँच अध्याय ही एकादश स्कन्धके पञ्च-प्राण हैं, और भगवद्भक्तोंको उपदेशामृत पिलानेके लिये ही इनका आविर्भाव हुआ है। एकादश स्कन्धरूपी सुहावनी वसंत ऋतुमें यह पञ्चाध्यायी कोयलका मधुर पञ्चम स्वर है और पाठकगण अलिकुलके समान हैं। इस प्रकारके काव्यात्मक वर्णनके अनन्तर श्रीएकनाथजी कहते हैं कि जो इस जनक-नौ ऋषि-संवादका अध्ययन करके उसका रहस्य समझ लेगा, उसका अन्तःकरण विशुद्ध हो जायगा, उसका जीव-ईश्वर-भेद नष्ट हो जायगा एवं आत्मज्ञानके प्रकाशसे वह आनन्दमय परब्रह्मस्वरूप बन जायगा। इस दृष्टिसे श्रीएकनाथजीने इन पाँच अध्यायोंका सावधान चित्तसे अध्ययन करनेका आदेश किया है।

राजा जनकने नौ ऋषियोंसे निम्नाङ्कित नौ प्रश्न पूछे थे।

१. भागवत-धर्म कौन-सा है?
२. भागवतोंके लक्षण क्या हैं?
३. माया क्या है?
४. मायासे छूटनेका क्या उपाय है?
५. ब्रह्म क्या है?
६. कर्मयोग क्या है?
७. परमेश्वरके अवतार-चरित्र कितने हैं?
८. अभक्तोंकी गति कौन-सी है?
९. किस युगमें, किस नाम-रूप-वर्ण-आकारके ईश्वरका किस प्रकार पूजन करना चाहिये।

मूल भागवतके एकादश स्कन्धमें इन प्रश्नोंके उत्तर संक्षेपमें इस प्रकार हैं—

प्रश्न १—भागवत-धर्म कौन-सा है?

इस प्रश्नका उत्तर उन नौ ऋषियोंमेंसे 'कवि'नामक ऋषिने इस प्रकार दिया—

जिस धर्मके आचरणसे मायाग्रसित मनुष्यको आत्मज्ञान हो जाता है, वही भागवत-धर्म है। इस धर्मके सहारे आँखें बंद करके भी चलनेसे मनुष्यका पतन नहीं होता। मायाके कारण द्वन्द्वाभासकी उत्पत्ति होती है। इस मायाको लाँघकर निर्द्वन्द्व स्थितिमें पहुँचनेके लिये ईश्वरार्पण-बुद्धिसे कर्म करना तथा ईश्वर-भक्ति करना ही भागवत-धर्मका आचरण करना है। भक्तिसे ईश्वर-प्रीति बढ़ती है एवं पञ्चमहाभूतात्मक इस विश्वमें ईश्वरका रूप प्रकट होता है। भक्तिकी परिपक्व दशामें साधकको भक्ति-ज्ञान-वैराग्य एक साथ ही प्राप्त होते हैं। अन्तमें ईश्वर और भक्त एकरूप हो जाते हैं। यह भागवत-धर्मका स्वरूप है।

प्रश्न २—भागवतोंके लक्षण क्या हैं?

इस प्रश्नका उत्तर द्वितीय ऋषि 'हरि'ने इस प्रकार दिया—

जो भक्त जन्म-मरण, क्षुधा-तृषा, अहंभाव आदि मायोत्पादित विकारोंसे पूर्णतया मुक्त है, जो सारे कर्म निष्काम बुद्धिसे करता है, जो सर्वत्र परमेश्वरका स्वरूप देखता है एवं जो विषयभोगोंसे अलिप्त है वह भागवतोत्तम कहलाता है। उसमें देहात्मबुद्धि नहीं रहती। उसका जाति-वर्ण-वैभव-ज्ञान आदिका अभिमान नष्ट हो जाता है। त्रिभुवनकी सम्पत्तिके लिये भी उसका चित्त भगवत्स्मरणसे विचलित नहीं होता। परम भक्तिरूपी रज्जुसे वह ईश्वरको बाँध लेता है। परमेश्वरकी पादकिरणोंकी चन्द्रिकासे उसके काम-क्रोधादि सब तम-ताप नष्ट हो जाते हैं।

प्रश्न ३—माया क्या है?

इस प्रश्नका उत्तर ऋषि अन्तरिक्षने इस प्रकार दिया—

अव्यक्त परब्रह्मसे पञ्चमहाभूत, पञ्चधातु, त्रिगुण आदि-की और इनसे दृश्य-जगत्की उत्पत्ति होती है। उसके पश्चात् आत्माभिमानके कारण काम्य-कर्म करनेवाला जीव जन्म-मरणके चक्करमें पड़ता है। यही माया है। इसी प्रकार यह दृश्य, साकार सगुण जगत् विपरीत क्रमसे पुनः अव्यक्त परब्रह्ममें विलीन हो जाता है। ब्रह्माण्डकी इन अवस्थाओंकी कारणभूत शक्ति ही माया है।

प्रश्न ४—मायासे छूटनेके क्या उपाय हैं?

इस प्रश्नका उत्तर प्रबुद्ध ऋषिने इस प्रकार दिया—

जो मायाके ऊपर विजय प्राप्त करना चाहता है, उसे अपने मनमें गृह, अपत्य, पशु आदि ऐहिक विषयोंके प्रति अनासक्ति उत्पन्न करनी चाहिये। उसके बाद उसे

शाब्दिक ज्ञान एवं स्वसंवेद्य विज्ञानमें निष्णात सद्गुरुकी शरणमें जाना चाहिये और उनसे भागवत-धर्मोंका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये । शौच, तप, तितिक्षा, मौन, स्वाध्याय आदि यम-नियमोंसे अपना अन्तःकरण शुद्ध कर लेना चाहिये । इसके पश्चात् समस्त कर्मोंको ईश्वरार्पण करना, ईश्वरके प्रति अनन्य प्रीति, ईश्वर-भक्ति तथा आत्मानुभूति आदिके द्वारा सर्वत्र ईश्वरके रूपका साक्षात्कार करना चाहिये । इस प्रकार साधक सहजमें ही मायासे मुक्त हो सकता है ।

प्रश्न ५—ब्रह्म क्या है ?

इस प्रश्नका उत्तर ऋषि पिप्पलायनने इस प्रकार दिया—

जो स्थिति, उद्भव और प्रलयका कारण है, जो मन-बुद्धि आदि इन्द्रियोंसे परे है, जो वाणीका विषय नहीं हो सकता, जो प्राणका भी आधार है एवं जो जन्म-मरण आदि विकारोंसे अलिप्त रहता है, वह ब्रह्म है तथा वही सबका मूल-तत्त्व है । वह सबमें है और सब उसमें हैं ।

प्रश्न ६—कर्मयोग क्या है ?

इस प्रश्नका उत्तर ऋषि आविर्होत्रने इस प्रकार दिया—

निःसङ्ग होकर तथा कर्मफलकी इच्छा न करते हुए वेदोक्त कर्म करना कर्मयोग है । वेदोक्त कर्मका त्याग करना दोषार्ह है । अतः ईश्वरप्राप्तिके लिये उसकी विधिपूर्वक अर्चा करके तथा ध्येयमूर्तिसे तदाकार होकर मोक्ष प्राप्त करना चाहिये । इसे नैष्कर्म्य कहते हैं और यही कर्मयोग है ।

प्रश्न ७—परमेश्वरके अवतार-चरित्र कितने हैं ?

इस प्रश्नका उत्तर मुनि द्रुमिलने इस प्रकार दिया—

परमेश्वरके गुणकर्मोंकी गणना करना धूलिकणोंकी गणना करनेके समान असम्भव है । तो भी यह कहा जा सकता है कि ईश्वरने इस ब्रह्माण्डकी सृष्टि रजोगुणसे की । उसकी रक्षा वह सत्त्वगुणसे करता है और उसका नाश तमोगुणसे करता है । ईश्वरके प्रथमावतारोंमें मुनि नारायणकी गणना की जाती है । इन्द्रप्रेषित अप्सराओंके मोह-जालमें न फँसकर उन्होंने अपने वैराग्यकी रक्षा की । उसके बाद हंसावतारमें ईश्वरने आत्मज्ञानका उपदेश किया । तत्पश्चात् मत्स्य, कूर्म, वामन आदि अवतार हुए । उनमें श्रीरामचन्द्रजी-का अवतार मुख्य है । इस समय श्रीकृष्णावतार चल रहा है ।

प्रश्न ८—अभक्तोंकी गति कौन-सी है ?

इस प्रश्नका उत्तर मुनि चमसने इस प्रकार दिया—

जो परमेश्वरको सबका कर्ता नहीं मानते, जो ज्ञानाभिमान-के कारण ईश्वर-सेवासे विमुख रहते हैं तथा जो स्त्रैण एवं कामी हैं, वे अभक्त कहलाते हैं । ज्ञान, विभूति, त्याग आदिमें अपनेसे जो श्रेष्ठ हैं, उन भगवद्भक्तोंकी वे अभक्त अवहेलना करते हैं । वे विषयोंका उपभोग करनेमें धार्मिक बन्धनोंका उल्लङ्घन किया करते हैं । इस प्रकार धर्मसे विमुख होनेके कारण उन्हें मानसिक शान्ति कभी नहीं मिलती । धीरे-धीरे ऐहिक सुखभोगोंसे भी वे वञ्चित हो जाते हैं । अन्तमें मायारूपी अन्धकारमें वे सदाके लिये डूब जाते हैं ।

प्रश्न ९—किस युगमें, किस नाम-रूप-वर्ण-आकारके ईश्वरका किस प्रकार पूजन करना चाहिये ?

इस प्रश्नका उत्तर ऋषि करभाजनने इस प्रकार दिया—

कृतयुगके निर्वैर, शान्त, वल्कलधारी, श्वेतवर्णमय ईश्वरको हंस, सुपर्ण आदि नामोंसे पुकारते हैं तथा शम, दम आदि तपसे उसका अर्चन करते हैं । त्रेतायुगके सर्वत्र ईश्वरका स्वरूप देखनेवाले, ब्रह्मवादी, स्रुक्-स्रुवा धारण करनेवाले, रक्तवर्ण परमेश्वरको विष्णुयज्ञ आदि नामोंसे पहचानते हैं और विद्याके द्वारा उसका अर्चन करते हैं । द्वापरयुगके जिज्ञासु, मर्त्यनिवासी, श्रीवत्सलाञ्छनधारी, पीतवसन, श्यामवर्ण ईश्वरको नारायण, पुरुष आदि नामोंसे जानते हैं तथा वेदमन्त्रोंसे उसका अर्चन करते हैं । कलियुगमें बुद्धिमान् मनुष्य कृष्णवर्ण श्रीकृष्णचन्द्र एवं श्रीरामचन्द्रजीको नाम-सङ्कीर्तनद्वारा पूजते हैं । कलियुगमें नाम-सङ्कीर्तन ही एकमात्र पर्याप्त साधन है । यही कारण है कि अन्य युगवाले जीव कलियुगमें जन्म लेनेकी इच्छा करते हैं ।

एकादश स्कन्धके मूल पञ्चाध्यायीका संक्षेपमें यही सारांश है । अब उसीकी श्रीएकनाथजीकृत मराठी टीका 'नाथ-भागवत' की व्याख्या देखिये ।

ग्रन्थके आरम्भमें श्रीएकनाथजीने गणेश प्रभृति देव, सद्गुरु, पूर्ववर्ती साहित्याचार्य एवं अपने पूज्य पूर्वज आदिको नमन किया है । इसके पश्चात् उन्होंने उस घटनाका वर्णन किया, जिसके कारण वे ग्रन्थ-रचनाके लिये उद्यत हुए । उन्होंने लिखा है—'एक बार साधुवृन्दने मुझसे कहा कि पुराणोंमें भागवत सबसे श्रेष्ठ है । उसमें भी श्रीकृष्ण-उद्धव-संवाद तो बहुत ही मनोहर है । उस कथाको हमें सुनाओ । हमें हरि-कथा-श्रवणकी चाह तो पहलेसे ही थी । अब तेरे-जैसा रसिक वक्ता मिल गया तो मानो दूधमें शक्कर मिल गयी । संतोंके इन कृपापूर्ण वचनोंको सुनते ही मैं फूला नहीं समाया और उसी प्रकार हर्षित हुआ जिस प्रकार मेघ-

गर्जनसे मयूर अथवा चन्द्रमाको देखकर चकोर हर्षित होता है। योग्य न होते हुए भी मैंने संतोंके प्रोत्साहन एवं सद्गुरु पूज्यपाद श्रीजनार्दन स्वामीजीकी कृपासे ग्रन्थ आरम्भ कर दिया, जो भगवत्कृपासे पूरा भी हो गया।'

श्रीएकनाथजीने इस प्रकारकी विनययुक्त भूमिका लिखी है। इसके पश्चात् उन्होंने भाषाके प्रश्नको उठाया है। आध्यात्मिक ग्रन्थकी रचना प्राकृत भाषामें करना तत्कालीन विचारधाराके सर्वथा विरुद्ध था; किंतु उन्होंने इसका खण्डन करके प्राकृत भाषाका सबल समर्थन किया है। उन्होंने लिखा है, 'संस्कृतमें ग्रन्थ-रचना करनेवाले यदि महाकवि बन सकते हैं तो प्राकृत-भाषामें कविता करनेवाले महाकवि क्यों नहीं हो सकते? स्वर्णका पुष्प नया हो या पुराना, उसके मूल्यमें अन्तर नहीं पड़ सकता। कपिला धेनुका दूध 'दूध' कहलायेगा और दूसरी गायोंका दूध क्या 'पानी' कहलायगा? जो तत्त्वज्ञान संस्कृतमें लिखनेसे पवित्र रहता है, वह दूसरी भाषामें लिखनेसे अपवित्र कैसे हो जायगा? प्राकृत भाषाओंमें प्रादेशिक रूपके कारण शब्दों या पदोंमें भले ही कुछ अन्तर हो जाय; किंतु इस भाषा-भेदके कारण राम-कृष्ण आदि परम पावन विभूतियोंमें तो अन्तर नहीं पड़ सकता? हरि-कथा किसी भी भाषामें हो, वह परम पावन रहेगी। हरि-कथाके लिये जिस किसी भाषाका उपयोग किया जायगा, वह संस्कृत हो या अन्य कोई भाषा, उसी भाषाके साधनसे सत्यके आविष्कारका कार्य ही होगा।

इतनी प्रस्तावनाके बाद श्रीएकनाथजीने प्रथम अध्यायमें साम्बका स्त्रीवेष, ऋषियोंका शाप, यादवकुलका नाश एवं श्रीकृष्ण-निर्याण आदि घटनाओंका वर्णन किया है। तत्पश्चात् लोकोद्धारके लिये अपनी कीर्ति जगत्में रखकर श्रीकृष्णके स्वधाम पधारनेके अनन्तर प्रथम अध्याय समाप्त होता है। मुख्य विषयका प्रारम्भ द्वितीय अध्यायसे होता है। दूसरेसे पाँचवें अध्यायतक श्रीएकनाथजीने जनक-नौ ऋषि-संवादके प्रश्नोत्तरोंका सविस्तर विवेचन किया है। प्रथम पाँच अध्यायोंका महत्त्वपूर्ण विषय भी यही है। उन नौ प्रश्नोत्तरोंपर श्रीएकनाथजीकी टीकाका सारांश आगे दिया जाता है।

प्रश्न १—भागवत-धर्म कौन-सा है?

भागवत-धर्मकी व्याख्यामें श्रीएकनाथजीने सामान्य मानवकी द्वन्द्वस्थितिसे मुक्त पुरुषकी निर्द्वन्द्व अवस्थातक शास्त्रोक्त धर्मोंके आचरणसे जो उत्क्रान्ति होती है, उसका विस्तृत वर्णन किया है। उनका कहना है कि जो देहमें आत्म-बुद्धि रखता है, उसे सुख कभी नहीं मिल सकता। वह सदा आधि-व्याधिके महार्णवमें डूबा रहेगा। दुःखसागरसे पार होनेका प्रयत्न करनेवाले मनुष्यको विषयलोलुप इन्द्रियोंका दमन करते ही बीतता है। मनके लिये विषयोंका आकर्षण इतना प्रबल है कि उसको वशमें रखना कठिन हो जाता है। आध्यात्मिक साधनामें विषय-सुखोंकी इच्छा सदा बाधक होती है। इन मायिक विषयोंपर विजय प्राप्त करके आत्मज्ञान प्राप्त करनेके लिये यदि कोई मार्ग है तो वह ईश्वरभजन है। माया भी ईश्वरीय शक्ति है, अतः उसे जीतनेके लिये ईश्वरकी कृपा आवश्यक है। इस भव-भयनाशक भगवद्भजनका रहस्य समझनेके लिये सद्गुरुकी कृपा चाहिये, क्योंकि भक्तिभण्डार-की कुंजी उन्हीं सद्गुरुके पास ही है। सद्गुरुकी कृपा प्राप्त होनेपर विषयोंका चिन्तन करनेवाला चञ्चल मन अपनी चञ्चलता खो बैठता है। इस अवस्थामें मन जिन-जिन विषयोंका ध्यान करता है, वे विषय ही भगवद्रूप हो जाते हैं। तब साधकके सब कर्म निष्काम और मोक्षप्रद हो जाते हैं; किंतु जबतक इस प्रकारकी सद्गुरु-कृपा न प्राप्त हो जाय, तबतक भक्तिके मार्गोंका ही अनुसरण करना चाहिये।

श्रीएकनाथजी कहते हैं कि भगवद्भजन अपनी सभी इन्द्रियोंके द्वारा होना चाहिये। मनसे भगवान्‌का चिन्तन करना, कानोंसे हरि-कथा सुनना, जिह्वासे अहर्निश हरि-कीर्तन करना, हाथोंसे हरि-पूजन करना, पैरोंसे तीर्थ एवं हरि-मन्दिरोंमें जाना तथा नासिकासे भगवत्-निर्माल्यकी सुगन्ध लेना आदि उपायोंसे हरि-कृपा प्राप्त करनी चाहिये। इस प्रकारकी भक्तिसे अन्तःकरणमें प्रभु-प्रीति बढ़ती है। हरि-कथाका मननयुक्त श्रवण करनेसे मनमें अनुपम शान्तिका सञ्चार होता है और लोक-लाज छोड़कर भगवद्भक्त कीर्तनानन्दमें बेसुध होकर नाचने लगता है। हरि-नामकी परम पावन और मधुर ध्वनिमें निरभिमान होकर वह तल्लीन हो जाता है। इस प्रकार बढ़ते हुए पुण्यके प्रभावसे वह सद्गुरु-की कृपाका अधिकारी हो जाता है। इसके अनन्तर जब वह आत्मज्ञानके भव्य प्राङ्गणमें प्रवेश करता है, तब उसे वहाँ जीव-ईश्वर-सम्मिलन दिखायी पड़ता है। जिस प्रकार बहुत दिनोंसे खोया हुआ बालक अपनी माताको देखते ही उससे चिपककर सिसकने लगता है, उसी प्रकार चिर-विरही जीवका ईश्वरके साथ सम्मिलन देखकर भक्तकी आँखोंसे हर्ष-की अश्रुधारा बहने लगती है। परमात्माके आलिङ्गनसे भक्त-को रोमाञ्च हो जाता है। जिस भक्तिके साधनसे उसे इस अनुपम सुखकी प्रत्यक्षानुभूति मिली, उस भक्तिकी वह मुक्त-कण्ठसे प्रशंसा करता है। उस समय वह समदृष्टि हो जाता है और हैतुक अथवा अहैतुक सभी कर्म भगवान्‌को अर्पण कर देता है। जिस प्रकार संतरंजकी गोटें राजा, हाथी, ऊँट, प्यादे सब काष्ठ-ही-काष्ठ हैं; उसी प्रकार भगवद्भक्तके सब संकल्प-विकल्प भी भगवद्रूप बन जाते हैं। जाग्रत्, स्वप्न और

सुषुप्ति तीनों अवस्थाओंमें उसका परमात्मानुसन्धान नहीं छूटता। जैसे घरमें दीपक जलानेसे उसका प्रकाश गवाक्ष-द्वारोंसे सभी ओर फैलता है, वैसे ही जब हृदयमें परम ज्योति प्रकाशमान होती है तब उसका प्रकाश भगवद्भक्तकी सभी इन्द्रियोंमें प्रतीत होता है। वह समझ जाता है कि जिसके कारण पुष्पको पुष्पत्व प्राप्त हुआ, उसीके कारण उस पुष्पमें सुगन्ध आयी और तब ध्येय, ध्याता एवं ध्यान आदि त्रिपुटी-का नाश हो जाता है। सब कर्मोंका ब्रह्मार्पण होनेसे भागवतों-के सब बन्धन छूट जाते हैं। उसकी बुद्धि आत्मरूप चिन्तन-में निरवधि निमग्न रहनेके योग्य हो जाती है। उसकी लीला ईश्वरकी महापूजा है और उसके निरर्थक शब्द भी ईश्वरकी स्तुति हैं। आत्मस्वरूपके चिन्तनसे ऐसे भक्तोंके हृदयमें प्रतिक्षण आनन्दकी लहरें उठती हैं। जिस प्रकार बीजरूपसे एक होते हुए भी वटवृक्षकी लटकती सोरोंसे दूसरे वटवृक्ष बन जाते हैं, उसी प्रकार यद्यपि मूल-चैतन्यसे ही सरितारूप अनेक धाराएँ निकलती हैं तथापि वे सब भी चैतन्यरूप ही हैं। जिस प्रकार चन्द्रबिम्बमें अमृत बिम्बरूपसे रहता है, उसी प्रकार इस नामरूपभासात्मक जगत्में सर्वव्याप्त ईश्वर-का रूप यह भक्त सभी जगह देखता है। जैसे लवण सागरमें एकरूप होकर रहता है, वैसे ही वह सर्वभूतनिवासी परमात्मा-से अभिन्न रूपसे रहता है। इस प्रकारकी निर्द्वन्द्व स्थिति जिसे प्राप्त हो गयी, उसे भक्ति, विरक्ति तथा भगवत्प्राप्ति एक साथ ही मिल जाती है और वह 'जीवन्मुक्त' अभिधानका पात्र हो जाता है।

प्रश्न २—भागवतोंके क्या लक्षण हैं ?

भागवतोंके लक्षण बतलाते हुए श्रीएकनाथजीने विषय-विरक्ति, निरभिमानता, जगदीश्वरैक्यकी भावना एवं प्रीतियुक्त ईश्वरभक्ति—इन चारोंको महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। जिस प्रकार कल्पनाके सरोवरमें स्नान करनेवालेका अन्तर्बाह्य शुष्क ही रहता है, उसी प्रकार सब इन्द्रियोंद्वारा विषयोंका उपभोग करते हुए भी भागवतके मनमें सुख-दुःखका उद्भव नहीं होता। विषयसुखोंकी क्षणभङ्गुरता वह अच्छी तरह जानता है; किंतु साथ-ही-साथ यह भी है कि यदि भागवत विषयोंका उपभोग करता है तो स्वयं विषय ही भगवद्रूप बन जाते हैं। उसकी दृष्टि पड़ते ही दृश्य-वस्तु नारायणरूप हो जाती है। कानोंमें पड़ते ही ध्वनि नारायणरूप हो जाती है। इस प्रकार भागवतके सब विषय नारायणरूप हो जानेसे उसे बाँधनेवाले नहीं होते। विषयोंसे आसक्ति हटते ही जीव और ईश्वरमें भेद दिखानेवाला देहाभिमान नष्ट होने लगता है। उसे यह प्रतीत होने लगता है कि जन्म-मरण तो देहकी उपाधि है। जिस प्रकार अपनी छायाको पालकीमें बिठाकर सुख पहुँचानेकी इच्छा कोई नहीं करता, उसी प्रकार देहके सम्मान या अपमानके विषयमें भागवत सर्वथा निरीह हो जाता है। उसकी देहमें अहंबुद्धि नष्ट हो जाती है। वह समझता है कि स्वर्णको अँगूठीका आकार देनेसे स्वर्ण अँगूठीपनमें विलीन नहीं होता। देह-प्रेम नष्ट होनेसे भक्त ईश्वरसे प्रेम करने लगता है और फिर स्वयं भगवान् उस निरभिमान भक्तकी देख-भाल ऐसे करते हैं, जैसे मा अपने नन्हे बच्चेका सारा भार वहन करती है।

ऐसे भक्तको धीरे-धीरे भगवत्कृपासे निर्द्वन्द्व आत्मतत्त्वका बोध होने लगता है। वह अपनेको सभी भूतोंमें और सभी भूतोंको अपनेमें देखता है। क्षणमात्रके लिये भी वह आत्म-चिन्तनसे विलग नहीं होता। जैसे निशानाथके उदय होनेसे उनकी शीतल चन्द्रिकाके कारण किसी प्रकारका ताप नहीं रह जाता, वैसे ही हृदयाकाशमें परमात्मस्वरूपका उदय होनेसे कामादि ताप भक्तको नहीं सता सकते। इस प्रकारका भगवद्भक्त 'भागवतोत्तम' कहलानेका अधिकारी है। जो अनन्य-भावसे परमेश्वरकी भक्ति करता है, उसकी प्रीतिमें भगवान् बँध जाते हैं। जो प्रेमोल्लासके साथ हरिनामकीर्तनमें मस्त रहता है, उसका सारा भार स्वयं भगवान् अपने सिरपर लेते हैं। भगवान् अत्यन्त करुणापूर्ण हैं। वे भक्तोंके प्रेममें बँध जाते हैं। भगवान्के चरणोंमें जिसकी अनन्य भक्ति है, वही आध्यात्मिक उन्नतिके परमोच्च शिखरतक पहुँच सकता है। अतः वह धन्य है। इस प्रकारका भगवद्भक्त या भागवत सर्वश्रेष्ठ है।

प्रश्न ३—माया क्या है ?

मायाका वर्णन करते हुए श्रीएकनाथजीने कहा है कि मायाका वर्णन करना अनुत्पन्न बालककी श्राद्धविधि करनेके समान है, अथवा अश्वशृङ्गसे आकाशको चीरना है, या वन्ध्यापुत्रकी जन्मपत्रिका बनाना है, या मृगमरीचिकाका पान करके प्यास बुझाना है; या वायुको पीसकर आटा बनाना है, अथवा आकाश-कुसुमकी सुगन्ध या निर्गन्धके विषयमें तर्क करना है। ये सब जितने निरर्थक हैं, उतना ही निरर्थक मायाके स्वरूपकी चर्चा करना है, क्योंकि अस्तित्व न होते हुए भी वह भासमान होती है। इस प्रकार यद्यपि मायाका प्रत्यक्ष वर्णन नहीं किया जा सकता तो भी उसकी कल्पना उपलक्षणोंसे की जा सकती है।

इतनी प्रस्तावनाके पश्चात् श्रीएकनाथजीने मायाका आभासकत्व, उसका स्वरूप और कार्य—इन तीनोंकी चर्चा की है। मायाके विषयमें उनका पहला सिद्धान्त यह है कि 'माया आभासात्मक है।' जिस प्रकार आकाशमें नीलिमा दृश्यमान होती है; किंतु खोजनेसे वहाँ तनिक भी नहीं मिलती,

उसी प्रकार सत्यरूप परब्रह्ममें मायाका आभास होता है। अथवा जिस प्रकार देहके साथ मिथ्या छाया रहती है, उसी प्रकार ब्रह्मके साथ मिथ्या माया रहती है। मृगजलकी महानदी किस पर्वतसे निकली है—जैसे यह बताना असम्भव है वैसे ही मायाके उद्गमस्थानका पता लगाना असम्भव है। वह कल्पनाके सहारे बनाया हुआ एक आभासमात्र है। भ्रम मायाका मूल है और भ्रान्ति उसका फल है। यदि मायाको सत्य मानें तो उसका नाश होता है, अतः ऐसा कहना ठीक नहीं। यदि उसे असत्य कहें तो भी ठीक नहीं, क्योंकि वह भासमान होती है। इसलिये यही कहना उचित है कि अज्ञानावस्थामें उसका अस्तित्व है; किंतु ज्ञानावस्थामें उसका अस्तित्व नहीं है। दर्पणमें कोई प्रतिबिम्ब नहीं रहता, उसमें देखनेवाला अपना ही प्रतिबिम्ब देखता है। इसी प्रकार अपने ही संकल्प-विकल्पोंसे उत्पन्न होनेवाली माया एक शक्ति है। शुद्ध ब्रह्ममें कोई विकल्प या द्वन्द्व नहीं है। फिर भी अहंकी जो भावना स्फुरित होती है, वही माया है।

मायाके स्वरूपके पश्चात् श्रीएकनाथजीने मायाके कार्यका वर्णन किया है। वे कहते हैं कि मायाके कारण निर्विकार आत्मतत्त्वकी विस्मृति हो जाती है। देह और मैं—इन दोनोंमें अभिन्नताका अभिमान पैदा हो जाता है। इसी अभिमानके मूलसे अखिल संसारकी उत्पत्ति होती है। इसीलिये जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयकी कारणभूता शक्ति माया ही है। इन्द्रियाँ और विषय—इन दोनोंमें चराचरव्यापी ईश्वर प्रकाशमान है, तो भी मायाके कारण ही देहात्मबुद्धिसे मनुष्य विषयोंका सेवन करता है। देहाभिमानसे इन्द्रियोंकी विषयासक्ति बढ़ती है तथा आत्मवृत्ति लुप्त होती है। वह देहको ही 'अहं' कहता है। अपने भाई, बन्धु, सम्बन्धी, मित्र आदिको अपनाता है और विषयोंके लिये लालायित रहता है। विषयकामनासे किये हुए कर्मोंमें बन्धन आ जाता है। धर्माधर्म, पाप-पुण्य आदिके प्रश्न खड़े होते हैं। कर्म और उनके फलोंसे बद्ध होकर वह जन्म-मरणके चक्करमें फँस जाता है। जैसे आँखोंपर पट्टी बँधी होनेसे तेलीका बैल लगातार अपनी वर्तुलाकार-लीकमें घूमता रहता है, वैसे ही विवेकपूर्ण आँखोंपर अज्ञानका परदा डालकर, अपने काम्य-कर्मोंका फल भोगते हुए संसारके विविध सुख-दुःखोंका अनुभव करते-करते बेचारा मानव विकल हो जाता है, परंतु जन्म-मरणके अटल चक्रसे नहीं छूटता। जन्म-मरणकी अनन्त यात्रामें उसे सुख-दुःखोंके आवर्त और मोह-शोकोंकी विकराल गुफाएँ मिलती हैं। अनन्त यातनाओंका अनुभव करके वह निरन्तर कालके भयसे भीत रहता है। इस प्रकार मायाके आक्रमणसे परास्त होकर वह अनन्त जन्मोंतक आत्मज्ञानसे वञ्चित रहता है।

प्रश्न ४—मायासे छूटनेके क्या उपाय हैं ?

मायासे मुक्त होनेकी विधिका वर्णन करते हुए श्रीएकनाथजीने उसे तीन भागोंमें विभक्त किया है—(१) विषय-विरक्ति, (२) सद्गुरुकी शरणागति और (३) भागवत-धर्मोंका आचरण।

विषय-विरक्तिके विषयमें वे लिखते हैं कि जहाँ विषयोंके लिये मन लालायित है, वहाँ विरक्तिका पूर्णतया अभाव ही होगा। उस दशामें मायासे छूटना असम्भव ही है। अतः साधकको पहले समझ लेना चाहिये कि विषय मूलतः नश्वर हैं और उनसे जो सुख मिलता है वह दुःखमूलक और बन्धनकारक है। देह और इन्द्रियाँ जो विषयभोगोंके साधन हैं, दोनों क्षणभङ्गुर हैं। अतः विषय भी वैसे ही होंगे। इतनेपर भी अज्ञानी मनुष्य विषयसुखके लिये, स्त्रीसुखके लिये तथा धनोपार्जनके लिये अविरत श्रम करता है। यहाँतक कि यज्ञादि धार्मिक कृत्य भी स्वर्गके विषयभोगोंकी इच्छासे करता है। वह इसे समझता है कि बार-बार उन्हीं विषयोंको भोगनेपर भी तृप्ति नहीं होती, फिर भी विषयोंका वास्तविक स्वरूप उसके ध्यानमें नहीं आता। यही मायाकी मोहिनी शक्ति है। वासनामय किसी भी कर्मका फल बन्धनकारक ही होता है। परिणामतः जन्म-मरणके फंदेमें उसे फँसना ही पड़ता है।

अतः साधकको सबसे पहले यह ज्ञान होना चाहिये कि विषयोंमें चिरशान्ति देनेकी शक्ति नहीं है। यदि मिट्टीकी दीवारको जलसे धोवें तो दीवार तो स्वच्छ होगी नहीं, उलटे जल और हाथ मैले होंगे। विषयोंसे सुख पानेकी लालसा कभी पूरी नहीं हो सकती। वेश्या कितना भी साज-शृङ्गार करे, किंतु तो भी उसके निर्भ्रान्त रमणीय सौन्दर्यसे सुखकी उत्पत्ति नहीं होती, वरं धनकी हानि होती है। विषयोंकी संगसे मनुष्य अधिकाधिक दुखी होता है। अतः जो लोग सांसारिक अथवा स्वर्गीय विषयभोगोंकी इच्छासे काम्य कर्म करते हैं, वे मायाके फंदेमें फँसे हुए हैं। उनका अमूल्य मानव-जन्म व्यर्थ गया समझिये। इस घोर पतनका कारण विषयोंका संग। (शेष आगे)

दीनता

(लेखक—पं०श्रीमूलनारायणजी मालवीय)

दीनता, दरिद्रता और निर्धनता इत्यादि ऐसे जितने शब्द हैं, उन सबका प्रायः एक ही अर्थ है। यद्यपि कोष-कारोंने नम्रताको भी इसी श्रेणीमें रक्खा है; किंतु मेरे इस लेखका अभिप्राय अर्थहीनता अर्थात् गरीबी है। वास्तवमें दरिद्रता बुरी वस्तु है। देखा गया है गरीबका अपना भी पराया हो जाता है, कहीं उसका आदर नहीं होता। पग-पगपर उसे अपमानित होना पड़ता है। निर्धनका जीवन कष्टमय होता है। 'कष्टं निर्धन-जीवनम्', 'सर्वशून्यं दरिद्रता', 'नहिं दरिद्र सम दुख जग माहीं' आदि कहावतें इसके ऊपर पूर्णरूपसे चरितार्थ होती हैं। दूसरी ओर धनवान्का आदर सवत्र होता है; और दूसरे भी उसके सगे हो जाते हैं। अगस्त्य-जीने लक्ष्मीजीकी स्तुति करते हुए लक्ष्मीवान्का चित्र बड़े अच्छे ढंगसे चित्रित किया है—

लक्ष्मि त्वयालङ्कृतमानवा ये
पापैर्विमुक्ता नृपलोकमान्याः।
गुणैर्विहीना गुणिनो भवन्ति
दुःशीलिनः शीलवतां वरिष्ठाः॥

'लक्ष्मी! तुमसे अलङ्कृत मनुष्य पाप अर्थात् दुःखसे मुक्त होते हैं, राजदरबारमें और लोकमें आदर पाते हैं। गुणहीन होते हुए भी गुणवान् माने जाते और दुःस्वभावके होते हुए भी शीलवानोंमें श्रेष्ठ गिने जाते हैं।'

यह अक्षरशः सत्य है कि दीनजनोंकी बड़ी दुर्गति होती है, उन्हें अनेक प्रकारकी यातनाएँ सहनी पड़ती हैं; किंतु दीनजनोंका एक सहायक दीनबन्धु, दीन-नाथ, दीनदयालु होता है। श्रीमद्भागवतमें देवर्षि नारदजीने दीनोंके सम्बन्धमें यह कहा है कि—

दरिद्रो निरहंस्तम्भो मुक्तः सर्वमदैरिह।
कृच्छ्रं यदृच्छयाऽऽप्नोति तद्धि तस्य परं तपः॥
नित्यं क्षुत्क्षामदेहस्य दरिद्रस्यान्नकाङ्क्षिणः।
इन्द्रियाण्यनुशुष्यन्ति हिंसापि विनिवर्तते॥
दरिद्रस्यैव युज्यन्ते साधवः समदर्शिनः।
सद्भिः क्षिणोति तं तर्षं तत आराद् विशुद्ध्यति॥

(१०।१०।१५–१७)

'दरिद्र पुरुषके मनमें 'मैं हूँ', 'मेरा है' इस प्रकारका अहंभाव नहीं रहता, वह सब प्रकारके मदोंसे मुक्त रहता है। उसे अनायास जो कष्ट मिलता है, वही उसका परम तप है। अन्नहीन दरिद्र पुरुषका शरीर क्षुधा सहनेसे निर्बल और क्षीण हो जाता है, इन्द्रियों-की भी प्रबलता जाती रहती है, जिससे हिंसाकी प्रवृत्ति भी निवृत्त हो जाती है। समदर्शी साधुगण दरिद्रोंसे ही मिलते हैं। उन साधुओंके संगसे सब प्रकारकी तृष्णा त्यागकर दरिद्र पुरुष शीघ्र ही शुद्ध हो जाते हैं।'

देवर्षि नारदजीके उपर्युक्त शब्दोंमें जितना तथ्य है, वह प्रत्यक्ष है पर दरिद्रतासे सभी डरते हैं। हाँ, कुछ ऐसे लोग भी हैं, जिनको दीनता प्रिय है। सहजो-बाई गरीबीकी प्रशंसामें कहती हैं—

भली गरीबी नवनता, सकै न कोई मार।
सहजो रुई कपास की, काटै ना तरवार॥

यह ठीक है कि दीनतामें दुःख बहुत है; किंतु गरीब अपने सत्कर्तव्योंको करता हुआ सदाचार तथा सन्तोषके साथ जीवनयापन करता है, यही उसकी शोभा है। गरीबीके कारण धनवान् बननेकी लालसासे जो असत्-मार्गका अनुसरण करता है, वह पथभ्रष्ट होकर अधोगतिको प्राप्त होता है। दीनजनों-को चाहिये कि वे अपने प्रारब्धको बनायें। अच्छे-से-अच्छा भाग्य सत्कर्मोंसे बनता है और निष्काम सत्कर्मोंके द्वारा ही ईश्वरकी प्राप्ति होती है। दीनोंके लिये धैर्य ही उनके कष्टोंके काटनेका एकमात्र

अन्न है। दुःख सहते हुए ईश्वरपर विश्वास रखना ही उनका परम तप है। प्रारब्ध बलवान् होता है, उसीके बन्धनमें बँधा जीव अपने किये हुए कर्मोंके फलस्वरूप सुख-दुःखोंको भोगा करता है।* ऐसी दशामें ईश्वरको छोड़कर गरीब क्यों इधर-उधर भटके, क्यों दूसरोंका मुँह देखे। रैदासजी तो दीनोंसे जोर देकर यह कहते हैं कि—

हरि-सा हीरा छाँड़ि कै, करै और की आस।
सो नर जमपुर जायँगे, सत भाषै रैदास॥

रैदासजीसे भी जोरदार शब्दोंमें किसी कविने कहा है—

धीरज ना छोड़ो औ जाओ नहिं धाम धाम
दीन वचन कहे नाहिं दीनता सरैगी।
चिंता ना करो चित्त, चातुरी न छाँड़ो मीत,
नीचनको नवाये सिर ना आपदा टरैगी॥
अधमनके आगे रहिये ना अधीन ह्वै कै,
सेखी के छाँड़े नाहिं संपदा जुरैगी।
जा दिन दीनानाथ हाथ छाया तरे छत्र धरैं
ता दिन प्रारब्ध आय पाँयन परैगी॥

वास्तवमें यह बिल्कुल ठीक है कि कोई किसीको कुछ दे नहीं सकता, भले ही गरीब इधर-उधर दर-दरकी ठोकरें खाय। प्रारब्धका अन्न खलिहानसे स्वयं उठकर आ जाता है। यह देखा गया है कि जबतक मनुष्य किसीसे याचना नहीं करता, तभीतक सब कुछ है। माँगते ही मर्यादा नष्ट हो जाती है। विद्वानोंका मत है कि दूसरेके घर जाकर माँगनेसे अपना रहस्य प्रकट हो जाता है और अपमानित भी होना पड़ता है। रहीमजी कहते हैं कि—

'रहिमन' पर घर जायके दुःख न कहियो रोय।
अपनो भरम गँवायके बात न पूछै कोय॥

यह स्वतः सिद्ध है कि ईश्वर ही जब विश्वका भरण पोषण करता है और यह भी प्रत्यक्ष है कि उससे की गयी याचना कभी निष्फल नहीं होती। फिर एकको छोड़कर अनेकोंके पास क्यों ठोकर खायँ। प्रयागी महाकवि अकबरने बड़ी खूबसूरतीसे यह फरमाया है कि—

जो कुछ माँगना हो खोदासे माँग ऐ 'अकबर'।
यही वह दर है कि जिल्लत नहीं सवाल के बाद॥

इन्हीं सब बातोंको पढ़-सुनकर दीनजनोंको ईश्वरमें निष्ठा और विश्वास रखना चाहिये। ईश्वर ही सबका सुखदाता है और दीन हुए बिना वह किसीसे मिलता भी नहीं। जीवन उसीका सफल है, जो भगवान्का भक्त बनता है तथा ईश्वरप्राप्तिका उपाय किया करता है। बड़े-बड़े सम्राट्, धनवान् और बलवान् ईश्वरकी कृपा कोरके अभिलाषी रहते हैं, फिर गरीब क्यों न गरीब निवाजका आश्रय ग्रहण करे।

सुदामा दीन थे। घरमें न खानेको अन्न था, तन ढाँकनेको वस्त्र ही । उनकी पत्नीने वि धनवान्के पास धनके माँगनेकी सलाह नहीं दी। उ दीनबन्धु भगवान् श्रीकृष्णके पास यह कहकर प भेजा कि—

हरिहैं दुख-दारिदके हर्ता, कर्ता सुखके सो कृपा करि
करिहैं यदुनाथ सनाथ जबै अघ ओघ सबै, छनमें टरि
टरिहैं मनके दुख औ दुबिधा जनके हिय तोष सुधा भरि
भरिहैं धन सों पिय भवन भँडार दरिद्र तुम्हार हरी हरि

फिर जितना ही जिनके पास धन अधिक उतना ही उसका हृदय अधिक जलता रहता धनियोंके हृदयकी बात जाननेवालोंसे उनका अपार छिपा नहीं है। वास्तवमें संसारभरका ऐश्वर्य प्राप्त है

* यह सत्य है कि मनुष्य अपने पूर्वकृत कर्मोंके फलस्वरूप ही सुख-दुःखका भोग करता है। दुःखमें पड़े हुए मनुष्यको यही मानना चाहिये। परंतु जो सुखमें है, उसके लिये तो यही कर्तव्य है कि वह दुखी प्राणीके दुःखको उसके प्रारब्धका फल मानकर टाल न दे, बल्कि उसके दुःखमें सच्चे हृदयसे साथ देकर उसे दूर करनेका प्रयत्न करे। यही समझे कि हमारा सुख वस्तुतः दुखियोंकी ही धरोहर है और उसे उनको तुरंत सहर्ष लौटा देनेमें ही कल्याण है।—सम्पादक

भी प्राणी सुख-शान्ति प्राप्त नहीं करता। ('न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः' कठ०) सुख-शान्तिकी प्राप्ति तो संतोषसे होती है। विषयोंके त्यागका नाम ही संतोष है। इसीको भगवान् श्रीकृष्णने महारानी रुक्मिणीका संदेश ले जानेवाले ब्राह्मणसे कहा था—

असन्तुष्टोऽसकृल्लोकानाप्नोत्यपि सुरेश्वरः।
अकिञ्चनोऽपि संतुष्टः शेते सर्वाङ्गविज्वरः॥
विप्रान् स्वलाभसंतुष्टान् साधून्भूतसुहृत्तमान्।
निरहङ्कारिणः शान्तान्नमस्ये शिरसासकृत्॥
(श्रीमद्भा १० । ५२ । ३२-३३)

'जो कोई बार-बार अभिलषित पदार्थ पाकर भी असन्तुष्ट रहता है, वह इन्द्रकी पदवी पाकर भी सुख-शान्ति नहीं पा सकता; क्योंकि उसके मनमें संतोष-रूपी वृक्षकी शीतल छाया नहीं है और जो दरिद्र होते हुए भी सुखसे अपने जीवनको बिताते हैं, वे साधु हैं, सब प्राणियोंके परम बन्धु हैं, अहङ्कारशून्य हैं और शान्त हैं। उन ब्राह्मणोंको सिर झुकाकर मैं बारंबार प्रणाम करता हूँ।' यह हैं भगवद्वाक्य, जो कभी मिथ्या नहीं हो सकते। इसी संतोषके सम्बन्धमें तुलसीदासजी कहते हैं कि—

गोधन, गजधन, बाजिधन, और रतन धन खान।
जब आवै संतोष मन, सब धन धूरि समान॥

प्राणीकी एक ऐसी भी अवस्था होती है जब उसका धन-बल, जन-बल और शरीर-बल भी काम नहीं देता। इसे भी दीनावस्था कहा जाता है। देखिये, जगदम्बा जानकीजीके हरणके समय रावणके हाथोंसे बूढ़ा जटायु आहत होकर पड़ा था, उस समय वह दीनकी तरह असहाय था। ऐसे अवसरोंपर दीनबन्धु ही कृपा किया करते हैं। किसीने बड़े अच्छे ढंगसे कहा है कि—

दीन मलीन अधीन है अंग बिहंग पर्‌यो छिति खिन्न-दुखारी।
राघव दीनदयाल कृपालु कों देख दुखी करुणा भई भारी॥
गीधको गोदमें राखि कृपानिधि नैन सरोजनमें भरि बारी।
बारहिं बार सुधारत पंख जटायुकी धूरि जटान सों झारी॥

द्रौपदीके पाँच बलवान् पति थे, किंतु जिस समय वह भरी सभामें दुर्योधनकी आज्ञासे नंगी की जा रही थी, उस समय उसने दीनकी तरह यह कहकर दीनबन्धु दीननाथको पुकारा था—

गोविन्द द्वारकावासिन् कृष्ण गोपीजनप्रिय।
कौरवैः परिभूतां मां किं न जानासि केशव॥
हे नाथ हे रमानाथ व्रजनाथार्तिनाशन!
कौरवार्णवमग्नां मामुद्धरस्व जनार्दन॥
कृष्ण कृष्ण महायोगिन् विश्वात्मन् विश्वभावन।
प्रपन्नां पाहि गोविन्द कुरुमध्येऽवसीदतीम्॥
(महा० सभा० ६७ । ४१—४४)

'हे गोविन्द! हे द्वारकावासी! हे सच्चिदानन्दस्वरूप प्रेमघन! हे गोपीजनवल्लभ! हे सर्वशक्तिमान् प्रभो! कौरव मुझपर जो अत्याचार कर रहे हैं, इस बातको क्या आप जानते नहीं हैं? हे नाथ! हे रमानाथ! हे व्रजनाथ! हे आर्तिनाशन जनार्दन! मैं कौरवोंके समुद्रमें डूब रही हूँ। आप मेरी रक्षा कीजिये। श्रीकृष्ण! आप सच्चिदानन्दस्वरूप महायोगी हैं। आप सर्वस्वरूप और सबके जीवनदाता हैं। हे गोविन्द! मैं कौरवोंसे घिर-कर बड़े संकटमें पड़ गयी हूँ। आपकी शरण हूँ। आप मेरी रक्षा कीजिये।'

द्रौपदीकी ही तरह गजराजकी भी दयनीय दशा थी और वह भी दीनोंकी तरह यह कहकर चिल्लाया था—

यः कश्चनेशो बलिनोऽन्तकोरगात्
प्रचण्डवेगादभिधावतो भृशम्।
भीतं प्रपन्नं परिपाति यद्भयान्
मृत्युः प्रधावत्यरणं तमीमहि॥
(श्रीमद्भा० ८ । २ । ३३)

'जो कोई सर्वसमर्थ ईश्वर अधिक बलवान् एवं बड़ी तीव्र गतिसे दौड़ रहे कालरूप भयङ्कर सर्पके भयसे घबड़ाये हुए, आपत्तिमें पड़े हुए प्राणीकी रक्षा करते हैं और जिनके डरसे काल अपने कार्यमें लगा हुआ है, मैं उन्हीं ईश्वरकी शरणमें हूँ।'

कहते हैं कि द्रौपदीकी पुकारकी तरह गजकी

टेर भी खाली नहीं गयी । भगवान्‌ने अपने वाहनको छोड़कर शीघ्र-से-शीघ्र गजके पास पहुँचकर ग्राहको मारकर गजकी रक्षा की ।

गजकी टेर सुनते ही परमधाममें हलचल मच गयी—

पर्यङ्कं विसृजन् गणानगणयन् भूषामणिं विस्मर-
न्नुत्तानोऽपि गदागदेति निगदन् पद्मामनालोकयन् ।
निर्गच्छन्नपरिच्छदं खगपतिं चारोहमाणोऽवतु
ग्राहग्रस्तमतङ्गपुङ्गवसमुद्धाराय नारायणः ॥

'ग्राहके चंगुलमें फँसे हुए गजराजका उद्धार करनेके लिये भगवान् श्रीहरि इतने उतावले हो उठे कि लक्ष्मीजीकी बिछायी हुई सुखदायिनी शय्याको भी तत्काल त्यागकर चल पड़े । सामने सेवाके लिये आये हुए पार्षदोंको भी कुछ नहीं गिना । गलेमें कौस्तुभ मणि पहननेकी भी सुध न रही; उतान सोये थे, उसी दशामें 'गदा ! गदा !' कहते हुए सहसा उठकर खड़े हो गये । प्रियतमा लक्ष्मीकी ओर भी दृष्टि नहीं डाली । पक्षिराज गरुड़की पीठपर बिना गद्दी कसे ही सवार हो गये और बड़े वेगसे गजराजके पास जा पहुँचे ।'

इसलिये दीन होना बहुत बुरा नहीं है, क्योंकि इसी स्थितिमें दीनबन्धुकी कृपाका प्रसाद मिलता है, जो मदान्ध धनियोंके लिये सर्वथा दुर्लभ है ।

ऊपर जो बातें लिखी हैं, उन्हें मैंने अपनी ओरसे नहीं लिखा है, यह बातें शास्त्र तथा विद्वानोंकी हैं । ऐसी दशामें मुझे कोई कारण नहीं दिखलायी पड़ता कि इन बातोंपर दीनजन विश्वास न करें । यह सत्य है कि दरिद्रके समान कोई बड़ा दुःख नहीं होता; किंतु 'निर्बलके बल राम' तो होते ही हैं । व्यासजी तो डंकेकी चोटपर कहते हैं—

केचिद् वदन्ति धनहीनजनो जघन्यः
केचिद् वदन्ति गुणहीनजनो जघन्यः ।
व्यासो वदत्यखिलवेदपुराणविज्ञो
नारायणस्मरणहीनजनो जघन्यः ॥

वैदिक-साहित्यका परिचय

ऋग्वेद-संहिता

(लेखक—पं० श्रीरामगोविन्दजी त्रिवेदी)

छन्दों और चरणोंसे युक्त मन्त्रोंको ऋक् वा ऋचा कहा जाता है । वेद शब्दका अर्थ ज्ञान है । ऋचाओंका जो ज्ञान है, उसे ऋग्वेद कहते हैं । गुप्त कथनका नाम मन्त्र है । किसी देवताकी स्तुतिमें प्रयुक्त होनेवाले अर्थके स्मरण करानेवाले वाक्यको भी मन्त्र कहा जाता है । संहिता मन्त्रोंके संग्रहका नाम है ।

अनेक पुराणों और पातञ्जल महाभाष्य (पस्पशाह्निक) आदिके अनुसार ऋग्वेदकी २१ संहिताएँ वा शाखाएँ हैं; परंतु इन दिनों केवल एक शाकल-संहिता ही उपलब्ध है । देश-विदेशमें यही छपी है । इसके विभाग दो तरहसे किये गये हैं—(१) मण्डल, अनुवाक और वर्ग तथा (२) अष्टक, अध्याय और सूक्त । सारी संहितामें १० मण्डल, ८५ अनुवाक और २००८ वर्ग (वालखिल्यके १६ सूक्तोंको छोड़कर) हैं तथा ८ अष्टक, ६४ अध्याय और १०१७ सूक्त हैं । १४ छन्दोंमें समस्त मन्त्र गाये गये हैं । सब १०४६७ मन्त्र हैं । केवल दो चरणवाले १७ और एक चरणवाले ६ मन्त्र हैं । स्वरपर ३५८९, कवर्गपर ४०७, चवर्गपर १४२, तवर्गपर १८३३, पवर्गपर १३७७, अन्तःस्थ अक्षरोंपर १७६३ और ऊष्म-अक्षरोंपर १३५६ मन्त्र हैं । शौनक ऋषिकी 'अनुक्रमणी' के अनुसार तो १०५८०½ मन्त्र, १५३८२६ शब्द और ४३२००० अक्षर हैं । औसतसे प्रत्येक सूक्तमें १० मन्त्र और प्रत्येक मन्त्रमें ५ अक्षर हैं; परंतु शाकल-संहिताके कितने ही संस्करणोंके मन्त्रोंकी गणना करनेपर उक्त 'अनुक्रमणी' के मन्त्रों, शब्दों और अक्षरोंकी संख्या कम मिलती है । सम्भव है, कुछ मन्त्र लुप्त हो गये हों । ऋग्वेद (१० । ११४ । ८) में जो ऋग्वेदकी १५००० मन्त्र-संख्या मानी गयी है, उससे भी कुछ मन्त्रोंके लोप होनेका अनुमान होता है । ऋग्वेद संसारकी सबसे प्राचीन पुस्तक है—ऐसा विश्वकी चोटीके ऐतिहासिक भी मानते हैं । कुछ ऐतिहासिक कहते हैं कि 'कोणाकार लिपिमें लिखी असी-

रियाकी खण्डित धर्म-पुस्तक ऋग्वेदके समयकी है; परंतु अब तो इस मतका प्रामाणिक खण्डन हो चुका है। ऋग्वेदकी भाषा ऐसी है कि केवल लौकिक संस्कृतका ज्ञाता मन्त्रोंका अर्थ नहीं समझ सकता। इसीलिये संहिताओंके आधारपर बने संस्कृत-साहित्यके अच्छे विद्वान् भी संहिताओंसे उदासीन रहते हैं—वेद-प्रचारसे दूर भागते हैं; यद्यपि 'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्' की 'रट' लगाने और 'वैदिक-धर्मानुयायी' बननेका इनका मन बना रहता है। जिसने वैदिक संहिताओंका सविधि स्वाध्याय नहीं किया, वह भला वेद-धर्म समझने और उसका अनुयायी बननेका अधिकारी कैसे हुआ? संस्कृतके विद्वानों और वेदधर्मानुयायी कहलानेवालोंकी यह स्थिति बहुत ही कारुणिक है।

वेदार्थ समझनेके साधन सायण-भाष्य, ब्राह्मण-ग्रन्थ, प्रातिशाख्य, बृहद्देवता, सर्वानुक्रमणी, कल्पसूत्र, निरुक्त, जैमिनीय मीमांसा आदि हैं—सायण, स्कन्द-स्वामी, उद्गीथ, वेङ्कट-माधव, उव्वट और महीधरके भाष्य भी हैं; परंतु शाकल-संहितापर सायणाचार्यके सिवा किसीका भी भाष्य पूर्ण नहीं है। इसलिये एकमात्र आधार सायण ही हैं। सन् १३५० से १३७९ ई० तकमें सायणने वेदों (शाकल, तैत्तिरीय, काण्व, कौथुम, शौनक आदि संहिताओं), ब्राह्मणों (ऐतरेय, तैत्तिरीय, शतपथ, ताण्ड्य, सामविधान, गोपथ आदि), आरण्यकों (ऐतरेयारण्यक, तैत्तिरीयारण्यक आदि) और साम-प्रातिशाख्यपर भाष्य लिखा था। इस महाकार्यमें हरिहर आदि अनेक सत्पुरुष सायणाचार्यके सहायक थे। विजय-नगराधिपति बुक्करायके समयमें भाष्य-लेखन समाप्त हुआ और विजयनगरमें ही ऋग्वेद-भाष्य सर्वप्रथम प्रकाशित भी हुआ।

वेदाध्ययनसे विमुख हो केवल वाणी-मात्रसे वेद-भक्त बननेवाले कुछ लोग कहते हैं कि, 'अनेक जन्म तपस्या किये बिना और जीवन्मुक्ति प्राप्त किये बिना कोई भी न तो वेदोंका अर्थ ही समझ सकता है और न उनके बारेमें कोई राय ही दे सकता है।' किन्तु इन पङ्क्तियोंके लेखकमें न तो ये गुण ही हैं, न लेखक इस मतका समर्थक ही है। यह बात तो अवश्य है कि नैरुक्त, नैदान, ऐतिहासिक, ब्रह्मवादी, याज्ञिक, परिव्राजक, स्वरमुक्तिवादी आदि कितने ही ऐसे सम्प्रदाय हैं, जो वेदार्थके सम्बन्धमें विभिन्न मत रखते हैं। औपमन्यव, कौत्स, यास्क, उद्गीथ, स्कन्दस्वामी, भरतस्वामी, रावण, भट्टभास्कर, वेङ्कट माधव, उव्वट, महीधर, सत्यव्रत सामश्रमी, स्वा० दयानन्द, लो० तिलक, अविनाशचन्द्रदास, राथ, ग्रिफिथ, मैक्डानल, मैक्समूलर, लुड्विग, लांगलोआ, ग्रासमान रेले, दाराशिकोह आदि-आदि वेद-समीक्षकोंकी वेदार्थ-सम्बन्धिनी अनेक सम्मतियाँ भी हैं; परंतु सारे मत इन तीन वर्गोंमें ही आ जाते हैं—आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक—ये तीनों ही मत वेदोंमें यथास्थान विन्यस्त हैं। इनमेंसे किसी एकको लेकर और सारे मन्त्रोंकी खींचतान करके एक-सा ही अर्थ निकालना साम्प्रदायिक वा एकपक्षीय मनोवृत्तिका परिचायक है। निरपेक्षता, उदारता और दृष्टि-व्यापकताका नहीं। प्रयोग, निरीक्षण, व्यवहार, निर्वचन, अभ्यास, समनुगमन आदिका विचार किये बिना केवल अध्यात्मवादकी काल्पनिक उड़ान उड़ने और ग्रीक, लैटिन भाषाओंका कोरा अभ्यास करनेसे कोई भी वेदार्थ नहीं समझ सकता।

वेदोंमें आध्यात्मिक आदि तीनों ही अर्थ हैं और सायणाचार्यने निरपेक्ष होकर तीनों ही अर्थोंको यथास्थान लिखा है। वेदोंमें समाधिभाषा, परकीय भाषा और लौकिक भाषा—तीनों ही भाषाओंका प्रयोग है और सायणने यथास्थान तीनोंका ही रहस्य बताया है। इसीलिये उन्होंने इन्द्रका अर्थ ईश्वर, देव, ज्ञान, विद्युत्तक लिखा है और वृत्रका अर्थ असुरराज, असुर, अज्ञान और मेघतक। जहाँ जिस भाषा और जिस वादका कथन है, वहाँ उसीका उल्लेख करके सायणने अर्थ-समन्वय किया है।

यह सब होते हुए भी देश और विदेशमें सायण-द्रोहियोंकी कमी नहीं है। विदेशी वेदाभ्यासियोंमें 'Los von Sayana' (सायणका बहिष्कार करो) की आवाज कई बार उठायी गयी। ऋग्वेदके सायण-भाष्यके प्रकाशक मैक्समूलरने भी सायणको 'Blind man's stick' (अन्धेकी लकड़ी) कहा है। 'वैदिक कोष' लिखनेवाले राथ और ग्रासमानका सायण-द्रोह तो विश्व-विदित है ही; परंतु लेखकके मतसे ये सारे द्रोह-विद्रोह निरर्थक हैं; क्योंकि—

१—वेदार्थ-निर्णय करनेमें सायणने आर्य-जातिकी प्राचीन मर्यादा और परम्पराका पालन किया है।

२—स्कन्द स्वामी, वेङ्कट माधव और उद्गीथ आदि ऋग्वेदके प्राचीन टीकाकारोंका सायणने अनुगमन किया है।

३—सायण-भाष्यका समर्थन सारे वैदिक साहित्य, प्राचीन इतिहास और आर्यजातिके आचार-विचारोंसे होता है।

४—विश्वकी विविध भाषाओंमें प्रकाशित वेद-सम्बन्धी ग्रन्थोंके प्रणेता सायणानुयायी हैं।

५–सनातन धर्मानुयायी सदासे सायण-भाष्यको आर्य-जातिकी संस्कृति, सभ्यता और रीति-नीतिके अनुयायी मानते हैं।

६–सायण-भाष्यके सिवा ऋग्वेदपर किसीका भी पूर्ण भाष्य नहीं है। इसलिये सायण-भाष्यके अभावमें ऋग्वेदका न तो सम्यक् अर्थ-ग्रहण होता, न रोठराचार्य (राथ) की 'पीटर्सबर्ग लेक्जिकन' नामक कोष-पुस्तक बन पाती और न ग्रासमानका 'वैदिक-कोष' ही लिखा जाता।

फलतः जिन विद्वानोंकी धारणा है कि ग्रीक और लैटिन भाषाओंका ज्ञान और साधारण संस्कृत-ज्ञान रहनेसे मनुष्य वेदार्थ समझ सकता है, वे भारी भ्रममें हैं। हिंदू-संस्कृति, हिंदू-धर्म और हिंदू-शास्त्रोंका मर्म समझनेवाले सायणभाष्यसे वेदार्थ समझनेमें जो सहायता मिलेगी, उसकी टुकड़ी सहायता भी ग्रीक और लैटिनके ज्ञानसे अथवा लांगलोआ (फ्रेंच); लुड्विग (जर्मन) और ग्रीफिथ (इंगलिश) के किये वेदार्थसे नहीं मिलेगी। इसलिये वैदिक-साहित्यका परिचय पानेके लिये सायण-भाष्य प्रधान सहायक है। इन पङ्क्तियोंका लेखक सायण-भाष्यके अनुकूल वेद-परिचय देना उत्तम समझता है। इसीलिये यहाँ सायणके सम्बन्धमें थोड़ी-सी चर्चा की गयी।

ऋग्वेदकी यह शाकल-शाखा वैदिक-साहित्यमें रत्न है। यद्यपि 'अनुवाकानुक्रमणी'में लिखा है कि 'शाकलासे वाष्कलामें केवल ८ सूक्त अधिक हैं; परंतु 'वाष्कल-संहिता' का पता नहीं चलता। यह कहीं भी नहीं छपी। कहते हैं, 'बर्लिन-लाइब्रेरी (जर्मनी) में ४० हजार और इंडिया हाउस (लंदन) में ३० हजार हस्तलिखित संस्कृत-पुस्तकें हैं। पता नहीं, इनमें वाष्कल-संहिता है कि नहीं। जबतक वाष्कला नहीं छपती, तबतक तो शाकला ही वैदिक-साहित्यका खजाना और विराट् पुस्तक मानी जायगी। इसके सामने सामवेदकी कौथुमसंहिताका प्रायः अस्तित्व ही नहीं है, क्योंकि कौथुममें शाकलके ही सारे मन्त्र हैं—केवल ७५ मन्त्र ही कौथुमके अपने हैं। अथर्ववेदकी शौनकसंहितामें शाकलसंहिताके १२०० मन्त्र पाये जाते हैं। शौनकके बीसवें काण्डके सारे मन्त्र (कुन्ताप-सूक्त और दो अन्य मन्त्रोंको छोड़कर) शाकलके हैं। कृष्णयजुर्वेदकी तैत्तिरीय संहितामें भी शाकलके बहुत मन्त्र हैं। इसलिये ऋग्वेदसंहिता (शाकल-शाखा)के अन्तर्गत ही प्रायः तीनों वेद हैं और इसके सविधि अध्ययनसे प्रायः चारों वेदोंका स्वाध्याय हो जाता है। इसीलिये ऋग्वेद सब-से महत्त्वपूर्ण माना जाता है। अनेक लोगोंने तो इसके अध्ययन-में अपना सारा जीवन ही खपा डाला है।

करोड़ों हिंदुओंका विश्वास है कि वेद ईश्वरका श्वास है, इसलिये वेद ईश्वरकी ही तरह नित्य है, शाश्वत है, अपौरुषेय है और ऋषियोंने समाधि-दशामें अपने विशुद्धान्तःकरणमें वेदको उसी रूपमें प्राप्त किया था, जिस रूपमें—छन्द, वाक्य, शब्द और अक्षरके रूपमें—वह इन दिनों पाया जाता है। अनन्त हिंदुओंकी धारणा है कि वेद ईश्वरकृत है। बहुतों-का विश्वास है—

'वेदाद्धर्मो हि निर्बभौ।'

'वेदसे ही धर्म निकला है।' इसीलिये अनन्त कालसे लाखों हिंदू वेद-विद्याकी रक्षाके लिये अपने प्राणतक देते आये हैं।

लोग पूछते हैं—'क्या वेदकी नित्यतामें प्रत्यक्ष या अनुमान प्रमाण है?' परंतु हमारे यहाँ शङ्कराचार्य आदिने प्रत्यक्ष और अनुमानका खण्डनकर शब्द-प्रमाणको ही स्थापित किया है। (शारीरक-भाष्य २। ३। १) क्षुद्रतम मानव-मस्तिष्क अज्ञेय-कालके तत्त्वोंका कैसे प्रत्यक्ष करेगा और अनन्त समयकी बातोंकी कैसे अनुमिति करेगा? इसीलिये भगवान् श्रीकृष्णकी इस उक्तिपर हिंदुओंका दृढ़ विश्वास है—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।

(गीता १६। २४)

'इसलिये कार्य और अकार्यकी व्यवस्थिति अर्थात् कर्तव्य और अकर्तव्यका निर्णय करनेके निमित्त तेरे लिये शास्त्र प्रमाण हैं।'

और हिंदुओंके समस्त शास्त्र वेदको नित्य मानते हैं। जैमिनीय मीमांसामें ऐसे अनेक प्रमाण हैं, जिनसे वेदकी नित्यता सिद्ध होती है। कौषीतकिब्राह्मणके मतसे (१०। ३०) वेद-मन्त्र देखे गये हैं, बनाये नहीं। ऐतरेय ब्राह्मणसे (३। १९) मालूम होता है कि गौरवीतिने सूक्तों वा मन्त्रसमूहोंको देखा था। ईश्वरतकका खण्डन करनेवाले सांख्यने लिखा है—

न पौरुषेयत्वं तत्कर्तुः पुरुषस्याभावात्।

(वेद अपौरुषेय है; क्योंकि वेद-कर्ताका अभाव है।)

बृहदारण्यकका कहना है—

अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः

—इत्यादि। अर्थात् वेद भगवान्का श्वास है।

श्वेताश्वतर (६। ८) का कहना है—

यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ।

(ब्रह्माको पहले उत्पन्न कर ईश्वर ब्रह्माको लोक-शिक्षाके लिये वेद देता है।) स्मृति-ग्रन्थोंमें तो वेदकी नित्यताके अनेकों प्रमाण हैं । सायणाचार्य भी वेदको नित्य मानते हैं ।

ये ही कारण हैं कि वेदपर हिंदू-जातिकी अविचल श्रद्धा है और वेदके प्रत्येक शब्दको मानना हिंदुत्व और हिंदू-धर्म-का लक्षण है—

प्रामाण्यबुद्धिर्वेदेषु । (लो० तिलक)

यही नहीं, वेद हिंदुओंकी प्रायः समूची कलाओं और विद्याओंका मूल भी है —

सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति । (मनु)

मनुष्य-जातिके प्राचीनतम इतिहास, सामाजिक नियम, राष्ट्र, धर्म, सदाचार, कला, त्याग, सत्य आदिका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये एकमात्र साधन वेद ही है । वैदिक ग्रन्थों-में ऋग्वेद, सभी दृष्टियोंसे सर्वश्रेष्ठ और विशाल है ।

शाकल-संहिताके प्रत्येक सूक्तके ऊपर उसके ऋषि, देवता, छन्द और विनियोग लिखे रहते हैं । वेदार्थ जाननेके लिये इन चारोंका ज्ञान रखना आवश्यक है । शौनककी अनुक्रमणी (११)में लिखा है कि 'जो ऋषि, देवता, छन्द और विनियोग-का ज्ञान प्राप्त किये बिना वेदका अध्ययन, अध्यापन, हवन, यजन, याजन आदि करते हैं, उनका सब कुछ निष्फल हो जाता है और जो ऋष्यादिको जानकर अध्ययनादि करते हैं, उनका सब कुछ फलप्रद होता है तथा ऋष्यादिके ज्ञानके साथ जो वेदार्थ भी जानते हैं, उनको अतिशय फल प्राप्त होता है । याज्ञवल्क्य और व्यासने भी अपनी स्मृतियोंमें ऐसा ही लिखा है ।

'ऋषिर्दर्शनात्' अर्थात् मन्त्रको देखनेवाले या साक्षात्कार करनेवालेको ऋषि कहा जाता है।(निरुक्त, नैगमकाण्ड २।११) महर्षि कात्यायनने भी 'सर्वानुक्रमसूत्र'में ऋषिको स्मर्ता वा द्रष्टा बताया है । याज्ञवल्क्यने भी ऐसा ही लिखा है । जिन ऋषिने जिस सूक्तका आविष्कार किया, उनका वा उनके वंशका ही सूक्तके ऊपर नाम रहता है ।

ऋग्वेद (शाकलसंहिता)के दस मण्डलोंमेंसे द्वितीय मण्डल-के गृत्समद, तृतीयके विश्वामित्र, चतुर्थके वामदेव, पञ्चमके अत्रि, षष्ठके भारद्वाज और सप्तमके वसिष्ठ और इनका परिवार ऋषि हैं । अष्टम मण्डलके ऋषि कण्व और उनके वंशज तथा उनके गोत्रज हैं । आश्वलायनने प्रगाथ-परिवारको अष्टमका ऋषि माना है; परंतु षड्गुरु शिष्यने प्रगाथको कण्व ही माना है । नवम मण्डलके ऋषि अनेक हैं। आश्वलायनने लिखा है कि 'दशम मण्डलके ऋषि क्षुद्रसूक्त और महासूक्त हैं ।' परंतु वस्तुतः दशम मण्डलके ऋषि और उनके वंशज अनेकानेक हैं । प्रथम मण्डलके तो २३ ऋषि हैं ।

सब ऋषि ब्राह्मण थे; परंतु ऐतिहासिक कहते हैं कि 'दशम मण्डल'के इन सूक्तोंके बनानेवाले ये राजर्षि भी थे— सूक्त ३१ कवष ९१ आरुण वैतहव्य, १३३ सुदास पैजवन और १३४ मान्धाता यौवनाश्व । ४६ वें सूक्तके ऋषि वत्सप्रि भालन्दन वैश्य थे और १७५ सूक्तके ऋषि ऊर्द्ध्वग्रावा अनार्य थे । परंतु यह विषय अभी सन्दिग्ध है ।

निरुक्तकारने लिखा है—

देवो दानाद् द्योतनाद् दीपनाद् वा ।

(दैवत १ । ५)

लोकोंमें भ्रमण करनेवाले, प्रकाशित होनेवाले या भोज्य आदि सारे पदार्थ देनेवालेको देवता कहा जाता है । तीन प्रकारके देवोंको निरुक्तकारने माना है—पृथिवी-स्थान अग्नि, अन्तरिक्ष-स्थान वायु वा इन्द्र और द्युस्थान सूर्य । इन्हींकी अनेक नामोंसे स्तुतियाँ की गयी हैं । जिस सूक्त वा मन्त्रके ऊपर जो देवता लिखे रहते हैं, उस सूक्त वा मन्त्रके वे ही प्रतिपादनीय और स्तवनीय हैं । जहाँ ओषधि, जल, शाखा आदि जड पदार्थोंको देवता लिखा गया है, वहाँ ओषधि आदि वर्णनीय हैं और उनके अधिष्ठाता देवता स्तवनीय हैं । आर्यलोग प्रत्येक जड पदार्थका एक अधिष्ठाता देवता मानते थे । इसीलिये उन्होंने जडकी स्तुति चेतनकी ही तरह की है । मीमांसक कहते हैं, 'जिस मन्त्रमें जिस देवताका वर्णन है, उसमें उसीकी-सी दिव्य शक्ति अनादि कालसे निहित है । मीमांसा मन्त्रमें ही देवत्व-शक्ति मानती है ।

ऋग्वेद (१ । १३९ । ११)से मालूम पड़ता है कि पृथिवीस्थानीय ११, अन्तरिक्षस्थानीय ११ और द्युस्थानीय ११—सब ३३ देवता माने गये हैं । कृष्ण-यजुर्वेदकी तैत्तिरीय-संहिता (१ । ४ । १०१)में भी यही बात है । ऋग्वेदके अनेक स्थानों (१ । ३४ । ११; १।४५ । २; ९ । ९३ । २; १० । ५५ । ३ आदि)में तथा शतपथ ब्राह्मण (४ । ५। ७ । २) और ऐतरेय ब्राह्मण (२ । २८) में ३३ देवोंका उल्लेख है । शतपथमें ८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य, आकाश और पृथिवी—ये ३३ देवता हैं और ऐतरेयमें ११

प्रयाज देव, ११ अनुयाजदेव और ११ उपयाजदेव—३३ देवता हैं। विष्णुपुराणके मतसे ११ रुद्र, १२ आदित्य, ८ वसु, प्रजापति और वषट्कार—ये ३३ देवता हैं। परंतु ऋग्वेदके दो स्थानों (३ । ९ । ९ और १० । ५२ । ६)में ३३३९ देवताओंका कथन है। सायणाचार्यने लिखा है कि देवता तो ३३ ही हैं; परंतु देवोंकी विशाल महिमा बतानेके लिये ३३३९ देवोंका उल्लेख किया गया है।

जो मनुष्योंको प्रसन्न करे और यज्ञादिकी रक्षा करे, उसे छन्द कहा जाता है (निरुक्त, दैवत १ । १२)। मुख्य छन्द २१ हैं। २४ अक्षरसे लेकर १०४ अक्षरतक ये सब छन्द होते हैं।

जिस कामके लिये मन्त्रका प्रयोग होता है, उसे विनियोग कहा जाता है। मन्त्रमें अर्थान्तर वा विषयान्तर होनेपर भी विनियोगके द्वारा अन्य कार्यमें उस मन्त्रको विनियुक्त किया जा सकता है—पूर्वाचार्योंने ऐसा माना है। इससे ज्ञात होता है कि शब्दार्थसे भी अधिक आधिपत्य मन्त्रोंपर विनियोगका है। ब्राह्मण-ग्रन्थों और कल्पसूत्रोंसे ऋषि, देवता आदि जाने जाते हैं।

विदेशी, विधर्मी और संशयात्मा लोग कहते हैं कि 'आर्योंको परमात्माका ज्ञान नहीं था। उनकी पहुँच देवोंतक ही थी। प्राकृतिक शक्तियों (अग्नि, वायु आदि) में अद्भुत शक्ति देखकर वे इन्हें ही चेतन शक्तिवाले देवता समझते थे। इसीलिये उन्होंने अग्नि, इन्द्र, वरुण, मित्र, अर्यमा, वायु, पूषा, सरस्वती, आदित्यगण, विष्णु, मरुत्, स्वर्ग, सोम, रुद्र, अदिति, ब्रह्मणस्पति, भग, बृहस्पति, त्वष्टा, ऋभुगण आदि-आदिको देवता मान लिया। (ऋग्वेद १० । ६५ । १) प्रकृतिकी लोल-लीलाओंको न समझनेके कारण आर्योंने इन्हें देवता जान लिया।'

परंतु उनका कथन निराधार है—देवता-रहस्य न समझनेका फल है। देवताका रहस्य 'बृहद्देवता' बताती है। उसके प्रथमाध्यायके पाँच श्लोकों (६१–६५) से पता चलता है कि इस ब्रह्माण्डकी जड़में एक ही शक्ति विद्यमान है, जिसे ईश्वर कहा जाता है। वह 'एकमेवाद्वितीयम्' है। उसी एककी नाना रूपोंमें—विविध शक्तियोंके अधिष्ठातृरूपोंमें—स्तुति की गयी है। नियन्ता एक ही है; इसी मूल सत्ताके विकास सारे देव हैं। इसी बातको यास्कने (निरुक्त, दैवतकाण्ड, ७ अध्यायमें) कितनी सुन्दरतासे कहा है—

महाभाग्याद् देवताया एक एव आत्मा बहुधा स्तूयते। एकस्यात्मनोऽन्ये देवा प्रत्यङ्गानि भवन्ति ॥

इसी तरह—

तस्या महाभाग्यादेकैकस्या अपि बहूनि नामधेयानि भवन्ति।

(नि० दै० १ । ५)

ऐतरेयारण्यक (३ । २ । ३ । १२) ने भी कहा है कि ऋग्वेदी लोग एक ही सत्ताकी उपासना ऋग्वेदीय मन्त्रों (उक्थों) में करते हैं। दूर न जाकर यदि ऋग्वेदको ही देखें, तो इस बातके अनेकानेक प्रमाण मिलेंगे।

ऋग्वेद तृतीय मण्डल ५५वें सूक्तमें २२ मन्त्र हैं और सबके अन्तमें 'महद्देवानामसुरत्वमेकम्' वाक्य आया है। तात्पर्य यह है कि देवोंकी शक्ति (असुरत्व=बल) एक ही है, दो नहीं अर्थात् महाशक्तिका विकास होनेके कारण देवोंकी शक्ति पृथक् नहीं—स्वतन्त्र नहीं है।

ऋषियोंने जिन प्राकृत शक्तियोंकी स्तुति वा प्रशंसा की है, उनके स्थूल रूपकी नहीं की है, प्रत्युत उनकी शासिका वा अधिष्ठात्री चेतन-शक्तिकी की है। इस चेतन-शक्तिको वे परमात्मासे पृथक् या स्वतन्त्र नहीं मानते थे—परमात्म-रूप ही मानते थे। उन्होंने ऋग्वेदके प्रथम मन्त्रमें ही अग्निकी स्तुति की है; परंतु अग्निको परमात्मासे स्वतन्त्र मानकर नहीं। वे स्थूल अग्निके रूपके ज्ञाता होते हुए भी सूक्ष्म अग्नि—परमात्मशक्ति-रूप—के स्तोता और प्रशंसक थे। वे मरणशील अग्निमें व्याप्त अमरताके उपासक थे। इसीलिये उन्होंने गाया है—

अपश्यमहं महतो महित्वममर्त्यस्य मर्त्यासु विक्षु।

(ऋ० १० । ७९ । १)

'मरणशील प्रजामें मैंने अमर अग्निकी महिमाको देखा है इसी तरह इन्द्रको वे देवता मानते हुए भी इन्द्रकी सूक्ष्म शक्तिको परमात्मशक्तिसे पृथक् नहीं समझते थे—परमात्मरूप समझते थे।' तभी तो उन्होंने कहा है—'इन्द्र मनुष्योंके धारक हैं। उनकी महिमा समुद्रोंसे भी अधिक है। इन्द्र तेजसे सारे संसारको पूर्ण कर देते हैं।' (ऋ० १० । ८९ । १) 'स्तुत्य, नाना मूर्तियोंवाले, दीप्तियुक्त, अनुपम प्रभु और श्रेष्ठ आत्मीय इन्द्रकी मैं स्तुति करता हूँ।' (ऋ० १० । १२० । ६) 'जो इन्द्र सृष्टिकर्ताओंके भी कर्ता हैं, जो भुवनोंके अधिपति हैं, जो रक्षक और शत्रुविजेता हैं, उनकी मैं स्तुति करता हूँ।' (ऋ० १० । १२८ । ७)

भला, परमात्माके सिवा किसकी महिमा समुद्रोंसे भी

अधिक हो सकती है ? कौन संसारको तेजसे पूर्ण कर सकता है ? कौन नाना मूर्तियोंवाला और अनुपम प्रभु हो सकता है ? दूसरा कौन भुवनाधिपति और सृष्टिकर्ताका भी कर्ता है ?

इसी तरह सूर्य, विष्णु, वाग्देवी, अदिति वा जितने देवता हैं, सबको वे उसी तरह परमात्मरूप समझते थे, जिस तरह एक ही धागेमें मालाकी सारी मनियाँ ओतप्रोत रहती हैं और केवल माला ही कहाती हैं ।

यह कहना तो बिल्कुल व्यर्थ है कि 'आर्योंको परमात्माका ज्ञान नहीं था ।' परमात्मतत्त्वका जैसा गहन-गम्भीर ज्ञान उनको था, वैसा तो आजतक प्रायः किसी भी मनुष्यजातिको नहीं हुआ । लो० तिलकने ठीक ही लिखा है कि 'ऋग्वेदके नासदीय सूक्तमें जितनी स्वाधीन उच्चतम चिन्ता है, उतनी आजतक मनुष्यजाति नहीं कर सकी ।' नासदीय सूक्तमें ही नहीं; ऋग्वेदके अनेक स्थानोंमें ऐसी ही गम्भीर चिन्ताएँ हैं । दो-चार उदाहरण देखिये—

ऋग्वेद १ मण्डल, १६४ सूक्तके ६ और २० मन्त्रोंमें परमात्माका स्पष्ट- निर्वचन है । ३ । ५५ । ३ और ५ । ८५ । १ में ईश्वरीय सत्ताका अनुभव है । १० । २७ । ९ में ऋषि समाधि-दशाका अनुभव करते हुए कहते हैं—'संसारमें घास और अन्न खानेवाले जितने मनुष्य हैं, सब मैं ही हूँ । हृदयाकाशमें जो अन्तर्यामी ब्रह्म अवस्थित हैं, वह मैं ही हूँ ।' भला, इससे बढ़कर अद्वैतवादकी अनुभूति क्या होगी ? १० । ३१ । ८ में कहा गया है—'ईश्वर प्रजाका बनानेवाला और द्यावापृथिवीका धारण करनेवाला है । इससे अधिक ईश्वरत्वका ज्ञान किस धर्मको है ?'

कुछ मन्त्र और देखिये—'परमात्मा एक हैं परंतु क्रान्तिदर्शी विद्वान् उनकी अनेक प्रकारसे कल्पना करते हैं ।' (१० । ११४ । ५) जो देवता-तत्त्व नहीं जानते, वे इस मन्त्रको बार-बार पढ़नेका कष्ट करें । १०वें मण्डलका ९० सूक्त 'पुरुषसूक्त' कहाता है । यह सारा सूक्त ही ईश्वरमय है । नमूनेके तौरपर इसका दूसरा मन्त्र देखिये—'जो कुछ हुआ है और जो कुछ होनेवाला है, वह सब ईश्वर है । ईश्वर देवताके स्वामी हैं । प्राणियोंके भाग्यके निमित्त वे अपनी कारणावस्थाको छोड़कर जगदवस्थाको प्राप्त होते हैं ।' इसमें स्पष्ट ही 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' का उद्घोष है । इसमें यह भी बता दिया गया है कि जैसे जीवात्माके स्वामी होते हुए भी परमात्मा और जीवात्मा एक हैं, उसी तरह देवोंके स्वामी होते हुए भी ईश्वर और देवता एक हैं । इससे यह भी सूचित होता है कि जीवोंके कर्मफलभोगके लिये ईश्वर सृष्टिकी रचना करते हैं । आगे देखिये—'उस समय—प्रलयावस्थामें—मृत्यु नहीं थी, अमरता भी नहीं थी, रात और दिनका भेद भी नहीं था । वायुशून्य और आत्मावलम्बनसे श्वास-प्रश्वासयुक्त केवल एक ब्रह्म थे । उनके अतिरिक्त और कुछ नहीं था ।' (१० । १२९ । २) 'चूँकि सृष्टि-कालमें कर्मफल-बीज था; इसलिये परमात्माके मनमें प्रथम सिसृक्षा उत्पन्न हुई । (१० । १२९ । ४) 'जिनसे ज्योतिर्मय सूर्य उत्पन्न हुए हैं, वे ही सबसे ज्येष्ठ हैं । उनके पहले कोई नहीं था ।' (१० । ११४ । ७) 'परमात्माके चौदह भुवन हैं ।' १० । ११४ । ७) दसवें मण्डलका एक सौ इक्कीसवाँ सूक्त 'हिरण्यगर्भ-सूक्त' कहाता है । यह भी ईश्वरमय है । इसके दसों मन्त्र कण्ठस्थ करनेयोग्य हैं ।

इन समस्त उद्धृत मन्त्रोंपर विचार करनेसे विदित होता है कि ऋग्वेदसे बढ़कर ईश्वरवादका स्पष्ट विवरण किसी भी धर्म, धर्मशास्त्र वा पुराणमें नहीं है । जिनकी अन्तर्दृष्टि नष्ट नहीं हुई है, वे सभी लेखकके इस मतका समर्थन करेंगे ।

(शेष आगे)

किसके द्वार जायँ

जैये कौनके अब द्वार ।
जो जिय होय प्रीति काहूके, दुख सहिये सौ बार ॥
घर-घर राजस तामस बाढ़्यो धन-जोबनकौ गार ।
कामबिबस ह्वै दान देत नीचनकौं होत उदार ॥
साधु न सूझत, बात न बूझत, ये कलिके ब्यौहार ।
ब्यासदास कत भाजि उबरियै परियै माँझीधार ॥

—व्यासजी

प्रशान्त

[कहानी]

(लेखक—श्री'चक्र')

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥
(गीता १२। १५)

'मैं कुछ विषयोंमें अन्ध-विश्वासी हूँ।' उन्होंने बड़ी सरलतासे कहा। 'मैं समझता हूँ कि मनुष्यको अपने व्यक्तिगत आचरणके सम्बन्धमें स्वतन्त्र रहने देना चाहिये। अब मेरे पुनः स्नानका समय हो गया है और इसके पश्चात् लगभग एक घंटा एकान्त चाहिये मुझे।' साहित्य एवं राजनीतिकी चर्चाका उपसंहार हो गया। बात ठीक भी थी। भोजनसे पूर्व जिसे एक घंटा एकान्त चाहिये, उसे अभी समय न देनेपर सबको प्रतीक्षा करनी होगी।

'आपको भगवान्की पूजामें क्या-क्या आवश्यक होगा?' जिस छात्रने सदा छूत-छात और पाठ-पूजाका उपहास किया हो, जो देव-मन्दिरोंको अनावश्यक बतानेमें गौरव मानता हो, जो धर्मको मानव-दुर्बलताओंका पुञ्जीभाव एवं ईश्वरको मानवका मानस-पुत्र कहकर खिल्लियाँ उड़ाया करता हो, उसकी यह शालीनता अद्भुत थी। 'पुष्प, बिल्वपत्र, तुलसीदल और प्रसाद। हाँ, प्रसाद क्या लगायेंगे आप? शेष सब तो बगीचेसे अभी संगृहीत हो जायँगे!'

'केवल तुलसीके दो दल और वह मैं स्नानके पश्चात् स्वयं ले लूँगा!' उन्होंने बड़ी सरलतासे हँसते हुए कहा—'आपके बगीचेके पुष्प शोभाके लिये लगाये गये हैं और मेरे भगवान् तो पुष्पकी अपेक्षा श्रद्धाके अधिक भूखे रहते हैं। नैवेद्यके लिये मेरे पास थोड़ी-सी दाख हैं।' जहाँ पुष्पोंके समीप 'तोड़ना मना है' की सूचनाएँ लगी हों, वहाँके लिये यह उपयुक्त उत्तर था।

'आप सङ्कोच करते हैं। मैंने अभी स्नान नहीं किया है। स्नान करके रेशमी धोती पहन लूँगा और तब आपके लिये पुष्प चयन करूँगा।' नवीन रक्त उत्साही होता है। युवकोंको जो सूझ गयी वह तो करके रहेंगे। 'आपके भगवान् फल खायेंगे या मिष्टान्न? बस, इतना बता दीजिये।' वहाँ सभी उत्सुक थे इस नवीन कौतुकमें योग देनेको।

'श्यामसुन्दर भी बड़े रसिक हैं। उन्होंने यहाँ भी माल उड़ानेका डौल कर लिया!' खुलकर हँसे वे। 'अच्छी बात, आप सुमन संग्रह कीजिये। पुष्पोंकी माला गूँथिये। तुलसीदल एवं दूर्वाङ्कुर तथा अखण्ड अक्षत भी। बाजारकी मिठाइयोंसे मेरे नन्हे-से भगवान्का पेट बिगड़ेगा! मैं उन्हें फल और मेवा ही निवेदन करना चाहूँगा।' उनकी सूची पूरी होते ही दो-तीन साइकिलें चल पड़ीं फलोंके लिये बाजारकी ओर और नलपर भीड़ करनेके लिये कइयोंने धोती-तौलिये उठाये। आजकी शीघ्रतामें साबुन-तैलके लिये अवकाश नहीं।

'कुएँपर बाल्टी होगी?' उन्होंने पूछा।

'बाल्टी, रस्सी और जल, सब हो जायगा। आप चलिये तो सही।' क्या है इस धोती-कुर्ता पहने, मुण्डित मस्तकपर बड़ी-सी चुटिया फहरानेवाले ग्रामीणमें? इस छात्रावासमें तो ग्रामोंसे आये छात्र अपने सहपाठियोंके उपहासके भयसे शीघ्र चोटी-जनेऊ विदा कर देते हैं। किसीके घरसे कोई आ जाय और कहीं सन्ध्या करने बैठ जाय तो उसके मुखपर ही वे उच्छृङ्खल कह देते हैं—'नाक सड़ गयी होगी, दाबे बैठे हैं।' यहाँ न कोई खड़ाऊँ पहननेका साहस कर सकता और न सिर घुटानेका। यहाँ तो विभिन्न प्रकारके सजे, कटे केश, क्रीम-पाउडरसे चमकते, मूँछोंसे सफाचट मुख, उज्ज्वल वस्त्र और लचकते चलनेवालोंका आदर है। इस नित्य परिहासके जगत्में यह 'जंगली हूस' कैसे जम गया।

'जी, चप्पल उतार दीजिये और जाकर फिरसे स्नान कीजिये ।' एकने अपने ही एक सहपाठीपर व्यङ्ग किया । 'इस प्रकार तो आपके चुने पुष्प स्वीकृत हो चुके !' स्नान तो नहीं किया उसने; किंतु सचमुच पैर तो धो आया । कुछ लोगोंमें एक प्रकारका आकर्षण होता है । पण्डित मदनमोहनजीमें भी कुछ ऐसी ही बात है । अपने ग्रामके एक छात्रसे मिलने आये । उनकी बड़ी चुटिया, लंबी मूँछें और पण्डिताऊ धोती तथा तिलकने सबको आकर्षित किया । सबको जैसे विनोदका साधन मिला । उपहास करते एक भीड़ एकत्र हो गयी। एक-दोने व्यङ्ग किया और लज्जित हो गये । उनकी प्रगल्भ वाणी, प्रशस्त भाषा एवं आत्मीयताके साथ व्यवहार करनेकी पद्धतिने सबको मौन कर दिया और कुछ देर-में ही अपनी प्रतिभाके कारण सबकी दृष्टिमें वे श्रद्धास्पद हो गये । 'मैं केवल फल लूँगा ।' उन्मुक्त हासमें प्रसाद वितरित हो चुका था और अब भोजनकी घंटी बज चुकी थी । यह कैसे सम्भव था कि जिस चौकेमें छुआछूतका कोई भेद न हो, जहाँ कोई भी कपड़े पहने बैठ जाया करता हो और भीतर चौकेसे रोटी ले आता हो, वहाँ पण्डितजी भोजन कर लें । उन्होंने अपने लिये मार्ग निकाल लिया।

'आज एकादशी तो है नहीं ।' कहनेवालेको पता भी नहीं था कि आज तिथि कौन-सी है । उसने एक दूसरे छात्रकी ओर देखा । समस्याकी जटिलता सब समझ रहे थे । 'मेरे पास बिल्कुल नया स्टोव है । नन्दकिशोरजी अभी पूड़ी-साग बना देते हैं और दही-चीनीमें तो कोई बात है ही नहीं ।' अपनी प्रत्युत्पन्न मतिका परिचय दिया उसने । एक साथ कई इधर-उधर आवश्यक सामग्री एकत्र करनेमें चल पड़े । उन्होंने पण्डितजीको भोजन करानेके पश्चात् ही भोजन करनेका निश्चय कर लिया ।

'लेकिन इतनी खटपट किसलिये ?' उन्होंने प्रयत्न किया कि सब लोग भोजन करने चले जायँ । 'मैं केले और दूधसे भली प्रकार तृप्त हो जाऊँगा ।' इस प्रकारकी बातोंको कोई सुना नहीं करता और यदि सुन और स्वीकार कर ले तो समझना चाहिये कि वह भी बला टालना चाहता है । एक कमरेका सामान एक कोनेमें ले गया । जमीन धो दी गयी और स्टोव जल गया । जहाँ काम करनेवाले हाथोंकी संख्या गिननी पड़े, वहाँ कितनी देर लगती थी ।

'रसोइया तो आपकी ओरके एक ब्राह्मण हैं ।' छात्रों-ने अपना निश्चय बताया 'सन्ध्यासे ऐसी व्यवस्था हो जायगी कि आपको हमारे चौकेमें भोजन करनेमें आपत्ति न हो । हमलोग कुछ सीखेंगे ही । नगरमें जितने दिन रहना हो, आपको यहीं रहना होगा । कोई असुविधा नहीं होगी ।' सरल व्यवहार कहाँ आत्मीयता नहीं स्थापित कर लेता । जिनपर कोई उपदेश प्रभाव करनेमें असमर्थ था, जो प्रातःकाल शय्या-त्यागके पूर्व ही चायकी माँग करते हैं और उठते हैं तब, जब कि अच्छी तरह धूप निकल आती है । वे ही सूर्योदयसे पूर्व स्नान करके किसीके लिये सुमन-सञ्चय करनेमें प्रतिद्वन्द्विता करेंगे——कौन सोच सकता है ।

'आप मुझे क्षमा करें ।' अभ्यासवश भोजनके उपरान्त उस छात्रने सिगरेट जला ली और आकर बैठ गया पण्डितजीके समीप । पण्डितजी धीरेसे उठे और कमरेसे बाहर आ गये । वह समझ भी न सकता, यदि सहपाठियोंने सावधान न किया होता । सिगरेट एक ओर बुझा दी गयी और उसने अपनी भूल स्वीकार की ।

'इसमें क्षमाकी क्या बात ?' उन्होंने स्वभावसिद्ध हँसीके साथ कह दिया, 'तुम सिगरेट पी रहे थे, मुझे उसके धूएँसे अरुचि है तो उठ आया । दोनोंको अपने सम्बन्धमें स्वतन्त्रता चाहिये । वैसे कोई विशेष कार्य होता तो मैं बैठा भी रहता । अन्ततः रेलके डिब्बोंमें बैठा ही तो रहता हूँ । हम यदि अपने सम्बन्धमें किसीका हस्तक्षेप नहीं चाहते तो हमें भी इतना सहनशील होना चाहिये कि दूसरोंके कार्योंको देख सकें

तथा एक सीमातक सहन कर सकें।' बड़े स्नेहसे कंधेपर हाथ रक्खा उन्होंने। भला ऐसे पुरुषसे कौन उद्विग्न होगा।

'अरे, किसीने स्मरणतक नहीं किया।' एकने मुखपर अंगुली रखकर सङ्केत किया और वह उन्मुक्त हास्य, अनर्गल प्रलाप, सब सहसा बंद हो गया। कूपकी पश्चिम दिशामें अस्तंगत भगवान् आदित्यकी ओर मुख किये वे ध्यानस्थ बैठे थे। सन्ध्याकी अरुणिमा उनके भव्य भालपर अन्तरका अनुराग लेकर प्रतिबिम्बित हो रही थी। शिक्षकोंका भी उपहास करनेवाले वे उद्धत इस प्रकार शान्त एवं मृदुपदोंसे चले जा रहे थे जैसे अपराधी बालक गुरुजनोंके समीपसे दूर जानेका प्रयत्न करते हैं।

'हमने प्रमादवश बाधा दी आपकी सायं-उपासनामें।' सन्ध्यासे उठते ही मण्डलीने उनको घेर लिया। 'हाकीके उल्लासमें हममेंसे किसीको स्मरण नहीं रहा कि आप समीप ही पूजा कर रहे हैं। खेलमें कोलाहल तो होना ही था। अब कलसे पीछेके पार्कमें सब जाया करेंगे।' सब समझ रहे थे कि यदि उनकी आराधनामें बाधा पहुँची तो शीघ्र चले जायँगे। पता नहीं क्यों, एक ऐसा सौहार्द हो गया था कि कोई नहीं चाहता था कि वे जायँ।

'इस प्रकार सङ्कुचित वातावरणमें तो मुझसे नहीं रहा जायगा।' हँसकर उन्होंने आशङ्का दूर कर दी। 'यदि मेरे कारण सबको सदा सशङ्क रहना पड़े तो मुझे यहाँ नहीं रहना चाहिये। मैं भी तुमलोगोंमेंसे ही एक हूँ। मनुष्यको इस कोलाहलपूर्ण विश्वमें ही रहना है। वह कहाँ-कहाँसे उद्वेग प्राप्त करता रहेगा। यदि खेलका कोलाहल मुझे बाधा पहुँचाता तो कमरेमें आसन लगा लेता। अपने मनके भीतर उद्विग्नता न हो तो बाहरसे कोई उद्विग्न नहीं कर सकता। मनमें उद्विग्नता हो तो वनमें भी भ्रमर, पक्षी, बंदर आदि उद्विग्नताके निमित्त बन जाते हैं।' यह तत्त्वज्ञान छात्रोंके मस्तिष्कमें उतरनेवाला नहीं था। उनके लिये यही बहुत था कि उनके आदरणीय अतिथिको कष्ट नहीं हुआ है और कलसे तो वे अपने खेलका स्थान बदल ही देंगे।

× × × ×

[२]

घरपर वृद्ध पिता हैं और छोटा भाई है। थोड़ेसे खेत हैं। भाई खेतीका प्रबन्ध कर लेता है। एक वर्ष अनावृष्टि और फिर अतिवृष्टि। इस वर्ष आशा थी कि कुछ हो जायगा। विशेषत: ईख अच्छी लगी थी। ऋणसे छुटकारा मिल जायगा। पिछले वर्षका लगान भी देना है। सारी आशाएँ भगवती जाह्नवीकी बाढ़में बह गयीं। इतनी बड़ी बाढ़ अभी कई वर्षोंमें नहीं आयी थी। अब क्या हो? यदि इस वर्ष लगान न दिया जा सका तो पूर्वजोंकी सम्पत्ति जो थोड़ी-सी भूमि है, वह भी चली जायगी। वर्षभर पेटकी ज्वालाको भी शान्त करना ही होगा। घरका बीज भी तो गङ्गाजी ले गयीं। सोचा था कि इस वर्ष आचार्यका खण्ड देंगे। परिस्थितिने विवश किया। कहीं कामके अन्वेषणमें नगरमें भ्रमण प्रारम्भ हुआ। वह तो अपने ग्रामका छात्र है एक छात्रावासमें। अध्ययन छोड़नेपर कौन अपने यहाँ रहने देता। छात्रावास ही पण्डित मदनमोहनजीका आश्रयस्थल बन गया है इस समय।

'आपका प्रार्थना-पत्र स्वीकार हो गया है।' कितना उल्लास था सुनानेवालेमें। छात्रोंने घेर लिया। उन सबको अत्यन्त प्रसन्नता थी। अब वे उनके ही विद्यालयमें संस्कृतका अध्यापन करेंगे।

'आपके द्वारा मैं तो अब संस्कृत पढ़ूँगा।' यहाँके छात्र संस्कृतको मृत-भाषा मानते हैं। प्राय: संस्कृत अध्यापकको दो-चार छात्र ही मिलते हैं और वे भी विद्यालयमें 'खूसट' समझे जाते हैं। शेष सब अर्थशास्त्र, राजनीति और विज्ञानको महत्त्व देते हैं। 'मैं भी' एक

साथ कई कण्ठ-स्वरोंने आवृत्ति की। पण्डितजीके कारण संस्कृतका स्नेह उमड़ पड़ा था।

'मैं सन्ध्या करनेके लिये कुछ समय चाहता हूँ।' स्थिर शान्त शब्दोंमें सबसे उन्होंने आग्रह किया। आजतक जिस स्थानपर दो-दो, तीन-तीन विषयोंके आचार्य ही नियुक्त होते रहे हैं, उस स्थानपर एक शास्त्रीकी नियुक्ति और वह भी ऐसे व्यक्तिकी जो इधर दो सप्ताहसे छात्रावासका अतिथि हो रहा है। दस, पंद्रह रुपयेके स्थानोंके लिये दिन-दिनभर नगरमें यहाँ-वहाँ भटकता रहता है। एक बार भी नहीं पूछा गया कि नियुक्तिकी सूचना कैसे मिली। प्रार्थना-पत्र कैसे स्वीकृत हुआ। सन्ध्याके आसनपर पहुँच चुके थे और कुछ क्षण भी व्यर्थ खोने अब सह्य नहीं थे।

'आप हमलोगोंको मिठाई कब खिलायेंगे?' छात्रोंका उत्साह शिथिल नहीं हुआ था। वे अबतक यही सोच रहे थे कि किस प्रकार अपने नये शिक्षकका सत्कार किया जाय। आयोजनोंकी रूप-रेखा अभी सम्पूर्ण नहीं हुई थी। सन्ध्यासे उठते ही पण्डितजीको उन्होंने पुनः घेर लिया।

'मेरे भगवान् तो मिठाई खाते नहीं।' हँस रहे थे वे। 'प्रसाद सबको नित्य प्राप्त ही होता है और मिठाई ही खानी हो तो प्रतीक्षा करनी चाहिये, जबतक मैं प्रथम पारिश्रमिक कहींसे प्राप्त करूँ।' यह प्रसङ्ग यहीं समाप्त करके उन्होंने पुस्तक उठायी अपने आसनपर पहुँचकर। इस समय गीता पढ़ाया करते हैं वे कई छात्रोंको।

पानी पड़े या पत्थर—उनका कार्य चलता रहेगा अपनी स्वाभाविक गतिसे। दूसरे तो उनके समान नहीं हैं। छात्रोंका मन गीतामें नहीं लग रहा था। अन्तरका उल्लास दबाना उन्होंने सीखा नहीं है। जीवनके जटिल भारके नीचे जबतक हृदयका उन्मद ओज पिस नहीं जाता; दया, करुणा, ममता, त्याग एवं कष्टको सहनेका उत्साह तभीतक रहता है। युवक प्रेरणाशील होता है। वह प्रेरणाको गम्भीरतासे ग्रहण करता है और उसीमें शक्ति होती है आदर्शपर मिट जानेकी। उसे भ्रान्त आदर्शसे प्रेरित करना समाजको विनाशके हाथोंमें सौंप देना है। एक बार जब युवक उल्लसित हो जाता है, उसका वेग अदम्य होता है। उसकी श्रद्धा उमड़ती है और जहाँ भी उमड़ती है, सम्पूर्ण वेग होता है, उसमें।

जिसके हर्षका समय था, वह तो आज एकाकी हो गया था। पता नहीं अपने तख्तेपर बैठा किस अज्ञातका ध्यान कर रहा था। हर्ष जैसे उसके लिये अस्पृश्य है। जब वह प्रातः उठा तो समझते देर न लगी कि छात्रोंके उल्लासने बहुत रात्रितक उन्हें जाग्रत् रक्खा है और इसीलिये उनमेंसे प्रत्येक अभी गम्भीर निद्रामें निमग्न है।

'आदेशको सञ्चालकने पुनः निरीक्षणके लिये माँगा है।' सबसे प्रथम छात्र पहुँचे विद्यालयके अध्यक्षके समीप। वे नियुक्तिपत्रको पढ़ लेना चाहते थे। उन्हें कुछ खिन्नता हुई इस उत्तरसे। 'मैं स्वयं चाहता हूँ पण्डित मदनमोहनजीकी नियुक्ति। अपनी सम्मतिके साथ शीघ्रता करनेको भी लिखा है मैंने।' छात्रोंको आश्वस्त करना चाहा उन्होंने। उनको विश्वास था कि कोई परिवर्तन नहीं किया जायगा। एक बार जो बात निश्चित हो चुकी है, उसे पुनः देखनेकी सञ्चालककी इच्छा कुछ अस्वाभाविक अवश्य प्रतीत होती थी; किंतु आशंकाका कोई कारण नहीं जान पड़ता था। छात्रोंको सन्तोषप्रद उत्तर मिले वहाँसे।

'आपके साथ अन्याय हुआ है!' सायंकाल छात्रोंमें प्रबल असन्तोष था। ज्ञात हुआ था कि सञ्चालकने नियुक्ति परिवर्तित कर दी है। 'अच्छी मोटी रकम दी गयी होगी या किसी 'बड़े' का दबाव पहुँचा होगा!' अनुमानने निश्चयका रूप लिया और कुछ लोगोंने तो यहाँतक बता दिया कि किस प्रलोभनने सञ्चालकसे यह दुष्कृत्य करा लिया है।

'भाई दिनेशचन्द्र मुझसे अधिक योग्य हैं।' पण्डितजीको न दुःख था और न रोष। 'वे मेरे सहाध्यायी रहे हैं। उनके किसी सद्गुणके कारण ही उन्हें सञ्चालकजीने उपयुक्त समझा है। हमें स्वार्थ एवं पक्षपातके कारण दूसरोंपर आक्षेप नहीं करना चाहिये।' जान-बूझकर भी उन्होंने नहीं बताया कि दिनेशचन्द्र द्वितीय श्रेणीमें उत्तीर्ण हुए हैं और कक्षामें भी सबसे पीछे ही बैठना अपने लिये उपयुक्त समझा करते थे वे।

'उनका सबसे बड़ा सद्गुण यह है कि वे सञ्चालकजीके सम्बन्धीके पुत्र हैं!' एक छात्र रोषसे उबल पड़ा। 'लेकिन विद्यालय तथा हमारे हितका यह दमन हमलोग नहीं करेंगे।' प्रदर्शन तथा हड़तालके निश्चयके साथ विद्यालयसमितिके सदस्योंके समीप आवेदन करना भी स्थिर हो गया।

'मैं इस परिस्थितिमें अपनेको उलझाना नहीं चाहता और यदि मुझे सन्तुष्ट करके तुमलोगोंको मेरा सहयोग अभीष्ट है तो शान्त रहना चाहिये। यदि असन्तोष व्यक्त किया गया तो मुझे छात्रावास छोड़ना होगा और तब तुम्हारे प्रयत्नोंका कोई अर्थ ही नहीं होगा।' उन्होंने एकदम शान्त कर दिया सबको। 'मेरे एक सहपाठीको यह पद प्राप्त करनेका अवसर मिला है, मैं इससे प्रसन्न हूँ। मेरे कष्ट, मेरी कठिनाइयाँ और यही सब उनके सम्मुख भी तो होंगी। वे अपनी विकट परिस्थितियोंसे किसी प्रकार छूटें तो सही।' कौन जानता था छात्रोंमें कि दिनेशचन्द्र सर्वदा उन्हें अपमानित किया करते थे। उनसे द्वेष रखते तथा शिक्षकसे उनकी निन्दा करते रहते थे। इस ईर्ष्याका कारण था उनकी प्रतिभा। कक्षामें दिनेश कभी उनके समकक्ष न हो सके। आवश्यकता न होनेपर भी अध्यापनका स्थान उन्होंने प्राप्त किया था, केवल मदनमोहनजीकी ईर्ष्याके कारण। सञ्चालक उनके सम्बन्धी थे और यह सह्य नहीं हुआ कि अपने प्रतिस्पर्धीको वे इस पदपर प्रतिष्ठित देखें।

'आप क्या करेंगे?' हतोत्साह छात्रोंने प्रश्न किया।

'मैं प्रयत्न कर रहा हूँ और यही प्रत्येक व्यक्ति कर सकता है।' स्वर शान्त था। 'प्रत्येक जल-सीकर तथा प्रत्येक अन्न-कणपर—विश्वके प्रत्येक पदार्थपर नामाङ्कन कर रक्खा है स्रष्टाने। जो जिसके प्रारब्धका है, केवल वही उसे प्राप्त कर सकता है। मनुष्यका लोभ, अमर्ष व्यर्थ है।' मदनमोहनजीके सन्ध्याका समय हो गया था और वे आसन उठा चुके थे।

'अपने पुस्तकालयमें एक स्थान रिक्त है!' एक छात्रने सूचना दी।

'तुम चाहते हो कि पण्डितजी अपने सहपाठीके निरीक्षणमें काम करें?' दूसरेने डाँटा। पुस्तकालयके निरीक्षणका भार संस्कृत-अध्यापकके ऊपर होता है और वही उस विभागके कर्मचारियोंको नियन्त्रित करता है।

'मैंने उसके लिये प्रार्थना कर दी है!' उन्होंने पीछे मुख किये बिना ही सूचित किया। 'ग्रन्थावलोकन तथा अध्ययनका अवकाश है उसमें। जब कार्य करना है तो किसीके भी नियन्त्रणमें कार्य करना अपमानका कारण नहीं हो सकता।' छात्रोंको आश्चर्य हुआ। इस प्रकारके निर्लिप्त पुरुषके परिचयमें वे प्रथम बार आये थे।

'आप ग्रन्थोंकी पुरानी सूची देख लें! मिला लें और नवीन सूची बना लें।' नवीन संस्कृत अध्यापकने प्रार्थनापत्र स्वीकार कर लिया था। कक्षामें जिससे सदा वे पीछे रहे, उसीपर शासन करनेकी भावनाने उदार बना दिया उन्हें। पहले ही दिन उन्होंने आदेश दिया—'जिन ग्रन्थोंके आवरण-पृष्ठ नष्ट या अस्त-व्यस्त हुए हैं, उन्हें सुधर जाना चाहिये। एक व्यवस्थित सूचीपत्र चाहिये कि किन आवश्यक ग्रन्थोंका अभाव है।' आज ग्रन्थोंके प्रति उनमें अनुराग जाग्रत् हो गया था। अध्ययनकालमें की गयी उपेक्षाका जैसे पूरा प्रायश्चित्त कर लेना चाहते हों। मदनमोहनजीने शान्तिपूर्वक सावधानीसे समस्त आदेश स्वीकार कर लिये।

× × ×

[३]

'आपको रहना चाहिये । कम-से-कम एक व्यक्ति तो रहे विद्यालयके निरीक्षणार्थ !' दिनेशचन्द्रने आज स्वरको नम्र बना लिया था । 'ग्रामशिविरमें पुस्तकालय ले जाना अनावश्यक है और ऐसे समय यह बहुत निश्चित है कि मरे हुए चूहोंकी दुर्गन्धिसे वह भर जायगा। आपके रहनेसे उसकी सँभाल रहेगी और साथ ही सँभाल रहेगी विद्यालयकी भी ।' नगरमें प्लेग फैल चुका था । नागरिकोंमेंसे अधिकांश बाहर जा चुके थे और जो रह गये थे, भागनेकी चिन्तामें थे । विद्यालयके तंबू-खेमे आदि नगरसे दूर भेजे जा चुके थे । दूसरे ही दिन विद्यालय वहाँ चला जायगा ।

'क्लेश और मृत्यु—दोनों प्रारब्धके भोग हैं । यदि उन्हें आना है तो वन रोक नहीं सकता और नहीं आना है तो नगर उन्हें बुलानेमें समर्थ नहीं !' पण्डित मदन-मोहनजीने शान्तिपूर्वक स्वीकृति दी । 'मैं अपने दायित्वका अनुभव करता हूँ । आप निश्चिन्त होकर जा सकते हैं !' घरसे बार-बार आग्रहभरे पिताके पत्र आ रहे थे कि इस समय वे घर चले आवें; किंतु ऐसे कठिन समयमें विद्यालयको छोड़ना उपयुक्त नहीं जान पड़ा उनको ।

'गणेशजीके एक वाहन इधर पड़े हैं !' मध्याह्नमें सेवकने सूचित किया । वह पुस्तकोंको स्वच्छ करनेमें लगा था ।

'रुको !' पण्डितजी जानते थे कि अशिक्षित जन आशङ्कासे अधिक आक्रान्त हुआ करते हैं । 'अब यहाँ काम करना बंद कर दो !' उन्होंने स्वयं एक कागजपर चूहेको उठाया और दूर ले जाकर अग्निसंस्कार कर दिया । स्नान तो करना ही था इसके पश्चात् ।

'तड़-तड़ तड़-तड़ !' कोई मुख्य द्वारपर आघात कर रहा था । पण्डितजीको साधारण ज्वर हो आया था । वे उठे । दीपककी बत्ती ऊँची हुई । 'कौन है ?' ज्ञात हो रहा था कि एक पूरी भीड़ खड़ी है बाहर । खिड़कीके छेदोंसे उन्होंने देखा । अन्धकारमें पता नहीं भालोंके नोक चमक रहे थे या नंगी तलवारें । लाठियोंकी खटपट सुनायी पड़ती थी । द्वारका प्रकाश आततायियोंने नष्ट कर दिया था ।

'द्वारो खोल !' बाहरसे किसी भारी कण्ठने क्रुद्ध स्वरमें आदेश दिया । जनहीन नगरमें कई स्थानोंपर गतरात्रि ताले टूटनेकी बात सुनी जा चुकी है । 'तुम लोगोंने बड़ा ऊधम मचा रक्खा है ! तुम्हारे संग्रहालयमें सुनते हैं, दूसरोंके धर्मग्रन्थोंकी खोज हो रही है और इस तरह तुम हमारी खिल्ली उड़ाया करते हो ! हमें महज अपनी चीजोंसे मतलब है और तुम सीधे उन्हें दे दो, यह तुम्हारे भलेके लिये है ।' विद्यालयके प्रति एक वर्ग रुष्ट रहा करता है और विशेषतः उसके साहित्यिक अन्वेषण-विभागसे । आज अवसर पाकर आततायी बन गया है वह समूह ।

'आपलोग लौट जायँ ! जबतक मैं यहाँ हूँ, आप भीतर आनेका व्यर्थ प्रयास कर रहे हैं !' एक ज्वरार्तके कण्ठस्वर-जैसा नहीं था वह स्वर । यह समझ लिया गया था कि यदि द्वार खोला गया तो पुस्तकालय अग्निकी लपटोंमें होगा । आततायियोंके हाथोंके जलते उल्मुक उन्हें रात्रिमें पिशाच बनाये हुए थे ।

'अच्छा, देखेंगे हम !' द्वारपर आघात और प्रबल हो गया । 'काफिरको कुत्तेकी मौत न मारा तो आना ही बेकार हुआ।' गालियोंकी बीभत्सताका वर्णन व्यर्थ है।

'मैं अन्तिम बार कहता हूँ, आपलोग हट जायँ !' भय जब मनुष्यके मानसको अव्यवस्थित नहीं करता, स्थिर बुद्धि स्वतः आपत्तिमेंसे मार्ग निकाल लेती है। द्वारके ऊपरसे पण्डितजीका निश्चयात्मक स्वर सुनायी पड़ा । 'अब मैं यहाँसे ईंटें डाल रहा हूँ नीचे और उससे आहतोंका उत्तरदायित्व स्वयं उनपर होगा ।' एक क्षण—एक धमाका और एक कोई आह करके बैठ

गया। मुख्य द्वारके ऊपरके कमरेसे सचमुच पण्डितजीने एक ईंटा छोड़ दिया था।

'अच्छा, देख लेंगे!' क्रुद्ध आततायी पीछे हटनेको विवश हो गये। एक ब्राह्मणने उन्हें इस प्रकार नीचा दिखाया, इसका बदला लेंगे वे। पण्डितजी परिस्थिति न समझते हों, ऐसी बात नहीं। वे जानते थे कि ये लोग विद्यालयके समीपके घरोंसे ही आये हैं। छिपकर उनका आघात कभी भी सम्भव है। कोई कबतक अपनेको विद्यालयके घेरेमें बन्दी रक्खेगा। यह ठीक होकर भी ठीक नहीं था। पण्डितजी जानते हैं कि विश्व-नियन्ताकी इच्छाके विरुद्ध कोई कुछ कर नहीं सकता। ऐसा विश्वासी हृदय भयके लिये कभी उन्मुक्त नहीं होता।

'पण्डितजी! आप विद्यालयके आदर्शको जानते हैं!' दिनेशचन्द्रजीने नगरमें पहुँचते ही व्यङ्गवर्षा प्रारम्भ कर दी। आभार मानना तो किसीका उन्होंने सीखा ही नहीं है। 'आपसे आशा थी कि अपनेको उसके अनुकूल बना लेंगे। हमें इन ट्रेडमार्कोंकी अब आवश्यकता नहीं है।' यह आक्षेप था तिलकपर। उनकी पूजा-पाठका तो प्रायः परिहास किया जाता रहा है।

'मेरे व्यक्तिगत आचरणोंका कोई अनिष्ट प्रभाव मेरे कार्यपर नहीं पड़ता।' पण्डितजीका एक नियमित उत्तर रहा है।

'आपके द्वारा छात्रोंके सम्मुख एक भ्रान्त आदर्श उपस्थित होता है।' जो आक्षेप करनेपर ही उतारू हो, उसके लिये निमित्तोंका क्या अभाव। 'इसी छूत-छातके खटरागके कारण देशका सर्वनाश हुआ और आप यहाँ भी वही रोग संक्रामक बना रहे हैं। आपका यह नाक दबाना और घंटी हिलाना, यहाँके सुसंस्कृत वातावरणके उपयुक्त नहीं है।' इधर कई छात्र पूजाके अवसरपर ही उन्हें स्पर्श कर दिया करते हैं। कई बार स्नान करना पड़ता है। भोजनालयमें भी उच्छृङ्खलता होने लगी है। फलतः कई समय फलोंपर रहना पड़ता है। इस सबमें जिसका गुप्त संकेत है, वह अज्ञात नहीं।

'मैं समीपमें कोई स्थान देख रहा हूँ।' पण्डितजीने शान्तिसे सूचित कर दिया। 'शीघ्र ही छात्रावाससे वहाँ अपना आसन बदल दूँगा और तब आपको कोई अवसर नहीं प्राप्त होगा।' एक मकान उन्होंने देख भी लिया है। पड़ोस अच्छा नहीं। आसपासके लोग द्वेष करते हैं उनसे। उनके कारण ही उस रात्रिमें विफल जो लौटना पड़ा था। जो भी हो, स्थान तो बदलना ही होगा।

अब भी गिल्टियोंमें पीड़ा है मन्द-मन्द। ज्वरने छोड़ दिया; किंतु शरीरमें शक्ति नहीं लौटी। नवीन स्थान अनुकूल तो क्या पड़ेगा, जो छात्रों और विद्यालयके सेवकोंकी सहायता मिल जाती थी, उससे भी वञ्चित हो गये। अब अपने ही हाथों सब कार्य करना है। ठीक समयसे तनिक भी विलम्ब हुआ पुस्तकालय पहुँचनेमें तो बहुत कठोर शब्द मिलेंगे स्वागतमें। इधर एक और आपत्ति आ गयी। कभी आँगनमें अस्थिखण्ड मिलता है और कभी मांसके टुकड़े। पड़ोसियोंका रोष इस रूपमें प्रकट हुआ है। पूरा स्थान प्रक्षालित करना और फिर स्नान करना। दिनमें दो बार यह करनेमें भोजन बनानेको समय कहाँ रह जाता है।

'दिनेशचन्द्रजीको तो गिल्टियाँ आ गयी हैं।' पहुँचते ही किसीने सूचित किया। दो दिनसे संस्कृतके अध्यापक ज्वरमें पड़े थे। पण्डितजी उनकी दिनमें दो बार पूछ-ताछ कर आते थे। शीघ्रतासे उनके निवासपर पहुँचे। वहाँ उनके पिता आ गये थे और पुत्रको घर ले जानेकी व्यवस्था हो रही थी।

'भाई मदनमोहनजी!' बहुत दिनोंपर दिनेशजीके मुखसे ये शब्द निकले थे। 'मैंने जो नीच व्यवहार किया है, उसके लिये क्षमा करना।' जो कोई नहीं

समझा सकता था, रोग एवं मृत्यु-भयने उसे समझा दिया।

'भाई ! लज्जित न करो मुझे ।' पण्डितजी बैठ गये उनके सिरहाने । 'तुम स्वस्थ हो जाओ ! मैं हृदयसे चाहता हूँ, तुम अच्छे हो और यदि मेरे कोई सत्कर्म तुम्हारी सहायता कर सकें, तो तुम्हारे लिये मैं उन्हें अर्पित करता हूँ ।' तबतक वे वहीं रहे, जबतक दिनेशकी मोटर चली नहीं गयी वहाँसे ।

'मालिक आपका भला करे !' दिनेशजीके यहाँसे लौटकर वे इस बुढ़ियाके घर जानेको विवश हुए । क्या हुआ जो इसी मकानसे हड्डी और मांसके टुकड़े गिरते रहे हैं, उनके यहाँ । क्या हुआ जो स्थान सर्वथा दूषित, दुर्गन्धित एवं अशुद्ध है । वे कुछ थोड़ा-सा उपचार जानते हैं और एक वृद्धाका एकमात्र पुत्र रोग-शय्यापर पड़ा था । रात्रिभर रोगीके सिरहाने जागते हुए व्यतीत करके लौटे हैं वे । 'आपकी दुआसे बच्चेने आँखें खोल दी हैं और बुखार कम हो गया है ।' बेचारी बुढ़िया कृतज्ञताके आवेशमें पैरोंपर पड़ते समय भूल ही गयी कि पण्डितजी स्नान करके पूजापर बैठने जा रहे हैं ।

'उहूँ, तुम्हारी यह छोटी-सी माला हमारे गलेमें नहीं आवेगी । डाल दो इसे चरणोंपर !' दुबारा स्नान करके पण्डितजी आसनपर बैठे । यह क्या हो रहा है आज । उनके श्रीविग्रह तो इतने बड़े नहीं हैं। अहा ! ये ज्योतिर्मय अरुण चरण ! यह स्निग्ध धवल प्रकाश और यह मन्द-मुसकानसे वह नटखट कह क्या रहा है । हर्ष, अमर्ष, भय, उद्वेगपर विजय पाकर जो कर्तव्य एवं आर्तोंकी सेवामें अपनेको समर्पित कर चुका है, सर्वस्वरूप आज उसके सम्मुख नवजलधर श्यामके रूपमें घनीभूत हो गया था ।

शान्तिकी खोज

(लेखक—साधुवेषमें एक पथिक)

मनुष्य जबतक पूर्ण परात्पर परमात्मामें ही बुद्धि स्थिरकर उन्हींमें निवास नहीं करता, तबतक पूर्ण शान्ति अथवा परमानन्दका अनुभव कहीं नहीं कर सकता, उसे नित्य किसी-न-किसी अभावसे दुखी रहना पड़ता है । सभी प्रकारके अभाव—दुःखकी निवृत्ति और परमानन्दकी प्राप्तिका साधन सत्याधार परमात्माका पूर्ण योगानुभव है ।

परमानन्दस्वरूप परमात्माके योगानुभवसे सांसारिक पदार्थोंके संयोग-वियोगजनित सुख-दुःख मिट जाते हैं। संसारके सुख तथा दुःख ही तो प्राणीके बन्धनका कारण हैं । अब प्रश्न उठता है कि परमात्माका योगानुभव किस तरह हो, तो इसका साधन परमात्माके प्रति प्रगाढ़ भक्ति है । इस प्रकारकी भक्तिका साधन प्रगाढ़ ध्यान है । ध्यान करना नहीं पड़ता है स्वतः ही होता रहता है और वही सच्चा ध्यान है । इस तरहके ध्यानका साधन प्रगाढ़ प्रेम है, प्रेम होनेपर स्वतः ध्यान रहता है और प्रेम वह है जिसमें प्रेमपात्रके अतिरिक्त अन्य किसीके लिये हृदयमें स्थान न रहे, अपने तन-मनके सुख-दुःखका भी ध्यान न रहे । इस प्रकारके प्रेमका साधन परम प्रभु परमात्माकी नित्य कृपाका अनुभव है । सांसारिक सम्बन्धियोंमें जिसकी जितनी अधिक सुखमय कृपाका अनुभव होता है, उतना ही उससे प्रगाढ़ स्नेह होता है । विचार-दृष्टिसे देखनेपर पता चलता है कि परमात्माकी हमपर अनन्त कृपा है, वे तो हमारा कभी त्याग या तिरस्कार करते ही नहीं हैं, उन्हींमें रहकर उन्हींकी सत्तासे हम अपनी सभी प्रकारकी वासनाओं, कामनाओंकी पूर्ति करते हैं । नाना प्रकारके सुख भोगते हैं; अज्ञानवश अपने सुखकी प्राप्तिके लिये हम चाहे जितने पाप-अपराध करें फिर भी उन्हींसे नित्य जीवनकी शक्ति पाते हैं । इस तरहकी कृपाका जितना ही अधिक अनुभव होता है, उतना ही परम प्रभुके प्रति प्रेम बढ़ता जाता है । इस प्रकार कृपानुभवका साधन

परमाधार प्रभुका ज्ञान है । परमाधार परमात्माको जाननेका साधन सूक्ष्मबुद्धि और सद्गुरुदेवके प्रति सात्त्विक श्रद्धा है । कदाचित् किसीकी बुद्धि मन्द है तो ज्ञानी सत्पुरुषका समागम करते हुए भी अधिक कालतक ज्ञान नहीं होता । यदि किसीकी बुद्धि तीव्र है परंतु सद्गुरुके प्रति शुद्ध श्रद्धा नहीं है तो भी यथार्थ ज्ञान नहीं होता । श्रद्धाके अभावमें अपनी सीमित जानकारीका अभिमान ज्ञानके उच्च सोपानोंमें नहीं बढ़ने देता । शुद्ध ज्ञानके लिये ज्ञानीके प्रति श्रद्धा और तीव्र बुद्धि दोनोंका होना अत्यावश्यक है । इस प्रकारकी श्रद्धा तथा तीव्र बुद्धिका साधन संत-महात्माओंका सत्संग है । संगके अनुसार ही बुद्धि बनती है और बुद्धिके अनुसार ही न्यूनाधिक ज्ञान होता है ।

मनुष्यको अपने जन्मके साथ ही किसी-न-किसी तरहका संग अवश्य मिलता है, जिस प्रकारके भाव-विचार और भाषा-भूषावाले लोगोंका संग सुलभ रहता है उसी प्रकारके भाव-विचार, वेष-भूषा आदि मनुष्यमें दृढ़ हो जाते हैं । यदि किसीको जन्म लेनेके साथ ही यथार्थदर्शी ज्ञानी महात्माओंका संग सुलभ हो जाता है तो निस्सन्देह उसकी बुद्धिमें उन्हीं ज्ञानी पुरुषोंका ज्ञान बढ़ता जाता है । यह भी समझ लेना आवश्यक है कि संगका आशय शरीरमात्रकी समीपतासे ही नहीं है अपि तु शरीरके साथ इन्द्रिय-मन और बुद्धिके संयोगसे है, क्योंकि किसीका शरीर कदाचित् ज्ञानी पुरुषके समीप रहने लगे और मन-बुद्धि किसी अज्ञानी प्रपञ्चोपासक व्यक्तिमें लगे रहें तो उसके मन-बुद्धिपर प्रपञ्चीका ही प्रभाव पड़ेगा, जिसमें मन लगा होता है, जिसमें बुद्धि स्थिर होती है उसीका प्रभाव पड़ता है, उसीका ज्ञान होता है; इसीलिये ज्ञानी संत-महात्माओंका मनोयोगपूर्वक बुद्धिसे संग होना चाहिये । ऐसा होनेपर ही ज्ञानी पुरुषोंकी कृपासे बुद्धि सूक्ष्मातिसूक्ष्म होती जाती है और गुरुदेवके प्रति श्रद्धा भी शुद्ध और स्थिर होती है ।

ज्ञानी संत-महात्माओंके सुसंगका साधन सञ्चित पुण्य है, मन्दभागीको संत-समागम सुलभ नहीं होता, पाप संतोंके प्रति झुकने नहीं देते हैं । जब कभी पुण्य बन गये तो उन्हींके प्रभावसे संत-महात्माओंके प्रति आकर्षण होता है, उनका सुयोग सुलभ हो जाता है । पुण्य-प्राप्तिका साधन दूसरोंकी सेवा और हित है ।

सेवा करनेवालोंको सदा यह ध्यान रखना चाहिये कि यदि सेवा करते हुए दूसरोंको केवल बाहरसे सुखी करनेका ही पक्ष लिया जाता है और उसके हितका ध्यान नहीं रक्खा जाता है तो वह कभी-कभी पुण्य न होकर पाप एवं अपराध बन जाता है । इसलिये बुद्धिमान्को दूसरेके सुखका ही ध्यान न रखकर उसके हितका ध्यान रखना चाहिये । हितमूलक सेवाका परिणाम अत्यन्त सुखमय होता है । सुखकी अनुभूति इन्द्रिय-मन आदि निम्नक्षेत्रोंद्वारा होती है और हितका ज्ञान बुद्धि अर्थात् विज्ञानमय क्षेत्रसे होता है । पुण्यवान् होनेके लिये सेवारूप साधनमें यदि निर्बलता बाधक बने तो निर्बलता दूर करनेका साधन तप है । तपका अर्थ है—सभी प्रकारके कष्टोंको धैर्यपूर्वक सहते चलना । यदि कष्ट सहनेकी शक्ति न हो तो शक्ति-प्राप्तिका साधन संयम है । मर्यादाके भीतर आहार-विहारमें संयमसे देहमें कष्टसहिष्णुताकी शक्ति बढ़ती है । रूप, रस, गन्ध, स्पर्शादिमें संयम रखनेसे इन्द्रियोंमें शक्ति दौड़ती है, इसी प्रकार सङ्कल्प, विकल्प, वासना और इच्छामें संयम रखनेसे मनोबलकी वृद्धि होती है और विचारोंमें संयम रखनेसे बुद्धिमें योग्यता आती है । संयमीको अपनी शक्तिका कहीं भी दुरुपयोग नहीं करना चाहिये और यह तभी सम्भव है जब साधक सद्गुणोंसे सम्पन्न हो जाय । सद्गुणोंसे सम्पन्न होनेका साधन मोह-माया, मान, लोभ और क्रोधादि विकारोंका त्याग है । विकाररहित एवं निरभिमान होनेका साधन विनम्रतापूर्वक निर्विकार ज्ञानी पुरुषकी उपासना है । ज्ञानी पुरुषके निकटस्थ होनेपर ही साधक अपने दोषोंको देख पाता है और

अपने दोषोंको ही समस्त दुःखोंका कारण समझकर सदाके लिये उनका त्याग कर देता है। निर्दोष जीवन पूर्णानन्दकी प्राप्तिका साधन है। इस प्रकारका जीवन ही भगवान्‌को अति प्रिय होता है। निर्दोष जीवन अपने सर्वाङ्गोंसे पवित्र होनेके कारण ही भगवान्‌को पूर्णरूपसे ग्रहण करनेमें सफल होता है। वह निर्दोष शरीरसे सर्वरूपमय भगवान्‌के साकार रूपकी सेवा करता है, अपने निर्दोष नेत्रोंसे भगवान्‌की विश्व-व्याप्त सुन्दरताको देखता रहता है और उन्हींको अपना सर्वस्व मानकर निरन्तर मनन करते हुए परम संतुष्ट रहता है। इसी प्रकार अपनी निर्दोष बुद्धिसे नाम-रूपमय जगत्‌के पीछे रहनेवाली सर्वाधार भगवान्‌की सत्ताको जानते हुए निर्भर रहता है और अपने निर्दोष अहंसे भगवान्‌के अखण्ड चिन्मात्र स्वरूपका अनुभव करते हुए बिन्दुकी भाँति आनन्दसिन्धुमें तन्मय रहता है। और इस तरह अपूर्ण संसारमें अभावग्रस्त जीवात्मारूपी साधक अपने निर्दोष जीवनरूपी साधनके द्वारा पूर्णानन्दस्वरूप जगदाधार परमात्माको प्राप्त करता है। यही पूर्णसिद्धावस्था है, इसमें पहुँचे बिना संसारमें किसीको कहीं भी परम शान्ति नहीं मिल सकती।

पक्षी

[कहानी]

(लेखक—श्रीआत्मारामजी देवकर 'साहित्यमनीषी')

घोंसलेमें बैठा हुआ पक्षी मधुर स्वरसे गा रहा था। प्रातःकालकी भीनी-भीनी वायु चित्तको प्रसन्न कर रही थी। भगवान् भास्करका स्वागत करनेवाले सहयोगी पक्षियोंका कलरव आनन्दको बढ़ा रहा था। नैसर्गिक शोभा किसी अलक्षित प्रेम-राज्यका स्मरण दिला रही थी। अचानक एक अहेरी आकर घोंसलेके आगे खड़ा हो गया। उसने भैरव-हुंकार करके पक्षीको ललकारा और तत्काल धनुषपर बाण चढ़ा लिया। घोंसला कदलीपत्रकी नाईं काँप उठा। पक्षीने व्यग्र होकर कहा—'तुम कौन हो ?' अहेरीने कड़ककर उत्तर दिया—'मुझे लोग कराल काल कहते हैं।' पक्षीने प्रश्न किया—'तुम्हारे आनेका क्या कारण है ?' अहेरीने निःस्पृहतासे कहा—'मैं तुम्हारा अन्त करनेके लिये आया हूँ।' पक्षी मुसकराकर बोला—'मैंने क्या अपराध किया है ?' अहेरीने उत्तर दिया—'तुमने कर्म-सूत्र छिन्न नहीं किया; बस, यही तुम्हारा अपराध है।' पक्षी खिल-खिलाकर हँसने लगा और भौंहें चढ़ाकर बोला—'तुम महामूर्ख हो।' अहेरीने गर्जकर कहा—'यह उद्दण्डता ? तुम मुझे किस आधारपर मूर्ख बना रहे हो ?' पक्षीने उत्तर दिया—'न जानना ही मूर्खता है, जिसे जीवका धर्म कहते हैं।' अहेरीने तीव्र स्वरसे कहा—'मैं त्रिकालज्ञ हूँ, ऐसी कौन-सी बात है, जिसे मैं नहीं जान सकता ?' पक्षीने शान्तभावसे उत्तर दिया—'अच्छा, तो बतलाओ मैं कौन हूँ ?' अहेरी बोला—'पाञ्चभौतिक शरीरधारी संसारी।' पक्षीने अट्टहास किया और भर्त्सना करके कहा—'यही तुम्हारा अज्ञान है, तुम घोंसलेको मेरा रूप मान रहे हो, इसीसे मुझे पाञ्चभौतिक कहते हो। यह नहीं जानते कि तुम्हारे नष्ट हो जानेपर भी मैं बना रहूँगा।' अहेरीने साश्चर्य घोंसलेकी ओर देखकर उत्तर दिया—'अच्छा, तुम्हीं मुझे अपना वास्तविक रूप बतला दो।' पक्षीने आश्वस्त स्वरसे कहा—'मैं वही हूँ, जिसका भेद आजतक किसीको नहीं मिला, न मिल सकता है, वेदोंने जिसका अन्त नहीं पाया, जिसपर सुख-दुःखका प्रभाव नहीं पड़ता, जो काल, कर्म और स्वभावके बन्धनसे मुक्त है, जिसको नित्य, निरञ्जन एवं सच्चिदानन्द कहते हैं।' अहेरी लाल-लाल नेत्र दिखलाकर बोला—'इसका क्या प्रमाण है ?' पक्षीने दृढ़तासे कहा—'प्रत्यक्षके लिये प्रमाणकी क्या आवश्यकता है, करके देख लो।'

अहेरीने कानतक धनुष खींचकर बाण छोड़ दिया। घोंसला शाखाका आधार त्याग नीचे गिर पड़ा। अहेरीने देखा कि घास-फूसके अतिरिक्त उसमें अन्य कोई पार्थिव पदार्थ नहीं है। एक ही क्षणके अनन्तर अहेरीको स्पष्ट सुनायी दिया कि दूसरे घोंसलेमें बैठा हुआ वही पक्षी अत्यन्त ललित, आकर्षक एवं हर्षोत्फुल्ल स्वरसे स्वर्गीय गानकी तान छेड़ रहा है।

जीवनका दार्शनिक विश्लेषण और प्राच्यदर्शनके अनुसार उसकी व्याख्या

(लेखक—श्रीजयनारायणजी मल्लिक, एम्० ए०, साहित्याचार्य, साहित्यालङ्कार)

जीवन एक समष्टि है। शरीर और आत्मा—दोनोंके संयुक्त समूहका नाम जीवन है और दोनोंके वियोगका नाम मृत्यु है। बिना शरीरका आत्मा शक्तिहीन है तथा बिना आत्माका शरीर शवके रूपमें जड तथा चैतन्यहीन है। हम किसीके शरीरको जीवनके नामसे नहीं पुकार सकते और न उसके आत्माको ही। दोनोंकी समष्टिको ही हम जीवन कहते हैं। इसी प्रकार इस विशाल सृष्टिका भी एक शरीर है और एक इसका आत्मा है। सृष्टिकी अवस्थामें ये संयुक्त तथा प्रलयकी अवस्थामें वियुक्त रहते हैं। सृष्टिका शरीर प्रकृति और सृष्टिका आत्मा परब्रह्म या परमात्मा है। इन्हीं दोनों तत्त्वोंको हम चित् और अचित् (Nature and God), प्रकृति और पुरुष (Matter and Spirit), ब्रह्म और माया, आत्मा और शरीर (Soul and Body) तथा अन्य भिन्न-भिन्न नामोंसे पुकारते हैं। इन्हीं दोनों तत्त्वोंकी समष्टिका नाम संसार है। सृष्टिकी अवस्थामें ये अपने स्थूल तथा प्रलयकी अवस्थामें ये अपने सूक्ष्मरूपमें पाये जाते हैं। संसारमें कुछ लोगोंका ध्यान सृष्टिके शरीरतत्त्वकी ओर गया और अन्य लोगोंका ध्यान उसके आत्मतत्त्वकी ओर। पश्चिमने जीवन और सृष्टिके शरीरको ग्रहण किया, प्राचीने उसकी आत्माको। शरीर भौतिक और दृष्टिगोचर है, अतः इसमें Observation और Experiment (दृष्टि-गणना तथा जाँच) की गुंजाइश है। अतः यह विज्ञानका विषय है। आत्मतत्त्व स्थूल इन्द्रियोंसे नहीं देखा जा सकता। यह गम्भीर विचार तथा सूक्ष्म-बुद्धिका विषय है। अब इसको दर्शनने अपनाया। पश्चिम विज्ञानकी ओर झुका; पूर्व दर्शन-की ओर। पश्चिम सृष्टिके शरीर-तत्त्व—प्रकृतिका विश्लेषण करने लगा; पूर्व दार्शनिक सिद्धान्तके आधारपर आत्माका अन्वेषण करने लगा। पश्चिमकी कला और साहित्यपर भौतिक विज्ञानकी छाप है। वह भौतिक और शारीरिक सौन्दर्यकी ओर विशेष आकृष्ट हुआ है; प्राचीने शारीरिक सौन्दर्यके अन्तर्गत अध्यात्मवादकी एक रूपरेखा देखी। पश्चिमकी सर्वोत्कृष्ट नायिका—हेलेनमें हम शारीरिक सौन्दर्यकी प्रधानता पाते हैं, पर पूर्वकी सर्वोत्कृष्ट नायिका—सीताका सौन्दर्य उसकी पवित्र आत्माका दिव्य प्रतिबिम्बमात्र है। हेलेन हमारे सामने भोग्या नारीके रूपमें आती है, सीता परम पूज्या नारीके रूपमें। आज पश्चिम विज्ञानके द्वारा बाह्य प्रकृतिपर बहुत अंशोंमें विजय प्राप्त कर चुका है, पर आत्मतत्त्वकी अवहेलना करनेके कारण अन्तःप्रकृतिके ऊपर विजय प्राप्त करनेकी चेष्टा नहीं करनेके कारण पश्चिमके जीवनमें एक विराट् हाहाकार है—विलासिताकी लपट है—और स्वार्थ, हिंसा तथा द्वेषके कारण पारस्परिक संघर्ष है। पर पूर्व अध्यात्मवादकी धारामें इतनी दूरतक बह गया कि वह भौतिक विज्ञान तथा वास्तविक जीवनसे बहुत दूर चला गया था। (दुःख है आजकल वह भी अपने आदर्शको भूलकर पश्चिमका अन्धानुकरण करने लगा है!)

मैं कह चुका हूँ कि जीवन एक समष्टि है—शरीर और आत्मा दोनोंका समूह है। शुद्ध आत्मतत्त्व तो निर्विकार और सच्चिदानन्द है, पर शरीरके आवरणके अन्तर्गत ढँका हुआ आत्मा जीवात्माके रूपमें हमारे सामने आता है। आत्मा तीन शरीरों और पाँच कोशोंसे आच्छादित है—स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण या लिङ्ग शरीर तथा अन्नमय कोश, प्राणमय कोश, मनोमय कोश, विज्ञानमय कोश और आनन्द-मय कोश। स्थूल शरीर ही हमारा अन्नमय कोश है। स्थूल शरीरका निर्माण तथा वृद्धि खाये हुए भोजनसे होती है। हमारे सूक्ष्म शरीरमें प्राणमय कोश, मनोमय कोश तथा विज्ञानमय कोश स्थित हैं। हमारे कारण-शरीरमें आनन्दमय कोश है। मृत्युके समय स्थूल शरीरसे हमारा वियोग हो जाता है, पर सूक्ष्म शरीर मृत्युके बाद स्वर्ग, नरक एवं पुनर्जन्मकी अवस्थामें भी हमारे साथ रहता है। हमारे कर्मोंके संस्कार इसी सूक्ष्म शरीरपर अङ्कित रहते हैं और वही सूक्ष्म शरीर स्वर्ग, नरक, पुनर्जन्म तथा भव-बन्धनका कारण है। इसी सूक्ष्म शरीरसे छुटकारा पाना मोक्ष है। कारण-शरीर तो जीवात्माके साथ सदैव रहता है। गीतामें एक श्लोक है—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥

अर्थात् सृष्टिकी रचना प्रकृतिके आठ अवयवोंसे हुई है। भूमि, जल, अग्नि, वायु और आकाश (Ether)—इन पाँच स्थूल तत्त्वोंसे स्थूल शरीरका निर्माण तथा मन, बुद्धि और अहङ्कार—इन तीन सूक्ष्म तत्त्वोंसे सूक्ष्म शरीरका निर्माण हुआ है। हमारे असंख्य पुनर्जन्मों तथा योनि-परिवर्तनोंका कारण यही मन-बुद्धि-अहङ्कारसे बना हुआ सूक्ष्म शरीर है।

हमारे कर्मोंकी छाप इसी सूक्ष्म शरीरपर पड़ती है। हमारा वर्तमान जीवन हमारे अतीत जीवनका फल और हमारे भविष्य-जीवनका बीज है। जिस प्रकार एक छोटे-से वट-वृक्षमें सम्पूर्ण वट-वृक्षका विस्तार अन्तर्हित है, उसी प्रकार सूक्ष्म शरीरमें भी सारे स्थूल शरीरका विस्तार और विकास अन्तर्हित है। अनुकूल परिस्थितिमें यह विस्तार विकसित एवं प्रत्यक्ष होने लगता है। यह आश्चर्यकी बात है कि हमारे पूर्वजन्मका कर्म किस प्रकार हमारे वर्तमान जीवनको आन्दोलित तथा प्रभावित करता है। साधारणतः कर्म हम-लोग अपने स्थूल शरीरसे करते हैं और मृत्युके समय हमारा स्थूल शरीर नष्ट हो जाता है, फिर स्थूल शरीरसे किया हुआ कर्म क्यों नहीं नष्ट होता और किस प्रकार यह प्रारब्ध तथा संस्कारके रूपमें दूसरे जन्मपर भी प्रभाव डालता है? कर्म स्वतः न तो अच्छा है न बुरा। कर्म किस ध्येयसे किया जाता है, उसका लक्ष्य (Motive) क्या है, उसीपर कर्मका स्वरूप निर्भर करता है। जब हमलोग कोई कर्म करते हैं तो ज्ञानेन्द्रियाँ तथा स्नायु-जालकी ज्ञान-तन्तुएँ इसकी खबर हमारे मस्तिष्कमें ले जाती हैं। हमारे बृहत् मस्तिष्क (Cerebrum) में कुछ कम्पन होता है—मानसिक जगत्में कुछ उथल-पुथल हो जाती है—और सूक्ष्म-शरीर-पर एक गहरी छाप पड़ जाती है, कर्मका संस्कार अङ्कित हो जाता है। यही संस्कार हमारा प्रारब्ध बन जाता है। स्थूल शरीरके नष्ट होनेपर भी सूक्ष्म शरीर तो हमारे साथ रहता है और यही सूक्ष्म शरीर अपने पूर्व-जन्मका कर्म-संस्कार प्रवृत्तिके रूपमें ले आता है, एवं प्रवृत्ति (Instincts) अज्ञातरूपसे हमारे जीवनका पथ-प्रदर्शन करती है। यदि कर्म करनेपर भी हमारे सूक्ष्म शरीरमें कोई लहर—कोई तरङ्ग उत्पन्न न हो, हमारे मानसिक जगत्में कोई उथल-पुथल न हो, तो कर्म न तो हमारे लिये बन्धनका कारण हो सकता है और न पाप या पुण्य उत्पन्न कर सकता है। उदाहरणके लिये—किसी नग्न युवतीका दर्शन या उसके वक्षःस्थलका स्पर्श पाप है; क्योंकि इन कर्मोंसे मनमें एक विकार उत्पन्न हो जाता है और सूक्ष्म शरीरपर एक छाप पड़ जाती है। पर यदि किसी नवजात शिशुके सम्मुख कोई युवती नग्न हो जाय, या किसी सोये हुए व्यक्तिका हाथ भूलसे किसी युवतीके शरीरका स्पर्श कर ले, तो कोई पापका भागी नहीं होता, क्योंकि किसीके सूक्ष्म शरीरमें विकार उत्पन्न नहीं होता। एक व्यक्ति किसी नवयुवतीकी अङ्गुलिका स्पर्श भी यदि काम-भावनासे कर ले, तो वह पापका भागी हो जाता है, पर यदि उसी नवयुवतीके वक्षःस्थलमें कोई घाव हो जाय और कोई चिकित्सक चिकित्साके हेतु उसके वक्षःस्थलका स्पर्श करे, तो वह पापका भागी नहीं होता। क्योंकि पहलेके सूक्ष्म शरीरमें कामवासनाकी लहर उत्पन्न होती है और दूसरेके सूक्ष्म शरीरमें शुद्ध कर्तव्य-प्रेरणाकी।

मैं कह चुका हूँ कि हमारा सूक्ष्म शरीर मन, बुद्धि, अहङ्कार—इन तीन तत्त्वोंसे निर्मित है। पुनर्जन्मके सारे खेल इन्हीं तीन तत्त्वोंकी न्यूनाधिक मात्राओंपर निर्भर हैं। अहङ्कार पहला तत्त्व है और इसीसे हमें प्रथम-प्रथम स्वार्थ, ममत्व (अपनापन) तथा अहं (मैं) की भावना आती है। निर्जीव और सजीवमें यही अन्तर है कि निर्जीवमें अहंकी भावना नहीं रहती और सजीवमें रहती है। इसी अहङ्कार-तत्त्वसे हमें भोजनकी तथा विकास और वृद्धिकी प्रेरणा मिलती है। वृक्ष-योनिमें केवल अहङ्कार-तत्त्वकी प्रधानता रहती है।

सूक्ष्म शरीरका दूसरा तत्त्व मनस्तत्त्व है। मनस्तत्त्वसे प्रवृत्ति (Instincts), इच्छा (Will); सुख-दुःखका अनुभव (Capacity of feeling pleasure and pain), Memory), विचार (Thinking) तथा कल्पना (Imagination) की प्रेरणा मिलती है। पशु-योनिमें अहङ्कार और मन—दो तत्त्वोंकी प्रधानता रहती है। भोजन और विकास, जो अहङ्कार-तत्त्वके प्रधान कार्य हैं, वृक्ष-योनि और पशु-योनिमें समान रूपसे पाये जाते हैं, पर मनस्तत्त्वके कार्य, इच्छा, अनुभूति, स्मृति इत्यादि प्रधानतः पशुओंमें पाये जाते हैं, वृक्षोंमें नहीं।

सूक्ष्म शरीरका तीसरा तत्त्व बुद्धि है। बुद्धि विवेककी जननी है और कर्तव्याकर्तव्यका निर्णय करती है। मनुष्य-योनिमें सम्पूर्ण सूक्ष्म शरीर—मन, बुद्धि, अहङ्कार—तीनों विकसित रूपमें पाये जाते हैं। पशुओंको कर्म करनेकी प्रेरणा प्रवृत्तिसे मिलती है, मनुष्योंको बुद्धि-तत्त्व और विवेकसे। पशु यह नहीं समझते कि समाजके कल्याणके लिये—जीवनको उन्नत बनानेके लिये सेवा, प्रेम और त्यागकी कितनी आवश्यकता है। यह मानवताकी पुकार है। पशुता तो प्रवृत्ति-हीका दूसरा नाम है। यदि हम अपनी प्रवृत्तिके अनुसार कार्य करते हैं, तो हममें पशुताकी प्रधानता है और यदि हम कर्तव्यकी प्रेरणासे विवेककी कसौटीपर कसकर कर्म करते हैं, तो वह पशुतापर मानवताकी विजय है।

जीवात्मा जिस किसी योनिमें क्यों न रहे, पर वह एक सूक्ष्म शरीरके आवरणके अन्तर्गत बंद है।
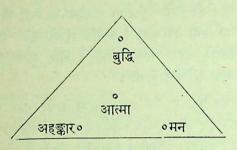
जीवनका विकासवाद हमें जीवनके सोपानकी ओर संकेत करता है। जीवनके मुख्यतः पाँच स्तर हैं। दो तो हम (मानव) पार कर चुके, अभी तीसरे स्तरमें वर्तमान हैं, किंतु दो उन्नत स्तर हमारे आगे हैं।
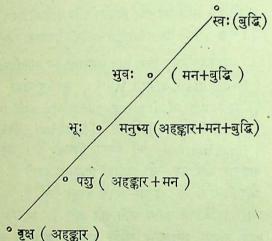
अभी हम जीवनके विकासके मध्यमें हैं। जीवनके प्रथम सोपान—वृक्षयोनिमें अहंकार जाग्रत् और मन तथा बुद्धि—ये दोनों न्यूनाधिक मात्रामें सुषुप्त रहते हैं। जीवनके द्वितीय सोपान—पशुयोनिमें बुद्धि-तत्त्व न्यूनाधिक मात्रामें सुषुप्त एवं मन तथा अहङ्कार जगे रहते हैं। मनुष्य-योनिमें तीनों तत्त्व जगे रहते हैं। अभी हम भूलोकके स्तरमें हैं। दो उन्नत स्तर—भुवर्लोक और स्वर्लोक हमसे आगे हैं। भुवर्लोकमें अहङ्कार सो जायगा, केवल बुद्धि और मन जगे रहेंगे। स्वर्लोकमें मन और अहङ्कार—दोनों सो जायँगे, केवल बुद्धि-तत्त्वकी प्रधानता रहेगी। जीवनके विकासमें वृक्ष-योनि निम्नतम है और देव-योनि उच्चतम। अहङ्कारमें तमकी प्रधानता है, मनमें रजकी और बुद्धिमें सत्त्वकी। मन, बुद्धि, अहङ्कार—इन्हीं तीन तत्त्वोंमें सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण—ये तीनों गुण वर्तमान रहते हैं। अहङ्कारमें प्राणमय कोशकी झलक मिलती है, मनस्तत्त्वमें मनोमय कोशकी और बुद्धिमें विज्ञानमय कोशकी। वृक्ष-योनिमें तमकी प्रधानता है, पशुयोनिमें रज और तमकी, मनुष्य-योनिमें सत्त्व, रज, तम—तीनोंकी; भुवर्लोकके स्तरमें, जो मनुष्य-योनि और देव-योनि दोनोंके बीचका जीवन है, सत्त्व और रजकी; तथा देव-योनिमें केवल सत्त्वकी प्रधानता है। गायत्री इसी भुवर्लोक और स्वर्लोककी ओर संकेत करती है। 'ॐ भूर्भुवः स्वः' के द्वारा वह हमें याद दिलाती है कि जीवनके नीचेके सोपानोंकी ओर मत देखो। जीवनके ऊपरके दो स्तरोंकी ओर देखो। गायत्रीका संकेत पशुताके ऊपर मानवताकी विजय है। पशुतामें प्रवृत्तिकी प्रधानता है, मानवतामें विवेककी। गायत्री हमें कहती है कि प्रवृत्तिकी धारामें—सुख-भोगकी लालसामें अपनेको मत बहने दो, किन्तु विवेकके द्वारा अपने कर्तव्यका निश्चय करो।

वृक्ष-योनिसे लेकर देव-योनितक—स्वर्लोकतक सूक्ष्म शरीरका क्रीडास्थल है—मायाका राज्य है। सूक्ष्म शरीरमें चाहे बुद्धिकी प्रधानता हो या अहङ्कारकी—चाहे देव-योनि हो या वृक्षयोनि—पर आत्मा जबतक सूक्ष्म शरीरमें है, तबतक वह कर्म-संस्कारके अधीन—प्रारब्धके अधीन है और बद्ध है। जब वह सूक्ष्म शरीरसे—मन, बुद्धि अहङ्कारसे—सत्त्व, रज, तमसे पूर्णतया स्वतन्त्र हो जाता है, तभी वह मुक्त कहलाता है। इसी बातकी ओर गीताके ये श्लोक संकेत करते हैं—

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
(९ । २१)

अथवा—

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
(८ । १६)

मोक्ष-मार्ग किधर है, और सूक्ष्म शरीरसे छुटकारा हम कैसे पायँगे? सूक्ष्म शरीरका विकास कर्म-संस्कारसे होता है। हम जो अच्छे या बुरे कर्म करते हैं, वे अपनी छाप—अपना प्रभाव सूक्ष्म शरीरपर रख देते हैं। इसीका नाम आसक्ति है। यदि हम अनासक्त और निर्लिप्त होकर केवल कर्तव्यकी प्रेरणासे कार्य करें, यदि कर्म करनेपर भी हमारे सूक्ष्म शरीरमें-हमारे अन्तःकरणमें किसी प्रकारकी हलचल न हो, तो उस कर्मसे सूक्ष्म शरीरका विकास नहीं होगा और उस कर्मके संस्कारसे हमारी प्रवृत्ति भी नहीं बनेगी। यदि आगे हमारे सूक्ष्म शरीरका विकास रुक गया तो प्रारब्ध भोगनेके पश्चात् हम मुक्त हो जायँगे। गीतामें कहा है कि—

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥
(१८ । १७)

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
(४ । १४)

इसीका नाम कर्मयोग है । पर कर्मकाण्ड इससे भिन्न है । कर्मकाण्ड सकाम है, कर्मयोग निष्काम । कर्मकाण्ड हमें स्वर्ग दे सकता है, पर हमारे सूक्ष्म शरीरका विकास नहीं रोक सकता । शारीरिक कर्म अच्छा भी हो, पर यदि मनको वह पवित्र नहीं बना सकता, तो उससे विशेष लाभ नहीं होता ।

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।

इसी उपनिषद्-वाक्यको लक्ष्य करके तुलसीदासजीने लिखा है—

माधव ! मोह-फाँस क्यों टूटै ।
बाहिर कोटि उपाय करिय, अभ्यंतर ग्रंथि न छूटै ॥
घृतपूरन कराह अंतरगत ससि-प्रतिबिंब दिखावै ।
ईंधन अनल लगाय कलप सत, औटत नास न पावै ॥

यदि हम अपने अन्तःकरणको निर्मल नहीं कर सकते, यदि हम कर्मेन्द्रियोंको विषय-भोगसे रोककर मनमें उनका चिन्तन करते रहते हैं तो हम मोक्ष-मार्गकी ओर अग्रसर नहीं हो सकते ।

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥
(गीता ३ । ६)

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥
(गीता २ । ५९)

मैं कह चुका हूँ कि जीवन शरीर और आत्मा—दोनोंकी समष्टि है । किसीने जीवनमें—सृष्टिमें शरीरको देखा, किसीने आत्माको । शरीर स्थूल है, इसलिये कर्मका विषय है; आत्मा सूक्ष्म है, इसलिये ज्ञानका विषय है । शरीरमें हम मूर्त्त सुन्दरताकी झलक देखते हैं, इसलिये शारीरिक कर्मसे रस और आनन्दकी सृष्टि होती है । आत्माका ज्ञान शुष्क और नीरस विचारका विषय है । वेदके पूर्वभाग संहिता और ब्राह्मणने कर्मको अपनाया । वेदके उत्तरभाग—उपनिषद् और आरण्यकने ज्ञानको लिया । जैमिनिने पूर्वमीमांसामें कर्मकी मीमांसा की तथा बादरायणने उत्तरमीमांसा या वेदान्त-सूत्रमें ज्ञानकी । माता कर्मकी प्रतीक है, पिता ज्ञानका । शाक्तधर्मने सृष्टिके शरीर, सृष्टिकी जननी प्रकृति देवीकी अनेक रूपोंमें, अनेक प्रकारोंमें अर्चना की । निवृत्तिमार्गी विद्वानोंने सृष्टिको, प्रकृतिको तथा संसारको माया एवं मिथ्या समझकर केवल सृष्टिके आत्मा ब्रह्मको खोजने तथा समझनेकी चेष्टा की । शाक्तों तथा मीमांसकोंका कर्म-मार्ग रहा, वेदान्तियोंका तथा निवृत्तिमार्गियोंका ज्ञानमार्ग । गीतामें कहा है—

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥
(३ । ३)

कर्म और ज्ञान दोनों मोक्षके मार्ग हैं, पर दोनोंमेंसे प्रत्येक एकाङ्गी है, अतः अपूर्ण है । मानव न तो केवल शरीर है और न केवल आत्मा, पर दोनोंकी समष्टि है । न तो हम माताकी अवहेलना कर सकते, न पिताकी । न तो हम कर्मको छोड़ सकते, न ज्ञानको । न हम संसारका तिरस्कार कर सकते हैं, न परमात्माका । श्रीरामानुजाचार्यने अपने श्रीभाष्यमें कर्मयोग और ज्ञानयोग दोनोंका संमिश्रण कर उसपर भक्तियोगका आवरण दे दिया है । रामानुजका विशिष्टाद्वैत-वेदान्त पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा—कर्म और ज्ञान दोनोंपर अवलम्बित है । अपने मतमें उन्होंने श्रीमन्नारायणके रूपमें भगवती और भगवान्—दोनोंकी उपासना की है । श्रीशङ्कराचार्यका निर्गुण निर्विशेष ब्रह्म, श्रीरामानुजाचार्यका चिदचिद्विशिष्ट सगुण ब्रह्म हो जाता है । पर सगुण ब्रह्मकी उपासनाकी अपेक्षा निर्गुण ब्रह्मज्ञान अधिक कष्टकर है ।

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
(गीता १२ । ५)

श्रीशङ्कराचार्यने संसारको मिथ्या और भ्रममात्र समझा है, अतः उनकी दृष्टिमें स्त्री, पुत्र, धन, शरीर सभी भ्रम हैं । इसलिये शरीरको स्वस्थ तथा नीरोग रखना, द्रव्योपार्जन करना, सन्तानोत्पत्ति इत्यादि सभी कार्य भ्रम मान लिये गये । और उन्हें तभीतक करना चाहिये जबतक ब्रह्मज्ञान हो जाय । पर मनोविज्ञान बतलाता है कि प्रवृत्तिकी धाराको एकाएक हम नहीं रोक सकते । हमारे अनेक जन्मोंके कर्म-संस्कार हमारी प्रवृत्तिमें एकत्रित हो गये हैं । कर्मेन्द्रियोंको बलपूर्वक हम रोक सकते हैं, पर प्रवृत्तिकी छाप जो हमारे सूक्ष्म शरीरपर अङ्कित है, उसको हम सर्वथा नहीं मिटा सकते । पर प्रवृत्तिकी धारामें निश्चेष्ट होकर बहते रहना तो पशुता है । प्रवृत्तिकी धारा बड़े वेगसे ऊपरसे नीचेकी ओर बह रही है—

मानवतासे पशुताकी ओर जा रही है। यदि हम अपनेको इस धारामें छोड़ देंगे तो यह हमें पशुताके निम्नतम स्तरमें ले जायगी। यदि हम इस धाराको जबर्दस्ती रोकनेकी चेष्टा करें तो हम सहसा सफल नहीं हो सकते। प्रवृत्तिकी धारा इतनी प्रबल है कि रोकनेकी चेष्टा किये जानेपर वह अपना मार्ग छोड़कर और भी कण्टकाकीर्ण मार्गसे बहने लगेगी। पहला मार्ग अनुचित है, तो दूसरा असम्भव। पहलेकी झलक हमें बार्हस्पत्य-दर्शनमें मिलती है, दूसरेकी श्रीशङ्कराचार्यके ज्ञानमार्गमें। चार्वाकके भौतिकवादने प्रवृत्ति-पथपर अबाध निरङ्कुश होकर चलनेका आदेश दिया। उन्होंने यहाँतक कह डाला कि—

यावज्जीवेत् सुखं जीवेद् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।

तथा—

मातृयोनिं परित्यज्य विहरेत् सर्वयोनिषु।

उन्होंने कामिनी और काञ्चनके बीच रसना तथा उपस्थको मुक्त होकर विचरनेकी अनुमति दे दी। इधर निरे निवृत्तिवादने विवाह, भोजन तथा गार्हस्थ्य-धर्मतकको अनुचित ठहराकर, संसारको मिथ्या बताकर, संसारको तथा प्रवृत्तिको सर्वथा त्याग करनेका आदेश किया। श्रीरामानुजाचार्य आदिने बतलाया कि न तो हम निरी प्रवृत्तिकी धारामें बह सकते, क्योंकि वह पशुताकी ओर ले जाती है; और न हम प्रवृत्तिको सर्वथा रोक ही सकते हैं, क्योंकि प्रवृत्ति प्रकृतिका सूक्ष्मरूप है और प्रकृतिके साथ सङ्घर्षमें हम विजय प्राप्त नहीं कर सकते। हमें प्रवृत्तिके साथ चलना चाहिये, पर प्रवृत्तिको परिमार्जित कर लेना चाहिये (We should sublimate the instincts)। भोजन तथा अन्य भोग हम नहीं छोड़ सकते, पर विषय-भोगकी लालसासे नहीं—मौज उड़ानेके खयालसे नहीं, किंतु कर्तव्यकी प्रेरणासे विवेककी आज्ञासे हमें ये कार्य करने चाहिये। स्वादिष्ठ भोजन हम कर सकते हैं, पर शरीर-रक्षाके निमित्त। स्त्री-सहवास हम कर सकते हैं, पर समाजके कल्याणकी दृष्टिसे, विवाहिता पत्नीके साथ और वह भी नियम तथा संयमके साथ केवल सन्तानोत्पत्तिके लिये ही। द्रव्योपार्जन हम कर सकते हैं, पर कर्तव्यकी दृष्टिसे और वह भी सदुपयोगके लिये। गार्हस्थ्य जीवनके सारे कर्म हम कर सकते हैं, पर निष्काम निर्लिप्त अनासक्त होकर केवल कर्तव्यकी प्रेरणासे—केवल भगवत्प्रीत्यर्थ। रामानुजके मतमें कर्मयोग और ज्ञानयोग एक ही मोक्षमार्गके दो दृष्टिकोण हैं। गीता कहती है—

'सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।'

....

'एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥'

(गीता ५। ४-५)

प्रवृत्तिको सर्वथा रोकनेकी चेष्टा करते हुए प्रकृतिको शत्रु बनाकर हम मोक्षमार्गमें जितनी दूरतक अग्रसर हो सकते हैं, उससे कहीं आगे हम प्रकृतिको मित्र बनाकर जा सकते हैं; क्योंकि प्रकृतिके साथ सङ्घर्ष करनेमें हमारी जितनी शक्तिका अपव्यय होगा, उतनी शक्तिके सदुपयोगसे हम परमात्माके और भी समीप पहुँच सकते हैं।

मैं कह चुका हूँ कि कर्तव्यका पथ-प्रदर्शक बुद्धि-तत्त्व या विवेक है। प्रवृत्ति तो केवल इच्छाकी जननी है। जब हम कोई कर्म करते हैं, तब बुद्धि-तत्त्व उसका पथ-प्रदर्शन करता है, वह यह बतलाता है कि कर्मको किस रास्तेसे किस रूपमें चलना चाहिये। प्रवृत्ति जो पूर्वकर्मोंके संस्कारको लेकर बलवती हो गयी है, कर्मको अपनी ओर खींचती है और बुद्धि-तत्त्व यदि विकसित तथा बलवान् नहीं रहा, तो कर्म-प्रवृत्तिका अनुसरण करने लगता है। जिन योनियोंमें बुद्धि-तत्त्व विकसित नहीं रहता, उन योनियोंके कर्मके लिये जीव उत्तरदायी नहीं होता। पशु प्रवृत्तिसे प्रेरित होकर कर्म करते हैं, न कि विवेकके द्वारा विचारकर। वृक्षयोनि और पशुयोनि भोगयोनि हैं और मनुष्य कर्मयोनि। वृक्ष और पशु अपने पूर्वजन्मके किये हुए कर्मके फलको प्रवृत्तिसे प्रेरित होकर भोगते रहते हैं। वे नवीन कर्म-संस्कारका निर्माण नहीं करते। मनुष्य अपने कर्मके लिये जिम्मेवार है, क्योंकि उसके पास बुद्धि-तत्त्व है। मनुष्योंमें भी शिशु, पागल और सोये हुए व्यक्ति अपने कर्मके लिये उत्तरदायी नहीं होते; क्योंकि शिशुका बुद्धि-तत्त्व पूर्ण विकसित नहीं रहता, पागलका निश्चेष्ट रहता है और सोये हुएका सुषुप्त। प्रवृत्तिका स्थान मनस्तत्त्वमें है। अतः शिशुमें, पागलमें और सोये हुए व्यक्तियोंमें भी प्रवृत्ति काम करती रहती है।

संसार प्रत्येक क्षण परिवर्तित होता रहता है। जीवन चञ्चल है, पर हम इस बातकी जाँच कर सकते हैं कि हम किधर जा रहे हैं। यदि हमारे जीवनमें अभिमान, जडता, अकर्मण्यता तथा स्वार्थकी मात्रा अधिक है, यदि हममें तमोगुणकी प्रधानता है, तो इसके बाद हम वृक्षयोनिमें जायँगे। यदि हमारे जीवनमें प्रवृत्ति, भोगलिप्सा तथा कामनाकी मात्रा अधिक है। यदि हममें रजोगुणकी प्रधानता

है, तो हम पशु-योनिमें जा रहे हैं। यदि हममें प्रवृत्ति और भोगलिप्साके साथ-साथ कर्तव्यज्ञान और विवेक भी है, तो हम फिर मनुष्ययोनिमें आ रहे हैं। यदि पशुताके ऊपर मानवताकी—विवेककी पूरी विजय हो गयी, यदि हमारे सारे कर्म केवल कर्तव्यकी भावनासे प्रेरित होते हैं, तो हम जीवनके उच्च सोपान—भुवर्लोक और स्वर्लोककी ओर बढ़ते जाते हैं। हम जीवनके कितने ऊँचे सोपानपर चले आये, हम स्वर्गके कितने समीप पहुँच गये, यह उतनी प्रधान बात नहीं है, पर हमारा मुख किधर है, यही सबसे प्रधान बात है। जीवनके निम्नतम सोपानपरका व्यक्ति भी यदि स्वर्गकी ओर मुँह किये हुए है, तो वह एक-न-एक दिन स्वर्ग अवश्य पहुँचेगा, पर स्वर्गके समीप पहुँचा हुआ व्यक्ति भी यदि नीचेकी ओर मुँह करके चलेगा, तो वह कभी-न-कभी पतनके गर्त्तमें जा गिरेगा!

शरीर-विज्ञान (Physiology) शरीरके जिन-जिन अवयवोंका ज्ञान देता है, वे सभी अन्नमय कोशके अन्तर्गत हैं; क्योंकि उनका विकास खाये हुए अन्नसे होता है, पर स्नायु-संस्थान और मस्तिष्क (Nervous system and Brain) अन्नमय कोशमें रहनेपर भी अन्नमय कोश और प्राणमय कोश—दोनोंका सन्धिस्थल है। यह संवेदनाका केन्द्र है और यहींसे प्राणमय कोश अपना कार्य प्रारम्भ करता है। जब प्रारब्धका क्षय हो जाता है और सञ्चित कर्म ज्ञानयोगकी अग्निमें जल जाता है तथा क्रियमाण कर्म अनासक्त कर्मयोगके कारण नवीन संस्कारका निर्माण ही नहीं करता, तब सूक्ष्म शरीर क्षीण और निर्जीव-सा हो जाता है। भक्तियोग और प्रपत्तियोग सूक्ष्म शरीरके बचे हुए अंशको भी छिन्न-भिन्न कर देता है। उस समय जब प्राणमय कोश सुषुम्णा नाड़ी (Central nervous system) के द्वारा सुषुम्णाद्वार (Medula) पर पहुँचता है, उस समय शरीर निश्चेष्ट हो जाता है और प्राणमय कोशकी समाप्ति हो जाती है। लघु मस्तिष्क (Cerebellum) में मनोमय कोशका भी अन्त हो जाता है तथा बृहत् मस्तिष्क (Cerebrum) के ब्रह्मरन्ध्रके समीप विज्ञानमय कोश तथा सूक्ष्म शरीरका पूर्ण अन्त हो जाता है। वह आत्मा अपने कारण-शरीर तथा आनन्दमय कोशमें आगे बढ़ता है। सूक्ष्म शरीरके नष्ट हो जानेसे पुनर्जन्म तथा स्वर्ग-नरकका कोई झंझट नहीं रहता। वह आत्मा छान्दोग्य तथा बृहदारण्यकमें कहे हुए अर्चिरादि मार्गपर अग्रसर होता है। हमें याद रखना चाहिये कि जीवात्मा प्रकाश-कण है और परमात्मा प्रकाशपुञ्ज। भौतिक विज्ञानका नियम है कि बड़ा पदार्थ छोटे पदार्थको अपनी ओर खींचता है। यदि छोटा पदार्थ किसी अन्य पदार्थसे बँधा न हो। परमात्मा भी जीवात्माको अपनी ओर खींचता है, यदि वह सूक्ष्म शरीरसे बँधा न हो। जब प्रकाशकण प्रकाशसमूहसे मिलनेके लिये प्रस्थान करता है तो प्रकाशमार्ग इसमें सहायक होता है और अन्धकार बाधक। गीता कहती है—

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः॥

(८। २४)

इसीलिये अर्चिरादि मार्गको मोक्षमार्ग कहा गया है। ईशावास्योपनिषद्के अन्तमें इसी मार्गसे जानेकी प्रार्थना की गयी है। रामानुजने इसे सद्योमुक्ति और शङ्करने इसे क्रममुक्ति बतलाया है।

आर्यजाति सदासे प्रकाशकी आराधना और प्रकाशका अन्वेषण करती आयी है। उपनिषद्वाक्य है कि—

असतो मा सद्गमय, मृत्योर्मामृतं गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय।

अन्धकार, अहङ्कार और पशुता—अज्ञान और तमोगुणका प्रतीक है, प्रकाश ज्ञान और मानवताका। गायत्री आर्यजातिकी चिरन्तन प्रार्थना है। गायत्री कहती है कि—

ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्।

हम सवितादेवके उस पवित्र प्रकाशका ध्यान करते हैं जो हमारी बुद्धिको प्रकाशित करे। यहाँ सविताका अर्थ कोई-कोई सूर्य करते हैं, पर सविताका वास्तविक अर्थ परब्रह्म परमात्मा है।

ध्येयः सदा सवितृमण्डलमध्यवर्त्ती नारायणः।

परमात्मा ही सृष्टिका मूल कारण है।

जन्माद्यस्य यतः। (ब्रह्मसूत्र)

अथवा—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते।

प्राणि-विद्या (Biology) बतलाती है कि सूर्यहीसे हममें जीवन आता है—सूर्यकी (Ultra-Violate) किरणोंसे हमें जीवनीशक्ति मिलती है। पर आकाशमें—इस विराट् प्रकृतिके वक्षःस्थलपर असंख्य सूर्य और असंख्य सौर-मण्डल

हैं । सूर्यके अन्तस्तलमें जो प्रकाश और जीवनीशक्ति है, उसका स्रोत परमात्मा ही है । फिर सूर्यकी किरण हमारे शरीरको प्रकाशित कर सकती है, पर हमारी बुद्धिको प्रकाशित नहीं कर सकती । परमात्माका प्रकाश हमारे अन्तस्तलमें पैठकर हमारी बुद्धिको उज्ज्वल और ज्योतिर्मय बना सकता है । फिर यदि हमारा अन्तःकरण पवित्र हो गया, हमारी बुद्धि प्रकाशित हो गयी, पशुता और अज्ञान हमसे दूर हो गये, तब तो हमारा जीवन ही सफल हो गया । इसीलिये गायत्रीकी इतनी महत्ता है ।

आधुनिक विज्ञान बच्चेके शरीरको और स्वभावको पिता-माता तथा वंशपरम्परा (Heredity) पर निर्भर बतलाता है । बात है भी सही, पर इससे पुनर्जन्मका सिद्धान्त खण्डित नहीं होता । जिस प्रकार वटका बीज मिट्टीमें जाकर अपने अनुकूल रस खींचकर एक विशाल वटवृक्षमें परिणत होता है और धानका बीज अपने अनुकूल रस खींचकर धानके रूपमें, उसी प्रकार सूक्ष्म शरीर अपने संस्कार और प्रवृत्तिके अनुरूप अनुकूल योनि तथा अनुकूल पिता-माता और वंश-परम्परा खोज लेता है और तदनुसार अपने स्थूल शरीर और स्वभावका विकास करता है । सूक्ष्म शरीर तथा प्राणमय कोश प्रथम-प्रथम पिताके गर्भमें वीर्य-कीटके रूपमें अन्नमय कोश ग्रहण करता है और वर्षों वहाँ रहकर फिर माताके गर्भमें प्रवेश करता है । इस बीचमें वह अपने सूक्ष्म शरीरके संस्कार-के अनुकूल पिता-मातासे स्वभाव, विचारधारा और जीवन-शैली ग्रहण करने जाता है । जन्म लेनेके बाद फिर मित्रोंसे और समाजसे अपने सूक्ष्म शरीरके अनुकूल संस्कार ग्रहण करने जाता है ।

अब हम एक बात कहकर इस लेखको समाप्त करते हैं । परमात्मा एक है और वही इस विराट् सृष्टिके स्वामी तथा सञ्चालक हैं । शक्ति, शील, सौन्दर्यके द्वारा वे सृष्टि-के सारे कार्य सम्पन्न करते हैं । सौन्दर्यगुणके सहारे ब्रह्मा-रूपसे सृष्टि, शीलगुणके सहारे विष्णुरूपसे पालन और शक्ति-गुणके सहारे रुद्ररूपसे संहार करते हैं । पाञ्चरात्रकी भाषामें जिसे संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध कहा गया है, पुराणकी भाषामें उसे ही ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र कहा गया है । उसी परमात्मा-का अंश जीवात्मा है—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।

(गीता १५ । ७)

और प्रत्येक प्राणीके शरीरमें इसी जीवात्माका निवास-स्थान है । इसलिये प्रत्येक प्राणीका शरीर परमात्माका मन्दिर है । किसीके साथ द्वेष रखना, किसीकी हिंसा तथा किसीके साथ अन्याय या बुराई करना, किसीको किसी रूपमें कष्ट पहुँचाना परमात्माकी अवहेलना है । सबके साथ प्रेम, न्याय तथा उपकार करना सर्वोत्कृष्ट कर्तव्य है । यही उपनिषद्की शिक्षा है ।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत् ॥

वही बचेगा

तुझपर काल अचानक टूटैगो ।
गाफिल मत हो, लवा बाज ज्यों हँसी खेलमें लूटैगो ॥
कब आवैगो कौन राहसे प्रान कौन बिधि छूटैगो ।
यह नहिं जानि परैगो बीचहिं यह तन-दर्पन फूटैगो ॥
तब न बचावैगो कोई जब काल दंड सिर कूटैगो ।
'हरीचंद' एक वही बचैगो जो हरिपद-रस घूँटैगो ॥

—भारतेन्दु

ा २३

मित्रोंसे
ग्रहण

करते
स्वामी
सृष्टि-
ब्रह्मा-
शक्ति-
भाषामें
पुराणकी
रमात्मा-

। ७)
निवास-
मन्दिर
किसीके
में कष्ट
, न्याय
निषद्की

।
॥

चातक चतुर राम स्याम घनके

(लेखक—पं० श्रीरामकिङ्करजी उपाध्याय)

नमस्कार है उस महाभाग चातकको, जिसपर केवल प्रभुके गुणानुवाद ही गानेको दृढप्रतिज्ञ महाकविकी लेखनी भी मचल उठी । इतना ही नहीं, उसके मनमें स्वयं भी 'राम-घनस्याम तुलसी पपीहा' बन जानेकी चाह मुखरित हो उठी ।

चातक पक्षी जो ठहरा; बिना पक्षके प्रेम-निष्ठा सम्भव भी तो नहीं है । अन्य पक्षी तो केवल साधारण अर्थमें ही पक्षी (पङ्खवाले) हैं, पर चातक तो हृदयसे भी पक्षी है । इसीसे तो महाकविने अन्य पक्षियोंसे तुलना करते हुए एक चातककी ही प्रशंसा की—

> मुख मीठे मानस मलिन, कोकिल मोर चकोर ।
> सुजस धवल चातक नवल, रह्यो भुवन भरि तोर ॥

यों तो पक्षियोंमें मराल प्रत्येक दृष्टिसे प्रशंसित है, फिर भी उसके प्रेममें त्यागकी वह कमनीय कान्ति कहाँ, जो चातकमें है । वह तो मानस-सरका प्रेमी है, जहाँ आनन्द और सुखका ही साम्राज्य है । मराल ! तुम प्रत्येक दृष्टिसे प्रशंसित हो, पर ध्यान रहे, अनन्यप्रेमी चातककी तुलना तुम नहीं कर सकोगे ।

> बास बेष बोलनि चलनि, मानस मंजु मराल ।
> तुलसी चातक प्रेम की, कीरति बिसद बिसाल ॥

चातक घनश्यामको देखकर सदा 'पिव-पिव' पुकारा करता है, इससे कहीं भ्रम न हो जाय कि उसकी यह पुकार जलके लिये है । वह जलका प्यासा होता तो सरिता-सरोवरकी क्या कमी थी । वह भी अन्य पक्षियोंकी भाँति चाहे जहाँ जल पीकर प्रसन्न और तृप्त हो जाता—

> डोलत बिपुल बिहंग बन पिअत पोखरनि बारि ।
> सुजस धवल चातक नवल तुही भुवन दस चारि ॥

पर वह तो प्रेमका ही प्यासा है—

> चातक तुलसी के मते, स्वातिहिं पियै न पानि ।
> प्रेमतृषा बाढ़ति भली, घटे घटैगी आनि ॥

वह तो स्वाती-मेघके दर्शनका ही प्रेमी है । इसीलिये वह यदि स्वातीकी बूँदें भी तिरछी गिरती हैं तो उन्हें पानेके लिये अपने मुखको टेढ़ा नहीं करता । दर्शन करते समय यदि एक-आध स्नेह-बिन्दु उसके मुखमें गिर जाय तो वही उसके लिये बहुत है । दर्शनसे वञ्चित होकर उसे स्वातीका जल भी नहीं चाहिये—

> तुलसी चातक ही फबै, मान राखिबो प्रेम ।
> बक्र बुंद लखि स्वातिहू, निदर निबाहत नेम ॥

धन्य है चातक तुम्हारी अनोखी प्रेम-तृषाको !

चातक वृद्ध हो चला; मृत्यु क्रमशः निकट आ रही है। पर उसे इसकी चिन्ता कहाँ ! वह तो बार-बार पुत्रोंको पास बैठाकर दोहराता है । पुत्र ! कहीं तुम मेरे मरनेके बाद स्वाति-जल छोड़कर दूसरे जलसे तर्पण न कर देना—

> तुलसी चातक देत सिख, सुतहिं बारहीं बार ।
> तात ! न तर्पन कीजियो, बिना बारिधर धार ॥

पर ऐसा अनन्यप्रेमी अपनी वृद्धावस्थासे न मरा । मर जाता तो प्रेमका यह दिव्य आदर्श उपस्थित करता । बधिकका बाण चातकके शरीरको क्षत-विक्षत करके उसे गङ्गाजीमें गिरा देता है । पर वह गङ्गाजी, जिसे पानेके लिये मृत्युके समय महामुनि भी तरसा करते हैं, आज चातकके लिये परम सुलभ होनेपर भी उसकी प्रेमभरी दृष्टिमें हेय—तुच्छ जँचती हैं। इसलिये वह चोंचको ऊपर उठाकर उसे बंद कर लेता है कि जिससे गङ्गा-जल मुखमें प्रविष्ट न हो जाय । बधिकका बाण शरीरमें छेद कर सका, पर प्रेम-पटमें नहीं—

> बध्यो बधिक परयो पुन्य जल उबरि उठाई चोंच ।
> तुलसी चातक प्रेम पट मरतहुँ लगी न खोंच ॥

पक्षी चातक-जैसा प्रेम प्रभुसे जबतक नहीं हो जाता, तबतक प्रेमका दम भरना व्यर्थ है ।

एक ऐसे ही चातकका चरित्र-चित्रण मानसमें भी श्रीगोस्वामीजीने अपनी चमत्कारपूर्ण लेखनीसे किया है ।

आइये, हम उस मूर्तिमान् प्रेम श्रीलक्ष्मणजीके दर्शन कर अपनेको कृतकृत्य करें । गोस्वामीजीका तो वह परम धन ही है—

> भावते भरतके, सुमित्रा-सीताके दुलारे
> चातक चतुर राम स्याम घनके ।
> बल्लभ उरमिलाके, सुलभ सनेहबस,
> धनी धन तुलसीसे निरधनके ॥

मानसमें ऐसे महान् पात्रोंका अभाव नहीं, जो महान् मर्यादापालक, धर्मधुरीण और प्रभुके प्रिय चरणसेवक हैं ।

जिनका चरित्र एक पूर्ण मानवका चरित्र है । जो पूर्णताकी कसौटीपर पूर्ण रीतिसे खरे उतरते हैं । जिनका वैराग्य, जिनकी तपस्या अद्वितीय है । जिनका निर्मल यश चन्द्रमाके सदृश हृदयके समस्त पाप-तापोंका शमन करनेवाला और असमर्थ-से-असमर्थके लिये भी आशाका उज्ज्वल सन्देश देनेवाला है । जिनकी यश-प्रभासे सारा मानस प्रकाशित हो रहा है । जिनके हृदयकी भक्ति, ज्ञान और कर्मकी समन्वयात्मक त्रिवेणीमें स्नान कर महामुनियोंने भी अपनेको कृतार्थ अनुभव किया । अधिक क्या, जिनकी यश-गाथा गाते-गाते भगवान् श्रीराघवेन्द्र भी कभी नहीं थकते ।

पर इस परम प्रेमीमें यदि आप उपर्युक्त गुण ढूँढ़ने जायँगे तो सम्भव है कि आपको निराश होना पड़े । यहाँ तो प्राप्त होगा, केवल चातकका-सा अनन्य प्रेम । न यहाँ धर्म है, न ज्ञान ही । यह तो एक 'शिशु'की कथा है । जो एकको छोड़ 'सब भाँति अयाना' है । पर फिर भी मैं स्मरण करा दूँ--

बास देष बोलनि चलनि मानस मंजु मराल ।
तुलसी चातक प्रेमकी कीरति बिसद बिसाल ॥

यद्यपि इस महाप्रेमीका यश लोकदृष्टिसे न तो उतना आदर्श ही है, और न निर्मल ही । पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि उस यशके विना प्रभुकी वह गरिमामयी गुण-गाथा, जिससे मानसका कण-कण ओतप्रोत है और जिसकी निर्मलता असन्दिग्ध है, न तो निर्मल ही रह पाती और न तो प्रकाशित ही हो पाती । ध्वज-वस्त्रके सौन्दर्य, रंग और ऊँचाईको देखकर भले ही अधिकांश व्यक्तियोंकी दृष्टि दण्डपर न पड़े, पर ध्वजको उठाने और उसको ऊँचे आकाशपर ले जाकर लोगोंकी दृष्टि आकर्षित करनेका सारा श्रेय तो उस दण्डको है! इसे भला, दृष्टिहीनको छोड़कर कौन अस्वीकार करेगा । इसीसे तो सूक्ष्मद्रष्टा कविने उसकी वन्दनामें दण्डकी उपमा देकर उसके महत्त्वकी ओर सङ्केत किया—

बंदउँ लछिमन पद जलजाता । सीतल सुभग भगत सुख दाता ॥
रघुपति कीरति बिमल पताका । दंड समान भयउ जस जाका ॥
सेष सहस्रसीस जग कारन । जो अवतरेउ भूमि भय टारन ॥
सदा सो सानुकूल रह मो पर । कृपासिंधु सौमित्रि गुनाकर ॥

देवताओंको अमरत्व प्रदान करनेवाला यद्यपि अमृत ही माना जाता है । पर कौन कह सकता है कि परम कृपालु शिवके विना वह अपना कार्य करनेमें समर्थ होता अथवा नहीं । यहाँ मेरा अभिप्राय है श्रीशङ्करजीके गरल-पानसे । भूतभावन भगवान् शिवने यदि कृपा करके उस भीषण गरलका पान न कर लिया होता—जिससे समस्त सचराचर जला जा रहा था, तो अमृत पान करके अमर होनेके लिये शेष ही कौन रहता ! यद्यपि यह सत्य है कि अमरताका सारा श्रेय अमृतको ही प्राप्त हुआ और भगवान् शिवका कण्ठ नील हो गया, पर क्या वह नीलिमा शिव-सौन्दर्यका दूषण है ? स्वीकार करना पड़ता है कि कदापि नहीं; वह नीलिमा तो उनके सौन्दर्यका भूषण है । 'नीलकण्ठ' उनका पवित्र नाम है, जिसका स्मरण होते ही उनके इस अकारण-कारुण्यसे श्रद्धावनत हो यह कहना ही पड़ता है कि—

जरत सकल सुर बृंद बिषम गरल जेहिं पान किय ।
तेहि न भजसि मन मंद को कृपाल संकर सरिस ॥

एवं--

चलत्कुंडलं भ्रू सुनेत्रं विशालं । प्रसन्नाननं नीलकंठं दयालं ॥

यदि एक बार विष पान कर लेनेसे शङ्करकी कृपा अतुलनीय हो जाती है तो जिसने 'मानस'में न जाने कितनी बार 'अयश-विष'का पान किया, उसके लिये कौन-सा शब्द प्रयुक्त किया जाय ? निश्चित रूपसे शब्द उसकी महत्ताको व्यक्त करनेमें असमर्थ हैं । प्रेम और प्रेमी दोनों ही अनिर्वचनीय हैं।

प्रायः आलोचकोंने इनके चरित्रमें असहिष्णुता, क्रोध और उद्दण्डतासम्बन्धी आरोप लगाये हैं ।

आइये, इस दृष्टिसे हम इनके चरित्रपर एक दृष्टि डालें । जनकपुरका धनुष-यज्ञस्थल, जहाँपर आये हुए हैं देश-देशके भूपति । मानवकी तो कथा ही क्या, देव-दानव भी लोभका संवरण न कर सके; क्योंकि वहाँ 'त्रिभुवन जय समेत बैदेही' जो प्राप्त होनेवाली थी । यद्यपि उसे प्राप्त करना सरल न था क्योंकि उसके साथ जुड़ी हुई थी धनुर्भङ्गकी प्रतिज्ञा । और वह धनु भी था महाकाल रुद्रका पिनाक । यथा—

सोइ पुरारि कोदंडु कठोरा । राज समाज आजु जोइ तोरा ।
त्रिभुवन जय समेत बैदेही । बिनहिं बिचार बरइ हठि तेही ॥

भगवान् श्रीराघवेन्द्र भी सानुज महर्षि विश्वामित्रजीके साथ रङ्गभूमिमें पधारे । महाराज जनकजीने बड़े सत्कारपूर्वक एक विशाल मञ्चपर तीनों मूर्तियोंको ले जाकर बैठा दिया । इसके बाद प्रारम्भ हुआ राजाओंद्वारा धनुष तोड़नेका प्रयत्न । पर तोड़नेकी तो बात ही क्या, सहस्रों राजा मिलकर भी उसे अपनी जगहसे तिलभर न डिगा सके । वह वैसे ही अडिग रहा, जैसे पतिव्रता नारीका मन कामी पुरुषके सहस्रों उपलोभनोंको ठुकराकर अटल रहता है ।

डगइ न संभु सरासनु कैसें। कामी बचन सती मनु जैसें॥

लज्जित नरेश सिर नीचा करके अपने-अपने आसनोंपर बैठ गये, पर श्रीजनकजीकी अवस्था तो उस रेशमके कीटकी-सी हो गयी जो अपने बनाये हुए बन्धनमें आप ही जकड़ गया हो।

एक ओर था प्राणप्रिय पुत्रीका नित्य कौमार्य और दूसरी ओर थी सत्यनिष्ठा। धर्मभीरु महाराज अन्तमें निर्णय कर लेते हैं कि सत्य-रक्षाके लिये यह पुत्रीके कुमारी रहनेका दुःसह कष्ट भी सहन करना ही होगा। पर जगत्में वीरोंका अभाव देखकर उनकी व्याकुलता अपनी चरम सीमापर पहुँच गयी, बिना कुछ कहे न रहा गया उनसे और वे उद्वेगभरी वाणीमें बोल पड़े—

अब जनि कोउ माखै भट मानी। बीर बिहीन मही मैं जानी॥
तजहु आस निज निज गृह जाहू। लिखा न बिधि बैदेहि बिबाहू॥
जौं जनतेउँ बिनु भट भुबि भाई। तौ पनु करि होतेउँ न हँसाई॥
सुकृतु जाइ जौं पनु परिहरऊँ। कुअँरि कुआरि रहउ का करऊँ॥

योगिराज जनककी यह अवस्था देख नगरनिवासी नर-नारियोंके नेत्रोंमें आँसू भर आये!

चारों ओर घोर निराशाका साम्राज्य छा गया। और यह सब हुआ सर्वाभयप्रद वीरेन्द्रमुकुटमणि भगवान् श्रीराघवेन्द्रकी उपस्थितिमें! अवश्य ही इस समय प्रभुका विरद उस शोक-सरितामें बहा जा रहा था, पर गुणसागर प्रभु न बोले। बोलते भी कैसे! उनका एक गुण नम्रता जो है! अपने मुखसे, अपनी वीरताका वर्णन भला मर्यादापुरुषोत्तम कैसे करते? सभी किंकर्तव्यविमूढ़ थे; बस, वहाँ एक ही महात्यागी था, जिसका न कोई स्वतन्त्र अस्तित्व था और न कोई विरद। उसे केवल एक चिन्ता थी—प्रभुके यशकी रक्षा कैसे हो। और सब कुछ शोक-सरितामें बह जाता, पर प्रभुके विरदको शोक-सरितामें बहते वह महात्यागी कैसे देख सकता था! वह जानता था, उसकी रक्षाके लिये अपनी नम्रता और मर्यादाका बलिदान करना ही होगा। पर प्रेम तो सर्वस्व बलिदान चाहता है। लक्ष्मण-जैसे बलिदानीके लिये यह कुछ कठिन नहीं था, और उन्होंने वही किया भी। वे बोले—खूब बोले। आत्मप्रशंसा भी करनी पड़ी। पर किसके लिये? उन्होंने जो कुछ कहा, उसमें जनकजीकी अवहेलना थी और मर्यादाका अभाव भी था। पर एक वस्तु उसमें आदिसे अन्ततक ओतप्रोत थी और वह थी श्रीलक्ष्मणजी-का प्रभुके प्रति अगाध स्नेह। उन्होंने जो कुछ कहा—उसे गोस्वामीजीके शब्दोंमें ही पढ़िये—

कहि न सकत रघुबीर डर लगे बचन जनु बान।
नाइ राम पद कमल सिरु बोले गिरा प्रमान॥
रघुबंसिन्ह महुँ जहँ कोउ होई। तेहिं समाज अस कहइ न कोई॥
कही जनक जसि अनुचित बानी। बिद्यमान रघुकुल मनि जानी॥
सुनहु भानुकुल-पंकज-भानू। कहउँ सुभाउ न कछु अभिमानू॥
जौं तुम्हारि अनुसासन पावौं। कंदुक इव ब्रह्मांड उठावौं॥
काचे घट जिमि डारौं फोरी। सकउँ मेरु मूलक जिमि तोरी॥
तव प्रताप महिमा भगवाना। को बापुरो पिनाक पुराना॥
नाथ जानि अस आयसु होऊ। कौतुकु करौं बिलोकिअ सोऊ॥
कमल नाल जिमि चाप चढ़ावौं। जोजन सत प्रमान लै धावौं॥
तोरौं छत्रक दंड जिमि तव प्रताप बल नाथ।
जौं न करौं प्रभु पद सपथ कर न धरौं धनु भाथ॥

'सुनहु भानुकुल-पंकज-भानू' में तो मानो कविने श्रीलक्ष्मणजीके हृदयको ही खोलकर रख दिया। वह महाव्रती चतुर चातक तो महाज्ञानी जनकसे भी सीधे बात करनेमें अपमानका अनुभव करता है। उत्तर देनेमें भी सजल घनश्याम-रामको छोड़ और दूसरेकी ओर कैसे देखे? धन्य है महाप्रेमी चातक तुम्हारे इस मानको—

चितव कि चातक मेघ तजि कबहुँ दूसरी ओर।

यद्यपि श्रीजनकजीका भाव प्रभुको अपमानित करनेका नहीं था। पर राम-प्रेमोन्मत्त श्रीलखनलालजी अनजानमें भी प्रभुका अनादर सहन करें—यह असम्भव है।

महात्यागी लक्ष्मणजीके इस अद्भुत प्रेममय त्यागको देख प्रभुके युगल कमल-नयन प्रेमाश्रुओंसे भर जाते हैं। उस समय उन्होंने जिस प्रेम और कृतज्ञताभरी दृष्टिसे लक्ष्मणको देखा, उसका वर्णन लेखनीका विषय नहीं। प्रेमके कारण प्रभुका कण्ठ रुद्ध हो गया। सङ्केतसे ही उन्होंने लक्ष्मणको बैठा लिया। उनके हाथोंको अपने श्रीकर-कमलोंमें लेकर भक्तवत्सल भगवान् अपनी सुधि-बुधि खो बैठे। विश्वके इतिहासमें न मिलेगा ऐसा चातक, न दूसरा घनश्याम। पर ऋणी कौन है पयद या पपीहा (चातक)? गोस्वामीजी तो पयदको ही ऋणी बताते हैं—

को को न ज्यायो जगतमें, जीवन दायक पानि।
भयो कनौड़ो जाचकहि पयद प्रेम पहिचानि॥

(२)

पूर्व-प्रसङ्गसे भी अधिक आक्षेप किया जाता है परशुराम-संवादके समय किये गये लक्ष्मणजीके भाषणपर। प्रभुके द्वारा

धनुर्भङ्ग हो जानेपर श्रीकिशोरीजीके साथ ही त्रिभुवनव्यापी यश भी प्राप्त हुआ। फिर भी आये हुए राजाओंमें क्षोभकी एक लहर-सी फैल गयी और उन्होंने युद्ध करने तथा श्रीजानकीजीको छीन लेनेके लिये योजना बनाना प्रारम्भ कर दिया—

लेहु छड़ाइ सीय कह कोऊ। धरि बाँधहु नृप बालक दोऊ॥
तोरें धनुषु चाड़ नहिं सरई। जीवत हमहि कुअँरि को बरई॥

उसी समय आगमन होता है 'भृगुकुल-कमल-पतंग' श्रीपरशुरामजीका। क्रोधके कारण जिनका मुख और नेत्र रक्त-वर्ण हो रहे हैं। उन्हें देखते ही वे अहंमन्य राजा, जो अभी-अभी युद्ध और वीरताकी बड़ी-बड़ी बातें सोच रहे थे, काँपने लग जाते हैं और अपने नामके साथ बापका नाम बता-बताकर परशुरामजीके पाद-पद्मोंमें प्रणत होते हैं—

पितु समेत कहि कहि निज नामा। लगे करन सब दंड प्रनामा॥

इसके पश्चात् उभय रघुकुलवीर भी प्रेमपूर्वक परशुरामजीको प्रणाम करते हैं। प्रभुका कोटि-कन्दर्प-कमनीय सौन्दर्य देखकर कुछ क्षणोंके लिये परशुरामजी देहस्मृति भूल जाते हैं—

रामहि चितइ रहे थकि लोचन। रूप अपार मार मद मोचन॥

फिर स्मरण आता है अपने आनेकी आवश्यकताका। और तब उबल पड़ते हैं सारे राजसमाजपर; किंतु क्रोध तो उन्हें उससे भी अधिक आ रहा था महाराज जनकपर, क्योंकि वे ही यहाँ इस काण्डके मूल कारण थे। क्रुद्ध स्वरमें उन्होंने प्रश्न किया—

अति रिस बोले बचन कठोरा। कहु जड़ जनक धनुष कै तोरा॥
बेगि देखाउ मूढ़ न त आजू। उलटउँ महि जहँ लगि तव राजू॥

योगिराज जनकका भी सारा ज्ञान साथ छोड़ बैठा। भयके मारे उनके मुखसे कोई उत्तर नहीं निकला।

अति डरु उतरु देत नृपु नाहीं। ………………॥

कुटिल राजाओंके हृदयमें प्रसन्नताकी किरण चमक उठी। पर जनकपुरवासी स्त्री-पुरुषोंकी दशा तो बड़ी ही दयनीय हो रही थी। करुणामय भगवान् श्रीराघवेन्द्र लोगोंको भयभीत देख स्वयं आगे बढ़े। 'बिनय सील करुना गुन सागर' होनेके नाते उनकी वाणी भी उनके अनुरूप ही थी। बड़ी नम्रतासे प्रभुने कहा कि—'धनुष तोड़नेवाला कोई आपका दास ही होगा—

नाथ संभुधनु भंजनिहारा। होइहि केउ एक दास तुम्हारा॥

पर इसका फल तो उलटा ही हुआ। परशुरामजीने क्रुद्ध स्वरमें धनुष तोड़नेवालेको सहस्रबाहुके समान अक्षम्य शत्रुओंकी श्रेणीमें घोषित कर दिया—

सुनहु राम जेहिं सिवधनु तोरा। सहसबाहु सम सो रिपु मोरा॥
सो बिलगाउ बिहाइ समाजा। न त मारे जैहहिं सब राजा॥

महाधीर श्रीलक्ष्मणजी सारी घटनाका अध्ययन बड़े ही ध्यानके साथ कर रहे थे। उनकी दूरदर्शिनी दृष्टिने भविष्यका भलीभाँति दर्शन कर लिया। वे तो देख रहे थे—प्रभुकी नम्रताका इनके ऊपर क्या प्रभाव पड़ता है? नम्रताका यह उलटा प्रभाव तथा श्रीकोशलेन्द्रके प्रति इन शब्दोंका प्रयोग उन्हें असह्य-सा हो गया। पर इसका कारण केवल इतना ही न था, अपि तु उससे भी एक महत्त्वपूर्ण बात थी, जिसपर श्रीलक्ष्मणजीकी दृष्टि पड़ चुकी थी। उन्होंने सोचा—'यदि नम्रतासे परशुरामजी शान्त भी हो जायँ तो इससे लोगोंमें कुछ भ्रान्ति फैलनेकी ही सम्भावना है, विशेषकर वे 'कुटिल राजा' जो प्रभुका अगाध बाहु-बल देखकर भी प्रभावित नहीं हुए थे, युद्ध करनेके लिये पुनः विशेषरूपसे उत्साहित होंगे; क्योंकि उन्हें तो प्रभुकी नम्रतामें भी उनका भयभीत हो जाना ही भान होगा। वे समझेंगे कि परशुरामजीने भयभीत रामपर क्षमा कर दी। इससे उनमें तामसी आग्रह उत्पन्न होगा और तब होगा एक भयानक संग्राम। संग्राममें विजय तो निश्चित प्रभुकी ही होगी। तथापि प्रभुके पवित्र पाणिग्रहणके इस पुनीत अवसरपर ऐसे बीभत्स काण्डका होना सर्वथा अशोभन है। इससे तो प्रभुके विरदकी वृद्धि नहीं होगी। पर प्रभुमें तो उग्रताकी आशा व्यर्थ है, फिर नम्र बने रहनेमें उनकी शोभा भी जो है।'

फिर क्या था, अपना कर्तव्य निर्णय करनेमें उन्हें देर न लगी। उन्होंने टेढ़ी और उग्रतासे भरी हुई जिस व्यङ्ग्यवाणीका परशुरामजीके प्रति प्रयोग किया, उससे दो बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य हुए। प्रथम तो—राजाओंमें यह भ्रम फैल सका कि श्रीराघवेन्द्रकी नम्रता भयमूलक है। दूसरे श्रीराघवेन्द्रकी तो यश-चन्द्रिका इससे चौगुनी चमक उठी। लोगोंने यह अनुभव किया कि बड़े भाईमें बड़प्पनके अनुरूप गम्भीरता भी है। वीरताके साथ नम्रताके इस अद्भुत संयोगको लोगोंने मणिकाञ्चनयोग समझा। इस प्रकार श्रीलक्ष्मणजी द्वारा दिखायी गयी असहिष्णुतासे ही प्रभुकी सहिष्णुताका मूल्य बढ़ गया। लोगोंने 'छोट कुमार खोट बड़ भारी' कहकर जिस उपाधिसे लक्ष्मणको पुरस्कृत किया, वह सच्चे प्रेमीके लिये दूषण नहीं, भूषण है। इस प्रकार श्रीलक्ष्मणजीने अ

कार्यके द्वारा शत्रु-मित्र दोनोंके मनोंमें अपने प्रति नहीं, अपितु श्रीराघवेन्द्रके प्रति महान् आदर और श्रद्धाका भाव भर दिया। अपने यशका बलिदान करके प्रभुकी यश-पताकाको उठाये रखना इस अनन्यप्रेमीका ही कार्य था। आलोचक आलोचना करते समय यह भूल जाते हैं कि श्रीलक्ष्मणजीके जीवनका एकमात्र लक्ष्य है—'प्रभुकी विरद-रक्षा', अपनी यश-रक्षा नहीं। क्या वे चाहते हैं कि वे भी नम्र बनकर एक महायुद्धको आमन्त्रण दे देते। प्रभुकी यशःपताकाको झुक जाने देते! यदि नहीं, तो फिर श्रीलक्ष्मण-जैसे मूर्तिमान् प्रेमको आवेशशील बताना कहाँतक युक्तियुक्त है? इसीसे तो गोस्वामीजी उनकी वन्दना करते हुए उनमें सबसे पहला गुण शीतलताका ही बताते हैं—

बंदउँ लछिमन पद जल जाता। सीतल सुभग भगत सुख दाता॥

नमस्कार है महाव्रती लक्ष्मण तुमको और तुम्हारे बलिदानमय जीवनको! लोग यदि तुम्हें 'खोट' कहते हैं तो यह तो तुम्हारी नाट्य-कुशलताका ही सूचक है। सच्चा प्रेमी प्रदर्शन चाहता ही कब है। इस प्रकार 'रघुबर बाल पतङ्ग'की तुलनामें आये हुए 'भृगुकुल कमल पतङ्ग'के लिये श्रीलक्ष्मणजी अस्ताचल सिद्ध हुए और प्रभु प्रतिद्वन्द्वितारहित सूर्यकी तरह चमकते ही रहे! (क्रमशः)

कामके पत्र

(१)

बुराईका कारण अपने ही अंदर खोजिये

आपका कृपापत्र मिला। उत्तरमें कुछ विलम्ब हो गया है, इसके लिये क्षमा करें। बात यह है कि हम-लोग दूसरोंके अच्छे-बुरे कार्योंपर, दूसरोंकी उन्नति-अवनति-पर और दूसरोंकी सद्गति-दुर्गतिपर विचार करनेमें और उन-पर अपना मत देनेमें जितना समय नष्ट करते हैं, उतना समय यदि श्रीभगवान्‌के नाम-लीला आदिके चिन्तनमें और उनके गुण-कीर्तनमें लगावें तो हमें बहुत बड़ा लाभ हो सकता है। जहाँ दूसरोंके गुण-दोष-चिन्तन और कथनमें राग-द्वेष, स्तुति-निन्दा होती है और मनमें वैसे ही संस्कार अङ्कित होते हैं, वहाँ यदि हम श्रीभगवान्‌के दिव्य कल्याणमय गुणगणका स्मरण-कीर्तन करें तो हमारे अंदर छिपे हुए पाप नष्ट हो जाते हैं। अन्तः-करण शुद्ध होता है और भगवान्‌की भक्ति प्राप्त होती है। पर हम इतने मूढ़ हैं कि हमें परचर्चा बहुत मीठी लगती है और इसीसे हम अपने जीवनके अमूल्य समय-को व्यर्थ ही इसमें लगाकर विविध भाँतिकी असत् भावनाओं, कुविचारों एवं दुर्गुणोंको अपने अंदर भरते रहते हैं!

इससे एक बड़ी हानि यह होती है कि हमें अपने दोषोंकी ओर देखनेका समय नहीं मिलता और अंदर-ही-अंदर दोष बढ़ते जाते हैं। असलमें बुद्धिमान् मनुष्य तो वही है कि जो अपने उत्थान-पतनकी ओर दृष्टि रखकर नित्य-निरन्तर सावधानीके साथ पतनके कारणों-को दूर करता रहता है।

आपको मैं क्या परामर्श दूँ। मुझे तो ऐसा लगता है कि जबतक आप अपनी बुराइयोंकी ओर ध्यान देकर उनको मिटानेका पूर्ण प्रयत्न नहीं करेंगे, तबतक अपने प्रतिद्वन्द्वियोंसे अच्छाईकी आशा करना आपके लिये निराशाका ही कारण होगा। मनुष्य अपनी बुराई नहीं देखता, इसीसे उसे दूसरोंमें सारी बुराईका विस्तार दीखता है। और जितनी बुराई दीखती है, उतना ही द्वेष बढ़ता है तथा जितना द्वेष बढ़ता है, उतनी ही बुराई भी अधिक दीखने लगती है। यह नियम है कि जिसमें राग होता है, उसके दोष भी गुणके रूपमें दिखायी देते हैं और जिसके प्रति द्वेष होता है, उसके गुण भी दोष दीखते हैं। मनुष्यको दूसरेकी बुराईका कारण अपनेमें खोजना चाहिये। सचाई और गहराईसे देखनेपर तुरंत ऐसा कोई दोष अपनेमें दीख जायगा, जो दूसरेमें बुराई उत्पन्न करनेमें हेतु है।

आप पढ़े-लिखे हैं, समझदार हैं । सोचिये, अपनी ओर देखिये । यदि मेरी बात मानें तो श्रीमद्भगवद्गीता-के १६वें अध्यायको ध्यानसे पढ़िये और उसमें वर्णित आसुरी-सम्पदाके लक्षणोंसे अपने आचरणोंकी तुलना कीजिये । आपको पता लगेगा कि आपमें दोष हैं कि नहीं । और यदि दोष हों तो फिर, उनको दूर करनेका प्रयत्न करना आपका कर्तव्य ही होगा ।

इसीके साथ-साथ आप नित्य कुछ समयतक भगवान्-के मङ्गलमय नामका जप कीजिये और इस मानसिक अशान्तिके कारणका सच्चा सन्धान बतलाने और उसे दूर करनेके लिये दयासिन्धु भगवान्से कातर प्रार्थना कीजिये । आप विश्वास रखिये, आपकी कातर प्रार्थना अकारण सुहृद् भगवान् अवश्य सुनेंगे और आपको मानस शान्ति प्राप्त हो, इसकी समुचित व्यवस्था कर देंगे । आपको ऐसी आँख देंगे जिससे आप अशान्तिके कारण-को, जो आपके ही अंदर वर्तमान है, स्पष्ट देख सकेंगे और साथ ही ऐसी शक्ति देंगे, जिससे आप उसका अनायास ही विनाश भी कर सकेंगे । उस कारणके मिटते ही आप निर्मल शान्तिका अनुभव करेंगे ।

(२)

मान-बड़ाईसे बचिये

आपका पत्र मिला था । इधर काम-काज बहुत अधिक रहा, इससे समयपर उत्तर नहीं दिया जा सका । मनुष्य-में यह एक बड़ी दुर्बलता है कि वह अपनी बड़ाई सुनकर प्रसन्न हो जाता है और अपनी वास्तविक स्थिति-को भूलकर अपने सम्बन्धमें लोगोंकी मिथ्या उच्च धारणा-को स्वीकार कर लेता है । आप सोचिये तो, किसी कंगालको यदि दूसरा कोई पुरुष या समाजके बहुसंख्यक लोग भी बड़ा धनी मानकर उसकी प्रशंसा करने लगें तो इससे क्या वह धनी हो जाता है ? दूसरोंकी प्रशंसासे उसे क्या लाभ हुआ ? इसी प्रकार हमारे अंदर यदि सद्गुण नहीं हैं, हमारे हृदयमें यदि प्रभुके प्रति निष्काम प्रेम नहीं है, हमारे पास यदि भगवान्के भजनका परम धन नहीं है और लोग हमें बड़ा सद्गुणसम्पन्न, बड़ा प्रेमी और बड़ा भजनानन्दी मानते हैं तो इससे हमें क्या मिल गया और हमारा क्या उपकार हो गया ? और यदि इसको हम स्वीकार कर लेते हैं तो अपनेको धोखेमें डालनेके अतिरिक्त और क्या करते हैं । इस झूठी बड़ाई तथा मिथ्या सम्मानके बोझको उठाकर हम सिवा बोझ मरनेके और कुछ भी तो नहीं पा सकेंगे ।

बड़ाई तथा सम्मान यदि सच्चे गुणोंको लेकर भी हों, तो भी साधकके लिये उनका स्वीकार करना परम हानिकर है । जहाँ मान-बड़ाईमें मिठास आया (और वह आता ही है), वहीं हमारी क्रियामेंसे वास्तविकता निकल जायगी और हम वही काम करने लगेंगे, जिसमें हमें लोगोंके द्वारा सम्मान मिले एवं लोग हमारी प्रशंसा करें । मतलब यह कि फिर हमारे कार्य सत्यकी सेवा—प्रभुकी भक्तिके लिये न होकर केवल लोकरञ्जनके लिये होंगे, फिर वे चाहे अकार्य या अधर्म ही क्यों न हों और उनसे परिणाममें हमारा परम अकल्याण ही क्यों न होता हो । इसलिये साधकको चाहिये कि वह सदा सचेत रहे और मान-बड़ाईका दूरसे ही त्याग करता रहे । उन्हें पास भी न आने दे । साधकका आचरण विषयी पुरुषसे सर्वथा प्रतिकूल होना चाहिये, तभी उसे साधनामें सिद्धि मिलती है और तभी वह सिद्धावस्थाके समत्वमें स्थित होता है । विषयी मान-बड़ाईका भूखा रहता है और इन्हें पानेके लिये कोई भी अकार्य करने-को तैयार रहता है । पर साधक मान-बड़ाईको विषवत् मानकर उनका त्याग करता है तथा अपमानके योग्य किसी भी निन्दनीय कार्यको न करता हुआ भी अपमान और निन्दाको अपने लिये शुभ समझता है एवं बड़ी प्रसन्नतासे इनका वरण करता है । वही जब सिद्धावस्था-में पहुँच जाता है, तब उसके लिये मानापमान और

निन्दा-स्तुति समान हो जाते हैं। अपने प्रिय भक्तोंका लक्षण बतलाते हुए भगवान् उन्हें मानापमानको तथा निन्दा-स्तुतिको समान माननेवाले बतलाते हैं। 'मानापमानयोस्तुल्यः' 'तुल्यनिन्दास्तुतिः।'

(गीता १४, १२ अध्याय)

आपकी जो बड़ाई हो रही है तथा आपको जो सम्मान मिल रहा है, आप इनको अपनी साधनाका विघ्न मानिये। भजन तो खूब कीजिये। और भी बढ़ाइये, परंतु मान-बड़ाईको तनिक भी पास मत फटकने दीजिये। इसीलिये भक्तलोग अपने भजन-धनको बहुत छिपाकर रक्खा करते हैं, वैसे ही जैसे सम्भ्रान्त कुलकी कोई नारी जारके प्रेमको गुप्त रखती है। पर यदि अब आपके लिये ऐसा सम्भव न हो तो आप मान-बड़ाईका स्वीकार तो मत कीजिये। सम्भव हो तो लोगोंको नम्रता और विनयके साथ रोककर समझा दीजिये कि 'जब आपलोग मेरे हितैषी हैं, मेरा पतन नहीं चाहते हैं और कल्याण ही चाहते हैं, तब फिर मुझे मान-बड़ाई देकर मेरा अकल्याण क्यों कर रहे हैं। मेरे पतनका मार्ग क्यों प्रशस्त कर रहे हैं।' और यदि वे मान जायँ तो बहुत ही अच्छी बात है। परंतु यहाँ भी बहुत सावधानीकी आवश्यकता है। कहीं-कहीं ऐसा भी होता है कि मनको तो मान-बड़ाई प्रिय लगते हैं और उन्हें प्राप्त करनेकी लालसा भी रहती है; परंतु ऊपरसे उनका विरोध किया जाता है, वह इस अभिप्रायसे कि ऐसा करनेपर लोगोंकी यह धारणा होगी कि ये कितने अच्छे पुरुष हैं, जो मान-बड़ाईको सर्वथा नहीं चाहते और इसके लिये इतने दुखी होकर—रो-रोकर प्रार्थना करते हैं—और फलतः वे पहलेसे भी अधिक सम्मान और प्रशंसा करने लगेंगे।

मनके इस दुर्भावकी परीक्षा दूसरे सहजमें नहीं कर पाते—यह तो स्वयं आपके ही देखनेकी चीज है। आप अपने मनसे मान-बड़ाईको सचमुच बुरा समझने लगें और जैसे किसीके द्वारा आदरपूर्वक दिये जानेपर भी बुद्धिमान् मनुष्य अपने लिये हानिकर और घृणित वस्तुको स्वीकार नहीं करते, वैसे ही मान-बड़ाईको स्वीकार न करें। फिर यदि कहीं कोई आपका सम्मान कर भी देगा, बड़ाई कर भी देगा तो उससे आपकी हानि नहीं होगी। यद्यपि साधकको इससे बचना ही चाहिये, क्योंकि यह मीठा विष है, और है अत्यन्त आकर्षक। समझता हुआ भी मनुष्य मोहवश इसे स्वीकार कर लेता है। इसीलिये कोई-कोई संत जान-बूझकर ऐसी चेष्टा किया करते हैं कि जिससे लोगोंके हृदयोंमें उनके प्रति जो सम्मानकी भावना होती है, वह नष्ट हो जाय। यह तो सच्चे सद्गुणोंके लिये प्राप्त होनेवाले सम्मान और प्रशंसाके लिये बात हुई। जहाँ बिना ही किसी सद्गुणके कोई अपनी बड़ाई या सम्मान करे और उसे हम स्वीकार कर लें तो यही समझना चाहिये कि या तो हम महामूर्ख हैं, या हममें किसी अंशमें दम्भ आ गया है जो हमारा पतन करके छोड़ेगा। मैं मानता हूँ—आपमें सद्गुण हैं और लोग आपका जो सम्मान तथा प्रशंसा करते हैं, वे सम्भवतः सद्भावसे ही करते हैं, तथापि उन्हें स्वीकार करना न तो आदर्श है और न आपके लिये तनिक भी लाभदायक ही है। हानिकारक तो प्रत्यक्ष ही है। मान-बड़ाईको सुनकर मनुष्यमें कहीं अपने सम्बन्धमें यथार्थसे अधिक उच्च धारणा हो गयी कि वह डूब गया। फिर उसमें अनेक दोष अपने-आप ही आ जायँगे।

असलमें मनुष्यको चाहिये कि वह नित्य-निरन्तर अपनेको देखता रहे। मैं किस ओर जा रहा हूँ। मेरे पास कितना धन है। मैं किस स्थितिमें हूँ। और यह सब भलीभाँति देखकर जैसा अपनेको पावे, वैसा ही समझे और दोष हों तो उन्हें स्पष्ट व्यक्त कर दे, एवं कदाचित् कुछ गुण हों तो उन्हें छिपा ले तथा अपनेसे अधिक सद्गुणवालोंकी ओर देखकर—

अनन्त अपार कल्याणगुण-सागर श्रीभगवान्‌के गुणोंका स्मरण कर अपनेको तुच्छ समझे, मनमें जरा भी अभिमानका अङ्कुर न उत्पन्न होने दे। इसीमें उसका कल्याण है।

धनी तो मनुष्य धन होनेपर ही हो सकता है, लोगोंके कहनेसे नहीं हो सकता। इसलिये मनुष्यको नित्य-निरन्तर भजनरूपी धनको बढ़ाना चाहिये और उसके लिये उत्तरोत्तर लोभ भी अधिक-से-अधिक करना चाहिये। विषयोंका लोभ जितना हानिकारक है, उतना ही भजनका लोभ महान् लाभदायक है। काम-क्रोध-लोभ-मोह आदि दुर्गुण भी यदि भगवान्‌के सम्बद्ध हो जाते हैं, तो सद्गुण बन जाते हैं।

कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते॥
(श्रीमद्भा० १०। २९। १५)

'काम, क्रोध, भय, स्नेह, ऐक्य और सौहार्द—इनमेंसे कोई भी भाव भगवान् श्रीहरिके साथ जोड़ दिया जाय तो फिर ये भाव भगवद्रूप ही हो जाते हैं।'

मेरे इस पत्रसे आपको कुछ भी सत्-प्रेरणा मिली तो आप उसे भगवान्‌की कृपा समझिये। मैं तो निमित्तमात्र हूँ।

(३)

उपदेशक बननेके पहले योग्यता-सम्पादन करना आवश्यक है

सप्रेम हरिस्मरण! आपका बहुत लंबा-चौड़ा पत्र मिला। आपके चित्तमें बहुत उत्साह है और आप पढ़ना छोड़कर तथा घरके काम-काजका भी त्याग कर समाज और देशकी सेवा करना चाहते हैं, एवं गाँव-गाँव घूमकर जनताको सदुपदेश देना चाहते हैं। सो यह तो बहुत ही श्रेष्ठ भाव है। जो मनुष्य अपनेको सेवाव्रती बनाना और निःस्वार्थभावसे समाज एवं देशकी सेवा करना चाहता है, वह धन्य है। ऐसा होते हुए भी मेरी रायमें अभी आपको पढ़ना चाहिये तथा घरका काम-काज भी नहीं छोड़ना चाहिये। आप अभी अल्पवयस्क हैं और आपकी बुद्धि भी अभी स्थिर नहीं है। आप यह भी स्वीकार करते हैं कि मनमें बहुत बार पापभावना भी आती है। असत्य, कपट तथा काम-क्रोध भी हैं ही। द्वेष-दम्भके कार्य भी आपसे होते हैं। तथा भगवान्‌की ओर वैसा आपका आकर्षण भी नहीं है। भजन आपसे बहुत ही कम बनता है। ये सभी बातें आपने लिखी हैं। ऐसी अवस्थामें अभी आपको यह चाहिये कि आप स्वयं पहले देश तथा समाजकी सेवा करनेके योग्य बनें। इसके लिये पहले अपना समुचित सेवा करें। पढ़-लिखकर तथा अपने शास्त्रोंका यथेष्ट ज्ञान प्राप्त कर ऐसी योग्यता प्राप्त कर लें कि जिससे आप शास्त्रानुसार लोगोंको अच्छी-से-अच्छी बात सुन्दर भाषामें और आकर्षक रीतिसे भलीभाँति समझा सकें तथा उनपर अपने भाषणका प्रभाव डाल सकें। इसके साथ ही यह भी परम आवश्यक है कि आप अपने मनकी पापभावनाको समूल नष्ट कर दें; असत्य, कपट तथा काम-क्रोधसे सर्वथा छूट जायँ; द्वेष-दम्भ भी आपमें सर्वथा न रहें; भगवान्‌के प्रति आपका सच्चा आकर्षण हो और भगवान्‌के मङ्गलमय भजनमें आपकी असीम अभिरुचि हो। जब ये बातें आपमें आ जायँगी, सचमुच तभी आप सच्चे सेवाव्रती बन सकेंगे, तभी आपके द्वारा देश तथा समाजकी यथार्थ सेवा होगी एवं तभी आपको किसीके प्रति उपदेशादि देनेका अधिकार प्राप्त होगा। आपने जो 'समाचार-पत्र' निकालनेकी इच्छा प्रकट की है, सो समाचारपत्र निकालकर उसके द्वारा लोगोंको उपदेश देनेका अधिकार भी आपको वस्तुतः तभी प्राप्त होगा।

दूसरेका सुधार होना—उसकी बुराइयोंका नाश होना आवश्यक है, और उसमें हमारे द्वारा जितना

सेवा हो, उतना ही उत्तम है; परंतु दूसरोंकी बुराई वही निकाल सकता है, दूसरोंका सुधार वही कर सकता है, जो स्वयं बुराइयोंसे रहित होकर सर्वथा सुधर गया हो। जनताको उपदेश देकर उनकी सेवा करना बहुत बड़े दायित्वका कार्य है। दूसरेके घरका कूड़ा साफ करना पुण्य है, पर वह कूड़ा हम तभी साफ कर सकेंगे, जब हमारा झाड़ू साफ होगा, झाड़नेकी कला हम जानते होंगे, और कौन कूड़ा है तथा कौन किसके लिये कामकी चीज है, इसको भलीभाँति जान सकेंगे। तीनोंमेंसे एक बात भी नहीं होगी, तो किसीका सुधार करने जाकर हम उसका बिगाड़ कर देंगे। हमारे झाड़ूमें यदि गंदा मैला लगा होगा तो हम दूसरोंके घरकी धूल झाड़नेके बदले वहाँ गंदा मैला फैला देंगे। झाड़ना नहीं जानते होंगे तो इकट्ठे कूड़ेको उल्टे इधर-उधर बिखेर आवेंगे और कौन कूड़ा है—इस बातको नहीं जानेंगे तो किसीके बड़े ही कामकी आवश्यक वस्तुको हम कूड़ा समझकर फेंक देंगे और उसकी बड़ी हानि कर देंगे—उसके जीवनकी जड़ ही काट डालेंगे।

मनुष्यकी वाणीसे तथा क्रियासे वही वस्तु प्रकट होती है, जो उसके हृदयमें होती है। मनुष्य चाहे कितना भी कपट-दम्भ करे, हृदयका असली भाव किसी-न-किसी क्रियामें प्रकट हो ही जाता है। अतएव जबतक हमारे हृदयमें काम-क्रोध, असत्य-कपट, द्वेष-दम्भ, हिंसा-प्रतिहिंसा, लोभ-मोह, कामना-वासना, अभिमान-अहङ्कार, ममता-माया आदि दोष वर्तमान हैं, जबतक हमारे द्वारा पाप बनते हैं और उनमें हमें रस आता है, तबतक हम दूसरोंको क्या देंगे? ऐसे हृदयको लेकर किसीका सुधार करने जायँगे तो सिवा अपने हृदयकी इस गंदगीको वहाँ भी फैला देनेके और उसका क्या उपकार करेंगे। यदि जनतामें वैसी बुरी बातें पहले न भी रही होंगी तो हमारी वाणी और लेखनीसे निकली हुई बुरी बातें उनमें आ जायँगी, वहाँके वातावरणमें हम एक नया क्षोभ उत्पन्न कर देंगे। जागृति, क्रान्ति, सुधार, अधिकार, उन्नति, शिक्षा, बुद्धिवाद, व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और लोकतन्त्र आदिके मनोहर नामोंपर हम लोगोंमें द्रोह, द्वेष, कर्तव्यशून्यता, प्रमाद, अश्रद्धा, नास्तिकता, उच्छृङ्खलता, स्वेच्छाचारिता, असंयम, असत्य, स्तेय, अहङ्कार, हिंसा आदि अनेकों दोषोंको बढ़ाकर परस्पर दलबन्दियाँ और उन्हें एक दूसरेको गिरानेके प्रयत्नमें लगाकर उनके लोक-परलोक दोनोंको नष्ट कर देंगे, जैसा कि आजकल न्यूनाधिकरूपमें संसारमें प्रायः सर्वत्र हो रहा है। इसका एक प्रधान कारण यह भी है कि उपदेशकों, पथप्रदर्शकों और नेताओंके पवित्र और दायित्वपूर्ण स्थानोंपर ऐसे लोगोंका अधिकार हो गया है, जो स्वयं असंस्कृत, असंयमी और दायित्वज्ञानशून्य हैं। आजकी हिंसा-प्रतिहिंसा-मयी ध्वंसकारिणी प्रवृत्ति इसीका कुपरिणाम है! इस प्रकार सुधारके बदले बिगाड़ तो होता ही है—सफाईके बदले गंदा मैला तो फैलता ही है। साथ ही यदि कहीं सचमुच झाड़नेका काम किया जाता भी है तो वहाँ झाड़ना न जाननेसे जैसे कूड़ा इधर-उधर बिखर जाता है, वैसे ही एक या कुछ थोड़ेसे लोगोंमें रही हुई परिमित बुराई समाजभरमें फैल जाती है। चौबेजीको छब्बेजी न बनकर दूबेजी बननेको बाध्य होना पड़ता है। इसके अतिरिक्त ऐसे उपदेशकों और सुधारकोंके द्वारा अविवेकवश सुधारके नामपर समाजमें विस्तृत अमृतवल्लीपर ही भयानक विषसिञ्चन या उनके जीवनके मूलपर ही कुठाराघात किया जाता है। भगवद्भजन, देवपूजाराधना, शास्त्रीय आचरण, वर्णाश्रमधर्म, शौचाचार, सदाचार, संयम, मातृ-पितृ-भक्ति, पातिव्रत-धर्म, ब्राह्मणमहत्ता, सात्त्विक यज्ञ-दानादि, सन्ध्यावन्दन, शास्त्रीय भेद, नियमानुवर्तिता एवं वंशपरम्परागत पवित्र सुप्रथाओं आदिका विरोध और ऐसे पवित्र कार्योंके

प्रति लोगोंमें अश्रद्धा उत्पन्न करानेकी चेष्टा—इसी प्रकारके जीवनमूलका उच्छेद करनेवाले कुकार्य हैं, जो विपरीत शिक्षा और उच्छृङ्खल उपदेशादिके फलस्वरूप बड़े गर्व एवं उल्लासके साथ किये जाते हैं ! इस प्रकार जनताको खास करके अपक्वबुद्धि सरलहृदय बालकों, नवयुवकों और नवयुवतियोंको उभाड़कर सदाचारके विरुद्ध खड़े कर देना सुधारके नामपर कितना बड़ा बिगाड़ है, संस्कारके नामपर कितना भयानक संहार है ! इसपर आप विचार करें।

अतएव प्रत्येक मनुष्यको आत्मसुधारके लिये प्रयत्न करना चाहिये। उन लोगोंको तो विशेष रूपसे करना चाहिये जो समाज और देशकी सेवा करना चाहते हैं। वाणीसे या लेखनीसे वह कार्य नहीं होता, जो स्वयं वैसा ही कार्य करके आदर्श उपस्थित करनेसे होता है। यहाँतक कि फिर उपदेशकी भी आवश्यकता नहीं होती। महापुरुषोंके आचरण ही सबके लिये आदर्श और अनुकरणीय होते हैं। इसीलिये महापुरुषोंको यह ध्यान भी रखना पड़ता है कि उनके द्वारा ऐसा कोई कार्य न हो जाय जो नासमझीके कारण जगत्के लिये हानिकर हो। इसलिये वे उन्हीं निर्दोष कर्मोंको करते हैं जो उनके लिये आवश्यक न होनेपर भी जगत्के लिये आदर्शरूप होते हैं और करते भी इस प्रकारसे हैं, जिनका लोग सहज ही अनुकरण करके लाभ उठा सकें। स्वयं सच्चिदानन्दघन भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे गीतामें इसी दृष्टिसे कहा है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥
न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥

(३।२१—२४)

'श्रेष्ठ पुरुष जैसा-जैसा आचरण करता है, दूसरे लोग भी वैसा-वैसा ही आचरण करते हैं। वह अपने आचरणसे जो कुछ प्रमाण कर देते हैं—जैसा आदर्श उपस्थित करते हैं, सारा जनसमुदाय उसीका अनुकरण करने लगता है। अर्जुन ! मेरे लिये तीनों लोकोंमें कोई भी कर्तव्य शेष नहीं है और न कोई ऐसी वस्तु ही है जिसे मुझको प्राप्त करना हो, एवं जो मुझे प्राप्त न हो, ऐसा आप्तकाम एवं पूर्णकाम होनेपर भी मैं कर्माचरण करता हूँ। यदि कदाचित् मैं सजग रहकर (जगत्को लाभ पहुँचानेवाले) कर्मोंका आचरण न करूँ तो बहुत बड़ी हानि हो जाय; क्योंकि भैया अर्जुन ! लोग तो मुझे श्रेष्ठ मानकर मेरे पीछे-पीछे ही चलते हैं। मेरे कर्म न करनेका फल यह हो कि, सब लोग नष्ट-भ्रष्ट हो जायँ और मैं संकरताका उत्पन्न करनेवाला और इस सारी प्रजाका उच्छेद करनेवाला बनूँ।'

इससे पता लगता है कि अपनेको श्रेष्ठ माननेवाले अगुआ पुरुषपर कितना बड़ा दायित्व है और उसे अपने दायित्वका निर्वाह करनेके लिये कितनी योग्यता प्राप्त करनी चाहिये, एवं किस प्रकारसे स्वयं आचरण करके लोगोंके सामने पवित्र आदर्श उपस्थित करना चाहिये।

फिर, एक बात यह भी है कि व्यक्तियोंके समूहको लेकर ही समाज बनता है। यदि एक व्यक्ति यथार्थरूपमें सुधर गया तो समाजका एक अङ्ग सुधर गया। यों सभी व्यक्ति अपना-अपना सुधार करने लगें तो सारा समाज अपने-आप सुधर जाय। एवं यदि इसके विपरीत सभी लोग दूसरोंका सुधार करनेमें लग जायँ, और अपने सुधारकी ओर ध्यान ही न दें तो किसीका भी सुधार न हो।

इसलिये मेरा आपसे यही निवेदन है कि आप दूसरोंके लिये उपदेशक बननेकी लालसाको दबाकर पहले अपनेमें योग्यता बढ़ावें, एवं अपने जीवनको परम विशुद्ध और भगवान्‌की सेवाके परायण बना दें। फिर आपके द्वारा

जो कुछ होगा, सब विश्वकी सेवा ही होगी। विश्वकी सच्ची सेवा वही कर सकता है, जिसका जीवन विश्वात्मा भगवान्‌के अनुकूल होता है और जो अपनेको विश्वम्भर-की सेवामें समर्पित कर देता है।

(४)

परिस्थितिपर फिरसे विचार कीजिये

सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिले चार महीने हो गये। समयाभाव और स्वभावदोषसे मैं उत्तर नहीं लिख सका, इसके लिये क्षमा चाहता हूँ। आपने अपनी परिस्थिति लिखी, वह अवश्य ही विचारणीय है। ऐसी परिस्थितिमें, आपने जैसा लिखा है, दुर्बल-हृदय और अनिश्चित-बुद्धि मनुष्यके लिये बाध्य होकर इस प्रकारके कर्म करना स्वाभाविक हो जाता है, यह भी ठीक ही है। ऐसी परिस्थितिमें पड़े बिना कोई कैसे कह सकता है कि इस प्रकारके आपद्धर्ममें क्या करना चाहिये। वस्तुतः—

'जाके कबहुँ न फटी बेवाँई। सो का जानै पीर पराई॥

—के अनुसार दूसरेकी परिस्थितिका अनुभव करना और उसे उस परिस्थितिमें इच्छा न रहते हुए भी क्यों ऐसा कार्य करना पड़ता है, इसका यथार्थ निर्णय करना बहुत ही कठिन है। तथापि यह तो मानना ही पड़ेगा कि मनुष्य पापको पाप बताते हुए भी यदि उसे करता है तो या तो वह उसे पाप बताता है पर यथार्थमें समझता नहीं। संखिया खानेसे मनुष्य मर जाता है, यह पक्का विश्वास जिसको होता है वह सुन्दर दीखने-वाले सुमिष्ट लड्डुओंमें भी संखियेका सन्देह हो जाने-पर उन्हें नहीं खाता; क्योंकि वह समझता है कि खाऊँगा तो मैं मर जाऊँगा। या इतना उन्मत्त हो गया है कि अपने भले-बुरेका ज्ञान ही खो बैठा है; अथवा उसकी पापमें पापबुद्धि है ही नहीं, केवल दम्भसे उन्हें पाप बतलाता है और परिस्थितिका बहाना लेकर युक्तिवाद-के द्वारा अपनी दुर्बलताको अवश्यकर्तव्य बतलाकर उसका समर्थन करता है। बहुत बार अच्छाईके वेषमें बुराई आती है, धर्मके नामपर अधर्म आता है और कर्तव्यका स्वरूप धारण करके नितान्त अकर्तव्य आया करता है। ऐसी अवस्थामें मनुष्य उन शास्त्रीय शब्दों या लोकोक्तियोंका, जो अवस्थाविशेषके लिये कर्तव्य होती हैं, सहारा लेकर बुराई, अधर्म या अकर्तव्यका प्रसन्नता-पूर्वक वरण करता है। जैसे—

(१) झूठ बोलनेवाला व्यापारी कहता है—व्यापारमें झूठ मिले हुए सत्यके बिना काम ही नहीं चलता। मनुमहाराजने—'सत्यानृतं तु वाणिज्यम्' कहा है। महाभारतादिमें भी व्यापार-विवाह आदिमें मिथ्या भाषण अपराध नहीं माना गया है।

(२) परिवारमें मोह-आसक्ति रखनेवाला सोचता है—भगवान्‌ने इनको हमारे हाथों सौंपा है, इसलिये इनकी सार-सँभाल करना हमारा धर्म है। भरतजीने भी यही किया था।

(३) आलसी कहता है—

अजगर करै न चाकरी पंछी करै न काम।
दास मलूका यों कहै सबके दाता राम॥

(४) भक्त बनकर अपनी पूजा करानेवाला कहता है—

'राम तें अधिक राम कर दासा।'

(५) कड़वा बोलनेवाला कहता है—

बुरे लगें हितके बचन हिये बिचारो आप।
कड़वी भेषज बिनु पिये मिटै न तनकी ताप॥

(६) अपनेको गुरु बताकर पुजवानेवाला उपदेश करता है—

गुरु गोबिंद दोऊ खड़े काकै लागूँ पाय।
बलिहारी गुरुदेवकी जिन गोबिंद दिये मिलाय॥

(७) संत सजकर पूजा करानेवाला भगवान् रामके वचनोंका प्रमाण देता है—

'मोते अधिक संत करि लेखे'

(८) चोर कहता है—स्वयं श्रीकृष्णने माखन चुराया था। इसीसे उनका नाम 'चौराग्रगण्य' है।

(९) जुआरी मानता है—'द्यूतं छलयतामस्मि' गीताके वचनानुसार जुआ तो भगवान्‌का स्वरूप है।

(१०) शराबी और मांसाहारी मनुका प्रमाण देते हैं—

न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने।

'न तो मांसभक्षणमें दोष है, न मद्यमें और न मैथुनमें ही।'

(११) स्त्री और सेवकोंपर अत्याचार करनेवाले सारा दोष तुलसीदासजीपर मँढ़ते हुए कहते हैं—

ढोल गवाँर सूद्र पसु नारी। ए सब ताड़न के अधिकारी॥

(१२) क्रोधी कहता है—

साँच कहूँ होकर निडर कोई हो नाराज।
मैंने तो सीखा यही साँच बोलिये गाज॥

(१३) माता-पिताकी अवहेलना करके अपने मतका समर्थन करनेवाला गाता है—

जाके प्रिय न राम-बैदेही।
तजिये ताहि कोटि बैरी सम, जद्यपि परम सनेही॥

(१४) झूठा आश्वासन देनेवाले सोचते हैं—कुछ भी कह देना है, करना तो है नहीं 'वचने का दरिद्रता।'

(१५) बात-बातमें डाँट-डपट करनेवाला कहता है—'साँप काटे नहीं तो क्या फुफकारे भी नहीं ?'

(१६) भाई-भाईसे लोभवश लड़नेवाला—कौरव-पाण्डवोंकी कथा उपस्थित करता है।

(१७) पर-दोष-दर्शन तथा परनिन्दा करनेवाले प्रमाण देते हैं—

बैद्य न जानैं रोगकौं औ जो नहिं देत बताहिं।
बैद्य धरमतें सो गिरैं रोगी प्रान नसाहिं॥

—और कहते हैं कि यदि हम किसीके दोष न देखें एवं लोगोंको बताकर सावधान न करें तो कैसे उसके दोष छूटें और कैसे लोग उसके दोषोंसे बचें।

(१८) वर्णाश्रमानुकूल धर्म, संयम-नियम, सन्ध्या-वन्दनादिका त्याग करनेवाले अपनेको प्रेमी घोषित करके कहते हैं—'भाई! ये सब तो उन लोगोंके लिये हैं, जिन्होंने प्रेमका मुख नहीं देखा है, प्रेम-राज्यमें इनका क्या काम? एवं नारायण स्वामीके ये दोहे पढ़ देते हैं—

तब लौं यह फाँसी गले, बरनास्रम ब्रत नेम।
नारायण जब लौं नहीं, मुख दिखलावे प्रेम॥
धर्म धैर्य संयम-नियम, सोच बिचार अनेक।
नारायण प्रेमी निकट, इनमें रहैं न एक॥

(१९) कर्तव्य-कर्मोंका त्याग करनेवाला अपनेको ज्ञानी मानकर भगवान्‌के शब्दोंकी दुहाई देता है—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥

जिसकी आत्मामें ही रति है, जो आत्मामें ही तृप्त है और आत्मामें ही सन्तुष्ट है, उस मनुष्यके लिये कोई भी कर्तव्य नहीं है।

(२०) आहार-विहारमें पशुवत् व्यवहार करनेवाला गीताका श्लोक पढ़ देता है—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

विद्या-विनयसम्पन्न ब्राह्मण, चाण्डाल, गौ, हाथी और कुत्ता इन सभीमें ज्ञानी पुरुष समदर्शी होते हैं।

इसी प्रकार और भी अनेकों बहाने होते हैं बुराईका समर्थन करनेके लिये। वस्तुतः यह इन सद्विचारों एवं सदुक्तियोंका भीषण दुरुपयोग और अर्थका अनर्थ है, जो मूर्खतासे या दम्भसे अपनी दुर्बलताको छिपानेके लिये मनुष्य करता है।

अतएव आप अपने हृदयको टटोलकर देखिये, उसमें कोई छिपा हुआ ऐसा दोष तो नहीं है जो युक्तिवादसे परिस्थितिका बहाना करके आपको धोखा देता हो।

फिर जो धर्मका सच्चा सेवक है और भगवान्‌के पवित्र पथपर चलना ही जीवनका परम कर्तव्य समझता है उसके लिये तो खुला मार्ग है, उसमें किंतु-परंतुको स्थान ही नहीं है। वह तो ऐसा कोई भी कर्म, किसी भी हेतुसे नहीं करता जो अधर्म हो और भगवान्‌के पवित्र पथसे च्युत करानेवाला हो।

संसारमें मनुष्यका वास्तविक शत्रु

(लेखक—डा० महम्मद हाफिज सैयद, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, डी०लिट्)

अर्जुनके भगवान्‌से यह पूछनेपर कि 'मनुष्य बलात्कारसे लगाये हुए-के सदृश न चाहता हुआ भी किसकी प्रेरणासे पापाचरणमें प्रवृत्त होता है ?' श्रीभगवान्‌ने उत्तर दिया—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥
(गीता ३ । ३७)

'रजोगुणसे उत्पन्न यह 'काम' ही क्रोध है, यही महाशन (भोगोंसे कभी तृप्त न होनेवाला) और बड़ा पापी है । यहाँ तुम इसीको वैरी समझो ।'

सामान्यतया शोक और संतापके शिकार होकर हम अपने दुर्भाग्यके लिये भगवान्‌को अपराधी ठहराया करते हैं । ऐसी प्रवृत्तिका आधार केवल एक भ्रान्त धारणा है । श्री-भगवान् तो सदा निरपेक्ष और तटस्थ हैं, उनमें न तो कोई राग है न द्वेष । हमारे पथ-प्रदर्शनके लिये उन्होंने केवल किसी अटल नियमविशेषका निर्माण भर कर दिया है । यदि हम उसके अनुकूल आचरण करते हैं तो सुखका अनुभव करते हैं और प्रतिकूल करनेपर स्वाभाविक ही दुःखको प्राप्त होते हैं । भगवदीय इच्छाकी अभिव्यञ्जनास्वरूप यह नियम अपने काममें बिल्कुल अचूक और पक्का है तथा हमारी सत्ताके शारीरिक, मानसिक और नैतिक—सभी क्षेत्रोंको अनुशासित करता है । अपने शोक-संतापोंको उत्पन्न करनेवाले स्वयं हमी हैं, वे हमारी ही कुकृतियों एवं कुविचारोंके परिणाम हैं ।

बुद्धि मनुष्यके श्रेष्ठतम तत्त्वोंमेंसे एक है । यदि इसका उचित रीतिसे विकास किया जाय और सचाईसे अनुगमन किया जाय तो यह कठिनाइयोंमें तो बहुत कम डालती है, उलटे हमें सब ओरसे बचाते हुए बड़ी सुरक्षित रीतिसे मनोवाञ्छित उद्देश्य तक पहुँचा देती है । स्वर्ण तो सभी चाहते हैं, पर उसके लिये परिश्रम करनेसे, उसे खानसे खनकर निकालनेसे भागते हैं । प्रत्येक प्राणी शान्ति, सुरक्षा और सुखकी इच्छा करता है; पर उन्हें वहाँ ढूँढ़ता है, जहाँ वे हैं नहीं । आजकल बहुत-से ऐसे लोग मिलेंगे, जो बुद्धिकी श्रेष्ठताके विषयमें बहुत बढ़ा-चढ़ाकर बातें करते हैं और उसे मनुष्यके लिये निरापद मार्गकी निर्देशिका बताते हैं; पर ऐसे लोगोंकी संख्या ही कितनी है जो अपने व्यवहारको शुद्ध और निर्लिप्त—अनासक्त बुद्धिके आदेशानुसार ठीक रखते हैं । यदि लोग अपनी बुद्धि और साधारण समझकी प्रेरणाओंको सचाईसे मानें तो उनके शोक-संताप बहुत अंशमें कम हो जायँगे ।

जब हम अपने हृदयमें खोज-खोजकर यह देखने चलते हैं कि कौन हमारी असंख्य व्याधियोंका कारण बन रहा है, कौन हमें दासताकी बेड़ियोंमें बाँधे हुए और बंद किये हुए है, तो बहुत ध्यानसे देखनेपर यही विदित होता है कि हमारी अनियन्त्रित कामनाएँ ही हमारे अपमान, असफलता, निराशा, शोक और संतापकी जननी हैं । हम बिना विचारे ही इन्द्रिय-भोगोंकी ओर, उनसे अधिक से-अधिक सुख पानेकी आशामें दौड़ पड़ते हैं । परंतु सूक्ष्म विश्लेषण करनेपर हमको पता चलता है कि भोगों और भोग-सामग्रियोंसे हमें जो कुछ मिल रहा था, वह एक ऐसे सुखकी क्षणिक प्रतीति भर है कि जिससे न तो हमें कोई नैतिक संतोषकी प्राप्ति होती है और न वह मनकी उस शान्तिकी ओर ले जाता है जिसे पानेके लिये हमें वास्तवमें प्रयत्नशील होना चाहिये । ज्ञात साधनोंसे हम चाहे जबतक सुखकी आकाङ्क्षा करनेके लिये स्वतन्त्र हैं, पर उचित यही होगा कि कम-से-कम एक बार तो ठहरकर हम अपने अन्तरात्मासे पूछें कि जिसके पीछे हम दौड़ रहे हैं, वह वास्तवमें स्पृहणीय है या नहीं । जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्णके शब्द हमें बार-बार यही चेतावनी देते हैं कि—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥
(गीता ५ । २२)

'इन्द्रिय-विषय-संस्पर्शसे उत्पन्न सभी भोग दुःखको प्राप्त करानेवाले हैं, वे आदि-अन्तवाले होनेसे अस्थायी हैं । अतः भैया अर्जुन ! बुद्धिमान् पुरुष उनमें नहीं रमते ।'

अब यह हमलोगोंका कर्तव्य है कि भगवान्‌के इस कथनकी सत्यताको प्रमाणित करें और स्वयं इस बातका पता लगावें कि भोगोंसे अन्तमें जाकर हमें कोई सन्तोष प्राप्त होता है या नहीं । दूसरी ओर जो लोग भगवान्‌के शब्दोंकी परीक्षा करके उसकी सत्यता प्रमाणित कर चुके हैं, वे हमें निश्चयपूर्वक विश्वास दिलाते हैं कि क्षणिक सुखोंकी आराधना मानसिक शान्तिको उत्पन्न करनेकी जगह हमारे हृदय तथा मनमें और भी अधिक अराजकता, अशान्ति एवं अव्यवस्था उत्पन्न कर देती है । जीवनके उन क्षणोंमें जब हमें ऐसा अनुभव होता है कि हमें किसीके पीछे दौड़ना नहीं है, किसीके पीछे-पीछे चलना नहीं है, किसीके लिये लालसा

नहीं करनी है और कुछ पाना नहीं है, तब हमें भान होता है कि हमारा बोझा हल्का हो गया है, मन शान्त हो गया है और हृदय निर्मल हो गया है। केवल शुद्ध बौद्धिक दृष्टिकोणसे देखते हुए विवेककी कसौटीपर कसकर हमें ग्रहण करना है या तो सुखकी क्षणिक अनुभूतियोंको या उनकी तुलनामें अधिक चिरस्थायी एवं शाश्वत सुखसाधनको। श्री जे० एस्० मिलके शब्दोंमें ऐन्द्रिय-सुखसे बौद्धिक सुख अधिक कालव्यापी होता है।

सुरक्षा एवं सुखकी अधिक विशाल तथा उत्तमतर भावनासे भूषित होनेके लिये हमें अपने समस्त उपद्रवोंके मूलको ढूँढ़ निकालना है और जहाँतक हो सके इसको निकालकर दूर फेंक देना है एवं अपनेको इसके जालसे मुक्त कर लेना है। केवल इसी रीतिसे चिन्ता, अव्यवस्था और कलहके बोझसे हम वास्तविक स्वतन्त्रता तथा सन्त्राण पाकर भारमुक्त हो सकते हैं। सुख और अपने शत्रुपर विजय-प्राप्तिके मार्गमें प्रत्येक पदपर हमें अपनी कामनाके महाशन और महापापात्मक स्वरूपको पहचानकर उसे किसी महत्तर उद्देश्यकी प्राप्तिकी अभिवाञ्छामें परिणत एवं रूपान्तरित कर देना चाहिये। भगवदीय इच्छाकी योजनानुसार हमारे विकास-के उषःकालमें हमें क्रियाशील बनाने तथा योग्यताकी कतिपय दिशाओंमें जानेवाली प्रवृत्तियोंको विकसित करनेमें कामनाका कुछ कम हाथ नहीं रहता। यदि हम निश्चेष्ट रह जायँ तो वे प्रवृत्तियाँ पनपें ही नहीं। भौतिक जगत्के नाना क्षेत्र तथा सांसारिक व्यापारोंके बृहत् विस्तार, जिनसे हम कई विशेष प्रकारकी योग्यताओंको प्राप्त करते हैं—निष्फल हो जाते, यदि हमें अपनी कामनाकी प्रेरणा न प्राप्त होती रहती। यह भी स्वीकार किया जा सकता है कि कम विकसित लोगोंके लिये एक सीमातक कामनाके अनुगमनका भी अपना एक महत्त्व है। पर जब हम अपने मानसिक वृत्तका पर्याप्त विस्तार कर चुके हों और अपनी कुछ नैतिक दुर्बलताओंपर विजय प्राप्त कर चुके हों, तब यह उचित और न्याय्य होगा कि हम अपने भीतर तर्क-वितर्क करके यह जानते कि कौन-सी कार्य-प्रणाली तथा कौन-सी विचारधारा हमें अपने लक्ष्यके समीप ले जानेवाली तथा नष्ट होनेसे बचानेवाली है। अपने विकासके इसी दुराहेपर हम अपने शत्रु और मित्रकी पहचान करना प्रारम्भ कर देते हैं। हमारे विकासके प्रारम्भिक दिनोंमें जो हमारा मित्र था, वही जब हम वयस्क हो जाते हैं और अपने आत्मा तथा भाग्यपर अपना ही शासन एवं प्रभुत्व स्थापित करनेकी इच्छा-से अपने पैरोंपर स्वयं खड़ा होना सीखने लगते हैं, हमारा शत्रु हो जाता है। केवल बुद्धि और सद्विवेक ही हमें यह निर्णय करनेमें सहायता प्रदान कर सकते हैं कि किस कार्य-प्रणालीका अनुसरण करके हमें उसपर चलते रहना चाहिये—बुद्धि एवं धर्मका अथवा इनके विरोधी भावोंका।

कुछ ऐसे नैतिक तथ्य और आदेश हैं, जिनका प्राचीन और अर्वाचीन—सभी धर्मोंने सार्वभौमरूपसे और एक स्वरसे उपदेश किया है। इन धर्मोंके आदि-प्रवर्तकोंको मानव-जाति-के विगत विकास तथा भावी भाग्यका पूरा-पूरा अनुभव और ज्ञान था। अपनी लंबी अनुभूतिके द्वारा वे जानते थे कि नैतिक उन्नतिके मार्गमें मनुष्यके लिये किधर पग बढ़ाना ठीक है। वे व्यवहारके कुछ नियम बना गये हैं जो युग-युगसे कालकी कसौटीपर खरे उतरते चले आ रहे हैं। इसलिये नैतिक तथ्योंमें विश्वास रखनेवाले एवं अपने कल्याण तथा सुखके लिये नैतिक संतोषकी खोज करनेवाले व्यक्तियोंके लिये उनका पालन करना अनिवार्य हो गया है। हमें बार-बार कुमार्गसे बचनेके लिये तथा सत्य और अहिंसा आदि धनात्मक गुणोंका विकास करनेके लिये कहा गया है। हमें अपने भीतर-की कुप्रवृत्तियोंको, उनके विरोधी गुणोंका विकास करके निकाल देना है। मनुष्यकी सत् अथवा असत् प्रवृत्तियाँ उसके बहुधा आवृत्त विचारों और क्रियाओंका ही परिणाम बनकर आती हैं। निरन्तर चिन्तन तथा विचारके सतत आग्रहसे हम अपने चरित्रमें कतिपय गुणोंका विकास कर सकते हैं और जब हम प्रलोभनमें पड़कर भ्रान्त हों अथवा जीवनकी स्वीकृत और यथोचित योजनाके विरुद्ध काम करनेको उद्यत हों, तब उन विकसित गुणोंके प्रकाशसे यथार्थ मार्ग देख सकते हैं। इस प्रकार हम अपने नैतिक चरित्रका पुनर्निर्माण और सुधार कर सकते हैं और समस्त दोषोंकी मूल कामनारूपी अपने शत्रुको परास्त करनेमें सफल हो सकते हैं।

पथ-प्रकाशके शब्दोंमें जीवनके कष्टों तथा कामनाके दुःखोंको दूर करनेकी इसके सिवा और कोई दवा नहीं है कि हम अपने ध्यानको उसपर केन्द्रित करें जो अविनाशी, अपरिवर्तनशील और अनामय है। दूसरे शब्दोंमें हमें सदैव अपने दिव्य स्वरूपका ध्यान करना चाहिये और अपनेको अपने अन्तरमें स्थित परमात्माके उस सनातन अंशसे एकीभूत करना सीखना चाहिये जो वास्तविक सुख और नित्यजीवनका एक-मात्र स्रोत है। अपने इस महान् काम-शत्रुको परास्त करनेका केवल यही एक उपाय है।

अपूर्व आत्मसमर्पण

(लेखक--श्रीयुत एस० एम० बोरा)

दक्षिण भारतके एक छोटे-से गाँवकी एक छोटी-सी कोठरीमें रेड़ीके तेलका दीपक जल रहा है। कोठरीका कच्चा आँगन और मिट्टीकी दीवालें गोबरसे लिपी-पुती बड़ी स्वच्छ और सुन्दर दिखायी दे रही हैं। एक कोनेमें कुछ मिट्टी पड़ी है, एक ओर पानीका घड़ा रक्खा है; दूसरे कोनेमें एक चक्की, मिट्टीके कुछ बरतन और छोटी-सी एक चारपाई पड़ी है। दीपकके समीप कुशके आसनपर एक पण्डितजी बैठे हैं, पास ही मिट्टीकी दावात रक्खी है और हाथमें कलम लिये वे कुछ लिख रहे हैं। आसपास कुछ पुस्तकें पड़ी हैं, कुछ ही दूरपर पोथियाँ बाँधनेके बेठन पड़े हैं। पण्डितजी बड़ी एकाग्रतासे लिख रहे हैं। बीच-बीचमें पास रक्खी पोथियोंके पन्ने उलट-पलटकर पढ़ते हैं, फिर पन्ने रखकर आँखें मूँद लेते हैं। कुछ देर गहरा विचार करनेके पश्चात् पुनः आँखें खोलकर लिखने लगते हैं। इतनेमें दीपकका तेल बहुत कम हो जानेके कारण बत्तीपर गुल आ गया और प्रकाश मन्द पड़ गया। इसी बीच एक प्रौढा स्त्रीने आकर दीपकमें तेल भर दिया और वह बत्तीसे गुल झाड़ने लगी। ऐसा करते दीपक बुझ गया। पण्डितजीका हाथ अँधेरेमें रुक गया। स्त्री बत्ती जलाकर तुरंत वहाँसे लौट रही थी कि पण्डितजीकी दृष्टि उधर चली गयी। उन्होंने कौतूहलमें भरकर पूछा—'देवी! आप कौन हैं?' 'आप अपना काम कीजिये। दीपक बुझनेसे आपके काममें विघ्न हुआ इसके लिये क्षमा कीजिये' स्त्रीने जाते-जाते बड़ी ही नम्रतासे कहा। 'परंतु ठहरो, बताओ तो आप कौन हैं? और यहाँ क्यों आयी हैं?' पण्डितजीने बल देकर पूछा। स्त्रीने कहा, 'महाराज! आपके काममें विघ्न पड़ रहा है, इस विक्षेपके लिये मैं बड़ी अपराधिनी हूँ।'

अब तो पण्डितजीने पन्ने नीचे रख दिये, कलम भी रख दी, मानो उन्हें जीवनका कोई नया तत्त्व प्राप्त हुआ हो। वे बड़ी आतुरतासे बोले—'नहीं, नहीं, आप अपना परिचय दीजिये—जबतक परिचय नहीं देंगी, मैं पन्ना हाथमें नहीं लूँगा।' स्त्री सकुचायी, उसके नेत्र नीचे हो गये और बड़ी ही विनयके साथ उसने कहा—"प्राणनाथ! मैं आपकी परिणीता पत्नी हूँ, मुझे 'आप' कहकर मुझपर पाप न चढ़ाइये।" पण्डितजी आश्चर्यचकित होकर बोले—'हैं, मेरी पत्नी? विवाह कब हुआ था?' स्त्रीने कहा—'लगभग पचास साल हुए होंगे, तबसे दासी आपके चरणोंमें ही है।'

पण्डितजी—तुम इतने वर्षोंसे मेरे साथ रहती हो, मुझे आजतक इसका पता कैसे नहीं लगा।

स्त्री—प्राणनाथ! आपने विवाहमण्डपमें दाहिने हाथसे मेरा बायाँ हाथ पकड़ा था और आपके बायें हाथमें ये पन्ने थे। विवाह हो गया, पर आप इन पन्नोंमें संलग्न रहे। तबसे आप और आपके ये पन्ने नित्य संगी बने हुए हैं।

पण्डितजी—पचास वर्षका लंबा समय तुमने कैसे बिताया—मैं तुम्हारा पति हूँ, यह बात तो तुमने इससे पहले मुझको क्यों नहीं बतलायी?

स्त्री—प्राणेश्वर! आप दिन-रात अपने काममें लगे रहते थे और मैं अपने काममें। मुझे बड़ा सुख मिलता था इसीमें कि आपका कार्य निर्विघ्न चल रहा है। आज दीपक बुझनेसे विघ्न हो गया! इसीसे यह प्रसङ्ग आ गया।

पण्डितजी—तुम प्रतिदिन क्या करती रहती थी?

स्त्री—नाथ! और क्या करती, जहाँतक बनता, स्वामीके कार्यको निर्विघ्न रखनेका प्रयत्न करती। प्रातःकाल आपके जागनेसे पहले उठकर धीरे-धीरे चक्की चलाती। आप उठते तब आपके शौच-स्नानके लिये जल दे देती। तदनन्तर सन्ध्या आदिकी व्यवस्था करती, फिर भोजनका प्रबन्ध होता। रातको पढ़ते-पढ़ते आप सो जाते, तब मैं पोथियाँ बाँधकर ठिकाने रखती और आपके सिरहाने एक तकिया लगा देती एवं आपके चरण दबाते-दबाते वहीं चरणप्रान्तमें सो जाती।

पण्डितजी—मैंने तो तुमको कभी नहीं देखा।

स्त्री—देखना अकेली आँखोंसे थोड़े ही होता है, उसके लिये तो मन चाहिये। दृष्टिके साथ मन न हो तो फिर ये चक्षुगोलक कैसे किसको देख सकते हैं। चीज सामने रहती है, पर दिखायी नहीं देती। आपका मन तो नित्य निरन्तर तल्लीन रहता है अध्ययन, विचार और लेखनमें। फिर आप मुझे कैसे देखते?

पण्डितजी—अच्छा तो, हमलोगोंके खान-पानकी व्यवस्था कैसे होती है ?

स्त्री—दुपहरको अवकाशके समय अड़ोस-पड़ोसकी लड़कियोंको बेल-बूटे निकालना तथा गाना सिखा आती हूँ और वे सब अपने-अपने घरोंसे चावल, दाल, गेहूँ आदि ला देती हैं, उसीसे निर्वाह होता है ।

यह सुनकर पण्डितजीका हृदय भर आया, वे उठकर खड़े हो गये और गद्गद कण्ठसे बोले—'तुम्हारा नाम क्या है देवी !' स्त्रीने कहा—'भामती ।' 'भामती ! भामती ! मुझे क्षमा करो, पचास-पचास सालतक चुपचाप सेवा ग्रहण करनेवाले और सेविकाकी ओर आँख उठाकर देखनेतककी शिष्टता न करनेवाले इस पापीपर क्षमा करो' यों कहते हुए पण्डितजी भामतीके चरणोंपर गिरने लगे ।

भामतीने पीछे हटकर नम्रतासे कहा—'देव ! आप इस प्रकार बोलकर मुझे पापग्रस्त न कीजिये । आपने मेरी ओर दृष्टि डाली होती, तो आज मैं मनुष्य न रहकर विषयविमुग्ध पशु बन गयी होती । आपने मुझे पशु बननेसे बचाकर मनुष्य ही रहने दिया, यह तो आपका अनुग्रह है । नाथ ! आपका सारा जीवन शास्त्रके अध्ययन और लेखनमें बीता है । मुझे उसमें आपके अनुग्रहसे जो यत्किञ्चित् सेवा करनेका सुअवसर मिला है, यह तो मेरा महान् भाग्य है । किसी दूसरे घरमें विवाह हुआ होता तो मैं संसारके प्रपञ्चमें कितना फँस जाती । और पता नहीं शूकर-कूकरकी भाँति कितनी वंश-वृद्धि होती । आपकी तपश्चर्यासे मैं भी पवित्र बन गयी । यह सब आपका ही प्रताप और प्रसाद है । अब आप कृपापूर्वक अपने अध्ययन-लेखनमें लगिये । मुझे सदाके लिये भूल जाइये ।' यों कहकर वह जाने लगी ।

पण्डितजी—भामती ! भामती ! तनिक रुक जाओ, मेरी बात तो सुनो !

भामती—नाथ ! आप अपनी जीवनसंगिनी साधनाका विस्मरण करके क्यों मोहकी गर्तमें गिरते हैं और मुझको भी क्यों इस पाप-पङ्कमें फँसाते हैं ?

पण्डितजी—भामती ! मैं तुझे पाप-पङ्कमें नहीं फँसाना चाहता । मैं तो अपने लिये सोच रहा हूँ कि मैं पाप-गर्तमें गिरा हूँ या किसी ऊँचाईपर स्थित हूँ ।

भामती—नाथ ! आप तो देवता हैं, आप जो कुछ लिखेंगे, उससे जगत्का उद्धार होगा ।

पण्डितजी—'भामती ! तुम सच मानो ! भगवान् व्यासने वर्षों तप करनेके बाद इस ग्रन्थकी रचना की और मैंने जीवनभर इसका पठन एवं मनन किया; परंतु तुम विश्वास करो कि मेरा यह समस्त पठन-मनन, मेरा समग्र विवेक, यह सारा वेदान्त तुम्हारे पवित्र सहज तपोमय जीवनकी तुलनामें सर्वथा नगण्य हैं । व्यास भगवान्ने ग्रन्थ लिखा, मैंने पठन-मनन किया, परंतु तुम तो मूर्तिमान् वेदान्त हो ।' यों कहते-कहते पण्डितजी पुनः उसके चरणोंपर गिरने लगे । भामतीने उन्हें उठाकर विनम्रभावसे कहा—'पतिदेव ! यह क्या कर रहे हैं ? मैंने तो अपने जीवनमें आपकी सेवाके अतिरिक्त कभी कुछ चाहा नहीं । आपने मुझ-जैसीको ऐसा सेवाका सुअवसर दिया । यह आपका मुझपर महान् उपकार है । आजतक मैं प्रतिदिन आपके चरणोंमें सुखसे सोकर नींद लेती रही हूँ, यों इन चरणोंमें ही सोती-सोती महानिद्रामें पहुँच जाऊँ, तो मेरा महद्-भाग्य हो ।'

पण्डितजी—भामतीदेवी ! सुनो, मैंने अपना सारा जीवन इन पन्नोंके लिखनेमें ही बिता दिया । परंतु तुमने मेरे पीछे जैसा जीवन बिताया है, उसके सामने मुझे अपना जीवन अत्यन्त क्षुद्र और नगण्य प्रतीत हो रहा है । मुझे इस ग्रन्थके एक-एक पन्नेमें, एक-एक पङ्क्तिमें और अक्षर-अक्षरमें तुम्हारा जीवन दीख रहा है, अतः जगत्में यह ग्रन्थ अब तुम्हारे ही नामसे प्रसिद्ध होगा । तुमने मेरे लिये जो अपूर्व त्याग किया, उसकी चिरस्मृतिके लिये मेरा यह अनुरोध स्वीकार करो । 'प्रभो ! आप ऐसा कीजिये जिसमें इस अतुलनीय आत्मत्यागके सामने मुझ-जैसे क्षुद्र मनुष्यको जगत् भूल जाय ।' 'आप अपने काममें लगिये देव !' यों कहकर भामती जाने लगी । तब 'तुमको जहाँ जाना हो, जाओ परंतु अब मैं जीवित मूर्तिमान् वेदान्तको छोड़कर वेदान्तके मृत शवका स्पर्श नहीं करना चाहता ।' यों कहकर पण्डितजीने पोथी-पत्रे बाँध दिये ।

पण्डितजीके द्वारा रचित महान् ग्रन्थ आज भी वेदान्तका एक अप्रतिम रत्न माना जाता है । इस ग्रन्थका नाम है—'भामती' और इसके लेखक हैं—पण्डित वाचस्पति मिश्र ।

॥ श्रीहरिः शरणम् ॥

श्रीगीता-रामायण-प्रचार-सङ्घका निवेदन

'कल्याण' में 'गीता-जयन्ती' तक सवा लाख गीतापाठके लिये प्रार्थना की गयी थी। इस सम्बन्धमें पाठकोंकी सूचना प्राप्त हो गयी थी। साथ ही श्रीगीताजी और श्रीरामचरितमानस-प्रचार-सङ्घके सदस्य बननेके लिये भी निवेदन किया गया था। हर्ष और संतोषकी बात है कि 'कल्याण'के पाठक-पाठिकाओंने बड़े ही उत्साहके साथ इस ज्ञानयज्ञमें हाथ बँटाया है तथा हार्दिक सहयोग प्रदान किया है। अबतक श्रीगीता-रामायण-प्रचार-सङ्घके गीता-विभागमें ३२४५ सदस्य और रामायण-विभागमें ३१२५ सदस्य बने हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर प्रतिदिन ७८४ पाठ श्रीगीताजीके और ५२ पाठ श्रीरामायणजीके, इसी हिसाबसे २८२२४० पाठ गीताजीके और १८७२० रामायणजीके वार्षिक स्थायी रूपसे हो रहे हैं।

जिन महानुभावोंने पाठका नियम लिया है आशा है, वे सब-के-सब उसी उत्साहसे नियमानुसार बराबर पाठ करते रहेंगे। यदि किसी कारणविशेषसे किसी सज्जनका कोई पाठ छूट जाय तो वे कृपापूर्वक पाठकी पूर्ति कर लें और भविष्यमें अनुष्ठानका क्रम न टूटे—इस बातका विशेष ध्यान रक्खें। कृपापूर्वक सालमें दो बार, 'पाठ बराबर चालू है' यह सूचना अवश्य देनेकी कृपा करें।

× × ×

आप जानते ही हैं कि गीता और रामायणके पाठकी कितनी अपार महिमा है। विश्व-साहित्यके ये दो अमूल्य रत्न हैं। ये दोनों प्रासादिक ग्रन्थ माने गये हैं और इनके प्रेमपूर्वक स्वाध्यायसे बड़ा भारी लाभ मिलता है। अतः प्रत्येक व्यक्तिका इनके स्वाध्यायके लिये प्रयत्न करना परम कर्तव्य है—ऐसा समझकर आप भी इस कार्यमें योग प्रदान करते रहनेकी कृपा करें।

जिन महानुभावोंने गीता-रामायण-प्रचारमें अपना हार्दिक सहयोग प्रदान कर सदस्य बनाये हैं और बना रहे हैं, उनके प्रति हम बहुत अधिक कृतज्ञ हैं और हम आशा करते हैं कि इसी प्रकार वे विशेष उत्साहसे इस भगवत्कार्यमें हाथ बँटाते रहेंगे—जिससे इसके लाखों सदस्य बनाये जा सकें। प्रत्येक सदस्य कम-से-कम एक-एक और सदस्य बना दें तो यह संख्या सहज ही दुगुनी हो सकती है। सदस्य बनने और बनानेके लिये आवेदनपत्र नीचे लिखे पतेसे मँगवानेकी कृपा करें।

आशा और विश्वास है—आपका सहयोग हमें सदा मिलता रहेगा।

विनीत,

संयोजक—श्रीगीता-रामायण-प्रचार-सङ्घ

पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

Regd. No. A. 175.

श्रीहरिः

परोपकारकी महत्ता

दानेन भूतानि वशीभवन्ति
दानेन वैराण्यपि यान्ति नाशम् ।
परोऽपि बन्धुत्वमुपैति दानै-
र्दानं हि सर्वव्यसनानि हन्ति ॥

तृणं चाहं वरं मन्ये नरादनुपकारिणः । घासो भूत्वा पशून् पाति भीरून् पाति रणाङ्गणे ॥
परोपकृतिकैवल्ये तोलयित्वा जनार्दनः । गुर्वीमुपकृतिं मत्वा ह्यवतारान् दशाग्रहीत् ॥
परोपकारशून्यस्य धिङ् मनुष्यस्य जीवितम् । जीवन्तु पशवो येषां चर्माप्युपकरिष्यति ॥

दानसे सब प्राणी वशमें हो जाते हैं, दानसे वैर नष्ट हो जाते हैं, दानसे पराये भी अपने भाई-बन्धु बन जाते हैं और दान सारे व्यसनोंको मिटा देता है। उपकार न करनेवाले मनुष्यसे मैं तिनकेको भी श्रेष्ठ मानता हूँ, क्योंकि वह घास बनकर पशुओंकी रक्षा करता है और रणाङ्गणसे भागे हुए डरपोक मनुष्योंको छिपाकर बचा लेता है। एक बार विष्णु भगवान्ने मुक्ति और परोपकारको तराजूके पलड़ोंपर रखकर तौला तो परोपकार-का पलड़ा ही भारी रहा। इसीलिये उन्होंने दस अवतार धारण करके परोपकार किया। परोपकार न करनेवाले मनुष्यके जीवनको धिक्कार है। जीते रहें वे पशु, जिनका चमड़ा भी जूता बनकर उपकार करेगा।

वर्ष २३ अङ्क ३

कल्याण

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम । जय रघुनन्दन जय सियाराम ॥
रघुपति राघव राजा राम । पतितपावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा । जय गणेश जय शुभ-आगारा ॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर चैत्र, मार्च सन् १९४९ की

चित्र-सूची

तिरंगा

वार्षिक मूल्य भारतमें ६≈) विदेशमें ८॥=) (१३शिलिङ्ग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत् चित् आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्र[illegible] भारतमें [illegible] विदेशमें ॥[illegible] (१० [illegible]

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

सूचना

श्रीजयदयालजी गोयन्दका आगामी चैत्र शुक्ल १५ ता० १३ अप्रैलके लगभग ऋषिकेश स्वर्गाश्रम गीताभवनमें पहुँचनेवाले हैं। सदाकी भाँति ही वहाँ ठहरनेका विचार है। स्त्रियोंको ससुराल या पीहरके किसी घरके आदमीको साथ लिये विना अकेले नहीं आना चाहिये। गहना आदि जोखिमकी चीजें साथ नहीं लानी चाहिये। बच्चोंको वे ही लोग साथ लावें जो उन्हें अलग डेरेपर रखनेका प्रवन्ध कर सकते हों। सब लोगोंको बच्चे साथ नहीं लाने चाहिये क्योंकि सत्सङ्गमें बच्चोंके आनेसे विघ्न होता है। खान-पानकी प्रायः सभी चीजोंका प्रवन्ध है परन्तु दूधकी बहुत कमी है, अतएव आनेवालोंको दूधकी विशेष माँग न करके संयमसे काम चलाना चाहिये।

कामना ही पापकी जड़ है

पार्थ! यह काम पापकी खान।
रागात्मक रजसे पैदा हो हर लेता सब ज्ञान॥
यही मूल है सब पापोंका, इसको वैरी जान।
प्रतिहत होकर यही क्रोध बन जाता अति बलवान॥
कभी न भरता पेट भोगसे, इसकी भूख महान।
आत्मपतनमें प्रबल हेतु इन दोनोंको पहचान॥

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम । जय रघुनन्दन जय सियाराम ॥
रघुपति राघव राजा राम । पतितपावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा । जय गणेश जय शुभ-आगारा ॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर चैत्र, मार्च सन् १९४९ की

चित्र-सूची

तिरंगा

वार्षिक मूल्य भारतमें ६≡) विदेशमें ८॥=) (१३शिलिङ्ग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत् चित् आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्र[illegible] भारतमें [illegible] विदेशमें [illegible] (१० [illegible]

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

वेणुवादनशीलाय गोपालायाहिमर्दिने । कालिन्दीकूललीलाय लोलकुण्डलधारिणे ॥
बल्लवीनयनाम्भोजमालिने नृत्यशालिने । नमः प्रणतपालाय श्रीकृष्णाय नमो नमः ॥

वर्ष २३ | गोरखपुर, सौर चैत्र २००५, मार्च १९४९ | संख्या ३ पूर्ण संख्या २६८

कामना ही पापकी जड़ है

पार्थ ! यह काम पापकी खान।
रागात्मक रजसे पैदा हो हर लेता सब ज्ञान ॥
यही मूल है सब पापोंका, इसको वैरी जान।
प्रतिहत होकर यही क्रोध बन जाता अति बलवान ॥
कभी न भरता पेट भोगसे, इसकी भूख महान।
आत्मपतनमें प्रबल हेतु इन दोनोंको पहचान ॥

याद रक्खो—जो सद्गुण भगवान्‌में प्रीति बढ़ानेवाले नहीं हैं, उनमें कहीं-न-कहीं कोई दोष है। उसको खोजो और दूर करो। सद्गुणकी यही पहचान है कि वह भगवान्‌की ओर ले जाता है।

याद रक्खो—जिसको अपने सद्गुणोंका अभिमान है और जो अपनेको उनका निर्माण करनेवाला मानता है, उसके सद्गुणोंकी संख्यावृद्धि तथा विशुद्धि रुक जाती है। सद्गुणोंका अभिमान दूसरोंमें दोषोंका दर्शन कराता है एवं उनके प्रति हेयदृष्टि, घृणा उत्पन्न करता है। जिसका परिणाम व्यवहारमें क्रमशः प्रेमशून्यता, कटुता, द्वेष, द्रोह और अन्तमें हिंसा-प्रतिहिंसातक हो सकता है।

याद रक्खो—जहाँ दोष-दर्शनकी बान पड़ी कि फिर किसीके छोटे दोष भी बहुत बड़े दीखते हैं, बिना हुए ही दोष दीखने लग जाते हैं और अन्तमें कोई भी पुरुष ऐसा नहीं बच जाता कि जिसमें दोष-दर्शन करनेवालेकी दोषपूर्ण बुद्धि किसी दोषको न देखे। यहाँतक कि फिर, उसकी दृष्टिमें मङ्गलमय भगवान्‌में भी दोष दीखने लगते हैं।

याद रक्खो—जितना ही दोष-दर्शन बढ़ता है, उतना ही दोषोंका चिन्तन, मनन भी बढ़ता है। फलतः दोषोंमेंसे घृणा निकल जाती है और उनमें प्रीति उत्पन्न होने लगती है।

याद रक्खो—अच्छे उद्देश्यसे भी बुरी वस्तुका बार-बारका चिन्तन-मनन उस वस्तुके विविध चित्र हृदयपर अङ्कित कर देता है और फिर बार-बार उसीकी स्फुरणा और स्मृति होती है तथा सद्गुण क्षीण होने लगते हैं।

याद रक्खो—जब इस प्रकार बाहर-भीतर दोष-ही-दोष आकर बस जाते हैं और उन्हींमें मन घुल-मिल जाता है, तब सारे सद्गुण क्षीण होते-होते लुप्त हो जाते हैं। परिणाम यह होता है कि दोषोंमें ही गुणबुद्धि होने लगती है, पापमें ही पुण्यबुद्धि होने लगती है।

याद रक्खो—जहाँ बुद्धिने गुणको दोष और दोषको गुण मान लिया कि फिर चित्तका भण्डार दोषोंसे भर जाता है, उनमें आसक्ति हो जाती है और बार-बार प्रयत्न होता है नये-नये दोषोंका संग्रह करनेके लिये।

याद रक्खो—सद्गुण वही टिकते हैं, जो प्रभुको समर्पित होते रहते हैं और जिनकी प्राप्तिमें प्रभुकृपाको ही कारण माना जाता है। इस स्थितिमें प्रभुकृपा अभिमान नहीं उत्पन्न होने देती और सद्गुणोंकी बड़ी सावधानीसे रक्षा करती है। फिर ये सद्गुण भगवान्‌की पूजाके पुष्प बन जाते हैं और इनकी सुगन्ध तथा प्रसादसे आस-पासका सारा वातावरण सुख-शान्तिकी मधुर मनोहर सुगन्धसे भर जाता है।

याद रक्खो—सद्गुण वे ही हैं—जो किसी भी लौकिक कामना-वासनासे या अहंता-ममतासे कलङ्कित न होकर प्रभुके चरणोंमें समर्पित होने योग्य होते हैं। जिन सद्गुणोंपर अभिमानकी, ममताकी, मोहकी, कामना-वासनाकी कालिमा लग जाती है, वे भगवच्चरणों-पर चढ़नेयोग्य नहीं रहते। उनसे तो कलङ्क ही बढ़ता है।

याद रक्खो—वही सद्गुण है, वही सद्भाग्य है, जो मानव-जीवनको भगवच्चिन्तनमें लगा दे। सद्गुणोंके अभिमानसे भरी लंबी आयुकी अपेक्षा घड़ी-दो-घड़ीका वह समय महान् श्रेष्ठ है जिसमें मनुष्य अपनेको 'तृणादपि सुनीच' और सर्वथा पुरुषार्थहीन एवं गुणहीन मानकर भगवान्‌के पावन चरणोंका आश्रय ले पाता है।

'शिव'

बन्ध-मोक्षका कारण

(श्री १००८ श्रीपूज्य स्वामीजी श्रीकरपात्रीजी महाराज)

भगवान् वशिष्ठने मिथ्यापुरुषका दृष्टान्त देकर अहङ्कारका उन्मूलन बतलाया है। जैसे किसी आकाशमें एक मिथ्या कल्पनामय पुरुष उत्पन्न हुआ और उसने आकाशकी रक्षाके लिये गृह, कूप, कुण्ड, कुम्भ आदि बनाये, परंतु सब-के-सब नष्ट होते गये। उसी तरह सूक्ष्म चिदाकाशमें 'अहं' नामका मिथ्यापुरुष उत्पन्न हुआ। वह भी उस चिदाकाशकी रक्षाके लिये नानाविध देहोंद्वारा उसे सीमित करके सुरक्षित रखना चाहता है; परंतु विनश्वर देहोंके नाशसे तत्स्थ चिदाकाशका नाश समझकर रोता है और पुनः देहान्तर रचता है। अहङ्कार, चित्त, बुद्धि, मन, माया, प्रकृति, सङ्कल्प, कल्पना, काल, कला, सब उसी मिथ्यापुरुषके नाम हैं। वह स्वयं मिथ्या है। मिथ्या कल्पनाद्वारा मिथ्याभिमानसे वह स्वयं दुखी होता है। आत्मा तो आकाशसे भी सूक्ष्म और विस्तीर्ण है। उसका किसी सीमामें आना सम्भव नहीं। उसका नाश और रक्षा भी किसीके वशकी बात नहीं है—

इयं तु सर्वदृश्याढ्या राजन् सर्गपरम्परा।
तस्मिन्नेव महादर्शे प्रतिबिम्बमुपागता॥

जल जैसे तरङ्गताको प्राप्त होता है, वैसे ही सङ्कल्पोन्मुख होकर चिन्मात्र संवित् ही जीवत्वको प्राप्त होता है।

पथिकाः पथि दृश्यन्ते रागद्वेषविमुक्तया।
यथा धिया तथैवैते द्रष्टव्याः स्वेन्द्रियादयः॥
एतेषु नादरः कार्यः सता नैवावधीरणम्।
पदार्थमात्रमाविघ्नास्तिष्ठन्त्वेते यथासुखम्॥
पदार्थमात्रदेहादि धिया सन्त्यज्य दूरतः।
आशीतलान्तःकरणो नित्यमात्ममयो भव॥

देह, इन्द्रिय, मन आदि सभी दृश्य अनात्मा, जड तथा मिथ्या हैं। आत्मा सर्वथा असङ्ग है, इनसे अलिप्त है। अतः बुद्धिसे ही इन सबका त्याग करके विशुद्ध आत्मामें प्रतिष्ठित होना ही पुरुषार्थ है। 'मैं देहादि सङ्घातमय हूँ'—यह बुद्धि अनर्थकारिणी है। 'चिन्मात्र, सन्मात्र, व्यापक, सर्वस्वरूप आत्मा हूँ'—यही बुद्धि कल्याणकारिणी है।

कुचकोटरसंसुप्तं विस्मृत्य जननी सुतम्।
यथा रोदिति पुत्रार्थं तथाऽऽत्मार्थमयं जनः॥
अजरामरमात्मानमबुद्ध्वा परिरोदिति।
हा हतोऽहमनाथोऽहं नष्टोऽस्मीति वपुर्व्यये॥

अर्थात् जैसे छातीपर सोये हुए पुत्रको भूलकर माता पुत्रके लिये रोती है, वैसे ही अजर, अमर आत्माको न जानकर देहका नाश उपस्थित होनेपर 'मैं नष्ट हुआ, अनाथ हो गया' इत्यादि रूपसे प्राणी रोता है। वस्तुतः चिद्ब्रह्म ही सब कुछ है, उससे अतिरिक्त कोई भी वस्तु कभी हुई ही नहीं। सब कुछ चिदादर्शमय है, इस भावनासे प्राणी शान्त रहता है। सर्वशून्य, निरालम्ब, निर्विषय चित्त ही सब कुछ है, यह भावना ही तापहारिणी है—

चिदादर्शमयं सर्वं जगदित्येव भावयेत्।
सर्वं शून्यं निरालम्बं चिद्रूपमिति भावयेत्॥

तृण, गुल्म, नर, नाग, आकाश, वायु, सूर्य, पृथ्वी सम्पूर्ण प्रपञ्चमें एकमात्र स्वप्रकाश संवित्स्वरूप सत्ता ही सार है। सरित्, सरोवर, समुद्रमें स्वच्छ जलके समान ही सर्वत्र स्वच्छ सत्तामात्र आत्मा ही भरपूर है। जैसे स्वप्नके घटादि अपनी उत्पत्तिमें मृत्तिका, दण्ड, चक्रादिकी अपेक्षा नहीं करते; किंतु अज्ञान, निद्रादि उनकी सामग्री कुछ और ही है, वैसे ही वस्तुतः सर्ग वास्तविक कारणरहित मायामय अनिर्वचनीय है। जैसे जल-तरङ्गादिमें सूर्यका प्रतिबिम्ब होनेपर उपाधिगत हलचल प्रतिबिम्बमें प्रतीत होती है, वैसे ही अविद्या अन्तःकरणादि उपाधिमें चित्प्रतिबिम्बरूप जीवमें भी उपाधिगत कर्म प्रतीत होते हैं। वे उपाधिगत कर्म ही उन जीवोंके सुख-दुःखके कारण बनते हैं। सङ्कल्पोंसे ही कर्म और बन्ध आदि होते हैं, निःसङ्कल्पता मोक्षका कारण है।

इच्छाशक्ति या प्रभुकृपापर विश्वास

आधुनिक युगमें इच्छाशक्तिको बहुत महत्त्व दिया जा रहा है। उचित भी है। यह नितान्त सत्य है कि हमारी इच्छाशक्तिमें बहुत बल है। इस बलका उपयोग करके हम अपनी गिरी दशासे बहुत कुछ ऊपर उठ सकते हैं। पर जबतक इस शक्तिका प्रवाह प्रभुकी ओर नहीं होता, तबतक इसके द्वारा भले ही हम कुछ समयके लिये ऊँचे स्तरपर आ जायँ; किंतु वह स्थिति स्थायी नहीं हो सकती। निरन्तर हमारे लिये पतनका भय लगा ही रहेगा और कुसमयमें—जिस समय हमें अन्य दुर्बलताएँ आकर घेरेंगी, उस समय—हम अपनी प्राप्त स्थितिसे भी नीचे गिर सकते हैं, गिरते हैं। कल्पना करें—हमारी इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति किसी कुमार्गकी ओर हुई। अब यदि वास्तवमें हम यह दृढ़ इच्छा करें, पूरे मनोयोगसे यह चाहें कि नहीं, हम अपनी इन्द्रियोंको कुमार्गमें नहीं जाने देंगे, हमारी इन्द्रियाँ कुमार्गमें नहीं जा सकतीं, इस प्रकार दृढ़ सङ्कल्प करके इन्द्रियोंको कुपथसे हम पूरी तत्परतापूर्वक हटाना चाहें, हटा दें, तो इन्द्रियोंमें सचमुच यह शक्ति नहीं है कि हमारी आज्ञाका, दृढ़ सङ्कल्पका वे विरोध कर सकें। उन्हें लौटना पड़ेगा, वे एक बार निश्चय लौट आयेंगी। पर इतनेमात्रसे ही हमारे पतनका भय चला गया हो, इन्द्रियाँ फिर उस ओर नहीं ही जायँगी, यह सुनिश्चित हो गया हो, सो बात नहीं है। पुनः जहाँ वैसा कोई अवसर आयेगा, हम असावधान होंगे, अपनी इच्छाशक्तिपर नियन्त्रण खो बैठे होंगे, कुछ क्षणों पहले हमने वैसे ही मिलते-जुलते बुरे भावोंको अपनी दुर्बलतावश मनमें स्थान दे रक्खा होगा कि बस, उस ओरसे लौटी हुई वे इन्द्रियाँ उछलेंगी और बाँध तोड़कर वैसे ही असत् पथकी ओर और भी प्रबल वेगसे भागने लगेंगी। अतः स्थितिको स्थायी बनाये रखनेके लिये यह भी परम आवश्यक है कि जैसे अपने अंदरकी इच्छाशक्तिका प्रयोग करके, दृढ़ सङ्कल्पके द्वारा हमने इन्द्रियोंको कुमार्गकी ओरसे हटाया, निषेधात्मक प्रयोगसे उन्हें शान्त किया, वैसे ही, उतनी ही दृढ़तासे पुनः उसी इच्छाशक्तिका आश्रय लेकर हम उन्हें प्रभुकी ओर प्रवृत्त करें, प्रभुकी ओर उनकी अविराम गति कर दें, निर्माणात्मक प्रयोगके द्वारा हम उन्हें नित्य, सत्य, अखण्ड, अचल, परम मङ्गलमय प्रभुसे जोड़ दें। ऐसा कर लेंगे तो फिर प्राप्त हुई स्थितिसे हमारा पतन असम्भव हो जायगा।

जैसे किसी स्रोतमें एक ओरसे जल आ रहा हो। हमने निश्चय किया कि अमुक दिशाकी ओर जल नहीं जाने देंगे; और फिर उस ओर सुदृढ़ बाँध बाँध दिया। अब जल रुक तो जायगा, किंतु उसके निकलनेका मार्ग भी हमें बनाना चाहिये। अन्यथा जल एकत्र होते-होते जहाँ बाँधकी सीमाको छूने लगा कि बाँध या तो टूटेगा या बाँधको लाँघकर जल बह चलेगा। ऐसे ही जबतक हमारी इन्द्रियाँ काम कर रही हैं, उनमें प्रवाह है ही। यदि हमने इच्छाशक्तिका प्रयोग करके उन्हें किसी ओर जानेसे रोक भी दिया तो इसका यह अर्थ नहीं कि उनका उस ओरका प्रवाह बंद हो गया हो। भले ही हमें दीखे नहीं; पर अन्तश्चेतनामें उनकी गति सतत उस ओर ही है। इसीलिये हमें उचित है कि उस ओरसे रोकनेके साथ-ही-साथ तुरंत हम उन्हें प्रभुकी ओर मोड़ दें। वे उस ओर मुड़ गयीं, मुड़कर प्रभुसे जुड़ गयीं, तब फिर तो सागरसे मिले हुए सोतेकी भाँति सदाके लिये प्रभुकी ओर ही बहती रहेंगी। फिर उनकी दिशा बदल जाय, फिर कुमार्गकी ओर वे दौड़ चलें, इसकी सम्भावना सर्वथा समाप्त हो जायगी।

किंतु यह तो तब सम्भव है कि जब हमारा विवेक जाग्रत् हो; यह भला है; यह बुरा है, यह सुमार्ग है, यह कुमार्ग है—इसकी हमें पूरी पहचान हो; इसकी

सजग स्मृति हमारे अंदर सदा बनी रहे। यह विवेक यदि मर नहीं गया है, तो फिर इच्छाशक्तिका प्रयोग करके हम नीचे गिरनेसे बच सकते हैं—ऊपर उठ सकते हैं, पर कभी-कभी तो ऐसा होता है कि हम सर्वथा विमोहित हो जाते हैं। क्या करने जा रहे हैं, किधर जा रहे हैं, हमारी इस चेष्टाका कितना भयानक परिणाम होगा—इन बातोंको हम सर्वथा भूल जाते हैं तथा अंधे-से, पागल-से हुए अपनेको नरककी ज्वालामें होम देनेके लिये दौड़ पड़ते हैं। उस समय इच्छाशक्ति क्या काम आयेगी? बचनेकी इच्छा हो तब न हम इच्छाशक्तिका सत्-प्रयोग करेंगे? जहाँ बचना नहीं, डूबना ही उद्देश्य है, वहाँ तो इस शक्तिकी उपयोगिता नगण्य बन जाती है। वरं ऐसी स्थितिमें किसीकी यदि इच्छा-शक्ति बलवती हुई रहती है तो उसका अशुभमें प्रयोग हो जाता है और परिणामस्वरूप भीषण पतन होता है। आसुरी स्वभाववालोंकी भी इच्छाशक्ति प्रबल रह सकती है, पर उसका प्रयोग वैसे ही होता है, जैसे प्रयोग करनेवालोंके आसुरी स्वभावके कारण परमोपकार करनेमें समर्थ अणु-शक्ति (एटम) का प्रयोग जनसंहारमें, फलतः परम्परागत विद्वेष और शत्रुताके विस्तारमें होता है! पर ऐसी भीषण परिस्थितिमें भी हममेंसे बहुतोंका यह अनुभव है कि ठीक मौकेपर कोई आकस्मिक, अप्रत्याशित घटना घट जाती है और आश्चर्यरूपसे हमारी रक्षा हो जाती है; पतनके किनारेसे हम लौट आते हैं, ठीक गिरते-गिरते बच जाते हैं। जो प्रभुकी सत्तामें विश्वास करना नहीं चाहते, वे तो ऐसी घटनाओंका नाम संयोग (Chance) रख देते हैं। पर जो प्रभुकी सत्तामें विश्वास रखते हैं वे इसे मानते हैं 'प्रभुकी अहैतुकी कृपा।' वास्तवमें यह सयोग (Chance) नहीं है, सर्वथा निश्चितरूपसे प्रभुकी कृपा ही है। फिर हम क्यों नहीं आरम्भसे ही प्रभुकी कृपापर ही विश्वास करें? इच्छाशक्तिमें अपार बल होनेपर भी हमें धोखा हो सकता है। उससे उलटा परिणाम भी हो सकता है, वैसे ही जैसे अग्निसे यज्ञादि शुभ कर्म भी हो सकते हैं और सब कुछ भस्म भी हो सकता है; किंतु प्रभुकी कृपापर विश्वास होनेके उपरान्त कभी धोखा नहीं होगा, यह ध्रुव सत्य सिद्धान्त है।

हम सोचकर देखेंगे तो पता चलेगा कि इच्छाशक्ति-को तो हमें जगाना पड़ता है, अपनी सहायताके लिये बुलाना पड़ता है, पर प्रभुकी कृपा तो सदा जागी हुई है, निरन्तर हमें बुला रही है, पुकार रही है—'अरे अबोध प्राणी! जागो, मेरी ओर देखो, क्यों भटक रहे हो?' पर हमारे कान तो दूसरी ओर हैं, हम क्यों सुनने लगे। इतनेपर भी न जाने कितनी बार वह हमारे सामने आती है, हमें खड्डेमें गिरनेसे बचाती है। साथ ही हमारी रक्षा करके हमपर अहसान करने नहीं आती, अपितु हमारा काम सँवारकर तुरंत छिप जाती है और हम ऐसे कृतघ्न हैं कि उसको भूल ही नहीं जाते, उसका अस्तित्वतक स्वीकार नहीं करना चाहते, उसके उपकारको संयोगकी बात बताकर टाल देते हैं। इसके बाद भी अत्यन्त गाढ़े समयमें वह पुनः हमारे सामने आती है और हमारी सहायता करती है। हममेंसे प्रत्येकको अपने जीवनकी घटनाओंपर विचार करनेके उपरान्त, एकमात्र प्रभुकी कृपासे ही अमुक-अमुक कार्य हुए थे—यह कहनेमें तनिक भी संकोचका अनुभव नहीं होगा। अतः यदि हम पतनसे बचनेके लिये पहलेसे ही प्रभुकी कृपापर विश्वास कर लें तो हमारी जीवनयात्रा कितनी सरल, सुखमय हो जाय।

इच्छाशक्तिमें जो बल है, वह भी आता है प्रभुके यहाँसे ही। हम आखिर हैं कौन? उन सत्-चित्-आनन्दमय प्रभुके अंश ही तो हैं। हमारे अंदर जो कुछ भी है, वह सर्वथा सब कुछ प्रभुका ही तो है। हमारे आत्माका बल ही तो इच्छाशक्तिके रूपमें प्रकाशित होता है। यह आत्मबल सर्वथा प्रभुके बलके अतिरिक्त

और क्या वस्तु है ? अवश्य ही यहाँ, प्रभुका यह बल हमारे 'अहंता' रूपी आवरणके अंदरसे प्रकाशित होता है, हमारा 'मैं' उस बलको जितने अंशमें ग्रहण कर पाता है, उसे प्रकट होनेके लिये अवकाश दे पाता है, उतने अंशमें ही वह बल व्यक्त हो पाता है। इसीलिये उसकी एक सीमा बन जाती है, और इसीलिये हमारी इच्छाशक्तिका बल भी सीमित है; किंतु प्रभुकी कृपापर विश्वास कर लेनेके अनन्तर प्रभुका जो बल व्यक्त होता है, वह असीम बनकर ही व्यक्त होता है। ऐसा इसीलिये कि जिस क्षण हम प्रभुकृपापर विश्वास करने चलते हैं, उस समय हमारा 'मैं' अत्यन्त सङ्कुचित, क्षुद्र, हलका बन जाता है, कृपाको पूर्णरूपसे व्यक्त होनेके लिये खुला मार्ग दे देता है। फिर जहाँ वह प्रभुकृपाका बल आया कि बस, हमारे लिये असम्भव भी सर्वथा सम्भव बन जाता है। जो कार्य इच्छाशक्तिके प्रयोगसे वर्षोंमें नहीं होता, वह प्रभुकृपासे क्षणोंमें पूर्ण हो जाता है।

प्रभुकी कृपापर विश्वास करनेके उपरान्त यदि हम इच्छाशक्तिका प्रयोग करें तब फिर तो कहना ही क्या है। फिर तो वह स्वयं विशुद्ध होकर विशुद्ध लक्ष्यकी ओर जानेवाली हो जायगी और प्रभुका बल मिल जानेके कारण वह सर्वथा अव्यर्थ और अचूक बन जायगी। भक्तशिरोमणि गोस्वामी तुलसीदासजीने एक पदमें अपने ऐसे ही प्रयोगका वर्णन किया है। वे कहते हैं—'रे संसार ! मैं तुझे अब जान गया। तेरे अंदर अब शक्ति नहीं कि तू मुझे बाँध ले। मुझमें अब प्रभुका बल आ गया है। प्रभुके बलसे मैं अत्यन्त बलवान् हो गया हूँ, अब तू मुझे नहीं बाँध सकता। तू प्रत्यक्ष कपटका घर है, तेरे कपटमें मैं अब नहीं भूल सकता। × × × तू अपनी सेना समेट ले। हट जा यहाँसे। चला जा; मेरे हृदयमें तू नहीं रह सकता। वहाँ जाकर रह, जिस हृदयमें प्रभुका निवास न हो। मेरा हृदय तो प्रभुका निवास बन गया है। यहाँ अब तेरे लिये स्थान नहीं है, तू टिक नहीं सकता।'

> मैं तोहि अब जान्यो संसार।
> बाँधि न सकहि मोहि हरिके बल प्रगट कपट आगार॥
>
> × × ×
>
> सहित सहाय तहाँ बसि अब जेहि हृदय न नंदकुमार॥

गोस्वामीजी यहाँ इच्छाशक्तिका ही प्रयोग कर रहे हैं, पर उनकी इच्छाशक्तिके पीछे अपनी 'अहंता'के द्वारसे झरनेवाला आसुरी बल नहीं है, अपितु प्रभुका अनन्त असीम बल—प्रभुकी कृपाका पुनीत बल है। ऐसा समन्वय तो हमारे लिये परम वाञ्छनीय है, बिना हिचक हमें यह कर ही लेना चाहिये। ऊपर उठनेके लिये, पतनसे बचनेके लिये हम यदि प्रभु-कृपाके बलसे बलवान् बनकर इस प्रकार इच्छाशक्तिका प्रयोग करें, तो हमारा जीवन भी देखते-देखते अन्धकारसे निकलकर प्रभुके आलोकमें आ जाय।

बहुत ठीक, पर ऐसा हो कैसे ? प्रभुकी कृपाकी अनुभूति हमें क्यों नहीं होती ? प्रभुका बल हमें कैसे मिले ? तो इसके लिये यह बात है कि हममेंसे ऐसा कोई भी नहीं है जो प्रभुकी अनन्त अपरिसीम कृपासे, प्रभुके अपार बलसे वञ्चित हो। हम सभीके ऊपर-नीचे, दाहिने-बायें, भीतर-बाहर—सर्वत्र प्रभु भरे हैं, सर्वत्र उनकी कृपा, उनका बल भरा है। उनकी कृपा हमें खींच भी रही है, उनका बल हममें निरन्तर बलका सञ्चार भी कर रहा है, हम जब उनकी ओर देखते हैं तो हमें इसका यत्किञ्चित् अनुभव भी होता है। पर सदा एवं पूर्ण अनुभव इसलिये नहीं होता कि हम अपने-आपको भूले हुए हैं। हमारा लक्ष्य अभी दूसरा है, हम प्रतीक्षा औरकी कर रहे हैं। प्रभुकी कृपाकी ओर वास्तवमें अभी हमारी दृष्टि ही नहीं। हम हैं सच्चिदानन्दमय प्रभुके अंश, पर अपनेको मानते हैं साढ़े तीन हाथका शरीर। हमारा लक्ष्य होना चाहिये प्रभुसे

भेंट, पर लक्ष्य हो रहा है विविध विनाशशील विषयोंका भोग। चाह होनी चाहिये थी प्रभुकी अनवरत बरसनेवाली कृपाके दर्शनकी, पर चाह है उस कृपाको पद-पदपर ढक देनेवाले अहंकारके विजयकी। दृष्टि होनी चाहिये प्रभुकी अहैतुकी नित्य कृपाकी ओर, अक्षय असीम बलकी ओर; किंतु दृष्टि लग रही है जगत्‌में प्राप्त होनेवाले मिथ्या आश्वासनोंकी ओर,—भौतिक नश्वर, सीमित बलकी ओर। इसीलिये हमें प्रभुका, उनकी कृपाका आकर्षण दीखकर भी नहीं दीखता; उनका बल हममें निरन्तर पूर्ण रहनेपर भी हम दुर्बल बने रहते हैं। अब यदि हम केवल एक काम कर लें, प्रभुकी अहैतुकी कृपापर विश्वास कर लें तो आगेका सब क्रम अपने-आप ठीक हो जाय। प्रभुकी कृपापर विश्वास होते ही सब ओरसे दृष्टि सिमटकर कृपाकी ओर लग जायगी; फिर एकमात्र कृपाकी ही प्रतीक्षा रहेगी; प्रभु ही जीवनके एकमात्र लक्ष्य हो जायँगे और फिर यह भी भान हो जायगा कि हम देह नहीं हैं, हम हैं सच्चिदानन्द प्रभुके सनातन अंश। इसके अनन्तर पद-पदपर कृपाके आकर्षणकी अनुभूति होगी, साथ ही अपने अंदर प्रभुका दैवी बल भी क्रमशः उतर आयेगा। अब हम चाहें तो इच्छाशक्तिका यह पाठ अवश्य रटना आरम्भ करें—'जो गया सो गया, अब आगे एक क्षण भी व्यर्थ नष्ट नहीं होने दूँगा। प्रभुकी कृपासे संसाररूपी रात्रि समाप्त हो गयी। प्रभुने जगा दिया, मैं जाग उठा। अब कभी मायाकी सेज नहीं बिछाऊँगा, मायाके जालमें कभी नहीं फँसूँगा, माया मुझे अब कभी क्षणभरके लिये भी नहीं फाँस सकती। यह देखो, मुझे प्रभुका नाम-चिन्तामणि हाथ लग गया। इसे हृदयमें सदा सुरक्षित रक्खूँगा, क्षणभरके लिये भी इसे न भूलूँगा। अब आजसे इस क्षणसे प्रभुकी विस्मृति मुझे नहीं होगी, मेरा हृदय निरन्तर प्रभुकी स्मृतिसे पूर्ण रहेगा, प्रभुके स्मरणकी अखण्ड धारा मेरे हृदयमें निरन्तर अनन्तकालतक बहती रहेगी। मेरा चित्त इस क्षणसे सदा निर्मल, निर्मलतर होता रहेगा। इन्द्रियाँ अब मेरे मनको विक्षिप्त नहीं कर सकतीं, मुझे मनमाना नाच नहीं नचा सकतीं, अब ये मेरी खिल्ली नहीं उड़ा सकतीं, अब तो इनपर मेरा पूर्ण अधिकार हो गया है, मैं जो आदेश दूँगा, वही ये करेंगी, सर्वथा अनुगामिनी रहेंगी। अब आजसे मेरा मन-मधुकर प्रभुपादपद्मोंमें निरन्तर निवास करेगा।'

अबलौं नसानी अब न नसैहौं।
राम-कृपा भव-निसा सिरानी, जागे फिरि न डसैहौं॥
पायेउँ नाम चारु चिंतामनि, उर कर तें न खसैहौं।
स्यामरूप सुचि रुचिर कसौटी, चित कंचनहिं कसैहौं॥
परबस जानि हँस्यो इन इंद्रिन, निज बस ह्वै न हँसैहौं।
मन मधुकर पनकै तुलसी रघुपति-पद-कमल बसैहौं॥

सारांश यह कि अपनी इच्छाशक्तिके बलपर अपने उत्थानकी बात न सोचकर पहले प्रभुकी अनन्त अपार कृपापर हम विश्वास स्थापित करें। इस विश्वासके अनन्तर विश्वासको साथ लिये जो इच्छाशक्ति जागेगी, वह अमोघ होगी, हमें निश्चितरूपसे प्रभुकी ओर ले जाकर निर्बाध पूर्णता प्रदान करेगी। अन्यथा प्रभुके सम्बन्धसे शून्य रहनेपर अकेली वह (Personal will-power) न तो शुभकी ओर ही ले जायगी, यह निश्चय है, और न वह स्थायी स्थिति ही प्रदान कर सकेगी। स्थायी परिणामके लिये तो उसे मङ्गलमय प्रभुकी ओरसे आनेवाली परम मङ्गलमयी (Positive) शक्तिसे युक्त करना पड़ेगा। प्रभुकी कृपाशक्ति कभी नहीं चूकती। विश्वास न होनेपर भी वह हमारी रक्षा करती है, फिर विश्वास करनेवालेके मार्गको वह विघ्न-बाधासे सर्वथा शून्य करके अतिशय सरल और सुगम बना दे तो इसमें आश्चर्य ही क्या है?

हम कह सकते हैं कि प्रभुपर विश्वास स्थापित कैसे करें? होता जो नहीं। तो इसका सीधा उत्तर यह है कि या तो हम प्रभुके कृपामय विधानसे आनेवाले

दुःखकी प्रतीक्षा करें । दुःख आयेगा, राशि-राशि मात्रामें आयेगा । पर आयेगा हमारी सारी मलिनताको धोकर हमारे अंदर प्रभुका विश्वास भर देनेके लिये । अथवा शास्त्रकी बात मानकर, अगणित संतोंकी बात स्वीकार करके उनके अनुभवको सुन-पढ़कर हम विश्वास कर लें । जीवनमें न जाने कितनी अनदेखी, अनसुनी बातपर विश्वास करके हम अनेकों चेष्टाएँ करते हैं, विश्वके किस कोनेमें क्या हो रहा है, यह बिना देखे केवल समाचारपत्र पढ़कर विश्वास कर लेते हैं और उसी मान्यतापर कारोबार आरम्भ कर देते हैं । वैसे ही विश्वके समस्त सम्मान्य धर्मग्रन्थोंकी, सभी धर्मके सभी अनुभवी संत महानुभावोंकी बात मानकर प्रभुकी सत्ता स्वीकार करके नियमित रूपसे, प्रतिदिन सच्चे हृदयसे जितनी बार पुकार सकें, हम पुकारते रहें—

'प्रभु हौं जैसो तैसो तेरो ।'

—बस, किसी-न-किसी दिन हमें प्रभुकी कृपापर विश्वास हो ही जायगा और वह विश्वास ही हमारे लिये महान् शक्तिका अप्रतिहत और अपरिमित पुञ्ज होगा ।

श्रीकृष्णलीलाका चिन्तन

(२९)

मन्दाकिनीका कल-कल नाद कैलासके उस सुरम्य उपवनको मुखरित कर रहा था। पुष्पित तरुश्रेणी, लतिकाएँ मन्द समीरका स्पर्श पाकर झूम रही थीं । राशि-राशि विकसित पद्मोंके सौरभसे समस्त वनस्थली सुरभित हो रही थी । शिखरका यह मनोरम दृश्य देवर्षिके भक्तिरसभावित चित्तमें नवरसका सञ्चार कर रहा था, उनकी स्वरब्रह्मविभूषित देवदत्त-वीणासे झरती हुई रागलहरीमें, श्रीमुखसे निःसृत हरिगुणगानमें प्रतिक्षण नव उल्लासका हेतु बन रहा था । पर वही शोभा कुबेरतनय नलकूबर एवं मणिग्रीवके विषयविदूषित मनमें नव-नव भोगवासना उद्दीप्त कर रही थी, उनकी उद्दाम भोगप्रवृत्तिमें और भी आसुर भाव भरनेमें कारण बन रही थी । एक ही वस्तु पात्रभेदसे एक ही समय अमृत एवं विषके रूपमें परिणत हो रही थी । देवर्षि हरियशसुधाका पान करते हुए, सुधारससे उपवनको प्लावित करते हुए नर-नारायण-आश्रमकी ओर अग्रसर हो रहे थे तथा ये दोनों यक्षबन्धु अमर वारविलासिनियों (अप्सराओं) का दल एकत्र कर, वारुणी मदिराका पान कर, भगवान् शङ्करके इस परम पावन तपोवनको भ्रष्ट करते हुए निरङ्कुश विहार कर रहे थे । अप्सराएँ विवस्त्रा थीं, ये दोनों भी दिगम्बर थे, मन्दाकिनीकी पुनीत धारामें प्रवेश कर उन्मत्त जलक्रीड़ामें संलग्न थे, अपने-आपको भूल-से गये थे । दैवयोगवश देवर्षि ठीक उसी स्थानसे होकर निकले । अप्सराओंकी दृष्टि उनपर पड़ी; सब-की-सब सकपका गयीं और लज्जित तथा शापशङ्कित होकर बाहर निकल आयीं, तटपर आकर शीघ्र-से-शीघ्र सबने वस्त्र धारण कर लिये—

> **रजत गिरि चढ़त जहँ बीचि सुरसरि बहति ।**
> **निकट तट बिटप तहँ बेलि सुमननि लहति ॥**
> **अमल जल कमल मकरंद झुकि झुकि झरत ।**
> **पियत मधु मधुप कलहंस कलरव करत ॥**
> **धनद-सुत करत तहँ केलि तरुनिनि सहित ।**
> **मदन-मद छकित मदमत्त बसननि रहित ॥**
> **मुनिहि लखि निलज जुग भ्रात बिलसत ब्यसन ।**
> **सकल तिय सकुचि डर मानि धर तन बसन ॥**

पर ये दोनों कुबेरपुत्र ? आह ! इन्हें तो देवर्षिके आगमनका भान होकर भी भान नहीं । वैसे ही नग्न, उन्मत्त रहकर दोनों भुजा उठाये अप्सराओंको पुनः जलमें ही अत्यन्त शीघ्र उतर आनेके लिये चीत्कार कर रहे थे !

एक अचिन्त्य शक्तिने देवर्षिकी दृष्टि उनकी ओर फेर दी। उन्होंने देखा, देखते ही अन्तःकरण करुणासे आर्द्र हो उठा—'ओह ! कहाँ तो ये कुबेर-पुत्र और कहाँ इनकी यह दशा ! इतना अधःपात !' तत्क्षण देवर्षिने उन्हें परिशुद्ध कर देनेकी, साथ ही उनके अनादि भवप्रवाहका भी अन्त कर देनेकी व्यवस्था कर दी। अपने परम अनुग्रहको क्रोधके आवरणमें छिपाकर, उसे शापका रूप देकर वे पुकार उठे—'जाओ कुबेरतनय ! तुम दोनों अपनी इस जडताके अनुरूप ही योनि ग्रहण करो—वृक्ष बनकर जन्म धारण करो; किंतु वृक्ष बनकर भी तुम्हारी स्मृति नष्ट नहीं होगी, मेरे अनुग्रहसे तुम्हें इस अतीत जीवनका सतत स्मरण रहेगा। सदा पश्चात्तापकी अग्निमें जलते रहोगे और फिर सौ देववर्षोंके अनन्तर श्रीकृष्णचरणारविन्दके स्पर्शका परम सौभाग्य तुम्हें प्राप्त होगा। उस पुनीत स्पर्शसे तुम्हें पुनः देवत्व प्राप्त होगा, पुनः देवशरीरमें तुम लौटोगे। साथ ही परम दुर्लभ हरिभक्ति भी तुम्हें मिल जायगी। सदाके लिये परम कृतार्थ होकर ही तुम लौटोगे—

अतोऽर्हतः स्थावरतां स्यातां नैवं यथा पुनः।
स्मृतिः स्यान्मत्प्रसादेन तत्रापि मदनुग्रहात्॥
वासुदेवस्य सान्निध्यं लब्ध्वा दिव्यशरच्छते।
वृत्ते स्वर्लोकतां भूयो लब्धभक्ती भविष्यतः॥
(श्रीमद्भा० १०। १०। २१-२२)

सुत राजराज, नहिं कीन्ह लाज।
ब्रजभूमि सोइ, द्रुम होहु दोइ॥
करुना सुऐन, सुख-संत दैन।
करिहै जु घात, तब होहु पात॥
प्रभुकौं निहारि, उर भक्ति धारि।
फिरि जाहु गेह, धरि दिव्य देह॥

यह कहकर देवर्षि चले गये तथा नलकूबर एवं मणिग्रीव यमलार्जुनवृक्ष बनकर उत्पन्न हुए वहाँ, जहाँ वर्षोंकी प्रतीक्षा पूर्ण होनेपर गोलोकविहारी स्वयं भगवान् पुरुषोत्तम गोविन्द श्रीकृष्णचन्द्रके परमधामका अवतरण हुआ—जहाँ, जिस अरण्यप्रदेशमें नन्दप्राङ्गण-का आविर्भाव हुआ। उसी प्राङ्गणके एक पार्श्वमें खड़े अपने शाखापत्रोंको प्रकम्पित कर बारंबार श्रीकृष्णचन्द्र-का वे आतुरतापूर्वक आह्वान कर रहे थे।

अतीतकी ये सारी घटनाएँ ऊखलमें बँधे श्रीकृष्ण-चन्द्रके समक्ष वर्तमान बनकर आ जाती हैं। बनकर आयीं, यह भी कथनमात्र ही है। वास्तवमें तो ये उनके लिये नित्य वर्तमान ही हैं। केवल लीलाशक्ति उन बाल्यलीलाविहारीकी रुचिका अनुसरण करते हुए, उन्हें व्यवधानशून्य रसपान करानेके लिये उनकी ही आज्ञासे, उन घटनाओंपर यथायोग्य अतीत अनागतकी यवनिका डाले रहती हैं। उपयुक्त अवसर आते ही उसे हटा देती हैं, श्रीकृष्णचन्द्रके चरणोंको छूकर उन्हें जगा देती हैं, फिर श्रीकृष्णचन्द्र सब कुछ देखने लगते हैं। अस्तु, आज भी वे इसी प्रकार सब देख रहे हैं और सोच रहे हैं—

देवर्षिर्मे प्रियतमो यदिमौ धनदात्मजौ।
तत्तथा साधयिष्यामि यद् गीतं तन्महात्मना॥
(श्रीमद्भा० १०। १०। २५)

'देवर्षि नारद मेरे प्रियतम भक्त हैं। उन महात्मा ऋषिने जिस प्रकार इन वृक्ष बने हुए कुबेरपुत्रोंके उद्धारकी बात अपने मुखसे कह दी है, ठीक उसी प्रकार मैं इनका उद्धार करूँगा, इन्हें वृक्षयोनिसे मुक्त कर पुनः देवदेह देकर अपनी भक्ति भी दे दूँगा।'

इधर गोपशिशुओंकी दशा विचित्र ही है। अपने प्रिय सखाको जननीके बन्धनसे मुक्त करनेके लिये वे अतिशय व्याकुल हैं। अपनी विविध बाल-चेष्टाओंसे सभी श्रीकृष्णचन्द्रके प्रति सौहार्द एवं सहानुभूति प्रकट कर रहे हैं, परस्पर परामर्श करते हुए युक्ति सोच रहे हैं। साथ ही उन्हें भय है कि कहीं जननी आ न जायँ। इसीलिये सब अतिशय सावधान हैं, रह-रहकर

एक उस प्राङ्गणकी ओर जाकर देख आता है कि मैया क्या कर रही हैं। एक शिशु धीरेसे श्रीकृष्णचन्द्र-के समीप जाता है। उनके ऊखलमें बँधे श्याम सुकोमल अङ्गोंको हाथसे स्पर्श करता है, पर तुरंत ही जननीके भयसे पीछेकी ओर हटकर देखने लगता है। उसके मनमें एक युक्ति सूझ पड़ती है और वह नन्दनन्दनके कानके समीप मुख ले जाकर कहता है—'अरे भैया! तू इसे खोल ले।' फिर अन्यान्य शिशुओंको भी अपने ध्यानमें आये उपायकी सूचना देता है। सभी सहर्ष उसका अनुमोदन करते हैं; कोई संकेतसे, कोई स्पष्ट, सभी धीरे-धीरे कह उठते हैं—'हाँ रे! बस, तू खोल ले और हमारे साथ भाग चल।'

अनन्त ऐश्वर्यनिकेतन श्रीकृष्णचन्द्र भी पुनः इसी रसस्रोतमें बह चलते हैं। ऐश्वर्यशक्ति जो अभी-अभी नलकूबर-मणिग्रीवकी दयनीय दशाकी सूचना देने आयी थी, गोपशिशुओंके मृदु मधुर कण्ठसे झरती हुई 'अरे खोल ले कन्हैया! खोल ले और भाग चल'की मधु-धारामें न जाने कहाँसे कहाँ बह गयी और व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र इसीमें पुनः निमग्न हो गये। सखाओंका यह परामर्श स्वीकार कर अतिशय उल्लसित होकर वे अपना बन्धन खोलनेके प्रयासमें लग जाते हैं। पर खोल पायेंगे, इसकी सम्भावना सर्वथा नहीं है। खोल लेना दूर, बन्धनकी गाँठतक उनके हाथ भी नहीं पहुँच पाते। जननीने पहलेसे ही सावधानी रक्खी है। प्रथम तो उन्होंने श्रीकृष्णचन्द्रके कटिदेश और ऊखलमें बहुत कम व्यवधान रक्खा तथा फिर गाँठ लगायी ऊखलकी उस ओर, उस स्थानपर जहाँ उनके नीलमणि अपने हाथ न ले जा सकें। इसलिये यह युक्ति व्यर्थ सिद्ध हुई। अखिल जगत्के समस्त प्राणियोंका भवबन्धन संकल्प-मात्रसे खोल देनेकी सामर्थ्य रखनेवाले श्रीकृष्णचन्द्रमें आज यह शक्ति जो नहीं कि वे यशोदारानीके दिये हुए उस बन्धनको खोल लें, उस ग्रन्थिको छूतक लें। असफल, निराश, निरुपाय-से हुए वे सखाओंकी ओर देखने लगते हैं।

'अच्छा, ठहर, तेरे हाथ नहीं पहुँचते, मैं खोल देता हूँ।' कहकर एक गोपशिशु बन्धन खोलनेकी चेष्टा करने लगा। उसे विलम्ब होते देखकर दूसरा उसकी सहायता करने गया। दोनोंको असफल देखकर तीसरेने प्रयास किया। इस प्रकार क्रमशः कई गोपशिशुओंने गाँठ खोलनेका प्रयत्न किया, पर खुलना दूर, गाँठ हिली तक नहीं। गोपशिशु नहीं जानते कि गाँठ लगाते समय व्रजेश्वरीने अपने अन्तस्तलमें सञ्चित अनन्त वात्सल्यकी समस्त स्निग्धता उसमें भर दी है, अब उन गोपशिशुओंके हृत्स्रोतसे प्रवाहित सख्यरसकी धारा, भले ही वह कितनी ही प्रबल क्यों न हो—वात्सल्यकी उस स्निग्धताको धो नहीं सकती। सख्यके स्रोतमें यह सामर्थ्य नहीं कि वह वात्सल्यकी स्निग्धताको आत्मसात् कर ले।* इसीलिये जननीकी लगायी वह गाँठ अविचल रहती है। शिशुमण्डली उदास-सी हुई व्रजेन्द्रनन्दनके मुखचन्द्रकी ओर देखने लगती है।

इसी समय अवसर देखकर श्रीकृष्णचन्द्रकी सर्वज्ञता शक्ति पुनः एक बार सँभलकर अर्जुन-वृक्षोंकी स्मृति दिलानेके उद्देश्यसे सेवामें उपस्थित हुई। परंतु अपने प्रभु स्वामीकी मुखमुद्रा, गोपशिशुओंकी वह अनुपम प्रेमिल चेष्टाएँ देखकर उसे यह साहस नहीं हुआ कि प्रकट होकर कार्य कर सके। बाल्यलीलाविहारी श्रीकृष्णचन्द्रका वह मधुमय बाल्यावेश भङ्ग हो जननीके बन्धनसे मुक्ति पानेकी लालसामें मधुरातिमधुर वात्सल्यसुधा-रसपानमें पुनः ऐश्वर्यकी किरकिरी मिल जाय, यह तो सेवा नहीं, अपराध होता। इसीलिये श्रीकृष्णचन्द्रकी शिशूपम मुग्धताके आवरणमें छिपे

* वैष्णव दार्शनिकोंने सख्यरतिकी अपेक्षा वात्सल्यकी विशेषता मानी है।

रहकर ही, लीलाशक्तिके अञ्चलकी ओटसे ही सर्वज्ञताने सेवा आरम्भ की। पुनः वे यमलार्जुनवृक्ष श्रीकृष्णचन्द्रके नेत्रोंके सामने आ गये और वे सोचने लगे—'मेरी मुक्तिका उपाय तो सरल है....।' उनके मुखपर उल्लास भर जाता है और वे गोपशिशुओंसे चटपट कह उठते हैं—'भैयाओ! मेरे हाथ पहुँचते नहीं और तुम सबोंसे गाँठ खुली नहीं। अब एक बड़ा ही सुन्दर उपाय है। देखो, यह ऊखल बड़ा भारी है। अकेला तो इसे मैं खींच नहीं सकूँगा। मैं भी खींचता हूँ, और तुम सब मिलकर धक्का देकर इसे पीछेसे लुढ़काते चलो। और फिर देखो, चलें वहाँ, उन यमलार्जुन वृक्षोंकी ओर। देखो, दीखते हैं न? उन वृक्षोंके मध्यमें मेरे समा जाने भरको पर्याप्त स्थान है। वहाँ जाकर मैं तो उसके भीतरसे निकल जाऊँगा। पर यह ऊखल उसके भीतर जा नहीं सकेगा। साथ ही मैं इसे टेढ़ा भी कर दूँगा। फिर तो यह समा ही नहीं सकेगा, इस पार ही अटक जायगा। और तब फिर उस पारसे मैं डोरीको झटके दूँगा। जहाँ मैंने पूरे बलसे डोरी खींची कि डोरी टूटी। बस, काम हो गया।'—युक्ति सुनते ही गोपशिशुओंके हर्षका पार नहीं रहता।

विचार क्रियामें परिणत होने चला। श्रीकृष्णचन्द्र अपने दोनों घुटने एवं दोनों हाथ पृथ्वीपर टेक देते हैं। शिशु अपनी फेंटें कस लेते हैं और जो-जो उनमें अधिक बलवान् हैं, वे ऊखलको पकड़कर ठेलनेका प्रयत्न करते हैं। बाल्यलीलाविहारी श्रीकृष्णचन्द्र भी अपनी पूरी शक्ति लगाकर उसे अपनी ओर खींच रहे हैं। उनके अरुण अधरोंपर, सुचिक्कण अरुणाभ कपोलोंपर इसके सूचक चिह्न स्पष्ट अङ्कित हो जाते हैं। ऊखल भी धीरे-धीरे सरकने लगता है। लगभग अठारह मास पूर्व इसी प्राङ्गणमें श्रीकृष्णचन्द्रने रिङ्गणलीला आरम्भ की थी, घुटुरुआ चलते हुए वे खेलते थे, श्रीअङ्गोंकी शोभा उस दिन भी ऐसी-सी ही थी—

बंधुक-सुमन-अरुन पद-पंकज,
अंकुस प्रमुख चिह्न बनि आए।
नूपुर-कलरव मनु हंसनि सुत
रचे नीड़, दै बाँह बसाए॥
कटि किंकिनि बर हार ग्रीवदर,
रुचिर बाहु भूषन पहिराए।
उर श्रीबच्छ मनोहर हरि-नख,
हेम-मध्य मनि-गन बहु लाए॥
सुभग चिबुक, द्विज-अधर-नासिका,
स्रवन-कपोल मोहिं सुठि भाए।
भ्रुव सुंदर, करुना-रस-पूरन लोचन
मनहु जुगल जल-जाए॥
भाल बिसाल ललित लटकन मनि,
बाल-दसाके चिकुर सुहाए।
मानौ गुरु-सनि-कुज आगैं करि,
ससिहिं मिलन तमके गन आए॥
उपमा एक अभूत भई तब,
जब जननी पट पीत उढ़ाए।
नील-जलद पर उडुगन निरखत,
तजि सुभाव मनु तड़ित छपाए॥
अंग-अंग-प्रति मार-निकर मिलि,
छबि-समूह लै-लै मनु छाए।
सूरदास सो क्यों करि बरनै,
जो छबि निगम नेति करि गाए॥

आज केवल इतना अन्तर अवश्य है कि कटि-देशमें एक ऊखल बँधा है तथा उससे बँधे श्रीकृष्णचन्द्र धीरे-धीरे अर्जुनवृक्षकी ओर अग्रसर हो रहे हैं। उस दिन श्रीकृष्णचन्द्र स्पष्ट बोलना नहीं जानते थे, आज धीरे-धीरे स्पष्ट मधुमिश्रित कण्ठसे, बीचमें ठहर-ठहरकर गोपशिशुओंको सचेत करते जा रहे हैं कि कहीं कोई शिशु कौतूहलवश उच्च स्वरसे कुछ कह न बैठे, अन्यथा जननीके कानोंमें शब्द जाते ही वे दौड़ आयँगी और समस्त प्रयास व्यर्थ हो जायगा।

इस प्रकार रिङ्गण करते हुए क्रमशः वे अर्जुनतरुके समीप जा पहुँचते हैं। उन्हें निकट आये देखकर उन युग्मवृक्षोंकी क्या दशा हुई, इसे कौन बतावे? यह तो

सत्य है कि वृक्षोंमें भी संवेदन शक्ति होती है । उनकी सन्निधिमें होनेवाले क्रूर कर्मकी वेदना उन्हें स्पर्श करती है और वे व्यथित होते हैं; समीपमें होनेवाली किसी सुखद घटनाका स्पन्दन उनमें भी होता है और वे सुखकी अनुभूति करते हैं । यह वृक्ष-साधारणकी बात है, इन अर्जुनतरुओंके लिये तो कहना ही क्या है । ये तो शापभ्रष्ट धनदपुत्र हैं । अपने इस परिणतरूपमें भी पूर्वके देवजीवनसे लेकर अवतकको समस्त स्मृति इनमें अक्षुण्ण है । सौ देव-वर्षोंकी सुदीर्घ प्रतीक्षाके पश्चात् अपने उद्धारका क्षण उपस्थित देखकर, स्वयं ऊखलसे बँधे पर उनका बन्धन मोचन करनेके लिये भक्तवत्सल स्वयंभगवान् मुकुन्द श्रीकृष्णचन्द्रको अपने इतना निकट पाकर उनके हृदयमें एक साथ किन-किन भावोंका उन्मेष हुआ, इसे वे ही जानते हैं, अथवा जानते हैं अन्तर्यामी । बाह्यदृष्टिसे तो केवल इतना ही देखना-जानना, कहना-सुनना सम्भव है कि श्रीकृष्णचन्द्रको अपने मूलके समीप उपस्थित देखकर एक बार उन वृक्षोंमें कम्पन हुआ, उनके स्कन्ध, शाखा, पत्र—सभी चञ्चल हो उठे ! वे यमलार्जुन-वृक्ष—नलकूबर-मणिग्रीव यह नहीं जान सके कि भवबन्धनमें पड़े प्राणियोंको एक बार किसी भी भावके द्वारा उनसे सम्बन्ध मान लेनेमात्रसे मुक्ति-दान करने-वाले मुकुन्द, बाल्यलीलारसमत्त श्रीकृष्णचन्द्र आज जननीके दिये हुए उलूखल-बन्धनसे अपनी मुक्ति पाने-की अभिसन्धि लेकर उनका आश्रय लेने आये हैं । यह जानना उनके लिये सम्भव भी नहीं । यह तो वे ही जान पाते हैं, जो अचिन्त्य सौभाग्यवश व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रकी अथवा उनके किन्हीं परिकरकी कृपाका एक कण पाकर उनके अनन्त ऐश्वर्यको भूल जाते हैं, जिनके हृदयकी बढ़ती हुई विशुद्ध प्रेमरसधारामें श्रीकृष्णचन्द्रका अनन्त ऐश्वर्य सदाके लिये विलीन हो जाता है, जो सदा उस रस-प्रवाहमें ही बहते हुए केवलमात्र उनसे रागमय सम्बन्ध ही रख पाते हैं, सदा उन्हें अपना सखा, पुत्र, प्राणवल्लभके रूपमें ही अनुभव करते हैं । एकमात्र उनके लिये ही यह कल्पना, भावना, अनुभूति सम्भव है कि अनन्त ब्रह्माण्डोदर, स्वयंभगवान् श्रीकृष्णचन्द्र आज दामोदर बने हुए, ऊखल-बन्धनसे मुक्ति पानेके लिये अर्जुन-वृक्षके समीप आ सकते हैं, आये हैं । उनके अति-रिक्त दूसरा नहीं जान सकता । इसीलिये यमलार्जुन-वृक्षोंको यह कल्पना नहीं हुई । उन्होंने सर्वसाधारण-की भाँति यही जाना कि अपने परम भक्त देवर्षिकी बात सत्य करनेके लिये, उनका (यमलार्जुनका) उद्धार कर उन्हें परम कृतार्थ करनेके लिये, ऊखल खींचते हुए धीरे-धीरे चलकर उनके निकट वे आ पहुँचे हैं—

> ऋषेर्भागवतमुख्यस्य सत्यं कर्तुं वचो हरिः ।
> जगाम शनकैस्तत्र यत्रास्तां यमलार्जुनौ ॥
>
> (श्रीमद्भा० १० । १० । २४)

तथा यह देखकर ही, जानकर ही अपने शाखा-पत्रोंको स्पन्दित कर वे नाच उठे हैं ।

अब विलम्बका समय नहीं है । कहीं यशोदारानी आ न जायँ ! वे गोपशिशु कौतूहलभरी दृष्टिसे उन गगनस्पर्शी वृक्षोंकी ओर देखने लगते हैं । इतनेमें तो श्रीकृष्णचन्द्र युग्म वृक्षके छिद्रसे होकर उस पार जा पहुँचते हैं । छिद्रमें उनके प्रविष्ट होते ही ऊखल तो अपने आप टेढ़ा हो जाता है—

> इत्यन्तरेणार्जुनयोः कृष्णस्तु यमयोर्ययौ ।
> आत्मनिर्वेशमात्रेण तिर्यग्गतमुलूखलम् ॥
>
> (श्रीमद्भा० १० । १० । २६)

गोपशिशु उत्साहमें भरकर धीरे-धीरे बोलने लगे हैं—'वाह ! वाह !! बस, कन्हैया ! भैया ! ऊखल अड़ गया; अब तू खींच ले, केवल एक झटका दे दे'''' बालगोपाल श्रीकृष्णचन्द्रके बिम्बविडम्बि अधरोंपर भी ए

मन्द मुसकान छा जाती है । वे दामोदर अपनी कटिसे बँधे ऊखलको तनिक अपनी ओर खींच लेते हैं । बस, फिर तो क्षणभर भी न लगा, अर्जुनतरुओंकी पृथ्वीमें धँसी जड़ें बाहर निकल पड़ीं, प्रकाण्ड मूलशाखा (धड़), अगणित उपशाखाएँ, सघन पल्लवजाल—सभी ऐसे स्पन्दित होने लगे मानो प्रबल झंझावात उन्हें लेकर उड़ चला हो । दामोदरका बाल्योचित बलप्रकाश ही उनके लिये सर्वथा असह्य हो गया और उनका अणु-अणु प्रकम्पित हो उठा । देखते-ही-देखते अत्यन्त घोर शब्द करते हुए, अतिशय वेगसे वे दोनों वृक्ष पृथ्वीपर गिर पड़े—

बालेन निष्कर्षयतान्वगुलूखलं तद्
दामोदरेण तरसोत्कलिताङ्घ्रिबन्धौ ।
निष्पेततुः परमविक्रमितातिवेप-
स्कन्धप्रवालविटपौ कृतचण्डशब्दौ ॥
(श्रीमद्भा० १० । १० । २७)

अवश्य ही वे इस भाँति ऐसे स्थानपर गिरे जहाँ एक भी गोपशिशु नहीं, एक भी गो-गोवत्स नहीं, गृह-रचनाका कोई अंश नहीं, केवलमात्र मणिजटित समतल भूमि है । इसीलिये किसीको भी किञ्चिन्मात्र भी कोई क्षत न लगा । नन्दप्रासादके किसी अंशको तनिक भी क्षति न पहुँची; किंतु इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं । वे जड वृक्षमात्र तो हैं नहीं, धनदपुत्र हैं । और अब तो श्रीकृष्ण-चरणारविन्दका स्पर्श होनेके क्षणसे ही वे उनके निजजन बन गये हैं, उनमें समस्त भक्तगुणोंका विकास हो गया है, अमितशक्ति आ गयी है । वे भला अपनी किसी भी चेष्टासे किसीको तनिक भी कष्ट दें, यह सम्भव ही नहीं । इसीलिये गिरते समय शापजन्य अपने अन्तिम प्रारब्धका अवसान करते हुए वे वहाँ स्थानके अनुरूप ही अपनी शाखाओंको यथायोग्य संकुचित करते हुए गिरे । व्रजेन्द्रनन्दनके स्पर्शसे पूत हुए नलकूबर-मणिग्रीवकी इस चेष्टामें आश्चर्यकी बात ही क्या है ? आश्चर्य, महान् आश्चर्य तो यह है कि इतने विशालकाय, वज्रसारके समान युग्म अर्जुनवृक्ष ऊखल-आकर्षणके वेगसे मूलोत्पाटित होकर टूट पड़े; किंतु जननी यशोदाके वात्सल्यसे प्रेरित उनके द्वारा निर्मित आग्रहमय वह बन्धन न खुला । ऊखलमें लगायी उनकी डोरी, ग्रन्थि न टूटी । श्रीकृष्णचन्द्रका वह बन्धन न टूटा—

चित्रं तुत्रोट तत्तत्र वज्रमज्जार्जुनद्वयम् ।
न पुनर्मातृवात्सल्यनिर्बन्धमयबन्धनम् ॥
(श्रीगोपालचम्पूः)

अस्तु, जहाँ वे वृक्ष थे, वहाँ एक परम उज्ज्वल ज्योति चमक उठती है । मानो दो वृक्षोंके मध्यमें दावानल भभक उठा । फिर दोनोंकी ज्योति एकत्र मिल जाय, उनसे दिशाएँ आलोकित हो जायँ, इस प्रकार अपनी सम्मिलित ज्योतिसे दसों दिशाओंको उद्भासित करते हुए दो सिद्धपुरुष उनके अन्तरालसे प्रकट होते हैं और उलूखलनिबद्ध श्रीकृष्णचन्द्रकी ओर चल पड़ते हैं—

तत्र श्रिया परमया ककुभः स्फुरन्तौ
सिद्धावुपेत्य कुजयोरिव जातवेदाः ।
(श्रीमद्भा० १० । १० । २८)

ये युगल सिद्ध और कोई नहीं, धनदपुत्र नलकूबर एवं मणिग्रीव हैं, श्रीकृष्णचन्द्रके चरणोंमें न्यौछावर होने जा रहे हैं—

निकसे उभय पुरुष दोउ बीर, पहिरे अद्भुत भूषन चीर ।
जैसैं दारु मध्य तैं आगि, निर्मल जोति उठति है जागि ।
नंद-सुवनके पाइन परे, अंजुलि जोरि स्तुति अनुसरे ।

× × ×

द्रुम अंतर ते कढ़े बिबि बृन्दारक सुखसींव ।
गुन मंदिर सुंदर महा नलकूबर मनिग्रीव ॥

प्रेमपरवश भगवान्‌की लीला

[प्रवीर * का अलौकिक भगवत्प्रेम]

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

प्रवीर माहिष्मती नगरीके नरेश श्रीनीलध्वजके पुत्र थे। इनकी जननी जुन्हादेवी सरल, साध्वी एवं धर्मपरायणा थीं। भगवद्भक्तिके साथ-साथ वे बड़ी स्वाभिमानिनी, वीराङ्गना और धैर्यशीला भी थीं। इनके अत्यन्त पवित्र जीवनका प्रभाव इनके पुत्र प्रवीरपर पूर्णतया पड़ा। फलतः प्रवीरमें भी सरलता, सौजन्य, सत्प्रेम और भगवद्भक्ति कूट-कूट कर भर गयी। वीरता उनके अङ्ग-प्रत्यङ्गसे छलकती दीखती थी, पर वे निरन्तर भगवच्चिन्तन एवं उनके प्रेममें तन्मय रहा करते थे।

उन दिनों इन्द्रप्रस्थमें कौरवोंको पराजित कर धर्मराज श्रीयुधिष्ठिर महाराज राज्य कर रहे थे। उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णके परामर्शसे अश्वमेध यज्ञ करनेका निश्चय किया। अश्व छोड़ा गया। उसकी रक्षाके लिये धनुर्धर अर्जुन नियत हुए। उनके साथ विशाल वाहिनी थी। यात्राके पूर्व भगवान् श्रीकृष्णने भी अर्जुनके साथ चलनेकी इच्छा प्रकट की; किंतु 'इस छोटे-से कार्यके लिये आपको कष्ट देना अपेक्षित नहीं। भूमण्डलपर विजय प्राप्त कर लेनेके लिये तो मैं और यह सेना ही पर्याप्त है।' कहकर अर्जुन चल पड़े। अर्जुनके मुखपर छिपी अभिमानकी रेखा खेल रही थी।

'वीरवर अर्जुनके साथ युद्ध करनेका जिन्हें साहस हो, वे इस अश्वको पकड़ें अन्यथा उपहारसहित महाराज युधिष्ठिरके अश्वमेध-यज्ञमें नियत समयपर उपस्थित हों' अश्वके मस्तकपर स्वर्णपत्रमें लिखा हुआ था। सबके आगे झूमता हुआ अश्व चला जा रहा था और उसके पीछे वीरवर अर्जुनके साथ सशस्त्र विपुल वाहिनी चल रही थी। कोई नहीं दीखता था, जो अश्वकी ओर पूर्णतया देखनेका साहस कर सके। पथमें जितने भी राजा-महाराजा मिले, सबने सर्वत्र स्वागत किया और युधिष्ठिर महाराजकी अधीनता स्वीकार की। इसी प्रकार वह अश्व माहिष्मतीके समीप पहुँचा।

प्रवीरके पिता माहिष्मतीनरेश नीलध्वज अर्जुनका नाम सुनते ही सशङ्क हो गये। उन्होंने अश्वको न पकड़नेमें ही कुशल समझी, पर इस संवादसे वीराङ्गना जुन्हादेवी क्षुब्ध हो गयीं। उन्होंने अपने पतिदेवके इस कृत्यको कायरता समझा तथा ऐसे अनेक प्रयत्न किये, जिससे वे अपने क्षत्रियत्वकी प्रतिष्ठा-रक्षाके लिये अर्जुनसे युद्ध करनेके लिये प्रस्तुत हो जायँ; पर नीलध्वज अपने निश्चयसे विचलित नहीं हुए।

पतिसे निराश होते ही जुन्हादेवी अपने प्राण-प्रिय पुत्र भक्त प्रवीरके समीप गयीं और उसे प्रतिष्ठारक्षार्थ समरमें डट जानेके लिये प्रोत्साहित करती हुई बोलीं—'बेटा! मैं तुम्हें अपने प्राणोंसे अधिक प्यार करती हूँ, साथ ही तुमसे देश, जाति और स्वाभिमानकी रक्षाकी आशा भी करती हूँ। अर्जुनकी विशाल वाहिनी अश्वमेधके अश्वके साथ तुम्हारे क्षत्रियत्वको, तुम्हारी वीरताको, तुम्हारी स्वतन्त्रता एवं तुम्हारे देशाभिमानको ललकार रही है। पर मैं चाहती हूँ कि वह यहाँसे विजयोन्मत्त बनकर न जा सके। तुम उठो! अति शीघ्र उठो! अश्वमेधके अश्वको पकड़कर अर्जुनको उलटे पाँव लौटनेके लिये विवश कर दो। उनकी मदोन्मत्त चतुरङ्गिणीको अपने तीक्ष्ण शरोंसे वेध कर एक क्षणके लिये भी यहाँ टिकने न दो।'

---

* बंगालके प्रचलित लीलाभिनयों (यात्रा) में प्रवीरकी लीला की जाती है। वह बड़ी ही सुन्दर और मनोहर है, यह आख्यायिका उसीके आधारपर लिखी गयी है। प्रवीरकी कथा जैमिनीय-अश्वमेधमें भी आती है, पर वह अन्य रूपमें है।

'मा ! श्रीकृष्ण-सारथि वीरवर अर्जुन !'····प्रवीर चकित होकर बोल भी नहीं पाया कि उसकी स्नेहमयी जननीने दुर्गाकी भाँति हुङ्कारकर कहा 'हाँ, वही अर्जुन ! यदि तुझे एक क्षण भी विचार करना है तो स्पष्ट बोल, मैं स्वयं युद्ध करनेके लिये अर्जुनके विशाल सैन्यमें प्रवेश करूँगी । मैं समझूँगी कि मैंने पुत्रको जन्म ही नहीं दिया था ।'

'आज्ञा शिरोधार्य है माता ! तुम निश्चिन्त हो अन्तः-पुरमें जाओ ।' प्रवीरके इस कथनसे संतुष्ट हो माता भीतर चली गयी और प्रवीरने अर्जुनके पास पत्र भेजा, 'मैं आपका अश्व रोक रहा हूँ । आप रणाङ्गणमें आ जाइये।'

दूत उत्तर ले आया । वीर प्रवीरने पढ़ा, 'वीर ! क्षत्रियोचित पत्र पढ़कर मुझे प्रसन्नता हुई, एतदर्थ अत्यन्त प्रसन्न होकर मैं तुम्हें धन्यवाद देता हूँ, किंतु तुम अभी नन्हे बच्चे हो । जीवनका आनन्द छोड़कर मृत्यु-मुखमें जानेके लिये मचलना अच्छा नहीं ।'

प्रवीरने तुरंत पत्र लिखा, 'वीरवर ! कायरतापूण वाणी आपको शोभा नहीं देती । युद्ध करनेकी इच्छा न हो तो आप इन्द्रप्रस्थ लौट जा सकते हैं । अश्वको मैं नहीं छोड़ सकूँगा ।'

फिर क्या था । दूसरे दिन अरुणोदय होते ही समर छिड़ गया । भयंकर युद्ध हुआ । भक्तवर वीर प्रवीरके पैनें बाणोंसे अर्जुन आकुल हो उठे । उन्होंने प्रद्युम्नसे कहा, 'प्रवीरकी सुकुमारताका विचार छोड़कर तुम शर-वर्षा करो ।' पर प्रद्युम्नने तुरंत कहा, 'आपकी भाँति वीर प्रवीर भी मेरे पिताजीके प्रिय भक्त हैं । अतः इनकी भक्तिका ध्यान आनेपर मेरा हाथ शिथिल पड़ जाता है और मैं पूरे वेगसे युद्ध नहीं कर सकता ।' इसके बाद महाबली भीम आगे आये; किंतु भगवच्चरणाश्रित भगवान्‌के बलसे बलवान् प्रवीरके चुटीले तीरोंके सामने उनकी एक न चली । यह दशा देखकर अत्यन्त क्रोधसे अर्जुनने आग्नेयास्त्रका प्रयोग किया । पर अग्निकी भीषण ज्वालाएँ प्रवीरके बाणोंकी वारि-धाराके सामने शीतल हो गयीं । इसी प्रकार अर्जुनने जिन-जिन भयंकर एवं विषैले बाणोंको प्रवीरका मस्तक छिन्न करनेके लिये चलाया, वे सभी व्यर्थ सिद्ध हुए । राजकुमार प्रवीरने अर्जुनसमेत उनके सैन्यको विकल एवं पराजित कर दिया ।

अर्जुनके वीरत्वदृप्त मुख-मण्डलपर विषादकी कालिमा छा गयी । उसी समय प्रवीरने आकर कहा—'वीरवर अर्जुन ! अश्वमेधका घोड़ा इसी बलपर छोड़ा था ? मैं आपको स्पष्ट बता देता हूँ कि यदि आपको अपने प्राण प्यारे नहीं हों तब तो आप कल पुनः समरभूमिमें आइयेगा; अन्यथा अब सुखपूर्वक लौट जाइये और यहाँ उस दिन उपहार लेकर आइये, जिस दिन इस घोड़ेसे मैं अश्वमेध यज्ञ करूँगा । आप भगवान् श्रीकृष्णकी सहायताके बिना मुझपर विजय कभी भी नहीं पा सकते । मुझे जीतनेकी आकाङ्क्षा मनमें हो तो श्रीकृष्णको बुलाइये, उनके दर्शनकर मैं भी कृतकृत्य हो जाऊँगा ।' प्रवीर कुछ क्षणोंके लिये भगवान्‌के ध्यानमें तन्मय हो गया !

पर प्रवीरकी वाणी अर्जुनके हृदयमें तीरकी भाँति प्रवेश कर गयी । उन्होंने अब भगवान्‌के सामने अभिमानभरी वाणी कहनेकी अपनी भूलका अनुभव किया । तुरंत व्याकुल होकर भगवान्‌से प्रार्थना की, 'हे हरि ! हे नाथ !! हे गोविन्द !!! हे वासुदेव !! हे नारायण !!! मेरी अनुचित वाणीके लिये क्षमा करें । आप सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और सर्वेश्वर हैं । आप शीघ्र आकर मेरी रक्षा करें ।' अर्जुन-की पुकार सुनते ही भक्तभयभञ्जन भगवान् तुरंत वहाँ प्रकट हो गये । मानो अबतक यहीं कहीं छिपे थे ।

भगवान्‌को देखते ही अर्जुन उनके चरणोंमें गिर पड़े । प्रभुने दृष्टि फेरी तो देखा प्रवीर भी प्रभुके पावन चरणोंमें दण्डकी भाँति लेटकर प्रणिपात कर रहा है । भगवान् अर्जुन और प्रवीर दोनोंसे मिले ! प्रवीर गद्‌गद हो रहा था । हर्षातिरेकसे उसने कहा, 'प्रभो ! आपके दर्शन पाकर आज मैं धन्य हो गया ।' उसने फिर

अर्जुनसे कहा, 'पार्थ ! मैं आपका भी ऋणी हूँ, आपकी ही कृपासे मुझे आज श्यामसुन्दरकी त्रैलोक्यपावनी मधुर मनोहर झाँकीके दर्शन करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है। अब हम अपने शिविरमें चलें। कलसे भगवान्‌के सामने ही युद्ध होगा।' फिर दोनों अपने-अपने शिविरोंमें चले गये।

प्रवीरको देखते ही देवी जुन्हाने उन्हें छातीसे चिपका लिया और कहा, 'बेटा ! तुम्हारी विजयके लिये मैं भगवती भागीरथीकी आराधना करने जा रही हूँ।' प्रवीरकी वीरहृदया धर्मप्राणा पत्नी मदनमंजरीने अत्यन्त आनन्द प्रदर्शित करते हुए कहा, 'भगवान् श्रीकृष्णको अपनी भक्तिसे प्रसन्न करके मैं भी आपकी विजयके लिये उनसे प्रार्थना करूँगी।' प्रवीर भी भगवान्‌के ध्यानमें तल्लीन था।

आधी रात बीत गयी। इधर प्रवीरपत्नी मदनमंजरीने अर्जुनके सुषुप्त सैन्यमें प्रवेश किया। उसके हाथमें लम्बी नंगी तलवार थी। प्रहरीके स्थानपर भगवान् शङ्कर त्रिशूल लिये खड़े थे। उन्होंने मदनमंजरीका परिचय और अर्द्धरात्रिमें नंगी तलवार लेकर शिविरमें आनेका कारण पूछा।

मदनमंजरीने निस्संकोच सत्य कह दिया, 'मैं प्रवीर-पत्नी हूँ। अपने पतिके प्राणोंकी रक्षाके लिये भगवान् श्रीकृष्णके पास जाना चाहती हूँ।'

भगवान् शङ्कर बोल उठे, 'यह सम्भव नहीं। भगवान् सो रहे हैं। तुम वापस लौट जाओ।'

'यदि ऐसा ही है तो फिर आपके ही चरणोंमें यह मस्तक अभी लोट जायगा' कहते हुए मदनमंजरीने तलवार ऊपर उठा ली।

भगवान् शङ्करने अपना परिचय देते हुए कहा, 'मैं तुमपर अत्यन्त प्रसन्न हूँ और कैलाश जा रहा हूँ। यहाँसे प्रयाण करनेके पश्चात् मेरा कोई दायित्व नहीं है।'

मदनमंजरी श्रीकृष्ण-शिविरके द्वारपर पहुँची तो द्वारपालने डाँटते हुए वहाँ उपस्थित होनेका कारण पूछा। मदनमंजरीने विनम्रतासे द्वारपालको भी उत्तर दे दिया 'अपने प्राणधनके प्राणोंकी भीख माँगने महाराज नीलध्वजकी पुत्र-वधू भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंके समीप जाना चाहती है।'

द्वारपालने कहा, 'यहाँसे लौट जाओ। प्रभु इस समय शयन कर रहे हैं।'

मदनमंजरीने तलवार तान ली और कहा, 'यदि आप भगवान्‌के समीप नहीं जाने देते तो मैं अभी अपना मस्तक काटकर आपके चरणोंमें समर्पित करती हूँ।'

द्वारपालने मदनमंजरीका हाथ पकड़ लिया, पर उसने देखा—ये तो वे ही त्रैलोक्यनाथ मदनमोहन श्याम सुन्दर भगवान् श्रीकृष्ण हैं, जिनके लिये वह प्राणों पर खेलकर आयी थी। वह प्रभुके चरणोंपर लोट गयी। कुछ देर बाद उसने कहा, 'प्रभो ! आप तो अन्तर्यामी हैं। पर कहे बिना मुझसे रहा नहीं जाता। प्रातःकाल ही धनुर्धर अर्जुनसे मेरे पतिदेवका युद्ध होगा। धनुर्धर अर्जुनको आपकी सहायता प्राप्त है और आपकी सहायता पाकर वे जो चाहे कर सकते हैं। इस कारण मैं अपने जीवन-धनके प्राणकी आपसे भीख माँगती हूँ।'

अपनी कौमोदकी गदा और सहस्रार सुदर्शन चक्र उसके हाथमें देते हुए भक्तवत्सल करुणामय भगवान्‌ने कह दिया 'इसे जबतक प्रवीर अपने पास रक्खेगा, युद्धमें उसे कोई नहीं मार सकेगा।' मदनमंजरीने भगवान्‌के चरणोंमें प्रणाम किया और द्रुतगतिसे लौटकर दोनों आयुध अपने पतिको दे दिये। भगवान्‌की बात भी बता दी।

उधर धर्मपरायणा जुन्हादेवीने श्रीगङ्गाजीको सन्तुष्ट कर लिया और श्रीशिवजीसे प्रार्थना करनेके लिये कहा कि 'वे अपने त्रिशूलके साथ प्रवीरकी ओरसे युद्ध करें।' श्रीगङ्गाजीकी प्रार्थना सुनते ही आशुतोषने कहा, 'अर्जुनके साथ श्रीकृष्ण हैं और उनके सामने समरभूमिमें उतरना मेरे लिये सम्भव नहीं।'

प्रात:काल होते ही अर्जुन अपने सखाके पास पहुँचे तो देखा कि वे उदास और चिन्तित मुद्रामें अवनत-मुख बैठे हैं। अर्जुनको देखते ही उन्होंने कहा, 'बन्धुवर! प्रवीर-पत्नीकी भक्तिसे सन्तुष्ट होकर अपने दोनों आयुध मैंने उसे समर्पित कर दिये और जबतक वे आयुध उसके पास हैं, तुम उसका कोई अनिष्ट नहीं कर सकते। मेरी उपस्थितिसे प्रत्येक समय तुम्हारे शुभमें विघ्न ही उपस्थित हो जाता है।'

भगवान्‌की वाणी सुनते ही भीम क्रुद्ध हो गये। उन्होंने कहा, 'आपको सोच-विचारकर वरदान देना था। आप हमारी रक्षा करनेके लिये आये हैं कि और भी विपत्ति लादनेके लिये यहाँ पहुँचे हैं।' पर भीमको चुप करते हुए अर्जुनने बड़ी विनयसे सरल विश्वासपूर्वक कहा, 'यह क्या कहते हैं प्रभो! आपकी प्रत्येक क्रियामें मङ्गल छिपा है इसपर मेरा दृढ़ विश्वास है। इस आयुध-दान-में भी मेरा कोई हित ही है। मैं पूर्ण निश्चिन्त हूँ। आप मेरे सर्वस्व हैं। आपहीने इस यज्ञके अनुष्ठानकी प्रेरणा एवं इसकी निर्विघ्न समाप्तिका वचन दिया है। आप जैसा उचित समझें वैसा करें।'

भगवान् श्रीकृष्ण चुप थे। उन्हें अपने ऊपर निर्भर अर्जुनकी चिन्ता थी। वे बोल नहीं पा रहे थे। अर्जुन-ने पुनः कहा, 'प्रभो! प्रात: हो चला। युद्धका समय आया ही चाहता है। अब आपकी क्या आज्ञा है?'

भगवान्‌ने कहा, 'आओ श्रीशङ्करजीके पास चलें। वे कोई युक्ति सोचकर बता सकते हैं।' इच्छा करते ही दोनों भगवान् श्रीशङ्करजीके समीप पहुँच गये। वहाँ श्रीकृष्णने कहा, 'भगवन्! प्रवीर-पत्नीकी भक्तिपर मुग्ध होकर मैंने अपनी कौमोदकी गदा तथा चक्र भी उसके पतिके लिये दे दिया। वे जबतक प्रवीरके पास रहेंगे युद्धमें उसे कोई नहीं मार सकेगा। अब अर्जुन कैसे विजयी हों, इसीका उपाय जाननेके लिये हम दोनों आपकी सेवामें आये हैं।'

श्रीशङ्करजी बोले—'सर्वज्ञ होकर भी आपने उसे वरदान कैसे दे दिया?' श्रीकृष्णने उत्तर दिया—'जिस प्रकार उसकी भक्तिपर मुग्ध होकर आप रात्रिमें ही कैलाश चले आये? उसी प्रकार भक्तिविवश होकर मुझे भी वरदान देना पड़ा।'

भगवान् शङ्करने धीरे-धीरे कहा, 'मैं भी बड़े असमञ्जसमें पड़ गया हूँ। उधर प्रवीरकी माता जुन्हाकी आराधनासे सन्तुष्ट होकर श्रीगङ्गाजी प्रवीरके पक्षमें त्रिशूल लेकर अर्जुनसे युद्ध करनेके लिये आग्रह कर रही हैं। इधर आपका अनुरोध है। ऐसी दशामें मैंने निश्चय कर लिया है कि मैं किसी भी पक्षकी ओरसे युद्धभूमिमें नहीं उतरूँगा।'

निराशाभरे स्वरोंमें भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा, 'भाई अर्जुन! मेरी पहुँच तो यहींतक थी और इन्होंने स्पष्ट उत्तर दे दिया। अब क्या किया जाय?' अर्जुनने उत्तर दिया, 'महाराज! मैं तो कुछ नहीं जानता। मैं केवल इतना ही जानता हूँ कि आप जो कुछ करेंगे, उसीमें मेरा अवश्य हित होगा। हाँ, युद्धका समय समीप आ रहा है।'

भगवान्‌ने एक क्षण सोचा और दूसरे ही क्षण वे अर्जुनके साथ भगवती उमाके पास पहुँच गये। वहाँ उन्होंने श्रीयुधिष्ठिर महाराजके अश्वमेध-यज्ञानुष्ठान एवं प्रवीरकी बाधा तथा अपने आयुधद्वय एवं वरदान देनेकी बात भी सुना दी और अर्जुनकी विजयकी प्रार्थना करते हुए कहा कि 'यदि आप समरभूमिमें मोहिनी रूपमें आकर उससे आयुध ले लें तो हम दोनों निश्चिन्त हो जायँ।' भगवती उमाने 'तथास्तु' कह दिया। श्रीकृष्ण तो यही चाहते थे। अर्जुनके साथ लौट पड़े।

अर्जुन युद्धभूमिमें पहुँचे तो उन्होंने देखा, प्रवीर अपनी विशाल वाहिनीके साथ युद्धकी प्रतीक्षा कर रहा है। युद्ध प्रारम्भ होना ही चाहता था कि प्रवीरने अपनी आँखोंके सामने आकाशमें एक नव-यौवनसम्पन्ना अपूर्व

लावण्यवती सुन्दरीको देखा। विश्वमें ऐसी सुन्दरता होती है, इसकी उसे कल्पना भी नहीं थी। भगवान्‌की अघटन-घटना-पटीयसी मायाने जितेन्द्रिय भक्त प्रवीरकी मतिमें मोह उत्पन्न कर दिया और वह एक विषयी कामासक्त मनुष्यकी भाँति उस देवीसे प्रणय-याचना करने लगा। मायाकी ऐसी ही महिमा है।

परम सुन्दरी देवीने कहा, 'युद्धभूमिमें प्रेमकी बात प्रलाप-सी लगती है। यदि तुम सचमुच प्रेमदान चाहते हो तो अपने दोनों आयुध फेंक दो।' मायामोहित प्रवीर इस समय मूढ़ बन गया था। उसने श्रीकृष्णप्रदत्त दोनों आयुध फेंक दिये। भगवती उन्हें उठाकर तुरंत अन्तर्धान हो गयीं। मायाका पर्दा हटा। प्रवीरकी आँखें खुलीं तो उसने मन-ही-मन पश्चात्ताप करते हुए कहा कि 'मैंने क्या अनर्थ कर डाला।'

अन्तमें उसने सोचा, कदाचित् यह कृत्य भगवान्‌ने ही किया है। प्रेमपूर्वक रोष प्रकट करते हुए उसने भगवान्‌से कहा, 'प्रभो! वे अस्त्र यदि माया करके ले ही लेने थे तो आपने देनेका नाट्य क्यों किया?' भगवान्‌ने उत्तरमें कहा, 'प्रियवर प्रवीर! मैंने अस्त्र नहीं लिये हैं। यदि मुझे ही उन्हें लेना होता तो मैं देता ही क्यों?' प्रवीर तुरंत बोल उठा 'प्रभो! यदि ऐसी बात है तो आपके लिये अर्जुनकी सहायता करनी उचित नहीं। मैं भी आपको अपने प्राणोंसे अधिक मानता हूँ। आपके चरणोंमें मेरी अनुरक्ति कम नहीं है।'

प्रवीरकी बात सुनते ही अर्जुनने कहा, 'प्रभो! मैंने आपको युद्धमें सहायता देनेके लिये बुलाया है। प्रवीरमें शक्ति न हो तो अश्व छोड़ दे।' प्रवीरने रोषपूर्वक उत्तर दिया, 'अश्व मैंने छोड़नेके लिये नहीं पकड़ा है।' फिर क्या था—दोनों ओरसे घनघोर शर-वर्षा होने लगी। आकाश तीखे बाणोंसे आच्छादित हो गया, पर अर्जुनकी एक न चली, वे पराजित होने लगे।

भगवान्‌ने कहा, 'अर्जुन! भक्तके प्रभावको देख लो। मेरे सहायता करनेपर भी वह तुम्हें पराजित कर र है।' अनवरत बाणवर्षा करते हुए अर्जुनने उत्तर दि 'प्रभो! इसीलिये तो मैंने आपको बुलाया है। अब आपकी कृपासे इसे तुरंत पराजित कर देता हूँ।'

अर्जुनने अपने पैने बाण फेंके, पर प्रवीरने उ बीचमें ही खण्ड-खण्ड कर दिया। अर्जुन जो भी अ क्रुद्ध होकर चलाते, प्रवीर उसे ही नष्ट कर देता, अन्ततः उस दिन अर्जुनने प्रवीरको पराजित किया।

प्रवीरने रोषपूर्वक कहा, 'अर्जुन! इसे मैं आ नहीं अपितु प्रभुकी विजय मानता हूँ। प्रभुके बिना मुझे पराजित कर दें तो मैं आपको वीर समझूँ।' अ बोले, 'मैंने जब भगवान्‌को बुलाया है, तब उन्हें छोड़ूँ। तुम्हें युद्ध न करना हो तो वापस चले जाओ

अर्जुनकी यह बात सुनते ही भक्त प्रवीरने प्रभुसे क 'स्वामी! आप तो सबके हैं, फिर युद्धभूमिमें यह पक्ष कैसा?' उसने देखी प्रभुकी विश्वमोहिनी मुसकान। क्या था। उन्हें सन्तुष्ट देखकर प्रवीरने अर्जुनके खींचकर उनको अपने रथपर बैठा लिया। भगवान्‌ने ल ले ली। अत्यन्त गर्वके साथ प्रवीरने कहा, 'अर्जुन! जी भर युद्ध कर लें। अब आपको या तो प्राण भागना पड़ेगा या सदाके लिये यहीं शयन करना हो

प्रवीरको कोई भी उत्तर न देकर अर्जुनने भग कहा, 'भगवन्! मैं आपके बिना नहीं जी सकता। मेरे रथपर आ जाइये। मैंने आपको बुलाया है।' भग ने अर्जुनके रथपर आकर घोड़ेकी लगाम सँभाल

उदास होकर प्रवीरने कहा, 'प्रभो! कम-से-कम युद्धमें तो आप मेरे सारथि बन जाते!' फिर उसने अ कहा, 'आज मैं आपका पौरुष देखूँगा।'

अर्जुन बड़ी सावधानीसे अपने तीक्ष्ण शरोंकी करने लगे, पर प्रवीर साधारण वीर नहीं था। सामने अर्जुन विचलित होने लगे। इसी बीचमें भ बोल उठे, 'मेरी सहायता पाकर भी तुम विजय

प्राप्त कर रहे हो।' प्रबल आग्नेयास्त्र फेंकते हुए अर्जुनने कहा, 'महाराज ! थोड़ा धैर्य रखिये, मैं इसे अभी परास्त करता हूँ।'

परंतु वे विफल रहे। अन्य कई दिव्यास्त्रोंके प्रयोगसे प्रवीर परास्त हुआ, पर उसने अर्जुनको फटकारते हुए कहा, 'दूसरोंके बलपर युद्ध करनेवाले शूर नहीं कहे जाते। भगवान्‌के बिना आप मुझे परास्त कर सकें, ऐसी सामर्थ्यका आपमें लेश भी नहीं है।'

फिर उसने भगवान्‌से कहा, 'प्रभो ! आप हम दोनोंके हैं। आप अब अर्जुनका रथ हाँकना छोड़कर निष्पक्ष-भावसे हम दोनोंका युद्ध-कौशल देखें, फिर आप समझ लेंगे कि वस्तुतः वीर योद्धा कौन है और आज अर्जुन भी समरका स्वाद चख सकेंगे।'

भगवान् हँसने लगे। भक्तवर प्रवीरने भगवान्‌को सन्तुष्ट जानकर पुनः उनको अर्जुनके रथसे खींच लिया और पासहीके तालवृक्षसे बाँध दिया। फिर उसने अर्जुनसे कहा, 'अर्जुन ! अब आप अपनी वीरताका परिचय दीजिये। अब मैं आपको युद्ध करनेका फल चखाता हूँ।' पर अर्जुनने करुण नेत्रोंसे भगवान्‌की ओर देखकर कहा, 'प्रभो ! क्या मैंने आपको इसीलिये बुलाया था ? कौरवोंकी सभामें जब महाबलशाली योद्धा भी आपको नहीं बाँध सके तो यहाँ आप कैसे बँध गये हैं ? मैं व्याकुल हो रहा हूँ देव ! आप शीघ्र आइये मेरे रथकी बागडोर सँभालिये।' जिनके एक नामसे सारे बन्धन कट जाते हैं वे ही अचिन्त्यशक्ति भगवान् आज अपने प्रेमी भक्तकी प्रेम-रज्जुसे बँधे हैं। पर दूसरी ओर भी वैसा ही भक्त है। उसकी दीन वाणी भी भगवान्‌को खींच रही है। भगवान् अर्जुनकी दीन वाणी सुनते ही रस्सी तुड़ाकर उसके रथपर आकर बैठ गये और रथ हाँकने लगे। भगवान्‌की आज विचित्र दशा है। वे प्रेमी भक्तोंकी खींचातानीमें प्रेममय होकर आश्चर्यमयी क्रीड़ा कर रहे हैं !

प्रवीरसे रहा नहीं गया। उसने पुनः भगवान्‌से कहा, 'प्रभो ! बड़ा आश्चर्य है, कुछ क्षण भी तटस्थ होकर आप दो भक्तोंका युद्ध और वीरत्व तो देखते, पर आपकी जैसी इच्छा !' उसने पुनः अर्जुनको सम्बोधित कर कहा, 'वीरता नामकी कोई वस्तु आपमें नहीं है। दूसरोंके सहारे वीरोंको पराजित करनेका प्रयत्न तो समरभूमिमें बड़ा ही अशोभन है।' और उसने रोषमें आकर इतने तीक्ष्ण शरों एवं दिव्यायुधोंकी वर्षा की कि अर्जुन विकल हो उठे और उनकी सारी सेना क्षत-विक्षत होकर छिन्न-भिन्न हो गयी। यहाँ भी भगवान्‌की ही लीला कार्य कर रही थी।

इसपर आश्चर्य प्रकट करते हुए भगवान् श्रीकृष्णने कहा, 'जब एक प्रवीरके सम्मुख ही तुम्हारी यह दशा है तो तुम अन्य योद्धाओंके सामने क्या कर सकोगे ?' अर्जुनने तुरंत अपनी भागती सेनाको क्षत्रियोंकी वीरगति एवं उनकी मर्यादाका ध्यान दिलाकर युद्धके लिये प्रोत्साहित किया। विशाल वाहिनी पुनः पूरी शक्तिसे प्रवीरकी सेनासे भिड़ गयी। अर्जुन भी अपने बाणोंकी अपूर्व वर्षामें संलग्न हो गये। दोनों पक्ष अपनी विजयके लिये शक्ति-प्रयोग कर रहे थे। इस प्रकार होते-होते अन्तमें आज प्रवीर हार गया और अर्जुनकी विजय हुई।

किंतु वीर प्रवीरको तनिक भी चिन्ता नहीं थी। उसने पुनः अर्जुनको डाँटा, 'अर्जुन ! आप सच्चे वीरत्वको स्वीकार कीजिये। यदि श्रीकृष्णके बिना आप युद्ध करें तो आपको प्राण-रक्षामें भी कठिनता हो जाय।' फिर उसने भगवान्‌से कहा, 'स्वामी ! मैं भी आपका भक्त हूँ, पर आप अबतक अर्जुनमें और मुझमें अन्तर समझते हैं ! ऐसा क्यों करते हैं नाथ ! मुझे आपसे बड़ी आशा है।'

भगवान् हँस पड़े। प्रवीरने उन्हें अपने अनुकूल समझकर तुरंत खींच लिया और पासहीके तालवृक्षसे पुनः कसकर बाँधते हुए कहा, 'प्रभो ! अबकी बार

प्रतिज्ञा कीजिये कि किसीका पक्ष न लेकर निष्पक्ष-भावसे युद्ध देखूँगा।' प्रभुने हँसते हुए मौन स्वीकृति दे दी।

फिर क्या था, प्रवीर झटसे कूदकर अपने रथपर जा चढ़ा और शर-सन्धान करते हुए बोला, 'पार्थ ! अब आप प्राण बचाकर भागने या यहीं सदाके लिये सो जानेको प्रस्तुत हो जाइये। प्रभु प्रतिज्ञाबद्ध हो चुके हैं।' प्रभु बँधे हुए हँस रहे थे। मानो आज उन्हें अपनी इस विवशतामें ही आनन्द मिल रहा है।

पर अर्जुन प्रभुकी ओर देख रहे थे। उन्होंने कहा, 'देव ! यह क्या लीला कर रहे हैं। मेरे प्राणोंपर आ बनी है। अब मैं अधीर हो गया हूँ। कौरव-युद्धके समय आपने मेरी रक्षाके लिये शस्त्र-ग्रहण न करनेकी प्रतिज्ञा की थी, पर भक्तके लिये उसे तोड़ दिया। वही आपका प्राणप्रिय अर्जुन मरना चाहता है, इसलिये आज फिर प्रतिज्ञा तोड़िये और शीघ्र आकर मेरी रक्षा कीजिये।' भगवान् तुरंत अर्जुनके रथपर प्रकट हो गये। वे वैसे ही हँस रहे थे।

प्रवीरने व्याकुल होकर कहा, 'प्रभो ! यह आपने क्या किया। आपने अपनी प्रतिज्ञा भी तोड़ दी ?' भगवान्ने तुरंत कहा, 'मैंने तो कोई प्रतिज्ञा नहीं की थी।'

भक्त प्रवीरने प्रणय-रोषसे कहा, 'प्रभो! आप असत्य बोलेंगे तो धराका क्या होगा ? आपने प्रतिज्ञा की थी कि मैं चुपचाप युद्ध देखूँगा। पर आप पुनः अर्जुनके रथपर आकर बैठ गये।'

भगवान्ने कहा, 'जिसने प्रतिज्ञा की थी उससे कहो भैया !' प्रवीरने तालवृक्षकी ओर देखा तो भगवान् वहीं बँधे खड़े थे। उसने एक बार तालवृक्ष और एक बार अर्जुनके रथकी ओर देखा। अब एक ही भगवान्के दो रूप हो गये थे। प्रवीरने अर्जुनसे कहा, 'अर्जुन ! आप महान् धन्य हैं और आपके माता-पिता सभी धन्य हैं, जिनके लिये भगवान्को दो रूप धारण करने पड़े।'

प्रवीर भगवान्के दोनों रूपोंको देखने लगा। उसके हृदयमें छिपा हुआ प्रेमसमुद्र प्रकट होकर उमड़ चला। वह अपने-आपको भूल गया। भगवान्की नित्य नवनवायमान सुर-मुनि-मनमोहिनी रूपमाधुरीने प्रवीरपर ऐसा विलक्षण जादू किया कि प्रवीरका बाह्य ज्ञान सर्वथा लुप्त हो गया। वह उस अलौकिक रूप-सुधा-सागरमें डूब गया।

इसी समय भगवान्ने अर्जुनसे कहा, 'पार्थ ! तुम अति शीघ्र प्रवीरका मस्तक उतार लो।' अर्जुन बोले, 'प्रभो ! प्रवीर युद्ध छोड़कर आपके ध्यानमें तल्लीन है, ऐसी अवस्थामें इसे मारना धर्मविरुद्ध है।'

भगवान् तुरंत बोल उठे, 'अर्जुन ! मेरे भक्त प्रवीरको युद्धमें सम्मुख मार सकनेकी सामर्थ्य किसमें है ? यह मेरी इच्छा है कि मेरा भक्त मेरे ध्यानमें निमग्न रहता हुआ ही मेरे परम धाममें पहुँच जाय। मेरी आज्ञा है, तुम इसे मार डालो। तुम्हें पाप नहीं लगेगा।'

अर्जुनने एक अत्यन्त तीक्ष्ण अर्द्धचन्द्राकार दिव्य शर छोड़ा, जिससे प्रवीरका मस्तक कटकर उछला और भगवान्के चरणोंमें जा गिरा। उसमेंसे एक परम ज्योति निकली और वह श्रीभगवान्के मङ्गलमय श्रीविग्रहमें समा गयी। प्रवीरका प्राणान्त होते ही उसकी बची-खुची सेना भाग गयी। माहिष्मतीमें शोक छा गया !

प्रवीरकी मृत्युका समाचार सुनकर उसके पिता विलाप करने लगे और पुत्र-शोकमें रोती हुई परंतु पुत्रकी वीर तथा भक्त-गतिसे गर्विता उसकी माताने कहा, 'बेटा ! तुम अर्जुनके बाणसे कटकर प्रभुके धाममें गये और मैं वीर क्षत्रियकुमारकी माता सिद्ध हुई। मेरा जन्म सफल हुआ।'

इसी बीचमें भगवान् वहाँ आ पहुँचे। उन्होंने विलाप करती हुई जुन्हादेवीसे कहा, 'आप चिन्ता न करें। यदि कहें तो प्रवीरको पुनः जीवित कर दूँ।' जुन्हादेवीने कहा, 'प्रभो ! आपके सम्मुख मृत्यु पाकर पुनः कौन जीवित होना चाहेगा, पर मैं चाहती हूँ कि हम दम्पतिको भी वही गति प्राप्त हो, जो आपने पुत्रको दी है।'

भगवान्ने 'तथास्तु' कहते हुए कहा, 'अब महाराज

नीलध्वज अर्जुनको आदरपूर्वक विदा करें तथा युधिष्ठिर महाराजके अश्वमेध यज्ञमें नियत समयपर भेंटके साथ उपस्थित हों, वहाँपर पुनः मेरा दर्शन होगा।' और प्रभु अन्तर्धान हो गये।

भगवान्‌के आदेशानुसार नीलध्वजने अर्जुनको अत्यन्त सत्कारपूर्वक विदा किया और वे भगवान्‌के भजनमें संलग्न हो गये! पतिव्रता मदनमंजरी भी पतिके साथ सती होकर भगवान्‌के परमधाममें पहुँच गयी!

ईश्वर-प्रार्थनापर महात्मा गाँधीजीके उद्गार

(सङ्कलित)

ईश्वर-प्रार्थनाने मेरी रक्षा की। प्रार्थनाके आश्रय बिना मैं कबका पागल हो गया होता। अन्य मनुष्यों-की भाँति मुझे भी अपने सार्वजनिक एवं व्यक्तिगत जीवनमें अनेक कटु अनुभव प्राप्त हुए। उनके कारण मेरे भीतर कुछ समयके लिये एक प्रकारकी निराशाको दूर करनेके लिये मुझे कुछ सफलता हुई, तो वह प्रार्थनाके ही कारण हो सकी। सत्यकी भाँति प्रार्थना मेरे जीवनका अङ्ग बनकर नहीं रही है। इसका आश्रय तो मुझे आवश्यकतावश लेना पड़ा। मेरी ऐसी अवस्था हो गयी कि मुझे प्रार्थनाके बिना चैन पड़ना कठिन हो गया। ईश्वरमें मेरा विश्वास ज्यों-ज्यों बढ़ता गया, प्रार्थनाके लिये मेरी व्याकुलता भी उतनी ही दुर्दमनीय हो गयी। प्रार्थनाके बिना मुझे जीवन नीरस एवं शून्य-सा प्रतीत होने लगा।

जब मैं दक्षिणी अफ्रीकामें था, उस समय मैं कई बार ईसाइयोंकी सामुदायिक प्रार्थनामें सम्मिलित हुआ; परंतु उसका मुझपर प्रभाव नहीं पड़ा। मेरे ईसाई मित्र ईश्वरके सामने अनुनय-विनय करते थे; किंतु वैसा मुझसे नहीं बन पड़ा। मुझे इस कार्यमें बिल्कुल असफलता रही। परिणाम यह हुआ कि ईश्वर एवं उनकी प्रार्थनामें मेरा विश्वास उठ गया और जबतक मेरी आस्था परिपक्व न हो गयी, मुझे उसका अभाव बिल्कुल नहीं खला; परंतु अवस्था ढल जानेपर एक समय ऐसा आया जब मेरी आत्माके लिये प्रार्थना उतनी ही अनिवार्य हो गयी, जितना शरीरके लिये भोजन अनिवार्य है। सच पूछिये तो शरीरके लिये भोजन भी उतना आवश्यक नहीं है, जितनी आत्माके लिये प्रार्थनाकी आवश्यकता है; शरीरको स्वस्थ रखनेमें कभी-कभी उपवास आवश्यक हो जाता है, किंतु प्रार्थनारूप भोजनका त्याग किसी प्रकार भी हितकर अथवा वाञ्छनीय नहीं कहा जा सकता। प्रार्थनाकी अजीर्णता तो कभी हो ही नहीं सकती।

····लोग मेरी आन्तरिक शान्ति देखकर मुझसे ईर्ष्या करने लगते हैं। वह शान्ति मुझे और कहींसे नहीं, ईश्वर-प्रार्थनासे मिली।····किसीके मनमें ईश्वरमें विश्वास उत्पन्न करा देना मेरी शक्तिके बाहर है। बुद्धिका अवलम्बन भ्रमजनक होता है, क्योंकि तर्क-पूर्ण युक्तियोंसे चैतन्यरूप ईश्वरमें विश्वास उत्पन्न नहीं कराया जा सकता। ईश्वर बुद्धिजन्य वस्तु नहीं हैं, वे बुद्धिसे अतीत हैं। यदि एक बार आपने ईश्वरकी सत्ताको स्वीकार कर लिया, तो फिर आपसे प्रार्थना किये बिना रहा नहीं जायगा। यह ठीक है कि ईश्वर यह नहीं चाहते कि हम प्रतिदिन अपनी शरणागतिका उनके सामने हवाला दें; किंतु हमारे लिये ऐसा करना आवश्यक है। मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि यदि हम ऐसा करेंगे, तो फिर कोई भी दुःख हमें नहीं सतायेगा।

नाथ-भागवत

(लेखक—श्रीवि० ह्र्षे एम्० ए०, साहित्य-विशारद)

[गताङ्कसे आगे]

श्रीएकनाथजीका कहना है कि विषयोंकी नश्वरताको समझकर इनके मोह-जालसे छूटनेके लिये सुयोग्य सद्गुरुकी शरणमें जाना नितान्त आवश्यक है। उन्होंने सुयोग्य सद्गुरुके लक्षण भी बतलाये हैं। वे कहते हैं कि सद्गुरुका प्रथम लक्षण है आत्मानुभूति, जो शिष्यको अपरोक्ष ज्ञान करा देता है, वही 'सद्गुरु' कहलानेका अधिकारी है। इस प्रकारका आत्मज्ञानी न तो विषयोंका त्याग करता है और न आसक्तिपूर्वक उनको ग्रहण ही करता है। उन दोनोंको नियतिके हाथमें सौंपकर वह परब्रह्मस्वरूपमें निमग्न रहता है। प्रारब्धवश उनकी देह पालकीमें बैठे या विष्ठामें गिरे, किसीमें भी उसे सुख-दुःखकी अनुभूति नहीं होती। उसका ज्ञान केवल शाब्दिक नहीं होता। जिस प्रकार केवल अमृत कहनेमात्रसे अमृतकी माधुरीका अनुभव नहीं होता, उसी प्रकार केवल शब्दज्ञानसे आत्मज्ञानकी माधुरीका अनुभव नहीं होता। अतः वह शिष्यको शाब्दिक उपदेश एवं आत्मज्ञानका अनुभव—इन दोनोंसे कृतार्थ करता है। सद्गुरु-कृपाके पश्चात् शिष्यका बाध्य-बाधकताका भ्रम नष्ट हो जाता है। उसके मनसे द्वैतकी भावना चली जाती है। उसके लिये संसारकी विषमता नष्ट हो जाती है। श्रीएकनाथजीका कहना है कि आत्मज्ञान दान करनेका सामर्थ्य जिनमें है, उनका अन्तिम लक्षण है उनकी शान्ति। उनमें पूर्ण शान्ति निवास करती है। अपनी उस परम शान्तिका लाभ सद्गुरु अपने प्रिय शिष्यको देता है। अतः मायासे मुक्त होनेकी जो इच्छा करता हो, उसे सद्गुरुकी शरणमें जाना ही चाहिये। उनकी शरण जानेसे सद्गुरु भागवत-धर्मोंका उपदेश करते हैं, और फिर उन धर्मोंके आचरणसे साधक मायासे छूट सकता है।

सद्गुरु जिन भागवत-धर्मोंका उपदेश शिष्यको करता है, उनका विस्तृत वर्णन श्रीएकनाथजीने किया है। 'अहिंसा सत्यमस्तेयम्' आदि श्लोकोंसे मूलभागवतमें उनका वर्णन है। स्थानाभावके कारण उन सबकी चर्चा यहाँ करना कठिन है; किंतु उदाहरणके रूपमें ३–४ शब्दोंके ऊपर श्रीएकनाथजीने जो टीका लिखी है, उसका सारांश यहाँ दिया जा रहा है। उससे मूलभागवतके अर्थमें उन्होंने कई स्थलोंपर किस प्रकार परिवर्तन किया है, इसका अनुमान लगाया जा सकता है। उन्होंने 'निःसङ्गता, शौच, मौन और संतोषो येन केनचित्' इन चार भागवत धर्मोंका जो विवेचन किया है, उसका सारांश संक्षेपमें इस प्रकार है—

'निःसङ्गता'—ऐहिक वस्तुओंका सङ्ग न करना सबसे अच्छा है; किंतु असत्सङ्गको टालनेके लिये पहले सत्सङ्ग करना चाहिये। सब प्रकारके असत्सङ्गोंमें देहसङ्ग या देहात्मबुद्धि सबसे बुरा असत्सङ्ग है। इस देहबुद्धिका नाश करनेके लिये इकट्ठे हुए अध्यात्मप्रवण संतोंके समीप जाकर उनकी सेवा करनी चाहिये। उनसे अध्यात्मज्ञान प्राप्त करके कृतार्थ होना चाहिये।

'शौचम्'—वासनाके मलसे मन मलिन रहता है। उसे श्रद्धेय सद्गुरुके उपदेशरूपी जलसे धोना चाहिये। सद्गुरु-उपदेशके सहारे शुद्धि प्राप्त करनेके अनन्तर ही मनुष्य कृतार्थ होता है। ऐसा न करते हुए जो बाहरी स्वच्छताका स्वाँग करता है, वह ढोंगी है। जिस प्रकार किसी सुन्दर नवयुवतीके होठपर थोड़ा-सा भी कोढ़का चिह्न होनेसे कोई भी उसका पाणिग्रहण करनेके लिये तैयार नहीं होता; उसी प्रकार जबतक अन्तरमें विकल्प हैं, वासनाएँ हैं, तबतक बाह्य पवित्रताका कोई महत्त्व नहीं। श्रीएकनाथजीका कहना है कि यदि अन्तःकरणमें पवित्रता है तो बाह्य आचार-विचारोंमें वह अपने-आप प्रकट हो जायगी। और यही अन्तर्बाह्यकी शुचिता आत्मज्ञानको प्रकाशित करेगी।

'मौनम्'—समूहमें वाद-विवाद करनेसे देहाभिमान दृढ़ होता है; किंतु सद्गुरुकी कृपासे जिसका देहाभिमान पूर्णतया नष्ट हो चुका है, उसे ऐसा प्रतीत होता है कि जिसकी भी निन्दा करें वही तो आत्मस्वरूप है। अतः सद्गुरुकी कृपासे जिसकी समदृष्टि हो गयी है, वह भक्त किसीकी निंदा नहीं करता। इसी प्रकार वह किसीकी स्तुति भी नहीं करता। अतः सद्गुरु-कृपाप्राप्त सद्भक्त स्वतः ही मौन हो जाते हैं। उन्हें ऐसा एक भी स्थान नहीं दीखता जहाँ परमात्माका स्वरूप न हो। अतः गुरु-उपदेशसे जो कृतार्थ हो चुके हैं तथा जिनके चित्तमें आत्मस्वरूप स्थिर हो गया है, वे स्तुति एवं निन्दामें रत नहीं होते। इस प्रकार आत्मज्ञानीके स्वाभाविक मौनका वर्णन करते हुए श्रीएकनाथजी कहते हैं कि राजा राम

का भजन करना भी महामौन है, क्योंकि वेदोंने भी ईश्वरकी स्तुति की है । अतः परमेश्वरका नामस्मरण महामौन ही होगा ।

'संतोषो येन केनचित्'—विज्ञ पुरुष जानते हैं कि भाग्यमें जो लिखा है उससे अधिक रात-दिन श्रम करके भी नहीं प्राप्त हो सकता । इसलिये अपने भाग्यसे जो मिल गया है उसीसे भागवत पुरुष अपना निर्वाह कर लेता है । सद्गुरुसे प्राप्त हुए आत्मज्ञानके कारण वह सदा सन्तुष्ट रहता है । दैव-प्रदत्त सुख-दुःखके आघातोंका अनुभव करते हुए भी आत्म-चिन्तनमें निमग्न रहनेके कारण उसकी आनन्दवृत्ति नष्ट नहीं होती । वह कहता है कि भिक्षावृत्तिसे भी निर्वाह करना पड़े तो भी आपत्ति नहीं; किंतु इस अमूल्य नर-जन्मका एक भी क्षण ऐहिक झंझटोंमें बिताना ठीक नहीं ।

इसी विषयकी चर्चामें श्रीएकनाथजीने एक मनोरम शब्द-चित्र खींचा है कि सद्गुरु-कृपा होनेके बाद साधककी क्या अवस्था होती है । वे कहते हैं—'सद्गुरु-कृपासे साधकको हृदयस्थ परमात्माके दर्शन होते हैं । साधक अपने भजनमें लग जाता है । उसकी देहके बाह्य चिह्न बदलने लगते हैं । स्वरूपका बोध होनेसे नेत्रोंसे आँसुओंकी धारा बहने लगती है । उसके अङ्ग-प्रत्यङ्गोंमें घर्मबिन्दु निकल आते हैं । हृदय-स्पन्दन रुकने लगता है । चित् और चेतनका मिलन होनेके पश्चात् कण्ठ रुँध जाता है । काया पुलकित हो जाती है । उन्मीलित नेत्र तेजोमय हो जाते हैं । आत्मचिन्तन करते हुए ईश्वर-प्रेमकी बाढ़ आती है । रोते-रोते हिचकी बँध जाती है; किंतु उसी रुदनके साथ ही अनुपमेय आनन्दकी उत्पत्ति होती है । साधक रोते-रोते कहता है, 'मोह और अभिमान-के कारण देहात्मबुद्धिसे अबतक मैं अपनेमें ही खोया हुआ था । सद्गुरुकी कृपासे आज मेरा ही मेरे साथ मिलन हुआ । संसारका जो भय आजतक मेरा पिण्ड नहीं छोड़ता था, वह सद्गुरुकी कृपासे आज नष्ट हो गया ।' जिस प्रकार छोटा बच्चा अपनी माको देखते ही नाचने-गाने लगता है, उसी प्रकार सद्गुरु-वाक्यरूपी माको देखकर उसके दर्शनसे भक्त हर्षातिरेक-में नाचने-गाने लगता है । उसके मुखपर स्वानन्द-सुखकी आभा झलकने लगती है ।

मायासे छूटनेके लिये सद्गुरु-कृपा और उनके द्वारा उपदेश किये हुए भागवत-धर्मोंका आचरण—इन दोनोंकी आवश्यकता-का वर्णन श्रीएकनाथजीने बड़े विस्तारसे किया है । अन्तमें उन्होंने कहा है कि यदि दुर्भाग्यवश सद्गुरु-कृपा आदि बातें न प्राप्त हो सकें तो भगवद्भक्ति मायासे छूटनेका एक निश्चित उपाय है । परमात्मस्वरूप नारायणकी भक्ति करनेसे भगवद्भक्त बिना ही प्रयास मायासे मुक्त हो सकते हैं ।

प्रश्न ५—ब्रह्म क्या है ?

परब्रह्मका वर्णन करते हुए श्रीएकनाथजी कहते हैं कि जिस प्रकार प्रातः, मध्याह्न और सन्ध्या—इन तीनों अवस्थाओं-में आकाश एकरूप रहता है, उसी प्रकार उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय—इन तीनों अवस्थाओंमें ब्रह्म एकरूप रहता है । ब्रह्म त्रिभुवनमें व्याप्त है और हृदयस्थ आत्मा उसीका रूप है । उसीके बलसे नेत्र देख सकते हैं और रसना रसास्वाद लेती है । सृष्टिका सञ्चालक और हृदयमें स्वानन्दानुभूतिके लिये आधारभूत रहनेवाला नारायण वही है । जैसे आकाश-को बाँधनेके लिये दिशारूप विशाल वस्त्र अपर्याप्त है, वैसे ही ब्रह्मका वर्णन करनेके लिये शब्द अपर्याप्त हैं । वह वाणी-का विषय नहीं है । जहाँ बुद्धिकी भी गति अवरुद्ध हो जाती है, वहाँ रसना, नयन, श्रवण, मन आदि इन्द्रियोंके प्रवेशका क्या कहना है । तरङ्ग समुद्रका ही अङ्ग है; किंतु तरङ्गसे समुद्रकी महानताकी कल्पना नहीं की जा सकती । ईखसे शक्कर बनती है; किंतु शक्करसे ईख नहीं बन सकती । इसी प्रकार ब्रह्मसे ही समस्त इन्द्रियोंकी सृष्टि होती है, तो भी इन्द्रियोंसे परब्रह्मका ज्ञान असम्भव है । इसीलिये कहते हैं कि वही परब्रह्म है जो नेत्रोंको देखनेकी शक्ति देता है; किंतु नेत्र जिसे देख नहीं सकते और जो रसना, श्रवण, नासिका आदि इन्द्रियोंको चेतनाशक्ति देता है; किंतु ये जिसे समझ नहीं सकतीं । ब्रह्म सबको जानता है; किंतु सब उसे नहीं जान सकते । जहाँतक शब्द नहीं पहुँच सकते, जहाँ बुद्धि-का भी प्रवेश नहीं, जहाँ ज्ञेय और ज्ञाताका द्वन्द्व नहीं रह जाता, वही परब्रह्म है । ब्रह्ममें जन्म, वृद्धि, विकास, ह्रास और नाश आदि विकार नहीं हैं । देहका सञ्चालक प्राण है और प्राणका सञ्चालक ब्रह्म है ।

ब्रह्मका ऐसा वर्णन करनेके पश्चात् श्रीएकनाथजी कहते हैं कि मनुष्यके मनमें रज-तमयुक्त कर्मोंसे उत्पन्न मल रहता है । उस मलको भक्तिके साधनसे धोकर चित्तको स्वच्छ करना चाहिये । ज्यों-ज्यों अन्तःकरणमें ईश्वरका प्रेम बढ़ता है, त्यों-त्यों विरागका आगमन होता है, विषयासक्ति कम होती है और चित्तवृत्ति निर्मल होने लगती है । चित्तवृत्तिके निर्मल होनेसे सर्वभूतस्थ परमात्मा उसमें प्रकाशमान होता है । जिस प्रकार नेत्ररोग नष्ट होनेके बाद देदीप्यमान सूर्य आप-ही-

आप दीखने लगता है, उसी प्रकार संकल्प-विकल्पके नष्ट हो जानेपर भक्तोंके हृदयमें परमेश्वरके रूपका बोध हो जाता है।

प्रश्न ६—कर्मयोगकी क्या परिभाषा है ?

इसके विषयमें श्रीएकनाथजीने पहले ही कह दिया है कि कर्माकर्मकी विवेचना एक अत्यन्त कठिन समस्या है। कर्माकर्म-विचारकी शास्त्रीय चर्चामें स्मृतिकार मुनि भी चकरा गये हैं। अतः अपने ग्रन्थमें इन विविध कर्मोंके भेदाभेद दिखानेमें श्रीएकनाथजीने विशेष माथापच्ची नहीं की। उनके मतके अनुसार कर्म, अकर्म और विकर्म एक दूसरेसे पृथक् नहीं किये जा सकते। जिस प्रकार कोमल, मधुर और श्वेत नवनीतमें कोमलता, मधुरता और श्वेतता पृथक्-पृथक् नहीं की जा सकती। जहाँ एक है वहाँ दूसरे दो आ ही जाते हैं—उसी प्रकार कर्म, अकर्म, विकर्मकी त्रयीमें जहाँ कर्म है वहाँ अकर्म और विकर्म आ ही जाते हैं। अतः कर्म-अकर्म-विकर्मकी चर्चाको प्रधानता न देते हुए जो कर्म मोक्षप्रद है, उसीका विवेचन श्रीएकनाथजीने आगे चलकर किया है। उनका प्रथम सिद्धान्त है कि निष्काम बुद्धिसे किया हुआ कर्म भव-बन्धनको काटनेका प्रबल साधन है; किंतु सकाम बुद्धिसे किया हुआ वही कर्म बन्धनकारक होता है। वे कहते हैं कि पैरकी बेड़ी तोड़नेके लिये प्राप्त हथौड़ा-छेनी जो बेंच डालेगा, वह कभी भी मुक्त नहीं हो सकता। बन्धन काटनेवाले कर्म जो निष्काम बुद्धिसे न करके विषयोंके सुखके लिये करता है, वह बन्धन-मोक्षके साधनको खो बैठता है। अतः मोक्षके लिये निष्काम बुद्धिसे वेदोक्त कर्म करने चाहिये और उन्हें ईश्वरार्पण कर देना चाहिये। ईश्वरार्पणबुद्धिसे किया हुआ कर्म ब्रह्मरूप है; किंतु फलकी इच्छासे करनेवालोंके लिये वह निष्फल है। हृदयस्थ परमात्मा देहका सञ्चालक है और उसके चिन्तनसे आत्मज्ञान होता है, ऐसा समझ लेनेके बाद भगवद्भक्त देहका अभिमान छोड़ देता है। उसे यह विदित हो जाता है कि सकल भोगोंका भोक्ता परमेश्वर ही है। अतः बुद्धिमान् भक्त जड़, मूढ़, अचेतन देहमें अहंभाव न रखकर समस्त कर्म-फलोंके भोक्ता भगवान्को ही सब कर्म अर्पण कर देता है। इस प्रकार देहाभिमानसे रहित तथा ईश्वरार्पणबुद्धिसे किये हुए जितने भी कर्म हैं, सब बन्धनछेदक होते हैं और उनका अन्तिम परिपाक परम समाधान है। यही कर्मयोग है।

प्रश्न ७—परमेश्वरके अवतार-चरित्र कितने हैं ?

इस प्रश्नकी चर्चा करते हुए श्रीएकनाथजीने मूल संस्कृतका प्रायः अनुवाद ही किया है। कई स्थलोंपर विस्तार भी किया है। उसमें विराट्पुरुषसे लेकर बुद्ध, कल्कि अवतारोंतकके परमेश्वरके अनेक अवतार-चरित्रोंका वर्णन है।

प्रश्न ८—अभक्तोंकी गति कौन-सी है ?

अभक्तोंके लक्षण बतलाते हुए श्रीएकनाथजीने ज्ञानाभिमान, धनाभिमान, विषयलोलुपता और साधुनिन्दा—इन दुर्गुणोंका मुख्यतया उल्लेख किया है। ज्ञानाभिमानी अभक्तोंकी उन्होंने कड़े शब्दोंमें भर्त्सना की है। उनका कहना है कि जो ज्ञानाभिमानसे उन्मत्त हैं, वे हरि-भजनसे सदा विमुख रहते हैं। बकरी ईखकी मिठास नहीं जानती, अतः वह ईखकी पत्तियाँ ही चबाती है। उसी प्रकार आत्मज्ञानकी माधुरीका ज्ञान न होनेसे ज्ञानाभिमानी अभक्त अध्यात्मकी शाब्दिक चर्चामें ही सुख मानता है। ज्ञानके अभिमानसे जो वास्तविक हरि-भक्तिसे विमुख हैं, वे झूठी हरि-भक्ति करनेवाले अभक्त कुत्तेसे भी नीच हैं। इस प्रकारके ज्ञानियोंसे तो निष्कपट हृदयसे हरि-चरणोंकी शरण जानेवाले श्रद्धालु अज्ञानी ही अच्छे हैं। अबोध बालक पिताके सिरपर चढ़ता है तो भी उसे बुरा नहीं लगता; किंतु जब सयाना लड़का तनिक भी अपमान कर देता है तो पिताको क्रोध आ जाता है। बस, यही गति ज्ञानियोंकी है। ज्ञानाभिमानके कारण वे ईश्वरकी शरण न जाकर अपनी कर्मठताका अवलम्ब ग्रहण करते हैं। न तो वे स्वयं कर्मका विधान जानते हैं और न दूसरोंकी कुछ सुनते हैं। फलतः कर्मप्रमादके कारण वे पापके स्वामी बन जाते हैं। वे सभी कर्म काम्य-बुद्धिसे करते हैं और लौकिक सुखोपभोग ही उनका एकमात्र लक्ष्य रहता है। इतना ही नहीं, वे अपने ज्ञान-बलसे भोगमय जीवनका समर्थन एवं उसको उचित प्रमाणित करते हैं। वे कहते हैं—“मानव-जन्म स्त्री आदि भोगोंका अनुभव करनेके लिये ही है। जो महामूर्ख हैं वे ही सद्यःसुखकारी स्त्री-भोगको छोड़कर वैराग्यके पीछे पड़ते हैं। स्त्री-गृह आदिका त्याग करके जो अरण्यवास स्वीकार करते हैं वे अपने ही कर्मोंका प्रायश्चित्त कर रहे हैं, ऐसा समझना चाहिये। क्या गृहस्थाश्रममें ईश्वर नहीं है ? तब ये लोग वनमें जाकर क्यों रहते हैं ? यदि ईश्वर वनमें ही मिलता तो मृग आदि वनचर मोक्षके अधिकारी क्यों न होते ? आसन, ध्यान, धारणा आदि साधनोंसे ही यदि ईश्वर मिलते तो बक पक्षीको मोक्ष क्यों न प्राप्त होता ? यदि एकान्तवाससे मोक्ष मिलता होता, तो चूहे कभीके मुक्त हो गये होते। परमेश्वर सर्वज्ञ है। सब प्राणियोंमें स्त्री-पुरुषका जोड़ा उसीका बनाया हुआ है। उस

परमेश्वरको मूर्ख समझकर नासमझ लोग त्यागको महत्त्व देते हैं। 'उपस्थ आनन्दका एक आयतन है,' यह वेद-वाक्य है। इसे मिथ्या मानकर लोग संन्यासी हो जाते हैं। मैथुनमें परम सुख है और वह ईश्वरनिर्मित है। उसका त्याग करनेमें क्या लाभ? स्त्रीका त्याग करके जो संन्यासी बन जाते हैं उन्हें स्त्री-शाप भोगना पड़ता है। उसी शापके कारण हाथमें दण्ड लेकर तथा गेरुए वस्त्र पहनकर उन्हें भीख माँगनी पड़ती है और दाने-दानेके लिये दूसरेका मुँह ताकना पड़ता है। उनकी ऐसी दुर्दशा स्त्री-शापके कारण ही होती है। संसारमें स्त्री-सुखके समान दूसरा कोई सुख नहीं तथा स्त्री-त्यागके समान दूसरी कोई मूर्खता नहीं है। इस परमतत्त्वको न समझकर मूर्खलोग वैराग्यके नामपर संन्यास ग्रहण करते हैं और अपनी दुर्दशा कराते हैं। एक स्त्री-संगको छोड़कर शेष सभी सुख रुचिहीन हैं। अतः जिनके भाग्यमें सुख लिखा है वे ही सुन्दरियोंके साथ विविध भोग भोगकर परमशान्ति प्राप्त करते हैं। समस्त इच्छित भोगोंका भोगना ही ईश्वरकी कृपाका लक्षण है और उनसे वञ्चित रहना ही ईश्वर-कोपका प्रमाण है। सद्यःसुखकारी स्त्री आदि भोगोंको त्यागकर अदृष्ट मोक्षके पीछे दौड़ना कहाँकी बुद्धिमानी है?"

जीवनके ऐसे तत्त्वज्ञानसे वे स्त्रीको परम दिव्य मानते हैं। जाग्रत्, सुषुप्ति और स्वप्न तीनों अवस्थाओंमें वे स्त्रीका ही ध्यान करते हैं। न तो विषयोंका घातक स्वरूप उनके ध्यानमें आता है और न वे ज्ञानाभिमानके कारण दूसरेसे अपनी त्रुटि समझनेकी चेष्टा करते हैं। इस प्रकारके विकृत ज्ञानके साथ यदि संपत्ति भी हो तो फिर क्या पूछना। अपने सारे धनका उपयोग वे विषयोपभोगमें ही करते हैं। वास्तवमें धनका उपयोग धर्मके लिये करना चाहिये; क्योंकि जहाँ धर्म है, वहीं शुद्ध ज्ञान है। जहाँ शुद्ध ज्ञान है, वहाँ विज्ञान है। जहाँ विज्ञान है, वहाँ परम शान्ति है। ऐसे सामर्थ्य रखनेवाले धनका उपयोग धनाभिमानी मूर्ख क्षणभङ्गुर और चञ्चल विषयोंके लिये करते हैं; क्योंकि वे विषयभोगको ही अपने जीवनका परम कर्तव्य मानते हैं। विषयोंमें लिप्त रहनेसे उन्हें सुबुद्धिकी प्राप्ति नहीं होती। मैथुन, मांस, मदिरा—ये तीन प्रमुख विषय-सुख हैं। इन्हींमें वे रत रहते हैं। जिस प्रकार दूध देखकर बिल्ली ब्राह्मण या चाण्डालके घरका विचार नहीं करती, उसी प्रकार विषयोंको देखकर वे मूढ़ कर्तव्याकर्तव्य अथवा धर्माधर्मका विचार नहीं करते। इस प्रकारके काम्यकर्म करनेवाले विषयलोलुप अभक्त अपना ही अहित करते हैं। विषय-भोगोंका साधन यह देह ही उनके लिये परमेश्वर बन जाता है। उनके सब व्यापार देह-सुखके लिये ही होते हैं। सद्गुरुकी शरण जाना उन्हें नहीं सूझता। गुरुजनोंकी पूजा वे कभी नहीं करते। अतिथिको भोजन नहीं देते। स्त्री-सुखको ही अपने जीवनका सार मानते हैं।

रुईमें आग लगनेपर जैसे उसका बुझाना कठिन है वैसे ही विषयलिप्त मनको विषयोंसे हटाना कठिन है। जीवन-सम्बन्धी विकृत तत्त्वज्ञानके कारण ईश्वर-भक्तोंके प्रति वे घृणाकी भावना रखते हैं। महान्-से-महान् विभूतियोंकी वे क्षणमें हँसी उड़ा देते हैं। वे कहते हैं—'जिसे योगियोंका मुकुटमणि कहते हैं, उस शिवको पूज्य मानना ठीक नहीं; क्योंकि उसने क्रोधमें आकर दक्षयज्ञमें याज्ञिकोंका शिरश्छेदन किया और मोहिनीके लुभावने सौन्दर्यपर वह पागल हो गया। स्वयं विष्णुने पतिव्रता वृन्दाको व्यभिचारिणी बनाया। सनत्कुमारोंको साधु कहा जाय तो उन्होंने भी जय-विजयको शाप दिया। नारदको श्रेष्ठ मानें तो उसने भी भगवान्के पास स्त्रीकी याचना की। जिसे धर्मराज कहते हैं, वह भी एक बार झूठ बोला। व्यास तो जारपुत्र था ही। वसिष्ठ और विश्वामित्र सदा परस्पर झगड़ते रहे। प्रह्लाद भगवद्भक्त होते हुए भी पितृद्रोही था।' इस प्रकार जिन-जिन महापुरुषोंका पुराणोंने आदरपूर्वक वर्णन किया है, उन-उन महापुरुषोंकी ये अभक्त निन्दा करते हैं।

श्रीएकनाथजीका कहना है कि इस प्रकारके विषयी, घमंडी और ईश्वरविमुख अभक्त आत्मघाती हैं। वे जिस शाखापर बैठे हैं, उसीको काटना चाहते हैं। विषययुक्त काम्य-कर्मोंके बन्धनसे वे जकड़े जाते हैं और परमात्मबुद्धिसे वञ्चित रहते हैं। उनकी इस तमोमय अवस्थाको देखकर सुषुप्तिको भी नींद आती है, आलस्य भी अँगड़ाई लेने लगता है और अन्धकारको भी भय लगता है। निन्दा, क्रोध और अशान्ति उसके हृदयमें अपना डेरा जमा लेते हैं। ऐसे अभक्तोंके भाग्यमें अधःपतन ही लिखा है। जिस प्रकार खड्डेमें गिरकर जड पत्थर ऊपर नहीं उठ सकता, उसी प्रकार ये अभक्त भी पतित अवस्थासे ऊपर नहीं उठ सकते।

प्रश्न ९—किस युगमें किस नाम-रूप-वर्ण-आकारके ईश्वरका किस प्रकार पूजन करना चाहिये?

चारों युगोंमें, परमेश्वरके स्वरूप, वर्ण, गुण, पूजाविधि आदिका वर्णन करते हुए श्रीएकनाथजीने अधिकतः मूल

संस्कृतका ही अनुवाद किया है; किंतु इस प्रश्नके उत्तरके अन्तमें उन्होंने कलियुगकी पूजा-विधिका विवेचन विस्तारके साथ किया है। वे कहते हैं—'भगवान्‌को संकीर्तन परम प्रिय है। जिस प्रकार गाय अपने बछड़ेको नहीं भूलती, उसी प्रकार भगवान् भी हरि-कीर्तन करनेवालेको नहीं भूलते। श्रीरामचन्द्रजीका नाम लेनेसे पापोंका पर्वत चकनाचूर हो जाता है और भक्त परमानन्दमय अध्यात्मज्ञानको ग्रहण करने योग्य हो जाता है। अत्यन्त प्रेमके साथ हरिभजन करनेसे हृदयमें परमेश्वरके स्वरूपका उदय हो जाता है। अतः नाम-स्मरण मोक्षके लिये अत्यन्त प्रभावशाली साधन है। कलियुगमें राम-कृष्ण आदि नामोंकी ध्वनि करनेवाला मोक्षका अधिकारी हो जाता है।' श्रीएकनाथजीका कहना है कि कलियुगमें नाम-स्मरणमात्रसे मुक्ति मिल सकती है। इसीलिये देवता भी कलियुगमें जन्म लेनेकी इच्छा करते हैं। जिस प्रकार गङ्गा-स्नान करनेसे मनुष्य सब पापोंसे छूट जाता है, उसी प्रकार हरिनाम-स्मरणके द्वारा भगवान्‌की शरण जानेसे भक्त तीनों गुणोंसे मुक्त हो जाता है। देहका अभिमान छोड़कर जो हरिकी शरणमें जाते हैं, उन्हें कर्माकर्मका दोष बाधक नहीं होता। उन्हें ईश्वरकी कृपा प्राप्त हो जाती है। जैसे सूर्यके प्रकट होनेसे अन्धकार नष्ट हो जाता है, वैसे ही श्रीरामचन्द्रजी-का प्रेम प्रकट होनेसे कर्माकर्मरूपी द्वन्द्व विनष्ट हो जाते हैं। कलियुगमें नाम-स्मरणके सहारे भक्त चारों प्रकारकी मुक्ति प्राप्त कर सकता है। संकीर्तन सुननेके लालायित श्रीहरि वैकुण्ठको भी भूल जाते हैं और भक्तमें ही रत हो जाते हैं। जहाँ भगवान्, वहीं वैकुण्ठ। इस प्रकार भक्तको सालोक्य मुक्ति मिलती है। नाम-कीर्तनकी ध्वनि सुनकर भक्तोंके साथ नाचनेके लिये भगवान् दौड़े आते हैं, इस प्रकार भक्तको सामीप्य मुक्ति मिलती है। चतुर्भुज मूर्तिका ध्यान करते हुए भक्तको सारूप्य मुक्तिकी प्राप्ति होती है। भक्तिकी चरम सीमा यह है कि इस चराचर विश्वमें भीतर-बाहर सर्वत्र परमेश्वरके स्वरूपका साक्षात्कार भक्तको हो जाता है। उन्हें परमेश्वरके अतिरिक्त देखनेके लिये दूसरा कुछ रहता ही नहीं। चित्तवृत्ति स्वानन्दमें निमग्न हो जाती है और फिर द्वैतमय जगत्‌में नहीं लौटती। इस प्रकार भक्तोंको सायुज्य मुक्ति मिलती है। श्रीएकनाथजीने कलियुगके नाम-माहात्म्यका इस प्रकार वर्णन किया है।

जनक-नौ ऋषियोंका संवाद यहाँ समाप्त होता है। वसुदेवजी नारदजीकी विदाईके लिये प्रस्तुत होते हैं। जानेके पूर्व नारदजी वसुदेवजीको उपदेश करते हैं कि श्रीकृष्णको पुत्रदृष्टिसे न देखना। वे साक्षात् परब्रह्म परमात्मा हैं। सच-मुच ही तुम बड़े भाग्यशाली हो, क्योंकि वेद भी जिसका वर्णन नहीं कर सकते, जो योगी-मुनियोंके भी ध्यानमें नहीं आता, उसे तुम अपनी गोदमें खेलाते हो एवं अतिशय प्रेमसे उनका आलिङ्गन करते हो। निश्चय ही इससे तुम्हारी देह-बुद्धि नष्ट हो जायगी। जो अनन्त कालकी तपस्यासे भी नहीं हो सकता, वह तुम्हें सहज ही प्राप्त हुआ है। अतः श्रीकृष्णके सच्चे स्वरूपको जानकर उनके चरणोंमें अपना सर्वस्व अर्पण करो' जिससे आप-ही-आप तुम मुक्त हो जाओगे। इस वृत्तान्तके वर्णनके पश्चात् एकादश स्कन्धके प्रथम पाँच अध्याय समाप्त होते हैं।

कई अन्य आधुनिक शास्त्रोंकी भाँति 'अध्यात्म' भी एक शास्त्र है। इसे यहाँ प्रमाणित करनेका अवसर नहीं है। यह एक स्वतन्त्र विषय हो सकता है; किंतु जिस प्रकार आधुनिक शास्त्रोंकी उन्नतिके उद्देश्यसे कई शास्त्रज्ञ अपना जीवन बिताते हैं और खोज करते हैं, इसी प्रकार करोड़ों शास्त्रज्ञ अध्यात्म-शास्त्रकी उन्नतिमें अपना जीवन, अपना सुख, अपना सर्वस्व दान कर चुके हैं। इन्हीं शास्त्रज्ञोंने अध्यात्मशास्त्रका विकास किया है। इन शास्त्रज्ञोंमें सबसे आधुनिक संशोधनविशारद (Research Scholars) हैं हमारे 'संत'। उन्होंने आत्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये एक विशेष मार्ग खोज निकाला, उसपर आचरण किया और लोगोंको भी उसका उपदेश किया। अतः मराठी संत-साहित्यके ज्ञानेश्वर, एकनाथ, तुकाराम, रामदास, नामदेव आदि संतोंके विचारोंमें एक प्रकारकी एकताका दर्शन होता है। वे मानते हैं कि सुख-दुःख, जन्म-मरण, हर्ष-विषाद आदि द्वन्द्वोंसे मानव बद्ध रहता है और निर्विषय सुखकी तनिक भी कल्पना वह नहीं कर सकता। यदि वह अपनी इस अधोऽवस्थासे ऊपर उठना चाहता है और यदि मूल परब्रह्मस्वरूप प्राप्त करनेकी उसकी इच्छा है तो उसे किसी आध्यात्मिक मार्गका अनुसरण करना चाहिये। ये मार्ग अनेक प्रकारके हैं। और उनमें परिवर्तन भी होता चला आया है। हमारे संतोंकी दृष्टिसे सबसे सरल मार्ग है—'नामप्रधान भक्तिमार्ग।' श्रीएकनाथजी कहते हैं कि मोक्षके लिये केवल हरिनाम ही पर्याप्त है। नामसे ही चारों प्रकारकी मुक्ति प्राप्त हो सकती है। नाम-संकीर्तनसे परमेश्वर भक्तोंके प्रेम-पाशमें बँध जाता है। संत-साहित्यके तत्त्वज्ञानकी सबसे महत्त्वपूर्ण बात है 'नाम-माहात्म्य।' संत

तत्त्वज्ञानमें विरक्ति और सद्गुरुका भी उच्च स्थान है; क्योंकि विरक्तिसे मनुष्य अध्यात्म-पथपर अग्रसर होता है और आत्मज्ञानकी अनुभूति सद्गुरु-कृपासे प्राप्त होती है। तीसरी बात है भक्तिकी। 'अनन्यभावसे ईश्वरकी शरण जाना' इसको हमारे संत परमार्थ-प्राप्तिका सबसे प्रभावपूर्ण साधन मानते हैं। इस प्रकार विषय-विरक्ति, सद्गुरु-कृपा और नामप्रधान ईश्वर-भक्ति—ये तीनों संतोंके परमार्थ-पथको प्रकाशित करनेवाले देदीप्यमान दीपक हैं। इस दृष्टिसे यह कहना उचित ही होगा कि श्रीएकनाथजीकी प्रथम पञ्चाध्यायीकी यह टीका हमारे संत-तत्त्वज्ञानका एक 'प्रातिनिधिक दर्शन' है।

वैदिक-साहित्यका परिचय

ऋग्वेद-संहिता

(लेखक—पं० श्रीरामगोविन्दजी त्रिवेदी)

[गताङ्कसे आगे]

अनेक संस्कृत-ग्रन्थोंमें ऋक्, यजुः और सामवेदोंका नाम 'त्रयी' है। इसलिये कि, तीन (अग्नि, वायु और सूर्य) ईश्वरीय शक्तियोंमेंसे अग्निका ऋग्वेदमें, वायुका यजुर्वेदमें और सूर्यका सामवेदमें विशेष कथन है।

महाभारत (१ । २), श्रीमद्भागवत (१२ । ६) और विष्णुपुराण आदिसे पता चलता है कि, 'ब्रह्माकी आज्ञासे वेदव्यासने वैदिक संहिताओंको कई खण्डोंमें विभक्त किया—विविध-विषयक मन्त्रोंको पृथक्-पृथक् करके प्रत्येक विषयको क्रमबद्ध किया। ये पराशरके पुत्र कृष्णद्वैपायन व्यास थे और वेदोंका बँटवारा करनेके कारण ही इन कृष्णद्वैपायनका नाम व्यास पड़ा—

वेदान् विव्यास यस्मात्स वेदव्यास इतीरितः।
तपसा ब्रह्मचर्येण व्यस्य वेदान् महामतिः॥
(महाभारत १ । २)

व्यासजीने पैलको ऋग्वेद, वैशम्पायनको यजुर्वेद, जैमिनिको सामवेद और सुमनाको अथर्ववेद पढ़ाया। पैल ऋषिने ऋग्वेदके दो भाग करके उन्हें इन्द्रप्रमति और वाष्कलको पढ़ाया। इन्द्रप्रमतिने अपना भाग अपने पुत्र माण्डुकेयको पढ़ाया। माण्डुकेयके बाद उनके पुत्र शाकल, शिष्यदेव और सौभरिने वेदाध्ययन किया। शाकलने अपने अधीत अंशका अध्ययन मुद्गल, गालव, शालीय और शिशिर आदिको कराया। इन्द्रप्रमतिके शिष्य शाकपूणि थे। इन्होंने वेदका जो भाग पढ़ा था, उसके तीन भाग करके उन्हें अपने शिष्य क्रौञ्च, वैताल और बलाकको पढ़ाया। शाकपूणिने अपने 'निरुक्तकृत्' नामक शिष्यको निरुक्त बनाकर दिया। वाष्कलने अपनी संहिताके तीन भाग करके उन्हें कालायनि, गार्ग्य और कथाजवको पढ़ाया। इस तरह ऋग्वेदकी कितनी ही शाखाएँ हो गयीं; परंतु पाँचकी ही प्रधानता मानी गयी है—शाकला, वाष्कला, माण्डुका, शांखायनी और आश्वलायनी। इनमें अब पहली ही पायी जाती है, यह लिखा जा चुका है।

उव्वटने इन तेरह प्रकारके मन्त्रोंका उल्लेख किया है—विधिवाद, अर्थवाद, याच्ञा, आशीः, स्तुति, प्रैष, प्रवह्लिका, प्रश्न, व्याकरण, तर्क, पूर्वानुकीर्त्तन, अवधारण और उपनिषद्। ये सब पाये जाते हैं।

यास्कने ऋचोंको तीन भागोंमें विभक्त किया है—प्रत्यक्षकृत, परोक्षकृत और आध्यात्मिक। शाकलने पद-पाठकी और गालव या बाभ्रव्यने क्रमपाठकी रचना की।

ऋग्वेदके पद्योंके शब्दोंमें जो स्वर मिलते हैं, उनके नाम उदात्त, अनुदात्त और स्वरित हैं। पाणिनिने जैसे बहुत कुछ वैदिक व्याकरण लिखा है, वैसे ही वैदिक भाषाके उच्चारणों और स्वरोंके बारेमें भी लिखा है; परंतु पाणिनिके सब प्रयोग अब लागू नहीं होते। स्वरोंकी सर्वाधिक झलक शतपथ और तैत्तिरीय ब्राह्मणोंमें दीख पड़ती है। वैदिक पद्य-पाठ तो इनमें ओतप्रोत हैं। द्रविड़ भाषामें आज भी स्वरोच्चारणोंकी झलक देखी जाती है। स्वरोंके साथ वेद-पाठकी विधि है। स्वरोंके कारण अर्थ-भेद भी होता है।

पाठ-प्रणालीके भेदसे संहिता दो तरहसे पढ़ी जाती है। पहलीको निर्भुज-संहिता और दूसरीको प्रतृण-संहिता कहते हैं। मूलके अविकल पाठको निर्भुज कहते हैं। ऋग्वेदके प्रथम मन्त्र '**अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्**' को ज्यों-का-

त्यों पढ़ा जाय, तो निर्भुज कहलायगा। जहाँ मूलको विकृत-रूपसे पढ़ा जाय, वहाँ प्रतृण कहा जाता है। प्रतृणके पद-संहिता, क्रम-संहिता आदि बहुत भेद हैं। पद-पाठमें पदच्छेद करके पढ़ा जाता है—

'अग्निम्, ईळे, पुरः, हितम्, यज्ञस्य, देवम्, ऋत्विजम्।'

क्रम-पाठ इस तरह पढ़ा जायगा—

'अग्निं ईळे ईळे पुरोहितम्, पुरोहितं यज्ञस्य यज्ञस्य देवम्, देवं ऋत्विज्।'

जटापाठ इससे विचित्र है—

'अग्निं ईळे, ईळे अग्निम्, अग्निं ईळे, ईळे पुरोहितम्, पुरोहितं ईळे, ईळे पुरोहितम्, पुरोहितं यज्ञस्य, यज्ञस्य पुरोहितम्, पुरोहितं यज्ञस्य, यज्ञस्य देवम्, देवं यज्ञस्य, यज्ञस्य देवम्, देवं ऋत्विजम्, ऋत्विजं देवम्, देवं ऋत्विजम्।'

घनपाठ तो और भी विचित्र है—

'अग्निं ईळे ईळे, अग्निं अग्निं ईळे, पुरोहितं पुरोहितं ईळे, अग्निं अग्निं ईळे, पुरोहितं ईळे पुरोहितम्, पुरोहितं ईळे ईळे, पुरोहितं यज्ञस्य यज्ञस्य, पुरोहितं ईळे ईळे, पुरोहितं यज्ञस्य पुरोहितम्, यज्ञस्य यज्ञस्य पुरोहितम्, पुरोहितं यज्ञस्य देवम्, देवं यज्ञस्य पुरोहितम्, पुरोहितं यज्ञस्य देवम्, यज्ञस्य देवं देवम्, यज्ञस्य यज्ञस्य देवम्, ऋत्विजं ऋत्विजं देवम्, यज्ञस्य यज्ञस्य देवम्, ऋत्विजम्।' इत्यादि।

ये शब्द बार-बार इसलिये भी दोहराये जाते हैं कि वेदका मूल पाठ सदा शुद्ध रहे, कहीं भी कोई प्रक्षिप्त न घुसेड़ने पावे। ये पाठ-क्रम और भी कई प्रकारके हैं—माला, शिखा, लेखा, ध्वजा, दण्ड, रथ, अग्नि आदि। विस्तार-भयसे अन्य पाठ नहीं दिये जा रहे हैं। इन पाठोंको देखकर अपने पूर्वजोंकी असाधारण प्रतिभा, दुर्द्धर्ष परिश्रम और अदम्य धैर्यपर विस्मित और विमुग्ध होना पड़ता है। 'छापाखाना' तो अभी उस दिन चला है—हजारों हजार वर्षोंसे ब्राह्मण-जाति इन पाठों, वेदोंके विशाल साहित्य और शास्त्रोंके विराट वाङ्मयको केवल कण्ठस्थ करके सुरक्षित रखती आ रही है। वाह री अद्भुत प्रतिभा और वाह री ऋतम्भरा प्रज्ञा !!! क्या इन ब्राह्मणोंसे संसार, विशेषतः हिंदू-जाति कभी 'उऋण' हो सकती है ! ब्राह्मण नहीं रहते, तो क्या अगाध संस्कृत-साहित्य, हिंदू-संस्कृति, हिंदू-धर्म और आर्य-सभ्यताका नाम भी दुनिया सुनती ! इस महत्कार्यके लिये ब्राह्मणोंने भारतवर्षका राज्य छोड़ दिया, लक्ष्मीको 'लात' मार दिया, स्वेच्छया दरिद्रताका वरण किया और सरस्वतीकी अनन्य उपासना की। यदि व्यास, वसिष्ठ, परशुराम, द्रोण, चाणक्य और समर्थ रामदासकी सोलह आनेमें एक पैसा भी कामना रहती, तो आजतक भारतपर केवल ब्राह्मणोंका राज्य रहता, दूसरे किसीका भी नहीं; परंतु—

ब्राह्मणस्य तु देहोऽयं क्षुद्रकामाय नेष्यते।
स तु कृच्छ्राय तपसे प्रेत्यानन्तसुखाय च॥

'ब्राह्मणका यह शरीर छोटे-मोटे कामके लिये नहीं है; यह तो जीवनमें घनघोर तपके लिये और शरीरपात होनेपर सच्चिदानन्दकी प्राप्तिके लिये है।'

वेदका प्रतिपाद्य यज्ञ है। यज्ञके प्रधान प्रसारक सनातन-धर्मी हैं। सायणका तो नाम ही 'याज्ञिक भाष्यकार' पश्चिमी वेद-विद्यार्थी रक्खे हुए हैं; परंतु यज्ञके सम्बन्धमें लोगोंमें काफी भ्रम भी फैला हुआ है। यज्ञका वाच्यार्थ पूजन, हवन, याग आदि है। भगवान्‌ने यज्ञकी महिमा गीतामें गायी है—

'यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।'

'यज्ञ, दान, तप और कर्मका त्याग नहीं करना चाहिये—इनको करना ही चाहिये।'

'यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।'

'यज्ञसे बचे हुए अमृतका उपभोग करनेवाले शाश्वत ब्रह्मको पाते हैं।'

'यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते।'

'केवल यज्ञहीके लिये कर्म करनेवाले पुरुषके समस्त कर्म विलीन हो जाते हैं।' ऐसे-ऐसे अनेक वचनोंसे भगवान्‌ने यज्ञका विराट् रूप बताया है। इसके सिवा गीतामें ब्रह्मयज्ञ, द्रव्ययज्ञ, तपोयज्ञ, योगयज्ञ, स्वाध्याययज्ञ और ज्ञानयज्ञ आदि लाक्षणिक यज्ञोंका भी वर्णन किया गया है। गीताके तीसरे अध्याय (१०। १३) में भगवान्‌ने यह भी कहा है कि ब्रह्माने यज्ञ और प्रजाको एक साथ उत्पन्न करके प्रजासे कहा कि 'यज्ञ इच्छित फलदाता है। इससे तुम देवोंको सन्तुष्ट करो और देवता तुम्हें तुष्ट करें। यज्ञतुष्ट होकर देवता तुम्हें इच्छित फल देंगे।' इस तरह गीतामें यज्ञका व्यापक अर्थ है। भगवान्‌ने तीन तरहके यज्ञोंका उल्लेख १७वें अध्यायमें किया है। ये हैं—सात्त्विक, राजस और तामस। व्यक्तिगत फलाशा त्यागकर किया जानेवाला यज्ञ सात्त्विक वा निष्काम, फलाकाङ्क्षावाला यज्ञ राजस वा सकाम और शास्त्र-श्रद्धा-मन्त्रहीन यज्ञ तामस वा अधम है।

वैदिक-साहित्यमें तामस यज्ञका पता तो नहीं चलता।

परंतु सकाम और निष्काम यज्ञोंका तथा लाक्षणिक यज्ञोंका प्रयोग बहुत पाया जाता है । तरह-तरहके यज्ञ अपने लिये फलाभिलाषा लेकर भी किये जाते थे और फलत्याग करके, समाज, देश और संसारके कल्याणके लिये भी सैकड़ों यज्ञ किये जाते थे। निष्काम यज्ञको नियामकतक माना जाता था । यज्ञको विष्णुका रूप बताया गया है—'विष्णुर्वै यज्ञः ।' विष्णुके नाम ही हैं यज्ञपुरुष और यज्ञेश्वर । जो यज्ञकी दार्शनिक व्याख्या और यज्ञरहस्यकी विशद और यथार्थ मीमांसा देखना चाहें वे वैदिक वाङ्मयके आरण्यकग्रन्थोंको पढ़ देखें । अनेकानेक ऋषियोंके मतसे तो यज्ञका अर्थ ही है 'परोपकार ।'

यों तो ऋग्वेदके प्रायः सभी सूक्तोंमें शौर्य-वीर्यकी बातें हैं—प्रायः प्रत्येक सूक्त वीर-गान है; परंतु ऋग्वेदका सबसे बड़ा युद्ध 'दासराज्ञ-युद्ध' है । यह भी महाभारतकी ही तरह आपसमें ही हुआ था । इसका उल्लेख ऋग्वेदके ७ । १८, १९ और ३३ सूक्तों तथा ७ । ८३ । ७ में है। इसमें दस प्रधान योद्धा थे । सूर्यवंशी राजा सुदासकी ओर इन्द्रकी सहायता थी । उन्होंने शत्रुओंके (यज्ञविरोधी आर्योंके) ९९ नगरोंको ध्वस्त-विध्वस्त कर डाला था (१ । ५४ । ६)। इसमें पक्थ, भलान, भनन्तालिन, विषाणिन आदि अनार्य राजा भी सम्मिलित थे । इसमें ६६०६६ मनुष्य काम आये थे (७ । १८ । १४) ।

पाश्चात्त्य वेदाभ्यासियोंने ऋग्वेदका काल-निरूपण करनेमें जितनी माथापच्ची की है उतनी ऋग्वेदके किसी भी विषयपर नहीं । अधिक यूरोपीय विद्वानोंके मतसे १२ ईसापूर्व, हाग और आर्कविशप प्राटके मतसे २००० ईसापूर्व, लो० तिलकके मतसे ४५०० ईसापूर्व, वैद्यजीके मतसे ३१ ईसा-पूर्व, जैकोबीके मतसे ४००० ईसापूर्व, पावगीके मतसे ८००० ईसापूर्व और अविनाशचन्द्रदासके मतसे २५००० ईसापूर्वमें ऋग्वेद बना था । श्रीनारायणराव भवानराव पावगीका कहना है कि, 'अलेक्ज़ेंडरके समय ग्रीक विद्वानोंने जो अनेक देशोंकी वंशावलियोंका संग्रह किया था उसके अनुसार चन्द्रगुप्ततक भारतवर्षमें १५४ राजवंश ६४५७ वर्ष राज्य कर चुके थे। इनके बहुत पहले ऋग्वेद बन चुका था। इस तरह ८००० ईसापूर्वमें ऋग्वेदकी सृष्टि हुई ।' परंतु ऋग्वेद (१० । १३६ । ५ और १० । ८७ । २) में जिन चार समुद्रोंका वर्णन है, उनकी परिस्थितिपर विचार करनेसे तो और ही बात मालूम पड़ती है । भूगर्भवेत्ताओंके मतसे उन चारों समुद्रोंके लुप्त हुए कम-से-कम पचीस हजार और अधिक-से-अधिक पचहत्तर हजार वर्ष हुए । इससे तो यही मालूम होता है कि ऋग्वेदको बने कम-से-कम २५००० और अधिक-से-अधिक ७५००० वर्ष हुए ।

इसके सिवा एक बात और । ऋग्वेद (७ । ९५ । २ और ३ । ३३ । २) में लिखा है कि, 'सरस्वती नदी समुद्रमें गिरती थी ।' भूगर्भशास्त्रियोंके मतसे यह समुद्र 'राजपूताना समुद्र' था । यह समुद्र लुप्त हो गया और साथ ही सरस्वती भी लुप्त हो गयी । यह बात प्लीस्टोसिन-कालकी है । भूगर्भवालोंका ऐसा मत है । एच० जी० वेल्सकी लिखी 'दी आउटलाइन आफ हिस्ट्री' के अनुसार प्लीस्टोसिन-कालका समय ईसासे २५००० वर्षसे लेकर २५००० वर्ष पूर्व निर्द्धारित किया गया है । फलतः ऋग्वेदके निर्माणका समय २५००० वर्ष है । यह आधुनिक कालनिर्णय है, जिनकी शास्त्रोंपर श्रद्धा है और जो शास्त्रानुसार वेदोंको नित्य मानते हैं, उनके लिये तो निर्माण-कालका कोई झगड़ा ही नहीं है ।

यद्यपि हवन-यज्ञ-कार्योंके लिये स्तुतिबहुल मन्त्र-समुदायका संकलन ऋग्वेदमें किया गया है, तथापि आर्योंके धर्म, समाज, इतिहास, संस्कृति, सभ्यता आदिके सम्बन्धके भी हजारों मन्त्र हैं । इनसे अनेकानेक मूल्यवान् विषय ज्ञात होते हैं ।

कहा गया है—सोमलता पर्वतपर मिलती थी (१० । ३१ । १) । सोमकी रखवाली गन्धर्व करते थे (९ । ८३ । ४) । सोम पीकर आर्य अपनेको अमर बनाते थे (८ । ४८ । ३) । सोम एक पौधा था; परंतु आध्यात्मिक भाषामें सोम ब्रह्मद्रव था । इसे भी पीकर आर्य मुक्त होते थे ।

रथको ढाकने (६ । ४७ । २६) और घोड़ेकी लगाम आदि बनानेके काममें आर्य लोग चमड़ेको लाते थे (१० । १०२ । २) । वे ऊनका कपड़ा बनाते थे (१० । २६ । ६) । स्त्रियाँ कपड़े बुनती थीं (२ । ३ । ६) । जुलाहे (तन्तुवाय) भी बुनते थे (१० । १०६ । १) । वस्त्रदान किया जाता था (१० । १०७ । २) । वे हाथोंमें कड़ा पहनते थे (५ । ५८ । २) । सोनेकी माला पहनते थे (५ । ५३ । ४) । सोनारको निष्क-कृण्वान् कहते थे (८ । ४७ । १५) । सौ दरवाजोंका भी मकान बनाते थे (७ । ८८ । ५) । कारागारमें शत्रु रक्खे जाते थे (१ । ११६ । ८) । लोहे और सोनेका भी घर होता था (७ । ३ । ७; ७ । १५ । १४) । दरवाजेपर दरवान रहता था (२ । १५ । ९) । पायेदार दोतल्ला मकान होता था (५ । ६२ । ६) ।

पिंजड़ेमें बाघ रक्खे जाते थे (१० । २८ । १०) । घुड़दौड़-में बाजी जीतकर अश्विनीकुमारोंने सूर्याको पाया था (१ । ११६ । १७) । रथमें घोड़ोंके सिवा कभी-कभी गर्दभ (गधा) भी जोता जाता था (१ । ११६ । २) । रथ सुवर्ण और काठके होते थे (३ । ६१ । २; १० । ८५ । २) । भृगुवंशीय रथ-निर्माणमें निपुण थे (१० । ३९ । ४) । घोड़े स्वर्णालङ्कारोंसे सजाये जाते थे (४ । २ । ८) । आर्य तलवार और भालेसे लड़ते थे । धनुर्बाण प्रधान हथियार थे । कवच पहनते थे । लोहे और सोनेका टोप पहनते थे । दस्ताना भी पहनते थे । बाण तरकसमें रक्खे जाते थे । (देखिये छठे मण्डलका ७५ सूक्त पूरा और ८ । ९६ । ३ मन्त्र) । लौहा-छुरी और तलवार भी चलाते थे (५ । ५७ । २) । लौहा-स्त्रपर 'शान' चढ़ाते थे (६ । ३ । ५) । ऋषियोंके पास गौ, घोड़े, सुवर्ण, जौ और बाल-बच्चे होते थे (९ । ६९ । ८); इसलिये वे भी युद्ध करते थे (६ । २० । १) । साधारणतः लोग सौ वर्ष जीते थे (१० । ८५ । ८) । वसिष्ठके पुत्र दाहिनी तरफ बाल सजाते थे (७ । ३३ । १) । क्षौर-कर्म नापित (नाई) करता था (१० । १४२ । ४) ।

पुनर्जन्म, स्वर्ग, नरक और पाप-पुण्यपर आर्योंका पूर्ण विश्वास था (१० । १७७ । ३) । अश्वमेध-यज्ञसे स्वर्ग मिलता था (१० । १६७ । १) । अश्व देनेवाला सूर्यलोक जाता था । स्वर्णदानी अमर होता था और वस्त्रदानी दीर्घायु प्राप्त करता था (१० । १०७ । २) । 'त्र्यम्बकं यजामहे' (मृत्युञ्जयजप) करनेसे दीर्घायुकी प्राप्ति होती थी (७ । ५९ । १२) । मूर्खकी निन्दा की गयी है और पढ़नेपर बड़ा जोर दिया गया है (१० । ७१ भाषासूक्त) । भुने जौ, सत्तू और आटेका उपयोग किया जाता था (३ । ५२ । १) । भड़भूजेकी दूकानें थीं (९ । ११२ । ३) ।

आर्योंको ज्योतिषका पूर्ण ज्ञान था । सूर्यका रथ ५०५९ योजन चलता था । रथकी गति एक दण्डमें ७९ योजन मानी गयी है । उषा सूर्यसे आधा दण्ड पहले आती थी (१ । १२३ । ८) । वे बारह राशियाँ और ५ ऋतु मानते थे । हेमन्त और शिशिरको एक ही ऋतु मानते थे (१ । १६४ । ११–१३) । वे मलमास वा मलिम्लुच भी मानते थे (१ । २५ । ८) । सूर्य-ग्रहणकी रीति जानते थे (५ । ४० । ५९) । उन्हें सूर्यके दक्षिणायन होनेपर वर्षा होनेका ज्ञान था (६ । ३२ । ५) । उन्हें मुद्रा-नीतिकी भी जानकारी थी (५ । २७ । २) ।

वे शकुन्त, मयूर, बिच्छू, साँप आदि विषधर जीवोंके विष-वेगको दूर करनेके लिये प्रार्थना करते थे (१ । १९१ । ७–१६) । पक्षिध्वनिके अशकुनको हटानेके लिये २ । ४२ और ४३ सूक्त जपनेकी विधि है । वे समुद्र-यात्रा करते थे (७ । ८८ । ३) । तुग्र-पुत्र भुज्यु समुद्र-यात्रा करते थे (१ । ११६ । ३ और १ । १५८ । ३) ।

घोड़े, कुत्ते और ऊँटकी पीठपर अन्न ढोया जाता था (८ । ४६ । २८) । एक बार एक राजाने ऋषियोंको ६० हजार घोड़े, दो हजार ऊँट, एक हजार काली घोड़ियाँ और एक हजार गायें दानमें दी थीं (८ । ४६ । २२) । चेदि-वंशी राजाने ब्राह्मणोंको बहुत-सी गायें और ऊँट दान दिये थे (८ । ५ । ३७) । ऋग्वेदमें दो बार (६ । ४५ । ३१ और १० । ७५ । ५) गङ्गाजीका उल्लेख है । शव जलाया जाता था (१० । १६ । १) ।

द्युलोक और भूलोककी सृष्टि साथ ही हुई थी; सृष्टि जलाकृति थी; सृष्टि-कर्ता अज्ञेय-से हैं; प्रलयके बाद सृष्टि होती थी (१० । ११९ सृष्टिसूक्त) । नासिकाशून्य और शब्द-रहित जाति भी थी (२ । ३० । ८) । हिरण्यकशिपुके पुरोहित शण्डामर्ककी चर्चा आयी है (२ । ३० । ८) । चारों वर्णोंके सिवा पाँचवाँ वर्ण भी था (१ । ८९ । १०; १ । ७ । ९ १ । १०० । १२) ।

ऋग्वेद (३ । ५४ । ४; १ । २२ । १७; १ । ९० । ९ और १ । १५४ । १) में वामनावतारकी कथा है । खेत जोतनेकी बात है (१ । २३ । ५) । ऋषि दधीचिकी हड्डियोंसे इन्द्रके द्वारा ८१० बार असुरोंका मारा जाना लिखा है (१ । ८४ । १३) । सूर्यकी ही किरणसे चन्द्रमामें दीप्तिका होना लिखा है (१ । ८४ । १५), जिससे विदित होता है कि आर्य ही ज्योतिषकी इस बातके आदिज्ञाता हैं ।

आर्य लोग सोने और लोहे—दोनोंका कवच पहनते थे (१ । २५ । १३; १ । ५६ । ३) । वे ये इक्कीस यज्ञ करते थे—अग्न्याधान, अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, आग्रहायण, चातुर्मास्य, निरूढ़-पशुबन्ध और सौत्रामणी नामके सात हविर्यज्ञ; अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, ऊक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र और आप्तोर्याम नामके सात सोमयज्ञ; पितृयज्ञ, पार्वणयज्ञ, अष्टकायज्ञ, श्रावणीयज्ञ, आश्वयुजीयज्ञ, आग्रहायणी यज्ञ और चैत्रीयज्ञ (१ । ७२ । ६) नामके सात पाकयज्ञ। प्रथम मण्डलके १६२ वें सूक्तमें अश्वमेध यज्ञका बहुत ही मार्मिक वर्णन है । सूर्यके सात घोड़ोंकी बात वे जानते थे (१ । १६४ । २) बारह राशियों, ३६० दिनों और ३६० रात्रियोंका विवरण उन्हें मालूम था (१ । १६४ । १३) । बारह महीने भी वे मानते थे (१ । १६४ । १२) । इसी मन्त्रमें दक्षिणायन और उत्तरायणकी भी चर्चा है । नकुल और चक्रवाक होते थे (१ । १९१ । १५; २ । ३९ । ३) । विषधर प्राणी अनेक प्रकारके

(१ । १९१ सूक्त)। उच्चैःश्रवा घोड़ा समुद्रमें ही जनमा था (२ । ३५ । ६) । प्रसिद्ध गायत्री-मन्त्रका उल्लेख है (३ । ६२ । १०) । आर्यलोग सोनेका अलङ्कार कण्ठमें धारण करते थे (५ । १९ । ३) । वे दो काठोंको रगड़कर अग्नि उत्पन्न करते थे (५ । ९ । ३) । अरुण राजर्षिने अत्रिऋषिको दस हजार सोनेकी मुद्रानिष्क दी थी (५ । २७ । १) । वे उनचास पवनोंको जानते थे (५ । ५२ । १७) । वे धनुष, ज्या, धनुष्कोटि, बाण, लगाम, चाबुक, वर्म, विषाक्त बाणका व्यवहार करते थे (६ । ७५ सम्पूर्ण सूक्त) । शहर-के-शहर लोहे और सोनेके बनते थे (७।३।७) । महर्षि वसिष्ठके पास हजार गायें थीं (७ । ८ । ६) । केवल लोहेके बने सौ नगर थे (७ । १५ । १४) । सिंहको मार डालते थे (७ । १८ । १७) । वसिष्ठवंशीय लोग सिरके दाहिने भागमें चूड़ा धारण करते थे (७ । ३३ । १) । पिङ्गल वर्णके अश्व होते थे (७ । ४४ । ३) । नीलवर्णके हंस होते थे (७ । ५९ । ७) । रथपर सारथियोंके बैठनेके तीन स्थान होते थे (७ । ६९ । २) । धूपसे वृष्टि होनेका उल्लेख है (७ । ७० । २) । बहुत तरहके मेढक होते थे (७ । १०३ सूक्त) । उपद्रवी उल्लू, कुक्कुर, बाज और गिद्ध होते थे (७ । १०४ । २२) । प्रतिदिन चालीस कोस चलनेवाले घोड़े होते थे (८ । १ । ९) । सोनेका चर्मास्तरण होता था (८ । १ । ३२) । यदुवंशी आसङ्ग राजाने दस हजार गायें दान दी थीं (७ । १ । ३३) । विभिन्दु नामके राजाने चालीस हजार निष्कका एक बार और आठ हजार (निष्क=स्वर्ण-मुद्रा) का एक बार दान दिया था (८ । २ । ४१) । चेदिवंशीय कशु नामके राजाने सौ ऊँट और दस हजार गायें दान दी थीं (८ । ५ । ३७) । वज्र सौ धारोंवाला भी होता था (८ । ६ । ६) । वैश्यका पृथक् भी उल्लेख है (८ । ४५ । १८) । एक बार ७० हजार अश्वों, २ हजार ऊँटों, १ हजार काली घोड़ियों, १० हजार गायों और सोनेका रथ दानमें दिया गया था (८ । ५६ । २२-२४) ।

आर्य ४९ ही नहीं, ६३ वायु भी मानते थे (८ । ४५ । ८) । जड़ी-बूटीसे चिकित्सा की जाती थी (८ । २८ । २६) । शुक, हारीत, भैंस, हंस, बाज आदि बहुत थे (८ । ४५ । ७–९) । तीन तल्लोंवाले मकान भी बनते थे (८ । ५० । १२) । तीस दिनों और तीस रातोंका महीना होता था (९ । ५४ । २) । जौका दान बहुत दिया जाता था (९ । ५५ । १) । ध्वस्र और पुरुषन्ति राजाओंने तीस हजार कपड़ोंका दान किया था (९ । ५८ । ४) । राजा बेन और नहुषके वंशजोंका उल्लेख किया गया है (९ । ८५ । १०; ९ । ९१ । २) । नौकर और वेतनकी चर्चा भी है (९ । १०३ । १) । बच्चे गहने पहनते थे (९ । १०४ । १) । कुरुक्षेत्रके पास शर्यणावान तडागमें सोम होता था (९ । ११३ । १) । जुड़वे बच्चे होते थे (१० । १३ । २) । पितृलोक और यमपुरीका वर्णन मिलता है (१० । १४ सूक्त) । इसी सूक्तमें लिखा है कि श्मशान घाटपर पिशाच रहते हैं और यमद्वारके रक्षक दो भयङ्कर कुत्ते हैं । १० वें मण्डलके १५ वें सूक्तमें पितरोंका पूरा विवरण पाया जाता है । पितृयान और देवयानकी चर्चा पायी जाती है (१० । १८ । १) । १० वें मण्डलके पूरे १९ वें सूक्तमें गायोंकी स्तुति की गयी है । मेष-लोमका कम्बल बनता था (१० । २६ । ६) । गायत्रीको स्तोत्रोंकी माता कहा गया है (१० । ३२ । ४) । द्यूत-क्रीड़ा और तिरपन तरहके पाशोंका उल्लेख मिलता है (१० । ३४ सूक्त) । हाथीको अङ्कुशसे वशमें रक्खा जाता था (१० । ४४ । ९) । जौको कोठीमें भी रक्खा जाता था (१० । ६८ । ३) । ब्राह्मणोंके साथ जो यज्ञ या स्तुति नहीं करते थे, वे हल जोतते थे (१० । ७१ । ९) । नदीसूक्त (१० । ७५) में गङ्गा, यमुना आदि नदियोंका उल्लेख मिलता है । चादर, पूर्वाफाल्गुनी, उत्तराफाल्गुनी और मघाका उल्लेख पाया जाता है (१० । ८५ । १३) । वाराह भी होता था (१० । ८६ । ४) । इसी मण्डलका ९० वाँ सूक्त पुरुष-सूक्त है ।

पाँच-पाँच सौ रथ एक साथ चलते थे (१० । ९३ । १४) । राजा राम और राजा बेनकी बात एक ही मन्त्रमें पायी जाती है (१० । ९३ । १४) । ९५ वें सूक्तमें उर्वशी और पुरूरवाकी प्रसिद्ध कथा है । ९७ वें सूक्तमें औषधों, रोगों और वैद्यकी बात है । अग्निमें ९९ हजार आहुतियाँ देनेका विवरण है (१० । ९८ । १०) । जोताई, हल, सीत, जुआठ, हँसिया, तंग (चर्म-रज्जु), खेत, गाड़ी, नाद, गोशाला, काठके पात्र, प्रस्तर-कुठार, लौहपात्र आदिका विवरण पाया जाता है (१० । १०१ । २—११) । मेघोंके समान बाण-वर्षण किया जाता था (१० । १०२ । ११) । इसी मण्डलका २०७ वाँ सूक्त दानसूक्त है, १२१ वाँ हिरण्यगर्भसूक्त है और १२९ वाँ नासदीय सूक्त है । ये तीनों ही कण्ठस्थ करने योग्य हैं । १४६ वाँ सूक्त अरण्यसूक्त है, जिसमें प्राकृतिक दृश्योंका हृदयग्राही वर्णन है । १५१ वाँ श्रद्धासूक्त, १५५ वाँ दरिद्रता-नाशकसूक्त, १५८ वाँ चक्षुःप्राप्ति-सूक्त, १६२ वाँ गर्भरक्षणसूक्त, १६६ वाँ शत्रु-विनाशक और १७३ वाँ राजसूक्त है । इन सबमें अनेकानेक ज्ञातव्य बातें हैं ।

आर्यलोग पूषासे कमनीय कन्या माँगते थे (९ । ६७ । १०-११) । दौहित्रको अपना उत्तराधिकारी बनाते थे (३ । ३१ । १-२) । कन्याएँ कशीदा काढ़ती थीं (२ । ३ । ६) वे घड़े भरती थीं (१ । १९१ । १४) । स्त्री गृहमें प्रभुता

करती थी (१० । ८५ । ३०) । वीरप्रसविनी नारीके लिये प्रार्थना की जाती थी (१० । ८५ । ४४) । स्त्रियाँ यज्ञ-कार्यमें नियुक्त की जाती थीं । (१० । ४० । १०) । स्त्रियोंने ऋचाओंका आविष्कार किया था । १० वें मण्डलके ३९-४० सूक्तोंका स्मरण घोषाने किया था । १ मण्डलके १७९ वें सूक्तका आविष्कार लोपामुद्राने किया था । इसी प्रकार १ । १२६ । ६-७ मन्त्रोंकी लोमशा, ५ । २८ की विश्वावारा, १० । १५९ की पुलोम-पुत्री शची और १० । १०९ की जुहू ऋषिकाएँ थीं ।

वस्त्रों और आभूषणोंसे सजाकर कन्याका दान दिया जाता था (१० । ३९ । १४; ९ । ४६ । २) । औरस पुत्रके लिये प्रार्थना की जाती थी (७ । १ । २१) । अनौरससे दूर रहा जाता था (७ । ४ । ७) । स्त्री-पुरुष साथ-साथ यज्ञ करते थे (१ । १३१ । ३) । पर्दा-प्रथा भी थी (८ । ४३ । १९) । ऋग्वेदमें विधवा-विवाहका नामतक नहीं है ।

आचार्य सायणके अनुसार अबतक ऋग्वेद-संहिताका अतीव संक्षिप्त परिचय दिया गया । अभी ऋग्वेद और धर्म, ऋग्वेद और विज्ञान, ऋग्वेद और इतिहास, ऋग्वेद और देवतत्त्व, ऋग्वेद और राष्ट्रशासनपद्धति, ऋग्वेद और व्याकरण तथा कोष, ऋग्वेद और आर्यनिवास, ऋग्वेद और यज्ञ, ऋग्वेद और संस्कार, ऋग्वेद और कर्मयोग, ऋग्वेद और युद्धकला, ऋग्वेद और आयुर्वेद, ऋग्वेद और अन्य हिंदू शास्त्र, ऋग्वेद और अलङ्कार-शास्त्र, ऋग्वेद और सोमरस, ऋग्वेद और स्वर, ऋग्वेद-सम्बन्धी साहित्य, ऋग्वेदमें पाश्चात्त्य विद्वानोंका कार्य आदि-आदि अनेकों ऐसे विषय हैं, जिनपर लिखना प्रासङ्गिक है; परंतु स्थानाभावके कारण यहाँ इन विषयोंका उल्लेख नहीं किया जा सका । इसलिये ऋग्वेदके अन्तिम 'एकता-सूक्त'के अन्तिम मन्त्रको देकर उपसंहार किया जाता है—

समानीव आकूतिः समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासतिः ॥

यजमान-पुरोहितो ! तुम्हारा अध्यवसाय एक हो, तुम्हारे हृदय एक हों और तुम्हारा मन एक हो । तुमलोगोंका पूर्ण रूपसे संघटन हो ।*

---

* ऋग्वेदकी संहिताओं या शाखाओंकी संख्याके सम्बन्धमें बड़ा मतभेद है । भर्तृहरिने अपने 'वाक्यपदीय'में पंद्रह, पातञ्जल महाभाष्यने इक्कीस, अणु-भाष्य (१ । १ । १) में उद्धृत स्कन्द-पुराण और आनन्दसंहिता (२) के अनुसार चौबीस तथा श्रीभगवद्दत्तजीके अनुसार सत्ताईस हैं; परंतु तैत्तिरीय-प्रातिशाख्य, इसीके माहिषेय-भाष्य, पातञ्जल महाभाष्य, काशिकावृत्ति, अष्टाध्यायी, कल्पसूत्रों, पुराणों आदिमें ऋग्वेदकी सत्ताईससे भी अधिक ये शाखाएँ मिलती हैं—

१ शाकल, २ मुद्‌गल, ३ गालव, ४ शालीय, ५ बात्स्य, ६ शैशिरि, ७ बाष्कल, ८ बौध्य, ९ अग्निमाठर, १० पराशर, ११ जातूकर्ण्य, १२ आश्वलायन, १३ शांखायन, १४ कौषीतकि, १५ महाकौषीतकि, १६ शाम्बव्य, १७ माण्डुकेय, १८ बह्वृच, १९ पैङ्ग्य, २० उद्दालक, २१ गोतम, २२ शतबलाक्ष, २३ होस्तिक, २४ भारद्वाज, २५ ऐतरेय, २६ वासिष्ठ, २७ सुलभ, २८ शौनक, २९ आश्मरथ्य, ३० काश्यप, ३१ कार्मन्द, ३२ कार्शाश्व, ३३ क्रौड़, ३४ काङ्कत ।

अभीतक वैदिक-साहित्य और लौकिक संस्कृत-साहित्यके शोध और अन्वेषणका कार्य बाकी है । दोनों साहित्योंके अप्रकाशित ग्रन्थ भी सैकड़ों इतस्ततः पड़े हैं; इसलिये सम्भव है शोध, अन्वेषण और प्रकाशन हो जानेपर इन नामोंमें और वृद्धि हो या न्यूनता हो या शुद्धता हो और ठीक संख्याकी निश्चयता हो । पहले तो विविध ग्रन्थोंमें एक ही नाम इतने रूपोंमें मिलता है कि देखकर आश्चर्य होता है। उदाहरणके रूपमें शाम्बव्य शब्दको लीजिये । इसको कहीं शांवत्य लिखा है, कहीं साम्बाख्य, कहीं, संभाव्य, कहीं शांभव्य, कहीं शांवाश्व्य, कहीं शाकाम्य, कहीं शांबव्य, कहीं सांवाख्य, कहीं संबाख्य और कहीं कुछ, और कहीं कुछ । ऐसी दशामें नामोंकी शुद्धतामें ही पहले तो भारी सन्देह है । दूसरे कहीं एक ही नामको शाखामें गिना गया है, कहीं उपशाखामें और कहीं प्रशाखामें ।

वैदिक-साहित्यमें सौत्र-(श्रौत्र-धर्म-गृह्यादि सूत्रसम्बन्धिनी) शाखा भी प्रसिद्ध है । भारद्वाज, हिरण्यकेशी, सत्याषाढ़, बाधूल आदि सौत्र-शाखाएँ वर्तमान ही हैं । बहुत सम्भव है, इन चौंतीस नामोंमेंसे कुछ नाम सौत्र-शाखाओंके हों । इसी तरह सम्भव है इन चौंतीस नामोंमेंसे कई नाम संहिता-भाष्यकारों, निरुक्तकारों, प्रातिशाख्य-कर्त्ताओं, पदपाठकारों और अनुक्रमणीकारोंके हों। इनमें ब्राह्मण-कुलोंके भी नाम हो सकते हैं । वैदिक-साहित्यको कण्ठस्थ करनेवालों और लिपिकारोंके कारण भी इन नामोंमें अनिश्चिति और अशुद्धि आ गयी है । फलतः जोर देकर यह नहीं कहा जा सकता कि ये चौंतीसों नाम शाखा-प्रवचन-कर्त्ताओंके ही हैं या ऋग्वेदकी चौंतीस शाखाएँ थीं । जिस शाखाकी संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक या उपनिषद् नहीं मिलती, उसकी निश्चयताके सम्बन्धमें कुछ नहीं कहा जा सकता । हाँ, भारतवर्षमें ऐसे सैकड़ों घर हैं, जिनमें खोज करनेपर वैदिक-साहित्यके अनेकानेक ग्रन्थ मिल सकते हैं । इन ग्रन्थोंसे शाखा-निर्णयमें बड़ी सहायता मिलेगी ।

इसी अनिश्चयताके कारण इस लेखमें लेखकने ऐसे ही शाखा-नाम लिखे हैं, जो अनेकानेक ग्रन्थोंमें अत्यन्त विख्यात हैं । शाखा-संख्या-निर्णयके लिये विद्वानोंको प्रयत्न करना चाहिये । —लेखक

चातक चतुर राम स्याम घनके

(श्रीरामचरितमानसान्तर्गत श्रीलक्ष्मणजीके पवित्र चरित्रपर विचार)

(लेखक—पं० श्रीरामकिङ्करजी उपाध्याय)

[गताङ्कसे आगे]

(३)

तीसरी घटना है—गङ्गातटपर पूजनीय पिता श्रीदशरथजीके प्रति प्रयुक्त श्रीलक्ष्मणजीके कटुवाक्य।

पहले तो हमें इसीपर विचार करना चाहिये कि श्रीलक्ष्मणजीने अयोध्यामें ही श्रीदशरथजीके प्रति कुछ भी क्यों नहीं कहा ? वहाँ देखा जाता है कि वे पूर्णरीतिसे शान्त रहे। जिस समय प्रभु श्रीराघवेन्द्रने—

राउ बृद्ध मम दुखु मन माहीं ॥

—कहकर उन्हें समझाया, उस समय तो उनके उग्र होनेका एक अवसर था। वे कह सकते थे कि 'जिस पिताने आपको वनवास दिया उसकी सेवा करना मैं धर्म नहीं मानता' किंतु वहाँ उन्होंने इस प्रकारकी कोई बात नहीं कही। वहाँ तो उनका सारा तर्क केवल यही था 'मैं धर्मकी धुरी धारण करनेमें असमर्थ हूँ।' उस प्रसङ्गको ध्यानसे देखनेपर यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रीलक्ष्मणजीकी सहिष्णुताकी तुलना एकमात्र श्रीकौसल्या-अम्बासे ही की जा सकती है।

श्रीरामराज्याभिषेकके बदले उनके वनवासके निश्चयकी घटनाको सुनकर समस्त अयोध्यावासी क्षुब्ध और असहिष्णु हो उठे। यह बात उनके निम्नलिखित उद्गारोंसे स्पष्ट है—

का सुनाइ बिधि काह सुनावा। का देखाइ चह काह देखावा ॥
एक कहहिं भल भूप न कीन्हा। बरु बिचारि नहिं कुमतिहि दीन्हा ॥
जो हठि भयउ सकल दुख भाजनु। अबला बिबस ग्यानु गुनु गा जनु ॥

सौजन्यशीला श्रीसुमित्रा माताके मुखसे भी 'पापिनि कीन्ह कुदाउ'-जैसे कठोर वाक्य निकल जाते हैं। यहाँतक कि श्रीभरतजी-जैसे परम सहिष्णु धर्मधुरीण पुरुष भी इस घटनाको सहन नहीं कर पाते और क्षुब्ध होकर श्रीकैकेयी मातासे कहने लगते हैं—

बर मागत मन भइ नहिं पीरा। गरि न जीह मुहँ परेउ न कीरा ॥
भूपँ प्रतीति तोरि किमि कीन्ही। मरन काल बिधि मति हरि लीन्ही ॥

पर श्रीलक्ष्मणजी ऐसी भीषण परिस्थितिमें भी सर्वथा शान्त रहते हैं। उन्हें सबसे अधिक क्रोध तो कैकेयीपर आना सम्भव था। पर उनकी आश्चर्यजनक सहिष्णुता उस समय देखनेको मिलती है, जब निषादराज कैकेयीजीके लिये—

कैकयनंदिनि मंदमति कठिन कुटिलपनु कीन्ह।
जेहिं रघुनंदन जानकिहि सुख अवसर दुखु दीन्ह ॥

—कहकर लक्ष्मणजीके आराध्य श्रीराघवेन्द्रके दुःखमें कैकेयीको कारण बतलाते हैं। उस समय श्रीलक्ष्मणजी निषादराजकी उक्तिका खण्डन करते हुए कहते हैं—'भाई ! कोई किसीको सुख-दुःख नहीं देता, यह सब तो अपने किये हुए कर्मका भोग है।'

काहु न कोउ सुख दुख कर दाता। निज कृत करम भोग सबु भ्राता ॥

इस सहिष्णुताका एकमात्र कारण यह था कि वे अपने पिता दशरथजीके धर्म-बन्धनको जानते थे। कैकेयीको दो वरदान देनेके लिये पिताजी प्रतिज्ञाबद्ध हैं। कैकेयीजी माँगनेमें स्वतन्त्र हैं और धर्मरक्षाके लिये पिताजीका भी कर्तव्य है कि वे कैकेयीजीकी माँग पूरी करें। श्रीलक्ष्मणजी स्वयं प्रेमी थे, पर किसीके धर्मपालनमें हस्तक्षेप करना उन्हें अभीष्ट नहीं था। हाँ, यदि श्रीराघवेन्द्रके प्रति कोई दुर्व्यवहार हुआ होता तो प्रेमीके नाते वे उसका विरोध करते। पर न वह कैकेयीकी ओरसे हुआ और न पिताजीकी ही ओरसे। श्रीभरतजी राजा हों, इसमें उनका कोई विरोध नहीं था। प्रभुका वन जाना तो वे अपने सेवा-भावकी कसौटी मानते थे। उन्हें लगा कि मुझको सेवाका एक सुअवसर देनेके लिये ही प्रभुने यह लीला की है। उनके मतका समर्थन श्रीसुमित्रा-अम्बाने भी किया—

तुम्हरेहिं भाग रामु बन जाहीं। दूसर हेतु तात कछु नाहीं ॥

भला, एक प्रेमी इस प्रकार सेवाका सुअवसर देनेवालों के प्रति घृणाकी दृष्टिसे क्यों देखेगा ? पर प्रश्न तो शेष ही रह जाता है कि जब रात्रितक वे पिता-माताको दोषी नहीं मानते थे, तब फिर प्रातःकाल ही ऐसी कौन-सी घटना हो जाती है जिससे वे अपना मत बदल देनेको बाध्य हो जाते हैं और पिताजीको कटुवचन कह बैठते हैं ! निश्चितरूपसे उसके बाद

केवल सुमन्तजीद्वारा कथित सन्देश ही एक नवीन घटना रह जाती है।

आइये हम अन्वेषण करें कि कहीं सुमन्तजीके सन्देशमें तो ऐसी बात नहीं जो लक्ष्मणजीके उद्वेगका कारण हो। श्रीदशरथजीने निम्नलिखित सन्देश कहलाया था—

नाथ कहेउ अस कोसलनाथा। लै रथु जाहु राम कें साथा॥
बनु देखाइ सुरसरि अन्हवाई। आनेहु फेरि बेगि दोउ भाई॥
लखनु राम सिय आनेहु फेरी। संसय सकल सँकोच निबेरी॥

अभीतक तो श्रीलक्ष्मणजी पिताजीको धार्मिक मानते हुए शान्त थे; किंतु इस सन्देशने उनके हृदयमें एक प्रश्न उत्पन्न कर दिया कि 'पिताजी धार्मिक हैं या प्रेमी।' यदि वे धार्मिक हैं तो उन्हें दृढ़तापूर्वक वचनोंका पालन करना चाहिये। और यदि वे प्रेमी हैं, तो उन्हें पहले ही चाहिये था कि सत्यकी चिन्ता किये बिना कैकेयीको स्पष्टरूपसे बता देते कि वे सत्यसे अधिक महत्त्व प्रभुके निकट रहनेका देते हैं। तब तो—

बारउँ सत्य बचन श्रुति सम्मत जाते बिछुरत चरन तिहारे।

—जैसा वाक्य ही सच्चे प्रेमीका आदर्श हो सकता है। अतः यदि वे धर्मको छोड़कर प्रभु-प्रेमकी रक्षा करते तो श्रीलक्ष्मण-जैसे महाप्रेमीके लिये इससे बढ़कर प्रसन्नताकी और बात ही क्या थी ? पर इस सन्देशसे वे न तो प्रेमी ही सिद्ध होते हैं और न धार्मिक ही। यदि वे धार्मिक हैं तो—

लखनु राम सिय आनेहु फेरी। संसय सकल सँकोच निबेरी॥

—कहना सर्वथा असङ्गत है। और यदि वे प्रेमी हैं तो फिर—

बनु देखाइ सुरसरि अन्हवाई ······॥

—की क्या आवश्यकता ? तब फिर जो व्यक्ति न धार्मिक है और न प्रेमी ही, वह दुर्बल ही सिद्ध होगा। और तब तो यह मानना पड़ता है कि वे धर्मरक्षाके लिये नहीं, अपितु दुर्बलतावश कैकेयीकी बात मान रहे हैं।

धर्मरक्षाके लिये प्रभुका परित्याग समझमें आनेवाली बात थी; पर इस सन्देशने उन्हें विचलित कर ही दिया। एक बार वन जानेकी आज्ञा देनेके पश्चात् प्रेमी बननेकी इस चेष्टाको जिसमें पूर्ण प्रेमका पालन नहीं दीखता है, श्रीलक्ष्मण-जैसे महान् प्रेमी अपनी प्रेम-मर्यादावश प्रेमसिद्धान्तमें, प्रेमके स्वच्छ पटमें एक धब्बे-जैसा ही मान सकते हैं*। प्रेममें न तो व्यक्तिका महत्त्व है, न तो सम्बन्धका ही। दुर्बलता अन्य सर्वत्र सह्य हो सकती है, पर प्रेम-राज्यमें नहीं। प्रेम-राज्यके आचार्य श्रीलक्ष्मणजी इसे सहन करें, यह कैसे सम्भव है। श्रीदशरथजीके इस नवीन प्रयासके प्रति ही श्रीलक्ष्मणजीका विरोध है। श्रीलक्ष्मणजीके ये विचार ठीक हैं या नहीं, यह दूसरी बात है, पर वे प्रेमकी जिस स्थितिमें हैं उसमें उनका यह सोचना बिल्कुल स्वाभाविक है।

चातक स्वयं ही प्राण देकर प्रेम-पटमें खोंच नहीं आने देता, इतना ही नहीं, वह तो प्रेम-राज्यके प्रत्येक सदस्यसे भी यही आशा रखता है—

तुलसी चातक देत सिख सुतहिं बारहीं बार।
तात न तर्पन कीजियो बिना बारिधर धार॥

एक प्रेमी चातकका वर्णन करते हुए श्रीगोस्वामीजी कहते हैं—

अंड फोरि कियो चेटुवा तुष पर्यो नीर निहारि।
गहि चंगुल चातक चतुर डार्यो बाहिर बारि॥

किसी चातकने अण्डा फोड़कर उसमेंसे बच्चा निकाला, परंतु अण्डेके छिलकेको पानीमें पड़ा हुआ देखकर उस (प्रेम-राज्यके) चतुर चातकने तुरंत उसे पंजेसे पकड़कर जलसे बाहर फेंक दिया।

इससे यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि श्रीलक्ष्मणजीने आवेशमें आकर नहीं, अपितु (प्रेम) सिद्धान्तके नाते दशरथजीके प्रति कठोर शब्दोंका प्रयोग किया।

महाप्रेमी श्रीलक्ष्मणजीके इन कठोर कहे जानेवाले वचनोंने श्रीदशरथजीको दुखी नहीं; किंतु आश्वस्त ही किया। इसीसे तो सुमन्तजीने प्रभुके द्वारा शपथ देकर रोके जानेपर भी श्रीदशरथजीसे इतना संकेत तो कर ही दिया—

लखन कहे कछु बचन कठोरा।
बरजि राम पुनि मोहि निहोरा॥

उपर्युक्त दोनों ही बातें वात्सल्यस्नेहविग्रह परमप्रेमी महाराज श्रीदशरथजीको बड़ा भरोसा दिलानेवाली थीं। एक तो मेरे रामको इतना बड़ा प्रेमी प्राप्त हो गया है, जो उनके लिये मेरा (पिताका) भी तिरस्कार कर सकता है। तब

---

* कोसलराज श्रीदशरथजी सच्चे प्रेमी थे, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं—

बंदउँ अवध भुआल सत्य प्रेम जेहि राम पद।

फिर उन्होंने श्रीरामजीको वन क्यों भेजा ? इसका उत्तर किसी स्वतन्त्र लेखमें देनेकी चेष्टा की जायगी। श्रीलक्ष्मणजीको तो वह कारण ज्ञात था नहीं, अतः उनका ऐसा सोचना स्वाभाविक है।

फिर यदि कोई दूसरा उन्हें कष्ट पहुँचानेकी चेष्टा करेगा, तो लक्ष्मणसे त्राण पाना उसके लिये असम्भव होगा। मेरे राम अकेले नहीं, अपितु एक महाव्रतीके द्वारा सुरक्षित हैं। इससे बढ़कर श्रीदशरथजी-जैसे सच्चे प्रेमीके लिये प्रसन्नताका क्या विषय हो सकता है।

दूसरा यह कि रामके हृदयमें मेरे प्रति इतना अगाध स्नेह है कि मेरे द्वारा वन दे दिये जानेपर भी उनके हृदयमें पूर्ववत् स्नेह और श्रद्धाका भाव बना हुआ है।

श्रीलक्ष्मणजीके कटु भाषणसे ही प्रभुका सौशील्य प्रकट हुआ कि श्रीराघवेन्द्रके मनमें पिताजीके प्रति तनिक भी कटुता नहीं है। लक्ष्मणजीके लिये श्रीराघवेन्द्रके यशदण्डकी उपमा बड़ी ही सार्थक प्रतीत होती है। नीरस काठ, उसपर भी दूसरोंपर प्रहार करनेवाला। पर वही पताकाको ऊँचा उठाता है। श्रीलक्ष्मणजी स्वयं प्रहार करते हुए प्रतीत होते हैं, पर उनके हृदयमें भाव यही है कि प्रभुका यश व्यक्त हो। श्रीलक्ष्मणजी प्रभुके निकट रहकर भी अपनी विशेषताओंको गुप्त रख सके—यही उनकी विशेषता है और आश्चर्यजनक अप्रतिम कार्य है।

(४)

श्रीभरतजीके ससैन्य और सपरिजन-स्वजन चित्रकूट पधारनेके अवसरपर श्रीलक्ष्मणजीने उनके प्रति जिन कटु वाक्योंका प्रयोग किया, उनको पढ़कर ऐसा प्रतीत होना सहज है कि श्रीलक्ष्मणजीका यह कार्य अविवेकपूर्ण है; परंतु ऐसी प्रतीति भी प्रेमके दृष्टिकोणको भुला देनेसे ही होती है। श्रीलक्ष्मणजी-सदृश महान् प्रेमीके किसी कार्यपर केवल प्रेमकी दृष्टिसे ही विचार करना आवश्यक है, तभी उनके कार्यका अन्तर्निहित महत्त्व दिखलायी देता है और तभी उसको यथार्थतः समझा जायगा। प्रेमकी दृष्टिसे विचार करना चाहिये। अपनी मान्यतामूलक परिभाषाओंके आधारपर विचार करनेसे तो उनके स्वरूपका विपरीत दर्शन ही होगा। इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं हो सकता कि बिना बुद्धि-वैभवको छोड़े प्रेमरूपी अमूल्य धनको कोई प्राप्त ही नहीं कर सकता। यदि श्रीलक्ष्मणजीके मनमें सदा यही ध्यान बना रहता कि 'श्रीरामजी तो पूर्ण ब्रह्म, अज, अनीह, सच्चिदानन्दघन ही हैं और सारी क्रिया उन्हींकी इच्छासे नाट्यरूपमें ही हो रही है' तब तो उनके लिये श्रीरामजीकी रक्षा करनेकी तो बात दूर रही, उनकी सेवा करनेकी भी कोई आवश्यकता नहीं रहती। इसीसे गोस्वामीजीने श्रीलक्ष्मणजीकी प्रभुके प्रति की गयी सेवाओंके लिये बड़ी ही सुन्दर उपमा दी है—

सेवहिं लखनु सीय रघुबीरहि। जिमि अबिबेकी पुरुष सरीरहि॥

श्रीभरतजी सम्पूर्ण सेनादिके सहित आ रहे हैं। इस समाचारको सुनकर श्रीमद्राघवेन्द्रके मनमें किसी भावविशेषका उदय होनेके कारण उनके श्रीमुखपर व्यग्रताके भाव दृष्टिगोचर होते हैं। यद्यपि इसका कारण भय नहीं, अपितु श्रीभरतजीका प्रेम है। श्रीलक्ष्मणजी प्रभुके मुखकी ओर देखते हैं एवं उनके श्रीमुखपर द्वन्द्वके भाव परिलक्षित देख, वे अत्यन्त व्याकुल हो जाते हैं। उन्हें तुरंत स्मरण हो आता है माता सुमित्राके उन पवित्र उपदेश-वाक्योंका, जो उन्होंने चलते समय अपने महाव्रती पुत्रसे कहे थे—

जेहिं न रामु बन लहहिं कलेसू। सुत सोइ करेहु इहइ उपदेसू॥

महानुभावोंने प्रेमियोंके चित्तको 'प्रेमानिष्टशङ्की' बतलाया है। साधारणतः यह देखा भी जाता है कि किसी प्रियजनके आनेमें विलम्ब होनेपर अनिष्टकी ही आशङ्का निकट-सम्पर्कीय व्यक्तियोंको होती है। दूरवाले तो कोई-न-कोई बुद्धि-सङ्गत कारण ढूँढ़नेकी चेष्टा करते हैं। बस; इसी प्रेमी स्वभावने उन्हें यह कल्पना करनेके लिये विवश कर दिया कि, 'श्रीभरतजी प्रभुपर आक्रमण करनेके लिये आ रहे हैं।' सेनासहित आना इनके इसी तर्ककी पुष्टि कर रहा था। चौंकिये नहीं, थोड़े विचारसे ही यह बात अत्यधिक स्पष्ट हो जायगी। पहला प्रश्न तो यही उठता है कि 'प्रभु यदि भरतजीके प्रति ऐसे वाक्य सुनना नहीं चाहते थे, तो उन्होंने श्रीलक्ष्मणजीको प्रारम्भमें ही क्यों नहीं रोक दिया।' यहाँ यह भी सोचना कि श्रीलक्ष्मणजी प्रभुकी बात न मानते—उनके स्वभावानभिज्ञताका ही सूचक होगा। वे तो प्रभुके दृष्टि-निक्षेपमात्रसे ही चुप हो सकते थे। इसके लिये 'बालकाण्ड'में ध्यान देना चाहिये।

सयनहि रघुपति लखन निवारे। प्रेम समेत निकट बैठारे॥

एवं—

सुनि लछिमन बिहसे बहुरि नयन तरेरे राम।
गुर समीप गवने सकुचि परिहरि बानी बाम॥

सीधी बात तो यह है कि एक साधारण योगी भी दूसरोंके मनकी बात ठीक-ठीक जान लेता है, तब फिर भला परम प्रभुकी सेवामें सर्वदा संलग्न रहनेवाले श्रीलक्ष्मणजी ऐसी भूल करें, यह कैसे संभव है। पर प्रभुको जब कोई विशेष शिक्षा देनी होती है, तब अपने प्रेमियोंके मनमें ऐसी बातें उत्पन्न करके उसके द्वारा आदर्श उपस्थित कर देते हैं। नहीं तो

भला, जिस समय श्रीहनुमान्‌जी द्रोणागिरिसे औषध (संजीवनी-बूटी) लेकर लौट रहे थे, तब उन्हें देखकर श्रीभरतजी-जैसे महात्माके मनमें श्रीहनुमान्‌जी-जैसे परम भक्तके लिये 'निशाचर'का भाव आना, और भाव ही नहीं बाण भी चला देना, कैसे संभव था। पर प्रभुको तो अभीष्ट ही था—परमभक्त श्रीहनुमान्‌जीके मनमें (लीलाके लिये ही) अङ्कुरित हुए गर्वके नाशकी लीला करना। ठीक इसी प्रकार यद्यपि प्रभुके मनमें भरतजीके प्रति अगाध स्नेह और पूर्ण विश्वास था, पर श्रीलक्ष्मणजीके मनमें ऐसे भाव उत्पन्न कर उन्होंने एक ही साथ दो कार्य कर डाले। एक तो सच्चे प्रेमीका आदर्श प्रकट कर दिया। सच्चा प्रेमी कितना ममत्वहीन होता है। वह अपने प्रियतमके ऊपर अपने सबसे निकटस्थ व्यक्तियोंको आक्रमण करते देखकर ममत्वसे विचलित नहीं हो सकता। प्रभुके विरोधमें आये हुए भरत ही नहीं, सहोदर अनुज शत्रुघ्नका भी सच्चा प्रेमी भक्त तिरस्कार ही नहीं, वध भी कर सकता है।

आजु राम सेवक जसु लेऊँ। भरतहि समर सिखावन देऊँ॥
राम निरादर कर फलु पाई। सोवहुँ समर सेज दोउ भाई॥
× × ×
जिमि करि निकर दलइ मृगराजू। लेइ लपेटि लवा जिमि बाजू॥
तैसेहिं भरतहि सेन समेता। सानुज निदरि निपातउँ खेता॥

प्रेमी भक्तकी दृष्टिमें व्यक्तिका कोई मूल्य नहीं। उसके सारे सम्बन्ध समाप्त हो चुके होते हैं। उसका नाता, उसकी पूजनीयताकी कसौटी केवल एक ही है—

पूजनीय प्रिय परम जहाँ ते। सब मानिहहिं राम के नाते॥

श्रीगोस्वामीजीके शब्दोंमें भी देखिये—

जाके प्रिय न राम बैदेही।
तजिये ताहि कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही॥
× × ×
नाते नेह रामके मनियत सुहृद सुसेब्य जहाँ लौं।
अंजन कहा आँखि जेहि फूटै बहुतक कहौं कहाँ लौं।
'तुलसी' सो सब भाँति परम हित पूज्य प्रानते प्यारो'॥
जासों होय सनेह रामपद एतो मतो हमारो॥

श्रीभरतजीके प्रति श्रीलक्ष्मणजीके मुखसे प्रभुने कठोर वाक्योंको कहलाकर संसारको यह शिक्षा दी कि बिना ऐसा ममत्वहीन और दृढचित्त हुए कोई भी सच्चा प्रेमी नहीं बन सकता। दूसरी बात यह है कि यदि श्रीलक्ष्मणजीके मुखसे ऐसे कटु शब्द न निकले होते तो उनका (प्रभुका) श्रीभरतजीके प्रति कितना अपार तथा अगाध विश्वास औ अप्रतिम प्रेम है—यह उनके मुखसे कैसे व्यक्त होता। सच बा तो यह है कि उन्हें (प्रभुजीको) श्रीभरत-गुण-गानकी इच्छा हो रही थी। 'नटनागर' प्रभुने इस परम प्रेमीको निमि बनाकर अपनी ही लालसा पूरी कर ली। श्रीलक्ष्मणको छोड़ कर कौन दूसरा ऐसा प्रेमोन्मत्त त्यागी हो सकता है कि प्रभुकी इस अभिलाषापूर्तिके लिये अपनेको विवेकहीन औ आवेशशील सिद्ध करता। इच्छापूर्तिका निमित्त भी उसीको बनाया जाता है जो सर्वथा अपना हो, जो किसी भी व्यवहार दुःख न माने। इसमें तो प्रभुका श्रीलक्ष्मणजीके प्रति अत्यधि अपनत्व ही सिद्ध होता है। किसी कारणविशेषसे किसी श्रीलक्ष्मणजीके इस महात्यागका साक्षात्कार न हो, पर प्रभु सब जानते ही हैं। इसीसे श्रीगोस्वामीजी इस उग्र भाषण पश्चात् भी श्रीकिशोरीजी और प्रभुके द्वारा श्रीलक्ष्मणजी सत्कार करना लिखते हैं।

सुनि सुर बचन लषन सकुचाने।

किंतु,-

राम सीय सादर सनमाने॥

यह सम्मान किसलिये ? उनके अनुचित वाक्योंके लिये इसका निर्णय विचारशील सज्जन स्वयं करें।

उपर्युक्त बातें तो केवल इसीलिये लिखी गयी हैं कि श्रीलक्ष्मणजीके पुनीत चरित्रके सम्बन्धमें किसीको भ्रम न हो अथवा कहीं कोई भ्रम हो तो वह निवृत्त हो जाय। वास्तव श्रीलक्ष्मणजी तो महान् कल्याण-गुण-गणोंकी खान हैं। अव ही उनके सारे गुण हैं केवल प्रभुके निमित्त। इसीलि साधारणतया लोग उनके महत्त्वको नहीं समझ पाते। पर अ महान् गुणोंसे वे श्रीरामजीकी ही सेवा करते हैं। इसका तात्पर्य नहीं है कि वे समाज या विश्वके विरोधी हैं। वे जगदाधार शेष ही हैं। उनका अवतार तो 'भूमि भय टारन' लिये हुआ है।

सेष सहस्र सीस जग कारन। जो अवतरेउ भूमि भय टारन॥
सदा सो सानुकूल रह मो पर। कृपासिंधु सौमित्रि गुनाकर॥

पर उनकी सेवाकी शैली ऐसी विलक्षण है कि जो बाह से देखनेपर विश्वके साथ कोई सम्बन्ध नहीं रखती। वे अच्छी तरह जानते हैं कि वृक्षको हरा-भरा रखनेके लिये डा और पत्तोंको अलग-अलग सींचनेकी कोई आवश्यकता नहीं मूलमें ही जलसिञ्चन करनेपर अपने आप सारा वृक्ष हरा-भ रहेगा। और इस विश्ववृक्षके मूल हैं—सर्वकारण-का

भगवान् श्रीराघवेन्द्र । ऐसी परिस्थितिमें वे एक चतुर मालीकी भाँति अनवरत एकान्तभावसे एकमात्र श्रीप्रभुकी ही सेवामें संलग्न रहते हैं। वाटिकामें माली केवल मूलमें जल-सिञ्चन करते देखा जाता है। हाथमें तो होती है उसके कैंची जिसके द्वारा वह डाली-पत्तोंकी काँट-छाँट करता रहता है। इससे क्या वह निर्दय है ? क्या उसका लक्ष्य वृक्षोंको नष्ट करना है ? नहीं, उसकी तो प्रत्येक चेष्टा वाटिकाको सुन्दर बनानेकी ही है। उसकी इस व्यवहारमें की गयी निर्दयताकी-सी क्रियाको देखकर कोई उसे निष्ठुर समझे, तो यह उस समझनेवालेका ही बुद्धिजन्य दोष है। इसीलिये श्रीलक्ष्मणजीके चरित्रपर विचार करते समय हमें ऊपर-ऊपरसे नहीं देखना चाहिये। गम्भीरतासे विचार करनेपर निश्चय ही श्रीलक्ष्मणजी चन्द्रमासे अधिक शीतल, सूर्यसे अधिक प्रकाशमान और अमृतसे भी मधुर प्रतीत होंगे। उनके चरित्रकी इस दुरूहताको लक्ष्य करके ही हमारे महाकविने उनकी वन्दना, अन्य भाइयोंकी अपेक्षा भी अधिक शब्दों और अधिक चौपाइयोंमें की। वह वन्दना ही है—श्रीलक्ष्मणजीके चरित्रकी कुंजी। वन्दनाके प्रत्येक शब्दको हृदयङ्गम कर लेनेके पश्चात् हमें श्रीलक्ष्मणजीके पूर्ण और यथार्थ स्वरूपदर्शनकी सुविधा प्राप्त हो जाती है। इसलिये यहाँ महाकविकी उन पंक्तियोंको पुनः उद्धृत किया जाता है। आशा है कि पाठक गम्भीरतापूर्वक इनका मनन करते हुए लेखकी शैलीपर दृष्टि डालेंगे।

बंदउँ लछिमन पद जल जाता। सीतल सुभग भगत सुख दाता॥
रघुपति कीरति बिमल पताका। दंड समान भयउ जस जाका॥
सेष सहस्र सीस जग कारन। जो अवतरेउ भूमि भय टारन॥
सदा सो सानुकूल रह मो पर। कृपासिंधु सौमित्रि गुनाकर॥

इसीके साथ ही 'नामकरण'के अवसरपर गुरु वशिष्ठजीद्वारा किये गये चारों नामोंका अर्थ यदि हम समझ लें तो हमें उन पात्रोंके वैलक्षण्यका ठीक-ठीक ज्ञान हो सकता है। उन्होंने चारों भाइयोंके नामार्थका निर्देश करते हुए श्रीदशरथजीसे निम्नलिखित वाक्य कहे हैं।

१. श्रीरामचन्द्रजीके लिये—

जो आनंद सिंधु सुख रासी। सीकर तें त्रैलोक सुपासी॥
सो सुखधाम राम अस नामा। अखिल लोक दायक बिश्रामा॥

२. श्रीभरतजीके लिये—

बिस्व भरन पोषन कर जोई। ताकर नाम भरत अस होई॥

३. श्रीशत्रुघ्नजीके लिये—

जाके सुमिरन तें रिपु नासा। नाम सत्रुहन बेद प्रकासा॥

४. श्रीलक्ष्मणजीके लिये—

लच्छन धाम राम प्रिय सकल जगत आधार।
गुरु बसिष्ट तेहि राखा लछिमन नाम उदार॥

यहाँ श्रीलक्ष्मणजीका नामकरण सबके अन्तमें करनेका भी स्पष्ट अभिप्राय यही है कि जैसे 'शेष' सबसे नीचे रहते हैं और अपनेको छिपाये हुए भी सारे विश्वको सम्हाले हुए हैं, उसी प्रकार श्रीलक्ष्मणजी भी तीनों भाइयोंकी समग्र विशेषताओं-सहित होते हुए भी केवल आधाररूपमें अपनेको छिपाये हुए हैं। ध्यानसे देखनेपर यह स्पष्ट विदित हो जाता है कि तीनों भाइयोंकी विशेषता अकेले श्रीलक्ष्मणजीमें निहित है। भगवान् श्रीरामका 'अखिल लोकदायक विश्रामा' उपर्युक्त दोहेमें आये हुए 'राम प्रिय' शब्दसे ही सम्बन्धित है। तात्पर्य यह कि यद्यपि 'अखिल लोक विश्रामदायक' भगवान् श्रीरामजी माने जाते हैं; पर वह श्रीलक्ष्मणजीके साथ रहनेसे ही सम्भव हुआ, इसीलिये सारे विश्वको 'राम' प्रिय हैं। पर श्रीरामको तो सर्वाधिक प्रिय हैं 'श्रीलक्ष्मण'। इसलिये उनका एक नाम है 'राम-प्रिय'। इसी प्रकार श्रीभरतजी 'विस्व भरन पोषन कर जोई' हैं; पर वह विश्व-भरण-पोषण श्रीलक्ष्मणके त्याग द्वारा ही सम्भव हुआ; क्योंकि वे 'सकल जगत आधार' हैं। भरण-पोषण कर्ता प्रत्यक्ष है, पर आधार सहज दृष्टिगम्य नहीं। श्रीशत्रुघ्नजीका विशिष्ट लक्षण शत्रुनाशन है। पर इस लक्षण-का कोष जहाँसे यह प्राप्त किया गया है, वह कोई दूसरा ही है। और वे हैं 'लच्छन धाम' श्रीलक्ष्मणजी ही। पर इसके साथ एक गुण उनमें और भी विलक्षण है, वे 'उदार' भी हैं। उनकी उदारता अतुलनीय है। प्रभु तथा अन्य भ्राताओंका यश-ख्यापन करनेके लिये उन्होंने बड़ी ही उदारताके साथ अपने यशका परित्याग कर (बाह्य दृष्टिसे देखनेपर) असहिष्णुता आदि अनेक दोष, अपनेमें दृष्टिगोचर करवाये। इस तरह 'रामप्रिय, लक्षणधाम, सकल जगत्-आधार और उदार'—श्रीलक्ष्मणजीके नामका पवित्र अर्थ है। पर वे छिपे होनेके नाते, (शेष जो हैं) ध्यानसे देखनेपर ही दीख सकते हैं। आइये, इस दृष्टिसे उनके अगाध समुद्रवत् चरित्र-मेंसे कुछ गुण-गण-मुक्ता प्राप्त करनेकी चेष्टा करें। उनके चरित्र-की सबसे बड़ी विलक्षणता है—उनकी 'रामानन्यता'। जो उनको छोड़ पूर्ण रीतिसे अन्यत्र प्राप्त होना कठिन ही नहीं, असम्भव है। वे अनन्योंमें भी अनन्य और चातकमें भी सर्वश्रेष्ठ (चतुर) चातक हैं। (क्रमशः)

तपस्वी

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥
(गीता १२ । १६)

वह एक वानप्रस्थ-आश्रम है, चारों ओर ऊँची-ऊँची पहाड़ियोंसे घिरा हुआ । एक गुफा है स्वच्छ लिपी-पुती । उसके द्वारपर सदा नवीन तोरण सजा रहता है । दोनों ओर केलेके वृक्ष लगे हैं, खूब पुष्ट और उनमें बड़ी-बड़ी घारें लटक रही हैं । गुफाके बीचमें हवनकुण्ड है और उसमेंसे रात-दिन सुगन्धित धुआँ उठता रहता है । कुण्डके आसपास घृतका पात्र, स्रुवा, ब्रह्मदण्ड, उपवीती आदि हवनके उपकरण हैं और कोनेमें सूखी समिधाओंकी ढेरियाँ हैं । कुश रक्खे हैं और बैठनेका आसन है । सब वस्तुएँ स्वच्छ हैं तथा सजाकर रक्खी गयी हैं । कहीं भी न तो एक कण बिखरा है और न कोई वस्तु अस्त-व्यस्त है ।

पासमें ही झरना है । उसका कलकल शब्द सुनायी पड़ा करता है । मृगोंके झुंड शङ्काहीन होकर घूमते या बैठकर जुगाली करते हैं । गिलहरी, शशक, मयूर, पक्षी सब इस प्रकार घूमते हैं, जैसे पालतू हों । जैसे यहाँ रहनेवाला व्यक्ति उनका आत्मीय हो । दूध-सा उजला चञ्चल बछड़ा है और गौ है खूब पुष्ट, जैसे गोलोकसे कामधेनु अपने बछड़ेके साथ उतर आयी हो । उस गायके गलेमें बाँधनेका चिह्न नहीं है । वह कभी बाँधी नहीं जाती; किंतु अपने पालकसे उसे इतना प्रेम है कि आश्रम छोड़कर उसके भाग जानेकी कल्पना भी सम्भव नहीं ।

यह सब किया किसने है ? वे तपस्वी हैं । उनके सिरकी जटाओं एवं दाढ़ी-मूँछोंके केश आधे पक गये हैं । शरीर दुर्बल है । हड्डी-हड्डी गिनी जा सकती है । नसें उभड़ आयी हैं । नख बड़े-बड़े हैं । कमरमें मूँजकी मोटी मेखलामें पतली-सी केलेकी छालकी कौपीन ही उनका वस्त्र है । ऊँचे शालवृक्षकी जड़के पासकी वेदीपर वे रात्रिके दूसरे प्रहरमें बैठे मिल सकते हैं । वर्षाऋतुमें जब खूब आँधी चलती है और वृष्टि होती है, वे खुले आकाशके नीचे बैठते हैं । उस समय वृक्षके नीचे भी नहीं रहते । शीतकालमें झरनेके हिमशीतल जलमें गलेतक डूबे रातभर खड़े रहते हैं । गर्मियोंमें दिनभर चारों ओर अग्नि जलाकर बीचमें बैठकर भगवान् भास्करको देखते हुए पञ्चाग्नि तापते हैं ।

शीतमें जब हिमपात होता है, धुनी रुई-सी बरफ उनकी जटाओंमें भर जाती है । उसे झाड़नेकी ओर उनका ध्यान जाता ही नहीं । ग्रीष्ममें प्रचण्ड लू चलती है, सिरपरसे स्वेद धार चलती है और छाती-उदरसे होती चरणोंपर टपकती रहती है । उन्हें जैसे कुछ पता ही नहीं लगता । वर्षामें बादल घिर आते हैं, मूसलाधार वृष्टि होती है, बिजली कड़कती है, वृक्ष टूट-टूटकर गिरते हैं, कभी ओले पड़ते हैं; परंतु उनकी पलकेंतक नहीं हिलतीं । वे तीनों सन्ध्याओंके समय तीन देवताओंकी शक्तिरूपा, तीन व्याहृतिवाली गायत्रीका ध्यान करते हैं—शान्त, स्थिर मनसे । उनका जप अखण्ड चलता है ।

वे कभी सोचतेतक नहीं कि कौन-सी ऋतु अनुकूल है और कौन-सी प्रतिकूल । वायु चाहे शीतल-मन्द-सुगन्ध चले या आँधी-तूफान बने, उन्हें कुछ चिन्ता नहीं । बिना जोती भूमिमें वे नीवारों (मुन्यन्नों)के बीज डाल देते हैं बिना यह सोचे-समझे कि वे उगेंगे भी या नहीं । नीवार उगते हैं तो हरिण, गवय (नीलगाय), शशक, वाराह जो चाहें—जितने चाहें चरें । जब अन्नकी बालें पकती हैं, पक्षी भरपेट उससे तृप्त होते हैं । इससे जो बचता है, उसे वे काटकर एकत्र करते हैं । गुफामें रख देनेपर भी चींटियाँ, चूहे, गिलहरियाँ उसमेंसे बराबर ढोती रहती हैं । उनकी दृष्टिमें सबका उसमें भाग है और सब अपना भाग ही लेते हैं । कभी वे नहीं सोचते कि उनके लिये भी कुछ बचेगा या नहीं । जब नवीन अन्न हो जाता है तो बिना यह सोचे कि वह कामभरको है भी या नहीं, पुराने संग्रहको नदीके किनारे छींट दिया जाता है । तब नये का संग्रह करके उसका छठा भाग किसी जलाशयके किनारे इसलिये रख दिया जाता है कि राज्यके कर्मचारी यह 'कर' उठा ले जावें ।

अन्नकी वैसे भी बहुत कम आवश्यकता है उनके लिये । कभी एकादशी, कभी प्रदोष, कभी शिवरात्रि, कभी कोई पर्व—

इस प्रकार व्रत पड़े ही रहते हैं। इनके अतिरिक्त चान्द्रायण, तप्तकृच्छ्रादि भी बार-बार किये जाते हैं। वर्षके दो-तिहाई दिन तो व्रतोंमें चले जाते हैं। जिस दिन भोजन भी करना हो तो एक ही समय किया जाता है। वायु ठीक हो, वर्षादि न हो तो वृक्षके नीचे मिट्टीके पात्रमें श्यामाक राँध लेंगे। वर्षा हुई या वायुने अग्नि जलानेमें बाधा दी तो देवधान्यको पत्थर-पर पीसकर जल मिलाकर सत्तू बना लेंगे। यदि वृष्टि तीव्र हुई और पीसनेमें भी बाधा पड़ी तो दाँत तो सुदृढ़ हैं ही, दो मुट्ठी 'टाँगुन' चबा लेंगे—छुट्टी हुई। पेटकी ज्वाला ही तो बुझानी है। गुफा तो अग्निदेवके लिये है। वह आराध्य-मन्दिर है। हवन-अग्नि-आराधनाको छोड़कर वहाँ न रहा जा सकता और न अपने निमित्त वहाँ कुछ किया जा सकता है।

उनका संतोष सामान्य समझसे बाहर है। अति वृष्टिसे नीवार बह जायँ तो वे फलोंपर संतोष कर लेंगे। फल न भी हों तो पत्ते तो हैं ही। अकाल पड़ता है—वृक्षोंके पत्तेतक सूख जाते हैं, पर वे वैसे ही निश्चिन्त रहते हैं। उनका मन मान लेता है कि सूखेके समय कसैले कन्द स्वादिष्ट हो जाते हैं। उनके ऊपर पक्षी बींट कर दें, यह कदाचित् ही होता है और प्रमादवश अपवित्र स्थानोंपर उनके चरण पड़ें यह और भी कठिन है; किंतु पक्षियोंके भी तो अबोध बच्चे होते हैं, वे भूल भी कर जाते हैं। उन्हें रोष या झिझक होती ही नहीं। जो जाड़ोंमें रातभर गलेपर्यन्त जलमें डूबा रहता है, वह तीन बारके बदले चार बार स्नान कर लेगा।

'अग्निशालामें जानेसे पूर्व स्नान करना ही चाहिये।' यह नियम है। आपका यह तर्क व्यर्थ है कि वहाँ जब द्वार नहीं है तो बनबिलाव, चूहे, शशक भी तो जाते हैं। वे इस सम्बन्ध-में भ्रमहीन हैं कि पवित्रता एक तपस्या है और वह अपने लिये होती है। दूसरेको उसके लिये विवश नहीं किया जा सकता। हड्डी, मज्जा, रक्त, मांस, मलके पुतले शरीरमें शुद्ध क्या होगा? शौचाचारका उद्देश्य है पदार्थमें आये विकारको दूर करना और दूसरोंके संसर्गको हटाना। शौचाचार मानसिक शुद्धिका साधन है। वे समिधा, कुश, बिल्वपत्र, पुष्प आदि कोई वस्तु जलसे शुद्ध किये बिना काममें नहीं लेते। पात्र एवं वल्कल एक बार काम आनेपर फिर धोये ही जायँगे।

'जो बराबर व्रत करेगा, वह दुर्बल होगा। बराबर कोई कहाँतक कष्ट सह सकता है। ऐसा व्यक्ति विधि-पालनमें भूल न करे, यह असम्भव है।' ऐसी बात साधारण व्यक्तिके लिये ही ठीक है। जिसमें निष्ठा है, वह इससे परे है। वे नित्य पञ्चयज्ञ करते हैं, पर्वोपर पितृ-तर्पण तथा देवार्चन नियमित रूपसे होता है। दूषित, कटा-फटा, कीड़ेका खाया एक पुष्प, पुष्पका एक दल, कुशका एक पत्र भी आराधनामें आ जाय, यह सम्भव नहीं है। बिना आवश्यकताके एक पत्तातक तोड़ा नहीं जाता। यन्त्रकी भाँति सभी कार्योंके लिये समय निश्चित है। तनिक भी व्यतिक्रम हो नहीं सकता।

न तो मन्त्रोंका उच्चारण अस्पष्ट होगा और न क्रममें भूल होगी। हवि बनानेमें एक कण नहीं बिखरेगा। आश्रमकी स्वच्छता बता देती है कि वे कितने सावधान हैं। होमधेनु समयपर प्रदीप एवं पूजा प्राप्त करती है और गोबर इतनी शीघ्रतासे हटा लिया जाता है कि चञ्चल बछड़ा उसे बिखेरने-का अवकाश ही नहीं पाता।

उनका प्रकृतिका ज्ञान अगाध है। 'चीलें ऊपर उड़ रही हैं; अतः वर्षा होनेवाली है।' वे समिधाएँ एकत्र कर लेंगे। किस नक्षत्रमें बोनेपर नीवार ठीक उगेंगे, यह बिना पञ्चाङ्गके भी वे वहाँ जान लेते हैं। सृष्टिकर्ताने जैसे प्रमाद, आलस्य उनके हिस्सेमें दिया ही नहीं।

लगन ही कलाकी जननी है। शीत ऋतुमें सल्लिका कुसुम और ग्रीष्ममें कुवलय (नीलकमल) की माला वे अग्निदेवको अर्पित करते हैं। कब क्या प्रिय होता है, यह तो लगन बतलाती है और वह माला—वह उनके करोंकी कलाकी सूचक है।

दिनचर्या—ब्राह्ममुहूर्तमें स्नान करके ध्यानस्थ हुए और भगवान् भास्करको अर्घ्य देने उठे। हवनके पश्चात् आश्रमके समस्त कार्य दिनके प्रथम प्रहरमें ही समाप्त हो जाते हैं। मध्याह्न-सन्ध्या समाप्त होती है तो सायं-सन्ध्यामें दो घड़ीहीका अवकाश रहता है। इसमें आश्रम-सेवा और सायंकाल-हवन, गोपूजन और फिर जो आसन लगा तो ब्राह्ममुहूर्त।

कभी-कभी अतिथि पधारते हैं। शालवृक्षके नीचेकी वेदी उनके चरणोंसे पवित्र हो जाती है। बनानेवालेमें कुशलता हो तो नीमका पत्र भी स्वादिष्ट शाक बन जाता है। कन्द, मूल, फल और दूधमें पकाये मधुमिश्रित नीवार—अतिथिको अनुभव ही नहीं होता कि वह एक तपस्वीके यहाँ है। वेदिकापर कोमल पल्लव एवं पुष्पोंका आसन बन जाता है। तपस्वीके आश्रममें दूध, मधु, पुष्प, पल्लव या तो भगवान् अग्निदेवके लिये हैं या उनके साक्षात् स्वरूप अतिथिके लिये ही।

× × × ×

उस दिन आश्रममें एक अतिथि आ गये। किशोर, ऋषिकुमार, तेजस्वी। गौरवर्ण, दुर्बल शरीर, मूँजकी मेखला, यज्ञोपवीत, वल्कल पहने जैसे कोई तेजोमय देवता ही ब्रह्मचारी-वेषमें आ गया हो। तपस्वीने आते ही भूमिमें लेटकर प्रणाम किया। अर्घ्य देकर चरण धोये और आसन दिया। किशोर अतिथिने निःसङ्कोच पूजा स्वीकार कर ली। तपस्वी उसके चरणोंके समीप नम्र भावसे बैठ गये।

'आपके आश्रमके मृग बहुत सुन्दर हैं!' अतिथि किशोरावस्थाके अनुरूप ही चपल था।

'परम सुन्दर प्रभुकी सृष्टिमें कुछ असुन्दर भी है, यह तो दुर्बल मन कल्पित करता है!' तपस्वीने गम्भीरता एवं नम्रतासे कहा।

'मैं आपको एक मृगचर्म दूँगा—कस्तूरीक मृगका चर्म। खूब सघन-सुकोमल रोमावली है!'

'आपका अनुग्रह!' तपस्वीने अतिथिको मृगचर्म निकालने नहीं दिया बगलसे। 'मैं केवल यज्ञके समय मृगचर्मको आसन बनाता हूँ और मेरे समीप पवित्र कृष्णमृगचर्म है! वेदिकापर तो कुश बिछाना ही पर्याप्त है!'

'ये सुन्दर पुष्प!' अतिथिमें अद्भुत चपलता थी। 'जान पड़ता है आप इनकी सुगन्धमें अनुराग नहीं रखते। आपकी जटाओंमें एक भी पुष्प नहीं। आप आज्ञा दें तो मैं वह खिला हुआ पाटल (गुलाब) आपकी जटामें लगा दूँ!'

'वायुदेव सभी प्राणियोंको सुगन्ध पहुँचाते हैं, मुझे उतने ही भागसे सन्तोष है!' तपस्वीने शान्तिसे कहा—'भगवान् अग्निदेवकी अर्चना हो चुकी है। मिट्टीके पुतलेके लिये पुष्पसज्जा व्यर्थ है। प्रभुको वह रुचिकर है तो उसे उन चरणोंपर ही चढ़ना चाहिये।।' तपस्वीने पाटलपुष्प चरणोंपर चढ़ा दिया।

'अग्निदेवके पूजनमें सदा यहाँ पुष्प मिल जाते हैं!'

'सदा ही मिलें—यह अनिवार्य नहीं; हृदयके भावोंके पुष्प इनसे सुन्दर होते हैं। देवताको भाव ही तो चाहिये। पदार्थ तो भावको उद्दीप्त करनेके लिये हैं!'

'आपके इस निर्झरके उस पार बड़ा सुन्दर वन है। वहाँ फूलोंके गुच्छोंसे लताएँ सभी ऋतुओंमें लदी रहती हैं। मधुर फलोंके वृक्ष हैं। दूधके समान उज्ज्वल मर्मर पत्थरोंका पर्वत है। आप वहाँ आश्रम बना लें। यहाँकी अपेक्षा वहाँ बहुत सुख-सुविधा रहेगी। मैं आपकी सहायता करूँगा।'

'यहाँ भी नीवार पर्याप्त मिल जाते हैं।' तपस्वी[illegible] उत्सुकता नहीं थी। 'पूजनके लिये पुष्प भी हैं ही भगवान्की सृष्टिमें ऐश्वर्यकी कोई सीमा नहीं; किंतु ए[illegible] वानप्रस्थाश्रमीको जितना चाहिये, उतना मुझे प्राप्त है अपेक्षाकृत उत्तम ढूँढ़ने जानेपर तो एक-से-एक उत्तम मिल[illegible] रहेंगे।'

'आपने मुझे पहचाना नहीं!' अतिथि खुलकर हँस पड़ा।

'देव! आप मेरे अतिथि हैं और अतिथि साक्षा[illegible] नारायणस्वरूप होते हैं।' तपस्वीके स्वर श्रद्धापूर्ण थे। 'इस[illegible] अधिक जाननेकी मुझे आवश्यकता ही क्या है!'

'मैं आपके संयम तथा तपसे प्रसन्न हूँ! स्वर्ग आप[illegible] प्रतीक्षामें है।' अतिथि—नहीं, वहाँ तो रत्नाभरणभूषि[illegible] नीलमेघोंका मुकुट बनाये, सात रंगोंका धनुष तथा वज्र लि[illegible] स्वयं देवराज इन्द्र विराजमान थे। वायुमण्डलमें दिव्य सुग[illegible] व्याप्त हो गयी। आकाशसे अद्भुत स्वरोंमें स्तुति हो रही थ[illegible] पास ही विद्युत्के चक्के तथा ज्योतिकी रश्मिसे युक्त, [illegible] रंगके सौ घोड़ोंसे जुता मेघरथ लिये मातलि प्रतीक्षा कर र[illegible] थे। देवराजने संकेत किया था रथपर चलकर बैठनेका।

'देवराजके पदार्पणसे मैं कृतार्थ हुआ। मैंने अप[illegible] कठोर व्रतोंका फल प्राप्त कर लिया।' तपस्वीने साष्टा[illegible] प्रणाम किया। 'मैं केवल सर्वेश्वरकी प्रसन्नताके लि[illegible] आराधना करता हूँ। अमरावतीको मैं अपने मनुष्य-शरीर[illegible] स्पर्शसे अपवित्र नहीं करूँगा। वहाँ तपोवन बनाया न[illegible] जा सकता और जबतक प्रारब्धने मुझे सुविधा दी है, भगवा[illegible] यज्ञपतिकी सेवाका सुख छोड़ना मुझे रुचिकर नहीं। आ[illegible] मुझे क्षमा करें!' देवराजको आश्चर्य नहीं हुआ। [illegible] भारतभूमिके मनुष्य अनेकों बार सशरीर स्वर्ग पधारते[illegible] उनकी प्रार्थनाको ठुकरा चुके हैं।

'आप किसकी अवहेलना कर रहे हैं!' देवराजके [illegible] कुछ तीव्र हो गये थे। तपस्वीने देखा कि विकराल कृष्णव[illegible] हाथोंमें दण्ड एवं पाश लिये भैंसेपर बैठे यमराज देवेन्द्र[illegible] पास आ गये हैं।

'मैं सुरपतिका अपमान करनेकी बात भी नहीं स[illegible] सकता।' तपस्वीके स्वरमें नम्रता थी, श्रद्धा थी; किंतु भय[illegible] लेश भी नहीं था। 'स्वेच्छासे अपना व्रत छोड़ना मै[illegible] अभीष्ट नहीं है। मैं जानता हूँ कि अमरलोकका ऐ[illegible] महान् है; किंतु वह सब अन्तरके आनन्दको प्रकट करने[illegible]

उपकरण ही है। वह हृदयका आनन्द मैं यहाँ भी प्राप्त कर लेता हूँ और नरकमें भी प्राप्त कर लूँगा। क्योंकि प्रणवस्वरूप व्यापक प्रभु और भगवती वेदमाता गायत्री तो वहाँ भी हैं ही। स्वर्गकी अपेक्षा यमराजका लोक ही तपस्याके उपयुक्त है। वहाँ तपस्याके प्रचुर साधन हैं। धर्मराजकी इच्छा हो तो मैं बाधा नहीं दूँगा।' बात ठीक थी। तपस्वीकी इच्छाके विरुद्ध उनका स्पर्श करनेकी शक्ति यमराजमें थी ही नहीं।

'मैं तो केवल आपके पवित्र चरणोंमें प्रणाम करने आया हूँ!' धर्मराजने मस्तक झुकाया हाथ जोड़कर और वे अदृश्य हो गये। उनके नरकोंकी यन्त्रणामें एक तपस्वी तपकी भावना करने लगे तो चल चुका उनका विधान। उसका तपःतेज नरकको तपोलोक बना डालेगा। नारकीय जीवोंके अपकर्म उसके पास आते ही भस्म हो जायँगे।

'जिन अग्निकी तुम आराधना करते हो, वही तुम्हें दण्ड देंगे!' असफलताने देवराजको असन्तुष्ट कर दिया था। झल्लाकर उन्होंने कहा और अदृश्य हो गये। तापसने सुना—पक्षी आर्तक्रन्दन करते दूर नभमें उड़े जा रहे हैं। पशु चिल्लाते हुए चौंकने लगे हैं। दूर-दूर नभमें धूएँकी कुंडलियाँ घनी होती जा रही हैं।

'हम्मा!' आश्रमकी गौ पुकार उठी। उसने दोनों कान खड़े कर लिये थे और स्नेहपूर्वक तपस्वीको देख रही थी।

'मातः! आप पधारें।' तपस्वीने गौको प्रणाम किया गौने अपने बछड़ेकी ओर देखा। पूँछ उठाकर वह भागी। बछड़ा अपनी माताके साथ जा रहा था। वायुमें उष्णता आ गयी थी। धुआँ बादलोंकी भाँति छा रहा था। दूर आकाशमें लालिमाकी रेखा दिखायी देने लगी थी।

'मैंने सदा आपको विधिपूर्वक हवि, घृत एवं समिधाओं-की आहुति दी है!' तपस्वीने सम्मुख गुफामें हवन-कुण्डकी ओर देखा और फिर वेदीपर आसनसे स्थिर बैठ गया। 'देव! पधारो। आज इस शरीरकी आहुतिसे जीवन यज्ञपूर्ण हो!' नेत्र बंद हो गये।

तपस्वीको पता नहीं—लपटें बढ़ीं, चटचट-पटपटके भयङ्कर शब्द हुए, वृक्ष भस्म हो गये, वह शालतरु—टूट-टूटकर उसकी शाखाएँ गिरती रहीं, पर तपस्वी ध्यानस्थ था। वह पञ्चाग्नि तापनेका अभ्यासी—उसे उष्णताका बोध तक नहीं हुआ। अग्निदेवने अपने उपासकके एक रोमतक स्पर्श नहीं किया। अभ्यासवश जब सायंकालीन सन्ध्याके लिये नेत्र खुले—चारों ओर धुआँ भरा था। अङ्गार, छोटी लपटें, भस्म, जहाँतक दृष्टि जाय, सब झुलस चुका था। किसी प्रकार झरने तक मार्ग बनाकर उसने सन्ध्या की। अन्धकार होनेसे पूर्व ऐसी समिधाएँ एकत्र करनेमें लगा जो अग्निसे अछूती रही हों; क्योंकि अधजले काष्ठ तो अग्निदेवके जूठे हो चुके और अग्नि-रक्षा तथा नित्य कृत्यके लिये पवित्र समिधाएँ आवश्यक हैं।

'यहाँसे एक योजन दूरका वन अग्निसे बच गया है। वहाँ आपको कोई कष्ट न होगा। यहाँ तो आपकी सब सामग्री भस्म हो गयी और गौ भी कहीं भाग गयी!' समीपके भीलोंके ग्रामके लोग सवेरे ही तपस्वीकी खोज करने आ गये थे, उन्होंने उसे समझाना चाहा।

'मैं आजसे एक तप्तकृच्छ्र व्रत करूँगा। भगवान्ने कृपा करके व्रतका अवसर दिया है।' तपस्वीने उन्हें प्रेमपूर्वक बताया। 'झरनेके किनारे आकमें सूखी समिधाएँ सायंकाल देख आया हूँ। भगवान् अग्निदेवने कृपापूर्वक कन्दोंको स्वयं भून दिया है। मेरा व्रत समाप्त होनेतक वन शीतल हो जायगा, तब अपने आराध्यका प्रसाद लूँगा। दावाग्निके पश्चात् नियमतः वर्षा होगी ही और तब यहाँ पहलेसे अधिक हरियाली हो जायगी।' तपस्वीको न तो कोई अभाव ज्ञात हो रहा था, न असुविधा, फिर वह नये स्थानमें आश्रम बनानेका झमेला क्यों पाले।

'हम सब आपके लिये दूध, फल, कुश, पुष्प पहुँचा दिया करेंगे!' जंगलके सरल मनुष्य भड़कीले शब्द भले न कह पावें, पर उनके हृदयमें अपार श्रद्धा होती है।

'पूजाके लिये कुशादि मैं ले आऊँगा, वह मुझे स्वयं लाना चाहिये। अभी तो व्रत करना है, अतएव दूध-फल आवश्यक नहीं हैं। कोई अतिथि पधारें तो उनकी सेवाके लिये तुमलोगोंकी सामग्री लेनेमें संकोच नहीं करूँगा।' मध्याह्न-सन्ध्याका समय हो चुका था। ग्रामीणजन अपने आग्रहको इतना बढ़ाना नहीं जानते जो साधुके नियमोंमें बाधक बने।

× × × ×

'आपको ज्वर आता है, तीनों समय तो क्या एक समय भी आपको स्नान नहीं करना चाहिये।'

'भगवान् यज्ञपुरुष मेरी प्रतीक्षा करते हैं, मैं उनकी उपेक्षा कैसे कर सकता हूँ!'

'शरीर पोंछकर अथवा मानसिक स्नानसे भी तो हवन करना सम्भव है ?'

'सम्भव तो सब है; किंतु भगवान्‌को साक्षात् मानकर टालटूल की कैसे जाय !'

'शरीर यह सब कबतक सहेगा ?'

'शरीर तो नश्वर है, वह तो नष्ट होगा ही। जो लोग सदा सावधान रहते हैं, उन्हें भी तो प्रारब्धके भोग भोगने ही पड़ते हैं। स्नान, वायुहीन स्थान, औषध-सेवन तो निमित्तमात्र हैं।'

'शरीरके प्रति भी तो कुछ कर्तव्य है ?'

'जी—आप कहना चाहते हैं कि परमात्माके प्रति जो कर्तव्य है, उससे वह बड़ा है ?'

'आप स्नानके बिना काम चला लें और औषध लेना प्रारम्भ कर दें........!' बेचारा वैद्य और कहे भी क्या। नगरमें जड़ी-बूटी बेचनेवालोंने उसे समाचार दिया था और श्रद्धाके कारण वह इस वनमें आया था। यद्यपि नगरमें रोगीको ले जाकर चिकित्सा करनेमें अधिक सुविधा होती; परंतु वह देखते ही समझ गया था कि ऐसी बात कहना व्यर्थ होगा।

'आप निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि औषधसे रोग चला ही जायगा ?'

'मैं केवल आशा कर सकता हूँ—प्रबल आशा।' वैद्यमें साहस नहीं था यहाँ मिथ्या आश्वासन देनेका।

'आपसे अधिक आशा तो यह करनी चाहिये कि प्रारब्ध जबतक है, कोई औषध रोगको दूर न कर सकेगी और जैसे ही प्रारब्धका भोग पूर्ण हो जायगा, रोग बिना क्षणभरका विलम्ब किये स्वयं चला जायगा, जैसे दावाग्नि काष्ठके भस्म हो जानेपर शान्त हो गयी थी।' तपस्वीके मुखपर मन्द हास्य था। उसका शरीर तवे-सा तप रहा था; किंतु क्लेश या थकावटके चिह्नतक नहीं थे मुखपर।

'वानप्रस्थाश्रमकी अवस्थाको आप पार कर चुके, आत्मतत्त्वका ज्ञान भी आपकी बुद्धिमें स्थित है, अब आपको अग्निका न्यास करना चाहिये। मैं ब्राह्मण हूँ, संन्यासके संस्कार सम्पन्न करा दूँगा !' वैद्यजीने नीतिका आश्रय लिया था। यदि तपस्वी संन्यासी हो जाय तो फिर उन्हें चिकित्सामें विरोध नहीं रहेगा।

'यज्ञस्वरूप साक्षात् भगवान् नारायणको छोड़कर मन किसी कल्पनामें कैसे लगाया जा सकता है ?' तपस्वी दृगोंमें भाव भरा था। 'बुद्धिमें जो परमतत्त्व प्रस्फुरित है, जबतक मन उसमें डूब न जाय—न्यास कैसे हो सकता है ? मन जब उसमें निमग्न हो जाता है, यह बाहरी जगत् दिखायी नहीं पड़ता, यही सच्चा संन्यास है। यह संन्यास स्वयं होता है, किया नहीं जाता।'

'प्रबल वैराग्यके अनन्तर जब आत्मतत्त्वकी जिज्ञासा जाय तब पञ्चाग्निको पञ्च प्राणोंमें न्यास करके संन्यास लेना चाहिये, शास्त्र तो यही कहते हैं।' वैद्यजी शास्त्रज्ञ होने कारण शङ्का कर रहे थे।

'शास्त्रोंकी व्यवस्था उचित है, पर यह रुचि तथा अधिकार-भेदकी बात है। रसानुभूतिके लिये पृथक् आवश्यक होती है। उस आनन्दघनकी सेवाकी मधुरिमा लिये जिनके प्राण प्यासे हैं, वे कर्मोंका न्यास कैसे कर सकते हैं। उनका न्यास तो सम्पन्न होता है, किया नहीं जाता।'

'कब सम्पन्न होगा वह ?' स्वरमें निराशा थी।

'कौन कह सकता है।' तपस्वी भावविभोर हो उठे थे। 'पता नहीं कब प्रभुके चरणोंमें वह प्रगाढ़ प्रेम होगा अपनी सुधा-धारामें तन-मन-प्राणको डुबा देगा। उस आनन्द-मन्दाकिनीमें सब निमग्न हो जाते हैं। वहाँ न क्रिया रहती, न कर्ता। वे करुणासागर कृपा करें तो उनका दिव्य प्रेम प्राप्त हो। जीवकी अल्पशक्तिके बसकी बात नहीं उन दयामयकी दयाकी प्रतीक्षा ही की जा सकती है। नेत्रोंसे अश्रुधार प्रवाहित हो रही थी और आज प्रथम बार तपस्वी भूल रहे थे कि उनके नित्यकर्मका समय हो गया है। वैद्यको निराश लौटना पड़ा।

× × ×

ज्वरने पिण्ड नहीं छोड़ा। शरीर दुर्बल होता जा रहा था। नित्यकर्मोंमें बाधा नहीं पड़नी चाहिये। अग्निदेवकी आराधनामें विघ्न पड़े, यह सहन नहीं हो सकता। उन्होंने अनशन प्रारम्भ किया। जैसे योगी योगक्रियासे ही अपने रोगी शरीरको ठीक करता है, वैसे ही तपस्वीकी चिकित्सा तपस्या ही हो सकती थी।

'आज भगवान् यज्ञपुरुषको उपवास करना पड़ा।' एक तो वृद्ध शरीर, दूसरे पूरे पचीस दिन उपवास करते हो गये

पिछले पाँच दिनोंसे जलतक नहीं लिया है। झरनेके जलमें स्नान करने आये थे, एक वृक्षके जड़की ठोकर लगी, लड़खड़ाकर गिरे और मूर्च्छित हो गये। मस्तकमें चोट लगी थी। कबतक मूर्च्छित रहे, उन्हें पता नहीं। नेत्र खुले, देखा तो सायंकाल समीप है। वे प्रातःस्नान करने आये थे। उन्हें लगा, दिनभर यहाँ वे पड़े रहे हैं। आज आहुति न दे सकनेके कारण चित्त खिन्न हो रहा था। उन्हें पता नहीं था कि आहुति तो यज्ञकुण्डमें चार दिनसे नहीं पड़ी है।

कोमल शरीरके शशक उनके शरीरसे सटे बैठे थे। वे भोले प्राणी अपने शरीरकी उष्णतासे उन्हें शीतसे बचानेके प्रयत्नमें थे। मृगोंका समूह कातर नेत्रोंसे उनकी ओर देख रहा था। बंदरोंने पता नहीं कहाँ-कहाँसे लाकर सुन्दर पके फलोंकी ढेरी एकत्र कर दी थी और उनके मुखके समीप फल ला-लाकर कुछ अपनी भाषामें कह रहे थे। मस्तकके ऊपरकी डालपर मयूर पंख फैलाये बैठा था। उसने तपस्वीकी धूपसे रक्षाका प्रयत्न पूरा कर लिया था। नेवला अपनी अमृतमयी जिह्वासे मस्तकके घावको चाट-चाटकर स्वच्छ कर चुका था। जिसके हृदयमें विश्वरूप प्रभु विराजते हैं, विश्वके सभी प्राणी उसके स्वजन हो जाते हैं। आज तपस्वी अकेले नहीं थे। वनके समस्त प्राणी उन्हें अपने समझ चुके थे और सुख पहुँचानेके प्रयत्नमें थे। तपस्वीका ध्यान इधर गया ही नहीं। उन्हें सायंकालीन उपासनामें विलम्ब हो रहा था। वे उठे, शरीर साथ नहीं दे रहा था, पैर लड़खड़ा रहे थे, किसी प्रकार गुफातक जाना ही था। प्राणियोंने उसी प्रकार उनका अनुगमन किया, जैसे नरेशके पीछे उसके सेवक चलते हैं—शान्त, मूक, संयत।

'पुष्प इतने म्लान क्यों हो गये?' तपस्वी स्नान करने जानेसे पूर्व केलेके पत्तेपर पुष्प-चयन करके सजा गये थे। अब तो वह पत्ता भी काला पड़ गया था। स्मरण हुआ कि गुफाके द्वारपर तोरणके पत्ते भी मुरझाये हुए हैं। 'मैं सम्भवतः कलसे मूर्च्छित था।' अभी वे समझ नहीं पाये थे कि उनका अनुमान मूर्च्छाके वास्तविक समयका आधा ही है।

'भगवान् अग्निदेवने कुण्डका परित्याग कर दिया।' धड़कते हृदयसे वे यज्ञकुण्डकी भस्मको उलट-पलट रहे थे। यज्ञोपवीतके पश्चात् आजतक आचार्यसे जो अग्नि प्राप्त हुए थे, वे अखण्ड जाग्रत् प्रज्वलित रक्खे गये थे। न तो प्राणोंमें आरोपित करके उनका न्यास हो सका और न शरीरकी आहुति ही उनमें दी जा सकी। अत्यन्त खेदसे तपस्वीके हाथ काँप रहे थे और लगता था—वे फिर मूर्च्छित होनेवाले हैं।

'दयामय, रक्षा की आपने!' जैसे कंगालको कुबेरका कोष मिल गया हो। भस्समें एक नन्ही चिनगारी मिली और उन्हें कितना आह्लाद हुआ, कहा नहीं जा सकता। बड़े प्रयत्नसे उन्होंने उसे प्रज्वलित किया। हवन करते समय अशक्त होनेसे मन्त्र-ध्वनि पूर्णतः स्पष्ट नहीं हो सकी।

'मेरा नित्यकर्म भंग हो चुका, पता नहीं भगवान् यज्ञनारायण कितने समयतक उपवासकी दशामें रहे हैं। यदि मैं अनशन करके प्राणत्याग करूँ तो बार-बार मूर्च्छित होऊँगा। बार-बार यह अपराध बनेगा।' तपस्वीको अपनी चिन्ता नहीं थी। 'मैंने एक, चार या आठ वर्षके स्थानमें पूरे बारह वर्षके वानप्रस्थ-धर्मके पालनका सङ्कल्प किया था। आज ही बारह वर्ष पूर्ण हुए हैं।' उन्हें लग रहा था कि यज्ञकुण्डमें उस चिनगारीके रूपमें अग्निदेव अबतक उनकी प्रतीक्षामें ही रुके थे। धीरे-धीरे वे उठे। गुफामें जितनी भी समिधाएँ थीं, क्रमशः हवनकुण्डके ऊपर सजा दीं। एक बड़ी-सी काष्ठराशि बन गयी। नीचे हवनकुण्डकी ज्वालासे वह प्रज्वलित हो उठी। तपस्वीने आचमन किया। अग्निका परिसमूहन किया और प्रोक्षण भी। तीन बार परिक्रमा करके भूमिमें लेटकर प्रणाम किया।

'भगवान् यज्ञपुरुष मेरे शरीरकी इस अन्तिम आहुतिसे सन्तुष्ट हों।' उस अग्निमें प्रवेश करनेका सङ्कल्प करते हुए उन्होंने भूमिसे मस्तक उठाया।

'यह क्या?' वे मुग्ध-से देखते रह गये। उस ज्वालाके मध्यसे तप्तकाञ्चनवर्ण, चतुर्भुज, विद्युत्के समान वस्त्रधारी, रत्नमुकुटी, शङ्ख-चक्रधारी साक्षात् भगवान् नारायण यज्ञपुरुष शेष दोनों हाथ फैलाये उन्हें अपने अङ्कमें लेने उतर रहे हैं। 'प्रभो! करुणाधाम!' उनका मस्तक फिर झुके, इससे पूर्व तो उन विशाल बाहुओंने उन्हें उठा लिया था और वे उन सर्वेशके श्रीवत्सलाञ्छित वक्षःस्थलसे लगा लिये गये थे!

कामके पत्र

(१)

पाप कामनासे होते हैं—प्रकृतिसे नहीं

सप्रेम हरिस्मरण ! आपका पत्र मिला । आपने लिखा—"गीता अध्याय ९ श्लोक २७—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥

इस श्लोकके मुताबिक मैं मछली-मांस, ताड़ी-शराब, अपनी-स्त्री प्रसङ्गकी कृया (क्रिया) या परायी स्त्री-प्रसङ्गकी कृया (क्रिया), इतनी चीज यदि हमारी प्रकृति समय-समयपर ग्रहण कर रही है तो मैं ईश्वरको अर्पण कर सकता हूँ या नहीं । अगर आप कहें कि यह सब कर्म ही क्यों नहीं छोड़ देते, तो स्त्री छूट ही नहीं सकती । मछली-मांस, ताड़ी-दारू, परायी स्त्री-ग्रहण भी नीचे लिखे श्लोकोंके मुताबिक हो ही रहा है तो हमको क्या करना चाहिये ।···श्लोक अध्याय ३ श्लोक ५—

कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥"

यहाँतक पत्रलेखक महोदयके अपने शब्द हैं ।

इसका उत्तर यह है कि श्रीभगवान्ने गीतामें यह बतलाया है कि मनुष्य क्षणमात्र भी बिना कर्म किये नहीं रह सकता—

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।

इसी प्रसङ्गमें यह कहा है कि 'सब लोग प्रकृति-जनित गुणोंके द्वारा परवश होकर कर्म करनेको बाध्य होते हैं ।'

कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥

इसका अभिप्राय यह है कि संसारका प्रादुर्भाव प्रकृतिजन्य सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंसे होता है । सारा संसार गुणमय है और ये तीनों गुण प्रत्येक जीवमें न्यूनाधिक रूपमें रहते हैं । जबतक ये गुण विषम अवस्थामें हैं, तबतक संसार है और जबतक संसार है तबतक संसारका कोई भी प्राणी क[illegible] रहित होकर नहीं रह सकता; उसे इन्द्रियोंके [illegible] मनके द्वारा किसी-न-किसी कर्ममें लगे रहना ही पड़[illegible] है । अर्थात् बुद्धिका किसी विषयमें निर्णय एवं निश्[illegible] करना, चितका चिन्तन करना, मनका मनन कर[illegible] कानका सुनना, त्वचाका स्पर्श करना, आँखका देख[illegible] जीभका चखना, नासिकाका सूँघना, वाणीका शब्दोच्चा[illegible] करना, पैरोंका चलना, गुदा-उपस्थका मल-मूत्रादि त्[illegible] करना और प्राणोंका श्वास लेना—आदि कार्योंमेंसे क[illegible] न-कोई होता ही रहता है । इसका यह अर्थ लगाना[illegible] मनुष्य प्राकृतिक गुणोंके वशमें होकर मछली-मांस ख[illegible] शराब-ताड़ी पीने और पर-स्त्री-गमन आदि पापोंमें ल[illegible] को बाध्य होता है, सर्वथा अनर्थ करना है । [illegible] प्रकृतिकी प्रेरणासे नहीं होते । पापके होनेमें हेतु है-मनुष्यके अंदर रहनेवाली कामना । भगवान्ने गीत[illegible] इसी तीसरे अध्यायमें यह स्पष्ट कहा है—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥
(३ । ३[illegible]

'रजोगुणरूप आसक्तिसे उत्पन्न काम ही (प्रति[illegible] होनेपर) क्रोध बन जाता है । यह काम बहुत ख[illegible] वाला (भोगोंसे कभी न अघानेवाला) और [illegible] पापी है । इसीको तुम इस विषयमें (पाप बनने[illegible] वैरी समझो ।'

और अन्तमें भगवान्ने इस कामनापर विजय [illegible] करनेके लिये आज्ञा दी है—

जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ।

'हे महाबाहो ! इस कामरूप दुर्जय शत्रुको मार डालो ।'

यदि मनुष्यको परवश होकर पाप करनेको [illegible]

होना पड़ता तो गीताका यह प्रसङ्ग निरर्थक होता। यही नहीं, विधि-निषेधात्मक समस्त शास्त्र ही व्यर्थ होते। गीतामें ही मनुष्यको कर्म करनेमें स्वतन्त्र बतलाया है—'कर्मण्येवाधिकारस्ते'—यह भी व्यर्थ होता। पर बात ऐसी नहीं है। गीताके ऐसे वाक्योंका इस प्रकार अर्थ लगाकर अपने पापका समर्थन करना या तो भ्रमसे होता है, या जान-बूझकर गीतापर पाप करानेका दोष मँढ़कर दुहरा पाप किया जाता है। भगवान्‌ने गीतामें काम, क्रोध और लोभ—इन तीनोंको नरकका द्वार और आत्माका नाश करनेवाले—जीवको अधोगतिमें पहुँचानेवाले बतलाकर इनका त्याग करनेकी आज्ञा दी है—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत्॥
(१६। २१)

मनुष्यमें यह सामर्थ्य है कि वह काम-क्रोध-लोभपर विजय प्राप्त करे, इनको मारे और इनसे होनेवाले पाप-कर्मोंको समूल नष्ट कर दे। वह यदि ऐसा न करके—इन्द्रियके वश होकर नाना प्रकारके पाप करता है, तो दण्डका पात्र होता है। मनुष्यको जो अपने जीवनमें भाँति-भाँतिके दुःखों-क्लेशोंका भोग करना पड़ता है, इसका प्रधान कारण उसके अपने किये हुए ये पाप ही हैं, जिन्हें वह चाहता तो छोड़ सकता था। अतएव आपका यह सर्वथा भ्रम है जो आप मांस-मछली, शराब-ताड़ीके खान-पान और व्यभिचारको परवश होकर किये जानेवाले कर्म मानते हैं और इनसे छूटनेमें अपनेको असमर्थ बताते हैं। ये पाप प्रकृति नहीं कराती। ये कराती है आपकी भोगासक्ति, और जो भोगासक्तिके वश होकर पाप करेगा, उसको उसका भयानक परिणाम भी अवश्य ही भोगना पड़ेगा!

यह आपका दूसरा महान् भ्रम है जो आप गीता (९। २७) का हवाला देकर पापकर्मको ईश्वरके अर्पण करनेकी बात सोचते हैं। इस श्लोकमें हवन, दान और तपके अर्पण करनेकी बात कही गयी है, वह तो स्पष्ट ही शास्त्रीय और गीताकथित हवन, दान और तप आदि क्रियाओंके लिये है। 'तुम जो कुछ भी कर्म करते हो, जो कुछ खाते हो'—('यत्करोषि' तथा 'यदश्नासि') इनमें भ्रम हो सकता है। परंतु गीतामें भगवान्‌की यह स्पष्ट घोषणा है कि—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥
(१६। २४)

'तुम्हारे कर्तव्य और अकर्तव्यकी व्यवस्थामें शास्त्र ही प्रमाण है। यह जानकर तुम्हें वही कर्म करने चाहिये जिनका शास्त्रोंमें विधान है।'

अतएव वस्तुतः कर्म वे ही हैं जो शास्त्रनियत हैं, शेष तो विपरीत कर्म यानी निषिद्ध हैं। निषिद्ध कर्मोंको कभी भगवान्‌के अर्पण नहीं किया जा सकता। भोगासक्तिवश पापकर्म करना और उन्हें भगवान्‌के समर्पण करनेकी बात सोचना ही एक बड़ा पाप है।

अतएव आप इन दोनों ही भ्रमोंको तुरंत छोड़ दीजिये। याद रखिये कि न तो आप मछली-मांस खाने, शराब-ताड़ी पीने और व्यभिचार करनेके लिये परवश हैं और न किसी भी पापकर्मको कभी भगवान्‌के अर्पण ही किया जा सकता है। आपके जो मित्र या गुरु गीताका इस प्रकारका अर्थ करते हैं, उनसे भी सावधान रहना चाहिये।

(२)

भगवत्-सेवा ही मानव-सेवा है

सादर नमस्कार! पत्र मिला। मानव-सेवा निश्चय ही परम श्रेष्ठ साधन है; परंतु मानव-सेवा यथार्थरूपमें तभी होती है, जब प्रत्येक मानवको भगवान्‌का स्वरूप समझा जाता है। जगत्‌में जितने भी प्राणी हैं—सभी मानो श्रीभगवान्‌के शरीर हैं—विभिन्न अनन्त रूपों, आकृतियों, स्वभावों और परिस्थितियोंको स्वाँगके रूपमें

धारणकर एक भगवान् ही अनन्त विचित्र लीला कर रहे हैं। यह बात जब हमारी समझमें आ जाती है, तब हम सबको भगवान् मानते हुए, सबके प्रति राग-द्वेष-विहीन होकर सबका समान आदर करते हुए उनके स्वाँगके अनुरूप उनकी आवश्यकताओंको समझकर सबकी यथासाध्य और यथायोग्य सेवा करनेका प्रयास करते हैं। उस सेवामें स्वाँगके अनुसार भेद रहनेपर भी न तो आसक्ति होती है, न विद्वेष होता है। साथ ही स्वाभाविक ही यह भी भाव रहता है कि 'हम तो सेवामें केवल निमित्तमात्र हैं। सेवा करनेकी प्रेरणा, शक्ति और साधन सब प्रभुके ही यहाँसे आते हैं। प्रभु स्वयं अपनी ही वस्तुओंसे, आप ही प्रेरणा करके अपनी ही शक्तिसे अपनी सेवा करवाते हैं। इसमें न तो हमारा किसीके प्रति उपकार है, न हम किसीकी सेवा करते हैं, न किसीपर अहसान ही है।' जबतक इस प्रकार सर्वत्र भगवद्भाव नहीं होता और जबतक समस्त वस्तुओंपर, सारी शक्तियोंपर और समस्त प्रवृत्तियोंपर प्रभुका स्वामित्व नहीं जान लिया जाता, तबतक यथार्थ मानव-सेवा नहीं होती। कहीं अहङ्कार-अभिमानकी सेवा होती है तो कहीं कामना-वासनाकी!

सच्ची बात तो यह है कि भगवान्की सेवा ही मानव-सेवा है। समाज-सेवा, देश-सेवा, मानव-सेवा, विश्व-सेवा, लोकहित, लोकसंग्रह आदि शब्द मोह पैदा करनेवाले ही होते हैं यदि समाज, देश, मानव, विश्व और लोकमें भगवद्भाव नहीं होता। फिर कर्तव्यपालनके नामपर भी अभिमानकी सेवाका प्रमादपूर्ण कार्य होता है। प्रिय सेवककी व्याख्या करते हुए भगवान् श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं—

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

'चराचर समस्त जगत् श्रीभगवान्का स्वरूप है और मैं उसका सेवक हूँ।' जबतक यह भाव नहीं होता, तबतक हमारे द्वारा सेवाके नामपर किये जानेवाले कर्म राग-द्वेषमूलक होनेके कारण यथार्थ सेवा नहीं बन पाते; इसके विपरीत कई बार तो वे जगत्को हानि पहुँचानेवाले हो जाते हैं।

श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा गया है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥
(१८। ४६)

'जिन भगवान्से समस्त प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई और जिनसे यह सारा जगत् व्याप्त है, उनको अपने कर्मोंके द्वारा पूजकर मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त होता है।' अभिप्राय यह कि मानो सम्पूर्ण विश्व-चराचरमें भगवान्को देखकर राग-द्वेषरहित हो परम आदरके साथ उनकी यथायोग्य सेवा की जाय, तब सबकी यथार्थ सेवा होती है, या केवल भगवान्की ही सेवामें—उन्हींके भजनमें संलग्न रहा जाय तब सबकी यथार्थ सेवा होती है। दोनों ही प्रकारोंमें प्रधान दृष्टि रहती है—भगवान्की ओर। श्रीमद्भागवतमें ब्रह्माजीके वचन हैं—

यथा हि स्कन्धशाखानां तरोर्मूलावसेचनम्।
एवमाराधनं विष्णोः सर्वेषामात्मनश्च हि॥
(८। ५। ४९)

'जैसे वृक्षकी जड़में जल सींचनेसे उसके स्कन्ध-शाखाओंमें अपने-आप ही जल सींचा जाता है वैसे ही सर्वात्मा भगवान्की आराधना करनेसे सबकी और अपनी भी आराधना हो जाती है।'

भगवान् ही समस्त विश्वके अभिन्ननिमित्तोपादान कारण हैं, वे ही सबके मूल हैं, आधार हैं, आत्मा हैं। अतः उन सर्वकारण-कारण सर्वात्मा भगवान्की सेवासे अपने-आप ही सबकी सेवा हो जाती है। जगत्की सेवाका प्रयत्न हो और भगवान्को न माना जाय या उनका विरोध किया जाय तो वह ऐसा ही होता है, जैसे पेड़की डाल-पत्तियोंको सींचना और उसके मूलपर कुठाराघात करना! इससे विश्व-वृक्ष नहीं पनप सकता। यह उसकी सेवा नहीं, वरं संहार ही है।

जो मनुष्य भगवान्का आराधन नहीं करते, न उनका विरोध ही करते हैं और यथासाध्य सचाईके साथ लोकसेवा करना चाहते हैं, उनके द्वारा भी कुछ लाभ होता है; परंतु वह भी होता है भगवान्से ही। जैसे कोई मनुष्य वृक्षकी जड़को न तो काटता है, न उसमें विष बिखेरता है और न जलसे सींचता ही है; परंतु डाल-पत्तोंपर पानी उँडेला करता है। यद्यपि यह उसका अज्ञान है तथापि डाली-पत्तोंसे बहकर जितना पानी जड़में पहुँचता है, उतनेसे वृक्षको रस पहुँच जाता है; परंतु वह रस मिलता है जड़के द्वारा ही। वैसे ही भगवान् 'सर्वलोकमहेश्वर' और 'समस्त यज्ञतपोंके भोक्ता' हैं। किसीके नामपर भी जो कुछ भी सेवा-पूजा होती है, सब उन्हींको पहुँचती है और वहींसे उसके फलका भी विधान होता है। अतएव यदि केवल भगवान्का भजन हो तो उससे विश्वकी महान् सेवा स्वयमेव हो जाती है।

योगेश्वर कविने कहा है—

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च
ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं
यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः॥

(श्रीमद्भा० ११।२।४१)

'आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, ग्रह, नक्षत्र, समस्त प्राणी, दिशाएँ, वृक्ष-लता, नदी, समुद्र—सब श्रीभगवान्के शरीर हैं। ऐसा समझकर वह, जो कोई भी प्राणी उसके सामने आता है, उसीको अनन्य भगवद्भावसे प्रणाम करता है।'

सीयराममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥

इस प्रकार प्राणीमात्रमें भगवद्भाव होना चाहिये, फिर उसके द्वारा जो कुछ होता है, वह सेवा ही होती है और वही सच्ची विश्व-सेवा है।

इसलिये मेरी रायमें आपको मानव-सेवाके मोहक नामके पीछे पागल न होकर भगवत्सेवाके द्वारा ही मानव-सेवा करनेका अभ्यास करना चाहिये। इसका यह अर्थ नहीं कि आप अपनी जीवनचर्यामें किसीके दुःखमें उपेक्षा करें और समर्थ होनेपर भी सेवा न करें। आपके पास तन-मन-धन जो कुछ है, सबको श्रीभगवान्का समझकर जहाँ जैसी आवश्यकता हो भगवत्स्मरण करते हुए ही भगवत्प्रीत्यर्थ वहाँ उसे लोकसेवामें अवश्य लगावें—सहज स्वाभाविकरूपसे। भगवान्की चीज भगवान्के काममें आवे और आपको उसमें निमित्त बननेका सौभाग्य मिले, यह तो आपका सौभाग्य है।

(३)

अपराधीकी वैध सहायता करना धर्म है

सप्रेम हरिस्मरण। आपका कार्ड मिला। आपने लिखा कि 'एक कैदी (जिसको उसके कुकर्मोंके फलस्वरूप दण्ड मिला है) के प्रति सहानुभूति प्रकट करना या उसकी किसी प्रकारकी सहायता करना जैसे पापमें सहायक होना और गवर्नमेंटका अपराध करना है, उसी प्रकार ईश्वरीय न्यायालयमें दण्डित दीन-अपाहिजोंकी सहायता करना ईश्वरीय व्यवस्थाका उल्लङ्घन है, जो कि ईश्वरका एक अपराध ही है। यदि ऐसा ही है तो धर्मशास्त्रोंमें इसके विपरीत उपदेश क्यों है?'

इसका उत्तर यह है कि किसी अपराधके लिये दण्डित मनुष्यके प्रति सहानुभूति प्रदर्शन करना या उसकी वैध रीतिसे सहायता करना कानूनकी दृष्टिमें अपराध नहीं है। अपराध तो उसके अपराधमें सहायता करनेमें है। किसीके साथ भी उसके दुःखमें सहानुभूति करना या सहायता पहुँचाना कहीं भी अपराध नहीं हो सकता। न्यायालयसे जो दण्ड दिया जाता है, उसमें भी उसके प्रति द्वेष या वैर नहीं है, वह पुनः वैसा अपराध न करे अर्थात् वह भावी दुःखसे बच जाय, इसी उद्देश्यसे दण्ड-विधानकी रचना हुई है। कारावासमें पड़े हुए कैदियोंके लिये भी नाना प्रकारसे सहायताके आयोजन होते हैं और उनमें बाहरके लोगोंसे

भी सहायता माँगी तथा ली जाती है। असलमें घृणा पापसे होनी चाहिये, पापीसे नहीं। इसलिये अपराध भी पापमें सहायता करनेसे होता है, न कि पापीकी सहायता करनेसे। कैदीको क्या खाने-पहननेको नहीं दिया जाता या क्या बीमारीमें उसका इलाज नहीं करवाया जाता है? बल्कि कैदमें भी उसके प्रति किसी-के द्वारा यदि दुर्व्यवहार होता है तो न्यायतः दुर्व्यवहार करनेवाला अपराधी माना जाता है। न्याय न हो और यथेच्छाचार हो, वहाँकी बात दूसरी है।

दुःखमें सहानुभूति और सहायता सदा ही धर्म है। यही लौकिक न्याय है और यही ईश्वरीय न्याय है। हाँ, न्यायपूर्ण विधानको माननेकी आवश्यकता सभी जगह है। अतः कैदीकी सहायता भी विधानके अनुकूल ही करनी चाहिये, और दीन-अपाहिजकी सहायता भी शास्त्र-विधानके अनुसार ही।

कोई दीन-अपाहिज यदि अभक्ष्य-भक्षण करना चाहे, किसीके साथ वैर-विरोध करनेको कहे, किसी निर्दोषको सतानेके लिये कहे तो इन कार्योंमें उसकी सहायता नहीं करनी चाहिये। धर्मशास्त्रोंमें जो दीन-दुखियोंकी सहायता करनेका आदेश है वह तो बहुत ही सुन्दर है। उससे ईश्वरीय न्यायमें बाधा नहीं पड़ती वरं उसमें सहायता मिलती है। भयानक दुःख और कष्टमें जिसकी सहायता होती है, वही सहायताके मूल्यको भी जान सकता है, जैसे अन्नके महत्त्वको अत्यन्त भूखा मनुष्य ही जानता है। जिसको खाते-खाते अजीर्ण हो गया है, उसे अन्नके महत्त्वका क्या पता। और जो जिस वस्तुके महत्त्वको जानता है, वह उस वस्तुको प्राप्त भी करना चाहता है। दीन-दुखी सहायता पाकर यह चाहेंगे कि हम भी कभी किसीकी सहायता करें। इससे उनके हृदय शुद्ध होंगे और पाप-बुद्धिका नाश होगा। एवं वे यदि पाप नहीं करेंगे तो भविष्यमें पापके परिणामरूप दुःखोंसे बच जायँगे। साथ ही, ईश्वर भी सहायता करनेवालोंसे प्रसन्न होंगे अपराधी हो या निरपराधी, माके लिये सभी बच्चे समान प्रिय होते हैं; बल्कि दुःखमें पड़े हुएके प्रति माताकी विशेष सहानुभूति होती है। ऐसी अवस्थामें उस दुखी बच्चेकी जो सहायता करता है, वह उसकी माताके विशेष स्नेह तथा आशीर्वादका पात्र होता है। इसी प्रकार भगवान् भी, जो उनकी दुखी सन्तानोंपर दया करके उनके साथ सहानुभूति तथा उनकी सहायता करते हैं, उनपर बड़े प्रसन्न होते हैं। इसलिये दीन दुखियोंकी सहायता-सेवामें मनुष्यको बड़े उल्लासके साथ सदा प्रस्तुत रहना चाहिये। और ऐसा करते यदि कोई विपत्ति आवे तो उसे भगवान्‌का कृपा-प्रसाद समझकर सानन्द सहन करना चाहिये।

(४)

भगवान्‌के आश्रयसे सब दोष नष्ट हो जाते हैं

सादर हरिस्मरण। कृपापत्र मिला, आपने बहुत अच्छी बात पूछी है। ब्रह्माजीने श्रीभगवान्‌से कहा था कि 'प्रभो! जबतक यह मनुष्य आपके अभय प्रदान करनेवाले चरणारविन्दोंका आश्रय नहीं लेता, तभीतक उसको धन, घर, सुहृद्-बन्धुओंके निमित्तसे होनेवाले भय, शोक, स्पृहा, पराभव और बड़ा भारी लोभ आदि दोष सताते हैं और तभीतक उसको दुःखके मूल हैं तथा मेरेपनका असत् आग्रह रहता है'—

तावद्भयं द्रविणगेहसुहृन्निमित्तं
शोकः स्पृहा परिभवो विपुलश्च लोभः।
तावन्ममेत्यसदवग्रह आर्तिमूलं
यावन्न तेऽङ्घ्रिमभयं प्रवृणीत लोकः॥

(श्रीमद्भा० ३।९।६)

आप अपनेको जिन सब मानस-शत्रुओंसे घिरा देखते हैं, वे सब शत्रु तुरंत भग जायँगे, यदि आप श्रीभगवान्‌के चरणकमलोंका आश्रय ले लेंगे। असलमें हमारा ममत्व, जो लौकिक सम्बन्धियोंमें हो रहा है

वही हमें सता रहा है। यदि हम प्रयत्न करके अपने इस सम्बन्धको सबसे तोड़कर एकमात्र प्रभुमें जोड़ सकें और सबके साथ प्रभुके सम्बन्धसे ही सम्बन्ध रक्खें तो फिर हमें कोई नहीं सता सकता एवं ऐसा करनेमें किसीके साथ व्यावहारिक सम्बन्ध तोड़नेकी भी आवश्यकता नहीं होती। जैसे पतिव्रता स्त्री पतिके सम्बन्धसे ही पतिके माता, पिता, बन्धु, मित्र, अतिथि, अभ्यागत आदिके साथ यथायोग्य व्यवहार करती है, वैसे ही भगवान्‌के सम्बन्धसे हम भी सबके साथ यथा-योग्य व्यवहार करें; पर मनसे ममत्व रहे केवल प्रभु-चरणोंमें ही।

भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने भक्त विभीषणजीसे बड़ी सुन्दर बात कही है—

जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धनु भवन सुहृद परिवारा॥
सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँध बरि डोरी॥

× × ×

अस सज्जन मम उर बस कैसें। लोभी हृदयँ बसइ धनु जैसें॥

अपने ममताके कच्चे सूतके धागोंको, जो इधर-उधर सर्वत्र अटके हुए हैं, सबसे तोड़कर (सारे ममत्वको) एकत्र कर लें और फिर उन सबको बटकर—(ममत्वको एकनिष्ठ करके) एक मजबूत रस्सी बना लें एवं उसके द्वारा अपने मनको श्रीभगवान्‌के चरणोंसे बाँध दें तो भगवान्‌के इतने प्रिय हो जायँ कि फिर भगवान् हमको अपने हृदयमें वैसे ही स्थान दे दें, जैसे लोभी धनको बसाये रखता है। भगवान्‌ने अपनेको बाँधनेका कैसा सुन्दर उपाय बता दिया है। ममता नहीं छूटती तो मत छोड़ो, उसे इधर-उधर बिखेरकर जो दुःख पा रहे हो, कभी इधर खिंचते हो, कभी उधर, फिर तनिक-से स्वार्थका धक्का लगते ही ममताके कच्चे धागे टूट भी जाते हैं—इस नित्यकी अशान्तिसे अपनेको छुड़ा लो। इतना करो कि उन धागोंको सबसे हटा लो। बस, सुखी हो जाओगे। और फिर इस बटोरी हुई ममताको केवल भगवच्चरणोंमें जोड़ दो। यह मान लो कि एक-मात्र भगवच्चरणारविन्द ही मेरे हैं, उनके अतिरिक्त मेरा कुछ भी नहीं है। इस प्रकार अपने मनके साथ भगवान्‌के चरणोंको ममताकी मजबूत रस्सीसे बाँध दो। फिर न तो कच्चा धागा है जो जरा-सी स्वार्थकी ठेससे टूट जायगा और न तो लौकिक पदार्थोंकी भाँति भगवच्चरण ही विनाशी हैं, जो कभी नष्ट हो जायँगे। पक्की दृढ ममत्वकी डोरी और अचल, अटल नित्य भगवच्चरण। जहाँ एक बार बँधे कि फिर कभी छूटनेके नहीं। फिर तो भगवान् वशमें ही हो जायँगे और बाध्य होंगे हमको अपने हृदयमें स्थान देनेके लिये। ऐसे ही एकममतानिष्ठ भक्तोंके लिये भगवान्‌ने सुदर्शनचक्रसे डरे हुए दुर्वासा मुनिसे कहा था—

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥
नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना।
श्रियं चात्यन्तिकीं ब्रह्मन् येषां गतिरहं परा॥
ये दारागारपुत्राप्तान् प्राणान् वित्तमिमं परम्।
हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे॥
मयि निर्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शनाः।
वशी कुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा॥

× × × ×

साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्।
मदन्यत् ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि॥

(श्रीमद्भा० ९। ४। ६३—६६, ६८)

'ब्राह्मणदेवता! मैं भक्तोंके अधीन हूँ, मुझमें तनिक भी स्वतन्त्रता नहीं है। मेरे साधुस्वभावके भक्तोंने मेरे हृदयको अपने वशमें कर रक्खा है, वे भक्तगण मुझसे प्रेम करते हैं और मैं उनसे करता हूँ। हे ब्रह्मन्! जिन भक्तोंका एकमात्र मैं ही परम आश्रय हूँ, उन साधु-स्वभाव भक्तोंको छोड़कर न तो मैं अपने-आपको चाहता हूँ और न अपनी अर्द्धाङ्गिनी विनाशरहिता लक्ष्मीजीको ही। जो भक्त स्त्री, पुत्र, घर, गुरुजन, प्राण, धन, इहलोक और परलोक—सबका (ममत्व) त्याग करके

एकमात्र मेरी शरणमें आ गये हैं, उन्हें त्याग करनेकी कल्पना भी भला मैं कैसे करूँ। जैसे सती स्त्री अपने पातिव्रतसे सत्-स्वभाव पतिको वशमें कर लेती है, वैसे ही मेरे साथ अपने हृदयको बाँध रखनेवाले समदर्शी साधु भक्त अपनी भक्तिके द्वारा मुझको अपने वशमें कर लेते हैं। मेरे वे साधु भक्त मेरे हृदय हैं और मैं उन साधुओंका हृदय हूँ। वे मेरे सिवा और कुछ भी नहीं जानते तो मैं उनके सिवा और कुछ भी नहीं जानता।'

भगवान्‌के एकान्त आश्रयकी बात कठिन अवश्य मालूम होती है; परंतु समझमें आ जानेपर वस्तुतः बड़ी आसान है। नया कुछ भी करना नहीं पड़ता। केवल ममताके विषयको मनसे बदल देना पड़ता है। आपने इस विषयपर बड़ा विचार भी किया है। फिर क्यों देर करते हैं।

अब रही मेरी बात, सो मैं तो सचमुच फँस रहा हूँ 'पर-उपदेश कुशल'की बात आपको लिखता हूँ, पर स्वयं कुछ भी नहीं करता। हाँ, यह विश्वास अवश्य है कि मुझ दीन-हीनपर भी दीनबन्धुकी कृपा तो अनन्त-अपार है ही। अपने लिये क्या लिखूँ—

श्रीगोसाईंजीके शब्दोंमें—

सकल अंग पद बिमुख नाथ मुख नामकी ओट लई है।
है तुलसी परतीति एक प्रभुमूरति कृपामई है॥

पर सच पूछिये तो जैसी मेरी धारणा है, उसके अनुसार मुखने भी नामकी ओट नहीं ले रक्खी है और प्रभुकी कृपामयी मूर्तिपर विश्वास है ऐसा प्रतीत होनेपर भी, वह विश्वास किस स्तरका है, इसका भी ठीक पता नहीं है। कभी-कभी ऐसा मन होता है कि अब जीवनकी समाप्तिके दिन समीप आते जा रहे हैं, अतः ये सब दिन तो केवल प्रभुके चिन्तनमें ही बीतें, पर ऐसा हो नहीं पाता। इसमें भी मेरी आसक्ति ही कारण है। प्रभुकी क्या इच्छा है, यह तो वही जानें। कभी-कभी यह भी मन होता है कि उनकी मङ्गलमयी इच्छापर ही अपनेको छोड़ दूँ, पर पता नहीं क्यों, ऐसा भी नहीं हो पाता। शायद कोई छिपा अभिमान इसमें बाधक हो। जो कुछ भी हो, अच्छा-बुरा हूँ तो उनका ही।

मोरि सुधारिहि सो सब भाँती। जासु कृपा नहिं कृपाँ अघाती॥
राम सुस्वामि कुसेवकु मोसो। निज दिसि देखि दयानिधि पोसो॥

मो सम दीन न दीनहित तुम्ह समान रघुबीर।
अस बिचारि रघुबंसमनि हरहु बिषम भव-भीर॥

(९)

ईश्वर-भजन या देश-सेवा

सप्रेम हरिस्मरण! आपका पत्र मिला। मेरी समझ से जो 'मनुष्य केवल ईश्वर-भजन करता है या करनेकी कोशिश करता है और सत्यके आधारपर जीविकाका उपार्जन करता हुआ अपने गृहस्थका पालन करता है वह कम देश-सेवा नहीं करता। देश-सेवाका अर्थ बैज लगाकर घूमना या व्याख्यान देना नहीं है। मनुष्यके समुदायका नाम समाज है और समाजकी समष्टि ही राष्ट्र या देश है। यदि एक भी मनुष्य भजनपरायण और सत्यपर आरूढ़ है तो इसका यह अर्थ है कि देश का एक अङ्ग सुधर गया है। इतना ही नहीं, उसके आदर्शके प्रभावसे बहुत लोगोंके सुधरनेकी आशा है। आपने लिखा कि 'देश-सेवासे भजनमें कुछ-न-कुछ बाधा पड़ जाती है और सत्य तथा अक्रोधमें भी बाधा पड़ती है।' इसका उत्तर यह है कि जिस देश-सेवासे सत्य और अक्रोध मिटता हो एवं असत्य तथा क्रोधको स्थान मिलता हो, वह देश-सेवा कैसी है? जो अपने आचरणसे देश-वासियोंके सम्मुख सत्य और क्षमाका आदर्श उपस्थित करता है, वही तो सच्चा देशसेवक है। और भजनमें बाधा पड़नेवाली बात तो और भी विशेष विचारणीय है। जिनके लिये प्रत्येक कर्म ही भगवत्सेवा बन गया है, जो अपने सहज कर्मसे सदा भगवान्‌की सेवा ही करते हों, उनकी बात दूसरी है। नहीं तो, भजन छूटे—

भगवान्‌से चित्त हटे, ऐसा अच्छे-से-अच्छा कर्म भी वस्तुतः त्याज्य ही है।

सो सुख करम धरम जरि जाऊ। जहँ न राम-पद-पंकज भाऊ॥

मनुष्य-जीवनका मुख्य लक्ष्य ही भगवान्‌की या भगवान्‌के प्रेमकी प्राप्ति है और वह होती है भजनसे। इसलिये भजन ही मानवका प्रधान धर्म है। इस धर्मके सामने अन्य सभी धर्म तुच्छ हैं।

(६)

त्याग-तपस्या ही धर्म है

सादर हरिस्मरण! आपका पत्र मिला। उन बहिनका यह कथन सर्वथा उचित है कि 'उपदेश करना सहज है; परंतु पालन करना कठिन है। सभी स्त्रियाँ पतिव्रता बनना और कहलाना पसंद करती हैं; पर पतिव्रताकी व्याख्या क्या है? सीता, सावित्री, दमयन्ती आदि पतिव्रताकी श्रेणीकी स्त्रियोंसे पूछा जाय कि हमारी स्थितिमें तुम कैसे इस व्रतको रखतीं......।' इसके पश्चात् उन बहिनकी आपने जो परिस्थिति लिखी, वह भी अवश्य विचारणीय है। उनका त्याग, तप, धर्म-पालन, सेवा, संयम सभी सराहनीय है और हिंदू-देवीके सर्वथा योग्य है। हिंदू-स्त्री त्याग और बलिदानकी जीवित प्रतिमा है। स्वार्थी पुरुषोंके साथ उसकी तुलना करना तो उसे उसके गौरवयुक्त पदसे नीचे उतारना है। उक्त बहिन 'पतिके घर और बच्चोंके साथ अपने कर्तव्यका पालन भरसक करती हैं, परंतु तब दुखी हो जाती हैं, जब वह उन व्यक्तियोंसे अवहेलना पाती हैं, जिनके ऊपर उसने अपने पतिके सुखोंको निछावर कर दिया।' सो ऐसी परिस्थितिमें उनको दुःख होना भी अस्वाभाविक नहीं है। त्यागमूर्ति हिंदू-देवियोंके साथ जो लोग दुर्व्यवहार करते हैं, वे बहुत बड़ा अपराध करते हैं और इसका कुफल उनको तथा समाजको भी भोगना पड़ेगा। परंतु हिंदू-देवी तो अपना धर्म देखती है। जन्मसे लेकर मृत्युपर्यन्त उसका प्रत्येक क्षण त्यागके लिये ही है, वह यही करती है और इसीमें उसका गौरव है। अनादिकालसे अबतक उसने बड़े-बड़े कष्टोंका सामना करके अपने इस क्षुरधारा-व्रतको निभाया है। उन बहिनको भी अपने इसी पवित्र व्रतकी ओर देखना चाहिये।

मेरी उन बहिनके साथ हार्दिक सहानुभूति है और मैं चाहता हूँ कि उनको शान्ति प्राप्त हो। यह सत्य है कि उनकी मनोव्यथा कितनी और कैसी है, मैं उसका सच्चा अनुमान भी नहीं कर सकता। इस हालतमें मैं जो कुछ कहूँगा सो उनके कथनानुसार वस्तुतः परिस्थितिके ज्ञानसे रहित केवल परोपदेशमात्र ही होगा। यथार्थ उत्तर तो कोई तपोमूर्ति अनुभूतिसम्पन्न देवी ही दे सकती हैं तथापि जब आपने पूछा है, तब मैं संक्षेपमें अपने विचार निवेदन करता हूँ। श्रीसीताजी, सावित्री और दमयन्ती क्या कहतीं—इसका उत्तर तो वे ही दे सकती हैं; पर पातिव्रतकी व्याख्या तो है—'केवल त्याग और तपस्याकी साधना और इसके साधनमें गौरवकी अनुभूति।' इस साधनामें क्लेश तो भारी-से-भारी आ सकते हैं; परंतु मानसिक दुःख नहीं होता। यह कल्पना या भावना नहीं है, आज भी हजारों-लाखों हिंदू-देवियोंका त्यागमय सन्तोषयुक्त जीवन इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। स्त्री हो या पुरुष, मानव-शरीरका लक्ष्य है—'भगवत्प्राप्ति'। कायिक भोग तो अवस्थानुसार प्रत्येक योनिमें ही प्राप्त होते हैं। पुरुषके लिये भगवत्प्राप्तिके अनेक साधन हैं; पर स्त्रीके लिये तो पातिव्रत ही एक प्रधान साधन है। भगवान्‌की किस प्रकार सर्वार्पण-बुद्धिसे तथा निष्काम प्रेमसे सेवा-भक्ति करनी चाहिये, इसका जीता-जागता आदर्श हिंदू-स्त्रीका पातिव्रतधर्म है। इसीलिये हिंदू-स्त्री अपने पतिको परमेश्वर मानकर सदा सर्वात्मना उसकी सेवा करती है। और इसी भजनके द्वारा वह परमात्माकार-वृत्ति लाभ करके अन्तमें भगवान्‌को पा लेती है। पुरुष यदि स्वार्थवश अपनेको परमेश्वर कहकर स्त्रीसे पुजवाना चाहता है

तो वह बड़ी भूल करता है; परंतु स्त्रीका उसको परमेश्वर मानकर अनन्य भावसे उसका सेवन करना तो उसकी भगवत्प्राप्तिकी पवित्र साधना है। इसी तत्त्वको समझकर उन बहिनको इस साधनामें तत्पर रहना चाहिये और परमेश्वरके मङ्गलविधानसे उनके लिये जैसा जो कुछ बन गया है, उसके लिये तनिक भी पश्चात्ताप न करके अपनी परिस्थितिसे लाभ उठाना चाहिये।

वे जिन सज्जनसे पवित्र निःस्वार्थभावसे मिलती हैं, सो यदि भाव पवित्र रहे तो कोई बुरी बात नहीं है, परंतु यदि कहीं कोई छिपी वासना हो तो कभी इसका परिणाम दूसरे प्रकारका भी हो सकता है। वासना होनेपर, अब भी गहराईसे देखा जाय तो किसी एक अज्ञात विलक्षण आकर्षणके रूपमें उसका पता लग सकता है। पता न भी लगे तब भी वासनाका होना सम्भव है। बहुत बार छिपी वासनाएँ धर्म, कर्तव्य और पवित्र प्रेमका बाना पहनकर प्रकट होती हैं तथा इन पवित्र नामोंपर मनुष्यको गिरानेका मीठा प्रयत्न किया करती हैं। इसलिये सावधान रहना चाहिये और जहाँ-तक बने, अपने मनको भगवान्‌की मङ्गलमयी लीला-कथाओंके स्मरण-चिन्तनमें लगाना चाहिये। यों भगवान्‌के नाते प्रेम तो प्राणीमात्रके साथ करना चाहिये और जो अपने हितैषी हों, अपने साथ सहानुभूति रखते हों, उनके प्रति तो प्रेम होना स्वाभाविक ही है। पर देखना यही है कि उस प्रेममें कहीं कोई आसक्ति तो नहीं है। अवश्य ही उसे ढूँढ़नेकी चेष्टा नहीं करनी चाहिये और ऐसा मान लेना ही चाहिये कि कहीं-न-कहीं मेरे मनमें आसक्ति है, जो मुझे भगवत्प्राप्तिकी साधनासे हटा सकती है। आसक्तिके ढूँढ़नेके प्रयत्नमें या उनको भुलानेकी चेष्टामें तो सम्भव है, उनका चिन्तन और भी बढ़ जाय। प्रायः ऐसा हुआ करता है। अतएव ऐसा न करके जीवनका प्रधान लक्ष्य समझकर श्रीभगवान्‌में ही चित्त लगानेका प्रयत्न करना चाहिये। भगवत्-चरित्रोंके पठन, गीताके अभ्यास और भगवन्नामके जापसे इसमें बड़ी सहायता मिल सकती है। जीवनभर दुःखका भा[र] सहनेपर भी यदि भगवान्‌में मन लग गया तो जीवनको सार्थक समझना चाहिये।

इन पंक्तियोंसे उन बहिनको यदि कोई रास्ता मिले तो मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी।

(७)

विपत्ति-नाशका उपाय

सादर हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। आपने अप[ने] पतिकी जो स्थिति लिखी, वह शोचनीय है। मोहग्र[स्त] मनुष्य इसी प्रकार अधर्मको धर्म बतलाया करते हैं औ[र] उसमें साथ न देनेवालोंको कोसा करते हैं। उनकी य[ह] स्थिति दयनीय है! उनपर जो मलिन वासनाका भू[त] सवार है, उसने उनके विवेकको हर लिया है। इ[स] अवस्थामें आपको दुःख होना स्वाभाविक ही है; प[रंतु] मेरी समझसे आपकी साधनासे यह रोग मिट सकता है। आप लिखती हैं 'मेरा कोई भी नहीं है' सो ऐसी ब[ात] नहीं है। आप निश्चय मानिये—'भगवान् आपके हैं और जो यह अनुभव करता है कि जगत्‌में मेरा कोई नहीं है, उसके तो भगवान् अवश्य ही अपने हो जा[ते] हैं। आप इस बातपर विश्वास कीजिये। और मन-ही-मन उन्हें सारी स्थिति समझाकर उनसे प्रार्थना कीजिये—अपने स्वामीकी बुद्धि शुद्ध करके उन्हें सत्पथपर ला[इ]ये। आपकी सच्ची कातर प्रार्थनाका फल अवश्य होगा। भगवान् सुनेंगे और आपके मार्गभ्रष्ट स्वामी सन्मार्ग[पर] अवश्य आ जायँगे। समय हो तो श्रीरामचरितमानसका नवाह्न या कम समय हो तो मासिक पारायण कीजिये। कहींसे गीताप्रेसमें छपी कोई रामायणकी प्रति खरीद लीजिये, उसमें नवाह्न और मासिक पारायणके दैनिक विश्राम-स्थल आपको मिल जायँगे। प्रतिदिन यह भावना कीजिये कि भगवान् मेरी प्रार्थना सुन रहे हैं और उनकी कृपासे मेरे स्वामीकी बुद्धि ठीक हो रही है

साथ ही अपने पतिकी बातोंका उनके मुखपर कभी खण्डन न करके उनकी यथासाध्य तन-मनसे विशेष सेवा कीजिये। इससे भी उनपर प्रभाव पड़ेगा जो उनको सन्मार्गपर लानेमें बहुत सहायक होगा। इसके अतिरिक्त प्रतिदिन—

'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे,
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।'

—इस सोलह नामोंके मन्त्रकी कम-से-कम एक माला (१०८) जप विश्वासपूर्वक अवश्य कीजिये। देखिये चार-छः महीनोंमें क्या परिणाम होता है।

रक्तसङ्करसे बचाव ही वर्ण-जातिसङ्करताको हानिकर ही सिद्ध करता है

(लेखक—श्रीअङ्गारजी)

'जानबुल' नामक पत्रमें डाक्टर हार्वे ग्रेहेमका एक सुन्दर लेख प्रकाशित हुआ है। उसमें उन्होंने रेक्सहेमके एडवर्ड जोंसकी एक सद्योजात कन्याके सम्बन्धमें लिखा है कि 'उसके शरीरसे सारा रक्त निकाल (खींच) और दूसरेका रक्त भरकर किस तरह उसे जिलाया। जोंस और उसकी स्त्री मार्गरेट दोनों ही सशक्त, नीरोग और एक दूसरेके अनुरूप दिखायी पड़ते हैं। किंतु इस आभासिक समताके भीतर उनके रक्तों-की विषमता छिपी हुई है। उस दम्पतिके होनेवाले बच्चे गर्भमें ही मर जाते थे। कभी असमयमें ही गर्भ-पात हो जाता या कभी बच्चा जनमा भी, तो दस दिनोंके भीतर ही मर जाता था। कारणके जाँच करने-पर दीख पड़ा कि माताकी रक्तपेशियाँ बच्चोंकी लाल रक्त-पेशीको नष्ट कर डालती थीं। पति-पत्नीका रक्त यदि परस्पर अनुकूल न हुआ तो मा-बाप भले ही ऊपरसे नीरोग, स्वस्थ प्रतीत हों, फिर भी उनके सन्तान पैदा नहीं होंगी या होकर मर जायँगी।

डाक्टर लेडस्टीन और डाक्टर अलेक्जेंडरने इस रक्तका विशेष अभ्यास किया है। बंदरके रक्तको चूहे-के शरीरमें प्रविष्टकर उसकी क्या और कैसी प्रतिक्रिया होती है, यह उन्होंने प्रयोग करके देखा है। इस तरह अनेक प्रयोग करनेपर उन्हें विभिन्न रक्तोंमें भिन्न-भिन्न जातियाँ दिखायी पड़ीं। पहले उनकी भी यही धारणा थी कि रक्तमें केवल चार ही वर्ग होते हैं, किंतु अब वे छत्तीस तक पहुँच गये हैं। उन्होंने कौन रक्त परस्परको अनुकूल और कौन प्रतिकूल है, इसकी भी सूची बना ली है। उन्होंने एक शास्त्र भी बनाया, जो माता-पिता और सन्तानकी रक्त-परीक्षाके बाद यह निश्चित करता है कि 'इसका पिता कौन है?' कई प्रगतिशील देशोंकी अदालतोंने भी इस शास्त्रके अनुसार होनेवाले निर्णयको मान्यता प्रदान की है। उनका मत है कि गोरे अंगरेज, चीनी, निग्रो आदिके रक्त एक दूसरेसे भिन्न हैं। उनमें होनेवाले विशिष्ट सङ्घोंका अनुपात भी उन्होंने भिन्न-भिन्न सिद्ध किया है। उस लड़कीके विषयमें भी विरुद्ध (प्रतिकूल) रक्तको निकाल उसमें अनुकूल रक्त सञ्चारित कर देनेसे वह जी उठी। अमेरिकन अदालतका एक ताजा निर्णय है कि उसने एक गोरे अंगरेजको इसलिये पाँच वर्षकी सजा दी कि उसने अष्टमांशसे भी अधिक निग्रो रक्तवाली एक महिलाके साथ विवाह किया था।

इस तरह अमेरिकन वैज्ञानिकोंका रक्तसङ्करसे बचाव क्या वर्ण-जाति-साङ्कर्यसे भी उनकी घृणा सिद्ध नहीं करता, जिसे कार्यान्वित करनेमें हम भारतीय आज प्रगतिशीलताका अनुभव करते हैं! (सिद्धान्त)

होलीका आध्यात्मिक महत्त्व

(लेखक—श्रीरामचन्द्रजी गौड़ एम्० ए०, बी० टी०, विज्ञानरत्न)

भारतीय त्यौहार अनेकों विशेषताओंके संग्रह हैं। वे अपनी धार्मिक कायामें विज्ञान तथा स्वास्थ्यप्रद सिद्धान्तोंको अपनाये हुए हैं। वे मानव-जातिकी मानसिक अवस्थाओंके सामयिक चिह्न हैं। वे उन्हें अध्यात्ममार्गपर अग्रसर करनेके लिये वार्षिक चेतावनी हैं। वे ऋतु-परिवर्तनके सूचक हैं। होलीका त्यौहार भी इसी प्रकारके गुणोंसे सम्पन्न है। उसके महत्त्वका प्रतिपादन करना ही हमारे लेखका हेतु है।

सामयिक महत्त्व होलीकी विशेषता है। वह शरद्-ऋतुकी विदा है और ग्रीष्मका स्वागत। वह वसन्तके उल्लासकी सर्वोत्कृष्ट श्रेणी है। भारतीय कृषिकी सफलतामें उसके कृषकोंके अमृतसे परिपूर्ण आनन्दकी अपूर्व छटा है। उसके हृदयसागरकी प्रसन्नतारूपी हिलोर है। खेतीकी हरीतिमा तथा श्रेष्ठ अन्नकी प्राप्तिमें कृषकके हृदयकी वह फुलझड़ी है, उसके आनन्दका मतवालापन है, दीवानापन है। वह ईश्वरीय दयाकी अपूर्व कृतज्ञता है। वह भारतके भावी सुकालकी घोषणा है।

होली भारतीयताकी झनकार है। वह आत्मपरिचयका संकेत है। वह संसारको राखके समान निःसार घोषित करनेका भारतीय निर्णय है। वह अग्निके रूपमें मानव-संसारके लिये इन्धनवत् अपने दुर्गुणोंको नष्ट करनेका आदेश है। उसकी सच्चिदानन्दकी अविरल प्रतिज्ञा है। वह बीजरूपमें मानव-संसारको यह बता रही है कि संसार दुःखसे परिपूर्ण है। मनुष्य बीजके समान आवागमनके चक्करमें पड़कर अनन्त दुःखका भागी होता है। बीज एक बार भुन जानेपर फिर नहीं उगता। अतएव होली भारतवासियोंको यह आदेश कर रही है कि प्रत्येक भारतवासीका यह कर्तव्य है कि वह ज्ञानानलमें अपने शरीरभावको नष्ट कर दे। वह व्यक्तिगत सुखकी खोजसे मुँह मोड़कर समाज तथा राष्ट्रगत सुखकी व्यवस्थामें अनन्त दुःखोंको सहर्ष अपनानेकी दृढ़ प्रतिज्ञा करे। प्रत्येक जातिमें, प्रत्येक मनुष्यमें अपने ही ईश्वरका दर्शन करे। उनकी तृप्तिको अपना सुख समझे। उनके दुःखको अपना दुःख माने। उनके कष्टको अपना ही कष्ट माने। होली स्वार्थ-साधनकी संक्षिप्त सीमा है। वह विश्वकल्याणके रूपमें सनातनधर्मकी जननी है और त्याग उसकी आत्मा।

होली सामाजिक सुधारमें अपना निरालापन लिये हु[ए] है। इस शरीरकी सुन्दरता श्मशानकी राखके अतिरि[क्त] कुछ नहीं है। जिस प्रकार होलीकी लकड़ियाँ जलकर रा[ख] हो जाती हैं उसी प्रकार मानव-संसारका पाशविक बल, उस[का] अत्याचार तथा उसके द्वारा निर्मित हत्याकाण्डोंकी ग[ति] अनिश्चित है, क्षणभङ्गुर है, स्वप्नवत् विनाशी है। रावण जैसे अत्याचारी तथा बलवान् शासकको कालकी करालता[के] समक्ष नतमस्तक होना पड़ा। सिकंदर-जैसे दिग्विजयी सम्राट् धूल सदाके लिये लुप्त हो गयी। औरंगजेबकी कट्टरता आ[ज] धूलके कणोंमें मिलकर वायुके झकोरोंके साथ तृणवत् उड़[ती] फिरती है। अतः होली मानव-समाजकी अपूर्णताकी झनक[ार] है। वह समस्त संसारको संचालन करनेवाली शक्तिकी कीर्[ति] पताका है। वह मानव-संसारकी तृणवत् शक्तिके लिये वायु[का] प्रबल झोंका है। वह उसकी स्वार्थपूर्ण ममताके लि[ये] कुठाराघात है। उसके त्यागकी वृत्ति है।

वह प्रेमका संदेश है। वह वर्षभरके राग-द्वेष त[था] शत्रुताका अन्त है। वह भूतकालकी विस्मृति है। वर्तमा[न] तथा भविष्यत्कालकी वह प्रेमपूर्ण लालिमा है, जिस[के] दर्शनसे मनुष्य लाल हो जाता है। मनुष्य इस लालीको अ[बीर] और गुलालद्वारा प्रकट करता है और समस्त संसारको ला[ल] बनानेमें मतवाला हो जाता है। यही होलीकी लाल लपटों[का] संदेश है। होली व्यक्तिगत पराधीनता तथा दोषोंका अन्त है। वह मानवता तथा ईश्वरीय वृत्तियोंका संचार है। [वह] देवत्वका अवतार है। वह संसारका कल्याण है। वह स[च्चे] मानव-हृदयकी सृष्टि है। वह वैभव, ऐश्वर्य, सांसारि[क] संपत्ति तथा क्षणिक द्वन्द्वोंका विनाश है।

'होली' शब्द अर्थमें बड़ा ही अनूठा है। 'हो ली, हो [ली] हो चुकी, आगेकी सुधि लेय' उसका चमत्कारपूर्ण सं[केत] है। वह बड़े-से-बड़े पापीको ईश्वरकी ओर आकर्[षित] करनेवाला सच्चा प्रोत्साहन है। उसकी दानवताको विल[ीन] करके मानवताको प्रदान करनेवाली महान् शक्ति है। [वह] दीनबन्धुकी दयाका अपार सागर है। वह पतितपावनद्वारा [की] हुई पतितोद्धारकी दृढ़ प्रतिज्ञा है। कर्तव्यपथपर आ[रूढ़] नवयुवकोंको लपटोंके द्वारा असीमित साहसका प्रोत्साहन है।

होली शक्तिका संचार है। ग्रीष्मऋतुरूपी अत[्या]चारियोंकी भयङ्कर कृतियोंका पूर्वचिह्न है। उनसे लो[...]

लेनेका अपूर्व संकेत है। संसारमें बलवानोंका आदर है। वह धन, ऐश्वर्य, स्वाद, सांसारिक सम्मान तथा अपने-परायेके आधारपर उत्पन्न होनेवाले मोहकी तुच्छता है। वह ईश्वरीय वस्तुओंका अपार मूल्य है। इन वस्तुओंमें दूध विशेष स्थान रखता है। यही कारण है कि गोबरद्वारा बने हुए बड़गुलेंकी संख्यासे गोधनका अनुमान किया जाता था। गोधन ही भारतकी आदर्श संपत्ति थी। और होली गोधनको सम्मान देनेवाला त्यौहार। अतः होली गोपालनका ईश्वरीय आदेश है। वह भारतीय गोपालनका व्यक्तिगत कर्तव्य है। उसका विनाश हमारा विनाश है। उसकी रक्षा हमारी रक्षा है।

होलीमें ऐतिहासिक वैचित्र्य है। वह प्रह्लादके रूपमें ईश्वरीय तत्त्वकी ज्वलन्त अग्निशिखा है। वह 'होलिका' के मिस सांसारिकताकी पराजय है। होलीके मतवालेपनमें सद्वृत्तियोंकी विजयकी मादकता है। उसमें प्रेमकी तन्मयता है। होली रूठे हुओंको मनानेकी अनोखी कला है। वह उजड़े हुए हृदयोंमें सरसताका संचार है। वह मृत हृदयोंको जीवन प्रदान करनेवाली शक्ति है। वह भग्न हृदयोंको जोड़नेवाला सीमेंट है। वह दूर-दूर रहनेवाले हृदयोंको आकर्षित करनेवाला चुम्बक है। वह उन्हें शुद्ध करनेवाला पारस पत्थर है। वह मोह तथा अश्लीलतासे सर्वथा परे | वह गुप्त व्यभिचार तथा इन्द्रियलोलुपतासे नितान्त भिन्न है। वह शुद्ध देवत्वकी अपूर्व घोषणा है।

होली भारतीयोंकी भारतीयता है। उनके प्रेमकी देवी है। वह भारतीयोंके लिये जीवनकी धारा है। वह त्याग तथा बलिदानकी अपूर्व वेदी है। वह शक्तिका संचार है। वह गोपालनका भारतीय व्यक्तिगत कर्तव्य है। वह भारतीय हृदयोंमें धधकती हुई होलीके फफोलोंकी उपयुक्त मरहम है। वह भारतीयोंका सर्वस्व है, उनका प्राण है। उनकी अपूर्व संपत्ति है। उनके गौरवकी पताका है और उनके गुरुत्वका अमिट चिह्न है।

पाप मेरे

(रचयिता—श्रीव्रजलालजी वर्मा एम्० ए०)

नाच ले जी भर अरे ओ पाप मेरे !!
सोचता था मैं तुझे यों खेलहीमें जीत लूँगा;
और जीवनमें न तुझसे फिर कभी भयभीत हूँगा;
किंतु तूने कर दिया अभियान क्यों इतने सवेरे ?
नाच ले जी भर अरे ओ पाप मेरे !!
वासनाओंसे रहा आपूर्ण यह भण्डार मेरा;
शान्त बेला थी कि तूने आ अचानक आज घेरा;
हँस, खुले हँस, इस पराजितपर अरे अभिशाप मेरे।
नाच ले जी भर अरे ओ पाप मेरे !!
ज्ञानकी शुभ वर्तिका ले दम्भका दीपक जलाया;
जल सकी वह वर्तिका जबतक, निरा यश-कीर्ति पाया;
बुझ गई, तब आज कर अठखेलियाँ संताप मेरे।
नाच ले जी भर अरे ओ पाप मेरे !!
हो गई यद्यपि पराजय पर न वह स्वीकार मुझको;
पाप, छल, पाखण्ड इसका मिलेगा प्रतिकार तुझको;
हार मानूँगा न, जबतक साथ पश्चात्ताप मेरे।
नाच ले जी भर अरे ओ पाप मेरे !!

श्रीरामचरितमानसका तापस-प्रसङ्ग

(ले०—श्रीज्ञानवतीजी त्रिवेदी)

'श्रीरामचरितमानस' का तापस-प्रसङ्ग बहुत दिनोंसे विद्वानोंमें विवादका विषय बना हुआ है। सभी लोग उस तपस्वीका परिचय प्राप्त करनेका प्रयत्न करते तथा उसे अनेक रूपोंमें देखते रहे हैं। इस तापस-प्रकरणमें उलझनकी अनेक बातें हैं, जिनका सन्तोषप्रद समाधान न मिलनेके कारण कतिपय विद्वानोंने इसको प्रक्षिप्ततक ठहरा दिया है। इनमेंसे मुख्यका उल्लेख श्रीविजयानन्द-जी त्रिपाठीने स्वसम्पादित 'श्रीरामचरितमानस' में इस प्रकार किया है—

(१) तीरवासियोंकी बातचीतमें अकस्मात् तापस-का आ पड़ना, ग्रन्थ-कर्ताका अपनी परिपाटीके विरुद्ध उस वार्ताको अधूरी छोड़कर तापसका मिलन वर्णन करने लगना, तत्पश्चात् उसकी विदाई बिना किये ही उक्त वार्ताका शेष अंश कहने लगना।

(२) तापसको श्रीसीताजीका आशीर्वाद देना।

(३) उसकी विदाई कहीं भी न कहना और रामायणभरमें उसका उल्लेख फिर कहीं न आना—ये सभी बातें असमञ्जस हैं।

(४) अयोध्याकाण्डभरमें यह नियम है कि २४ दोहेके बाद पचीसवें दोहेके स्थानपर एक छन्द और एक सोरठा रहता है। यह क्रम इन चार चौपाइयों और एक दोहेके बढ़ जानेसे बिगड़ जाता है और छब्बीसवें दोहेके स्थानपर छन्द और सोरठा आ पड़ते हैं।

(५) बाबू रामदासजी गौड़के मतसे यह प्रसङ्ग ५१०० चौपाइयोंके बाहर जा पड़ता है।

उपर्युक्त कारणोंमेंसे अन्तिम दोका परिहार तो सरलतापूर्वक हो जाता है। शेष तीनका निराकरण भी अनेक तर्कोंद्वारा किया ही जाता है; परंतु सच पूछिये तो बात यह है कि अभीतक अपने ढंगका यह एक ही प्रकरण लोगोंकी दृष्टिमें आया है। यदि उनकी रचनाओं में उनको अन्यत्र भी कहीं ऐसे ही प्रकरण दिखला देते तो कदाचित् इस प्रसङ्गको लेकर इतनी ऊहापोह न होती। प्रतीत होता है कि गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी की रचनाओंमें इस कोटिका अन्य प्रसङ्ग खोजनेका प्रय भी अभीतक नहीं किया गया है।

अस्तु, हमारा कहना है कि सामान्य रूपसे कि प्रसङ्गका वर्णन करते-करते किसी एक व्यक्ति विशेषरूपसे वर्णन करनेकी यह प्रवृत्ति गोस्वा श्रीतुलसीदासजीमें अन्यत्र भी देखी जा सकती है इतना ही नहीं, कई अवसरोंपर एक विशेष व्यक्ति उल्लेख भी मिलता है और जो मिलता है सदा भगव श्रीरामके ही सम्बन्धमें। अतः श्रीतुलसीदासजीकी इ प्रवृत्तिका निरीक्षण करनेके लिये सर्वप्रथम 'पुष् वाटिकाप्रसङ्ग' को लेना चाहिये।

धनुष-यज्ञके एक दिन पूर्व माताकी आज्ञासे श्रीसीत जी सभी सखियोंके साथ गिरिजा-पूजनके लिये जा हैं। गिरिजाकी पूजा समाप्त होती है कि—

एक सखी सिय संगु बिहाई। गई रही देखन फुलवाई

—का प्रसङ्ग सामने आता है।

शङ्का होती है कि आजका अवसर ऐसा तो न कि कोई सखी इसी समय श्रीसीताजीका साथ छोड़ फुलवाड़ी देखने चली जाय।

समाधानके लिये तर्क उपस्थित किया जा सकता कि कथानककी दृष्टिसे यह योजना की गयी है। रा कुमारोंका पता इसी सखीके जानेसे तो मिलता है यदि श्रीतुलसीदासजी पूजनके उपरान्त सभीको उ मार्गसे ले जाते तो सबको एक साथ भगव श्रीरामके दर्शन तो अवश्य हो जाते, परंतु सखियों

मनोहर हास-परिहासके लिये अवसर कहाँ मिलता और श्रीसीताजीकी प्रीति पुरातन तथा पूर्व-रागकी मनोरम झाँकी कैसे प्राप्त होती ?

ठीक है, किंतु इस सखीमें कुछ और विशेषता भी तो दिखायी देती है। भगवान् श्रीरामके दर्शन सभी सखियाँ करती हैं और लता-भवनसे प्रकट होते ही—

देखि भानुकुलभूषनहि बिसरा सखिन्ह अपान।

इस प्रकार उस अलौकिक रूपको देखकर उन्हें कुछ कालके लिये शरीरकी सुध-बुध भी नहीं रह जाती; किंतु इन्हीं राजकुमारोंके दर्शनके उपरान्त उस सखीकी जो मनोदशा होती है, वह इन सबसे विलक्षण है—

तेहिं दोउ बंधु बिलोके जाई। प्रेम बिबस सीता पहिं आई॥
तासु दसा देखी सखिन्ह पुलक गात जल नैन।
कहु कारनु निज हरष कर पूछहिं सब मृदु बैन॥
देखन बागु कुअँर दुइ आए। बय किसोर सब भाँति सुहाए॥
स्याम गौर किमि कहौं बखानी। गिरा अनयन नयन बिनु बानी॥

कहनेकी आवश्यकता नहीं कि यहाँ यह प्रत्यक्ष हो जाता है कि यह 'प्रेम-बिबसता' और असीम हर्षकी दशा अन्य सखियोंमें नहीं है। वे अलौकिक रूप-लावण्यको देखकर देखती ही रह जाती हैं और इसके हृदयमें प्रेमका सञ्चार होता और अपार हर्ष छा जाता है।

एक बात और है। श्रीसीताजी इसी सखीको आगे करके चलती हैं और यह राजकुमारोंके समीप सभीको पहुँचा देती है; परंतु श्रीतुलसीदासजी इस सखीको यहीं छोड़ देते हैं। आगे चलकर सामान्यरूपसे सभी सखियोंका उल्लेख हम बराबर पाते हैं; किंतु इस विशेषके सम्बन्धमें कवि हमें फिर कुछ भी नहीं बतलाते।

अस्तु, इस मण्डलीको यहीं छोड़िये और देखिये यह कि जब इन दोनों राजकुमारोंके साथ राजदुलारी श्रीसीताजी भी मिल जाती हैं और तीनों पथिकोंके रूपमें चलते हैं, तब इनका 'सब भाँति मनोहर मोहन रूप' ग्राम-वधुओंपर कैसी मोहनी डालता है। इस प्रसङ्गको पहले 'कवितावली' में देखना ठीक होगा। कारण यह कि यद्यपि 'कवितावली' मुक्तक रचना है, तथापि इस प्रसङ्गका वर्णन वहाँ क्रमबद्ध मिलता है। उसके पहले ही छन्दका दृश्य है। कोई सखी कह रही है—

बनिता बनी स्यामल गौर के बीच,
बिलोकहु, री सखि! मोहि-सी ह्वै।
मग जोगु न कोमल, क्यों चलिहै
सकुचाति मही पदपंकज छ्वै॥

इसका परिणाम यह होता है—

तुलसी सुनि ग्रामबधू बिथकीं,
पुलकीं तन, औ चले लोचन च्वै।
सब भाँति मनोहर मोहनरूप
अनूप हैं भूपके बालक द्वै॥

इस प्रसङ्गमें हम देखते यही हैं कि यद्यपि आगे चलकर सखियाँ एक दूसरेको सम्बोधन कर परस्पर वार्तालाप करती हैं, तथापि 'साँवरे-गोरे' पथिकोंको देखनेका अनुरोध करती हुई एक विशेष सखी ही लक्षित होती है, जो अनुरोध भी यही करती है—

'बिलोकहु, री सखि ! मोहि-सी ह्वै।'

सब उसके आदेशानुसार देखती हैं और अन्ततः लालसा ऐसी प्रबल हो उठती है कि उनके चले जानेपर भी—

धरि धीर कहैं, चलु, देखिअ जाइ,
जहाँ सजनी ! रजनी रहिहैं।
कहिहै जगु पोच, न सोचु कछू,
फलु लोचन आपन तौ लहिहैं॥
सुखु पाइहैं कान सुनें बतियाँ
कल, आपुसमें कछु पै कहिहैं।
तुलसी अति प्रेम लगीं पलकैं,
पुलकीं लखि रामु हिये महँ हैं॥

कौन कह सकता है कि इनके इस असीम आनन्दका श्रेय उस सखीको नहीं है जिसने 'बिलोकहु, री सखि ! मोहि-सी ह्वै' का अनुरोध किया था ?

इन्हें इसी 'अति-प्रेम' की दशामें मग्न रहने दें और

देखें यह कि 'गीतावली' में ग्राम-वधुओंकी क्या स्थिति है। सो यहाँ भी कोई एक सखी किसी दूसरीसे कहने लगती है—

तू देखि देखि री ! पथिक परम सुंदर दोऊ।
मरकत-कलधौत-बरन, काम-कोटि-कांतिहरन,
चरन-कमल कोमल अति, राजकुँवर कोऊ॥
कर सर-धनु, कटि निषंग, मुनिपट सोहैं सुभग अंग,
संग चंद्रबदनि बधू, सुंदरि सुठि सोऊ।
तापस बर बेष किए सोभा सब लूटि लिए,
चितके चोर, बय किसोर, लोचन भरि जोऊ॥
दिनकर-कुलमनि निहारि प्रेम-मगन ग्राम-नारि,
परसपर कहैं, सखि अनुराग ताग पोऊ॥

इन सभीमें जो हमें सबसे अधिक आकृष्ट करती है उसका कथन है—

कुँवर साँवरो, री सजनी ! सुंदर सब अंग।
रोम रोम छबि निहारि आलि वारि-फेरि डारि,
कोटि भानु-सुवन सरद-सोम, कोटि अनंग॥
बाम अंग लसत चाप, मौलि मंजु जटा-कलाप,
सुचि सर कर, मुनिपट कटि-तट कसे निषंग।
आयत उर-बाहु-नैन, मुख-सुखमाको लहै न,
उपमा अवलोकि लोक, गिरामति-गति भंग॥

और इस पथिककी यह छबि देखकर—

यों कहि भईं मगन बाल, बिथकीं सुनि जुवति-जाल,
चितवत चले जात संग मधुप-मृग-बिहंग।
बरनौं किमि तिनकी दसहि, निगम-अगम प्रेम-रसहि,
तुलसी मन-बसन रँगे रुचिर रूपरंग॥

इसके आधारपर हम इतना तो कह ही सकते हैं कि इस प्रसङ्गमें भी किसी एकपर गोस्वामीजीकी विशेष दृष्टि है। यहाँतक कि वह आह्लादके साथ कहने लगती है—

देखु, कोऊ परमसुंदर सखि ! बटोही।
चलत महि मृदु चरन अरुन-बारिज-बरन,
भूपसुत रूपनिधि निरखि हौं मोही॥
अमल मरकत स्याम, सील-सुखमा-धाम,
गौरतनु सुभग सोभा सुमुखि जोही।
जुगल बिच नारि सुकुमारि सुठि सुंदरी,
इंदिरा इंदु-हरि मध्य जनु सोही॥

करनि बर धनु तीर, रुचिर कटि तूनीर,
धीर, सुर-सुखद, मरदन अवनि-द्रो[illegible]
अंबुजायत नयन, बदन-छबि बहु मयन,
चारु चितवनि चतुर लेति चित पो[illegible]

उसके इस आग्रहका प्रभाव सखियोंपर क्या [illegible] है यह तो प्रकट नहीं हो पाता, किंतु श्रीरामके का[illegible] यह वाणी पड़ते ही—

बचन प्रिय सुनि श्रवन राम करुनाभवन,
चितए सब अधिक हित सहित कछु ओ[illegible]

और श्रीरामकी इस हित-चितवनके फलस्वरूप-

दास तुलसी नेह-बिबस बिसरी देह,
जान नहि आपु तेहि काल धौं को ही[illegible]

और अगले पदमें इसीका परिचय श्रीतुलसीदा[illegible] इस प्रकार देते हैं—

सखि ! नीके कै निरखि, कोऊ सुठि सुंदर बटो[illegible]
मधुर मूरति मदनमोहन जोहन-जोग,
बदन सोभासदन देखि हौं मो[illegible]
साँवरे-गोरे किसोर, सुर-मुनि-चित्त-चोर,
उभय-अंतर एक नारि सो[illegible]
मनहु बारिद-बिधु बीच ललित अति,
राजति तड़ित निज सहज बिछो[illegible]
उर धीरजहि धरि, जनम सफल करि,
सुनहि सुमुखि ! जनि विकल हो[illegible]
को जानै, कौने सुकृत लह्यौ है लोचन-लाहु,
ताहि तैं बारहि बार कहत तो[illegible]
सखिहिं सुसिख दई, प्रेम-मगन भई,
सुरति बिसरि गई आपनी ओ[illegible]
तुलसी रही है ठाढ़ी पाहन गढ़ी-सी काढ़ी,
कौन जानै कहाँतें आई, कौनकी, को [illegible]

इस सखीका जो परिचय प्राप्त होता है वह [illegible] न कि न जाने यह किसकी, कौन है और कहाँसे [illegible] है। इस अवसरपर हमें यह स्मरण रखना चाहिये [illegible] बहुत कुछ ऐसा ही परिचय हमारे चिर-परिचित '[illegible] चरितमानस' के तापसका भी है। तो भी अभी दे[illegible] हमें यह रह गया कि इस अवस्थामें इस सखीको [illegible] क्या होता है ?

माई ! मनके मोहन जोहन-जोग जोही ।
थोरी ही बयस गोरे-साँवरे सलोने लोने,
लोयन ललित, बिधुबदन बटोही ॥
सिरनि जटा-मुकुट मंजुल सुमनजुत,
तैसिये लसित नव पल्लव खोही ।
किये मुनि बेष-बीर धरे धनु-तून-तीर,
सोहैं मग, को हैं, लखि परै न मोही ॥
सोभाको साँचो सँवारि रूप जातरूप,
ढारि नारि बिरची बिरंचि संग सोही ।
राजत रुचिर तनु सुंदर श्रमके कन,
चाहे चकचौंधी लागै कहौं का तोही ?
सनेह-सिथिल सुनि बचन सकल सिया,
चितई अधिक हित सहित ओही ।
तुलसी मनहु प्रभु-कृपाकी मूरति फिरि,
हेरि कै हरषि हिये लियो है पोही ॥

पहले रामकी 'अधिक हित सहित' चितवन उसपर पड़ चुकी है । अब श्रीसीताजी भी उसकी ओर 'अधिक हित सहित' देखती हैं । सच कहें तो श्रीसीताजीकी यह स्नेह-दृष्टि भगवान् श्रीरामकी कृपा-दृष्टि ही है । श्रीसीताजीका उसकी ओर स्नेहसे देखना क्या है, भगवान् श्रीरामकी कृपाका ही हर्षसे उल्लसित हो उसे अपने हृदयमें स्थान दे देना है । बस, सखीको प्रेमका प्रसाद प्राप्त हो गया । इस प्रसादको प्राप्तकर उसकी जो दशा हुई, उसका उल्लेख ऊपर हो चुका है । श्रीगोस्वामीजी इसे भी उसी दशामें छोड़ देते हैं । इसके उपरान्त वह किस प्रकार बिदा हुई, किस ओर गयी अथवा उसका क्या हुआ इससे हम अनभिज्ञ ही रह जाते हैं । आगे चलकर हमें सभी सखियाँ पथिकोंके रूपपर मुग्ध होती हुई और परस्पर वार्तालाप करती हुई मिलती हैं और समीपर समान रूपसे कृपा करते हुए भगवान् श्रीरामके दर्शन भी प्राप्त होते हैं; परंतु फिर कभी यह एक सखी किसी रूपमें हमारे सामने प्रकट नहीं होती । कारण क्या है ?

हाँ, ठीक यही दशा 'मानस' में एक तापसकी भी है । इनमेंसे हमें परिचय किसीका भी नहीं मिलता है । इसकी 'विदाई' भी बहुत कुछ उस तापसकी भाँति ही है अर्थात् विदा होनेका कोई उल्लेख ही नहीं है । तापस जिस दशामें स्थित रह जाता है, वह है—

पिअत नयन पुट रूप पियूषा ।
मुदित सुअसन पाइ जिमि भूखा ॥

और सखीकी स्थिति है—

तुलसी रही है ठाढ़ी पाहन गढ़ी-सी काढ़ी

तापसको प्राप्त यह होता है कि श्रीराम उसे हृदयसे लगा लेते हैं और श्रीसीताजी भी आशीर्वाद देती हैं, परंतु 'सखी' को श्रीरामकी 'अधिक हित सहित चितवन' ही प्राप्त होती है और श्रीसीताजीकी प्रेम-दृष्टिके रूपमें श्रीरामकी कृपा भी; किंतु इस विभेदपर विचार करते हुए भूलिये नहीं कि एक पुरुष है तो दूसरी स्त्री । अतएव निष्कर्ष यह निकला कि 'एक सखी'का यह प्रसङ्ग भी वास्तवमें 'एक तापस' प्रसङ्गकी ही कोटिका है, और इस प्रसङ्गसे यह भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है कि श्रीगोस्वामीजीने उक्त प्रसङ्गकी योजना किसी विशेष दृष्टिसे ही की है । अतः उसको क्षेपक मानना ठीक नहीं ।

मधुर स्मृति

(१)

प्रभातकी सुमधुर वेलामें वंशीकी तान सुन, मैं अपनेको सँभाल नहीं पाती । मेरे हृदयके तार एक साथ झनझना उठते हैं; और उस झङ्कारमें झङ्कृत हो उठती है, तेरी सोई हुई मधुर स्मृति ।

(२)

दूर, बहुत दूर तक फैले हुए मकईके खेत; और ऊपर—बहुत ऊपर विस्तृत नील गगन—अनन्तका एक सगुण चित्र ! यह विराट्‌रूप देख मेरे शरीरके बन्धन शिथिल हो गये, और मैं तब अनन्तमें घुलमिल गयी। उस खो जानेहीमें पहले-पहल मैं अपनेको खोज पायी । —शान्ति गुर्ई

संस्कृति और धर्मका घातक हिंदू-कोड-बिल

'हिंदू-कोड-बिल'से 'कल्याण'के पाठक परिचित हैं। देशके महान् गण्यमान्य आचार्यों, विद्वानों, न्यायाधीशों, न्याय-व्यवसायियों, विशिष्ट महिलाओं और लाखों-करोड़ों हिंदू नर-नारियोंके विरोध करनेपर भी कानून-मन्त्री डा० अम्बेदकर महोदयने बिलको कानूनका रूप देनेके लिये धारा-सभामें उपस्थित कर दिया है! सच्ची बात तो यह है कि इन धारासभाओंको वस्तुतः किसी भी धार्मिक विषयपर कानून बनानेका अधिकार ही नहीं है; क्योंकि इनमें मतदाता और मत-गृहीता किसीके लिये भी धार्मिक ज्ञान रखना आवश्यक नहीं है और जब धार्मिक ज्ञान ही नहीं है, तब धर्मके सम्बन्धमें विचार करनेका अधिकार कैसे हो सकता है? दूसरे, इसी धारासभामें 'मूलभूत सिद्धान्त'के रूपमें यह स्वीकृत हो चुका है कि 'किसीके भी धर्ममें हस्तक्षेप नहीं किया जायगा।' हिंदुओंका विवाह-संस्कार पवित्रतम धार्मिक अनुष्ठान है, इस बातको अस्वीकार करना तो सत्यको मिथ्या बतलानेके समान दुराग्रहमात्र है। तीसरे, जब 'धर्म निरपेक्ष (सेक्यूलर) राज्य' है तब किसी एक धर्मके सम्बन्धमें कानून बनाने जाना सरासर अन्याय है। ये बातें तो उस धारासभाके लिये भी लागू होंगी जो 'बालिग-मताधिकार'के अनुसार देशभरके बहुमतसे बनेगी, फिर इस धारासभाको तो निम्नलिखित हेतुओंसे हिंदुओंके धार्मिक आचरणोंमें आमूल परिवर्तन करके हिंदूसमाजको छिन्न-भिन्न कर देनेवाले कानून बनानेका अधिकार है ही नहीं—

(क) इस धारासभाका निर्माण सीधे मतदाताओंके मतोंसे नहीं हुआ।

(ख) इसका निर्माण प्रान्तीय धारासभाओंके द्वारा हुआ था जो ब्रिटिश राज्यमें बनी हुई थी।

(ग) उन प्रान्तीय धारासभाओंका निर्माण भी अत्यन्त अल्प—लगभग १२ प्रतिशत (चालीस करो[ड़]में केवल साढ़े तीन करोड़) मतदाताओंके द्वारा [हुआ] था। इन बारह प्रतिशतमेंसे मुसल्मानोंके मत निक[ाल] दिये जायँ तो प्रतिशत बहुत ही कम हो जाता है।

(घ) यह धारासभा केवल 'विधान-निर्माण' [के] लिये बनी थी। इसीसे इसको केवल 'कामचला[ऊ]' (Caretaker) सरकार बतलाया गया था।

इसके अतिरिक्त देशका बहुमत सर्वथा इस बि[लके] प्रतिकूल है। इस बातको स्वयं डा० अम्बेदकर स्वी[कार] कर चुके हैं। ऐसी अवस्थामें जनतन्त्रके सिद्धान्त[को] माननेवाली सरकारके लिये बलात्कारसे ऐसा कानू[न] बनाने जाना बहुसंख्यक हिंदूराष्ट्रके प्रति स्पष्ट अन्या[य] है। अब भी चारों ओरसे घोर विरोध हो रहा है। धारा-सभाके सदस्य भी इसका विरोध कर रहे हैं। उस दिन धारा-सभामें धारासभाके सदस्य श्रीलक्ष्मीकान्त मैत्रेय महोदय[ने] सरकारके इस कार्यका बड़ी युक्तियोंके साथ विरोध कि[या] था। कांग्रेसके वर्तमान सभापति माननीय श्रीपट्टाभिसीता-रामैय्याने भी उस दिन यह स्पष्ट कहा कि—इसके लि[ये] कानून नहीं बनना चाहिये बल्कि आचार्यों त[था] विद्वानोंको मिलकर विचारविनिमयपूर्वक आवश्य[क] सुधार करने चाहिये; परंतु जनमतका आद[र] करनेवाली सरकार उसकी ओर कोई ध्यान नह[ीं] दे रही है!

यह कोड हिंदुओंकी शास्त्रीय समाज-व्यवस्थाके सर्वथा विरुद्ध है और यदि यह कानून बन गया तो हिंदुओंकी परम्परागत धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक सुव्यवस्थाका मूलोच्छेद हो जायगा और सारा समाज दुखी हो जायगा। इस कानूनके द्वारा वस्तुतः हिंदुओंकी धार्मिक स्वतन्त्रताका बुरी तरहसे अपहरण किया जायगा और उनके सुखी जीवनको सदाके लिये

संतप्त बना दिया जायगा। 'कल्याण'के पाठक इनपर ध्यान देकर जितना भी अधिक-से-अधिक वैध रीतिसे विरोध किया जा सके, सो करें। कानून बन जानेपर सभीको कठिनाइयोंमें पड़ना पड़ेगा और फिर उससे बचनेका कोई सहज उपाय नहीं रह जायगा!

सरकारसे हमारी फिर प्रार्थना है कि वह हिंदू-लोकमतके विरुद्ध इस प्रकारके कानून बनानेका विचार छोड़ दे और बिलको वापस ले ले। थोड़े-से सुधारकोंके मनकी बातका सारे समाजपर बलात्कारसे लादा जाना कदापि उचित नहीं है। अब इस कोडमें प्रस्तावित नियमोंकी क्या-क्या बुराइयाँ उत्पन्न होनेकी संभावना है, इसका संक्षेपमें नीचे दिग्दर्शन कराया जाता है।

१. हिंदूकी परिभाषासे हानि

१. जन्मसे ही हिंदू होनेका अत्यन्त प्राचीन शास्त्रीय नियम टूट जायगा।

२. कोई भी हिंदू किसी भी चीनी, जापानी बौद्धसे नियमतः विवाहादि कर सकेगा।

३. कोई भी विदेशी और विधर्मी यह कह देगा कि मैं हिंदू-धर्मको मानता हूँ तो उसके साथ विवाहादि सभी सम्बन्ध बतौर हिंदूके हो सकेंगे।

४. किसी भी जाति एवं धर्मका मनुष्य अपनेको हिंदू घोषित करके और किसी भी हिंदूकी सम्पत्तिको गोद तथा विरासतके द्वारा प्राप्त करके पुनः उस सम्पत्ति-सहित अपने पुराने धर्ममें वापस जा सकेगा।

५. वर्ण और जातिव्यवस्थाकी प्राचीन तथा सर्वमान्य प्रथा सर्वथा टूट जायगी।

२. विवाहके नियमोंसे हानि

१. सगोत्रमें भी विवाह हो सकेगा यानी कुछ ही दूर सम्पर्कसे भाई-बहिन तथा चचा-भतीजी लगनेवाले व्यक्तियोंमें भी विवाह हो सकेगा।

२. सपिण्डकी परिभाषा शास्त्रके विरुद्ध मानी जायगी।

३. अन्तर्जातीय विवाह भी सही माने जायँगे अर्थात् ब्राह्मण एवं अन्त्यजमें विवाह-सम्बन्ध सही माना जायगा, इसी प्रकार किसी बौद्ध और सिखसे भी किसी वर्णाश्रमीका विवाह वैध माना जायगा।

४. ईसाई-मुसलमान आदि भी अपनेको हिंदू कहकर हिंदू-कन्यासे विवाह कर सकेंगे और उससे उत्पन्न लड़के माताकी सम्पत्तिके भी अधिकारी बनकर पुनः सम्पत्ति-सहित अपने पुराने धर्ममें जा सकेंगे।

५. ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यादि द्विजातियोंके घरके अंदर भी एक मनचला भाई किसी निम्न जातिकी स्त्री अथवा किसी ईसाई-मुसल्मान आदि स्त्रीको हिंदू घोषितकर उससे विवाह करके रख सकेगा और वहाँ चाहे जिस मांसादिको पकाकर भी खा सकेगा। जिससे उसी घरमें रहनेवाले वर्णाश्रमी आचारवान् व्यक्तियोंको घोर कष्ट भोगना पड़ेगा।

६. प्रचलित ब्राह्मविवाहकी शास्त्रीय पद्धति भी अनावश्यक मानी जायगी। शास्त्रीय कहे जानेवाले विवाहोंमें वैदिक पद्धति, कन्यादान एवं वेदमन्त्रोंके पाठकी आवश्यकता नहीं होगी। केवल सप्तपदीसे ही काम चल जायगा।

७. लौकिक आचार आवश्यक नहीं होंगे तथा सप्तपदी आदिमें भी यदि त्रुटि रह जायगी तो उससे भी काम चल जायगा।

८. कानूनी विवाह ही अदालतोंमें अधिक प्रमाणित माने जायँगे, अतः शास्त्रीय कहे जानेवाले विवाहोंकी पद्धति धीरे-धीरे लुप्त हो जायगी और पाश्चात्त्य देशोंकी भाँति रजिस्ट्रीमात्र विवाहके लिये आवश्यक होगी।

९. किसीके द्वारा भी दावा करनेपर विवाह-विच्छेद हो सकेगा। यह व्यवस्था बड़ी कष्टप्रद होगी। कोई भी दुष्ट किसी भी बड़े-से-बड़े आदमीके घरके विवाहोंके विरुद्ध दावा दाखिल करके सभ्य दम्पति और उसके परिवारवालोंको वर्षोंतक अदालतोंमें दौड़ा सकेगा, क्योंकि

दावा करनेवालेका दावा झूठा साबित होनेपर उसपर केवल एक हजार रुपयेतक जुर्माना होगा। इधर दो घरोंको बड़ी भारी परेशानियोंके साथ-साथ हजारों रुपयोंका व्ययभार उठाना पड़ेगा।

१०. तलाकके कारण पातिव्रतकी महान् महिमा नष्ट हो जायगी। जिस पातिव्रतके लिये भारतीय नारियोंने महान् त्याग किया, उसी गौरवान्वित पातिव्रतकी मर्यादा मिट जायगी।

११. तलाकके प्रश्नको लेकर परस्पर मुकदमेबाजियाँ होंगी, और उनमें कटुता तथा वैर बढ़नेके साथ-साथ बड़ा व्यय भी होगा।

१२. पुरुष अपनी पत्नीको व्यभिचारिणी सिद्ध करके गुजारा देनेसे बचनेकी चेष्टा करेगा और इसके लिये गंदी-गंदी कहानियाँ गढ़ी जायँगी, जिससे भारतीय साध्वी सती नारी-समाजपर धब्बा लगेगा।

१३. गुजारा बननेके बाद भी धारा ४६ के अनुसार स्त्रीके विरुद्ध बार-बार मुकदमा चलाया जा सकेगा कि उसके पास बड़ी सम्पत्ति हो गयी है अथवा वह व्यभिचारिणी हो गयी है। इस प्रकार उसे बार-बार अदालती परेशानियाँ सहनेको बाध्य किया जायगा।

१४. तलाकके इस कानूनसे स्त्रियोंकी ही अधिक हानि होगी; क्योंकि पुरुष लोग डाक्टरोंकी सम्मति प्राप्त करके पत्नीका सहज ही त्याग कर देंगे।

१५. यदि तलाकके प्रसंगमें विवाह किसी कानूनी पहलूसे अवैध सिद्ध हो जायगा तो उस विवाहके द्वारा उत्पन्न सन्तान नाजायज करार दे दी जायगी। फिर इन बच्चोंको कहीं ठौर-ठिकाना नहीं होगा। इन्हें सम्पत्तिमें भी भाग नहीं मिलेगा और समाजमें भी ये निकृष्ट समझे जायँगे। ऐसी परिस्थितिमें यह भी सम्भव होगा कि वे परधर्म स्वीकार कर लें।

१६. हिंदू-जातिकी परम पवित्र विवाह-संस्कारकी प्रथा नष्ट हो जायगी। फिर उसका कोई गौरव नहीं रहेगा।

३. गोदके नियमोंसे हानि

१. गोदका शास्त्रीय महत्त्व नष्ट हो जायगा; क्योंकि इसमें ऐसे लोगोंका गोद लिया जाना प्रशस्त किया गया है, जिनका शास्त्रमें स्पष्ट निषेध किया गया है। किसी भी जाति तथा किसी भी हिंदू-नामधारी अपरिचित बालकको भी गोद लिया जा सकेगा। इससे सम्भव है, एक भाईसे नाराज होकर पुत्ररहित दूसरा भाई किसी भी अन्त्यज या हिंदू-नामधारी मुसल्मानको भी गोद लेकर अपने घरमें रख सकेगा।

२. गोद एक धार्मिक कार्य है। वेदमन्त्रोंद्वारा दत्तक होमादि क्रियासे एक व्यक्तिका लड़का दूसरे व्यक्तिके पुत्ररूपसे प्रतिष्ठित किया जाता है, जैसे मन्त्रोंके बलपर पाषाणमें मूर्तियोंकी प्रतिष्ठा होती है। बिना धार्मिक क्रियाके दत्तकको पुत्रत्वकी प्राप्ति नहीं हो सकती। अतः उसका दिया हुआ पिण्ड भी गोद लेनेवाले पिताको नहीं प्राप्त होगा। इस तरह शास्त्रीय पद्धतिकी अवहेलना करके गोदका एक पवित्र और प्रमुख पिण्डदानद्वारा नरक-उद्धारका उद्देश्य नष्ट कर दिया जायगा।

४. सम्मिलित परिवारकी सम्पत्तिविषयक नियमोंसे हानि

१. सम्मिलित परिवारकी अति प्राचीन एवं शास्त्रीय पद्धति नष्ट हो जायगी और उसके महान् लाभोंसे वञ्चित हो जायँगे।

२. सम्मिलित पारिवारिक जीवन एवं सम्पत्तिसे लाभ हिंदू-समाजको अब नहीं रहेंगे।

क. प्रत्येक परिवार एक प्रजातन्त्रात्मक छोटी रियासत था, जिसके प्रत्येक सदस्यका परिवारकी सम्पत्तिके कण-कणमें अधिकार था। अतः सम्पत्ति-सम्बन्धी कोई प्रबन्ध बिना सभी सदस्योंकी रायके सही नहीं माना जाता था। यह पंचायती राज्यका सुन्दर नमूना था, सो वह नष्ट हो जायगा।

ख. सम्पत्तिमें जन्मसे ही पुत्र, पौत्र, प्रपौत्रतकका अधिकार रहनेसे कोई कर्ता बिना उनके हितकी दृष्टिसे सम्पत्ति हटा नहीं सकता था और न कर्ज ले सकता था। इसी प्रथाका यह फल है कि आज हजारों वर्षोंसे नृशंस शासनोंकी परतन्त्रता भोगते हुए भी हिंदू-परिवारोंमें सम्पत्ति बचती चली आयी है।

ग. दूसरा लाभ यह था कि कोई भी मूर्ख पिता पूर्वजोंकी प्राप्त की हुई पीढ़ियों दर-पीढ़ियों बचती आयी सम्पत्ति नष्ट-भ्रष्ट नहीं कर सकता था। पर अब वह सम्पत्तिका पूर्ण स्वामी हो जायगा और पूर्वजोंकी संयमसे सङ्कलित अपार सम्पत्तिको भी बिना रुकावट नष्ट कर देगा।

घ. इस प्रथासे किसी परिवारमें जन्म लेनेवाले बच्चे-बच्चेतकका पालन-पोषण एवं भविष्य सुरक्षित था। अब यदि मूर्ख पिता सम्पत्ति हटा दे तो गुजाराका दावा करके भी नाबालिग बच्चे उससे क्या वसूल कर पायँगे। फल यह होगा कि बच्चे दाने-दानेको मोहताज हो जायँगे। उनकी शिक्षा और परवरिशकी सही व्यवस्था न होनेसे उनका भविष्य बिगड़ जायगा। इस प्रकार देशके भावी राष्ट्रका स्वरूप भी नष्ट हो जायगा तथा इस प्रकार राष्ट्र निर्बल होनेसे स्वतन्त्रता भी खतरेमें पड़ेगी।

ङ. सम्मिलित परिवारमें कोई सदस्य अपने हिस्सेकी सम्पत्ति भी अन्य सदस्योंकी स्वीकृति एवं हस्ताक्षर बिना नहीं बेच सकता था, न पृथक् प्रबन्ध कर सकता था। इससे एक सदस्य मूर्ख एवं कुबुद्धि होनेपर भी दूसरे सदस्य उसकी सम्पत्ति भी बचा देते थे। ऐसा मनचला आदमी भी यह सोचकर कि उसे सम्पत्ति **बेचनेका अधिकार नहीं है, अपने मनको** रोककर चलता था और उसका चाल-चलन अधिक नहीं बिगड़ पाता था।

च. यह सम्मिलित परिवारकी प्रथाका ही शुभ परिणाम है कि इस देशपर हजारों वर्षतक शासन करनेवाली मुस्लिम जातिकी स्थायी सम्पत्ति नहीं हो सकी और बुरी तरह शासित होनेवाले भी हिंदू अपनी स्थायी सम्पत्ति बचा सके थे।

५. स्त्रीकी सम्पत्तिविषयक नियमोंसे हानि

स्त्रियोंको सम्पत्तिमें पूर्ण अधिकार देनेसे एक विशेष हानि यह होगी कि स्त्रियाँ तनिक-सी बातमें रुष्ट होकर अथवा भावुकतामें या किसीके बहकावेमें आकर सम्पत्तिको पृथक् करके स्वयं भी कष्ट पायँगी और औरोंको भी कष्ट देंगी।

६. उत्तराधिकारविषयक नियमोंसे हानि

१. उत्तराधिकारोंकी शास्त्रीय पद्धति इसमें बिल्कुल उलट दी गयी है। हिंदू-शास्त्रोंमें दाय पिण्डके अनुसार चलता है जो जिस क्रमसे पिण्ड देनेका अधिकारी होता था, उसी क्रमसे सम्पत्ति पाता था। स्त्री-वारिस-को सम्पत्तिमें केवल आजीवन अधिकार शास्त्रोंने दिया था। इस कोडद्वारा अब उन्हें पूर्ण अधिकार प्राप्त हो जायगा और उसे बेचने आदिका उन्हें अधिकार रहेगा तथा वे जहाँ जायँगी, सम्पत्ति भी अपने साथ लेती जायँगी। इस प्रकार एक खानदानकी सम्पत्ति छिन्न-भिन्न होकर विभिन्न स्थानोंके भिन्न-भिन्न परिवारोंमें चली जायगी। बहुधा इन सम्पत्तियोंको लेकर उन-उन विभिन्न परिवारोंमें अनेक प्रकारके विवाद खड़े हो जायँगे, कटुता बढ़ेगी। अतः प्रायः दूर स्थानवाले उत्तराधिकारी सम्पत्तियोंको दूसरोंके हाथ बेच देंगे। जो मूल खानदानवालोंके सिरपर सदाके लिये एक स्थायी विपत्तिके रूपमें बन जायगी।

२. माता, पुत्र, भाई, बहन तथा खानदानके सगे और

स्वाभाविक प्रेमके सगे सम्बन्धियोंमें भी बँटवारा आदिके विवाद व्यर्थ ही खड़े हो जायँगे । जिसमें खानदानका विशेष धन मुकदमेबाजीमें अपव्यय होगा ।

३. कन्याको भाईके बराबर हिस्सा देनेसे लाभके बजाय हानि ही अधिक होगी; क्योंकि यदि वह पिताके घरमें पिताकी सम्पत्ति पाती है तो पतिगृहमें उसे भी अपनी ससुर और पतिकी सम्पत्तिमेंसे अपनी ननदको देना पड़ेगा । इस तरह लेना-देना बराबर होगा । लाभ किसीको कुछ नहीं होगा । हानि यह होगी कि जहाँ एक स्थानपर खानदानमें सम्पत्तिका सुन्दर एवं निष्कण्टक प्रबन्ध होता था, वहाँ दूरवर्ती अनेकों खानदानोंमें सम्पत्ति बँट जानेसे उन सभीको प्रबन्धसम्बन्धी कठिनाइयाँ एवं बाधाएँ उपस्थित होंगी और सभीको क्षति उठानी पड़ेगी ।

४. पढ़े-लिखे बड़े आदमी तो वसीयतनामा बना देंगे, जिससे लड़कीको कुछ नहीं मिलेगा । गरीबोंके घरोंमें, जो वसीयतनामा नहीं बनावेंगे, बँटवारेकी विपत्ति आयेगी और उनके घर नष्ट हो जायँगे ।

५. आज कन्या या बहिनके विवाहमें पिता, भाई आदि जिस प्रेमसे अनेकों कष्ट उठाकर दहेज आदि देते हैं, वह प्रेम नष्ट हो जायगा और माता-पुत्री तथा भाई-बहनोंमें मुकदमोंकी नौबत आ जायगी ।

६. बिना सम्पत्तिवाले तथा कर्जदार घरकी लड़कियोंका विवाह कठिन हो जायगा ।

७. उत्तराधिकारियोंमें पौत्र और प्रपौत्रकी अपेक्षा पुत्रीको तथा सगे भाई-भतीजोंकी अपेक्षा पुत्रीके पुत्र (दौहित्र) को पहले स्थान दिया गया है । इसी प्रकार भतीजेके लड़के—भाईके पौत्रकी अपेक्षा पौत्री, दौहित्री, लड़कीकी पौत्री तथा लड़कीकी लड़कीकी लड़कीका अधिकार पहले माना गया है । यह सारा वर्गीकरण केवल लौकिक दृष्टिसे ही किया गया है । जो सर्वथा भ्रममूलक और अधर्म है तथा नाना प्रकारकी व्यर्थ मुकदमेबाजियोंका हेतु है ।

७. गुजारासम्बन्धी नियमोंसे हानि

केवल सधवा पुत्रवधूके गुजारेकी व्यवस्था है; प[र] विधवा पौत्रवधू और सधवा प्रपौत्रवधूके लिये को[ई] व्यवस्था नहीं की गयी है । वे बेचारी गुजारेके लि[ये] कहाँ जायँगी ।

उपवर्ग तीनमें पिताका नाम गिनाया गया है, पर माता अकारण छोड़ दिया गया है । बूढ़ी माताकी [...] अवहेलना की गयी है !

पतिकी सम्पत्तिपर ही बच्चोंके भरण-पोषण[का] प्रथम भार रक्खा गया है । यह पुरुषजातिके प्र[ति] अन्याय है; क्योंकि पति-पत्नी दोनों सम्पत्ति[के स्वामी] हैं, तो बच्चोंके भरण-पोषणका भार दोनोंपर होना चाहि[ये]।

यहाँ संक्षेपमें थोड़ी-सी बुराइयाँ बतायी गयी हैं[।] बुराइयोंका तो तब अनुभव होगा, जब यह का[नून] बनकर सबपर लद जायगा । इसलिये अभीसे चेतकर [ऐसा] घोर और प्रबल प्रयत्न करना चाहिये जिसमें यह बि[ल] वापस ले लिया जाय ।

इसके लिये जबतक यह बिल वापस न हो ज[ाय] तबतक आन्दोलन जारी रखना चाहिये और गाँव-गाँ[व] बार-बार सभाएँ करके विरोधी प्रस्ताव स्वीकृत क[रने] चाहिये तथा उनकी नकल एवं विरोधके तार लगातार 'प्रधान मन्त्री श्रीनेहरूजीके तथा भारतीय पा[र्ल]मेण्टके स्पीकर श्री.मावलंकर'के नाम भेजते रहना चाहि[ये]।

साथ ही, धारासभाके सदस्योंको भी, जो जह[ाँके] प्रतिनिधि हों, जनताकी ओरसे चेतावनी दे देनी चा[हिये] कि यदि हमारी इच्छाके विरुद्ध हमारे धर्मपर अनधि[कार] हस्तक्षेप किया गया तो अगले चुनावके समय आप [हम] लोगोंसे मत प्राप्त करनेकी आशा नहीं रक्खें ।

श्रीकृष्णस्तुतिः

(रचयिता—श्रीओङ्कारदत्तजी)

वृन्दावनचारी गिरिधारी मुरलीधर राधाजीवन ।
कुञ्जविहारी लीलाकारी गोपकुमारी-मन-मोहन ॥ १ ॥
राससुधापायक यदुनायक मोरमुकुटधर पीतवसन ।
रसिकशिरोमणि जय जय सुरमणि कौस्तुभमणिधर मन्दहसन ॥ २ ॥
वनमालाभूषण जितदूषण चरणकमल नूपुरधारी ।
कुण्डलमण्डित ज्ञान अखण्डित मायापण्डित सुखकारी ॥ ३ ॥
कोटिकामसुन्दर गुणमन्दिर सदानन्दमय तेजसदन ।
कलिमलनाशक त्रिभुवन-शासक ज्ञानप्रकाशक मोदभवन ॥ ४ ॥
भक्तपरायण श्रीनारायण भक्त-दुःख-दारिद्र्यदमन ।
कञ्जविलोचन शोकविमोचन जय मुकुन्द जय कृपायतन ॥ ५ ॥
दिव्यचरित्र मित्र अर्जुनके अति विचित्र मंगलकारण ।
पृथा-व्यथाहारी असुरारी हारी महामोहवारण ॥ ६ ॥
शंकर-अर्चित चन्दन-चर्चित नीलकलेवर कञ्जसमान ।
मघवा-मद-हर सुन्दर सुखकर नटनागर आनन्दनिधान ॥ ७ ॥
नन्दकुमार सार निगमागम भूमिभार-हारी गोपाल ।
निराकार साकाररूप करुणावतार आधार विशाल ॥ ८ ॥
षडैश्वर्यसम्पन्न धन्यतम मान्य वदान्य ज्ञानसागर ।
हृषीकेश अखिलेश परेश्वर योगेश्वर गुणगण-आकर ॥ ९ ॥
शरणागतरञ्जन भवभञ्जन सज्जननुत निगमागमगीत ।
शान्त दान्त ब्रह्मण्यदेव देवार्चित देवाधार पुनीत ॥ १० ॥
कामजनक प्रह्लाद-सुरक्षक खलतक्षक जनमनपावन ।
कमलापति कमलासनपूजित जनहित सेवित वृन्दावन ॥ ११ ॥
यमुनातटगत बालकेलिरत गोपकुमार वेशधारी ।
जयति गोपगोपीपरिवारित गोपीधन गोहितकारी ॥ १२ ॥
जय मुकुन्द गोविन्द जगत्पति गोपति अमित पतितपावन ।
भक्त वशंवद शोषित अघनद मुरमर्दन मुनिमनभावन ॥ १३ ॥
भक्त-कल्पतरु भक्त-भक्तिप्रद भक्तकलुपहारी घनश्याम ।
जय श्रीकृष्ण वृष्णिकुलभूषण बसो सदा मनमें अभिराम ॥ १४ ॥
वितर चरणरति करो अमलमति मानस दोष हरो मेरे ।
निराधार 'ओङ्कार' शरण शरणागत रक्षक है तेरे ॥ १५ ॥

श्रीहरिः

कामना ही दुःखका मूल है

यत्पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः ।
न दुह्यन्ति मनःप्रीतिं पुंसः कामहतस्य ते ॥
न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥
या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्जीर्यतो या न जीर्यते ।
तां तृष्णां दुःखनिवहां शर्मकामो द्रुतं त्यजेत् ॥

(श्रीमद्भा० ९ । १९ । १३, १४, १६)

पृथ्वीमें जितना भी अन्न है, जितना भी सुवर्ण आदि धन है, जितना भी पशुधन है और जितनी भी सुन्दरी स्त्रियाँ हैं, ये सब-के-सब मिल जानेपर भी उस मनुष्यके मनको कभी संतुष्ट नहीं कर सकते जिसका चित्त कामनाओंसे ग्रस्त हो रहा है । विषयोंके प्राप्त करने और भोगनेसे कामना कभी शान्त नहीं हो सकती वरं अग्निमें घृतकी आहुति देनेपर जैसे अग्नि और भी बढ़ती है, वैसे ही भोगोंको पाकर कामना और भी अधिक बढ़ जाती है । दुष्टबुद्धि लोगोंके द्वारा जिसका त्याग बहुत कठिन है, वह विषयोंकी तृष्णा ही दुःखोंका उद्गमस्थान है । शरीर वृद्ध हो जाता है पर तृष्णा कभी वृद्धा नहीं होती, वह नित्य नवीन ही बनी रहती है । अतएव जो अपना कल्याण चाहता हो, उसे शीघ्र-से-शीघ्र भोगोंकी कामना और वासनारूप तृष्णाका त्याग कर देना चाहिये ।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

वेणुवादनशीलाय गोपालायाहिमर्दिने । कालिन्दीकूललीलाय लोलकुण्डलधारिणे ॥
वल्लवीनयनाम्भोजमालिने नृत्यशालिने । नमः प्रणतपालाय श्रीकृष्णाय नमो नमः ॥

वर्ष २३ } गोरखपुर, सौर वैशाख २००६, अप्रैल १९४९ { संख्या ४ पूर्ण संख्या २६९

सर्वभूतहित-तत्पर योगी

जो सबके हितमैं नित आवै,
पर-सुख देखि परम सुख मानत सोइ परम फल पावै।
समुझि ईसके रूप जीव सब सादर सीस नवावै,
देइ अहार अम्बु तृन औषध सबकी बिथा मिटावै।
मनहिं सुधारि धारि हरि हियमैं दुबिधा दुरित दुरावै,
योगी सकल भूत-हित-तत्पर शान्त ब्रह्म-पद पावै॥

'राम'

याद रक्खो—जो लोग भीतरसे गंदे रहकर बाहरी सजावटके द्वारा उस गंदगीको ढकना चाहते हैं, उनकी गंदगी घटती नहीं, अपितु बढ़ती है और वे भीतरकी गंदगीके बुरे फलसे भी नहीं बच सकते। सच्चा लाभ तो भीतरकी गंदगीको मिटानेपर ही मिलता है।

याद रक्खो—तुम्हारे मनमें यदि काम, क्रोध, लोभ, असूया, द्वेष, हिंसा आदि दोष भरे हैं, तुम उनके दूर करनेका कोई प्रयत्न नहीं करते वरं उनका रहना तुम्हें बुरा भी नहीं माल्रम होता और तुम ऊपरसे निष्कामता, क्षमा, त्याग, गुण-दर्शन, प्रेम और सेवाका उपदेश करनेमें बड़ी ऊँची उड़ान भरते हो तो इससे तुम्हें क्या लाभ है। इससे तो दम्भ ही बढ़ता है।

याद रक्खो—ऊपरसे यदि लोग तुममें कोई अच्छाई न भी देखें और तुम्हारा हृदय दोषरहित और पवित्र है तो तुम वस्तुतः अच्छे हो। अच्छा असलमें वही है जो अपने अन्तर्यामी भगवान्‌के सामने अच्छा है, उनकी दृष्टिमें निर्दोष है।

याद रक्खो—तुम जो भक्ति, प्रेम और ज्ञानकी बातें करते हो, इनका भी कोई मूल्य नहीं है, यदि तुम्हारे हृदयमें भक्तिकी पवित्र प्रभुपरायणता, प्रेमकी मधुर और निष्काम सरसता एवं ज्ञानकी दिव्य ज्योति नहीं है। मनसे भक्त बनो, प्रेमका मनमें ही अनुभव करो और ज्ञानके प्रकाशको अंदर ही प्रदीप्त करो, तभी उनका असली लाभ मिलेगा।

याद रक्खो—बाहरके बहुत बड़े आडम्बरकी, सच्चे क्षुद्रतम भावके साथ भी तुलना नहीं हो सकती। सचाई पैदा करो—सचाई थोड़ी है, तब भी वह महान् उपकार करनेवाली है, क्योंकि सचाई है।

याद रक्खो—उपदेशकका उपदेश पहले उसके अपने लिये ही होना चाहिये। जो कुछ अच्छी बात तुम कहना चाहते हो, कहते हो; उसे पहले अपने प्रति कहो और वस्तुतः तुम उसे अच्छी मानते हो तो उसे अपने जीवनमें धारण कर लो। दूसरेके हितके लिये अपने हितका परित्याग करना तो पुण्य है; परंतु जो हितको अपने लिये हित ही नहीं समझता, केवल दूसरोंके लिये ही उसे हित बतलानेका नाटक करता है, वह अपने हितका त्याग क्या करेगा। उसके पास तो अपना हित है ही नहीं, वह तो केवल लोगोंको ठगनेके लिये, उनके सामने अपनेको सदाचारी महात्मा सिद्ध करनेके लिये कपट करता है। उसे इतना भी विश्वास नहीं है कि अन्तर्यामी भगवान् मेरे कपटको जानते हैं और वे इससे रुष्ट होंगे। ऐसा पुरुष न तो अपना ही हित करता है और न दूसरोंका ही।

याद रक्खो—मनुष्य-जीवन सचमुच बड़ा दुर्लभ है, यह व्यर्थ खोने या पाप कमानेके लिये नहीं मिला है। इसका यथार्थ सदुपयोग करो। इसके एक-एक क्षणको भगवान्‌के चिन्तनमें लगा दो। मत भूलो यहाँके धन-जन, विद्या-बुद्धि, सम्मान-सत्कार, प्रभुत्व-अधिकार और मेरे-तेरेके मोहमें। जीवन बीता जा रहा है। जबतक मृत्यु नहीं घेरती; इन्द्रिय और मन काम देते हैं, तभीतक कुछ कर सकते हो। बड़ी लगनसे लगा दो मनकी प्रत्येक वृत्तिको, शरीरकी प्रत्येक क्रियाको, इन्द्रियकी प्रत्येक चेष्टाको श्रीभगवान्‌के भजनमें।

याद रक्खो—यहाँकी मान-बड़ाई, धन-वैभव, यश-कीर्ति और प्रभुत्व-अधिकारको तुमने प्रचुर रूपमें प्राप्त भी कर लिया तो क्या होगा उससे। तुम्हारे साथ जायगा केवल तुम्हारा कर्म-संस्कार। इनमेंसे कोई भी न तो तुम्हारा साथ देगा, न तो तुम्हारा सहायक होगा। तुम्हारा जीवन व्यर्थ चला जायगा। व्यर्थ ही नहीं, जागतिक लाभकी कामनासे जो पाप-कर्म तुमसे बन रहे हैं, इनका बोझ तुम्हारे साथ जायगा जो असंख्य जन्मोंतक तुम्हें कष्ट देता रहेगा। अतएव जल्दी सावधान हो जाओ। मानव-जीवनके वास्तविक लक्ष्यको समझो और जीवनके प्रत्येक क्षणको उसीकी सिद्धिमें लगा दो।

'शिव'

महाभाग राजर्षि भगीरथ

(श्री १००८ श्रीपूज्य स्वामीजी श्रीकरपात्रीजी महाराज)

प्रसिद्ध राजा भगीरथने महात्मा त्रिनलसे प्रश्न किया—'भगवन्! सारशून्य चित्तवृत्तिरूप अरण्यानीमें भ्रमण करते-करते खिन्न हो गया, इसका अन्त कैसे हो? कृपा कर कहें।' महात्मा त्रिनलने कहा—'सर्व-विभेदशून्य, साम्यभावसे विराजमान, पूर्ण ज्ञेय बोधसे ही सर्वदुःख क्षीण होगा और सब ग्रन्थियाँ टूट जायँगी। ज्ञप्तिमात्र आत्मा ही ज्ञेय है। वह सर्वगत, नित्य और उदयास्तवर्जित है।' भगीरथने कहा—'भगवन्! चिन्मात्र, निर्गुण, निर्मल, शान्त आत्मा ही सब कुछ है, देहादि इतर पदार्थ कुछ नहीं हैं—यह मैं जानता हूँ, परंतु स्फुट प्रतिपत्ति नहीं होती। सर्वविक्षेपशून्य विज्ञप्तिमात्र कैसे सम्पन्न होऊँ? यह बतलायें।' त्रिनलने राजा भगीरथको एतदर्थ अनासक्ति, एकान्तवास आदि ज्ञान-साधनोंका उपदेश किया—'राजन्! तीव्र प्रयत्नसे भोगवासना, लज्जादि त्यागकर, परम अकिञ्चन और सर्वैषणाशून्य होकर शत्रुओंके घरमें भिक्षाटन करते हुए राजत्वादि विशेषणोंसे मुक्त होकर, निरहङ्कार हो अहर्निश ब्रह्माभ्यास करो।'

महात्माका उपदेश सुनकर राजाने अग्निष्टोम यज्ञ किया और उसीके व्याजसे सम्पूर्ण राज्य-सम्पत्ति लुटा दी। हाथी, घोड़े, रथ, रत्न सभी तीन दिनोंमें ही समाप्त कर दिये। राज्य भी सीमावर्ती शत्रुको दे दिया और तृणके समान सब छोड़कर बैठ गये। जब शत्रुने राजमहलपर भी अधिकार करना चाहा, तब उसे भी छोड़ आप गाँवोंमें कहीं दूर भिक्षाचर्या करते हुए ब्रह्माभ्यासमें निमग्न हो गये।

यदृच्छया भ्रमण करते-करते एक बार आप कभी उसी अपने पुरमें भिक्षाके लिये पहुँच गये। यहाँ मन्त्रियों एवं पौरोंने आपको देखा और आदरसे सबने भिक्षा दी। आपने अपने शत्रुभूत राजाके यहाँसे भी भिक्षा ले ली। सब बड़े ही विषादमें थे। भगीरथकी दीनदशा समझकर सभी चिन्तित और दुखी हो रहे थे। शत्रु राजाने कहा—'भगवन्! आप कृपाकर अपना राज्य लें।' परंतु परम विरक्त भगीरथने भिक्षाके अतिरिक्त कुछ भी नहीं लिया। वे कई दिनोंतक उसी पुरमें रहे, पश्चात् कहीं चले गये।

कहीं उनके गुरु त्रिनल मिले। दोनों प्रशान्त भिक्षु ब्रह्मविचारमें परम साम्यभावको प्राप्त हो रहे थे। वे देहधारणको एक विनोदमात्र समझ रहे थे। तपस्या, त्याग और विचारके प्रभावसे सिद्धों और देवताओंने अष्टविध ऐश्वर्य आदि भी अर्पण किया; किंतु जर्जर तृणके समान उन्होंने सबकी उपेक्षा कर दी।

प्रारब्धवशात् वे ही कभी किसी राज्यमें गये। वहाँका राजा मर गया था, मन्त्रियोंने इन्हें पहचानकर गद्दीपर बिठा दिया। इधर भगीरथके राज्यका अधिकारी राजा भी मर गया। मन्त्रियोंने प्रार्थना करके वह भी राज्य भगीरथको ही अर्पण कर दिया। इस तरह फिर भगीरथ अखण्ड भूमण्डलके शासक हो गये। परंतु अब उनका राज्य केवल लीलामात्र था। अहङ्कार, मोह, आसक्ति आदिकी सत्ता मिट चुकी थी।

पश्चात् पितरोंके उद्धारके लिये पुनः राज्य छोड़कर घोर तपस्या करके ब्रह्मा, शङ्कर, महादेवको प्रसन्न करके उसी तत्त्ववित् राजर्षिने गङ्गाजीका आनयन किया।

(सिद्धान्त)

चाहने योग्य सत्य वस्तु

जो वस्तु सत्य है, उसे अपने अस्तित्वकी रक्षाके लिये यह अपेक्षा नहीं रहती कि कोई उसे माने ही। हम उसे न मानें, उसकी सत्ता अस्वीकार कर दें, पर सत्य तो सत्य ही रहेगा, उसकी सत्ता ज्यों-की-त्यों बनी रहेगी। हमारे मानने न माननेसे उसका तो कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। हाँ, उसे न माननेके कारण उसके द्वारा प्राप्त होनेवाले परम लाभसे हम बहुत अंशोंमें वञ्चित अवश्य रह जाते हैं, इतना अन्तर हमारे लिये तो हो ही जाता है।

प्रभुकी सत्ता भी ऐसी ही परम सत्य वस्तु है। कोई भले ही उसे न माने, पर वह तो हममें—विश्वके अणु-अणुमें व्याप्त है; अनादिकालसे है, अनन्तकालतक रहेगी, ज्यों-की-त्यों रहेगी। हम यदि उसे मान लेते हैं, तब तो प्रभुका अनन्त वैभव, अनन्त बल, असीम सुयश (सद्गुण), अपरिसीम सौन्दर्य, अथाह ज्ञान, अपार निर्लेपता—उनका सब कुछ हमारा ही है और इसलिये विश्वका कण-कण क्षण-क्षणमें हमारे लिये नये-नये सुखका, नित्य नूतन आनन्दका द्वार खोलता रहता है; किंतु दुर्भाग्यवश यदि हम उनकी सत्ताको अस्वीकार करते हैं, तो जगत्‌की अगणित भोग-सामग्री पासमें रहनेपर भी सचमुच हमारा कुछ भी नहीं, यहाँकी प्रत्येक वस्तु हमारे लिये पद-पदपर दुःख-सन्तापका ही सृजन करती रहेगी।

यह अटल नियम है कि जहाँ हमने उनकी सत्ताको स्वीकार करना छोड़ा कि बस, वहीं रास्ता भूले; सुन्दर सड़कसे हटकर उधेड़-बुनके बीहड़ जंगलमें भटकने लगे, चिन्तारूपी काँटोंसे हमारे अङ्ग छिदने लगे, दुःखरूपी दावानलकी लपटोंसे सारा शरीर, मन, प्राण—सब कुछ झुलसने लगा। कहीं कोई रक्षक नहीं, पथ दिखानेवाला नहीं। तीन ओरसे त्रितापरूपी दावाग्नि हमें भस्म करनेको दौड़ी आ रही है, आगे निराशाका घोर अन्धकार छाया हुआ है। प्रभुकी उपेक्षा करते ही हमारी ऐसी-सी दशा हो जाती है। यह सम्भव है कि जवानीके जोशमें विषयोंकी मदिरा पी-पीकर उन्मत्त हो जानेके कारण हमें अपनी इस दुरवस्थाका भान पहले कुछ देरके लिये न हो, पर यह नशा उतरनेमें अधिक विलम्ब नहीं होता तथा फिर हमें उपर्युक्त अनुभूति ही होती है। प्रभुकी अवज्ञा करनेका यह अवश्यम्भावी परिणाम है! अतएव हममेंसे किसीको भी कभी भी तनिक भी ऐसा अनुभव हो—किसी प्रश्नको लेकर उधेड़-बुन होने लगे, मनमें चिन्ता चुभने लगे, जलन होने लगे, सहायकका अभाव खटकने लगे, पीछे हटनेमें तो विनाश दीखे और आगे बढ़ना सम्भव नहीं प्रतीत हो—तो उसे उस समय तुरंत निश्चितरूपसे यह समझ लेना चाहिये कि उसने प्रभुकी सत्ताका अवश्य-अवश्य अनादर किया है। पथ भूलकर सन्मार्गसे हटकर कुमार्गपर आ गया है। तथा इस विपत्तिजालसे छूटकर सन्मार्गपर आ जानेका एकमात्र उपाय यह है कि वह जहाँ जिस परिस्थितिमें है, वहीं उसी अवस्थामें प्रभुकी सर्वत्र व्याप्त सत्ताको स्वीकार कर ले। ऐसा किया कि बस, उसी क्षण वहीं प्रभुकी सत्ता व्यक्त हो जायगी, वहींसे सीधा, अत्यन्त सुन्दर मार्ग उसे दीख जायगा, प्रश्न हल हो जायगा, जलन शान्त हो जायगी, चिन्ता मिट जायगी। साथ ही—प्रभुका वरद-हस्त निरन्तर मेरे सिरपर था और है—यह अनुभूति भी उसे हो जायगी।

सच तो यह है कि यहाँ इस विश्वमें हमारे लिये कोई भी विपत्तिका जाल नहीं, दुःखका कोई भी तनिक भी कहीं भी कारण नहीं है। सर्वत्र सब ओरसे हमारे लिये मङ्गलका परम आनन्दका स्रोत बह रहा है। ऐसा इसलिये कि एकमात्र प्रभु ही सदा सर्वत्र विराजित हैं। हमारे आगे वे हैं, हमारे पीछे वे हैं, दाहिनी ओर वे

हैं, बायीं ओर वे हैं, नीचे वे भरे हैं, ऊपरकी ओर भी वे ही भरे हैं, सम्पूर्ण जगत्के रूपमें वे ही हमें दीख रहे हैं—

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ॥
(मुण्डक० २ । २ । ११)

किंतु हम इस बातको मानते नहीं, इस परम सत्यको स्वीकार नहीं करते । इसीलिये हम भ्रान्त हो जाते हैं, हमें कुछ-का-कुछ दीखने लग जाता है; नित्य मङ्गलके स्थानपर अमङ्गलका और सतत आनन्दके स्थानपर दुःखज्वालाका अनुभव होने लगता है । अब यदि हम भ्रान्तिको मिटा दें, सत्यको स्वीकार कर लें; यह मान लें कि हमारा तो प्रभुमें ही निरन्तर निवास है, बस, फिर तो हमारी सारी उधेड़-बुन, चिन्ता, दुःख सदाके लिये मिट जायँ; जहाँ दृष्टि जाय, वहीं हमें सुख-ही-सुख भरा दीखे । यह कोई आवेशजन्य धारणा (Hypnotic Suggestion) जैसी क्रियाका क्षणिक परिणाम हो, सो बात नहीं। यह तो परम सत्य सिद्धान्त है, मनीषियोंका प्रत्यक्ष स्थायी अनुभव है । कोई भी इसपर विश्वास करके नित्य सत्य प्रभुकी सर्वत्र सत्ता स्वीकार करके सदाके लिये सुखी हो सकता है ।

हम कह सकते हैं कि ऐसा करना कौन नहीं चाहेगा ? सुखकी चाह किसे नहीं है ? तो इस सम्बन्धमें यह बात है कि केवल कहने-सुननेमात्रसे ऐसी स्थिति प्राप्त नहीं होती । इसके लिये तो हमें अपने जीवनका दृष्टिकोण बदलना पड़ेगा । मानव-जीवनकी सार्थकता पशुकी भाँति भोग भोगनेमें नहीं, अपितु नित्य सत्य प्रभुकी अनुभूति कर लेनेमें है, यह दृष्टि स्थिर करनी पड़ेगी । सत्स्वरूप प्रभुसे ही हम निकले हैं, सत्स्वरूप प्रभुमें ही हमारा निवास है और अन्तमें भी हम सत्स्वरूप प्रभुमें ही प्रतिष्ठित रहेंगे—

'सन्मूलाः सौम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः ।'

इस सिद्धान्तको शरीर छूटनेसे पहले ही प्रत्यक्ष अनुभव कर लेनेके लिये कटिबद्ध होना पड़ेगा । तथा यह करके प्रभुकी ओरसे निरन्तर बहनेवाली प्रेमकी धारा, करुणाकी धाराके लिये हमें अपने अंदर मार्ग देना पड़ेगा, अपने द्वार खोल देने पड़ेंगे । अभी तो हमने सब ओरसे अपनी अगणित स्वार्थमयी इच्छाओंके किंवाड़ बनाकर उन्हें बंद कर रक्खा है । प्रभुका प्रेम, उनकी कृपा हमें अपने-आपमें मिला लेनेके लिये हमारे द्वारपर आती है, पर सब ओरसे द्वार बंद देखकर लौट जाती है । हमारी इच्छाएँ ही प्रभुके मङ्गलमय, प्रेममय, कृपामय दानसे हमें वञ्चित कर देती हैं । इसीलिये हमें अपनी इच्छाओंका त्याग करना ही पड़ेगा, अपनी इच्छा मिटाकर प्रभुकी इच्छाको अपने अंदर व्यक्त होनेके लिये मार्ग देना पड़ेगा। तभी हमारा काम होगा, तभी हमारे उद्देश्यकी पूर्ति होगी ।

एक दिनमें ऐसा हो जायगा, यह सम्भव नहीं । अपनी इच्छाओंका त्याग कर देना सहज नहीं है । यों तो प्रभुमें अनन्त सामर्थ्य है । उनकी कृपासे क्षणभर-में असम्भव सम्भव हो जाय, यह बात दूसरी है । पर साधारणतया क्रमशः ही हम अपनी इच्छाओंका त्याग कर सकेंगे । इच्छाएँ छूट जायँ, इसके लिये हमें यह विश्वास बढ़ाना पड़ेगा, यह दृढ़ धारणा करनी पड़ेगी कि वास्तवमें हमारे लिये जो भी आवश्यक है, हमें जो भी उचितरूपसे चाहिये, वह हमें प्रभु अवश्य देते हैं तथा आगे भी जो आवश्यक होगा, उसकी पूर्ति वे अवश्य करेंगे । जो हमें प्राप्त नहीं है, उसकी आवश्यकता ही हमें नहीं है, हमारे लिये जो आवश्यक है, वह प्रभु न दें, यह असम्भव है । इस भावको जाग्रत् कर प्रत्येक इच्छाकी जड़ काटनी होगी । यह भाव जितनी मात्रामें दृढ़ होता जायगा, उतनी ही मात्रामें इच्छाएँ मिटती जायँगी। और जैसे-जैसे इच्छाएँ मिटेंगी, वैसे-वैसे ही द्वार खुलने लगेंगे, हमारे अंदर प्रभुका प्रेम भरने लगेगा । उनकी

कृपा भरने लगेगी। धीरे-धीरे हमारा सब कुछ प्रभुसे एकमेक हो जायगा। प्रभुकी सत्तामें ही हमारा 'मैं' भी विलीन हो जायगा। अन्तमें सब ओर सर्वत्र बच रहेंगे एकमात्र केवल प्रभु ही; और कुछ नहीं।

पर कदाचित् हम अत्यन्त गिरी दशामें हों, इतने निर्बल हो गये हों कि इच्छाओंको छोड़नेमें अपनेको सर्वथा असमर्थ अनुभव करें, 'नाथ! तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो, मेरी कोई भी इच्छा नहीं, तुम जैसे चाहो, वैसे ही करो नाथ!' हमारा हृदय कहीं यह न पुकार सके और न हमारा दृष्टिकोण ही बदले; भोग ही हमारे जीवनका उद्देश्य बना रहे, तब हम क्या करें? हमारे-जैसोंके लिये भी आगे बढ़नेका, प्रभुकी सत्ता अनुभव करनेका कोई उपाय है क्या? है, अवश्य है! हम अपनी भोगेच्छाको लिये हुए ही प्रभुसे जुड़ें। हमें धन, जन, परिजन, स्वास्थ्य, मान-सम्मान, यश-कीर्ति—यही चाहिये तो भी कोई बात नहीं। इन्हें लिये रहकर ही इनकी पूर्तिके लिये हम प्रभुसे जुड़ें, पर इतनी सावधानी रक्खें—

(क) प्रभुपर यह बन्धन न लगावें कि वे हमारी अमुक इच्छाकी पूर्ति इस रूपमें करें। उनके सामने अपनी इच्छा रख दें, पर उन्हें उपाय न बताने लग जायँ कि इस इच्छाकी पूर्तिके लिये वे अमुक निमित्त ही निर्धारित करें। विश्वास रक्खें कि उनके असीम ज्ञानमें एक-से-एक बढ़कर इतने सुन्दर-सुन्दर असंख्य उपाय हैं कि जिनकी कल्पना भी हमारे मन-बुद्धिके लिये सर्वथा असम्भव है।

(ख) उनसे कहनेके पश्चात् वे करेंगे कि नहीं यह संशय मनमें न आने दें। वे करेंगे ही, यह विश्वास क्षण-क्षणमें दृढ़—दृढ़तर होता रहे।

(ग) प्रारम्भमें यदि वे हमारी कुछ इच्छाओंको पूर्ण न करें तो भी हम निराश न हों, पूर्ण उत्साहसे उनके सामने फिर भी अपनी दूसरी-दूसरी इच्छाओंको रखनेके लिये अवश्य आवें।

(घ) वे यदि पूर्ण करनेमें देर करें तो घबड़ाकर हम दूसरेकी ओर देखने न लग जायँ अथवा अपने बलपर पूरा करनेका मनसूबा न बाँधने लगें।

(ङ) भूलकर भी, किसीको नीचा दिखानेके लिये, किसीकी हानि करनेके उद्देश्यसे कोई भी वस्तु प्रभुसे कदापि न माँगे।

यदि उपर्युक्त पाँच बातोंकी सावधानी रखकर हम प्रभुसे कुछ भी माँगेंगे तो दोमेंसे एक बात निश्चय होगी—या तो वह वस्तु प्रभु हमें दे देंगे, या उस वस्तुके प्रति जो हमारी इच्छा है, उस इच्छाको ही मिटा देंगे। यदि उन्होंने हमारी इच्छा मिटा दी तो काम बन गया; किंतु कहीं पूर्ण कर दी तो उसमें भी इच्छा-पूर्तिके अतिरिक्त एक परम लाभ हमें और हो गया। वह यह कि उनके द्वारा प्राप्त होनेवाली वस्तु आगे ऐसी नवीन इच्छामें हेतु नहीं बनेगी जो हमारी प्रगति रोक दे। हमें उनकी ओर बढ़ानेवाले अङ्कुर ही उस वस्तुसे प्रकट होंगे। ये अङ्कुर कुछ ऐसे विचित्र होते हैं कि इनकी ओटमें अन्य समस्त इच्छाएँ मर जाती हैं। फिर तो वही स्थिति आ जाती है—इच्छाएँ मिट गयीं और हममें सब ओरसे प्रभु-ही-प्रभु पूर्ण हो गये।

अबतक जितनी बातें हमारे सामने आयीं उनका सारांश यह है—प्रभु हैं, किसीके न माननेपर भी उनकी सत्ता अक्षुण्ण रहती है। न माननेवाला माननेके कारण होनेवाले परम लाभसे वञ्चित हो जाता है। उन्हें न माननेका ही परिणाम है जीवनमें उधेड़-बुन, दुःख-ज्वाला। अन्यथा इनका अस्तित्व ही नहीं है; क्योंकि सर्वत्र प्रभु परिपूर्ण हैं, सर्वत्र आनन्द भरा है। कोई भी इस स्थितिका अनुभव प्राप्त कर सकता है। पर इसके लिये उसे इस ओर मुड़ना पड़ेगा तथा अन्य समस्त सांसारिक इच्छाओंको छोड़ना पड़ेगा। भोगकी इच्छा मिटा देनेमें असमर्थ प्राणीको भी प्रभुकी अनुभूति हो सकती है, पर तब, जब कि इच्छापूर्तिके लिये भी

वह अन्य उपायोंको छोड़कर एकमात्र प्रभुपर ही निर्भर हो जाय।

उपर्युक्त बातोंपर विचारकर यदि हम प्रभुकी सत्ता स्वीकार कर लें तो फिर हमारे जीवनमें पद-पदपर जो नयी-नयी उलझनें आती हैं, एकका समाधान करते-न-करते दूसरी आ घेरती हैं, वे न आवें, हममेंसे अधिकांश-के हृदयमें जो दुःखकी भट्ठी जलती है, वह शान्त हो जाय। उसके स्थानपर सुखका एक ऐसा स्रोत उमड़ चले कि उसकी धारामें निमग्न होकर हम स्वयं तो शीतल हो ही जायँ, हमारे सम्पर्कमें आनेवाले दूसरे भी निहाल हो जायँ। इसीलिये भारतवर्षके ऋषि परम निष्काम होकर भी यह कामना करते थे—

माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोत्।

'मैं कदापि प्रभुकी सत्ता अस्वीकार न करूँ, प्रभु भी मुझे कभी भूल न जायँ।'

हम भी यही कामना करें। सर्वप्रथम चाहने योग्य सत्य वस्तु असलमें यही है। इसीकी चाह हममें होनी चाहिये।

श्रीकृष्णलीलाका चिन्तन

(३०)

नतजानु हुए, अञ्जलि बाँधे वे धनदपुत्र—नलकूबर, मणिग्रीव श्रीकृष्णचन्द्रके चरणप्रान्तमें अवस्थित हैं, उन्हें प्रणाम कर रहे हैं। व्रजचन्द्रकी चरण-नख-चन्द्रिकाने उनमें दिव्य ज्ञानका उन्मेष कर दिया है, नवनीरद श्यामल श्रीअङ्गोंने रसकी सरिता बहा दी है। वे कभी तो उस ज्ञानके आलोकमें व्रजेन्द्रनन्दनके अचिन्त्य अनन्त ऐश्वर्यको प्रत्यक्ष अनुभव कर चमत्कृत होने लगते हैं, और कभी रसपानसे उन्मत्त होकर अपनी सुध-बुध भूल जाते हैं। श्रीकृष्णचन्द्र चकित चञ्चल भीति-विजड़ित नेत्रोंसे उनकी ओर देख रहे हैं तथा उनके आश्चर्यविस्फारित पर रससिक्त नेत्र निष्पन्द होकर श्रीकृष्णचन्द्रकी ओर लग रहे हैं। यह जानना संभव नहीं कि वास्तवमें कितने कालतक उनकी यह दशा रही है। अवश्य ही बाह्य दृष्टिसे देखनेपर तो कुछ ही क्षण बीते हैं और अब वे अखिल लोकनाथ श्रीकृष्णचन्द्रकी महिमा गाने जा रहे हैं—

कृष्णं प्रणम्य शिरसाखिललोकनाथं
बद्धाञ्जली विरजसाविदमूचतुः स्म॥

(श्रीमद्भा० १० । १० । २८)

किंतु हर्षातिरेकवश कण्ठ रुद्ध हो जाता है, वे कुछ भी बोल नहीं पाते। नेत्रोंसे अनवरत अश्रुकी वर्षा हो रही है; कपोल, वक्षःस्थल आर्द्र हो चुके हैं। वे अपने मुकुटमण्डित सिरको झुकाकर दूरसे तो वन्दना कर चुके पर उसे श्रीकृष्णचन्द्रके चरणपल्लवसे स्पर्श करा देनेके लिये वे अत्यन्त व्याकुल हैं। किंतु शरीर विवश हो रहा है, जड-सा बनकर चेष्टाशून्य हो गया है। कुछ क्षणोंके पश्चात् किसी अचिन्त्य शक्तिकी प्रेरणासे उनके हाथोंमें स्पन्दन होता है, और वे अनुभव करते हैं—सिरसे तो नहीं, पर हाथ बढ़ाकर कदाचित् चरणसरोजके स्पर्शका सौभाग्य संभव हो जाय। इस लालसासे ही वे अपने हाथ श्रीचरणोंके समीप ले जाते हैं। पर बाल्यलीलाविहारीका बाल्यवेश, बाल्यभङ्गि कुबेरपुत्रोंको यह सौभाग्य सहजमें देना जो नहीं चाहती। ऊखलसे बँधे होनेके कारण, धराशायी अर्जुन वृक्षोंके मध्यदेशमें ऊखल अटके रहनेसे वे भाग तो नहीं सकते, पर अङ्गोंसे अमानव तेजकी किरणें बिखेरते, प्रज्वलित अग्निके समान चमचम करते हुए चार हाथोंको अपने लघु-लघु चरणोंकी ओर आते देखकर वे स्थिर कैसे रह सकते हैं। जितना अधिक-से-अधिक संभव है, उतना पीछेकी ओर हटकर वे भागनेका प्रयास करते हैं।

अवश्य ही भाग नहीं पाते । किधर जायँ ? कैसे जायँ ? इसीलिये मुग्ध शिशुकी भाँति भयभीत-से होकर वे अपने करकमलोंको नचा-नचाकर उन्हें स्पर्श न करनेके लिये सङ्केत करने लगते हैं। फिर तो कुबेर-पुत्रोंमें यह शक्ति कहाँ कि उन्हें छू लें। जगत्‌में यह सामर्थ्य किसमें है जो श्रीकृष्णचन्द्रके न चाहनेपर स्वप्नमें भी क्षणभरके लिये उनकी छायाका भी स्पर्श कर ले ? पर नलकूबर-मणिग्रीवके हाथ भी श्रीकृष्णपादारविन्दके स्पर्शका सौभाग्य पाये बिना आज लौटनेवाले नहीं। युगलबन्धुओंके नेत्रोंमें वह व्याकुलता भर आती है कि जिसकी सीमा नहीं। बस, यही अपेक्षित थी। कुबेर-पुत्र श्रीकृष्णचरणोंको अपने हाथोंसे वेष्टित कर लेते हैं। उनका रोम-रोम पुलकित हो उठता है। किंतु बाल्यलीलारसमत्त अनन्त ऐश्वर्यनिकेतन श्रीकृष्णचन्द्र तो उस समय भी एक अभिनव-रस-तरङ्गमें बह चलते हैं। वे सोचने लगते हैं—'जननीके मुखसे अनेकों बार देवताओंके स्वरूपका वर्णन सुन चुका हूँ। ये हैं तो दोनों कोई देवता, पर मेरे चरण क्यों पकड़ते ……… ?' लीलामयकी यह भावना रसमें सनी रहकर अत्यन्त मसृण होनेके कारण बाहरकी ओर फिसल पड़ी, वे कुबेर-पुत्रोंकी ओर देखकर पुकार ही तो उठे—

कहन लगे हरि तिन तन चाहि, तुम तौ कोउ देवता आहि।
हम इहि गोकुल-गोप-दुलारे, क्यों हो पकरत पाँव हमारे ॥

श्रीकृष्णचन्द्रकी इस परम दिव्य रसमयी भावनाको कौन ग्रहण करे ? नलकूबर-मणिग्रीवके पास इसे धारण करने योग्य पात्र ही कहाँ है ? यह तो धारण कर सकती हैं विशुद्ध-राग-परिभावितचित्ता गोपसुन्दरियाँ, इसे ग्रहण कर सकते हैं विशुद्ध-राग-रसिक व्रजपुर-गोप, गोपशिशु, इसे लेनेकी क्षमता है विशुद्ध-वात्सल्य-रसघन-मूर्ति व्रजेन्द्रदम्पतिमें—जहाँ जिनके प्रेममें अनन्त-ब्रह्माण्ड-भाण्डोदर श्रीकृष्णचन्द्रके अनन्त ऐश्वर्यकी गन्धतक नहीं, जिनकी चरणरज-कणिकाकी छाया पड़नेसे प्रपञ्चके प्राणियोंको विशुद्ध-रागमार्गके पथिक बननेका अधिकार प्राप्त होता है। इसीलिये नलकूबर-मणिग्रीव इस मधुर रसका आस्वादन न पा सके। व्रजेन्द्रनन्दनकी वह रसमयी वाणी उनके चित्तमें उनकी पात्रताके अनुरूप भावका ही उल्लास कर सकी। उसका रूप यह बन गया। वे कुबेरपुत्र श्रीकृष्णचन्द्रकी महिमाका गान करने जा रहे थे, पर कण्ठ अश्रुपूरित होकर कर नहीं पा रहे थे। श्रीकृष्णचन्द्रकी इस रसीली उक्तिसे इतनी प्रबल, ऐसी गम्भीर धारा बह चली कि ऐश्वर्यज्ञान मानो उसमें सर्वथा डूब जानेके भयसे बरबस कण्ठसे बाहर निकलने लगा, नलकूबर-मणिग्रीव श्रीकृष्णचन्द्रकी स्तुति करने लगे—

पुलकित सरोजसे करनि जोरि बोले तहीं।
जगतपति नाथ तो गुननि गाथ जानें नहीं।
सगुन यह रूप औ निगुन बेदबाणी कहैं।
अखिल तुव मध्य है सकल जानि ज्ञानी लहैं ॥
सुजन जन लाज काज अवतार धारौ मही।
दनुज दल दुष्ट पुष्ट बल मारि तारौ तहीं।
अब करि प्रभो ! सुदृष्टि करुना कृपा-सौं भरी।
अभयपद दान देउ जन जानिये जू हरी ॥

कृष्ण कृष्ण महायोगिंस्त्वमाद्यः पुरुषः परः।
व्यक्ताव्यक्तमिदं विश्वं रूपं ते ब्राह्मणा विदुः॥
त्वमेकः सर्वभूतानां देहास्वात्मेन्द्रियेश्वरः।
त्वमेव कालो भगवान् विष्णुरव्यय ईश्वरः॥
त्वं महान् प्रकृतिः सूक्ष्मा रजःसत्त्वतमोमयी।
त्वमेव पुरुषोऽध्यक्षः सर्वक्षेत्रविकारवित्॥
गृह्यमाणैस्त्वमग्राह्यो विकारैः प्राकृतैर्गुणैः।
को न्विहार्हति विज्ञातुं प्राक्सिद्धं गुणसंवृतः॥
तस्मै तुभ्यं भगवते वासुदेवाय वेधसे।
आत्मद्योतगुणैश्छन्नमहिम्ने ब्रह्मणे नमः॥
यस्यावतारा ज्ञायन्ते शरीरेष्वशरीरिणः।
तैस्तैरतुल्यातिशयैर्वीर्यैर्देहिष्वसङ्गतैः ॥
स भवान् सर्वलोकस्य भवाय विभवाय च।
अवतीर्णोंऽशभागेन साम्प्रतं पतिराशिषाम्॥
नमः परमकल्याण नमः परममङ्गल।
वासुदेवाय शान्ताय यदूनां पतये नमः॥
(श्रीमद्भा० १० । १० । २९–३६)

'श्रीकृष्णचन्द्र ! समस्त विश्वका चित्त आकर्षित करनेवाले नराकृति परब्रह्म ! हे परमयोगेश्वर ! तुम्हीं समस्त जगत्के आदि हो, तुम्हीं पुरुषोत्तम हो, कार्य-कारणात्मक यह समस्त परिदृश्यमान जगत् तुम्हारा ही रूप है—यही अनुभूति तत्त्वदर्शी ब्राह्मणोंको होती है। समस्त भूतोंके देह-प्राण, अन्तःकरण, इन्द्रियाँ—इन सबके स्वामी तो तुम्हीं हो नाथ ! तुम्हीं सर्वशक्तिमान् काल हो, अव्यय तत्त्व हो, सर्वव्यापक हो, सर्वनियन्ता हो। तुम्हीं सत्त्वरजस्तमोमयी सूक्ष्म प्रकृति एवं प्रकृतिके कार्य हो। तुम्हीं समस्त स्थूल-सूक्ष्म शरीरोंकी सभी अवस्थाओंके साक्षी हो। अधिष्ठाता पुरुष भी तुम्हीं हो श्रीकृष्णचन्द्र ! तुम्हारे द्वारा परिचालित, तुम्हारी सत्तासे ही क्रियाशील प्राकृत मन, बुद्धि, इन्द्रियोंके द्वारा तुम्हें जान लेना सम्भव नहीं है। नाथ ! देह आदिके अभिमानसे बँधा हुआ ऐसा कौन-सा व्यक्ति इस विश्वमें है, जो तुम्हें जान ले ? क्योंकि स्वप्रकाशरूप होनेके कारण तुम तो सब जीवोंकी उत्पत्तिसे पूर्व भी एकरस वर्तमान रहते हो; फिर किस जीवकी सामर्थ्य है कि आदिस्वरूप तुमको जान ले ? प्रभो ! तुम्हीं वैकुण्ठनाथ भगवान् नारायण हो, तुम्हीं वासुदेव हो, प्रपञ्चविधाता भी तुम्हीं हो। अपने द्वारा ही प्रकाशित सत्त्वादि त्रिगुणोंसे अपनी महिमाको तुमने आच्छादित करा रक्खा है। सच्चिदानन्द परब्रह्मस्वरूप श्रीकृष्णचन्द्र ! ऐसे महामहिम तुमको जान लेनेकी क्षमता हममें कहाँ। इसलिये हम तो तुम्हें प्रणाममात्र करनेके अधिकारी हैं, तुम्हारे चरण-सरोजमें प्रणाम कर रहे हैं। भगवन् ! जीवकी शक्ति नहीं कि वह ऐसी लीला कर ले, जैसी तुम करते हो। जब कभी भी प्रपञ्चमें अवतीर्ण होते हो, तब-तब ऐसे-ऐसे परम अद्भुत चरित्रोंका प्रकाश करते हो कि जिसकी कहीं तुलना नहीं। तुम्हारी ये अतिशय आश्चर्यमयी लीलाएँ ही प्रमाण बनती हैं, ये अलोकसाधारण लीलाएँ ही इस बातका निर्णय करती हैं कि तुम अशरीर (प्राकृत शरीरसे रहित) का शरीरधारियोंमें अवतरण हुआ है। वही तुम स्वयं इस बार जगत्का ऐहिक, आमुष्मिक—अशेष मङ्गलविधान करनेके लिये अपनी सम्पूर्ण शक्तियोंसे अवतीर्ण हुए हो। भक्तोंके सर्वविध मनोरथोंको पूर्ण करना तुम्हारा नित्य स्वभाव है नाथ ! हे परमकल्याणस्वरूप ! तुम्हें नमस्कार है ! हे विश्व-मङ्गलविधायक ! तुम्हें नमस्कार है ! परमशान्त ! हृत्पद्मविहारिन् ! यदुपते ! गोपते ! तुम्हें नमस्कार है, नमस्कार !!'

परम पुरुष सबहीके कारन। प्रतिपारन तारन संघारन॥
ब्यक्त-अब्यक्त जु बिस्व अनूप। बेद बदत प्रभु तुम्हरौ रूप॥
तुम सब भूतन कौ बिस्तार। देह, प्रान, इंद्री, अहँकार॥
काल तुम्हारी लीला श्रीधर। तुम ब्यापी, तुम अब्यय ईश्वर॥
तुम हीं प्रकृति, पुरुष, महतत्व। धर, अंबर आडंबर सत्व॥
तुम हीं जीवन तुम हीं जीय। सब ठाँ तुम, कोउ अवर न बीय॥

× × ×

इंद्रिन करि तुम जात न गहे। प्रगट आहि पै परत न चहे॥
जैसैं दिष्टि कुंभ कहुँ देखै। कुंभ तौ नाहिं न दिष्टिकौं पेखै॥
कुंभ के दिष्टि होइ जब कबहीं। सो तुम दिष्टिहि देखै तबहीं॥
तातैं तुम कहुँ बंदन करैं। जानि न परहु परे तैं परैं।

(नन्ददासकृत दशमस्कन्ध)

इस प्रकार श्रीकृष्णचन्द्रका स्तवन करते-करते, उनके पारावारविहीन ऐश्वर्यसिन्धुमें अवगाहन करते-करते कुबेरपुत्रोंकी अनादि-संसरणजनित भ्रान्ति तो मिट ही जाती है, साथ ही उनका चित्त भक्तिरस-सुधापानके योग्य भी बन जाता है। उनकी अन्य समस्त वासनाएँ सर्वथा धुल जाती हैं, चित्त अतिशय विशुद्ध, निर्मल होकर, भक्ति-पीयूषसिन्धुमें डूबनेके लिये लालायित हो उठता है। इसीलिये अब वे प्रार्थना करने लगते हैं—

वाञ्छावहे किमपि नापरमात्तंबन्धो
त्वत्पादपङ्कजपरागनिषेविसङ्गात् ।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

दीनबन्धो ! हमें और कुछ नहीं चाहिये, बस

इतनी-सी अभिलाषा है कि तुम्हारे चरणपङ्कजसे झरते हुए मकरन्दका पान करनेवाले साधुपुरुषोंका सङ्ग हमें निरन्तर मिलता रहे ।

—तथा यह होकर फिर यह हो जाय—

वाणी गुणानुकथने श्रवणौ कथायां
हस्तौ च कर्मसु मनस्तव पादयोर्नः ।
स्मृत्यां शिरस्तव निवासजगत्प्रणामे
दृष्टिः सतां दर्शनेऽस्तु भवत्तनूनाम् ॥
(श्रीमद्भा० १० । १० । ३८)

भगवन् ! हमारी वाणी निरन्तर तुम्हारा ही मङ्गलमय गुणगान करे, तुम्हारे मधुस्रावी नामरूपगुणलीला आदिके कथनमें नियुक्त रहे । कर्णेन्द्रिय सदा तुम्हारी रसमयी कथाके नाम-रूप-गुणगणके श्रवणमें ही लगी रहे । हमारे हाथ तुम्हारी सेवा—परिचर्याके कर्मोंमें ही व्यस्त रहें । मन तुम्हारे चरणपङ्कजकी स्मृतिमें ही रम जाय । तुम्हारे निवासभूत जगत्के सामने हमारा सिर सदा नत रहे, सबमें तुम्हें व्याप्त देखकर सबके चरणोंमें हम झुक पड़ें । हमारे नेत्र भी केवल निहारा करें तुम्हारे देहभूत संतोंको—

हे करुनानिधि करुना कीजै, अपनी भाउ-भगति-रति दीजै ॥
बानी तुमरे गुन गन गनै, श्रवन परम पावन जस सुनै ॥
ये कर अवर कर्म जिनि करैं, प्रभु की परिचर्या अनुसरैं ॥
मन-अलि चरन-कमल-रस रसौं, चित्र-कमल-जग भूलि न बसौं ॥
हे जगदीश ! जसोदा-नंदन, सीस रहौ नित तुव-पद-बंदन ॥
तुमरी मूरति भक्त तुम्हारे, नित ही निरखहु नैन हमारे ॥

कुबेरपुत्र यह कहकर मौन होने लग गये, नहीं-नहीं उनकी वाणी पुनः प्रेमावेशवश स्वतः रुद्ध होने लगी । अस्पष्ट -स्वरमें, अश्रुसिक्त कण्ठसे वे इतना और कह पाये—

देवर्षिणा तव पदाब्जमधुव्रतेन
भूयानकारि बत नौ शपता प्रसादः ।
लीलालवोढजगदण्डपरःसहस्रो
येन त्वमक्षिविषयोऽद्भुतबालखेलः ॥
(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'नाथ ! तुम्हारे चरणसरोजके मधुपानका ही व्र[त] रखनेवाले देवर्षिने हमपर यथेष्ट कृपा की । अभिशाप देते समय उसमें अपना पूर्ण अनुग्रह भर दिया । ओह ! लवमात्र लीलाके मिससे असंख्य ब्रह्माण्डको अपने अं[ग] धारण करनेवाले तुम आज इस अद्भुत बालक्रीडाका[री] वेशमें हमारी दृष्टिके समक्ष आये हो । उनकी कृपासे ही तो महामहिम तुमको आज हम इस अभिनव शिशुवेश[में] देख पा रहे हैं प्रभो !'

अचिन्त्यलीलामहाशक्तिने भी उसी समय लीलामञ्च[की] डोरी खींच दी । दृश्य बदला और शैशवलीलारस[में] निमग्न हुए श्रीकृष्णचन्द्र क्षणभरके लिये सजग हो[कर] ऐश्वर्यके तटपर आ विराजे—अपने भक्तोंकी महिमा[का] गान करनेके लिये, अपने मुखारविन्दसे कुबेरपुत्रोंको कु[छ] आदेश देकर उनके कर्णपुटोंमें अपने कण्ठकी सुधा [...] देनेके लिये, उनकी एक चिरवाञ्छा पूर्ण कर देने[के] लिये । इसीलिये आते ही, अधरोंमें मन्द हास्य भरकर बोलने लग गये—

ज्ञातं मम पुरैवैतदृषिणा करुणात्मना ।
यच्छ्रीमदान्धयोर्वाग्भिर्विभ्रंशोऽनुग्रहः कृतः ॥
साधूनां समचित्तानां सुतरां मत्कृतात्मनाम् ।
दर्शनान्नो भवेद् बन्धः पुंसोऽक्ष्णोः सवितुर्यथा ॥
तद् गच्छतं मत्परमौ नलकूवर सादनम् ।
संजातो मयि भावो वामीप्सितः परमोऽभवः ॥
(श्रीमद्भा० १० । १० । ४०—४[२])

'कुबेरपुत्रो ! सुनो, इस घटनाको मैं बहुत पूर्व[से] जानता हूँ । तुम दोनों श्रीमदसे अंधे थे, [...] कारुणिक देवर्षिने तुमपर अपनी कृपा बरसायी, [...] देकर तुम्हारा श्रीमद नष्ट कर दिया—यह सब [...] ज्ञात है । जाओ पुत्रो ! अब तुम्हारे भवप्रवाहका [...] हो चुका । यह भी देवर्षिके दर्शनका ही प्रसाद सम[...] मुक्ति तो तुम्हें उसी दिन मिल चुकी थी, जिस [...] देवर्षिके दर्शन तुम्हें हुए । सुनो, सूर्योदय होते ही [...]

नेत्रोंपर छाया हुआ अन्धकार विलुप्त हो जाता है, वैसे ही, समचित्त, मदेकनिष्ठ महापुरुषोंका दर्शन होते ही जीवका अज्ञान-अन्धकार, भवबन्धन भी विनष्ट हो जाता है। तरुयोनि तो तुम्हें मेरी परमाभक्तिकी प्राप्ति करा देनेके लिये प्राप्त हुई थी, बन्धनके लिये नहीं। महापुरुषोंके समागमसे बन्धन होना असम्भव है, उससे तो बन्धनका नाश ही होता है। तुम्हारे बन्धन टूट गये। मेरी अनन्य रति (भक्ति) भी तुम दोनों प्राप्त कर सके हो। जो तुम चाहते थे, वह तुम्हें मिल गयी। अब तुम्हारे लिये संसारमें पुनः पतनका भय सदाके लिये समाप्त हो चुका। अनन्तकालतकके लिये मेरे परायण हुए तुम दोनों अब अपने भवनकी ओर चले जाओ।'

तब बोले हरि करुनाधाम, पूरन हौंहि तुम्हारे काम ॥
नारद प्रीतम भक्त हमारौ, तुम पर कियौ, अनुग्रह भारौ ॥
मो भक्तन कौ यहै सुभाउ, जैसैं उदित होत दिनराउ ॥
सहजहि निबिड़ तिमिर कौं हरै, अवर बहुत मंगल बिस्तरै ॥
पुनि बोले हरि सब गुन-सींव, हे नलकूबर ! हे मनिग्रीव ! ॥
अब तुम गवन भवन कौं करौ, मो माया डर तैं जिनि डरौ ॥

नलकूबर-मणिग्रीव कृतार्थ हो गये। उनके प्राण नाच उठते हैं—'कदाचित् एक दो क्षण भी और यहाँ विराम करनेकी आज्ञा मिल जाती! पर नहीं अब समय नहीं। श्रीकृष्णचन्द्रके समीपमें ही खड़े उन गोपशिशुओंके नेत्रोंमें भय भरा है, यह तो प्रभुके प्रियतम सखाओंके प्रति अपराध हो रहा है।'—कुबेर-पुत्र चलनेके लिये प्रस्तुत हो गये। उन्होंने ऊखलमें बँधे श्रीकृष्णचन्द्रकी परिक्रमा की, उन्हें बार-बार प्रणाम किया; फिर जानेकी सूचना देकर उत्तर दिशाकी ओर चल पड़े—

इत्युक्तौ तौ परिक्रम्य प्रणम्य च पुनः पुनः।
बद्धोलूखलमामन्त्र्य जग्मतुर्दिशमुत्तराम् ॥
(श्रीमद्भा० १० । १० । ४३)

इहि प्रकार गुह्यक दुवौ प्रभु बचननि उर धारि।
बेर बेर दंडवत करि उत्तर दिसा सिधारि ॥

देवर्षिके प्रति उनके हृदयमें अपरिसीम कृतज्ञता उमड़ आयी है। व्रजपुरके कण-कणके प्रति उनके रोम-रोमसे 'धन्य-धन्य' की घोषणा हो रही है—

धन्य-धन्य ऋषि-साप हमारे।
आदि अनादि निगम नहिं जानत, ते हरि प्रगट देह व्रज धारे ॥
धन्य नंद, धनि मातु जसोदा, धनि आँगन खेलत भए बारे।
धन्य स्याम, धनि दाम बँधाए, धनि ऊखल, धनि माखन-प्यारे
दीन-बंधु करुना-निधि हौ प्रभु, राखि लेहु हम सरन तिहारे।
सूर स्यामकैं चरन सीस धरि, अस्तुति करि निज धाम सिधारे ॥

व्यथित मनसे

यदि तुझे जगमें विश्वास किसीपर नहीं,
जगत-पितापर विश्वास कर मन रे!
यदि तुझे पग-पग जगमें निराशा मिली,
जगत-नियन्तापर आश कर मन रे!!
यदि तेरे आस-पास कृष्ण-पक्ष बारहमास,
कृष्ण-चन्द्रका प्रकाश भास कर मन रे!
जगत आनन्द-धाम व्यापक आनन्द-कन्द,
अपनेको व्यर्थ न उदास कर मन रे!!

—लाला जगदलपुरी

परमार्थ-पत्रावली

(श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र)

(१)

सादर ॐ नमो नारायण । आपका कृपापत्र कल्याण-सम्पादकके नाम आया था । उन्होंने आपके द्वारा किये गये प्रश्नोंका मेरे लेखसे सम्बन्ध होनेके कारण उसे मेरे पास भेज दिया । अतः जैसा कुछ समझमें आया, वैसा अपना मन्तव्य आपकी सेवामें भेजा जाता है । वैसे तो आप-जैसे पूज्य जनोंके समक्ष इन विषयोंपर कुछ निवेदन करना मेरे लिये धृष्टता ही है; किंतु आपकी आज्ञाको शिरोधार्य कर कुछ निवेदन किया जाता है । उत्तर भिजवानेमें शरीरकी अस्वस्थता तथा कार्यकी अधिकताके कारण विलम्ब हो गया; आशा है, इसके लिये आप क्षमा करेंगे ।

× × ×

प्रश्न—यदि जीव नाना हैं तो एक ब्रह्मके साथ एकता कैसे होगी ?

उत्तर—इसका उत्तर यह है कि जीवोंका नानात्व मायाके सम्बन्धसे है, वास्तविक नहीं है । माया नाम अविद्याका है और विद्याके द्वारा उसका नाश हो जानेपर जीव, जो कि ब्रह्मका ही अंश है—'ममैवांशो जीवलोके' (गीता १५ । ७), अपने अंशी ब्रह्ममें मिल जाता है। जिस प्रकार घटके फूट जानेपर घटाकाश, जो कि महाकाशका ही अंश है, महाकाशके साथ मिलकर एक हो जाता है, उसी प्रकार समझना चाहिये ।

प्रश्न—यदि जीव असंख्य हैं तो धर्मराज या ईश्वर कैसे न्याय करेंगे ?

उत्तर—जीव असंख्य होनेपर भी न्यायकारी ईश्वरके लिये उनका न्याय करना असंभव नहीं है; क्योंकि ईश्वर सर्वसमर्थ हैं, वे असम्भवको भी सम्भव कर सकते हैं; फिर यह बात तो उनके लिये असम्भव भी क्या है ? सब जीवोंका न्याय वे स्वयं कर सकते हैं या धर्मराज आदिके द्वारा करवा भी सकते हैं ।

प्रश्न—अनादित्व और सान्तत्व परस्परविरोधी धर्म हैं । इसलिये यदि मायाको अनादि एवं सान्त माना जाय तो इन दो परस्परविरोधी धर्मोंका समानाधिकरण कैसे होगा ? क्योंकि जो वस्तु अनादि होगी, वह सान्त नहीं हो सकती ।

उत्तर—जीवके साथ मायाका सम्बन्ध अनादि होनेपर भी अन्तवाला है; क्योंकि माया नाम अविद्याका है और वह अविद्या वस्तुतः कोई चीज नहीं है । वह तो भूल है अर्थात् बिना हुए ही प्रतीत होती है। यदि अविद्या वास्तवमें कोई चीज होती तो यह कहना युक्तिसंगत होता कि वह अनादि होनेपर सान्त नहीं हो सकती; परंतु जब वह कोई चीज ही नहीं, तो उसका अनादित्व भी वैसा ही है । ऐसे अनादित्वके साथ सान्तत्वका कोई विरोध नहीं हो सकता ।

प्रश्न—यदि जीव परमात्माका अंश होनेके नाते परमात्माका स्वरूप ही है तो फिर जीव और परमात्मामें प्रापक-प्राप्य-भाव-सम्बन्ध नहीं हो सकता; क्योंकि प्राप्य-प्रापक-भाव-सम्बन्ध भिन्न वस्तुओंमें ही सम्भव है ।

उत्तर—ठीक है, वास्तवमें जीव और परमात्मा अभिन्न होनेके कारण उनमें प्राप्य-प्रापक-भाव-सम्बन्ध नहीं है। जो जीव अपनेको परमात्मासे पृथक् मानते हैं, उन्हींको समझानेके लिये परमात्माको प्राप्त करनेकी बात कही जाती है । यों तो जीव सदा परमात्माको प्राप्त ही है; किंतु प्राप्त हुआ भी वह अपनेको अप्राप्त मानता है, इस भूलको मिटानेके लिये ही शास्त्रमें परमात्माको प्राप्त करनेकी बात कही गयी है ।

प्रश्न—अज्ञानका नाश होता है, यह कैसे जाना जाय, क्योंकि श्रुतिने प्रकृतिको 'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्' आदि कहकर अनादि बतलाया है ?

उत्तर—श्रुतिमें जो प्रकृतिको 'अजामेकाम्' आदि नामोंसे पुकारा है सो ठीक ही है। योगसूत्रमें भी कहा है—'कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात् ।' (२।२२) अर्थात् अविद्यारूपी माया कृतार्थ (जीवन्मुक्त) के प्रति नष्ट हुई भी अन्य सबके प्रति साधारण होनेसे अनष्ट ही है।

गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने भी कहा है—'प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।' (१३।१९)—'प्रकृति और पुरुष—इन दोनोंको ही तू अनादि जान।' परंतु साथ ही भगवान्‌ने ज्ञानके द्वारा इसका नाश भी बतलाया है—

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥

(गीता ५।१६)

'परंतु जिनका वह अज्ञान परमात्माके तत्त्वज्ञानद्वारा नष्ट कर दिया गया है, उनका वह ज्ञान सूर्यके सदृश उस सच्चिदानन्दघन परमात्माको प्रकाशित कर देता है।'

ज्ञान अथवा विद्या बुद्धिका कार्य है। माया अर्थात् अविद्याके शान्त हो जानेपर उस मायासे उत्पन्न हुई बुद्धि भी शान्त हो जाती है। ऐसी दशामें उसका कार्य ज्ञान बिना आधारके ठहर नहीं सकता। तब केवल एक चेतन विज्ञानानन्दघन परमात्मा ही रह जाता है। योगदर्शनमें भी कहा है—

तदभावात्संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम्।

(२।२५)

अर्थात् उस अविद्याके अभावसे प्रकृति-पुरुषके संयोगका अभाव हो जाता है; उसीका नाम 'हान' है और वही द्रष्टाकी कैवल्य-अवस्था है। जैसे दियासलाईसे उत्पन्न हुई अग्नि दियासलाईके काठको भस्म करके स्वयं भी शान्त हो जाती है, इसी प्रकार शुद्ध बुद्धिसे उत्पन्न हुआ ज्ञान सम्पूर्ण कार्यसहित मायाको शान्त करता हुआ स्वयं भी शान्त हो जाता है। तदनन्तर केवल एक शुद्ध चेतन ही बच जाता है। किमधिकं विज्ञेषु।

(२)

आपका लक्ष्मी-पूजनका पत्र मिला। मैं आसामकी तरफ गया हुआ था, इससे जवाब देनेमें विलम्ब हुआ। आपने लिखा कि संसार तथा शरीरमें आसक्ति बहुत होनेके कारण मन भगवान्‌में नहीं लगता, निरन्तर भगवच्चरणारविन्दोंमें चित्त लगे ऐसा उपाय लिखना चाहिये, सो ठीक है। भगवान्‌में अनन्य प्रेम होनेपर ही चित्त निरन्तर भगवान्‌में लग सकता है। इसके लिये श्रद्धाकी आवश्यकता है। भगवद्भक्तोंके द्वारा भगवान्‌के गुण-प्रभावकी कथा सुननेसे श्रद्धा बढ़ सकती है। इसके लिये सत्संग करनेकी कोशिश करनी चाहिये। तथा भगवान्‌के नाम-जपके अभ्याससे और वैराग्यसे भी मन वशमें हो सकता है। गीतामें कहा है—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥

(६।३५)

'हे महाबाहो ! निःसन्देह मन चञ्चल और कठिनतासे वशमें होनेवाला है; परंतु हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! यह अभ्यास और वैराग्यसे वशमें होता है।'

योगदर्शनमें भी कहा है—

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः (१।१२)

'अभ्यास और वैराग्यसे चित्तवृत्तियोंका निरोध होता है।'

शरीर और संसारको क्षणभङ्गुर समझनेसे एवं संपूर्ण पदार्थोंमें दुःख और दोष-दृष्टि करनेसे वैराग्य होता है। तथा भजन-ध्यानके लिये अभ्यास करनेसे अन्तःकरण

शुद्ध होता है; तब स्वतः ही वैराग्य उत्पन्न हो जाता है।

आपने लिखा कि—

लोलुप भ्रमत गृहपशु ज्यौं जहँ तहँ, सिर पद-त्रान बजै।
तदपि अधम बिचरत तेहि मारग, कबहुँ न मूढ़ लजै॥

सो ठीक है; किंतु वास्तवमें सिरपर चोट लगी समझते नहीं हैं, केवल कथनमात्र ही करते हैं। इसीसे कुपथ्यका त्याग नहीं करते।

'आपने—

'यह मन नेक न कह्यौ करै।
सीख सिखाय रह्यौ अपनी-सी दुर्मति ते न टरै।'

—उद्धृत किया सो ठीक है। अच्छी प्रकार समझनेसे दुर्मतिका त्याग होकर मन वशमें हो सकता है; किंतु विवेककी विशेष आवश्यकता है।

आपने लिखा कि—

'हौं हार्‌यौ करि जतन बिबिध बिधि, अतिसै प्रबल अजै।'

सो ठीक है, किंतु मनमें हार मानकर निराश नहीं होना चाहिये। कटिबद्ध होकर भजन-ध्यान करनेके लिये विशेष चेष्टा करनी चाहिये। सच्चे दिलसे प्रभुकी शरण होनी चाहिये, फिर उसकी कृपासे सब कुछ सहजमें ही बन सकता है। मुझे कृपा, दया, प्रार्थना आदि शब्द नहीं लिखने चाहिये। परमात्माके शरण होकर उनसे सच्चे हृदयसे विनययुक्त प्रार्थना करनी चाहिये। सच्चे हृदयकी पुकार उनके दरबारमें शीघ्र पहुँचती है।

× × ×

(३)

आपके पिताजीका देहान्त हो गया, यह शोकका विषय है। परंतु यह निरुपाय बात है। बाल-बच्चोंको तथा अपने मनको धैर्य देकर ईश्वरकी शरण लेनी चाहिये। वही दीन-दुखियोंका एकमात्र आश्रय है। यद्यपि निष्कामभावसे भगवान्‌की भक्ति करना सर्वोत्तम है; किंतु आपत्तिकालके निवारणके लिये प्रार्थना की गयी, सो कोई हर्ज नहीं, भविष्यमें विशेष ख्याल रखना चाहिये। मनुष्यको सङ्कटमें डालकर भगवान् जो परीक्षा करते हैं, यह बड़ा उपकार करते हैं; इससे पूर्वके पापोंका क्षय होता है और धीरता, वीरता, गम्भीरताकी वृद्धि होती है। × × ×।

श्रीशिव और श्रीविष्णुमें कोई भेद नहीं है। विज्ञानानन्दघन परमात्मा ही श्रीशिव और श्रीविष्णुके रूपमें प्रकट होते हैं। अतएव किसीकी भी भक्ति की जाय, वह परमेश्वरकी ही भक्ति है। आपके यहाँ 'कल्याण' जाता होगा, आठवें वर्षके विशेषाङ्क 'शिवाङ्क' में मेरा लेख देख सकते हैं, उसमें इस विषयका स्पष्टतया उल्लेख किया गया है। श्रीशिवजी महाराज भगवान् श्रीराम, श्रीकृष्ण और श्रीविष्णुके पुजारी हैं; किंतु श्रीराम, श्रीकृष्ण एवं श्रीविष्णु भगवान् श्रीशिवके कम पुजारी नहीं हैं। अतएव पुजारीके रूपमें दोनों तुल्य ही हैं।

रुद्र ग्यारह अवश्य हैं। उनमें शङ्कर नामक रुद्र ही भगवान् शिवजी हैं, बाकी सब रुद्र उन्हींकी मूर्तियाँ यानी अंश हैं। अतएव श्रीशङ्करमें आपका श्रद्धा-विश्वास एवं प्रेम कम नहीं होना चाहिये। यदि आपका मन श्रीराम, श्रीकृष्ण या श्रीविष्णुकी तरफ हो तो आप उनका ही जप-ध्यान कर सकते हैं, कोई हर्जकी बात नहीं है; क्योंकि स्वयं परमेश्वर ही श्रीराम, श्रीकृष्ण, श्रीविष्णु, श्रीशिव आदिके रूपमें प्रकट होते हैं। आप कभी शिव-शिव, कभी राधा-कृष्ण, राधा-कृष्ण और कभी राम-राम जपते हैं, इसमें भी कोई हर्ज नहीं है। परंतु एक ही नाम-रूपका जप-ध्यान और भी विशेष लाभदायक है। इसलिये एक ही नाम-रूपके जप-ध्यान करनेकी दृढ़ता रखनी चाहिये। 'श्रीराम-राम' जपना अच्छा लगता हो तो श्रीरामचन्द्रजीका ध्यान करना चाहिये। श्रीविष्णुभगवान्‌के ध्यानकी इच्छा हो तो 'नारायण-नारायण' जपना उत्तम है। इसी प्रकार 'शिव'

नामका जप करनेमें श्रीशिवका ध्यान और 'कृष्ण' नामका जप करनेमें श्रीकृष्णका ध्यान करना विशेष लाभप्रद है। नाम श्रीराम-श्रीकृष्णका जपा जाय और ध्यान चतुर्भुजमूर्ति श्रीविष्णुका किया जाय तो भी कुछ आपत्ति नहीं है; क्योंकि राम और कृष्ण श्रीविष्णु-भगवान्‌के ही नाम हैं। महाभारत आदि ग्रन्थोंमें इसका जगह-जगह प्रमाण मिलता है नाम 'नारायण' 'नारायण' जपा जाय और ध्यान श्रीराम या श्रीकृष्णका किया जाय तो भी कोई हर्ज नहीं है; क्योंकि श्रीनारायणदेव स्वयं ही तो श्रीराम और श्रीकृष्णके रूपमें प्रकट हुए हैं; किंतु जिसके नामका जप किया जाय, उसीके स्वरूपका ध्यान करना विशेष लाभप्रद है। अतएव आपकी जैसी रुचि हो, वैसा कर सकते हैं। इस विषयमें मेरी राय चाहते हैं सो यह आपके प्रेमकी बात है। आपकी जिस नाम और रूपमें रुचि हो, उसी नामका जप और स्वरूपका ध्यान करनेकी ही मेरी राय है। आपने मेरी रायके अनुसार चलनेको लिखा सो यह आपकी दया, विश्वास और प्रेमकी बात है।

आपने लिखा कि ऐसी युक्ति बतलाइये जिससे मेरी ये शङ्काएँ दूर हो जायँ, घड़ी-घड़ीमें एक भगवान्‌को दूसरेसे अच्छा और लाभदायक मानना बंद हो जाय और भगवान्‌के एक ही स्वरूपमें विश्वास हो जाय सो ठीक है, इसका उत्तर इस पत्रमें ऊपर आ चुका है।

आपने पूछा कि भगवान् विष्णुने प्रत्यक्ष दर्शन दिये, ऐसी तो बहुत-सी कथाएँ मिलती हैं; क्या भगवान् शिवके विषयमें भी ऐसी कथाएँ मिलती हैं कि उन्होंने दर्शन दिये, सो ठीक है। भगवान् शिवके विषयमें भी महाभारत, शिवपुराण आदिमें अश्वत्थामा, मार्कण्डेय, गिरिजा, नन्दीश्वर, बाणासुर-प्रभृति बहुत-से भक्तोंको प्रत्यक्ष दर्शन देनेकी कथाएँ मिलती हैं। श्रीशिवजी इतने उदार हैं कि रावण, भस्मासुर आदि राक्षसोंको भी उन्होंने प्रत्यक्ष दर्शन दिया था। × × ×।

हमारे पत्रको आप विशेष आदरसे रखते हैं और प्रेमसे पढ़ते हैं तथा पढ़नेपर आपको प्रेम एवं रोमाञ्च आदि होते हैं—यह आपकी दया और विश्वास है, इसके लिये मैं आपका आभारी हूँ।

(४)

तुम्हारा पत्र आया नहीं, हम भी नहीं दे पाये। तुम्हारे पिताजीका शरीर शान्त होनेके बाद तुमलोगोंके ऋषिकेश जानेका भी अनुमान नहीं होता। तथा तुम्हारे द्वारा और भी कोई अच्छे काम देखनेमें कम ही आते हैं। भजन-ध्यान और शास्त्रोंका अभ्यास भी कम हो गया एवं सत्सङ्गमें भी प्रेम कम मालूम होता है। शरीर और रुपयोंमें प्रेम अधिक मालूम होता है; किंतु इससे कुछ भी लाभ प्रतीत नहीं होता। सुनते हैं, तुम्हारे शरीरके लिये भी पथ्य-परहेज नहीं है। स्वादके वश होकर कुपथ्य करके बीमारीका साधन करना उचित नहीं है। भगवान्‌के भजन-ध्यानमें प्रेम करना चाहिये। हमको भूल भी जाओ तो कोई हर्ज नहीं है; किंतु भगवान्‌को नहीं भूलना चाहिये। भगवान्‌के सिवा तुम्हारा कोई नहीं है। शरीर भी अचानक एक दिन नाश हो जानेवाला है। जब शरीर भी साथ नहीं जायगा तो दूसरेकी तो बात ही कौन है। फिर तुम किसलिये पागलके समान होकर उस प्रेमी निष्कामी भगवान्‌को भूल रहे हो? इस समय भी यदि तुम नहीं चेतोगे तो पीछे कौन चेतावेगा। ऐसा मौका भी बार-बार मिलना बहुत मुश्किल है। समय बीता जा रहा है। जल्दी चेतना चाहिये। अबकी बार ऋषिकेशमें सत्सङ्ग बहुत ठीक हुआ। आगे ऋषिकेशमें तुम्हारा ध्यान लगा था, उसी प्रकार ध्यानकी कोशिश करनी चाहिये।

(५)

आपने लिखा कि हमारे पिताजी हमारे साथ ठीक बर्ताव नहीं करते—सो आपको हमारा कहना मानकर

नित्य उनके चरणोंमें पड़ना चाहिये तथा उनके शरीरकी यथासाध्य सेवा करनी चाहिये। उनकी आज्ञाका पालन करना चाहिये, फिर उनका आपके साथ बहुत प्रेमका बर्ताव हो सकता है, ऐसा हमें विश्वास है। आपके सेवाभावकी कमीके कारण उनके बर्तावमें दोष आ सकता है, और कोई भी कारण नहीं है। आपको पहले अपना बर्ताव सुधारना चाहिये, पीछे उनका आप ही सुधार हो सकता है तथा घरवालोंकी तरफसे सुख चाहते हैं तो उनके साथ प्रेमका बर्ताव और उनकी सेवा करनी चाहिये।

एक बात और भी आपको कही थी, वह याद होगी। उसे काममें लाना चाहिये। ब्रह्मचर्यका व्रत दृढ रखना चाहिये। दूसरी स्त्रियोंको माताके समान समझना चाहिये। अपने भाईसे बहुत प्रेम रखना चाहिये। उसका उपकार हो, ऐसी चेष्टा रखनी चाहिये। आप उसका उपकार करेंगे, तब वह आपका बिगाड़ कभी नहीं कर सकता।

(६)

साधन तेज होनेमें भगवान्‌की दयाको हेतु समझकर अभ्यास करना चाहिये। भोगोंसे वैराग्य करना चाहिये। विदेशी कपड़ा पहनना तुमने छोड़ दिया होगा। भजन-ध्यान तेज हो, इसके लिये विशेषरूपसे प्रयत्न करना चाहिये। समय बीता जा रहा है। एक पल भी वृथा खोना उचित नहीं है। ऐसा मौका मिलना बहुत मुश्किल है। समयको अमोलक समझकर दिन-दिन उसे ऊँचे काममें बिताना चाहिये।

गीता और सनातनधर्म

(एक महात्मा)

इस समय संसारभरमें क्रान्तिकी लहर उठ रही है। संसारका स्वरूप ही बदल रहा है। उस क्रान्तिकी एक हिलोर भारतद्वीप (हिंदुस्थान) में भी आ गयी है और यहाँ भी राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक, साहित्यिक आदि सभी क्षेत्रोंमें क्रान्तिके लक्षण दिखायी दे रहे हैं, जिसके परिणामस्वरूप चारों ओर दुःख-ही-दुःख छा रहा है। ऐसी अवस्थामें मानव-जातिको शान्ति-सुखका मार्ग दिखानेवाला यदि कोई ग्रन्थ है तो वह श्रीमद्भगवद्गीता है। यह एक ही ऐसा सर्वमान्य ग्रन्थ है, जिसमें मनुष्य-जीवनको सफल बनानेवाले सब विषय सन्निविष्ट हो गये हैं। इसके सम्बन्धमें किसीका मतभेद नहीं है और सब प्रकारके अधिकारियोंका चित्त यह अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है। सनातन धर्म जो नित्य और जीवमात्रका कल्याणकारी धर्म है। उसके तो सब अङ्गोंका बीज इसमें निहित है। सन्तोषका विषय है कि हिंदके वर्तमान प्रधानमन्त्री पं० नेहरूजीने स्वीकार किया है कि वे गीताके सिद्धान्तोंको मानते और गीताका आदर करते हैं। जब कि वे गीताको मानते हैं तब उन्हें सनातन धर्मके सिद्धान्तोंको मानना ही होगा; क्योंकि सनातन धर्मकी ही सब बातें गीतामें ग्रथित हैं। यह कहा जाय, तो अत्युक्ति नहीं होगी कि संसारमें जो कुछ तत्त्व-ज्ञान है, वह सब गीतामें विद्यमान है और जो गीतामें नहीं है, वह कहीं भी नहीं है। भारतवर्षके वर्तमान गवर्नर-जनरल श्रीचक्रवर्तीजी भी ब्राह्मण हैं, आस्तिक हैं और गीताके प्रेमी हैं। इस समय क्रान्तिकी लहरसे जो सब क्षेत्रोंमें उलझनें पड़ गयी हैं, उनके सुलझानेमें गीता परम सहायक हो सकती है। अतः इसका सर्वत्र जोरोंसे प्रचार होना आवश्यक है। यह कार्य पुस्तक-प्रकाशन और व्याख्यानोंद्वारा किया जा सकता है; परंतु यदि स्कूल-कालेजोंमें अनिवार्यरूपसे पाठ्य-पुस्तकोंमें गीताको स्थान दिया जाय तो उसका प्रभाव स्थायी रहेगा और भावी पीढ़ी अपने लक्ष्यपर डटी रहेगी। लक्ष्यभ्रष्ट नहीं होगी। गीतामें सनातन धर्मके सब विषय किस प्रकार आ गये हैं, इसका कुछ दिग्दर्शन यहाँ कर देना उचित जान पड़ता है।

गीताका सर्वप्रधान सिद्धान्त है—ईश्वर और परलोकमें विश्वास। जो व्यक्ति ईश्वर और परलोकको माने, वही आस्तिक है। जो गीताको मानते हैं, उन्हें ईश्वर और परलोकको मानना ही होगा। जो इन दो बातोंको मानेगा—वह पाप-पुण्य, जन्मान्तर, त्रिगुण, त्रिभाव, वर्णाश्रम आदि सनातन

धर्मके मौलिक अङ्गोंको भी मानेगा; क्योंकि विश्व-व्यापक धर्मका प्रतीक है गीता।

मनुष्यको सबसे पहले जाननेयोग्य यदि कोई तत्त्व है, तो वह ईश्वर-तत्त्व है। श्रुतिका भी यही सिद्धान्त है कि इसके जान लेनेसे सब कुछ जान लिया जा सकता है। ईश्वर-तत्त्वको गीताने जैसा समझाया है, वैसा अन्यत्र कहीं देखने-में नहीं आयगा। गीतोपनिषद्में श्रीभगवान् आज्ञा करते हैं—

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः॥
(८।३)

'जो परम अक्षर है अर्थात् जिसका कभी क्षय नहीं होता है, वही ब्रह्म है और उनका स्वभाव सच्चिदानन्दमय है। यह श्रुति-स्मृति सबके द्वारा सिद्ध है। उस सच्चिदानन्दमय स्वभावका भूतोंकी उत्पत्तिके लिये जो त्याग कराता है; वही कर्म कहाता है।'

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर॥
(गीता ८।४)

जो क्षर (परिवर्तनशील और नाश होनेवाला) भाव है वह अधिभूत है और पुरुष अधिदैव है। देहधारी जीवोंके देहोंमें मैं ही अधियज्ञरूपसे प्रतिष्ठित हूँ। श्रीभगवान्‌के इन वचनोंका तात्पर्य यह है कि सच्चिदानन्दस्वभाव, निर्गुण-निराकार, सदा एकरस रहनेवाला भगवान्‌का जो अक्षर भाव है, वही ब्रह्मभाव कहलाता है। उनकी त्रिगुणमयी प्रकृति जब कर्मके द्वारा परिणामिनी होकर पिण्ड ब्रह्माण्डरूपी सृष्टि प्रकट करती है, तब उस परिणामशील विराट् मूर्तिधारीका नाम अधिभूत होता है और द्रष्टा-दृश्यात्मक जो भगवान्‌का सगुणभाव है, वह अधिदैव भाव है। [illegible]ा ब्रह्म नाम इसी अधिदैव भावका है। वे ही सृष्टिकर्ता भग[illegible] ब्रह्मा, स्थितिकर्ता विष्णु और संहारकर्ता शिवके रूपमें प्रत्येक ब्रह्माण्डका सृष्टि-स्थिति-लय-कार्य किया करते हैं। श्रीभगवान्‌के ही अंशरूपसे पुरुष भावा-पन्न वसुगण, रुद्रगण, आदित्यगण, कर्मके नियन्ता यम धर्मराज आदि सब देवपदधारी परम पुरुष सगुणरूपके अङ्गभूत होकर—अपने-अपने कार्य-क्षेत्रमें पुरुष कहाते हैं, इसीसे सांख्य-दर्शनने बहु पुरुष माने हैं। इस पुरुषभावका यहाँतक विस्तार है कि वह भाव सब पिण्डोंके द्रष्टासे सम्बन्ध रखता है। यदि मनुष्य अपने पिण्डका द्रष्टा है तो वह पुरुष है और चतुर्विध भूतसङ्घों-के रक्षक और सञ्चालक जो अलग-अलग देवता हैं, वे भी पुरुष कहलाते हैं; क्योंकि वे जीव असम्पूर्ण हैं। रक्षक देवताओंके बिना उनका अस्तित्व रह नहीं सकता। यही सब पुरुषोत्तमरूपी भगवान्‌के पुरुषभावका विस्तार है और प्रत्येक मनुष्यपिण्डमें जो सच्चिदानन्दरूपी उनकी चेतन सत्ता ओतप्रोतरूपसे विद्यमान है; वही भगवान्‌का अधियज्ञरूप है। जिस ज्ञानवान् मनुष्यकी कुछ भी दार्शनिक बुद्धि होगी, वह भगवान्‌के अध्यात्म, अधिदैव, अधिभूत और अधियज्ञभावको जानकर कृतकृत्य हो जायगा। इस प्रकारका सूक्ष्म विवेचन गीताको छोड़कर अन्यत्र कहीं नहीं पाया जाता। धर्मके सब अङ्गोंका विवेचन करनेवाले और भगवान्‌के स्वरूपके निदर्शक गीताशास्त्रको जो हृदयङ्गम करेगा उसके लिये नास्तिकताका अवकाश ही नहीं रह जायगा।

हिंदू-संस्कृतिमें परलोकवादका रहस्य बहुत ही विस्तारसे पाया जाता है। हमारे वेद-पुराण और तन्त्र आदि शास्त्र एक वाक्य होकर यह सिद्ध करते हैं कि हमारा यह स्थूल मृत्यु-लोक सूक्ष्म दैवी राज्यकी सहायतासे ही स्थित है और दैवी सहायतासे ही इसके समस्त कर्मोंकी निष्पत्ति होती है। समष्टि और व्यष्टि अर्थात् ब्रह्माण्ड और पिण्डका समस्त सृष्टि-स्थिति-लय कार्य दैवी सहायतासे ही हुआ करता है। जैसे एक साम्राज्य चलानेके लिये नाना प्रकारके विभाग और उनके अधिकारी होते हैं, वैसे ही दैवी राज्यके भी अनेक विभाग और पदधारी देवता हैं। ज्ञान-राज्यरूपी अध्यात्मराज्यके सञ्चालक ऋषिगण हैं। कर्मरूपी अधिदैवराज्यके सञ्चालक नाना श्रेणीके देवता हैं। और स्थूल शरीररूपी अधिभूत-राज्यके सञ्चालक नित्य पितर होते हैं; जो एक प्रकारके देवता हैं। इस दैवी शृङ्खलाका पूरा प्रमाण गीतामें मिलता है। विभूतियोग अध्यायमें लिखा है कि 'वसूनां पावकश्चास्मि' अर्थात् 'मैं वसुओंमें पावक हूँ।' प्रधान वसु आठ हैं। उनके नाम वेद और शास्त्रोंमें पाये जाते हैं। उन आठोंमें पावककी प्रधानता मानी जाती है। उनके मृत्युलोकमें अवतार भी हुआ करते हैं जैसा कि महाभारतमें लिखा है कि भीष्मपितामह वसुओंमेंसे ही एकके अवतार थे। इसी अध्यायमें लिखा है कि मैं एकादश रुद्रोंमें शङ्कर हूँ। मैं द्वादश आदित्योंमें विष्णु हूँ। यथा—'रुद्राणां शङ्करश्चास्मि', 'आदित्यानामहं विष्णुः।' इसी प्रकार कर्मके नियन्ताओंमें मैं यम हूँ और मैं नित्य पितरोंमें अर्यमा हूँ। यथा—

'पितॄणामर्यमा चास्मि' 'यमः संयमतामहम्।'

'सब जलके अधिष्ठाता देवताओंमें वरुण हूँ।'

'वरुणो यादसामहम् ।'

'मैं देवर्षियोंमें नारद और गन्धर्व-श्रेणीके देवताओंमें चित्ररथ हूँ ।'

'देवर्षीणां च नारदः' 'गन्धर्वाणां चित्ररथः ।'

'मैं महर्षियोंमें भृगु हूँ ।'

'महर्षीणां भृगुरहम् ।'

'यक्ष-राक्षसोंकी देवयोनियोंमें मैं कुबेर हूँ ।'

'वित्तेशो यक्षरक्षसामहम् ।'

'देवोंके सेनानियोंमें मैं स्कन्द हूँ ।'

'सेनानीनामहं स्कन्दः ।'

'वेगवान् पदार्थोंमें वायुके अधिष्ठातृदेवताके रूपमें मैं वायुदेव हूँ ।'

'पवनः पवतामस्मि ।'

इन वचनोंसे दैवी राज्यके उच्चपदधारी जो देवता हैं, उनकी अच्छी तरहसे सिद्धि होती है और साथ-ही-साथ दैवी शृङ्खला (आर्गनिजेशन) की भी अच्छी तरहसे सिद्धि होती है।

वर्णाश्रम-शृङ्खला माननेवाली सनातनधर्मी प्रजाका धर्म सोलह अङ्गोंमें विभक्त है । उन सोलहों अङ्गोंका बीज श्रीमद्भगवद्गीतामें पाया जाता है । रजोवीर्यकी शुद्धि रखनेवाले वर्णधर्मका मूल स्त्रियोंका सतीत्वधर्म है । उस सतीत्वधर्मके विषयमें, जातिधर्मके विषयमें, कुलधर्मके विषयमें, श्राद्ध-पिण्डदान आदिके विषयमें श्रीमद्भगवद्गीतामें अनेक प्रमाण हैं । यथा—

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥
(३ । २४)

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ॥
संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥
दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥
उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥
(१ । ४१–४४)

इन श्लोकोंके द्वारा श्रीभगवान् कृष्णचन्द्र आज्ञा करते हैं कि यदि मैं कर्म न करूँ तो ये सब लोक उच्छिन्न हो जायँगे, मैं सङ्करका कर्ता बनूँगा और इस सारी प्रजाका नाश कर डालूँगा; अर्थात् स्त्रियोंके सतीत्वकी रक्षाके लिये श्रीभगवान्‌को भी कर्म करना पड़ता है । सतीत्वके नष्ट होनेसे संकर-सृष्टि होती है और संकर-सृष्टि होनेसे कैसा अनर्थ होता है, इस विषयमें गीता कहती है—'अधर्मके बढ़ जानेसे कुलस्त्रियाँ बिगड़ जाती, दूषित हो जाती हैं। स्त्रियोंके सतीत्वसे भ्रष्ट हो जानेसे वर्णसङ्कर-सृष्टि होती है । यह सङ्कर-सृष्टि कुल और कुलघातकी—दोनोंको नरकमें ले जाती है । पिण्ड और पानीके न मिलनेसे उनके पितरोंका पतन होता है । शाश्वत (सनातन) जातिधर्म और कुलधर्म नष्ट हो जाते हैं और जब मनुष्योंके कुलधर्म ही नष्ट हो जाते हैं, तब उन्हें चिरकाल तक नरकमें पचना पड़ता है ।

जन्मान्तर-वादके विषयमें गीताके दूसरे अध्यायमें बहुत कुछ स्पष्ट वर्णन है । इस स्थूल-शरीरके नाश होनेपर सूक्ष्म-शरीर और कारण-शरीर लोकान्तरमें चला जाता है । स्थूल-शरीर यहाँ ही पड़ा रहता है, जिसको मृत देह कहते हैं । उस समयकी सूक्ष्म-शरीरकी अवस्थाको लेकर चार प्रकारकी गतिका वर्णन मीमांसाशास्त्रने किया है । १—देवयान, २—पितृयान, ३—ऐशगति, ४—सहजगति । पहली देवयान अर्थात् शुक्लगति उसको कहते हैं, जिसमें मुक्त आत्मा सूर्यमण्डलका भेदन कर आगे बढ़कर मुक्त हो जाते हैं । दूसरी पितृयान अर्थात् कृष्णगति, जिसमें साधारण अधिकारके जीव चन्द्रलोकतक जाते हैं और फिर लौटकर इसी मृत्युलोकमें आ जाते हैं । तीसरी ऐशगति, जिसके द्वारा उन्नत देवता होनेयोग्य उन्नत आत्मा देवलोकके देवता बन जाते और देवलोकके नियमानुसार आगे बढ़ते हैं । जैसे—नन्दिकेश्वर, बलि, हनूमान् इत्यादि । चौथी सहजगति, इसमें जीवन्मुक्त महात्मा यहीं शरीर छोड़ते समय ब्रह्मपदमें विलीन हो जाते हैं । इन चार प्रकारकी गतियोंमेंसे दो गतियोंका गीताशास्त्रमें अच्छी तरहसे वर्णन किया है । यथा—अध्याय ८ श्लोक २४ से २६ तकमें वर्णन है कि कृष्ण-शुक्लगतियोंमें जीव किस प्रकार आगे बढ़ता है—

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥
धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययाऽऽवर्तते पुनः ॥
(८ । २४-२६)

इस प्रकारसे स्त्रियोंके सतीत्व-धर्मकी महिमा और आवश्यकता तथा वर्णधर्मके मूलका सतीत्व-धर्मसे कैसा सम्बन्ध है एवं श्राद्धपिण्डका आर्य-जातिमें कैसा महत्त्व माना गया है । जन्मान्तरवादविज्ञान—परलोकमें जीवकी कैसी गति होती है और उस अवस्थामें सहायता देनेकी कैसी आवश्यकता होती है, और पिण्डदान, श्राद्धदायभाग आदिके द्वारा कैसे सहायता दी जा सकती है, इसका सब मौलिक विज्ञान गीतामें विद्यमान है ।

महान् कालके विषयमें, जिसका वर्णन आर्यगण अपने नित्यके पूजा-सन्ध्यादिके सङ्कल्पमें उल्लेख करते हैं, भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें इस प्रकार वर्णन किया है—

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥
अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥
(८ । १७-१८)

अर्थात् एक सहस्र चौकड़ी युगका ब्रह्माका एक दिन होता है और इतनी ही रात्रि होती है । दिन होनेपर अव्यक्तसे सब कुछ व्यक्त हो जाता है और रात्रिमें सब व्यक्त फिर अव्यक्तमें लीन हो जाता है । यह कालका जो माप कहा गया है, वह देवताओंके हिसाबसे है । ज्योतिष और पुराणशास्त्रके अनुसार दैवीकाल और मानुषकालका अन्तर निकालनेपर इस प्रकार होता है—४३२००० मनुष्योंके वर्षोंका एक कलियुग होता है । कलियुगसे दूने वर्षोंका द्वापर, तिगुने मानववर्षोंका त्रेता और चौगुने मानववर्षोंका सत्ययुग होता है । इन चारों युगोंको एक साथ जोड़नेसे जो संख्या होती है, उसको महायुग कहते हैं । ऐसे ७१ महायुगोंका एक मन्वन्तर होता है । अर्थात् ३०६७२०००० मानव-वर्षोंका एक मन्वन्तर होता है । प्रत्येक मन्वन्तरमें सृष्टि-कर्ता भगवान् ब्रह्मा, स्थितिकर्ता भगवान् विष्णु और संहार-कर्ता भगवान् शिवके अतिरिक्त देवलोकके सञ्चालक सब देवपदधारी बदल जाते हैं । जैसे मृत्युलोकमें जब राजा या राष्ट्रपतिका परिवर्तन होता है, तब उसीके साथ सब पदधारी बदल जाते हैं । वैसे ही प्रत्येक मन्वन्तरमें सब देवसङ्घ, ऋषिसङ्घ और पितृसङ्घ बदल जाते हैं । हमारे पूज्य प्राचीन महर्षि त्रिकालज्ञ थे । सृष्टिके आरम्भसे अबतक जितने मन्वन्तर हो गये हैं और भविष्यमें जितने होंगे, उनका उन्होंने मार्कण्डेय आदि पुराणोंमें विस्तारसे उल्लेख कर दिया है । इस कारण पुराणादिमें भूतकालका तो विवरण है ही, किंतु भविष्यका भी विवरण पाया जाता है । ऐसे चौदह मन्वन्तर हो जानेपर अर्थात् १४ मनुके बदल जानेपर जो समय होता है, उसे कल्प कहते हैं और ऐसा एक कल्प ब्रह्माका एक दिन माना गया है । हिंदू-जातिके ज्यौतिष तथा वेदशास्त्रोंमें जो गणना पायी जाती है, उसके अनुसार सृष्टिकर्ता भगवान् ब्रह्मा मानवकालके अनुरूप १०० वर्षकी आयु बीत जानेपर ब्रह्ममें लीन हो जाते हैं । और उनके स्थानमें दूसरे ब्रह्मा आ जाते हैं । हमारे शास्त्रोंका यह चमत्कार है कि प्रत्येक आर्य व्यक्ति अपने नित्यके सङ्कल्पमें इस विशाल ब्रह्माण्डका स्वरूप और कालको आँखोंके सामने रखकर सङ्कल्पमन्त्र पढ़ते हैं; परंतु खेद है कि कालप्रभावसे इस ओर किसीकी दृष्टि ही नहीं जाती । ऐसे विशाल दैवी जगत् और विशाल कालका वर्णन बीजरूपसे श्रीमद्भगवद्गीतामें पाया जाता है ।

वर्ण और आश्रमधर्म, जो हिंदू-धर्मके प्रधान अङ्ग हैं, उनका संक्षिप्त वर्णन गीतामें कई स्थानोंमें आया है । यथा—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥
(४ । १३)

अर्थात् गुणकर्मके विभागानुसार मैंने चातुर्वर्ण्यकी सृष्टि की है । मुझे उसका कर्ता समझो और अव्यय अकर्ता भी जानो । श्रीमद्भगवद्गीतामें आरम्भसे लेकर अन्ततक गुण शब्दसे त्रिगुण अर्थात् सत्त्व, रज, तमोगुणको माना है । ये ब्रह्म-प्रकृतिके तीन गुण हैं । इन तीनों गुणों और पृथक्-पृथक् कर्मोंके अनुसार श्रीभगवान् कहते हैं कि मैंने चातुर्वर्ण्य-की सृष्टि की है । जब कि मेरी प्रकृति ही यह कार्य करती है तो इस विचारसे मैं चातुर्वर्ण्यका कर्ता हूँ और जब मैं प्रकृतिका द्रष्टामात्र हूँ तब मैं अव्यय इसका अकर्ता भी हूँ । तीनों गुणोंके अनुसार, सत्त्वप्रधान, सत्त्वरजःप्रधान, रजस्तमःप्रधान और तमःप्रधान—इस प्रकार चार वर्णोंकी प्रकृतिके अनुसार गीतामें चारों वर्णोंके लक्षण कहे गये हैं जो अध्याय १८ श्लोक ४१ से ४५ तकमें देखने योग्य हैं । इस प्रकार वर्णधर्म और आश्रमधर्मके अनेक मौलिक सि[illegible] श्रीमद्भगवद्गीतामें स्थान-स्थानपर मिलते हैं और संन्यास[illegible] सम्बन्धमें तो बहुत विस्तारके साथ गीतामें वर्णन आया है

वास्तवमें संन्यास क्या है ? कर्मयोग और संन्यासयोगमें क्या अन्तर है, सांख्य और कर्मयोगका कैसे समन्वय किया जाता है। इनका पृथक्-पृथक् लक्षण संन्यासके सिद्धान्तको समझनेके लिये ही भगवान्‌ने बहुत कुछ बताया है।

यज्ञ और महायज्ञरूपी धर्म हिंदूधर्मके सोलह प्रधान अङ्गोंमेंसे एक है। इसका भी वर्णन गीतामें विस्तारके साथ आया है। मीमांसादर्शनमें वर्णन है कि जो धर्मकार्य एक साथ श्रीभगवान्‌की प्रसन्नता सम्पादन करके देवपदधारियोंके अभ्युदयका कारण होता है, वही यज्ञ कहाता है। जो व्यक्ति-विशेषके मङ्गलके लिये कर्म किया जाता है, वह यज्ञ है और जो समष्टिके मङ्गलके लिये किया जाता है, वह महायज्ञ है। अग्निष्टोम, राजसूय आदि व्यक्तिके कल्याणके लिये किये जानेवाले यज्ञ हैं और ऋषियोंके संवर्धनके लिये किया जानेवाला ऋषियज्ञ, देवताओंके संवर्धनके लिये किया जानेवाला देवयज्ञ, पितरोंके संवर्धनके लिये किया जानेवाला पितृयज्ञ, जीवमात्रके संवर्धनके लिये किया जानेवाला भूतयज्ञ और मनुष्यजातिके संवर्धनके लिये किया जानेवाला नृयज्ञ—ये पञ्च महायज्ञ कहाते हैं। समष्टिके लिये मङ्गलकारक होनेसे ये महायज्ञ हैं। यज्ञका अपूर्व और अलौकिक विज्ञान श्रीभगवान्‌ने गीता अध्याय ३ श्लोक १०—१६ तक विस्तार-पूर्वक वर्णन किया है। उससे यज्ञकी व्यापकता और महत्ता विदित हो जाती है। इसी तरह गीता अध्याय ४ श्लोक २३से३२ तक यज्ञके भेद और उसका व्यापकत्व बताया है। अन्तमें गीता अध्याय १७ श्लोक ११—१३ तक सात्त्विक, राजस और तामस यज्ञके लक्षण बताये हैं। इस कारण गीतामें यज्ञ और महायज्ञके मौलिक विज्ञान और विस्तारका अच्छी तरह प्रमाण मिलता है।

अवतार-विज्ञानका महत्त्व और अवतारके आविर्भाव और तिरोभावका जैसा सुन्दर विज्ञान गीताशास्त्रमें पाया जाता है, वैसा अन्यत्र कहीं नहीं मिलता। सर्वशक्तिमान् भगवान्‌के पूर्णावतार श्रीकृष्ण भगवान्‌ने निजमुखसे कहा है—

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप॥
अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥
यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥
जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥

(अ० ४ श्लो० ५—९)

अर्थात् 'हे अर्जुन ! मेरे और तुम्हारे अनेक जन्म हो चुके हैं उन सबको मैं जानता हूँ, तुम नहीं जानते। यद्यपि मैं जन्मरहित हूँ, अविनाशी हूँ और सब भूतोंका ईश्वर हूँ, तथापि अपनी प्रकृतिका आश्रय कर अपनी मायासे जन्म ग्रहण किया करता हूँ। जब-जब धर्मकी ग्लानि और अधर्मका अभ्युदय होता है, तब-तब मैं आविर्भूत होता हूँ। साधु-सज्जनोंकी रक्षा और दुराचारियोंका नाश करने तथा धर्म-संस्थापनाके लिये मैं युग-युगमें अवतीर्ण हुआ करता हूँ। इस प्रकार मेरे दिव्य जन्म और कर्मको यथार्थरूपसे जो जानते हैं, देहान्तके पश्चात् उनका पुनर्जन्म नहीं होता। वे मुझको प्राप्त हो जाते हैं।'

मीमांसाशास्त्रमें दार्शनिक युक्तिसे यह सिद्ध किया गया है कि साधारण व्यक्तियों और विभूतियोंको जैसा शरीर धारण करना पड़ता है, वैसा अवतारोंको भी धारण करना पड़ता है, जन्म और कर्मके इस रहस्यको सब नहीं समझ सकते। भगवान्‌के अवतार ही समझते हैं। विशेषत्वके कारण अवतारोंमें अध्यात्मशक्तिरूपी ज्ञान, दैवीशक्तिरूपी कर्मोंके चमत्कार और आधिभौतिक शक्तिरूपी उनके कर्मोंका अलौकिकत्व विशेष-रूपसे बना रहता है। गीता-जैसे उपनिषद्-सारका प्रकाशन भगवदवतार श्रीकृष्णकी आध्यात्मिक अलौकिकताका जाज्वल्य-मान प्रबल प्रमाण है। उनकी व्रजलीला, द्वारकालीला, श्रीभगवान्‌की आधिदैविक शक्तिका और बिना शस्त्र धारण किये महाभारतके महायुद्धमें उनकी लीला, उनकी अलौकिक आधिभौतिक शक्तिका परिचायक है। श्रीविष्णुभगवान्‌के श्रीकृष्ण तो पूर्णावतार ही थे; किंतु उनके अनेक अन्य प्रकारके अवतार हुआ करते हैं। समयविशेष और कार्य-विशेषमें भगवान्‌के जो अंशावतार और कलावतार भी होते हैं वे उस समय उस कार्यको सम्पन्न कर अन्तर्हित हो जाते हैं। जैसे रामावतारके होनेपर परशुरामजीका अवतारत्व समाप्त हो गया। वे मनुष्यके अतिरिक्त अन्य शरीर भी धारण कर लेते हैं। जैसे मत्स्यावतार, कच्छपावतार, वाराहावतार, नारसिंहावतार इत्यादि। अंशावतार या कलावताररूपसे ऋषिगण और देवगण भी आविर्भूत होते हैं। महाभारतमें कहा है कि युधिष्ठिर और विदुर धर्मके और अर्जुन इन्द्रके अवतार थे। हनुमान् और दक्षिणामूर्ति शिवके अवतार थे।

देवगण कर्मरूपी अधिदैवराज्यके सञ्चालनके लिये और ऋषिगण ज्ञानराज्यरूपी अध्यात्मराज्यके सञ्चालनके लिये अवतार धारण करते हैं।

आर्य-शास्त्रमें उपासनाका जैसा विस्तार है, वैसा और कहीं नहीं है। उपासनामें उपास्य-उपासक-सम्बन्धसे निर्गुण ब्रह्मोपासना, सगुण पञ्चदेवोपासना, अवतारोपासना, ऋषि-देवता-पितरोंकी उपासना, यहाँतक कि क्षुद्र-शक्ति भूत-प्रेतोपासना-तकका वर्णन पाया जाता है। राजयोगके अनुसार निर्गुण ध्यान, लययोगके अनुसार विन्दुध्यान, हठयोगके अनुसार ज्योतिर्ध्यान और मन्त्रयोगके अनुसार देव-देवियोंके ध्यान, इस प्रकारसे उपासनाके अनेक भेद पूर्णावयव सनातन धर्ममें पाये जाते हैं। और वे इतने विस्तृत हैं कि पृथ्वीके सब उपासक-वृन्द उससे लाभ उठा सकते हैं। इस उपासनायोग-का वर्णन श्रीमद्भगवद्गीतामें बहुत कुछ पाया जाता है। यथा—

यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन् यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्॥
पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥
यजन्ते सात्त्विका देवान् यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान् भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः॥
अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥
येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥
यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥
अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

अर्थात् 'सात्त्विक बुद्धिके लोग देवताओंकी, राजसिक बुद्धिके लोग यक्ष-राक्षसोंकी और तामसिक बुद्धिके लोग भूत-प्रेतोंकी उपासना करते हैं। देवोंके उपासक देवोंको, पितरोंके उपासक पितरोंको, भूत-प्रेतोंके उपासक भूत-प्रेतोंको और मेरे उपासक मुझे प्राप्त होते हैं। पत्र, पुष्प, फल, जल, जो कुछ जो कोई भक्तिपूर्वक मुझे अर्पण करता है, उस उपासकका अर्पण किया हुआ वह सब कुछ मैं स्वीकार करता हूँ। जो अनन्यचित्त होकर मेरी उपासना करते हैं, मुझमें संलग्न उन उपासकोंका योगक्षेम मैं चलाता हूँ। अन्य देवताओंके जो भक्त श्रद्धापूर्वक उनकी उपासना करते हैं, वे अविधिसे मेरी ही उपासना करते हैं। जो जो भक्त श्रद्धापूर्वक जिस-जिस विग्रहकी उपासना करते हैं, उनकी अचल श्रद्धा उसी विग्रहमें मैं दृढ़ कर देता हूँ। कोई कितना ही दुराचारी क्यों न हो, यदि वह मुझमें अनन्य भक्ति करता है, तो वह साधु ही समझा जायगा। वह उत्तम उपासक ही है। वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और चिरशान्तिको प्राप्त करता है। हे अर्जुन! मेरा भक्त कभी नाशको प्राप्त नहीं होता, यह तुम निश्चय जानो। देह और इन्द्रियोंके सब धर्मोंको त्यागकर अनन्य होकर मेरी शरणमें आ जाओ; मैं तुम्हें सब पापोंसे मुक्त कर दूँगा। तुम चिन्ता मत करो।'

कर्मविज्ञानसे तो श्रीमद्भगवद्गीता परिपूर्ण है। कर्मका अद्भुत रहस्य जो मीमांसाशास्त्रमें नहीं पाया जाता, उससे कहीं बढ़कर गीताशास्त्रमें पाया जाता है। इसका मूल और अर्थ ऊपर दे चुके हैं कि ब्रह्मका जो सच्चिदानन्द भाव है, उसका भूतभावकी उत्पत्तिके लिये जो त्याग कराता है, उसको कर्म कहते हैं। कर्ममीमांसा इसी बातको अन्य प्रकारसे कहती है कि प्रकृतिके स्पन्दनसे ही कर्मकी उत्पत्ति होती है। कर्म क्या है, अकर्म क्या है, विकर्म क्या है, कौन-से कर्म बन्धनकारक हैं और कौन-से कर्म बन्धनकारक नहीं होते, कैसे कर्म करते हुए भी वे बन्धनकारक नहीं होते इत्यादि सब बातोंका गीतामें विस्तृत वर्णन है। निम्नलिखित भगवद्वचनोंसे इसका दिग्दर्शन कराया जाता है।

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम्॥
अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥
ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः॥
नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते॥
यत्तु कामेप्सुना कर्म साहङ्कारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम्॥
अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते॥

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥
न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥
नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥
यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥
तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥
कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन् कर्तुमर्हसि ॥
यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥
न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥

'हे महाबाहो अर्जुन! सब कर्मोंकी सिद्धिके लिये तत्त्वज्ञान-प्रतिपादक वेदान्त-सिद्धान्तमें पाँच कारण बताये गये हैं सुनो, १-अधिष्ठान (शरीर), २-कर्ता (अहङ्कारविशिष्ट जीव), ३-नाना प्रकारके करण (चक्षु आदि इन्द्रिय), ४-भिन्न-भिन्न प्रकारकी चेष्टाएँ और ५-दैव । ज्ञान, ज्ञेय (जाननेकी वस्तु) और परिज्ञाता (जाननेवाला) ये तीन प्रकारके कर्मकी प्रवृत्तिके कारण हैं तथा करण, कर्म और कर्ता इस प्रकार त्रिविध कर्मसंग्रह होता है । निष्कामभावसे सङ्ग (अभिनिवेश) से रहित और राग-द्वेषको छोड़कर जो कर्म किया जाता है, वह सात्त्विक है । फलकी आकाङ्क्षा रखकर अहङ्कारके साथ बहुत आयासयुक्त जो कर्म किया जाता है, वह राजसिक है । परिणामका विचार न कर तथा क्षय (नाश), हिंसा और अपनी शक्तिकी उपेक्षा कर मोहसे जो कर्म किया जाता है, वह तामसिक है । कर्मका अनुष्ठान न करनेसे नैष्कर्म्य (ज्ञान) की सिद्धि नहीं होती है और केवल॰ संन्यासका अवलम्बन करनेसे भी सिद्धिलाभ नहीं होता । बिना कर्म किये क्षणभर भी कोई नहीं रह सकता । राग-द्वेषादि प्रकृतिके गुण मनुष्य-को विवश करके उससे कर्म करा ही लेते हैं । शास्त्रके द्वारा [illegible]दिष्ट कर्मोंका अनुष्ठान किया करो । कर्म न करनेसे कर्म [illegible] कहीं अच्छा है । यदि तुम सब प्रकारके कर्मोंको त्याग [illegible]; तो तुम्हारी शरीर-यात्रा भी नहीं चल सकेगी । यज्ञके [illegible]ये जो कर्म किया जाता है, उसके अतिरिक्त अन्य कर्म बन्धनके कारण होते हैं । अतः हे अर्जुन ! निष्कामभावसे य[ज्ञ]के लिये ही नियत कर्म किया करो । आसक्तिहीन होकर सर्वदा कर्तव्यरूपसे विहित कार्योंका अनुष्ठान किया करो; क्योंकि अनासक्त होकर कर्म करनेसे मनुष्यको मुक्ति प्राप्त होती है । जनकादि महात्माओंने कर्मके द्वारा ही सिद्धि प्राप्त की थी । लोकसंग्रह (लोगोंको स्वधर्ममें प्रवृत्त करने) के लिये भी तुम्हें कर्म करना चाहिये । श्रेष्ठ लोग जो कुछ करते हैं, साधारण लोग भी उसीका अनुसरण करते हैं । श्रेष्ठ लोग जिसको प्रमाण मानते हैं, अन्य लोग भी उसीको प्रमाण मानने लगते हैं । हे पार्थ ! मेरे लिये कुछ भी कर्तव्य नहीं बच जाता है । त्रिभुवनमें ऐसी कोई वस्तु नहीं, जो मुझे प्राप्त न हुई हो या मेरे पानेयोग्य हो, फिर भी मैं नियत कर्म करता ही रहता हूँ ।'

सनातनधर्मके अनुसार वेद और शास्त्र अपौरुषेय हैं, वेद शब्दरूपसे और शास्त्र भावरूपसे अपौरुषेय हैं । इसी लिये पूर्णावतार भगवान्‌ने स्पष्टरूपसे कहा है—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥
(१६ । २३-२४)

अर्थात् 'जो व्यक्ति शास्त्रविधिका त्याग कर स्वेच्छाप्रवृत्त होकर कर्म करता है, उसे सिद्धि, सुख और परमगति प्राप्त नहीं होती । अतः कर्तव्याकर्तव्यके निर्णयमें तुम्हारे लिये शास्त्र ही प्रमाण है । तुम शास्त्रविधानके अनुसार अपने कर्म को जानकर उसीका आचरण किया करो ।' इससे यह सिद्ध हुआ कि गीताशास्त्रमें वेद और शास्त्रकी कैसी महिमा वर्णित की गयी है । सनातन धर्मके जो सोलह अङ्ग हैं उनमेंसे वेद-शास्त्रोंपर विश्वास एक प्रधान अङ्ग है ।

शौच और सदाचारके विषयमें संक्षेपरूपसे—श्रीमद्भगवद्गीतामें कई जगह वर्णन आया है । यथा—

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥
(१६ । ७)

—इस श्लोकका तात्पर्य यह है कि 'आसुरी प्रकृतिवाले मनुष्य धर्ममें प्रवृत्ति और अधर्ममें निवृत्ति नहीं जानते अर्थात् वे धर्माधर्म-विचारशून्य होते हैं । इस कारण वे शौच (शुद्धा-शुद्धविवेक), आचार (धर्मानुकूल शारीरिक व्यापार) को

नहीं जानते हैं अर्थात् वे शौच और आचारसे भ्रष्ट रहते हैं और सत्यहीन होते हैं अर्थात् सत्यका पालन नहीं करते हैं।' दूसरी ओर गीताके सोलहवें अध्यायमें दैवी सम्पत्तिके लक्षणोंमें श्रीभगवान्‌ने शौचको स्पष्टरूपसे कहा है। अतः शौचरूपी शुद्धाशुद्धविवेक और सदाचारपालनका मूल श्रीमद्भगवद्गीतामें स्पष्ट रूपसे पाया जाता है। आजकलके नेतृन्वृन्दोंको गीताकथित दैवी प्रकृति और आसुरी प्रकृतिके लक्षणोंको अवश्य ध्यानमें रखकर विचार करके तब कार्य करना चाहिये। श्रीभगवान्‌के सगुणरूप और निर्गुणरूपका वर्णन श्रीमद्भगवद्गीताके बहुत स्थानोंमें आया है। भगवान् जब सर्वशक्तिमान् हैं तो भक्तके कल्याणार्थ उनको सगुणरूप धारण करनेमें बाधा ही क्या हो सकती है। तथापि व्यक्त (सगुण रूप); अव्यक्त (निराकार उनके निर्गुणभाव) दोनोंके विषयमें रूपान्तरसे वर्णन गीताशास्त्रमें अनेक स्थानोंमें आया है। श्रीमद्भगवद्गीता जो वेदके उपनिषद्का साररूप है, उसमें तो मुक्तिका विषय परिपूर्ण है। कर्मके साथ मुक्तिका सम्बन्ध, उपासनाके साथ मुक्तिका सम्बन्ध और ज्ञानके साथ मुक्तिका सम्बन्ध, वेदके ये तीनों काण्ड मुक्तिको कैसे प्रतिपादन करते हैं, मुक्तात्माओंके लक्षण क्या हैं इत्यादि गम्भीर विचारोंसे तो गीता परिपूर्ण है।

विश्वरूप भगवान्

(लेखक—श्रीविश्वनाथजी महिन्दु)

संसारमें आस्तिक और नास्तिकका भेद पहलेसे चला आया है; परंतु महात्मा गांधीजीकी दृष्टिमें नास्तिक कोई नहीं। यह बात इस अंशमें ठीक है कि नास्तिक भी एक सर्वोपरि शक्तिको किसी रूपमें अवश्य मानता है और इसके विपरीत एक अंशमें यह भी कह सकते हैं कि संसारमें परमात्माको माननेवाले विरले ही हैं; क्योंकि यह निश्चित बात है कि सच्चा ईश्वरविश्वासी पाप नहीं कर सकता। इसके अतिरिक्त किसी वस्तुको अयथार्थरूपमें मानना भी न मानना ही समझा जाता है। एक पुरुषने कहा, 'मैंने शशको देखा है, उसके चार सींग होते हैं।' कहना पड़ेगा कि वास्तवमें उसने शशको नहीं देखा। इसी बातको उपनिषद्‌ने भी कहा है—

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः ॥

यह कहा जाता है कि ईश्वरका अस्तित्व अथवा स्वरूप प्रमाणगम्य नहीं, पर ऐसा मानना ठीक न होगा। इससे तो धाँधली मच जायगी। जो जैसा चाहेगा ईश्वरको मान लेगा। हमारे ऋषियोंको यह बात अभीष्ट नहीं थी। श्रुति, स्मृति सबने प्रत्यक्षादि प्रमाणोंका सहारा लिया है। भगवान् बादरायणने अपने दर्शनमें ब्रह्मकी जिज्ञासा करते हुए 'जन्माद्यस्य यतः' कहकर युक्तिपूर्वक ही ब्रह्मकी सत्ता प्रकट की है। हाँ, वह परब्रह्म अचिन्त्यरूप अवश्य है। अल्पज्ञ जीव सर्वांशमें उसको नहीं जान सकता; परंतु यह उसके कल्याणमें बाधक नहीं। चींटीकी तृप्तिके लिये सागरकी एक बूँदका अंश भी पर्याप्त है।

ईश्वरके सम्बन्धमें भिन्न-भिन्न मतोंके विचारमें अन्तर देखनेमें आता है; परंतु भगवान्‌की लीला इस संसारमें सबको दृष्टिगोचर होती है, पर उसमें भिन्नता दिखायी नहीं देती—इसका निर्णय कुछ भी कठिन नहीं है। दृष्टान्तके लिये कुछ मतोंका विचार है कि ईश्वर उनके मतप्रवर्तकोंपर मुग्ध है और मतप्रवर्तक अपने अनुयायियोंके परम हितैषी हैं। अतएव उनके मतावलम्बी घोर-से-घोर पाप करके भी यातनासे छूटकर कल्याण प्राप्त करेंगे; और दूसरे मतका धर्मात्मा-से-धर्मात्मा पुरुष भी नरकका दुःख भोगेगा; परन्तु संसारमें इसके विपरीत स्रष्टाका सबसे एक-सा बर्ताव दृष्टिगोचर होता है। भूचाल, महामारी, जल-विप्लव, अग्निकाण्ड आदि प्रकोप [illegible] ऋतु-वर्षादि आनन्दप्रद काल सबके लिये एक-जैसे [illegible] देते हैं। व्यक्तिगत सुख-दुःखमें भी कोई भेदभा[illegible] जब इस लोकमें प्रभुका किसी विशेष मतसे विशेष [illegible]

हमें दृष्टिगोचर नहीं, तब परलोकमें कैसे मान लें। अनेक भेदोंमें एक दूसरा भेद यह भी है कि कुछ मत ईश्वरको परिच्छिन्न एकदेशी मानते हैं; परंतु इससे उसके सब गुण और शक्तियोंको भी परिच्छिन्न मानना पड़ेगा। फिर वह अनन्त सृष्टिकी व्यवस्था कैसे कर सकेगा। और परिच्छिन्नतामें अनेकताका विरोध भी नहीं हो सकता। अतएव ऐसे मत अब ईश्वरको सर्वव्यापक मान रहे हैं।

यदि ईश्वरको व्यापक मानें तो ईश्वरभिन्न जीव और प्रकृतिकी सत्ता नहीं रहती; क्योंकि किसी पदार्थके लिये कुछ स्थान रिक्त चाहिये, परंतु ईश्वरकी व्यापकतासे ऐसा कोई रिक्त स्थान नहीं माना जा सकता। कहा जाता है कि ईश्वर जीव और प्रकृतिके भीतर वायु तथा अग्निकी तरह व्यापक है; परंतु वैज्ञानिक इन्हें परमाणुरूप मानते हैं (अग्निको वस्तुकी एक अवस्था-विशेष माना गया है) जिनके भीतर अवकाश रहता है। इसपर यह कहा जाता है कि ईश्वर जीव और प्रकृतिसे सूक्ष्म है। अतएव वह दोनोंमें व्यापक है। परंतु यह सूक्ष्मता क्या है—अभीतक किसीने नहीं बताया। वास्तवमें यह सूक्ष्म-स्थूलका भेद भी परमाणुरूप पदार्थोंमें ही हो सकता है। जिसके परमाणु घने, वह स्थूल और जिसके दूर-दूर, वह सूक्ष्म कहलाता है। जब जल बाष्प बन जाता है तो कहते हैं सूक्ष्म होकर फैल गया। वायुमें भी स्थूलता और सूक्ष्मता इसी नियमसे होती है। कहा जायगा कि परमात्मा निराकार होनेसे परम सूक्ष्म है; परंतु यह निराकारता क्या है? और ईश्वर, जीव—दोनों निराकार माने जाते हैं, अतएव निराकारतामें सूक्ष्म-स्थूलका भेद कैसे? प्राकृतिक पदार्थोंकी स्थितिके लिये अवकाशका होना आवश्यक है, तो निराकारके भीतर अवकाश कैसे? यदि अवकाशके बिना ही उनकी स्थिति है तो यह कैसे? निराकारवादी इसका कोई [illegible] नहीं दे सकते।

[illegible]तिने विश्वरूपमें भगवान्‌की सत्ताका वर्णन किया [illegible]सपर कोई आक्षेप नहीं हो सकता। यथा—

पुरुष एवेदꣳ सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्।
(यजु० ३१

सर्वं खल्विदं ब्रह्म।

जो कुछ हुआ और होगा, यह सब पुरुष ही है निश्चय ही यह सब ब्रह्म है।

यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्षमुतोदरम्।
(अथर्व०

भूमि उसके पैर और अन्तरिक्ष उदर है।

द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च······ तदे तन्मूर्तं यदन्यद्वायोश्चान्तरिक्षाच्च॥
(बृहदारण्यक० २। ३। १-२)

ब्रह्मके दो रूप हैं—मूर्त और अमूर्त। पृथिवी जल, अग्नि मूर्त और वायु, आकाश अमूर्त। यह निराकार और साकार रूप कहे जा सकते हैं। परब्रह्म परमात्मा जगत्‌का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है और केवल यही एक अद्वितीय सत्ता, सर्वव्यापक, सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान्, कर्ता, पालक, संहर्ता, अजर, अमर अनादि, अनन्त और नित्य रूपमें वर्तमान है।

श्रुतिने तैंतीस देवताओंकी सत्ताको माना है। और यही भेदोपभेदसे अधिक संख्यामें भी कहे गये हैं; परंतु यह भी भगवान्‌का अङ्ग है। कोई पृथक् सत्ता नहीं। श्रुतिने स्पष्ट कह दिया है—

त्रयस्त्रिंशद्देवा यस्याङ्गे।

उसी जगदीश्वरकी विशेष कला अवतारके रूपमें प्रकट होती है। यथा—

अवतारा ह्यसंख्येया हरेः सत्त्वनिधेर्द्विजाः।
यथाविदासिनः कुल्याः सरसः स्युः सहस्रशः॥
ऋषयो मनवो देवा मनुपुत्रा महौजसः।
कलाः सर्वे हरेरेव सप्रजापतयस्तथा॥
(श्रीमद्भा० १। ३। २६-२७)

सागरकी नदियोंके सदृश हरिके असंख्य अवतार हैं। ऋषि, मनु, देव, मनुपुत्र, प्रजापति—जितने भी महती विभूतिवाले महापुरुष हैं, सब भगवान्‌की कला हैं।

हमारे पूर्वज महानुभावोंमें पक्षपात न था, उन्होंने बुद्ध भगवान् और जैन तीर्थङ्कर श्रीऋषभदेवजीको भी अवतारोंमें सम्मिलित कर लिया—हमारे ऋषियोंने जीवकी सत्ताको भी ब्रह्मसे भिन्न नहीं माना। यथा—

अंशो नानाव्यपदेशात्। (वेदान्त० २। ३। ४३)
ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
(गीता १५। ७)

—इत्यादि प्रमाणोंमें जीवको ब्रह्मका अंश कहा गया है। इस प्रकार उस भगवान्की एक अद्वितीय सत्ता सिद्ध है। अन्य मतावलम्बी भिन्न प्रकारसे इसका वर्णन करते हैं, जो युक्तिसंगत नहीं है। यह भगवान्का अंशस्वरूप मनुष्य संसारमें क्या कुछ कर दिखाता है। इतिहास इससे भरे पड़े हैं। सागरकी बूँदकी यह शक्ति देखकर सागररूप भगवान्की सर्वशक्तिमत्तापर दृढ़ विश्वास हो जाता है।

परिच्छिन्नोऽल्पशक्तिर्वा व्यापकोऽन्यन्निषेधकः।
सर्वं खल्विदं ब्रह्म मन्तव्यो न तु स्वप्नभाक्॥
(सुगीता ६। १४)

कमीकी पूर्तिका उपाय

(लेखक—पं० श्रीलालजीरामजी शुक्ल, एम० ए०)

प्रत्येक मनुष्य निरन्तर अपनेमें किसी-न-किसी कमीका अनुभव करता है—किसीको धनकी कमी है, तो किसीको मकानकी, किसीको सम्बन्धियोंकी कमी है, तो किसीको अपने शारीरिक स्वास्थ्यकी कमीका अनुभव होता है। कोई व्यक्ति अपने चरित्रकी कमीके लिये अपने-आपको दुखी बनाये रहता है। इन सब प्रकारकी कमियोंकी पूर्ति कैसे हो ? सभी मनुष्य अपने-अपने दुःखसे दुखी रहते हैं। एक कमीकी पूर्ति दिखायी पड़ी तो दूसरी कमीका अनुभव होने लगता है। अब प्रश्न यह है कि क्या कोई ऐसा एक ही उपाय है कि जिससे सभी कमियोंकी पूर्ति हो जाय ?

इस प्रश्नपर विचार करनेसे एक उपाय सूझता है, वह यह कि जिस प्रकारकी कमीकी अनुभूति कोई व्यक्ति अपने-आपमें करे, दूसरेमें उसी प्रकारकी कमीकी खोज करके उसे पूरा करनेकी चेष्टा करे तो उसकी अपनी कमीकी अनुभूति नष्ट हो जाय। हालमें ही लेखकको चिन्ता हुई कि उसके पास रहनेके लिये मकान नहीं है और उसके बाद उसके बच्चोंके लिये भी मकान नहीं है। इस विचारने कुछ देरतक परेशान किया। आज प्रातःकाल इस चिन्ताका निवारण अपने-आप हो गया। मनमें विचार आया कि जिस प्रकारकी वस्तुकी कमी तुम अपने लिये अनुभव करते हो, उसी प्रकारकी कमीकी पूर्ति दूसरेके लिये करो तो तुम्हारी कमीकी पूर्ति अपने-आप ही हो जायगी।

वास्तवमें यह विचार ठीक है। मनुष्य अपनी कमीके विषयमें जबतक चिन्ता करता है, तबतक उसका विचार नकारात्मक रहता है। वह कमीके बारेमें ही सोचता रहता है। फिर जो कुछ मनुष्य सोचता है, वही उसके साथ रहता है। पर जब मनुष्य दूसरे व्यक्तिकी कमीके बारेमें सोचने लगता है और उसकी पूर्तिकी चिन्ता करने लगता है तब उसका विचार रचनात्मक हो जाता है। प्रत्येक मनुष्य दूसरे व्यक्तिकी सहायतामें जितना सफल हो सकता है, अपने-आपके लिये प्रयत्न करनेमें उतना सफल नहीं होता है। जब मनुष्यका मन रचनात्मक कार्यमें लग जाता है तो वह अपने-आपके लिये भी स्वयमेव ही सुन्दर सृष्टि कर लेता है।

मनुष्यकी इच्छाएँ उसकी कमीकी सूचक हैं। ये इच्छाएँ उसे केवल दुखी ही बनाती हैं। ये तबतक फलित नहीं होतीं, जबतक मनुष्य इच्छाओंकी ओरसे मुख नहीं मोड़ लेता। इच्छाओंकी ओरसे मुख मोड़नेसे इच्छाएँ फलित होने लगती हैं। जब हम किसी व्यक्तिसे अपने लिये पैसा माँगते हैं तो हम अपने-आपके गिर जानेका अनुभव करते हैं। पर जब हम अपने लिये न माँगकर सार्वजनिक कार्यके लिये पैसा माँगते हैं, तब हम आत्म-उत्थानका अनुभव करते हैं। इस मानसिक स्थितिमें दूसरे लोग हमारी सहायता भी करने लगते हैं। देखा गया है कि जिस बातकी किसी मनुष्यको चिन्ता [illegible] जाती है, वह उसे पूरी करनेमें कभी भी सफल नहीं [illegible] उसकी चिन्ताकी मनोवृत्ति दूसरे लोगोंकी इच्छाश[illegible] निर्बल बना देती है। अतएव वे उसे सहायता न दे[illegible] भागते हैं।

किसी प्रकारकी कमीके बारेमें नित्यप्रति चिन्ता करनेसे मन निर्बल हो जाता है। ऐसी अवस्थामें नकारात्मक भाव और भी प्रबल हो जाता है। जो व्यक्ति अपनी कमीको हटानेके लिये जितना ही अधिक चिन्तित रहता है, वह उतना ही उस कमीको दृढ़ बना देता है। रोगोंके विषयमें देखा गया है कि जो व्यक्ति अपने रोगके विषयमें जितना ही अधिक चिन्तित होता है, वह उस रोगसे उतना ही अधिक जकड़ जाता है। जब कोई व्यक्ति अपने रोगके प्रति उदासीन हो जाता है और सभी प्रकारके कष्ट और मृत्युतकके लिये अपने मनको तैयार कर लेता है तब उसका रोग जाने लगता है।

लेखकके एक छात्रको क्षय रोगका संदेह हो गया था। कुछ डाक्टरोंने भी कहा था कि उसे क्षय रोग होने जा रहा है। यह उसकी पहली हालत है। रोगीको चारपाईसे न उठनेका आदेश एक डाक्टरने दिया। घरके लोग घबड़ाये हुए थे। वह कुछ दिनोंतक इसी प्रकार रहा। अपनी चारपाईसे नहीं उठता था। पर इस प्रकार वह प्रतिदिन निर्बल होता गया। एक दिन उसके मनमें आया कि मरना यदि निश्चित है तो इससे डरना क्या? अब मृत्युका स्वागत ही करना चाहिये। इस विचारके आते ही उक्त विद्यार्थीके विचार आशावादी बन गये। वह फिर अपने अभिभावकोंसे छिपकर घूमने जाने लगा। कुछ दिनों बाद वह अपने-आपमें परिवर्तन देखने लगा। अन्तमें उसके क्षय रोगका अन्त हो गया।

लेखकके एक दूसरे मित्रके क्षय रोगका अन्त दूसरे लोगोंकी उसी रोगकी चिकित्साके प्रयत्नसे हो गया।

एक बार लेखकके पास एक सभामें जानेके लिये अच्छे कपड़े नहीं थे। उसे इस कमीकी अनुभूति हो रही थी। वह विचार करता था कि कपड़े कैसे तैयार हो जायँ, अभी पैसा भी नहीं मिला था। इसी बीच लेखकके एक शिष्यने अपने शिक्षककी इसी प्रकारकी कमीकी चर्चा की। इस शिक्षकको उसी सभामें पुरस्कार पानेके लिये बुलाया गया था। पर वह बेचारा इतना गरीब था कि सभामें उपस्थित भी नहीं हो सकता था। उसके विद्यार्थीको उसपर दया आयी और उसने अपने ओढ़ने-बिछानेके कपड़े ही शिक्षकको दे दिये। इसे देखकर [illegible] अपनी कमीको भूल गया। इसी बीच उसने दर्जीको कुछ [illegible] सिलनेके लिये दिये थे। उसका मन इनसे उदासीन हो [illegible]र वह बिना नये कपड़े लिये ही उक्त सभामें चला [illegible]पने कपड़े ही उसे फिर प्रिय बन गये। लेखकके मनमें भावना आती थी कि उस गरीब शिक्षककी सहायता की जाय। उसकी वास्तवमें सहायता कुछ भी नहीं की गयी, पर केवल भावनामात्रने ही उसकी गरीबीको दूर कर दिया।

कोई भी मनुष्य धनको प्राप्त करनेकी चेष्टासे धनी कदापि नहीं बन सकता। धन दान करनेकी इच्छासे ही मनुष्य धनी बनता है। दान करनेका भाव मनुष्यके ध्यानको अपनी कमीसे हटाकर दूसरे व्यक्तिकी कमीपर लगा देता है। इस प्रकार वह अपने-आपमें पूर्णताकी अनुभूति करने लगता है। वह जितना ही दूसरेको पूरा बनानेकी चेष्टा करता है, अपने-आप भी वह उतना ही पूर्ण बनता जाता है।

जो विद्यार्थी भली प्रकारसे विद्या-अध्ययन करना चाहता है, उसे चाहिये कि वह दूसरे विद्यार्थीको पढ़ाने लगे। अपनेसे कमजोर विद्यार्थीको पढ़ानेसे न केवल उस विद्यार्थीको विद्या आ जाती है वरं अपना मन भी पढ़नेमें ठीकसे लगने लगता है। इससे उस विद्यार्थीमें आत्मविश्वास आ जाता है और वह दिन-प्रति-दिन अपनी उन्नति करने लगता है। किसी विषयका ज्ञान हमें तबतक ठीकसे नहीं होता, जबतक हम उसे किसी दूसरेको नहीं सिखा देते। दूसरेको सिखानेके प्रयत्नसे ही विद्या ठीकसे आती है। विचार प्रकाशित करनेसे दृढ़ होते हैं और अपने-आपकी समझमें आते हैं। अधिक पुस्तकें पढ़नेवाला व्यक्ति विद्वान् नहीं बनता। उसका ज्ञान केवल पुस्तकोंमें ही रह जाता है। पर जो अपने ज्ञानका दूसरोंके लिये वितरण करता है, वही सच्चा विद्वान् बनता है। उसकी विद्या समयपर काममें आती है। वह केवल मस्तिष्कके लिये बोझ बनकर नहीं रहती। जिस समय लेखक कालेजका छात्र था, अपने साथियोंको पाठ्य विषय पढ़ाया करता था। इसके परिणामस्वरूप उसके साथी तो परीक्षामें पास होते ही थे, वह स्वयं भी उस विषयको भलीभाँति जान लेता था। जो विषय जितना ही कठिन होता था, वह लेखकको उतना ही अधिक याद भी रहता था। सरल विषयको अधिक साथी नहीं पूछते थे, अतएव उसके संस्कार मनपर दृढ़ नहीं होते थे। कठिन विषयको अधिक लोग पूछते थे, इसलिये उसे बार-बार अनेक प्रकारसे दुहराना पड़ता था। इस तरह वह विषय पक्का हो जाता था।

यदि कोई व्यक्ति अपने-आपमें किसी ऐसे दोषकी उपस्थिति देखे जिसके कारण उसे बार-बार आत्मग्लानि हो तो इसके अन्त करनेका सर्वोत्तम उपाय यही है कि वह किसी दूसरे व्यक्तिको उसी प्रकारकी कमीसे छूटनेमें सहायता करे। एक व्यक्तिको सिगरेट पीनेकी भारी लत लग गयी थी। वह

इसे छोड़ना चाहता था, पर वह लत उसे नहीं छोड़ती थी। उसने अपने एक मित्रसे सलाह पूछी। मित्र मनोवैज्ञानिक थे। उन्होंने उस समय कोई सलाह नहीं दी। किसी प्रकारकी कमजोरीकी अनुभूति करनेवाले व्यक्तिको उस कमजोरीके विषयमें व्याख्यान देना हानिकारक होता है। उसके मनको अपनी कमजोरीका चिन्तन करनेसे मुक्त करना ही उसे कमजोरीसे छुड़ानेका पहला उपाय है। अतएव मित्र-ने उसकी सिगरेटकी आदतपर कोई बातचीत नहीं की। कुछ दिनों बाद उसने एक लड़केको उसकी अभिभावकतामें रख दिया। इस लड़केको सिगरेट पीनेकी आदत थी। मित्रने इसकी आदतके विषयमें कुछ भी चर्चा नहीं की थी। इस आदतकी खोज स्वयं अभिभावकने की। अब उसे चिन्ता लगी कि इस लड़केकी आदत इतनी कड़ी न हो जाय कि वह पीछे उसको मेरे ही समान छोड़ न सके। अतएव उसने प्रतिदिन उस बालकको सिगरेट पीनेके दुष्परिणामपर उपदेश देना प्रारम्भ किया और अपना ही उदाहरण देकर उसे समझाया कि तुम भी पीछे मेरे ही सदृश पछताओगे। इस उपदेशका बड़ा ही अच्छा प्रभाव बालकके मनपर पड़ा। उसने सिगरेट पीना छोड़ दिया। पर कुछ दिनों बाद उपदेशकने भी अपने-आप-में इतना परिवर्तन पाया कि वह न केवल अपनी एक सिगरेट पीनेकी आदतको ही छोड़ दिया, वरं अनेक दूसरी बुरी आदतोंसे भी वह मुक्त हो गया।

जब कोई व्यक्ति बालकको केवल व्याख्यान अथवा उपदेश देकर चरित्रवान् बनाना चाहता है तो वह बालकको चरित्रवान् न बनाकर और भी निर्बल इच्छाशक्तिका व्यक्ति बना देता है। नैतिक उपदेशसे बालक समझ जाता है कि उसके लिये क्या करना चाहिये। पर वह बालककी इच्छाशक्ति-को मजबूत नहीं बनाता। फिर बालक भली बातको जानकर जब उसके विरुद्ध आचरण करता है तो वह आत्मग्लानिकी अनुभूति करता है। इससे उसकी इच्छाशक्ति और भी निर्बल हो जाती है। फिर वह अपने-आपको बुरे कामोंसे रोक नहीं पाता। अतएव केवल उपदेश देना बालकके चरित्रका विनाशक है। इससे अपने-आपको भी कोई लाभ नहीं होता। जब कोई व्यक्ति अभिमानरहित होकर बालकसे बात करता है और अपने-आपको उससे श्रेष्ठ सिद्ध करनेकी चेष्टा नहीं करता, तभी वह बालकका और अपना लाभ करता है।

अपनी कमीपर न तो रोना उचित है और न दूसरोंकी कमीपर हँसना। जो अपनी कमीपर रोता है, वह कमीको बढ़ाता है और जो दूसरोंकी कमीपर हँसता है वह उस कमी-को अपने-आपमें ले आता है। अपनी कमीपर हँसना और दूसरोंकी कमीपर रोना—यही कमियोंके अन्त करनेका सर्वोत्तम उपाय है।

साध

(रचयिता—श्रीभवदेवजी झा)

प्रभो ! यही ले साध चला मैं साधन-पथ पर।
रटा करूँ तव नाम नित्य निष्काम निरन्तर॥
भोगोंसे मुख मोड़ छोड़ मद-मत्सर सारे।
तोड़ जगत्‌का मोह टोहमें लगूँ तुम्हारे॥
संत-शरण कर ग्रहण मैं, तव गुण-गरिमा गा सकूँ।
कृपा-सिन्धुमें डूबकर, त्याग-रत्न मैं पा सकूँ॥ १॥

यह अन्तिम है साध प्रेम-पारस मैं पाऊँ।
बना हृदयको स्वर्ण विरहमें उसे तपाऊँ॥
उर मेरा बन जाय सुखद स्वर्णिम सिंहासन।
दया-दान-दम आदि रहें पूजनके साधन॥
मानस-मन्दिरमें तुम्हें, मैं इस बार बुला सकूँ।
अश्रु-हार उपहार दे, 'मैं सर्वस्व' भुला सकूँ॥ २॥

त्यागी

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥
(गीता १२ । १७)

'आपको कोई कष्ट तो नहीं हुआ ?' महामन्त्रीने अतिथिशालामें पहुँचकर स्वयं प्रश्न किया ।

'आपका आतिथ्य आपके महान् यशके अनुरूप है ।' उनके शब्दोंमें नम्रता थी । 'एक अकालसे पीड़ित प्राणी अपने परिवारको लेकर जब एक घूँट जल एवं दो मुट्ठी अन्नके लिये भटक रहा था, आपने उसे आश्रय दिया है । यहाँकी सुविधाओंको सोचना भी कठिन है मेरे लिये ।' कृतज्ञताभरी वाणीके साथ अञ्जलि बँधी थी ।

'हमारा सौभाग्य ।' नीतिकुशल मन्त्रीके तीक्ष्ण नेत्रोंने देख लिया कि सुगन्धित तैल एवं सुन्दर अङ्गराग स्पर्शतक नहीं किया गया है । चन्दनपादुका सम्भवतः अर्चनके समय ही उपयोगमें आयी है । हाथीदाँतके पलंगपर दूधके समान उज्ज्वल कुसुम-सा कोमल बिछौना श्रान्त अतिथिको ब्राह्ममुहूर्तमें उठनेसे रोक नहीं सका है । संगमर्मरका फर्श भीगा है । मलयमण्डपका आसन उठाया नहीं जा सका है और पूजाके उत्तरीयको अभी उन्होंने उतारा नहीं है । स्नानादिसे निवृत्त होकर आराध्यका अर्चन समाप्त हो चुका है । सम्भवतः अभी ही अग्निदेवको आहुति देकर उठे होंगे । 'हम आपके उज्ज्वल यशसे परिचित थे; परंतु आज आपकी चरण-रजसे पाञ्चाल पवित्र हुआ ।'

'शालीनता आपकी ।' अतिथि नम्र थे । 'पंचनदकी भूमि सदासे अपने पवित्र पुरुषोंके लिये प्रख्यात है ।' कृत्रिमता नहीं थी उस वाणीमें और उसे कहना किसी प्रकार सम्भव नहीं ।

'हम आपकी समीपताका लोभ रोक नहीं सकते ।' महामन्त्रीने रात्रिमें ही नरेशसे मन्त्रणा कर ली थी और आजकी राजपरिषद्में अपने विचारकी घोषणा करनेका उन्होंने निश्चय कर लिया था । पाञ्चालपतिने प्रार्थना की है कि आप कोषाध्यक्षका कार्य स्वीकार करें तो कृपा होगी । वस्त्रोंमेंसे एक रेशमी वस्त्रमें ढका पीला भोजपत्र दाहिने हाथसे आगे बढ़ा दिया गया ।

'ब्राह्मण निरपेक्ष हुआ करता है और हिसाबकी कलासे अनभिज्ञ भी ।' नम्रतापूर्वक मस्तक झुकाकर उस आज्ञापत्रका सत्कार कर दिया गया । 'योग्य अधिकारीको ही अधिकार शोभा देता है । राजकार्यसे दूर एकान्त अरण्यका सेवक कैसे साहस कर सकता है इसका ।' जैसे कोई बहुत अधिक संकोचका अवसर उपस्थित हो गया हो ।

'भगवती सरस्वतीकी क्रीडाभूमि काश्मीरमें भी जो अर्थशास्त्रके एकमात्र आचार्य हैं, हम उनके चरणोंमें अनुरोध ही कर सकते हैं ।' शताब्दियोंके पश्चात् भीषण हिमपातने काश्मीरको श्वेत बना दिया था । सत्त्वगुण ही रहे, तो भी तो सृष्टि न रहेगी । पुष्पित लताओं एवं हरे-भरे वृक्षोंको उस श्वेत हिमने छिपा लिया । आचार्य अभिरुचि अपने आश्रमका त्याग करनेको विवश हुए थे और उनके साथ उनकी कोमलाङ्गी पत्नी तथा आठ वर्षका शिशु था । इस आपत्तिमें भी उनका महान् व्यक्तित्व महामन्त्रीको अभिभूत कर रहा था । उनके सम्मुख धृष्टता असम्भव थी । 'पाञ्चालाधिपति दुस्साहस नहीं कर सकेंगे; किंतु बड़ी आशासे उन्होंने भेजा है मुझे ।' मन्त्रीको ज्ञात था कि उनके अतिथि कहीं प्रस्थान करनेका निश्चय कर लेंगे तो उनको रोका नहीं जा सकेगा । प्रातः आनेमें यही उद्देश्य था ।

'सिद्धान्त यदि अनुभवके द्वारा अभ्यस्त न कर लिये गये हों तो उपयोगी नहीं हुआ करते।' आपत्तिकालमें यह वृत्ति ब्राह्मणके लिये निषिद्ध तो नहीं है शास्त्रोंमें। पत्नी और पुत्रको लेकर इस विषम परिस्थितिमें कहाँ जाया जा सकता है। अधिकांश उत्तरदेशवासी उत्पीडित पाञ्चाल आये हैं और समाचार मिला है कि ब्रह्मावर्तका दक्षिणी भाग दस्युओंके द्वारा आक्रान्त है। आचार्यने मस्तक झुकाकर कुछ सोचा। 'यदि महाराज इतनेपर भी आग्रह करेंगे तो राजसभामें मैं इस पत्रको स्वीकार कर लूँगा। ब्राह्मण तभीतक आजीविकाके लिये उपार्जन कर सकता है, जबतक प्रकृतिके निर्मल अङ्कमें उसका आश्रम निरुपद्रव नहीं हो जाता।' विचार करनेके लिये अवकाश आचार्यने इतनेपर भी रख लिया।

'राजोद्यानका एकान्त भवन श्रीचरणोंकी प्रतीक्षा करेगा।' मन्त्रीने निवासकी व्यवस्था सूचित की।

'सामग्रियोंकी अधिकता मनको व्यवस्थाहीन करती है और अनन्तरुचि अभी कच्ची बुद्धिका शिशु है।' बालक ऐश्वर्यका उपभोगी बन जाय, यह एक विप्रको कैसे स्वीकार होगा। ब्राह्मणका शरीर तुच्छ भोगोंके लिये प्राप्त नहीं हुआ करता। वह तो मानवयोनिके इस महत्त्वको प्राप्त करता है मायापाशसे मुक्त होनेके लिये।

'नगरसीमाके बाहरी उपवनमें एक कुटिया, एक गौ और हवनकी सामग्री—बस। अधिक वस्तुएँ तथा बहुत-से सेवक उद्विग्न ही करेंगे मुझे। उनके उपयोगका इस विप्रको अभ्यास नहीं है।' प्रबन्धके सम्बन्धमें पूर्ण आदेश थे इसमें।

'आज्ञाका पालन होगा।' मन्त्री प्रसन्न थे अपनी सफलतापर।

'यह दरिद्र कंकाल और पाञ्चालका कोषाध्यक्ष।' राजसभामें अपने समीप बैठे हुए एक पुरुषके प्रति किसी ईर्ष्यालुके अन्तरकी अग्नि वाणी बनकर धीरेसे प्रकट हो गयी। आचार्य अभिरुचिने सौम्य शान्तभावसे नियुक्ति-पत्र स्वीकार कर लिया था। उनमें न तो चञ्चलता आयी और न उल्लास दिखायी पड़ा। राज-परिषद्के सभ्योंने देखा कि दूसरे दिन कोषाध्यक्षका आसन एक ऐसे ब्राह्मणसे भूषित है, जिसके वस्त्र, पादुका एवं भाव उस आसनके उपयुक्त अबतक नहीं समझे जाते रहे हैं। उसे तो किसी तपोवनमें बैठना चाहिये था।

'नब्बासी निष्क मासिक मेरी ओरसे दीनोंकी सेवामें और बाँटा जाया करेगा।' दानाध्यक्ष तो आश्चर्यसे मुख देखने लगे। 'यह किसीको ज्ञात नहीं होना चाहिये कि यह महाराजसे पृथक् दान है। व्यवस्थाके भारसे मुक्त रहना चाहता हूँ मैं।' कुल नब्बे निष्क (स्वर्णसिक्के) मिलते हैं और सुरक्षित रक्खा गया अपने लिये एक।

'इस प्रकार तो महाराजके यशमें ही यह दान लुप्त होगा।' दानाध्यक्षने नवीन कोषाध्यक्षको सावधान करनेका प्रयत्न किया। 'यदि आप दशांश दान नहीं करते तो नियमको उलट लें। अपने लिये दशांश रक्खा करें, आठ निष्क मासिक पैतृक सम्पत्ति मिलनी चाहिये कुमार अनन्तरुचिको।' सन्तानके लिये संग्रह करना—यह तो आवश्यक है।

'निष्क महाराजके हैं, अतः यश उन्हींका होना चाहिये।' बिना सोचे आदेश आजतक आचार्यने कभी नहीं दिया। 'ब्राह्मणपुत्रको पैतृक सम्पत्तिके रूपमें प्राप्त होना चाहिये विद्या, तप एवं धर्म। अपने कर्तव्यसे मैं विमुख नहीं रहूँगा। अनन्तरुचिको यह पैतृक दाय मिलेगा। सम्पत्तिको ब्राह्मण क्या करेगा।'

× × × ×

[२]

'आखेटमें आप साथ रहें, ऐसा अनुरोध है।'

'ब्राह्मण शिकारी नहीं होता। क्षत्रियके धर्मको विपत्तिकालके उसे स्वीकार नहीं करना चाहिये

'नियमतः विजयाके पुण्यपर्वमें सभी राजपरिषद्के सभ्य सीमोल्लङ्घनमें सहयोग करते हैं ।'

'सैनिक आलस्य न अपना लें इसीलिये सीमोल्लङ्घन-का विधान शास्त्रोंने किया है । कल्पित नियम शास्त्रीय व्यवस्थाओंका अतिक्रमण करनेमें असमर्थ हैं । सभी सीमोल्लङ्घनमें सहयोग करें, यह कल्पित रूढि है ।'

'विप्र जब आपत्तिमें राजसेवक हो सकता है तो उसे राजाके दूसरे आदेश भी स्वीकार करने चाहिये ।' अत्यन्त समीपता अनादरका कारण होती है । आज पाञ्चालपति अविनीत हो रहे थे । उनके अन्तरङ्ग सुहृदों-ने उन्हें समझाया था कि राजपरिषद्में राजोचित वेष-भूषा और व्यवहार ही राजसम्मानकी रक्षा करता है । नरेशके हृदयमें यह विचार दृढ़ कर दिया गया था कि अपने ब्राह्मणत्वकी श्रेष्ठताको सूचित करते हुए राजाके अपमानके लिये ही आचार्य अभिरुचि राजवस्त्र धारण नहीं करते । आज नरेशका वह हृदयमें छिपा भाव कुछ उद्धत होकर प्रकट हो रहा था ।

'आपत्ति केवल विवश करती है, आवश्यकताकी पूर्तिमात्रको अपवादस्वरूप स्वीकार करनेके लिये ।' आचार्यने क्षोभका कोई लक्षण प्रकट नहीं किया । 'अनिवार्य आवश्यकताके अतिरिक्त कुछ भी स्वीकार करना वहाँ भी अधर्म ही होता है ।' वे तटस्थभावसे धर्ममीमांसा कर रहे थे ।

'राजसम्मानकी रक्षा आपके लिये आवश्यक नहीं है ?' राजाका रोष बढ़ता जा रहा था । 'राजपरम्पराका समादर आप अनिवार्य नहीं मानते ?' प्रश्नोंके स्वरने विनयका नाटक समाप्त कर दिया ।

'राजसम्मान एवं राजपरम्परा दोनों सम्मान्य हैं ।' [आ]चार्यकी वाणी जैसे किसी शिष्यको उपदेश देनेके [लिये] प्रकट हो रही हो । 'मैं राजपुरुष नहीं हूँ । [आपद्]धर्मके रूपमें मैंने स्वीकार किया है यह कर्म । [...] राजपुरुषकी भाँति ही यहाँके धर्म मेरे स्थायी धर्म नहीं और जब मुख्य तथा गौण धर्मोंमें विरोध [हो] तो प्रधानता मुख्य धर्मको मिलनी चाहिये ।' जिस[का] निश्चय दृढ़ हो, उसे विचलित तो नहीं ही किया [जा] सकता ।

'आप ब्राह्मण हैं । शरीरदण्ड आपको दिया न[हीं] जा सकता ।' होठ काट लिया नरेशने । 'आप अ[पने] मुख्य धर्मका पालन करनेके लिये स्वतन्त्र हैं । महामन्त्री आपकी कुटीकी सम्पूर्ण सामग्री लेकर बाँट दो ब्राह्मणोंको राजपुरुषोचित सम्पत्तिसे आपको छुटकारा दो [।] राजस देश पाञ्चालकी सीमासे भी कल सूर्योदयके पूर्व [...] आवेशमें भी विप्रकी सम्पत्ति राजकोषमें लेनेका साह[स] नहीं हुआ । मन्त्री इस निर्वासन-दण्डके विपरीत [कुछ] कहें, इससे पूर्व महाराजका अश्व आखेटके लिये [...] गया । उन्हें उभाड़नेवाले अधम अन्तरङ्ग पुरुष [...] प्रसन्न हो रहे थे ।

'मैं जानता हूँ, अन्याय हुआ है आपके साथ' महामन्त्रीने भरे नेत्रोंसे कहा । 'आप भी मानते हैं [कि] पाञ्चालपतिको किन पुरुषोंने उत्तेजित किया है । आ[प] अपनी कुटीमें शान्तिपूर्वक विश्राम करें । महाराज[का] आवेश शीघ्र शान्त हो जायगा और प्रातःकालकी रा[ज]सभामें अपराधी दण्डाधारके सम्मुख दण्ड पानेके लि[ये] खड़े किये जायँगे ।' अमात्यने अपने प्रभावपर उ[चित] विश्वास किया था ।

'प्रभुने मुझे सावधान किया है । अब समय [आ] गया कि मैं आपद्धर्मका परित्याग कर दूँ ।' आचार्य[के] स्वरोंमें दृढ़ता थी । 'मैं आपसे विनय करूँगा कि आ[प] उन पुरुषोंको क्षमा कर दें, जो मेरे इस उद्बोधन[के] निमित्त हुए हैं । वे मेरे उपकारकर्ता हैं । ब्राह्मण होक[र] मैं प्रार्थना करता हूँ कि आप उनके अभ्युदयका म[ार्ग] बंद न करें ।' सच्चे हृदयका अनुरोध टाला नहीं [जा] सकता । जिनके कारण इस प्रकार अपमानित हो[ना] पड़ा, उनका आभार मानना यह अपूर्व दृष्टान्त था

महामन्त्री अवाक् देख रहे थे राग-द्वेषकी द्वन्द्व-परिधिसे पार उस महापुरुषकी ओर, जो अपनी कुटीको प्रस्थान कर चुका था।

'देवि सुरभि! क्षमा करो।' ब्राह्मणीने होमधेनुके पैरोंके पास मस्तक रक्खा। उनके नेत्रोंके जलने अन्तिम पूजन किया। 'पता नहीं ये अभागे प्राणी कहाँ भटकेंगे।' अपनी अपेक्षा माताको अपने भोले बालककी अधिक चिन्ता थी। आश्रमसे एक वस्त्र भी ले जानेका आदेश आचार्यने नहीं दिया।

'कल्याणी! तुम यहाँ क्या लेकर आयी थीं? तुम्हारे प्रारब्धमें जो है, वह तुम्हारा स्वागत करनेको सब कहीं प्रस्तुत मिलेगा। दूसरोंके भागको अपनानेकी इच्छा क्यों?' पत्नीको वे इस प्रकार समझा रहे थे, जैसे अपने कोषाध्यक्षके आसनपर बैठने राजसभामें जा रहे हों और सन्ध्यातक लौट आवेंगे।

'अनन्त आज तीन दिनसे ज्वरपीडित है।' पत्नीने शोकका वास्तविक कारण स्पष्ट किया और हिचकियाँ लेने लगीं। उनमें वस्तुओं अथवा कुटीका मोह नहीं था। 'कोमल बालक, पता नहीं शीत, वायु और वर्षा क्या-क्या पड़े।' अपने पुत्रके समीप जाकर अङ्कमें छिपा लिया उसे उन्होंने।

'और इसीलिये तुम शोक कर रही हो।' स्वर कह रहा था कि यह तो बुद्धिमानी नहीं है। 'पगली! तेरा अनन्त अपने साथ अपना प्रारब्ध ले आया है। ज्वर, कष्ट जो उसे होना है, वह होकर रहेगा। यहाँ रहनेसे वह कम नहीं होगा और प्रचण्ड झंझा या खुली वर्षामें बढ़ेगा नहीं। सर्वात्मा श्रीहरिने जो व्यवस्था की है, उसमें कोई उलट-फेर नहीं होगा।' पुत्रको पत्नीके अङ्कसे लेकर उन्होंने कंधेपर बैठाया और कुटीरका परित्याग कर दिया।

'पिताजी! अपनी वह अरुणनील पुष्पित भूमि, वे केशरकी क्यारियाँ और वह उत्पल, इन्दीवर, कह्लार, सरोजसे सजा सरोवर। हम अब अपने उसी आश्रममें चलेंगे।' बालकको पूर्व स्मृतिने उल्लसित कर दिया था। 'मैं खञ्जन-शावकोंके पीछे धीरे-धीरे चलूँगा। हंसोंको धान चुगाऊँगा और अंगूरके गुच्छोंसे आपकी अग्निशालाको सजाऊँगा।' उसने दोनों हाथ उठा लिये और खिल उठा।

'निष्पत्रा कण्टकाकीर्ण वल्लरियाँ, अनाच्छादित वीतराग कल्पविशाल तरु, शतशः विदीर्णवक्षा जलहीना भूमि, उग्र परुषकण्ठ उलूक तथा सम्यक् असित काक।' आचार्यकी वाणीमें काश्मीरका कवित्व जाग्रत् हुआ, उन्होंने पुत्रको स्नेहसे पुचकारा। 'वत्स, विश्वात्माका अपार सौन्दर्य सभी कहीं उन्मुक्त है। ब्राह्मण किसकी कामना करे। सर्वेशका कौन-सा उपहार असुन्दर एवं अग्राह्य है। अपनी अल्पबुद्धि कभी अग्निकी अरुणिमा-पर मुग्ध होकर उसे चयन करनेको प्रेरित करती है और कभी सर्पको आभूषण बनानेकी भ्रान्ति उत्पन्न करती है। तुम कुछ मत चाहो। उस मङ्गलमयको निर्बाध चयन करने दो कि वह तुम्हारे जीवनको उच्चतम-की ओर सञ्चालित कर सके। अपने परम कल्याणके लिये अपनेको उसपर छोड़ दो और अपनी इच्छाको बाधक मत बनने दो।' भोला बालक—वह क्या समझे इस तत्त्वज्ञानको। उसे इतना जान पड़ा कि पिता किसी अधिक अच्छे आश्रमका वर्णन कर रहे हैं। वह सोचने लगा कि क्या होगा उस आश्रममें।

× × × ×

[३]

'नारायण हरिः!' एक उच्च ध्वनि आयी। मध्याह्न-सन्ध्या समाप्त करके परिवारके लोगोंके अतिरिक्त सेवकों-ने भी भोजन कर लिया था और कुत्ता अपना [illegible] पाकर गीली भूमिको पंजोंसे कुरेद रहा था। [illegible] ज्वालासे बचनेके लिये वह यहाँ शयन करे[illegible]

तो ग्राममें किसी भी घरसे धुआँ दिखायी देना सम्भव नहीं । गृहपतिने देखा घरमें । रोटीका केवल एक टुकड़ा । भला संन्यासीको यह कैसे दिया जावे । दूधमें जाँवन डाल दिया गया था और दधि समाप्त हो चुका था । विवश होकर वे उसीको लेकर शीघ्रतापूर्वक द्वारपर आये ।

'देव!' बुलाना व्यर्थ था। भ्रम हुआ था गृहपतिको। समीपके भवनद्वारपर संन्यासीने पुकारा था । अपने पैरोंसे एक हाथ आगे पृथ्वीकी ओर देखते वे कौपीनधारी केवल नारिकेल-पात्र करमें लिये आगे चले गये । पात्र खाली था । बहुत सम्भव है, दूसरे घरमें एक टुकड़ा भी शेष न रहा हो । जब एक द्वारपर भिक्षायाचना हो चुकी तो उससे लगे भवनसे भिक्षा स्वीकृत नहीं हो सकती । वे दो-तीन भवन आगे गये और तब वही ध्वनि ।

गृहपतिने देखा, यह तेजोमूर्ति । श्रद्धाविवश वे पीछे हो लिये । कई भवनोंका अन्तर देकर पाँच बार वह ध्वनि और हुई और वे सरिताकी ओर गये । कुछ रोटीके टुकड़े, चावलके दाने तनिक-सा शाक, दाल, कुछ पायस और भी कई पदार्थ दूरसे दृष्टि पड़े उस पात्रमें । एक छोटा-सा गैरिक वस्त्रखण्ड कंधेसे उन्होंने उठाकर पात्रको ढक करके सरितामें डुबाया । भली प्रकार मिश्रित अन्न धो दिया गया । दो आवृत्तियाँ और हुईं इस क्रियाकी । कठिनतासे दो छटाँक अन्न होगा पात्रमें । उसमेंसे भी थोड़ा-सा निकालकर एक स्वच्छ पाषाणपर रख दिया गया । शेषको ग्रहण करके पूरे पात्रभर जल पिया उन्होंने ।

'देव !' अश्वत्थके नीचे बैठ जानेपर गृहपतिने प्रणाम [illegible]या । 'यह अभागा है । एक दाना अन्न भी आतिथ्यमें [illegible]त नहीं कर सका । कल प्रभु दासके गृहको पावन [illegible] आग्रह मूर्तिमान् हो गया था ।

[illegible] ! धर्ममें तुम्हारी रुचि हो ।' संन्यासीका कोई अङ्ग हिला नहीं । 'सबको अपनी मर्यादामें रहना चाहि[ये] और दूसरोंको रखनेका प्रयत्न करना चाहिये । श्रद्धा[के] आवेगमें मर्यादा विस्मृत हो गयी है तुम्हें । आज[की] भिक्षा हो चुकी और एक रात्रिसे अधिक एक ग्राम[में] संन्यासीको नहीं रहना चाहिये । संन्यासी आमन्त्रि[त] भिक्षा ग्रहण नहीं किया करता ।' सत्यसे पवित्र वा[णी] आग्रहको अवकाश ही नहीं रहने देती ।

'प्रभो ! मैं एक अनुष्ठान करना चाहता हूँ' गृहपति बहुत समयसे किसी योग्य महात्माके अन्वेष[ण में] थे । 'भय तो मुझे लगता नहीं । विधिनिर्देशकी कृ[पा] हो तो मैं चामुण्डाको संतुष्ट करनेका इच्छुक हूँ' कामनाने जिसके विवेकको ढक दिया है, वह उचि[त] अनुचितका विचार नहीं करता ।

'राजस और तामस उपासना जीवके बन्धनको और सुदृढ़ करती है ।' महात्माने सावधान किया । [इस] प्रकारके अनुष्ठानोंको सत्शास्त्र श्रेष्ठ नहीं बताया करते [।] मेरा इस प्रकारका कोई अध्ययन नहीं ।' अपनी असमर्थ[ता] प्रकट करनेमें योग्य पुरुष संकोच नहीं करते ।

'पितामहके समयसे ग्रन्थोंका विस्तृत संग्रह च[ला] आता है ।' गृहपतिने आग्रह किया । 'आपके आदेश[से] अन्य भी उपस्थित हो सकते हैं ।' स्वार्थ अन्धा हो[ता] है । पुस्तकीय ज्ञान ही किसीको शीलसम्पन्न न[हीं] बनाता । वे यह भी नहीं सोचते थे कि एक साधु [उन] ग्रन्थोंका अध्ययन करके अनुष्ठान बतानेमें लगे तो [वे] स्वयं क्यों न ग्रन्थ पढ़ लें ।

'मेरे लिये तो भगवान्के ये दिव्यादेश ही बहु[त] हैं ।' एक छोटी-सी श्रीमद्भगवद्गीताकी पुस्तक गैरि[क] वस्त्रमें आवेष्टित थी । साधुने संकेत किया उधर ।

'लोककल्याणके लिये ही आपने त्याग किया है ।' स्वार्थने पाण्डित्य-प्रदर्शनपर बाध्य किया । 'मेरे कल्याण[के] लिये आपको कष्ट करना चाहिये । प्राणियोंका मङ्ग[ल] होगा इसमें ।' शास्त्रार्थकी चुनौतीकी भूमिका बन गयी

'लोककल्याण—लोक जिसने बनाये हैं, वह उनके कल्याणके लिये नित्य सावधान है। क्षुद्र अहङ्कार, सीमित शक्ति लोकका क्या कल्याण करेगी।' संत गम्भीर बने रहे। 'आप मुझे क्षमा करें। शास्त्रार्थ करनेमें मैं असमर्थ हूँ। आपकी जो धारणा है, उचित हो सकती है। मैं अपनी शक्ति जानता हूँ।' वे मानो प्रार्थना कर रहे हों।

'भगवद्गीताको आप जीवके कल्याणका पथ तो मानते ही हैं।' माया और मानव-मनका स्वभाव है कि जहाँसे वह रोका जाता है, वहीं पहुँचनेका प्रयत्न करता है। 'मैं गीताका अध्ययन करना चाहता हूँ। आप उसकी व्याख्या लिखानेका अनुग्रह करें।' पाण्डित्यको विफल होते देख नीतिका आश्रय लिया गया।

'संन्यासीका क्या ठिकाना कि वह कहाँ रहेगा। अध्यापन होता है एक स्थानपर रहनेसे।' सरल संत छलछद्मका क्या विचार करें। 'व्याख्या करनेमें न तो मेरी प्रवृत्ति है और न अधिकार।' उन्होंने सीधी बात कह दी।

'ग्रामसे दूर ब्राह्मणबालकोंका एक ऋषिकुल है। एकान्त शान्त उपवनमें सुरम्य कुटी आत्मचिन्तनके अत्यन्त उपयुक्त होगी।' गृहपतिने प्रलोभन दिया। 'केवल थोड़े समय गीताका अध्ययन आप बालकोंको करा दिया करें। मैं भी अध्ययन कर लूँगा। भिक्षाके लिये भी कष्ट नहीं होगा। उन ब्रह्मचारियोंकी पवित्र भिक्षा शास्त्रसम्मत है और संन्यासी परिव्राजकके साथ कुटीचक भी हो ही सकता है। इस प्रकार एक शुभ कार्य सम्पन्न होगा।' आशा थी कि यह प्रस्ताव स्वीकृत हो जायगा।

'किसी भी प्रकारकी निश्चित आजीविका शास्त्र-विहित नहीं। कुटीचक होनेका विधान है जराजीर्ण, रुग्ण एवं असमर्थ शरीरोंके लिये। अध्ययन, अध्यापनका या कोई भी प्रारम्भ अब अनावश्यक हो गया है और बुद्धिकी उसमें प्रेरणा नहीं। शुभ या अशुभ लोकत्रयका न्यास करनेके पश्चात् किसका आचरण किया जाय और किसलिये?' उन्होंने समझानेका प्रयत्न किया। 'भिक्षा जहाँतक सम्भव होता है वानप्रस्थाश्रमियोंके नीवारसे सम्पन्न होती है। आजकी भाँति कभी-कभी ग्राममें आनेको विवश होता हूँ। एक योजनसे अधिक पर्यटन थकावटका कारण होता है और श्रान्ति प्रमादकी जननी है। आज एक योजनके अन्तर्गत कोई वानप्रस्थाश्रमी मार्गमें प्राप्त न हुआ।' भला पत्थरपर पिसे श्यामाककी भिक्षापर निर्वाह करनेवालेको सुस्वादु पदार्थोंका क्या प्रलोभन।

'जब शुभाशुभका ध्यान नहीं तो भिक्षाकी आवश्यकता भी क्या।' रोष आ गया वाणीमें। 'क्यों अनशन करके शरीर त्याग नहीं कर देते। जीवनसे भी क्या प्रयोजन। आपने तो दण्ड भी कहीं प्रवाहित कर दिया है।' व्यंग किया जा रहा था।

'प्रारब्धप्रेरित शरीर चल रहा है। प्रकृतिप्रेरित आहारादि कर्म सम्पन्न होते हैं।' वहाँ उत्तेजनाका नाम नहीं था। 'जीवन रहे, यह आवश्यक नहीं; किंतु मृत्युका आग्रह भी किसलिये? शरीर हानि नहीं करता अपनी कुछ। वाक्संयम, वासनाका निरोध और प्राणायाम—ये वाणी, चित्त एवं शरीरके त्रिदण्ड धारण कर लेनेपर बाहरी बाँसका दण्ड अनिवार्य नहीं होता। भद्र! क्षुभित होनेका कोई कारण नहीं। प्रत्येक व्यक्ति अपनी ही इच्छासे प्रेरित व्यवहार करता है। दूसरेकी प्रेरणा सदा सफल नहीं होती।'

'मैं केवल एक अनुरोध करूँगा।' गृहपतिने मस्तक झुकाया। 'ग्राममें एक शास्त्रार्थ है। आज सायं आप उसकी मध्यस्थताकी स्वीकृति दें।' अपनी विजय[illegible] उन्हें पूरी आशा थी और मध्यस्थ निष्पक्ष हो[illegible] उद्देश्य था।

'ओह! आप पण्डित हैं।' मन्द मुस[illegible]

मुखमण्डलपर । 'शास्त्राभ्यास छोड़े मुझे बहुत समय हो गया और तर्कमें कोई रुचि नहीं । मन एकाग्र करके शुष्कवाद-श्रवणमें अमूल्य समय नष्ट करना संन्यासीके उपयुक्त कार्य नहीं ।'

'मैं परिचय जान सकूँगा ?'

'विद्वान् होकर भी आप संन्यासीसे पूर्वाश्रमका परिचय पूछते हैं । शास्त्र आदेश नहीं देता ।' अब उन्होंने आसन लगाया और सीधे बैठ गये ।

'देव ! इस दासकी प्रतीक्षा सार्थक हुई । अब तो इसे अपने चरणोंमें ही स्वीकार कर लें ।' पासकी कुटी-से एक जटाधारी वृद्ध निकले और महात्माके चरणोंपर गिर पड़े ।

'महामन्त्री !' संन्यासी चौंके । उन्होंने वृद्धको उठाया । पण्डितजी वृद्धको जानते थे । अब वे सङ्कुचित हो गये । 'क्या पता था कि सरितातीरपर आपने वानप्रस्थ ग्रहण कर लिया है ।' जैसे अनेक स्मृतियाँ आयीं और चली गयीं । दो क्षणमें ही वे शान्त हो गये पहलेसे ।

'कुटियामें मध्याह्न-कृत्यके पश्चात् आवश्यक जपमें लगनेसे यह भूल हुई ।' वृद्धने क्षमा-याचना की । 'इस वृद्धावस्थामें एक वर्षका ही तृतीयाश्रम सम्भव था । आज वह अवधि पूर्ण हुई और प्रभुके दर्शन हुए । अब आज्ञा दें कि मैं आवश्यक सामग्री प्रस्तुत करूँ ।' हर्ष, उल्लास, श्रद्धा, सबने उन्हें चञ्चल कर दिया था ।

'उत्कट इच्छा सफल होती है । यदि दीक्षाकी आवश्यकता होगी तो उसे देनेवाला भी प्राप्त होगा ।' संत स्वस्थचित्त समझा रहे थे । 'शिष्य न करनेका मैंने नियम किया है और आप मेरे नियममें बाधा उपस्थित करेंगे, ऐसी तो आशा नहीं ।'

'कैसा है यह भिक्षु !' पण्डितजी सोच रहे थे । ...लके महामन्त्रीको भी शिष्य बनाना उसे स्वीकार ... अभिवादन करके उठ गये वे वहाँसे ।

× × ×

[४]

'महाराजको पश्चात्ताप हुआ और उन्होंने तीसरे दिन अन्वेषणका आदेश दिया !' वयोवृद्ध महाम... पूर्व स्मृतिको दुहरा रहे थे । मेरा समस्त प्रयत्न ... रहा । पिछले वर्ष मैंने चिरंजीव अनन्तरुचिको प्राप्त कि... और उन्होंने ही अनुग्रहपूर्वक इस वृद्धको कार्यभार... मुक्त करके प्रभुके चरणोंमें लगनेका अवकाश दिया... असमर्थ ही रहे वे भी श्रीचरणोंका कोई समाचार देनेमें... चतुर्वर्षीय वानप्रस्थके पश्चात् श्रीपादका कोई समाचार उन्हें प्राप्त नहीं हुआ ।' उस युगमें जब पैदल पर्यटन ... सम्भव था, एक अकिञ्चन विप्रपरिवार अनन्त विराट्... किस कोनेमें है, किस प्रकार उसका पता लगता ।

'आप अग्निन्यास करनेको उत्सुक हैं और अ... पूर्वस्मृतियोंका परित्याग कर नहीं सके ?' स्वरमें स्नेह... पूर्ण उलाहना था । 'एक ही सौन्दर्यराशि जो प्रत्येक... रूपमें भासमान है, उसीमें अन्तरके सम्पूर्ण अनुरागको... एकत्र करके विश्वके सम्पूर्ण मोहसे परित्राण प्रा... कर लेना संन्यासका उद्देश्य है । विधि एवं निषेधके... परे, अहं-त्वंकी सीमाको समाप्त कर जो आनन्दघ... विराजित है, उसमें चित्तको व्यवस्थित कीजिये ।' पु... पाञ्चालका महामन्त्री हो गया, इस समाचारका जैसे उ... हृदयसे कोई सम्बन्ध ही नहीं था ।

'सम्पूर्ण दृश्यमान जगत् अपना ही स्वरूप है... 'अहम्'को व्यापक करके उसमें 'त्वम्'को लीन करके ज... आत्मोपलब्धि होती है, उससे 'ममत्व' दूर हो जाता है... या मम भी अपना स्वरूप हो जाता है ?' विद्वान् वृद्धने... विवाद नहीं उपस्थित किया था । वे सचमुच उलझन-... को सुलझाना चाहते थे । सच्चे जिज्ञासुका तिरस्कार... किसीके द्वारा सम्भव नहीं । वे जानना चाहते थे कि... जब सब अपने ही स्वरूप हैं तो क्यों संन्यासीको... पूर्वाश्रमकी स्मृतिसे भी दूर रहना चाहिये ।

'यह तो अधिकार-भेदकी बात है साधुके ने...

अर्धोन्मीलित हो रहे थे और वाणी मन्द होती जा रही थी। 'मम' जब 'अहम्'में लीन होता है तो 'त्वम्' और 'तव' उससे भिन्न नहीं हुआ करते। यदि ऐसा न हो तो जड़ताकी ही उपलब्धि होगी। 'अहम्'में 'त्वम्'का पर्यवसान बुद्धिकी विशुद्ध व्यवस्थितिपर निर्भर करता है; किंतु 'त्वम्'में 'अहम्'का उत्सर्ग—अणु-अणुकी सत्ताको समाप्त करके जो कृपावारिधर उद्भासित हो रहा है, उसकी मधुरिमामें मन स्वतः लय हो जायगा।' नेत्रोंने अनवरत धाराएँ प्रवाहित करना प्रारम्भ किया। रोम-रोम सतर्क मस्तक उठाकर जैसे उनकी रक्षा करने लगा। प्रत्येक रोमकूपसे अन्तःकी रसधारा बाह्यद्रव बनकर प्रकट हो गयी।

वयोवृद्ध मन्त्री—उन्होंने अनुभव किया कि एक दिव्य सुगन्धि व्याप्त हो गयी है। संन्यासीके मुखमण्डलसे एक अपूर्व ज्योति प्रकट हो रही है और तब उनकी चेतना डूबने लगी किसी अज्ञात आकर्षणमें आबद्ध होकर। बाह्यका सम्पूर्ण स्नेह जिसके अन्तरमें एकत्र हो गया है और अनुरागकी उस रज्जुसे जिसने उस चपल आनन्दघनके चरणाम्बुज पकड़ लिये हैं, जब वह अपने-आपको एकाग्र करता है उन श्रीपदोंमें, समीपकी चेतना विवश होकर आकर्षित होती डूबती जाती है। महामन्त्रीने जब अपनेको सम्हाला, हृदयमें आनन्द-सिन्धु उल्लसित हो रहा था और शरीर संन्यासीके पद-प्रान्तमें पड़ा था। आप इसे शिष्यके आत्मनिवेदनके पश्चात् गुरुकी शक्तिमयी दीक्षा कहें तो कह सकते हैं।

एकान्तकी महिमा

(लेखक—साधुवेषमें एक पथिक)

अनेकों बार मनुष्य एकान्तके द्वारा बड़ी-बड़ी समस्याओंको हल कर लेता है, बड़े-बड़े लाभके साधनोंको खोज निकालता है, खोयी हुई शक्ति और शान्ति प्राप्त करता है फिर भी एकान्तकी महिमा नहीं जान पाता और इसीसे जो बड़े-बड़े लाभ स्वतन्त्रतापूर्वक एकान्त-सेवनसे सिद्ध होते हैं, उन्हींके लिये परतन्त्रताके पथमें भटकता फिरता है।

बुद्धिमत्ता प्राप्त करनेके लिये, यथार्थ ज्ञानके लिये, शक्ति तथा शान्तिके लिये द्वार खुले हुए हैं, उन द्वारोंमें कोई भी एकान्त-पथका आश्रय लेकर प्रवेश कर सकता है और बुद्धिमत्ता, ज्ञान, शक्ति तथा शान्तिसे अपने जीवनको समृद्ध और सम्पन्न बना सकता है।

जगत्में समय-समयपर मानव-जातिको प्रकाश देनेवाले जितने भी महापुरुष हुए हैं या वर्तमान कालमें हैं; प्रायः वे सभी एकान्तका ही आश्रय लेकर क्रियाओंके कोलाहलको पारकर आत्माकी नीरवता तथा प्रशान्त गम्भीरतामें स्थिर हो सके हैं और वहींपर उन्हें सर्वोपरि महत्ता प्राप्त हुई है, ऐसे ही लोग भोग-सुखोंके पथमें अधीर होकर दौड़नेवाले अस्त-व्यस्त चञ्चल मनुष्योंका पथ-प्रदर्शन करते हैं, इन्हींके द्वारा अधःपतित मानव-जातिका कल्याण होता है।

सभी व्यक्ति एकान्तसेवी नहीं हो सकते; क्योंकि सर्वसाधारण मानव एकान्तका महत्त्व नहीं जानते। जो अपनी इन्द्रियोंको वशमें करनेके लिये एकान्त-निवास करता है, जो अपने मनको विषय-स्मरणसे मोड़कर भगवान्‌के पवित्र स्मरणमें लगाकर, वृत्तियोंको अन्तर्मुखी बनाकर योगके पथमें अग्रसर होता है, वही एकान्[illegible] सर्वोत्कृष्ट लाभ प्राप्त करता है।

एकान्त-सेवनसे अपने अन्तःकरणमें स[illegible] उतरनेवाली वस्तुओंका, अर्थात् वासनाओंका [illegible]

है। जिस प्रकार अधिक देरतक बाहर काम करनेवाला व्यक्ति थककर अपने कमरेमें जब विश्राम करता है तो पहलेसे संगृहीत वस्तुओंपर दृष्टि जाते ही निर्णय करता है कि उनमें क्या-क्या सार्थक हैं; शुद्ध, सुन्दर और कीमती हैं; क्या निरर्थक, अनावश्यक, असुन्दर और तुच्छ हैं। उसी प्रकार साधक एकान्तमें ही अपने भीतरकी सार्थक या निरर्थक, सुन्दर या असुन्दर, हितप्रद या अहितप्रद वासनाओं, इच्छाओंका निर्णय करता है और वहींसे अन्तःकरणको शुद्ध करनेकी शक्ति मिलती है तथा शक्तिके सदुपयोगकी योग्यता बढ़ती है।

दिनके आरम्भमें एकान्तसेवनसे सारे दिनके समस्त कर्मोंका शुद्ध चित्र बना लिया जाता है और दिनके अन्तमें एकान्तसेवनसे दिनभरमें किये गये कर्मोंका ठीक-ठीक दर्शन होता है, इससे भविष्यके लिये कार्य-कुशलताकी वृद्धि होती है। जिस प्रकार बाजारमें घूमने-वाला मनुष्य अपने घर लौटकर एकान्तमें अपने कपड़े उतारता है और अपने वस्त्रहीन शरीरकी अच्छाई-बुराईका दर्शन करता है, उसी प्रकार साधक एकान्तमें अपने ऊपर चढ़े हुए आवरण उतार कर निरावरण स्वरूप-को देख पाता है। एकान्तमें ही जब इन्द्रियाँ मौन हो जाती हैं, जब मन चुप हो जाता है और बुद्धि स्थिर हो जाती है, आत्माका दिव्य दर्शन होता है, उसकी दिव्य वाणी सुनायी देती है। एकान्तसेवनसे ही चित्तवृत्ति शुद्ध ज्ञान तथा पवित्र प्रेमकी अनुगामिनी बनती है और तभी समग्र जीवन ज्ञानालोकमें प्रेममय हो जाता है। जब-जब बाह्य आमोद-प्रमोदजनित सुखसे चञ्चलता बढ़ती है, थकावट आती है और मानसिक निर्बलता उत्पन्न होती है, एकान्तसेवनसे ही उस [illegible]निकी पूर्ति हो पाती है।

[illegible]सी जनशून्य स्थानपर पहुँचनेमात्रसे ही पूर्ण [illegible]हीं हो जाता। जब इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि भी एकान्तसेवी हों तभी पूर्ण एकान्त सिद्ध होता है। जब अनेकों शरीर न दिखायी दें, जब हम अपने-आपको शरीरकी दृष्टिसे अकेला पाते हों तो यह शरीरमात्रके लिये एकान्त हुआ। इसके साथ ही जब इन्द्रियोंके लिये विविध विषय-पथ बंद हो जायँ तो इन्द्रियोंका एकान्त सिद्ध होता है। जब मनकी विषयोन्मुखी वृत्तियोंको रोककर योग-पथमें झुकाया जाता है और सङ्कल्पों, विकल्पों, इच्छाओंका अच्छी तरह निरोध कर दिया जाता है, तब मनका एकान्तसेवन सिद्ध होता है। इसी प्रकार बुद्धिके आगे जगत्-प्रपञ्च अथवा दृश्यमय द्वैत-दृष्टि जब नहीं रह जाती तो बुद्धि एकान्तनिष्ठ हो जाती है और इसके भी आगे जो कुछ भी हम अपना मानते हों उससे अपने आपको निकाल लेनेपर अहं एकान्त-सेवी हो जाता है। इस विधिसे जब शरीर, इन्द्रियाँ एवं मन, बुद्धि और अहं सभी एकान्तसेवी होते हैं तभी अचञ्चलता, शुद्धता, शक्तिशीलता, यथार्थ ज्ञान तथा पवित्र प्रेम और परम शान्तिकी सिद्धि सुलभ होती है।

अनेकताका जहाँसे आरम्भ होता है और अनेकता-का जहाँ अन्त होता है, वहीं वास्तविक एकान्त है। एकान्तसे ही संसारका आरम्भ और एकान्तमें ही संसारका अन्त है, ऐसे एकान्तका जो आश्रय लेता है, उसीको संसारातीत सर्वाधार सत्यका परम गाढ़ अनुभव होता है।

एकान्तसेवी पुरुष साधनाभ्यासद्वारा सर्वसङ्गत्यागी होकर सत्यानन्दके नित्य योगी होते हैं। जो मनुष्य दुःखोंसे निवृत्ति चाहते हों, असत्-प्रपञ्चसे मुक्त होकर सत्यकी भक्ति चाहते हों, अन्तःकरण शुद्ध करनेवाली निष्काम सेवाके लिये शक्ति चाहते हों और जिससे शान्ति प्राप्त होती हो, ऐसी सांसारिक भोग-सुखोंसे विरक्ति चाहते हों वे क्रमशः नित्य ही कर्तव्य-कर्मोंको पूर्ण करते हुए समय निकालकर एकान्तमें साधनाभ्यासी बनें और असङ्गताद्वारा दिव्य समृद्धि प्राप्त करें।

चातक चतुर राम स्याम घनके

(लेखक—पं० श्रीरामकिङ्करजी उपाध्याय)

[गताङ्कसे आगे]

अनन्यता

(५)

मानसके सप्तम सोपानमें भगवान् श्रीराघवेन्द्रने अपने परमभक्त श्रीकागजीको जो 'निज सिद्धांत' सुनाया है वह मानो मानसका सार-भाग है। प्रभु एक परम अधिकारीके समक्ष अपना हृदय खोल देते हैं। वहाँ वे अपनी वाणीकी प्रशंसा करते हुए आदि, मध्य और अन्त तीनोंमें उसे 'सत्य' बताते हैं—

यथा—

(१) अब सुनु परम बिमल मम बानी।
'सत्य' सुगम निगमादि बखानी॥

(२) पुनि पुनि 'सत्य' कहउँ तोहि पाहीं।
मोहि सेवक सम प्रिय कोउ नाहीं॥

(३.) 'सत्य' कहउँ खग तोहि सुचि सेवक मम प्रान प्रिय।
अस बिचारि भजु मोहि परिहरि आस भरोस सब॥

श्रीकागजीके मनमें एक जिज्ञासा थी कि प्रभु विभिन्न स्थलोंपर विभिन्न व्यक्तियोंको अपना 'प्रिय' बताते हैं। उनमें भी प्रभुको 'सर्वाधिक प्रिय' कौन है? प्रभु भी अति प्रसन्न होकर अपना रहस्य व्यक्त कर देते हैं। प्रियताका स्वरूप बतानेके लिये उन्होंने एक ऐसे पिताका उदाहरण दिया जिसके अनेक पुत्र हैं जो स्वभावतः विभिन्न रुचि और विभिन्न स्वभावोंके हैं। एक पण्डित, दूसरा तपस्वी, तीसरा ज्ञानी, चौथा धर्मी, पाँचवाँ वीर, छठा दाता, सातवाँ सर्वज्ञ और आठवाँ धर्मरत है। पिताको सभी प्रिय हैं। पर एक पुत्र ऐसा भी है, जो एक पिताको छोड़कर और कुछ भी नहीं जानता। अन्य गुणोंसे सम्पन्न न होनेपर भी स्वभावतः पिताका उसपर विशेष स्नेह होता है।

एक पिता के बिपुल कुमारा। होहिं पृथक गुन सील अचारा॥
कोउ पंडित कोउ तापस ग्याता। कोउ धनवंत सूर कोउ दाता॥
कोउ सर्बग्य धर्मरत कोई। सब पर पितहि प्रीति सम होई॥
कोउ पितु भगत बचन मन कर्मा। सपनेहुँ जान न दूसर धर्मा॥
सो सुत प्रिय पितु प्रान समाना। जद्यपि सो सब भाँति अयाना॥

इस सिद्धान्तको सुनाते हुए प्रभुने अपना भी स्वभाव वैसा ही बताया और 'काग' को भी सब कुछ छोड़कर भजन करनेका उपदेश दिया—

प्रारम्भमें कहा—

निज सिद्धांत सुनावउँ तोही।
सुनु मन धरु सब तजि भजु मोही॥

अन्तमें कहा—

अस बिचारि भजु मोहि परिहरि आस भरोस सब।

आइये, इस 'निज सिद्धांत' के दृष्टिकोणसे हम एक दृष्टि डालें। 'मानस' में प्रभुके अनेक पुत्र (भक्त) हैं और सभी हैं बड़े योग्य। उनमें कुछ तो ऐसे हैं जो सर्वसद्गुण-सम्पन्न हैं। पर 'सपनेहुँ जान न दूसर धर्मा' की कसौटीपर तो मानसका यह 'अनन्य प्रेमी चातक' ही खरा उतरता है। गङ्गा, यमुना बड़ी पवित्र नदियाँ हैं। शास्त्रों-पुराणोंमें उनकी महिमा भरी पड़ी है। उनका सेवन करनेवाले धन्य हैं, इसमें कोई संदेह नहीं; पर भला चातकको यह बात कैसे समझायी जाय? इस 'स्वाति-सनेही' से कौन-सा तर्क किया जाय। और तर्क करनेपर भी क्या उसका मानना सम्भव है?

गंगा जमुना सरस्वति हैं जग में भरपूर।
तुलसी चातक के मते स्वाति बिना सब धूर॥

वह तो बाणविद्ध होकर—गङ्गामें गिरनेपर भी—गङ्गा-जल मुखमें न चला जाय इसके लिये मुख बंद कर लेता है। क्या इससे उसको गङ्गा-अवहेलनाका अपराधी मानकर हेयदृष्टिसे देखा जायगा? कोई प्रेमतत्त्वानभिज्ञ ही उसे हेय कह सकता है। चातक तो गूढ़ प्रेम-पथका सच्चा पथिक है। इसीसे तो श्रीगोस्वामीजी उसके लिये दोहावलीमें कहते हैं—

होइ न चातक पातकी जीवन दानि न मूढ़।
तुलसी गति प्रह्लाद की समुझि प्रेम पथ गूढ़॥

'सपनेहुँ जान न दूसर धर्मा' में ही श्रीलक्ष्मणजीकी अ[illegible] भक्तोंकी तुलनामें कम लोक-प्रियताका कारण भी निहित [illegible] यह स्वाभाविक ही है कि समाजमें धार्मिक, वीर, [illegible] आदिकी अधिक प्रशंसा हो। समाजके तो जो काम [illegible] उसे ही जानता है। जो व्यक्ति पिताको छोड़[illegible]

कार्य नहीं करता है, उसकी निष्ठा और प्रेमको तो केवल पिता ही जानता है। दूसरे उसके महत्त्वको कैसे जान सकते हैं?

चलिये उस अनन्यताकी एक झाँकी देखनेके लिये अवधके राजमहलोंकी ओर। प्रभुके वनगमनका दुःखद अवसर उपस्थित है। श्रीलक्ष्मणने भी यह समाचार सुना। प्रभुके वनगमनका समाचार सुनते ही श्रीलक्ष्मणजीकी जो अवस्था हुई, उसका श्रीगोस्वामीजीने बड़ा ही मार्मिक एवं करुण चित्रण किया है। यद्यपि श्रीलक्ष्मणजीसे प्रभुका वियोग नहीं हुआ। और हो भी कैसे? प्रेम-सिद्धान्तके आचार्योंका कथन भी तो यही है—

कैतवरहितं प्रेम न हि भवति मानुषे लोके।
यदि भवति कस्य विरहो विरहे सत्यपि को जीवति॥

मनुष्यलोकमें निष्कपट प्रेम तो होता ही नहीं। यदि हो तो फिर विरह कैसे सम्भव है। और यदि विरह हो भी जाय तो फिर जीवित रहना कैसे सम्भव है?

पर भावी विरहकी रंचमात्र कल्पनासे उस महाप्रेमीकी जो अवस्था हुई वह बड़ी विलक्षण है। श्रीगोस्वामीजीके शब्दोंमें ही उसे पढ़िये—

समाचार जब लछिमन पाए। ब्याकुल बिलख बदन उठि धाए॥
कंप पुलक तन नयन सनीरा। गहे चरन अति प्रेम अधीरा॥
कहि न सकत कछु चितवत ठाढ़े। मीनु दीन जनु जल तें काढ़े॥
सोचु हृदयँ बिधि का होनिहारा। सबु सुखु सुकृतु सिरान हमारा॥
मो कहुँ काह कहब रघुनाथा। रखिहहिं भवन कि लेहहिं साथा॥
राम बिलोकि बंधु कर जोरें। देह गेह सब सन तृनु तोरें॥

'मीनु दीन जनु जल तें काढ़े' इससे बढ़कर उनके प्रेमके लिये उपमा भी तो लोकमें नहीं प्राप्त हो सकती। मीन-जैसा प्रेम ही तो प्रेमियोंका आदर्श है। पूज्यपाद श्रीगोस्वामीजी भी उसीकी प्रशंसा करते हैं।

मीन कमठ दादुर उरग जल जीवन जल गेह।
तुलसी एकै मीन को है साँचिलो सनेह॥

कुछ ही क्षणोंमें उनमें आठों प्रेमगत भावोंका उदय हो जाता है—

(१) स्तम्भ } —समाचार जब लछिमन पाए।
(२) प्रस्वेद } ब्याकुल 'बिलख बदन' उठि धाए॥
(३) कम्प } कंप
(४) पुलक } पुलक तन
(५) अश्रुपात } नयन सनीरा। गहे चरन अति प्रेम अधीरा॥
(६) **स्वरभंग**—उतर न आवत प्रेम बस।
(७) **वैवर्ण्य**—सिअरें बचन सूखि गए कैसें।
(८) **प्रलय**—देह गेह सब सन तृनु तोरें।

[illegible] यह भाव रुका नहीं; क्योंकि प्रभुके साथ रहनेकी [illegible] है।

ऐसी विलक्षण स्थिति हो गयी थी क्षणिक वियोगकी झूठी कल्पनासे उस महाप्रेमीकी।

काँपता हुआ शरीर, आँखें प्रेमाश्रुओंसे भरी हुई, वे पकड़ लेते हैं प्रभुके युगल चरण-कमलोंको अधीर होकर। कण्ठ रुद्ध हो रहा है, कहनेकी इच्छा होते हुए भी कुछ बोल नहीं पाते। पर बिना कहे ही उनका रोम-रोम कह रहा है।

धर्मधुरीण प्रभुने उन्हें उपदेश देना प्रारम्भ किया—'वत्स लक्ष्मण! प्रेमवश होकर कायरता मत दिखाओ। मङ्गलमय परिणामकी ओर दृष्टि रक्खो। जो लोग माता, पिता, स्वामी और गुरुजनोंकी आज्ञाओंको मस्तकपर धारण करते हैं और उसका ठीक-ठीक निर्वाह भी करते हैं वे ही धन्य हैं। जो ऐसा नहीं करते उनका जन्म व्यर्थ है। भैया! इसलिये तुम यहाँ रहकर माता-पिताके चरणोंकी सेवा करो। फिर तुम देख ही रहे हो कि भरत और शत्रुघ्न भी यहाँ नहीं हैं। महाराज वृद्ध हैं और उसपर भी मेरे वियोगसे व्यथित हैं। ऐसी परिस्थितिमें तुम्हें साथ वन ले जाना, अयोध्याको अनाथ कर देना है। लक्ष्मण! यहाँ रहकर सबको सान्त्वना देना तुम्हारा कर्तव्य है। नहीं तो तुम बहुत बड़े दोषके भागी माने जाओगे। जिस राजाके राज्यमें प्रजा दुखी हो, वह निश्चित रूपसे नरकका अधिकारी है ऐसा सोचकर तुम घरमें ही निवास करो।

अस जियँ जानि सुनहु सिख भाई। करहु मातु पितु पद सेवकाई॥
भवन भरतु रिपुसूदनु नाहीं। राउ बृद्ध मम दुखु मन माहीं॥
मैं बन जाउँ तुम्हहि लेइ साथा। होइ सबहि बिधि अवध अनाथा॥
गुरु पितु मातु प्रजा परिवारू। सब कहुँ परइ दुसह दुख भारू॥
जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृपु अवसि नरक अधिकारी॥
रहहु तात असि नीति बिचारी। × × × ×

पर उस 'अनन्य चातक' को यह बात समझायी नहीं जा सकी। प्रभुके वचन सुनते ही वे अत्यधिक व्याकुल हो गये। प्रेमके कारण कण्ठ रुद्ध हो गया। उत्तर देते नहीं बनता। प्रेमाकुल हो प्रभुके युगल चरण-कमलोंकी शरण लेते हैं।

कुछ-न-कुछ उत्तर देना पड़ेगा। आज चुप रहनेका अवसर कहाँ ? उनके पास तर्क-बल नहीं था। और न था शास्त्र-बल ही। उनके पास था केवल प्रेमपरिप्लुत पवित्र हृदय; जिसे उन्होंने अपने प्रभुके समक्ष खोलकर रख दिया। प्रभु ! आपने मुझे बड़ी सुन्दर शिक्षा दी। पर मेरी कायरता इतनी थोड़ी नहीं कि जो उपदेशसे नष्ट की जा सके; वह तो अगम्य है। पर एक बात मैं पूछूँ, क्या मरालसे कोई मन्दराचल उठानेकी आशा कर सकता है ? धर्मके जिन गहन तत्त्वोंका उपदेश आपने दिया, उसका मैं अधिकारी नहीं। श्रेष्ठ मनुष्य ही धर्मकी धुरीको धारण करनेमें समर्थ हो सकता है। मैं तो सर्वदा आपके स्नेहसे ही पालित हुआ हूँ। अशिष्टता न हो, तो कहूँ—मैं गुरु, पिता, माता और किसीको भी नहीं जानता। मेरे इस स्वभावपर विश्वास करें। संसारमें जहाँतक स्नेहके सम्बन्ध हैं, जिन्हें वेदोंने भी स्वीकार किया है, वे सब-के-सब आपके ही साथ हैं। आप ही एकमात्र मेरे स्वामी हैं, सब कुछ हैं। आप स्वयं मेरे स्वभावको समझ सकते हैं, क्योंकि अन्तर्यामी हैं। आपने धर्मका उपदेश दिया, पर धर्मका फल तो कीर्ति, ऐश्वर्य और मुक्ति है। मुझे ये सब नहीं चाहिये। आपका चरण-दर्शन करनेके बदले यदि मुझे नरक प्राप्त हो, तो उसे मैं वरदान ही समझूँगा। जो मन, कर्म और वचनसे केवल—एक आपके चरणोंको ही जानता हो, क्या आप-जैसे कृपासिन्धुके लिये उसका परित्याग करना उचित है ?

दीन्हि मोहि सिख नीकि गोसाईं। लागि अगम अपनी कदराईं॥
नरबर धीर धरम धुर धारी। निगम नीति कहुँ ते अधिकारी॥
मैं प्रभु सिसु सनेहँ प्रतिपाला। मंदर मेरु कि लेहिं मराला॥
गुर पितु मातु न जानउँ काहू। कहउँ सुभाव नाथ पतिआहू॥
जहँ लगि जगत सनेह सगाई। प्रीति प्रतीति निगमु निजु गाई॥
मोरें सबइ एक तुम्ह स्वामी। दीनबंधु उर अंतरजामी॥
धरम नीति उपदेसिअ ताही। कीरति भूति सुगति प्रिय जाही॥
मन क्रम बचन चरन रत होई। कृपासिंधु परिहरिअ कि सोई॥

प्रेमके सामने प्रभुके सारे तर्क समाप्त हो गये। उन्हें स्वीकार करना ही पड़ा। उपर्युक्त उद्धरणोंसे स्पष्ट हो जाता है कि श्रीलक्ष्मण—

कोउ पितु भगत बचन मन कर्मा। सपनेहुँ जान न दूसर धर्मा॥

—के अद्वितीय आदर्श हैं और इसीलिये प्रभुको 'सर्वाधिक प्रिय' भी हैं। प्रभुके शब्दोंमें 'प्रिय प्रान समाना' ये ही हैं।

कुछ लोग इस प्रसङ्गमें आज्ञापालनका अभाव पाते हैं। वे समझते हैं कि "इससे लक्ष्मणजी प्रेमके 'तत्सुखे सुखित्वम्' के आदर्शसे गिर गये। यदि प्रभुको अच्छा लगता था कि वे घर रुक जायँ, तो उन्हें रुक जाना चाहिये था।" पर बात ऐसी नहीं है। पहली बात तो यह है कि प्रभुको उनका घर रखना अच्छा लगता था या वनमें साथ ले जाना—इसपर भी प्रेमकी गहरी दृष्टिसे विचार किया जाय तो पता लगेगा कि श्रीराघवेन्द्र भी चाहते थे लक्ष्मण मेरे साथ चलें। इसीसे तो भगवान्की प्रेरणासे लक्ष्मणजीका प्रेम इस रूपमें प्रकट हुआ और भगवान्को इससे प्रसन्नता ही हुई।

दूसरी बात यह है कि सच्चा प्रेमी प्रियतमकी अपेक्षा उसके सुखको अधिक महत्त्व देता है। माताको बालकके प्रति जो स्नेह होता है क्या उसमें वह बालककी प्रत्येक आज्ञाका पालन ही करती है ? वह बालकसे अधिक उसके हितको जानती है। यहाँ यह भ्रम न होना चाहिये कि श्रीलक्ष्मणजी क्या मातृ-स्थानापन्न हैं ? मातृ-स्थानापन्न ही नहीं, वे तो प्रभुके सब कुछ हैं।

श्रीरामचन्द्रिकामें सुमित्रा अम्बासे लखनलालकी प्रशंसा करते हुए श्रीराघवेन्द्र कहते हैं—

पौरिया कहौं, कि प्रतीहार कहौं, किधौं प्रभु,
पुत्र कहौं, मित्र, किधौं मंत्री सुखदानिये।
सुभट कहौं, कि शिष्य, दास, कहौं किधौं दूत,
केसवदास हाथको हथ्यार उर आनिये॥
नैन कहौं, किधौं तन, मन, किधौं तन त्राण,
बुद्धि कहौं, किधौं बल, बिक्रम बखानिये।
देखिबेको एक हैं अनेक भाँति कीन्ही सेवा,
लक्ष्मणके मात कौन कौन गुण गानिये॥
(श्रीरामचन्द्रिका २२। २२)

उपर्युक्त शब्दोंमें श्रीकौशलेन्द्रने अपने हृदयको ही श्रीसुमित्रा अम्बाके सामने प्रत्यक्ष कर दिया। सच बात तो यह है—श्रीराघवेन्द्र-जैसे संकोची स्वामियोंके लिये कोरे आज्ञापालक सेवकोंकी कोई अपेक्षा नहीं। मानसभरमें सर्वत्र उनके संकोची स्वभावका ही उल्लेख है। यहाँप[illegible] उनके संकोची स्वभावके दिग्दर्शनका लोभ मैं संवरण [illegible] कर पा रहा हूँ।

धनुर्यज्ञके मण्डपमें इच्छा होते हुए भी चुप[illegible] रहना और श्रीजनकजीके द्वारा उत्तेजनात्मक [illegible]

भी शान्त रहना उनके संकोची स्वभावका ही सूचक है। कुछ चौपाइयाँ मानससे प्रभुके संकोची स्वभावसूचक उद्धृत की जा रही हैं—

परम बिनीत सकुचि मुसुकाई। बोले गुरु अनुसासन पाई॥
सकुचन्ह कहि न सकत गुरु पाहीं। पितु दरसन लालचु मन माहीं॥
केवट उतरि दंडवत कीन्हा। प्रभुहि सकुच एहि नहिं कछु दीन्हा॥
रामु सँकोची प्रेमबस भरत सपेम पयोधि।
बनी बात बेगरन चहति करिअ जतनु छलु सोधि॥
अस कहि अति सकुचे रघुराऊ। मुनि पुलके लखि सीलु सुभाऊ॥
गुरु नृप भरत सभा अवलोकी। सकुचि राम फिर अवनि बिलोकी॥

उपर्युक्त पङ्क्तियाँ मानसमें प्रभुके संकोची स्वभावका निर्देश करनेके लिये छोटा-सा उदाहरणमात्र है।

इसीलिये समग्र पुरवासियोंने यह निर्णय किया कि—

सीलु सराहि सभाँ सब सोची।
कहुँ न राम सम स्वामि सँकोची॥

संकोची स्वामीको यदि संकोची सेवक मिल जाय तो हो चुकी सेवा। श्रीलक्ष्मणजी तो सेवा-धर्मके आचार्य ही हैं। सच्चे सेवककी भाँति वे आज्ञासे अधिक महत्त्व स्वामीको सुखी देखनेकी चेष्टाको देते हैं और सचमुच आनन्दके लिये नहीं, प्रभुकी सेवाके लिये ही वे वन जानेको अत्यन्त उत्सुक हैं।

इसीसे तो प्रभु स्वयं भी इस विषयमें यही आदर्श मानते हैं। देखिये—

बार बार मुनि अग्या दीन्ही। रघुबर जाइ सयन तब कीन्ही॥

क्या यहाँ हम यह नहीं कह सकते कि प्रभुने मुनिराज श्रीविश्वामित्रजीके आदेशकी कई बार अवहेलना की। तभी तो उन्हें भी श्रीलक्ष्मणजीसे बार-बार कहना पड़ा—

पुनि पुनि प्रभु कह सोवहु ताता।

तब—

पौढ़े उर धरि पद जलजाता॥

अतः सेवा-रहस्यको जाननेवाला ऐसा कभी स्वीकार [illegible]गा और ध्यान रहे कि श्रीलक्ष्मणजी अपने सुखकी अथवा वियोग-भयसे वन जा रहे हों; ऐसी बात नहीं। [illegible] तो वे उनके सङ्कटमें हिस्सा बँटानेके लिये जा रहे [illegible]के निम्नलिखित वाक्यसे स्पष्ट हो जाता है—

नाथ दास मैं स्वामि तुम्ह तजहु त काह बसाइ।

यहाँ उनके द्वारा किया गया क्रम-भङ्ग ध्यान देने योग्य है। क्रमकी दृष्टिसे तो यहाँ 'नाथ स्वामि तुम्ह दास मैं' कहना ही उपयुक्त था। पर इसमें उनका एकमात्र लक्ष्य यही [illegible] कि सुखके समय भले ही स्वामी आगे रहे पर कष्टके समय तो सेवकको ही आगे रहना चाहिये। स्वयं प्रभु भी सुबन्धु[illegible] यही लक्षण मानते हैं।

होहिं कुठाएँ सुबंधु सहाए। ओड़िअहिं हाथ असनिहु के घाए॥

प्रसङ्गमें यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि प्रभुने एक बार भी (प्रबल निषेध-वाक्य) नहीं कहा कि—तुम्हें वन [illegible] जानेमें मुझे कष्ट होगा, न चलो। और यदि लक्ष्मणजीको [illegible] ऐसा लगता कि मेरे वन जानेमें प्रभुको कष्ट होगा, तो [illegible] कदापि वन जानेका आग्रह नहीं करते। श्रीराघवेन्द्रका तो [illegible] विचार था कि तुम्हारे चले जानेसे अयोध्याके लोग अनाथ हो जायँगे। पर श्रीलक्ष्मणजीके जीवनका लक्ष्य 'प्रभुकी चरण-सेवा' जो थी, अयोध्याकी नहीं। और आगे चलकर यही सत्य भी सिद्ध होता है। वनमें श्रीलक्ष्मणजी प्रभुके लिये 'सब कुछ' बन गये। सेवक, सैनिक, सखा, सचिव और सेनापति—सभी ही। उनके आज्ञा-पालनका अर्थ होता प्रभुको कष्ट-सागरमें अकेले छोड़ देना। इसी दृष्टिसे यदि इस प्रसङ्गमें अन्य धर्मोंकी अवहेलना कर देते हैं तो यह उनका दूषण नहीं भूषण है। अनन्यतामें ऐसा होना स्वाभाविक ही है। श्रीगोस्वामीजीने तो 'दोहावली' में एक चातककी अवस्था वर्णन करते हुए लिखा है—

गर्मीके दिन थे। चातक शरीरसे चलते-चलते थक गया था। ग्रीष्मके तापसे वह संतप्त भी था। मार्गमें उसे कुछ वृक्ष दिखायी दिये। उसने सोचा—कुछ क्षण विश्राम कर लूँ; किंतु पता लगानेसे ज्ञात हुआ कि वे वृक्ष स्वाति-जलसे न सींचे जाकर दूसरे ही जलसे सींचे गये हैं। इस बातके ज्ञात होते ही उसने विश्रामका विचार स्थगित कर दिया—

उष्न काल अरु देह खिन मग पंथी तन ऊख।
चातक बतियाँ ना रुचीं अन जल सींचे रूख॥
अन जल सींचे रूख की छाया तें बरु घाम।
तुलसी चातक बहुत हैं यह प्रबीन को काम॥

ऐसी परिस्थितिमें श्रीरामसे परित्यक्ता अयोध्याकी किंवा पिता-माताकी सेवा करना श्रीलक्ष्मणजीको कैसे स्वीकार होता। उनकी दृष्टिमें प्रभुसे परित्यक्त होना बहुत बड़ा अपराध है। कहा है—

बड़भागी बनु अवध अभागी । जो रघुबंसतिलक तुम्ह त्यागी ॥

इसी तरह यदि उनके भाषणसे भगवान् शङ्करके प्रति कभी अवहेलनाका भाव प्रतीत होता है तो उसका कारण केवल 'राम' के प्रति उनकी अनन्य निष्ठा और महान् विश्वास ही मानना चाहिये। वहाँ साम्प्रदायिक राग-द्वेषका तो कोई प्रश्न ही नहीं है। उनका अपने रामके प्रेमी—शिवजीसे कोई विरोध नहीं है; वे तो मेघनाद-पूज्य शङ्करका विरोध करते हैं। यह भी उनकी अनन्यताका ही प्रतिपादक है।

(६)

सहजानुराग

श्रीराघवेन्द्रके प्रति उनका अनुराग भी सहज ही है। उसका गुण अथवा कामनासे कोई सम्बन्ध नहीं है।

श्रीनारदजीने 'भक्तिसूत्र' में प्रेमकी व्याख्या करते हुए उसका स्वरूप भी यही बताया है—

गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपम्।

इसीलिये प्रारम्भमें ही श्रीगोस्वामीजीने श्रीलक्ष्मणजीके सहजानुरागको सूचित कर दिया है—

बारेहिं ते निज हित पति जानी । लछिमन राम चरन रति मानी ॥

बाल्यावस्थाके खेलमें भी श्रीलक्ष्मणजी कभी प्रभुके विरुद्ध नहीं खेले। गीतावलीमें कहा है—

राम-लषन इक ओर, भरत-रिपुदवन लाल इक ओर भये।
सरजुतीर सम सुखद भूमि-थल, गनि गनि गोइयाँ बाँटि लये ॥

एक क्षणके लिये भी प्रभुका वियोग उन्हें असह्य था। यही कारण है कि जहाँ प्रभु (श्रीरामचन्द्रजी) का नाम लिया जाता है, वहाँ श्रीलक्ष्मणजीका नाम अन्य भाइयोंकी अपेक्षा अधिक निकटस्थ समझकर लिया जाता है। श्रीगोस्वामीजीने रकार-मकारके प्रति अपनी प्रियता प्रकट करनेके लिये—

राम लषन सम प्रिय तुलसी के।

—ही कहना उचित समझा। कुछ लोग मानसमें श्रीलक्ष्मणजीके चरित्रका कुछ संक्षिप्त रूप देख, उनके प्रेम तथा विशेषताओंकी विवेचना विशेष न पाकर यह समझनेकी भूल कर बैठते हैं कि श्रीगोस्वामीजीके हृदयमें श्रीलक्ष्मणजीकी अपेक्षा, श्रीभरतजीके* प्रति अधिक स्नेहका भाव है, पर उपर्युक्त उपमासे ही यह सन्देह निवृत्त हो जाना चाहिये।

श्रीगोस्वामीजीकी नाम-निष्ठा तो प्रसिद्ध ही है। उन्होंने नामको निर्गुण और सगुण दोनों ब्रह्मस्वरूपोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ बतलाया है। उस नामके दोनों वर्णोंके लिये 'राम और (क्रमशः) भरत'के स्थानपर 'राम और लखन' कहकर क्रम-भङ्ग भी किया गया है। श्रीलक्ष्मणजीकी अपेक्षा—अवस्थामें श्रीभरतजी बड़े हैं। श्रीलक्ष्मणजीके चरित्रका विस्तृत दिग्दर्शन कराना, कविको अपेक्षित भी तो नहीं था। मानो इसीलिये उसने उन्हें वन्दना-प्रसङ्गमें ही दण्ड-पताकाकी उपमा देकर दोनों (श्रीराम-लक्ष्मण) में सम्मिलित; पूर्णताका होना सूचित कर दिया। श्रीलक्ष्मणजीका चरित्र स्वतन्त्र है ही नहीं। उस महान् प्रेमीने अपनेको प्रभुमें एकमेक कर दिया था। उनका प्रेम तो उस स्तरपर पहुँच चुका है, जहाँ प्रेमी-प्रेमास्पदका भेद करना भी असम्भव-सा है।

श्रीगोस्वामीजी तो श्रीलक्ष्मण-चरित्र छिपानेका रहस्य एक ही पंक्तिमें व्यक्त कर देते हैं।

धनी धन तुलसीसे निरधनके।

धनको तो सभी छिपाते हैं; फिर उसमें भी निर्धन। 'निर्धन अपनी प्राणोपम पूँजी सबको दिखाता फिरेगा'—इसकी आशा भला कौन विज्ञ कर सकता है।

श्रीराम और लक्ष्मणको अलग देखनेकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। महामुनि विश्वामित्र भी श्रीलक्ष्मणसे संयुक्त ही प्रभुको ही लानेकी बात सोचते हैं—

एहूँ मिस देखौं पद जाई । करि बिनती आनौं दोउ भाई ॥

वहाँ पहुँचकर भी जब ये—

अनुज समेत देहु रघुनाथा।

—कहते हैं। तब अनुजत्रयके रहते हुए भी 'अनुज' से केवल उनका (श्रीलक्ष्मणजीका) ही बोध होना अनुजत्वके

---

* श्रीभरतजीका प्रेम तो विधि-हरि-हरके लिये भी अगम्य है। उसकी महिमा कौन कह सकता है। पर उनके अनन्य प्रेमकी पद्धति दूसरी है। वे धर्मधुरीण हैं, प्रभुकी आज्ञाके पालक हैं और समाजके सामने परम आदर्श हैं। श्रीलक्ष्मणजीका अनन्य प्रेम दूसरे प्रकारका है। इनमें छोटे-बड़ेकी कल्पना करना तो अपराध है। वे [illegible] बढ़कर हैं और वे उनसे। श्रीभरतजीके परम पुनीत प्रेमपर [illegible] लेखमें लिखनेका विचार है।

सम्पूर्ण अधिकारोंपर उनके ही एकमात्र अधिकारका सूचक है। आज भी गृह-गृह और जन-जनमें श्रीराम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुहन कहनेकी ही परिपाटी प्रचलित है। न जाने कितने-एक 'ग्राम्य गीतों' में उन्हें इसी (संयुक्त) रूपमें याद किया गया है। उनके चरित्रका कोई विस्तृत प्रचारक न होनेपर भी अनजानमें ही वे प्रत्येक 'भावुकहृदय' के सहज-सङ्गीत बन चुके हैं। वे ऐसी कविता हैं जिसे छन्द-अलङ्कारोंसे सजाया नहीं गया है, पर मानव-हृदयके अन्तरतम प्रदेशसे अपने-आप फूटकर निकल पड़ी है। श्रीलक्ष्मणजीका प्रभुके प्रति अनुराग इतना पवित्र और सहज है कि उसे कोई भी परिस्थिति और कारण बदल नहीं सकता और न तो बदल ही सका। पवित्र हृदयवालोंको तो इस 'सहजानुराग' का अनुभव युगल-मूर्तिके दर्शनसे ही हो जाता था। इसीलिये तो योगिराज जनकने दर्शन करते ही इस 'सत्य' को समझ लिया। और उसे श्रीविश्वामित्रजीसे व्यक्त भी कर दिया। वे बोल उठे—

× × × ×

सुनहु नाथ कह मुदित बिदेहू। ब्रह्म जीव इव सहज सनेहू॥

यद्यपि वे न तो इन दोनों भाइयोंका व्यवहार ही जानते हैं और न पूर्व-परिचय ही। फिर भी उन दोनोंका प्रेम इनके हृदयको हठात् आकर्षण कर रहा है। क्यों और कैसेका उत्तर देनेमें वे असमर्थ हैं। इन दोनोंके अनिर्वचनीय प्रेमका उन्हें अनुभव तो अवश्य हो रहा है। पर महान् वक्ता जनक उसे व्यक्त करनेमें अपनेको असमर्थ पाते हैं। अपने उस भावको वे इन शब्दोंमें व्यक्त करते हैं—

सुंदर स्याम गौर दोउ भ्राता। आनँदहू के आनँद दाता॥
इन्ह कै प्रीति परसपर पावनि। कहि न जाइ मन भाव सुहावनि॥

यही कारण है कि उनके मनमें एक प्रश्न उठता है कि क्या दो व्यक्तियोंमें ऐसा प्रेम कभी सम्भव है? मन कहता नहीं, बुद्धि कहती नहीं, तब वे पुनः विचार करते हैं और उन्हें लगता है कि वे दो व्यक्ति नहीं, अपि तु ब्रह्म ही दो भागोंमें व्यक्त होकर सम्मुख दृष्टिगोचर हो रहा है, और अपने इस निर्णयका वे विश्वामित्रजीसे भी समर्थन चाहते हैं—

[illegible] नाथ सुंदर दोउ बालक। मुनिकुल तिलक कि नृपकुल पालक॥
[illegible] निगम नेति कहि गावा। उभय बेष धरि की सोइ आवा॥

[illegible]कजीमें 'अनुरागका उदय' एक अद्भुत घटना [illegible] स्वभावसे ही वैराग्यवान् और ब्रह्मनिष्ठ हैं। निश्चितरूपसे उनके इन दोनों गुणोंको श्रीलक्ष्मण और प्रभु बरबस छीन लेते हैं। प्रभुके सौन्दर्यने उनकी ब्रह्मनिष्ठाको और परम अनुरागी श्रीलक्ष्मणजीने उनके वैराग्यको हठात् छीन लिया। यही कारण है कि अपने वार्तालापमें प्रभुके सौन्दर्यकी अपेक्षा दोनोंके अनुरागका ही विशेष वर्णन किया। श्रीजनक-जैसे ज्ञानीको अनुरागके रंगमें रँगकर परम प्रेमी बना देना श्रीलषणलालजीको छोड़ और किसके लिये सम्भव था! श्रीजनकजीकी कही हुई बातोंको ध्यानपूर्वक पढ़ जानेसे यह स्पष्टरूपसे विदित हो जाता है।

(७)
अदोष-दर्शन

पुष्पवाटिकामें प्रभु श्रीरामचन्द्रजी श्रीलक्ष्मणजीके साथ पुष्प लेने आते हैं। उसके कुछ ही क्षणों पश्चात् श्रीकिशोरीजीका भी आगमन होता है। एक दूसरेको देखकर पूर्वानुरागका उदय हो जाता है। प्रभु श्रीराघवेन्द्र श्रीकिशोरीजीका सौन्दर्य एकटक निहारते रह जाते हैं। प्रभुका गम्भीर समुद्रकी तरह शान्त हृदय श्रीकिशोरीजीका चन्द्र-मुख देखकर तरङ्गायित हो उठा। प्रभु श्रीरामभद्र इस अपनी नवीन दशाको श्रीलक्ष्मणजीसे छपाना नहीं चाहते; क्योंकि लषणलालका चित्त प्रभुको ज्ञात है। प्रभु इन शब्दोंमें अपने हृदयके सारे भाव पवित्र मनसे व्यक्त कर देते हैं—

सिय सोभा हियँ बरनि प्रभु आपनि दसा बिचारि।
बोले सुचि मन अनुज सन बचन समय अनुहारि॥

तात जनकतनया यह सोई। धनुषजग्य जेहि कारन होई॥
पूजन गौरि सखीं लै आईं। करत प्रकासु फिरइ फुलवाईं॥
जासु बिलोकि अलौकिक सोभा। सहज पुनीत मोर मनु छोभा॥
सो सबु कारन जान बिधाता। फरकहिं सुभद अंग सुनु भ्राता॥

यहाँ 'सुचि मन' वाक्य बहुत ध्यान देने योग्य है। इन सब घटनाओंका प्रभाव प्रभुके मनपर तो अवश्य पड़ा। पर श्रीलक्ष्मणजी पूर्ण निर्विकार शान्त बने रहे। यही इस वाक्यसे सङ्केत किया गया है। प्रभुके मनकी इस क्षुब्धतासे कणभर भी दोष-दृष्टि श्रीलक्ष्मणजीकी नहीं होती है। अपितु इसके बदले उनके मनमें यह दृढ़ निश्चय हो जाता है कि राघवेन्द्रके मनका क्षोभ ही इस बातका सूचक है कि श्रीकिशोरीजीका विवाह प्रभुसे ही होगा। इतना ही नहीं, उस दिन प्रभुसे एक धर्म-व्यतिक्रम और हो जाता है। श्रीविश्वामित्रजीकी आज्ञा लेकर

प्रभु सन्ध्या करने गये । पर उदित चन्द्रमाको देख उन्हें श्रीसीताजीके मुख-चन्द्रकी स्मृति हो आयी । फिर क्या था, चन्द्रमा और मुखकी तुलनामें ही बहुत रात्रि व्यतीत हो गयी; किंतु इस व्यतिक्रमको देखकर भी उनके मनमें किसी प्रकार-की अश्रद्धाका उदय नहीं हुआ, अपितु प्रातःकाल प्रभुके द्वारा प्रातःकालीन सूर्यका वर्णन सुनकर उन्होंने उसको प्रभु-का प्रभावसूचक ही बताते हुए बड़े सुन्दर शब्दोंमें कोसलेन्द्र-द्वारा ही धनुर्भङ्ग होनेकी बात व्यक्त की ।

बिगत निसा रघुनायक जागे । बंधु बिलोकि कहन अस लागे ॥
उयउ अरुन अवलोकहु ताता । पंकज कोक लोक सुखदाता ॥
अरुनोदयँ सकुचे कुमुद उडगन जोति मलीन ।
जिमि तुम्हार आगमन सुनि भए नृपति बलहीन ॥
नृप सब नखत करहिं उजिआरी । टारि न सकहिं चाप तम भारी ॥
कमल कोक मधुकर खग नाना । हरषे सकल निसा अवसाना ॥
ऐसेहिं प्रभु सब भगत तुम्हारे । होइहहिं टूटें धनुष सुखारे ॥
उयउ भानु बिनु श्रम तम नासा । दुरे नखत जग तेजु प्रकासा ॥
रबि निज उदय ब्याज रघुराया । प्रभु प्रतापु सब नृपन्ह दिखाया ॥
तव भुजबल महिमा उदघाटी । प्रगटी धनु बिघटन परिपाटी ॥

ऐसी थी श्रीलक्ष्मणजीकी प्रभुमें अनन्त निष्ठा !

इतना ही नहीं, वनमें प्रभुने एक ऐसी विलक्षण लीला की कि उस प्रसङ्गमें महान्-से-महान् व्यक्ति भी विचलित हो जाता पर श्रीलक्ष्मणजी अडिग रहे । विश्वमें 'नीर-क्षीर-प्रेम' की अत्यधिक प्रशंसा की जाती है । दूध पानीसे इतना अधिक प्रेम करता है कि जलको अपना स्वरूप बना लेता है । जल भी उसका निर्वाह करना जानता है । इसीलिये जब दुग्ध अग्नि-पर औंटाया जाता है तब जल स्वयं अपनेको पहले जलाता है । अपने मित्र जलको जलते देख दुग्ध भी अग्निमें कूदकर (उफान आकर) आत्महत्या कर लेना चाहता है । तब उसे शान्त करनेके लिये जलका ही छींटा देना पड़ता है । अपने मित्र (जल) को पुनः लौटा देख दुग्ध शान्त हो जाता है । पर इतना विलक्षण प्रेम होनेपर भी खटाई पड़ते ही दोनों अलग हो जाते हैं । इसी तरहसे महानुभावोंका कथन है कि गाढ़ प्रेममें भी कपट-खटाई पड़ते ही वह रस-हीन हो जाता है—

जलु पय सरिस बिकाइ देखहु प्रीति की रीति भलि ।
बिलग होइ रसु जाइ कपट खटाई परत पुनि ॥

किंतु प्रभुके प्रति श्रीलक्ष्मणजीका प्रेम तो इतना प्रगाढ़ है कि ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो जानेपर भी उस प्रेममें तनिक भी अन्तर आनेकी कल्पना भी नहीं की जा सकती ।

एक दिन जब श्रीलक्ष्मणजी कन्द-मूल-फल लेनेको वनमें गये तब उनके पीछेसे लीलाविहारी प्रभुने श्रीकिशोरीजीसे मिल-कर भूभार-हरणकी एक योजना बनायी । श्रीकिशोरीजी अग्निमें अन्तर्हित हो गयीं और उनकी जगह मायामूर्ति प्रकट हो गयी । पर श्रीलक्ष्मणजीसे यह बात छिपायी गयी । इसके पश्चात् रावण माया-मृग लेकर आता है । अपनी योजनाके अनुसार निश्चय ही प्रभुको मायासीताका हरण अभीष्ट है । फिर भी वे माया-मृगके पीछे जाते समय श्रीलषणलालको रक्षा करने-का आदेश देते हैं—

प्रभु लछिमनहि कहा समुझाई । फिरत बिपिन निसिचर बहु भाई ॥
सीता केरि करेहु रखवारी । बुधि बिबेक बल समय बिचारी ॥

—और जब श्रीलक्ष्मणजी दृढ़तापूर्वक आज्ञाका पालन कर रहे हैं, तभी सुनायी पड़ता है उन्हें प्रभुके स्वरोंमें मारीचका आर्तनाद । फिर भी लक्ष्मणजी उनकी आज्ञापर अडिग ही रहते हैं । श्रीकिशोरीजीके कहनेपर भी वे हँसकर टाल देते हैं, तब प्रेरणा करते हैं प्रभु श्रीकिशोरीजीके मन-में कटुभाषणकी और श्रीकिशोरीजी द्वारा कटुवाक्यप्रहार होता है श्रीलक्ष्मणजीपर । निश्चितरूपसे श्रीलक्ष्मणजी विचलित न हुए होते पर मायानाथको तो अपना कार्य बनाना था । वे प्रेरणा कर देते हैं श्रीलक्ष्मणजीके मनमें आनेकी । पर धन्य हैं श्रीलक्ष्मणजी, जिन्होंने श्रीकिशोरीजीके कटु-वाक्यप्रहारके उत्तरमें एक शब्द भी न कहा । अपितु उनकी रक्षाका भार देवताओंपर डालकर रक्षाकी व्यवस्था कर प्रभुकी ओर चल पड़े । यहाँ 'कवि' ने प्रभुके लिये एक ऐसी उपमा दी है जैसी उपमा उसने कहीं न दी ।

बन दिसि देव सौंपि सब काहू । चले जहाँ रावन ससि राहू ॥

प्रभुको 'राहु' की उपमा देना भक्त कविके लिये आश्चर्य-जनक ही है। यदि उसे यही दिखाना अभीष्ट था कि प्रभु रावणका नाश करनेवाले हैं तो वह अन्य उपमाएँ दे सकता था । पर उन सबको छोड़ यह उपमा देना एक विशेष अभिप्राय रखता है । रावण श्रीसीताजीको हरण करने आ रहा है— और चन्द्रमा है गुरु-तियगामी । राहु-उपमाभूषित प्र[illegible] एक बात ऐसी है, जो भक्तकी दृष्टिमें अछूती न [illegible] है—श्रीलक्ष्मणके प्रति प्रभुका दुराव । राहुका दुरा[illegible] ही है ।

आगे चलकर जब श्रीलक्ष्मणजी प्रभुके निकट पहुँचते हैं, तब प्रभुका श्रीलक्ष्मणजीसे यह कहना कि 'तुम मेरी आज्ञाके विरुद्ध श्रीकिशोरीजीको अकेली छोड़कर चले आये—

जनकसुता परिहरिहु अकेली । आयहु तात बचन मम पेली ॥

—किस सहृदय पुरुषको व्यथित न कर देगा । एक ऐसे भाईके प्रति, जिसने उनके लिये 'सर्वस्व-त्याग' कर दिया । उससे दुराव, फिर अपनी इच्छाके विरुद्ध आज्ञा, आज्ञा-पालनमें भी स्वयं प्रेरणा करके उससे विरत करना एवं फिर उलाहना देना कि—तुम मेरी आज्ञाका उल्लङ्घन करके आ गये [इससे यद्यपि भक्तवत्सल प्रभुने श्रीलक्ष्मणजीकी दृढ़ निष्ठाकी महिमा ही बढ़ायी है] । पर इन घटनाओंसे भी प्रभुके प्रति श्रीलक्ष्मणजीके अगाध स्नेहमें कोई अन्तर नहीं आया । आता भी कैसे प्रेम-पयोधिकी महिमा जो घट जाती । यही तो उस चातक-प्रेमकी विशेषता है—

चढ़त न चातक चित कबहुँ पिय पयोदके दोष ।
तुलसी प्रेम पयोधि की ताते नाप न जोख ॥

श्रीराम और श्रीलक्ष्मणकी एकाकारताको दृष्टिमें रखकर ही कविने दूध और पानीकी उपमा देनेका विचार किया, फिर ध्यान हो आया कि किसे दूध कहा जाय और किसे पानी; दूध-पानीका प्रेम कपट-खटाई पड़नेसे नष्ट भी हो जाता है । हंस भी उसे विलग कर सकता ही है । पर श्रीलक्ष्मणजीके प्रेमको कोई भी घटना नष्ट नहीं कर सकती तब बाध्य होकर कविको कहना पड़ा कि राम-लक्ष्मणके प्रेमकी उपमा दूध-पानीसे क्यों दी जाय—

उपमा राम-लखनकी प्रीतिकी क्यों दीजे छीर-नीर ।
(गीतावली)

कामके पत्र

(१)

अपनी स्थितिके अनुसार ही कार्य करना चाहिये

सादर प्रणाम । आपका कृपापत्र मिला था । आप सब समझते हैं, मैं आपको क्या लिख सकता हूँ । मेरी समझसे तो मनुष्यको अपनी स्थिति समझकर उसके अनुसार ही कार्य करना चाहिये । 'उतने पैर पसारिये जितनी लाँबी सोड़' तभी कार्य सात्त्विक और परिणाममें सुख तथा शुभ प्रदान करनेवाला होता है और तभी उसका बहुत दिनोंतक निर्वाह भी हो सकता है । आवेशमें आकर ऐसा कार्य नहीं करना चाहिये, जिसको आगे चलकर छोड़ना पड़े । जो लोग बिना विचारे किसी सदुद्देश्यसे भी अपनी शक्तिके बाहर काम कर बैठते हैं, उनकी आगे चलकर अपने उद्देश्यके प्रति ही उपेक्षा, उदासीनता, अवज्ञा और शिथिलता हो जाती है । जैसे किसीकी आर्थिक स्थिति बहुत अच्छी नहीं हो और वह बड़ा ऋण लेकर भगवान्‌का मन्दिर बनवा दे । [illegible]र्माण बहुत अच्छी बात है; परंतु ऋण भी [illegible] ऋण नहीं चुकाया जायगा और महाजनका कड़ा तकाजा शुरू होगा तब मानसिक शान्तिको बनाये रखना असम्भव-सा हो जायगा । ऋण लेकर मन्दिर न बनाया जाता तो यह अशान्ति नहीं होती । जब चित्तमें अशान्ति होगी, दुःख होगा तब अपने कार्यपर पश्चात्ताप भी होगा । और मन्दिर-निर्माणके मूलमें भगवान्‌के प्रति जो श्रद्धा थी, वही शिथिल हो जायगी, फिर भगवान्‌में भी उपेक्षा, उदासीनता एवं अनादरकी भावना आ जायगी । पर इसका यह अर्थ नहीं है कि प्रचुर अर्थ होनेपर भी भगवत्सेवामें या सत्कार्यमें उसका व्यय नहीं किया जाय । वह तो कृपणता और वित्त-शाठ्य है । अपने पास कोई वस्तु हो, अपने शरीर और मनमें शक्ति हो एवं उचित अवसरपर उनसे काम नहीं लिया जाय, यह भी बहुत बुरी बात है ।

आप यह मत समझें कि मैं आपके उत्साहको तोड़ रहा हूँ और आपकी सत्-प्रवृत्तिमें बाधा देना चाहता हूँ । आपकी सद्भावना और उत्साह बहुत सराहनीय है; परंतु आपने अपनी जो स्थिति बतलायी है और उसपर मेरी सम्मति पूछी है, इसलिये कर्तव्यवश आपको

यह लिखनेके लिये बाध्य होना पड़ रहा है कि आप अपने उत्साहके अनुसार कार्य तो अवश्य कीजिये—पर कीजिये उसी सीमातक, जहाँतक आपकी शक्ति है। आपने भविष्यकी जिस कल्पनापर इतना बड़ा कार्य करनेका विचार किया है, वह उचित नहीं मालूम होता। सोचिये, यदि आपकी भविष्यकी कल्पना सिद्ध न हुई तो आपको कितना कष्ट होगा और साथ ही आपके बाल-बच्चोंकी भी क्या दशा होगी। आपके ऊपर बच्चोंका दायित्व तो है ही। जबतक आपको अपने शरीरका ज्ञान है, तबतक इस दायित्वसे आप मुक्त नहीं हो सकते। यह भी आपका धर्म है। आप बच्चोंमें, घरमें आसक्त न हों, यह ठीक है; परंतु उनकी देख-रेख न करें, यह अनुचित है और किसी कल्पनापर उनके भविष्यको अन्धकारमय बना देना नितान्त अनुचित है। यह सत्य है कि सबके रक्षणावेक्षणका भार श्रीभगवान्‌पर है। आजकी बनायी हुई व्यवस्था कल नष्ट हो सकती है और इससे बहुत अच्छी नयी व्यवस्था भी हो सकती है; परंतु मनुष्यका कर्तव्य तो यही है कि वह अपनी वर्तमान स्थितिके अनुसार सोचे और तदनुसार ही व्यवस्था करे। फिर होगा तो वही जो होना है और वही ठीक होगा। पर इस विचारको लेकर अहंता-ममतासे युक्त मनुष्य अपनेको कर्तव्यके दायित्वसे मुक्त नहीं मान सकता।

आपके दूसरे प्रश्नका उत्तर यह है कि मेरी समझसे इस समय संसार उन्नतिकी या विकासकी ओर नहीं, परंतु अवनति और विनाशकी ओर ही जा रहा है। हमलोगोंकी मानसिक स्थिति ही इसका प्रमाण है। जिस कालमें मनुष्यका मन त्याग एवं प्रेमसे पूर्ण, पवित्र, भगवत्-सम्बन्धयुक्त सात्त्विक भावोंसे भरा होता है, वही काल उसकी उन्नतिका होता है; क्योंकि मानसिक भावोंके अनुसार ही कार्य होते हैं और उन कार्योंका अच्छा-बुरा परिणाम ही हमारी उन्नति-अवनतिका स्वरूप होता है। जब हमारे मनमें काम, क्रोध, लोभ, असत्य, वैर, हिंसा, द्वेष, दम्भ, द्रोह, विषाद, सन्ताप, ईर्ष्या, मत्सर, अभिमान, दर्प, ममत्व, अहंकार आदि भरे हैं और दिनोंदिन बढ़ रहे हैं, तब हमारे द्वारा सत्कार्योंका होना और उनके फलस्वरूप अभ्युदय और विकासकी प्राप्ति होना कैसे सम्भव है? जैसा आज हमारा मन है, वैसा ही जगत् हमारे सामने आनेवाला है। आजके हमारे मनमें विध्वंस, विनाश और अवनतिके विचार ही बढ़ रहे हैं, और सबसे बढ़कर बात तो यह है कि अपनेको प्रगतिशील माननेवालोंको इन विनाशी विचारोंमें ही प्रगति और विकास दीख रहा है। भगवान्‌ने श्री-मद्भगवद्गीतामें कहा है—

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥
(१८। ३२)

'बुद्धि जब तमोगुणसे ढक जाती है, तब वह अधर्म-को धर्म मानती है, उसको फिर सभी अर्थोंमें विपरीत मान्यता हो जाती है।' फिर हानिमें लाभ, अवनतिमें उन्नति, विनाशमें विकास, पतनमें उत्थान और लघुत्वमें महत्त्व दीखने लगता है। यह तामसी बुद्धिका स्वरूप है और तमोगुणका फल है अधःपात—(अधो गच्छन्ति तामसाः) तामस प्राणी अधोगतिको प्राप्त होते हैं। (गीता १४। १८)।

हाँ, इस दुःसमयमें भी भगवान्‌का आश्रय लेकर उनका भजन करनेवाले पुरुष न तो दैवीगुणोंसे वञ्चित होंगे और न उनका अधःपात ही होगा, चाहे संसारमें उनकी बड़ी अवज्ञा ही हो जाय। अतएव मेरी तो प्रार्थना है कि हम सबको भगवद्भजनमें संलग्न होना चाहिये।

मेरी धृष्टताके लिये क्षमा करेंगे।

(२)

ईश्वरकी आज्ञाके विना पत्ता भी नहीं हि[illegible]

सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला।

आपका प्रश्न है कि जब ईश्वरकी आज्ञाके बिना एक पत्ता भी नहीं हिल सकता, तब पाप-पुण्यके लिये स्थान क्यों ?

प्रश्न विचारणीय है। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि विश्व-ब्रह्माण्डमें जो कुछ हो रहा है, उसमें ईश्वरकी ही प्रेरणा है—

भीषास्माद्वातः पवते। भीषोदेति सूर्यः। भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च। मृत्युर्धावति पञ्चमः।

(तैत्तिरीय० २।८।१)

'परमात्माके भयसे ही पवन चलता है, सूर्य उगता है। अग्नि, इन्द्र और पाँचवाँ मृत्यु—सब अपना-अपना कार्य करते हैं।' इन श्रुतियोंसे यही बात सिद्ध होती है। तब फिर पाप-पुण्यमें भी क्या ईश्वरका ही हाथ समझा जाय ? यदि हाँ, तो फिर जीवोंको पापका दण्ड और पुण्यका पुरस्कार क्यों मिलना चाहिये ?

इस विषयपर गहराईसे विचार करनेकी आवश्यकता है। श्रुति धर्म एवं सत्यके आचरणका आदेश देती है 'सत्यं वद, धर्मं चर' इत्यादि। हिंसा आदि पापोंका निषेध करती है—'मा हिंस्यात् सर्वाभूतानि' इत्यादि। क्या करना चाहिये और क्या नहीं, इस विषयमें गीता वेदादि शास्त्रोंको ही प्रमाण मानती है—

'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।'

वेदादि शास्त्र ईश्वरकी ही आज्ञा हैं—'श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे।' अतः ईश्वरका यही आदेश ज्ञान पड़ता है कि मनुष्य शुभ कर्म करे और पापकर्मोंसे दूर रहे।' इतना ही नहीं, श्रुतियोंमें पापके लिये दण्डकी स्पष्ट घोषणा है—

'अथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन्…… ।'

अर्थात् 'जिसका आचरण मलिन है—जो पाप [illegible]के हैं, वे निश्चय ही पापयोनियोंमें पड़ेंगे।' [illegible] होता है कि पाप-पुण्यका उत्तरदायित्व उसके कर्तापर ही है। धर्मके उल्लङ्घनमें और पापके आचर[illegible] ईश्वरकी कोई प्रेरणा नहीं है। अपितु ईश्वरीय विधा[illegible] इसका स्पष्ट निषेध ही पाया जाता है। दण्डवि[illegible] तभी सम्भव और न्यायसङ्गत है, जब मनुष्य पाप[illegible] अपराध करनेमें पूर्ण स्वतन्त्र हो। इससे स्पष्ट हो ज[illegible] है कि मनुष्य शुभाशुभ कर्म करनेमें स्वतन्त्र है।

जब ऐसी बात है, तब तो 'ईश्वरकी इच्छाके बि[illegible] एक पत्ता भी नहीं हिलता' इस सिद्धान्तसे वि[illegible] आता है। नहीं, सूक्ष्म विचारसे इस विरोधके लिये [illegible] स्थान नहीं है। सामान्यतः हलन-चलन, श्रवण-द[illegible] मनन-चिन्तन आदि जो मन और इन्द्रियोंके तथा [illegible] जगत्के व्यापार हैं, जिन्हें हम केवल 'चेष्टा' कह स[illegible] हैं, वह चेष्टा ईश्वरकी प्रेरणासे ही होती है। [illegible] शक्तिसे प्रेरित होकर प्रकृति अथवा प्राकृत जगत् का[illegible] क्षम होता है, वह ईश्वरकी ही शक्ति है, इसी[illegible] ईश्वरकी प्रेरणासे ही सब कुछ होता है, ऐसा कहा ज[illegible] है। केनोपनिषद्में एक इतिहास आता है—किसी स[illegible] देवताओंके मनमें यह अभिमान आ गया कि हमने अ[illegible] बलसे असुरोंपर विजय प्राप्त की है। उसी समय उ[illegible] सामने एक तेजस्वी महाकाय यक्ष प्रकट हुआ, उस[illegible] परिचय न पा सकनेपर अग्नि और वायु क्रमशः उ[illegible] समीप गये और अपनी शक्तिका बखान करने ल[illegible] यक्षने उनके सामने एक तिनका रख दिया और क[illegible] 'इसे जला दो या उड़ा दो।' सारी शक्ति लगा दे[illegible] भी वायुदेवता और अग्निदेवता कृतकार्य नहीं हो स[illegible] अन्तमें भगवती उमाके द्वारा सर्वप्रथम इन्द्रको यह [illegible] हुआ कि 'वह यक्ष साक्षात् ब्रह्म ही थे और देवताओं[illegible] उन परमात्माके ही बलसे असुरोंपर विजय पायी है[illegible] अतः 'ईश्वरीय प्रेरणाके बिना एक पत्ता भी नहीं हिलता[illegible] यह कथन सत्य ही है। ब्रह्मका निरूपण करते [illegible] श्रुति कहती है कि वह नेत्रका भी नेत्र, कानका [illegible] कान और मनका भी मन है। यह स्वयं नेत्रसे [illegible]

देखता, नेत्र ही उससे—उसकी शक्तिसे देखते हैं। इसी प्रकार कान, मन आदि भी उसीकी शक्तिसे कार्यक्षम होते हैं। ईश्वरकी शक्ति और प्रेरणाके बिना कोई कुछ भी नहीं कर सकता। गायत्रीमन्त्रमें उसी प्रेरक शक्तिका चिन्तन किया जाता है। जैसे मशीनको चालू कर देना बिजलीका काम है, उसी प्रकार सम्पूर्ण भौतिक या प्राकृत जगत्को सञ्चालित कर देना ईश्वरका कार्य है; परंतु बिजलीकी शक्तिसे चलनेवाली मशीनका उपयोग करनेवाला मनुष्य ही उसके सदुपयोग या दुरुपयोगके लिये उत्तरदायी होता है, न कि मशीन या बिजली। यदि छपाई ठीक नहीं हुई तो मशीनमैन ही उसका उत्तरदायी होगा। बिजलीको कोई दण्ड नहीं दिया जा सकता, यद्यपि उसके बिना मशीन कुछ भी नहीं कर सकती। इसी प्रकार मनुष्यके मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ अन्तर्यामी प्रभुकी प्रेरणासे ही कार्य करनेमें समर्थ होते हैं; परंतु इनसे शुभ या अशुभ कार्य करानेका उत्तरदायी स्वयं वह मनुष्य ही है, न कि उसके हाथ, पैर या उनमें शक्ति देनेवाला ईश्वर।

गीतामें प्रत्येक शुभाशुभ कर्मके लिये पाँच हेतु माने गये हैं—अधिष्ठान (स्थान), कर्ता, करण, चेष्टा और प्रारब्ध। इनमें स्थान, करण और चेष्टा जड होनेके कारण उत्तरदायी नहीं हैं। प्रारब्ध अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थितिकी सृष्टिमात्र करता है। अतः उसपर भी कर्मका उत्तरदायित्व नहीं लादा जा सकता। अब केवल एक कर्ता पुरुष बच रहता है और वही कर्मोंके लिये उत्तरदायी है। इन पाँचों हेतुओंमें ईश्वरका नाम नहीं है। ईश्वरकी प्रेरणासे चेष्टामात्र होती है। जैसे बिजलीके चूल्हेपर भगवान्के भोगके लिये पवित्र हविष्यान्न भी सिद्ध किया जा सकता है और मांस भी पकाया जा सकता है, उसी प्रकार क्रियाशील इन्द्रियादिके व्यापारसे मनुष्य शुभ और अशुभ कर्म करता है। जैसे बिजलीसे जलनेवाले चूल्हेपर हविष्यान्न पकाने या मांस पकानेमें मनुष्य स्वतन्त्र है, उसी प्रकार ईश्वरीय प्रेरणासे मन-इन्द्रियोंके कार्यक्षम होनेपर भी मनुष्य कर्म करनेमें, न करनेमें या विपरीत करनेमें सर्वथा स्वतन्त्र है। इसीसे मनुष्यको कर्मयोनि कहा गया है और इसीलिये वह उत्तरदायी भी है।

अब यह प्रश्न होता है कि मनुष्य इच्छा न रहनेपर भी पापको बुरा समझनेपर भी पापमें कैसे प्रवृत्त होता है। अर्जुनके इसी प्रश्नका उत्तर भगवान्ने गीताके तीसरे अध्यायमें दिया है। वहाँ उन्होंने स्पष्ट शब्दोंमें पापकर्ममें काम और क्रोधको ही प्रेरक बतलाया है। ये काम-क्रोध रहते हैं इन्द्रिय, मन और बुद्धिमें। इन सबपर आत्माका स्वामित्व है, अतः वहाँ काम-क्रोधको स्थान देकर पाप करनेका उत्तरदायित्व मनुष्यपर ही है; क्योंकि वह इच्छा करनेपर काम-क्रोधका नाश करके पापकर्मसे बिल्कुल बच सकता है। इसीसे भगवान्ने अन्तिम श्लोकमें कामरूपी शत्रुको मारनेकी आज्ञा दी है।

आशा है उपर्युक्त पंक्तियोंसे उक्त विरोध मिट जाता है। शेष भगवत्कृपा।

(३)

अपनी शक्ति-सामर्थ्यसे सदा सेवा करनी चाहिये

सप्रेम हरिस्मरण! आपका कृपापत्र मिला था। उत्तरमें विलम्ब हो गया, इसके लिये क्षमाप्रार्थी हूँ। आपके प्रश्नके उत्तरमें निवेदन है कि हमलोगोंको जो कुछ भी मिला है, सब वस्तुतः भगवान्की पूजाके लिये ही मिला है—इन्द्रिय-तृप्तिकी इच्छासे भोग करनेके लिये नहीं। जो मनुष्य इस बातको समझकर प्राप्त वस्तुओंको यथायोग्य यथास्थान भगवान्की सेवामें लगाता है और अवशिष्टको प्रसादरूपमें ग्रहण करता है, वह तो मानव-जीवनका कर्तव्य पालन करता है। जो ऐसा न क[illegible] अपने भोग-सुखमें ही सब वस्तुओंका उपयोग क[illegible] वह पापी है और पापका ही सेवन [illegible] श्रीभगवान्ने गीतामें कहा है—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥
(३ । १३)

यज्ञ (भगवान्‌की सेवा) से बचे हुए अन्नको खानेवाले—विश्वरूप भगवान्‌की सेवामें लगाकर बचे हुए पदार्थोंको अपने काममें लेनेवाले श्रेष्ठ पुरुष सब पापोंसे छूट जाते हैं; पर जो पापी मनुष्य केवल अपने शरीर-पोषणके लिये, अपने भोग-सुखके लिये पकाते (कमाते) हैं, वे तो पाप ही खाते हैं ।

जिसके पास अन्न, धन, जन, विद्या, बुद्धि, शक्ति-सामर्थ्य जो कुछ भी है, सबको भगवान्‌की सेवामें लगाना चाहिये । जहाँ अन्नका अभाव है, वहाँ भगवान् अन्नके द्वारा पूजा कराना चाहते हैं; जहाँ जलका अभाव है, वहाँ जल; जहाँ रोग फैला है, वहाँ चिकित्सा और औषध; जहाँ वस्त्र नहीं है, वहाँ वस्त्र; जहाँ आश्रय नहीं है, वहाँ आश्रय; जहाँ भय है, वहाँ अभयद शरण; जहाँ अज्ञान है, वहाँ विद्या; जहाँ शक्तिका अभाव है, वहाँ शक्ति; जहाँ मार्गभ्रम है, वहाँ मार्ग-दर्शन; जहाँ दरिद्रता है, वहाँ धन; जहाँ असहाय अवस्था है, वहाँ सहायक और जहाँ प्राणभय है, वहाँ प्राणरक्षा—इस प्रकार भिन्न-भिन्न स्थितियोंमें भगवान् ही भिन्न-भिन्न रूपोंमें प्रकट होकर अपनी सेवा चाहते हैं और चाहते हैं उनसे, जिनके पास सेवाके योग्य पदार्थ या साधन हैं ।

समुद्र-मन्थनके समय जब हलाहल विष निकला और उसकी तीव्र ज्वालासे सारा विश्व जलने लगा, तब देवताओंने सबकी रक्षाके लिये भगवान् श्रीशङ्करसे प्रार्थना की । भगवान् शङ्कर ऐसे हैं जो तीव्र-से-तीव्र विषको पीकर भी जगत्‌की रक्षा करनेमें समर्थ हैं । उस समय ...गोंकी दीनताको देखकर भगवान् शङ्करजीने पार्वती-... कहा—

...कं प्राणपरीप्सूनां विधेयमभयं हि मे ।
...न् हि प्रभोरर्थो यद् दीनपरिपालनम् ॥

प्राणैः स्वैः प्राणिनः पान्ति साधवः क्षणभङ्गुरैः ।
बद्धवैरेषु भूतेषु मोहितेष्वात्ममायया ॥
पुंसः कृपयतो भद्रे सर्वात्मा प्रीयते हरिः ।
प्रीते हरौ भगवति प्रीयेऽहं सचराचरः ।
तस्मादिदं गरं भुञ्जे प्रजानां स्वस्तिरस्तु मे ॥
(श्रीमद्भा० ८ । ७ । ३८—४०

'हे कल्याणि ! ये बेचारे किसी प्रकार अपने प्राणों की रक्षा करना चाहते हैं । इस समय मेरे लिये यह कर्तव्य है कि मैं विषपान करके इन्हें निर्भय कर दूँ जिनके पास शक्ति-सामर्थ्य है, उनके जीवनकी इसी सार्थकता है कि वे दीन-दुखी प्राणियोंकी रक्षा करें साधु पुरुष अपने क्षणभङ्गुर प्राणोंकी बलि देकर दूसरे प्राणियोंके प्राणोंकी रक्षा करते हैं । अपने अज्ञानसे मोहित होकर लोग परस्परमें वैरकी गाँठ बाँ बैठे हैं । ऐसे प्राणियोंपर जो कृपा करता है, सर्वा भगवान् श्रीहरि उसपर प्रसन्न होते हैं और ज भगवान् प्रसन्न हो जाते हैं, तब चराचर जगत्‌के सा मैं (शङ्कर) भी प्रसन्न हो जाता हूँ । अतएव इ भयानक विषको भक्षण करता हूँ, जिससे मेरी समस्त प्रजाका कल्याण हो ।'

भगवान् शिवजीने ऐसा कहा ही नहीं, वे उ भयानक विषको पी गये । पर इससे उनकी कु हानि तो हुई ही नहीं, वरं वह विष उनका ए भूषण बन गया । विषकी ज्वालासे उनका कण्ठ नील हो गया । वर्णविरहित गौर शरीरमें नीलकण्ठकी विलक्षण शोभा हो गयी । वस्तुतः यह सत्य भी है, जो दूसरोंके हितके लिये जहरकी घूँट पी जाता है, उसका परिणाम में अहित कभी नहीं होता । असलमें पर-हित ही सच्चा अमृत है और पराया अहित ही भीषण विष है ।

अतएव हमारे पास जो कुछ भी शक्ति-सामर्थ्य है उसके द्वारा, जहाँ जैसी आवश्यकता है—दीन-दुःखि अभावग्रस्त प्राणियोंके रूपमें प्रकट भगवान्‌की सेवा करनी चाहिये । यह शक्तिसामर्थ्य भी भगवान्‌की ही है, और

उन्हींसे हमें मिली है; अतएव यह अभिमान भी नहीं करना चाहिये कि हम किसीको कुछ दे रहे हैं। भगवान्‌की वस्तु भगवान्‌के काममें लग रही है और भगवान्‌ने इसमें हमें निमित्त बननेका गौरव दिया है, यह उनकी परम कृपा है; यों समझना चाहिये।

(४)

निष्काम कर्मका स्वरूप

सप्रेम हरिस्मरण! कृपापत्र मिला। उत्तर बहुत विलम्बसे जा रहा है। कृपया क्षमा करेंगे।

मैंने आपकी जीवनी भलीभाँति पढ़ ली है। आपका श्रीभगवान्‌के चरणोंकी ओर झुकाव हो रहा है, यह बड़े सौभाग्यकी बात है। जिस-किसीकी प्रेरणासे जीव भगवान्‌की ओर बढ़े, यही जीवनका परम पुरुषार्थ है। 'सभी रूपोंमें एक ही भगवान् हैं'—यह धारणा बहुत उत्तम है। इस दृष्टिसे भगवान् शङ्कर और भगवान् श्रीराममें कोई तात्त्विक भेद नहीं है। फिर भी आपने भगवान् श्रीराघवेन्द्रको इष्टदेव बनाकर जो साधना आरम्भ की है, वह परम मङ्गलमयी है। आप पूर्ण उत्साह, श्रद्धा, विश्वास और लगनके साथ अपना भजन चालू रक्खें, यही तो परम कल्याणका साधन है। अब रही अध्ययन और परीक्षा छोड़नेकी बात, सो मेरी समझसे किसीको भी अपने न्यायोचित कर्तव्यका त्याग करनेकी आवश्यकता नहीं है। फिर आप तो कर्मयोगी बनना चाहते हैं; आप अध्ययन क्यों छोड़ें? फलकी कामना और आसक्तिको छोड़कर लाभ-हानि, सिद्धि-असिद्धि, अनुकूलता-प्रतिकूलता तथा जय-पराजय आदिमें समान भाव रखते हुए भगवत्प्रीतिके लिये अध्ययनादि सत्कर्म करते रहना ही वास्तविक कर्मयोग है। विहित कर्मसे भागना तो इस कर्मयोगमें निषिद्ध है। इस कर्मयोगसे भगवान्‌की पूजा होती है और उसका फल होता है जीवनकी सफलता—भगवान्‌की प्राप्ति। 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः'—जीवनके चरम लक्ष्य—भगवान्‌को पा लेना ही परम सिद्धि है। और भगवान्‌की आज्ञा समझकर उनकी प्रसन्नताके लिये ही शुभ कर्म करना कर्मके द्वारा भगवान्‌का पूजन करना है। इस प्रकार विचार करके आप अपना अध्ययन पूर्ण करें।

आपमें 'धन आदिकी कामना नहीं है' यदि ऐसा है तो यह और भी उत्तम है और ऊँचे उठानेवाली बात है। ऐसी दशामें आप आयुर्वेदके ज्ञाता होनेपर जनतारूप भगवान्‌की विशेष सेवा कर सकेंगे। जबतक शरीर है, तबतक इसको भोजन-वस्त्र देना ही है, स्त्री और बच्चे तथा परिवारके अन्य लोग भी इसलिये आदरणीय हैं कि उनमें भी आपके इष्टदेव श्रीराम व्यापक हैं, अतः उन सबको अपने पिता-पत्नी मानकर नहीं, पिता-पत्नी आदिके वेषमें भगवान् समझकर उनका आदर करना तथा यथायोग्य भरण-पोषणके द्वारा उनकी सेवा करना है। इसके लिये यदि न्यायतः आप कुछ उपार्जन करें तो यह दोषकी बात नहीं है। भगवद्-बुद्धिसे, भगवान्‌की सेवाका भाव रखनेसे यह चिकित्सा-रूपी कर्म ही आपके लिये भजन बन जायगा। पत्नीको आपने देवताओंकी साक्षितामें ग्रहण किया है; अतः आपका और उसका यह सम्बन्ध आजीवन रहेगा। दाम्पत्य-सम्बन्ध हिंदू-धर्ममें बड़ा पवित्र माना गया है। इसका प्रभाव जन्मान्तरमें भी पड़ता है। आप दोनों परस्परकी सम्मतिसे संयमका जीवन बिता सकते हैं। आपकी पत्नी भी भगवान्‌की ओर बढ़ें, घर-परिवारके अन्य लोग भी भगवान्‌में लगें, अपने सद्व्यवहारके द्वारा ऐसा प्रयत्न करते हुए आपको घरपर ही रहना चाहिये। यही सच्ची आत्मीयता है—

> **तुलसी, सो सब भाँति परम हित पूज्य प्रानतें प्यारो।**
> **जासों होय सनेह रामपद एतो मतो हमारो॥**

यही घरवालोंके प्रति आपका कर्तव्य है।

घर छोड़कर जानेमें और भी अनेकों बाधाएँ हैं जिनकी अभी आपको पूरी कल्पना भी नहीं है। मन [illegible] हो तो घरपर भी भजन हो सकता है। मन [illegible] होनेपर जंगलमें भी अमङ्गल ही होगा [illegible]

करना चाहिये, जो निरापद हो और भगवद्भजनमें सहायक हो ।

मेरी स्पष्ट सम्मति है कि आप घरमें रहकर अपने भजनको चालू रखते हुए सत्संग और स्वाध्याय भी करते रहें । अध्ययनको पूरा करके उसके द्वारा जनता-रूप भगवान्‌की सेवा करें और न्यायवृत्तिसे भगवत्प्रसादरूपमें जो उपार्जन हो, उसके द्वारा अपने कुटुम्बीजनोंका यथाशक्ति पालन करें । यद्यपि सबका पालन करनेवाले श्रीभगवान् ही हैं । तथापि मनुष्य भी निमित्त बना करता है । भगवान् ही पिता, माता, भाई, बन्धु, पत्नी, पुत्र, पति आदि रूप धारण करके भक्तसे सेवा लेनेके लिये आते हैं; अतः हमें उन्हींकी ओर दृष्टि रखकर उत्साहपूर्वक उनका आराधन करना चाहिये । दूसरे अपने साथ कैसा बर्ताव करते हैं, इसकी ओर ध्यान न देकर अपने कर्तव्यका पालन करनेकी ओर ही दृष्टि रखनी चाहिये । यह याद रखना चाहिये कि अनन्य भक्त वही है जो सबको भगवान्‌का रूप समझ-कर अपनेको सेवक मानता है—

सो अनन्य जाके असि मति न टरइ हनुमंत ।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत ॥

(५)

रासलीला निर्दोष है

सप्रेम हरिस्मरण ! श्रीमद्भागवतमें रासके पश्चात् राजा परीक्षित्‌ने जो शङ्का की है, उसको तो आपने ग्रहण कर लिया है; परन्तु समाधानके अंशको भलीभाँति नहीं पढ़ा है । उसमेंसे एक अंशको लेकर आपने असन्तोष प्रकट किया है । मेरा निवेदन है कि आप श्रीमद्भागवतके दशमस्कन्धके अध्याय ३३में ३० से ४० तकके श्लोकोंके भावको भलीभाँति हृदयङ्गम करें ।

भगवान् श्रीकृष्ण सर्वव्यापी परमेश्वर हैं, सबके त्मा हैं; वे समस्त विश्वब्रह्माण्डोंके समस्त स्त्री-पुरुषोंके रम रहे हैं । वे ही स्त्री हैं और वे ही पुरुष हैं । वे सहस्रों और लाखों रूपोंमें प्रकट होते हैं और नकी शक्तिसे आविर्भूत आत्मस्वरूपा श्रीगोपियोंके साथ ही रास करते हैं । उनका यह दिव्य रास नित्य-निर चलता रहता है और उसी परम मधुर आनन्द-रस-साग एक क्षुद्रतम बूँदका आभास पाकर जगत्‌के समस्त प्रा आनन्दकी अनुभूति करते हैं । भगवान्‌के लिये न कोई अपना है, न पराया; भगवान्‌से मिलनेका सौभा उसी जीवको प्राप्त होता है, जो अनन्त जन्मों साधनासे भगवत्कृपा-प्रसादका अधिकारी बन चुका है श्रीगोपाङ्गनाओंने यह अधिकार प्राप्त किया था । उन श्रुति, देवी, ऋषि-मुनि आदि सभी सम्मिलित होक पवित्रतम गोपीभावके दिव्य मधुर रसका समास्वादन क अपने जन्म और जीवनको धन्य करते थे । क्या संसा के दुष्ट प्राणी या दुराचारी मनुष्य भगवान्‌की इस पर दिव्य लीलाका अनुकरण कर सकते हैं ? क्या उन भी वे सभी अलौकिक बातें संभव हैं, जो साक्षात् भगवा श्रीकृष्णमें हैं ? यहाँ मैं श्रीशुकदेवजीके समाधानमें दो-तीन श्लोक उद्धृत करता हूँ—

गोपीनां तत्पतीनां च सर्वेषामिव देहिनाम् ।
योऽन्तश्चरति सोऽध्यक्षः क्रीडनेनेह देहभाक् ॥
अनुग्रहाय भूतानां मानुषं देहमास्थितः ।
भजते तादृशीः क्रीडा याः श्रुत्वा तत्परो भवेत् ॥
नासूयन् खलु कृष्णाय मोहितास्तस्य मायया ।
मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान् स्वान् स्वान् दारान् व्रजौकसः ॥

(श्रीमद्भा० १० । ३३ । ३६—३८)

अर्थात् 'गोपियोंके, उनके पतियोंके तथा सम्पूर्ण देहधारियोंके अन्तःकरणमें जो आत्मारूपसे विराजमान हैं, जो सबके साक्षी एवं परमपति हैं, वे ही भगवान् लीलाके लिये यहाँ दिव्य चिन्मय मङ्गल विग्रहरूपमें प्रकट होते हैं । श्रीकृष्ण सम्पूर्ण जीवोंपर कृपा करनेके लिये ही मनुष्य-शरीरका आश्रय लेते हैं और ऐसी लीलाएँ करते हैं, जिनका श्रवण करके जीव भगवत्परायण हो जायँ । व्रजवासी गोपोंने भगवान् श्रीकृष्णमें तनिक भी दोषदृष्टि नहीं की । वे उनकी योगमायासे प्रभावित थे, उन्हें ऐसा प्रतीत होता था कि उनकी पत्नियाँ उन्हींके पास सो रही हैं ।'

इन पङ्क्तियोंमें भगवान्‌के स्वरूप, उनकी लीलाकी दिव्यता, लीलाके मङ्गलमय उद्देश्य तथा श्रीभगवान्‌के अचिन्त्य माहात्म्यपर प्रकाश पड़ता है। गोपाङ्गनाओंके स्थूल शरीर पतियोंके पास थे, वे पवित्र रस-भावमय देहसे भगवत्-मिलनका दिव्य आनन्द प्राप्त कर रही थीं। आत्मा और परमात्माका मिलन दिव्य देहसे ही संभव है। वहाँतक स्थूल शरीरकी पहुँच कहाँ ? आप श्रीभगवान्‌के स्वरूपको तथा गोपियोंके तत्त्वको समझें और रासलीलाकी दिव्यतापर दृष्टि रक्खें। आपको पता लगेगा, इसमें लौकिक कामक्रीड़ाकी गन्ध भी नहीं है।

(६)

साधनका फल

सादर हरिस्मरण ! पत्र मिला था, उत्तर नहीं लिखा जा सका, क्षमा करें। आप चाहती हैं कि 'मेरा मन भगवान्‌के श्रीचरणोंके सिवा और कहीं न लगे—पर ऐसा नहीं होता है। आप मनको जितना ही जीतना चाहती हैं, उतना ही वह दूर भागता है।·······' सो आपकी यह चाह बहुत ही सराहनीय है। यह चाह ही बढ़ते-बढ़ते जिस दिन अनन्य 'आवश्यकता' बन जायगी—अर्थात् भगवान्‌के श्रीचरणोंके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं सुहावेगा, एक क्षणकी भी भगवान्‌की विस्मृति आपके हृदयमें व्याकुलता उत्पन्न कर देगी, उसी क्षण आप भगवान्‌के श्रीचरणोंको सदाके लिये प्राप्त करके निहाल हो जायँगी। नाम-जप, प्रार्थना—जो कुछ करती हैं, करती रहें। ऐसा सन्देह न करें कि प्रभु नहीं सुनते हैं या इसका कोई फल नहीं हो रहा है। आपका भगवान्‌के लिये दिया हुआ एक भी क्षण व्यर्थ नहीं जा रहा है। अभी वह फल प्रकट नहीं हो रहा है। जिस दिन अकस्मात् वह प्रकट होगा, उस दिन आपको बड़ा आश्चर्य होगा और महान् आनन्द भी। अन्धकार प्रातः-कालसे कुछ पूर्वतक रहता है, परंतु सूर्योदय होते ही अन्धकारका एक साथ नाश-हो जाता है। एक घड़ी पहलेतक जो अन्धकार दिखायी देता था, ऐसा मालूम होता था मानो यह अन्धकार मिट ही नहीं रहा है, जाने कब मिटेगा, वही इतना मिट जाता है कि सूर्यके सामने कहीं खोजनेपर भी उसका पता नहीं लगता। यह सूर्योदयकी मङ्गल-वेला ज्यों-ज्यों रात बीत रही थी, त्यों-ही-त्यों समीप आ रही थी; परंतु थोड़ी-सी रात रहते उसका पता नहीं लग रहा था। इसी प्रकार भगवान्‌के श्रीचरणोंको प्राप्त करनेकी इच्छाके साथ जो भगवद्भजन, प्रार्थना, स्तवन, ध्यान आदि किये जाते हैं, उनका प्रत्यक्ष फल न दिखायी देनेपर भी वे भगवान्‌के समीप ले जा रहे हैं। पता नहीं, आपकी कितनी रात कट चुकी है और अकस्मात् वह मङ्गलमय समय कब होनेवाला है, जब आप भगवच्चरणारविन्दको प्राप्त कर लें। पर विश्वास रखिये, भगवान् सब सुन-देख रहे हैं। आपका काम भी हो रहा है। आप प्रेम तथा विश्वासपूर्वक उत्तरोत्तर भजन बढ़ाती रहें। तनिक भी निराशाको मनमें स्थान न दें।

(७)

अपनी कमजोरी भी भगवान्‌के अर्पण कर दें

सादर हरिस्मरण। आपका पत्र मिला था। उत्तर देरसे लिखा जा रहा है। कार्याधिक्यसे ऐसा हो जाया करता है। आप अपने कमरेमें भगवान् श्रीकृष्णकी तस्वीर रखकर उनके सामने बैठी रोती हैं। उनके प्रति आपके मनमें मातृभाव उमड़ रहा है। सो बड़ी अच्छी बात है। माता श्रीकौसल्याजी और माता श्रीयशोदाजीके चरित्रोंको पढ़िये। इससे आपको विशेष लाभ होगा। आपका सौभाग्य है जो आपके हृदयमें ऐसे भाव आते हैं। परन्तु आपने जिस एक कमजोरीकी बात लिखी है, उससे पता लगता है कि अभी आपके मनमें छिपे चोरोंका अस्तित्व है। उन चोरोंसे सावधान रहिये एवं अपनी इस कमजोरीको भी भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें अर्पित [illegible] दीजिये। आपका अर्पण ठीक होगा तो [illegible] कमजोरीको भी वे ही ले लेंगे।

समयका सदुपयोग

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

मनुष्यको अपना एक क्षण भी व्यर्थ नहीं बिताना चाहिये। आलस्य, प्रमाद, भोग, पाप और अनुचित निद्राको विषके समान समझकर इनका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये। मनुष्य-जीवनका अमूल्य समय इन सबमें बितानेके लिये कदापि नहीं है। करनेयोग्य काममें विलम्ब करना 'आलस्य' है; शास्त्रविहित कर्तव्यकर्मकी अवहेलना तथा मन, वाणी, शरीरसे व्यर्थ चेष्टा करना 'प्रमाद' है; स्वाद-शौकीनी, ऐश-आराम, भोग-विलासिता और विषयोंमें रमण करना 'भोग' है; झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार, हिंसा आदि 'पाप' हैं और छः घंटेसे अधिक शयन करना 'अनुचित निद्रा' है। कल्याणकामी मनुष्यको चाहिये कि वह इनसे बचकर अपने सारे समयको साधनमय बना ले और एक क्षण भी व्यर्थ न बिताकर प्राण-पर्यन्त साधनके लिये ही कटिबद्ध होकर प्रयत्न करे।

बुद्धिमान् मनुष्यको उचित है कि वह अपने अमूल्य समयको सदा कर्ममें लगावे। एक क्षण भी व्यर्थ न खोवे और कर्म भी उच्च-से-उच्च कोटिका करे। जो कर्म शास्त्रविहित और युक्तियुक्त हो, वही कर्तव्य है। गीतामें भगवान्ने कहा है—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥

(६। १७)

'दुःखोंका नाश करनेवाला योग तो यथायोग्य आहार-विहार करनेवालेका, कर्मोंमें यथायोग्य चेष्टा करनेवालेका और यथायोग्य सोने तथा जागनेवालेका ही सिद्ध होता है।'

तात्पर्य यह है कि हमारे पास दिन-रातमें कुल चौबीस घंटे हैं, उनमेंसे छः घंटे तो सोना चाहिये और छः घंटे परमात्माकी प्राप्तिके लिये साधनरूप योग करना चाहिये; इसके लिये प्रातःकाल तीन घंटे और सायंकाल तीन घंटेका समय निकाल लेना चाहिये। शेष बारह घंटोंमें मन, इन्द्रिय और शरीरद्वारा शास्त्रानुकूल क्रिया करनी चाहिये, जिसमेंसे छः घंटे जीविका-निर्वाहके लिये न्याययुक्त धनोपार्जनके काममें और छः घंटे [स्वा]स्थ्यरक्षाके लिये युक्तियुक्त शौच-स्नान, आहार-विहार, [व्याया]म आदिमें लगाने चाहिये; अथवा यदि छः घंटेमें न्याय-[युक्त धनो]पार्जन करके जीविकाका निर्वाह न हो तो आठ घंटे [उसमें] लगाकर चार घंटे स्वास्थ्यरक्षा आदिके काममें [लगा]ने ।

समयका विभाग करके देश, काल, वर्ण, आश्रम, परिस्थिति और अपनी सुविधाके अनुसार अपना कार्यक्रम बना लेना चाहिये। साधारणतया निम्नलिखित कार्यक्रम बनाया जा सकता है—

रात्रिमें दस बजे शयन करके चार बजे उठ जाना, उठते ही प्रातःस्मरण करते हुए चारसे पाँचतक शौच-स्नान, व्यायाम आदि करना, पाँचसे आठतक सन्ध्या-गायत्री, ध्यान, नाम-जप, पूजा-पाठ और श्रुति, स्मृति, गीता, रामायण, भागवत आदि शास्त्रोंका एवं उनके अर्थका विवेकपूर्वक अनुशीलन करते हुए स्वाध्याय करना, आठसे दसतक स्वास्थ्यरक्षाके साधन और भोजन आदि करना, दससे चारतक धनोपार्जनके लिये न्याययुक्त प्रयत्न करना, चारसे पाँचतक पुनः स्वास्थ्य-रक्षार्थ घूमना-फिरना, व्यायाम और शौच-स्नान आदि करना, पाँचसे आठतक पुनः सन्ध्या, गायत्री, ध्यान, नाम-जप, पूजा-पाठ और श्रुति, स्मृति, गीता, रामायण, भागवत आदि शास्त्रोंका, उनके अर्थका विवेकपूर्वक अनुशीलन करते हुए स्वाध्याय करना एवं आठसे दसतक भोजन तथा वार्तालाप, परामर्श और सत्संग आदि करना—इस प्रकार दिन-रातके चौबीस घंटोंको बाँटा जा सकता है। इस कार्यक्रममें अपनी सुविधाके अनुसार हेर-फेर कर सकते हैं; किंतु भगवान्के नाम और स्वरूपकी स्मृति हर समय ही रहनी चाहिये; क्योंकि भगवान्की सहज प्राप्तिके लिये एकमात्र यही परम साधन है। भगवान्ने गीतामें कहा है कि जो पुरुष नित्य-निरन्तर मुझमें अनन्यचित्त होकर सदा ही निरन्तर मुझ पुरुषोत्तमको स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ अर्थात् उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

(८। १४)

यदि कहो कि काम करते हुए भगवान्के नामरूपकी स्मृति सम्भव नहीं तो यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि भगवान्ने कहा है—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥

(गीता ८। ७)

'इसलिये हे अर्जुन ! तू सब समयमें निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर । इस प्रकार मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिसे युक्त होकर तू निःसन्देह मुझको ही प्राप्त होगा।'

जब युद्ध करते हुए भी भगवान्‌की स्मृति रह सकती है तो दूसरे व्यवहार करते समय भगवत्स्मृति रहना कोई असम्भव नहीं । यदि यह बात असम्भव होती तो भगवान् अर्जुनको ऐसा आदेश कभी नहीं देते । यदि कहो कि हमारे तो ऐसा नहीं होता तो इसका कारण है श्रद्धा तथा प्रेमके साथ होनेवाले अभ्यासकी कमी । श्रद्धा-प्रेमकी उत्पत्तिके लिये भगवान्‌के नाम, रूप, लीला, धाम, गुण और प्रभावके तत्त्व-रहस्यको समझना चाहिये तथा भगवान्‌से स्तुति-प्रार्थना करनी चाहिये । भगवान्‌के नाम-रूपकी स्मृति निरन्तर बनी रहे, इसके लिये विवेक-वैराग्य-पूर्वक सदा-सर्वदा प्रयत्न भी करते रहना चाहिये । सत्पुरुषोंका सङ्ग इसके लिये विशेष लाभकर है । अतः सत्सङ्गके लिये विशेष चेष्टा करनी चाहिये । सत्सङ्ग न मिले तो भगवान्‌के मार्गमें चलनेवाले साधक पुरुषोंका सङ्ग भी सत्सङ्ग ही है और उनके अभावमें सत्-ग्रन्थोंका अनुशीलन भी सत्सङ्ग ही है ।

मनुष्य अपने समयका यदि विवेकपूर्वक सदुपयोग करे तो वह थोड़े ही समयमें अपने आत्माका उद्धार कर सकता है; मनुष्यके लिये कोई भी काम असम्भव नहीं है । संसारमें ऐसा कोई भी पुरुष-प्रयत्नसाध्य कार्य नहीं, जो पुरुषार्थ करनेपर सिद्ध न हो सके । फिर भगवत्कृपाका आश्रय रखनेवाले पुरुषके लिये भगवत्प्राप्तिरूप परम पुरुषार्थके सिद्ध होनेमें तो बात ही क्या है !

भगवान्‌के नाम-रूपकी स्मृति चौबीसों घंटे ही बनी रहे और वह भी महत्त्वपूर्ण हो सका ध्यान अवश्य रखना चाहिये । जिह्वाद्वारा नाम-जप करनेकी अपेक्षा श्वासके द्वारा नामजप करना श्रेष्ठ है और मानसिक जप उससे भी उत्तम है । वह भी नामके अर्थरूप भगवत्स्वरूपकी स्मृतिसे युक्त हो तो और भी अधिक दामी (महत्त्वपूर्ण) चीज है और वह फिर श्रद्धापूर्वक निष्काम प्रेमभावसे किया जाय तो उसका तो कहना ही क्या है । सच्चिदानन्दघन परमात्मा सर्वत्र समानभावसे आकाश-की भाँति व्यापक हैं, वे ही निर्गुण-निराकार परमात्मा स्वयं भक्तोंके कल्याणार्थ सगुण-साकार रूपमें प्रकट होते हैं; इसलिये निर्गुण-सगुण, निराकार-साकार—किसी भी स्वरूपका ध्यान किया जाय, सभी कल्याणकारक हैं; किंतु निर्गुण-सगुण, निराकार-साकारके तत्त्व, रहस्य, गुण, प्रभावको समझते हुए स्वरूपका स्मरण किया जाय तो वह सर्वोत्तम है ।

संसारमें अधिकांश मनुष्योंका समय तो प्रायः व्यर्थ जाता है और उनमेंसे कोई यदि अपना श्रेष्ठ ध्येय बनाते भी हैं, तो उसके अनुसार चल नहीं पाते । इसका प्रधान कारण विषयासक्ति, अज्ञता और श्रद्धा-प्रेमकी कमी तो है ही; परंतु साथ ही प्रयत्नकी भी शिथिलता है । इसी कारण वे अपने लक्ष्यतक पहुँचनेमें सफल नहीं होते । अतः लक्ष्यप्राप्तिके लिये हर समय भगवान्‌को स्मरण करते हुए समयका सदुपयोग करना चाहिये, फिर भगवान्‌की कृपासे सहज ही लक्ष्यतक पहुँचा जा सकता है ।

चौबीसों घंटे भगवान्‌की स्मृति किस प्रकार हो, इसके लिये उपर्युक्त छः घंटे साधनकाल, बारह घंटे व्यवहारकाल और छः घंटे शयनकाल—इस प्रकार समयके तीन विभाग करके उसका निम्नलिखित रूपसे सदुपयोग करना चाहिये ।

(१) मनुष्य प्रातःकाल और सायंकाल नियमितरूपसे जो साधन करते हैं, वह साधन इसीलिये उच्चकोटिका नहीं होता कि वे उसे मन लगाकर विवेक और भावपूर्वक नहीं करते । ऊपरसे क्रिया कुछ ही होती है और मन कहीं अन्यत्र रहता है । ऐसा नहीं होना चाहिये । साधनके समय मनका भी उसीमें लगना परमावश्यक है । जैसे—सन्ध्या करनेके समय मन्त्रोंके ऋषि, छन्द, देवता और प्रयोजनका लक्ष्य करते हुए विधि और मन्त्रके अर्थका ध्यान रहना चाहिये । गायत्रीमन्त्र बहुत ही उच्चकोटिकी वस्तु है, उसमें परमात्माकी स्तुति, ध्यान और प्रार्थना है, अतः गायत्री-जपके समय उसके अर्थकी ओर ध्यान रखना चाहिये । यह न हो सके तो गायत्री-जपके समय भगवान्‌का ध्यान तो अवश्य ही होना चाहिये । इसी प्रकार गीता, रामायण, भागवत आदिका पाठ भी अर्थसहित या विवेकपूर्वक अर्थका ख्याल रखते हुए करना चाहिये । भगवान्‌की मूर्ति-पूजा या मानस-पूजा करते समय भगवान्‌के स्वरूप और गुण-प्रभावको स्मरण रखते हुए श्रद्धा-प्रेमके साथ विधिपूर्वक पूजा करनी चाहिये । शास्त्र-ज्ञानकी कमीके कारण विधिमें कहीं कमी भी रह जाय तो कोई हर्ज नहीं, किंतु श्रद्धा-प्रेममें कमी नहीं होनी चाहिये । किसी भी मन्त्र या नामका जप हो, उच्चभाव तथा मनःसंयोगके द्वारा उसे उच्च-से-उच्च कोटिका बना लेना चाहिये । एवं ध्यान करते समय संसारको ऐसे भुला देना चाहिये कि जिसमें भगवान्‌के अपना या संसारका किसीका भी ज्ञान ही न रहे ।

हम प्रातः-सायं जितना समय नित्य-नि[illegible] साधनमें बिताते हैं, उसे यदि उपर्युक्त प्रका[illegible]

उतने ही समयके साधनसे छः महीनोंमें वह लाभ हो सकता है जो बिना भावके करनेके कारण पचास वर्षोंमें भी नहीं हुआ। वस्तुतः जिस समय हम साधनके लिये बैठते हैं उस समय तो हमारा प्रत्येक क्षण केवल साधनमें ही बीतना चाहिये। हम यदि अपने पारमार्थिक साधनके समयको ही समुचित रूपसे साधनमय नहीं बना लेंगे और शीघ्र सफल बनानेके लिये तत्पर नहीं होंगे तो फिर अन्य समयमें भगवच्चिन्तन करते हुए कार्य करना तो और भी कठिन है। अतएव हमें इसके लिये कटिबद्ध होकर प्रयत्न करना चाहिये। इस बातका पता लगाना चाहिये कि वे कौन-सी अड़चनें हैं जिनके कारण नियमितरूपसे साधन करनेके लिये दिये हुए समयमें भी मन उसमें नहीं लगता और समय यों ही बीत जाता है तथा प्रयत्न करनेपर भी उसमें कोई सुधार नहीं होता। एवं पता लगनेपर उन अड़चनोंको तुरंत दूर करनेका सफल प्रयास करना चाहिये। मनको समझाना चाहिये कि 'तुम ऐसे अपने परम हितके कार्यमें भी साथ नहीं दोगे तो इसका परिणाम तुम्हारे लिये बहुत ही भयानक होगा। हजार काम छोड़कर पहले इस कामको करना चाहिये। यह काम तुम्हारे बिना और किसीसे सम्भव नहीं। इसके सामने दूसरे-दूसरे कामोंमें हानि भी हो तो उसकी परवा नहीं करनी चाहिये; क्योंकि वे तो तुम्हारे न रहनेपर भी हो सकते हैं, उन्हें दूसरे भी कर सकते हैं; किंतु तुम्हारे कल्याणका काम तो दूसरे किसीसे सम्भव नहीं।' इसपर भी यदि दुष्ट मन दूसरे कामकी आवश्यकता बतलावे तो उसे फिर समझाना चाहिये कि इससे बढ़कर और कोई आवश्यक काम है ही नहीं।

(२) आलस्य, प्रमाद, भोग, पाप और अनुचित निद्रामें जीवनके एक क्षणको भी नहीं बिताना चाहिये। सामाजिक, धार्मिक, शरीरनिर्वाहसम्बन्धी एवं स्वास्थ्यरक्षा आदिके जो भी व्यवहार हों, सभी शास्त्रानुकूल और न्याययुक्त ही होने चाहिये। प्रत्येक क्रियामें निष्कामभाव और भगवदर्पण या भगवदर्थबुद्धि रहनी चाहिये। इस प्रकार किये जानेपर मनुष्य समस्त बन्धनोंसे मुक्त होकर परमात्माको प्राप्त हो सकता है। भगवान्ने गीतामें कहा है—

> यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
> [illegible]त्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥
> [illegible]शुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
> [illegible] योगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥
>
> (९ । २७-२८)

'हे अर्जुन! तू जो कर्म करता है, जो खाता है, जो हवन करता है, जो दान देता है और जो तप करता है, वह सब मेरे अर्पण कर। इस प्रकार, जिसमें समस्त कर्म मुझ भगवान्के अर्पण होते हैं—ऐसे संन्यासयोगसे युक्त चित्त वाला तू शुभाशुभ फलरूप कर्मबन्धनसे मुक्त हो जायगा और उनसे मुक्त होकर मुझको ही प्राप्त होगा।'

हमारी सारी क्रियाएँ जब भगवान्की प्रेरणा और आज्ञाके अनुसार निरभिमानता और निष्कामभावसे भगवान्की स्मृति रहते हुए होने लगें तब समझना चाहिये कि हमारी क्रियाएँ भगवदर्पण हैं। जो क्रियाएँ भगवत्प्राप्त्यर्थ या भगवत्प्रीत्यर्थ अथवा भगवान्की आज्ञा-पालनके उद्देश्यसे भगवान्को स्मरण रखते हुए निष्कामभावसे की जाती हैं, उन्हें भगवदर्थ कहा जाता है। हमारा सारा समय जब इसी भावमें बीतने लगे तब उसे उच्च-से-उच्च कोटिका समझना चाहिये। मनुष्य चाहे तो प्रयत्न करनेपर भगवत्कृपासे वह व्यवहारके सारे समयको सदा सर्वदा इसी प्रकार बिता सकता है, फिर दिनके बारह घंटोंको इस प्रकार बितानेमें तो बात ही क्या है! भगवान्का आश्रय लेकर उनके नाम-रूपको याद रखते हुए सदा-सर्वदा कर्मोंकी चेष्टा करनेपर मनुष्य भगवान्की कृपासे शाश्वत अविनाशी पदको प्राप्त हो जाता है। भगवान्ने गीतामें कहा है—

> सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
> मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥
>
> (१८ । ५६)

व्यवहारकालके सुधारके लिये दो बातोंपर विशेष ध्यान रखना चाहिये—

(क) प्रत्येक क्रियामें निष्कामभावसे स्वार्थका त्याग और (ख) भगवान्के नाम-रूपकी स्मृति। ये सब बातें भी वैराग्य और अभ्याससे ही सिद्ध होते हैं। वैराग्यसे निष्कामभाव और स्वार्थ-त्याग होता है और तीव्र अभ्याससे भगवान्के नाम-रूपकी स्मृति रहती है।

अतः हमें अपने उद्देश्यको सिद्ध करनेके लिये भगवान्के शरण होकर श्रद्धा-प्रेमपूर्वक साधन करना चाहिये। ऐसा करनेसे परमात्माकी कृपासे हम शीघ्र ही कृतकार्य हो सकते हैं।

(३) साधन तथा व्यवहारकालमें तो कुछ होता है; परंतु शयनका समय तो नासमझीके कारण अधिकांश सर्वथा व्यर्थ ही जाता है। मनुष्य जिस समय सोने लगता है उस समय उसके चित्तमें जिन सांसारिक संकल्पोंका प्रवाह बहता रहता है, उसे निद्रामें प्रायः वैसे ही स्वप्न आते हैं

संकल्पोंकी दृढ़ता ही स्वप्नमें सच्ची घटनाके रूपमें प्रतीत होने लगती है और इस प्रकार हमारा रातभरका सारा समय व्यर्थ चला जाता है । इस कालका सुधार भी वैराग्य और अभ्याससे हो सकता है । हमें चाहिये कि सोनेसे पूर्व कम-से-कम पंद्रह मिनट शयनकालके संकल्पोंके सुधारके लिये संसारको नाशवान्, क्षणभङ्गुर, अनित्य और दुःखरूप समझकर उसके संकल्पोंका त्याग करके भगवान्‌के निर्गुण-सगुण, निराकार-साकारमेंसे जिस स्वरूपमें भी अपनी श्रद्धा-रुचि हो, उसी नाम-रूपका या भगवान् श्रीकृष्ण, श्रीराम आदि सगुण-साकार स्वरूपके गुण, प्रभाव, लीला आदिका मनन करते हुए सोवें । विवेक-वैराग्यपूर्वक तत्परतासे तीव्र चेष्टा करनेपर कुछ दिनोंमें यह अभ्यास दृढ़ हो सकता है । दृढ़ अभ्यास हो जानेपर स्वप्नमें भी भगवद्विषयक ही संकल्प होंगे और तदनुसार स्वप्नमें भी भगवन्नाम, लीला, स्वरूप, गुण और प्रभावके दृश्य हमारे सामने आते रहेंगे । यों स्वप्न-जगत् भी साधनमय हो जायगा । अतएव वह समय भी साधनका ही एक अङ्ग बन जायगा ।

मनुष्य-जन्मका प्रत्येक क्षण मूल्यवान् है । इस रहस्यको समझनेवाला व्यक्ति एक क्षणको भी व्यर्थ कैसे खो सकता है ? परलोक और परमात्मापर विश्वास न होने और भगवत्प्राप्तिका माहात्म्य न जाननेके कारण ही मनुष्य अपने उद्धारकी आवश्यकता ही नहीं समझता । इसी कारण वह संसार-सुखकी अभिलाषामें मानव-जीवनके अमूल्य समयको व्यर्थ खो देता है; परंतु सच्ची बात तो यह है कि संसारका सम्पूर्ण सुख मिलकर भी परमात्माकी प्राप्तिके सुखकी तुलनामें समुद्रमें एक बूँदके तुल्य भी नहीं है । जैसे अनन्त आकाशके किसी एक अंशमें नक्षत्र हैं, उसी प्रकार विज्ञानानन्दघन परमात्माके किसी एक अंशमें यह सारा ब्रह्माण्ड स्थित है । जीवको यदि संसारका सम्पूर्ण सुख भी मिल जाय तो भी वह उस ब्रह्मसुखके अंशका एक आभासमात्र ही है । और वह सुखाभास भी वस्तुतः सच्चिदानन्दमय परमात्माके संयोगसे ही है । अतः मनुष्यको उस अनन्त सुखरूप परमात्माकी प्राप्तिके लिये ही अपना सारा समय लगाना चाहिये । तभी समयका सदुपयोग है और तभी जीवनकी सार्थकता है ।

दोष किसका है ?

(लेखक—श्री 'दुर्गेश')

यह इच्छा प्रत्येककी होगी कि मैं सुखी रहूँ; परंतु सुखी कोई नहीं देखा गया; क्योंकि मनुष्यकी इच्छाका स्रोत जो नहीं टूटता और जबतक इच्छा रहेगी तबतक चञ्चलता रहेगी ही । जहाँ चञ्चलता है, वहाँ सुख कहाँ । 'अशान्तस्य कुतः सुखम्' । फिर कहीं इच्छा पूरी हो जाती है तो लोभ होता है और न पूरी होनेपर क्रोध होता है । अशान्ति बढ़ती ही जाती है, इसलिये हमें पहले इच्छाका दमन करना चाहिये; क्योंकि हमारे लिये यह व्यर्थकी वस्तु है । जब कि हमारे पति हमारा पूरा खयाल रखते हैं कि हमें कब किस वस्तुकी आवश्यकता है, और वे स्वयं ही आवश्यक वस्तु हमें प्रदान करते हैं, तब हमारे लिये इस चिन्ता-जालमें फँसे रहनेकी क्या आवश्यकता है । मातृपरायण बालकको ही लीजिये—वह अपनी मातापर निश्चिन्त रहता है । वही वस्त्र पहना देगी, जरूरत होगी तो नहला देगी, आँख आँज देगी । यहाँतक कि यदि अधिक भूख नहीं लगती तो वह दूध पीनेकी भी इच्छा नहीं करता और फिर दुग्धपानमें केवल क्षुधानिवृत्तिका तो प्रश्न है नहीं, उसके साथ तो किसी और तत्त्वका भी सम्मिश्रण है । प्रधान तो स्नेह ही समझिये । अपने स्वामीका कृपा-स्नेह पानेकी इच्छा किसको न होगी ? इतना तो इच्छाका अधिकार ही है । या यों कहना चाहिये कि इच्छाका जीवन यहींतक है । कहनेका तात्पर्य यह कि केवल प्रभुके लिये इच्छा हो । प्रभुप्रेमके बिना प्रभुका प्रसाद नहीं मिलेगा । जब प्रभु प्रसन्न होंगे तो फिर वे अपूर्व निधि भी प्रदान करनेमें विलम्ब नहीं करेंगे और यदि हम किसीको प्रसन्न करना चाहते हैं तो अपनेको उसके आदेशपर लगाना चाहिये । कुछ दिन श्रम करनेके पश्चात् जब इधर लगन लग जायगी, तब फिर तो इस मायिक जगत्‌के भड़कीले पथपर आकृष्ट करनेपर भी चित्त इसकी ओर न[illegible] खिंचेगा ।

जन्मसे ही मायिक संसर्ग होनेके कारण [illegible] सत्य-सा ही माने हुए हैं । इसे क्षणभङ्गुर, ना[illegible] मरीचिका इत्यादि कहते हैं, सुनते हैं[illegible]

परंतु हृदयपर यह बात ठहरती नहीं है । क्योंकि हमारा चित्त भ्रममें फँस रहा है। हमारे हृदयकी आँखोंपर माया-मदिराका नशा छाया हुआ है, इसलिये वह वास्तव सत्यको नहीं देखता । जिस समय हमारी ये आँखें उस भ्रमनिवारक जड़ीको देख लेंगी, सत्य हमारे सामने प्रकट हो जायगा । और जब हमारे सामने मानसरोवर लहराता होगा तब तो फिर हमें मृगमरीचिकाके पीछे दौड़नेकी आवश्यकता नहीं रहेगी । हाँ तो, वह जड़ी क्या है ? वह है प्रभुके समीप ले जानेवाला ज्ञान, जो वेद, पुराण और उपनिषदादिमें वैसे ही भरा पड़ा है, जैसे दूधमें घी । पर उसे हम देख नहीं पाते, अतएव वह हम-जैसे उपायहीनोंके लिये—पंगुके लिये दुर्गम पहाड़ीके सदृश हो रहा है, परंतु प्रभुकी कृपा तो देखिये । उन्होंने स्वयं ही हम साधारण प्राणियोंकी इस असुविधाको दूर करनेके लिये गीता-घृत निकाल-कर अपने सभी जनों (नीच-से-नीच जीव भी प्रभुका प्यारा है) को समानरूपसे बाँट दिया

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥

(गीता ९ । ३२)

अब इतने सुलभ होनेपर भी मनुष्य यदि इसका अपने लिये प्रयोग न करे तो दोष किसका है । मा बच्चेके मुखमें स्तन दे देगी, पीना तो बच्चेका काम है । मेरा खयाल है, आज गीता-पाठ करनेवाले तो लाखों-करोड़ होंगे; परंतु कोई ध्यान भी देता है कि गीताकी आज्ञा क्या है । शायद वे वैसे ही विद्यार्थी हैं जो स्कूल में रोज जाते हैं, एक दिनका भी नागा नहीं करते, पर ध्यान एक अक्षरकी ओर भी नहीं देते कि वह कैसे बनता है । दें भी कैसे, ध्यान तो खेलमें है, कब छुट्टीकी घंटी हो, कब खेलें । अध्यापक पाठ समझाता है, विद्यार्थीका मस्तिष्क किसीको दाव देने-लेनेमें लगा है।

अब बताइये दोष किसका है ?

गोवंशकी रक्षा तथा उन्नति

(लेखक—लाला हरदेवसहायजी)

आजका बढ़ा हुआ व्यापारिक गोवंशका ह्रास तथा विनाश अंग्रेजी राज्यकी देन है । अंग्रेजी राज्यके साथ-साथ गोवध भी जाना चाहिये था । अंग्रेजोंके राज्यकालमें गोवंशकी जो अवनति और दुर्दशा हुई, उसे ठीक करनेके लिये रचनात्मक कार्योंपर ध्यान दिया जाना चाहिये था । जनताने अंग्रेजी राज्यके समाप्त होनेके समय ही देशके नेताओंसे गोवध बंद करनेकी माँग की । लाखों प्रस्ताव, पत्र, तार आदि भेजे । इतना प्रयत्न होनेपर कहीं सरकारने गोवंशकी रक्षा तथा उन्नतिके लिये एक विशेष कमेटी नियत की । कमेटीने गोवध कतई बंद करने, बूढ़ी अपाहिज गायोंके लिये गो-सदन स्थापित करने, वनस्पति घी बंद करने तथा गोवंशके नस्ल-सुधार करनेकी सिफारिश की । पर अबतक इन सिफारिशोंपर कोई यथार्थ कार्य नहीं हुआ । पण्डित ठाकुर-दास भार्गवके प्रस्तावपर विधान-एसेम्बलीने धारा ३८ में उनके संशोधन सर्वसम्मतिसे स्वीकार कर लिया ।

"The state shall endeavour to organise agriculture and animal husbandry in modern and scientific lines and shall in particular take steps for preserving and improving the breeds of cattle and prohibit the slaughter of cow and other useful cattles specially milch and draught cattle and their young stock."

'३८ अ. सरकार सामयिक तथा वैज्ञानिक तरीकेपर खेती तथा पशु-संवर्धनको सङ्गठित करेगी और विशेषतया पशुओंकी नस्लोंके सुधार और संरक्षणके कार्यकी ओर ध्यान देगी एवं गायों तथा अन्य उपयोगी पशु—विशेषतया दूध देने और हल चलानेवाले पशुओं तथा उनके छोटे बच्चोंके वधको बंद कर देगी।'

यह संशोधन मौलिक अधिकारोंमें आ जाता तो गोवध या उपयोगी पशुओंके वधको रोकनेके लिये केन्द्रिय या प्रान्तीय सरकारोंको किसी नये कानूनके बनानेकी आवश्यकता न होती । गोवध या उपयोगी पशुओंका वध अपराध माना

जाता। पर निर्देश-सिद्धान्त, जिसकी धारा ३८ में यह संशोधन जोड़ा गया है, उसके अनुसार इसे सम्मुख रखते हुए कानून बनवानेकी कोशिश करनी होगी। इस संशोधनसे गोवध सर्वथा बंद होगा या केवल उपयोगी पशुओंके वधपर पाबंदी लगेगी, यह भी एक विवादास्पद प्रश्न है। मेरी सम्मतिमें इस संशोधनके अनुसार गोवध कतई बंद हो सकेगा तथा भैंस, बकरी आदि भी, जो उपयोगी होंगे, वधसे बचेंगे। संशोधनके इस सन्देहको सरकारद्वारा नियत विशेषज्ञ कमेटीकी कतई गोवध बंद करनेकी सिफारिश दूर कर देगी।

पर अभीतक गोवध बंद करनेका या नस्ल-सुधारका कार्य केवल कागजोंपर है, गोवध बढ़ा नहीं तो कम भी नहीं हुआ। पूर्वी पंजाबमें कत्ल करनेवालोंके चले जानेके कारण गोवध नहीं होता। युक्तप्रान्तमें अधिकांश म्यूनिसिपल बोर्डों तथा कुछ डिस्ट्रिक्ट-बोर्डोंने कत्ल बंद कर दिया। सरकारने भी कोई रुकावट नहीं डाली। इससे कहा जाता है कि वहाँ अस्सी प्रतिशत गोवंशका वध कम हो गया। यह ठीक है कि पूर्वी पंजाबमें कतई तथा यू० पी० में बहुत हदतक गोवध नहीं होता, पर इन दोनों प्रान्तोंसे बड़ी संख्यामें अनुपयोगी ही नहीं, उपयोगी पशु भी अन्य प्रान्तोंमें ले जाये जाकर मारे जाते हैं। युक्तप्रदेशमें तो गाजियाबादके निकट चोरीसे गोवध करनेवालोंका षड्यन्त्र भी पकड़ा गया है। मध्यप्रदेशकी सरकारने अंग्रेजी सरकारकी नकल करते हुए सन् १९४७ में कुछ आयुतकके तथा ग्याभन, दुधार पशुओंके वधपर पाबंदी लगायी है, पर जाँच करनेपर मालूम हुआ है कि इस कानूनपर अमल नहीं होता। कम आयुके तथा उपयोगी पशु भी मारे जाते हैं। बम्बई सरकारने पिछले साल ही उपयोगी गायों, साँड़ों तथा भैंसोंके वधपर पाबंदी लगायी है। (बैल तथा छोटे बच्चोंका इसमें नाम नहीं) पर यह शुद्ध कागजी कार्रवाई है। मैंने स्वयं अपनी आँखोंसे बाँदराके कसाईखानेमें वधके लिये तैयार अच्छे तथा उपयोगी पशु देखे हैं। कलकत्तेमें तो देशकी अच्छी नस्लोंका गोवंश ही नहीं, पाकिस्तानसे लाये गये बैलोंका भी वध होता है। मद्रास, आसाम तथा उड़ीसामें भी, जहाँतक मालूम हुआ है, गोवंशके वधपर कोई अमली रुकावट नहीं है। मद्रासके पशु-महकमेके एक बड़े अधिकारीकी सम्मतिमें तो 'सरकारको स्वयं कसाईखाने जारी करने चाहिये। इस बीसवीं सदीमें गोवध निषेधकी चर्चा करनी मूर्खता है।' इससे सिद्ध है कि पिछले डेढ़ सालमें गोवधकी संख्यामें कोई विशेष कमी नहीं आयी। आज भी अनुपयोगी ही नहीं, सालाना लाखोंकी संख्यामें उपयोगी गाय-बैल मारे जाते हैं।

गोवध-निषेध ही नहीं, जहाँतक नस्लसुधार या उन्नतिका सवाल है, इसके लिये भी न सरकारने ठीक ध्यान दिया, न जनताने परवा की। 'गो-सेवा-सङ्घ' तथा देशके अधिकांश पशुविशेषज्ञोंका मत है कि बाहरसे गाय न लाकर स्थानीय गोवंशको ही उन्नत किया जाय, पर सरकार और लोग अपने इलाकेकी गायोंकी उन्नति न करके अच्छी नस्लकी गायें दूसरे इलाकोंसे लाते हैं, जो जल-वायु अनुकूल न होनेके कारण एक या दो ब्यानतक ही जीवित रहती हैं। इस तरीकेसे गोवंशकी उन्नति नहीं, ह्रास और विनाश हो रहा है। देशकी अच्छी नस्लकी गायें, जो दस-पंद्रह बच्चे देकर नस्लको उन्नत करतीं, एक या दो बच्चे लेकर ही खत्म कर दी जाती हैं। अपनी स्थानीय गायें उपेक्षा और बेपरवाहीके कारण अवनत होती और मरती हैं।

चारे-दानेकी कमी भी गोवंशके ह्रास तथा विनाशका एक बड़ा कारण है। केवल रुपया पैदा करनेवाली फसलें जैसे गन्ना, कपास, चाय, तम्बाकू इत्यादिकी खेती बढ़नेके कारण चारा और अन्न दोनों पैदा करनेवाली फसलोंकी ओर ध्यान कम हो रहा है। सरकार किसानको अन्न तथा चारेकी फसलें बोनेके लिये कोई सहूलियत तथा सहायता नहीं देती। चाय, जूट आदिको प्रोत्साहन दिया जाता है। चारे तथा अन्नकी पैदावारके कम होनेका यही एक बड़ा कारण है।

सरकारद्वारा नियत गो-रक्षा तथा उन्नतिकी विशेषज्ञ कमेटीने नकली घीको गोवंशकी उन्नतिमें बाधक बतलाया। महात्मा गाँधीजीने भी इसकी उपमा जाली सिक्कोंसे दी। अधिकांश पशुविशेषज्ञोंने वनस्पति घीको पशुपालनके लिये हानिकारक बतलाया। इज्जतनगरके अनुभवके आधारपर भारतसरकारके खाद्यविभागकी खाद्य-प्रदर्शिनीमें नकली घीको स्वास्थ्यके लिये खराब बतलानेका प्रदर्शन किया। नकली घी पशुपालन तथा स्वास्थ्यके लिये हानिकारक है, यह सिद्ध होनेपर भी नये-नये कारखाने खुल रहे हैं! शुद्ध घीका मिलना आज भी कठिन हो रहा है। यदि यही दशा तथा गति रही तो शीघ्र ही शुद्ध घीका व्यापार सर्वथा समाप्त [illegible] जायगा। शुद्ध घीको नुकसान पहुँचा तो गाय-भैंस नहीं [illegible] जा सकेंगी। गाय-भैंस न रहीं तो बैल-भैंसे कहाँसे [illegible] पशुपालन तथा खेतीकी सारी व्यवस्था अस्त-व्यस्त [illegible] आज जो दूध तथा अन्न मिल रहा है, वह [illegible]

यह सत्य है कि अभीतक गोवंशकी उन्नति तथा रक्षाकी ओर नहीं, ह्रास तथा विनाशकी ओर ही झुकाव है। पर हमें भगवान्‌पर विश्वास रखकर 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' भगवान्‌के वचनानुसार कर्तव्यकर्म समझते हुए हताश न होकर शक्तिके अनुसार जबतक एक-एक गाय-बैल, बछड़े-बछड़ीका वध बंद न हो, जबतक देशके लोगोंके लिये पर्याप्त दूध तथा घी तथा आवश्यक बैल न हों, प्रयत्न जारी रखना चाहिये। इस प्रयत्नके लिये निम्नलिखित प्रार्थनापर ध्यान दें।

१.आज देशमें जनताकी सरकार है; आज नहीं तो कल, वही होगा जो जनता चाहती है। अतः गोवंशकी रक्षा तथा उन्नतिके लिये प्रचारद्वारा जनमत तैयार करें। इसके लिये समाचारपत्रोंसे सहायता लें। गो-साहित्य छपवाने-बेचनेका प्रयत्न तथा प्रबन्ध किया जाय।

२.गो-सेवाके विचार करनेवाले लोग संगठित होकर सरकार तथा जनताके सम्मुख उपयोगी सुझाव रक्खें।

३.अपने-अपने प्रान्तके धारासभाके सदस्यों तथा सरकारी अधिकारियों, राजनीतिक, धार्मिक तथा सामाजिक सेवा करनेवाली संस्थाओंके चलानेवालोंसे सहायता लें।

४.अपने-अपने प्रान्तकी धारासभाओंमें गोवध-निषेध-कानून बनवाने तथा पशुओंकी उन्नतिकी योजनाओंपर उचित धन खर्च करनेकी कोशिश करें।

५.अपने प्रान्तमें गोवंशकी उन्नति तथा रक्षाके और ह्रास तथा विनाशके जो कार्य हो रहे हैं, उनकी पूरी-पूरी जानकारी रक्खें।

६.चारे-दानेकी हालत देखकर यदि कमी हो तो उसे दूर करनेका उपाय मालूम करके प्रबन्ध करनेकी कोशिश करें।

७.नस्ल-सुधारके कामको प्रोत्साहन देनेके लिये पशु-प्रदर्शिनियाँ भी की जायँ। गोशालाएँ या जो लोग गोपालन करते हैं, उनकी सहायता की जाय।

८.कत्ल किये हुए चमड़ेकी बनी चीजोंका व्यवहार तथा व्यापार कदापि न करें।

९.नकली घीका व्यवहार तथा व्यापार न करें। भारत-सरकारको गाँव-गाँवसे तथा हर एक संस्थासे 'नकली घी घी नहीं तेल है, तेलकी तरह ही बने तथा बिके। घीका रंग-रूप तथा सुगन्ध देकर जमाया न जाय' यह प्रस्ताव भिजवावें।

१०.स्वयं कोई भी ऐसा कार्य न करें जिससे गोवंशको हानि पहुँचनेका सन्देह भी हो। जो संस्थाएँ या लोग गोसेवाका काम करते हों, उन्हें यथासाध्य पूर्ण सहयोग तथा सहायता दें।

जिस तरह महर्षि वशिष्ठ, जमदग्नि तथा राजा दिलीपने अहिंसा और सेवाभावसे ही गोरक्षा की, उसी तरह हम भी करें। जो लोग हमारी तरह गोरक्षा तथा गो-उन्नतिको नहीं मानते, उनकी निन्दा न करें, उनसे द्वेष न करें तथा वैर-भाव न रक्खें। प्रेम और बुद्धिमानीसे ही उनको समझावें। हर समय इस बातको स्मरण रक्खें कि गायोंकी रक्षा भगवान् ही करेंगे। हम तो केवलमात्र अपना कर्तव्य-कर्म ही कर रहे हैं।

बिछुड़न-मिलन

(१)

कलका साथी टाइम-टेबिल
वर्षोंका साथी झोला—
दोनों ही खो गये अचानक
मन धीमे-धीमे बोला—
'जो खो गया, उसे खोने दो!
भुलना मत चिन्तामें उसकी॥
भुलनेसे जो पास तुम्हारे
होगी घटती ही उसकी॥
जो बच रहा उसीमें रमना!
निजको आत्मसात करना!
और उसे भी क्षणमें खोने
अ-खेद प्रस्तुत रहना॥'

(२)

कलका साथी टाइम-टेबिल
वर्षोंका साथी झोला—
खोकर वे मिल गये अचानक
मन धीमे, गँभीर बोला—
'करो नहीं आसक्ति कहीं तुम!
खोनेका दुख भी न करो!
बिछुड़न-मिलन, मिलन-बिछुड़नमें
दिवस-रात्रि अनुभूति भरो!
दिन आया, जग गये; रात आई,
सोनेको प्रस्तुत हो॥
शयन-जागरणकी समरस छबि
जीवन-पलकों बीच भरो!'

—बालकृष्ण बलदुवा

भारतीय संस्कृतिका संयुक्त मोर्चा

(लेखक—श्रीसत्यदेवजी विद्यालङ्कार)

[यह लेख बहुत जल्दीमें लिखा गया है। फिर भी इसका आधार लेखकके चिर विचार हैं। लेखक चाहता है कि भारतीय संस्कृतिके लिये एक सुदृढ़ संयुक्त मोर्चा बनाया जाय, जिसमें सभी सम्प्रदायों, मतों तथा विचारोंके लोग सम्मिलित हो सकें। विग्रह तथा भेदभावकी दुर्नीतिका परित्यागकर समन्वय तथा लोकसंग्रहकी उदार भावना तथा व्यापक कल्पनासे काम लिया जाय। क्यों न 'भारतीय संस्कृति-संघ' स्थान-स्थानपर कायम किये जायँ, जिनमें सभी लोग सांस्कृतिक भावनासे प्रेरित होकर सम्मिलित हों। सनातन-धर्मी सम्प्रदायोंने संस्कृतिकी अपेक्षा सम्प्रदायोंको अधिक महत्त्व दिया है। आर्यसमाजसरीखी संस्थाएँ भी अपने सांस्कृतिक स्वरूपको सहसा भूल गयीं और वे भी खेतीको भुलाकर खेतकी रक्षाके लिये बनायी गयी बाड़की रक्षामें लग गयीं। हिंदू-महासभाका राजनीतिक आकांक्षाओंके लिये ही उपयोग किया गया है। हिंदुत्वकी भावनासे ओतप्रोत श्रीमान् जुगलकिशोरजी बिड़लाने जिस 'आर्यधर्म-सेवा-संघ'की स्थापना की है, उसका मुख्य काम भी सेवा-प्रधान हो गया, वह भी संयुक्त सांस्कृतिक मोर्चेकी आवश्यकताकी पूर्ति नहीं कर सका। हिंदू-समाजका सांस्कृतिक मोर्चा निर्बल पड़ रहा है। लेखकने अपने इसी विचारको इस लेखमें व्यक्त करनेका प्रयत्न किया है। हिंदू-संस्कृतिके प्रेमी पाठक इस लेखको इसी सहृदय दृष्टिसे पढ़नेकी कृपा करें। —लेखक]

'हिंदू' शब्दके नामसे जितना कोलाहल मचाया जाता है, उतना काम नहीं किया जाता। उसके नामसे जितना आन्दोलन होता है, उतना संगठन नहीं हो पाता। उसकी भावनाका जितना उपयोग किया जाता है, उतनी ठोस कोई वस्तु नहीं बन पाती। इसका कारण क्या है? हिंदू किसी ठोस संगठनका नाम नहीं है। धर्म, सम्प्रदाय, धार्मिक विश्वास, धार्मिक कर्मकाण्ड, सामाजिक जीवन, पारस्परिक आचार-विचार तथा वैवाहिक सम्बन्ध आदि सभी दृष्टियोंसे वह इतना अधिक बिखरा हुआ है कि उसपर 'एक' शब्द किसी भी अर्थमें चरितार्थ नहीं होता। यदि कहीं प्रभुकी अपार कृपा हिंदू-जातिपर न हुई होती, तो इस विशृङ्खल स्थितिमें उसके लिये बना रहना सम्भव न था और संसारकी अन्य अनेक जातियोंकी तरह उसका भी संसारके इतिहासमें केवल नाम शेष रह गया होता। उसके अस्तित्वको बनाये रखनेके लिये ही सृष्टिके आरम्भमें प्रकट हुए चार ऋषियोंकी परम्परा-को प्रभुने जिस रूपमें कायम रक्खा है, उसीके लिये भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें 'संभवामि युगे युगे' शब्दोंका प्रयोग किया है। पूर्ण अवतारी महापुरुषोंके अतिरिक्त भी आंशिक अवतारीके रूपमें जितने महापुरुष, संत, महात्मा और पथप्रदर्शक हिंदू-जातिके अस्तित्वको बनाये रखनेके लिये प्रकट हुए हैं, उतने किसी भी अन्य जातिके लिये और किसी भी अन्य देशमें उत्पन्न नहीं हुए। भगवान्की इस अपार कृपाका सुपरिणाम भोगनेवाला हिंदू स्वभावतः आस्तिक होते हुए भी कुछ अंशोंमें नास्तिक बन गया! उसीका परिणाम यह हुआ कि उसने खेतकी रक्षाके लिये बनायी गयी बाड़को ही असली खेती मान लिया और वह उसीकी रक्षामें उलझ गया। हिंदू-जातिके अस्तित्वको बनाये रखनेके लिये प्रकट होनेवाले महापुरुषोंने अपने समय तथा स्थितिके अनुसार और तत्कालीन संकटका सामना करनेके लिये जो भी व्यवस्था की, वह उस बाड़की तरह सामयिक थी। त्रैकालिक धर्मकी रक्षाके लिये—गीताके शब्दोंमें कहा जाय तो धर्मके प्रति पैदा हुई ग्लानिको दूर कर उसका फिरसे अभ्युत्थान करनेके लिये की गयी तत्कालीन व्यवस्थाको ही मनुष्योंने त्रैकालिक धर्मका स्थान दे दिया और उसमें उलझकर उसने अपने लिये अपना मार्ग भिन्न बना लिया। इसी प्रकार हर अवतारी महापुरुषके नामपर अलग-अलग पन्थ, सम्प्रदाय, मत, मतान्तर आदि बनते चले गये। उनके अनुसार अलग-अलग सामाजिक व्यवस्था बनकर आचार-विचार तथा रहन-सहनकी भी भिन्न-भिन्न परिपाटियाँ बन गयीं।

इस भेद-भाव, विभिन्नता अथवा पृथकतामें भी एक सौन्दर्य है। यदि उस सौन्दर्यको विवेकपूर्व[illegible]
जा सके, तो हिंदूरूपी कमलकी पंखड़ि[illegible]
सहजमें समझा जा सकता है। अन्[illegible]
विनाश होकर कमलका सौन्दर्य एवं[illegible]
भ्रष्ट भी हो सकता है। हिंदूरूपी कम[illegible]
उन सभीपर है, जिनका उसकी कि[illegible]
भी सम्बन्ध है। भिन्न-भिन्न पंखड़ि[illegible]
ही भूमिमें जन्म लेता है, वैसे ही हिंद[illegible]
सभी सम्प्रदायोंको जन्म देनेवाली [illegible]
सबका मूल स्थान एक है। इस मूल[illegible]

संस्कृति तथा सभ्यता भी एक है, जिसको भूमिके नाते 'हिंदू' न कहकर 'भारतीय' कहना अधिक संगत और यथार्थ है। सामाजिक दृष्टिसे जिसे 'हिंदू' कहा जाता है, उसको सांस्कृतिक अथवा राष्ट्रीय दृष्टिसे 'भारतीय' कहना चाहिये। इस भारतीय संस्कृति अथवा सभ्यताकी रक्षामें ही हिंदुत्वकी अथवा हिंदूकी रक्षा सुनिश्चित है। इसीलिये साम्प्रदायिक भेदभाव और सामाजिक पृथक्ता रहते हुए भी इस भारतीयताकी रक्षाके लिये समानरूपसे प्रयत्न करना सभीके लिये आवश्यक हो जाता है।

हमारे प्रधान मन्त्री पं० श्रीजवाहरलालजी नेहरू प्रायः यह कहा करते हैं कि हमारा देश हम सबसे बड़ा है। उसके बड़प्पनकी रक्षा करने और उसको और भी बड़ा बनानेपर भी वे विशेष जोर देते रहते हैं। हमारे देशका यह 'बड़प्पन' क्या है? हर देश अथवा राष्ट्रकी अपनी कोई परम्पराएँ होती हैं, अपने कोई आविष्कार होते हैं और अपनी कोई मान्यता अथवा धारणा भी होती है। शब्दोंमें उनको इतने स्पष्ट रूपमें व्यक्त नहीं किया जा सकता। उनका कोई शृङ्खला-बद्ध इतिहास भी सम्भवतः उपस्थित नहीं किया जा सकता। न उनका कोई भौगोलिक मानचित्र ही उपस्थित किया जा सकता है। फिर भी वह एक बड़प्पन है, जिसका गर्व हर देशवासीको होता है और होना भी चाहिये। इंग्लैंडके लोगोंका सबसे बड़ा गर्व उस पार्लमेंटरी प्रजातन्त्री शासनप्रणालीके आविष्कारके लिये है, जिसमें राजाकी एकतन्त्र सत्ता और जनताकी प्रजातन्त्री आकांक्षाओंका सुन्दर समन्वय किया गया है। अमेरिकाका गर्व यह है कि उसने संसारमें स्वतन्त्रताकी पताका फहरायी है और दोनों विश्वव्यापी महायुद्धोंमें उसने विश्वको स्वतन्त्रताका वरदान दिया है। ऐसे ही छोटे-मोटे गर्वकी बातें दूसरे राष्ट्रोंके लोग भी प्रस्तुत क[illegible] [illegible]र करते भी रहते हैं। रूसको अपने उस [illegible] जिसके बिना उसकी दृष्टिमें संसारमें [illegible]न्तिकी स्थापना हो नहीं सकती। [illegible]र्यत्वके विशुद्ध रुधिर' का गर्व [illegible] जो बच रहा [illegible]सी प्रकार जापानके लोगोंका गर्व निजको [illegible] अ[illegible]सन्तान' माननेमें था। वस्तुतः [illegible]र उसे भी अपने-अपने राष्ट्रका बड़प्पन है। [illegible] अ-खेद[illegible] ही बड़ा महान् और गौरवपूर्ण [illegible], स्थिर और व्यापक है। हिंदूका [illegible]का यह गर्व है कि सृष्टिका निर्माण उसके देशके प्रादुर्भावके साथ हुआ है। मानव सबसे पहले उसीके देशमें प्रकट हुआ है। वेदके रूपमें भगवान्की दिव्य ज्ञानमयी वाणी सबसे पहले उसीके देशमें अवतरित हुई है। ज्ञान-विज्ञानका अक्षय भण्डार चारों वेदके रूपमें सबसे पहले उसीको प्राप्त हुआ है। इसी भण्डारसे शिक्षा-दीक्षाकी [illegible] लहरें विश्वमें फैलीं, उसीमें गोता लगाकर संसारी मानवने संस्कृति-सभ्यता, आचार-विचार तथा रहन-सहनका पहला पाठ पढ़ा। मनु महाराजने इस गर्वको इन शब्दोंमें व्यक्त किया है—

> एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
> स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्पृथिव्यां सर्वमानवाः॥
>
> (२।२०)

'संसारके सभी मनुष्योंने इसी देशमें पहले पैदा हुए लोगोंसे साक्षात् करके अपने-अपने चरित्रकी शिक्षा-दीक्षा प्राप्त की है।' 'चरित्र' शब्द बहुत व्यापक अर्थका सूचक है। इस प्रकार हिंदू संसारकी आदि अर्थात् सर्वप्रथम संस्कृतिका उत्तराधिकारी है और यह उत्तराधिकार उसको भगवान्की कृपासे ही प्राप्त हुआ है। वह अपनेको भगवान्का उत्तराधिकारी अथवा प्रतिनिधि भी मान सकता है। यह कितना बड़ा गर्व और कितना बड़ा बड़प्पन है। प्राचीनता, महानता और व्यापकताकी दृष्टिसे भी इससे अधिक बड़ा बड़प्पन और क्या हो सकता है? मानो हिंदूके आर्यावर्त देशका निर्माण भगवान्ने स्वयं अपने हाथोंसे किया है और आर्यावर्तरूपी मन्दिरमें मानवरूपमें हिंदू मूर्तिकी स्थापना भी भगवान्ने स्वयं अपने हाथोंसे ही की है। अध्यात्म-शक्तिके आदिस्रोत भगवान्ने मानो स्वयं ही उस मूर्तिमें आध्यात्मिकताकी प्राण-प्रतिष्ठा भी की है। इसीलिये हिंदू स्वभावतः आस्तिक और आध्यात्मिक है। शरीरसे भिन्न आत्मामें उसका विश्वास, जो कि गीताके उपदेशका सार है, उसकी एक विशेषता है, जो संसारके अन्य मानव-समाजसे उसमें विशेषरूपमें पायी जाती है। भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों, आचार-विचारों तथा सामाजिक व्यवस्थासे सम्बन्ध रखते हुए भी हिंदू इस विशेषताका समानरूपसे अधिकारी है, संसारकी आदि-संस्कृतिका समानरूपसे उत्तराधिकारी है और भगवान्की अपार कृपासे प्राप्त हुए इस बड़प्पनका उसको समानरूपसे गर्व करनेका भी पूर्ण अधिकार है।

अब प्रश्न यह है कि इसकी रक्षा और वृद्धि किस प्रकार की जाय?

भगवान्‌की अनन्त एवं दिव्य प्रेरणामें विश्वास रखनेवाला हिंदू संसारमें कभी भी हार नहीं मान सकता। उसके पुरुषार्थका प्रयोजन इतना ही है कि वह अपने ध्येयकी सिद्धिमें सारी सामर्थ्य अर्थात् पुरुषार्थको खपा दे। इसीमें पुरुषकी सार्थकता है। सीता अन्तमें रामके पास न रह सकीं। इससे रामायणकी सारी कथा तो निरर्थक नहीं हो जाती। भगवान् श्रीकृष्ण महाभारतके घोरतम युद्धके बाद भी पाण्डवोंका राजसूय-यज्ञ नहीं रच सके। इसका अर्थ यह तो नहीं कि महाभारतका सारा खेल व्यर्थ ही हुआ। निष्काम कर्मका यही तो स्वरूप है। 'मा कर्मफलहेतुर्भूः' के उपदेशका यही तो सार है। पहले परीक्षणोंकी असफलतासे निराश न होकर नित नया प्रयत्न करनेमें लगनेका यही तो मर्म है। इसीलिये इस दिशामें किये गये प्रयत्नोंमें यदि कोई विशेष सफलता नहीं मिल सकी, तो भी उनसे निराश होनेका कोई कारण नहीं होना चाहिये। भगवान् गौतम और महावीर स्वामी तथा शङ्कराचार्यसे लेकर आजतक जितने भी महापुरुष, महात्मा, संत और आचार्य हुए हैं, उन सबका यही प्रयत्न था कि हिंदू-समाज तथा भारतीय राष्ट्रके बड़प्पनकी रक्षा और वृद्धि हो। उनके प्रयत्नोंको साम्प्रदायिक रूप तो उनके हम भोले अनुयायियोंने दिया है, जिन्होंने बाड़को ही असली खेती मान लिया है। इन महापुरुषोंकी कभी न टूटनेवाली शृङ्खलाने ही हिंदू-समाजके अस्तित्वको कायम रक्खा है। उसका स्वरूप विकृत हो जानेपर भी विनष्ट नहीं हो सका। उनके प्रयत्नोंको जारी रखनेकी आज और भी अधिक आवश्यकता इसलिये है कि आज राजनीतिक दृष्टिसे स्वतन्त्र होनेके कारण अपनी छाप दूसरोंपर भी लगानेका हमें अलभ्य अवसर प्राप्त हुआ है। जब देश राजनीतिक स्वतन्त्रताकी प्राप्तिके महान् प्रयत्नमें संलग्न था, तब तो यह कहा जाता था कि 'न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंङ्गिनाम्।' राष्ट्रका संयुक्त राष्ट्रीय मोर्चा कमजोर न पड़ जाय और जनताका सारा ध्यान एक ही दिशामें लगा रहे,—इसलिये यह आवश्यक समझा जाता था कि अन्य विषयोंपर उसका ध्यान न बाँटा जाय। परंतु अब उस मोर्चेपर पूर्ण विजय प्राप्त कर लेनेके पश्चात् जो मुख्य प्रश्न हमारे सामने है—वह है 'राष्ट्र-निर्माण' का। राष्ट्र-पिता महात्मा गाँधीके शब्दोंमें कहा जाय तो 'रामराज्यकी स्थापना' का। निर्माणका कार्य तो किसी सुदृढ़ नींवपर और किसी सुनिश्चित योजनाके अनुसार ही किया जाना चाहिये। यदि अच्छे आर्चिटैक्टका बनाया हुआ नक्शा सामने नहीं है, तो बड़े-से-बड़ा ठेकेदार भी भवनका निर्माण कर नहीं सकता। हमारे राष्ट्रके निर्माणका नक्शा क्या होना चाहिये और उसकी नींवकी भूमि क्या होनी चाहिये? इसमें दो मत नहीं होने चाहिये कि वह नक्शा 'भारतीय' और वह भूमि भी 'भारतीय' ही होनी चाहिये। तभी हमारे देशका बड़प्पन सुरक्षित रह सकेगा और उसकी अभिवृद्धि भी हो सकेगी। भारतीय संस्कृति, सभ्यता तथा आध्यात्मिकताको तिलाञ्जलि देनेके बाद 'भारतीय' शब्दका कुछ भी अर्थ नहीं रहता। लार्ड मैकालेका स्वप्न इस देशमें ऐसे भारतीयोंकी एक श्रेणी पैदा करना था, जो हाड़-मांस, रुधिर तथा रूप-रंगमें भारतीय होते हुए भी रहन-सहन, आचार-विचार, दिल-दिमाग तथा भावना-कल्पनामें भारतीय न रहें और अंग्रेजोंके रंगमें रँग जायँ। वे ऐसे लोगोंको अपना दस्तक बनाकर करोड़ों भारतीयोंपर हुकूमत करना चाहते थे। उनका स्वप्न पूरा हुआ। ऐसी श्रेणीके लोग यहाँ उससे भी कहीं अधिक पैदा हो गये, जितने कि वे चाहते थे। इस स्वप्नको देखनेके कुछ ही वर्षों बाद उनको यह दीख पड़ने लगा था कि तीस वर्षों बाद बंगालमें एक भी व्यक्ति ऐसा न रहेगा, जो अपनेको हिंदू कहनेमें गर्व अनुभव करेगा। परंतु जिस हिंदू-जातिका मुगलोंके सात-आठ सौ वर्षोंके शासनमें भी अन्त न हुआ था, उसका इतनी जल्दी अन्त नहीं हो सकता था। फिर भी इतना अवश्य हुआ कि अंग्रेजियत उर्फ ईसाइयतके कीटाणु हमारेमें क्षयके कीटाणुओंकी तरह घुस गये और आज स्थिति यह है कि अंग्रेजके चले जानेपर भी वे कीटाणु भारतीयताको विषाक्त बना रहे हैं। उनसे छुटकारा पाना हमारे लिये कठिन हो रहा है। राष्ट्रपिता महात्मा गाँधीने भी इस विषको बुझानेका प्रयत्न अपने ढंगसे किया; किंतु उनके प्रयत्न भी सफल नहीं हुए। आज अपने देशका जो नया विधान बन रहा है और हिंदू-समाजका कायाकल्प करनेके नामपर जो विधि-विधान बनाये जा रहे हैं, उनमें 'भारतीयता'के स्थानमें 'अंग्रेजियत'को ही प्र[illegible]
जा रही है। यदि 'अनिष्टापत्ति' के रूपमें ही प[illegible]
अंग्रेजीको नहीं छोड़ा जा सकता, तो स्वत[illegible]
वर्षोंमें उसको छोड़नेके कुछ थोड़े-से लक्षण [illegible]
होने चाहिये। दुःख यह देखकर होता है कि [illegible]
पद-चिह्नोंपर मानो आँखें मूँदकर चलते च[illegible]
राजनीतिमें तो क्या; अर्थनीति, समाजनीति[illegible]
भी हम अबतक उन्हींके अनुयायी बने हुए हैं[illegible]
जीवनतकमें उन्हींके पहरावेका महत्त्व पहले[illegible]
हुआ है। इस सबको बदलकर भारतीयताकी [illegible]

बिना हम न तो भारतीय राष्ट्रका निर्माण कर सकेंगे और न अपने राष्ट्र-निर्माणकी नींव भारतीयताकी भूमिपर डाल सकेंगे।

इस दिशामें पहला प्रयत्न उनको करना चाहिये जो अपनेको हिंदू अथवा भारतीय कहते हैं और जिनकी भारतीयतामें कुछ थोड़ी-सी भी निष्ठा या विश्वास है। सांस्कृतिक दृष्टिकोणको प्रधानता देते हुए हमें भारतीयताकी भावना तथा कल्पनाको सुदृढ़ बनानेका प्रयत्न करना चाहिये। राजनीतिक क्षेत्रमें वैसे विध्वंसात्मक प्रयोग करनेकी हमें तनिक भी आवश्यकता नहीं है, जैसे पराधीन देशोंमें किये जाते हैं अथवा आदर्शोंकी भिन्नता रखनेवाले दलोंमें एक-दूसरेके प्रति किये जाते हैं। 'बालिग मताधिकार' के आधारपर कायम होनेवाले प्रजातन्त्रके आदर्शको स्वीकार कर लेनेपर राजनीतिक सत्ताका केन्द्र जनताके मतोंमें निहित हो जाता है। इसीलिये राजनीतिक दृष्टिसे भी विध्वंसात्मक प्रवृत्तियोंमें लगनेकी अपेक्षा लोकमतको शिक्षित करनेमें लगना अधिक श्रेयस्कर और प्रभावोत्पादक है। विरोधकी भावनाका भी परित्याग कर लोकमतको भारतीयताके रंगमें रँगनेका प्रयत्न होना चाहिये। किन हिंदुओंपर भारतीय भावना तथा कल्पनाका सुदृढ़ होना निर्भर है, यह स्पष्ट है कि वे वर्तमान विशृङ्खल स्थितिमें पड़े रहकर अपने दायित्वको पूरा नहीं कर सकते। हिंदू-महासभा वर्षोंसे कार्यक्षेत्रमें होनेपर भी इस कामको नहीं कर सकी। कारण स्पष्ट है। उसने हिंदुओंकी वर्तमान विशृङ्खल स्थिति-का कुछ भी उपचार नहीं किया। वह उन नेताओंकी राजनीतिक आकाङ्क्षाओंका खिलौना बनी रही, जिन्होंने उसका समय-समयपर उनकी पूर्तिके लिये उपयोग किया। इसीलिये धारासभाओंके चुनावोंके दिनोंमें, उसमें जो हलचल दीख पड़ती थी, वह चुनावोंके साथ ही समाप्त हो जाती थी। कोई भी धार्मिक, सामाजिक अथवा आध्यात्मिक किंवा ...तन ... कार्यक्रम उसके सामने नहीं रहा। आर्यसमाज, ...थवा प्रार्थनासमाज आदि संस्थाएँ नयी शक्तिके घु... हुईं। उन्होंने समन्वय-प्रधान काम न घुल... हो... ग्रह-प्रधान काम किया कि उनका अपना ... जो बच रहे ... बन गया और उसने भी पृथक् सम्प्रदायका निजको आ...या। इसीलिये ये संस्थाएँ भी सांस्कृतिक ...और उसे भी विशिष्ट चेतना पैदा न कर सकीं। महात्मा ... अ-खेद ...चारोंके लोगोंको अपनी ओर आकर्षित ...उनके ...हाँ हो सके, फिर भी उन्होंने भारतीय ... तथा संस्कृतिके लिये कुछ-न-कुछ अनुभूति अवश्य ही पैदा की है। हिंदूमात्रमें भारतीयताके ... जो ममता थी, उससे उन्होंने लाभ उठाया और राजनीति... 'सत्य' तथा 'अहिंसा' के जो धार्मिक प्रयोग किये, ... उनके आन्दोलनको आध्यात्मिकताका पुट मिल जानेसे ... साधारण जनतापर उनका जादूका-सा असर हुआ। ... साधारण हिंदूजातिकी इन्हीं भावनाओंका सदुपयोग रा... निर्माणके महान् कार्यके लिये भी अवश्य ही किया जा... चाहिये। इसीलिये भारतीय संस्कृतिकी पृष्ठ-भूमिको बल... बनाकर इस आध्यात्मिक भावनाको भी परिपुष्ट बना... चाहिये।

तो फिर उसके लिये क्या किया जाय? आध्यात्मिक... प्रधान व्यक्तियों तथा नेताओंका यह कर्तव्य होना चाहि... कि वे व्यक्तिगत साधनाद्वारा व्यक्तिगत मोक्षकी ही एका... साधनामें न लगे रहकर समाजका वर्तमान विशृङ्खल स्थिति... उद्धार करनेका कुछ प्रयत्न अवश्य करें। वे समाजके सम्... में आकर उसका पथ-प्रदर्शन करें। महात्मा गाँधीके खा... स्थानकी वे पूर्ति करें। हिंदू-समाजमें जितने भी सम्प्रदा... अथवा संस्थाएँ हैं, वे विरोधपूर्ण प्रचारात्मक कार्यका एक... ही अन्त करके अपनेको समन्वयात्मक एवं संग्रहात्म... प्रवृत्तियोंमें लगावें। अपने बाह्य भेदभावसे ऊपर उठकर ... आन्तरिक ध्येयपर दृष्टि डालें, जिसमें अन्तरकी अपे... समानता अधिक है। यदि कुछ सामयिक समस्याओंको ले... भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों, संस्थाओं तथा विचारोंके लोग एक... सकते हैं, तो स्थायी सांस्कृतिक ध्येयके लिये सब एक ... नहीं हो सकते। अपने साम्प्रदायिक स्वरूपकी अपे... सांस्कृतिक स्वरूपपर यदि अधिक ध्यान दिया जा सके ... संस्कृति, साहित्य, भाषा तथा ऐतिहासिक परम्पराओंके ... प्रकट होनेवाली एकताका कुछ अधिक चिन्तन किया जा... तो पृथक्ताकी भेदमूलक संकीर्ण भावनाका अन्त हो... समानताकी श्रेयस्कर उदार भावना तथा व्यापक कल्पना... निश्चय ही उदय होगा। इन पंक्तियोंके लेखकको एक ... एक ऋषिकुलमें जानेका अवसर प्राप्त हुआ। एक गुरुकुल... स्नातक होनेसे उसने गुरुकुल और ऋषिकुलकी समान ... भूमिका चित्र खींचते हुए ब्रह्मचर्यप्रधान शिक्षा और उ... द्वारा प्राचीन भारतीय संस्कृतिके पुनरुद्धारपर जोर दि... और कहा कि इस ध्येयकी पूर्तिमें दोनों संस्थाओंमें अ... कहाँ है और इसी दृष्टिसे आर्यसमाजों तथा सनातनध... सभाओंमें भी भेद कितना है? दोनों दिल्लीसे बम्बई ...

संख्या

चाहते
दूसरा बी
कर रहा है,
मिटानेका प्रयत्न
विशृङ्खल स्थितिसे
मोर्चेको कुछ अधिक
बनाया जा सकता है।
बड़प्पन भी सुरक्षित रह
भी हो सकती है।

भगवान्‌की कृपासे हम उस
जिसमें अमेरिका, अफ्रीका, आस्ट्रेलिया
आदिके असली निवासी तो सदाके लिये सभी दृष्टि
बना दिये गये हैं और बाहरसे आकर वहाँ उपनि
वाले वहाँके मालिक बन बैठे हैं। आज उन देशोंकी
संस्कृति, सभ्यता, भाषा, साहित्य तथा ऐतिहासिक परम्पराओं
का कहीं पता भी नहीं है। उनको 'जंगली' बनकर

सम्मान्य विद्यालङ्कारजीके विचारपूर्ण लेखपर प्रत्येक
ऐसा प्रयत्न करना चाहिये जिसमें 'भारतीय संस्कृति-संघ' जैसी किसी

काबुल विश्वविद्यालयमें संस्कृ

(लेखक—डा० रघुवीर)

अफगानिस्तान एक छोटा-सा देश है। प्राचीन कालमें सांस्कृतिक रूपसे वह भारतका ही एक भाग था। आठवीं शताब्दीमें जब कि अफगानिस्तानके लोग मुस्लिम-धर्ममें दीक्षित हुए, यह सांस्कृतिक सम्बन्ध टूट गया। आठवीं शताब्दीतक अफगानिस्तानमें बौद्ध-धर्मका राज्य रहा। बौद्ध-कलाके सुन्दरतम नमूने अफगानिस्तानसे ही प्राप्त होते हैं। भगवान् बुद्धकी सबसे बड़ी मूर्तियाँ बनियानमें एक चट्टान काटकर बनायी गयी हैं। इनमेंसे एक १६० फुट ऊँची है। सारा अफगानिस्तान बौद्धकालीन मूर्तियोंसे भरा पड़ा है।

पुराणोंमें भारतकी सीमा ओक्सस (जो कि संस्कृत

शब्द वक्षुका ग्रीक
वैदिक कालमें काबुल-नदी

अध्यापन-क्रम

अब अफगान-सरकारने यह आवश्य
काबुल-विश्वविद्यालयमें साहित्य-विभागके
संस्कृतको आवश्यक विषय बना दिया जाय
चार विभाग हैं—साहित्य-विभाग, कानून-
विभाग एवं ओषधि-विभाग। साहित्य-विभा
विषय पढ़ाये जाते हैं उनमें पश्तो और
लोचनात्मक रूपसे) भाषाविज्ञान, मनोवि

बिना हम न तो भारतीय राष्ट्रका निर्माण कर सकेंगे और न अपने राष्ट्र-निर्माणकी नींव भारतीयताकी भूमिपर डाल सकेंगे।

इस दिशामें पहला प्रयत्न उनको करना चाहिये जो अपनेको हिंदू अथवा भारतीय कहते हैं और जिनकी भारतीयतामें कुछ थोड़ी-सी भी निष्ठा या विश्वास है। सांस्कृतिक दृष्टिकोणको प्रधानता देते हुए हमें भारतीयताकी भावना तथा कल्पनाको सुदृढ़ बनानेका प्रयत्न करना चाहिये। राजनीतिक क्षेत्रमें वैसे विध्वंसात्मक प्रयोग करनेकी हमें तनिक भी आवश्यकता नहीं है, जैसे पराधीन देशोंमें किये जाते हैं अथवा आदर्शोंकी भिन्नता रखनेवाले दलोंमें एक-दूसरेके प्रति किये जाते हैं। 'बालिग मताधिकार' के आधारपर कायम होनेवाले प्रजातन्त्रके आदर्शको स्वीकार कर लेनेपर राजनीतिक सत्ताका केन्द्र जनताके मतोंमें निहित हो जाता है। इसीलिये राजनीतिक दृष्टिसे भी विध्वंसात्मक प्रवृत्तियोंमें लगनेकी अपेक्षा लोकमतको शिक्षित करनेमें लगना अधिक श्रेयस्कर और प्रभावोत्पादक है। विरोधकी भावनाका भी परित्याग कर लोकमतको भारतीयताके रंगमें रँगनेका प्रयत्न होना चाहिये। किन हिंदुओंपर भारतीय भावना तथा कल्पनाका सुदृढ़ होना निर्भर है, यह स्पष्ट है कि वे वर्तमान विश्रृङ्खल स्थितिमें पड़े रहकर अपने दायित्वको पूरा नहीं कर सकते। हिंदू-महासभा वर्षोंसे कार्यक्षेत्रमें होनेपर भी इस कामको नहीं कर सकी ...ता- कारण स्पष्ट है। उसने हिंदुओंकी वर्तमान विश्रृङ्खल भारतीय का कुछ भी उपचार नहीं किया। वह उन ...नेवाली है और नीतिक आकाङ्क्षाओंका खिलौना बनी रहे ...सरे वर्ष गीताके और समय-समयपर उनकी पूर्तिके लिये ...संस्कृत-साहित्यका इतिहास धारासभाओंके चुनावोंके दिन ...नाटकोंका भी कुछ अध्ययन पड़ती थी, वह चुनावोंके ... वर्ष गीताके साथ शकुन्तलाको भी कोई भी धार्मिक ...ता है। गद्यभाग तो सम्पूर्णरूपसे पढ़ाया ...नन कार्यक्र ...पद्यभागमें केवल चुने हुए श्लोक। संस्कृत- ...थवा प्रा... जारी रहता है और छात्रोंको प्राचीन गद्य ...बुल ... र रूपसे दिग्दर्शन कराया जाता है। वेदान्त ...वुल ...प्रह... होग... ...तीय दर्शनोंपर प्रारम्भिक भाषण दिये जाते ...जो बच रह... बन... ...तीय वर्षमें ग्यारह, तृतीय वर्षमें नौ और निजको आ... या। ...छात्र पढ़ते हैं। ...और उसे भी ... अ-खेद ...च ...उनके ...हैं ...तथा ...आन...

अवश्य ही पैदा की है। हिंदूमात्रमें भारतीयताके ... जो ममता थी, उससे उन्होंने लाभ उठाया और रा... 'सत्य' तथा 'अहिंसा' के जो धार्मिक प्रयोग ... उनके आन्दोलनको आध्यात्मिकताका पुट मिल ... साधारण जनतापर उनका जादूका-सा असर ... साधारण हिंदूजातिकी इन्हीं भावनाओंक... निर्माणके महान् कार्यके लिये भी अवश्य ... चाहिये। इसीलिये भारतीय संस्कृतिकी ... बनाकर इस आध्यात्मिक भावनाको निवेदन करूँगा ... चाहिये।

...खोल ...छात्र ...बढ़ गई ...संस्कृतका अ... ...धको और भी ... ...त्यपर अंग्रेजी, फ्रेंच तथा ... पुस्तकोंका काबुल-विश्वविद्या... पार्सी पार्सी-साहित्यके एक बहुत ... ही काबुल-विश्वविद्यालयको भेज चुके ...

तो फिर उसके लिये ... प्रधान व्यक्तियों तथ... कि वे व्यक्ति... साधनामें न ह... भाषाएँ पढ़ायी जानेके कारण अफगान ... उद्धार क... ...में बाँटे जा सकते हैं। वहाँ तीन प्रकारके ... में अ... एक तो व... जो अमरीकी या अंग्रेजोंकी देख-रेख ... जर्मनोंकी और तीसरे फ्रांसीसियोंकी। पाँचवीं ... स्था... ...से बारहवीं श्रेणीतक जो कि उच्चतम श्रेणी है, छात्र ... अथवा ...लमें अंग्रेजी पढ़ते हैं, दूसरेमें जर्मन और तीसरेमें फ्रें... ही ... जो अंग्रेजी पढ़ते हैं वे जर्मन और फ्रेंच कुछ नहीं जा... इसी प्रकार जो फ्रेंच पढ़ते हैं वे अंग्रेजी और जर्मनीसे ... अनभिज्ञ रहते हैं। विश्वविद्यालयकी प्रत्येक श्रेणीमें ऐसे ... होते हैं जो या तो अंग्रेजी या जर्मन या फ्रेंच जानते ... सभी अफगान छात्रोंकी साधारण भाषा केवल पश्तो ... पर्शियन ही है। संस्कृतके वर्तमान प्रोफेसर डा० पर... बहल अबतक इन्हीं यूरोपीय भाषाओंके माध्यमसे ... पढ़ाते आ रहे हैं। केवल अभी उन्होंने पर्शियनका ... किया है ताकि उसके माध्यमसे पढ़ा सकें। मैंने उपर्युक्त ... इसलिये लिखी हैं कि वहाँ प्रयुक्त होनेवाली भाषाओंमें ... गयी हमारे देशसे सम्बन्ध रखनेवाली पुस्तकोंको काबुल ... जाय।

अन्तमें यह भी बता देना चाहता हूँ कि अफगान ... अपने नामके आगे आर्यन लिखनेमें गौरव अनुभव करते ... वे 'आर्यन' नामक एक 'मासिक पत्रिका' भी प्र... करते हैं।

कल्याण
अङ्क ५
वर्ष २२

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम। जय रघुनन्दन जय सियाराम॥
रघुपति राघव राजा राम। पतितपावन सीताराम॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा। जय गणेश जय शुभ-आगारा॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर ज्येष्ठ, मई सन् १९४९ की

चित्र-सूची

तिरंगा

वार्षिक मूल्य भारतमें ६≡) विदेशमें ८।।=) (१३ शिलिङ्ग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत् चित् आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

साधारण प्रति भारतमें ।=) विदेशमें ।।-) (१० पैंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

सब भूतोंमें आत्मा और आत्मामें सब भूत

आत्मा सब भूतोंमें स्थित, सब भूतोंकी आत्मामें सृष्टि।
योगयुक्त सबमें समदर्शी ज्ञानी जनकी है यह दृष्टि॥ (गीता ६ । २९)

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

कल्याण

वेणुवादनशीलाय गोपालायाहिमर्दिने । कालिन्दीकूललीलाय लोलकुण्डलधारिणे ॥
वल्लवीनयनाम्भोजमालिने नृत्यशालिने । नमः प्रणतपालाय श्रीकृष्णाय नमो नमः ॥

वर्ष २३ } गोरखपुर, सौर ज्येष्ठ २००६, मई १९४९ { संख्या ५ पूर्ण संख्या २७०

सब प्राणियोंमें आत्मा और आत्मामें सब प्राणी

सब तन चेतन-अंस समान ।
ज्यौं नभमें प्रभटत घन-मंडल घनमें व्योम-वितान ॥
जलमें उठत तरंग, तरंगनमें जलरासि अमान ।
तैसइ विभु आत्मामें राजत जेते जीव जहान ॥
सब जीवनमें सो प्रकासमय आत्मा एक महान ।
योग-युक्त सबमें समदरसी ज्ञानीको यह ज्ञान ॥

'राम'

कल्याण

याद रक्खो—तभीतक तुम्हारा निर्णय भ्रमपूर्ण, संदिग्ध और परिणाममें हानिकारक होता है, जबतक कि तुम्हारे मनमें काम, क्रोध, लोभ, स्वार्थ, घृणा, द्वेष, अभिमान, भय, प्रतिशोधकी भावना, वैर और हिंसादि दोष वर्तमान हैं और भगवान्की दिव्य वाणीकी स्फुरणाके लिये खुला मार्ग नहीं है।

याद रक्खो—जब तुम मनको इन दोषोंसे मुक्त कर भगवान्की कृपाके प्रकाशसे भर लोगे और शुद्ध भगवदीय विचार, जिनमें आगे-पीछे सर्वत्र पर-हितकी भावना भरी होगी, तुम्हारे मनको छा लेंगे, तब तुम्हारा जो कुछ भी निर्णय होगा, वह निर्भ्रान्त सत्य और परिणाममें हितकारक होगा।

याद रक्खो—व्यक्तिगत स्वार्थ मनुष्यके ज्ञानको हरकर उसे अंधा बना देता है, फिर, उसकी बुद्धिपर पर्दा पड़ जानेके कारण वह यथार्थ निर्णय नहीं कर सकती। जो बुद्धि स्वार्थसे ढकी नहीं होती, उसीके द्वारा भगवान्के ज्ञानका प्रकाश होता है।

याद रक्खो—जिस हृदयमें नित्य-निरन्तर भगवान् विराजित रहते हैं, उस हृदयमें दैवीसम्पत्तिके गुण,—त्याग, क्षमा, वैराग्य, निःस्वार्थभाव, प्रेम, सुहृदता, विनय, निर्भयता, सहिष्णुता, स्नेह और अहिंसा आदि—स्वाभाविक ही रहते हैं और वहींसे भगवान्की दिव्य वाणी स्फुरित हुआ करती है।

याद रक्खो—जब तुम्हारा मन भगवदीय सत्यको प्राप्त करनेके लिये उत्सुक तथा उन्मुक्त होगा, तब उसमें स्वयं ही उस सत्यका प्रकाश होगा और तब जो कुछ निर्णय होगा, वह सत्य ही होगा।

याद रक्खो—जब तुम्हारे हृदयमें दूसरोंका हित ही अपने हितके रूपमें प्रकट होगा, तब उसमें स्वाभाविक वही विचार आवेंगे जो पर-हितकारक होंगे और तदनुसार ही निर्णय होगा और जिस निर्णयमें पर-हित भरा है, उस निर्णयसे परिणाममें अपना अहित कभी हो ही नहीं सकता।

याद रक्खो—जब मनुष्यके हृदयमें भगवत्प्रेमका प्रादुर्भाव होता है, तब उसको जगत्में कोई पराया दीखता ही नहीं। ऐसी अवस्थामें उसका स्वार्थ भी विस्तृत हो जाता है। फिर वह जगत्के भलेमें ही अपना भला देखता है, किसी एक क्षुद्र प्राणीका अहित भी उसे सहन नहीं होता। इस प्रकारके प्रेमका प्रकाश स्वार्थके अन्धकारको सर्वथा नष्ट कर देता है। फिर उस प्रकाशमें जो कुछ निर्णय होता है वह सर्वथा मङ्गलमय होता है।

याद रक्खो—जब तुम भगवान्की इच्छामें अपनी इच्छा मिला दोगे, तभी तुम्हारा निर्णय निष्पक्ष और निर्भ्रान्त होगा।

याद रक्खो—भगवान्की इच्छासे विरुद्ध इच्छा रखनेवालेकी इच्छा कभी सफल तो होती ही नहीं, पद-पदपर उसे असफलता, निराशा और वेदनाका सामना करना पड़ता है। उसका प्रत्येक निश्चय, प्रत्येक विचार भ्रान्त और परिणाममें पीड़ादायक होता है तथा उसका जीवन नित्य अशान्तिमें ही बीतता है।

याद रक्खो—तुम यदि अपनेको भगवान्के प्रति सौंप देते हो, अपनी इच्छाओंको भगवान्की इच्छामें मिला देते हो एवं अपने ज्ञान और बलको भगवान्के ज्ञान और बलका अंश मान लेते हो तो निश्चय समझो फिर तुम भगवान्की मङ्गलमयी इच्छासे मङ्गलमय बनकर भगवान्के नित्य सत्य ज्ञान और अचिन्त्य अपरिमित बलसे सुरक्षित होकर केवल अपना ही कल्याण नहीं करोगे; तुम्हारा प्रत्येक विचार, तुम्हारा प्रत्येक निश्चय और तुम्हारी प्रत्येक क्रिया अखिल जगत्का मङ्गल करनेवाली होगी।

'शिव'

प्रभुका आदेश

सब मनुष्योंको सब समय प्रभुकी ओरसे अपने अन्तरात्मामें यह आदेश अवश्य मिलता रहता है कि 'ऐसे करो', 'ऐसे मत करो' किंतु हम अधिकांश ऐसे हैं जो उनके आदेशको सुन नहीं पाते। यदि कहीं कोई सुनता भी है, तो वह उपेक्षा करता है। इसका निश्चित परिणाम यह होता है कि हम जहाँ जिस क्षेत्रमें जाते हैं, वहाँ ही हमें उलझन मिलती है। अपनेसे आगे बढ़े हुएको देखकर हम जल उठते हैं। अपनी जलनको शान्त करनेके लिये उसकी कटु आलोचना आरम्भ करते हैं और जलन उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। अपने अतिरिक्त अन्य सभी हमें भूले हुए दिखायी देते हैं, सबको सुधारनेका सारी बुराइयोंको एक साथ दूर-कर देनेका हम ठेका ले बैठते हैं। विरोधीकी एक बात भी सुननेके लिये हम तैयार नहीं, अपनी-अपनी ही हमें सुनानी रहती है। अपना मैल धोनेके लिये हमारे पास अवकाश नहीं बच रहता। धोना दूर, हम भी गंदे हो सकते हैं, यह सोचने-विचारनेतकका अवकाश नहीं; वस्तुत: मैलसे हम चिपटे होते हैं, पर स्वप्न देखने लगते हैं स्वर्गीय जीवनका। प्रभुकी ओरसे आयी हुई प्रेरणाको, उनके दिये हुए स्नेहभरे आदेशको न सुननेका, सुनकर उपेक्षा कर देनेका यह स्वाभाविक परिणाम है! तथा ऐसी भावना, ऐसी प्रवृत्ति जितनी अधिक बढ़ती है, उतनी ही मात्रामें हम उत्तरोत्तर उनकी मंगल-प्रेरणाको ग्रहण करनेमें अयोग्य बनते जाते हैं। उनकी आवाज और हमारे ज्ञानके बीचमें व्यवधान घना होता जाता है। कुत्सित भावना, उनसे कुत्सित प्रवृत्ति, फिर उनसे कुत्सित संस्कार—इनकी क्रमश: मोटी-मोटी दीवालें बनती जाती हैं और इसी क्रमसे धीरे-धीरे प्रभुकी ओरसे आयी हुई सूचना क्षीण, क्षीणतर होती हुई अन्तमें वह ऐसी बन जाती है मानो लुप्त हो गयी; है ही नहीं, थी ही नहीं। आदेश तो उस समय भी आता ही रहता है, पर हमारा मन उसे ग्रहण करनेमें सर्वथा अयोग्य हो जाता है, इसलिये वह आदेश सुन नहीं पड़ता।

कल्पना करें, हमारे सामने जीवनयात्रासम्बन्धी कोई प्रश्न उपस्थित हुआ। अब इस विषयमें कौन-सी व्यवस्था सबसे सुन्दर होगी, हमें क्या करना चाहिये, हम क्या करें—ये सभी बातें हमें प्रभुकी ओरसे प्राप्त होती हैं, उनका निश्चित आदेश इस सम्बन्धमें हममेंसे प्रत्येकको अवश्य मिलता है, पर हम सुन नहीं पाते। और तबतक सुन भी नहीं पायेंगे, जबतक अपने अंदर बार-बार पद-पदपर व्यक्त होनेवाली व्यक्तिगत अहङ्कारकी आवाजको सर्वथा कुचलकर हम प्रभुकी आवाज, प्रभुके आदेशको वास्तवमें सुननेके लिये तैयार न हो जायँगे। हमारे सामने तो जब कोई भी समस्या आती है तो हमारा अहङ्कार सामने आ जाता है, और एकके बाद एक अनेकों युक्ति बतलाने लगता है—यह करो, वह करो। हम सोचते हैं, ऐसा करके हम सफल हो जायँगे, सुखी हो जायँगे। क्षणभरके लिये भी हमारे अंदर यह विचारतक नहीं उदय होता कि यह कार्य, यह ढंग प्रभुके आदेशका अनुगामी है या नहीं। मन अगणित—असंख्य संस्कारोंसे, वासनाओंसे भरा होता है। वर्तमानका वातावरण अनुरूप संस्कारोंको प्रभावित करता रहता है। वे जाग उठते हैं तथा उन्हींके अनुरूप हम अपना कार्यक्रम स्थिर करते हैं, समस्याएँ हल करने चलते हैं। संयोगसे हमारे कुछ कार्यक्रम, कुछ सुझाव प्रभुके आदेशके अनुकूल भले हो जायँ, पर अधिकांश विपरीत होते हैं। विपरीत होनेका ही यह प्रमाण है कि आगे बढ़ते ही हम उलझन, ईर्ष्या, परनिन्दा, अहम्मन्यता, असहिष्णुता, मलिनता, अज्ञान—इनसे घिर

जाते हैं । यही आजके जगत्में हो रहा है; हम सोच-कर देखेंगे तो प्रायः सर्वत्र सभी क्षेत्रोंमें, कहीं कम तो कहीं अधिक, यही स्पष्ट देख पायेंगे !

यह ठीक है कि अहङ्कारकी आवाजको सर्वथा शान्त कर देना सहज नहीं और यह हुए बिना प्रभुके सङ्केतको भी स्पष्ट सुन लेना संभव नहीं । पर इस दिशामें हमारा प्रयत्न भी तो हो । उनकी ओरसे आयी हुई प्रेरणाको ग्रहण करनेके लिये हमारा मन उन्मुख तो हो । हम अपनी प्रत्येक चेष्टाके आरम्भमें उनकी ओर मुड़ें तो सही । हमारी इच्छा तो हो । उनके आदेशका अनुसरण करनेका निश्चय तो हमारी बुद्धिमें हो जाय । फिर तो उनकी ओरसे कुछ-न-कुछ, नहीं-नहीं पर्याप्त प्रकाश मिलेगा ही । एक बार हम अपने सञ्चित संस्कारोंके प्रवाह (स्फुरणा) को रोक दें, मनको खाली कर दें; न खाली कर सकें, बरबस स्फुरणाएँ उठती ही रहें तो फिर प्रभुसे सम्बन्ध रखनेवाले विचारोंको, भावोंको मनमें भरना आरम्भ कर दें, प्रभुके स्मरणसे चित्तको पूरित करने लग जायँ । इससे यह होगा कि अहङ्कार रहनेपर भी चित्तमें प्रभुके दिव्य संदेशका स्पन्दन आरम्भ हो जायगा । कदाचित् अपने एवं प्रभुके बीचमें स्थित आवरणकी घनताके कारण हमें उस स्पन्दनकी अनुभूति न हो अथवा इतनी अस्पष्ट हो कि हम ठीक-ठीक उसे समझ न पावें, प्रभु क्या चाहते हैं, उनकी क्या आज्ञा है, यह स्पष्ट निर्णय हम नहीं कर पायें, तो भी हमारा काम तो हो ही जायगा । वह इस रूपमें कि हमारे अनजानमें ही हमारे चित्तकी, बुद्धिकी, इन्द्रियोंकी गति उसी ओर हो जायगी जिस ओर प्रभु हमें ले जाना चाहते थे । तथा उस ओर गति होनेपर उलझन हमारे लिये नहीं रहेगी, हम क्या करें, क्या नहीं करें यह उधेड़बुन नहीं रहेगी । अपने-आप स्वाभाविक ही हम, जिस ओरसे हटना चाहिये, हट जायँगे, जिधर चलते रहना चाहिये, चलते रहेंगे । ईर्ष्याकी आग फिर हमें नहीं जलायेगी, 'हाय रे, हमने इतना ही कमाया, उसने इतने कमा लिये, हमारी पूछ नहीं, उसको सभी आदर देते हैं, हम पीछे रह गये, वह आगे बढ़ गया, वह गिर क्यों नहीं पड़ता'—ये कलुषित भावनाएँ हमें छू नहीं सकेंगी । दूसरेके दोषोंकी आलोचना कर अपना मन गंदा करनेकी प्रवृत्ति हममें नहीं होगी । 'हम ठीक हैं अन्य सभी भ्रान्त हैं'—यह गर्व हमारे अंदर नहीं आयेगा । सबको निर्मल कर देनेका बीड़ा हम कदापि नहीं उठायेंगे; अपने विपक्षीकी बातका भी हम यथायोग्य आदर करेंगे, अपने अंदरका छोटे-से-छोटा दोष भी सामने आने लगेगा । उसे धोनेमें ही हम इतना व्यस्त हो जायँगे कि दूसरोंमें कहीं मैल है भी, यह स्मृति लुप्त हो जायगी । अपनी स्थितिके सम्बन्धमें हमें भ्रान्ति नहीं होगी । वास्तवमें हम जहाँ हैं, उसका ज्ञान हमें बना रहेगा । भूलकर भी हम हवाई किलेमें राजा बनकर सैर करने न जायँगे; मलिनतासे भरे रहनेपर भी देवता, महात्मा होनेका भ्रम हमारे अंदर कभी नहीं आयेगा । प्रत्येक चेष्टाके आरम्भमें—चाहे वह कितनी भी नगण्य-सी चेष्टा क्यों न हो—प्रभुकी प्रेरणा, इच्छा, आदेशके साँचेमें हमारी बुद्धि मन इन्द्रियोंके ढल जानेपर ये बातें हममें निश्चितरूपसे होंगी ही । ये नहीं हों, इनके विपरीत हो तो समझ लेना चाहिये कि हमारी चेष्टा प्रभुकी प्रेरणासे परिचालित नहीं है; अपितु हम अहङ्कारकी आवाजसे नियन्त्रित होकर पीछेकी ओर, नीचे गिरते जा रहे हैं । जितनी शीघ्रतासे हम चेतेंगे, उतना ही अधिक हमारा एवं जगत्का लाभ होगा । जितनी अधिक देर लगेगी उतनी ही अधिक मात्रामें हमारा एवं जगत्का ध्वंसका मार्ग प्रशस्त होगा ।

किंतु अभी हमारी दशा तो यह है—

मारग अगम, संग नहिं संबल, नाउँ गाउँ कर भूला रे ।

अत्यन्त कठिन मार्गसे हम चल रहे हैं, पासमें पथके लिये पाथेय (राहखर्च) भी नहीं है और सबसे बड़े मजेकी बात तो यह है कि हमें जिस गाँवमें जाना है, उसका नामतक हम भूल गये हैं । मार्ग कठिन इसलिये कि हमारे चारों ओर विषयोंके झाड़-झंखाड़ पर्वत, वन भरे पड़े हैं, क्षण-क्षणमें हम रास्ता भूल रहे हैं । प्रभुकी स्मृतिरूपी पाथेय भी नहीं, जो हमारे श्रान्त मन, इन्द्रिय, प्राणोंमें पुनः-पुनः नवशक्तिका सञ्चार करता रहे । और सबसे अधिक चिन्ताकी बात तो यह है कि हम मानव-जीवनके उद्देश्यको ही भूल गये हैं । प्रभुकी प्राप्ति ही हमारे जीवनका एकमात्र उद्देश्य है, वहीं हमें जाना है, हमें इस बातकी ही विस्मृति हो गयी है । ऐसी अवस्थामें प्रत्येक कार्यका आरम्भ करते समय प्रभुका संकेत ग्रहण करनेकी वृत्ति हमारे अंदर जाग उठे, हम उसके लिये प्रयास करें, यह सम्भावना कहाँ ? हाँ, किसी अनिर्वचनीय सौभाग्यवश यदि दुःखोंसे छूटनेके लिये भी हम प्रभुको पुकार सकें, सच्चे सरल हृदयसे अपनी यह विनय सुना सकें,—'नाथ ! अब तुम्हीं आगे ले चलो'—

तुलसिदास भव-त्रास हरहु अब, होहु राम अनुकूला रे ।

—ऐसी सच्ची भावना दुःखके समय ही हमारे अंदर जाग उठे तो भी जीवनके अन्ततक हम कृतार्थ हो जायँ । इसमें तनिक भी संदेहके लिये स्थान नहीं । दुःखमें की हुई प्रत्येक पुकार हमारे एवं प्रभुके बीचमें स्थित परदेको क्रमशः फाड़ती ही जायगी । प्रभुके साथ किया हुआ क्षणभरका सम्बन्ध भी हमारे मन, प्राण एवं इन्द्रियोंमें अपनी छाप—स्थायी प्रभाव छोड़ जायगा । किसी दिन प्रबल दुःखको निमित्त बनाकर प्रभुको पुकारते समय कोई ऐसा भरपूर धक्का लगेगा कि आवरण छिन्न-भिन्न हो जायगा । उसीके साथ हमारे अहङ्कारकी आवाज भी शान्त हो जायगी, और तब वास्तवमें हम प्रभुका आदेश अत्यन्त स्पष्टरूपसे सुननेमें समर्थ हो सकेंगे । उस समय हमारा जीवन कुछ और ही होगा ।

परवशता

(रचयिता—सम्मान्य पं० श्रीरामनरेशजी त्रिपाठी)

कोई ऐसा पाप नहीं है,
जो करने से बचा हुआ हो,
फिर भी हम करते रहते हैं ।
कोई ऐसा झूठ नहीं है,
जो कहने से शेष रहा हो,
फिर भी हम कहते रहते हैं ।
कोई ऐसी गाँठ नहीं है,
जो अबतक बाँधी न गई हो,
फिर भी हम बाँधा करते हैं ।

कोई निंदा रह न गई है,
जो मुँह मुँह से बँट न चुकी हो,
फिर भी हम बाँटा करते हैं ।
कोई ऐसा कष्ट नहीं है,
जो अबतक भोगा न गया हो,
फिर भी हम भोगा करते हैं ।
कोई ऐसी मौत नहीं है,
जो जीवन में बदल चुकी हो,
फिर भी हम मरते मरते हैं ।

श्रीकृष्णलीलाका चिन्तन

(३१)

स्वर्गीय देवोंकी श्रवणशक्ति लुप्त हो गयी थी। नागलोकके प्राणी भी बधिर प्राय: हो गये थे। तथा दिङ्नाग प्रकम्पित हो रहे थे। क्षणभरके लिये समस्त ब्रह्माण्डमें उसके अतिरिक्त अन्य कोई शब्द अवशिष्ट नहीं रहा था। ऐसी एक साथ शतसहस्र प्रलयङ्कर वज्रपातकी-सी वह प्रचण्ड ध्वनि अर्जुनवृक्षोंके धराशायी होनेपर हुई थी। किंतु अघटनघटनापटीयसी योगमायाने उस ध्वनिको व्रजपुरके धरातलपर तो तबतक प्रकट नहीं होने दिया, जबतक कुबेरतनय नलकूबर-मणिग्रीव श्रीकृष्णचन्द्र-का स्तवन कर चले नहीं गये। स्तुतिके समय कितने क्षण, कितने दिन, कितने मास, कितने वर्ष, कितने युग बीते थे, यह कल्पना प्राकृत मनमें समा नहीं सकती पर जितना भी समय लगा हो, उतने कालतक तो व्रजपुर निश्चितरूपसे नीरव था। अवश्य ही गृहकार्यमें संलग्न गोपसुन्दरियोंकी एवं व्रजराजमहिषीकी कङ्कण-झङ्कृति, नूपुर-रव रह-रहकर उस नीरवताको भंग कर देते थे। पक्षियोंका कलरव, भ्रमरका गुञ्जन तो इनमें स्थायी स्वरकी भाँति समा गया था। पर ज्यों ही कुबेरपुत्र दृष्टिपथसे ओझल हुए कि बस, समस्त व्रजपुर भी उस प्रचण्ड ध्वनिसे काँप उठा। गोवर्द्धनपरिसर, परिसरकी समलङ्कृत यज्ञभूमि ऐसी हिल गयी मानो भूकम्प हुआ हो। गोपोंके, गोपरामाओंके अङ्ग ऐसे नाचने लगे, मानो सहसा सबके अङ्गोंमें कम्पवायुका प्रकोप हो गया हो—

तरु टूटत चरके झरमर झरके फिरि भरभरके भूमि परे।
धर थलथल धरके लोग नगरके थरथर थरके चौंकि परे॥
तहँ उर सब नरके इमि खरखरके जनु घनतरके झरप तहाँ।
जे गिरत न सरके ग्रह सब बरके को कहि हरिके गुननि महाँ॥

व्रजेश्वरीकी भी यही दशा है। साथ ही उन्हें ऊखलमें बँधे अपने नीलमणिकी स्मृति हो आयी है। श्रीकृष्णचन्द्रका उन्हें विस्मरण हो गया हो, यह बात नहीं। केवल अभी कुछ देर पहले लीलाशक्तिने उनके एवं नीलमणिके बीचमें अपना आँचल फैला रक्खा था, उसकी ओटमें मैया अपने जीवनधनको देखकर भी अच्छी तरह नहीं देख पा रही थीं। पर अब अञ्चल हट चुका था, उसकी आवश्यकता नहीं रही थी। इसीलिये मैयाको मानो वहींसे, कक्षकी मणिभित्तिका व्यवधान रहनेपर भी नीलमणिके स्पष्ट दर्शन होने लगे हैं। मैया उस समय भी अपने नीलमणिको खिलानेके लिये दधिमन्थन ही कर रही थीं, पर अब अवकाश कहाँ! तृणावर्तके समय भी ऐसी-सी ही ध्वनि हुई थी यह संस्कार जागनेमें देर थोड़े लगी। मैया मन्थनदण्डको फेंककर विद्युद्गतिसे वहाँ उस स्थानपर जा पहुँचती हैं जहाँ वे अपने नीलमणिको ऊखलसे बाँध गयी थीं। वहाँ तो कोई है ही नहीं। हाँ, उससे कुछ ही दूरपर वे गोपशिशु कोलाहल कर रहे हैं, और वे प्रकाण्ड यमलार्जुनवृक्ष धराशायी पड़े हैं—यह मैयाको दीख गया। 'आह! मेरा नीलमणि कहाँ है?'—मैया इतना ही सोच पायीं। फिर तो अङ्गोंमें रक्तसञ्चार स्थगित हो गया। उस समय उनके प्राण कहाँ थे? धमनियोंमें रक्तका प्रवाह न रहनेपर भी वे निस्पन्द प्रस्तर प्रतिमाकी भाँति ज्यों-की-त्यों खड़ी कैसे रहीं?—इनका समाधान तो सम्भव नहीं, पर मैयाकी स्थिति इस समय ठीक ऐसी ही है।

क्षणभर भी न लगा, व्रजपुरमें जितनी गोपसुन्दरियाँ थीं, सभी नन्दभवनमें आ पहुँचीं। उनकी तो बात क्या, वे निकट थीं, सुदूर गिरिराजके प्रान्तमें व्रजेश्वर थे, व्रजपुरका समस्त गोपसमुदाय था, वे सब-के-सब आ पहुँचे। उन सबको स्मृति है केवल एकमात्र श्रीकृष्ण-

चन्द्रकी । वृक्षपातके उस महागर्जनको सुनकर सब इतने भयभीत हो गये हैं, श्रीकृष्णचन्द्रकी अनिष्टाशङ्कासे उनका मन इतना अधिक भर गया है कि नन्दनन्दनके अतिरिक्त अन्य किसी भी वृत्तिके लिये वहाँ स्थान नहीं है । इस अवस्थामें वे आ पहुँचे हैं—

गोपा नन्दादयः श्रुत्वा द्रुमयोः पततो रवम् ।
तत्राजग्मुः कुरुश्रेष्ठ निर्घातभयशङ्किताः ॥
(श्रीमद्भा० १० । ११ । १)

श्रीकृष्णचन्द्रमें तन्मय हो जानेपर यहाँ भी, इस प्रपञ्चमें भी देश-कालका व्यवधान नहीं रहता । फिर यह तो स्वयं भगवान् व्रजेन्द्रनन्दनकी चिदानन्दमयी लीला, उनके नित्य चिदानन्दमय परिकर, उनकी चिन्मयी व्रजभूमिसे सम्बद्ध घटना है । यहाँ व्रजेश्वर व्रजगोप यदि गिरिराजकी सीमा, विस्तृत वनप्रदेश, व्रजपुरकी उत्तुङ्ग अट्टालिकाएँ लाँघकर क्षणभरमें वहाँ नन्दप्राङ्गणमें आ पहुँचे, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? यहाँ तो लीलाके लिये ही चिन्मय देश-काल हैं । लीलामें आवश्यकतानुसार उनका विस्तार-सङ्कोच होता है । इस समय दोनोंकी आवश्यकता है । अतः नन्दव्रज एवं गिरिराजका मध्यवर्ती विशाल भूखण्ड तो सङ्कुचित हो गया । व्रजेश्वर, गोप ऐसे आ पहुँचे मानो द्वारपर ही थे, पर वह प्राङ्गण विस्तृत हो गया, इतने स्थानमें ही समस्त पुरवासी समा गये । अस्तु, आते ही सबकी दृष्टिमें भग्न यमलार्जुनवृक्ष तो आ गये, महागर्जन इन्हींका था, यह भी ध्यानमें आ गया, पर इतने प्रकाण्ड वृक्ष मूलसे उखड़कर गिर कैसे गये, इनके धराशायी होनेमें हेतु क्या है, इसे वे सर्वथा नहीं समझ पाये । सहसा ऐसी घटना घटित हो जानेका कोई कारण वे न ढूँढ़ सके । कारण न पाकर उनका चित्त भ्रान्त होने लगा—

भूम्यां निपतितौ तत्र ददृशुर्यमलार्जुनौ ।
बभ्रमुस्तदविज्ञाय लक्ष्यं पतनकारणम् ॥
(श्रीमद्भा० १० । ११ । २)

अबतक उन्हें श्रीकृष्णचन्द्रके दर्शन नहीं हुए हैं । अर्जुनतरुकी शाखाश्रेणी, पल्लवजालमें वे छिपे हैं । अवश्य ही गोपशिशुओंकी प्रसन्न, कौतुकपूर्ण मुद्रा देखकर उन्हें यह आश्वासन तो मिल जाता है कि नन्द-नन्दन सकुशल हैं । अर्जुनतरुको घेरकर वे आश्चर्यकी मुद्रामें खड़े हो जाते हैं । इतनेमें व्रजेश्वरको एक गोपशिशु अङ्गुलीसे वृक्षमूलकी ओर देखनेका सङ्केत करता है । व्रजेश किञ्चित् उस ओर आगे बढ़कर देखते हैं और देखकर दंग रह जाते हैं । उन्हें कल्पना नहीं थी कि अपने पुत्रकी ऐसी अद्भुत अनुपम झाँकी देखनेको मिलेगी । कटिप्रदेशमें पट्टडोरी बँधी है, डोरी ऊखलसे सन्नद्ध है तथा अपने जानु एवं करतलको पृथ्वीपर टेके वे ऊखलको खींच रहे हैं तथा नेत्रोंमें भय भरा है—यह दृश्य व्रजेश्वरके समक्ष आते ही न जाने कैसे सभी गोप-गोपसुन्दरियाँ भी एक साथ यह देख लेती हैं । वास्तवमें तरुके मूलोत्पाटनका हेतु उनके सामने आ जाता है, फिर भी वे समझ नहीं पाते । किस महाबल-वान्का यह कार्य है, किस हेतुसे उसने इन्हें उखाड़ फेंका—इसका कुछ भी निर्णय नहीं कर पा रहे हैं । क्षण-क्षणमें उनका आश्चर्य बढ़ता जा रहा है । अधिकांश-का मन किसी महाबली दैत्यके उत्पातकी कल्पना कर व्याकुल होने लगता है—

उलूखलं विकर्षन्तं दाम्ना बद्धं च बालकम् ।
कस्येदं कुत आश्चर्यमुत्पात इति कातराः ॥
(श्रीमद्भा० १० । ११ । ३)

जो कुछ अधिक धैर्यशाली हैं, वे दैत्यकृत किस मायाका अनुसन्धान करने चलते हैं । पर वैसा कोई भी चिह्न उन्हें नहीं प्राप्त होता । दैत्य नहीं आया—यह धारणा तो पुष्ट होती है; किंतु—

विना वातं विना वर्षं विद्युत्प्रपतनं विना ।
विना हस्तिकृतं दोषं केनेमौ पातितौ द्रुमौ ॥
(श्रीगोपालचम्पूः)

'झंझावात नहीं आया, वर्षा नहीं आयी, आकस्मिक वज्रपात भी नहीं हुआ है, यहाँ कोई मत्त गजेन्द्र भी नहीं आया कि जिसकी स्वच्छन्द चेष्टासे यह अनुचित घटना घटी हो, फिर इन युग्म अर्जुन वृक्षोंको गिराया तो किसने गिराया ?'

यह रहस्य वे न पा सके उनकी विस्मयभरी आँखें गोपशिशुओंकी ओर केन्द्रित हो गयीं।

किंतु व्रजेश्वरका ध्यान अब इस ओर नहीं है। उनका अणु-अणु अपने इष्टदेव नारायणके प्रति कृतज्ञतासे पूर्ण हो रहा है। ऊखलमें बँधे पुत्रके अङ्गोंको अच्छी तरह टटोलकर उन्होंने देख लिया, अपना जी भर लिया कि कहीं कोई क्षत नहीं लगा और फिर तो उनका रोम-रोम पुकार रहा है—'नारायण ! देव ! प्रभो ! अशरणशरण ! दीनबन्धो ! नाथ ! तुम्हारी जय हो ! इस अयाचित अनुकम्पाकी जय हो !' व्रजेशका यह जय-जयकार अन्तस्तलमें ही सीमित नहीं रहा, वे उच्चस्वरसे श्रीनारायणदेवकी जय-घोषणा करने लगे।

इसी बीचमें दो शिशुओंने उनकी चादर खींचकर उनका ध्यान अपनी ओर खींचते हुए कहना आरम्भ किया—'बाबा ! सुनो ! हम बताते हैं, कन्हैयाने ही तो वृक्ष उखाड़े हैं, देखो, यह ऊखल खींचते हुए पहले भीतर चला गया, फिर इसने उसको तिरछा कर दिया और तब डोरी खींचने लगा। बस, वृक्ष टूट गये।' यह बात समाप्त होते-न-होते नन्दनपुत्र तोकने कहना आरम्भ किया—'इतना ही नहीं बाबा! एक और खेल हुआ। इन दोनों वृक्षोंमेंसे दो पुरुष निकले, आगकी तरह जल रहे थे, वे बार-बार कन्हैया भैयाके चरणोंमें गिरते थे और बाबा ! वे दोनों बड़ी देरतक गीत गा रहे थे; रो भी रहे थे, और फिर कन्हैया भैयाने भी अपने हाथ नचा-नचाकर उनसे कुछ बातें कहीं और वे फिर चले गये।' सुबल भी बोल उठा—'बाबा ! हम सबोंने देखा है इन्हीं वृक्षोंमेंसे वे दोनों निकले, कन्हैयाके साथ बातें कीं और फिर उत्तरकी ओर चले गये।' इसके बाद उपनन्दसे, अन्यान्य वयस्क गोपोंसे, अपने पिता-पितृव्यसे सभी शिशु इसी घटनाको परम उल्लासमें भरकर बताने लगे—

बाला ऊचुरनेनेति तिर्यग्गतमुलूखलम्।
विकर्षता मध्यगेन पुरुषावप्यचक्ष्महि॥

(श्रीमद्भा० १०।११।४)

यह कहते समय उन गोपशिशुओंके मुखपर तो भय अथवा आश्चर्यकी छाया भी नहीं है। वे परम सत्य तथ्य बतला रहे हैं, इस दृढ़ताके स्पष्ट चिह्न उनके मुखमण्डलपर अवश्य अङ्कित हैं। अतिशय उत्कण्ठासे सबने इनकी बात सुनी भी; किंतु किसी भी गोपको उनकी बातपर विश्वास जो नहीं होता। सुनते ही सभी एक ही निर्णय देते हैं—'यह तो कदापि सम्भव नहीं, छोटे-से नन्दनन्दनके द्वारा यह कार्य हो, इस शिशुके बलप्रयोगसे ये वृक्ष उत्पाटित हुए हों, यह भी कहीं विश्वासकी वस्तु है ? हो नहीं सकता, श्रीकृष्णके लिये यह असम्भव है।' केवल उन याज्ञिक ब्राह्मणोंको—जो गोपोंके साथ ही गिरिराजकी ओरसे दौड़कर आये थे—संदेह अवश्य होने लगा कि सम्भवतः गोपशिशुओंकी बात सत्य ही निकले। उनके ऐश्वर्यप्रवण चित्तमें स्वयं भगवान् व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रके अनन्त ऐश्वर्यकी चर्चाको टिकनेके लिये स्थान है, उससे पूर्व पूतना, शकट, तृणावर्त आदिका निधन, शिशु श्रीकृष्णके द्वारा अनेकों अघटनघटन होते ये भूदेव देख चुके हैं। गोपोंने, गोपसुन्दरियोंने भी देखे तो अवश्य हैं, पर उनके राग-रस-मसृण चित्तको श्रीकृष्णचन्द्रका ऐश्वर्य स्पर्श कर ले यह तो कभी सम्भव ही नहीं है। इसीलिये गोपोंने तो इसे तनिक भी स्वीकार नहीं किया, पर ब्राह्मण सन्दिग्धचित्त हो गये—

न ते तदुक्तं जगृहुर्न घटेतेति तस्य तत् ।
बालस्योत्पाटनं तर्वोः केचित् सन्दिग्धचेतसः ॥
(श्रीमद्भा० १० । ११ । ५)

कुछ भी कारण हो व्रजेन्द्रके लिये अब यह सम्भव नहीं कि वे हेतु विचारनेमें समय लगा सकें। श्रीकृष्णचन्द्र-का परम सुन्दर पर भयमिश्रित मुखारविन्द उन्हें प्रबल वेगसे खींच रहा है—

तिन बिच हरि बैठे छबि-ऐना । डरपे मृग-सिसुके-से नैना ॥

वे उसी ओर झुक पड़ते हैं। डोरीमें बँधे ऊखलको खींचते हुए अपने पुत्रको अत्यन्त निकटसे निहारकर व्रजेश्वरका मन एक बार तो विषादसे भर जाता है—'आह ! कहाँ ये सुकोमल अङ्ग और कहाँ यह डोरी, यह ऊखलका भार ! व्रजेश्वरी ! अविवेकसे तुम तो अंधी हो गयी।' पुत्रपर इस प्रकारका शासन किसने किया है, यह किसीसे पूछनेकी आवश्यकता व्रजेश्वरको नहीं है। उनके नेत्र छल-छल करने लगते हैं; किंतु अभी अवसर दूसरा है, व्रजेश्वर अपने-आपको संवरण कर लेते हैं, वेदना छिपाकर हँसने लग जाते हैं तथा अविलम्ब बायें हाथके सहारे श्रीकृष्णचन्द्रको वक्षःस्थलसे सटाकर दाहिने हाथके द्वारा बन्धन खोल देते हैं—

उलूखलं विकर्षन्तं दाम्ना बद्धं स्वमात्मजम् ।
विलोक्य नन्दः प्रहसद्वदनो विमुमोच ह ॥
(श्रीमद्भा० १० । ११ । ६)

श्रीकृष्णचन्द्रके नेत्रोंसे अनर्गल अश्रुप्रवाह बह रहा है। बन्धनमोचनके अनन्तर नहीं, तभीसे जब कि व्रजेश्वर बन्धन खोलनेके उद्देश्यसे उनकी ओर चले थे। व्रजेश्वर उन्हें गोदमें उठाकर उनके अश्रुसिक्त मुखपर घनघन चुम्बन अङ्कित करने लगते हैं। साथ ही उनका दुःखभार कम करनेके उद्देश्यसे सब कुछ जाननेपर भी अनजान बनकर सान्त्वनाके स्वरमें उनसे पूछते हैं—

पुत्र कुत्रत्यः स खलु खलबुद्धिर्येन चोलूखले निर्बन्धजनितबन्धस्त्वमसीति ।

'बेटा ! वह दुष्टबुद्धि प्राणी कहाँ रहता है, जिसने इतने आग्रहसे तुम्हें बाँधा ?'

पिताके इस लाड़को पाकर श्रीकृष्णचन्द्र खिल उठते हैं। धीरेसे उनके कानमें कह देते हैं—'बाबा ! यह तो मैयाका ही काम है (तात ! मातैवेति)' किंतु बाबा युक्तिसे इस प्रसङ्गको बदल देते हैं। व्रजेश्वरको यह अनुमान है कि व्रजरानीके हृदयमें कितनी वेदना होगी। जिस क्षण व्रजेश्वरीकी प्राणशून्य-सी हुई दृष्टिके सामने महाराज नन्दने श्रीकृष्णचन्द्रको अपने क्रोडमें धारण किया, उसी समय यशोदारानीमें अपने-आप चेतनाका सञ्चार तो हो गया था; किंतु तुरंत दुःख एवं लज्जाके भारसे वे इतनी अधिक दब गयी थीं कि निकट जाकर पुत्रका मुख देखना तो दूर, सिर उठाकर उस ओर ताकनेकी क्षमता भी उनमें नहीं रही। विक्षिप्त-सी वे जहाँ थीं, वहीं बैठ गयीं। व्रजेश्वरने एक बार दृष्टि घुमाकर यशोदारानीकी ओर देख लिया था, वे सब कुछ समझ गये थे। उनके समीप जाना, पुत्रको सान्त्वना देनेके लिये, अपना दुःखभार हल्का करनेके लिये उनकी भर्त्सना करना—यह तो व्रजेश्वरीके वात्सल्यपूरित चित्तको छन-छनकर बींध देना है। व्रजेश्वर-जैसे परम गम्भीर, नारायणचरणकिङ्करके स्वभावको क्षोभ-प्रदर्शनका यह कठोररूप छू ले, यह तो असम्भव है। इसीलिये उन्होंने इस प्रसङ्गको टाल दिया।

अपने पुत्रको गोदमें लिये व्रजेश श्रीयमुनातटपर जा पहुँचे। स्वयं स्नान कर श्रीकृष्णचन्द्रको स्नान कराया, ब्राह्मणोंके द्वारा स्वस्तिवाचन आदि करवाये। फिर उन्हें अमित स्वर्णभार अर्पितकर अगणित गोदान करवाया। अन्तमें सब विप्र एवं गुरुजनोंके आशीर्वादसे पुत्रको नहलाकर घर लौटे। घर आकर पूर्वाह्णभोजनकी व्यवस्थामें लगे।

आज परिवेषणसम्बन्धी समस्त कार्य रोहिणीजीने

किये । व्रजेश्वरी तो एक कक्षमें अकेली बैठी आँसू ढाल रही हैं । सन्ध्या होनेको आयी । व्रजेश्वर श्रीकृष्णचन्द्र एवं श्रीरामको साथ लिये गोष्ठमें चले गये । अबतक व्रजरानीने अन्नका कण क्या, जलकी एक बूँद भी ग्रहण नहीं की है । गोष्ठसे लौटनेपर यह सूचना व्रजेश्वरको मिलती है । वे श्रीकृष्णचन्द्रसे पूछते हैं—

तात ! स्वमातरं यास्यसि ?

'मेरे लाल ! क्या जननीके निकट जाओगे ?'

इसके उत्तरमें श्रीकृष्णचन्द्र रूठे स्वरमें बोले—

नहि नहि; किन्तु त्वामेव समया समयान् गमयिष्यामि ।

'नहीं, अब तो, बाबा ! मैं तुम्हारे साथ ही रहकर समय बिताऊँगा ।'

कुछ वृद्धा गोपियाँ हँसकर बोलीं—

स्तनं कस्य पास्यसि ?

'किसके स्तनका दूध पीओगे ?'

श्रीकृष्णचन्द्रने इस बार दोनों कपोलोंको फुलाकर कहा—

सितासम्भविष्णु धारोष्णं पयः पास्यामि ।

'मिश्री मिला हुआ धारोष्ण गोदुग्ध पीऊँगा ।'

गोपियाँ चिढ़ाती-सी बोलीं—

केन क्रीडिष्यसि ?

'खेलोगे किसके साथ ?'

श्रीकृष्णचन्द्रने व्रजेशकी ग्रीवामें अपनी नन्हीं भुजाएँ डाल दीं और बोले—

तातेनैव समं तथा भ्रातरमपि सङ्गं गमयिष्यामि ।

'बाबाके साथ ही । और—और दाऊ भैयाको भी साथ ले लूँगा ।'

व्रजेशके होठोंपर मुसकान छा गयी । वे धीरेसे बोले—

भ्रातुर्मातरं कथं नानुगच्छसि ?

मेरे लाल ! दाऊ भैयाकी जननी रोहिणीजीके पास जानेमें क्या हानि है ?

फिर तो श्रीकृष्णचन्द्रके नेत्रोंमें रोष भर आता है, अस्वीकारकी मुद्रामें अपने मस्तकको सञ्चालित करते हुए वे कह उठते हैं—

मां विहायेयमपीयायेति । (श्रीगोपालचम्पूः)

'ऊँ हूँ । यह भी मुझे छोड़कर चली गयी थी !'

श्रीकृष्णचन्द्रकी उक्ति सुनकर रोहिणी मैयाके नेत्रोंमें जल भर आता है । अञ्चलसे अश्रुमार्जन करती हुई वे धीरेसे बोलीं—'मेरे लाल ! इतना कठोर क्यों हो गया ! देख ! तेरी माताको कितना दुःख हो रहा है !' किंतु श्रीकृष्णचन्द्रने तो मानो इसे सुना ही नहीं, इस प्रकारकी मुद्रामें वे बाबाका मुख देखने लग जाते हैं । इस समय व्रजेश्वरके नेत्र छल-छल करने लगे हैं —

पुत्र ! कथं कठोरायसे ? माता तव दुःखायते । कृष्णस्तदेतदशृण्वन्निव सास्रं पितृमुखमीक्षते स्म ॥

यशोदारानीकी चर्चा करते हुए कुछ क्षण व्रजेश्वरने और लाड़ लड़ाया । श्रीकृष्णचन्द्र उतने क्षणोंमें ही अपने बन्धन-दुःखको, जननीकृत अपमानको भूलने लगे । इतना ही नहीं, उनके नेत्र सजल हो गये । दूसरे ही क्षण मैयाकी अनुपस्थिति असह्य हो गयी । न जाने कितनी बातें एक साथ उनके मनमें आ जाती हैं । श्रीरोहिणी समीप ही खड़ी हैं, श्रीकृष्णचन्द्र शङ्कित होकर उनकी गोदमें चढ़ जाते हैं, 'री छोटी मैया ! मेरी मैया कहाँ है ? उसके पास ले चलो ।' यही बार-बार व्याकुल कण्ठसे पुकारने लगते हैं—

कुत्र मे माता तत्र गम्यतामिति सशङ्कं रोहिण्यङ्कं गतवान् ।

श्रीरोहिणी तुरंत यशोदारानीके पास चली आती हैं। नीलमणि, नीलमणिकी जननीके पास आ गये। पर जननीने तब जाना जब नीलमणिने उनकी ग्रीवाको अपनी भुजाओंमें वेष्टित कर लिया, उनके कण्ठहार बन गये।

जननीका चिबुक श्रीकृष्णचन्द्रके मस्तकका स्पर्श कर रहा है। जननीके अश्रुपूरित कण्ठसे अपने वत्सको लालन करती हुई गौके 'घों-घों'-जैसी ध्वनि हो रही है। नेत्रोंसे जलकी झड़ी लग रही है, उनका विगलित हृदय ही अश्रु बनकर बाहरकी ओर बह चला है। आह! व्रजेश्वरीका यह प्रेमिल भाव सबको रुला देता है, जितनी गोपसुन्दरियाँ खड़ी हैं, सबके नेत्र बरसने लगते हैं—

वत्समूर्ध्नि चिबुकं दधती सा
धेनुवद्गलितघर्घरशब्दा।
रोदनप्रथनया द्रवदात्मा-
रोदयत् परिकरानपि सर्वान्॥

आकाशमें नक्षत्रपङ्क्ति आ विराजी है। नीलमणिके व्यारूका समय हो चुका है। मैया थाल सजाने उठ पड़ती हैं। क्षणोंमें वे कञ्चन थालको विविध पक्वान्नसे पूर्णकर अपने नीलमणिके सामने रख देती हैं, नीलमणि भोजन आरम्भ करते हैं—

आरोगत हैं श्रीगोपाल।
षटरस सौंज बनाइ जसोदा, रचिकै कंचन-थाल॥
करति बयारि निहारति हरि-मुख, चंचल नैन बिसाल।
जो भावे सौ माँगि लेहु तुम, माधुरि मधुर रसाल॥
जे दरसन सनकादिक दुर्लभ, ते देखतिं ब्रज-बाल।
सूरदास प्रभु कहति जसोदा, चिरजीवौ नँद-लाल॥

ईशोपनिषद्पर व्यावहारिक दृष्टि

(लेखक—श्रीरामलालजी पहाड़ा)

यह उपनिषद् वेदका अङ्ग होनेसे बहुत ही गम्भीर विषयका प्रतिपादन करता है। आजकल जहाँ देखो, वहीं—'कष्ट कलेवर कलिमल भाँड़े। चलत कुपंथ वेद मग छाँड़े॥'—ही हैं। ऐसी स्थितिमें 'वेद मग' के पास पहुँचानेके लिये इसी 'उपनिषद्' का ज्ञान साधारण भाषामें रखना समाजके लिये हितकर होगा। इसपर अबतक अनेक भाष्य हो चुके हैं। बहुतोंने निवृत्तिमार्गका अनुसरण करके ही इसका अर्थ किया है। इसमें द्वन्द्व शब्दोंका उपयोग देखकर मनको एक उलझन हो जाती है। जैसे त्याग और भोग, विद्या और अविद्या, मृत्यु और अमरता, सम्भूति और विनाश आदि।

जगत्में काम करते हुए सौ वर्षोंतक जीनेकी इच्छा प्रकट की है और यह कहा गया है कि 'यह ज्ञान हमने धीर पुरुषोंसे पाया है।' इसका अभिप्राय यही हो सकता है कि 'कलिमल भाँड़े' को 'वेद मग' पर लगानेके लिये 'धीर' (धिया संसारे रमन्ते) पुरुषोंका कर्तव्य है कि सामान्य भाषामें तत्त्वको स्पष्ट रीतिसे समझावें। अस्तु,

१—ब्रह्मकी स्फुरणासे जगत् है। वह सर्वोपरि है। इस भावनासे काम करनेमें मनुष्य अमरत्व प्राप्त करता है। भावनाहीन मनुष्य ही दुःखोंमें पड़ता है।

२—ब्रह्म नित्य सर्वगत होनेसे जगत्की बहुविध गतिमें रहते हुए भी स्थाणु, अचल और सनातन है। अनेकत्वमें 'एकत्वका भाव' धारण करनेसे पूर्ण जीवनकी प्राप्ति और दुःखोंकी समाप्ति है।

३—अणुमात्रमें ब्रह्म समाया है। इस भावनासे कर्म करते हुए विद्या (विद्-विद्यते) और अविद्या अर्थात् व्यक्त और अव्यक्त दशाओंका सामञ्जस्य कर जगत्में ब्रह्म-स्थितिका अनुभव प्राप्त करना है।

४—परम सत्य तथा अमरत्वसे सम्बन्ध रखनेवाले सूर्य और अग्निको समझकर उनकी आराधना करना परम कर्तव्य है।

इन चार भावनाओंको मुख्य मानकर उपनिषद्का मनन करना ठीक है।

ईशा वास्यमिदः सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥

(वस्—रहना और वश् अधिकार करना) चलायमान जगत्में जो कुछ (जगत्—गतिशील) भी है, सबमें ईश्वरका निवास है या सबपर अधिकार है । इसलिये यदृच्छया प्राप्त वस्तुसे जीवननिर्वाह करो, पर किसीके या ब्रह्मके धनको भ्रष्ट मत करो । अनुचित ढंगसे पानेकी लालसा मत रक्खो ।

भाव यह है कि संसारमें प्रकृतिके पदार्थोंपर किसी-न-किसीका अधिकार है। इसलिये अपना अधिकार छोड़कर अपनी रकम देकर अन्यकी वस्तु लेकर उपभोग करो; परंतु किसीके धनकी लालसा न रक्खो । प्रकृतिके दिये हुए धनका सभी परस्पर भाव रखते हुए उपभोग करो और अनुचित ढंगसे भ्रष्ट मत करो । (waste not want not) धन-को भ्रष्ट मत करो और तरसो मत । भ्रममें पड़े हुए व्यापारी स्वार्थवश प्रकृतिके दिये हुए पदार्थोंको संगृहीत कर सड़ा डालते हैं, पर साधारण मूल्य लेकर जनतामें यथासमय वितरण नहीं करते । जनता तरस-तरसकर भूखों मर जाती है । इस स्वार्थसे ही विषमता बढ़ती जाती है और संसारमें अंधेर, दम्भ, सन्ताप, मत्सर आदि बढ़ते जाते हैं ।

कूटार्थ—

इस चलायमान जगत्में सब जगह ईश्वरका निवास है, अतः तुम उसको भूलकर उपभोग मत करो; किंतु ब्रह्मके धनकी (आनन्दकी) ही लालसा रक्खो ।

दूरान्वयार्थ—

इस जगत्में यह सब ईश्वराधीन है, अतः अस्थिर धनका त्याग कर ब्रह्मधन (शाश्वत सुख) का उपभोग करो; किंतु उसे भ्रष्ट मत करो ।

व्यंग्यार्थ—

जगत्में जो कुछ है, सबका आधार ईश्वर ही है, इसलिये उसके द्वारा दिये हुए धनसे निर्वाह करो; किंतु अन्य किसीके धनपर डाह मत रक्खो—यथा यदृच्छासे वा स्वपरिश्रम-प्राप्त—'रूखा-सूखा खायके ठंडा पानी पी । देख परायी चोपरी (चुपड़ी रोटी) मत ललचावे जी ॥' शरीरगत दैवी शक्तिको आलस्यमें मत बाँधो, पर उसको मुक्तकर (शरीरसे यथोचित परिश्रम कर) परमात्माके धनका (प्रकृतिजनित पदार्थोंका) यथायोग्य उपभोग करते रहो और सौ बर्षोंकी आयु पाओ, परंतु अनुचित संग्रह कर नाश मत करो । स्वयं उपभोग करो और समयपर विनिमय करके अन्य जनोंको भी उपभोग करने दो । परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥ कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतः समाः । एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥

इह, इसी जगत्में (ब्रह्म-स्फुरणाजनित चलायमान संसारमें) एवं ऊपर कही हुई रीतिसे काम करते हुए पूर्ण आयु—सौ वर्षोंतक जीनेकी इच्छा रक्खे। हे मनुष्य ! तेरे अधिकारमें इसके अतिरिक्त कुछ नहीं है।

कर्म मनुष्यको भ्रष्ट नहीं करता (किंतु वह अपनी दुष्ट भावनासे भ्रष्ट होता है । ईश्वर ही सबका आधार है—ऐसी भावनासे काम करनेपर मनुष्य कर्मोंके झंझटोंमें नहीं फँसता; किंतु सब कामोंको ईश्वरकी सेवा मानकर आनन्दसे करता चला जाता है । यमक-व्यञ्जनासे यह भी भाव प्रकट किया है कि मनुष्य जब इस तरह सत्कर्मोंमें प्रवृत्त रहता है तब सहज ही वह अनिष्ट कर्मोंसे लिप्त नहीं हो सकता। सत्कर्मसे मनुष्य पूर्णायु भोगता और सुसंतानद्वारा अमर होता है । दुष्कर्म आयुको घटा देता है और दुःखोंका कारण बनता जाता है ।

'जाको प्रभु दारुन दुख देहीं । ताकी मति पहलेहि हरि लेहीं ॥'

अर्थात् जो अपनी मतिसे प्रभुका ध्यान छोड़कर काम करता है, वही दारुण दुःखका भागी होता है । इसलिये वेद-भगवान् कहते हैं—हे मनुष्यो ! इस प्रकार (प्रभुका ध्यान रखते हुए) कर्म करते रहो, पूर्ण आयु भोगो, सुखी रहो—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः ।
ताःस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥

'असुर्या लोकों' से सूर्यरहित स्थानोंका या दानवोंके स्थानोंका अभिप्राय हो सकता है । वेदका भाव केवल दुःख-दायक स्थानोंसे है । आत्मा अविनाशी है—उसका हनन नहीं हो सकता । इसलिये 'आत्महनो'से आत्म (विवेक) हीनका आशय है । पूर्ण भाव यह है कि जो विवेकहीन पुरुष हैं, वे यहाँसे जाकर (जीवन-मरणके चक्रमें पड़कर) उन दुःख-दायक स्थानोंमें जाते हैं या उन अन्धकारमय स्थितियोंमें पहुँचते हैं, जहाँ चेतनता अत्यन्त सुप्त अवस्थामें रहती है। सूर्य ही प्राण-आधार है, वही सौर्य जगत्में प्राणोंका संचार करता है । जहाँ सूर्य नहीं पहुँचता, वहाँ प्राणका पहुँचना भी कठिन है । विवेकहीन मनुष्य जडयोनियोंमें गिरते जाते हैं।

जहाँसे पुनः मनुष्य-योनिमें आनेके लिये लाखों वर्ष लग जाते हैं। आजकल अनेक पुरुष विवेकहीन हो स्वार्थमें पड़कर चोरीसे चोरबाजारमें प्रवेश करते हैं। इनके इन कलुषित कार्योंसे संसारमें डाहका साम्राज्य छा गया है और विषय-व्याधियोंका संचार तीव्रतासे हो रहा है। छिपकर रिश्वत देने और लेनेवाले लोग भी ऐसी अन्धकार (दुःख) मय स्थिति-के बनानेमें तीव्रतासे लगे हैं। व्यञ्जनासे भाव यह है कि सूर्य-के प्रकाशमें (प्रकट होकर) काम करो और विवेकयुक्त होकर सद्गति प्राप्त करो। कुपन्थ ग्रहणकर दुर्गतिमें मत पड़ो।

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्षत्।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति॥

'अपस्' का साधारण अर्थ पानी और कर्म है। पर वेदका भाव विश्वकी सात स्फूर्तियोंसे है, जो व्याहृतियाँ या लोक मान लिये गये हैं।

मातरिश्वाका साधारण अर्थ मामें (पृथ्वीमें) श्वास लेनेवाला है। वेदमें वायुदेवका नाम भी मातरिश्वा है। यहाँ प्राणतत्त्वसे अभिप्राय है जो जड़ जगत्में संचार कर नाना रूप धारण करता है।

परमात्मा अचल होकर भी मनसे अधिक वेगवान् है। देवता (प्रकृति व्यवहार-दक्ष शक्तियाँ) भी वहाँ नहीं पहुँचतीं; क्योंकि उनसे पहले ही वह वहाँ उपस्थित हो जाता है। वह स्थिर रहकर दौड़नेमें सबको हरा देता है। उसीमें वायुदेव (प्राण-संचारद्वारा) अपस् (सात स्फूर्तियोंको) स्थापित करते हैं। परमात्मामें सब समाये हुए हैं। उसीमें सब प्राणोंकी गति हो रही है। उससे परे कुछ नहीं है। वही सबमें व्याप्त होकर भी व्याप्यरूपमें शेष रह जाता है। यही कारण है कि वह स्थिर होकर भी सबके साथ गमन करता है और पहले ही उपस्थित हो जाता है। वही विश्वमें देवों और प्राणियोंका सर्वोपरि है। वह सर्वशक्तिमान् होनेसे सबका संचालन कर रहा है। जिस प्रकार स्थूल जगत्में सरकारी शासन सब ओर स्थित होकर सर्वोपरि है। उसकी दौड़के बराबर कोई नहीं दौड़ सकता; क्योंकि सब मनुष्योंके आकर पहुँचनेके पहले ही वह वहाँ उपस्थित है। स्पष्ट समझनेके लिये एक दृष्टान्त ले लो। सरकारका प्रतिनिधि बनकर तहसीलदार रहता है। मनुष्य जहाँ जायँगे, वहीं उसे अपने पदपर स्थिर ही पायँगे। तहसीलदार आदि देवता अपनी हलचल शासनसूत्रमें बँधकर अपने सीमित क्षेत्रमें किया करते हैं। इसी तरह प्राणतत्त्व (मातरिश्वा) भी सूत्रात्माके भीतर ही हलचल किया करते हैं।

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥

ब्रह्म व्यक्त स्वरूपमें गति करता है और अव्यक्त स्वरूपसे कूटस्थ रहता है। अतएव वह दूर भी है और पास भी है। वही सबके भीतर और बाहर भी है।

समुद्र तरङ्गरूपमें चञ्चल है, पर जलरूपमें स्थिर है; 'ज्वार' रूपमें पास आता है और 'भाटे' रूपमें दूर चला जाता है। चुम्बक छड़में दो ध्रुव (धन-ऋण) रहते हैं जो दूर ही होते हैं पर छड़के दो खण्ड करनेमें दोनों इतने समीप होते हैं कि प्रत्येक खण्ड स्वतन्त्र-रूपसे दोनों ध्रुवोंको लेकर चुम्बक छड़ बन जाते हैं। ये ध्रुव अव्यक्त स्थितिमें समीप हैं और छड़में व्यक्त स्थितिमें दूर हैं।* पञ्चतत्त्व ही अपने विचित्र मिश्रणसे पदार्थोंकी आन्तरिक रचना करते हैं और पदार्थोंको घेरे रहते हैं। प्राणीमात्र ब्रह्मसे वेष्टित हैं। वे उसीमें जीते और रहते हैं। ब्रह्म ही प्राणीमात्रके भीतर रहता और जीवनको स्थिर करता है।

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥

जो सब भूतोंको आत्मामें ही अपने अनुसार देखता है और सब भूतोंमें आत्माको देखता है, वह उनसे सङ्कोच नहीं करता।

मनुष्यको अपने अन्तरात्मामें सुख-दुःखका अनुभव होता है, तदनुसार दूसरोंको भी होता है। इस भावनाके अनुसार मनुष्य सबको देखकर व्यवहार करे तो वह निःसङ्कोच होकर सबका हित कर सकता है। दूसरेके सुख-दुःखका ध्यान न रखकर जो व्यवहार करता है, उसीको काम करनेमें सङ्कोच होता है। सबमें अपने ही आत्माका अस्तित्व जानने-वाला सुखी रहता है। वह स्वाभाविक ही वञ्चकताके व्यवहारसे दूर रहता है। वह सर्वप्रिय होकर संसारको सदाचारका क्रियात्मक पाठ पढ़ाते हुए जीवन व्यतीत करता है।

यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥

---

* जलप्रपातमें प्रवाहरूप जल दूर जा रहे हैं; पर युगोंसे प्रपात वहीं-का-वहीं रहता आया है और रहेगा। सूर्य सौर्य जगत्में चलता हुआ दीखता है पर वह करोड़ों वर्षोंसे अपने स्थानमें स्थिर है।

जिसमें (ब्रह्ममें) व्यक्त होकर आत्मा ही सब भूतोंका रूप हुआ। इस तत्त्वको अच्छी तरह जाननेवाले एवं तदनुसार अनेकत्वमें एकत्व समझने या देखनेवालेको वहाँ (लोकमें व्यवहारके समयमें) मोह क्या ! और शोक क्या अर्थात् उसको न किसीसे मोह होता है और न किसीके व्यवहारसे शोक होता है।

समदृष्टि रखकर समव्यवहार करनेसे मनुष्यको मोह और शोक नहीं होते। विषमता रखनेवाले या बढ़ानेवाले ही मोह और शोकमें डूबे रहते हैं। राज्यारोहण और वनगमन-को समदृष्टिसे समझनेवाले रामजीकी मुखमुद्रा विकृत नहीं हुई। एक-सी बनी रही।

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रण-
मस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भू-
र्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥

वह चारों ओर पहुँचा हुआ शुक्र (उज्ज्वल) काया-रहित, व्रण (घाव) रहित, स्नायुरहित, शुद्ध, पापसे अभेद्य स्थितिमें रहता है। या प्राणिमात्रके मूलरूप शुक्र (वीर्य-रज) को चारों ओरसे घेरे हुए है। यह मूलरूप सूक्ष्म या अव्यक्त स्थितिमें कायारहित रहता है। वह कवि है; क्योंकि कार्य-कारणसहित पूर्वापर सम्बन्ध जानकर संसारकी रचना करता है। वह मनीषी है; क्योंकि सब प्राणियोंके मनपर शासन करता है। वह सर्वोपरि और स्वयं ही होनेके कारण परिभू और स्वयंभू भी है। उसीने प्राणियोंको और उनकी आवश्यकताओंको यथास्थान यथेष्ट प्रमाणमें सनातन कालसे स्थापित किया। प्राणियोंकी आवश्यकताओंको अनन्त युगोंसे पूरी करता हुआ स्थित है।

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाꣳ रताः॥
अन्यदेवाहुर्विद्ययान्यदाहुरविद्यया।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे॥
विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयꣳ सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते॥

विद्का जानना और उपस्थित होना (विद्यमान होना) दोनों अर्थ है। अतः अविद्याके दो अर्थ होते हैं—अज्ञान और अभाव। इसी प्रकार विद्याके भी दो अर्थ हैं—ज्ञान और उपस्थिति। यहाँ ऋषिका भाव यह है कि अविद्या अर्थात् अज्ञान या दरिद्रताकी उपासना करनेवाले गाढ़ अन्धकारमें प्रवेश करते हैं। महान् दुःखोंको भोगते हैं। इनसे अधिक अँधेरेमें रहकर वे दुःख उठाते हैं जो केवल ज्ञानकी बातें ही बनाते हैं। पर क्रियावान् होकर कुछ पैदा नहीं करते। अनुत्पादक परिश्रममें जीवन व्यतीत करते हैं और समाजपर अनुचित भार डालते हैं। बैठे-बैठे विचारकर योजनाएँ बनानेवाले अँधेरेमें ही पड़े रहते हैं। प्रकाशमें आकर काम नहीं करते। कामकी व्यावहारिक कठिनाइयोंको देखकर स्थगित हो जाते हैं। इसी प्रकार बिना विचारे काममें हाथ डालनेवाले भी दुःख उठाते और कामकी रीति न जाननेवाले उनसे भी अधिक दुःख भोगते हैं। पर संसारमें बुद्धिपूर्वक रमनेवाले (धीर) पुरुषोंसे सुना है कि विद्यासे अन्य और अविद्यासे अन्य परिणाम होता है। (दोनों गाढ़ अन्धकारमें नहीं पड़ते) यह बात उन्होंने हमको बार-बार सावधान करके समझायी है। इसलिये विद्या और अविद्या दोनोंको साथ-साथ जानना चाहिये। मनुष्य अविद्यासे मृत्युको पारकर विद्यासे अमृत (अमरत्व) को पाता है। अज्ञान या अभावमें रहनेसे पद-पदपर मरणके समान दुःख भोगने पड़ते हैं। यह जानकर विचारशील ऐसे दुःखोंसे बचनेके उपाय करता है। यही मृत्युको पार करना है। यह सब अविद्याके कारण होता है। इसलिये अविद्यासे मृत्युको पार करना कहा गया। जो बचनेका ज्ञान या साधन प्राप्त किया, वही जीवनका आनन्द लेनेका कारण होता है। यही विद्यासे अमृतको पाना है। विद्या पढ़कर और संसारमें कल्याणके काम करते हुए मनुष्य अपना नाम (यशरूपी जीवन) अमर बना देते हैं।

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्याꣳ रताः॥
अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात्।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे॥
सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयꣳ सह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते॥

सम्भूति= (सं=अच्छी तरहसे, पूर्णरीतिसे भू=भवति व्यक्त स्थितिमें आती है) वह पूर्ण व्यक्त स्थिति है, जिसमें 'ब्रह्म' व्यवहार करता है, यथा मानसमें कहा है, 'फूले कमल (क=ब्रह्म; मल=आवरण अर्थात् ब्रह्मका आवरण हटनेसे) सोह सर कैसे। निर्गुन ब्रह्म सगुन भए जैसे ॥' विनाशका साधारण अर्थ वस्तुका रूप मिट जाना, जैसे अग्निमें पदार्थ जल जाते एवं नष्ट हो जाते हैं। पर अव

धातुका अर्थ पाना है इसलिये विनाशका अर्थ विना पाया हुआ पदार्थ होता है। धीर पुरुषोंके ज्ञानको पूरी तरहसे समझनेके लिये शब्दोंको कुछ बदलकर एक ही भाव प्रकट किया है।

प्रत्यक्षवादी जड वस्तुको सब कुछ माननेवाले अँधेरेमें ही प्रवेश करते हैं। प्रकृतिके गर्भमें छिपी हुई शक्तिको ढूँढ़नेके लिये प्रयत्न करते हैं; मानो अँधेरेमें ही टटोल कर कुछ पा लेते हैं और हाथ आयी हुई वस्तुको या शक्तिको परम लाभ मानकर गर्व करने लगते हैं। संसारमें रेडियो, बिजली, एटमबम, रेल, तार, टेलिफोन, सिनेमा आदि सहस्रों आविष्कारोंको उन्नतिकी दशाके चिह्न मानकर जडवादवाले सम्भूतिकी उपासनामें लगे रहते हैं और अपनी काली करतूतोंसे (अन्धन्तमः प्रवेश करके) संसारमें लाखोंके प्राण हरण किया करते हैं। इसी तरह (असम्भूतिमें) मानसिक कल्पनाओंमें लिप्त होकर निराकार ब्रह्मका ढिंढोरा पीटनेवाले भी मनमानी कहानियाँ रचकर मनोविलास करते हैं। ये महाशय भी वास्तवमें तत्त्वसे वञ्चित रहकर क्रियाहीन हो संसारमें पिस्सू-जीवन व्यतीत करते हैं, और 'अकर्मण्यता' को बढ़ानेका पाप कमाते हैं। इससे परिणामतः संसारमें डाह, मत्सर और शारीरिक व्याधियाँ फैलती हैं।

धीर पुरुषोंसे हमने सुना है और उन्होंने बार-बार सावधान करके समझाया है कि सम्भवसे (प्रकृति-नियमानुसार होनेवाले कामोंसे) अन्य परिणाम होता है और असम्भवसे (मनमानी कल्पना करके होनेवाली बातोंसे) अन्य परिणाम। संसारमें किसीका महत्त्व बढ़ानेके लिये जो विचित्र कल्पित बातोंका प्रचार करते हैं, उसका परिणाम भी जनतापर विचित्र ही होता है। संसारमें सब काम प्रकृतिके नियमानुसार होते हैं। प्रकृतिके नियमोंसे अनभिज्ञ जनोंको ऐसे काम संतोंका चमत्कार दीखता है; क्योंकि वे स्वयं इन कामोंको नहीं कर सकते। इसलिये सम्भूति (सम्भव होना, जन्म होना) और विनाश (असम्भव होना—जन्मका क्षीण है) या संसारमें पदार्थोंके रूपोंका होनेवाला नित्य संश्लेषण (सम्भूति Synthesis) और विश्लेषण (विनाश Analysis) को एक साथ जानना चाहिये। विनाशसे मृत्युको पारकर सम्भूतिसे मनुष्य अमृतको पाता है। विनाशके कारणोंको जानकर या विनाशको अनिवार्य जानकर मनुष्य मृत्युके भयको हटा सकता है। यही मृत्युको पार करना है। ऐसी मानसिक स्थितिसे मनुष्य अमृत (चिरकालतक आनन्द) भोगता है। सरकार कोई भवन बनाती है तो अपने चिट्ठे (बजट) में भवन बननेके पहले बिगाड़-सुधार (Repair) का विचारकर लागतकी रकम नियत कर लेती है। संसारमें प्रकृतिके नियमानुसार पदार्थोंका संश्लेषण और विश्लेषण साथ ही चलता है। वे परस्पर एक दूसरेका पोषण करते हैं। अपने शरीरमें भी नित्य कोषाणु, पेशी, अस्थि, चर्म, रक्त आदि तत्त्वोंमें सम्भूति और विनाश साथ-ही-साथ हो रहा है। इसको ठीक जानकर मनुष्य अपने शरीरको स्वस्थ रख चिर आनन्द पा सकता है। माता-पिताके शरीरोंका विश्लेषण होता और पुत्र और पुत्रियोंके शरीरोंका परिणामतः संश्लेषण होता है। यही क्रिया ब्रह्मकी सृष्टिमें अनन्तकालसे चल रही है। पदार्थोंका जन्म (सम्भूति) होता और मरण (विनाश) होता है। यह क्रिया सापेक्ष होनेके कारण जन्म-मरण और मरण-जन्मका चक्र चला करता है। मनुष्यको स्मरण (सम्भूति) और विस्मरण (विनाश) हुआ करता है। विस्मरणका ध्यान रख अनावश्यक परिश्रमसे बचकर अपनी शक्ति आवश्यक बातोंको (स्मरण रखने योग्य बातोंको) जाननेमें लगाकर मनुष्य चिरकालतक आनन्द पा सकता है। बहुतसे 'लॉ' (कानून) पढ़कर शिक्षक बनते हैं। व्यर्थ कानूनका बोझा अपने सिरपर लादकर अपनी शक्तिका अपव्यय करते हैं। शक्तिका अपव्यय करना ही मृत्यु है और बचाना ही जीवनका आनन्द है।

धन एकत्र करनेकी (सम्भूतिकी) धुनमें लगकर लोग कितने अनर्थोंमें फँस जाते हैं। एकत्रित धनको उड़ानेमें (विनाशमें) लगकर कितने ही दुर्गतिमें पड़ते हैं। संसारमें उनका नाम-शेष भी नहीं रहता। धीर पुरुषोंने बार-बार समझाया है कि धन एकत्रित करनेका सुफल यही है कि उसको नाशसे बचाकर सत्कर्मोंमें (दान, धर्म और उपभोगमें) लगाना है। एकत्रित करनेके नियमोंको जानकर चिरकालतक सुखी रहो और विनाशके कारणोंको जानकर दुर्व्यसनोंसे बचो और मृत्युको पार करो।

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥

सत्यका मुख चमकीले सुवर्णके ढक्कनसे ढका है। हे सर्व (आत्मज्ञान) पोषक ! सत्यधर्मको देखनेके लिये ढक्कनको हटा लो। धनवान् लोग धनबलसे अपना जाल फैलाकर और चापलूस लोग चटकीली बातें बनाकर सत्यको प्रकाशमें नहीं आने देते। इनकी बातोंमें आकर समाज सत्यको जाननेसे सदा वञ्चित रहता है। प्रतिदिन न्यायालयोंमें वकील लोग बकवाद करके सत्यको छिपानेका प्रयत्न किया करते हैं और नैतिक दुर्बलतामें पड़े हुए कर्मचारी भी रिश्वत लेकर 'सत्य' को दृष्टिसे दूर रखकर निर्णय किया करते हैं। इससे समाजमें दुराचार करनेवालोंको प्रोत्साहन मिल जाता है और धीरे-धीरे पूरे समाजमें नैतिकताका मान गिर जाता है। नीतिको मानकर सत्य प्रकट करनेवाला मूर्ख समझा जाता है। ऋषिका भाव है कि सूर्य सर्वज्ञान और चैतन्यताका केन्द्र है। वहाँसे किरणें शुद्ध रूपमें निकलती हैं पर पृथ्वीपर आकर विकृत तथा अशुद्ध हो जाती हैं जिससे हमारी दृष्टिसे पदार्थोंका सत्स्वरूप छिप जाता है। इसी प्रकार मनुष्योंके मनमें सत्यताकी झलक आती है परंतु स्वार्थ, द्वेष, दम्भ आदि दुर्गुण उसको ढक देते हैं, समाजमें प्रकट नहीं होने देते। इसलिये नम्रतासे कहा गया है कि हे दम्भ, कपट, झूठ, द्वेष आदिके पोषक नर ! तू अपनी चटकीली बातोंको समेट ले और 'सत्य'को हमारी दृष्टिमें आने दे।

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन्समूह। तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ॥

इसमें उसी प्रकार निवेदन किया है। हे सर्वपोषक ! सर्वद्रष्टा, यम, सूर्य और प्रजापति अपनी किरणोंके जालको समेट ले। हम तुम्हारा जो सर्वोत्कृष्ट कल्याण स्वरूप है उस 'सत्य'को देखें। सूर्यमें (किरणोंके मन्द होनेपर) जो कोई दीखता है वह पुरुष है और वही मैं हूँ। पृथ्वीमें सब प्राणी मांस, त्वचा, अस्थि आदि (किरणों) से आच्छादित हैं। इनके कारण प्राणोंका सत्यरूप दीखना कठिन है। यदि विचारसे कोई अस्थि आदि जालके परे देखे तो उसको अपने 'सम स्वरूप'का ही अस्तित्व सब जगह दिखायी देगा। इसी दृष्टिका महत्त्व ६-७ मन्त्रोंमें प्रकट किया है।

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तꣳ शरीरम्।
ॐ क्रतो स्मर कृतꣳ स्मर क्रतो स्मर कृतꣳ स्मर ॥
अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नमउक्तिं विधेम ॥

वायु जीवनतत्त्व है जो सूर्यप्रकाशकी सहायतासे भूलोकमें प्राणियोंके जन्म-मृत्युका मूल कारण है और प्राणियोंके शरीरोंमें प्रविष्ट होकर कुछ अवधितक क्रियावान् प्रतीत होता है।

क्रतुसे कभी कर्म और कभी कर्मप्रेरक इच्छाशक्तिका बोध होता है। यह शक्ति ही अग्नि है। यह दिव्य शक्ति पदार्थोंमें तीन रूपोंसे व्यक्त होती है। जैसे—दाह, प्रकाश और बल मानवी चेतनामें भिन्न भावनाओंद्वारा व्यक्त होकर क्रमशः नरको नारायण बना देती है। मनुष्यको 'सत्य' एवं 'शाश्वत' आनन्दकी ओर ले जाती है।

प्राणोंमें समाया हुआ वायु ही अमृत है और शरीर तो भस्ममें समाप्त होनेवाला है। अन्तमें शरीर ही जलकर भस्म बनता है पर अमृत वायु-प्राण अन्तरिक्षमें विचरण करते हैं। ऐसा समझकर हे क्रतु (कर्म करनेवाले) ॐ (सच्चिदानन्द परमात्मा)का स्मरण कर, अपने किये हुए कामोंका स्मरण कर।

करम प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फलु चाखा ॥

अन्तमें अग्नि (प्रथम चेतन शक्ति—ब्रह्म-संकल्प जिससे संसारमें नाना प्रकारके व्यवहार हो रहे हैं) से प्रार्थना की गयी है। हे अग्नि ! आप सर्वज्ञ हैं; विश्वमें व्यक्त हुई सब वस्तुओंको जानते हैं। आप हमको सुपथसे ले चलें, हमारे पापोंको दूर हटावें। हम अत्यन्त नम्र होकर आपको बारंबार नमन करते हैं। आपकी कृपासे ही हम पापोंसे हटकर सत्कर्मों में लग सकते हैं।

बिनु सतसंग बिबेक न होई। राम कृपा बिनु सुलभ न सोई ॥

अनन्यशरणागत होकर 'ब्रह्म-संकल्प' को जानना और तदनुसार काम करना ही सुपथमें जाना है। रामने सगुण होकर जिन कृतियोंका पालन किया, उन्हींका यथोचित यथाशक्ति पालन करना ही रामकृपा-भाजन होना है। यही रामभक्तिका यथार्थ रूप है अन्यथा संसारमें लोगोंको रिझानेका दम्भमात्र है।

अक्रूरका सौभाग्य

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

भगवान्‌में प्रेम होना बड़ा दुष्कर है । प्रेम प्रायः किसी देखी हुई वस्तुमें ही होता है । ऐसा ही हुआ तो कभी-कभी किसी परिज्ञात, किंतु पूर्णतया विश्वस्त पदार्थमें भी हो जाता है, पर वह भी तब, जब उसकी प्राप्तिकी सम्भावना हो । प्राणीका ऐसा स्वभाव होता है कि वह प्रायः सुलभ पदार्थोंकी ही कामना करता है । जब उसे यह विश्वास हो जाता है कि अमुक वस्तु पाना मेरे लिये आसमानके तारे तोड़ने-जैसा कठिन है, तब वह उससे तुरंत विरत हो जाता है । यही बात भगवान्‌के सम्बन्धमें समझनी चाहिये । एक तो भगवान्‌पर लोगोंका विश्वास नहीं होता, (आजकल तो ईश्वरकी सत्तामें विश्वास न करना ही बुद्धिमानीका प्रमाणपत्र समझा जाता है) यदि विश्वास हुआ भी तो यह आशा नहीं होती कि भगवान् हमें कभी मिल पायँगे और कुछ लोग सब कुछ जानते हुए भी नाना प्रकारके झंझटोंमें फँसे रहनेके कारण उधर प्रवृत्त नहीं होते, इस तरह ये सभी भगवत्प्रेमसे वञ्चित रहते हैं । इस तरह स्पष्ट है कि भगवान्‌में अनन्य निष्ठा—आत्यन्तिक प्रीति प्राणीके लिये बड़ी ही दुर्लभ वस्तु है । होनी ही चाहिये । महान् वस्तुओंकी प्राप्तिके साधन कितने कठिन होते हैं, उन्हें भला कितने जानते हैं । फिर भगवत्प्रेमसे तो संसारभरकी वस्तुएँ ही सर्वथा सुलभ हो जाती हैं, यहाँतक कि स्वयं सर्वेश्वरेश्वर भगवान् ही वशमें हो जाते हैं, तो यह क्यों सुलभ होने लगा—

'रघुपति भगति करत कठिनाई ।
कहत सुगम, करनी अपार, जानै सोई जेहि बनि आई ॥'

इसलिये उच्चकोटिके विद्वानोंका यह सुनिर्णीत सिद्धान्त है कि जिसका प्रभुके सर्वकामवरास्पद चरणोंमें प्रेम हो गया, उसीका भाग्य जगा । इतना ही नहीं, प्रत्युत वही सबसे अधिक भाग्यशाली निकला—

राम नाम गति, राम नाम मति, राम नाम अनुरागी ।
होइगै, हैं, जे होहिंगे त्रिभुवन तेई गनियत बड़भागी ॥
सोइ गुनग्य सोई बड़भागी । जो रघुबीर चरन अनुरागी ॥

तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम् ।
एतावानेव यजतामिह निःश्रेयसोदयः ॥

(श्रीमद्भा० २ । ३ । १०-११)

किंतु इस तरह भाग्य जगानेका उपाय क्या है ? आइये इस सम्बन्धमें हम एक ऐसे ही भाग्यशालीकी सम्मति देखें ।

जब कंस अक्रूरको श्रीकृष्णके पास भेजता है तो वे भी विभीषण, सुतीक्ष्ण और मारीचकी भाँति अनेक प्रकारके मनोरथोंको करते हुए बढ़ते हैं । वे सोचते हैं—अहो, मुझसे बढ़कर भला कौन भाग्यशाली है, जो आज साक्षात् भगवान्‌का दर्शन करूँगा । आज मेरा जन्म सफल हो गया । अहा, आनेवाला प्रभात कितना सुन्दर होगा । भला, भगवान्‌का वह मुखकमल, जो केवल स्मरण किये जानेपर ही सारे पाप-सन्तापको नष्ट किये देता है, जिससे सभी वेद और वेदाङ्ग निकले हैं, मुझे देखनेको मिलेगा, इससे बढ़कर और क्या चाहिये—

चिन्तयामास चाक्रूरो नास्ति धन्यतरो मया ।
योऽहमंशावतीर्णस्य मुखं द्रक्ष्यामि चक्रिणः ॥
अद्य मे सफलं जन्म सुप्रभाता च मे निशा ।
यदुन्निद्राब्जपत्राक्षं विष्णोर्द्रक्ष्याम्यहं मुखम् ॥
पापं हरति यत्पुंसां स्मृतं संकल्पनामयम् ।
तत्पुण्डरीकनयनं विष्णोर्द्रक्ष्याम्यहं मुखम् ॥
निर्जग्मुश्च यतो वेदा वेदाङ्गान्यखिलानि च ।
द्रक्ष्यामि यत्परं धाम देवानां भगवन्मुखम् ॥

(ब्रह्मपुराण १९१ । २-५)

ब्रह्मा, इन्द्र, रुद्र, अश्विनीकुमार, वसु और मरुद्गण जिन्हें स्वरूपतः नहीं जानते, वे ही साक्षात् श्रीहरि आज मुझे अपने करकमलोंसे स्पर्श करेंगे । जो सर्वात्मा,

सर्वव्यापी, सर्वस्वरूप, सम्पूर्ण भूतोंमें स्थित, अव्यय एवं व्यापी परमात्मा हैं, वे ही आज मेरे नेत्रोंके अतिथि होंगे। जिन्होंने अपनी योगशक्तिसे मत्स्य, कूर्म, वराह, हयग्रीव और नरसिंहादि अवतार ग्रहण किये थे, वे ही भगवान् आज मुझसे वार्तालाप करेंगे।

न ब्रह्मा नेन्द्ररुद्राश्विवस्वादित्यमरुद्गणाः ।
यस्य स्वरूपं जानन्ति प्रत्यक्षं याति मे हरिः ॥
सर्वात्मा सर्ववित्सर्वस्सर्वभूतेष्ववस्थितः ।
यो ह्यचिन्त्योऽव्ययो व्यापी स वक्ष्यति मया सह॥
मत्स्यकूर्मवराहाश्वसिंहरूपादिभिः स्थितिम् ।
चकार जगतो योऽजः सोऽद्य मां प्रलपिष्यति ॥

(विष्णुपु० ५ । १७ । ८–१०)

महालक्ष्मी जिनकी सेवामें सर्वदा दासीकी भाँति तत्पर रहती हैं, सत्त्वरूपिणी गङ्गा जिनके चरणोंसे प्रादुर्भूत हुई हैं, दुर्गतिनाशिनी त्रैलोक्यजननी, मूलप्रकृति भगवती दुर्गा जिनके चरणोंको अहर्निश स्मरण करती रहती हैं, जिन महाविष्णुके लोमकूपोंमें असंख्य स्थूल एवं स्थूलतर ब्रह्माण्ड टँगे हैं, कल मैं उन्हीं भगवान्का साक्षात् दर्शन एवं स्पर्श प्राप्त करूँगा—

दासी नियुक्ता यद्दास्ये महालक्ष्मीश्च लक्षिता ।
गङ्गा यस्य पदाम्भोजान्निःसृता सत्त्वरूपिणी ॥
ध्यायते यत्पदाम्भोजं दुर्गा दुर्गतिनाशिनी ।
त्रैलोक्यजननी देवी मूलप्रकृतिरीश्वरी ॥
लोम्नां कूपेषु विश्वानि महाविष्णोश्च यस्य च ।
असंख्यानि विचित्राणि स्थूलात्स्थूलतरस्य च ।
तं द्रष्टुं यामि हे बन्धो मायामानुषरूपिणम् ॥

(ब्रह्मवैवर्त० श्रीकृष्ण० उत्तरार्ध ६५ । १३–१७)

अक्रूरजी सोचते हैं—यद्यपि हम जानते हैं कि भगवान् महाविष्णु ही श्रीकृष्णरूपसे अवतीर्ण हुए हैं, एतावदपि इसे स्पष्ट करना ठीक नहीं अन्यथा होहल्ला मच जायगा, अतएव ऐसा न कर इनके विष्णुत्वकी मैं यथाविधि गुप्तमन्त्रणाकी तरह कृपणके धनकी भाँति मनमें ही पूजा करूँगा—

अहं त्वस्याद्य वसतिं पूजयिष्ये यथाविधि ।
विष्णुत्वं मनसा चैव पूजयिष्यामि मन्त्रवत् ॥

(हरिवंश विष्णुपर्व २५ । ३[illegible])

इसी प्रकार चलते हुए एक स्थलपर उन्हें भ[illegible] चरणारविन्दके पदचिह्न मिलते हैं। जब वे अब्ज, [illegible] अङ्कुशादि चिह्नयुक्त उन चरण-नख-चिह्नोंको देखते हैं [illegible] झट रथसे उतरकर उन धूलियोंमें लोटते हैं, उस र[illegible] नेत्रोंमें लगाते हैं और कहते हैं कि अहो, ये हमारे प्र[illegible] पद-पद्मोंकी रेणु हैं—

पदानि तस्याखिललोकपाल-
किरीटजुष्टामलपादरेणोः ।
ददर्श गोष्ठे क्षितिकौतुकानि
विलक्षितान्यब्जयवाङ्कुशाद्यैः ॥
तद्दर्शनाह्लादविवृद्धसंभ्रमः
प्रेम्णोर्ध्वरोमाश्रुकलाकुलेक्षणः ।
रथादवस्कन्द्य स तेष्वचेष्टत
प्रभोरमून्यङ्घ्रिरजांस्यहो इति ॥

(श्रीमद्भा० १० । ३८ । २५-२[illegible])

भगवान्से मिलकर उनकी जो दशा होती [illegible] वह तो अवाङ्मनसगोचर है; किंतु सर्वाधिक वि[illegible] दशा होती है उनकी यमुनाजलमें भगवान्का द[illegible] करनेपर। वे आनन्दमें निमग्न होकर प्रार्थना करते [illegible] जाते हैं और अन्तमें कहते हैं कि 'प्रभो ! मैं स्त्री, [illegible] घर और परिवारादिमें अत्यन्त आसक्त हूँ, यद्यपि शास्त्रों और संतोंसे अनेक बार सुन चुका हूँ कि [illegible] सर्वथा मृगतृष्णाके जलकी भाँति मिथ्या हैं, किन्तु [illegible] भी प्रभो ! इन स्वप्नवत् असत्य वस्तुओंको जानते [illegible] भी इनसे अपनी इन्द्रियोंको रोकनेमें समर्थ नहीं, इन[illegible] वियोग सहनेके लिये तैयार नहीं—

अहं चात्मात्मजागारदारार्थस्वजनादिषु ।
भ्रमामि स्वप्नकल्पेषु मूढः सत्यधिया विभो ॥
अनित्यानात्मदुःखेषु विपर्ययमतिर्ह्यहम् ।
द्वन्द्वारामस्तमोविष्टो न जाने त्वाऽऽत्मनः प्रियम् ॥

यथाबुधो जलं हित्वा प्रतिच्छन्नं तदुद्भवैः ।
अभ्येति मृगतृष्णां वै तद्वत्त्वाहं पराङ्मुखः ॥
नोत्सहेऽहं कृपणधीः कामकर्महतं मनः ।
रोद्धुं प्रमाथिभिश्चाक्षैर्ह्रियमाणमितस्ततः ॥
(श्रीमद्भा० १० । ४० । २४–२७)

अक्रूरजी अपनी परिस्थिति और भगवान्‌की इस अनुपम कृपाको स्मरणकर अत्यन्त विह्वल हो जाते हैं, और तब कहते हैं—'नाथ ! सच पूछा जाय तो मैं जो आपके चरणोंमें उपस्थित हुआ हूँ, या इन अतुल सुख-विधायिका चरणनखचन्द्रिकाकी छटाको दृष्टिपथ-सुलभ कर पाया हूँ—इसमें भी आपकी कृपाके अतिरिक्त अन्य कोई कारण नहीं है । मैं तो यही समझता हूँ कि प्राणियोंको जब संसृतिसे छुट्टी मिलनेकी होती है, तब संतोंकी कृपासे आपके चरणोंकी ओर बुद्धि अग्रसर होती है—

सोऽहं तवाङ्घ्र्युपगतोऽस्म्यसतां दुरापं
तच्चाप्यहं भवदनुग्रह ईश मन्ये ।
पुंसो भवेद् यर्हि संसरणापवर्ग-
स्त्वय्यब्जनाभ सदुपासनया मतिः स्यात् ॥
(श्रीमद्भा० १० । ४० । २८)

रघुपति भगति सुलभ सुखकारी । सो त्रय ताप सोक भयहारी ॥
बिन सत्संग भगति नहिं होई । ते तब मिलै द्रवै जब सोई ॥
जब द्रवैं दीनदयाल राघव साधु संगति पाइये ।
जेहि दरस परस समादिक......................,

सच पूछा जाय तो केवल अक्रूर ही नहीं, अपितु सभीशास्त्र एवं संत हो इस बातका समर्थन करते हैं कि भगवत्कृपासे ही भगवच्चरणोंमें प्रेम या सत्संगति प्राप्त होती है ।

दुर्लभं त्रयमेवैतद्देवानुग्रहहेतुकम् ।
मनुष्यत्वं मुमुक्षुत्वं महापुरुषसंश्रयः ॥
(विवेक० ३)

'बिनु हरि कृपा मिलहिं नहिं संता ।'
(रा० च० मा०)

यहाँतक कि स्वयं भगवान् ही ब्रह्माजीसे कहते हैं कि हे अङ्ग ! तुमने जो मेरी कथायुक्त स्तुति की है और तपस्यामें निष्ठा प्राप्त की है वह सब मेरी कृपा ही जानो—

यच्चकर्थाङ्ग मत्स्तोत्रं मत्कथाभ्युदयाङ्कितम् ।
यद्वा तपसि ते निष्ठा स एष मदनुग्रहः ॥
(श्रीमद्भा० ३ । ९ । ३८)

गीतामें आपका कहना है कि 'भक्तोंपर अनुग्रह कर मैं उन्हें अज्ञानान्धकारको नाश करनेवाले बुद्धियोगको देता हूँ, उनके हृदयमें ज्ञानरूपी दीप जलाता हूँ, जिससे वे शीघ्र ही मुझे प्राप्त कर लेते हैं—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥
(१० । १०-११)

महाभारतका तो कहना है कि जबतक मनुष्यके जन्मके समय भगवान् स्वयं कृपापूर्वक दृष्टिपात नहीं करते, वह कभी भी भगवद्भक्ति या अध्यात्ममार्गकी ओर अग्रसर नहीं हो सकता । हाँ, यदि करुणाभवन अपनी सकरुण दृष्टिसे देख दें तो वह अवश्य ही मोक्ष-धर्ममें निष्ठा प्राप्त करता है ।

जायमानं हि पुरुषं यं पश्येन्मधुसूदनः ।
सात्त्विकस्तु स विज्ञेयो भवेन्मोक्षे च निश्चितः ॥
एवमात्मेच्छया राजन्प्रतिबुद्धो न जायते ॥
(महा० शां० प० यो० प० नारायणी० ३४८ । ७३-७५)

भगवती श्रुति भी कहती है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँ स्वाम् ॥
(कठ० १ । २ । २३; मुण्डक० ३ ।

अर्थात् भगवान्‌को पानेके लिये भगवान्‌की कृपा या इच्छाके अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं ।

इस प्रकार यह निश्चित होता है कि भगवत्कृपासे ही भगवच्चरणोंमें प्रेम उत्पन्न हो सकता है, और भगवत्प्रेमसे जब भगवान् ही अत्यन्त सुलभ हो जाते हैं, तब इतर वस्तुओंकी बात ही क्या—

किं दुरापादनं तेषां पुंसामुद्दामचेतसाम् ।
यैराश्रितस्तीर्थपदश्चरणो व्यसनात्ययः ॥
(श्रीमद्भा० ३ । २३ । ४२)

यह बात ध्रुव, प्रह्लादके चरित्रों एवं अन्यान्य अनन्त प्रमाणोंसे सिद्ध है । इसके प्रतिकूल भगवद्विमुखोंकी अन्यान्य साधनाओंसे उपार्जित सम्पदाएँ तो विपत्तियाँ ही होती हैं, जिनके फलस्वरूप घोर नरककी प्राप्ति होती है—

राम बिमुख संपति प्रभुताई। जाइ रही पाई बिनु पाई ॥
सजल मूल जिन्ह सरितन्हि नाहीं। बरसि गएँ पुनि तबहिं सुखाहीं॥

और इधर तो—

'न घटे जन सो जेहि राम बढ़ायो'

—की मुहर रहती है ।

पर आजकी दशा बड़ी विचित्र है । लोग ठीक शास्त्र और धर्मके प्रतिकूल मार्गसे अनेक प्रकारकी बेईमानी और शैतानीसे सम्पत्ति अर्जन करनेकी धुनमें लगे हुए हैं, जिससे दिन-प्रतिदिन उनके हृदयकी अशान्ति और बढ़ती जाती है । तरस आती है उनकी दुर्बुद्धिपर । उन्हें यह बिल्कुल ध्यान ही नहीं रहता कि ये काल, मृत्यु आदि हमारे पीछे पड़े हैं और अब शीघ्र ही हमें दबोचनेवाले हैं । वे अनेक प्रकारके सङ्कटोंको सामने देखते हुए भी नहीं देखते । आज अनेकों दुर्घटनाएँ, शतशः बीमारियाँ, महामारी, दुष्काल आदि आँखोंके सामने हैं, पर बड़ा आश्चर्य है हम इन्हें बिल्कुल नहीं देख पाते । भला, इससे बढ़कर और क्या आश्चर्य होगा । सचमुच भगवान्‌की माया बड़ी प्रबल है । उससे आच्छन्न होनेपर मनुष्यकी मति मारी जाती है, तभी तो प्राणी जान-बूझकर अनेकों आपदाओंकी जड़ खुद खोदता है । आजकी निरङ्कुशता और उद्दण्डता इतनी बढ़ गयी है कि वह ईश्वरकृपाकी कोई अपेक्षा नहीं रखती, प्रत्युत वह ईश्वरके अस्तित्वका ही विरोध करती है । सचमुच ऐसे प्राणीको ईश्वर-कृपाका क्या अनुमान हो सकता है । उसे तो भगवत्कृपाके मार्गका अनुयायी बननेपर ही समझा जा सकता है । पर कृपा तो भगवान्‌की उन विमुखोंपर भी रहती है । उनकी ही कृपासे शब्द-रूप-रस-मैथुनादि विषयोंका वे अनुभव कर सकते हैं (कठ० ३ । १ । ३) । पर वे इतने कृतघ्न होते हैं कि भगवत्स्पर्श करना तो दूर रहा, उलटे भगवान्‌की निन्दा करते हैं । ऐसे व्यक्तिके लिये कोई प्रायश्चित्त नहीं—

स्वोपकारस्य कर्तारं मूढो यो नैव मन्यते ।
मृतः स कृमिविड् भूत्वा जायते कल्पकोटिषु ॥
अल्पमप्युपकारं यो न स्मरेत्केनचित्कृतम् ।
कृतघ्नः स तु लोकेऽस्मिन् ब्रह्मघ्नादपि पापकृत् ॥

सचमुच इस प्रकारके मोहकी क्या दवा है । तरङ्ग समुद्रसे घमंड करे, घटाकाश महाकाशसे घमंड करे, जीव प्रभुको भूलकर अपनेहीको सब कुछ मान ले तो इससे बढ़कर क्या आश्चर्य होगा । इसीलिये उपनिषद् कहती हैं—

'माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोत्'

प्रभो ! आप ही ऐसी कृपा करें जिससे मैं आपको न भूलूँ, आपका निराकरण न करूँ । आपकी उपेक्षा न करूँ ! अन्यथा—

'असन्नेव स भवति, असद् ब्रह्मेति यो वेदेत्'

—वाला दुष्परिणाम तो प्राणीको नसीब हुआ ही रहता है ।

भारतीय दर्शनका व्यावहारिक रूप

(लेखक—श्रीधर्मदेवजी शास्त्री, दर्शनकेसरी)

उपनिषद्के ऋषिने कहा है 'सत्यका मुख सोनेके पात्रसे ढका है। हे प्रभो! उस ढक्कनको हटाओ, जिससे सत्य धर्मका दर्शन हो सके।' दर्शनका शब्दार्थ अपरोक्ष अनुभव है, जिससे संसारका मर्म और रहस्य देखा जा सके। जिससे मानव और उसके मनका और सबसे बढ़कर स्वयं अपना दर्शन हो, उस शास्त्रको ही दर्शनशास्त्र कहा जा सकता है। दर्शन ऐसी आँख है, जिससे द्रष्टा होनेपर भी अदृश्य सत्यका दर्शन होता है। इसी प्रकारके एक दार्शनिकने कहा है—

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभू-
स्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्ष-
दावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥

(कठ० २। १। १)

स्वयम्भू भगवान्ने इन्द्रियोंकी रचना ऐसी की है कि वे बाहर दूरके पदार्थोंको देख सकती हैं, इसीलिये साधारण मनुष्य चर्मचक्षुसे बाहरी दृश्यको ही देख सकता है। अपने-आपको देखनेवाला कोई विरला ही होता है, जो अन्तर्मुख नेत्रसे आत्मदर्शन करता है। वस्तुतः मनुष्य सबको देखता है, परंतु अपने-आपको देखनेका उसने कभी प्रयत्न नहीं किया। सबके साथ उसका संयोग हुआ। पर आत्माके साथ जिस दिन संयोग होगा, उस दिन उसे पूर्णताकी प्राप्ति होगी। अल्पतामें सुख नहीं, सुख पूर्णतामें है। इसी पूर्णताकी प्राप्तिके लिये मानव प्रयत्नशील है। दर्शनशास्त्र इस सम्बन्धमें मनुष्यका मार्गदर्शक है—

'प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्।'

सत्य अथवा पूर्णताका दर्शन कोरे पुस्तक-ज्ञानसे नहीं हो सकता। दर्शनशास्त्र आध्यात्मिक प्रयोगोंके आधारपर बना है। छान्दोग्योपनिषद्में कथा आयी है—नारद सनत्कुमारके पास गये और सिखानेके लिये प्रार्थना की। सनत्कुमारने पूछा 'जो तुम सीख चुके हो वह बताओ तो उसके आगे मैं कहूँगा।' नारदने कहा—

ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदꣳसामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यꣳराशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्याꣳ सर्पदेवजनविद्यामेतद्भगवोऽध्येमि, सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि नात्मविच्छ्रुतꣳह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मविदिति, सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवाञ्छोकस्य पारं तारयतु।'

(छान्दोग्य० ७। १। २-३)

'भगवन्! ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद—चारों वेद, इतिहास, पुराण, गणित, ज्योतिष आदि सभी विद्याओंको मैंने पढ़ा है; परन्तु मुझे ऐसा लगता है कि मैंने बहुत—सारे शब्दोंको ही पढ़ा है। आत्माको—अपने-आपको मैंने नहीं पहचाना। क्योंकि आप-जैसे अनुभवियोंके मुखसे मैंने सुना है कि आत्माको पहचाननेवाला शोक और दुःखसे रहित हो जाता है। परंतु मैं तो शोकमें पड़ा हूँ। कृपया शोक-सागरसे मुझे पार कीजिये।' इसके बाद सनत्कुमारने नारदको उपदेश किया है।

याज्ञवल्क्यने योगद्वारा आत्मदर्शनको ही परम धर्म कहा है—

'अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्'

हृदयकी गाँठ तभी खुलती है और शोक तथा संशय तभी दूर होते हैं, जब एक सत्यका दर्शन होता है। जो बात नारदने सनत्कुमारसे कही है, उसे अध्यात्मशास्त्रके सभी जिज्ञासुओंने स्वीकार किया है। आत्मदर्शन अनुभवगम्य है। भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें कहा है—

'जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते।'

शाब्दिक ब्रह्मचर्चा करनेवाले व्यक्तिसे ब्रह्म-प्राप्तिके उपाय योगका जिज्ञासु व्यक्ति श्रेष्ठ है।

भारतीय दर्शन सत्यका साक्षात्कार करनेवाले ऋषियोंकी आध्यात्मिक प्रयोगशालाके लिखे गये हैं। हमारा यह विश्वास है कि ऋषियोंने अनुभवके आधारपर जो कुछ कहा है, उसे अनुभवके बिना झुठलाया नहीं जा सकता। हमारे देशका पतन इसी कारण हुआ कि भारतीय समाज और भारतीय दर्शनका सम्बन्ध टूट गया है। भारतीय दर्शनका महान् सूत्र है भेदमें अभेददर्शन—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

(गीता ६। २९-३०)

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥
(गीता १३ । ३०)

'योगी पुरुष सब भूतोंमें आत्माको और आत्मामें सब भूतोंको देखता है । जो 'मैं' में सबको और सबमें 'मैं' को देखता है, उसका नाश नहीं होता । जब मनुष्य जगत्के पृथक्त्व-को एकमें स्थित देखता है, तब ब्रह्मभाव प्राप्त कर लेता है ।' भेदमें अभेदका यह दर्शन जबतक भारतीय समाजका और भारतीयोंके वैयक्तिक जीवनका आधार रहा, तबतक भारत प्रगति करता रहा । इसी दर्शनके आधारपर भारतीयोंमें सहिष्णुता, समानता और समन्वय-बुद्धिका विकास हुआ । यम, नियम और योगके अन्य सब अङ्ग जबतक उक्त सूत्रसे संचालित होते रहे और जबतक भारतीय दर्शन व्यावहारिक क्षेत्रमें रहा, तबतक भारतीय समाज उन्नत और आदर्श समझा जाता था; परंतु जबसे उक्त सूत्र जीवनके क्षेत्रसे दूर और बहुत दूर हो गया, तभीसे भारतीय दर्शनकी प्रतिष्ठा कम हुई है और भारतीय समाज पङ्गु हो गया है । सबमें आत्माको देखनेवाला दर्शन आज उन लोगोंके हाथ है, जो अपने ही-जैसे मनुष्यको नीच मानकर उससे घृणा करते हैं । जो दर्शन प्रयोग और केवल प्रयोगके आधारपर चलता है, आज उसके उत्तराधिकारी अकर्मण्य और दीर्घसूत्री तथा श्रमकी उपेक्षा करनेवाले हैं । हमारे कथनका इतना ही अभिप्राय है कि केवल दर्शनशास्त्रके प्रणेताओंका गुणगान करनेसे और दर्शन-शास्त्रकी ऊँची-ऊँची बातोंको कहनेसे ही हमारा कुछ उपकार होनेवाला नहीं है ।

विज्ञानने आज देश और कालकी दूरी बहुत हदतक हटा दी है । हजारों मीलकी दूरीको आज विज्ञानने कुछ ही घंटोंमें तय करनेका साधन प्रस्तुत कर दिया है । आँख और कानके लिये आज बहुत हदतक दूर और समीपका भेद नहीं रहा । परंतु यह तथ्य है कि देश और कालकी दूरीपर विजय पानेवाला मानव दूसरे मानवसे पहलेकी अपेक्षा अधिक दूर होता जा रहा है । इस दूरीको हटानेकी क्षमता विज्ञानमें नहीं, दर्शनमें है । भारतीय दार्शनिक मानव और मानव ही नहीं—प्राणीमात्रमें और उससे भी आगे पदार्थके आगे एक समान अनस्यूतपर पुरुषको देखनेका निर्देश कर गये हैं । ऊँचे-ऊँचे सिद्धान्तोंके निर्माणकी अपेक्षा आज मानव-निर्माणपर ध्यान देनेकी आवश्यकता है । मानवनिर्माणका अर्थ है मानव-को भेदमें अभेदमूलक दर्शनके आधारपर समानता, सहिष्णुता और सहृदयताके साथ सोचनेका अभ्यासी बनाना । मानव-जाति अपने क्रमिक विकासके साथ पूर्णताकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करती जा रही है । पूर्णताकी प्राप्ति पूर्ण दर्शनके बिना असम्भव है । पूर्णता और अमरता पर्यायवाची शब्द हैं । भगवान् बुद्ध जब उन्तीस वर्षकी उम्रमें आधी रातको अपनी प्रिय पत्नी यशोधरा और पुत्र राहुलको छोड़कर घरसे बाहर निकले, तब उन्होंने प्रतिज्ञा की थी—

जननमरणयोरदृष्टपारो न पुनरहं कपिलाह्वयं प्रवेष्टा ।

जन्म और मृत्युके रहस्यका पता लगाये बिना मैं कपिल वस्तुमें प्रवेश नहीं करूँगा । बुद्ध भगवान्ने जिस रहस्यका पता लगाया, उसे अपनेतक सीमित नहीं रक्खा । मनुष्य-मात्रको दुःखसे छुड़ानेकी इच्छा ही उनके लिये मोक्ष था । भागवतपुराणमें नारायणके प्रति प्रह्लादने जो कहा है, वह भक्तोंके मननयोग्य है । प्रह्लादके शब्द हैं—

प्रायेण देव मुनयः स्वविमुक्तिकामा
मौनं चरन्ति विजने न परार्थनिष्ठाः ।
नैतान् विहाय कृपणान् विमुमुक्ष एको
नान्यं त्वदस्य शरणं भ्रमतोऽनुपश्ये ॥
(७ । ९ । ४४)

'हे देव ! प्रायः मुनिलोग एकान्त जंगलमें अपनी ही मुक्तिके लिये कामना करते हैं । इसमें कोई परार्थ नहीं है । संसारके चक्रमें घूमते हुए इन दयनीय व्यक्तियोंको छोड़कर मैं अकेला मोक्ष नहीं चाहता । आपको छोड़कर कोई शरण नहीं, कृपया उपाय बताइये ।'

केवल अपने ही मोक्षकी इच्छा भक्त प्रह्लादके शब्दोंमें स्वार्थ-साधना है । आदिविद्वान् कपिलने सांख्यशास्त्रकी रचना मनुष्यजातिको त्रिविध दुःखोंसे छुड़ानेके लिये की है । प्राचीन ग्रन्थोंसे पता चलता है कि कपिल अपनी मुक्तावस्थामें-से निर्माण-शरीरद्वारा उस उपदेशकी पूर्तिके लिये अवतीर्ण हुए । सांख्यदर्शनका पहला सूत्र है—

अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः ।

आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक—इन तीन दुःखोंकी अन्तिम निवृत्ति परम पुरुषार्थ है । दर्शनकी उत्पत्तिका कारण क्या है, इस सम्बन्धमें पौरस्त्य और पाश्चात्य दार्शनिकोंमें मतभेद है । प्राच्य दर्शनकार मुक्ति अथवा निःश्रेयसको दर्शनका कारण बतलाते हैं । प्रारम्भसे ही मनुष्यके सामने जरा, मृत्यु और दुःख असाध्य रोग रहे हैं । दुःखसे आत्यन्तिक मुक्तिका नाम

ही मोक्ष है। जरा, मृत्यु और दुःखसे छूटनेके लिये ही भारत और विश्वके महान् दार्शनिकोंने विविध प्रयोग किये हैं। इन सब दार्शनिकोंका हमें ऋणी होना चाहिये।

मनुजीने कहा है—

ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्।
अनपाकृत्य तान्येव मोक्षमिच्छन् व्रजत्यधः॥

'तीन ऋणोंसे उऋण होकर ही मोक्षकी इच्छा करनी चाहिये। ऋणोंसे उऋण हुए बिना मोक्षकी इच्छा करनेसे मनुष्यका पतन होता है।'

इन तीन ऋणोंमें प्रथम ऋण ऋषि-ऋण है। जिन ऋषियों-ने संकटका स्वयं आह्वान करके प्रयोगके आधारपर मानव-समाजके लिये नयी दृष्टि प्रदान की है, उनसे उऋण हुए बिना हमारा वैयक्तिक मोक्ष नहीं होगा। इतना ही नहीं, सामाजिक और राष्ट्रीय दृष्टिसे भी हम हीन ही समझे जायँगे। ऋषि-ऋणसे उऋण होनेका उपाय प्राचीन ऋषियोंद्वारा चलायी गयी सत्यके प्रयोगकी अग्निको न बुझने देना चाहिये। जो ग्रन्थ आज उपलब्ध हैं, उनके अध्ययनका सबको व्रत लेना चाहिये। संस्कृत भाषाकी उपयोगिता राष्ट्रभाषाके रूपमें है या नहीं, इस सम्बन्धमें विवाद हो सकता है; परंतु यह निर्विवाद है कि संस्कृत भाषाका अध्ययन करके कोई भी मनुष्य प्राचीन दर्शनशास्त्रोंके अध्ययनद्वारा महान् आनन्द उपलब्ध कर सकता है, जो दूसरे प्रकारसे सुलभ नहीं। हर्षकी बात है कि हिंदी भाषामें कुछ दार्शनिक ग्रन्थोंका अनुवाद हुआ है, परंतु उन अनुवाद-ग्रन्थोंका जितना प्रचार होना चाहिये था, उतना नहीं हुआ यह हिंदी-जगत्के लिये गौरवकी बात नहीं है। अब सौभाग्यसे विदेशी शासनके हटनेके बाद अंग्रेजी भाषाका साम्राज्य नहीं रहेगा। आशा करनी चाहिये कि जाग्रत् और शिक्षित भारतीय समाज देववाणी संस्कृतकी ओर अभिमुख होगा और प्राचीन साहित्यका पुनः उद्धार होगा।

भारतीय दर्शनका प्रेमी होनेके कारण मैं पौरस्त्य और पाश्चात्त्य दोनों दार्शनिकोंका समान आदर करता हूँ और मेरी उत्कट अभिलाषा है कि संसारभरका दार्शनिक साहित्य शीघ्र ही हिंदी भाषामें अनूदित हो। हिंदी भाषा इस प्रकार समृद्ध होगी और हिंदी भाषा-भाषी ऋषि-ऋणसे उऋण होनेमें क्रियात्मक भाग लेंगे। इतना तो है ही कि स्त्रीमात्रमें मातृबुद्धि रखते हुए भी जिस प्रकार किसी व्यक्तिका अपनी माताकी ओर आकर्षण स्वाभाविक है और सर्वथा उचित है, इसी प्रकार भारतीय समाजका सुर-भारतीकी ओर आकर्षण होना चाहिये।

आध्यात्मिक दृष्टि

(लेखक—प्रो० पं०श्रीलालजीरामजी शुक्ल, एम्० ए०, बी० टी०)

सभी परिस्थितियोंमें भलाई देखना और सभी पुरुषोंमें दैविकताको पहचानना आध्यात्मिक दृष्टिके लक्षण हैं। इमर्सन महाशयका कथन है कि कवि, तत्त्वदर्शी और संतको सभी वस्तुएँ अपने अनुकूल और पवित्र दिखायी देती हैं। सब घटनाएँ लाभकारी, सब दिन शुभ और सभी मनुष्य देवरूप दिखायी देते हैं। यह दृष्टि किसी विरले ही व्यक्तिको प्राप्त होती है। साधारण मनुष्य गुण और दोष दोनोंकी ओर देखता है, वह परिस्थितियोंमें कुछको अनुकूल और कुछको प्रतिकूल देखता है। मनुष्य स्वयं अपूर्ण और दोषयुक्त है, अतएव उसके द्वारा निर्मित संसारमें भी दोष और अपूर्णता रहती है। प्रत्येक मनुष्य अपने संसारका निर्माण अपने-आप करता है। जैसा मनुष्य होता है वैसा ही उसका संसार होता है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे मनुष्य अपनी आन्तरिक भावनाओं-को ही दूसरे लोगोंपर आरोपित करता है। मनुष्यका बाहरी मन एक प्रकारका होता है और भीतरी मन दूसरे प्रकारका। बाहरी मनमें कोई व्यक्ति बड़ा सदाचारी और नैतिक होता है और भीतरी मन इसके ठीक प्रतिकूल होता है। जिस व्यक्तिमें किसी विशेष प्रकारके चरित्रके गुण अति प्रकाशित होते हैं, उसके आन्तरिक मनमें प्रतिकूल गुणोंका उतना ही दमन होता है। चरित्रके दोषोंका दमन अर्थात् विषय-भोग-की इच्छाओंका दमन मानसिक झंझट उत्पन्न कर देता है। इस मानसिक झंझटके कारण एक ओर मनुष्यके चरित्रमें अपने-आपको नियन्त्रित रखनेकी प्रवृत्ति अत्यधिक बढ़ जाती है, वह अपने-आपको तपस्वी बनानेकी चेष्टा करने लगता है और दूसरी ओर वह समाज-सुधारक बननेका प्रयत्न करता है। वह दूसरे लोगोंमें अनेक प्रकारके दोष देखता है और उनके प्रतिकूल आन्दोलन चलाता और उनको प्रकाशित करके विनाश करनेकी चेष्टा करता है। थोड़े ही समयमें तपस्वी व्यक्ति अपने-आपके सुधारकी बातको भूल जाता और दूसरों-के सुधारमें ही लग जाता है। उसके मनमें आत्मनिरीक्षणकी शक्ति ही नहीं रहती। वास्तवमें वह अपने ही दलित दोषों-को दूसरोंपर आरोपित करता है और दूसरोंका सुधार करने-की चेष्टा करके वह अपने-आपको भुलाने मात्रमें समर्थ होता है।

आध्यात्मिक दृष्टि पूर्णताकी दृष्टि है। मनुष्यको जब यह

दृष्टि प्राप्त हो जाती है तो वह अपने-आपमें और अपनेसे बाहर सर्वत्र पूर्णता ही देखता है। जब मनुष्य भीतरसे दुःखी होता है तो वह दुःखका संसार निर्माण कर लेता है। हम जो कुछ दूसरोंके बारेमें सोचते हैं, वह असलमें अपने-आपके विषयमें ही विचार है। संसारमें भले और बुरे दोनों प्रकारके व्यक्ति होते हैं। जैसे हम होते हैं उसी प्रकारके लोगोंसे हम मिलते हैं और उसी प्रकारके लोगोंके ऊपर हमारे विचार केन्द्रित हो जाते हैं। दूसरे लोगोंसे परेशान रहना अपने-आपसे ही परेशान रहनेका प्रतीकमात्र है।

मनुष्यका आत्मा अपने-आपको पहचाननेके लिये ही जगत्‌का निर्माण करता है। जब मनुष्यके बाहरी और भीतरी मनमें एकता नहीं रहती तो ऐसी परिस्थितियाँ सहजमें ही उत्पन्न हो जाती हैं जो उसे दुखी बनावें। मनुष्य इन परिस्थितियोंसे झगड़ता रहता है। वह सोचता है कि एक प्रकारकी परिस्थितियोंका अन्त होनेपर उसे मानसिक शान्ति मिल जायगी, पर ऐसा होता नहीं। ज्यों ही एक प्रकारकी चिन्ताओंका अन्त हुआ कि दूसरे प्रकारकी चिन्ताएँ उसे आ घेरती हैं। इस प्रकार मनुष्य सदा परेशान बना रहता है। परेशानीके कारण मनुष्यको बाहरी ओर चिन्तन न करके अपने विषयमें ही चिन्तन करना पड़ता है। जब मनुष्य अन्तर्मुखी होता है तो उसकी कल्पित त्रुटियाँ अपने-आप दूर हो जाती हैं।

जिस मनुष्यका मन सुलझा रहता है, वह किसी प्रकारकी घटना अथवा किसी व्यक्तिसे न तो कोई द्वेष रखता है और न किसी विशेष प्रकारका लगाव रखता है। बाहरी जगत्‌में वही होता है जो हमारी आन्तरिक भलाईके लिये है। जिन लोगोंसे हम मिलते हैं और जिनके साथ हम रहते हैं, वे हमारे वास्तविक हितैषी हैं। इन्हीं लोगोंकी सेवा करना हमारा परम कर्तव्य है। इनकी सेवा करनेसे मनुष्यको जो आत्मप्रसाद उत्पन्न होता है, वही इस सेवाका सबसे अधिक मूल्य है। इस आत्मप्रसादसे मनुष्यकी मानसिक ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं और वह सत्यको प्रत्यक्षरूपसे देखने लगता है।

मनुष्यके मनमें दो प्रकारकी वृत्तियाँ उठती हैं—एक ध्वंसात्मक और दूसरी सृजनात्मक। ध्वंसात्मक विचार मनुष्यको शान्ति न देकर दुःख देते हैं। दूसरे व्यक्तिकी आलोचना करना ध्वंसात्मक विचारोंकी प्रबलताका द्योतक है। इससे अपने मनको शान्ति न होकर अशान्ति ही होती है। सृजनात्मक विचार अपना और दूसरेका कल्याण करते हैं। इससे हमारा उत्साह बढ़ता है और नयी शक्तिका संचार होता है। अनुचित विचारोंको मनसे निकालनेका सर्वोत्तम उपाय उनके प्रति उदासीन होना है। जिन विचारोंको जितना ही अधिक उद्वेगके साथ मनसे निकालनेकी चेष्टा की जाती है, वे उतने ही प्रबल हो जाते हैं। अतएव मनुष्य एक प्रकारके मानसिक झंझटमें पड़ जाता है। वह एक ओर अपने-आपसे लड़ता और दूसरी ओर इस लड़ाईमें अपने-आपको असमर्थ पाता है। सामर्थ्य नकारात्मक विचारोंसे उत्पन्न नहीं होता। सामर्थ्यकी जड़ सृजनात्मक विचार है। आत्मोन्नति और लोकसेवाकी दृष्टि रखनेवाले व्यक्तिको कुछ नये भावोंके निर्माणमें लग जाना चाहिये। न अपने विचारोंसे झगड़ा करना और न दूसरे लोगोंके विचारोंसे झगड़ा करना, वरं नये विचारोंके निर्माणमें लग जाना—आध्यात्मिक शान्ति प्राप्त करनेका सर्वोत्तम उपाय है। उपादेयकी चर्चा करना और हेयको मानसपटलपर न आने देना आत्मविकासका मार्ग है।

अपने कामकी धुन ही मनुष्यके जीवनको सफल बनाती है। कामकी धुनमें मनुष्यके मनमें नकारात्मक विचार नहीं आते। दूसरे लोग भी अपने काममें लगे हुए व्यक्तिकी ओर आकृष्ट होते हैं और उसकी सहायता करने लगते हैं। दूसरोंकी आलोचना करनेवाले व्यक्तिकी सहायता कोई नहीं करता। उसे न बाहरसे कोई सहायक मिलता है और न भीतरसे। सदा आलोचना करनेवाला व्यक्ति हतोत्साह हो जाता है। वह संसारके सभी लोगोंको धूर्त और ठगके रूपमें देखने लगता है। वास्तवमें वह अपने भीतरी भावोंको ही बाहरी लोगोंके रूपमें देखता है।

मनुष्यके मनमें ही उसके सुख और दुःखका कारण है। मानसिक द्वन्द्व बाहरी द्वन्द्वमें प्रकाशित होता है। इस द्वन्द्वको मिटानेका उपाय उससे परेशान होना नहीं, वरं किसी रचनात्मक काममें लग जाना है। किसी प्रकारकी चिन्ता मानसिक असन्तोषको दर्शाती है। बाहरी चिन्ता भीतरी चिन्ताका प्रतीकमात्र है। इस चिन्ताका अन्त अपने-आपको जानकर रचनात्मक काममें लगनेसे हो जाता है। दूसरोंके कामोंको न देखकर अपने-आपके कामको ही देखना अपनी ग्रन्थियोंके सुलझानेका उपाय है। ऐसी कोई परिस्थिति नहीं जिसमें मनुष्यको रचनात्मक काम करनेकी जगह न हो और ऐसी भी कोई परिस्थिति नहीं जिसमें परेशानीके लिये स्थान न हो। बाहरी पदार्थोंको सुधारनेकी अपेक्षा अपने-आपको सुधारनेमें मौलिक लाभ होता है।

अवधूत

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥

(गीता १२ । १८-१९)

'वह एक पागल आ गया है आजकल ! देखा होगा आपने ।'

'पूरा बना हुआ है, स्वार्थके लिये स्वाँग बनाया है उसने ।'

'समाज तो अन्धा है, ऐसोंका भी सत्कार करनेवाले निकल ही आते हैं ।'

'भैंसे-जैसा मोटा है और बिना परिश्रमके माल उड़ाता है ।'

'इसी अन्धश्रद्धासे तो हमारा सर्वनाश हुआ है । ये लाखों आलसी कुछ करने लगें तो···।'

'करनेकी एक रही । कहीं चोरी या डकैतीकी टोहमें न हों तो कुशल समझो । वैसे घरोंकी नारियोंपर तो दृष्टि रहती ही है इन मुसटंडोंकी ।'

'जब बराबर सुस्वादु भोजन मिलेगा तो संयम कैसे सम्भव है ?'

'चाहे जैसे हो, इस जंगलीको तो यहाँसे निकालकर ही रहूँगा ।'

'आपलोग एक महापुरुषकी निन्दा कर रहे हैं ।' अन्ततः तीसरा श्रोता मौन नहीं रह सका ।

'ऐसे ही महापुरुषोंने तो समाजका सर्वनाश कर डाला ।'

'आप-जैसे लोग ही इनको पालकर समाजमें अनाचार फैलाते हैं ।'

'मेरी शक्ति कितनी ।' श्रद्धालुका कण्ठ भर आया था । 'इस प्रकार नित्य प्रसन्न, अपने-आपमें निमग्न आनन्दमूर्तिके दर्शन मैंने तो कभी किये नहीं । मैं तो अपना सौभाग्य मानता हूँ कि मेरा रूखा-सूखा अन्न उन्होंने स्वीकार कर लिया ।'

'आपकी खीर-पूड़ी स्वीकार न होगी तो क्या चनेके टिक्कर ढूँढेंगे ।'

'घरपर होते तो हल जोतते-जोतते नानी याद आ जाती । निठल्ले तो नित्य प्रसन्न रहेंगे ही ।'

'साधुकी निन्दासे पाप ही होता है । उनकी हानि तो क्या होनी है ।' वह उठकर जाने लगा । जहाँ धर्म, ईश्वर और संतोंकी निन्दा होती हो, वहाँ बैठकर उसे सुनना भी अपराध है ।

'अरे चले कहाँ आप ? वे आपके महापुरुष आ रहे हैं ।' हँसकर एक ओर संकेत किया गया ।

दीर्घ भव्य आकृति, सुगठित स्थूल शरीर, गौर वर्ण, धूलिधूसरित, मस्तकपर धूलिसनी अलकें, आजानुबाहु, विशाल नेत्र, उच्च विस्तृत भाल—जैसे कोई महामूल्यवान् माणिक कीचड़से ढका हो । उन दिगम्बरको बालकोंने घेर रक्खा था और सब चिल्ला रहे थे । कीचड़-गोबरसे बालकोंने उनके पूरे शरीरको रँग दिया था । कोई कंकड़ियाँ मारता था और कोई जल या कीचड़ डालता । वे रह-रहकर खिलखिला पड़ते । जिधर मनमें आता, चलने लगते और चाहे जहाँ खड़े हो जाते ।

'आ तुझे पकड़ लूँ !' एक पुष्पपर तितली बैठी थी । बच्चोंकी भाँति दबे पैर बढ़े । मानवका कलुषित हृदय भले हृदयके प्रभावको ग्रहण न करे, पशु-पक्षी-कीट तो भावसे अभिभूत हो जाते हैं । तितली उड़कर उनकी लाल कीचड़ लगी हथेलीपर बैठ गयी । 'अरे,

अरे, कीड़ा नहीं छूता मैं । भाग जा ! भाग जा ! जैसे कोई भय आ गया हो । हाथोंको हिलाकर पीछे हटे । तितली पुष्पको भूलकर उनके ही चारों ओर परिक्रमा कर रही थी । बच्चे ताली बजा रहे थे ।

'अबे, ओ पागलके बच्चे !' क्रोधसे उन्होंने एक चपत जड़ दी । 'बैलके समान मोटा हुआ है और काम करनेसे जान जाती है । सीधे इस गाँवसे चला जा, नहीं तो मैं तेरा सारा पागलपन उतार दूँगा ।' चिल्ला-कर जैसे आकाश फाड़ देना चाहते हों ।

'अरे, अरे, यह क्या करते हैं आप !' श्रद्धालुने बीचमें पड़कर रोका ।

'अं, अं, मक्खी मर जायगी तो !' रोनेका नाट्य कर रहे थे वे अवधूत ! 'ला, तेरा हाथ दुखता होगा ।' जैसे चोट लगनेपर बच्चोंको लोग फूँक मारते हैं, वैसे ही मुँह बनाया उन्होंने हाथपर फूँक मारनेको ।

'मैं कहता हूँ, यह नाटक छोड़कर सीधे चंपत बन !' चिल्लाते हुए उन्होंने तड़-तड़ दो-तीन हाथ और चला दिये । बीच-बचाव करनेमें एक चपत श्रद्धालुपर भी पड़ गयी ।

'मैं भाग जाऊँगा, तुम दोनों लड़ते हो !' बड़े जोरसे खिलखिलाकर हँसे और सचमुच भाग चले ।

'प्रभो ! मेरे गृहको श्रीचरणोंसे पवित्र करें ! बड़ा कष्ट दिया इन दुष्टोंने ।' श्रद्धालु वहाँसे दौड़कर भागे आये । उन्होंने नम्रतापूर्वक मस्तक झुकाकर प्रणाम किया । डाँट पाकर बालक दूर हट गये थे ।

'घर जा तू, मैं क्यों जाऊँ ? तेरी अम्मा कान पकड़ेगी तेरे । मेरे कान कौआ ले जायगा—हाँ !' दोनों कानोंपर हाथ रक्खा उन्होंने । जैसे सचमुच कानोंको ले जाने कोई कौआ आ गया हो । भागे पूरे वेगसे । श्रद्धालु चकित देखता रह गया ।

× × × ×

[२]

'ले भाई ! तुझे सर्दी लगती है !' कहीं कूड़ेपरसे एक मोटा चिथड़ा उठा लिया था । हाथोंपर उसे लिये आ रहे थे । राखके ढेरको कुरेदकर एक पिल्ला बैठा था । मरियल-सा कुत्तेका बच्चा और उसके सब केश खाजसे झड़ चुके थे । लाल-लाल चमड़ा देखकर घृणा होती थी । शिशिर ऋतु, नन्ही फुहार और पश्चिमी तीव्र पवन । बेचारा कुत्ता मुखको पिछली टाँगोंके बीच दबा-कर गोल हो गया था । उन्होंने चिथड़ा उसके ऊपर डाल दिया और थपथपाया । कुत्ता तनिक हिला, एक बार दबी पूँछमें गति आयी और फिर सोनेके लिये उसने निश्चिन्त होकर नेत्र बंद कर लिये ।

'बाबा ! देखो न इस पागलको क्या ठंड नहीं लगती ?' अग्निके चारों ओर पुआलके बने गोल आसनों पर एक वृद्ध हाथमें तंबाकू लेकर चूनेकी डिबियासे चूना निकाल रहे थे । पासमें उन्हींके समान एक पोपले मुखकी दृष्टि उनके हाथोंपर लगी थी । एक बच्चा एक तिनकेका अगला भाग जलाकर धूम्रपानका प्रयास कर रहा था और दूसरा एक पतली लकड़ी घुमाकर अङ्गारचक्र देखनेमें लगा था । एकने कम्बलको सम्हालते हुए पूछा। सबने कम्बल या चद्दरें मस्तकपर डालकर पीठका भाग ढँक रक्खा था । किसी-किसीने दोनों पैर आगे बढ़ा दिये थे और तलवे सेंक रहे थे । एक बार-बार हाथोंको गरम करके मुखपर फेर रहा था ।

'देखो न बाबा ! वह तो बूँदोंमें भीगता जा रहा है !' दूसरे बच्चेने हाथ पकड़ा ।

'वह तो पागल है ! उसे न सर्दीका पता लगता और न गर्मीका !' वृद्धको इस मीमांसाका अवकाश नहीं था कि पागलको शीत-उष्णका कष्ट होता है या नहीं। उन्होंने तो चूना निकाल लिया था । चूनेदानी सम्हाल-कर बंद की और उसे बटुएमें रखकर बटुएके दोनों ओरकी रस्सी खींचकर उसका मुख संकुचित करके बाँ

किया। बटुआ जेबमें रखकर तंबाकूपर चिटकी चलानेमें लग गये।

'हाँ बाबा! उसे तो गर्मी भी नहीं लगती। मैं, जब आम थे न, दोपहरीमें कच्चे आम लेने गया था। वहीं जब लू लग गयी थी मुझे।' एक लड़केने समर्थन किया। 'वह आमके नीचे भी नहीं बैठा था। उस मधुआके कुएँकी जगतपर अंटाचित्त पड़ा था। मुन्ना देखने गया उसे तो पक्की जगतपर पैर रखते ही चिल्ला-कर भागा।'

'बाबा! मेरे पैर जल गये तो भागता नहीं!' मुन्नाने पैरोंकी ओर देखा जैसे अब भी वहाँ जलनेका कोई चिह्न मिल जायगा।

'तुमने देखा कहाँ, वह तो वर्षामें खेतकी मेंड़पर सोया रहता था!' बड़े होनेके कारण दामोदरको भी योग्यता तो बतानी चाहिये।

'भैया! दौड़ो! देखो वह गिर गया!' चर्चा बीचमें ही बंद हो गयी। लड़कीने सबका ध्यान एक ओर आकर्षित किया। बूँदोंने मार्गको चिकना कर दिया था। पैर फिसला और स्थूल शरीर गिर पड़ा। वृद्धने कम्बल सम्हाला और उठ खड़े हुए। लड़के पहले ही दौड़ गये थे। हाथ पकड़कर वे पागलको उठाकर ले आये और अग्निके समीप बैठा दिया।

'लाल, लाल, मेरा पैर लाल, लाल!' घुटना कंकड़ों-पर पड़ा था। रक्त आ गया था वहाँसे। पागलने हाथमें रक्त लगाया और बच्चोंको दिखाने लगा। बड़ा प्रसन्न था वह। अग्निकी उष्णताके कारण रोएँ सीधे होने लगे थे, इधर उसका ध्यान नहीं था।

'हल्दी-चूना!' वृद्धने लड़कीको आदेश दिया। गरम करके लेप किया उन्होंने और ऊपरसे एक वस्त्र-खण्ड भली प्रकार बाँध दिया।

'मेरे पैरने कपड़ा पहन लिया!' पागलको नवीन कौतूहल हुआ।

'तुम भी थोड़ा खा लो!' हरी मटरके दाने तेलमें तले गये थे और उनमें नमक-मिर्च पड़ी थी। एक-एक कटोरेमें सबके लिये आया। वृद्धने तंबाकू अपने दुपट्टे-के छोरपर बाँध दी और एक कटोरा पागलको देकर एक स्वयं लिया।

'बाबा! यह कैसे खाता है!' बच्चोंको कुतूहल हो रहा था। कटोरेमें मुख लगाकर वह इस प्रकार भोजन कर रहा था, जैसे उनका बछड़ा करता है। वह भोजनमें तल्लीन था। उसे किसीकी चिन्ता नहीं थी।

'पानी चाहिये!' उसने कटोरेमें ही दूध मिला शर्बत पी लिया था। हाथ धोने और आचमन करनेकी वहाँ आवश्यकता नहीं थी।

'तंबाकू लोगे!' वृद्धने तीन बार ताली बजाकर ठोंका। दो लड़कोंको छींकें आयीं। दूसरोंने मुख फिरा लिया। एक चिटकी दूसरे वृद्धको देकर दूसरी चिटकी उन्होंने पागलके फैले हाथपर रख दी। उसने अपने हाथको नासिकाके समीप ले जाकर सूँघा और इस प्रकार नाक सिकोड़ ली जैसे यह पदार्थ पसंद नहीं आया। तंबाकू भूमिपर डाल दी उसने और उठ खड़ा हुआ।

'बैठो, सर्दीमें कहाँ ठिठुरते फिरोगे। भोजन करके तब जाना। तबतक बूँदें बंद हो जायँगी और सम्भव है कि धूप भी निकल आवे!' वृद्धने आग्रह किया। पागल क्या, जो सबकी बातें समझ ले और व्यवस्थित व्यवहार करे। वह तो इस प्रकार चला गया, जैसे कुछ सुनता ही न हो।

'बाबा! उसे फटा कम्बल दे आऊँ?' एक लड़केको बड़ी दया आयी थी उसपर।

'दे आओ! वैसे तो किसी कुत्तेके पिल्ले या बकरीपर ही डाल देगा वह; किंतु जबतक रक्खेगा, ठंड तो न लगेगी।' भोले ग्रामीणोंमें श्रद्धा अधिक होती है। उनके अपने अभाव हैं, कष्टके अनुभव उन्हें सिखलाते

हैं। लड़का दौड़ा और उसने कम्बल उस पागलके शरीरपर लपेट दिया। कौन कह सकता है कि कबतक वह उसके शरीरपर रहेगा।

'दोपहरको उसके लिये भी रोटी बना लूँ!' लड़कीने पूछा! उसने सुना था कि वृद्ध उसे दोपहरको भोजनको कह चुके हैं और जब किसीको भोजनको कहा जा चुका तो भोजन तो उसे पहुँचाना ही चाहिये।

'पगली है तू भी! उसे कहाँ ढूँढ़ेंगे हम।' सच तो है, पागलका कहीं घर तो होता नहीं। उसका कोई निश्चित गन्तव्य भी नहीं। कहाँ कब वह रहेगा, कैसे जाना जाय।

'भाई! वह पागल तो नहीं लगता।' दूसरे वृद्धने कहा 'न तो कभी किसीको गाली देता है और न मारता है। मल-मूत्र भी मार्गमें या किसीके द्वारपर नहीं करता।' जान-बूझकर उन्होंने यह नहीं कहा कि शौचके लिये उसे जलकी आवश्यकता नहीं होती और स्नान तो वर्षाके बादल ही कभी कराते होंगे।

'शान्त पागल भी तो होते हैं!' उत्तर और कोई हो नहीं सकता था। 'रामपुरके शास्त्रीजीने महात्मा समझा था। नित्य ढूँढ़कर भोजन कराते, पकड़कर स्नान कराते और रात्रिमें अपनी शय्यापर शयन कराते; किंतु एक दिन वहाँसे पता नहीं कहाँ चला गया यह और आज यहाँ देखा है मैंने। जिसकी कहीं माया-ममता नहीं, शरीरके सुख-दुःखका पता नहीं, किसीके भले-बुरे-का ज्ञान नहीं, वह पागल नहीं तो और क्या है।' कोई भी पागल ही कहेगा उसे देखकर। वृद्धका निर्णय अनुचित तो नहीं ही था।

× × × ×

[३]

'आप यहाँ इस प्रकार पड़े हैं?' प्रणाम करके हाथ जोड़कर वे चरणोंके समीप बैठ गये। इंगुदीके वृक्षके नीचे महापुरुष एक सँकरे स्थानमें दाहिनी हथेलीपर मस्तक रक्खे आधे लेटे थे। यद्यपि उनका शरीर मैले ढँका था, पर उससे एक मधुर सुगन्ध निकल रही थी। ललाटपर घुँघराली अलकें जटा बनने लगी थीं। ऋतुमें नालेने यहाँ चौड़ी भूमि काट दी है। प्राकृतिक सौन्दर्य देखनेकी इच्छासे इस ऊबड़-खाबड़ स्थलकी ओर न आये होते तो इन महापुरुषके दर्शन न होते। शास्त्रीजी शिष्योंके साथ यमुना-किनारे कुञ्जोंमें घूमने निकले थे। एक तेजस्वी महापुरुषको देखकर वे उनके पास आ गये। प्रणामके पश्चात् उन्होंने पूछा—'बिना पौष्टिक पदार्थोंके सेवन किये शरीर पुष्ट होता नहीं। पौष्टिक पदार्थ, सुख-भोग परिश्रमसे प्राप्त होते हैं। आप कोई उद्यम करते जान नहीं पड़ते। आपके श्रीमुखपर जो विलक्षण प्रसन्नता झलक रही है, संसारकी उलझनोंमें लगे पुरुषोंको ऐसी निश्चिन्तता एवं प्रसन्नता प्राप्त हो ही नहीं सकती। बिना चाहे हुए शरीरकी यह पुष्टता और यह आनन्द आपको कैसे प्राप्त हुआ?'

'तुम जिज्ञासु हो और जो जाननेका अधिकारी है उससे छिपाना उचित नहीं है।' वे महापुरुष न हिले न उठनेका उन्होंने प्रयत्न किया। वैसे ही लेटे-लेटे बोले—'उद्यम करनेवालेको ही भोग प्राप्त होते हैं—तुम्हारे इस निश्चयमें ही दोष है। शास्त्रज्ञको ऐसा कुतर्क नहीं करना चाहिये। तुमको पता है कि शरीरमें चेष्टा या तो वासनासे होती है, या प्रकृतिकी प्रेरणासे। चेष्टामें कर्तापनका अहंकार होनेसे उस कर्मका चित्तमें संस्कार बनता है। यही संस्कार अगले जन्मोंमें प्रारब्ध बनते हैं। चेष्टासे जो प्रत्यक्ष फल मिलता प्रतीत होता है वह तो प्रारब्धसे प्राप्त होता है। चेष्टाका फल तो है वह।'

कर्म, संस्कार, फल और अहंकार—ये सब पृथक् पृथक् हैं, यह बात शास्त्रीजीने मीमांसाशास्त्रमें पढ़ी अवश्य है, परंतु वह शास्त्रीय सिद्धान्त मूर्ति बनकर आज ही उनके सामने आया है।

'वासनाद्वारा जो चेष्टा होती है, वह शरीरमें आसक्ति होनेसे होती है। जबतक शरीरमें आसक्ति है, सन्तोष हो नहीं सकता। जिसे सन्तोष नहीं, उसे सुख कैसा।' महापुरुष कहते जा रहे थे—'मेरा प्रारब्ध कभी सुख देता है मुझे, कभी दुःख। आज यहाँ भूमिपर पड़ा हूँ, कल कोई उत्तम शय्यापर शयन करायेगा। कभी बच्चे गोबर-कीचड़ लगाते हैं, कभी श्रद्धालु चन्दन लगाते हैं। कोई कंकड़ मारते हैं, कोई पुष्पाञ्जलि देते हैं। कभी उपवास होता है, कभी कुछ दाने मिल जाते हैं, कभी-कभी षट्रस व्यञ्जनोंसे सत्कार होता है मेरा। प्रारब्धके दिये कड़वे उपहारोंसे असन्तोष और सुन्दर भोगोंसे मोह व्यर्थ है। वासनासे असन्तोष होता है। प्रारब्धसे जो अच्छा या बुरा प्राप्त होना है, प्रयत्न उसमें कुछ घटा-बढ़ा नहीं सकता। जो भी आता है, मैं उसीमें सन्तुष्ट रहता हूँ। प्रकृतिकी प्रेरणासे ही मेरे शरीरमें चेष्टा होती है। चेष्टामें अहङ्कार करके मैं शोकातुर क्यों बनूँ।'

'मैं भूलता नहीं हूँ—कल आपको ही उस गाँवमें कुछ दुष्ट गालियाँ दे रहे थे।' शास्त्रीजीने मस्तक झुकाया। 'मैं वहाँ पहुँचा तो आप चले गये थे। ऐसे महापुरुषका अपमान······।'

'नारायण! वे मेरे सम्बन्धमें कुछ शब्द कह रहे थे और अब तुम कुछ शब्द कह रहे हो!' वे धीरेसे हँसे। 'इस मिट्टीके पुतलेको लक्ष्य करके कुछ शब्द कहे गये। शब्द आकाशका गुण है। उसमें निन्दा-स्तुति, मान-अपमान कल्पना है। सब शब्द हैं। तुम्हें विश्वास न हो तो किसी ऐसे व्यक्तिके सम्मुख बोलकर देखो जो तुम्हारी भाषा न जानता हो। शब्दमें अर्थकी तो कल्पना की गयी है। मैं दूसरेकी कल्पनाको क्यों स्वीकार करूँ। शब्दको केवल शब्द मानकर मैं मौन रहता हूँ।'

'यहाँसे समीप ही इस सेवकका निवास है।' शास्त्रीजीने आग्रह किया, 'आप जहाँ आज्ञा देंगे, वहीं कुटिया बना दी जायगी और जो अनुकूल पड़ेगा, वैसा प्रसाद उपस्थित करनेका प्रयत्न करूँगा। कलसे चातुर्मास्यका प्रारम्भ हो रहा है। मेरे-जैसे सेवकपर कुछ समयतक कृपा होनी चाहिये।' शास्त्रीजी जानते थे कि संन्यासी कहीं एक स्थानपर नहीं रहते। शास्त्रके आज्ञानुसार चातुर्मास्य एक स्थानपर करना स्वीकार हो जाय तो सत्संगका लाभ मिल सकता है।

'बच्चे हो तुम!' खिलखिलाकर हँसे वे। 'अनुकूल और प्रतिकूल क्या? प्रारब्ध जो स्वतः उपस्थित करे, वही अनुकूल होना चाहिये। बिना प्रयास जो भी प्राप्त हो अथवा न प्राप्त हो। सर्प कभी घर नहीं बनाया करता। वह तो दूसरोंके बनाये, अस्त-व्यस्त सूने घरको बसेरा बना लेता है। घर न मिलनेपर कहीं भी कुंडली मारकर बैठ जाता है। चातुर्मास्यका विधान संन्यासीके लिये है और आतिथ्यका तुम्हारे लिये। प्रकृतिसे प्रेरित पशुके लिये कोई विधान नहीं।'

शास्त्रीजी विद्वान् थे। उन्होंने समझ लिया कि ऐसे अवधूत या तो खंडहरोंमें पड़े रहना उपयुक्त मानते हैं या कहीं भी तरुतले, झाड़ियोंमें, भूमिपर। शरीरके सुख-दुःखसे निश्चिन्त, प्रत्येक प्रकारके संग्रहसे दूर, शारीरिक सुखके लिये चिन्तन न करनेवालेका शरीर केवल प्रकृति-द्वारा पशु-शरीरोंकी भाँति संचालित होता है। ऐसे गुणातीत पुरुष विधि-निषेधसे परे होते हैं।

'वर्षाके कारण यह स्थान ठहरनेके अयोग्य हो जायगा।' शास्त्रीजीकी श्रद्धा बाध्य कर रही थी कि कुछ सेवाका सौभाग्य प्राप्त होना ही चाहिये। 'मेरी कुटियाको भी चरणरजसे पवित्र होना चाहिये। इस प्रकार तो यहाँके उजड्ड लोग अत्यन्त क्लेश देते हैं।'

'वर्षा आवेगी, यहाँ नाकमें जल आवेगा तो पृथ्वीमें क्या ऊँचा स्थान नहीं?' महात्मा अपनी मस्तीमें थे। 'कष्ट या सुख कौन देता है किसको? मैं स्वयं अपनेको कष्ट क्यों दूँगा। कष्ट पाऊँगा भी कहाँ देनेके लिये।

ये मिट्टीके पुतले—मिट्टी मिट्टीको मिट्टी ही देती है। तुम तो पण्डित हो। ये ग्रहोंके योगसे शरीर होते हैं न ? टकराने दो ग्रहोंसे ग्रहोंको। अपना क्या बिगड़ता है।'

शास्त्रीजीने फिर प्रार्थना की। वे उठकर खड़े हो गये। जिधर ले जाया गया, चले गये। बड़ी सावधानीसे शास्त्रीजीने स्नान कराया उन्हें। रीठेके फेनिल जलसे उनकी घुँघुराली धूलिभरी जटाएँ स्वच्छ की गयीं। शरीरमें सुगन्धित अंगराग लगा और मस्तकमें पाटलसार (इत्र) तैल। सुस्वादु भोजनसे सत्कार करके शयन कराया उन्हें चन्दनकी शय्यापर। सावधानी रखनी पड़ती थी कि वे कहीं चले न जायँ। स्नान, भोजन, शयन, आच्छादन—सब कराना पड़ता था। वे स्वयं कुछ करते नहीं थे।

एक दिन प्रातः शिष्योंने सूचना दी, 'शय्या खाली पड़ी है। कौशेय वस्त्र (रेशमी कपड़े) वहीं रह गये हैं। वे दिगम्बर कहीं चले गये।' अवधूत जब रमते राम हुए तो कौन पा सकता है उन्हें। ढूँढ़नेका प्रयत्न असफल रहा। शास्त्रीजीने चन्दन-पादुकाओंको सिंहासनपर स्थापित किया। वे नित्य उनपर पुष्पोंकी अञ्जलि अर्पित करके प्रणाम कर लेते हैं।

× × × ×

[४]

'आजकल वह पागल फिर आया है। मैंने कल देखा है उसे।'

''बड़े काइयाँ होते हैं ये। उस बार तो बच्चूको केवाँच लगायी थी, इस बार एक दर्जन बिच्छू ऊपर न फेंक दूँ तो मेरा नाम।'

'कुछ भी हो, किसीको इस प्रकार पीड़ा देना उचित नहीं।'

'ये बदमाश, इनका सिर बिना डंडेके रास्तेपर आता नहीं। पता नहीं किस घातमें यह फिर आया है। उस बार दाव नहीं लगा था कोई।'

'बच्चे ही बहुत हैं इन उपद्रवोंके लिये।' 'वह गधा, बालकोंके हाथके पत्थरोंसे प्रभावित कहाँ होता है। आओ चलो, तुम केवल खड़े-खड़े देखते रहना।' साथीको एक ओर खींचकर ले चला वह।

'तब क्या तुमने बिच्छू एकत्र कर रक्खे हैं ?'

'मुझे तो पालना पसंद है। मेरे पिंजरेमें बड़े-बड़े पंद्रह तो अवश्य होंगे!' घर जाकर उन्होंने एक आ[लमारी]मेंसे पिंजरा निकाला। अलमोनियमका डिब्बा, छोटे छोटे छिद्रोंसे भरा था। ढक्कन हटाते ही काले [बिच्छू] उठ गये और सब सतर्क हो गये। उसमें कुछ [मिट्टी] पड़ी थी और उसपर किसीका एक पैर और डंक प[ड़ा] था। किसीने मल्लयुद्धमें प्रतिद्वन्द्वीको पेटमें पहुँचा दि[या] था, यह अवशेष उसीका था। एक चौड़े मुखकी शीशी[में] चमचेसे पकड़कर भर दिये गये सब और ऊपरसे का[र्क] लग गया।

'बड़ी भयंकर जाति है!'

'अब चलो खोज करने!' शीशी कोटकी जे[ब]में रख ली गयी।

श्यामसुन्दर मदनमोहन श्रीवृन्दावनचन्द्र।
जय जय राधे कृष्ण राधे कृष्ण राधे गोविन्द॥

दूरसे एक मधुर ध्वनि सुनायी पड़ रही थी। दो[नों] हाथ उठाये कोई उछलता-कूदता गा रहा था तन्म[य] होकर। कुछ लोग घेरे हुए थे उसे। 'आज तो न[या] स्वाँग बनाया है!' एकने दूसरेके कानमें कहा। जिसे ढूँढ़ कर रहे थे, उसे पहचान लिया था उन्होंने।

'गुरुदेव!' दोनोंको आश्चर्य हुआ, 'रामपुरके शास्त्रीजी तो प्रख्यात विद्वान् हैं। वे इस प्रकार इस पागलके सम्मुख प्रणाम क्यों कर रहे हैं?'

'मैंने कहा नहीं था कि पूरा गुरुघंटाल है। देखो कितने बड़े-बड़ोंके सिरपर उल्लूकी लकड़ी घुमा चुका है। ये शास्त्रीजी इसीकी खोजमें आये होंगे। आश्चर्य नहीं कि यहाँसे खिसककर यह इतने दि[नों]

रामपुर ही रहा हो !' विष भरा था वाणीमें ।

'इस भले आदमीको हो क्या गया है ? लज्जा भी नहीं आती !' आश्चर्य उचित ही था । इतना बड़ा विद्वान् इतने लोगोंके सामने इस प्रकार हाथ उठाकर बंदरनाच नाचने लगे तो क्या कहा जाय । पागल तो भला पागल ही था, किंतु उसका पैर छूते ही शास्त्रीजी-पर भी पागलपन सवार हो गया । कहीं दुपट्टा गिरा और कहीं साफा । उस नंगे पागलके साथ हाथ उठाकर वे भी नाचने लगे ।

'अरे, यह तो वही पागल है, जिसे तूने कम्बल दिया था ।' समीप खड़े एक वृद्धने अपना हाथ पकड़-कर खड़े बालकको दोनों सामनेके आदमियोंके बीचसे आगे बढ़ा दिया और दिखाया ।

'बाबा ! मैं बुलाता हूँ इसे !' चंचल बालक आगे बढ़ा । यह क्या हो रहा है ? पागलको स्पर्श करते ही वह बालक भी हाथ उठाकर नाचने लगा । वृद्ध घबड़ाया। उसने लपककर अपने बच्चेका हाथ पकड़ लिया और तब दोनों हाथ उठाकर पागलके साथ वह भी नृत्य करने लगा ।

'यह क्या कोई जादू जानता है ?' वहाँ नेत्रोंसे अविराम अश्रुप्रवाह चल रहा था । पुतलियाँ ऊपर उठ गयी थीं और मानो सुदूर नीलक्षितिजके उस पार किसीको देखकर वह पुकार रहा है उसे ।

'कुछ भी हो, मैं इस नाटकको अभी समाप्त कर देता हूँ । छठीका दूध याद आ जायगा ।' भीड़में तनिक आगे खिसककर वह पागलके समीप हो गया । शीशी हाथमें आ गयी और हाथ ऊपर उठाकर कार्क खोलकर उसने शीशी मस्तकपर उलटी । 'हाय रे, मरा रे !' गिर पड़ा चिल्लाकर स्वयं ही । बिच्छू कोई कंकड़ तो नहीं कि शीशी उलटते ही गिर पड़ेंगे । एकने रेंगकर हाथपर डंक मारा और तब हाथने अपने ही मस्तकपर शीशी पटक दी । दनादन डंक लगने लगे । चौंककर लोगोंने देखा और सब भयसे पीछे हट गये । वस्त्रोंपर बड़े भयंकर काले बिच्छू टहल रहे थे और उन्हें हटानेके प्रयत्नमें दूसरा हाथ भी डंकसे घायल हो चुका था । वह पड़ा तड़प रहा था भूमिपर ।

'महापुरुषोंकी निन्दा और उनको कष्ट देना एक दिन फल देता ही है !' एक ओर एक व्यक्ति कह रहा था और पीड़ितके साथीने देखा कि वह इस पागलका पुराना श्रद्धालु है ! सहसा पागलके पैर बढ़े, नेत्र खुले और सम्भवतः चीत्कार कानोंमें पड़ी । दोनों हाथ झुके और पीड़ित उन हाथोंके सहारे उठ खड़ा हुआ । कहाँ गयी पीड़ा ? बिच्छुओंने डंक सीधे कर लिये और भूमिमें टपककर इधर-उधर भागने लगे । घायलने दोनों हाथ ऊपर उठा लिये थे और अब तो सब-के-सब आत्मविस्मृत होकर हाथ उठाये पुकार-पुकारकर गा रहे थे—
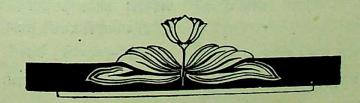
श्यामसुन्दर मदनमोहन श्रीवृन्दावनचन्द्र ।
जय जय राधे कृष्ण राधे कृष्ण राधे गोविन्द ॥

दानवीर

[एकाङ्की नाटक]

(लेखक—श्रीशिवशङ्करजी वाशिष्ठ)

पात्र-परिचय

श्रीकृष्ण–द्वारकाधीश भगवान्।

अर्जुन–पाँच पाण्डवोंमेंसे एक ।

कर्ण–दुर्योधनके सेनापति अङ्गनरेश ।

प्रथम दृश्य

[अस्ताचलकी ओर गमन करनेवाले भगवान् भास्करकी अन्तिम किरणें कुरुक्षेत्रकी विशाल रक्तरञ्जित भूमिपर पड़े हुए घायल योद्धाओंकी ओर दीनभावसे देख रही हैं । महादानवीय राज्य-लालसाकी युद्ध-आहुतिमें अनेक भारतीय वीरोंकी बलि हो चुकी है। महाभारतकी महाविनाशकारी ज्वाला भारतके कण-कणसे प्रज्वलित हो अन्तर्राष्ट्रीय प्रदेशोंतक अपना धुआँ पहुँचा चुकी है । युद्धका पंद्रहवाँ दिन बीत चला है । दिवाकरकी सुनहली किरणोंके साथ आजके युद्धकी इतिश्री हो चुकी है । दोनों पक्षोंके शेष योद्धा अपने-अपने शिविरोंमें रात्रि बिताने जा चुके हैं । कुरुक्षेत्रकी रक्त-वर्ण धरा नरमुण्डों, मानवीय लोथों, जर्जरित मृतपशुओं, अस्त-व्यस्त घायलों और कटे-छटे अस्त्र-शस्त्रोंकी उत्पादिका-सी बनी बीभत्स सृष्टिकी अवतारणा कर रही है । चारों ओर नीरवताका साम्राज्य छाया हुआ है। कभी श्वानोंके रोनेकी ध्वनि, सियारोंकी चीत्कार, चील और गिद्धोंके पंखोंकी फड़फड़ाहट एवं किसी घायल वीरकी कराह उस चहुँदिशिव्यापिनी नीरवताको भंग कर देती है । इसी समय अपने भारी पगचापोंको मुखरित करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण और पाण्डव वीर अर्जुन बीभत्स सृष्टिके एक छोरसे आते दिखायी देते हैं ।]

अर्जुन–केशव, कहाँ ले आये आप !

श्रीकृष्ण–भय लगता है ?

अर्जुन–नहीं । जबतक अर्जुनके हाथोंमें गाण्डीव है और मधुसूदन उसके सहायक हैं, वह त्रैलोक्यमें किसीसे भी नहीं डरता ।

श्रीकृष्ण–तब यहाँ आनेपर आश्चर्य क्यों ?

अर्जुन–आश्चर्य नहीं, मधुसूदन खेद !

श्रीकृष्ण–खेद !

अर्जुन–हाँ, अपने प्रियजनोंकी इस अवस्थापर खेद ही तो होना चाहिये । ये हाथ पितामह भीष्मको बेध सकते हैं, गुरु द्रोणका सिर काट सकते हैं, महावीर कर्णको धराशायी बना सकते हैं और नेत्र उनका अवलोकन भी कर सकते हैं, किंतु यहाँका यह दृश्य ....मुझसे नहीं देखा जायगा। मधुसूदन !........नहीं देखा जायगा ।

श्रीकृष्ण–भावनामें न बहो अर्जुन ! भावनासे कर्तव्य श्रेष्ठ है । भूल गये गीताके वे अमूल्य वाक्य ।

अर्जुन–याद हैं, और उसी प्रकार स्मृति-पटपर अङ्कित हैं, जैसे आपके इस सेवकके गाण्डीवकी टङ्कोर शत्रुओंके कलेजेपर अपनी स्थायी छाप जमाये हुए है ।

श्रीकृष्ण–फिर इस मोहका कारण ?

अर्जुन–मोह ! मोह, नहीं केशव ! इस दृश्यको देखनेसे हृदयमें नाशवान् जीवनकी क्षणभङ्गुरताके प्रति विरक्तिका प्रादुर्भाव हो रहा है और अगर मैं इस वातावरणमें कुछ देर और रहा तो निस्सन्देह अपनी इस भावनापर विजय प्राप्त नहीं कर सकूँगा ।

श्रीकृष्ण–[मन्द स्मितिसे] विरक्ति ! तुम जिसे विरक्ति कह रहे हो पार्थ ! वह चञ्चल प्रवृत्तिकी एक विकृत रूपरेखा है, जो अपनी अनुकूल परिस्थितियोंमें हृदयमें स्थित सञ्चारी भावोंकी प्रेरणासे उद्बुद्ध होकर मानवीय विचारशृङ्खलाकी कड़ियोंको जर्जरित कर देती है और प्रतिकूल परिस्थितियाँ होते ही दामिनीकी दमकके समान स्वयं लुप्त हो जाती है।

अर्जुन–[आश्चर्यसे] केशव !

श्रीकृष्ण–हाँ, अर्जुन ! आओ चलें ।

अर्जुन–किंतु कहाँ..............।

श्रीकृष्ण–उस स्थानपर जहाँ महारथी दानवीर कर्ण-शरीर

योद्धा क्षत-विक्षत अवस्थामें पड़े मृत्युका आवाहन कर रहे हैं।

अर्जुन–'महारथी !' 'दानवीर !' केशव ! आपके मुखसे ये शब्द कर्णके लिये शोभायमान नहीं प्रतीत होते।

श्रीकृष्ण–क्यों? क्या तुम कर्णको महारथी नहीं समझते? उनको दानवीरं नहीं मानते।

अर्जुन–कर्ण महावीर हो सकते हैं; किंतु महारथी नहीं। दानवीर और वह भी शूद्रपुत्र, यह मैं स्वप्नमें भी नहीं सोच सकता केशव !

श्रीकृष्ण–तुम भूल रहे हो पार्थ ! कदाचित् तुमने युद्धमें कीचड़में धँसे रथके पहियेको निकालनेमें प्रयत्नशील, शस्त्रहीन कर्णको अपने तीव्र बाणोंसे क्षत-विक्षत कर दिया। सम्भव है इसी अभिमानवश तुम उन्हें महारथी नहीं समझते; किंतु तुम्हें विदित नहीं कि कर्णको धराशायी बनानेमें अकेले तुमने ही नहीं, कुछ अन्य शक्तियोंने भी कार्य किया है और इन सबके बाद कर्णकी पराजयका मूल कारण है उनकी दानवीरता ········।

अर्जुन–मुझे विश्वास नहीं होता।

श्रीकृष्ण–प्रत्यक्षको प्रमाणकी आवश्यकता नहीं। आओ धनञ्जय ! हम तुम्हें कर्णके महान् व्यक्तित्वका परिचय करायें।

[पटाक्षेप]

द्वितीय दृश्य

स्थान–कुरुक्षेत्रकी रक्तरञ्जित धरा।

समय–वही सायंकाल।

[दो साधुओंका प्रवेश]

अर्जुन–केशव ! इस वेषमें तो हमें माता कुन्ती भी नहीं पहचान सकतीं। बिल्कुल याचक जँच रहे हैं।

श्रीकृष्ण–हाँ अर्जुन ! सावधान ! वह देखो सामने अङ्गराज कर्ण पड़े हैं।

[कर्णके समीप जाते हैं]

दोनों–अङ्गनरेशकी जय।

कर्ण–[दोनोंकी ओर देखते हुए क्षीण स्वरमें] आप ! आप कौन हैं महानुभावो ?

श्रीकृष्ण–हम याचक हैं।

कर्ण–[उठनेकी असफल चेष्टा करते हुए] धन्य भाग्य ! जीवनकी अन्तिम बेलामें भी कर्ण याचकोंके दर्शनसे कृतार्थ हुआ; किंतु आप यहाँ········इस वातावरणमें कैसे पधारे ?

अर्जुन–याचकोंका कार्य याचना करना होता है, समय-असमय देखना नहीं अङ्गराज ! आप अपनी दानशीलताके कारण देश-देशान्तरोंमें प्रसिद्ध हैं। अतएव कुछ पानेकी इच्छासे हमलोग समीपके ग्रामसे यहाँ चले आये। पता चला आप आजके युद्धमें आहत होकर कुरुक्षेत्रकी पवित्र भूमिमें पड़े हुए हैं। दानवीर कर्णके अन्तिम दर्शनोंकी लालसाको हम याचक न रोक सके, और इस युद्ध-भूमिमें भयानक दृश्यों-को देखते डरते-डराते हम आपतक आ ही पहुँचे।

कर्ण–[धीमे स्वरमें] अत्यन्त कृपा ! बोलिये इस स्थानपर मैं आपकी क्या सेवा कर सकता हूँ।

श्रीकृष्ण–हमें जौ भर स्वर्ण चाहिये अङ्गनरेश !

कर्ण–स्वर्ण ! स्वर्ण यहाँ कहाँ याचक [कराहते हुए] यहाँ तो चारों ओर रुधिर········आप देख ही रहे हैं। आप मेरे मित्र दुर्योधनके पास चले जायँ, वहाँ आप जो कुछ चाहेंगे, जो माँगेंगे, वह सब आपको मिल जायगा।

श्रीकृष्ण–चिन्ता न करो अङ्गराज ! हम तो केवल आपके दर्शनोंके लिये आये थे। जब आपने हमारी इच्छा पूछी तो बतला दी; नहीं तो कोई याचनाकी बात नहीं थी। अब जौ भर स्वर्णके कारण कौन कौरव-शिविर जाये और व्यर्थ आपके मित्रोंको कष्ट दे।

अर्जुन–अच्छा आज्ञा अङ्गनरेश।

[चलनेका उपक्रम करते हैं]

कर्ण–ठहरो याचक, कर्णसे माँगनेवाला आजतक निराश नहीं लौटा, तुम भी नहीं लौटोगे। मैं अपने मुखके इस स्वर्ण-दन्तसे तुम्हारी याचना पूर्ण करूँगा।

[घूँसा मारकर दाँत तोड़ते हैं, मुखसे रुधिरकी तीव्र धार बह निकलती है]

कर्ण–[दाँत याचकोंकी ओर करते हुए] लो याचक ! कर्णके जन्मका यह अन्तिम चिह्न, अन्तिम बेलामें, अन्तिम बार कर्ण-के हाथसे ले लो·····आज मैं प्रसन्न हूँ·····अति प्रसन्न।

श्रीकृष्ण–छिः छिः राजन् ! बुद्धिमान् होकर यह मुखका जूँठा पदार्थ ब्राह्मणको दानमें देते हो। यदि देना ही है तो इसे जलसे धोकर शुद्ध करके दो।

कर्ण–जल·····जल भी नहीं···तब·····मैं······मैं क्या करूँ ? बाणगङ्गा·····हाँ यही·····यही। याचक ! कष्ट

तो होगा, तनिक उधर पड़ा हुआ वह धनुष-बाण उठाकर मुझे दे सकते हो।

श्रीकृष्ण—वह धनुष-बाण… नहीं राजन्! नहीं, वह समस्त रुधिरमें सना पड़ा है। हम उसे स्पर्श कर अपने हाथोंको दूषित नहीं करेंगे।

कर्ण—अच्छा! तुम अपने हाथोंको दूषित न करो। कर्ण स्वयं उठा लेगा।

[भूमिपर घिसटते हुए जाकर धनुष-बाण उठाते हैं और एक हाथसे धनुष पकड़कर दूसरेसे बाण धन्वापर चढ़ाकर, जोरसे पृथ्वी-तलपर मारते हैं। एक तीव्र जलधार निकलती है। उस स्वर्णदन्तको कर्ण उसमें धोकर याचकोंकी ओर बढ़ाते हैं]

कर्ण—लो याचक! तुम्हारी याचना पूरी हुई।

अर्जुन—हाँ, कर्ण! हमारी याचना पूर्ण हुई और… ही तुम्हारे प्रति मेरे अविश्वासकी कालिमा भी धुल गयी।

कर्ण—[आश्चर्यसे] कौन? तुम अर्जुन और…… तुम श्रीकृष्ण! [नमस्कार करता है]

श्रीकृष्ण—हाँ कर्ण! हम अर्जुनको तुम्हारी पवित्र… और दानवीरताका आदर्श दिखलाने लाये थे। धन्य हो… और धन्य है मातृ वसुन्धरा, जिसके अङ्कमें तुम-जैसे दा… वीरका जन्म हुआ।

[श्रीकृष्ण और अर्जुन कर्णकी ओर विह्वलदृष्टिसे देखते… और तभी अन्धकारमयी निशाका प्रथम तारा टूटकर उत्तरकी… गिरता है]

[पटाक्षेप]

चातक चतुर राम स्याम घनके

(लेखक—पं० श्रीरामकिङ्करजी उपाध्याय)

[गताङ्कसे आगे]

(८)

त्याग-वैराग्य

श्रीलक्ष्मणजीके इस प्रेमकी एकमेकताका कारण है उनका अद्भुत वैराग्य। श्रीगोस्वामीजीने वैराग्यका महत्त्व बतलानेके लिये उसे 'ढाल' की उपमा दी है।

ईस भजनु सारथी सुजाना। बिरति चर्म संतोष कृपाना॥
बिरति चर्म असि ग्यान मद लोभ मोह रिपु मारि।
जय पाइअ सो हरि भगति देखु खगेस बिचारि॥

आक्रमणकारी अपने शत्रुको तलवार किंवा बाणोंसे क्षत-विक्षत कर सर्वथा रक्तहीन कर देना चाहता है; क्योंकि वह जानता है कि रक्त ही जीवनीशक्तिको स्थिर रखनेवाला है। ठीक ऐसा ही एक संग्राम मनुष्यके अन्तःकरणमें भी होता रहता है। प्रत्येक जीवके हृदयमें एक जीवनीशक्ति है, जिसका नाम है प्रेम। पर काम, क्रोध, लोभादि विकार उसके इस दिव्य रसको नष्ट कर देते हैं। जिसका फल होता है पीड़ा और मृत्यु। कहनेका अभिप्राय यह कि ये घोर शत्रु विषयोंका सौन्दर्यमय स्वाँग सजाकर उसके प्रेमको हिस्से-हिस्से-में बाँट लेते हैं और तब वह रह जाता है जीवित होते हुए भी एक नरकङ्कालमात्र। न जिसमें गति है, न आनन्द। प्राचीन युद्धकलामें इसी दृष्टिसे कवच और ढालका बड़ा महत्त्व था। प्रेमरूप इस जीवनरक्तकी रक्षा करनेके लिये वैराग्य-चर्मकी बड़ी आवश्यकता है। वैराग्यकी पूर्णताके बिना कोई पूर्ण प्रेमी भी नहीं बन सकता। पर वह वैराग्य है क्या? इसके लिये भी दूर जानेकी आवश्यकता नहीं।

भगवान् श्रीराघवेन्द्रने पूर्ण वैराग्यकी परिभाषा करते हुए कहा है—

'सच्चा वैराग्यवान् वही है जो समग्र सिद्धियों और सत, रज, तम सिद्धियोंके साथ ही—इन तीनों गुणोंका भी सर्वथा परित्याग कर दे।'

कहिअ तात सो परम बिरागी। तृन सम सिद्धि तीन गुन त्यागी॥

यह परिभाषा भी एक ऐसे सच्चे अधिकारीके सम्मुख की गयी थी, जो वैराग्यका मूर्तिमान् स्वरूप था। यह वैराग्य वस्तुतः योगकथित चार प्रकारके वैराग्योंसे भी उच्चतम है। निश्चित रूपसे वैराग्यके इस मूर्तिमान् स्वरूपको देखकर ही प्रभुको ऐसी कठिन परिभाषा करनेमें कोई संकोच नहीं हुआ। मानस-प्रेमियोंसे यह बात छिपी नहीं कि श्रीराघवेन्द्रने यह उपदेश महाव्रती श्रीलक्ष्मणजीको किया था।

कविने तो श्रीलक्ष्मणजीको मूर्तिमान् वैराग्यकी उपमा दी ही है।

सानुज सीय समेत प्रभु राजत परन कुटीर।
भगति ग्यानु बैराग्य जनु सोहत धरें सरीर॥

यह ध्यान रहे कि वैराग्य मानस धर्म है पर उसके साथ 'त्याग'का हो जाना तो मणि-काञ्चन-संयोग है।

श्रीलक्ष्मणजीमें त्याग, वैराग्य दोनों ही सूर्यके सदृश प्रकाशित हो रहे हैं! पर वह प्रकाश इतना तीक्ष्ण है कि उसके सामने साधारण व्यक्तियोंकी ही नहीं, बड़े-बड़े लोगोंकी दृष्टि भी मुँद जाती है और वे उसकी तिलमिलाहटसे घबड़ाकर उसके विषयमें कुछ भी कह सकनेमें असमर्थ हो जाते हैं। प्रभु बड़ी ही कवितामयी भाषामें वसन्तका वर्णन करते हुए एक ही शब्दमें श्रीलषनलालजीके उस महान् वैराग्यकी ओर संकेत करते हैं। श्रीकिशोरीजीके हरणके पश्चात् ही वसन्त-ऋतु-का आगमन हुआ। वसन्त-ऋतुके आगमनसे वनकी अद्भुत शोभा हो गयी। पर यह वनश्री प्रभुके वियोगव्यथित हृदय-को कष्ट ही पहुँचानेवाली थी। उन्हें तो ऐसा लग रहा था कि मानो 'काम' उन्हें बलहीन जानकर अपने प्रिय मित्र वसन्त-की सहायतासे जीत लेना चाहता है। उन प्रभुने कहा कि इतनी विशाल वाहिनी होनेपर भी वह मुझपर आक्रमण नहीं कर रहा है। इसका एकमात्र कारण है तुम्हारी उपस्थिति—

बिरह बिकल बलहीन मोहि जानेसि निपट अकेल।
सहित बिपिन मधुकर खग मदन कीन्ह बगमेल॥

परंतु—

देखि गयउ भ्राता सहित तासु दूत सुनि बात।
डेरा कीन्हेउ मनहुँ तब कटकु हटकि मनजात॥

इस 'भ्राता सहित' शब्दके प्रयोगकी जितनी अधिक प्रशंसा की जाय थोड़ी है। इस नन्हे-से शब्दमें प्रभुने मानो बड़े ही रहस्यपूर्णरूपमें श्रीलक्ष्मणजीकी स्तुति की है, 'भैया! तुम धन्य हो, मैं तो श्रीकिशोरीजीके कुछ दिनोंके वियोगसे ही व्यथित और बलहीन हो रहा हूँ। विवेक साथ छोड़े दे रहा है। प्रत्येक वस्तु उनकी स्मृतिका कारण बन रही है। पर अहा! तुम्हारा हृदय कैसा विलक्षण है जो परम पतिव्रता उर्मिलाके वियोगमें इतने दिन बिता देनेपर भी स्वप्नमें भी वियोगकातर नहीं होता—दुखी नहीं होता। सच है तुम-जैसे महावैराग्यवान्को देखकर क्यों न 'काम' भयभीत हो! वनस्थलीकी यह दिव्य शोभा, जिसको देखकर महामुनियोंका हृदय भी क्षुब्ध हो जाता है, तुमपर रंचमात्र भी प्रभाव नहीं डाल सकी। भैया! तुम्हें देखकर मुझे अपने ऊपर लज्जा आती है। निश्चित मानो, यदि मैं अकेला होता तो मुझे काम सर्वथा बन्दी बना लेता। पर तुम्हारी उपस्थितिसे मैं सतत सावधान हूँ।'

श्रीलक्ष्मणजीकी थी भी यह अप्रतिम विलक्षणता, जिसका निर्देश करते हुए कविने कहा है—

छिनु छिनु लखि सिय राम पद जानि आपु पर नेहु।
करत न सपनेहुँ लखनु चितु बंधु मातु पितु गेहु॥

वास्तवमें ही श्रीलक्ष्मणजीने प्रभुकी सेवामें अपने-आपको सर्वथा भुला दिया! प्रभुकी सेवा ही उनका जीवन था। उसीके लिये वे सदा-सर्वदा सर्वत्याग करनेको प्रस्तुत थे।

लङ्काके रणाङ्गणमें एक ऐसा अवसर आ गया जब श्री-राघवेन्द्रका विरद नष्ट हुआ जा रहा था, उस समय यदि किसीने उसकी रक्षा की तो महात्यागी लक्ष्मणने अपने प्राणोंकी बाजी लगाकर की।

क्षत-विक्षत मेघनादने सारे अनर्थोंकी जड़ विभीषणको ही जान, उनके वधमें कृतसंकल्प हो ब्रह्मप्रदत्त शक्ति उठायी। वह अमोघ शक्ति साक्षात् महाकालके रूपमें विभीषणकी ओर चली, त्रैलोक्य काँप उठा। साथ ही वानरोंकी विशाल वाहिनी भी। लोगोंको निश्चय था आज विभीषणके प्राण बच नहीं सकते। तो क्या प्रभुका शरणागत-रक्षक विरद आज नष्ट हो जायगा? उनकी वह प्रतिज्ञा, जिसमें उन्होंने 'रखिहौं ताहि प्रान की नाईं' का आश्वासन दिया था, झूठा सिद्ध होगा? चारों ओर निराशाका वातावरण था; पर इस तूफानमें भी, इस भयानक अंधड़में भी एक ज्योति थी, एक प्रकाश था, जो अडिग अटल था और सर्वदा जाज्वल्य-मान था, वह थे श्रीलक्ष्मण। इन्हें अपना कर्तव्य निर्णय करनेमें देर न लगी। प्राण प्रभुकी प्रणरक्षामें लग जायँ यह उनके लिये अत्यधिक प्रसन्नताका कारण था। लोगोंकी आँखें भयसे मुँद गयीं। कुछ क्षण पश्चात् ही लोगोंने नेत्र खोलकर देखा विभीषण तो उसी प्रकार खड़े हैं। तो क्या वह अमोघ शक्ति आज व्यर्थ हो गयी? पर इसी क्षण दृष्टि पड़ी श्रीलक्ष्मणके निर्जीव शरीरपर। मस्तक श्रद्धासे झुक गया, आँखें बरस पड़ीं! शरीर पड़ा था पर रामकी यश-पताका लङ्काके रणाङ्गणमें शत्रुओंको धर्षित करती हुई फहरा रही थी। श्रीलक्ष्मणका शरीर मेघनादको चुनौती दे रहा था। उनके मुखपर कान्ति और प्रसन्नता लहरा रही थी। आजके युद्धमें विजयी कौन हुआ? मेघनाद। नहीं-नहीं, वह तो असफल रहा। आजकी विजयश्री तो प्रत्यक्ष ही श्रीलक्ष्मणजीके पाँव पलोट रही थी।

पर जिस समय उनका वह शरीर प्रभुके निकट पहुँचाया गया, प्रभुका हृदय उमड़ पड़ा। आँखोंसे अनवरत अश्रु-

प्रवाह होने लगा। 'लक्ष्मण ! तुमने यह क्या किया ! वत्स ! मेरे लाल ! तुम मुझे इस प्रकार अकेला छोड़कर कहाँ चले गये। तुम नहीं जानते लक्ष्मण ! तुम्हारे इस महात्यागसे मेरे विरदकी रक्षा अवश्य हुई, पर तुम्हें छोड़कर मैं विरद लेकर क्या करूँगा। क्या तुम समझते हो कि तुम्हारे न रहनेसे केवल एक भाईका अभाव रामको होगा ? नहीं; भैया ! आज संसारसे भायप और भक्ति अस्त हो गयी।' इतना कहते-कहते प्रभु उन्मादग्रस्त-से हो गये। महाधीर राम अपनी धीरता खो बैठे। गोस्वामीजीने गीतावलीमें प्रभुकी इस करुण अवस्थाका बड़ा ही मार्मिक चित्रण किया है—

राम लषन उर लाय लए हैं।
भरे नीर राजीवनयन सब अँग परिताप तए हैं॥
कहत ससोक बिलोकि बंधु मुख बचन प्रीति गुथए हैं।
सेवक-सखा भगति भायप गुन चाहत अब अथए हैं॥
निज कीरति करतूति तात तुम सुकृती सकल जए हैं।
मैं तुम्ह बिनु तनु राखि लोक अपने अपलोक लए हैं॥
मेरे पनकी लाज इहाँ लौं हठि प्रिय प्रान दए हैं।
लागति साँगि बिभीषन ही पर सीपर आपु भए हैं॥
सुनि प्रभु बचन भालु कपि गन सुर सोच सुखाइ गए हैं।
तुलसी आइ पवनसुत बिधि मानो फिरि निरमये नए हैं॥

श्रीहनुमान्‌जीके आश्वासनसे प्रभु कुछ शान्त हुए और महावीर सुषेणके आज्ञानुसार ओषधि लेनेके लिये द्रोणाचल-पर्वतकी ओर गये। मार्गगत अनेक बाधाओंके कारण अर्ध-रात्रि व्यतीत हो जानेपर ओषधि लेकर न लौट सके। प्रभुकी अधीरता चरम सीमापर पहुँच गयी। श्रीलक्ष्मणजीके शरीरको हृदयसे लगाकर वे अपने अश्रुप्रवाहसे लक्ष्मणके वक्षःस्थलको आर्द्र करने लगे। हा लक्ष्मण ! तुमने मेरे लिये कितना त्याग किया। माता-पिताको छोड़कर भीषण वन-वन भटके। वर्षा-ग्रीष्ममें जल और लूको सहन कर भी तुम सदा प्रसन्न रहे। भैया ! तुम तो मुझे उदास देख ही नहीं सकते थे। आज तुम ऐसे निष्ठुर कैसे हो गये। लाल ! मेरे मुखकी ओर देखो। मैं कौन-सा मुख लेकर अयोध्या लौटूँगा। मैं क्या जानता था कि मर्यादापालनके लिये तुम्हारा बलिदान करना होगा। मैं तुम्हें खोकर पितृ-भक्त नहीं बनना चाहता। यदि मुझे यह ज्ञात होता कि वनमें तुम्हारा वियोग होगा तो चौदह वर्षकी तो बात क्या, चार दिनके लिये भी वन न आता।

उपर्युक्त वाक्योंको पढ़कर किस सहृदय व्यक्तिका हृदय न रो उठेगा ? यह विह्वलता, इतनी विकलता, यह उन्माद ! सचमुच ही लक्ष्मण ही तो प्रभुके सर्वस्व थे, उन्हें खो... प्रभुकी ऐसी अवस्था आश्चर्यजनक नहीं ! लक्ष्मणजीके ... त्यागको दृष्टिगत रखकर ही कौशल्या अम्बाने श्रीलक्ष्मण... मूर्छाका दुःखद समाचार सुनकर श्रीहनुमान्‌जीके ... राघवेन्द्रको यह संदेश कहलवाया था कि "भैया ! ... भेंट करके कहना कि तुम्हारी कठोरहृदया जननीने कहल... है कि 'हे लाल ! तुम्हारा नाम ललित लाल लक्ष्मणके सा... ही सुन्दर मालूम होता है।' (अतः तुम लक्ष्मणको साथ ले... ही आना।)

भेंट कहि कहिबो कह्यो यों कठिन-मानस माय।
लाल ! लोने लषन-सहित सुललित लागत नाँय॥

लक्ष्मण नामके साथ रामनाम शोभित होता है। नि... औषध पाकर जब लक्ष्मणजी उत्थित हुए, प्रभुकी प्रसन्न... क्या ठिकाना। उस समयके दोनों भाइयोंका मिलन अद्वि... था। सारा मन, बुद्धि चित्तको विस्मृतकर इस आनन्दसमु... निमग्न हो गया। दोनोंके नेत्रोंसे होनेवाला जल... एक-दूसरेको भिगो रहा था, साथ ही सारी वानर-वाहिनी... भी। पर उसी समय सुग्रीवने आकर लक्ष्मणजीसे प्र... किया—'भैया ! आपको शक्तिसे कितनी पीड़ा हुई इसे बत... तो ?' लक्ष्मणजीने प्रभुकी ओर इङ्गित करते हुए कहा—'इनसे पूछो।' 'पर शक्ति तो आपको लगी थी।' सुग्री... आश्चर्यचकित हो पूछा। ठीक है शक्ति मुझे लगी, ... पीड़ा तो इनको ही हुई—

हृदय घाउ मेरे, पीर रघुबीरै।
पाइ सजीवन, जागि कहत यों प्रेम पुलकि बिसराय सरीरै।
मोहि कहा बूझत पुनि पुनि, जैसे पाठ-अरथ-चरचा कीरै।
सोभा-सुख, छति-लाहु, भूप कहँ, केवल कांति-मोल हीरै।
तुलसी सुनि सौमित्रि-बचन सब धरि न सकत धीरौ धीरै।
उपमा राम-लषनकी प्रीतिकी क्यों दीजै छीरै-नीरै।

उपर्युक्त पद तो उस दिव्य अनुभूतिका एक छाया... है पर यही आत्मविस्मृत करानेके लिये यथेष्ट है। ... समझा सुग्रीवने राम-लक्ष्मणकी एकमेकताको। दो दीखने... भी वे सर्वथा एक हैं; क्योंकि लक्ष्मणने प्रभुके लिये संत... बीचवाले व्यवधानोंको ही नहीं नष्ट कर दिया, अपितु अन्न... प्राणमय आदि समस्त पञ्चकोषोंका सर्वथा त्याग कर प्र... और अपने बीचकी दूरीको समाप्त कर दिया और इसीसे... समर्थ हुए हैं उस कठिन सेवाव्रतमें भी जो दूसरोंके लि... असम्भव है। श्रीसीतात्याग-जैसी निर्मम घटना, जो आज...

आक्षेपका विषय बनायी जाती है, श्रीलक्ष्मणको छोड़ अन्य किसीके द्वारा कभी भी सम्भव न थी। कार्य बड़ा कठोर था, सभी जानते थे अम्बा निर्दोष है, श्रीलक्ष्मण तो विशेष रूपसे जानते थे। पर वह तो लोकरञ्जन रामके यशका प्रश्न था। उसे करना था किसी भी मूल्यपर। उस समय श्रीलक्ष्मणको जो पीड़ा हुई वह अवर्णनीय है। पर वे अनन्यव्रती उस कठिन कार्यको भी पूरा कर ही देते हैं। अनुतापसे तप्त होते हुए भी। गोस्वामीजीने गीतावलीके पदोंमें उस स्थिति-का बड़ा ही मार्मिक चित्र अङ्कित किया है।

जिस समय प्रभु यह आज्ञा देते हैं—

तात ! तुरतहि साजि स्यंदन सीय लेहु चढ़ाइ।
बालमीकि मुनीस आस्रम आइयहु पहुँचाइ॥

इस कठोर आज्ञाको सुन श्रीलक्ष्मणने कोई ननु-नच नहीं किया। उनके मुखसे 'भलेहि नाथ' शब्द ही निकला और कुछ नहीं।

'भलेहि नाथ' सुहाथ माथे राखि राम रजाइ।
चले तुलसी पालि सेवक धरम अवधि अघाइ॥

श्रीलक्ष्मणजी-जैसे खड्गधाराव्रतीको छोड़ इस कार्य-को कौन सम्पन्न करता ? कौन था दूसरा जो इस आज्ञाको सुन 'भलेहि नाथ' कहता !

यह तो उनके यशसागरके लवलेशका किञ्चित् छाया-चित्रमात्र है। प्रभु और श्रीलक्ष्मणका प्रेम अवर्णनीय है। प्रभु तो प्रेमकनौड़े हैं। श्रीलक्ष्मणजीको अपने दूसरे अवतारमें केवल अपना बड़ा भाई ही नहीं बनाया अपितु नाम (बलराम) देकर अपनी कृतज्ञता व्यक्त की।

श्रीलक्ष्मणजी चातक-निष्ठावाले भक्तोंके आचार्य हैं, चातकोंमें भी चतुर चातक हैं। उनका चरित्र निष्कलङ्क और देदीप्यमान सूर्यके सदृश प्रकाशित है। उनके समग्र गुणोंका वर्णन मुझ-जैसे तुच्छ व्यक्तिके लिये कहाँ सम्भव है। प्रभु भी उनकी गुणावलीका वर्णन करनेमें असमर्थ हैं। जानकर भी नहीं कहते; क्योंकि वह तो उन्हें आत्मप्रशंसा-सी प्रतीत होती है।

महाभाग श्रीलक्ष्मणके चरणोंमें प्रणिपात करते हुए हम प्रार्थना करते हैं कि उस प्रेमका लवलेशमात्र प्रदान कर हम सबको कृतार्थ करें।

अन्तमें गोस्वामीजीके इन शब्दोंसे इस लेखको समाप्त किया जाता है।

लाल लाड़िले लखन हित हौ जनके।
सुमिरे संकटहारी सकल सुमंगलकारी पालक कृपालु आपने मनके ॥१॥
धरनी धरन हार भंजन भुवन भार अवतार साहसी सहसफनके ॥२॥
सत्यसंध सत्यव्रत परमधरमरते निरमल करम बचन अरु मनके ॥३॥
रूपके निधान धनु बान पानि तून कटि महाबीर बिदित जितैया बड़े रनके ४
सेवक सुखदायक सबल सब लायक गायक जानकीनाथ गुन गनके॥५॥
भावते भरतके सुमित्रा सीताके दुलारे चातक चतुर राम स्याम घनके ६
बल्लभ उरमिलाके सहज सनेह बस धनी धन तुलसी-से निरधनके ॥७॥

जगदम्बासे

मेरे पुण्य अनेक जन्मके प्रकट हुए हैं आज।
कलुषित कलुष राशिपर निश्चय अभी गिरेगी गाज॥
मनकी व्यथा-कथा कहने मैं आया तेरे पास।
सुनते ही कामादिक रिपुदल हुए उदास निराश॥
यह असार संसार प्यार-मिस मार रहा है नित्य।
देख रहे हैं खुले नयनसे निशि-दिन चन्द्रादित्य॥
वायुदेव बहते जाते हैं देख रहे सब मौन।
रो-रोकर मैं रह जाता हूँ सुननेवाला कौन ?॥
मा करुणामयि ! कृपा करो तुम इस शिशुपर इस काल।
युगल करोंकी शीतल छाया आह ! काल विकराल॥
मिटें दोष, दुर्भाग्य, तापत्रय, हो चरणोंमें नेह।
शाश्वत शान्ति, समुज्ज्वल श्रद्धा, सार्थक जीवन-देह॥

—शिवनाथ दुबे

परमार्थ-पत्रावली

(श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र)

(१)

वास्तवमें मनुष्यको गिरानेवाला तो अपना मन ही है, अतः उसको वशमें करके भगवान्‌में लगानेकी चेष्टा करनी चाहिये; फिर गिरानेवाला कोई नहीं रह जायगा। संसारकी वस्तुएँ अच्छी न लगनेसे कोई हानि नहीं, बल्कि लाभ है। भगवान्‌में प्रेम बढ़ाना चाहिये। 'मैं' और 'मेरा' शब्द बोलनेमें कोई हर्ज नहीं है, वास्तवमें संसारसे मेरापन और शरीरसे 'मैं' भाव निकालनेकी जरूरत है, अतः इसीके लिये कोशिश होनी चाहिये।

आप मेरा सङ्ग चाहते हैं, यह आपके प्रेमकी बात है। धन कमानेकी तजवीज लगनी-न-लगनी प्रारब्धाधीन है, चेष्टा रखनी चाहिये; फिर जो कुछ हो, उसीमें ईश्वरकी दया समझकर निरन्तर प्रसन्न रहना चाहिये। चिन्तासे अवश्य स्वास्थ्य बिगड़ता है, अतः चिन्ता नहीं करनी चाहिये। सोते समय भगवान्‌को याद करते-करते सोनेका अभ्यास डालना चाहिये; ऐसा करनेसे बुरे स्वप्न आने बंद हो सकते हैं। जिह्वासे जप करना भी बहुत अच्छा है, पर श्वासके साथ जपका अभ्यास डालनेसे और भी सुगमता मिल सकती है। जप करते समय मनसे भगवान्‌को याद रखनेका अभ्यास अवश्य करना चाहिये। इसकी बहुत आवश्यकता है।

भोजनमें जो संयम किया गया हो, उसको प्रकट किये बिना नियमोंका पालन करनेमें कठिनाई मालूम पड़ती हो तो ऐसे मौकेपर बहुत नम्रताके साथ नियम बतला देनेमें कोई हानि नहीं है। दूसरोंका अन्न न खानेकी इच्छा रखना अच्छा है, पर कहीं उनको दुःख होता हो तो उनकी प्रसन्नताके लिये स्वीकार कर लेनेमें आपत्ति भी नहीं है।

दूसरोंके सामने भजन-साधन आदि प्रकट न करना ही उसे गुप्त रखना है—इसमें न समझनेकी क्या बात है

(२)

प्रेमपूर्वक हरिस्मरण। श्री·······के पत्रमें आप[...] समाचार मिला। आपके पिताजीका देहान्त अचान[...] हो गया सो लौकिक हिसाबसे चिन्ताकी बात है। [...] चिन्ता करनेसे कोई लाभ नहीं। शरीर नाशवान् है इसका नाश एक दिन अवश्य होता है। वियोग हो[...] निश्चित है। अतः बुद्धिमान् मनुष्य इस विषयमें चिन्[...] नहीं किया करते। आप स्वयं समझदार हैं। आप[...] भी धैर्य रखना चाहिये। साथ ही इस प्रकारकी मृत्यु[...] यह शिक्षा लेनी चाहिये कि शरीरका कुछ भरोसा नह[...] है; अतः मनुष्य-जीवनको जितना शीघ्र हो सके, सफ[...] बना लेना चाहिये। संसारके भोगोंमें तो लेशमात्र [...] शान्ति नहीं है। शान्ति केवल ईश्वर-कृपासे ही मि[...] सकती है। अतः भजन, ध्यान, सेवा और सत्संग[...] द्वारा भगवान्‌की कृपा प्राप्त करनेकी चेष्टा करनी चाहिये

नियमोंके लिये पूछा सो सत्यका विशेष अभ्या[...] डालना चाहिये। हँसीमें भी कभी झूठ न बोला जा[...] किसीके साथ व्यवहारमें कपट न किया जाय, किसी[...] कष्ट न दिया जाय, दूसरेके हकपर अपना अधिका[...] जमानेकी चेष्टा या इच्छा कभी न हो, पर-स्त्रीको मा[...] और बहिनके सदृश समझकर मनमें कभी भी बु[...] संकल्प न आने दिया जाय, ब्रह्मचर्यका पालन हो, ध[...] आदि पदार्थोंमें ममता उठानेका अभ्यास किया जा[...] तथा नियमपूर्वक भगवान्‌के नामका जप, उनका स्म[...] और सन्ध्या-वन्दन आदि किये जायँ—ये सब नि[...] सब प्रकारसे हितकर हैं। भगवान्‌को निरन्तर या[...] रखना—मनुष्य-शरीरका प्रधान कर्तव्य है। अतः इस[...] ओर विशेष ध्यान रखना चाहिये। प्रतिदिन नियमपूर्[...]

जप, ध्यान करनेका निश्चित समय तो रखना ही चाहिये। इसके सिवा व्यापार आदि दूसरे सांसारिक कार्य भी निरन्तर भगवान्‌को याद रखते हुए ही करनेका अभ्यास डालना चाहिये ।

पिताका देहान्त होनेके बाद पुत्रका कर्तव्य पूछा सो संसारके व्यवहारके अनुसार श्राद्ध आदि कृत्य समयपर किये ही जाते हैं, उनके सिवा भगवान्‌से उनको शान्ति प्रदान करनेके लिये प्रार्थना करनी चाहिये । पुत्रकी बुराइयोंसे पिताकी भी निन्दा होती है—इस बातको खयालमें रखकर अपनेको सदाचारी बनाये रखनेकी ओर विशेष ध्यान रखना चाहिये । मुख्य-मुख्य नियम ऊपर लिखे ही गये हैं, विस्तार देखना हो तो 'तत्त्व-चिन्तामणि' के लेखोंमें देख सकते हैं ।

(३)

आपका पत्र यथासमय मिल गया था । विलम्बके लिये क्षमा करें । आपकी शङ्काओंका उत्तर नीचे क्रमशः लिखा जा रहा है—

आपने लिखा कि 'जो बच्चा खिलौनेको फेंककर मा-माकी चिल्लाहट लगा देता है, चाहे वह कैसा ही हो, माता उसे गोदमें उठा लेती है; इसी प्रकार परमात्माके लिये कोई न जी सकनेकी अवस्थामें आ जाय तो भगवान् उसे अवश्य ही मिलेंगे ।' सो ठीक है । परमात्माको पुकारनेकी आवश्यकता है; परंतु इससे यह तात्पर्य नहीं निकालना चाहिये कि मानव-जीवन प्राप्त करके भगवान्‌के दर्शन बिना प्राणधारण करना भगवत्प्रेम नहीं है । वह भगवत्प्रेम अवश्य है; किंतु अनन्य प्रेम नहीं है । और अनन्य प्रेमका यह भी आशय नहीं निकालना चाहिये कि भगवान्‌के लिये हठपूर्वक प्राणोंका त्याग कर दिया जाय । यदि प्रेमके कारण ऐसी परिस्थिति हो जाय कि वह भगवान्‌के बिना जीवित ही न रह सके तो यह अनन्यप्रेम है, क्योंकि इस प्रेममें न बनावट है और न हठ ही । आपने लिखा कि 'जो मोहि राम लागते मीठे । तौ नवरस षटरस-रस अनरस ह्वै जाते सब सीठे ।' सो ठीक है, जिसकी ऐसी अवस्था हो जाती है, वास्तवमें वही अनन्यप्रेमी है ।

आपने पूछा कि 'संसारमें देखा जाता है कि स्वार्थ-साधक आत्मीय स्वजनोंके मरनेसे हमको इतना अधिक दुःख होता है कि खाना-पीना भी छूट जाता है और कितने ही मर भी जाते हैं तो फिर जो हमारे सर्वस्व हैं, उन भगवान्‌के वियोगमें हम कैसे प्रसन्न रहें या जीवित रहें ?' सो ज्ञात हुआ । भगवत्प्रेमके कारण यदि खाना-पीना आदि भूल जाय तो कोई बात नहीं, परंतु जान-बूझकर ऐसा करके प्राण-त्याग करना उचित नहीं है । परमात्माके नामका जप, ध्यान और सत्संग करके अथवा प्रभुकी अलौकिक दयाको याद करके प्रसन्न रहना अनुचित नहीं, परंतु उनके वियोगमें सांसारिक भोगोंमें लिप्त होकर प्रसन्न रहना कदापि उचित नहीं है ।

'मानव-देह भगवद्भजनके लिये ही मिलता है, अतः यदि भजन करनेमें असमर्थ हो तो उस धरोहरको प्राण-त्यागद्वारा भगवान्‌को ही लौटा देना अच्छा है'—ऐसा लिखा सो यह ठीक नहीं । मनुष्य-शरीर भगवान्‌के भजनके लिये ही मिला है, यह बात बहुत ठीक है । पर यदि भजन न बने तो हठपूर्वक प्राणत्याग करना उचित नहीं, बल्कि उनकी वस्तुको उन्हींके काम—भजन-ध्यान आदिमें लगानेकी विशेष कोशिश करनी चाहिये । हठपूर्वक शरीरका त्याग कर देना उनके अर्पण करना नहीं है ।

आपने लिखा कि 'भगवान्‌के भोग लगाकर उनका जूँठन ही खाकर जीना उचित है और भगवान् भक्तद्वारा अर्पित भोजनको स्वयं प्रकट होकर खाते हैं—इस सत्यपर विश्वास होते हुए भी उन्हें साक्षात् न खिलाकर प्रतिमाके भोग लगाकर सन्तोष कर लेना प्रेमहीनता है । भोजनके बिना वह मर नहीं जायगा; क्योंकि मृत्युसे बचानेकी शक्ति भोजनमें नहीं, भगवान्‌में है ।' सो मालूम किया । साक्षात् भगवान्‌के भोग लगाकर भोजन करना अत्युत्तम

है; किंतु जबतक हम उनके साक्षात् दर्शनके पात्र न बन सकें तबतक उनकी मूर्तिके ही भोग लगाकर भोजन करनेमें सन्तोष करना भी बुरी बात नहीं है। हमलोग भगवान्‌के साक्षात् दर्शन करके भोग नहीं लगा सकते, इसमें हमारे प्रेम और श्रद्धाकी कमी अवश्य है, इसके लिये हमें पश्चात्ताप अवश्य करना चाहिये और इस त्रुटिकी पूर्तिके लिये कोशिश भी अवश्य करनी चाहिये, पर हठसे मर जाना उचित नहीं। शरीर प्रारब्धाधीन है, भोजनके अधीन नहीं है। माना कि परमात्माके अधीन है तो भी हम इसके लिये परमात्माका सहारा क्यों लें? शरीर प्रारब्धाधीन है, भोजन तो निमित्तमात्र ही है।

'नामदेवजीने हठपूर्वक भगवान्‌को दूध पिलाकर प्रसन्नता प्राप्त कर ली' लिखा सो कहीं-कहीं अनन्य-प्रेममें ऐसा हो जाता है, पर इस उदाहरणसे हमलोगोंको उनकी देखादेखी ऐसा अनुकरण करना उचित नहीं, क्योंकि वह विधिवाक्य नहीं है।

आपने पूछा—'जो बड़भागी भगवान्‌की सदा ही प्रसन्नता प्राप्त किये रहते हैं, उनके लिये तो ऐसा हठ करना उचित नहीं, परंतु जो लोग भगवदाज्ञानुसार चलनेमें काम-क्रोधादिके कारण अयोग्य हों, उन्हें योग्यताप्राप्तिके लिये हठसे भी भगवत्प्राप्ति करना कैसे अनुचित है?' सो ठीक है, किंतु काम-क्रोधादिके वशमें होनेके कारण भगवदाज्ञाका पालन नहीं हो सकता तो हठपूर्वक काम-क्रोध आदिको नष्ट करनेकी चेष्टा करनी चाहिये। जिसका दोष हो, उसे ही दण्ड देना चाहिये, शरीर और प्राणको नहीं।

सेवाकुञ्जमें रात्रिमें हठपूर्वक रहनेसे एक ब्राह्मणको भगवान्‌के दर्शन होनेकी बात लिखी सो इस विषयमें आपको विश्वास हो तो आप भी रह सकते हैं। लोग वहाँ रहनेसे जो मरनेका भय बतलाते हैं सो हमें तो यह युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता। और यदि कोई मर भी जाता होगा तो अपने भयसे मर जाता होगा—हमारा तो ऐसा विश्वास है। वहाँ—सेवाकुञ्जमें रहने भगवान् मिलते हैं या नहीं—यह मुझे मालूम नहीं।

आपने 'आत्मसमर्पण बिना भक्ति पूरी नहीं है तो फिर इसे ही पहले करके भगवत्प्राप्ति क्यों न कर ली जाय?'—लिखा सो ठीक है। आत्मसमर्पण करने भगवत्प्राप्ति अवश्य होती है; परंतु भगवान्‌के लिये म जाना आत्मसमर्पण नहीं है। अपना तन, मन, धन— सर्वस्व ईश्वरके काममें लगा देना और उनके काम लगनेसे ही प्रसन्न रहना आत्मसमर्पण है, प्राणोंका हठ पूर्वक त्याग करना नहीं।

'महात्मा कबीरने प्राणोंका उत्सर्ग ही प्रेमकी कसौटी माना' लिखा सो ठीक है, उनका इससे क्या आशय सो तो वे ही जानें, पर हमलोगोंको तो इससे यह ग्रहण करना चाहिये कि भगवत्प्राप्तिके लिये प्राणपर्यन्त कोशिश करनेमें नहीं चूकना चाहिये, न कि वास्तवमें उसे निमित्त बनाकर हठपूर्वक प्राणोंको दे डालना चाहिये।

'नाम-जपके फलसे वञ्चित रखनेवाला कौन-सा महादोष है—' पूछा सो नाम-जपके फलसे वञ्चित रखने वाला तो कोई दोष नहीं है। फल तो अवश्य होता है, चाहे वह इस लोकमें प्राप्त हो या परलोकमें; नाम-जपके फलका कभी नाश हो ही नहीं सकता। हाँ, यह बात जरूर है कि श्रद्धा और प्रेमकी जितनी कमी होती है, उतना फल भी कम मिलता है। अधिक हो तो अधिक मिलता है। वाल्मीकिजी उल्टा नाम-जप करके तर गये, गणिका वेश्या नाम लेकर तर गयी क्योंकि उनका भगवान्‌में प्रेम और विश्वास था। आपने जो यह लिखा कि मुझे तो श्रद्धाकी कमी ही प्रधान बाधा मालूम होती है सो ठीक है; जितनी श्रद्धा होती है, उतना ही प्रेम भी स्वाभाविक ही हो जाता है। पूर्वमें कोई चाहे कैसा भी क्यों न हो, श्रद्धा-प्रेमपूर्वक जप करनेसे सब बाधाएँ मिटकर वह धर्मात्मा हो सकता है। पाप नाम-जपके फलमें बाधक नहीं हैं, परंतु जपकी वृद्धिमें अ

कुछ बाधक हैं; परंतु प्रेमपूर्वक जप करनेसे यह बाधा मिट सकती है, जैसे कि वाल्मीकिजी और गणिकाकी जपमें श्रद्धा-प्रेम होनेसे समस्त बाधाएँ मिट गयीं । कुमारिल भट्टमें भी श्रद्धा और प्रेम दोनों ही थे; क्योंकि जहाँ श्रद्धा होती है, वहाँ प्रेम भी होता ही है, यह नियम है; किंतु जहाँ प्रेम होता है, वहाँ श्रद्धा होनेका कोई नियम नहीं है ।

आपने लिखा कि 'ईश्वरके सभी विधानोंमें प्रसन्न रहना चाहिये, इसका क्या यह भी आशय है कि उनके वियोगको भी उनका विधान समझकर प्रसन्न रहा जाय ? और क्या सदैव स्मरणको ही इतिश्री मानकर सन्तोष करना चाहिये ?' सो ठीक है । ईश्वरके सभी विधानोंमें प्रसन्नता माननी ही चाहिये । यहाँ विधानका मतलब है—पूर्वकृत कर्मोंका फल-प्रदान । इसलिये भगवद्-वियोग कोई विधान नहीं है; क्योंकि यह किसी कर्मका फल नहीं है । भगवान्‌में श्रद्धा-प्रेमका अभाव होनेके कारण उनका वियोग सहन करना पड़ता है और श्रद्धा-प्रेमका अभाव किसी कर्मका फल नहीं है । इसलिये कर्म-फल-भोगमें हमें प्रसन्न रहना चाहिये, न कि भगवान्‌के वियोगमें । तथा नवीन कर्म तो प्रयत्नसाध्य है, अतः नवीन कर्ममें तो हमें ईश्वरके बलपर पुरुषार्थ अवश्य ही करना चाहिये । यदि निरन्तर भगवत्स्मरण होता हो तो उसमें हमें अवश्यमेव परम सन्तोष करना चाहिये, क्योंकि बिना प्रेमके तो निरन्तर स्मरण होता नहीं और संसारमें भगवत्प्रेमसे बढ़कर और है ही क्या ! ईश्वरकी प्राप्ति भी तो प्रेमके ही अधीन है ।

तज्जपस्तदर्थभावनम् ।

(योगसूत्र १ । २८)

इस सूत्रका अर्थ है—'उसके नामका जप और उसके अर्थकी भावना करना ।' ईश्वरका अर्थ तो ईश्वरका स्वरूप ही है ! तत्त्वसहित ईश्वरके स्वरूपको समझकर उसका चिन्तन करना ही उसके अर्थकी भावना है । ॐकारका अर्थ है—उस परमात्माका स्वरूप और भावना है—उस स्वरूपका चिन्तन ।

'गीतामें भक्तिको स्वतन्त्र निष्ठा क्यों नहीं कहा गया ?' पूछा सो गीतामें भक्तिप्रधान निष्काम कर्मको कर्मयोग कहा गया है और यह सर्वथा स्वतन्त्र है, इसलिये भक्तिको अलग निष्ठारूपसे नहीं बतलाया है; अतः आपको कर्मयोगमें ही भक्तियोग समझ लेना चाहिये ।

आपने पूछा कि 'श्रद्धापूर्ण परंतु शास्त्रविधिसे विरुद्ध या शास्त्रविधिके ज्ञानके अभावसे किये गये सकाम और निष्काम कर्मका क्या फल है ?' सो शास्त्रविरुद्ध कर्म करनेवालेकी श्रद्धा तो समझी ही नहीं जा सकती । यदि कोई शास्त्रविरुद्ध मनमाना बुरा आचरण करता है तो उसे दण्ड मिलता है और यदि शास्त्रविरुद्ध मनमाना सेवा-पूजा आदि उत्तम कर्म करता है, उसका फल कुछ भी नहीं होता (गीता १६ । २३) तथा जो बिना श्रद्धाके शास्त्रविधिके अनुसार भी उत्तम कर्म करता है तो उसका भी कोई फल नहीं होता; क्योंकि वह असत् है (गीता १७ । १८) । एवं शास्त्रविधि और श्रद्धा—दोनोंसे रहित जो कर्म करता है, वह तामसी है और उसका फल नरक है (गीता १७ । १३)। किंतु जो शास्त्रविधिको तो नहीं जानते पर श्रद्धापूर्वक सेवा-पूजा आदि शुभकर्म करते हैं, उनमेंसे सकाम भावसे किये जानेवाले कर्म राजसी हैं और उनका फल इस लोक और परलोकमें सुख मिलता है (गीता १७ । १२) तथा निष्काम-भावसे किये जानेवाले कर्म सात्त्विक कहलाते हैं और उनका फल अन्तःकरणकी पवित्रता और अपने आत्माका कल्याण होता है (गीता १७ । ११) ।

आपने लिखा कि 'संन्याससे भी अधिक योग्यतावाला कर्मयोग सर्वसुलभ क्यों नहीं हुआ ? काल-क्रमसे उसका प्रचार बंद क्यों हो गया ? इससे प्रकट होता है कि यह अवश्य ही कठोर मार्ग है ।' सो जाना । यद्यपि संन्यास-मार्ग तो कठिन है ही, तथापि कर्मप्रधान कर्मयोगमें

भक्तिकी गौणता रहनेसे वह कर्मयोग भी साधनमें कठिन पड़ जाता है। इसलिये उसकी प्रणाली प्रायः बंद-सी हो गयी। इस घोर कलिकालमें तो केवल भक्ति ही सुलभ साधन है और अङ्गरूपसे उसमें कर्म आ ही जाता है। प्राचीन और अर्वाचीन कालमें जितने भी भक्त हुए हैं, वे प्रायः भक्तिसे ही परमगतिको प्राप्त हुए हैं। उनमें कर्मकी गौणता थी, अतः वे कर्मयोगी न माने जाकर भक्त ही माने गये; किंतु उनमें कर्मकी कुछ कमी होनेपर भी उन्हें कर्मयोगी ही मानना चाहिये; क्योंकि ईश्वरभक्ति भी तो एक उत्तम कर्म ही है।

आपने पूछा कि 'गीतामें बतलाये हुए यज्ञचक्रको न चलानेसे केवल गृहस्थको ही पाप लगता है या संन्यासीको भी?' सो ज्ञात हुआ। गीताके तीसरे अध्यायके १२, १३ और १६ वें श्लोकमें बतलाये हुए दोष अन्न पकाकर देवताको न अर्पण करनेवाले (यज्ञ न करनेवाले) गृहस्थोंको ही लगते हैं, गृहत्यागी संन्यासियोंको नहीं। पर झूठे संन्यासियोंको तो संन्यास-आश्रमके धर्मोंका पालन न करनेसे गृहस्थोंकी अपेक्षा और भी अधिक दोष लगता है।

आपने लिखा कि 'रामगीतामें बतलाये हुए वाक्यसे प्रतीत होता है कि भगवत्प्राप्तिका अधिकार संन्यासीको ही है।' सो रामगीतामें हमें तो आपका लिखा हुआ वाक्य कहीं नहीं मिला। भगवत्प्राप्तिका अधिकार तो सभी वर्ण और सभी आश्रमवालोंको है, केवल संन्यासीको ही है, यह बात नहीं (देखिये गीता अ० ९। ३२)।

आपने पूछा कि 'गीतामें वर्णित 'न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि' (गीता १८। ५८) 'ये त्वेतदभ्यसूयन्तः' (गीता ३। ३२) आदि वचन किस मार्गविशेषके विषयमें कहे गये हैं? जिन्होंने गृहस्थाश्रमको छोटी उम्रमें ही त्याग दिया, ऐसे बुद्ध, चैतन्य और रामतीर्थ आदिको भी कर्मत्यागका दोष लगना चाहिये था।' सो जाना। गीताके तीसरे अध्यायके तीसवें और अठारहवें अध्यायके सत्तावनवें श्लोकोंको देखनेसे यही ज्ञात होता है कि उपर्युक्त 'न श्रोष्यसि' इत्यादि वाक्य भगवान्ने गृहस्थमें रहकर कर्म न करनेवालेको ही लक्ष्य करके कहे हैं, सच्चे संन्यासियोंके लिये नहीं। 'विनङ्क्ष्यसि' का अर्थ पतन होना है। चाहिये। बुद्ध, चैतन्य और रामतीर्थ आदिको यह दोष लागू नहीं हो सकता; क्योंकि शास्त्रमें यह विशेष वचन कहा है 'यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्' अर्थात् जब वैराग्य हो तभी गृहस्थाश्रमका त्याग कर सकता है। अतः उन्होंने धर्मका त्याग नहीं किया क्योंकि यह भी धर्म ही है।

आपने लिखा कि 'व्रजगोपियोंने और विभीषण, सुग्रीवने भगवान् और शास्त्रकी आज्ञाका उल्लङ्घन किया, अतः उन्हें पाप होना चाहिये था; वह क्यों नहीं हुआ? भगवान् इनपर प्रसन्न थे, क्या इसीलिये नहीं हुआ?' सो व्रजगोपियोंको पतिकी आज्ञा न माननेका पाप तो अवश्य लगा होगा, परंतु भगवद्भक्तिके प्रतापसे उस दोषका नाश हो गया। विभीषणने गोहत्या की थी या नहीं—मुझे पता नहीं। यदि की भी हो तो उसका पाप तो अवश्य ही लगा होगा; परंतु भगवद्भजनसे उसका छुटकारा हो सकता है—यह शास्त्रानुकूल है। राक्षस, बंदर और शूद्रोंके लिये नियोग करना दोष नहीं है। अतः विभीषण और सुग्रीवने यदि अपनी भाभीकी सम्मतिसे भाभीके साथ नियोग किया हो तो कोई दोषकी बात नहीं है, किंतु बालिके लिये इसलिये दोष बतलाया गया कि उसने बलपूर्वक अपने छोटे भाईकी स्त्रीके साथ सहवास किया था।

ऊपर आपके पत्रमें पूछे हुए प्रश्नोंके उत्तर लिखे गये हैं। अब, आपके पोस्टकार्डमें की हुई शङ्काओंका उत्तर लिखा जाता है—

आपने लिखा कि 'जिसमें किसी लौकिक सुखकी इच्छाके साथ सांसारिक दुःखोंसे त्राण पाने, ईश्वरतत्त्वको जानने और ईश्वरभक्तिको प्राप्त करनेकी इच्छा हो उसे अर्थार्थी आदि भक्तोंमेंसे किस श्रेणीका भक्त समझना

चाहिये ?' सो ठीक है। गीताके सातवें अध्यायके सोलहवें श्लोकमें वर्णित भक्त-श्रेणीमें अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी (निष्कामी) को इस प्रकार क्रमशः उत्तरोत्तर श्रेष्ठ समझना चाहिये। जिस भक्तमें सांसारिक सुख-प्राप्तिके साथ-साथ सांसारिक दुःखोंसे छूटने, ईश्वर-तत्त्वको जानने और ईश्वर-भक्तिकी प्राप्ति करने आदिकी इच्छा हो, उसे अर्थार्थी भक्त ही समझना चाहिये जैसे ध्रुव आदि। और जिसमें संकटसे छूटने, ईश्वरतत्त्व जानने तथा ईश्वर-प्रेम प्राप्त करनेकी इच्छा हो, उसे आर्तभक्त समझना चाहिये, जैसे द्रौपदी आदि। सारांश यह है कि भक्ति करनेवाले भक्तमें जो नीची-से-नीची भावना रहती है, श्रेणी-निर्णयके लिये वही भावना पकड़ी जाती है।

× × × ×

आपने लिखा कि 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' आदिसे मनुष्य-को कर्म करनेमें पूर्ण स्वतन्त्रता दी गयी है; किंतु अधिष्ठान, कर्ता इत्यादिके वर्णनसे यह सिद्धान्त पुष्ट नहीं होता सो इसका क्या रहस्य है ?' सो जाना। 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' इत्यादि तो निष्काम कर्मके सिद्धान्त-से बतलाया गया है और अधिष्ठान-कर्ता आदिका वर्णन सांख्यसिद्धान्तकी दृष्टिसे किया गया है और उसके बतलानेका वहाँ तात्पर्य भी दूसरा ही है। मतलब यह है कि दूसरे अध्यायके ४७ वें श्लोकमें तो कर्ममें फल और आसक्तिका निषेध किया है और अठारहवें अध्यायके १४ से १७ वें श्लोकतक कर्मोंमें कर्तापन माननेका निषेध है। भगवान्‌ने जहाँ-जहाँ कर्मयोगका सिद्धान्त बतलाया है, वहाँ-वहाँ कर्ममें फल और आसक्तिका त्याग करनेको कहा है और ज्ञानयोगका सिद्धान्त जहाँ बतलाया है, वहाँ कर्तापनका अभाव करनेके लिये कहा है।

आपने 'सन्देहनाशके लिये कोई बात दुबारा पूछूँ तो उसे तर्क-वितण्डा न समझें' लिखा सो ठीक है। आपको इस प्रकार बार-बार पूछनेमें तनिक भी संकोच नहीं होना चाहिये।

दुःखका रहस्य

बाहर-भीतरसे होनेवाले आघातोंको, जिनके कारण यह जीवन इतना दुःखमय हो उठता है, हम स्वयं ही बुलाते हैं! बाह्य सुखोंसे—इन्द्रियजन्य भोगोंसे, मोहित होकर हम उनकी कामना करते हैं और जैसे-तैसे भी उनकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करते हैं। बस, इस प्रयत्नमेंसे ही सारी विपत्तियोंका जन्म होता है और उनका पोषण होता है। इसीसे राग-द्वेष स्वरूप संसार खड़ा हो जाता है! इस राग-द्वेषका कटु परिणाम ही हमें पीछे भुगतना पड़ता है। पर यदि हम इन विषय-भोगोंको न चाहें, केवल शरीरयात्राके लिये नीतिपूर्वक ही इनका उपयोग करें तो बाहर-भीतरसे होनेवाले ये आघात हमारे पीछे न पड़ें। इनका जन्म ही न हो और हमारे अन्तःसुखका, हमारे आत्मबलका क्षय न हो। सत्-चिन्तनसे, भगवत्-चिन्तनसे उसकी और भी वृद्धि होती जाय। ऐसी दशामें वे दुःख-आघात कदाचित् किसी अंशमें आ भी जायँ तो अपने आत्मबलके सुरक्षित रहनेसे हम उनसे विचलित न होंगे; धैर्यपूर्वक उनका सामना कर सकेंगे। अतएव अपने अज्ञानके कारण अपनी विपत्तियोंको हम स्वयं ही बुलाते हैं और इस संसारको, जो अपने-आप न तो सुखस्वरूप है और न दुःखस्वरूप, हम स्वयं ही दुःखस्वरूप बना डालते हैं! 'आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।' (गीता)

—ब्रह्मानन्द

इष्ट-रहस्य

(लेखक——महामहोपाध्याय पं० श्रीगोपीनाथजी कविराज एम्० ए०, डी० लिट्०)

सभी उपासक इष्टदेवताकी उपासना करते हैं; परंतु उसके स्वरूपके विषयमें उत्तम ज्ञान बहुतोंको नहीं होता। इष्ट-साधनका प्रयोजन क्या है, साधकके आत्माके साथ इष्टका क्या सम्बन्ध है, गुरु और इष्ट परस्पर भिन्न हैं या अभिन्न ? इस प्रकारके अनेकों प्रश्न स्वभावतः जिज्ञासुके मनमें उठते हैं । इसी जिज्ञासाके समाधानके लिये यथाशक्ति अपने ज्ञान और अनुभवके आधारपर संक्षेपमें कुछ विचार किया जाता है ।

जो इच्छाका विषय है, वही इष्ट है, तथा जो इच्छाका विषय नहीं, वह अनिष्ट है। मनुष्य जो इच्छा करता है, उसकी प्राप्ति ही उसकी साधनाका लक्ष्य होता है । इस प्राप्तिके मार्गमें जो रुकावटें आती हैं, वे चाहे साक्षात्‌रूपमें हों, या परम्पराजनित हों, अनिष्टरूपमें उनकी गणना होती है। इन सारी रुकावटोंको दूर करके इष्ट वस्तुको प्राप्त करना ही जीवनका उद्देश्य कहलाता है।

जो इच्छाका विषय है, उसका स्वरूप क्या है ? अर्थात् किसी-न-किसी रूपमें जिसको सभी प्राप्त करना चाहते हैं, उसका स्वरूप क्या है ? इसका एकमात्र उत्तर है—आनन्द ! अतएव आनन्दकी प्राप्ति ही है इष्टप्राप्ति। क्योंकि ज्ञात अथवा अज्ञातरूपसे सभी एकमात्र आनन्दकी ही इच्छा करते हैं।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि आनन्द क्या कोई पृथक् वस्तु है। साधक आनन्दकी कमीके कारण ही आनन्द-प्राप्तिकी कामना करते हैं। जिसके पास जिस वस्तुकी कमी होती है, वह उसीकी प्राप्तिकी कामना करता है। अतएव साधकसे उसका आनन्द पृथक् वस्तु है। यह बात स्वभावतः मनमें उठती है। यदि यही बात है तो 'यह आनन्द है क्या वस्तु ? रहती कहाँ है, तथा किस प्रकार इसकी उपलब्धि होती है !' यह जिज्ञासा होती है।

वस्तुतः साधकके आत्मस्वरूपसे पृथक् कोई आनन्द नामकी वस्तु नहीं है। इसी कारणसे सब लोग अपने आत्माको ही सर्वापेक्षा प्रियतम वस्तु समझते हैं। क्योंकि आनन्दकी अपेक्षा अधिकतर प्रिय कोई वस्तु नहीं हो सकती। किसीको चाहे कोई भी वस्तु प्रिय क्यों न हो, वह आत्माके लिये ही प्रिय होती है। जगत्‌के समस्त पदार्थोंमें उपाधिजनक प्रीति होती है। परंतु एकमात्र आत्मा ही निरुपाधिक प्रीतिका विषय है। अतएव आत्मा, आनन्द और इष्ट मूलतः एक ही वस्तु है। चाहे कोई किसी वस्तुकी इच्छा क्यों न करे, अज्ञातभावसे वह अपनेको ही चाहता है, किसी दूसरी वस्तुको नहीं चाहता, तथा चाहनेकी कोई दूसरी वस्तु है भी नहीं, परंतु अज्ञानवश, अर्थात् समझ न सकनेके कारण प्रत्येक आदमी यह समझता है कि उसकी चाहकी वस्तु उससे पृथक् है। जबतक द्वैतज्ञान है तबतक यही स्वाभाविक है और इसीके आधारपर व्यावहारिक जगत् प्रतिष्ठित है।

जब साधक अपने स्वरूपसे भिन्न किसी दूसरी वस्तुको आनन्दास्पद समझता है, तब यह वस्तु ही उसके लिये इष्ट-स्वरूपमें प्रतीत होती है। यद्यपि मूलमें अज्ञान रहता है, यह बात सत्य है, तथापि बाह्य वस्तुको प्रिय अथवा 'इष्ट' कहनेमें कोई बाधा नहीं। परंतु देखा जाता है कि यह बाह्य वस्तु कालभेद, स्थानभेद और अवस्थाभेदसे अलग-अलग हो सकती है। इसीलिये जो वस्तु एक समय इष्ट जान पड़ती है, दूसरे समय वही चित्तको आकर्षित करनेमें समर्थ नहीं होती है। इसी प्रकार एक स्थानमें अथवा एक अवस्थामें जो इष्टरूपमें गिनी जाती है, वही वस्तु दूसरी अवस्था अथवा स्थानमें अनिष्टरूपमें दीख पड़ती है।

व्यावहारिक दृष्टिमें इष्टका निरूपण करना बहुत ही कठिन जान पड़ता है क्योंकि कोई वस्तुविशेष या भावविशेष किसी साधकविशेषके लिये देश, काल और अवस्था-निरपेक्ष होकर समानरूपसे आनन्ददायक नहीं होती। इसलिये रहस्य तथा वास्तविक इष्ट-निरूपणके उपायोंको जानना आवश्यक है। जब आत्मा ही मूल इष्ट है, तो अज्ञानावस्थामें उसे आत्मस्वरूपमें, इष्टरूपमें न पहचान सकनेपर भी क्या रूपसे एक आधारविशेषमें क्यों नहीं प्राप्त किया जा सकता, इस प्रश्नकी मीमांसा आवश्यक है।

इसका उत्तर यही है कि एकमात्र आत्मा ही इष्ट है, यह सत्य है, परंतु जबतक आत्मस्वरूपकी उपलब्धि नहीं होती, तबतक वह समझमें नहीं आता। यही अज्ञानकी आवरणशक्तिकी क्रीड़ा है। स्वरूपानन्दके आच्छन्न होनेके बाद, अज्ञानकी विक्षेपशक्तिके प्रभावसे वह आनन्द समस्त जगत्‌में बिखर गया है। जीवके स्वरूपगत वैशिष्ट्य तथा विक्षेपशक्तिके तारतम्यके कारण विक्षिप्ततामें भी तारतम्य

होता है। प्रत्येक जीवका स्वरूपानन्द खण्ड-खण्ड होकर अनन्त विश्वमें सर्वत्र न्यूनाधिकभावमें फैला हुआ है। जबतक ये बिखरे हुए आनन्दके कण समष्टिभावमें समवेत होकर घनीभूत न होंगे, तबतक जीवको अपने स्वरूपानन्दकी झलक नहीं मिल सकती। साधनाका उद्देश्य है आनन्दके इन कणोंको सञ्चितकर उन्हें एक आकृति प्रदान करना।

प्रसंगवश यहाँ एक सूक्ष्म प्रश्न उठता है। यदि प्रत्येक जीव आनन्दस्वरूप ही है, तो सारे जीवोंके आनन्द एक ही प्रकारके होंगे, यह मानना ही पड़ता है।

वस्तुतः यह बात ठीक नहीं है। ब्रह्मस्वरूपमें सामान्य भाव और विशिष्टभावके आनन्द विद्यमान हैं। यद्यपि प्रत्येक जीव ब्रह्मस्वरूप है तथापि उसमें कुछ वैशिष्ट्य होता है। साधारणतः एक जीव दूसरे जीवसे पृथक् नहीं होता, क्योंकि दोनोंकी मूल सत्ता एक ही है। परंतु विशेष दृष्टिसे देखनेपर प्रत्येक जीवमें विलक्षणता दीख पड़ती है, जिसके फलस्वरूप किसी भी दो जीवमें सदा ही अनन्त प्रकारकी पृथक्ता रहती है। इसी कारण, एक आदमीको जो अच्छा लगता है, दूसरेको वह अच्छा नहीं लग सकता। क्योंकि प्रत्येक जीवकी प्रकृति अलग-अलग है। सृष्टिके बादसे ही प्रत्येक जीव अपने-अपने आनन्दके अन्वेषणमें लगे हुए हैं। अर्थात् वे निरन्तर जन्म-जन्मान्तर नाना रूपमें, नाना प्रकारसे आनन्दके सञ्चयमें लगे हुए हैं। अबतक उनके अन्वेषणका अवसान नहीं हुआ है। और जिस ढंगसे वे चल रहे हैं उसके अवसानकी आशा भी नहीं की जा सकती। नेत्रोंमें रूपतृष्णा तथा समस्त देहव्यापी त्वचामें स्पर्शतृष्णा—एवं प्रत्येक इन्द्रियमें अपने-अपने विषयकी तृष्णा सदा ही जाग्रत् रहती है। भोग्य पदार्थोंकी प्राप्ति तो होती ही रहती है, परंतु उनसे तृप्ति नहीं होती।

कवि कहते हैं—

जनम अवधि हम रूप नेहारिनु नयन ना तिरपित भेल।

जन्मसे ही चक्षु चारों ओर अनन्त प्रकारसे रूपका दर्शन करती है। फिर भी पुनः-पुनः रूप देखनेकी तृष्णासे मुक्ति नहीं हो पाती। इसी प्रकार अन्यान्य बाह्य इन्द्रियों तथा अन्तःकरणके विषयमें भी समझना चाहिये। नेत्रोंके सामने इस प्रकारका अलौकिक रूप प्रकट नहीं हुआ, जिसका दर्शन कर उन्हें तृप्ति मिल सके, तथा दूसरे किसी रूपको देखनेके लिये फिर बहिर्मुख वृत्ति न हो। रूपको देखकर उन्हें जो तृप्ति मिलती है, वह सामयिक होती है, स्थायी नहीं होती। नेत्रके लिये रूप इष्ट है, क्योंकि नेत्र रूप चाहते हैं। परंतु अग्निमें आहुति पड़नेसे जैसे अग्नि वृद्धिको प्राप्त होती है, उसी प्रकार निरन्तर रूपदर्शन करनेसे नेत्रोंकी रूपतृष्णा बढ़ती ही है। क्षणिक तृप्ति केवल उद्दीपनका ही कार्य करती है। अतएव नेत्र आदि किसी भी इन्द्रियने आजतक स्थायीरूपसे इष्ट-प्राप्ति करनेमें सफलता नहीं प्राप्त की। क्योंकि इष्टकी प्राप्ति होनेपर तृष्णा मिट जाती है, बहिर्मुख वृत्ति नहीं रहती और खोज भी नहीं होती। इसके अतिरिक्त, प्रत्येक इन्द्रियके विषय अलग-अलग होते हैं। नेत्रके लिये जो इष्ट होता है, वह कानके लिये इष्ट नहीं होता, एवं कानके लिये जो इष्ट होता है, वह नेत्रके लिये इष्ट नहीं होता। उसी प्रकार बाह्य-इन्द्रियोंके लिये जो इष्ट होता है, अन्तःकरणके लिये वह इष्ट नहीं होता। एवं अन्तःकरणके लिये जो इष्ट होता है, बाह्य-इन्द्रियाँ उससे तृप्त नहीं होतीं। अतएव पूर्ण इष्ट वही एक वस्तु हो सकती है जो बाह्य-इन्द्रिय, अन्तरिन्द्रिय तथा आत्म-प्रकृतितकको तृप्ति प्रदान करती हो। वास्तविक इष्टकी प्राप्ति होनेपर देह, इन्द्रिय, प्राण और मन—सबके अभाव सदाके लिये मिट जाते हैं।

क्या इस प्रकारकी कोई वस्तु है कि जिसके द्वारा प्रत्येक इन्द्रिय, मन तथा आत्म-प्रकृतिकी तृष्णा सदाके लिये निवृत्त हो जाय? इसके उत्तरमें कहना होगा कि ऐसी वस्तु निश्चय ही है। उस वस्तुको प्राप्त करनेपर किसी दूसरी वस्तुके प्राप्त करनेकी आवश्यकता नहीं रह जाती। वह एक ही वस्तु एक ओर जहाँ अपने अलौकिक रूप आदिके द्वारा नेत्रादि प्रत्येक इन्द्रियको आनन्द प्रदान करती है, उसी प्रकार दूसरी ओर अपने अलौकिक गुण और महिमाके द्वारा साधकके चित्तको आकर्षित करती है। उसका निराकार स्वरूप साधककी निराकार आत्म-प्रकृतिको आनन्दसे आह्लादित कर देता है। ऐसी स्थितिमें यह समझा जा सकता है कि साधककी अन्तः-प्रकृति और बाह्यप्रकृतिके प्रत्येक अङ्ग इस वस्तुको धारण करनेके लिये सृष्ट हुए हैं। यह वस्तु ही अमृतस्वरूप है, तथा साधककी प्रत्येक इन्द्रियरूपी प्रकृति मानो उसको प्राप्त करनेके लिये पात्ररूपमें निर्मित हुई है। अतएव इन्द्रियोंको सुखाकर नष्ट कर देना इष्ट-साधनाका लक्ष्य नहीं है। देह, इन्द्रिय, प्राण, मन प्रभृति सबको सरसता प्रदान करना ही इष्ट-लाभका फल है। खोजके समय कठोरता और नीरसता वाञ्छनीय होती है, परंतु सिद्धिकालमें ये कभी स्थायी नहीं होतीं।

साधनाका उद्देश्य है इष्टको गठन करना, अथवा नित्य-सिद्ध इष्टको प्रकाशित करना—इसकी मीमांसा आवश्यक है। वस्तुतः नित्य-सिद्ध इष्टको अभिव्यक्त करना ही साधनाका उद्देश्य है। परंतु इस अभिव्यक्तिका एकमात्र उपाय है—इष्टके अङ्ग-प्रत्यङ्गकी रचना कर उसे आकार प्रदान करना। जब इष्ट वस्तु आकार धारणकर साधककी दृष्टिके सामने प्रकाशित होती है, तब उस आकारके पृष्ठदेशमें चैतन्यमय इष्टस्वरूप आत्मप्रकाश करता है। आकारकी सृष्टि तथा नित्यसिद्ध स्वरूपकी अभिव्यक्ति एक ही बात है। आकार अपने असंख्य अवयवोंके सञ्चयके प्रभावसे समष्टिबद्ध-रूपमें प्रकाशित होता है। अवयवकी अभिव्यक्तिके साथ-साथ निराकार चैतन्य सत्ता उसके साथ जुड़ी होती है। आकार-रचनाका मुख्य रहस्य यही है कि आनन्दके असंख्यों कण, जो समग्र विश्वमें बिखरे हुए फैले हैं, उनको एक स्थानमें आकर्षण कर घनीभूत करना।

ये सारे बिखरे हुए आनन्द-कण निर्मल नहीं हैं। कोई वस्तु जब आघात लगनेसे टूट-फूट जाती है तो उसमें अनेकों भाग हो जाते हैं; और उन प्रत्येक भागोंमें मलिनताका आविर्भाव होता है। जबतक यह मलिनता अनेकों भागोंमें बिखरी होती है तबतक दूर नहीं होती, परन्तु जब ये सभी खण्ड पुनः एक स्थानमें आकर सञ्चित हो जाते हैं, तब यह मलिनता दूर हो जाती है। अनेक भागोंमें विभक्त होनेके समय मलिनता क्यों आती है, यह प्रश्न उठ सकता है। इसका उत्तर यह कि चैतन्य-शक्तिकी स्वेच्छासे ही न्यूनता अथवा सङ्कोचके कारण एक अनेकमें परिणत हो जाता है, अतएव यह अकाट्य सत्य है कि विपरीत क्रमसे चैतन्य-शक्तिके उन्मेष अथवा स्फुरणके बिना ये समस्त असंख्य खण्ड पुनः एक अखण्डमें परिणत नहीं हो सकते। अतएव जिस क्रियामें अनेक एक हो जाते हैं, उसमें चैतन्यशक्तिकी क्रिया अवश्य ही रहेगी, तथा इसी कारण एक होनेके साथ-साथ एक ओर जहाँ विक्षिप्तता दूर हो जाती है, दूसरी ओर उसी प्रकार मलिनता दूर होकर रजोगुण और तमोगुणको निवृत्त करती है तथा शुद्ध सत्त्वकी प्रतिष्ठा होती है।

अतएव आनन्दके कणोंको एक स्थानमें सञ्चय करना, अथवा शुद्ध सत्त्वमें स्थिति होना—दोनोंको एक ही बात समझी जा सकती है। परन्तु यहाँ एक बात याद रखनेयोग्य है। प्रत्येक जीवके अपने प्रकृतिभेदके कारण उनके स्वरूपानन्दके आस्वादनमें भी पृथकृता होती है। इस पार्थक्यको जब जीवके स्वरूपगत वैशिष्ट्यकी दृष्टिसे देखते हैं तो उसे नि[illegible] कहना ही ठीक जान पड़ता है। जब जीवका स्वरूपगत [illegible] परमात्माके स्वगतभेदके रूपमें परिणत होगा, उस समय [illegible] और ही हो जायगी। आपाततः यह जानना चाहिये कि [illegible] विश्वमें प्रत्येक स्थलमें अनन्त जीवोंके अनन्त स्वरूपान[illegible] अपने-अपने चित्तके अंशरूपमें बिखरे हुए हैं, अर्थात् प्रत्ये[illegible] स्थानमें मात्राके तारतम्यके अनुसार प्रत्येक जीवके आनन्द[illegible] कण विद्यमान हैं। वे परस्पर पृथक् होते हुए भी अपृथक् रूपमें मिले हुए रहते हैं। अतएव सभी वस्तुएँ सर्वात्मक [illegible] परन्तु तिसपर भी इसमें हमारा कोई लाभ नहीं, क्योंकि ह[illegible] अपने आनन्दकण ही हमारे आस्वादनकी वस्तु हैं। [illegible] पृथक्‌रूपमें यदि आस्वादन न किया जाय तो हमारे लिये [illegible] प्रकारकी वस्तुकी आस्वादनशीलता कोई मूल्य नहीं रखती।

इस आनन्दकणके आकर्षण और आस्वादनकी दो क्रिया[illegible] हैं—एक है लौकिक और दूसरी है अलौकिक। इन सम[illegible] अपने आनन्दकणोंको दूसरोंके आनन्दकणोंके साथ मिलाक[illegible] आस्वादन करना लौकिक प्रक्रिया है, इसे ही विषयभोग क[illegible] हैं। परन्तु अपने समस्त आनन्दकणोंको दूसरे लोगों[illegible] आनन्दकणोंसे अलग करके शुद्ध भावसे आस्वादन करना [illegible] इष्ट-सिद्धि और इष्ट-सम्भोग कहलाता है। लौकिक भो[illegible] अपनी वस्तुको अलग नहीं कर सकता, इसी कारण उस[illegible] भोग अशुद्ध भोग होता है। उसमें मलिनता रहती है। इसीलि[illegible] इस भोगसे स्थायी तृप्ति नहीं मिलती। विषयभोग बन्धन[illegible] ही हेतु होता है। वस्तुतः भोग विषयका नहीं होता, बल्कि विषयमें स्थित अपने आनन्दकणोंका होता है।

गुरुकृपा प्राप्त करके साधक विषयसे अपने-अपने आनन्द[illegible] कणोंको अलग खींचकर सम्भोग करनेमें समर्थ होते हैं। जगत्[illegible] की समस्त भोग्य वस्तुओंसे मन्थनद्वारा अपनी प्रकृति[illegible] अंशभूत आनन्दकणोंको बाहर करना पड़ता है। जिस प्रक[illegible] तिलसे तेल, दूधसे नवनीत और काष्ठसे अग्नि उद्भूत होती है, यह बात भी ठीक उसी प्रकारकी है। विश्वव्यापिनी अखि[illegible] प्रकृतिसे अपने उपादानरूप आनन्दकणोंको निकाल ले[illegible] आवश्यक है। जबतक विश्वकी किसी वस्तुमें यह उपाद[illegible] थोड़ा भी वर्तमान है, तबतक उसके प्रति आसक्ति अनिवा[illegible] है। परन्तु इस उपादान अंशको हटाकर अलग कर लेने[illegible] उसके प्रति फिर आसक्ति नहीं रह जाती, अपने आनन्द[illegible] अंशको खींच लेनेके बाद वह वस्तु फिर चित्तको मु[illegible] नहीं कर सकती।

जगत्‌की समस्त वस्तुएँ प्रकृत आनन्दके रूप हैं। किन्तु अलौकिक और विशुद्ध आनन्द प्रत्येकको अपनी-अपनी चेष्टाके द्वारा गठित करना पड़ता है। गठन शब्दसे यहाँ अभिप्राय नित्यसिद्ध वस्तुकी अभिव्यक्ति समझना चाहिये। आनन्द-कणोंकी समष्टिसे ही इस शुद्ध आनन्दमूर्तिकी रचना हुआ करती है। प्रत्येक जीवके लिये यह आनन्दमूर्ति पृथक्-पृथक् होती है, इसीका दूसरा नाम इष्टमूर्ति है, जिसके बारेमें पहले कहा जा चुका है।

पहले कहा जा चुका है कि एकके अनेक बननेके समय आवरण और मलिनताकी सृष्टि होती है। इसका कारण है चैतन्यका सङ्कोच या ह्रास। उसी प्रकार चैतन्यके विकाससे ही अनेक फिर अनेक नहीं रह जाते, क्रमशः एकमें पर्यवसित हो जाते हैं। जब यह समष्टिभावकी प्रक्रिया परिसमाप्त हो जाती है, तब उन-उन आकारोंमें एकमात्र आनन्द ही अवशिष्ट रहता है। यह जो बिखरे हुए आनन्दकणोंका एकत्र आकर्षण होता है, इसके मूलमें चुम्बक शक्तिकी क्रिया काम करती है। चुम्बक शक्ति जिस वस्तुके आश्रय होती है, उस वस्तुके सारे अणुओंको आकर्षित करना उसका स्वभाव होता है। दीक्षा-कालमें गुरु-कृपासे जीव जब इस चुम्बक शक्तिको प्राप्त होता है, तभीसे यह शक्ति निरन्तर कार्य करने लगती है। शक्तिके विकासके साथ-साथ अपने समस्त आनन्दकण क्रमशः बिटुरने लगते हैं। जिस चित्तमें गुरुशक्ति पड़ती है, वही चित्त चुम्बकरूपमें परिणत होता है। तब वह चित्त स्वयं पूर्ण होनेके लिये अपने अंशोंको यथाशक्ति आकर्षण करने लगता है। यदि इस प्रक्रियामें किसी प्रकारका विघ्न नहीं होता है तो यथा-समय समस्त कण चुम्बक आकर्षणसे आकृष्ट होनेके कारण घनीभूत होकर एक आकार धारण कर लेते हैं।

जिस आकारका उल्लेख किया गया है, उसकी स्थिति और अभिव्यक्ति एक प्रकारसे हृदयाकाशमें होती है, परन्तु जब विकास पूर्ण होता है, तब हृदयके चारों ओरके समस्त द्वार बन्द हो जाते हैं, तथा ऊर्ध्वद्वार खुल जाता है। और इसी खुले द्वारका सहारा लेकर चैतन्यमय आनन्दराज्यमें प्रवेश प्राप्त होता है, इस अवस्थामें इष्ट केवल मानसिक ज्ञानके विषयरूपमें ही नहीं रहता, बल्कि समस्त इन्द्रियोंके लिये प्रत्यक्ष स्थूल सत्तामय मूर्तिविशेषमें प्रकट होता है। परन्तु स्थूलमूर्ति होनेपर भी वह जागतिक दृष्टिके लिये प्रत्यक्षीभूत नहीं होता। जबतक जगत्‌के लोग अपने देह-इन्द्रिय आदिको संस्कृत नहीं करेंगे, तबतक यह चिदानन्दमय मूर्ति उनकी इन्द्रियोंके लिये प्रत्यक्षीभूत न होगी। इसे यद्यपि स्थूल तो कहते हैं परन्तु यह जागतिक स्थूल नहीं है, यह सिद्धभूमिका स्थूल है। साधक अपने देह-इन्द्रिय आदिके साथ संस्कार उपलब्ध करनेके कारण इस स्थूलमूर्तिका सर्वदा आस्वादन कर सकता है, और उसके साथ सब प्रकारके व्यवहार भी चला सकता है। परन्तु, फिर भी कहना पड़ेगा कि इस स्थूलमें ही आनन्दका उत्कर्ष है। यह सृष्टिका एक महा-रहस्य है।

यह प्रश्न उठाया जा चुका है कि वह इष्ट वस्तु उस समय कहाँ रहती है? इसका उत्तर यह है कि इष्ट या आनन्द पूर्णरूपसे अभिव्यक्त होनेपर साधकके साथ अभिन्न भावसे रहता है, उस समय इसकी पृथक् सत्ता नहीं रहती, पर रहती भी है। एक त्रिभुजके ऊपर, ठीक उसके बराबर ही दूसरा त्रिभुज आरोपित होनेपर जैसे दोनों त्रिभुज दो नहीं जान पड़ते, एक ही जान पड़ते हैं, उसी प्रकार इष्ट भी पृथक् होते हुए भी अपृथक्के समान अवस्थित होता है। साधक या योगी इच्छा करते ही दो होकर प्रकट हो सकते हैं, और इस प्रकार प्रकट होकर सब प्रकारके आस्वादन और व्यवहार करनेमें समर्थ होते हैं। और फिर इच्छा करते ही ये दोनों रूप एक ही स्वरूपमें पर्यवसित हो जाते हैं। इष्टके साथ साधककी अपनी अनन्त माधुर्यमयी लीलाएँ इसी प्रकार सम्पादित होती हैं।

उपासनाके फल-स्वरूप इष्टका आविर्भाव होता है, और फिर इष्टके आविर्भावके फलस्वरूप उपासना आरम्भ होती है। ये दोनों एक ही सत्य हैं। एक दृष्टिसे देखनेपर उपासना क्रमशः परिपक्व होनेपर आनन्दकणोंके एकीकरणद्वारा इष्टमूर्तिकी रचना पूर्ण करती है। यह मूर्ति ही इष्टस्वरूपकी अभिव्यञ्जना करती है। इस प्रकार देखनेपर जान पड़ता है कि इष्ट-साक्षात्कार उपासनाका फल है। दूसरी दृष्टिसे, जबतक इष्ट-साक्षात्कार नहीं होता, तबतक वास्तविक उपासनाका सूत्रपात नहीं होता। द्रष्टाके रूपमें स्थिरभावसे समीपमें बैठनेका नाम उपासना है। जिसके समीप बैठना है, वह यदि प्रकट न हो तो उसकी उपासना कैसे स्थिर होगी? इसलिये प्रथमको गौण कहकर दूसरीको मुख्य उपासना कहा जा सकता है। जप आदि गौण उपासनाके स्वरूप हैं। और ध्यान मुख्य उपासना-का स्वरूप है। जपके द्वारा इष्ट-साक्षात्कार तथा उत्तरकालीन इष्टविषयक ध्यानसे इष्ट-प्राप्ति और इष्टके साथ मिलन प्राप्त होता है। इष्टका रूपदर्शन न होनेपर ठीक तौरपर इष्टका

ध्यान नहीं किया जा सकता। इसी कारण ध्यानके पहले इष्टदर्शनकी आवश्यकता रहती है। परन्तु कल्पित इष्टदर्शन वास्तविक इष्टदर्शन नहीं होता। प्रकृत इष्टरूपका दर्शन करनेके लिये बीजसे ही दर्शन करना आवश्यक है, बीजके बिना यथार्थरूप स्फुटित नहीं होता। उपासनाके प्रसङ्गमें इस विषयकी विशेषरूपसे आलोचना की जा सकती है। इष्टदर्शनके बाद इष्टको स्थायीरूपमें प्रतिष्ठित करना पड़ता है, क्योंकि ऐसा न करनेसे बीच-बीचमें यदि इष्टस्वरूपका अभाव या अदर्शन हो तो सर्वदा इष्ट-दर्शन सम्भव नहीं होता। इष्टको सर्वदा सामने रखकर उसका दर्शन करना ही मुख्य उपासनाका तात्पर्य है। मुख्य उपासनाके फलसे द्रष्टा या उपासक साधक एवं उपास्य इष्टसाध्य—इन दोनोंका व्यवधान क्रमशः कम हो जाता है। तब उपास्य-उपासकका मिलन होता है, यही योग है। इसके बाद दो सत्ता एकरूपमें प्रकाशित होती है, इसीका नाम ज्ञान है। तब एक ही चैतन्य स्वरूपमें दोनोंकी समाप्ति होती है। जबतक इष्ट सम्मुख रहता है, तबतक साधक इष्टके अधीन रहता है, परन्तु जब मनमें इष्ट नहीं रहता, तब एक स्वयंप्रकाश आत्मा ही अखण्डरूपमें विराजमान रहता है।

पहले कहा जा चुका है कि सबके अपने-अपने समस्त आनन्दकण समग्र विश्वमें बिखरकर व्याप्त रहते हैं। ये आनन्दकण सबके अपने-अपने चित्तको आश्रय करके रहते हैं। यह बात कहे बिना भी समझमें आ सकती है। यदि यह सत्य है तो मानना पड़ेगा कि प्रत्येक जीवके चित्त विकल (अपूर्ण) हैं, किसीका भी चित्त पूर्ण नहीं है। यहाँ प्रश्न यह है कि समस्त अपूर्ण (विकल) चित्तोंके शून्य अंश रिक्त रहते हैं। अथवा अन्य किसी वस्तुके द्वारा पूर्ण (भरे हुए) होते हैं।

प्रकृतिका कोई भी स्थल रिक्त नहीं रह सकता, चित्तके अंश बाह्य जगत्के जिन-जिन स्थानोंमें आविष्ट रहते हैं, उन्हीं-उन्हीं स्थानोंसे उसके (बाह्य जगत्के) सारे अंश लौटकर चित्तके रिक्त स्थानको भर देते हैं। बाह्य जगत् भौतिक सत्तामय होता है। चित्तके अंश जिस प्रकार समस्त भौतिक जगत्में व्याप्त होते हैं, उसी प्रकार भौतिक जगत्के सत्तांश भी चित्तके रिक्त स्थानमें आविष्ट होते हैं। प्रत्येक मनुष्यके चित्तमें इस प्रकार भौतिक अंश विद्यमान रहते हैं। इसको वासना कहते हैं। चित्तके शुद्ध होनेपर यह वासनारूपी भौतिक अंश उसमें नहीं रहता। वह यथास्थान पृथक् हो जाता है। तब इस वासनाके स्थानमें चित्तके अपने अंश लौट आते हैं। चित्तके अपहृत समस्त अंश जब लौट आते हैं, चित्त शुद्ध और पूर्ण हो जाता है। दूसरी ओर, भौतिक... भी उसका अपहृत अंश लौट जाता है। भौतिक... चित्तांशके चले जानेके कारण जो रिक्तता होती है, वह भी, भौ... सत्ताके अपने अंशके लौटनेपर, शुद्ध और पूर्ण हो जाती है। पूर्वोक्त प्रक्रियाका नाम चित्त-शुद्धि और शेषोक्त प्रक्रि... नाम भूतशुद्धि है। दोनों प्रक्रिया एक ही साथ सम्पन्न होती है।

हमारा शरीर पञ्चभूतोंके सम्मिलनसे सृष्ट हुआ है। ... साथ चित्तका संयोग है। उसी प्रकार हमारे चित्तमें भी ... भूतोंके अंश विद्यमान हैं। स्थूलदेह और विश्वदेहमें ए... व्यापार चल रहा है। चित्त और भूतोंके परस्पर मिलने ... घुलमिल जानेसे ही देहका आविर्भाव होता है। अवश्य इनके अन्तरालमें—केन्द्रस्थानमें आत्मा रहता है। इसके कहनेकी आवश्यकता ही नहीं। भूतोंसे चित्तके अंश दूर जाते हैं तो भूतोंमें अपहृत भूतांश एवं चित्तसे भूतोंके ... दूर हो जाते हैं तो चित्तमें अपहृत चित्तांश लौट आते हैं। तब पञ्चभूत अपने-अपने केन्द्रमें प्रविष्ट होते हैं, ... बिखरना बंद हो जाता है। यही भूत-शुद्धि कहलाती है। चित्तका बिखरना भी उस समय बंद हो जाता है ... चित्त-शुद्धि कहते हैं। इस प्रकार पञ्चीकरणकी अतीतावस्था... जाकर देहतत्त्वकी साधनासे षट्चक्रभेदनकी क्रिया नि... होती है। इसी अवस्थामें तृतीय नेत्र खुल जाता है। इसे दूसरे शब्दोंमें पूर्ववर्णित इष्ट-साक्षात्कार कहेंगे। ... अवस्थामें बिन्दुमें स्थिति होती है। कुण्डलिनीके जागरण... साथ-साथ नादके स्थानके फलस्वरूप बिन्दुकी प्राप्ति होती है। बिन्दुसे महाबिन्दुकी ओर गमन करना ही महामिलन... प्राप्तिका उपाय है। महाबिन्दु शब्दसे हमारा अभि... सहस्रारकी कर्णिका है। कहना न होगा कि इसके परे ... दीर्घपथ रहता है। इसके वर्णनका यहाँ कोई प्रयोजन नहीं है। पूर्ववर्णित गौण उपासनाका उद्देश्य षट्चक्रोंका भेदन करना ही है। आज्ञाचक्रसे आगे सहस्रारकी ओर ... और उसे प्राप्त करना ही मुख्य उपासनाका लक्ष्य है।

यहाँ प्रश्न उठता है कि वास्तवमें इष्ट क्या वस्तु है? ... उसका द्रष्टा कौन है, तथा दोनोंमें क्या सम्बन्ध है? ... अभिव्यक्ति और इष्टदर्शन, दोनोंमें सम्बन्ध कहाँ है? ... प्रकाशसे अथवा किस नेत्रसे इष्टदर्शन होता है, अथवा उ... विकास ही किस प्रकार होता है?

वस्तुतः जो इष्ट है, वही द्रष्टा भी है। अपने-आपको साक्षात्कार करना ही इष्ट-दर्शन कहलाता है। परन्तु जबतक वह अवस्था प्राप्त नहीं हो जाती, तबतक यह कहना नहीं बनता। चिदानन्दस्वरूप आत्माका चिदंश द्रष्टा है और आनन्दांश इष्ट है। चिदंश पुरुष है और आनन्दांश प्रकृति है, चित्से आनन्दका वास्तविक भेद न होनेपर भी एक कल्पित भेद है। इस अवस्थामें चित्से पृथक् रूपमें चित्तका आविर्भाव होता है, तथा इस चित्तमें आनन्द प्रतिबिम्बित होता है, इस आनन्दका आस्वादन चित् ही भोग्यरूपमें अभिन्न भावसे करता है। यह भोग स्वरूपानन्दका भोग होते हुए भी भोग ही है। चित् और आनन्दमें जब वैकल्पिक भेद नहीं रहता, तब इसका नाम 'रस' होता है और तब इसे भोग नहीं कहा जा सकता। यह जो आनन्दका आस्वादन है, यह अपनी शक्तिरूपी दर्पणमें अपने स्वरूपका प्रतिबिम्ब मात्र है। यह चित्तमें प्रतिबिम्बितरूपमें ही अनुभूत होता है। चित्त चित्की समीपस्थ बहिर्मुख अवस्थामात्र है, उसे ठीक चित् कहना नहीं बनता। फिर भी वह सदा ही चिदालोकसे आलोकित रहता है। वह जागतिक दृष्टिसे अचित् न होते हुए भी अचित्पदवाच्य है। उसे ही सत्त्व (शुद्ध सत्त्व) कहते हैं। यह जो चिदालोकित चित्तसत्त्वरूप दर्पणमें प्रतिबिम्बित आनन्द है, यही चित्की आस्वादनीया प्रकृति है, तथा इस आनन्दका आस्वादन करनेवाला चित् है। यह आनन्द ही इष्ट है। यहाँ सृष्टिके रहस्यका वर्णन करनेका अवसर नहीं है, परन्तु जान लेना होगा कि सृष्टिकालमें यह मूल चित्त ही अनन्तभावमें विभक्त हो जाता है। तथा आनन्द वस्तुतः एक होनेपर भी अनेक होनेके साथ-साथ अनन्त आनन्दकणोंके रूपमें बिखर जाता है। चिद्रूपी द्रष्टा एक होनेपर भी क्षणभेदसे अनन्तरूपमें प्रकाशित होता है। तदनुसार एक ही परमपुरुष अनन्तपुरुषमें पर्यवसित होता है, तथा आनन्दात्मिका प्रकृति मूलमें एक होते हुए भी विभिन्न पुरुषोंकी अनुगामिनी रूपसे अनन्त प्रकृति भावमें स्फुरित होती है। जब सृष्टिकालमें एक सत्तासे अनेक सत्ताका आविर्भाव होता है, तब महाप्रकृतिके समान खण्ड प्रकृति भी अनन्त भावोंमें विभक्त होकर कणोंके रूपमें फैल जाती है। इसीको विश्वव्याप्त अनन्त आनन्दकण कहते हैं।

प्रत्येक साधककी अपनी-अपनी दृष्टि होती है। वे जबतक मूल द्रष्टामें अवस्थित नहीं हो जाते, तबतक उनकी प्रकृति भी पृथक्-पृथक् होती है। उनके जब अपने आनन्दांश गठित होते हैं तो उसके सामने इष्टरूपमें प्रकट होते हैं। इसी कारण वस्तुतः इष्टके एक होनेपर भी भावभेदसे प्रत्येकका इष्ट पृथक्-पृथक् होता है। भावभेद न रहनेपर इष्ट एक ही है, और वह महाभावकी अवस्था है। महाभावकी अतीतावस्थामें इष्ट भी नहीं रहता और द्रष्टा भी नहीं रहता, अर्थात् दोनों मिलकर एक हो जाते हैं। उस समय शुद्ध द्रष्टा मात्र अवशिष्ट रहता ह।

इष्टका आविर्भाव तभी सम्भव है जब बिखरे हुए आनन्दकणोंके सम्मि.उनकी क्रिया समाप्त हो जाती है। जबतक समाप्त नहीं होती तबतक इष्ट वस्तुकी आकारसिद्धि नहीं होती। आकार सिद्ध न होनेपर उसमें चैतन्यका सञ्चार नहीं हो सकता। चैतन्य-सञ्चारका अभिप्राय है चिद्रूपी द्रष्टाकी दृष्टिमें आविर्भूत होना। इसीको इष्ट-साक्षात्कार कहते हैं।

समस्त आनन्दकणोंका सञ्चय जिस अनुपातसे होता है, ठीक उसी अनुपातसे चैतन्यसे आवरण-शक्ति क्रमशः अपसारित होती जाती है। साकारत्व साधन जिस प्रकार दीर्घकालका व्यापार होते हुए भी एक क्षण अर्थात् अन्तिम क्षणका व्यापार होता है, उसी प्रकार चैतन्यकी अभिव्यक्ति भी होती है। जिस क्षण समस्त आनन्दकण पूर्णतः बाहरसे आकृष्ट होकर एक स्थानमें घनीभूत होते हैं, जब बाहर और कुछ आकर्षणके योग्य नहीं रह जाता, ठीक उसी क्षण चैतन्य भी शुद्धरूपमें अभिव्यक्त हो उठता है—यही कहलाता है ज्ञानचक्षुका उन्मीलन। आनन्दके दृश्यरूपमें उपनीत होनेपर द्रष्टारूपी चित् आवरणमुक्त होकर उसी क्षण उसे धारण कर लेता है। इष्टका आविर्भाव, तथा जिस दृष्टिके द्वारा इष्ट-दर्शन होता है उसका आविर्भाव एक ही समय सम्पन्न होता है। यही चित्-चक्षु, ज्ञान-नेत्र अथवा द्रष्टारूपी पुरुष है। चित् अपने ही प्रकाशमें आनन्दको साक्षात्कार करता है—बाह्यालोक और इन्द्रिय, तथा आन्तर आलोक और अन्तःकरण, किसीकी भी आवश्यकता नहीं रहती। यह जो चिदालोक है सो दर्पणरूप है। इसमें प्रतिबिम्बित आनन्दरूपमें अपना ही दर्शन होता है। प्रकृत इष्टदर्शनके समय आकाश नहीं रहता तथा देश-काल भी नहीं रहते। आकाश, देश, काल तथा अन्यान्य वैचित्र्य इष्टके अन्तर्गत और अनुगतरूपमें ही उपलब्ध होते हैं। इष्ट आकाशादिसे व्यापक होता है, आकाशादि इष्टसे व्यापक नहीं होते।

जिसे इष्ट-दर्शन हो जाता है उसके सामने संसार पूर्वपरिचितरूपमें फिर वर्तमान नहीं होता, उस समय एकमात्र इष्ट ही उस सिद्ध साधकके सामने भासमान होता है। यदि बाहर

जगत् है तो फिर इष्ट-दर्शन क्या हुआ ? हम जो बाह्य दृश्य और प्रपञ्च देखते हैं, उसे पूर्ववत् देखते रहें तो फिर इष्ट-दर्शन कहाँ हुआ ? देश-काल-जगत् प्रभृति सभी रहते हैं, परन्तु इष्टसे बाहर नहीं—इष्टके अन्तर्गत रहते हैं । अतएव एक बार इष्टदर्शन हो जानेपर जगत्की प्रत्येक वस्तुमें ही उसका दर्शन होता है । केवल यही बात नहीं है, इष्टमें भी जगत्की प्रत्येक वस्तुका दर्शन होता है । पश्चात् दोनोंको ही अभिन्नरूपमें एक साथ देखा जा सकता है । उसके बाद फिर दो नहीं रह जाते, एक ही वस्तु रहती है; यद्यपि वह एक ही अनन्त होती है । तब उसका दर्शन होता है । सबके अन्तमें द्रष्टाकी स्वरूपमें स्थिति होती है, उस समय फिर द्रष्टा-दृश्य भेद नहीं रहता ।

इष्ट-दर्शन शब्दसे किसी देवता-विशेषका दर्शन समझमें नहीं आता और आता भी है । किसी देवता-विशेषका भाव यदि चित्तमें प्रबल होता है तो उस देवता-विशेषके रूपमें ही इष्टका स्फुरण हो सकता है । परन्तु वस्तुतः यह रूप देवताका नहीं होता, इष्टका होता है । इस प्रकार रूपका कोई बन्धन नहीं रहता है । जिस-किसी आकारमें इष्टकी स्फूर्ति हो, इष्ट इष्ट ही है, देवता नहीं । इष्टको जाग्रत् किये बिना देवताकी आराधना हो सकती है, वैसे ही देवताभावके बिना इष्टकी आराधना हो सकती है । इष्ट शब्दसे केवल किसी निर्दिष्ट आकारविशिष्ट वस्तुका ही बोध होता हो, ऐसी बात नहीं है । तथापि निर्दिष्ट आकार इष्टका ही है, इसमें संदेह नहीं है । वस्तुतः इष्टदर्शनका नाम ही ज्ञाननेत्रका उन्मीलन है ।

यह जान लेना चाहिये कि इष्टके साथ गुरुप्रदत्त बीजमन्त्रका वाच्य-वाचक या अभेद-सम्बन्ध है । गुरुप्रदत्त बीजमन्त्र ही साधकके क्षेत्र (खेत) में गिरकर इष्टरूपमें परिणत होता है । बीजके साथ वृक्षका जो सम्बन्ध है, गुरुप्रदत्त मन्त्रके साथ इष्टका भी ठीक वही सम्बन्ध है । बीजसे जिस प्रकार प्राकृतिक नियमानुसार अपने-आप ही वृक्ष उत्पन्न होता है, उसी प्रकार गुरुशक्तिसे इष्टका आविर्भाव हुआ करता है । साधारणतः जैसे नाम और नामीमें अभेद माना जाता है, वैसी ही बात यहाँ भी है । इष्ट-साधनाकी विशेषता यह है कि इस मार्गमें कर्म, भक्ति और ज्ञानका अनुष्ठान एक ही साथ होता है ।

कामके पत्र

(१)

धन और अधिकारका मोह

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण । आपका कृपापत्र मिला । विलम्बके लिये क्षमा करें । आपने वर्तमान परिस्थितिपर विचार प्रकट किये, सो पढ़े । मेरी समझसे आपके विचार ठीक नहीं हैं; परंतु आप क्या करते । इस समय मनुष्यका मानसिक स्तर इतना नीचे उतर आया है कि उसमें ऐसे ही विचार आया करते हैं और इन्हींमें उसको भलाई प्रतीत होती है । जब समाजमें श्रेष्ठताका मानदण्ड 'धन और अधिकार' हो जाता है, तथा धन और अधिकारके उपार्जनकी पवित्रता और उनके सदुपयोगपर दृष्टि नहीं रहती, तब उस समाजका पतन हो जाता है । क्योंकि उस समय समाजके अधिकांश मनुष्योंकी प्रबल कामना 'धन और अधिकार' को प्राप्त करनेकी हो जाती है, चाहे वे किसी साधनसे प्राप्त हों और संसारमें विषयोंकी कहीं इति नहीं है । इसलिये कितना भी धन या अधिकार प्राप्त हो जाय, कमी बनी ही रहती है, वरं जितना ही अधिक धन और अधिकार मिलता है, उतनी ही अधिक कामना बढ़ती है, वैसे ही जैसे जितनी बड़ी आग होती है, उतनी ही उसकी ईंधनकी भूख बढ़ जाती है । और इस प्रकार धन और अधिकारको प्राप्त कामनाग्रस्त मोहावृत मनुष्योंके द्वारा दूसरे लोग वैसे ही अधिक जलाये जाते हैं, जैसे बड़ी आगकी आँच दूर-दूरतक फैलकर सबको झुलसा देती है । सारांश यह कि इनके 'धन और अधिकार' का दुरुपयोग ही होता है । उनसे साधारण लोगोंको सुख नहीं पहुँचता वरं उनका दुःख ही बढ़ता है और फिर उनको अपने इन कार्योंके लिये कोई पश्चात्ताप

नहीं होता। वे इसीको लोकसेवा मानते हैं, और जरा भी सच्ची आलोचना करनेवालोंको अपना विरोधी या शत्रु मानकर अपनी शक्तिको उनकी जबान बंद करनेमें लगा देते हैं। आपके विचार, क्षमा कीजियेगा, कुछ इसी प्रकारकी मनोवृत्तिको लेकर हैं।

आपके पास धन या अधिकार हैं तो उनका सदुपयोग कीजिये और यदि वे धन और अधिकार बुरे साधनोंसे प्राप्त हुए हैं तो उनके लिये पश्चात्ताप कीजिये। भगवान्‌से प्रार्थना कीजिये कि फिर ऐसी दुर्बुद्धि न हो। 'धन और अधिकार' यहीं रह जायँगे। इन विनाशी पदार्थोंके लिये सत्य और धर्मको तिलाञ्जलि देना बहुत बड़ी मूर्खता है। और हम आज बड़े गौरवके साथ यही कर रहे हैं! पता नहीं, अभी हमें पतनके किस गहरे गर्तमें गिरना है! 'धन और अधिकार'का मोह आज इतना बढ़ गया है कि इसके कारण आज सारे समाजमें मानस-रोग बढ़ रहे हैं। जहाँ देखिये, वहीं दलबंदी, एक-दूसरेको गिरानेकी चेष्टा, गंदा स्वार्थ और उस स्वार्थ-साधनके लिये न्यायान्यायके विचारसे रहित उद्दाम आसुरी प्रयत्न! यह याद रखना चाहिये कि शरीरका बड़े-से-बड़ा रोग मृत्युके साथ ही मर जाता है; परंतु मानसिक रोग मरनेके बाद भी साथ जाते हैं और जन्म-जन्मान्तरतक यन्त्रणा देते एवं नये-नये पाप करवाते रहते हैं। आपलोग समझदार हैं, बहुत-से लोग आप लोगोंको आदर्श मानते हैं, और आपके बनाये हुए पथ-पर चलनेमें अपना कल्याण समझते हैं, इसलिये आपपर विशेष दायित्व है। आप अपने इस दायित्वको समझें और स्वयं पतनसे बचकर दूसरोंको भी पतनसे बचानेमें सहायक हों। यही आपसे मेरा विनयपूर्वक अनुरोध है।

समाज-सेवा और देश-सेवाके लिये 'सरकारी पद' ही आवश्यक नहीं है और न लोक-सेवाके लिये केवल धनकी ही आवश्यकता है। जो लोग सरकारी पदोंपर नहीं हैं और सर्वथा निष्किञ्चन हैं, पर जिनकी सेवा करनेकी सच्ची इच्छा है, उनके लिये समाज, देश और लोक-सेवाके लिये बड़ा विस्तृत क्षेत्र मौजूद है। वरं यह कहना अत्युक्ति नहीं होगा कि जो लोग पदोंके बन्धनमें नहीं हैं और जिनके पास अभिमान तथा मोहके प्रधान हेतुरूप धनका अभाव है, वे ही अधिक उत्तम और अधिक सात्त्विक भावसे ठोस सेवा कर सकते हैं। हमको जब समाज-सेवा ही करनी है, तब अधिकारका मोह क्यों होना चाहिये और क्यों इसके लिये इतनी पैंतरेबाजी करनेकी बात सोचनी चाहिये। भगवान् हम लोगोंको इस मोहसे मुक्त करें। मैंने जो कुछ लिखा है, शुद्ध प्रेमके कारण लिखा है। शब्दोंकी रूक्षताके लिये क्षमाप्रार्थी हूँ।

(२)

तीन विश्वास आवश्यक हैं

सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। आज जो इतनी विपत्तियाँ आयी हुई हैं, चारों ओर सन्देह और भय छाया है तथा भगवत्प्राप्तिके लिये इतनी बात सुननेपर भी तनिक भी उत्साह नहीं है, इसमें प्रधान कारण है 'भगवान्‌में विश्वासका अभाव।' भगवान्‌में विश्वास होते ही जीवको ऐसा दिव्य प्रकाश मिलता है कि फिर सन्देह, भय, भ्रम और विपत्तिका सारा कुहासा कट जाता है, सारा अन्धकार मिट जाता है एवं अज्ञानका अपार आवरण तुरंत हट जाता है। तीन प्रकारके विश्वासकी आवश्यकता है—१. भगवान्‌के अस्तित्वमें विश्वास। २. भगवान् जीवोंको मिलते हैं, यह विश्वास और ३. हमें भी अवश्य मिलेंगे यह विश्वास।

जबतक भगवान्‌के अस्तित्वमें विश्वास नहीं होता, तबतक उन्हें प्राप्त करने और उनके सहज स्नेहमय स्वभावसे और उनकी शरणागतवत्सलतासे लाभ उठानेका

कोई प्रश्न ही नहीं उठता । इसलिये सबसे पहले यह विश्वास होना चाहिये कि भगवान् हैं ।

'भगवान् हैं, पर वे समस्त ईश्वरोंके महान् ईश्वर हैं; अपने दिव्यलोकमें पार्षदोंके साथ रहते हैं अथवा समस्त संसारमें बर्फमें जलकी भाँति ओत-प्रोत हैं । वे किसी एकसे मिलेंगे क्यों । उनके मिलन-सुखका अनुभव जीवको क्यों होने लगा ।' ऐसा सन्देह रहनेपर भी हमारे मनमें उनके साक्षात्कार करनेका कोई मनोरथ या उत्साह नहीं होगा । इसलिये यह दूसरा विश्वास होना चाहिये कि वे सर्वेश्वर, दिव्यधामवासी और नित्य सर्वगत तथा सर्वरूप होनेपर भी साधनसिद्ध पुरुषोंको दर्शन देकर कृतार्थ करते हैं ।

'मान लिया भगवान् हैं और वे सिद्ध साधकोंको मिलते हैं; पर हम-जैसे साधनहीन विषयी पामर जीवोंको क्यों मिलेंगे । वे मिलेंगे तपस्वियोंको, योगियोंको, अपने प्यारे भक्तोंको और अपने आत्मरूप ज्ञानियोंको । हम-सरीखे तप, त्याग, प्रेम और ज्ञानसे रहित मनुष्य उनके मिलनेकी कैसे आशा करें ?' ऐसा सन्देह बना रहेगा तब भी भगवान्के मिलनेकी स्फूर्ति और उत्कट इच्छा नहीं होगी । मनुष्य समझेगा कि हमारे लिये तो भगवान् आकाशकुसुमके समान सर्वथा दुर्लभ ही हैं । इसलिये तीसरा यह विश्वास होना चाहिये कि भगवान् सर्वलोकमहेश्वर, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वात्मा और सर्वरूप होनेके साथ ही जीवमात्रके अकारण प्रेमी—परम सुहृद् हैं । जो उनसे मिलना चाहता है, उसीसे मिल लेते हैं । जरा भी भेदभाव नहीं करते । ऐसे दयालु हैं कि पूर्व जीवनके कृत्योंकी ओर ध्यान नहीं देते । वे देखते हैं केवल वर्तमान समयकी उसकी इच्छाको । यदि वह मिलनेके लिये आतुर है तो वे भी आतुर हो जाते हैं और तुरंत उसको दर्शन देकर कृतार्थ कर देते हैं । ज्ञानी, प्रेमी, विषयी, पामर या ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और चाण्डाल अथवा पुरुष या स्त्री—कुछ भी नहीं देखते । न यही देखते हैं कि यह अबतक [illegible] पाप कर रहा था । वे तो वर्तमान क्षणका मन [illegible] हैं और उसमें यदि सच्चाई और अनन्याश्रय पाते हैं [illegible] बस, सब कुछ भुलाकर उसे अपना लेते हैं, अपने हाथों [illegible] 'स्नेहमयी जननीके द्वारा बच्चेके मलको धो डाल[illegible] समान—उसकी सम्पूर्ण पापराशिको धो डालते हैं [illegible] उसे परम पवित्र, स्वच्छ, शुद्ध बनाकर अपनी [illegible] बैठा लेते हैं—

सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं [illegible]

भगवान्ने गीताजीमें कहा है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥
मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥

(९ । ३०-३[illegible]

'दारुण पाप करनेवाला पुरुष भी यदि अनन्यभा[illegible] (एकमात्र मुझहीको त्राणकर्ता और शरण्य मान[illegible] भजता है तो उसे 'साधु' मान लेना चाहिये; क्यों[illegible] उसका निश्चय (अनन्यभावसे मुझे भजनेका निश्च[illegible] यथार्थ है । ऐसा करनेवाला (पापी) मनुष्य तुरंत [illegible] धर्मात्मा बन जाता है और सनातनी परमा शान्ति[illegible] प्राप्त हो जाता है । भैया ! तुम निश्चयपूर्वक सत्य स[illegible] कि मेरे भक्तका नाश नहीं होता । (जो अब[illegible] महापापी था, वही तुरंत साधु, भक्त और परम शान्ति[illegible] अधिकारी हो गया, यह है भगवान्के पतितपा[illegible] स्वभावका महत्त्व) अर्जुन ! स्त्री, वैश्य और शूद्र यहाँ [illegible] कि पापयोनिवाले भी यदि मेरा आश्रय ले लेते हैं [illegible] वे भी परम गतिको ही प्राप्त होते हैं, फिर पुण्य[illegible] ब्राह्मण, राजर्षि भक्त क्षत्रियोंके लिये तो कहना ही [illegible]

है ? अतएव इस सुखरहित और अनित्य मानव-शरीरको पाकर तुम मुझको ही भजो ।'

इससे सिद्ध है कि भगवान् नीच-से-नीच प्राणीको भी मिल सकते हैं, क्योंकि वे 'सभी प्राणियोंके सुहृद्' ('सुहृदं सर्वभूतानाम्') हैं, इसलिये हमको भी अवश्य ही मिलेंगे ।

ये तीन विश्वास जब मनुष्यके हृदयमें उत्पन्न हो जाते हैं तो फिर भगवत्प्राप्तिमें विलम्ब नहीं होता और यह तो कहना ही व्यर्थ है कि भगवत्प्राप्तिके साथ ही सारे दुःख-द्वन्द्व सदाके लिये नष्ट हो जाते हैं ।

(३)

श्रेष्ठ साध्यके लिये श्रेष्ठ साधन ही आवश्यक है

सप्रेम हरिस्मरण ! आपका कृपापत्र मिला । आपने लिखा कि 'एक आदमी चाहता है कि मैं बहुत धन कमाकर उसके द्वारा लोकसेवा तथा भगवत्सेवाके पवित्र कार्य करूँ । परंतु धन कमानेमें असत्य, छल, कपट, चोरी, हिंसा, दूसरोंका स्वत्वहरण और बहीखातोंमें झूठा जमा-खर्च आदि करने पड़ते हैं । इनके बिना काम ही नहीं चलता । ये न किये जायँ तो आजकल सीधे उपायसे धन आना असम्भव है और धनके न होनेपर लोकसेवा तथा भगवत्सेवाके कार्य नहीं हो सकते । ऐसी अवस्थामें क्या करना चाहिये ? क्या श्रेष्ठ उद्देश्यकी सिद्धिके लिये इस प्रकारके अनिवार्य दोषोंका स्वीकार करना पाप है ? जब साध्य उत्तम है, कर्ताका भाव शुद्ध है और उसकी नीयत अच्छी है, तब फिर साधन यदि निकृष्ट भी हों तो क्या हानि है ? भगवत्प्राप्तिके लिये यदि कभी निषिद्ध कर्म भी करने पड़ें तो क्या वह कोई बुरी बात है ?'

इसका सीधा उत्तर यह है कि फल वही होता है, जिसका बीज होता है । जब साधन निकृष्ट है, तब साध्य श्रेष्ठ कहाँसे आवेगा ? एक आदमीका सर्वथा शुद्ध उद्देश्य है कि मुझको आम मिले, उसका भाव भी यही है और नीयत भी अच्छी है; पर वह बोता है आकके बीज, तो बताइये उसे आम कहाँसे मिलेंगे । इसी प्रकार नीयत, उद्देश्य और भाव कुछ भी हो—झूठ, कपट, छल, चोरी और हिंसा आदि साधनोंसे सच्ची लोकसेवा और भगवत्सेवारूपी परिणाम कभी नहीं हो सकता । बुरेका अच्छा फल होगा यह तो अज्ञानविमोहित आसुरी भाववालोंकी मान्यता है । वे कहते हैं—

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥
आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया ।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥

(१६ । १३–१५)

'आज यह कमाया, कल वह कमाऊँगा । मेरे पास इतना धन तो हो गया है, फिर और भी हो जायगा । मेरे उस शत्रु (एक मार्गके रोड़े) को तो मारकर हटा दिया गया है, शेष दूसरोंको भी मार दूँगा । मैं सत्ताधीश हूँ, मैं भोगमें समर्थ हूँ, मैं सफलताओंका केन्द्र हूँ, मैं बलवान् हूँ और सुखी हूँ । मैं धनी हूँ, मैं जनवान् हूँ—जनता मेरे पीछे चलती है, मेरे समान दूसरा है कौन । मैं यज्ञ करूँगा, दान दूँगा और आनन्द लूटूँगा (भगवान् कहते हैं) वे इस प्रकारके अज्ञानसे विमोहित हैं ।'

बुरेका फल अच्छा कभी हो नहीं सकता । श्रीतुलसीदासजी महाराजने कहा है—'साधन सिद्धि राम पग नेहू ।' भगवच्चरणोंमें प्रेम ही साधन है और वही साध्य है । वस्तुतः साधनके स्वरूपपर ही साध्यका स्वरूप निर्भर करता है । इसलिये मनमें किसी भी साध्यकी कल्पना हो, साधकको तो पहले साधनकी श्रेष्ठता ही देखनी है । अतएव 'साध्य उत्तम हो तो साधन निकृष्ट होनेपर भी कोई हानि नहीं है' ऐसा मानना भ्रमपूर्ण है ।

धनके द्वारा लोक-सेवा और भगवत्सेवाकी भावना उत्तम है (यद्यपि केवल धनके द्वारा सेवा बनती नहीं, उसके लिये तो सेवाके योग्य मन चाहिये) परंतु इसका क्या निश्चय है कि मनुष्य अपने इच्छानुसार धन कमा ही लेगा। सम्भव है, जीवनभर जीतोड़ प्रयत्न करनेपर भी धन न मिले। कदाचित् मिल भी गया तो फिर यह कौन कह सकता है कि उस समय लोक-सेवा और भगवत्सेवाकी विशुद्ध भावना बनी ही रहेगी। सच्ची और युक्तिसङ्गत बात तो यह है कि असत्य, चोरी, छल, कपट, हिंसा आदि दुष्ट साधनोंमें लगे रहनेसे चित्तकी अशुद्धि बढ़ जायगी और अशुद्ध चित्तमें शुद्ध भावनाओंका टिकना सम्भव नहीं है। अतएव लोक-सेवा और भगवत्सेवा नहीं बन सकेगी। लोक-सेवा और भगवत्सेवाके नामपर कहीं कोई दम्भ भले ही बन जाय। हाँ, एक फल अवश्य होगा, जीवनभर दूषित कर्मोंमें लगे रहनेसे पापोंकी वृद्धि होगी। दूषित संस्कारोंके कारण अन्तकालमें बुरी वस्तुका चिन्तन होगा और परिणामस्वरूप बुरी गति अवश्य प्राप्त होगी।

अवश्य ही कुछ समझदारलोग भी ऐसा मानते हैं कि 'साध्य उत्तम है तो फिर साधन कैसा भी क्यों न हो। हमें तो साध्यको प्राप्त करना है, फिर चाहे वह किसी भी साधनसे हो।' पर यह बड़ी भूल है। जैसा साधन होगा, वैसा ही साध्य बनेगा और जैसा साध्य होगा, वैसा ही साधन होगा। यदि किसीका साधन निकृष्ट है तो सच मानना चाहिये कि उसका साध्य भी श्रेष्ठ नहीं है, भले ही वह भूलसे, धोखेसे या दम्भसे अपने साध्यको श्रेष्ठ कहता हो। चोरी करके साधु-सेवा करना, अतिथि-सत्कारके लिये व्यभिचार करना, भगवान्‌की पूजाके लिये द्वेषपूर्वक हिंसा करना, वैर और क्रोधके द्वारा धर्मकी रक्षा करना, दम्भ करके भगवान्‌को प्रसन्न करना और आत्महत्या करके भगवान्‌को पा लेना आदि कुछ ऐसी बातें हैं जो किसी विशेष परिस्थितिमें विशेष व्यक्तियोंद्वारा हुई हों, पर वे अ[illegible] हैं, नियम कदापि नहीं है। नियम तो यही है [illegible] साधन उत्तम होगा, तभी साध्य उत्तम होगा।

फिर जो श्रेष्ठ पुरुष हैं, वे तो श्रेष्ठसे भी [illegible] उद्देश्यकी सिद्धिके लिये भी नीच कर्मको कदापि स्वी[कार] नहीं करेंगे। भगवान्‌से मिलना अवश्य है, भग[वान्] अवश्य चाहिये, पर वह चाहिये भगवान्‌के अनुकूल [illegible] श्रेष्ठ शास्त्रीय साधनोंके द्वारा ही। निषिद्ध कर्मके [द्वारा] कहीं भगवान् या भगवत्प्रेम मिलता भी हो तो [श्रेष्ठ] पुरुष उसे स्वीकार नहीं कर सकते। इसीलिये [illegible] भक्त अपने भगवान्‌से यहाँतक कह दिया करते हैं [कि] 'भगवन् ! हमें तो तुम्हारा भजन प्यारा है। [illegible] तुम्हारी प्राप्ति हो जानेपर तुम्हारा भजन छूटता हो [तो] हम ऐसी प्राप्ति नहीं चाहते। हमें चाहे जहाँ, [illegible] जैसी परिस्थितिमें रहना पड़े पर तुम्हारा प्रेमपूरित [illegible] कभी न छूटे। हमें सुगति, सुमति, सम्पत्ति, [illegible] सिद्धि और विशाल कीर्ति नहीं चाहिये। हमारा [illegible] बस, तुम्हारे युगलचरणकमलोंमें नित नया अनुराग [illegible] बढ़ता रहे—

चहौं न सुगत्ति सुमति संपति कछु रिधि सिधि बिपुल बड़[ाई]।
हेतुरहित अनुराग रामपद बढ़ु अनुदिन अधिका[ई]॥

गोस्वामीजीने दोहावलीमें कह दिया है कि [illegible] नरकमें रहना स्वीकार है, यदि राम-प्रेमका फल [illegible] धर्म, काम और मोक्ष हो तो इन चारों पुरुषार्थ-शिशु[ओं] को मौत डाकिनी खा जाय। मुझे तो केवल राम[प्रेम] चाहिये। यदि रामप्रेमका और कोई फल भी होता [हो] तो उसमें आग लग जाय।

परौं नरक फल चारि सिसु मीच डाकिनी खाउ।
'तुलसी' राम-सनेहको जो फल सो जरि जाउ॥

(४)

जगत् पतन तथा दुःखकी ओर जा रहा है

सप्रेम हरिस्मरण ! आपका कृपापत्र मिल[ा]

विलम्बसे उत्तर जा रहा है, क्षमा करें। मनुष्य जो यह चाहता है 'पहले प्रतिपक्षी मेरे साथ अच्छा बर्ताव करेगा, तब मैं उसके साथ अच्छा बर्ताव करूँगा।' यह उसकी भूल है। क्योंकि जैसा वह चाहता है, वैसा ही उसका प्रतिपक्षी भी चाहता होगा। फिर अच्छाईकी पहल कौन करेगा? बुद्धिमानी तो इसीमें है कि दूसरा बुरा करे तब भी हम तो उसका भला ही करें। भलाईकी पहल करनेमें संकोच और लज्जा होना तो पाप-बुद्धिका ही परिचायक है। वस्तुतः कल्याणकामी पुरुषको कभी भी किसीके साथ असत् व्यवहार करना ही नहीं चाहिये। कोई मेरे साथ बुराई करता है, इसलिये, बुराईको बुराई मानता और कहता हुआ भी अभिमान-वश, मैं भी उसके प्रति बुराई करूँ। दूसरा जहर खाता है तो मैं भी खाऊँ। यह कोई समझदारीकी बात नहीं है। भला मनुष्य अपनी भलाईको कैसे छोड़े? वह अपने स्वभावसे क्यों च्युत हो? असलमें अपना स्वार्थ भी भलाई करनेमें ही है। प्रत्येक मनुष्यके लिये यही बात है। फिर जो, परमार्थके साधक हैं, उनको तो संतोंका आदर्श ग्रहण करना चाहिये। श्रीरामचरितमानसमें भगवान् श्रीशङ्करजीके वचन हैं—

उमा संतकी यही बड़ाई। मंद करत सो करत भलाई॥

'संतकी यही महिमा है कि वह बुराई करनेपर भी उसके साथ भलाई करता है।' फिर उन्होंने चन्दनकी उपमा देकर समझाया है—जो कुठार चन्दनको काटता है, चन्दन उस कुठारकी लकड़ीकी मूठमें अपना गुण सुगन्धि भर देता है—

काटइ परसु मलय सुनु भाई। निज गुन देइ सुगंध बसाई॥

इसलिये बुराई करनेवालेके साथ भलाई ही करनी चाहिये और सात्त्विक साहसके साथ उसकी पहल भी अपनी ओरसे ही होनी चाहिये। इसमें जरा भी संकोच या अपमानका बोध नहीं होना चाहिये। इस अपमानका यदि पुरस्कार प्राप्त करना हो तो भगवान्‌के यहाँसे बड़ा सुन्दर पुरस्कार भी मिल सकता है।

आपने लिखा कि 'विकासवादके सिद्धान्तके अनुसार उत्तरोत्तर उन्नति होनी चाहिये और भौतिक उन्नति हो भी रही है। पर लोगोंके मनोंमें पाप-भावना बढ़ती जा रही है तो क्या भौतिक उन्नतिको ही उन्नति मानना चाहिये और यदि ऐसा नहीं है तो इसका क्या परिणाम होगा?'

इसका उत्तर यह है कि मेरी समझसे तो यह विकासवादका सिद्धान्त ही सर्वथा भ्रमपूर्ण है। कुछ ही सहस्र वर्ष पूर्व जंगलोंमें रहनेवाली असभ्य जातिके लोग वर्तमान भौतिक उन्नतिको देखकर ऐसा कहें तो वे कह सकते हैं; परंतु भारतवर्षकी अत्यन्त प्राचीन संस्कृतिकी सत्ता और महत्ताको जाननेवाले लोग ऐसा कभी नहीं मान सकते। हमारा तो यह सिद्धान्त है कि अच्छा-बुरा समय चक्रवत् आता-जाता रहता है। सत्ययुगके बाद क्रमशः कलियुग आता है और कलियुगके बाद पुनः सत्ययुग। इस समय कलियुगके प्रारम्भका सन्धि-काल चल रहा है। अतएव इस समय जगत्‌की गति वस्तुतः उन्नतिकी ओर नहीं, पर अवनतिकी ओर है। उन्नति-अवनतिकी कसौटी चमत्कारपूर्ण भौतिक साधनोंका आविष्कार नहीं है। उसकी सच्ची कसौटी है समष्टिके मनकी उच्चतम सात्त्विक स्थिति। यदि समष्टिमें गीतोक्त दैवी-सम्पत्ति बढ़ रही है तो समझना चाहिये, उन्नति हो रही है, और आसुरी सम्पत्ति बढ़ रही है तो अवनति हो रही है। भौतिक उन्नतिसे न इसका विरोध है, न मेल। बड़ी-सी-बड़ी भौतिक सम्पत्तिके साथ भी दैवी-सम्पत्ति रह सकती है और भौतिक सम्पत्तिके सर्वथा अभावमें भी आसुरी सम्पत्ति आ सकती है। हमारे प्राचीन युगोंमें भौतिक सम्पत्तिकी पूर्ण प्रचुरता थी; परंतु उसका प्रयोग होता था सात्त्विक-भावापन्न पुरुषोंकी सुबुद्धिके द्वारा वास्तविक जनकल्याण-

कारी कार्योंमें । आजकी भौतिक सम्पत्ति ऐसी नहीं है । अणुशक्तिका आविष्कार भौतिक उन्नतिका एक अद्भुत उदाहरण है, परंतु मनुष्यकी राक्षसी और आसुरी बुद्धिके कारण उसका प्रथम प्रयोग होता है क्रूरतापूर्ण विपुल जनसंहारमें ! आज भी बड़े-बड़े वैज्ञानिकोंके मस्तिष्क आसुरी बुद्धिकी प्रेरणासे इसी नर-संहारके अनुसन्धानमें लगे हैं और इसमें बड़े गर्वका अनुभव कर रहे हैं । आसुरी-सम्पत्तिका अवश्यम्भावी परिणाम श्रीभगवान् बतलाते हैं—

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥
तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥

(१६ । १६, १९, २०)

वे अनेक प्रकारकी कामनाओंसे भ्रमितचित्त हुए, मोहजालमें फँसे हुए और विषयोंमें अत्यन्त आसक्ति रखनेवाले लोग अपवित्र नरकोंमें गिरते हैं । उन द्वेष-हृदय, क्रूरकर्मा पापपरायण नराधमोंको मैं संसारमें बार-बार आसुरीयोनियोंमें गिराता हूँ । अर्जुन ! वे मूढ़ मनुष्य (•मानव-जीवनके चरम और परम फलरूप) मुझ भगवान्‌को न पाकर कई जन्मोंतक लगातार आसुरी-योनिको प्राप्त होते हैं और फिर उससे भी अधिक बहुत नीची अधम गतिको जाते हैं—नरकाग्निमें पचते हैं ।

इससे यह सहज ही सिद्ध है कि जिस अनुपातसे आसुरी सम्पत्ति बढ़ रही है, उसी अनुपातसे दुःख भी बढ़ेगा । किसी विषयके विचार पहले मनमें आते हैं, फिर वाणीमें और तदनन्तर वैसा कार्य होता है, एवं तब उसीके अनुसार फल होता है । आज जगत्‌के अधिकांश लोगोंके मनोंमें दम्भ, दर्प, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, हिंसा, प्रतिहिंसा, मान, अभिमान, ईर्ष्या, असूया आदिके कुत्सित विचार बड़ी तेजीसे बढ़ रहे हैं और तदनुसार चोरी, असत्य, लूट, हिंसा, व्यभिचार आदि असत् कार्योंकी मात्रा भी बढ़ रही है । इसी अनुपातसे बीजफल-न्यायके अनुसार इनका भयानक परिणाम भी अवश्य होगा ! यहाँ भी दुःख बढ़ेंगे और परलोकमें भी दुःखोंकी ज्वाला अधिक धधकेगी । भीषण दुःखोंकी आगमें जलनेके बाद सम्भव है, कलियुगकी महादशामें भी कुछ समयके लिये सत्ययुग-त्रेताका प्रत्यन्तर आ जाय, पर उसके पहले एक बार तो भीषण पतन और दुःखोंका आना अनिवार्य-सा प्रतीत होता है !

(५)

परदोष-दर्शनसे बड़ी हानि

सप्रेम हरिस्मरण । आपका कृपापत्र मिला । आपने ······में जो-जो दोष बतलाये हैं, सम्भव है इनमेंसे कुछ उनमें हों । यह भी सम्भव है कि उनमें कुछ थोड़े दोष हों और आपको अधिक दिखायी पड़ते हों । यह नियम है कि जिसमें राग होता है उसके दोषमें भी गुण दीखते हैं, और जिसमें द्वेष होता है उसके गुण भी दोष दीखते हैं । फिर, दोष देखते-देखते जब दोष-दर्शनका स्वभाव बन जाता है तब दूसरोंके थोड़े दोष भी बहुत अधिक दीखते हैं और कहीं-कहीं तो बिना ही हुए दीखने लगते हैं । ऐसे लोगोंको, दोष रखनेवालोंकी बात तो दूर रही, भगवान्‌तकमें दोष दिखलायी देते हैं । इसीलिये संतोंने दूसरोंके दोष देखने और दूसरोंकी निन्दा करनेको साधनका एक बहुत बड़ा विघ्न बतलाया है । क्योंकि दोषदर्शीके मन, बुद्धि और वाणी नित्य-निरन्तर दोषोंके जगत्‌में ही विचरते हैं, वे स्वप्नतकमें भी पराये दोषोंकी आलोचना करते हैं । परिणाम यह होता है कि भाँति-भाँतिके दोषोंके चित्र उनके चित्त-पटपर अङ्कित होते चले जाते हैं । वाणीमें असत्य, निन्दा, पैशुन, पराप-

तथा परापकारका दोष आ जाता है। दोष-दर्शनके कारण दोषी दीखनेवाले व्यक्तियोंके कार्योंको देखने और उनका स्मरण करनेसे हृदयमें जलन होती है। फलतः द्रोह, वैर बद्धमूल होकर क्रोध और हिंसाकी क्रियाएँ होने लगती हैं। वैर यहीं समाप्त नहीं होता, वह मरनेके बाद परलोक और पुनर्जन्ममें भी साथ रहता है। इसीलिये बुद्धिमान् पुरुष कभी किसीका दोष नहीं देखते और न वे कभी परदोषकी चर्चा करके ही पाप बटोरते हैं। वे वस्तुतः बड़े ही भाग्यवान् पुरुष हैं, जिनके मनसे कभी परदोषका चिन्तन नहीं होता और जिनकी वाणीसे कभी पर-दोषका कथन नहीं होता। श्रेयस्कामी पुरुषको तो अपने ही दोषोंसे अवकाश नहीं मिलता, फिर वह दूसरोंके दोषोंको देखनेके लिये तो समय ही कहाँसे लावे? पर हमारा स्वभाव तो इतना बिगड़ गया है कि हम अपने दोषोंकी ओर तो कभी दृष्टि ही नहीं डालते और दूसरोंके दोषोंको हजार आँखोंसे देखते हैं। तुलसीदासजी महाराजने कहा है—

'आप पापको नगर बसावत सहि न सकत पर-खेरो।'

महाभारतमें आता है—

राजन् सर्षपमात्राणि परच्छिद्राणि पश्यसि।
आत्मनो बिल्वमात्राणि पश्यन्नपि न पश्यसि॥

(आदिपर्व ७४। ८२)

(शकुन्तला कहती है—) 'राजन्! दूसरेका सरसों-जितना छोटा-सा छिद्र भी आप देख रहे हैं और अपना छिद्र बेलके जितना बड़ा है पर आप उसे देखकर भी नहीं देखते।'

राग-द्वेष न होनेके कारण जिनकी बुद्धिरूपी आँखें वस्तुके यथार्थ स्वरूपको देखती हैं, वे यदि स्वाभाविक सौहार्दवश किसीको दोषमुक्त करनेके लिये प्रेमपूर्वक उसके दोषोंको बतलावें तो इसमें आपत्ति नहीं है। पर इस प्रकार निर्दोष बुद्धिसे दोष देखने और बतानेवाले व्यक्ति विरले ही होते हैं। आजकल तो अपने सच्चे और प्रसिद्ध दोषोंको वागाडम्बरसे छिपाकर अपनेमें झूठे गुणोंका आरोप किया जाता है और उनका ढिंढोरा पीटा जाता है, एवं दूसरेके सच्चे गुणोंपर दोषोंका मिथ्या आरोप करके उनकी निन्दा की जाती है। राजनीतिक क्षेत्रमें तो यह व्यवहार जीवनका एक आवश्यक अङ्ग-सा बन गया है। जन-तन्त्रके नामपर होनेवाले चुनावोंमें यह प्रत्यक्ष देखनेमें आता है कि जनताका नेतृत्व करनेवाले बड़े-बड़े सुशिक्षित महानुभाव वोटोंके लिये किस प्रकारसे मिथ्या आत्म-विज्ञापन करते हैं और प्रतिपक्षीकी मिथ्या निन्दा करके उसको गिरानेका कैसा निन्दनीय और जघन्य प्रयत्न करते हैं एवं इस नंगे नाचमें उन्हें जरा भी लज्जा नहीं आती, बल्कि इसीमें गौरव माना जाता है और विजयकी बधाइयाँ बाँटी जाती हैं। इस दशामें दोष देखनेकी प्रवृत्ति कैसे दूर हो?

इसका एक ही उपाय है और वह यह है कि अपने दोषोंको नित्य-निरन्तर बड़ी सावधानीसे देखते रहना, ऐसी तीक्ष्ण दृष्टि रखना कि मन कभी धोखा दे ही न सके और क्षुद्र-से-क्षुद्र दोष भी छिपा न रहे। साथ ही यह हो कि दोषको कभी सहन नहीं किया जाय, चाहे वह छोटे-से-छोटा ही हो। इस प्रकार करनेपर अपने दोष मिटते रहेंगे और दूसरोंके दोषोंका दर्शन और चिन्तन क्रमशः बंद हो जायगा। अपने दोष एक बार दीखने लगनेपर फिर वे इतने अधिक दीखेंगे कि उनके सामने दूसरोंके दोष नगण्य प्रतीत होंगे और उन्हें देखते लज्जा आवेगी। कबीरजीने कहा है—

बुरा जो देखन मैं चला बुरा न पाया कोय।
जो तन देखा आपना मुझ-सा बुरा न कोय॥

जो साधनसम्पन्न बड़भागी पुरुष अपने दोष देखने लगते हैं, उनके दोष मिटते देर नहीं लगती। फिर यदि उनको अपनेमें कहीं जरा-सा भी कोई दोष दीख जाता है तो वे उसे सहन नहीं कर सकते और पुकार उठते

हैं कि 'मेरे समान पापी जगत्में दूसरा कोई नहीं है ।' एक बार महात्मा गाँधीजीसे किसीने पूछा था कि 'जब सूरदास, तुलसीदास-सरीखे महात्मा अपनेको महापापी बतलाते हैं, तब हमलोग बड़े-बड़े पाप करनेपर भी अपनेको पापी मानकर सकुचाते नहीं, इसमें क्या कारण है ?' महात्माजीने इसके उत्तरमें कहा था कि 'पाप मापनेकी उनकी गज दूसरी थी और हमारी दूसरी है ।' सारांश यह कि दूसरोंके दोष तो उनको दीखते नहीं थे और अपना क्षुद्र-सा दोष वे सहन नहीं कर सकते थे । मान लीजिये, भक्त सूरदासजीको कभी क्षणभरके लिये भगवान्की विस्मृति हो गयी और जगत्का कोई दृश्य मनमें आ गया, बस, इतनेसे ही उनका हृदय व्याकुल होकर पुकार उठा—

मो सम कौन कुटिल खल कामी ।
जिन तनु दियो ताहि बिसरायो ऐसो नमक हरामी ॥

× × × ×

मनुष्यको चाहिये कि वह नित्य-निरन्तर आत्म-निरीक्षण करता रहे और घंटे-घंटेमें बड़ी सावधानीसे यह देखता रहे कि इतने समयमें मन, वाणी, शरीरसे मेरे द्वारा कितने और कौन-कौन-से दोष बने हैं । और भविष्यमें दोष न बननेके लिये भगवान्के बलपर निश्चय करे तथा भगवान्से प्रार्थना करे वे ऐसा बल दें ।

अतएव आपसे मेरा यही विनम्र अनुरोध है कि आप उनके दोषोंको न देखकर गहराईसे अपनी ओर देखिये । सावधानीसे देखिये । आपको इतना तो अवश्य ही दिखायी देगा कि आप उनमें जिन दोषोंको देखकर उनको बुरा व्यक्ति मानते हैं, ठीक वे ही दोष उतनी ही या कुछ न्यूनाधिक मात्रामें आपमें भी मौजूद हैं । ऐसा हो जानेपर आप अपने दोषोंके लिये पश्चात्ताप कीजिये और भगवान्के बलपर उन्हें दूर करनेका पूर्ण प्रयत्न कीजिये । मनुष्यके लिये अपने दोषोंका देखना और उन्हें शीघ्र मिटाना जितना आसान है, दूसरोंके दोषोंको देखना और मिटाना आसान नहीं है। यों आप अपने जीवनको निर्दोष बनाइये और जीवनके परम लक्ष्य श्रीभगवान्के दिव्य गुणोंमें मन, बुद्धि लगाकर जीवनकी सफलता प्राप्त कीजिये । यही कल्याणका मार्ग है ।

(६)

सच्ची स्वतन्त्रता और विजय क्या है

सप्रेम हरिस्मरण । आपका लंबा पत्र मिला । आपने स्वतन्त्रता और विजयके सम्बन्धमें जो विचार प्रकट किये हैं, अवश्य ही उनका अपने क्षेत्रमें किसी अंशमें महत्त्व है; परंतु वास्तविक स्वतन्त्रता और विजय तो दूसरी ही है। सच्चा स्वतन्त्र वह है, जो मोहके बन्धनसे मुक्त हो गया हो और सच्चा विजयी वह है, जिसने अपने मन और इन्द्रियोंपर पूर्णरूपसे विजय प्राप्त कर ली हो। भौतिक बलसे भूमिपर तो काम-क्रोधपरायण राक्षसों और असुरों का भी अधिकार हो सकता है । वे भी त्रैलोक्यविजयी होकर अपनेको परम स्वतन्त्र मान सकते हैं । प्राचीन कालके इतिहास और वर्तमानकी अनेक घटनाएँ इसके प्रमाण हैं । परन्तु इन स्वतन्त्रताप्राप्त त्रैलोक्यविजयी व्यक्तियोंमें ऐसे कितने थे जो अपने मनकी कामना-वासनाओंको जीतकर काम, क्रोध, लोभरूपी आभ्यन्तर शत्रुओंपर विजय प्राप्त कर चुके हों । ऐसा तो वे ही कर पाते हैं, जो कठोर आत्मसंयमके नियमोंके बन्धनमें रहकर अपनेको इसका सुयोग्य अधिकारी बना लेते हैं। संयमके कठोर बन्धनसे ही मन-इन्द्रियोंके दासत्वकी बेड़ियाँ कटती हैं । जीव मन-इन्द्रियोंका स्वामी है। अतः बलवान् और श्रेष्ठ है, परन्तु अपने बलको भूलकर इनका दास बना हुआ है और इनके वशमें होकर विषयोंमें आसक्त हो रहा है । फलतः नाना प्रकारके दुष्कर्म और पाप करनेमें प्रवृत्त होता है ।

भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा था कि मन-इन्द्रियोंमें बसनेवाला और भोगोंकी बड़ी-से-बड़ी मात्रासे भी न अघानेवाला यह पापी काम ही मनुष्यका परम शत्रु है। यही क्रोध बन जाता है। अतएव महाबाहो ! तुम इस कामरूपी भयङ्कर शत्रुको मारकर विजयी बनो—

जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥

अतएव हमें इस वर्तमान बाहरी स्वतन्त्रतासे न तो फूलना चाहिये, न भूलना ही। स्मरण रखना चाहिये कि यदि इस स्वतन्त्रताने कहीं हमारे भीतरी शत्रु काम, क्रोध, लोभ, मद, मत्सरादिको बढ़ा दिया तो हमें और भी अधिक मन-इन्द्रियोंकी गुलामी स्वीकार करनी पड़ेगी, हम और भी अधिक पराजित और परतन्त्र हो जायँगे। इसलिये हमें अपने अन्तरात्माकी ओर देखना चाहिये और इसी कसौटीपर कसकर निर्णय करना चाहिये कि हम वास्तवमें आजाद हुए हैं या नहीं। आजादीके नाम-पर कहीं बर्बाद तो नहीं हुए जा रहे हैं !!

विचारस्वातन्त्र्य और व्यक्तिस्वातन्त्र्यकी दुहाई देकर प्रगतिके नामपर हम जो ऐसा कहते हैं कि 'हम किसी शास्त्र-को, समाजको, बन्धनको और नियमको नहीं मानते। हम तो वही करेंगे, जो हमारे मनमें उचित जँचेगा।' इससे क्या यह सिद्ध नहीं होता कि हमारी मानसिक गुलामी बढ़ रही है और हम स्वतन्त्रताके नामपर उच्छृङ्खलताकी उपासनामें लगे हैं एवं ऐसा करके अपनेको अधिक-से-अधिक बन्धनोंमें बाँध रहे हैं। भगवान्ने गीतामें स्पष्ट कहा है—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥
(१६। २३)

'जो मनुष्य शास्त्रविधिको छोड़कर मनमाना आचरण करता है, वह न तो सिद्धिको प्राप्त करता है और न परमगतिको तथा परमसुखको ही।'

हमें भौतिक स्वतन्त्रताके साथ ही आत्माकी स्वतन्त्रता—जो सच्ची स्वतन्त्रता है—प्राप्त करनी चाहिये और बाहरी विरोधियोंसे सम्बन्धविच्छेद करनेके साथ ही अपने अंदर बैठे हुए असत्य, हिंसा, काम, क्रोध, लोभ और वैर आदि शत्रुओंका भी समूल नाश करना चाहिये। यह काम भाषणों तथा लेखोंसे नहीं होगा। इसके लिये भगवत्कृपापर विश्वास करके साधना करनी पड़ेगी और यही अवश्य कर्तव्य है। भारतवर्षके पास तो यही परमधन है जिसकी रक्षा और वृद्धि करके इसे जगत्के त्रिताप-तप्त जीवोंमें वितरण करना चाहिये। ऐसा न करके हम यदि स्वतन्त्रता और विजयकी झूठी शानका डंका पीटते रहेंगे तो कुछ भी नहीं बनेगा। आत्मा परतन्त्र ही रहेगा और उसका और भी पतन होगा। भगवान्ने गीतामें कहा है—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥
(१६। २१)

'काम, क्रोध और लोभ ये तीन प्रकारके नरकके द्वार हैं और आत्माका पतन करनेवाले हैं। इसलिये इन तीनोंका त्याग कर देना चाहिये।'

(७)

शान्तिका अचूक साधन

सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। आपके प्रश्नोंके उत्तरमें निवेदन है—

(१) भगवान् विष्णु, राम, श्रीकृष्ण और शङ्करजी आदि भगवान्के जिस नाम-रूपमें आपकी विशेष रुचि हो, आप उसीको अपना परम इष्ट मानकर उनकी आराधना करें। असलमें एक ही भगवान्के ये सब विभिन्न स्वरूप हैं। इनमें छोटे-बड़ेकी भावना करना अपराध है। जिस स्वरूपमें अपनी निष्ठा हो, उसकी भक्ति करे और शेष स्वरूपोंके लिये यह माने कि मेरे ही इष्टदेव इन सब स्वरूपोंको धारण किये हुए हैं।

ऐसा मान लेनेपर न तो अनन्यतामें बाधा आती है और न किसी अन्य भगवत्-स्वरूपका अपमान ही होता है। जो लोग भगवान्‌के किसी भी स्वरूपकी निन्दा या अपमान करते हैं, वे वस्तुतः अपने ही भगवान्‌का तिरस्कार करते हैं।

(२) संसारमें जो कुछ है, सब भगवान्‌का ही रूप है और जो कुछ हो रहा है, सब भगवान्‌की लीला है, परंतु जहाँ-जहाँपर विशेष विभूति और पूज्य सम्बन्ध हो, वहाँ विशेष रूपसे भगवान्‌की भावना करनी चाहिये। माता-पिताको भगवान्‌का ही स्वरूप समझकर उनकी सेवा-शुश्रूषा करनी चाहिये और उनकी आज्ञाओंका पालन कर उन्हें सुख पहुँचाना चाहिये। इस प्रत्यक्ष भगवत्स्वरूपोंकी पूजा करनेसे भगवान् बड़े प्रसन्न होते हैं। भक्त पुण्डरीककी कथा प्रसिद्ध है। साथ ही गृहस्थके पालनके लिये धर्म और न्याययुक्त आजीविकाके कर्म भी भगवत्-पूजाके भावसे करने चाहिये। भगवत्पूजाका भाव रहनेपर प्रत्येक शास्त्रोक्त और वैध कर्म भगवान्‌का भजन बन जाता है।

माता-पिताकी प्रत्येक आज्ञाका पालन करना निश्चय ही धर्म है, परंतु यदि वे पापकी आज्ञा दें—चोरी, हिंसा, व्यभिचार, असत्य आदिका आचरण करनेके लिये कहें तो उसे नहीं मानना चाहिये। माता-पिताकी आज्ञाका पालन करनेमें अपनेको बड़े-से-बड़ा त्याग करना पड़े, यहाँतक कि नरकमें भी जाना पड़े तो उसे भी स्वीकार करना चाहिये, परंतु जिस आज्ञाके पालनसे आज्ञा देनेवाले माता-पिताका भी अनिष्ट होता हो, उस आज्ञाको उनके हितके लिये नहीं मानना चाहिये। चोरी, हिंसा, व्यभिचार आदिकी आज्ञासे उनका अवश्य ही अनिष्ट होगा, क्योंकि ये बड़े पाप हैं और इनके करवानेवाले वे बनेंगे। ऐसी अवस्थामें उनकी आज्ञा न मानकर उन्हें विनयके साथ समझाना चाहिये और श्रीभगवान्‌से उनकी बुद्धि शुद्ध करनेके लिये प्रार्थना करनी चाहिये। ऐसा करते हुए भी न तो किसीके प्रति द्वेष ... चाहिये और न 'मैं श्रेष्ठ हूँ और ये निकृष्ट हैं' ... प्रकार अपनेमें श्रेष्ठताका अभिमान और उनमें हेय... ही करनी चाहिये।

(३) यद्यपि संसारके नश्वर भोगोंकी प्राप्तिके ... भगवान्‌से प्रार्थना करना उच्चकोटिकी भक्ति नहीं ... तथापि विश्वासपूर्वक यदि ऐसा किया जाय तो कोई ... बात भी नहीं है, वह भी भक्ति ही है, अवश्य ही ... होनेसे उसका स्तर नीचा है। आपको भगवान्‌में वि... करना चाहिये और यह समझना चाहिये कि 'भग... नित्य सभी स्थितियोंमें मेरे साथ हैं, वे सर्वशक्तिमान् ... सर्वज्ञ और सर्वेश्वर होते हुए भी मेरे परम आत्मीय हैं ... उनकी कृपा तथा प्रेमसे मैं सराबोर हूँ। मेरे ऊपर-नीचे ... दाहिने-बायें, भीतर-बाहर सर्वत्र उनकी कृपा भरी ... है। एक क्षणके लिये भी मैं कभी उनकी कृपासे वञ्चित ... नहीं होता। वे कृपामय हैं। उनका श्रीविग्रह कृपा... ही बना है। अतएव वे किसीपर भी कभी अकृपा न ... कर सकते। वे मेरी प्रत्येक आवश्यकताको जानते ... और उनमें जो उचित होंगी, उन्हें वे अवश्य ही ... करेंगे।' यों उनकी कृपापर विश्वास करके उनके नाम... जप करते रहिये। मेरा दृढ़ विश्वास है कि ऐ... करनेपर आपको अवश्य ही शान्ति मिलेगी। यही शान्ति... अचूक साधन है। भगवान्‌ने श्रीमुखसे कहा है—

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥

'जो मुझको समस्त यज्ञतपोंका भोक्ता, सर्वलो... महेश्वर और समस्त प्राणियोंका (बिना किसी भेदभावके ... सुहृद् जान लेता है, वह परम शान्तिको प्राप्त होता है ...

(८)

उत्कट इच्छासे ही भगवत्प्राप्ति होती है

सप्रेम हरिस्मरण! आपका कृपापत्र मिला। उ... निवेदन है कि भगवत्प्राप्तिका सबसे प्रथम और प...

आवश्यक साधन है भगवत्प्राप्तिकी उत्कट इच्छा—ऐसी इच्छा कि जैसे प्यासके मरते हुए मनुष्यको जलकी होती है। इस प्रकारकी तीव्र और अनिवार्य आवश्यकता उत्पन्न हो जानेपर—जैसे प्यासेको जलका अनन्य चिन्तन होता है और जल मिलनेमें जितनी ही देर होती है, उतनी ही उनकी व्याकुलता बढ़ती है, वैसे ही भगवान्‌का अनन्य चिन्तन होगा और भगवान्‌के लिये परम व्याकुलता होगी। इससे सहज ही भगवान्‌की प्राप्ति हो जायगी। याद रखना चाहिये, भगवान् किसी कर्मके फलरूपमें नहीं प्राप्त होते, वे तो प्रबल और उत्कट इच्छा होनेपर ही मिलते हैं। ऐसी इच्छा होनेपर अपने-आप ही सारे कर्म उनके अनुकूल हो जाते हैं और उसकी प्रत्येक चेष्टा भक्ति बन जाती है। फिर वह यज्ञ, दान, तप आदि शास्त्रीय और खाना-पीना, सोना-उठना, चलना-फिरना, कमाना-खोना आदि लौकिक—जो कुछ भी करता है, सब स्वाभाविक ही भगवान्‌के लिये करता है। क्योंकि भगवान् ही उसके परम आश्रय, परम गति और परम प्रियतम होते हैं। उसकी सारी आसक्ति, ममता और प्रीति सब जगहसे सिमटकर एकमात्र अपने प्राण-प्राण श्रीभगवान्‌के प्रति ही हो जाती है। वह अनवरत उन्हींका स्मरण करता रहता है। भगवान् जब इस प्रकार उसकी व्याकुल इच्छाको देखते हैं, तब सहज ही आकर्षित होकर उसके सामने प्रकट हो जाते हैं और उसे अपने अङ्कमें लेकर अपने हृदयसे लगाकर सदाके लिये निहाल कर देते हैं। भगवान्‌ने कहा है—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

(गीता ८। १४)

'जो मनुष्य अनन्यचित्त होकर नित्य-निरन्तर मेरा स्मरण करता है, उस नित्य मुझमें लगे हुए योगीके लिये मैं सुलभ हो जाता हूँ, वह मुझे सहजहीमें प्राप्त कर लेता है।'

आपने लिखा कि 'मैं अपने जीवनका प्रत्येक कार्य भगवान्‌का समझकर ही करूँ—ऐसा क्योंकर हो सकता है?' इसके उत्तरमें पतिव्रता पत्नीका उदाहरण हमारे सामने है। वह पतिके चरणोंमें आत्मनिवेदन कर अपने पृथक् अस्तित्वको और अपनी पृथक् आवश्यकताको सर्वथा मिटा देती है एवं जीवनभर जो कुछ करती है, सब पति-सुखके लिये ही करती है। इसी प्रकार भगवान्‌के प्रति पूर्ण आत्मसमर्पण कर देनेपर सहज ही उसका प्रत्येक कार्य भगवान्‌के लिये ही होता है। उसका कोई पृथक् प्रयोजन ही नहीं रह जाता। वह जीता है भगवान्‌के लिये और मरता है भगवान्‌के लिये। वह अपने प्रत्येक श्वासमें, प्रत्येक चेष्टासे केवल भगवत्कार्य ही करता है। ऐसे आत्म-समर्पित भक्तका हृदय और उसका पवित्र शरीर भगवान्‌के निर्बाध लीलाक्षेत्र बन जाते हैं। उनके द्वारा भगवान्‌की ही लीला होती है। ऐसे भगवद्गतप्राण महात्मा ही भगवान्‌के सच्चे संदेशवाहक होते हैं और अपने सहज सदाचरणोंके द्वारा अनायास ही जगत्‌के जीवोंको पवित्र भगवद्धाममें पहुँचानेका पावन प्रयास करते रहते हैं। उनकी मूक शिक्षासे जगत्‌का जैसा कल्याण होता है, वैसा लाखों-करोड़ों भाषणों, लेखों और प्रचार-कार्योंसे कदापि नहीं हो सकता।

आपने अपने लिये आवश्यक कार्य पूछा, सो सबसे बढ़कर आवश्यक कार्य आपके, मेरे तथा प्रत्येक मनुष्यके लिये यही है कि वह मानव-जीवनके परम और चरम लक्ष्य भगवत्प्राप्तिको समझे और सावधानीके साथ तत्पर होकर उसीकी साधनामें संलग्न हो जाय।

साधन-सर्वस्व

(लेखक--श्रीबाबूलालजी गुप्त 'श्याम')

एक ओर विषय-समूहकी उत्तालतरङ्गोंसे युक्त भोगसागर और इसके दूसरी ओर स्थिर शान्त परम पुरुष ज्योतिर्मय ब्रह्म। एक ओर अनेक कामनावासनावासित चञ्चल मन और काम-क्रोधादि उसकी सेना तथा दूसरी ओर कूटस्थविहारी आनन्दघन शान्त आत्मा। ये दोनों चञ्चल और शान्तभाव बाहर तो संसारमें तथा अंदर अपने मानसमन्दिरमें सदासे विराज रहे हैं। आत्मा सच्चिदानन्दघन अर्थात् शान्त एवं प्रकाशस्वरूप चेतन तथा आनन्दमय और अविनाशी है और इसके विपरीत सब जड, दुःखमय और विनश्वर है। इधर संसारमें बाहर—

पुरइन सघन ओट जल बेगि न पाइय मर्म।
मायाच्छन्न न देखिये जैसे निर्गुन ब्रह्म॥

और उधर—

भूमि परत भा ढाबर पानी। जनु जीवहि माया लपटानी॥
ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुख रासी॥
सो मायाबस भयउ गोसाईं। .... ॥

यह अंदरकी दशा है। भगवती श्रुति कहती है—

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्। (कठ० २। १। १)

अर्थात् स्वयम्भू (परमात्मा) ने इन्द्रियोंको बहिर्मुख करके हिंसित कर दिया है जिससे कि जीव बाह्य विषयोंको ही देखता है, अन्तरात्माको नहीं। यही कारण है कि इन्द्रियजन्य भौतिक सुखको ही सुख मानकर उसके ही प्रयत्नमें लगा हुआ है और उसके भोगमें ही सुख है ऐसा उसको विश्वास हो गया है। परंतु वास्तवमें वह भ्रममें ही है; क्योंकि सुख या आनन्द आत्माके अतिरिक्त और कहीं है ही नहीं। यह वैषयिक सुख भी आत्माके सम्बन्धसे ही प्राप्त होता है—

'अस्थि पुरातन छुधित स्वान अति ज्यों भरि मुख पकरै।
निज तालूगत रुधिर पान करि मन सन्तोष धरै॥
(विनय-पत्रिका ९२। ४)

जिस पुण्यात्माको वास्तविक सुखकी जिज्ञासा उत्पन्न होती है, वह फिर उसके उद्गमस्थानको ही ढूँढ़ता है—

कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छ[न्] (कठ० २। १। [१])

—जिसने अमृतत्वकी इच्छा करते हुए अपनी इन्द्रि[याँ] रोक लिया है—बाह्य विषयोंसे समेट लिया है, ऐसा कोई [धीर] पुरुष ही प्रत्यगात्माको देख पाता है। भगवान्ने गीतामें यही कहा है—

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥
(गीता २। [५८])

अर्थात् जैसे कछुआ अपने अङ्गोंको समेट लेता है [वैसे] ही जब पुरुष सब ओरसे इन्द्रियोंके विषयोंसे अपनी इन्द्रि[यों]को समेट लेता है तब उसकी बुद्धि स्थिर होती है। योगकी [दृष्टिसे] यह प्रत्याहार है, क्योंकि इन्द्रियोंका अपने विषयोंसे सम्बन्ध [न] रखकर चित्तके स्वरूप हो जाना ही प्रत्याहार है—

'स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रि[याणां] प्रत्याहारः।' (योगदर्शन साधनपाद [५४])

अब यहाँपर यह अनुभव होता है कि जब इन्द्रि[यों]को विषयोंसे हटाकर अंदर खींचा जाता है तब मनमें सङ्क[ल्प]-विकल्प अत्यधिक वेगसे उत्पन्न होता है। साधारण स्थि[तिसे] कहीं अधिक वह उछल-कूद करता है और इन्द्रियद्वा[रा] बाहर निकलकर भोग प्राप्त करने (देखने, सुनने) [को] व्याकुल हो जाता है। ऐसी अवस्थामें विशेष सावधान[ीकी] आवश्यकता है। ऐसे समयमें श्रीगुरुप्रदत्त मन्त्र जप अ[थवा] इष्टमन्त्र जप करनेमें मनको लगा देना चाहिये। मनको म[न्त्र]-जपका कार्य मिल जानेसे बाह्य विषयसमूहोंकी व्याकु[लता] धीरे-धीरे छूट जायगी। यदि उस समय और विचार उ[त्पन्न] होने लगें तो विचार करनेकी साधन जो बुद्धि है, उसे मन्[त्रके] अर्थका विचार करनेमें अथवा मन्त्रप्रतिपादक देव[ता] परमात्माके भावमें लगा देना चाहिये।

'तज्जपस्तदर्थभावनम्।' (योगदर्शन, समाधिपाद २[८])

यह योगमार्ग है। भक्तको अपने इष्टके स्वरूपमें [मन] लगाना, ध्यान करना तथा मन्त्र जपना चाहिये। इसमें [भेद] कोई नहीं है। भक्त रूपकी भावना करता है तथा योगी भ[ाव]-की। तात्पर्य यह है कि परमात्मभावनाकी आवश्यकता [है]

इस प्रकार भावना करते-करते चित्तको उसी ध्येयमें अर्थात् उपास्य—एकमात्र परमात्मामें सजातीय प्रत्ययप्रवाहपूर्वक लगाकर तदाकार करना चाहिये ।

'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ।' (योगदर्शन, विभूतिपाद २)

उसमें ज्ञानकी एकतानता अर्थात् एकाकार तैलधारावत् अविच्छिन्न वृत्तिका प्रवाह ही ध्यान है, ध्येयसे अतिरिक्त और कोई ज्ञान या सङ्कल्प बीचमें न आने पाये—एकाकार प्रवाह होता रहे, यही ध्यान है । इसके प्रभावसे वृत्ति अन्तर्मुख होगी और तब आत्मानुभव करना चाहिये । उस सूक्ष्माति-सूक्ष्म वृत्तिको भी लय करते-करते जब एकमात्र (अस्ति-भाति-प्रियरूप) ज्ञान ही शेष रह जाय और ज्ञान ही नहीं अपितु उस अवस्थाका द्रष्टा, साक्षी जो है, उसीको अपना स्वरूप समझना चाहिये । अन्तमें साक्षी-साक्ष्यभाव भी नहीं रहेगा । इसके लिये ही—

'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ।'

(कठ० १ । ३ । १२)

—रूप सूक्ष्म बुद्धि और—

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम् ॥

(कठ० २ । ३ । १०)

रूप-अनुभवका निर्देश श्रुतिने किया है कि जब पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ मनके सहित आत्मामें स्थित हो जाती हैं और बुद्धि भी चेष्टा नहीं करती; वह परम गति है । उस अतीन्द्रिय और केवल शुद्ध बुद्धिग्राह्य जो आनन्द है (यहाँपर बुद्धि-ग्राह्य भी कहना ठीक-ठीक नहीं बनता, केवल लक्ष्य-निर्देशके लिये ही ऐसा कहा जाता है; क्योंकि 'यो बुद्धेः परतस्तु सः' (गीता ३ । ४२) ऐसा कहा गया है) उसको अपने आत्मामें स्वयं ही अनुभव करता है तथा उससे बढ़कर और कोई सुख न मानता हुआ भारी-से-भारी दुःखसे भी विचलित न होकर उस आत्यन्तिक आत्म-सुखको ही सर्वोपरि सुख समझकर उसमें ही संतुष्ट रहता है । इसी योगको ही न उकताये हुए चित्तसे करनेकी आज्ञा भगवान्ने (श्रीगीता अध्याय ६ में श्लोक २० से २५ तक) देकर उसका वर्णन किया है । इस योग-सम्बन्धी आत्माकार वृत्तिको—

'अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयोः ।

(कठ० २ । ३ । १३)

—कहकर श्रुतिने जिसके अनुभवका संकेतमात्र किया है—

'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ।'

(ब्रह्मोपनिषद्)

—कहकर जिसे मन-वाणीसे अगोचर कहा है उसका वर्णन वाणीसे नहीं हो सकता, उसका स्वयं अनुभव होता है—

समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो
निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत् ।
न शक्यते वर्णयितुं तदा गिरा
स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते ॥

(मैत्रायण्युपनिषद् ४ । ९)

इस प्रकार योगमार्गसे आत्मानुभवरूप उपासना होती है । मूँजके अंदरसे सींकके अनुसन्धानकी भाँति हृदय एवं बुद्धिरूप गुहामें ही आत्मदर्शनानुभूति होती है । भक्ति-मार्गमें, सगुण ध्यानमें भी यही बात है—भेद कुछ नहीं है । केवल कहनेमात्रको साधन-भेद है । साध्य-तत्त्व एक ही है । क्योंकि उसमें भी, हृदय-कमलमें भगवान्के रूपका ध्यान करता हुआ सर्व अङ्गोंका ध्यान करके, फिर केवल मुख-कमलकी भावना करते हुए भगवान्के शुद्ध स्वरूपमें आरूढ़ होकर और कुछ भी चिन्तन न करे । इस प्रकार तीव्र ध्यान-योगसे वह भक्त भगवान्के शुद्धस्वरूपमें तदाकार हो जाता है और अपनेमें परमात्माको प्राप्त करता है (श्रीमद्भागवत एकादश स्कन्धके १४ वें अध्यायमें इसका स्पष्ट वर्णन है) ।

वास्तवमें सब प्रकारसे एक परमात्मा ही उपास्य है और उसकी ही उपासना सब प्रकारसे होती है । तत्त्वदृष्टिसे विचार कीजिये कि श्रीराम, श्रीकृष्ण, श्रीविष्णु, शङ्कर, दुर्गा, सूर्य प्रभृति जितने भी देवोंकी उपासना की जाती है, उन सबके नाम और रूप अलग-अलग हैं । यथा श्रीराम नाम है और 'नीलाम्बुजश्यामल' रूप, 'सशङ्खचक्र' रूप और विष्णुनाम, 'वंशीवाला रूप' श्रीकृष्ण नाम; शङ्कर नाम; शिव नाम, 'कर्पूरगौरम्' रूप आदि-आदि । अतः जितने ही नाम हैं उतने ही रूप हैं । इस प्रकार अनेक नाम तथा अनेक रूप हैं, परंतु परमात्मा तो एक ही है और वह सबका है, सबमें है तथा सर्वत्र है । इसलिये यदि विष्णु-उपासक और शिव-उपासक अथवा अन्य-अन्य उपासक अपने ही इष्टदेव विष्णु, शिव प्रभृतिके नामरूपमात्रको ही परमात्मा मानें, औरको नहीं, तब इस प्रकार अनेक नाम-रूपतासे, नामरूपकी परिच्छेद्यतासे ही अज्ञानके कारण अनेक परमात्माकी कल्पना हो जायगी । वास्तविकता तो यह है कि उस नाम-रूपका जो अधिष्ठान-तत्त्व है, वह सत्-चिदानन्दघन तत्त्व एक ही है और वही विष्णुमें है, वही शिवमें है, वही श्रीराममें है, वही श्रीकृष्णमें है

तथा वही अन्यमें है । एक ही चिदानन्दघनकी सत्ता अधिष्ठानरूपसे सबमें खेल रही है और उसीका चिदानन्द-विग्रह घनीभूत होकर राम-कृष्ण-शिव प्रभृति देवोंके रूपमें प्रकट हुआ है और उसीके अलग-अलग नाम हैं । अधिकारी-भेदसे जिस देवताके चरित्रमें भक्तकी श्रद्धा है उसी देवताकी उपासनाका विधान उस भक्तके लिये किया गया है जिससे उसमें उसका प्रेमभाव बना रहे । सबका अधिष्ठान तो एक ही वह सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही है । परंतु ध्यान रहे कि उन सबका विग्रह साधारण संसारी पुरुषोंकी भाँति नहीं है । अपितु दिव्य है 'जन्म कर्म च मे दिव्यम्' (गीता ४।९) और वे माया एवं कर्मके वशमें भी नहीं होते, माया उनके वशमें होती है—

'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ।'

(योगदर्शन १ । २४)

साधारण जीवोंकी भाँति वे क्लेश कर्म आदिके वशमें न होकर उससे असंश्लिष्ट रहते हैं । वे भक्तानुग्रहकाम्यया ही स्वेच्छावश सगुणरूपसे प्रादुर्भूत होकर लीला करते हैं, केवल नाम-रूपमें ही कहनेका भेद रहता है । इसीलिये 'नाम रूप दुइ ईस उपाधी' गोस्वामी तुलसीदासजीने भी कहा है, अतः भक्तको भी उसी परमात्माकी ही प्राप्ति होती है । वेदान्त-विचारसे भी 'अविद्योपाधिको जीवः', 'मायोपाधिक ईश्वरः', 'अविद्यामायारहितं तद् ब्रह्म'—इस दृष्टिसे अविद्या और मायाकी उपाधि निकाल देनेसे परब्रह्म परमात्मा ही शेष रहता है ।

मायाविद्ये विहायैव उपाधी परजीवयोः ।
अखण्डं सच्चिदानन्दं परं ब्रह्मैव लक्ष्यते ॥

(पञ्चदशी, तत्त्वविवेक ४८)

इस भाँति अपने अन्तःकरणका भी अधिष्ठान वही तत्त्व है जो सबका अधिष्ठान है और सबमें है । 'तत्त्वमसि' महा-वाक्यसे श्रुतिने इसका लक्ष्य कराया है और—

'सो तैं ताहि तोहि नहि भेदा । बारि बीचि इव गावहिं बेदा ॥'

इसीका अनुवाद है । अतः अपने हृदय-गुहामें अपना ही अनुसन्धान करना अपने ही अधिष्ठानका अनुभव करना उसी तत्त्वकी ही उपलब्धि करना है जो सबमें है ।

'दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम्'

(मुण्डक० ३ । १ । ७)

'हृदा मन्वीशो मनसाभिक्लृप्तो'

(श्वेताश्वतर० ३ ।

'तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरे

(कठ० २ । २ ।

—कहकर श्रुतियोंने घोषणा की है कि अपनी बुद्धिमें हृदयगुहामें स्थित, अपनेमें ही स्थित उस ज्ञानस्वरूप आत्माको जो लोग अनुभव करते हैं, उन्हींको अक्षय शान्ति मिलती है औरोंको नहीं ।

अतः जिस किसी भी भाँतिसे हो—चाहे ज्ञानयोगसे, भक्तियोगसे अथवा किसी योगसे हो, उस तत्त्वकी ही करनी चाहिये । और इसके लिये इन्द्रिय-निग्रह, संयम तथा विचारकी परमावश्यकता है । बिना इन्द्रिय-नि केवल मौखिकज्ञानसे साधनशून्य रहकर इसे प्राप्त असम्भव है; क्योंकि—

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः ।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥

(कठ० १ । २ ।

अर्थात् जो पाप-कर्मसे नहीं निवृत्त हुआ है, जि इन्द्रियाँ शान्त नहीं हैं, जिसका चित्त असमाहित है, वह आत्मज्ञानद्वारा (प्रज्ञाद्वारा) नहीं प्राप्त कर सकता । इन्द्रिय-निग्रहपूर्वक आसनपर बैठकर अन्तर्मुखी वृत्ति समाहित होकर आत्मचिन्तन करना चाहिये तथा व्यव शुद्ध चरित्रमय जीवन व्यतीत करके, विषयभोग-लो छोड़कर आदर्श जीवन व्यतीत करना चाहिये । तभी अन्तः शुद्ध होगा और आत्मस्थितिकी योग्यता प्राप्त होगी और संसारके सारे सुख उस आत्मजन्य सुखके आगे प्रतीत होंगे ।

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः

(केन० २ ।

'अयं तु परमो धर्मो यद् योगेनात्मदर्शनम् ॥'

(योगियाज्ञवल्क्य

उसीको तत्त्वज्ञानी लोग और ब्रह्मयोगी लोग परमात्मा और भक्त लोग भगवान् कहते हैं ।

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम् ।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ॥

(श्रीमद्भा० १ । २ ।

वही एकमात्र ध्येय, ज्ञेय एवं परमाराध्य है ।

साधु कौन हैं ?

यथालब्धोऽपि सन्तुष्टः समचित्तो जितेन्द्रियः ।
हरिपादाश्रयो लोके विप्रः साधुरनिन्दकः ॥
निर्वैरः सदयः शान्तो दम्भाहङ्कारवर्जितः ।
निरपेक्षो मुनिर्वीतरागः साधुरिहोच्यते ॥
लोभमोहमदक्रोधकामादिरहितः सुखी ।
कृष्णाङ्घ्रिशरणः साधुः सहिष्णुः समदर्शनः ॥
समचित्तो मुनिः पूतो गोविन्दचरणाश्रयः ।
सर्वभूतदयः कार्ष्णो विवेकी साधुरुत्तमः ॥
कृष्णार्पितप्राणशरीरबुद्धिचित्तेन्द्रियस्त्रीसुतसम्पदादिः ।
आसक्तचित्तः श्रवणादिभक्तिर्यस्येह साधुः सततं हरेर्यः ॥
कृष्णाश्रयः कृष्णकथानुरक्तः कृष्णेष्टमन्त्रस्मृतिपूजनीयः ।
कृष्णानिशध्यानमनास्त्वनन्यो यो वै स साधुर्मुनिवर्य कार्ष्णः ॥

दैवेच्छासे जो कुछ मिल जाय, उसीपर जो संतोष करता है, जिसके चित्तमें समता है, जिसने अपनी इन्द्रियोंको जीत लिया है, जो भगवान्‌के चरणोंकी शरण लेकर रहता है तथा संसारमें किसीकी भी निन्दा नहीं करता, वही ब्राह्मण 'साधु' माना गया है। जिसके मनमें किसीके प्रति वैर-भाव नहीं है, जो सबके प्रति दयालु है, जिसका मन शान्त है, जो दम्भ और अहंकारसे रहित है तथा जो किसीसे कुछ अपेक्षा नहीं रखता, वह वीतराग मुनि इस संसारमें 'साधु' कहा जाता है। जो लोभ, मोह, मद, क्रोध और काम आदिके प्रभावमें नहीं आता, भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंकी शरण लेकर सुखसे रहता है, शीत-उष्ण आदि द्वन्द्वोंको धैर्यपूर्वक सहन करता तथा सबमें समान दृष्टि रखता है, वही पुरुष 'साधु' माना गया है। जिसके चित्तमें सब जीवोंके प्रति समान भाव है, जो मुनि (भगवत्तत्त्वका मनन करनेवाला) और बाहर-भीतरसे पवित्र है, जिसने भगवान् गोविन्दके चरणोंका आश्रय ले रक्खा है, जो सब जीवोंपर दया करता और सत्-असत्‌का विवेक रखता है, वह श्रीकृष्ण-भक्त पुरुष ही सर्वोत्तम साधु है। जिसने अपने शरीर, इन्द्रिय, मन, प्राण और बुद्धिको तथा स्त्री, पुत्र एवं सम्पत्ति आदिको भी भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें समर्पित कर दिया है, जिसका मन केवल भगवान्‌में ही आसक्त है, भगवान्‌की महिमा एवं लीला आदिके श्रवण-कीर्तन आदिमें जिसकी भक्ति है तथा जो सदा-सर्वदा भगवान्‌का ही होकर रहता है; वही साधु है। मुनिश्रेष्ठ ! जो श्रीकृष्णके शरणागत, श्रीकृष्णकी कथामें अनुरक्त और श्रीकृष्णके ही अभीष्ट मन्त्रके जप-स्मरण आदिके कारण पूजनीय है, जिसका मन निरन्तर श्रीकृष्णके ध्यानमें ही संलग्न है और जो श्रीकृष्णका अनन्य भक्त है; वही 'साधु' मानने योग्य है।

क्रोधका बुरा परिणाम

क्रोधः प्राणहरः शत्रुः क्रोधोऽमितमुखो रिपुः ।
क्रोधोऽसिः सुमहातीक्ष्णः सर्वं क्रोधोऽपकर्षति ॥
तपते यतते चैव यच्च दानं प्रयच्छति ।
क्रोधेन सर्वं हरति तस्मात् क्रोधं विवर्जयेत् ॥

यत् क्रोधनो यजति यच्च ददाति नित्यं
यद्वा तपस्तपति यच्च जुहोति तस्य ।
प्राप्नोति नैव किमपीह फलं हि लोके
मोघं फलं भवति तस्य हि कोपनस्य ॥

(वामनपु० ४३ । ८९)

सञ्चितस्यापि महतो वत्स क्लेशेन मानवैः ।
यशसस्तपसश्चैव क्रोधो नाशकरः परः ॥

(विष्णुपुराण १ । १ । २२)

क्रोध प्राणनाशक शत्रु है; क्रोध अपरिमित मुखवाला वैरी है; क्रोध बड़ी तेजधार तलवार है, क्रोध सब कुछ हर लेता है; मनुष्य जो तप, संयम और दान आदि करता है, उस सबको वह क्रोधके कारण नष्ट कर डालता है। अतएव क्रोधका त्याग करना चाहिये ।

क्रोधी मनुष्य जो कुछ पूजन करता है, नित्य जो दान करता है, जो तप करता है और जो होम करता है, उसका उसे इस लोकमें कोई फल नहीं मिलता । उस क्रोधीके सभी फल वृथा होते हैं ।

वत्स ! मनुष्यके द्वारा बहुत क्लेशसे सञ्चित किये हुए यश और तपको भी क्रोध सर्वथा विनाश कर डालता है ।

वर्ष २३
अङ्क ६

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम। जय रघुनन्दन जय सियाराम॥
रघुपति राघव राजा राम। पतितपावन सीताराम॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा। जय गणेश जय शुभ-आगारा॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर आषाढ़, जून सन् १९५१ ई॰

चित्र-सूची

तिरंगा

वार्षिक मूल्य
भारतमें ६≡)
विदेशमें ८॥≡)
(१३ शिलिङ्ग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत् चित् आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

साधारण
भारतमें
विदेशमें
(१०

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्॰ ए॰, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

कल्याण

वेणुवादनशीलाय गोपालायाहिमर्दिने । कालिन्दीकूललीलाय लोलकुण्डलधारिणे ॥
बल्लवीनयनाम्भोजमालिने नृत्यशालिने । नमः प्रणतपालाय श्रीकृष्णाय नमो नमः ॥

वर्ष २३ | गोरखपुर, सौर आषाढ़ २००६, जून १९४९ | संख्या ६ पूर्ण संख्या २७१

योगभ्रष्टका जन्म

योगभ्रष्ट पुण्यलोकोंमें जाकर रह चिरसुखसम्पन्न।
शुचि सन्मार्गारूढ़ धनीके घरमें फिर होता उत्पन्न॥
भक्त जनक-जननीकी शैशवसे ही शुभ संगति पाता
शुद्ध वायुमण्डलमें पलकर साधनमय बनता जाता॥
ईश-कृपा औ साधन बलसे जाग्रत् होता पूर्वाभ्यास।
ब्रह्मरूप बन जाता, फिर मिट जाता सब मिथ्या अध्यास॥
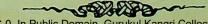
कल्याण

याद रक्खो—सच्ची शरणागति भगवान्‌के प्रति **पूर्ण** आत्मसमर्पण हो जानेपर ही सिद्ध होती है और **सच्चा** आत्मसमर्पण वह है, जिसमें अपने पास अपना कुछ रहे ही नहीं; शरीर, मन, बुद्धि, अहङ्कार, चेतना सभी कुछ श्रीभगवान्‌के हो जायँ।

याद रक्खो—जिसने भगवान्‌के प्रति आत्मसमर्पण कर दिया है, वह भगवान्‌के कार्यका आधार बन जाता है। उसके द्वारा फिर जो कुछ भी क्रिया होती है, सब भगवान्‌की ही होती है; उसका अपना अपने लिये पृथक् कुछ कार्य रहता ही नहीं।

याद रक्खो—जिसने भगवान्‌के प्रति आत्मसमर्पण कर दिया है, वह सदा सर्वदा प्रसन्नतापूर्वक यन्त्रकी भाँति भगवान्‌का कार्य करता रहता है। वह किसी भी स्थितिमें प्रतिकूलताका अनुभव नहीं करता। उसकी प्रतिकूलता-अनुकूलता भगवान्‌की मङ्गलमयी इच्छामें मिलकर नित्य सम उल्लासमयी स्थितिके रूपमें परिणत हो जाती है।

याद रक्खो—जिसने भगवान्‌के प्रति आत्मसमर्पण कर दिया है, वह इस जगत्‌को दूसरे लोगोंकी भाँति जड, अनित्य और दुःखपूर्ण नहीं देखता, उसकी आँखें बदल जाती हैं और वह इस चराचरात्मक समस्त जगत्‌को प्रतिक्षण शाश्वत चिदानन्दमय श्रीभगवान्‌के रूपमें देखता है एवं इसके प्रत्येक परिवर्तन और सृजन-संहारमें वह भगवान्‌की दिव्यलीलाका अनुभव करके आनन्दमग्न रहता है।

याद रक्खो—जिसने भगवान्‌के प्रति आत्मसमर्पण कर दिया है, वह नित्य परम शान्तिको प्राप्त करता है। अशान्ति या चित्तकी चञ्चलता तभीतक रहती है जबतक चित्तमें जन्म-मृत्युमय जगत्‌के अनन्त अनित्य दृश्य भरे रहते हैं, और जब चित्त भगवान्‌के विरो[illegible] मिलकर घुल-मिल जाता है, तब वह नित्य शान्तिम[illegible] भगवान्‌का निवासस्थल बन जाता है। सागरके ऊप[illegible] ऊपर ही तरङ्गें उछलती हैं, उसका गम्भीर अन्तस्त[illegible] अत्यन्त शान्त होता है, इसी प्रकार चित्त जबत[illegible] बाहरी जगत्‌में रमता है, तबतक उसकी चञ्चलता नहीं मिटती, पर वही जब अनन्त अथाह गहराईमें जाक[illegible] भगवान्‌को पा जाता है, तब सर्वथा शान्त स्थिति[illegible] पहुँच जाता है।

याद रक्खो—जिसने भगवान्‌के प्रति आत्मसमर्प[illegible] कर दिया है—वह आनन्दका दिव्य और अटूट भण्डा[illegible] बन जाता है। उसके द्वारा नित्य आनन्दका स्रो[illegible] बहता रहता है और वह जगत्‌के अनेकानेक त्रितापत[illegible] प्राणियोंको दिव्य शान्तिमयी आनन्दसुधाधारामें बहाक[illegible] उनके तापको सदाके लिये मिटा देता है।

याद रक्खो—जिसने भगवान्‌के प्रति आत्मसमर्प[illegible] कर दिया है—वह यदि कुछ भी नहीं करता, तब भी उसका जगत्‌में अस्तित्वमात्र ही जगत्‌के कल्याण[illegible] बहुत बड़ा सहायक बनता है। और जो महापातकी लोग भी उसके सम्पर्कमें आ जाते हैं, उनका भी जी[illegible] पलट जाता है। वे घोर नरकसे निकलकर दि[illegible] भगवद्धाममें पहुँच जाते हैं। और वे भी तरण-तार[illegible] बन जाते हैं।

याद रक्खो—जिसने भगवान्‌के प्रति आत्मसमर्प[illegible] कर दिया है—उसके लिये भगवान्‌का दिव्य धा[illegible] उतर आता है, वह नित्य भगवद्धाममें ही सोता-जागता चलता-फिरता, खाता-पीता और सारी क्रियाएँ करता है वह कभी भगवान्‌से अलग नहीं होता और भगवा[illegible] कभी उससे अलग नहीं होते। उसके भीतर-बाहर सर्वत्र सदा भगवान् ही भरे रहते हैं।

'शिव'

भगवान्‌की दिव्य लीला

(श्री १००८ श्रीपूज्य स्वामीजी श्रीकरपात्रीजी महाराज)

वृन्दावन-नवयुवराज नन्दनन्दन श्यामसुन्दरने श्रीमद्वृन्दारण्यधाममें गोचारणके लिये प्रवेश किया। जिस परम-पावन धाममें तरु-लता-गुल्मादि भी वेणुच्छिद्रनिर्गत शब्दब्रह्मरूपमें परिणत भगवदीय अधर-सुधाका पानकर कुड्मल-पुष्प-स्तबकरूप रोमाञ्चोद्गम-छद्मसे तथा मदधारारूप हर्षाश्रुविमोकसे अपने दुरन्त भावका व्यक्तीकरण कर रहे हैं, जिस धाममें प्रेमातिशय-से प्रभुपादपद्माङ्कित व्रजभूमिगत ब्रह्मादिके वन्द्य रजके स्पर्शके लिये आज भी समस्त तरु-लताएँ विनम्र हो रही हैं, उस धामकी महिमा किन शब्दोंमें व्यक्त की जाय? सरित्-श्रेष्ठ श्रीयमुनाजीके तटपर श्याम-तमाल, कदम्ब आदि वृक्ष माधवी, लवङ्गादि विविध लताओं-से परिवेष्टित हैं। शुभ कल्पवृक्षोंके अरण्यमें चतुर-चूड़ामणि व्रजवननवयुवराज ग्वालोंसमेत सुरभिवृन्दको हरी-हरी दूर्वाएँ नोच-नोचकर खिलाते हैं। जिस समय गौएँ इधर-उधर बिखर जातीं, उस समय मोहनकी मोहिनी मुरली बजती। नयनाभिराम घनश्यामकी मोहिनी मुरलिकाकी मधुर ध्वनि सुनते ही गौएँ दौड़ पड़तीं और समीप आकर कन्हैयाके परमकमनीय माधुर्य-का अनिमीलित नयनपुटोंसे पान करने लगतीं। श्यामसुन्दर भी उन्हें पुचकार-पुचकारकर सहलाने लगते। इस प्रकार मङ्गलमय दिनकी कुछ घटिकाएँ बीत गयीं, ग्वालबालोंसमेत व्रजेन्द्रनन्दनको भूख लगी। श्रीव्रजराजकुमार एक सुन्दर मणिमय चबूतरेपर ग्वालबालोंसमेत बैठ गये। अपनी-अपनी पोटली खोली, कमलके सुन्दर हरे-हरे पत्तोंपर सुन्दर-मधुर-मनोहर विविध भाँतिके पक्वान्न, मिष्टान्न रखकर सभी लोग खाने लगे। बीच-बीचमें बालचापल्ययुक्त क्रीडाएँ भी होती जाती थीं। ग्वालबाल श्यामसुन्दरके दिव्य मङ्गलमय मुखचन्द्रकी सौन्दर्य-माधुर्यसुधाका पान कर रहे थे और श्रोत्रपुटोंसे वेणुगीतपीयूषका, व्रजकिशोरके दिव्य वचनामृतका पानकर प्रेमविभोर हो रहे थे। भगवान्‌के सौन्दर्य-माधुर्य-सौगन्ध्य-सौकुमार्य आदि दिव्य गुणगणोंने उनका अपनापन हर लिया। किसी ग्वालबालने कहा—

न जाने सम्मुखायाते प्रियाणि वदति प्रिये।
प्रयान्ति मम गात्राणि श्रोत्रतां किमु नेत्रताम्॥

'प्यारे श्यामसुन्दर व्रजेन्द्रनन्दन जब मेरे सामने आकर अपनी प्यारी बातें सुनाते हैं, तब मैं नहीं जानता कि मेरा शरीर स्वयं श्रोत्र हो जाता है या नेत्र।'

इस मङ्गलमयी दिव्य क्रीडाको देखकर ब्रह्माको बड़ा आश्चर्य हुआ और वे सोचने लगे कि यदि श्रीकृष्णचन्द्र अनन्य, अखण्ड, अव्यक्त, पूर्ण परब्रह्मके अवतार होते, तो क्या गोपबालोंके साथ गँवारों-जैसी इस प्रकारकी क्रीडा करते और गोपबालोंका जूठन खाते? अन्ततोगत्वा ब्रह्मा भगवान्‌की अनन्तकोटिब्रह्माण्डनायकता, सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ताकी परीक्षा करने चले। उन्होंने बछड़ोंको चुरा लिया। ढूँढ़नेपर भी जब ग्वालबालोंको अपने बछड़े नहीं मिले, तब वे घबराये। भगवान् श्रीकृष्णने ग्वालबालोंसे कहा—'भैया! तुम यहीं ठहरो, मैं ढूँढ लाता हूँ।' भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ढूँढने चले। उस समय उनकी अमित शोभा हो रही थी। एक हाथमें मिसरी-माखन और दूसरे हाथमें मुरली एवं लकुटी शोभायमान थी। भगवान्‌ने ब्रह्माका सारा कौतुक जान लिया और अपनेको ही बछड़ोंके रूपमें बना डाला। उनके लिये यह कोई असम्भव नहीं, क्योंकि भगवान् 'कर्तुं अकर्तुं और अन्यथाकर्तुं समर्थ' हैं। इधर ब्रह्माने ग्वालबालोंको भी चुरा लिया। भगवान्‌ने कहा कि 'अच्छा ब्रह्मा! मैं तुम्हारी शक्ति देखता हूँ!' भगवान्‌ने अपने आपको ही समस्त ग्वालबालोंके रूपमें भी बना लिया।

श्रीमद्वृन्दारण्यधाममें सन्ध्या होने आयी। काषायवस्त्र धारण किये यतिराज भगवान् भास्कर अस्ताचलको प्रस्थान करने लगे। पक्षिवृन्द अपने-अपने घोंसलोंमें जाने लगे, भगवान् श्रीकृष्णने भी ग्वालबालों एवं बछड़ोंसमेत घरकी ओर प्रस्थान किया। उस समय

गौओंके गलेमें पड़ी हुई सुवर्णकी घण्टियोंसे टन-टनकी सुमधुर ध्वनि निकल रही थी। आकाश और श्रीकृष्णचन्द्रका मङ्गलमय मुखचन्द्र धेनुरेणुसे धूसरित हो उठा। सभी ग्वालबाल अपने-अपने घर पहुँचे। माताएँ अपने-अपने बच्चोंकी प्रतीक्षामें खड़ी थीं। उनके स्तनोंसे दुग्ध-स्राव हो रहा था। बच्चोंको देखते ही माताओंने उन्हें गोदमें उठा लिया और लगीं स्तनपान कराने। यद्यपि व्रजदेवियोंने अपने पुत्रोंसे व्यतिरिक्त भगवान् श्रीकृष्णको नहीं समझा था, तथापि आज-जैसा वात्सल्य-स्नेह उनमें कभी नहीं हुआ। अस्तु, माताओंने बड़े प्रेमसे बच्चोंको खिला-पिलाकर शयन करा दिया। रात्रि बीती। सूर्योदय हुआ। माताओंने अपने पुत्रोंको जगाया। उनके मुँह-हाथ धोये। स्नान कराया। सुन्दर दिव्य वस्त्राभूषणोंसे उनका श‍ृङ्गार किया और कन्हैयाके साथ गोचारणके लिये उन्हें पुनः श्रीवृन्दा-रण्यधाममें भेज दिया। इधर ब्रह्माने समझा कि ग्वालोंसहित श्रीकृष्ण बड़े व्यग्र होंगे। उनके मनमें इस व्यग्रताको देखनेकी उत्सुकता हुई। ब्रह्मा आये। श्रीवृन्दारण्यधाममें देखा—वही रसिकमण्डली, वही ग्वालबाल, वही वेणुवादन और वही बछड़े। झट ब्रह्मा कन्दरामें गये, जहाँ उन्होंने ग्वालबालों और बछड़ोंको चुराकर छिपाया था। वहाँ उन सबको ज्यों-का-त्यों पाया। बाहर निकले, वही सखामण्डली, वही अनुपम दृश्य। अब ब्रह्माका होश ठिकाने आया। उन्हें भगवान्‌की अनन्तकोटिब्रह्माण्डनायकता, सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ताका ज्ञान हुआ। ब्रह्माने भगवान्‌को साष्टाङ्ग प्रणाम कर कहा—'अशरण-शरण, अनाथनाथ, अकारण-करुणा-वरुणालय विभो! यद्यपि मैंने आपकी कौतुकपूर्ण लीलामें विघ्न डाला, आपके बछड़ों और ग्वालबालोंका हरण करके बड़ा ही अपराध किया, तथापि प्रभो! जैसे अम्बा गर्भगत शिशुके पैर फटकारनेको अपराध नहीं मानती, वैसे ही आप भी मेरे ऐसे कर्मोंपर ध्यान न दें। प्रभो! सम्पूर्ण विश्व ही आपके उदरमें है, फिर गर्भगत शिशुके समान ही प्राणियोंके अपराधोंको क्षमा करना क्या आपको उचित नहीं है—

> **उत्क्षेपणं गर्भगतस्य पादयोः**
> **किं कल्पते मातुरधोक्षजागसे।**
> **किमस्तिनास्तिव्यपदेशभूषितं**
> **तवास्ति कुक्षेः कियदप्यनन्तः॥**

प्रभुने क्षमा कर दी।

कृपालु भगवान्‌ने प्राणिकल्याणार्थ सरल-से-सरल उपाय शास्त्रोंद्वारा बतला रक्खे हैं। पत्र-पुष्प-फल-जल-नमस्कारसे ही प्रभु प्रसन्न हो सकते हैं। कुछ भी न हो, तो केवल मनसे ही पूजन-स्मरण करे और वह भी न बने, तो भाव-कुभाव जिस किसी भी तरह भगवन्नामके सङ्कीर्तन या जपसे ही परमगति प्राप्त हो सकती है। भगवान्‌का मङ्गलमय नाम अति ही सुगम है। जिह्वा अपने वशकी है, फिर भी लोग नरकमें जाते हैं, यही बड़ा आश्चर्य है—

> **सुगमं भगवन्नाम जिह्वा स्ववशवर्तिनी।**
> **तथापि नरकं यान्ति किमाश्चर्यमतः परम्॥**

अस्तु, निःसङ्कोच और निर्भय होकर भगवान्‌का सङ्कीर्तन और भगवन्नामका जप किया जाय, तो सहजमें ही प्रभु अनन्तानन्त जन्मोंके अपराधोंको भूल जायँगे और उन्हें अपनी करुणापरवशताके कारण प्रसन्न होना ही पड़ेगा। पर याद रहे, भगवन्नाम-सङ्कीर्तन अथवा जपके साथ-साथ स्वधर्मानुष्ठान एवं पापपरिवर्जनकी बड़ी आवश्यकता है। अन्यथा जैसे कुपथ्यसेवनसे उत्तमोत्तम ओषधियाँ—वसन्तमालती, चन्द्रोदय, मृगाङ्क आदि अकिञ्चित्कर ठहरती हैं, वैसे ही स्वधर्मत्याग, पापाचार और दुराचारसे भगवन्नामका अमित प्रताप भी अकिञ्चित्कर हो जाता है। इसलिये असत्कर्मोंसे बचकर स्वधर्मानुष्ठानकी बड़ी आवश्यकता है। इसी प्रकार ईश्वरपरायणता और स्वधर्मानुष्ठानसे विश्व सुखशान्ति प्राप्तकर निःश्रेयसका भी भागी बन सकता है।

विचारोंका संयम

कभी-कभी हमारे मनमें रहनेवाले विचारोंसे इतना भारी अनर्थ हो जाता है कि जिसकी हमें कल्पनातक नहीं होती। मान लीजिये—हम बाजार चले। उसी रास्तेमें सड़कपर दो व्यक्ति लड़ रहे हैं। उन्हें लड़ते देखकर हम खड़े हो गये। बिना बोले चुपचाप कुछ देरतक उनको लड़ते हुए देखते रहे। इस देखनेका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि हम उन दोनोंमेंसे किसी एकके प्रति मन-ही-मन झुक पड़े; एकका पक्ष हमें अपेक्षाकृत ठीक एवं दूसरेका भूल दीखने लगा। हमारे अंदर भी क्रोधके परमाणु थे, जो प्राय: रहते हैं ही; परिणाम यह हुआ कि हमें जिसकी भूल दीखती थी, उसके प्रति हमारे मनमें भी क्रोधका सञ्चार हो गया। हमारा उन दोनों व्यक्तियोंमें किसीसे भी कोई सम्बन्ध नहीं था, फिर भी मन-ही-मन हम गरम हो उठे। और उसके प्रति क्रोधसे सने विचार उत्पन्न होने लगे। इतनेमें दीखा कि हमने जिसका मन-ही-मन पक्ष लिया था, उसने अपने प्रतिपक्षीके सिरपर जोरसे लाठी जमा दी और उसका सिर फूट गया। लोग दौड़ पड़े, पुलिस भी आ गयी। हमें भी प्रतीत हुआ कि आह ! यह तो बुरा हुआ तथा यह सोचते हुए हम अपने रास्ते चले गये। पुलिसने मारनेवालेको चलान कर दिया; क्योंकि प्रत्यक्ष था कि इसने एकका सिर फोड़ा है। उसे सजा भी हो गयी।

किंतु इस घटनामें एक बात ऐसी हुई है जिसे किसीने नहीं जाना। वह बात पुलिसकी रिपोर्टमें नहीं आयी, हमने भी नहीं जाना। वह बात यह है कि वास्तवमें सिर फोड़नेका अपराधी वह अकेला ही नहीं है, जिस बेचारेको सजा हुई है, हम भी हैं। यह सुनकर हम भले चकरा उठें पर बात बिल्कुल सच्ची है। हमारे न जानने, न माननेपर भी, जनताके द्वारा सज्जन पुरुष होनेका प्रमाणपत्र पा लेनेपर भी, यह बात सच्ची ही रहेगी।

इसको ठीकसे समझनेके लिये इस प्रकार विश्लेषण करें—दोनों लड़ रहे थे, दोनोंमें ही क्रोध था। किंतु जिसने सिर फोड़नेका अपराध किया है, उसमें पहले क्रोधकी मात्रा इतनी, ऐसी नहीं थी कि वह लाठी मारनेकी क्रियामें हेतु बन सके। इस क्रियाके लिये जितना क्रोध जाग्रत् होना चाहिये, उतना उसमें हमारे वहाँ जानेसे पूर्व अवश्य ही नहीं था। दुर्दैवयोगसे हम वहाँ जा पहुँचे। हमने उसका मन-ही-मन पक्ष लिया। हमारा क्रोध उभड़ा और उसने वहाँ उसके पास जाकर जितनी कमी थी, उसकी पूर्ति कर दी। लाठी मारनेके लिये जितना क्रोध उसमें घट रहा था, उतना हमने अपनी ओरसे उसे दे दिया और उसने लाठी मार दी। दूसरे शब्दोंमें लाठी मारनेकी जो क्रिया हुई है, वह हमारे क्रोधसे सम्पन्न हुई है। यदि हम वहाँ न जाते, जाकर यदि शान्त सुस्थिर बने रहते तो उसके क्रोधको बल नहीं मिलता तथा यह क्रिया न घटती। उसके पास तो इतना ही क्रोध था कि खूब बकने-झकनेमें ही वह उलझा रहता। पर हमारे अंदरकी आग उसके पास बिना किसीको दीखे जा पहुँची और उसने उसके द्वारा यह कुकृत्य करवा दिया। फिर हम भी अपराधी कैसे नहीं हुए ?

सोचकर देखेंगे तो पता चलेगा कि अनजानमें ही हमारे द्वारा प्रतिदिन न जाने ऐसी कितनी घटनाएँ घटती हैं, कितनी बार ऐसे अलक्षित अपराध बनते रहते हैं। तथा ठीक इससे विपरीत, यदि हमारे शुभ विचार हैं तो उनसे हमारे बिना जाने ही कितनोंकी सेवा हो जाती है। जैसे हम किसी व्यक्तिसे मिलने गये। वहाँपर एक और कोई दुखी व्यक्ति बैठा है,

अपनी दुःखगाथा सुना रहा है हम भी सुनने लगे । सुनते-सुनते हमारे मनमें सहानुभूति उत्पन्न हुई, हृदय करुणासे भर आया, मनमें आया कि इसकी सहायता अवश्य होनी चाहिये । इतनेमें वह व्यक्ति, जिससे हम मिलने गये थे, दुखीको सान्त्वना देते हुए कह उठा — 'आप चिन्ता न करें, आपका काम मैं अभी कर देता हूँ ।' तथा उसने वह काम तुरंत कर भी दिया । अब यहाँ हमने अपने मुँहसे उसकी कोई भी सिफारिश नहीं की, अपनी जानमें उसकी सहायता करनेकी कोई चेष्टा भी न की । पर वास्तवमें अभी-अभी जो उसकी सहायता हुई है, उसमें हमारा भी भाग है । हमारे आनेसे पूर्व उस व्यक्तिमें सद्भावना अवश्य थी, पर इतनी मात्रामें नहीं थी कि वह तुरंत सक्रिय रूप धारण कर ले । किंतु हमारी मनोगत सहानुभूति और करुणाने उसके मनको स्पर्श कर लिया, सक्रिय सहायताके लिये जितनी सहानुभूति और करुणा घट रही थी, उसकी पूर्ति हो गयी । बस, काम हो गया । लोगोंको भले ही इसका पता न लगे, जिसकी सहायता हुई, जिसने की, वे दोनों भी न जानें, हमें भी कल्पना न हो कि हमने भी कुछ किया है, पर असलमें वह सेवा सम्पन्न हुई है हमारी सद्भावनासे । हमारी प्रबल सहानुभूतिका बल उसे यदि उस समय नहीं मिलता तो सम्भवतः उसकी सद्भावना तुरंत सक्रिय रूप धारण नहीं करती ।

और भी व्यापक दृष्टिसे इस बातपर विचार करें । कल्पना कर लें, दो देशोंमें युद्ध हो रहा है । वे देश हमसे हजारों कोस दूर हैं । आँखोंसे हमने उन देशोंको देखा नहीं । केवल समाचारपत्रोंसे ही युद्धकी घटना पढ़ते-सुनते हैं । पर कुछ ही दिनोंमें यह परिणाम होता है कि एकके प्रति हमारे मनमें पक्ष हो जाता है । हम एककी विजय चाहने लगते हैं और दूसरेकी पराजय । उसकी विजय सुनकर हमारे मनमें उल्लास होता है, पराजय सुननेपर हृदयमें ठेस लगती है । अब यदि यह कहा जाय कि वहाँकी वैमनस्यकी आग उत्तरोत्तर प्रज्वलित करते रहनेमें, युद्धसे होनेवाले भयङ्कर नरसंहारमें हम भी योगदान कर रहे हैं, तो इसमें तनिक भी अत्युक्ति नहीं है । हम यह कह भले ही दें कि हमारा क्या सम्बन्ध है, हम तो अखबार पढ़ते हैं तथा फिर जैसा ठीक लगता है, कह देते हैं । पर बात ऐसी नहीं है । सचमुच हमारे द्वारा अनजानमें ही उस पापमें योगदान दिया जा रहा है, अनेकोंकी जान लेनेमें हम भी सहायता कर रहे हैं । यह सदा ध्यानमें रखनेकी बात है कि जगत्‌में जो भी घटनाएँ घटित होती हैं, उनमें, यदि हमारे विचार अच्छे हैं तो अच्छीके साथ, बुरे हैं तो बुरी घटनाके साथ हमारा न्यूनाधिक कुछ-न-कुछ निश्चित सम्बन्ध है ही । यहाँकी घटना वस्तुतः है ही हमारे मनके विचारोंके मूर्तरूप । दो महायुद्ध हुए । ये क्या थे ? बस, जहाँ-जहाँ द्वेषपूर्ण विचार थे, सब एकत्र हो गये और वे ही भीषण नरसंहारके रूपमें प्रकट हो गये । ऐसे ही जगत्‌में जहाँ-जहाँ सद्‌विचार हैं, वे एकत्र होते हैं तो फिर उनसे प्रेम, शान्ति-सुख बढ़ानेवाली घटनाओंका विस्तार होता है । हमारे अंदर यदि तनिक भी बुरे विचार हैं तो वे अपनी शक्तिके अनुसार निकट एवं दूर बुरी घटना घटनेमें हेतु बनेंगे तथा हमारा तनिक-सा सद्विचार समीप एवं दूरके वातावरणमें शुभकी सृष्टिमें सहायक बनेगा ।

इसीलिये आज जब कि सर्वत्र दुःख, अशान्ति बढ़ रही है, घृणा-द्वेषमूलक घटनाओंकी संख्या बढ़ती जा रही है, ऐसे समयमें हमें अपने विचारोंके संयमकी अत्यधिक आवश्यकता है । अन्यथा हम घर बैठे-बैठे अखबारोंको पढ़-पढ़कर, रास्ते चलते हुए किसी घटनाको देख-सुनकर अलक्षित अपराध करते रहेंगे, जिसका परिणाम हमारे लिये, विश्वके लिये और भी अत्यन्त भयावह होगा । ऐसा न हो, इसके लिये, हमारे

मनमें असद्विचार उत्पन्न होनेकी सम्भावना ही न रहे, निरन्तर परम शुभसे मन पूर्ण रहे, ऐसी स्थिति हमें उत्पन्न करनी पड़ेगी ।

यों तो इसके लिये मनीषियोंने अनेकों उपाय बताये हैं, पर सर्वोत्तम उपाय है, अपने मनसे जगत्‌की कल्पना-को ही मिटा देना तथा जगत्‌के स्थानपर सदा सर्वत्र एकमात्र आनन्दमय प्रभुकी सत्ताके ही दर्शन करना । यह हुआ कि फिर असद्विचारकी जड़ ही कट जायगी । सर्वत्र भगवद्भाव हो जानेपर जानमें, अनजानमें कभी किसी प्रकारका अपराध हमसे घट नहीं सकता । हमारे द्वारा जो अशुभका विस्तार होता है, अशुभको प्रेरणा मिलती है, वह फिर होनेकी ही नहीं । फिर तो परम शुभ प्रभुमें प्रतिष्ठित होकर हम सदा सबमें शुभका ही वितरण करते रहेंगे ।

वास्तवमें सच्ची बात भी यही है कि जहाँ हमें जगत् दीखता है, वहाँ सर्वथा सर्वत्र प्रभु-ही-प्रभु भरे हैं, उनके अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं । पर हमें ठीक-ठीक ऐसी ही अनुभूति हो, तब काम बने । इस अनुभूतिके लिये यह आवश्यक नहीं कि हम खूब पढ़े-लिखे हों, दर्शनशास्त्रका हमारा गम्भीर अध्ययन हो, कई कलाओंके मर्मज्ञ हों, अमुक देशके वासी और अमुक वर्ण-जातिके ही हों । इसके लिये तो आवश्यकता इतनी ही है कि एक तो हमारा इस सिद्धान्तपर सरल विश्वास हो, हमारी बुद्धि इसको असन्दिग्ध और निश्चित रूपसे स्वीकार करती हो कि एकमात्र प्रभु ही सर्वत्र अवस्थित हैं, और दूसरी बात यह कि हम इस भावकी बारंबार आदरपूर्वक अधिक-से-अधिक आवृत्ति करते रहें । लगनपूर्वक की हुई आवृत्ति कुछ ही दिनोंमें हमारी बुद्धि-के निश्चयको मनमें उतार देगी तथा प्रयत्न जारी रहने-पर इन्द्रियोंको भी इस सत्यकी अनुभूति होते देर नहीं लगेगी । किंतु प्रयत्न हो तब न ? यहाँ तो 'कूँए भाँग पड़ी'की कहावत चरितार्थ हो रही है । आज समष्टिकी ही प्रवृत्ति प्रायः प्रभुको भूले रहनेकी बन गयी है । हम अधिकांश ऐसे बन गये हैं कि आनन्दस्वरूप प्रभु-को भूलकर सुख पानेकी लालसासे दिन-रात जागतिक विषयोंके, जो अनित्य और दुःखमय हैं, पीछे ही दौड़ते रहते हैं । इससे सुख तो हमें कभी मिलता नहीं, पद-पदपर दुःख मिलता है; अच्छी तरह जान लेते हैं कि उनसे सुख मिलनेका नहीं, पर जानकर भी नहीं जान पाते, उन्हें छोड़ना तो दूर, उत्तरोत्तर उन्हींमें उलझते जाते हैं । अनादि संस्कारोंसे मनपर मलिनताकी मोटी तह जमा हो गयी है, कभी हमारे विवेकका द्वार खुलता ही नहीं कि जिसके छिद्रसे प्रभुके निर्मल प्रकाशकी किरणें हमारे अंदर प्रवेश कर सकें; क्षणभरके लिये भी हमें भान नहीं होता कि हमारा कल्याण एकमात्र परम पिता प्रभुसे ही सम्भव है । उन्हें अपने हृदय-मन्दिरमें पधारनेकी वासना ही हममें कभी नहीं जागती, उनसे जुड़नेके लिये हमारा मन कभी लालायित ही नहीं होता । वहाँ तो निरन्तर जागतिक विषयोंके अभावकी आग ही धधकती रहती है । विषयोंकी प्यास कभी शान्त होती ही नहीं, इन्हें एकत्र करनेमें ही जीवन समाप्त हो जाता है; यों कह दें, जीवनभर तालाब खोदते बीत जाता है, पर पानीकी बूँद एक भी नहीं मिलती, प्यास तनिक भी नहीं बुझती—

कबहूँ मन बिश्राम न मान्यो ।
निसिदिन भ्रमत बिसारि सहज सुख, जहँ तहँ इंद्रिन तान्यो ॥
जदपि बिषय-सँग सह्यो दुसह दुख, बिषम जाल अरुझान्यो ।
तदपि न तजत मूढ़ ममताबस, जानतहूँ नहिं जान्यो ॥
जनम अनेक किये नाना बिधि करम-कीच चित सान्यो ।
होइ न बिमल बिबेक-नीर बिनु, बेद पुरान बखान्यो ॥
निज हित नाथ पिता गुरु-हरिसों हरषि हृदै नहिं आन्यो ।
तुलसिदास कब तृषा जाय सर खनतहि जनम सिरान्यो ॥

ऐसी हमारी गिरी दशा है । अब हो तो क्या हो ! फिर भी यदि हमारा विवेक सर्वथा मर नहीं गया हो, हममें यदि प्रभुके प्रकाशकी क्षीण रेखा भी वर्तमान हो,

यदा-कदा भी प्रभुकी स्मृति किसी भी बहानेसे हमारे अन्तःकरणमें जाग उठती हो, जगत्में सुख-शान्ति बढ़े, यह शुभ भावना कभी उत्पन्न होती हो तो हमें सावधान होकर अपने विचारोंका संयम करना चाहिये, विकारोंको दमन करनेके प्रयासमें लगना चाहिये। हम तत्परतासे सर्वत्र प्रभुको देखनेका अभ्यास आरम्भ करें। फिर निश्चय ही विकार शान्त होने लगेंगे, शुभ भावनाएँ बढ़ने लगेंगी। घरमें माता-पिता, स्त्री-पुत्र, भाई-बन्धु, नौकर-चाकर आदि जो भी हों; गाय, घोड़े, कुत्ते आदि पशुओंमेंसे जो भी हमारे आश्रयमें पलते हों, तथा बाहर दूकान, पाठशाला, कार्यालय, कचहरी, अस्पताल, बाग, बगीचे, खेत, जंगल, नदी, तालाब, कुँआ, खेलके मैदान आदि स्थानोंपर, जहाँ कहीं भी जिस किसीके भी सम्पर्कमें आनेका हमारा काम पड़ता हो, उन सबमें हम प्रभुको देखनेका अभ्यास करें; प्रभु ही इस रूपमें हमारे समक्ष उपस्थित हैं, ऐसी भावना करें; इस भावनाकी बारंबार आवृत्ति करें। फिर हमारी तत्परताके अनुरूप सफलता हमें मिलेगी ही। यदि यह भावना सक्रिय होगी तब तो फल प्रकट होनेमें बहुत ही कम समय लगेगा। सक्रियका अर्थ यह कि भावना यथासम्भव व्यवहारमें उतरे। जैसे पड़ोसका कोई एक व्यक्ति हमारे पास आवे। आते ही हमने भावना की कि प्रभु पधारे हैं। पर इतनेमें ही उसने हमसे किसी वस्तुकी याचना कर दी। वह वस्तु हमारे पास है भी, हमारी आवश्यकतासे अधिक भी है, हम यह भी जानते हैं कि उसे इस वस्तुकी जरूरत है। पर अपने अंदर संग्रहकी वृत्ति होनेके कारण अथवा अनुदारताका दोष रहनेके कारण हम देनेमें हिचकिचा जाते हैं या देकर अनुत्साह—पश्चात्तापका अनुभव करते हैं अथवा कुछ दिनोंके बाद दी हुई वस्तुके लिये उसपर अहसान करते हैं तो यहाँ उस पड़ोसीके प्रति की हुई भगवद्भावना सक्रिय नहीं हुई। यदि उसकी याचना सुनकर मन उल्लाससे भर जाता है, यह भावना आती है कि नाथ तुम्हारी कितनी कृपा है, हमें अपनी सेवाका अवसर आये हैं। तथा यदि वह पड़ोसी कृतज्ञतावश हमारी सेवाकी कहीं चर्चा कर दे तो हम सङ्कोचसे गड़ —हमारी ऐसी दशा है तो वह भावना सक्रिय हु थोड़ेमें कहनेपर यह कि हमारे पास जो कुछ है, उ यथासम्भव यथायोग्य विश्वरूप प्रभुकी सेवामें ल हम हर्षित हों, उत्तरोत्तर हमारा मन कृतज्ञतासे भ जाय तब तो हमारी की हुई प्रभु-भावना सक्रिय है अन्यथा वह प्रेरणात्मक विचारमात्र (Suggestion ही है। नहींकी अपेक्षा तो विचारमात्रकी भगवद्भाव भी बहुत सुन्दर है। इससे भी अशुभ विचारोंके प्र में बड़ी रोक लगती है। पर सच्चा एवं पूरा-पूरा त शीघ्र-से-शीघ्र फल तो सक्रिय भावनासे ही प्राप्त होता है

विकारोंका दमन होनेमें, विचारोंका संयम हो उपर्युक्त उपाय अमोघ है। पर कदाचित् कोई इस श्रद्धा न कर सके तो उसे भी अपने एवं जगत्के हि के लिये कम-से-कम दो बातें अवश्य करनी चाहिये—

(१) कोई शुभ भाव जो सबसे अधिक प्रिय हो अपने मनके पीछे सदा रक्खे। तथा उस भावके सू किसी वाक्यको मन-ही-मन जागनेसे सोनेतक—जब अवकाश हो अधिक-से-अधिक स्मरण करे, उस अधिक-से-अधिक आवृत्ति करे। जैसे सत्य बोलना प्रि लगे तो इसके सूचक एक वाक्य 'सत्यं वदिष्या 'सदा सत्य बोलूँगा'—इसको बार-बार स्मरण क प्रेम करना प्रिय हो तो 'मैं सदा सबसे प्रेम करूँगा यह बारंबार स्मरण करे। बारम्बार स्मरण करनेका परिणाम होगा कि मनमें इसकी आवृत्ति करनेकी आ पड़ जायगी तथा जब कभी भी हमारा मन खाली हो उस समय इस भावका जप शुरू हो जायगा। शुभ भावोंकी आवृत्ति होते समय अन्य असद्भाव विकारोंके प्रवेशके लिये अवकाश कम रह जायगा।

प्रकार जगत्‌में शुभको बढ़ाने एवं अशुभकी मात्रा घटाने-में हम हेतु बनेंगे ।

(२) हम किसी समय निकम्मे नहीं रहें। कुछ-न-कुछ सत्प्रवृत्तिमें ही यथासम्भव मन एवं शरीर दोनों लगे रहें। निठल्ले मनमें असद्‌विचारके प्रवेशके लिये बहुत अधिक, शुभ विचारके लिये बहुत कम सम्भावना रहती है।

एक संतने कहा है—

'यदि भला न कर सको तो बुरा करनेसे तो बचो ।'

यह वचन हमारे लिये बहुत महत्त्वका है। शुभका विस्तार यदि हम न कर सकें, तो बुराईको तो रोके ही रहें। इसीलिये विचारोंका संयम परम आवश्यक है।

श्रीकृष्णलीलाका चिन्तन

(३२)

व्रजरानीकी सरस शिक्षा, अपने नीलमणिको स्तन-पानसे विरत करनेका प्रेमिल प्रयास श्रीकृष्णचन्द्रके अरुण अधरोंपर स्मितका सञ्चार कर देता है। वे और भी उल्लासमें भरकर जननीके वक्षःस्थलका अञ्चल खींचते हुए उसमें अपना मुखचन्द्र छिपा लेते हैं। मैया उन्हें रोकनेकी-सी बाह्य चेष्टा करती हुई कहती हैं—

जसुमति कान्हहिं यहै सिखावति ।
सुनहु स्याम, अब बड़े भए तुम, यह कहि स्तन-पान छुड़ावति ॥
ब्रज-लरिका तोहिं पीवत देखत, हँसत, लाज नहिं आवति ।
जैहैं बिगरि दाँत ये आछे, तातैं कहि समुझावति ॥
अजहूँ छाँड़ि कह्यौ करि मेरौ, ऐसी बात न भावति ।
सूरस्याम यह सुनि मुसुक्याने, अंचल मुखहिं लुकावत ॥

इतनेमें सुबल, श्रीदाम, उज्ज्वल, वसंत, कोकिल आदि सखा प्राङ्गणमें प्रवेश करते हैं। फिर तो श्रीकृष्ण-चन्द्र जननीके अङ्कमें रह सकें, यह सम्भव कहाँ। वे तत्क्षण गोदसे उतरकर भाग छूटते हैं। श्यामल श्रीअङ्गोंका त्रिभुवनमोहन सौन्दर्य प्राङ्गणको उद्भासित करने लगता है। उस आलोकमें जननीके नेत्र तो निस्पन्द हो ही गये, अन्तरिक्षमें अवस्थित अमरवृन्द भी विथकित रह जाते हैं—

अजिर पद-प्रतिबिंब राजत, चलत उपमा-पुंज ।
प्रति चरन मनु हेम बसुधा, देति आसन कंज ॥
सूर प्रभुकी निरखि सोभा रहे सुर अवलोकि ।
सरद चंद चकोर मानौ, रहे थकित बिलोकि ॥

दौड़ते हुए श्रीकृष्णचन्द्र तपनतनयाके तीरपर जा पहुँचते हैं, और वहाँ विविध विचित्र क्रीडाओंमें संलग्न हो जाते हैं। आज इन्हें अग्रज बलरामका सहयोग प्राप्त है। अन्यथा गत कई दिनोंसे दोनों भाई परस्पर खेलते-खेलते प्रतिदिन ही लड़ लेते थे। एक दिन तो श्रीकृष्ण-चन्द्र अग्रजसे इतना रूठ गये कि खेल छोड़कर व्रजेश्वरीके पास जा पहुँचे और दाऊ भैयाकी सारी करतूत उन्होंने मैयाको सुना दी—

मैया मोहिं दाऊ बहुत खिझायौ ।
मोसौं कहत मोल कौ लीन्हौं तू जसुमति कब जायौ ?
कहा करौं इहि रिस के मारैं खेलन हौं नहिं जात ।
पुनि-पुनि कहत कौन है माता, को है तेरौ तात ॥
गोरे नंद, जसोदा गोरी, तू कत स्यामल गात ।
चुटकी दै-दै ग्वाल नचावत, हँसत सबै मुसुकात ॥
तू मोहीं कौं मारन सीखी, दाउहिं कबहुँ न खीझै ।

जननीने जब गोधनकी शपथ लेकर सान्त्वना दी, तब कहीं जाकर श्रीकृष्णचन्द्र शान्त हुए, खेलमें पुनः जानेके लिये प्रस्तुत हुए—

मोहन-मुख रिस की ये बातैं, जसुमति सुनि-सुनि रीझै ॥
सुनहु कान्ह, बलभद्र चबाई, जनमत ही कौ धूत ।
सूरस्याम मोहिं गोधन की सौं, हौं माता तू पूत ॥

कल भी दाऊ भैयाने श्रीकृष्णचन्द्रको डरा दिया। वे भयसे थरथर काँपते हुए घर भागे, सीधे रोहिणी मैयाके पास गये एवं दाऊ भैयाकी इस कठोर चेष्टाकी खूब निन्दा की—

देख री रोहिणी मैया ! कैसे हैं बलदाऊ भैया ।
यमुना के तीर मोहि झुझुवा बतायो ।
सुबल श्रीदामा साथ हँस-हँस बूझत बात
आप डरपे और मोहि डरपायो ॥
जहँ-जहँ बोलैं मोर चितै रहत ताही ओर
भाजो रे भाजो रे भैया वह देखो आयो ।
आप गये तरु चढ़ मोहि छाँड्यो वाहि तर
धर धर छाती करै दौर्‍यो घर आयो ॥

सब बातें सुनकर रोहिणी मैयाने नीलमणिको कण्ठसे लगा लिया । फिर ब्राह्मणको बुलाकर विधिपूर्वक नीलमणिके ही हाथोंसे गोदान करवाया । तब नीलमणिको शान्ति मिली—

उछंग सो लिये लगाय कंठ सो रहे लपटाय
वारी रे वारी मेरो हियो भर आयो ।
परमानंद रानी द्विज बुलाय बेद मंत्र पढ़ाय
बछिया को पूँछ गहि हाथहि दिवायो ॥

किंतु आज दोनों भाइयोंमें कोई झगड़ा नहीं । अतिशय प्रेमपूर्वक परस्पर एक दूसरेका पक्ष समर्थन करते हुए दोनों क्रीडामें तन्मय हो रहे हैं । भुवनभास्कर क्रमशः ऊपर उठते हुए आकाशके मध्यमें आ गये, पर राम-श्यामकी क्रीडाका विराम नहीं हुआ । आज बलराम एक-से-एक बढ़कर सुन्दर खेलकी योजना रखते हैं तथा श्रीकृष्णचन्द्र एवं अन्य गोपशिशु उसीके अनुसार खेलने लगते हैं । घर लौटनेका समय तो कबका समाप्त हो चुका है । पर यह स्मरण किसे है ? आज तो श्रीकृष्णचन्द्रकी ही प्रत्येक बार विजय होती है । इस विजयोल्लासमें वे अन्य सब कुछ भूल गये हैं । इसी समय व्रजेश्वरीसे प्रेरित होकर रोहिणी मैया वहाँ आ पहुँचती हैं । बड़ी देरतक प्रतीक्षाके अनन्तर भी जब राम-श्याम घर नहीं पहुँचे तो मैयाने अतिकाल होते देखकर श्रीरोहिणीको बुलाने भेजा है । अर्जुन वृक्षकी घटनाके अनन्तर मैयाको यह शङ्का लगी ही रहती है, कि क्या पता कहीं फिर कोई वृक्ष न टूट पड़े । तनिक भी देर होते ही वे श्रीकृष्णचन्द्रको ढूँढ़ने निकल पड़ती हैं । आज ब्राह्मण-भोजनकी व्यवस्थामें लगी थीं । भूदेवोंकी सेवा छोड़कर आना सम्भव नहीं था, इसलिये श्रीरोहिणीको भेजा है । वे आकर देखती हैं—सभी गोपशिशु क्रीडा- उन्मत्त हैं, राम-श्याम उनके साथ दौड़ रहे हैं । बलराम- जननीके लिये यह सम्भव नहीं कि वे पुत्रोंके समीप जा सकें, क्योंकि उनके पहुँचते-न-पहुँचते सभी शिशु उनसे विपरीत दिशामें दौड़ पड़ते हैं । अतः रोहिणी मैया श्रीकृष्ण एवं बलरामका नाम ले-लेकर पुकारने लगती हैं—

सरित्तीरगतं कृष्णं भग्नार्जुनमथाह्वयत् ।
रामं च रोहिणी देवी क्रीडन्तं बालकैर्भृशम् ॥
(श्रीमद्भा० १० । ११ । १२)

किंतु उत्तर कौन दे ? श्रीरोहिणीकी पुकार भी उनतक पहुँचे तब तो, उस आनन्दकोलाहलसे तीर मुखरित है, समस्त उपवन निनादित हो रहा है । अब मैयाके मृदु कण्ठसे निकली ध्वनिमें—पुकारमें इतनी शक्ति कहाँ जो उसे भेदकर राम-श्यामका ध्यान आकर्षित कर सके । वे पुकारती-पुकारती थक गयीं, पर एक बारके लिये भी कोई उत्तर नहीं मिला । न मैया उनके पासतक पहुँच सकीं, न वे उनके पास आये । खेलके आवेशमें भूले हुए दोनोंने रोहिणी मैयाकी ओर देखातक नहीं । निरुपाय होकर बलरामजननी लौट गयीं । घर आकर व्रजेश्वरीको ही बुलाने भेजा—

नोपेयातां यदाऽऽहूतौ क्रीडासङ्गेन पुत्रकौ ।
यशोदां प्रेषयामास रोहिणी पुत्रवत्सलाम् ॥
(श्रीमद्भा० १० । ११ । १३)

व्रजेश्वरीने आकर देखा—मानो एक नीलोत्पल अपने ही परागसे सन गया हो, इस प्रकार श्रीकृष्णचन्द्रके श्रीअङ्ग धूलिसे भरे हैं । मनोहर बाल्यभङ्गिमाका प्रकाश करते हुए वे बलराम एवं गोपशिशुओंके साथ खेल रहे हैं । मैयाका वात्सल्य उमड़ पड़ता है । स्तनोंसे दूधकी धारा बहने लगती है, अञ्चल भीग जाता है । गद्गद कण्ठसे वे श्रीकृष्णचन्द्रको बारंबार पुकारने लगती हैं—

क्रीडन्तं सा सुतं बालैरतिवेलं सहाग्रजम्।
यशोदाजोहवीत् कृष्णं पुत्रस्नेहस्नुतस्तनी ॥
(श्रीमद्भा० १० । ११ । १४)

श्रीकृष्णचन्द्रके पास उनकी पुकार पहुँच रही है या नहीं, इसकी चिन्ता किये बिना ही वे कहती जा रही हैं—

कृष्ण कृष्णारविन्दाक्ष तात एहि स्तनं पिब ।
अलं विहारैः क्षुत्क्षान्तः क्रीडाश्रान्तोऽसि पुत्रक ॥
(श्रीमद्भा० १० । ११ । १५)

'मेरे लाल ! अरे कृष्ण ! कमलनयन ! बेटा ! सुन तो सही ! अरे शीघ्र आ जा ! देख ! मैं तुझे स्तन पिलाने आयी हूँ, तू स्तनपान तो कर ले । बहुत खेल चुका, अब खेल रहने दे । अरे तुझे भूख जो लग रही है । देख ! खेलते-खेलते तू कितना थक गया है । अब आ जा !'

किंतु श्रीरोहिणीकी भाँति व्रजेश्वरीको भी इस आह्वानका कोई उत्तर नहीं मिलता । कुछ क्षण वे शान्त खड़ी रहती हैं, फिर बलराम एवं गोपशिशुओंको पुकारती हैं—

हे रामागच्छ ताताशु सानुजः कुलनन्दन ।
प्रातरेव कृताहारस्तद् भवान् भोक्तुमर्हति ॥
प्रतीक्षते त्वां दाशार्ह भोक्ष्यमाणो व्रजाधिपः ।
एह्यावयोः प्रियं धेहि स्वगृहान् यात बालकाः ॥
(श्रीमद्भा० १० । ११ । १६-१७)

'अरे ! राम ! कुलदीपक ! तू आ जा बेटा ! और साथमें नीलमणिको भी ले चल । अरे देख, प्रातःकाल तूने कलेऊ किया था, तबसे कुछ नहीं खाया, क्या तुझे भूख नहीं लगी ? अवश्य लगी है, अब तो शीघ्र-से-शीघ्र भोजन करना चाहिये ! यदुकुलभूषण ! तू बात मान ले बेटा ! देख ! व्रजेश्वर भोजनपर बैठे तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे हैं । आ जा, हमलोगोंको भी तो सुख दान कर । और गोपबालको ! सुनते हो, तुम सब भी अपने-अपने घर चले जाओ ।'

इससे पूर्व न जाने कितनी बार व्रजेश्वरी राम-श्यामकी क्रीडा स्थगित कर अपने साथ भोजनके लिये घर ले गयी हैं तथा उन-उन अवसरोंपर श्रीकृष्णचन्द्र न सुनें, राम भी अनसुनी कर दें, पर गोपशिशु व्रजेश्वरीकी बात सुन लेते थे । वे खेलना छोड़ देते थे । फिर राम-श्याम किस-के साथ खेलें ? किंतु आज तो वे सब भी क्रीडामत्त हो रहे हैं । व्रजेश्वरी आयी हैं, यह भी उन्हें भान नहीं। अतः हारकर मैया पुनः श्रीकृष्णचन्द्रका ही आह्वान करने लगती हैं—

नंद बुलावत हैं गोपाल ।
आवहु बेगि बलैया लेउँ हौं, सुंदर नैन बिसाल ॥
परस्यौ थार धर्‌यौ मग जोवत, बोलति बचन रसाल ।
भात सिरात तात दुख पावत, बेगि चलौ मेरे लाल ॥

श्रीकृष्णचन्द्रका ध्यान आकर्षित करनेके लिये आज यशोदा रानीने न जाने कितनी युक्तियोंका आश्रय लिया—

धूलिधूसरिताङ्गस्त्वं पुत्र मज्जनमावह ।
जन्मर्क्षमद्य भवतो विप्रेभ्यो देहि गाः शुचिः ॥
पश्य पश्य वयस्यांस्ते मातृमृष्टान् स्वलंकृतान् ।
त्वं च स्नातः कृताहारो विहरस्व स्वलंकृतः ॥
(श्रीमद्भा० १० । ११ । १८-१९)

'अरे श्रीकृष्ण ! छिः छिः ! देख तेरे समस्त अङ्ग धूलिधूसरित हो रहे हैं । नहीं नहीं ! अब मेरे साथ चल शीघ्र स्नान कर ले । और आज तो तेरा जन्म-नक्षत्र है, स्नान आदि करके पवित्र होकर ब्राह्मणोंको गोदान कर । अरे ! इधर देख, अभी-अभी यहाँ आये हुए इन गोपशिशुओंकी ओर तो देख ! इनकी माताओंने इन्हें स्नान कराया है, भूषणोंसे यथावत् अलङ्कृत किया है । ये कितने सुन्दर लगते हैं । तू भी स्नान कर ले, तथा फिर भूषणोंसे भलीभाँति विभूषित होकर भोजन कर ले । इसके अनन्तर यथेच्छ खेल खेलना ।'

इस प्रकार नीलमणिकी जननी बहुत कुछ कह गयीं; किंतु कोई परिणाम न निकला । श्रीकृष्णचन्द्र-की क्रीडा ज्यों-की-त्यों चलती रहती है । अब अन्तिम

उपाय जो सम्भव है, जननी वही करने चलीं, वे अपने नीलमणिके पीछे-पीछे दौड़ने लगती हैं। संयोग-से सुबल उसी ओर दौड़ता हुआ मुड़ता है जिधरसे जननी आ रही हैं। जननी हाथ बढ़ाकर सुबल-को ही पकड़ लेती हैं। उसे पकड़ते ही श्रीकृष्णचन्द्र वहाँ आ पहुँचते हैं तथा सुबलकी पीठपर हँस-हँसकर मुक्की लगाने लगते हैं, नीलमणिको इतना समीप देखकर मैया सुबलको छोड़कर उनकी भुजा पकड़ लेती हैं। अब बलराम अपने-आप ही आकर जननीके कटि-देशसे लिपट जाते हैं। दोनोंके मुखारविन्दपर प्रस्वेद-कण झल-झल कर रहे हैं। जननी अपने आँचलसे क्रमशः दोनोंका मुख पोंछने लगती हैं।

सघन तमालकी छायामें कुछ क्षण विश्रामकर व्रजे-श्वरी राम-श्यामका हाथ पकड़े भवनकी ओर चल पड़ती हैं। कुछ दूर चलनेके अनन्तर श्रीकृष्ण एवं बलराम जननी-के हाथोंसे अपनेको मुक्त कर लेते हैं। मैया बाधा भी नहीं देतीं, अपितु नीलमणिको अत्यन्त मन्द गतिसे चलते देखकर 'जो पहले पहुँचे, वह राजा!' यों कहकर उत्साहित करने लगती हैं—

हौं वारी नान्हे पाइनि की दौरि दिखावहु चाल।
छाँडि देहु तुम लाल अटपटी, यह गति-मंद-मराल॥
सो राजा जो अगमन पहुँचै, सूर सु भवन उताल।
जौ जैहैं बलदेव पहिलैं ही, तौ हँसि हैं सब ग्वाल॥

इस भाँति सर्वलोकपूज्य परम महेश्वर स्वयं भगवान् आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्रको लाड़ लड़ाती हुई व्रज-रानी चली जा रही हैं। अपने नीलमणिके अनन्त ऐश्वर्य-की ओर मैयाका ध्यान स्वप्नमें भी नहीं जाता। मैया सदा यही अनुभव करती हैं कि नीलमणि उनके गर्भ-जात पुत्र हैं। विशुद्ध वात्सल्यकी धारा उनके चित्तको निरन्तर सिक्त किये रहती है। इसीका यह परिणाम है—अगणित योगीन्द्र-मुनीन्द्र ध्यानमें क्षणभरके लिये भी जिनका स्पर्श पानेके लिये सदा लालायित रहते हैं, उन आनन्दकन्द व्रजेन्द्रनन्दन श्यामसुन्दर मदनमोहन श्रीकृष्णचन्द्रको वे हाथ पकड़कर लिये जा रही हैं, इच्छानुसार उन्हें मुक्त कर देती हैं और 'कहीं चञ्चल श्रीकृष्णचन्द्र खेलनेके लिये उधर ओर ही भाग न जायँ; भवन न जायँ' इस पुनः पकड़ लेती हैं। जो हो, भवन निकट ही है; वे राम-श्यामको लिये आ पहुँचती हैं, आकर स्नान-भोजन आदिकी व्यवस्थामें लगती हैं—

इत्थं यशोदा तमशेषशेखरं
मत्वा सुतं स्नेहनिबद्धधीर्नृप।
हस्ते गृहीत्वा सहराममच्युतं
नीत्वा स्ववाटं कृतवत्यथोदयम्॥
(श्रीमद्भा० १०।११।...)

तेल, उबटन, स्नान, अङ्गमार्जन, परिधान, अ-ङ्कारसे सुसज्जित कर व्रजेश्वरी राम-श्यामको व्रजे... समीप भोजनालयमें ले जाती हैं। पुत्रोंको आये देख उनके स्मितसमन्वित मुखारविन्दके दर्शनमात्रसे अ-शय प्रमुदितचित्त हुए व्रजराज उन्हें अपनी गोदमें ले लेते हैं—

उपसन्नयोश्च तयोः प्रमुदितमना मनाक् स्मित... मवेक्ष्य वदनं निजमङ्कमारोपयामास व्रजराजः।
(श्रीआनन्दवृन्दावनच...)

श्रीकृष्णचन्द्र भोजन करते हैं—

जेंवत स्याम नंदकी कनिया।
कछुक खात, कछु धरनि गिरावत, छबि निरखति नँदरनि...
बरी, बरा, बेसन, बहु भाँतिनि, ब्यंजन बिबिध, अगनि...
डारत, खात, लेत अपनैं कर, रुचि मानत दधि-दोनि...
मिस्री, दधि, माखन मिस्रित करि, मुख नावत छबि धनि...
आपुन खात, नंद-मुख नावत, सो छबि कहत न बनि...
जो रस नंद-जसोदा बिलसत, सो नहिं तिहूँ भुवनि...
भोजन करि नँद अचमन लीन्हौ, माँगत सूर जुठनि...

यमलार्जुन-पतनके दिनसे श्रीकृष्णचन्द्रकी प्रतिदि... की दिनचर्या प्रायः यही है। व्रजेश्वरीकी ओ... श्रीकृष्णचन्द्रको अनुशासनका अब कोई भय नहीं ... क्योंकि मैयाने अपने शासनका इतना अनिष्ट परि... (वृक्षपतनकी दुर्घटना) देखकर यह निश्चय ... लिया है—'नीलमणिको किसी भी निमित्तसे मैं ...

नहीं डाँटूँगी, यथासम्भव उसे उन्मुक्त क्रीडा करने दूँगी।' अतः श्रीकृष्णचन्द्र कलेऊ समाप्त होते ही प्रतिदिन यमुनातीरके उपवनमें खेलने चले जाते हैं। परंतु विलम्ब होते ही स्नेहपरवशा जननी ढूँढ़ने भी जाती ही हैं। तथा किसी दिन ढूँढ़नेपर भी श्रीकृष्णचन्द्रको जब नहीं पातीं तो प्रेमातिरेकवश विक्षिप्त-सी होकर उच्च स्वरसे प्रलाप-सा करने लगती हैं। अवश्य ही जननीका यह प्रेमोन्माद आरम्भ होते ही श्रीकृष्णचन्द्रके कानोंमें भी जननीकी पुकार चली ही जाती है, और वे दौड़ते हुए आकर जननीके कण्ठसे लग जाते हैं—

कोउ माई बोलि लेहु गोपालहिं।
मैं अपने कौ पंथ निहारति, खेलत बेर भई नँदलालहिं॥
टेरत बड़ी बार भई मोकौं, नहिं पावति घनस्याम तमालहिं।
सिध जेंवत सिरात, नँद बैठे, ल्यावहु बोलि कान्ह ततकालहिं॥
भोजन करै नंद सँग मिलि कै, भूख लगी ह्वैहै मेरे बालहिं।
सूर स्याम-मग जोवति जननी, आइ गए सुनि बचन रसालहिं॥

मध्याह्नके समय भी प्रतिदिन ही न्यूनाधिक अन्तरसे व्रजेश्वर एवं राम-श्यामके भोजनकी यह अभिनव झाँकी निहार-निहारकर पुरसुन्दरियाँ अपने नेत्र शीतल करती हैं—

धूसर धूरि अंग लपटानै आनि नंद कहि दीन्हैं।
झारत धूरि सम्हारत अलकैं बदन चूमि तहँ लीन्हैं॥
उठि-उठि चलत न बैठत लालन, पितु पोछैं पुचकारैं।
षट-रस निरस लगत तिनकौं सब खेल हियेमें धारैं॥
सिसु खेलन कौ सोर सुनत प्रभु नजरि बरकि उठि धावैं।
टेरे नंद प्रीति के बाँधे लगे द्वार लौं आवैं॥
मिलत जाइ बालक बृन्दनि में जुगल बन्धु अति प्यारे।
नर-नारिन के लगे रहत मन छिनभर होत न न्यारे॥
जो परब्रह्म अलख अबिनासी घट-घट ब्यापक जो है।
निज माया करि सबहिं रमावतु वाहि रमावतु को है॥

किंतु आज मध्याह्न-भोजनके अनन्तर भी व्रजेश्वरी अपने नीलमणिको भवनमें ही रोक रखनेमें सफल हो जाती हैं। मैयाने आँखमिचौनी खेलनेका प्रस्ताव जो कर दिया। इतना ही नहीं, समस्त गृहकार्यको छोड़कर वे स्वयं नीलमणिके नेत्र मूँदनेके लिये प्रस्तुत हुई हैं—

बोलि लेहु हलधर भैया कौं।
मेरे आगैं खेल करौ कछु, सुख दीजै मैया कौं॥
मैं मूँदौं हरि आँखि तुम्हारी, बालक रहैं लुकाई।
हरषि स्याम सब सखा बुलाए खेलन आँखि मुँदाई॥
हलधर कह्यौ आँखि को मूँदै, हरि कह्यौ मातु जसोदा।
सूर स्याम लए जननि खिलावति, हरष सहित मन मोदा॥

आजकी आँखमिचौनीमें प्रथम विजय श्रीकृष्णचन्द्र-को ही प्राप्त होती है—

हरि तब अपनी आँखि मुँदाई।
सखा सहित बलराम छपाने, जहँ तहँ गए भगाई॥
कान लागि कह्यौ जननि जसोदा, वा घर मैं बलराम।
बलदाऊ कौं आवन दैहौं, श्रीदामा सौं काम॥
दौरि-दौरि बालक सब आवत, छुवत महरि कौ गात।
सब आए रहे सुबल श्रीदामा, हारे अब कैं तात॥
सोर पारि हरि सुबलहिं धाए, गह्यौ श्रीदामा जाइ।
दै-दै सौहैं नंद-बबा की, जननी पै लै आइ॥
हँसि-हँसि तारी देत सखा सब, भए श्रीदामा चोर।
सूरदास हँसि कहति जसोदा, जीत्यौ है सुत मोर॥

व्रजेश्वरीको आज नीलमणिने, रामने, अन्य गोप-शिशुओंने ऐसे-ऐसे नये-नये खेल दिखलाये कि मैया आनन्दमुग्ध हो गयीं। आदिसे अन्ततक निर्णयकर्त्री मैया ही बनीं, और इसीलिये सबमें विजयश्री नीलमणि-को ही मिली। नीलमणि परमानन्दमें निमग्न होकर मैयाके कण्ठमें झूलने लगते हैं। अंशुमाली अस्ताचलमें चले गये तब कहीं इस आनन्दक्रीडाका अवसान हुआ। अब मैया नीलमणिको, रामको एवं अन्य समस्त गोपशिशुओंको व्यारू कराती हैं। तदनन्तर गोप-सुन्दरियाँ अपने-अपने पुत्रोंको घर ले जाती हैं और श्रीकृष्णचन्द्र आज वहीं प्राङ्गणमें ही निद्रित हो जाते हैं—

आँगन मैं हरि सोइ गये री।
दोउ जननी मिलि कै हरुएँ करि, सेज सहित तब भवन लये री॥
नैकुँ नहीं घर मैं बैठत हैं, खेलहिंके अब रंग रये री।
इहिं बिधि स्याम कबहुँ नहिं सोए, बहुत नींदके बसहिं भये री॥
कहति रोहिनी सोवन देहु न, खेलत दौरत हारि गये री।
सूरदास प्रभु कौ मुख निरखत हरषत जिय नित नेह नये री॥

परमार्थ-पत्रावली

(श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र)

(१)

पत्र मिला। मैं फिर चक्रधरपुर चला गया था, इसलिये जवाब देनेमें विलम्ब हुआ। आपने मिलनेकी तथा मिलनेपर सब बातें पूछनेकी लिखी सो आपके प्रेमकी बात है। चित्तको शान्ति मिलनेका सरलसाध्य उपाय है—अर्थसहित परमेश्वरके नामका जप और अच्छे पुरुषोंका सङ्ग। इन दोनोंको काममें लाना चाहिये।

संसारसे विरक्ति शान्तिका कारण है। विरक्तिका यह अर्थ नहीं कि गृहस्थको छोड़कर संन्यास ले लेना या वनमें चले जाना। विरक्तिका यह मतलब है कि संसारमें रहकर ही सांसारिक विषय-भोगोंमें आसक्त न होना। संसारमें रहनेसे सांसारिक लोग तो अवश्य राग-द्वेषके झमेलेमें घसीटेंगे; परंतु समझदार मनुष्यको तो राग-द्वेषके वशमें नहीं होना चाहिये; क्योंकि राग-द्वेषके त्यागमें इसकी स्वतन्त्रता है। अतः कटिबद्ध होकर कोशिश करनी चाहिये, इससे सफलता भी प्राप्त होनी सम्भव है।

सबके साथ सरलतापूर्वक शिष्टताका व्यवहार अवश्यमेव ही करना चाहिये, लोग चाहे उसे निर्बल ही समझें, इसमें कोई हर्ज नहीं। यदि कोई हमें लूटना चाहें तो उन लुटेरोंसे बचकर रहना चाहिये।

नीच आचरण करनेवाले व्यक्तिसे उपेक्षा करनेमें भी कोई दोष नहीं है; किंतु उससे द्वेष या घृणा नहीं करनी चाहिये। कठोर व्यवहार करनेमें उसका हित हो तो कठोर व्यवहार करना भी नीति है।

संसारके कार्यको झंझट समझकर उससे अलग होनेकी आवश्यकता नहीं है। संसारमें रहते हुए सांसारिक कामको करते रहना चाहिये; किंतु राग-द्वेषमें फँसकर उसमें लिप्त नहीं होना चाहिये। भगवान् कहते हैं—

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥
इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥
(गीता ३ । ३३-३४)

'सभी प्राणी प्रकृतिको प्राप्त होते हैं अर्थात् अ[illegible] स्वभावके परवश हुए कर्म करते हैं। ज्ञानवान् [illegible] अपनी प्रकृतिके अनुसार चेष्टा करता है। फिर [illegible] किसीका हठ क्या करेगा? इन्द्रिय-इन्द्रियके अ[illegible] अर्थात् प्रत्येक इन्द्रियके विषयमें राग और द्वेष छिपे [illegible] स्थित हैं। मनुष्यको उन दोनोंके वशमें नहीं हो[illegible] चाहिये; क्योंकि वे दोनों ही इसके कल्याणमार्गमें वि[illegible] करनेवाले महान् शत्रु हैं।'

परमात्माको याद रखते हुए फल और आसक्ति[illegible] त्यागकर सबके हितके लिये सबके साथ प्रेमपू[illegible] व्यवहार करना चाहिये। ऐसा करनेसे अन्तःक[illegible] पवित्र होता है और शान्ति मिलती है। इस प्रका[illegible] अभ्यासकी वृद्धि होनेसे चित्तकी वृत्तियाँ शान्त हो[illegible] परमानन्दस्वरूप परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। [illegible] अभ्यास और तीव्र वैराग्य रहनेसे बुरे साथियोंके स[illegible] भी बुरा प्रभाव नहीं पड़ सकता।

इस घोर कलिकालमें भजन, सत्संग और भगवा[illegible] दयाके अनुभवके समान कोई सरल उपाय नहीं है[illegible] अतएव अच्छे पुरुषोंका सङ्ग करनेकी चेष्टा क[illegible] चाहिये। उनका सङ्ग न मिलनेपर सत्-शास्त्रों[illegible] अभ्यास करनेकी चेष्टा करनी चाहिये और ई[illegible] नामको निरन्तर याद रखते हुए स्वार्थको त्यागकर [illegible] भूतोंके हितकी चेष्टा करनी चाहिये।

(२)

पत्र आपका मिला। समाचार ज्ञात हुए। [illegible]

मिलनेसे आपकी हमारे पास रहनेकी इच्छा लिखी सो आपकी दयाकी बात है। भजन न होनेसे चित्तमें अशान्ति रहती है। सो चित्त लगाकर भजन करना चाहिये। आपको भजन करनेके लिये प्रातःकाल और सायङ्काल समय देनेके लिये·······को लिख दिया जाता है।

आपने लिखा कि यहाँ सत्संग नहीं है सो काशीजी तीर्थस्थान है, चेष्टा करनेसे वहाँ सत्संग मिल सकता है। ············भाईके कारण आपको सत्संगका लाभ बहुत होता था सो ठीक है। शरीर ठीक न रहनेके कारण आप उनसे अधिक लाभ न उठा सके सो शरीर ठीक न रहना दैवाधीन बात है।

एकान्तमें बैठकर भजन करना या निरन्तर काम करते हुए भजन करना एक ही बात है। गीता अध्याय ८ श्लोक ७* की तरह काम करते हुए भी भजन करना चाहिये तथा नित्यप्रति एकान्तमें भी भजनके लिये समय अवश्य निकालना चाहिये। गोरखपुरमें रहना हो तो सब लोग जैसे प्रेसके काममें समय देते हैं, वैसे ही आपको भी देना चाहिये, नहीं तो दूसरे आदमियोंपर बुरा असर पड़ेगा। लोग समझेंगे कि भगवान्‌को याद रखते हुए भगवान्‌का काम करनेकी अपेक्षा भी काम छोड़कर एकान्तमें भजन करना उत्तम है। यद्यपि एकान्तमें बैठकर भजन करना उत्तम है, परंतु उसमें भी आलस्य और स्फुरणाका डर तो बना ही रहता है। जब हम भजन करते हुए भगवान्‌का काम करते हैं तब वह काम भजनसे कम कैसे हो सकता है!

* तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥

'इसलिये हे अर्जुन! तू सब समयमें निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर। इस प्रकार मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिसे युक्त होकर तू निःसन्देह मुझको ही प्राप्त होगा।'

(३)

आपका कृपापत्र मिला। स्वास्थ्य ठीक न रहने तथा कार्यकी अधिकताके कारण उत्तर समयपर नहीं दिया जा सका, इसके लिये क्षमा चाहता हूँ।

आपको जो इस बातका पछतावा है कि आपने अपनी आयुके ५४ वर्ष यों ही व्यतीत कर दिये सो ठीक है, किंतु असली पछतावा वही है कि यह ज्ञान हो जानेके बाद अपनी आयुका शेष भाग अपने विचारे हुए ध्येयके अनुसार साधनमें ही व्यतीत किया जाय।

अब, भगवत्सम्बन्धी विषयमें कुछ लिखा जाता है। ईश्वर-साक्षात्कारके लिये सर्वोत्तम एवं सुगम उपाय ईश्वरकी अनन्य भक्ति यानी शरणागति है। इसके लिये सत्पुरुषोंका सङ्ग और सत्-शास्त्रोंका अध्ययन अत्यन्त लाभदायक और आवश्यक है। ईश्वरकी अनन्य भक्ति अथवा अनन्य शरणागतिका स्वरूप यदि विस्तारसे जानना हो तो आप गीताप्रेससे प्रकाशित 'तत्त्व-चिन्तामणि प्रथम भाग' देख सकते हैं और यदि आपका ऋषिकेश आना हो तो वहाँ प्रत्यक्षमें भी इस विषयमें पूछ सकते हैं। इस समय पत्रमें तो सूत्ररूपसे कुछ निवेदन किया जाता है।

भगवान्‌ने गीताके ११वें अध्यायके ५४-५५वें श्लोकोंमें अपनी प्राप्तिका उपाय इस प्रकार बतलाया है—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥
मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥

'हे परंतप अर्जुन! अनन्य भक्तिके द्वारा इस प्रकार मैं प्रत्यक्ष देखनेके लिये, तत्त्वसे जाननेके लिये तथा प्रवेश करनेके लिये अर्थात् एकीभावसे प्राप्त होनेके लिये भी शक्य हूँ। हे अर्जुन! जो पुरुष केवल मेरे ही लिये सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको करनेवाला है, मेरे परायण है, मेरा भक्त है, आसक्तिरहित है और सम्पूर्ण भूतप्राणियों-

में वैरभावसे रहित है, वह अनन्यभक्तियुक्त पुरुष मुझको ही प्राप्त होता है ।'

जो मनुष्य भगवान्‌के कथनानुसार केवल भगवान्‌के ही लिये सब कुछ भगवान्‌का समझता हुआ यज्ञ, दान, तप आदि सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको करता हैं, भगवान्‌को ही परम आश्रय और परम गति मानकर भगवान्‌की प्राप्तिके लिये तत्पर रहता है तथा भगवान्‌के नाम, गुण, प्रभाव और रहस्यके श्रवण, कीर्तन, पठन-पाठन, मनन और ध्यानका प्रेमसहित निष्कामभावसे अभ्यास करता हैं, वह स्वार्थ, ममता और आसक्तिसे रहित तथा सम्पूर्ण प्राणियोंमें वैरभावसे शून्य अनन्यभक्तिवाला पुरुष भगवान्‌को प्राप्त हो जाता है । इस प्रकार भगवान्‌की अनन्य भक्तिका अभ्यास करना चाहिये । यदि ऊपर बतलायी हुई बातें न हो सकें तो भगवान्‌की निम्न-लिखित आज्ञाका पालन करनेसे भी भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है । भगवान् कहते हैं—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥
(गीता ९ । ३४)

'मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करनेवाला हो, मुझको प्रणाम कर । इस प्रकार आत्मा-को मुझमें नियुक्त करके मेरे परायण होकर तू मुझको ही प्राप्त होगा ।'

अभिप्राय यह है कि केवल उन सच्चिदानन्दघन परमेश्वरमें ही अनन्यप्रेमपूर्वक नित्य-निरन्तर अचलरूपसे मनको लगावे और उनके नाम, गुण और प्रभावके श्रवण, कीर्तन, मनन और पठन-पाठनद्वारा श्रद्धा-प्रेम-सहित निष्कामभावसे निरन्तर उन परमेश्वरको ही भजे तथा मन, वाणी और शरीरके द्वारा सर्वस्व उनके अर्पण करके अतिशय श्रद्धा, भक्ति और प्रेमसे विह्वलतापूर्वक उनका पूजन करे और उन सर्वशक्तिमान्, सम्पूर्ण विभूति, बल, ऐश्वर्य, माधुर्य, गम्भीरता, उदारता, वत्सलता और सुहृदूता आदि अनन्त गुणोंसे स[म्पन्न] सबके आश्रय उन वासुदेवको विनयभावपूर्वक भक्ति[सहित] साष्टाङ्ग दण्डवत्-प्रणाम करे । इस प्रकार क[रनेसे] भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है

यदि यह भी न हो सके तो केवल ईश्वरके ना[मका] जप और उनके स्वरूपका ध्यान निष्काम प्रेम[भावसे] निरन्तर करनेसे भी परमात्माकी प्राप्ति हो सकती [है ।] यदि और कुछ भी न बन पड़े तो भगवान्‌के [नामके] चिन्तनसे भी भगवान्‌की प्राप्ति सुगमतासे हो सकती [है ।] भगवान्‌ने कहा भी है—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥
(गीता ८ । १[४])

'हे अर्जुन ! जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्त हो[कर] सदा ही निरन्तर मुझ पुरुषोत्तमको स्मरण करता [है,] उस नित्य-निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लि[ये मैं] सुलभ हूँ, अर्थात् उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ ।'

आपने लिखा था कि हमारे लायक सेवा लिखनी चा[हिये] सो ठीक है । हर समय भगवान्‌को याद रखते [हुए] उसकी आज्ञाके अनुसार उसीके लिये काम करने[का] अभ्यास करना चाहिये । और पहले आपने लिखा था [कि] भगवान्‌को याद रखते हुए विवाहका काम होना चाहि[ये,] भगवान् सर्वशक्तिमान् हैं, वे सब कुछ कर सकते हैं, सो ठीक है । केवल विवाहका ही काम नहीं, सभी का[म] उसको याद रखते हुए ही करने चाहिये । भगवा[न्‌की] दयासे सब कुछ हो सकता है, इसमें कुछ भी स[न्देह] नहीं । केवल भगवान्‌पर विश्वास होना चाहिये, क[्योंकि] इसमें श्रद्धाकी प्रधानता है ।

आपने लिखा कि सब कुछ भगवान्‌का ही काम [है,] श्रीभगवान् ही करा रहे हैं—ऐसी बुद्धि हो जाय [सो] ठीक है । इसके लिये श्रीभगवान्‌की शरण हो[ना] चाहिये । शरण होनेपर ऐसा हो सकता है । इ[...]

लिये उनसे प्रार्थना करनी चाहिये । श्रीभगवान्‌पर विश्वास करके साधनकी चेष्टा रखनी चाहिये ।

गीताके १५वें अध्यायके १५वें श्लोककी* बात लिखी, सो ठीक है, इसमें श्रद्धा होनी चाहिये; फिर सारी बात स्वतः ही ठीक हो सकती है । श्लोकमें लिखी हुई बात एकदम ठीक है । हृदय पवित्र हो और श्रद्धालु मनुष्यका सङ्ग किया जाय तो भगवान्‌में श्रद्धा हो सकती है ।

आपने अपने लिये तथा अपने पिताजीके लिये उपयोगी बातें लिखनेको लिखा सो ठीक है; हर समय परमेश्वरके नामकी स्मृति तथा उनके स्वरूपका ध्यान रखना चाहिये । इस प्रकार ध्यान रखते हुए ही काम करना चाहिये । आपके लिये सबसे उत्तम यही बात है एवं आपके पिताजीको भी शरीरसे काम, मनसे परमेश्वरके स्वरूपका ध्यान और जिह्वासे भगवान्‌के नामका जप करना उचित है ।

आलस्य, प्रमाद और भोगोंको पापके समान समझकर त्याग देना चाहिये । तथा त्रुटियोंके लिये पासमें रहनेवाले पुरुषोंसे बार-बार पूछना चाहिये और उन लोगोंके द्वारा बतलायी हुई भूलोंको सुधारनेकी चेष्टा करनी चाहिये ।

प्रभुकी शरण लेनेपर अकर्मण्यता मिटकर मनुष्यका उद्धार होता है । उत्साहपूर्वक परमेश्वरकी आज्ञाका पालन और परमेश्वरके स्वरूपके चिन्तन करनेका नाम ही प्रभुकी शरण लेना है ।

* सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥

'मैं ही सब प्राणियोंके हृदयमें अन्तर्यामीरूपसे स्थित हूँ तथा मुझसे ही स्मृति, ज्ञान और अपोहन होता है (संशय, विपर्यय आदि वितर्क-जालके दूर होनेका नाम 'अपोहन' है ।) और सब वेदोंके द्वारा मैं ही जाननेके योग्य हूँ तथा वेदान्तका कर्ता और वेदोंको जाननेवाला भी मैं ही हूँ ।'

(४)

आपका पत्र मिला ।××××। अलग बैठनेके समय कामोंका ही चिन्तन होना लिखा सो काम करते समय मुख्यवृत्तिसे परमेश्वरके स्वरूपका ध्यान और गौणी वृत्तिसे सांसारिक काम करना चाहिये, ऐसा करनेसे मन परमेश्वरमें लग सकता है तथा ईश्वरके चिन्तनमें त्रुटि ही असली हानि है, ऐसा समझकर निरन्तर चिन्तनका प्रयत्न करना चाहिये ।

आपने लिखा कि मेरी त्रुटियाँ ध्यानमें आवें सो लिखनी चाहिये सो ठीक है । साधनके सम्बन्धमें तो यह त्रुटि प्रत्यक्ष ही है, जो कि हर समय प्रभुका चिन्तन नहीं होता ।

आपने अपने लिये उपयोगी बातें लिखनेको लिखा सो ठीक है । गीताके १६वें अध्यायके १, २, ३ श्लोकमें बतलाये हुए गुणोंको धारण करना चाहिये । भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥

'भयका सर्वथा अभाव, अन्तःकरणकी पूर्ण निर्मलता, तत्त्वज्ञानके लिये ध्यानयोगमें निरन्तर दृढ़ स्थिति और सात्त्विक दान, इन्द्रियोंका दमन, भगवान्, देवता और गुरुजनोंकी पूजा तथा अग्निहोत्र आदि उत्तम कर्मोंका आचरण एवं वेद-शास्त्रोंका पठन-पाठन तथा भगवान्‌के नाम और गुणोंका कीर्तन, स्वधर्मपालनके लिये कष्टसहन और शरीर तथा इन्द्रियोंके सहित अन्तःकरणकी सरलता, मन, वाणी और शरीरसे किसी प्रकार भी किसीको कष्ट न देना, यथार्थ और प्रिय भाषण, अपना अपकार करनेवालेपर भी क्रोधका न होना, कर्मोंमें कर्तापनके

अभिमानका त्याग, अन्तःकरणकी उपरति अर्थात् चित्तकी चञ्चलताका अभाव, किसीकी भी निन्दादि न करना, सब भूतप्राणियोंमें हेतुरहित दया, इन्द्रियोंका विषयोंके साथ संयोग होनेपर भी उनमें आसक्तिका न होना, कोमलता, लोक और शास्त्रसे विरुद्ध आचरणमें लज्जा और व्यर्थ चेष्टाओंका अभाव, तेज, क्षमा, धैर्य, बाहरकी शुद्धि एवं किसीमें भी शत्रुभावका न होना और अपनेमें पूज्यताके अभिमानका अभाव—ये सब हे अर्जुन! दैवी सम्पदाको लेकर उत्पन्न हुए पुरुषके लक्षण हैं।'

इस प्रकार भगवान्के द्वारा बतलाये हुए दैवी सम्पदाके लक्षणोंको धारण करना चाहिये तथा आगे ४ थे श्लोकसे अध्यायके समाप्तिपर्यन्त बतलाये हुए अवगुणोंका त्याग करना चाहिये। अभिप्राय यह कि उत्तम गुण और उत्तम आचरणोंका सेवन तथा बुरे गुण और बुरे आचरणोंका त्याग करना चाहिये। इस प्रकार करनेसे सब अवगुणोंका नाश हो सकता है। इतना न बन पड़े तो परमेश्वरके नामका जप और उसके आज्ञानुसार काम करना चाहिये।

तुम्हारे प्रेमके अनुसार मैं तो समयपर पत्र भी नहीं दे पाता हूँ, फिर भी तुम मेरी भूलकी तरफ खयाल नहीं करते।

(५)

हर समय श्रीभगवान्को याद रखना चाहिये। काम करते समय हरेक काममें स्वार्थ और आसक्तिका त्याग करके 'सर्वत्र श्रीभगवान् हैं'—ऐसा निश्चय रखते हुए उनके प्रेममें मग्न होकर उन्हींका काम समझकर करना तथा जो कुछ हो, उसमें उनका हाथ समझकर आनन्द मानना चाहिये। सारा संसार श्रीभगवान्की फुलवाड़ी है, भगवान् इस संसाररूपी बगीचेके चतुर माली हैं; कभी किसी पौधेको उखाड़ते हैं और किसीको लगाते हैं, जो इस बातके रहस्यको नहीं जानते, वे ही दुखी-सुखी होते हैं। हमें इस रहस्यको समझकर हर समय उनकी लीलाको देखते हुए आनन्द मानना चाहिये।

मनुष्यको अपनी समझके अनुसार सावधानीसे कोशिश करनी चाहिये। फिर उसका जो परिणाम हो, उसीमें आनन्द मानना चाहिये। कोई भी काम हो, धीरजके साथ करना चाहिये, जल्दी नहीं करनी चाहिये।

(६)

भजन-ध्यानका साधन तेज करनेके लिये विशेष कोशिश करनी चाहिये। मनुष्यका जन्म दुर्लभ है। समयका कोई भरोसा है नहीं। प्राण जानेके पूर्व ही अपना उद्धार कर लेनेका प्रयत्न करना ही बुद्धिमत्ता है, नहीं तो पीछे पछतानेसे कोई लाभ नहीं होगा। काम, भोग, पाप, आलस्य और प्रमादको मृत्युके समान समझकर इनका सर्वथा त्याग करनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

भगवान्से यही प्रार्थना करे कि 'हे प्रभो! हमारा मन दूसरी जगह कहीं न जाय। शरीर कहीं भी रहे कोई बात नहीं, पर आपका भजन-ध्यान निरन्तर होता रहे। फिर नया पाप तो होगा नहीं, पुराने पाप हैं उन्हें चाहे जैसे भुगतावें, कोई चिन्ता नहीं। हम तो यही चाहते हैं कि आपका ध्यान बना रहे। ध्यान बना रहेगा तो पापोंका स्वतः ही नाश हो जायगा। पापनाशकी प्रार्थनाकी क्या जरूरत है? केवल एक ही बातकी प्रार्थना है—चाहे सो हो, आपके भजन-ध्यानमें कभी विघ्न न हो।' जो प्रभुके सिवा और कुछ नहीं चाहता, वही एकनिष्ठ भक्त है। भक्त प्रह्लादने यही कहा कि किसी प्रकारकी इच्छा हो तो उसका नाश हो जाय। प्रभुसे कुछ माँगना नहीं चाहिये। माँगे तो एक ही बात कि 'हम जीवन-मरण, सांसारिक सुख-दुःख कुछ भी नहीं चाहते। पापोंके नाशके लिये भी चिन्ता नहीं। हमारे तो हर समय आपका चिन्तन होता रहे। प्रभुके चिन्तनके सिवा हमें और कुछ नहीं चाहिये।'

सनातनधर्ममें सत्यका समुचित स्थान

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

'सत्य' भगवान्‌का ही स्वरूप है, इसमें रञ्चमात्र भी सन्देह नहीं। गीता कहती है—

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
(१७।२३)

अर्थात् 'ॐ, तत् और सत्—ये तीन भगवान्‌के नाम हैं।' उपनिषदें कहती हैं—

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।' (तैत्ति० २।१।१)

'सत्यं ब्रह्म।' (बृह० ५।५।१)

अर्थात् 'सत्य ब्रह्म है!' महाभारतका कहना है कि—

'राजन् सत्यं परं ब्रह्म।' (आदिपर्व ७५।१०६)

विष्णुसहस्रनाममें—

'सत्यः सत्यपराक्रमः।' (३६)

ये भी दो नाम हैं। भागवतका कहना है कि भगवान् सत्यव्रत, सत्यपरायण, त्रिकालसत्य और सत्यके उत्पत्ति-स्थान हैं—

सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यं
सत्यस्य योनिं निहितं च सत्ये।
सत्यस्य सत्यमृतसत्यनेत्रं
सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्नाः॥
(१०।२।२६)

लोकमें भी प्रसिद्धि है कि—

जाके हिरदय साँच है वाके हिरदय आप॥

सत्यकी महिमासे हमारे शास्त्र भरे पड़े हैं। मनुका कहना है कि सदा सत्य बोलना चाहिये, प्रिय बोलना चाहिये, किंतु ऐसा सत्य न बोला जाय जो अप्रिय हो। असत्यमिला प्रिय भी न बोले। यही सनातन धर्म है—

सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः॥
(मनु० ४।१३८)

आगे चलकर वे ही एक जगह कहते हैं कि जो विद्वान् निःशङ्क होकर केवल सत्य ही कहता है, देवतालोग उससे बढ़कर संसारमें किसीको भी नहीं जानते—

यस्य विद्वान् हि वदतः क्षेत्रज्ञो नाभिशङ्कते।
तस्मान्न देवाः श्रेयांसो लोकेऽन्यं पुरुषं विदुः॥
(८।९६)

इसी बातको ध्यानमें रखकर मालूम होता है गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने कहा है—

सत्य मूल सब सुकृत सुहाए। बेद पुरान बिदित मनु गाए॥

मनुने तो अवश्य लिखा, पर वेद-पुराणोंमें भी क्या यह बात यों ही है—यह शङ्का स्वाभाविक है। यही नहीं, गोस्वामीजी महाराज एक और जगह भी लिखते हैं—

धर्म न दूसर सत्य समाना। आगम निगम पुरान बखाना॥
नहिं असत्य सम पातक पुंजा। गिरि सम होहिं कि कोटिक गुंजा॥

—इत्यादि। इसपर यह जिज्ञासा होनी स्वाभाविक है कि वेद-पुराणोंमें सचमुच सत्यका कैसा वर्णन है।

गोस्वामीजी तो कोई झूठे व्यक्ति थे नहीं कि बिना आगे-पीछे सोचे-समझे ही ये चौपाइयाँ रगड़ मारी हों। पाठक देखें कि सत्यकी महिमा वेदों और पुराणोंमें किस प्रकार भरी पड़ी है। 'ऋग्वेद' कहता है कि ज्ञानवान् मनुष्य इस बातको अच्छी तरह जानता है कि असत्य और सत्य परस्पर स्पर्धा करते हैं। दोनोंमें सत्य ही आसान है, इसके अतिरिक्त भगवान् सर्वदा सत्यकी रक्षा तथा असत्यका दमन करते हैं—

'सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते।
तयोर्यत्सत्यं यतरदृजीयस्तदित्सोमोऽवति हन्त्यासत।'
(ऋ० सं० अष्ट० ७, मण्ड० १०४ सू० १२)

यजुर्वेद कहता है—

दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत्सत्यानृते प्रजापतिः।
अश्रद्धामनृते दधाच्छ्रद्धां सत्ये प्रजापतिः॥
(शु० य० सं० कां० १९, कं० ७७)

इसपर उव्वट लिखते हैं—

'दृष्ट्वा—उपलभ्य, रूपे सत्यानृतयोः। इदं सत्यम्, एवं रूपमिदम् अनृतम्, इति व्याकरोत्। व्याकरणम्—पृथक् कार्यावस्थानम्। कथं व्याकरोत्? अश्रद्धामनृते अदधात्, अनृतं निमित्तत्वात् अश्रद्धायाः। श्रद्धामास्तिक्यं सत्ये। कः अदधात्? प्रजापतिः।' (उव्वटभाष्य)

अर्थात् प्रजापतिने सत्य और झूठको पूरी तरह देख-भाल कर दोनोंको अलग-अलग कर दिया। उन्होंने फिर मनुष्योंके हृदयमें सत्यके लिये श्रद्धा एवं असत्यके लिये अश्रद्धा प्रकट कर दी। इसी प्रकार 'अथर्ववेद'की श्रुति कहती है कि वरुण!

तुम्हारी तीनों प्रकारकी सात-सात फाँसें मिथ्या भाषण करनेवालोंको ही बाँधें। सत्य बोलनेवालेकी वे सभी पाशें कट जायँ। और जो सर्वथा असत्य बोलते हों वे तो तुम्हारी सैकड़ों पाशोंसे बाँधे जायँ और कभी न छूटें—

'ये ते पाशा वरुण सप्त सप्त
त्रेधा तिष्ठन्ति विषिता रुशन्तः।
छिनन्तु सर्वे अनृतं वदन्तं
यः सत्य वाद्यति तं सृजन्तु॥
शतेन पाशैरभिधेहि वरुणैनं
मा ते मोच्यनृत वाङ् नृचक्षः।'

(अथर्व० कां० ४, सूक्त १६, मन्त्र ६, ७)

इसका उपबृंहण इतिहास-पुराणोंने इन शब्दोंमें किया है, यथा—

ये तु सभ्याः सदा ज्ञात्वा तूष्णीं ध्यायन्त आसते।
यथा प्राप्तं न ब्रुवते ते सर्वेऽनृतवादिनः॥
जानन्नवाब्रवीत्प्रश्नान् कामात्क्रोधाद्भयात्तथा।
सहस्रं वारुणान् पाशानात्मनि प्रतिमुञ्चति॥
तेषां संवत्सरे पूर्णे पाश एकः प्रमुच्यते।
तस्मात्सत्येन वक्तव्यं जानता सत्यमञ्जसा॥

(वाल्मी० रामा० उत्तर० सर्ग ६० के बादका प्र० स० ३ श्लो० ३४–३६, महा० सभा० पर्व ६८। ७४–७६)

उपनिषदोंमें आता है कि प्रजापतिके पुत्र आरुणि सुपर्णेयने अपने पिताके पास जाकर पूछा कि हे भगवन्! सबसे श्रेष्ठ कौन-सी वस्तु है? प्रजापतिने कहा कि पुत्र! सत्यसे ही यह हवा चलती है, सत्यके बलपर ही सूर्य आकाशमें प्रकाशित होते हैं, सत्यमें ही वाणीकी प्रतिष्ठा है, सभी सत्यके ही बलपर टिके हैं। इसलिये सत्यको ही सर्वोत्तम कहा जाता है—

'सत्येन वायुरावाति, सत्येनादित्यो रोचते दिवि, सत्यं वाचः प्रतिष्ठा, सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितं तस्मात्सत्यं परमं वदन्ति।'

(नारायणोपनिषद् ७९। १, तैत्तिरीयारण्यक)

इसका उपबृंहण पाठक आगे चलकर अनेक स्थलोंपर इतिहास-पुराणोंके उदाहरणमें देखेंगे। मुण्डकोपनिषद् कहती है कि सत्यकी ही विजय होती है, झूठकी नहीं, क्योंकि वह देवयाननामक मार्ग, जिससे पूर्णकाम, परम निष्काम, आत्माराम ऋषिलोग जाते हैं, सत्यसे ही परिपूर्ण है—वह परब्रह्म परमात्माका धाम परम सत्यस्वरूप ही है—

'सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः। येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम्।'

(मुण्डकोपनिषद् ३। १। ६)

यह श्रुति स्वल्प पाठ-भेदसे अन्यत्र भी कितने ही स्थलोंपर मिलती है। बृहदारण्यक उपनिषद्का कहना है कि सत्य ही परमेश्वर है। इसी सत्यरूपी परमेश्वरने प्रजापतिको और प्रजापतिने देवताओंको उत्पन्न किया। इसलिये देवता सत्यकी ही उपासना करते हैं—

'सत्यं ब्रह्म, ब्रह्म प्रजापतिं, प्रजापतिर्देवांस्ते देवाः सत्यमेवोपासते।'

(बृहदा० ५। ५। १)

यही उपनिषद् एक दूसरे स्थानपर कहती है कि धर्म निश्चयेन सत्यस्वरूप है। इसीसे सत्य बोलनेवालेको कहा जाता है कि 'यह धर्म भाषण कर रहा है'—

'स धर्मं सत्यं वैतत्। तस्मात्सत्यं वदन्तमाहुर्धर्मं वदतीति, धर्मं वा वदन्तं सत्यं वदतीत्येतद्ध्येवैतदुभयं भवति।'

(बृहदा० १। ४। १४)

प्रायेण प्रत्येक उपनिषद्में ही 'सत्यं वद' 'सत्यान्न प्रमदितव्यम्'का उपदेश भरा दीखता है। क्यों न हो, तभी तो उपनिषदोंका महत्त्व सारा संसार स्वीकार करता है।

इसी प्रकार 'पारस्करगृह्यसूत्र' स्नातकके नियमोंका विधान करता हुआ लिखता है कि स्नातक सर्वदा सत्य बोले, मिथ्या भाषण न करे—

'सत्यवदनमेव वा।'

(पार० गृह्य० कां० २, कण्डि ८ सूत्र ९)

'वशिष्ठधर्मसूत्र' मिथ्या भाषणकी निन्दा करता हुआ कहता है कि कन्याके विषयमें असत्य कहनेसे पाँच बान्धवोंका, गौके विषयमें असत्य कहनेसे दस बान्धवोंका, घोड़ेके विषयमें असत्य बोलनेसे सौ बान्धवोंका तथा मनुष्यके विषयमें झूठ बोलनेसे हजारों बान्धवोंके वध करनेका पाप लगता है—

पञ्च कन्यानृते हन्ति दश हन्ति गवानृते।
शतमश्वानृते हन्ति सहस्रं पुरुषानृते॥

(वशिष्ठधर्मसूत्र १६। ३१)

ठीक यही बात गौतम और बौधायनने भी कही है (देखिये बौधायनधर्मसूत्र १। १२। २६, गौतमधर्मसूत्र १३। १०—१७)। ऐसे ही योगसूत्रकार लिखते हैं कि सदा सत्य बोलनेवालेके शाप और वरदान भी सत्य ही होते हैं—

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्।

(पातञ्जलयोगदर्शन साधनपाद सूत्र ३६)

इस तरह हम देखते हैं कि न केवल वेदोंने ही प्रत्युत सभी वैदिक ग्रन्थ—कल्पसूत्रोंमें ही सत्यकी सर्वोत्तमताप्रतिपादक वचन ढेर-के-ढेर मिलते हैं। यह तो हुई वेदोंकी बात, पर इतिहास-पुराणोंकी इस विषयमें कैसी सम्मति है, उनका विवेचन कैसा दिव्य, रोचक और आकर्षक है, यह विषय अगले प्रकरणमें नीचे देखिये।

(२)

इतिहास-पुराणोंमें इस विषयपर बड़े-बड़े विवेचन चले हैं। तफसीलमें जानेपर तो अपने इतिहासोंका मूलाधार सत्य ही दीखता है। 'रामायण' हमारा आदिकाव्य होते हुए भी प्राचीनतम इतिहासका ग्रन्थ समझा जाता है। इसमें हम देखते हैं कि महाराज दशरथ कैकेयीको दो वरदान देते हैं, और अपनी उस प्रतिज्ञाके पालनेमें अपने प्राणोंके साथ-साथ प्राणोंसे भी प्रिय पुत्र श्रीरामचन्द्रका परित्याग कर देते हैं। इधर श्रीरामचन्द्र भी सत्यकी रक्षाके लिये वन जाते हैं, बस, यही 'रामायण' की आधारभित्ति है। जब भरत, वामदेव और जाबालिने श्रीरामचन्द्रजीको अयोध्या लौट चलनेके लिये कई प्रकारसे आग्रह किया तब उन्होंने जो अपना मन्तव्य प्रकट किया वह कितना मार्मिक है यह देखते ही बनता है। आप कहते हैं कि सत्यका पालन ही राजाओंका दयाप्रधान धर्म है—सनातन आचार है, अतः राजा सत्यस्वरूप है। सत्यमें ही सम्पूर्ण जगत् प्रतिष्ठित है। ऋषियों और देवताओंने सत्यका ही आदर किया है। इस लोकमें सत्यभाषण करनेवाला मनुष्य सर्वोत्तम—अक्षय लोक ब्रह्मधामको प्राप्त होता है। झूठ बोलनेवाले मनुष्यसे सभी लोग वैसे ही डरते हैं, जैसे साँपसे। संसारमें सत्य ही धर्मकी पराकाष्ठा है, वही सबका मूल कहा गया है। जगत्में सत्य ही ईश्वर है। सत्यहीके आधारपर धर्मकी स्थिति है। सत्य ही सबकी जड़ है, सत्यसे बढ़कर कोई दूसरी उत्तम गति नहीं। दान, यज्ञ, होम, तप और वेद—इन सबोंका आश्रय सत्य ही है। इसलिये सबको सत्यपरायण होना चाहिये—

सत्यमेवानृशंसं च राजवृत्तं सनातनम्।
तस्मात्सत्यात्मकं राज्यं सत्ये लोके प्रतिष्ठितः॥
ऋषयश्चैव देवाश्च सत्यमेव हि मेनिरे।
सत्यवादी हि लोकेऽस्मिन् परं गच्छति चाव्ययम्॥
उद्विजन्ते यथा सर्पान्नरादनृतवादिनः।
धर्मः सत्यपरो लोके मूलं सर्वस्य चोच्यते॥
सत्यमेवेश्वरो लोके सत्ये धर्मः सदाश्रितः।
सत्यमूलानि सर्वाणि सत्यान्नास्ति परं पदम्॥
दत्तमिष्टं हुतं चैव तप्तानि च तपांसि च।
वेदाः सत्यप्रतिष्ठानास्तस्मात्सत्यपरो भवेत्॥

(वाल्मीकि० अयो० १०९। १०–१४)

हमारे दूसरे इतिहास 'महाभारत' की भी ठीक यही दशा है। महाराज युधिष्ठिर सत्यपाशसे ही बँधकर तेरह वर्ष वनवासका कष्ट झेलते हैं और यही सम्पूर्ण महाभारतकी आधारभित्ति बनती है। जिस तरह सत्य-धर्मपरायण श्रीरामचन्द्रजीकी सर्वत्र विजय होती है, उसी प्रकार युधिष्ठिर भी असत्यभाषी दुर्योधनकी ग्यारह अक्षौहिणी सेनाको मसल डालते हैं। सत्यकी प्रशंसासे तो महाभारत भरा पड़ा है। आदिपर्वमें दुष्यन्तके द्वारा अस्वीकृत होनेपर शकुन्तला कहती है—'राजन्! कपट न करो। सत्य हजारों अश्वमेधोंसे भी श्रेष्ठ है। सारे वेदोंको पढ़ ले, सारे तीर्थोंमें स्नान कर ले, फिर भी सत्य उनसे बढ़कर है। सत्यसे बढ़कर दूसरा धर्म भी नहीं है। सत्यसे बढ़कर कुछ है ही नहीं। झूठसे बढ़कर निन्दनीय भी कुछ नहीं। सत्य स्वयं परब्रह्म परमात्मा है—

अश्वमेधसहस्रं च सत्यं च तुलया धृतम्।
अश्वमेधसहस्रेभ्यः सत्यमेव विशिष्यते॥
सर्ववेदाधिगमनं सर्वतीर्थावगाहनम्।
सत्यं च वचनं राजन् समं वा स्यान्न वा समम्॥
नास्ति सत्यसमो धर्मो न सत्याद्विद्यते परम्।
न हि तीव्रतरं किञ्चिदनृतादिह विद्यते॥

(महा० आदिपर्व० ७४। १०३–१०५)

शान्तिपर्वका १६२ वाँ अध्याय सम्पूर्ण ही सत्यकी महिमासे भरा पड़ा है, और अध्यायके अन्तमें भीष्मपितामहने कहा है कि राजन्! सत्यके गुण कहे नहीं जा सकते। यही कारण है कि सभी देवता, पितर, ऋषि और ब्राह्मण सदा सत्यकी प्रशंसा करते हैं। न तो सत्यसे बढ़कर कोई धर्म है और न झूठसे बढ़कर कोई पाप। सत्यसे दानका, दक्षिणाओंसहित यज्ञका, त्रिविध अग्नियोंमें हवनका और वेदोंके भी स्वाध्यायका फल मिल जाता है। यदि एक ओर हजार अश्वमेध यज्ञोंका और दूसरी ओर सत्यका फल तराजूपर रखकर तौला जाय तो एक हजार अश्वमेध-यज्ञोंकी अपेक्षा सत्यका ही फल अधिक होगा—

नान्तः शब्दो गुणानां च वक्तुं सत्यस्य पार्थिव।
अतः सत्यं प्रशंसन्ति विप्राः सपितृदेवताः॥

नास्ति सत्यात्परो धर्मो नानृतात्पातकं परम् ।
उपैति सत्याद्दानं हि तथा यज्ञाः सदक्षिणाः ॥
त्रेताग्निहोत्रं वेदाश्च ये चान्ये धर्मनिश्चयाः ।
अश्वमेधसहस्रं च सत्यं च तुलया धृतम् ।
अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते ॥

(महा० शान्ति० आपद्धर्मपर्व १६२ । २३–२६)

अनुशासनपर्वमें सभी प्रकारके धर्मोंका उपसंहार करते हुए भी ये ही बातें कही गयी हैं और फिर इसके आगे कहा गया है कि सत्यके प्रभावसे सूर्य तपते हैं, सत्यसे अग्नि प्रज्वलित होती है, और सत्यसे ही वायुका सञ्चार होता है । सब कुछ सत्यपर ही टिका हुआ है । देवता, ब्राह्मण और पितर सत्यसे ही प्रसन्न होते हैं । सत्य सबसे बड़ा धर्म है, अतः सत्यका कभी उल्लङ्घन न करे । ऋषि-मुनि सत्यपरायण, सत्यपराक्रमी और सत्यप्रतिज्ञ होते हैं, इसलिये सत्य सबसे श्रेष्ठ है—

सत्येन सूर्यस्तपति सत्येनाग्निः प्रदीप्यते ।
सत्येन मरुतो वान्ति सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥
सत्येन देवाः प्रीयन्ते पितरो ब्राह्मणास्तथा ।
सत्यमाहुः परो धर्मस्तस्मात्सत्यं न लङ्घयेत् ॥
मुनयः सत्यनिरता मुनयः सत्यविक्रमाः ।
मुनयः सत्यशपथास्तस्मात्सत्यं विशिष्यते ॥

(महा० अनु० ७५ । २८–३२)

पाठक देखें कि तैत्तिरीयारण्यक एवं नारायणोपनिषद्के मन्त्रोंका इस इतिहासने कैसे उपबृंहण किया है । यही बात इसी पर्वके बाईसवें अध्यायमें भी आयी है ।

पुराणोंमें तो यह विवेचन और भी व्यापकरूपसे हुआ है । 'मार्कण्डेयपुराण' में हरिश्चन्द्रोपाख्यानके आठवें अध्यायमें ये ही श्लोक प्रायः ज्यों-के-त्यों आते हैं । पद्मपुराण सृष्टिखण्डमें नन्दाने कहा है कि सत्यपर ही संसार टिका हुआ है । धर्मकी स्थिति भी सत्यमें ही है । सत्यके कारण ही समुद्र अपनी मर्यादाका उल्लङ्घन नहीं करता । राजा बलि भगवान् विष्णुको पृथ्वी देकर स्वयं पातालमें चले गये और छलसे बाँधे जानेपर भी सत्यपर ही डटे रहे । गिरिराज विन्ध्य अपने सौ शिखरोंके साथ बढ़ते-बढ़ते बहुत ऊँचे हो गये थे, किंतु सत्यमें बँध जानेके कारण ही वे अपने नियमको नहीं तोड़ते । सत्य ही उत्तम तप है । सत्य ही उत्कृष्ट ज्ञान है । सत्य-भाषणमें किसी प्रकारका क्लेश नहीं है । सत्य ही साधु पुरुषोंके लिये कसौटी है । यही सत्पुरुषोंकी वंश-परम्परागत सम्पत्ति है । सम्पूर्ण आश्रयोंमें सत्यका ही आश्रय श्रेष्ठ माना गया है । सत्य सम्पूर्ण जगत्का आभूषण है । इसके आश्रयसे म्लेच्छ भी स्वर्गमें पहुँच जाता है । भला उसे कभी भी कैसे छोड़ा जा सकता है—

सत्ये प्रतिष्ठिता लोका धर्मः सत्ये प्रतिष्ठितः ।
उदधिः सत्यवाक्येन मर्यादां न विलङ्घति ॥
विष्णवे पृथिवीं दत्त्वा बलिः पातालमास्थितः ।
छद्मनापि बलिर्बद्धः सत्यवाक्येन तिष्ठति ॥
प्रवर्द्धमानः शैलेन्द्रः शतशृङ्गः समुच्छ्रितः ।
सत्येन संस्थितो विन्ध्यः प्रबन्धं नातिवर्तते ॥
सत्यं साधु तपः श्रुतं च परमं क्लेशादिभिर्वर्जितं
साधूनां निकषं सतां कुलधनं सर्वाश्रयाणां वरम् ।
स्वाधीनं च सुदुर्लभं च जगतः साधारणं भूषणं
यन्म्लेच्छोऽप्यभिधाय गच्छति दिवं तत्त्यज्यते वा कथम् ॥

(पद्मपुराण, सृष्टिखं० १८ । ३९६–४०४)

ये श्लोक अन्यत्र भी कितने ही स्थलोंपर उपलब्ध होते हैं । शिवपुराण उमासंहिताके बारहवें अध्यायमें २३ से ३६ तकके श्लोकोंमें भी सत्यकी अपूर्व महिमा भरी पड़ी है । वैसे ही देवीभागवतके सातवें स्कन्धके बीसवें तथा इक्कीसवें अध्यायमें भी बातें विस्तारसे कही गयी हैं । सच बात तो यह है कि अपने धर्मग्रन्थोंके पन्ने-पन्नेमें सत्य भरा पड़ा है । ऐसा कोई भी ग्रन्थ नहीं जिसमें सत्यकी प्रशंसा न हो । अपने पूर्वज कितने सत्यप्रेमी और असत्यभीरु थे, इसके लिये हरिश्चन्द्र, युधिष्ठिर, दशरथ, राम, बलि, शिबि, दधीचि, नल और किन्न ही नहीं, व्यक्ति-व्यक्ति उदाहरण हैं । महाराज दशरथने जो—

रघुकुल रीति सदा चलि आई । प्रान जाहुँ बरु बचनु न जाई ॥

—यह कहा था । क्या इसमें हमें उक्त प्रकारका सङ्केत नहीं मिल रहा है ?

पर आजकी हवा विचित्र है । स्वतन्त्रताकी हवा लगे—उच्छृङ्खल प्रकृतिके लोग अपनी इन्द्रियलोलुपताके बाधक किसी प्रकारकी बात नहीं सुनते । धर्मग्रन्थोंके दायरेसे बाहर जानेके लिये ये लोग खुले मुँह कहते हैं कि 'अपने पूर्वजोंने प्रह्लाद आदिकी झूठी कहानियाँ लिखी हैं । हमारे शास्त्र दकियानूसी विचारके और ब्राह्मणोंकी स्वार्थपूर्तिके लिये लिखे गये हैं ।' पर सच पूछा जाय तो पग-पगपर परम असत्यपूर्ण, वञ्चनामय व्यवहार आजके इन्हीं इन्द्रियलोलुपोंका सहज-स्वाभाविक धर्म है ।

जिन ऋषियोंने महामहिम, परम पुण्यप्रद, एक नहीं हजारों अश्वमेध यज्ञसे भी सत्यका मूल्य अधिक आँका;

अश्वमेधसहस्रं च सत्यं च तुलया धृतम् ।
अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेकं विशिष्यते ॥

(यह श्लोक महा० आदि ७४ । १०३, अनु० २२ । १४, शान्ति० १६२ । २६, अनु० ७५ । २९, मार्क० पु० ८ । ४२, पद्मपु० सृष्टि० १८ । ४०२, शि० पु० उ० सं० १२ । २९, दे० भा० ७ । २१ । ७ इत्यादि कितने ही स्थलोंपर मिलता है) जिनके शाप और वरदान कभी व्यर्थ न हुए, भला वे झूठ क्योंकर लिखते ? असल बात तो यह है कि आज हमारा बौद्धिक स्तर इतना ही गिर गया है कि उनकी बातें हमारी समझमें आने योग्य ही न रहीं ! आज हमारा इतना नैतिक पतन हो गया है कि यथार्थ वस्तुको हम परख ही नहीं पाते, हमारी बुद्धि इतनी कलुषित हो गयी कि हमें सभी बातें उल्टी समझ पड़ती हैं—'सर्वार्थान्विपरीतांश्च' का बोध होता है । लेखका विस्तार अधिक हो गया इसलिये हम यहाँ सत्यके स्वरूपपर विचार नहीं करते, पर सत्यासत्यका निर्णय हमारा क्षेत्रज्ञ कर देता है (मनु० ८ । ९६) । अन्तमें हम त्रिकालसत्य—'सत्यं च त्रिकालाबाध्यत्वम्', सत्ययोनि—एकमात्र परम सत्य परमात्मासे—अपने प्राचीन सत्य प्रेमकी प्राप्तिकी प्रार्थना करते हुए पाठकोंसे विदा लेना चाहते हैं ।

प्रभुपर विश्वास

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥

(गीता १२ । २०)

उस उज्ज्वल भूमिमें हिमराशिके होनेका भ्रम भले हो जाय किंतु वायुका क्षारगन्ध सूचित कर देगा कि आपके सम्मुख पृथ्वीपर नमक फैला हुआ है । सम्मुख क्षितिजसे एकाकार अपार नीलोदधि जब पूर्णिमाको नभमें अपने हृदयरत्न पूर्णचन्द्रको देखकर उल्लसित हो उठता है और उत्तुङ्ग कल्लोल कर अङ्कमाल देनेका अफल प्रयास करता है, धराका यह अञ्चल अन्तर्हित हो जाता है । आवेशका अन्त है श्रान्ति । विफल वारिधि जब अपने-आपमें संकुचित होने लगता है, पुलिन श्वेत हो जाता है । निरुत्साहने जैसे उसे चकित कर दिया हो । सम्मुख सुदूर वह न तो पर्वतमाला है और न वृक्षपंक्ति । वे जलधिकी हिलोरें हैं जो विशाल सर्पकी भाँति अपना मस्तक बार-बार पटक रही हैं । उनका श्रेष्ठतम शिरोरत्न कौस्तुभ कबका हरण हो चुका है ।

पीछे सघन वनावली । पीलु तथा दूसरे कंटकीय तरु एवं लताएँ । मध्य-मध्यमें नागफनी एवं थूहरोंकी सघन हरीतिमाकी परिधिसे घिरे हुए खेतोंकी पंक्ति । हरियालीने अपनी सघनतामें भूमिकी धूसरताको आच्छादित कर लिया है जैसे सागरको अंकमाल देनेके समय पृथ्वीने अपनेको तद्रूप नीलवर्णका बना लिया है । क्षारकी उज्ज्वलता उनके मिलनकी सात्त्विकता ही तो है । उच्च ताड़तरु एवं खजूर आकाशको ओर कुछ अज्ञात संकेत-से करते जान पड़ते हैं ।

तटके पोतावासमें विभिन्न रंगकी पताकाएँ सागरके इन प्रफुल्ल सुमनोंके समान जलयानोंपर तितलियोंकी भाँति उड़ा ही करती हैं । नगरकोट एवं पोतावासके मध्यका मार्ग कोलाहलपूर्ण तो रहता ही है । स्तम्भतीर्थ अपने यातायातके लिये प्रख्यात है और उसके कुशल कलाकार भारतकी कीर्ति-पताका सुदूर विडालाक्ष-देश (इंग्लैंड) तक विस्तारित कर चुके हैं । नगरका यह विशाल वैभव पता नहीं कब आक्रान्त हो उठे । जहाँ चीनी होती है, चींटीके चरण भी तो वहाँ पहुँचते हैं । समुद्रीय दस्युओंकी क्रूर दृष्टि यहाँ आकर ही टिकती

है । सुदृढ़ नगरकोट इसका संकेत करता है ।

कब पश्चात् मरुप्रदेशको पार करके वनके भीतरसे ऊँटोंकी पंक्ति कहीं सागरतटपर पहुँचेगी, कौन कह सकता है । कौन कह सकता है कि उसके आरोही कब नौकाओंपर बैठ करके पोतावास एवं नगरपर आक्रमण कर देंगे । उनसे भी भयंकर हैं वे दस्यु जो सीधे सागरसे आते हैं । दूर मरुप्रदेशमें पारसीकदेश (फारस) से पश्चिम कहीं निवास है उनका । समुद्रीय प्रवाल द्वीप (मूँगेकें टापू) उनके शिविर हैं । मध्यमें अगाध जल, चारों ओर उदधिकी उत्ताल तरङ्गें और वहाँ सघन लता, तृणोंसे आच्छादित नारिकेल, खजूरके वृक्षोंसे मस्तक उठाये एक दुरूह कुण्डलाकार भूभाग । ये प्रवाल द्वीप पोतोंके लिये अगम्य हैं । उनके समीपकी जलमग्न शिलाएँ मुखफाड़े अपरिचित यात्रीके भक्षणार्थ उद्यत रहती हैं । दुर्दम दस्यु अपनी लघु नौकाओंसे वहाँ केन्द्रित होकर सुरक्षित बनते हैं ।

स्तम्बतीर्थ (खम्भात) के मन्दिरोंमें शिखर नहीं । म्लेच्छ दस्युओंका आक्रमण प्रथम इन देवपीठोंपर ही होता है और········भावुकोंके हृदयको भग्न करनेमें पता नहीं क्या मिलता है उन पिशाचोंको । विवश होकर यहाँ मन्दिरोंको सामान्य गृहोंका रूप देनेकी परम्परा प्रचलित हुई । कलश, पताका, गरुड़स्तम्भ और द्वार-देशपर नन्दीको रखना छूट गया । दस्युओंके भयसे यह परम पावन कुमारिका क्षेत्र तपस्वियोंके लिये वर्जित हो गया ।

नगर-परिखासे रक्षित होनेके भावकी उपेक्षा करके, पोतावासके जनाकीर्ण राजपथसे दूर सागर एवं वनकी सीमा निश्चित करनेवाली यह कौन-सी कुटिया है । यहाँ यह गैरिक१ध्वजा और यज्ञ-धूम, भय नहीं है क्या वहाँ दस्युओंका ? महाश्मशानके समीप समाधियोंके उज्ज्वल इधर-उधर बिखरे छोटे-बड़े समूहसे तनिक हटकर कोई महाभैरवका आराधक दक्षिणाग्निकी उग्रज्वालामें आहुति देने तो नहीं बैठा है ? वीराचारी कापालिकके लिये उपयुक्त है यह साहस ! उसका सिद्ध शव जब अपनी आँखोंसे अंगार उगलता, अपने करकंकालोंसे बढ़ाकर दुर्गन्धिसे वायुको भर देगा, दुर्दम दस्युदल केवल मिट्टीकी मूर्तियोंकी भाँति पंक्तिबद्ध खड़ा होगा बलि-पशु बनकर । हिलनेकी शक्तितक वह बैताल उससे छीन लेगा ।

तुलसीके ये हरे-भरे सुपूजित पौधे, यह कुन्द, कुरबक एवं मल्लिका । यज्ञधूमकी यह उन्मद सुरभि और यह गोबरसे लिपी पवित्र भूमि । वीराचारी तो सात्त्विक उपासक नहीं होता ? गैरिक ध्वजासे तो उसे कोई सम्बन्ध नहीं । यदि यह उसकी पुष्पवाटिका ही हो तो जपा एवं अपराजिताके पुष्प कहाँ हैं ? धूम्र तो नहीं सूचित करता कि भगवान् अग्निदेवको कारणद्रव्य (सुरा) की दूषित आहुति मिली है । कौन जाने, वह तब भी साहस नहीं कर रहा था आश्रममें प्रवेश करनेका । कहीं 'अन्त: शाक्ता बहि: शैवा:' की बात हुई तो लेनेके देने पड़ जायँगे । बिना बुलाये यमराज आ धरे हैं । इच्छाकी प्रबलता भयके द्वारा मध्यमें अटक गयी । वहीं खड़े होकर वह ध्यानसे देखने लगा ।

'उम्मा !' एक उजला बछड़ा पूँछ उठाये कूद रहा था । उसे चिन्ता नहीं थी कि मस्तकके कुंकुमतिलकसे वह सुन्दर हुआ है या नहीं । गलेमें सुमनोंकी मोटी माला उसे अस्वाभाविक लग रही थी । 'यह क्या उलझन !' वह बार-बार मस्तक हिलाकर फेंक देना चाहता था उसे । श्रृङ्गारकी भावनासे दूर था वह ।

'हम्मा !' बच्चेके शब्दका उससे उच्च स्वरसे उत्तर दिया भीतरसे । वह आश्रमकी हरी सुमन-शोभित वीरुध परिखासे बाहर आ गया था । माताने उसे न देखकर पुकारा था ।

'धर्म !' एक वृद्ध पुरुष द्वारपर पहुँचे । करोंमें

स्वच्छ पात्र था और अब भी उसमें कुछ पुष्प-पंखुड़ियाँ पड़ी थीं तथा प्रदीप जल रहा था। पञ्चपात्र एवं आचमनी सूचित कर रहे थे कि वे गोपूजन करके इधर मुड़ पड़े हैं। 'तुम्हारी माता नन्दिनी आकुल हो रही हैं। आओ भाई !' चञ्चल बछड़ा अभी अपरिचितको सूँघकर उछलने लगा था। सम्भवतः जान लेना चाहता था कि यह कौन है ? उस चपलने आह्वानका आदर किया और उनको सूँघता परिखाके भीतर उछल गया।

'आओ भाई ! इस अकिञ्चनका आतिथ्य स्वीकार कर लो !' केश एवं श्मश्रुका श्वेतवर्ण स्नेहभरे स्वरोंमें सात्त्विक बनकर प्रत्यक्ष हो गया। उज्ज्वल वस्त्रोंमें वह तेजोमूर्ति अपनी भव्यतामें स्वयं प्रतिष्ठित थी। स्नेह एवं सौम्यता उससे प्रत्यक्ष हो रही थी। भयके भावोंको कहीं स्थान ही नहीं था। युवकने आगे बढ़कर प्रणाम किया।

'आर्य ! दस्युओंके उपद्रव अभी शान्त नहीं हुए हैं।' युवकने आसनको बड़े संकोचसे स्वीकार किया। अर्घ्यको रोकनेका प्रयास भी असफल हुआ और पाद्य उठ चुका था वृद्धके करोंमें। वह चाहता था कि किसी प्रकार उनके ध्यानको दूसरी ओर लगाया जाय। आज नगर परिखासे बाहरी प्रदेशमें यह पुण्यपताका एवं उससे भी उच्च यज्ञकी धूम्र पताका....।' कैसे कहे वह कि दस्युओंको आकर्षित करनेके कारण ये वाञ्छनीय नहीं हैं। एक आस्तिक अपनेसे महत्तमके सम्मुख कैसे इन शब्दोंका उच्चारण करे।

'बड़े छली हैं आप !' वृद्ध हँसे। 'भयभीत करके एक निर्बल वृद्धकी परीक्षा ले रहे हैं। कौन जाने—कौन-सी करुणाधारा इसमें छिपी है। इस दीनको अपनी अल्प अर्चा श्रीचरणोंमें अर्पित कर लेने दीजिये मेरे प्रभु ! मैं जानता हूँ कि चक्रधरकी भुजाएँ प्रमाद नहीं करतीं और उनके चक्रकी प्रचण्ड ज्वाला महाकालके लिये भी असह्य है।' जो अतिथिको आराध्यका स्वरूप ही समझता हो, उसका ध्यान पूजनसे अन्यत्र कर देना सहज नहीं होता।

'मैं बालक हूँ !' संकोचसे युवकने पैर समेट लिये। वृद्धने पात्रमें स्वच्छ जल लाकर सम्मुख रख दिया था और पाद-प्रक्षालन करना चाहते थे।

'बालक और वृद्ध—क्या नहीं हैं आप !' वृद्ध हँसे। 'मैं संकोचमें डालना नहीं चाहूँगा।' उन्होंने हाथ हटा लिया और युवकने स्वयं पैर धो लिये अपने।

'यदि दस्यु आये....।'

'द्वारिका दूर नहीं है और गरुड़के पक्षोंका वेग मनसे तीव्र ही है !' युवकका प्रश्न पूर्ण होनेसे पहले ही उत्तर दे दिया गया।

'स्तम्बतीर्थसे कच्छ—इस दृष्टिसे वह निकट तो है, किंतु अब द्वापर तो नहीं है देव !'

'द्वापर तो एक काल था,-आया और चला गया।' वृद्धके नेत्र अर्धोन्मीलित हो गये। 'द्वारिकेश कालकी सीमामें आबद्ध नहीं हुआ करते। वे और उनकी द्वारिका नित्य हैं।'

(२)

'दस्युओंकी नौकाएँ पारसीक तटसे प्रवाल द्वीप-पुञ्जके जपा-द्वीपकी ओर आ रही हैं !' निरीक्षक पोतने तटपर अवरोहणिका (सीढ़ी) व्यवस्थित की और उसमेंसे एक तरुण शीघ्रतापूर्वक आवास-संरक्षकके कक्षमें प्रविष्ट हुआ। 'वे नीलवर्णा तरणियाँ और उनके आरोहियोंने भी उसी प्रकारके वस्त्र धारण कर रक्खे हैं। उनके पोत भी उदधिकी उत्तुङ्ग लहरोंमें वर्णकी एकताके कारण लक्षित नहीं होते। एक शस्त्रकी चमक हुई। प्रथम तो भ्रम हुआ कि कोई मत्स्य उछला होगा; किंतु स्थिरताने संदेह किया। अपनी रक्षिका तरणिसे निकटतक जाकर निरीक्षण किया है हमने,

नौकाओंकी एक सुदीर्घ पंक्ति द्वीपपर पहुँच रही है।' आसनपर बैठनेका ध्यान नहीं आया। उसे कार्यकी गम्भीरताने किसीको शिष्टाचारका अवकाश नहीं दिया।

'आज पाँच वर्षके पश्चात् ये मरुदेशीय म्लेच्छ दस्यु पुनः आक्रमणका साहस कर रहे हैं।' संरक्षक गम्भीर हो गये थे। श्वेत भूर्जपत्रोंका एक स्तर उन्होंने सम्मुख कर लिया था और उनकी लेखनी मसिपात्रकी मसिसे तीव्रतापूर्वक काली रेखाएँ बनानेमें व्यस्त थी। एक क्षणके लिये उन्होंने मस्तक उठाया और चिन्ताजन्य स्वेद-कण भालसे बायें हाथसे पोंछ लिया गया। 'गुर्जरेश सिद्धराज जयसिंह और सौराष्ट्राधिप 'रा' खेंगारका प्रचण्ड प्रताप अस्त हो गया। 'रा' माँडलीककी उच्छृङ्खलताने योगमायासदृश चारणीसे शाप कराया। उन्हें सौराष्ट्र एवं स्तम्भतीर्थ दोनोंके लिये भय है।'

'अपने ध्वंसक पोतोंपर शतघ्नियाँ सज्जित हो जायँगी और तटपर भी वे महाकाली अग्निवर्षा करेंगी।' सम्मुख खड़े तरुणने तेजस्विता प्रदर्शित की। 'एक-एक तरुण मातृभूमिकी रक्षा करेगा।'

'मातृभूमिकी रक्षा तो करेंगे वे भगवान् सोमनाथ अथवा गुरुदत्त।' लेखनी छोड़कर अञ्जलि बाँध ली गयी और मस्तक झुक गया। 'समाचार मिला है कि दस्युओंने गुरुण्ड देश (यूरोप) से अधिक परिष्कृत भुशुण्डियाँ प्राप्त कर ली हैं। उनकी शतघ्नियाँ भी दूर-तक अग्निवर्षा कर सकती हैं। जो भी हो, हम सामना करेंगे। तुम अपना 'महाकाल' सज्जित करो और 'भूतेश' एवं 'वरुण' को आज्ञा दो कि वे प्रवाल द्वीप-पुञ्जोंपर निकटसे सतर्क दृष्टि रक्खें।' संरक्षकने तीन युद्ध पोतोंके लिये एक साथ निर्देश पत्र लिख लिया था। आज्ञापत्रपर समीपके पात्रसे रेणुका फैलाकर मसिशोषण सम्पन्न किया गया और तब वह पत्र तरुणकी ओर बढ़ाया गया।

'जय सोमनाथ!' तरुणने दोनों भुजाएँ पूर्णतः आगे करके अञ्जलिपर पत्र लिया। मस्तक झुककर आज्ञापत्रको अभिवादन दिया।

'भवानी तुम्हें यश दें।' संरक्षकने ... अभिवादनके उत्तरमें दक्षिण हस्त उठाकर आशी... दिया। वे आसनपर सीधे हो गये थे।

'धूँ-धूँ, धम्-धम्!' पोतावासके उच्च ... शिखरसे शङ्खनाद हुआ और एक साथ शृंग ... लगे। विशाल भेरी अपनी ध्वनिसे दिशाओंको ... करने लगी। सम्पूर्ण पोतावास कोलाहलपूर्ण ... गया। प्रत्येक कर्मचारी व्यस्त हो गया। ... रक्तिम ध्वज वरुणमन्दिरके शिखरपर चढ़ चुका ... और तटकी शतघ्नियोंने अनन्त नील-सिन्धुकी ओर ... मुख सीधे कर लिये थे। उनके समीप लौह-शलाका ... अग्निचूर्ण (बारूद), लौहगोलक, स्फोट अस्त्र ... हो रहे थे और उनके चालकोंने उनके अङ्ग-प्रत्यङ्ग ... इस प्रकार निरीक्षण प्रारम्भ कर दिया था, ... चिकित्सक किसी रोगीके शरीरका निरीक्षण करे।

संरक्षकने अश्वारोहण किया एवं स्वयं ... पोतावासका निरीक्षण। युद्धपोत अपनेको ... कर रहे थे और संरक्षकका प्रकाण्ड पोत 'महाकाल' ... उनकी प्रतीक्षा कर रहा था तटपर अवरोहिणी ... आरोपित करके। पोतारोहण करते समय संरक्षकने ... सुन लिया नगरसे आता भेरी-निनाद। उन्होंने ... की मुद्रा व्यक्त की। सन्देश भेजनेमें प्रमाद नहीं ... था। नगरद्वार बंद हो जायँगे और परिखाके ... शूरोंकी भुशुण्डियाँ अग्निवृष्टि करेंगी। दस्युदल ... जितना प्रचण्ड हो, अकस्मात् आक्रमण करके ... हानि पहुँचानेका भय नहीं रहा। सावधान रणपोतों... तीव्रगामिनी दस्युतरणियाँ केवल पलायन कर सकती ... और नगरकोटकी सुदृढ़ परिखापर म्लेच्छवाहिनी ... पटके तो छिन्न ही होना होगा उसे।

'आचार्य पद्माकर' सहसा संरक्षकको कुछ स्मरण हुआ। अवरोहणिकाके मध्यसे ही वे उतर गये। 'वृद्ध तपस्वी! भारतीय जंगली दस्युओंने तो श्रद्धासे मस्तक ही झुकाया है उन्हें; किंतु ये म्लेच्छ दस्यु—भगवा ध्वज देखते ही उबल पड़ेंगे और उनका आक्रमण तब अत्यन्त उन्मादपूर्ण होगा, जब नगरदुर्गकी अग्निवर्षासे निराश हटेंगे वे।' एक अश्वारोही शीघ्र आज्ञा पाकर चल पड़ा।

'आचार्य मेरे कक्षमें निवास प्राप्त करेंगे!' संरक्षकने सहकारीको आदेश दिया। 'उनकी प्रत्येक सुविधा युद्धकालमें भी सर्वोपरि रहेगी!' अवसर मिलते ही वे आचार्यके पावन पदोंमें प्रणत होने उपस्थित हुआ करते हैं। अवसर विषम न होता तो स्वयं स्वागत करते। उन्हें दस्युओंको वारिधिके विशाल वक्षपर रोकना है। एक-एक क्षण भयको सन्निकट ला रहा है। प्रवाल द्वीपपर पीनेयोग्य जलका अभाव है। क्षार समुद्रीय जल वहाँ किसीको विश्राम नहीं देता। दस्यु वहाँ एकत्र होंगे और शीघ्र ही आक्रमणके लिये प्रस्थान भी कर देंगे। वहाँ तो उनका केवल एकत्र होनेका केन्द्र है।

'आचार्यने आश्रम परित्याग अस्वीकार कर दिया!' संरक्षकका पोत स्थिर हो गया था। पोतावाससे एक शीघ्रगति नौकाने अपना स्थिराधार (लंगर) पोततलके छिद्रपर फेंका। रज्जु-रोहणिकासे एक युवक 'महाकाल' के मुख्य कक्षमें पहुँचा और मस्तक झुकाया उसने। 'उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि उनके श्रीविग्रह अचल प्रतिष्ठित हुए हैं, अतः वे कहीं जा नहीं सकते। प्रभुके श्रीचरणोंसे दूर तुच्छ शरीरके लिये—नश्वर जीवनके लिये जाना स्वीकार नहीं। सर्वेश्वरकी इच्छाके विरुद्ध कुछ हो नहीं सकता। क्षुद्र एवं तुच्छके द्वारा उन अखिलेशकी इच्छा पूर्ण हो!' सन्देशवाहक अपनी विकलतापर दुखी था।

'वर्तमान आवासरक्षकने वहाँ सैन्य भेजी?' संरक्षकने दूसरा प्रश्न किया।

'वे विवश हैं। एक ब्राह्मणकी इच्छाका अनादर करनेका साहस कौन करेगा?' युवकने अपने उत्तरसे उनको पूरी चिन्तामें डाल दिया। 'आचार्यने मुझे भली प्रकार सावधान कर दिया था कि अपने आश्रमको सैनिकोंसे घिरा देखना वे नहीं चाहते। उनका कहना है, यहाँ मेरा क्या है। जिसका आश्रम है, जिसका शरीर है, जिसके लिये जीवन है, उसकी इच्छा अबाध पूर्ण हो। रक्षा एवं रोकना जहाँ गृहस्थके लिये अनिवार्य धर्म हैं, एक त्यागीके लिये वे उपेक्षाके योग्य हैं। उसका विश्वमें कोई शत्रु नहीं और यदि कोई उनके नश्वर शरीरको नष्ट करके प्रसन्न होता हो, तो प्रसन्न हो।' सन्देशवाहकके स्वरमें वह तत्परता कहाँ, वह तो रो रहा था।

'वे देवकल्प महापुरुष!' संरक्षकने नेत्रोंसे वस्त्र लगाया। 'उन्हें न तो कहीं आसक्ति है और न मोह! अपने आराध्यमें नित्य तन्मय रहते हैं। प्राणीमात्रका कल्याण, सबका सुख और जो समीप पहुँचे, उसीकी शान्ति अभीष्ट हो जाती है उन्हें। उनका सुख, उनकी सुविधा तो जैसे कुछ है ही नहीं। उन असंगको जीवनका क्या मोह! किंतु ये पिशाच…!' चिन्तासे मुख नीचे झुक गया। भालपर रेखाएँ पड़ीं और नेत्र पैरोंके पास जैसे कुछ अन्वेषण कर रहे हों।

'दस्युओंने दक्षिण दिशाको नौकाएँ छोड़ दीं!' सहसा एक तरुणने प्रवेश किया। 'सम्भवतः वे कहीं तटपर दूर उतरेंगे!' निरीक्षक पोतने पताकाद्वारा संकेत दिया था और सूचनाकक्षसे वही सन्देश लेकर वह तरुण आया था।

'वे पूर्वको मुड़ रहे हैं!' दूसरा सन्देशवाहक पहुँचा।

'उन्होंने पोतावासपर नीचेकी ओरसे आक्रमण

करनेका निश्चय किया जान पड़ता है।' संरक्षकने कुछ सोचा। 'हो सकता है, उनका कोई दल ऊपरसे आक्रमण करनेको रक्षित हो और वे हमें भ्रममें डाल रहे हों!' शत्रुके व्यूहका स्पष्टीकरण नहीं हुआ था।

'नौकाओंका एक दल नीचे जा रहा है और एक स्थिरप्राय है!' एक और सन्देश आया।

'भूतेश' एवं 'वरुण' पीछे लौटें! उन्मुक्त समुद्रके स्थानपर हम अपने आखात (खाड़ी) में ही शत्रुका सामना करेंगे। 'महाकाल' दक्षिण भुजापर अवस्थित होगा आखातके।' शत्रु कोई भी व्यूह बनावे, संरक्षक-ने अर्धचन्द्र व्यूहसे अर्धचन्द्र देना निश्चित कर लिया।

× × ×

(३)

'काफ़िर, हमने इतने दिनों इधर क़याम नहीं किया तो इनके बुतखाने खड़े हो गये!' वह दैत्याकार दस्यु गैरिक ध्वजको घूर रहा था। 'ये कमबख्त आतिश परस्त। इन्हें जहन्नुम रशीद करके सबाब लिये बिना एक कदम नहीं बढ़ाना है।' यज्ञीय धूम देख लिया था उसने। इन दस्युओंकी दृष्टि गृध्रके समान तीव्र होती है। नीली मखमलपर जरीके तारोंसे कुछ फूल-पत्ते बने थे और उसे उसने अपने नीले चोगेके ऊपर पहन रक्खा था। लंबा भाला नीचे पड़ा था और उसकी भुशुण्डिका सिरा मस्तकके नीलाच्छादनका स्पर्श कर रहा था।

'सरदार, अभी काफी दूर हैं हम और काफ़िरोंका दरियाई काफिला तैयार दीखता है।' दूसरा भी आकृति-में वैसा ही दैत्य था; किंतु उसके नीले मखमली आवरण एवं शिरस्त्राणपर स्वर्णिम तारोंकी कलाकृति बहुत थोड़ी थी। 'जान पड़ता है, उनको हमारे हमले-का सुराग लग चुका है।' सरदारके साथ वह भी समुद्रकी ओर ही देख रहा था।

'माहताबकी रोशनीमें कयामकी गफलत तो हो चुकी।' बात ठीक थी। यदि वे सब पूर्णिमाके पारसीक तटसे प्रवालद्वीपको अमावस्याके अ... आये होते तो स्तम्बतीर्थके चर किसी प्रकार ... पता नहीं पाते। 'जो कुछ हो, निशार आगे रखकर पीछे नहीं लौटेगा।' उसने दाँतोंसे ... दबाया और दाहिने हाथकी मुट्ठी सुदृढ़ करके आ... उछाली।

'हमराहियोंकी तादाद काफी होनेपर भी ... पनाहको तोड़ लेना मुमकिन नहीं।' दूसरेने ... शङ्का प्रकट की। 'अब उनके दरवाजोंको खुला ... की उम्मीद फ़िजूल है और अपनी किश्तियाँ ... दरियाई काफ़िलेके मुकाबिलेके वास्ते नामुकम्मिल ... हमारे काफ़िलेमें एक भी जंगी किश्ती नहीं।' ... उसके नेत्रोंमें प्रत्यक्ष होने लगी थी और अगर ... उसकी ओर देखता तो समझ लेता कि दस्यु ... भी मृत्युका भय उसे भीत कर रहा है।

'मेरा इरादा मजबूत है। दिनकी रोशनीमें ... इसी वास्ते हमला मंसूख नहीं किया कि आ... खुली रोशनी हमें मौका दे। दुश्मनका भारी का... जंगी किश्तियाँ जरूर हमें काफी नुकसान पहुँचा... मगर वे इकट्ठा नहीं हो सकतीं और उनको ... मोड़ना मुमकिन नहीं। हमारी किश्तियाँ उनके ... आगे निकल जायँगी।' उसने पैर पटका और ... चञ्चल होने लगी।

'मुर्गेकी तरह खुद दरबेमें बंद होनेसे फायदा?'

'फायदा—फायदा अगर यहाँ न भी हुआ ... कयामतके वक्त बहिश्तमें हो जायगा।' दस्यु ... आकृतिके समान हृदयसे भी दैत्य था। '... काफ़िर यहाँ बुतपरस्ती नहीं कर सका था। आज ... उसका मैला निशान उड़ने लगा है। निशार उसे ... भेज देगा। वह देखो, वह निशान शहरपनाह... बाहर है। तकदीरने साथ दिया तो हम उसे ...

मिलाकर लौट आवेंगे। बुतशिकन सरदार शहीद होनेसे डरता नहीं।' कहते-कहते सहसा उसने पीछे देखा। उसके साथी चिल्ला रहे थे भयसे।

'या अल्लाह!' दस्युओंका वायुज्ञान व्यर्थ हो गया था। अबतक ऐसा कभी हुआ नहीं। समुद्रीय तूफ़ानोंका अनुमान वे एक सप्ताह पूर्व कर लिया करते हैं। आज एक घड़ी पूर्वतक आकाश निर्मल था और वायुमें कोई भयङ्कर गन्ध नहीं थी। यह अकस्मात् वायुवेग क्यों बढ़ने लगा। वे खुले समुद्रमें हैं। आखातमें प्रवेश करनेमें अब भी कुछ देर है। प्रतिपक्षी जलयान आखातमें सुरक्षित अग्निवर्षाको उद्यत ही थे कि यह दूसरी विपत्ति। लहरें उच्चसे उच्चतर होती जा रही हैं। बैठ जानेको विवश हो गया वह। नौका अस्त-व्यस्त उछलने लगी थी।

'वह दूर, ऊपर काला पहाड़ उड़ा आ रहा है।' भयसे देखा उसने। सुदूर उत्तर क्षितिजपर सामान्य नेत्र एक विन्दु देख सकते थे। दस्युने दूरीसे आकृतिका ठीक अनुमान किया था। 'उतारो पालको।' आदेश व्यर्थ था। कोई उठनेमें भी समर्थ नहीं था। क्षुब्ध मकरालय उन क्षुद्र नौका-कीटोंको अपने फैलाये हुए भयङ्कर मुखविवरसे निगलता जा रहा था और सरदार-की नौका उसका अन्तिम ग्रास थी। किसी नौकाका चिह्नतक नहीं बचा।

× × × ×

(४)

'भामे! भोजन अब और कहीं होगा। प्रस्थानको प्रस्तुत हो।' अपनी दिव्य द्वारिकामें वह द्वारिकेश मानस मृदुल स्वर्णासनपर आसीन हो चुका था और देवी सत्यभामाने रत्नजटित स्वर्णपात्रमें अपना अनुराग व्यञ्जनोंकी विविधताका रूप देकर निवेदित कर दिया था। मानवके स्थूल नेत्र उस दिव्य-जगत्के दर्शनमें असमर्थ हैं। 'अब तो स्तम्भतीर्थमें साथ-साथ आतिथ्य स्वीकार होगा।' आचमनको उत्थित जल विसर्जित हो गया और सत्यभामाजीने देखा, प्राङ्गणमें गरुड़जी पक्ष समेटकर उतर आये हैं।

'षोडश सहस्र सुकुमारियोंके उद्धारकी दूसरी आवृत्ति तो नहीं होनी है?' रत्नदण्ड करोंमें तनिक अधिक चञ्चल हुआ। वालव्यजनने वायुमें तनिक बल दिया। मणिकंकणकी झनकारमें मयूरपिच्छने एक उन्मुक्त हिलोर ली। श्रीहरिका मुख तो गम्भीर है। अधरोंका हास्य वहीं कुण्ठित हो गया। 'वहाँसे कोई उत्पीड़ित आर्त आह्वान तो नहीं उठ रहा है? उस क्षेत्रमें तपस्वी तो जाते नहीं हैं।' ममतामयी चञ्चल हो उठीं।

'भामे! वहाँका वह विलक्षण उत्पीड़ित अन्तरमें भी आह न करेगा।' उन सर्वेशके सम्मुख देश और कालकी यवनिका कहाँ रहती है। 'वह उत्सर्गकी मूर्ति मुझमें अपनेको अर्पित करके श्रद्धासे स्थिर हो गया है। शरीर और श्वासके मोहसे परे उसकी श्रद्धा अविचल है।' दयासिन्धु जैसे ध्यानस्थ हो रहे हों।

'मेरे पारिजात पुष्प आज सार्थक हो जायँगे। पुष्पाञ्जलि दूँगी मैं उनके पावन पदोंमें।' अखिलेशकी अर्धाङ्गिनीका हृदय उल्लसित हो रहा था। 'उपहासका भी एक प्रकार होता है। व्यर्थ ही मुझे भीत कर दिया—बड़े वैसे हैं आप।' एक स्निग्ध अपांगवीक्षण एवं मन्द स्मित।

'उन्मद दस्यु-नौकादल एकमात्र उसे लक्ष्य बनाकर बढ़ रहा है।' मधुसूदनका मेघगम्भीर स्वर जैसे अपने आपमें ही उच्चरित हो रहा हो। 'प्रतिकारकी भावना भी वहाँ नहीं है और मेरे आह्वानकी बात—वह भी तुच्छ शरीरके लिये। सोच ही नहीं सकता वह।'

'इसीलिये आप शान्त बैठे रहेंगे।' उन ओजमयीके लिये यह विलम्ब सह्य नहीं था। 'सर्पाशी गरुड़! तुम्हारे तुण्ड एवं पंजोंमें शक्ति है। तुम्हारे पक्ष पर्वतोंको भी चूर्णित करनेमें समर्थ हैं। प्रस्थान करो। मैं दो क्षणमें सुनना चाहती हूँ कि दस्युदल उदधिके अन्तरालमें निमग्न हो चुका।' उठकर आदेश दिया सत्यभामाने और पक्षिराजने पक्ष सम्हाले।

'गरुड़ एकाकी नहीं जायँगे ।' सहसा वे वैनतेय दोनों आज्ञाओंके सङ्कोचमें पड़ गये । 'देवि ! तुम्हारे पारिजातपुष्पोंको भी सार्थक होना चाहिये और आदेश-की रक्षा भी । पक्षिराजके पक्ष आततायीको उदधि-समाधि देंगे और हम आतिथ्य ग्रहण करेंगे उस अतिथि भक्तका ।'

'पधारो देव !' बिना विलम्ब वे पक्षिपतिके समीप पहुँच गयीं ।

'इस नभयात्रामें आप विदर्भकुमारीको भाग न देंगी ?'

'केवल एक क्षण ।' आज राजपट्टमहिषी बिना वाहनके दौड़ गयी थीं और सचमुच कुछ पलोंमें ही वे महारानी रुक्मिणीजीके करोंमें कर डाले उपस्थित थीं । एक हल्की थपकी मिली पक्षिराजको और दोनों पार्श्वोंमें स्थिर विद्युत्से घिरे नवजलधरने उनके पृष्ठ-देशको भूषित किया । दो क्षण पश्चात् कोमल पादपल्लवने उदर देशका स्पर्श किया । आराध्यका संकेत म… अरुणानुजको क्या कठिनाई होने लगी । पक्षोंने … हिलना प्रारम्भ किया । नीचे महोदधि अपनी महोर्मि… आर्तक्रन्दन करने लगा ! उत्तुङ्ग तरङ्गें उठने लगीं !

पक्ष सम्पुटित हो गये । उपवनका एक प… हिला नहीं । आश्रमके कदलीतरुके विशद प… भी कोई सूचना नहीं दी । केवल नन्दिनीने ऊपर … करके दो बार 'हम्मा, हम्मा' किया । पुष्पोंकी अ… भगवान् भास्करके लिये उत्सर्ग होने जा रही … आचार्य चौंके । स्वयं वे गगनविहारी नारायण तो … त्रिविध रूपोंमें सम्मुख नहीं आ गये । पक्षिराजकी … कूदकर तीन मूर्तियाँ खड़ी थीं । आचार्यकी अञ्जलि… पुष्प उनके पदोंपर गिरे और वे उन्हींपर मस्तक र… पृथ्वीमें दण्डवत् प्रणिपात करने लगे । दो अञ्जलि पारिजात पुष्प उनके पदोंपर प्रक्षेप कर दिये, यह न… देख सके वे ।

सन्तोषकी साधना

(लेखक—साधुवेषमें एक पथिक)

सन्तोष ही परम सुख है—यह मन्त्र भूल जाने-पर ही मनुष्य दुःखके शासनसे पीड़ित है । आज जो कुछ तुम्हें प्राप्त है, जो कुछ तुम्हारे सामने है, वह तभी फीका प्रतीत होता है, जब उतनेसे सन्तोष नहीं होता और तब उससे अधिककी प्राप्तिके लिये तुम्हें प्रयत्न करना पड़ता है; क्योंकि असन्तोषके कारण वर्तमानमें मिली हुई वस्तु फीकी और भविष्यकी वस्तु मधुर और सुन्दर दीख पड़ती है । संसारकी प्रत्येक वस्तु दूरसे देखनेमें जितनी पवित्र, सुन्दर और मधुर लगती है, उतनी निकटसे ग्रहण करनेमें नहीं रह जाती । सुन्दर वस्तुका उपभोग करते ही उसकी सुन्दरता नष्ट होने लगती है । जो कुछ भी जितनी मात्रामें तुम्हारे पास है, जबतक उतनेसे ही तुम्हें सन्तोष न होगा, तबतक तुम चाहे जि… अधिक-से-अधिक और अच्छा-से-अच्छा प्राप्त करते … तुष्टि तथा तृप्ति नहीं हो सकती । मनके साथ … हुआ यह तृष्णारूपी भयानक भस्मक रोग है, जि… पूर्ति जितनी ही अधिकतासे करो उतनी ही उ… बुभुक्षा बढ़ती ही जाती है । यह रोग अज्ञान… ही सीमामें बढ़ता और पोषित होता है । यथार्थ ज्ञा… साम्राज्यमें दूरदर्शिताके द्वारा यह रोग पहचाना … सकता है और सन्तोषरूपी महौषधिसे ही इ… निवृत्ति होती है । जबतक तुम इस तृष्णारूपी … ग्रस्त हो, तबतक तुम अच्छी-से-अच्छी, अधिक-से-अ… मात्रामें प्राप्त सुन्दर वस्तुओंको अपने उपयोगमें … व्यर्थ ही करते रहोगे । यह तृष्णारूपी रोग …

अज्ञान और अदूरदर्शिताके कारण ही पीछे पड़ा है। जिस शक्तिके द्वारा तुम अज्ञान-भूमिमें अदूरदर्शी बनकर विचर रहे हो, उसी शक्तिसे तुम सद्ज्ञानके साम्राज्यमें प्रवेश कर दूरदर्शितासे इस भयानक रोगको देखो और सन्तोषके द्वारा इसे सदाके लिये मिटा दो।

जब तुम सन्तोषका सेवन करने लगोगे, तब तुम्हें उतनेसे ही तृप्ति और तुष्टि प्राप्त होगी, जितना तुम्हें सुलभतापूर्वक प्राप्त है। जो अज्ञानी और अदूरदर्शी हैं, वे ही धन और सांसारिक पदार्थोंमें सुख-शान्ति खोजते हैं और अधिक-से-अधिक प्राप्तकर लोभ, मोह, अभिमान और क्रोध आदि दुर्विकारोंसे अपने आपको प्रभावित पाते हैं। केवल सन्तोष धारण करनेवाले बुद्धिमान् पुरुष ही ऐसे हैं जो सांसारिक पदार्थोंके लोभी, मोही और अभिमानी मनुष्योंकी दुर्दशा अच्छी तरह देख पाते हैं; इसीलिये वे दरिद्र नहीं होते हैं। अधिक-से-अधिक संचय करनेमें अपनी शक्तिका दुरुपयोग नहीं करते हैं और न भारवाही बनकर पराधीनताका बोझा ढोते चलते हैं।

जो कुछ परवश है, उसके प्रति तुम्हें सन्तोष ही करना चाहिये; परंतु जो स्ववश है, उसकी प्राप्तिके लिये निरन्तर प्रयत्न करना चाहिये। स्ववश वस्तुकी प्राप्तिमें स्वाधीनता रहती है, जो तुम्हारे अधिकारमें है और तुमसे उत्पन्न हुआ है, वह स्ववश है। अपने आपसे अतिरिक्त जो कुछ भी है, वह परवश है। शरीरादि सांसारिक पदार्थों और सम्बन्धियोंमें न तो तुम्हारा अधिकार है और न वे तुमसे उत्पन्न हुए हैं, केवल माना हुआ अधिकार या सम्बन्ध है, इसलिये इनके संयोग-वियोगमें सन्तोष रखना तुम्हारी बुद्धिमत्ता है।

सन्तोषी ही योग-मार्गमें जाता है, असन्तोषी भोग-मार्गमें घूमता रहता है। सन्तोषी समस्त सांसारिक इच्छाओंकी निवृत्तिमें स्थायी शान्ति देखता है, असन्तोषी अनेक इच्छाओंकी पूर्तिमें सुख मानता है। उसके प्रत्येक सुखका अन्त दुःखमें ही होता रहता है। सन्तोषी शान्ति पाता है, असन्तोषी सुख-दुःखके बन्धनमें विवश रहता है। सच्चा सन्तोषी समुद्रकी तरह उदार होता है, असन्तोषी सदा दरिद्र बना रहता है। सन्तोषी पुरुष संतपदको प्राप्त होता है; जब उसके पास कुछ नहीं रह जाता, तब परम प्रभुको धन्यवाद देता है और जब उसके पास कुछ होता है तो उदारतापूर्वक अभावग्रस्त लोगोंकी सेवा करता है। सन्तोषी पुरुष आर्थिक आपत्ति आनेपर उसी तरह प्रसन्न होता है जिस तरह भोगासक्त लोभी सम्पत्ति पाकर फूला नहीं समाता है।

जब कभी तुम्हें बहुत अधिक दुःख दीख पड़े तब सन्तोष और धैर्य धारण करो, यह सोच लो कि ऐसा कोई भी दुःख नहीं है, जिससे अधिक दुःख न हो। जिसके अभावका ज्ञान होता है, वही उत्पत्ति और विनाशवाली वस्तु है, चिन्मात्रस्वरूप आत्माके अतिरिक्त अन्य सभी वस्तुका अभाव-ज्ञान होता है। इसलिये अपनेसे भिन्न सभी अभाव और विनाशकी वस्तु हैं। जो स्वात्मामें सन्तुष्ट है, वही योगानुभवमें सन्तोष और इच्छा-निवृत्तिका दर्शन करता है।

तुम नित्य एकरस आनन्दस्वरूप चित्-सत्ताको जानो, उसके अनन्त ऐश्वर्य और माधुर्यका सर्वत्र अनुभव करो। तुम्हें कहीं भी असन्तोष न होगा। यह भी ध्यान रक्खो कि परमार्थके पथमें चलते हुए धर्म-पालन, साधन और संयममें कभी सन्तोष न करो। आराध्य प्रभुके स्मरण-चिन्तन और ध्यानमें सन्तोष कर प्रपञ्चमें न उलझे रहो, अपितु सांसारिक लाभ और सुख-भोगमें सन्तोष करो, ऐसा करनेसे परमार्थ-पथमें—शान्ति-लाभमें सफल हो सकोगे।

सकाम उपासना

(लेखक—श्रीपरिपूर्णानन्दजी वर्मा)

'आस्तिकको कष्ट' और 'क्या करें' शीर्षक मेरे दो लेखोंने जैसे 'कल्याण'के सहृदय पाठकोंको उलझनमें डाल दिया हो—मेरे पास उनपर बड़ी रोचक तथा भावुक आलोचनाएँ आयीं और अभीतक आती जा रही हैं। एक भक्तने लिखा है—

'क्या करें'में आपने प्रश्न किया है कि 'आस्तिक क्या करे। पर उत्तर न देकर आप स्वयं प्रश्न कर बैठे और आपसे उत्तर ठीकसे न सूझ पड़ा।'

मैं स्वीकार करता हूँ कि उत्तर मुझे नहीं सूझ पड़ता। आस्तिक कष्टमें है—रहेगा। वास्तविक विद्वान् बड़े दुःखमें है—और रहेगा। यह सब क्यों? क्या परमात्माके घर न्याय नहीं है। क्या पूजा-पाठका परिणाम दुःख ही है? यही सब सवाल मैं भी अपनेसे करता हूँ। पर, इसीके सिलसिलेमें एक मिसाल याद आ गयी। अभी ताजी घटना है। प्रान्तके एक बड़े भारी अधिकारीने अपना संकट दूर करनेके लिये पूजा-पाठकी शरण ली। वे नास्तिकसे आस्तिक बन गये। घनघोर पूजा चलने लगी। व्रत, उपवास, हवन आदिके साथ अच्छे कर्म-काण्डी भी बुलाये गये और मैं जानता हूँ कि पैसेके लालच-से नहीं, केवल उनकी सहायताकी भावनासे, उनके कल्याण-के लिये ही, अच्छे लोग पूजा-पाठमें शरीक हो गये। पर, परिणाम एकदम उलटा हुआ। जो न होना चाहिये था, वही हुआ। पूजा-पाठ बेकार रहा। फल यह हुआ कि हवनकुण्ड-में पानी पड़ गया। पाठकी पोथी फेंक दी गयी। पण्डितलोग शायद भगा ही दिये गये। निर्णय हुआ कि 'यह सब पाखण्ड है। ईश्वर नहीं है।'

इस घटनाके समय मुझे एकाएक अपने गुरुका उपदेश याद आ गया। वे एक बार मुझसे कहने लगे—

'बेटा! एक बात ध्यानमें रखना। कभी सकाम उपासना मत करना। देवताको कष्ट देना अपराध है। सकाम उपासना-से अश्रद्धा पैदा होती है।'

किंतु, कुछ तो हमारे पथ-प्रदर्शकोंके दोषसे, कुछ हमारे नैतिक पतनके कारण आज सकाम उपासनाका रोग फैल गया है। हिंदू-धर्म शायद अपना सब कुछ भूलकर सकाम उपासना-में ही सिकुड़ गया है। जैसे आज हमारे लिये सब कुछ स्वार्थ-के ही लिये है, वैसे हमारा भगवान् भी हमको रोटी, कपड़ा, लड़का, सभी यानी संसारका सब वैभव देनेके लिये है। हम यह भूल जाते हैं कि यदि वह सर्वज्ञ है तो हमको जो चाहिये, वह जानता है। यदि वह दयामय है तो जो कुछ हमारे लिये कर सकेगा, जरूर करेगा। यदि वह ध्यान-व्रतसे प्रसन्न होता है, तो जरूर होगा और जो करता होगा, जरूर करेगा। हम उससे कहने क्यों जाते हैं। वह बहरा या अंधा नहीं है। बात यह है कि हमारा विश्वास ही नीच श्रेणीका है। [illegible] तथा विशाल नहीं है।

(२)

हम कैसे यह कल्पना कर लें कि किसी प्रकार [illegible] भी बेकार हो सकती है। वह पराशक्ति यह जानती है कि क्या चीज हमारे हितकी है और क्या नहीं। बच्चा अपनी [illegible] के पास बैठकर जलती हुई लकड़ी खेलनेके लिये मचल [illegible] है। मा नहीं देती बच्चेका कल्याण सोचकर। हम भ[illegible] जो माँग रहे हैं, वह हमारे कल्याणमें सहायक नहीं हो [illegible] आगे चलकर वही हमारे लिये घातक सिद्ध हो सकता है।

देशबन्धु डा० राजेन्द्रप्रसादजीने अपनी आत्म[illegible] लिखा है कि वे बी० ए० पास करके चुपचाप विलायत [illegible] चाहते थे—आई० सी० एस०की परीक्षामें बैठनेके लि[illegible] सब कुछ तैयारी चुपचाप कर ली। एक दिन एक बूढ़े ज्यो[illegible] के पास गये। उसने बिना उनका प्रश्न सुने ही कह दिया 'जो तुम चाहते हो, वह अभी नहीं होगा।' युवक [illegible] उस बूढ़ेकी मूर्खतापर हँस पड़े। जब सब तैयारी हो चुकी तो 'न होने'का क्या सवाल था। एकाएक उनके पिता[illegible] उनके विलायत जानेका समाचार मिला। राजेन्द्र बाबू तार [illegible] बुलाये गये। पिता-माता रोने लगे। जाना तो टल गया [illegible] राजेन्द्र बाबू बड़े दुखी हुए। पर कुछ ही महीने बाद [illegible] पिताका देहान्त उनके सामने हो गया। तब उन्होंने [illegible] धन्यवाद दिया कि वे विलायत न गये, अपने पिताका [illegible] दर्शन कर सके। और हम भी भगवान्को धन्यवाद [illegible] कि वे विलायत न गये। आई० सी० एस० पास [illegible] बाबू इस समय कहीं किसी जिलेके कलक्टर रहकर [illegible] हुए होते। पर देशको देशरत्न राजेन्द्र बाबूकी आव[illegible] थी। नियति तथा पराशक्ति इसी प्रकार हमसे काम ले[illegible] हम जो करना चाहते हैं, वह नहीं होता। वह जो [illegible] चाहती है या हमारा कर्म जो कराना चाहता है, वही हो[illegible] अतः बिना उस महाप्रभुकी इच्छाको समझे उसे कैसे [illegible] दिया जाय। व्रत, नियम, तप, पाठ—सबका फल [illegible] मिलता है। पर फलका निर्णय हमारे हाथमें न होकर म[illegible] के हाथमें होता है।

(३)

पर-तत्त्वसे, इच्छाशक्तिके योगसे आविर्भूत होने[illegible] तत्त्व पुरुष कहलाता है। वह शिवका अंशरूप है। [illegible] विद्या, राग, काल और नियति—इन पाँच कंचुकोंसे [illegible]

होनेके कारण ही पुरुषको राग, द्वेष, सुख, दुःख, अज्ञान आदि भावोंमें पड़े रहना पड़ता है। इसीलिये उसे मायारूपी मलसे ढँका हुआ कहते हैं। वह जो थोड़ा-बहुत काम करता है, वही कला-तत्त्व है। इसी प्रकार अल्पज्ञान, विषयोंमें प्रीति आदि उसके साथ लग जाते हैं। तब वह नियतिके चक्करमें पड़ जाता है। कृत्य-अकृत्यमें नियमपूर्वक जो शक्ति नियमन करती है, वही नियति कहलाती है। इस प्रकार बन्धनमय दुखी प्राणीको सुख-दुःखका आभास होता रहेगा। क्या असली सुख है, वह जानता ही नहीं। वह तो—

अविद्यायां तु यत्किञ्चित् प्रतिबिम्बं नगाधिपः।
तदेव जीवसंज्ञः स्यात् सर्वदुःखसमाश्रयः॥
(दे० भा० स्कं० ७। ३१)

जब जीव अपना असली सुख ही नहीं जानता, जब उसको यह पता ही नहीं है कि सुखका वास्तविक रूप क्या है तो जिसे वह सुख मानकर पीछे भाग रहा है उसका मिलना ही उसे ठीक जँचे; पर भगवान् उसकी सहायता करनेके लिये उसे खींचकर दूसरे मार्गपर ले जा रहा है—ऐसा क्यों न समझ लिया जाय!

इसी भावका उपार्जन करनेमें हमारा कल्याण होगा। हमको मायाका बन्धन काटकर शिवकी शरण लेनी होगी। शिव और शक्तिका एकीकरण करना होगा। तभी हम अपना मार्ग प्रशस्त कर सकेंगे।

सगुणा निर्गुणा चाहं समये शङ्करोत्तमा।
यदाहं कारणं शम्भो न कार्यं कदाचन॥
(दे० भा० ३। ६)

न शिवेन विना देवी न देव्या च विना शिवः।

इस भावको ग्रहण कर जब हम आगे बढ़ेंगे या जब हम अपने स्वार्थको 'समरस' करना सीख जायँगे तब हमें कष्टको 'तमाशा' समझनेका अवसर मिलेगा। जिस पशुशक्तिको ही हम सब कुछ मान बैठे हैं और जिसको त्यागनेका नाम भी नहीं लेते, उसका प्रपञ्च ही हमारी विपदाओंकी जड़ है। शाक्त लोग इसीके निवारणके लिये शुद्ध तत्त्वकी खोजकी सलाह देते हैं और शिवसूत्रमें इसीको 'शुद्धतत्त्वसंधानाद्वा पशुशक्तिः' लिखा है।

मुण्डकोपनिषद्में प्रश्न किया गया है कि वह कौन-सी वस्तु या तत्त्व है जिसको जाननेसे सब कुछ जाना जा सकता है। उत्तर होगा ब्रह्म, पर हम इस जगत्के प्राणी ब्रह्मके माया-रूपको ही जानते हैं। मायासे परेवाले उसके रूपको नहीं जानते। इसी मायाके विषयमें महाभारतमें कहा है—

माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद।
सर्वभूतगुणैर्युक्तं मां मैवं ज्ञातुमर्हसि॥

यानी 'ब्रह्मकी अनेकता मायासे ही मालूम होती है। वास्तवमें तो वह एकरस तथा सर्वथा शुद्ध है।' यदि हमको अपना कल्याण अभीष्ट है तो हमें जगत्के इस मायारूपी फंदेको पहचानना चाहिये तथा शक्तिके साथ शिवको मिलाकर तब अपना संकल्प निश्चित करना चाहिये। तभी हम यह जान सकेंगे कि जिसे हम अपना लाभ समझ रहे हैं, वही हमारी हानिका कारण, स्रोत तथा आधार है। नियति जो करती है, हमारे हितमें होता है।*

---

* इससे सिद्ध है जिन्होंने पूजापाठ करवाया था उनकी पूजापाठमें वास्तविक श्रद्धा नहीं थी। श्रद्धा होती तो अनुकूल फल न मिलनेपर 'यह सब पाखण्ड है। ईश्वर नहीं है।' ऐसा कहनेका अवसर ही नहीं आता। और जहाँ श्रद्धा नहीं वहाँ सिद्धि कैसे हो सकती है?

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्। असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह॥ (गीता १७। २८)

भगवान्ने कहा है कि बिना श्रद्धाके किया हुआ हवन, दान, तप या अन्य कोई भी कर्म सब असत् कहलाता है इससे इस लोक और परलोकमें कोई लाभ नहीं होता।'

यह सत्य है कि प्रतिबन्धकके अनुसार ही सकाम कर्म सफल होता है। प्रतिबन्धक प्रबल होता है तो विलम्ब होता है तथा अधिक कर्मकी आवश्यकता होती है। प्रतिबन्धक हल्का होता है तो थोड़े-से कर्मसे ही काम चल जाता है और फल प्रकट हो जाता है, परंतु यह होता है श्रद्धा-भक्ति और विधिपूर्वक कर्म सम्पन्न होनेपर ही। एक बार कर्म सफल नहीं होता तो इसका अर्थ श्रद्धालु कभी यह नहीं मानता कर्म व्यर्थ है। वह और भी श्रद्धासे कर्मका विस्तार करता है। तथापि यह सत्य है कि विश्वास और श्रद्धाकी कमीसे सकाम कर्म करनेमें सफलता न मिलनेपर और भी अश्रद्धा हो जाती है। सकाम कर्ममें भी बड़े विश्वास और श्रद्धाकी आवश्यकता होती है, जरा भी सन्देह आया कि गड़बड़ी हो जाती है। इसलिये सकाम भावसे कर्म करनेकी अपेक्षा निष्काम भावसे करना उत्तम है।

भगवान् सब कुछ जानते ही हैं। अपने-आप ही हमारा मनोरथ पूर्ण करेंगे। यह भी सकाम भाव ही है। भगवान् जो कुछ करते हैं, मङ्गल ही करते हैं। यह भाव बहुत उत्तम है। सर्वोत्तम भाव तो यह है कि जिसमें किसी भी लौकिक वस्तुकी कामना हो ही नहीं। शास्त्रीय कर्म सब यथायोग्य अवश्य किये जायँ पर सबका फल एक ही चाहा जाय—'भगवच्चरणोंमें अहैतुक प्रेम।'—सम्पादक

भारतीय संस्कृतिका महान् विचारक श्रीदाराशिकोह

(लेखक —श्रीसीतारामजी सहगल)

मुस्लिम शासनकालमें कई दार्शनिक साहित्यिक तथा समाज-सुधारक हुए हैं जिन्होंने जन-संस्कृतिको समझनेके लिये अनेक प्रशस्य प्रयास किये। यद्यपि उस कालमें सम्प्रदायोंका जोर था और धर्मके नामपर हलाहल विष भी पैदा किया जाता था तथापि जैसे शङ्करसदृश देवता प्रकट हुए, हलाहल विष पी लिया और संसारको शाश्वत शान्ति प्रदान की। वैसे ही मुस्लिम राजपरिवारमें एक ऐसे व्यक्तिने जन्म लिया, जिसने हिंदू-मुस्लिम-समस्याका गम्भीर अध्ययन किया और दोनों नदियोंको एक महानदीमें परिवर्तित करनेके लिये विराट् यत्न किया। इतिहासके आँचलमें छिपे हुए ऐसे बादशाह शाहजहाँके सुपुत्र श्रीदाराशिकोह थे।

राजकुमार शिकोहने हिंदुस्तानमें साम्प्रदायिकताको जड़से उखाड़नेके लिये एक महत्त्वपूर्ण योजना सोची; यह थी संस्कृतिके आधारपर साम्प्रदायिक एकता। उसने गम्भीरतासे सोचनेके बाद भारतीय साहित्यका अध्ययन किया। वह उसे पढ़कर इतना मुग्ध हुआ कि उसने सर्वप्रथम ज्ञानकी स्रोत उपनिषदोंका फारसी भाषामें अनुवाद किया। उसने भारतीय हृदयको समझनेका सच्चा प्रयास किया और उसे कुसुमसे भी कोमल पाया। इसने स्वयं संस्कृत भाषाकी गवेषणा की। उसपर जादू-सा प्रभाव हुआ। उसने उपनिषदोंके अनुवादके अतिरिक्त भगवद्गीता, योगवासिष्ठ तथा प्रबोध-चन्द्रोदय—इन तीन ग्रन्थ-रत्नोंका भी अनुवाद किया।

भारतीय अद्वैतमतकी तरफ भी उसकी विशेष रुचि बढ़ी। मियाँ मीरसे उसने सूफी मतके सिद्धान्तोंको भी सीखा। वह अपने समयके हिंदू-मुस्लिम विचारकोंसे प्रायः मिलता रहता और साम्प्रदायिक शान्तिके लिये उसने एक धर्मकी योजना सोची।

दाराशिकोह एक गम्भीर विद्वान् था। जैसा उसका हृदय-पटल शुद्ध था वैसा उसका मस्तिष्क भी स्वच्छ था। वह दूसरोंके विचारोंको अपने अनुभवसे परखकर अपनाता था। वह एकताका उदार दूत था। कुरानके कई स्थलोंपर उसके मार्मिक सुझाव कुरानके विशेषज्ञोंको भी सन्देहसे उभार देते थे। वे राजकुमारकी मौलिकतापर लट्टू हो जाते थे। वह अपने प्रपितामहकी तरह लकीरका फकीर न था। वह मौलिक और उदार विचारक था। उसने नैतिक और आध्यात्मिक विकासके लिये कई ग्रन्थ लिखे। सबसे [illegible] रचनाका नाम है 'धर्मोंका तुलनात्मक अध्ययन'। इसमें [illegible] ग्रन्थोंके शुष्क संदर्भोंको स्थान नहीं दिया, अपितु [illegible] अनुभवसे शुद्ध सत्यका निरूपण किया है। उसके [illegible] मुल्लाशाहने उसे आशीर्वादमें कहा था—'तुम विश्वमें [illegible] धर्मोंकी एकताके लिये पैदा हुए हो और इसीके लिये [illegible] अपना जीवन लगाओगे।'

गवेषकोंने बताया है कि उसने पच्चीस वर्षकी [illegible] ग्यारह संतोंकी जीवनी और उनकी अनुपम लीलाएँ लिखीं [illegible] उसके बाद सूफीमतके सुभाषितोंका एक दिव्य संग्रह कि[illegible] बर्निअर नामक ईसाई यात्रीने लिखा है कि वह ईसाइयोंके [illegible] ईसाई, पण्डितोंके साथ पण्डित तथा सूफियोंके साथ [illegible] बन जाता था। वह मिश्रीकी तरह मिश्रित हो जाता [illegible] उसकी एकमात्र उपासना थी मानवता। दाराने कई [illegible] साथ सम्पर्क बढ़ानेके लिये पत्र लिखे हैं जिसमें उसने सब [illegible] का मान किया है। हिंदू संन्यासी गोस्वामी नृसिंहाभय सरस्वती [illegible] एक पत्र लिखा है जिसमें 'ओं नमो नारायणाय' [illegible] नमस्कारपूर्वक अपना निवेदन किया है। श्रीबाबा लाल[illegible] यतिकी प्रशंसामें दाराने कई मार्मिक शब्द लिखे हैं। [illegible] एक संवाद भी ग्रन्थरूपमें लिखा गया है।

हिंदू संतोंके सम्पर्क और उनके हृदयग्राही विचारों[illegible] मूर्तरूप देनेके लिये उसने हिंदू और मुस्लिम धर्म[illegible] एक तुलनात्मक ग्रन्थ लिखा। इसे फारसीमें मज्म-उल्-बहरैन [illegible] नामसे लिखा गया। इस ग्रन्थका उसने संस्कृत भाषान्तर [illegible] किया था। जिसका नाम 'समुद्रसंगम' है, इसकी उपलब्धि [illegible] में ही हुई है। इसके दो हस्तलिखित ग्रन्थ एक अनूप संस्कृत [illegible] पुस्तकालय बीकानेरमें और दूसरा भाण्डारकर ओरियंटल रिसर्च इंस्टीच्यूटमें पाये गये हैं।

हिंदू-मुस्लिम-संस्कृतिकी समस्यापर दाराद्वारा लिखित [illegible] ग्रन्थ उपादेय और मननके योग्य हैं। इसमें सोलह भिन्न[illegible] भिन्न विषयोंपर प्रकाश डाला गया है। पहलेमें पाँच भूतों[illegible] वर्णन है। दूसरे और तीसरेमें क्रमशः पञ्चेन्द्रिय तथा ध्यान[illegible] निरूपण किया गया है। चौथेमें परमेश्वर-गुणव्याख्या, पाँचवेंमें [illegible] आत्मनिरूपण, छठेमें प्राणादिनिरूपण, सातवेंमें प्राणों[illegible] व्याख्या, आठवेंमें प्रकाश, नवेंमें ईश्वर-दर्शन तथा दसवेंमें ई[illegible]

के नाम हैं। इसी तरह ग्यारहवेंमें सिद्धत्व ऋषि तथा ईश्वरत्वका वर्णन, बारहवें, तेरहवें तथा चौदहवेंमें क्रमशः दिशा, पृथ्वी और महाप्रलयका निरूपण किया गया है। पंद्रहवेंमें मुक्तिका सारगर्भित वर्णन है और सोलहवेंमें अहोरात्र और ब्रह्मका मौलिक निरूपण है।

ग्रन्थकी भूमिकामें परम विद्वान् दाराने अपनी प्रेरणाका मूल कारण लिखा है। इसके कुछ नमूने प्रस्तुत किये जाते हैं, जिससे उसकी सच्ची अनुभूतिका ज्ञान हो सकता है।

ग्रन्थके आदिमें लिखा है कि 'ज्ञानपिपासाको शान्त करनेके लिये मैं अनेक यतियोंको मिला था और मुझे गुरुवर बाबा लालकी असीम कृपासे तपस्या और ज्ञानमें सिद्धि प्राप्त हुई, बाबा लालके साथ मैंने कई बार हिंदू-मुस्लिम-धर्मोंपर बातचीत की। केवल परिभाषा-भेदको छोड़कर दोनोंके स्वरूपमें कोई भेद नहीं।'

'उन बाबा लालके साथ मैंने कई बार सम्पर्क तथा बातचीत भी की; परंतु परिभाषाओंके भेदके अतिरिक्त स्वरूपकी प्राप्तिमें किसी भेदको नहीं देखा।'

तेन च सह पुनः पुनः संगतीः गोष्ठीश्चाकरवं परिभाषाभेदातिरिक्तं कमपि भेदं स्वरूपा वाप्तौ नापश्यम्।

'इसलिये दोनों धर्मोंकी एकवाक्यताको दिखाया। दोनों ज्ञानियोंके मतरूपी समुद्रका संगम एक साथ करनेसे इसका नाम मैंने समुद्रसंगम रक्खा।'

अतश्च द्वयोरपि एकवाक्यतामकरवम्। ज्ञानिनोर्द्वयोरपि मतसमुद्रयोरिह संगम इति नाम चास्यापर्यं समुद्रसंगम इति।

'तत्त्ववेत्ताओंका मत है कि सब धर्मोंका एक उद्देश्य सत्यकी खोज है। सच्चाईकी खोज सरल नहीं, यह ज्ञानियोंका अनुमत ही है। कुण्ठित मतिवाले लोग धर्मकी गहराईको क्या समझ सकते हैं। मेरा प्रयास जिज्ञासुओंके लिये ही है। मुझे सत्यके आलोकका दर्शन जिस दशासे दीखता है मैं उस ओर भागता हूँ। भगवान् ही एकमात्र मेरा सहाय है।'

अत्र च परमेश्वरादेव मम सामर्थ्यं परमेश्वर एव मम सहायः।

हिंदू-मुस्लिम-समस्याको मानवताकी कसौटीपर कसनेका यह सर्वप्रथम प्रयास था और वह भी राजपरिवारके मुस्लिम-कुमारद्वारा।

कामना

(रचयिता—श्रीजयनारायण मल्लिक, एम्० ए०, साहित्याचार्य, साहित्यालङ्कार)

सागर-तटपर बैठी हूँ कबसे मैं नाथ! अकेली,
चले गये मेरे जितने थे बान्धव, सखी, सहेली।
तरल-तरंगमयी लहराती भव-वारिधि-जल-धारा,
दूर गगनमें चमक रहा है मार्ग-प्रदर्शक तारा॥
प्राणेश्वर! करुणानिधि! हूँ मैं तेरे चरणोंकी दासी,
तेरे चरण-कमल-रजकी हूँ देव! सदासे मैं प्यासी।
हूँ मैं कुटियाकी भिखारिणी! तुम हो त्रिभुवनके स्वामी,
मेरे हृदयंगत भावोंके प्रभु! तुम हो अन्तर्यामी॥
जीवन-नौका जीर्ण पड़ी है, उठती प्रबल बयार,
कैसे पहुँचेगी वह तेरे स्वर्ण-धामके द्वार?
स्वामी मेरे! चलो मुझे ले, इस अज्ञात सिन्धुके पार,
जहाँ न होगी अन्तस्तलमें माया-वीणाकी झंकार।
तेरे पद-जलसे प्रक्षालित हो जावे जीवन मेरा,
आत्मोत्सर्ग करूँ भगवत्सेवामें हो यह व्रत मेरा॥

पतिव्रताकी परीक्षा

[कहानी]

(लेखक--स्वामी श्रीपारसनाथजी सरस्वती)

कलकत्ताके प्रेसीडेंसी कालेजमें जब शरद बाबू एम्० ए० में पढ़ते थे, तब मिस रोज नामकी एक यूरोपियन लड़की बी० ए० में पढ़ती थी। शरद बाबू उसपर आकर्षित हो गये और वह भी उनको चाहने लगी थी। सहशिक्षाका यह अनिवार्य परिणाम है। सालभर बाद मिस रोजके पिता, जो कि एक व्यापारी फर्ममें मैनेजर थे, पेंशन लेकर लंदन चले गये और मिस रोज भी उनके साथ चली गयी। उसी साल शरद बाबूने एम्० ए० पास किया और उनका विवाह सुशीला नामकी एक शिक्षिता तथा सुन्दरी कन्यासे हो गया। विवाहके बाद वे इंजीनियरी पढ़ने लंदन चले गये। मिस रोजका पत्र-व्यवहार जारी ही था, अतएव शरद बाबूको उसका पता ज्ञात था। लंदन जाकर वे दोनों फिर प्रेमका झूला झूलने लगे। एक साल बाद शरदने अपनेको कुआँरा बताकर, मिस रोजके साथ बाकायदा गिरजेमें विवाह कर लिया। विवाह रजिष्ट्री हो गया। दोनोंका एक साथ फोटो खींचा गया और चित्रपर विवाहकी तारीख लिख दी गयी। इंजीनियरी पास करके मि० शरदचन्द्र घोष अपनी गोरी पत्नी रोजको साथ लेकर कलकत्ते आये। उन्होंने अपने बहू बाजारवाले मकानपर रहना पसंद नहीं किया और बालीगंजमें एक बँगला खरीदकर मिस रोजके साथ वहीं रहने लगे।

शरद बाबू प्रतिमास एक सप्ताह अपने घरपर अपनी पहली स्त्री सुशीलाके पास रहते थे। इसके लिये वे मिस रोजसे बहाना बनाते थे। कभी कहते सोनपुरका पुल कमजोर हो गया है—उसके निरीक्षणका हुकम आया है। कभी कहते बम्बईमें काम है। और कभी कहते कि काशी विश्वविद्यालय-का सांइसवाला कमरा बनवाना है। बेचारी रोज उनके बहानोंको सच मान लेती थी। एक सप्ताह बाद जब वे रोजके पास आते तो कुछ-न-कुछ सौगात लाते, कि जिससे रोजको उनके बाहर जानेका निश्चय बना रहता था।

मिथ्याकी आयु दीर्घ नहीं होती। जालसाजी बहुत दिनों नहीं चलती। धोखा भी एक दिन धोखा देता है। एक बार शरदबाबू यह बहाना करके अपने पुराने मकानपर चले गये कि वे लखनऊके नये स्टेशनका नक्शा बनवाने लखनऊ जा रहे हैं। एक सप्ताह बाद लौटनेका वादा कर गये। तीसरे दिन मस रोजके खानसामाने शामको मिस रोजसे कहा—

खानसामा—हजूर! आज चित्तरञ्जन रोडपर इंजीनियर साहबको एक सफेद मोटरपर जाते देखा है।

रोज—उनके साथ कोई था?

खान०—एक अत्यन्त सुन्दरी बंगालिन महिला भी थी। दोनों घुल-मिलकर बातें करते और हँसते हुए रहे थे।

रोज—तुमको धोखा हुआ होगा। कोई दूसरा होगा।

खान०—जी नहीं सरकार! वही चश्मा, वही कोट, वही टोप। वे मेरे पाससे गुजर गये थे। मैंने उनको दे[ख] लिया, परंतु उन्होंने मुझे नहीं देखा था।

रोज—तुमने उनका चेहरा नहीं देखा था?

खान०—देखा था। खूब अच्छी तरह देखा था। उनकी मुसकराहटको भी मैं पहचानता हूँ। मुझसे गल[ती] नहीं हुई।

रोज—अच्छा उनको आने दो। मैं तहकीकात करूँगी।

एक सप्ताह बाद शरदबाबू आ गये। श्रीमती रोजके लि[ये] लखनऊके खरबूजे लाये। लखनऊ स्टेशनका नक्शा कैसे बनाया गया, वह भी उन्होंने समझाया। रोजने सोचा कि अवश्य ही खानसामा धोखा खा गया। शरदबाबू उसे धोखा नहीं देंगे। वह बात आयी गयी हुई।

× × ×

जब रोज कलकत्तेमें थी, उस समय उसके सा[थ] नीरजा नामक एक बंगालिन लड़की पढ़ती थी। दोनोंमें मित्रता हो गयी थी। एक दिन उसके यहाँ मित्रोंकी चाय-पार्टी थी। उसने रोजको भी निमन्त्रण भेजा था। रोज आयी और नीरजाके साथ, फाटकपर खड़ी होकर आगतोंका स्वागत करने लगी।

नीरजा—जब आप लंदन चली गयी थीं, तब मेरा विवाह पटनेके एक बंगाली डाक्टरसे हो गया था। अब उनका तबादला कलकत्तेमें हो आया है। उस दिन मैंने आपको फल-बाजारमें देखा तो आपको भी पार्टीका निमन्त्रण दे आयी थी। परंतु जल्दीमें होनेके कारण आपसे बातचीत न कर सकी। यह बताइये कि अब आप कलकत्तेमें किस सिलसिलेसे आयी हैं?

रोजने अपने विवाहकी बात छिपायी। उसने बहाना बनाकर कहा—

रोज—मैं क्रिश्चियन गर्ल्स स्कूलकी प्रधानाध्यापिका होकर आयी हूँ।

नीरजा—बड़ी खुशीकी बात है। तब तो कभी-कभी आपसे भेंट हुआ करेगी।

रोज—अवश्य।

नीरजा—आपने लंदनसे एम्० ए० किया होगा?

रोज—जी हाँ।

तबतक एक सफेद मोटर आयी और एक अत्यन्त भोली-भाली सुन्दर महिला उससे उतरी।

नीरजा—देखिये श्रीमती रोज! आपका शुभ नाम है सुशीला कुमारी। ये समस्त गुणोंकी निधान महिला हैं। इन-सी सती, सुशीला और विदुषी स्त्री इस विशाल नगरीमें खोजनेसे भी न मिलेगी। लंदनसे इंजीनियरी पास करनेवाले श्रीशरदचन्द्र घोषकी ये विवाहिता धर्मपत्नी हैं। पीली साड़ी कैसी भली मालूम हो रही है। मानो, वसन्तका अन्त इनके ऊपर ही हो गया है।

रोज सन्नाटेमें आ गयी। वह एकटक सुशीलाको देखने लगी। सुशीलाकी मुसकान उसे जहरका इंजक्शन देने लगी। खानसामावाली बात उसे याद आ गयी। वही सफेद मोटर और वही ·गाली महिला।

× × × ×

चायपार्टीके कामसे निपटकर जब रोज बँगलेपर पहुँची, तो शरद बाबूको कमरेमें बैठे इंतजार करते पाया। वह भी अनमनी-सी एक चेयरपर बैठ गयी।

शरद—प्रिये! इस समय मैं आपको शोकाकुल क्यों देख रहा हूँ? क्या पार्टीमें कोई दुर्घटना हुई थी?

रोज—अवश्य ही वहाँ एक घटना घटी थी।

शरद—वह क्या?

रोज—उसका सम्बन्ध आपसे है।

शरद—मुझसे?

रोज—जी।

शरद—वह क्या?

रोज—सुशीलाकुमारी आपकी कौन है?

शरद—कोई नहीं।

रोज—आप यह बात अदालतमें भी कह सकते हैं?

शरद—हाँ।

रोज—कहना। मैं जा रही हूँ। अपनी मित्र नीरजाके मकानपर ठहरूँगी। आपपर ४२० चलाऊँगी। आपको तलाक भी दे दूँगी।

शरद—क्यों?

रोज—क्योंकि सुशीला आपकी विवाहिता स्त्री है। आपने कुआँरा बनकर मेरे साथ शादी की है। आपने ४२० किया है।

शरद—यह भ्रम किसने डाल दिया? सुशीला मेरी कोई नहीं। मैं उसे जानता भी नहीं। यह सम्भव है कि उसके पतिका भी नाम वही हो कि जो मेरा है।

रोज—देखिये मि० शरद! अंग्रेजकी कौम—प्रेम करना भी जानती है और वैर करना भी। हमलोग जान देना जानते हैं तो जान लेना भी जानते हैं। आपने कभी मेरी परीक्षा ली ही नहीं। यदि जानकी बाजी भी लगानी पड़ती तो भी मैं प्रेमपरीक्षामें पास होनेकी कोशिश करती। आप प्रेमपरीक्षामें फेल हुए हैं।

शरद—गलती इंसानसे ही होती है। यदि प्रेमके कारण मैंने धोखा भी दिया हो तो वह क्षम्य है।

रोज—जी नहीं। प्रेम कईसे नहीं होता। वह वासना है—प्रेम नहीं।

शरद—मुझे क्षमा न करोगी?

रोज—अपना अपराध स्वीकार है?

शरद—स्वीकार है।

रोज—इसका प्रतिकार करो।

शरद—करूँगा। कैसे करूँ?

रोज—या सुशीलाको तलाक दो या रोजको तलाक दो। एक म्यानमें दो तलवारें नहीं रह सकतीं।

शरद—हमारे यहाँ राजा दशरथने तीन विवाह किये थे।

रोज—तो उस राजाका सर्वनाश भी हो गया होगा!

शरद—रोज!

रोज—कहिये।

शरद—मैं हाथ जोड़ता हूँ। पैरोंपर सिर रखता हूँ। मुझे अदालतमें मत खड़ा करना। मेरी सारी प्रतिष्ठा धूलमें मिल जायगी।

रोज—आपने मेरी प्रतिष्ठा जो धूलमें मिला दी है। बदला मिलेगा।

शरद—तलाक मैं किसीको नहीं देना चाहता। तुम एक लाख जुर्माना कर सकती हो।

रोज—यह असम्भव है। मैं रुपयेकी भूखी नहीं—सभ्यताकी भूखी हूँ।

× × × ×

आज अदालतमें तिलभर भी जगह नहीं है। रोजवाला मुकद्दमा अखबारोंमें छप चुका है। रोजने शरद बाबूपर तलाक और ४२० दो मुकद्दमे चलाये हैं। 'स्टेट्समैन' तथा 'इंगलिशमैन' ने रोजका पक्ष लेकर सम्पादकीय नोट लिखे हैं। मजिस्ट्रेट भी अंग्रेज है। कलकत्ता शहरके सब गण्यमान्य अदालतमें उपस्थित हैं। आज सुशीलाकुमारीकी गवाही होनेवाली है। मुद्दई और मुद्दालेहके कटघरेमें शरद तथा रोज उपस्थित हुए। दोनों पक्षके बैरिष्टर तैयार खड़े हैं।

सुशीलाकुमारीको गवाही देनेके लिये अदालतने बुलाया। मि॰ शरदचन्द्रपर राहु और केतु दोनोंने चढ़ाई कर दी। उन्होंने सोचा कि, रोजरूपी राहु और सुशीलारूपी केतु—दोनों मुझ शरदके चन्द्रको घेरे खड़े हैं। अब क्या होगा? सुशीलाकी गवाहीसे मुझे तीन सालकी सजा होगी और रोजकी तलाक स्वीकार हो जायगी। यानी दोनों स्त्रियाँ भी हाथसे गयीं और प्रतिष्ठा गयी सो व्याजमें! उसके बाद नौकरी भी रहे या न रहे—इसका भी अंदेशा है। अतएव मेरा मरना निश्चित है। सजा सुनते ही हीरेकी अंगूठी चाट लूँगा। आज शरदबाबूकी लाश इस अदालतसे निकलेगी। हे ईश्वर! आपने बड़े-बड़े सङ्कट दूर किये थे! सुना है कि गजका सङ्कट अथाह और मूक सङ्कट था—जिसे आपने काट डाला था। मैं आपका भक्त तो नहीं हूँ। बल्कि आपकी सत्तामें भी संशय रखता हूँ। एक प्रकारसे मुझे नास्तिक ही समझिये। परंतु आज यदि मेरी प्रतिष्ठा रह जाय—मेरी बात रह जाय तो हे ईश्वर! आपकी प्रतिष्ठा रह जाय—और आपकी भी बात रह जाय! अदालतमें मेरी परीक्षा हो रही है और मेरे हृदयकी अदालतमें ईश्वरकी परीक्षा हो रही है। यदि गजको उबारा था—तो दीनानाथ! आज मुझे भी उबार लीजिये। यदि आज इस अदालतरूपी सागरमेंसे मेरे जीवनका हाथी बच निकला तो आजसे मेरे बराबर आस्तिक कोई न होगा। आपसे आज परिचय हो जायगा। परिचयसे ही प्रेम होता है।

बसन्ती साड़ी पहने सुशीलाकुमारी अदालतमें आयी। उसने एक बार अपने पतिका मलिन मुख देखा और फिर रोजका अभिमानभरा चेहरा देखा—अदालतमें सन्नाटा छा गया।

मजिस्ट्रेटने पूछा—तुम्हारा नाम?

सुशीला—सुशीलाकुमारी।

मजि॰—तुम अभियुक्त शरदचन्द्र घोषके मकानमें रहती हो?

सुशीला—जी हाँ।

मजि॰—तुम अभियुक्तकी विवाहिता स्त्री हो?

सुशीला—जी नहीं।

मजि॰—तो क्या रखेलकी हैसियतसे रहती हो?

सुशीला—जी हाँ।

मजि॰—तुमको क्या वेतन मिलता है?

सुशीला—साढ़े तीन सौ मासिक।

मजि॰—तुमको यह मालूम है कि शरदबाबूने रोजके साथ बाकायदा विवाह किया है?

सुशीला—जी हाँ।

मजि॰—क्या यह ब्याह शरदबाबूने तुम्हारी मंजूरीसे किया था?

सुशीला—जी हाँ।

मजि॰—तुमको शरदबाबूकी कोई शिकायत है?

सुशीला—जी नहीं।

मजि॰—तुम अब भी उनसे प्रेम करोगी?

सुशीला—जी हाँ।

मजि॰—मुकद्दमा खारिज। शरदबाबू ससम्मान बरी किये गये। श्रीमती रोजकी तलाककी दरखास्त खारिज।

× × × ×

अदालतके बाहर भारी गोलमाल

एक बोला—यह है भारतीय संस्कृति! विवाहिता सुशीलाने प्रेमकी परीक्षा किस उत्तमतासे पास की है।

दूसरा बोला—यदि भारतमें नारीकी यह त्यागभावना न रह जाय तो पातिव्रत-धर्म ही मर जाय। फिर ऐसे नयनाभिराम दृश्य कहाँ!

शरदबाबूने हाथ जोड़कर कहा—सज्जनो! सुशीलाने अपनी प्रतिष्ठाका बलिदान करके अपनी प्रतिष्ठा बहुत बढ़ा ली है।

रोज—आई सी! प्रेमका सच्चा तत्त्व और उसका व्यवहार तो हिंदू औरत ही जानती है!!

यह विषमता कैसे दूर हो ?

(लेखक—श्रीबलराम भगवानदासजी चौरे)

हम इस संसारपर दृष्टि डालते हैं तो देखते हैं कि कोई मनुष्य सुखी है तो कोई दुखी, कोई नीरोग है तो कोई रोगी, कोई धनी है तो कोई निर्धन, कोई बुद्धिमान् है तो कोई मूर्ख, कोई बलवान् है तो कोई दुर्बल, किसीने बीमारीका नाम नहीं सुना तो कोई एक दिन भी स्वस्थ नहीं रहता, किसीके प्रत्येक अवयव अत्यन्त सुन्दर हैं तो कोई अत्यन्त कुरूप है। इस प्रकार संसारमें सर्वत्र विषमता देखकर मनमें प्रश्न उठता है कि 'आखिर ऐसा क्यों होता है?' क्या कारण है कि जब एक आदमी महलोंमें सुखोपभोग करता है तो उसी समय दूसरा आदमी अपनी टूटी-फूटी झोंपड़ीमें भूखों मरता है? इस प्रकारके प्रश्न स्वभावतः प्रत्येक विचारवान् व्यक्तिके मनमें उदय होते हैं और वह इस विषमतापूर्ण परिस्थितिके कारणोंको खोजने लगता है। वह हर समय सोचता रहता है कि यह भेद-विभेद, यह विषमता संसारसे दूर कैसे हो? आइये हम भी इस विषमताको हटानेके उपायोंपर विचार-विनिमय करें।

जब हम विचार करते हैं तो मालूम होता है कि इस विषमताको दूर करनेके लिये और सबको समानरूपसे सुखी करनेके लिये, क्या भौतिक विज्ञान, क्या अर्थशास्त्र, क्या मनसशास्त्र तथा नाना प्रकारकी राजनीतिक संस्थाएँ (प्रजातन्त्रवाद, साम्यवाद, समाजवाद आदि) भी क्या, सभी अपनी-अपनी विचारधाराओं तथा कार्यप्रणालियों एवं अन्य युक्तियोंसे प्रयत्नशील हैं कि संसारसे यह भेद-विभेद, यह असमानता, यह विषमता दूर हो और यह सब खराबियाँ दूरकर सभी समानरूपसे सुखी हों, संसारके सभी लोग एक-से बनें, कोई दुखी न रहे, कोई बीमार न रहे, कोई गरीब न रहे, सबको समानरूपसे सुख तथा आनन्दकी उपलब्धि हो। यदि हम प्रत्येक ऐसी संस्थाओंकी विचारधाराओंकी जाँच-पड़ताल करेंगे तो हमें यह साफ दीखेगा कि ऐसी सब-की-सब संस्थाएँ अपनी-अपनी शैलियोंसे इन विषमताग्रस्त परिस्थितियोंको सुधारनेमें व्यस्त हैं।

आइये, हम देखें कि इस उलझनको हमारे पुरातन (सनातन) धर्मशास्त्र किस प्रकार सुलझाते हैं? क्योंकि ऐसे बहुत-से लोग आपको मिलेंगे जो उपर्युक्त कथित विचारधाराओंसे इस विषमताको दूर करनेका प्रयत्न नहीं करते और न उनमें विश्वास ही रखते हैं, वरं वे इस समस्याको धर्मशास्त्रके आधारपर सुलझानेका यत्न करते हैं या ऐसे अधिक लोग हैं जो धर्मशास्त्रके द्वारा इसका उपाय ढूँढ़ना चाहते हैं। प्रस्तुत लेख हम ऐसे ही विचारशील और श्रद्धालु व्यक्तियोंके विचारार्थ समर्पित करते हैं जो धर्मशास्त्रके आधारसे संसारकी इस व्यथाको दूर करना चाहते हैं।

इसके लिये सर्वप्रथम हमें यह देखना है कि क्या यह संसारचक्र किसी नियमके अन्तर्गत चल रहा है या अनियमित? यदि कोई विश्ववाहक है तो क्या वह यह सब बखेड़ा मनमाने तौरपर कर रहा है या किसी आधारपर। यदि हम इस बातका पता लगा सके तो हमें उपर्युक्त कथित उलझनको सुलझानेमें सुविधा रहेगी और संसार-वैषम्यको मिटानेके लिये उपाय भी मिल सकेगा।

इस विश्वमें सर्वश्रेष्ठ हमें सूर्य ही दिखायी पड़ते हैं। जो हम सब लोगोंके सामने हैं, अतः आइये हम इनपर विचार करें। सूर्यपर विचार करनेसे हमें उस नियमका, उस विधानका, जिससे यह संसारचक्र चल रहा है, कुछ पता लग सकेगा। सूर्यको देखनेपर हमें उसमें सर्वथा नियमबद्धता दृष्टिगोचर होती है। सूर्य और नियम दोनों एक मालूम होते हैं। ऐसा कभी भी देखनेमें नहीं आया कि सूर्यकी गति कदाचित् कभी भी अनियमित रही हो। आज वह उदय हुआ हो और कल नहीं। आज वह एक समय उदय हुआ हो और कल दूसरे समय। कभी दो-चार दिन उदय हुआ हो और कभी दो-चार दिन अदृश्य, ऐसी अनियमितता सूर्यमें कभी भी नहीं देखी गयी। सूर्यको देखते ही हमें किसी महान् नियमका भास हो आता है, जिसके अन्तर्गत रहकर वह चालित है। अकेले सूर्य ही क्या, सारे विश्वको यदि हम सूक्ष्म दृष्टिसे देखें तो मालूम होता है कि यह समूचा विश्व किसी नियमके अन्तर्गत चल रहा है। समस्त प्राकृतिक वस्तुएँ नियमबद्ध मालूम होती हैं, अनियमित नहीं। क्या पृथ्वी, क्या ग्रह-तारे, क्या हवा-पानी, क्या वनस्पति, क्या पशु-पक्षी, सब-के-सब किसी नियमके भीतर ही चल रहे हैं—अनियमित नहीं। अणु-परमाणुसे लेकर महान् ग्रहोंतक ही नहीं—अखिल ब्रह्माण्ड भी किसी-न-किसी नियमके ही अन्तर्गत चल रहे हैं। इन सब प्राकृतिक वस्तुओंकी यह नियमबद्धता हम सबके

सामने है, ऐसी स्थितिमें यह प्रश्न उदय होता है कि जब यह समूचा विश्व किसी-न-किसी नियममें आबद्ध होकर चल रहा है तो फिर क्या यह मनुष्य किसी नियममें नहीं बँधा है ? यदि यह मनुष्य भी जो इस विश्व-प्रकृतिका ही एक अङ्ग है और किसी नियमसे आबद्ध होकर चल रहा है तो फिर यह विषमता कैसी ? यह भेद-विभेद कैसे ? क्या प्रकृति किसीपर कृपा और किसीपर रोष रखती है ? क्या विश्वपति किसीको मुक्त करोंसे वैभव प्रदान करते हैं और किसीके लिये उनका हाथ रुक जाता है ? इन सुख-दुःख और भेद-विभेदको देखकर हम सब लोगोंके मनमें स्वाभाविक ही ये प्रश्न उठते हैं। अतः प्राकृतिक उदाहरणोंकी ही मदद लेकर हमें इन प्रश्नोंपर विचार करना है, जिन्हें समझ लेनेपर इस विषमताका कारण भी हमारी समझमें आ सकेगा।

देखिये, 'आकर्षणशक्ति' एक नैसर्गिक नियम या शक्ति है। कोई भी वस्तु इस आकर्षणशक्तिसे पृथ्वीपर खींची जाती है। फल पकनेपर हवाके झोंकेसे यदि टूटा तो वह इस आकर्षणशक्तिसे ही खिंचकर धड़ामसे पृथ्वीपर आ गिरता है। मनुष्य यदि अपनी छतसे लुढ़क जाय तो वह इसी शक्तिके प्रभावसे धरतीपर आ जाता है। लेकिन हम देखते हैं कि भौतिक विज्ञानने इस 'आकर्षणशक्ति' की गतिको समझकर पैराशूट आदि ऐसी चीजें तैयार कर दी हैं, जिनके सहारे मनुष्य आकाशमें बहुत ऊँचाईपर उड़ते हुए वायुयानसे भी सरलतापूर्वक पृथ्वीपर उतर आते हैं। गिरते नहीं।

आप वाष्पशक्तिको लें। आग और पानीके संयोगसे वाष्प बनती है। यह वाष्प यदि अधिक मात्रामें किसी व्यक्तिके शरीरपर लग जाय तो मनुष्य इससे आहत होकर जलकर मर भी सकता है; किंतु इस वाष्पशक्तिके उचित उपयोगसे वैज्ञानिकोंने रेल, कल, कारखाने और पुतलीघर आदि हमारे सामने खड़े कर दिये हैं, जिनकी उपयोगिता सर्वविदित है।

इन दो उदाहरणोंसे हम इस निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि निसर्गके, विश्वके, ईश्वरके नियमोंको न समझने और उनकी गतिके विरुद्ध कार्य करनेसे मनुष्य तकलीफ उठाता है, लेकिन जब वह उन्हीं प्राकृतिक नियमोंकी गतिको समझकर, उनके अनुकूल चलने लगता है तो वह उन होनेवाली तकलीफोंसे ही नहीं बच जाता है वरं वह उन्हीं नियमोंको अपने उपयोगमें उचित ढंगसे लाकर आशातीत सफलता और लाभ उठाता है।

बस, ठीक यही बात इस समता-विषमतामें है, सु... दुःखमें है, भेद-विभेदमें है। हमारे सारे ऐसे प्रश्नोंका ... प्रकृतिके, ईश्वरके, स्रष्टाके इन नियमोंके पालन और उल्लङ्घन... है। जो आज वैभवशाली एवं सुखी हैं—मान लीजिये उन्होंने पूर्वमें नैसर्गिक नियमोंके अनुसार कार्य किया है और ... विपरीत जो दुखी हैं, उन्होंने प्रकृतिके, स्रष्टाके नियमोंका उल्लङ्घन किया है, भले ही उन लोगोंने जानकर या अनजाने उन नियमोंका पालन या उल्लङ्घन किया हो, पर तदनुसार ही वे सुखी अथवा दुखी हो रहे हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि यह सृष्टिक्रम ... नियमोंके अन्तर्गत ही चल रहा है और मनुष्य उन नियमोंको समझकर और उनपर चलकर उनसे फायदा उठा सकता है, सुखी हो सकता है अथवा उन्हें भंग कर दुखी हो सकता है; यह मनुष्यपर ही निर्भर है।

हम भारी भूल करते हैं जब समझते हैं कि भौतिक विज्ञानके द्वारा ही हमने इन नियमोंको समझा है, इसके ... नहीं; किंतु ऐसा नहीं है। भौतिक विज्ञान तो आजका है, परंतु प्रकृतिके नियमोंका ज्ञान आजका नहीं, अपितु यह उतना ही पुरातन है जितना कि यह विश्व। इन्हीं प्राकृतिक नियमोंका ज्ञान पूर्वमें हमें धर्मशास्त्रोंसे मिला है। इन्हीं नैसर्गिक नियमोंको हम धर्मशास्त्रकी भाषामें आचार, धर्म या नीतिशास्त्र कहते हैं। चूँकि ये नियम अब पुराने हो गये हैं, ... उनमें हमारी अश्रद्धा हो गयी है; लेकिन हमारी श्रद्धा ... अश्रद्धा निसर्गके नियमोंकी गतिको नहीं बदल सकती, ... अपनी अश्रद्धाके कारण हम उन नियमोंके विपरीत आचरण करते हैं और फलतः हम इस विषमताग्रस्त अवस्थामें पहुँच गये हैं। अब हमें देखना है कि वह कौन-सा आचार-धर्म, नीतिशास्त्र, अथवा आधुनिक भाषामें यों कहें तो वह कौन-सा प्राकृतिक नियम है, जिसके तोड़नेसे हमारी यानी मनुष्य-जातिकी यह दयनीय विषमतापूर्ण अवस्था हो रही है ! ... नियमोंको जब हम समझ सकेंगे और उनके अनुसार ... कर्म और व्यवहार होने लगेंगे तभी हम इन दुःखोंसे ... इन विषमताओं या विपरीततासे अपना पीछा छुड़ा सकेंगे, अन्यथा नहीं। (हम यहाँ यह कह देना आवश्यक समझते हैं कि जब-जब हम इस लेखमें नियम या शक्ति शब्दका प्रयोग करते हैं तब-तब वहाँ हमारा मतलब प्राकृतिक नियम तथा धर्मशास्त्र नियम दोनोंसे ही है, क्योंकि हमारे विचारसे दोनों नियम एक ही हैं, अलग नहीं। आधुनिक कालमें ...

उन्हीं नियमोंको 'प्राकृतिक नियम' के नामसे पुकारते हैं, जिन्हें हमारे पूर्वज आचारधर्म, नीतिशास्त्र अथवा धर्मशास्त्र आदि नामोंसे सम्बोधित करते थे। दोनोंका मतलब एक ही है, भिन्न नहीं। दोनोंमें सिर्फ शब्द-भेद है।)

वह नियम क्या है, चलिये देखें। ऑक्सीजनके परमाणुओंमें यदि उसके द्विगुण हैड्रोजनके परमाणु मिल जायँ तो वह पानी बन जाता है, अथवा यदि हम पानीको वाष्पके रूपमें परिणत करें तो वह उपर्युक्त कथित ऑक्सीजन और हैड्रोजनके अणुओंमें विभक्त हो जाता है, यह एक अटूट प्राकृतिक नियम है। इसी प्रकार वासना अथवा कामनारूपी ऑक्सीजनमें मनन या विचाररूपी द्विगुण हैड्रोजन मिल जानेपर जो परिणाम निकलता है, वही हमारे ठोस शारीरिक कर्म हैं; जिनकी अन्तिम स्थिति सुख-दुःखरूपी आजकी वैषम्यपूर्ण हमारी अवस्थाएँ हैं। जैसे पानीकी पूर्वस्थिति ऑक्सीजन और हैड्रोजनमें है, ठीक उसी प्रकार आजकी हमारी विषमताग्रस्त अवस्थाकी पूर्वस्थिति हमारी ही वासनाओं तथा विचारोंमें है। प्रत्येक कर्मका या मानवीय क्रियाके परिणामका यदि हम विश्लेषण करें तो इस कथनकी सत्यता हमें स्पष्टतया दीखेगी।

देखिये तो, इसी विचारको हमारे धर्मशास्त्रोंमें कितने सुन्दर शब्दोंमें कहा है—

काममय एवायं पुरुष इति स यथा कामो भवति तत्क्रतुर्भवति, यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते यत्कर्म कुरुते तदभिसंपद्यते।

(बृहदारण्यकोपनिषद्)

अर्थात् मनुष्य वासनापूर्ण है, जैसी उसकी वासनाएँ अथवा कामनाएँ होती हैं, तदनुरूप ही उसके विचार होते हैं। जैसे उसके विचार होते हैं उसी प्रकारके वह कर्म करता है। और जैसे उसके कर्म होते हैं तदनुरूप स्थितिको वह प्राप्त होता है। यह हमारे धर्मशास्त्रका कथन है, जो हमारी उपर्युक्त कथित विचारधाराकी पुष्टि करते हैं।

इस प्रकार हमें ज्ञात होता है कि सुखी अथवा दुखी, अच्छी अथवा बुरी—जैसी भी हमारी आजकी स्थिति है, उन सबकी पूर्वस्थिति हमारी वासनाओं, कामनाओं, लालसाओं, भावों और विचारोंमें है। यह स्थिति जिस प्राकृतिक नियम, नीतिशास्त्र-नियम अथवा आचारधर्मके आधारपर होती है, उसे हमारे धर्मशास्त्रमें 'कर्म-नियम' या 'कर्म-विपाक' कहा है।

उपर्युक्त पानीके उदाहरणसे हमें यह भी मालूम होता है कि कारणोंमें ही परिणाम निहित है। जहाँ कारण नहीं वहाँ परिणाम नहीं। जहाँ ऑक्सीजन और हैड्रोजनके परमाणु नहीं, वहाँ पानी नहीं। दुनियाकी जैसी भी विषमतापूर्ण स्थिति आज दिखायी देती है, उसकी हैड्रोजन या ऑक्सीजन-रूपी पूर्वस्थिति होनेसे है। संसार केवल एक कारण-कार्यका सम्मिश्रण है या यों कह सकते हैं कि यह केवल एक लेन-देनका सौदा है। जो जैसा करता है, वह वैसा भरता है। जो जैसा देता है, वह वैसा पाता है। संत तुलसीदासजीने ठीक ही तो कहा है—

करम प्रधान बिस्व करि राखा।
जो जस करइ सो तस फलु चाखा॥

जिस प्रकार किसी भी राष्ट्रका कार्य कुछ नियमों और विधानोंके अन्तर्गत ही होता है, उसी प्रकार यह ईश्वरका राष्ट्र (विश्व) ईश्वरीय विधान यानी प्राकृतिक नियमों, नैसर्गिक विधानोंके अन्तर्गत ही चलता है। निसर्गके ईश्वरीय विधानके ऐसे कई नियमोंमेंसे 'कर्म-नियम' इस 'कर्मभूमि' में बहुत विशेषता रखता है। इसकी पुष्टि संत तुलसीदासजीके उपर्युक्त कथित शब्द स्वयं करते हैं। 'कर्म-नियम' इस 'कर्मप्रधान' विश्वमें यानी इस कर्मभूमिमें प्रधान हैं और उनपर ही हमारी सुख और दुःखकी अवस्थाएँ निर्भर हैं, इस कारण उन नियमोंको अच्छी तरह समझना, उनकी क्रिया, गति और शक्तिको समझ लेना परमावश्यक है। अतः हमने इस महत्त्व-पूर्ण 'कर्म-नियम' पर कुछ विचार अपने पूर्व लेख 'दुःख और उसकी दवा' में प्रकट किये हैं, जो गत वर्षके 'कल्याण'के बारहवें अङ्कमें प्रकाशित हो चुका है। उसी सिलसिलेमें कुछ और विचार हम पाठक महानुभावोंके विचारार्थ यहाँ प्रस्तुत करते हैं। 'कर्मणा गहनो गतिः' इस सूत्रके अनुसार यह विषय बहुत गहन है। अतः थोड़ेमें ही उसकी क्रिया-प्रतिक्रियारूप गतिको हम समझ नहीं सकते; इसी कारण हम इस विषयको पुनः लेकर 'विषमता' की गतिके आधारपर विचार कर रहे हैं। जिस नियम अथवा शक्तिमें बिगाड़नेकी शक्ति होती है, उसी नियममें उसे सुधारनेकी भी शक्ति होती है। यदि इस 'कर्म-नियम' के कारण ही हमारी विषमतापूर्ण स्थिति है तो इस उलझनकी सुलझन भी इसी 'कर्म-नियम' में होनी चाहिये। अतः आइये हम 'कर्म-नियम' के इस रहस्यको समझकर इस विषमतापूर्ण स्थितिका उपाय सोचें।

प्रत्येक वस्तुकी तीन अवस्थाएँ होती हैं—भूत, वर्तमान और भविष्य। इसी प्रकार 'कर्म' की भी तीन अवस्थाएँ धर्मशास्त्रमें कही गयी हैं। वे हैं—सञ्चित, प्रारब्ध और

क्रियमाण'। हमने पूर्वमें, भूतमें अथवा व्यतीतमें जो कुछ भी क्रियाएँ की हैं, कर्म किये हैं, उनकी प्रतिक्रियारूप परिणामका जो खजाना हमने एकत्र किया है, उसे 'सञ्चित' अथवा 'एकत्रित' कर्म कहते हैं। ऐसे सञ्चित अथवा एकत्रित कर्मोंके परिणामरूप कोष या खजानेमेंसे वर्तमान जीवनमें भोगनेके लिये जो कर्मफल कर्म-विपाक या प्रतिक्रियाके रूपमें हमें मिले हैं उसे 'प्रारब्ध' या 'परिपक्व कर्म' कहते हैं। इसी प्रकार इस सञ्चितरूप कर्मकोषमें हम प्रतिदिन जो नया कर्म एकत्रित कर रहे हैं, जोड़ रहे हैं या जोड़नेवाले हैं, करनेवाले हैं, उसे ही 'क्रियमाण' या 'आगामी कर्म' कहते हैं। इस तरह कर्मकी भूत, वर्तमान और भविष्यरूप स्थितिको हम सञ्चित या एकत्रित, प्रारब्ध या परिपक्व और क्रियमाण या आगामी कर्म कहते हैं। कर्मकी यही तीन अवस्थाएँ हैं।

कारणसे कार्य तथा कार्यसे फिर कारण, बीजसे वृक्ष और वृक्षसे फिर बीज—जिस नियमके अन्तर्गत होता है, उसे ही 'कर्म-नियम' कहते हैं। कारणरूप बीजसे कार्यरूप वृक्ष और फिर इससे कारणरूप बीज, यही कर्मकी तीन अवस्थाएँ सञ्चित (बीज), प्रारब्ध (वृक्ष) और क्रियमाण (बीज) हैं। हम सब-के-सब इन्हीं तीन अवस्थाओंमें घूमते रहते हैं। इसे ही दूसरे शब्दोंमें संसार-चक्रका परिभ्रमण कहते हैं। यह परिभ्रमण जिस नैसर्गिक अथवा धार्मिक नियमके कारण होता है, उसे ही कर्म-नियम कहते हैं।

कर्मका भूत ही सञ्चित कहा जाता है, सञ्चित यानी पूर्वमें किये गये अच्छे अथवा बुरे 'कर्म-विपाक' का या क्रिया-प्रतिक्रियारूप अंजामोंका निष्कर्षरूप बीजोंका खजाना। विज्ञानने यह साबित कर दिया है कि संसारमें किसी भी वस्तुका सर्वनाश नहीं होता केवल उसकी स्थितिमात्रमें ही अन्तर होता है। मिट्टी, जिसे अभी कुम्हारने कोई रूप या आकार नहीं दिया है, मिट्टीरूपसे धरतीमें बिखरी पड़ी है। कुम्हार आता है, कुछ मिट्टी लेता है और उसके बर्तन बनाता है, कुछके गमले, कुछकी ईंटें तथा कुछके खिलौने। इस तरह वह मिट्टी बर्तन, गमले, ईंटें तथा खिलौने आदि कई प्रकारके आकार और रूप धारण कर लेती है। कुछ समयतक वह मिट्टी इन अलग-अलग आकारों या रूपोंमें रहती है, समय पाकर ये आकार नष्ट हो जाते हैं, ये वस्तुएँ फिरसे टूट-फूटकर, चूर-चूर होकर फिर मिट्टी-की-मिट्टीमें मिल जाती हैं। बस, यही हालत सारी मिट्टियोंकी है, चाहे वह मिट्टी ठोस कार्यों और क्रियाओंकी हो अथवा वासना, कामना, भाव तथा विचारोंकी हो। अन्तर केवल इतना ही है कि वासना और विचारोंकी मिट्टी स[...] ठोस कर्मों, कार्यों और क्रियाओंकी मिट्टीकी अपेक्षा [...] और सूक्ष्म है।

जिस प्रकार कोई भी बीज मिट्टीसे ही अपनी खुराक [...] रस खींचकर मिट्टीको वृक्षके रूपमें परिणत कर देता है [...] मिट्टी ही बीज चेतनके प्रभावसे वृक्षका रूप धारण कर लेती [...] बस, यही हालत हमारी पिंडदेह यानी ठोस शरीर, वा[सना-] शरीर और मनःशरीररूपी वृक्षोंकी है। यह शरीर वन[...] कर्मकी दूसरी अवस्था यानी प्रारब्ध है। इन तीनों श[रीरोंके] बीज अपनी-अपनी भूमिसे अपने आसपास चैतन्यरूप जीव[...] के प्रभावसे पिंडशरीर (अन्नमय कोष) वासना-शरीर (प्रा[णमय] कोष) और मनःशरीर (मनोमय कोष) तैयार करते [हैं।] ये शरीर जन्म लेनेपर बनते हैं और मृत्यु होनेप[र] शरीर अपनी-अपनी मिट्टियोंमें मिल जाते हैं। (यह [...] कैसे होता है आदि दूसरे विषय हैं, जिनपर हम फिर [...] विचार कर सकते हैं।) परंतु इस सृजन-संहारमें, इस ब[नने-] बिगाड़में, इस जन्म-मृत्युमें ही सारे विश्व-विकास, स्थिति [और] प्रलयकी गुत्थी भरी है, सारे सृष्टिक्रमका रहस्य छिपा है। [...] विकास, स्थिति और प्रलय ही कर्मकी तीन अवस्थाएँ [हैं।] यह सृजन-संहार, जन्म-मरण चाहे वृक्षोंका हो, पशुओंका [...] अथवा मनुष्योंका हो, इसमें नैसर्गिक नियम अथवा धर्म[...] नियमरूप 'कर्म-नियम' काम कर रहा है।

अनेक जन्म और मरणोंमें, अनेक सृजन-संहारोंमें, [...] रूप-रूपान्तरोंमें जिन अनुभवोंका, शिक्षाओंका, कर्मवि[पाकका] कोष, सुख-दुःखका हिसाब, अच्छी-बुरीरूप [...] विषमतापूर्ण स्थितियोंका खजाना बीजरूपसे हम एक[त्रित] कर रहे हैं, यही हमारा कर्मकोष अथवा सञ्चित कर्म [है।] इस कर्मकोष अथवा सञ्चितमें एकत्रित कर्मबीज केवल प्रा[रब्ध-] रूपी पानी गिरनेका अवकाश ही देख रहे हैं कि वह [...] गिरे और वे कब अच्छे-बुरे रूप, सुख-दुःखरूप (विषमता[पूर्ण] स्थितिवाले) वृक्षका आकार धारण करें। प्रारब्धरूप [...] मिलते ही सञ्चितरूप बीज तुरंत अंकुरित होकर अच्छे [...] बुरे विषमतारूप वृक्षका आकार धारण कर लेते हैं। प्रा[...] रूपी आजके अच्छे अथवा बुरे वृक्ष (परिस्थिति आदि) [...] सञ्चितरूप कर्मबीजपर निर्भर है अर्थात् आजकी हमारी [...] हमारा वातावरण, हमारा शरीर आदि जो विषमतापूर्ण प्र[...] हमें प्रारब्ध हुआ है यह सब हमारे पूर्वमें एकत्रित किये [...] सञ्चित कर्मरूपी बीजोंपर निर्भर है। कहा भी है—'बोये [...]

बबूरके आम कहाँ ते होय' । आजकी हम प्रत्येककी भेद-विभेदपूर्ण सुख-दुःखरूप परिस्थिति, विषमतापूर्ण दशा हमारे स्वयमेव पूर्वकृत कर्मोंका परिणाम है । यही रहस्य इस 'कर्म-नियम'के द्वारा हमारे शास्त्र बताते हैं ।

अब हममेंसे प्रत्येक सोच सकता है कि हम अपने आपको जिस भी परिस्थितिमें पाते हैं, विषमतापूर्ण स्थितिमें देखते हैं, सुखी अथवा दुखी अनुभव करते हैं, यह सब हमारे ही पूर्वसञ्चित कर्मोंका परिणाम नहीं है तो और क्या है ? इस स्थितिके निर्माता हम प्रत्येक स्वयं हैं, अन्य कोई नहीं । आजकी हमारी अच्छी अथवा बुरी देह, धनसम्पन्न अथवा निर्धन अवस्थाको बनानेवाले हम स्वयं हैं, अन्य कोई नहीं ।

इस प्रकार हमें मालूम हुआ कि हमारे सञ्चित कर्मसे प्रारब्धने कुछ अच्छे और कुछ बुरे कर्मविपाकरूप बीज लेकर हमारे वर्तमान वृक्षरूप यह ठोस शरीर, वासना-शरीर और विचार-शरीर बनाये हैं । जिस प्रकार प्रत्येक बीजमें—पूर्व वृक्षके, जिसका कि वह निष्कर्षरूप बीज है—सब गुण निहित हैं । इसी प्रकार हमारे इन तीनों शरीरोंमें हमारे पूर्व शरीरोंके सब गुण मौजूद हैं । ये गुण हम प्रत्येकके पूर्वसञ्चित अच्छे अथवा बुरे कर्मोंपर निर्भर हैं, जो हमारा वर्तमान चरित्र, हमारी बुद्धि और हमारा वातावरण बनाते हैं । न्यूनाधिक मात्रामें प्रत्येक गुण-दोष जो हममें पाये जाते हैं, वे सब-के-सब हमने पूर्वमें जैसे बनाये थे, वैसे ही हैं । चूँकि पूर्वमें प्रत्येक व्यक्तिके कर्म भिन्न थे, प्रयास भिन्न थे, रहन-सहन और गुण-दोष भिन्न थे, इसीलिये तो आजकी हमारी स्थितियाँ, विचार-बुद्धि, शारीरिक गठन और अमीरी-गरीबीकी अवस्थाएँ भिन्न-भिन्न हैं । इन नाना प्रकारकी असमतापूर्ण हालतोंके उत्तर हमारे ही पूर्वमें किये गये कर्म हैं ।

इससे यह भी प्रतीत होता है कि अपनी परिस्थितियोंको बिगाड़ना और सुधारना हमपर ही निर्भर है तो स्वभावतः हममेंसे प्रत्येकको अपने वर्तमान कर्मोंको अपने हाथमें लेना होगा। प्रत्येक भाव और विचारको, जो हमारा कलका भविष्य बना रहा है, हमें अपने हाथमें लेना होगा, तभी हम अपनी इन तीनों अवस्थाओं, तीनों शरीरों और अपनी परिस्थितियोंको सुधार सकेंगे, अन्यथा नहीं ।

बीजके उदाहरणको लीजिये, किसी भी अनाजके बीजके भूत अर्थात् सञ्चित, वर्तमान अथवा प्रारब्ध और भविष्य यानी क्रियमाणपर विचार कीजिये । हम देखते हैं कि प्रत्येक बीज जमीनसे अपने स्वभाव-गुणरूपी रसको खींच लेता है । इमली, गन्ना और मिर्च आदिके वृक्ष भले ही एक स्थानपर लगे हों; किंतु उन तीनोंमेंसे प्रत्येकके बीज अपने स्वभाव-गुण खटाई, मिठाई और चरपराहटके रसको पृथ्वीमेंसे खींच लेते हैं। ठीक यही दशा मनुष्यके गुण-दोषादि स्वभावकी भी है । यह रहा सञ्चित और प्रारब्धरूपी कर्मोंका प्रभाव । अब क्रियमाण कर्मके प्रभावपर विचार करें ।

एक ही वृक्षके निकले बीजोंको लीजिये, उसमें उस वृक्षके सब गुण मौजूद हैं, जिसका कि वह बीज है; किंतु एक ही वृक्षके बीजोंको भिन्न-भिन्न प्रकारकी जमीनमें लगाइये तथा खाद-पानी देनेमें अन्तर कीजिये तो आप देखेंगे कि अच्छी उपजाऊ जमीनमें अच्छी खाद और पानी दिया हुआ बीज फलरूपमें सुपुष्ट, सुस्वादु और नीरोग होगा । इसके विपरीत ऊसर जमीनमें बोया हुआ, खाद-पानीरहित बीज सूखा, अस्वादु और रोगी होगा । बस, यही दशा हम मनुष्योंकी है। हम अपने अतीतसे, सञ्चितसे इस बीजकी भाँति कुछ सुस्वादु, अस्वादु, मिठाई-खटाईरूप गुण-अवगुण इस प्रारब्धरूप वर्तमान शरीरों और स्वभाव आदिमें लाये हैं । इन्हीं गुणोंको यदि हम चाहें तो बढ़ा सकते हैं और अवगुणोंको घटा सकते हैं अथवा अवगुणोंको बढ़ा सकते हैं एवं गुणोंको घटा सकते हैं । यह हमारे ही ऊपर, आजके क्रियमाण कर्मपर निर्भर है । हम यदि चाहें तो ऊसर भूमिकी भाँति अपने अवगुणोंकी शक्तिको कम कर सकते हैं और उन्हें बिल्कुल कमजोर बनाकर उनसे त्राण पा सकते हैं और उर्वरा भूमिके बीजकी भाँति अपने सद्गुणोंको बढ़ाकर अपना भविष्य उज्ज्वल और उन्नत बना सकते हैं । यह सब हमारे आगामी कर्मपर निर्भर है । यह महान् शिक्षा हमें इस कर्म-नियमसे मिलती है यानी अपनी विषमतापूर्ण स्थितिसे अपने आपको उबारनेवाले हम स्वयं ही हैं, दूसरा कोई नहीं। यह मार्गदर्शक यह कर्म-नियम ही हैं।

यह प्रायः देखा गया है कि हमलोग 'कर्म-नियम' की गतिको समझनेमें भारी भूल करते हैं और अकारण ही कर्तव्य-विमूढ़ होकर मनमारे बैठे रहते हैं तथा दुःख सहते हुए भाग्य और ईश्वरको कोसते रहते हैं; जब कि इसके विपरीत हमारा भविष्यरूप क्रियमाण कर्म हमपर ही निर्भर करता है। हम ही इस क्रियमाणको बिगाड़कर अपने भविष्यको अन्धकार-मय बना सकते हैं या उसे सुधारकर, अन्धेरेमें हों तो प्रकाशमें आ सकते हैं । हमारे धर्मशास्त्र इसी हेतु हमें आदेश देते हैं कि हम स्वयं अपने शत्रु हैं तथा स्वयं ही अपने मित्र हैं, अन्य कोई नहीं; क्योंकि हमारे ही वर्तमान बुरे कर्म हमारे

भविष्यके शत्रु हैं और अच्छे कर्म मित्र। क्या यह हमारे ही हाथकी बात नहीं है कि हम अपने शत्रुओंकी संख्या घटाकर मित्रोंकी संख्या बढ़ावें ? यही शिक्षा तो हमें कर्म-नियमसे लेनी है। भगवान् श्रीकृष्णने इसी कारण ऐसे कितने ही शिक्षाप्रद वचन कहे हैं जिनमें यह कर्म-नियम कूट-कूटकर भरा है—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥
बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्॥

(गीता ६। ५-६)

अर्थात् 'अपने द्वारा ही अपना उद्धार करे, अपनेको गिरावे नहीं; यह आप ही अपना वैरी है और आप ही अपना मित्र है। जिसने अपनेको जीत लिया है, वह आप ही अपना मित्र है और जिसके द्वारा अपने आपको नहीं जीता गया है उसका वह आप ही शत्रुके समान सदा बर्ताव करता है।'

इस उपदेशमें क्या निराशाको छोड़कर अपने आपको अपने हाथमें लेकर अपना ही उद्धार करनेका सुन्दर आदर्श नहीं है ? क्या यह विषमताको दूर करनेका अत्युत्तम मार्ग नहीं ? कर्म-नियमका यही रहस्य है।

हमारे प्रारब्धरूप कर्मकी गति तो उन बाणोंकी भाँति है जो हमारे धनुषकी प्रत्यञ्चासे छूट चुके हैं और वे अब अपने वशके नहीं; परन्तु धनुषपर चढ़ाया हुआ वर्तमान बाण और तरकसमें रक्खे हुए भविष्यके काम आनेवाले बाण तो हमारे हाथमें हैं, जिन्हें हम अपने इच्छानुसार अच्छे या बुरे लक्ष्यपर छोड़ सकते हैं, यह हमारे हाथकी बात है, अन्यकी नहीं। यानी हमारा वर्तमान और भविष्य या आगामी कर्म हमारे ही हाथ है, जो हमारी कलकी परिस्थितिका निर्माता है। अतः हमें अपने क्रियमाण कर्मपर, जिसपर हमारा भविष्य निर्भर है, विशेष रूपसे विचार करना आवश्यक है।

इसी क्रियमाण या आगामी कर्ममें विषमतायुक्त स्थितिसे त्राण पानेकी कुंजी छिपी हुई है। हममेंसे प्रत्येक दुःख भोगनेवाले, प्रत्येक सङ्कटोंमें पड़े हुए, प्रत्येक कर्मभारसे दबोचे हुए व्यथित व्यक्तिके लिये परमावश्यक है कि वह भगवान् श्रीकृष्णके आदेशानुसार अपनेको अपने हाथमें ले और यह सोचे कि हमें यह दुःखपूर्ण संसार क्यों मिला है, जब कि हमारा पड़ोसी सुखोपभोग कर रहा है।

यदि हम इस 'कर्म-नियम' की गतिके आधारपर अपनी दुःखद अवस्थाओंका विश्लेषण करें तो हमें भलीभाँति विदित होगा कि अपनी इन सुखमयी अथवा दुःखमय विषमतापूर्ण परिस्थितियोंके निर्माता हम स्वयं हैं, अन्य कोई नहीं, और यदि हम स्वयं ही इनके निर्माता हैं तो हम ही इनके सुधारक भी हैं। यही कर्मका मर्म है और यह क्रियमाण या आगामी कर्म ही हमारा तारक या उद्धारक है।

क्रियमाण या आगामी कर्म तीन प्रकारका है—एक शारीरिक (कायिक वा वाचिक), दूसरा वासनात्मक और तीसरा मानसिक। शारीरिक कर्म हमारे वातावरण और परिस्थितियोंका निर्माता है, जिसमें हम जन्म लेते हैं। वासनात्मक कर्म हमें इच्छित वस्तुओंको प्राप्त कराता है या हमसे उन्हें छीन लेता है। मानसिक कर्म हमारे चरित्रका निर्माता है। इस प्रकार यह आगामी कर्म तीन प्रकारका है जिसपर अब हमें क्रमशः विचार करना है। इन तीनों प्रकारके कर्मपर ही हमारा भविष्य निर्भर है। हमारे तीनों प्रकारके कर्म जैसे होंगे बस, वैसी ही हमारी परिस्थिति निर्मित होगी। विषमताग्रस्त स्थितियोंसे त्राण पानेकी कुंजी या रहस्य भी इस आगामी कर्ममें ही छिपा है। आइये हम इसे देखें।

शारीरिक अच्छे अथवा बुरे कर्मोंसे हमारी परिस्थिति कैसे बनती है, यह हमें सर्वप्रथम देखना है। प्रश्न होता है कि हम गरीब क्यों हैं ? हमें वे सुख-सुविधाएँ सुलभ क्यों नहीं हैं, जो दूसरोंको हैं। इसका क्या कारण है ? कर्म-नियम इसका उत्तर देता है 'अपने-अपने कर्म'। इस बातको समझनेके लिये हम एक उदाहरण और लेते हैं।

हम देखते हैं कि प्रकृतिने अपनी सारी निधियाँ सबके लिये समानरूपसे दे रक्खी हैं। अतः स्वभावतः वह चाहती है कि सभी प्राणी उसके नियमोंका अनुसरण करें। प्रकृतिके इस नियमके पालन अथवा उल्लङ्घनने ही आजकी हमारी इन विषमतापूर्ण स्थितियोंका निर्माण किया है। हममेंसे आज जो दुखी हैं, उन्होंने इन प्राकृतिक वस्तुओंको, जिनसे हम आज वञ्चित हैं, भूतमें स्वार्थवश अपने ही लिये बटोर रक्खा होगा और उनका उपभोग औरोंको नहीं करने दिया होगा। इसीलिये तो वे ही (पूर्वमें हमारे ही लिये बटोरी हुई वस्तुएँ) आज प्रकृतिने हमसे छीन ली हैं और वे आज हमें नहीं मिल रही हैं। यही कर्म-विपाक या प्रतिक्रियारूप दुःख हमें मिल रहा है कि वे ही वस्तुएँ हमसे दूर हैं। यह बात हमें नीचेके उदाहरणसे स्पष्ट होगी।

पानी और हवाको लीजिये । इन दोनोंको जितना ही स्वतन्त्रतापूर्वक बहाव मिलेगा उतना ही ये दोनों शुद्ध रहेंगे और यदि इनकी स्वच्छन्द गतिमें जरा भी अवरोध हुआ तो ये दोनों ही अशुद्ध होकर तदनुरूप अपने रोकनेवाले वातावरणको गंदा करेंगे । नदी या कुएँका रुका हुआ पानी और घरमेंकी मुँदी हुई या बंद हवा इसके प्रमाण हैं । हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि समय पाकर ये रुके हुए बंद हवा-पानी सड़ने लगते हैं, परंतु जब ये ही स्वच्छन्दतापूर्वक बहते रहते हैं तो शुद्ध रहते हैं । कुएँका पानी यद्यपि बंद है पर उसका पानी निकलता रहता है, उसका उपभोग होता रहता है, तो वह कुएँमें बंद रहनेपर भी शुद्ध रहता है, परंतु उपयोगमें न लाया जानेवाला कुएँका बंद पानी शुद्ध नहीं रह पाता । बस, ठीक यही दशा हमारे इन गरीब-अमीर मनुष्योंकी है । नैसर्गिक वस्तुएँ चाहे वे जो कुछ भी हों, (संसारमें कोई अनैसर्गिक, अप्राकृतिक वस्तु ही नहीं है । भले ही वह धन-दौलत हो अथवा वह हवा पानी या अन्न हो सब-की-सब नैसर्गिक वस्तुएँ हैं, अनैसर्गिक नहीं) सबके लिये हैं, पर जब कोई स्वार्थपरायण प्राणी इन्हें अपने ही लिये बटोरकर रख लेता है और उनका उपयोग अन्य प्राणियोंके लिये बंद कर देता है तो प्राकृतिक नियमानुसार, कर्मविपाकानुसार, वे ही औरोंके लिये बंद की हुई वस्तुएँ, अवकाश पाकर बंद करनेवाले यानी बटोरनेवालेके लिये भी गंदी बनकर अनुपयोगी और दुर्लभ हो जाती हैं । क्या इसमें सन्देह है ? क्या आपने नहीं देखा है कि जब कोई स्वार्थी मनुष्य अपने कुएँका पानी भरना औरोंके लिये बंद कर देता है तो समय बीतनेपर क्या परिणाम होता है ? उस कुएँके पानीका पूरा उपयोग न होनेसे वह सड़ने लगता है और एक दिन आता है जब उस कुएँका पानी स्वयं उस बंद करनेवाले व्यक्तिके भी उपयोगका नहीं रह जाता यानी समय बीतनेपर बंद करनेवालेके लिये भी वह वस्तु बंद हो जाती है । इसके विपरीत जो मनुष्य अपने कुएँका पानी औरोंको उपयोगमें लाने देता है उसके कुएँका पानी शुद्ध रहता है और औरोंके साथ-साथ कुएँका मालिक स्वयं अन्ततक उसे अपने उपयोगमें लेता रहता है । यह बात स्वयं सिद्ध है और इस सबके अनुभवकी है । इससे तात्पर्य यह निकलता है कि जो वस्तु हम स्वार्थवश दूसरोंके लिये बंद करते हैं वह समय बीतनेपर स्वयं हमारे लिये बंद हो जाती है । यही कर्म-नियमकी महान् गति है, जिसे हम कहते हैं— 'इस हाथ दे, उस हाथ ले ।'

अब तनिक सोचिये कि ऐसी समस्त वस्तुएँ जो हमें आज दुष्प्राप्य हैं, हम जिनसे आज वञ्चित हैं, जो कर्म-विपाकने हमसे छीन ली हैं, इसमें दोष किसका है ? क्या यह बात सत्य सिद्ध नहीं है कि हमने यही वस्तुएँ पूर्वमें दूसरोंसे छीन रक्खी होंगी, उसीका तो यह नतीजा है कि वे ही वस्तुएँ आज हमसे छीनी गयी हैं । याद रहे, यह नियम पानी और हवाके लिये जैसा सत्य है, वैसा ही यह प्रत्येक वस्तुके लिये सत्य है, जिसकी अनुपस्थितिमें गरीब आज दिन-रात दुखी हो रहा है और धनिक जिसके मिलनेसे सुखी है । जब यह कर्म-शिक्षा हमें इन दुःखोंसे मिल जाती है और इससे जब हमें भान हो जाता है कि हमें ऐसी अवस्था क्यों प्राप्त हुई है तब हम निश्चय ही अपने कर्मोंको अपने हाथमें लेते हैं और हर घड़ी यह ख्याल रखते हैं कि हमसे अब कहीं ऐसा दुःखोत्पादक स्वार्थपूर्ण कार्य न बन जाय जिससे आगे चलकर इस प्रकारका दुःख हमें फिरसे उठाना पड़े । यही महान् शिक्षा अज्ञात रूपसे कर्मनियम अपने-आप सब प्राणियोंको हर समय दे रहा है । अतः प्रत्येक मानवके लिये यह आवश्यक है कि प्रारब्धके द्वारा वह जिन-जिन दुःखोंसे दुखी है। उसमें यथार्थ प्राकृतिक नियमकी गतिको समझकर कि वह दुःख क्या शिक्षा देना चाहता है, उससे तुरंत शिक्षा ग्रहण कर अपना भविष्यकर्म सुधारे, तभी वह उन दुःखोंसे अपना पीछा छुड़ा सकेगा, अन्यथा नहीं । इस प्रकार यह क्रियमाण कर्म हमारे हाथ है, जिससे हम अपनी भावी परिस्थितियाँ सुखमयी बना सकते हैं, जब कि प्रारब्धप्रदत्त दुःखोंसे हम शिक्षा ले सकते हैं कि कौन-सा कर्म करनेयोग्य है और कौन-सा त्याग करनेयोग्य है । वास्तवमें वही प्राणी सुखी है जिसने 'कर्म-नियम' रूपी ईश्वरादेशकी यथार्थताको समझकर तदनुरूप अपना जीवन-यापन प्रारम्भ कर दिया है ।

यह कर्म-नियमकी गति जैसे एक मनुष्यके लिये सत्य है, वैसे ही बृहत् रूपसे एकसे अधिक मनुष्योंके लिये यानी किसी भी कुटुम्ब, जाति या राष्ट्र अथवा अनेक राष्ट्र और समस्त विश्वके लिये सत्य है । सृष्टिके नियम व्यष्टि और समष्टि सबके लिये एक ही हैं, अलग-अलग नहीं । जिस प्रकार प्रत्येक व्यक्तिके अच्छे अथवा बुरे कर्म होते हैं उसी प्रकार किसी जातिविशेष अथवा राष्ट्रविशेषके भी होते हैं । शास्त्र कहते हैं 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' इस शास्त्र-कथन या नैसर्गिक नियमके आधारपर अब हम समष्टिरूप राष्ट्रके कर्मपर थोड़ा विचार करें, क्योंकि प्रत्येक राष्ट्रकी आजकी

विषमतापूर्ण सुखी अथवा दुखी स्थिति ठीक उसी प्रकार है जैसे कि अतीतमें उनके कर्म हुए हैं।

प्रारब्धवशात् जो-जो राष्ट्र आज दुखी हैं और अवनतिको प्राप्त हैं, 'कर्मनियम' हमें बताता है कि भूतमें उन-उन राष्ट्रोंके कार्य स्वार्थपूर्ण हुए होंगे। भले ही ऐसे कार्योंका हवाला इतिहासकारोंकी दृष्टि और जानकारीमें आया हो अथवा नहीं—यदि वह बहुत पूर्वका है तो—परंतु इससे कर्मगति नहीं बदलती। बिना कारणके कोई कार्य नहीं हो सकता। और कारण पहले बनता है, कार्य पीछे। यदि कोई अच्छा अथवा बुरा परिणाम आज है तो उसका बनानेवाला कोई कारण भी पहलेसे अवश्य है, यही अचूक कर्म-नियमकी गति है। किसी भी राष्ट्रका आज दुखी होना—अवनतिके गर्तमें जाना ही सिद्ध करता है कि उसके पूर्वके कर्म ही ऐसे होने चाहिये, इसमें सन्देह नहीं। स्रष्टा महान् नियामक है। वह कर्मनियम-रूप अचूक तराजूसे प्रत्येक मनुष्य और राष्ट्रको ठीक-ठीक तौलकर, मापकर कर्मानुसार बिल्कुल उतना ही उल्टा वापस करता है जितना पूर्वमें उस मनुष्य अथवा राष्ट्रने दिया होगा। इस कथनसे बहुतोंका मतभेद है। आज सहस्रों व्यक्तियों एवं राष्ट्रोंके उदाहरण बतलाते हैं कि जो स्वार्थी और दुराचारी होनेपर भी सुखी हो रहे हैं, ऐशो-आराम कर रहे हैं और दुखी नहीं हैं। इसके विपरीत निःस्वार्थी और सदाचारी पुरुष या राष्ट्र दुखी हो रहे हैं और कष्ट पा रहे हैं। परंतु वे व्यक्ति ऐसा समझनेमें भूल करते हैं, क्योंकि अभी उन्होंने कर्म-नियमकी महान् अचूक गतिको नहीं समझा है। कई कार्य ऐसे होते हैं जिनका फल तात्कालिक होता है और कई कर्म ऐसे हैं जिनका फल देरसे होता है। जैसे कोई भी मनुष्य यदि अधिक मात्रामें जहर खा ले तो वह उसी समय मर जाता है; परंतु वही मनुष्य यदि बहुत कम मात्रामें उसी जहरको लेता जावे तो उसके परिणामरूप मृत्युको वह कुछ दिनों बाद प्राप्त होगा। यह अवधि उस मनुष्यकी जहर लेनेकी मात्रापर निर्भर है। ठीक इसी प्रकार कर्मकी गहराई-पर तात्कालिक परिणामका होना अथवा देरसे उस परिणामका होना निर्भर है। क्रियाकी प्रतिक्रिया अवश्य होगी, जल्दी अथवा देरसे। यदि किसीके कर्मोंका फल आज नहीं मिल रहा है तो ठहरो, वह कल तो मिलेगा ही, परंतु मिले बिना नहीं रहेगा। किसीने ठीक ही तो कहा है—

"Though the mills of God grind slowly
yet they grind exceeding small'
Though the stands and waits with
patience with exactness grinds he all."

इस प्रकार इस ईश्वरीय नियममें देर भले ही हो; पर अंधेर नहीं है। एक-न-एक दिन कर्मका बदला चुकाना ही पड़ता है, देरसे अथवा जल्दी। यही अचूक कर्म-नियमकी गति है। इसे कोई भी नहीं तोड़ सकता। भले ही वह व्यक्ति हो अथवा राष्ट्र।

राष्ट्रके प्रत्येक स्वार्थी व्यक्ति अथवा राष्ट्रको इस कर्म-नियमकी गतिसे शिक्षा लेकर अपना तथा राष्ट्रका भला चाहना हो तो तदनुसार उन्हें अपने कर्म सुधार लेने चाहिये। बुद्धिमानी इसीमें है कि हम दूसरोंको गड्ढेमें पड़ते देखकर स्वयं सँभल जायँ और उस गड्ढेमें गिरनेसे बचें, जिसमें हम दूसरोंको पड़ते देख रहे हैं। आजके प्रत्येक दुखी मनुष्य और राष्ट्रसे हमें शिक्षा लेकर अपने तथा अपने राष्ट्रके हितार्थ ऐसे ही उचित और योग्य क्रियमाण कर्म करने हैं जिससे हमारा व्यक्तिगत अपना और राष्ट्रका—दोनोंका ही कल्याण हो।

आज भारत दुखी है, कंगाल है, गिरा हुआ है, ऐसा क्यों है ? प्रत्येक भारतीयके मनमें यह प्रश्न उठता है। आज राष्ट्र इस अवनतिपर क्यों पहुँचा जिससे हमें सैकड़ों वर्षोंतक दासताकी जंजीरें पहननी पड़ीं, आइये हम इसका कर्म नियमके आधारपर विचार करें। केवल इसीलिये कि हमारा नवराष्ट्र हमारी इस गिरी हुई स्थितिसे उचित शिक्षा लेकर आगे तदनुरूप अपनी कृतियाँ सुधारे जिससे कि पुनः ऐसा दुर्दिन हमारे राष्ट्रपर कभी न आवे और उत्तरोत्तर हमारा राष्ट्र सुखी और समृद्धिशाली बने। इसके लिये हमें अपने राष्ट्रके संचित कर्मपर विचार करना होगा, जिसके परिणामस्वरूप प्रारब्धके रूपमें यह आजका दुःख भारतको उठाना पड़ रहा है।

यदि हम भारतके अतीतपर दृष्टि डालें तो क्या देखते हैं कि भारत ही दुनियामें सर्वोपरि समुन्नत राष्ट्र था। यहीं सारी दुनियाका वैभव एकत्रित था। सारे पुराणोंको उठाकर देखिये तो आपको मालूम होगा कि भारतके पूर्व वीरोंने भूतलपर सर्वत्र अपनी विजय-दुन्दुभि बजायी थी। पुराण इस बातके साक्षी हैं। ऐसे एक नहीं अनेक राजाओंने एक ही समय नहीं, अनेक बार भिन्न-भिन्न समयमें राजसूय यज्ञ किये थे। राजसूय यज्ञ केवल विश्वविजेता राजा ही कर सकता है, अन्य नहीं। अतएव जिन्होंने भी राजसूय यज्ञ किये हैं वे सब विश्वविजेता थे, इसकी पुष्टि हमारे पूर्व इतिहास ग्रन्थ पुराण ही करते हैं। इसी कारण हमारे यहाँ सदैव

सम्पत्ति एवं वैभवका भण्डार पूरित रहा है। वेद-पुराणादि हमारे पुरातन धर्मग्रन्थ हमारे ज्ञानकी परम्पराके द्योतक हैं। स्वर्णकी लंका, स्वर्ण और रत्नजटित द्वारिका और मथुरा आदि हमारी समृद्धि एवं अपार सम्पत्तिके नमूने हैं। भारतकी ऐसी वैभवमयी स्थिति कुछ ही समय नहीं थी। भारतीय सभ्यता और संस्कृतिके सामने ही, इतिहासको भी पता नहीं और जिसका पता अब भूगर्भवेत्ताओंने कुछ-कुछ लगाया है, ऐसी भूतमें हुई कई सभ्यताएँ और संस्कृतियाँ, बेबीलोनियाँ आदि विकसित हुईं और समृद्धि भोगकर समाप्त भी हो गयीं। इतना ही नहीं, उनको समाप्त हुए इतने दिन बीत गये कि इतिहास उन्हें भूल भी गया, परंतु हमारी भारतीय संस्कृति तो अभी आजतक वैसी-की-वैसी ही कायम है। यह क्यों और कैसे? क्या कारण है कि जब अन्य सभ्यताएँ, संस्कृतियाँ पैदा हुईं, पनपीं तथा विनष्ट भी हो चुकीं और तब भी उनकी समकालीन ही नहीं, बहुत पूर्वकी हमारी भारतीय सभ्यता अभीतक टिकी हुई है? उत्तर स्पष्ट ही तो है। क्या कारण है कि बहुत पुराने जमानेके बनाये हुए विशाल भव्य मन्दिर और किले आज अभीतक कायम हैं जब कि आधुनिक कालके बने हुए ऐसे कई मन्दिर और किले हमारी आँखोंके सामने देखते-ही-देखते विनष्ट हो जाते हैं। जिन्होंने उन पुरातन, ठोस, सुदृढ़ इमारतकी बनावटको देखा है, उनमें-से कोई भी कहेगा कि हमारे पूर्वज शिल्पकलामें कितने बढ़े हुए थे। उन्होंने पक्की चट्टानोंपर ऐसी पक्की और टिकाऊ इमारतें किस बुद्धिमत्तासे बनायी हैं जो आज सदियोंसे वैसी-की-वैसी खड़ी हैं और जिनकी बनावटपर आजके शिल्पकलावेत्ता दंग रह जाते हैं। बस, ठीक यही हालत हमारी भारतीय सभ्यता या संस्कृतिरूपी विशाल इमारतकी है। यह महान् विशाल भवन पक्की चट्टानरूपी सनातन ज्ञानके आधाररूपी नींवपर बनाया गया है। इसका निर्माण हमारे दिव्यज्ञान-प्राप्त ऋषि-मुनियोंने (शिल्पकारों) नैसर्गिक नियमों अथवा सत्य और पुनीत सनातन धर्मशास्त्रोंके आधारपर किया है। यही कारण है कि हमारी संस्कृति आजतक टिकी हुई है और तबतक टिकी रहेगी जबतक हम अपने दिव्य ज्ञानयुक्त धर्म-शास्त्रोंके अनुसार यानी सृष्टिके नियमोंके अन्तर्गत कार्य करते रहेंगे, इस कथनकी सत्यताका प्रमाण स्वयं हमारी भारतीय संस्कृति ही है। अतः क्या हमारे लिये यह आवश्यक नहीं है कि हमारे राष्ट्रका निर्माण सनातन ज्ञान अथवा मानव-धर्मशास्त्र यानी नीतिधर्म और आचारधर्म जिसमें सृष्टिक्रम-नियम कूट-कूटकर भरा हुआ है, उसपर ही हो। ऐसा ही राष्ट्र; जिसका निर्माण निसर्गके नियमों अथवा ईश्वरीय विधान-पर स्थित होगा, टिकाऊ और वैभवशाली हो सकता है। क्या इसमें संदेह है? (यहाँ हम यह कह देना आवश्यक समझते हैं कि 'धर्म' शब्दसे लोगोंको घृणा-सी हो गयी है, क्योंकि धर्म*का वास्तविक स्वरूप या मतलब बहुत कम लोगोंको मालूम है। 'धर्म' शब्दका अर्थ मतविशेष नहीं, कोई एक विशिष्ट विचार-प्रणाली नहीं और न किसी एक खास महान् व्यक्तिका कथन ही है। 'धर्म' शब्दसे हमारा तात्पर्य ज्ञानयुक्त नीति-शास्त्र और आचार-धर्म—आधुनिक शब्दोंमें यदि कहा जाय तो नैसर्गिक नियम या सृष्टिक्रम-नियम आदि—से है, न कि किसी मतविशेष, क्रियात्मक और रूढ़िधर्मसे, जिन्होंने सत्यधर्मको वास्तविकतामें सेवारकी नाईं ढक दिया है। उसका असली स्वरूप ही बदल दिया है। सेवाररूपी सम्प्रदाय या रूढ़ियोंको अथवा अन्धविश्वासरूपी शृङ्खलाओंको दूर करिये तभी महान् धर्मरूपी शुद्ध निर्मल जल दीख सकेगा। यही हमारा कहनेका अभिप्राय इस धर्मशास्त्रके शब्दोंसे है।) क्या सृष्टिक्रममें या निसर्गकी क्रियाओंमें हमें कभी शङ्का करने-का अवसर आया है? नहीं, क्योंकि हम समझते हैं कि सृष्टिके नियम अबाध्य हैं, अटल हैं, अचूक हैं। अतः इन अबाध्य, अटल, अचूक प्राकृतिक नियमों अथवा धार्मिक शब्दोंका प्रयोग करें तो मानव-धर्म, आचार-धर्म, या नीतिशास्त्र धर्मपर, सनातन पुरातन ज्ञानके आधारपर निर्माण किया गया राष्ट्र क्या टिकाऊ नहीं होगा? क्या इसमें शङ्काकी गुंजाइश रह जाती है? अपने-अपने हृदयोंकी गहरी तहोंमें पहुँचकर हम प्रत्येक विचार कर सकते हैं और इस कथनकी सत्यता और असत्यताका स्वयं निर्णय कर सकते हैं।

जब हम अपनी सभ्यताकी, संस्कृतिकी इस प्रकार विवेचना करते हैं तो स्वाभाविक ही कोई यह प्रश्न पूछ सकता है कि जब हमारी संस्कृति, हमारा धर्मशास्त्र इस कोटिका है तो हमारे राष्ट्रकी ऐसी दयनीय दशा क्यों हुई? हम क्यों इतने दुखी हुए, दूसरोंके द्वारा कुचले गये, लूटे गये और हमें सदियोंतक दासताकी जंजीरें पहननी पड़ीं? कर्म-

---

* 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः'
धर्मेति धारणे धातुर्महत्त्वे चैवमुच्यते।
आधारणे महत्त्वे वा धर्मः स तु निरुच्यते॥
(मत्स्यपुराण)
'धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयति प्रजाः' (महाभारत)

नियम बतलाता है कि इसका उत्तर साफ है 'इस हाथ दे उस हाथ ले'। हमने दूसरोंकी यह स्थिति की होगी तभी तो हमारी ऐसी स्थिति हुई होगी। धर्मसे पतित होकर यदि हमने दूसरोंको लूटा होगा, तो हम स्वयं लूटे गये, हमने दूसरोंको दास बनाया होगा, तभी तो हम दास बने। पुराणोंको उठाकर देखिये, इसका उत्तर मिल जायगा। जब हमारे ही कर्म नीति-... से, आचारधर्मसे पतित होकर दूसरोंको हानिप्रद हुए तभी ... हमारी अवनति हुई। कर्मनियम, सृष्टिक्रम-नियम तोड़... ही हमारी यह दशा हुई है। अपने ही कर्मोंसे हम इस द... कैसे पहुँचे। आइये हम इसपर विचार करें। (शेष ...)

विनय-पत्रिकामें 'आत्मनिवेदन'

(लेखक—साहित्यमहोपाध्याय प्रो०-पं० श्रीजनार्दनजी मिश्र 'पंकज' बी० ए०, शास्त्री, काव्यतीर्थ, सा० व्या० न्यायाचार्य, साहित्यरत्न, साहित्यालङ्कार)

'विनय-पत्रिका'में तुलसीदासजीने अपरिमित पाण्डित्य, शब्द-भाण्डार, वाक्य-विन्यास-पटुता, अर्थ-गौरव, उक्ति-वैचित्र्य और सबसे बढ़कर अपना दिव्य अन्तःकरण खोलकर रख दिया है।'

महामना प्रातःस्मरणीय गोस्वामी तुलसीदासजीकी विनय-पत्रिकाके सम्बन्धमें उपर्युक्त कथन अतिशयोक्ति नहीं, बल्कि अक्षरशः सत्य है। उसमें २८० पद संगृहीत हुए हैं। कुछ क्लिष्ट, संस्कृतमय और रूपकबद्ध पदोंके अतिरिक्त—जिनकी संख्या उँगलीपर गिनायी जा सकती है, शेष भजन हैं—सुपाठ्य, गेय और ताल-स्वरबद्ध। इन पंक्तियोंके लेखकको देहातोंमें नारदीय संकीर्तन-सम्प्रदायमें मृदङ्ग, करताल, झाँझ, निनादित भक्तोंकी सम्मिलित स्वरलहरीमें एक फूलकी भाँति कई बार बहते रहनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है।

'मैं हरि पतित-पावन सुने ।
हम पतित तुम पतितपावन दोउ बानक बने ।'

× × × ×

'जाउँ कहाँ तजि चरन तिहारे ।
काको नाम पतित-पावन है, केहि जग दीन पियारे ।'

× × × ×

अब लौं नसानी, अब न नसैहौं ।
पायो नाम चारु चिंतामणि उर-कर ते न खसैहौं ।'

× × × ×

'ऐसो को उदार जग माहीं ।
बिनु कारन जो द्रवै दीन पै राम सरिस कोउ नाहीं ।'
'माधव, मो सम मन्द न कोऊ ।
जद्यपि मीन पतंग हीन मति मोहि न पूजत कोऊ ।

इत्यादि पदोंमें तुलसीदासजीकी दीनता, विवशता, अहंकारशून्यता सरलातिसरल निरीहता ओतप्रोत है, घुलमिल-सी गयी है। 'जाऊँ कहाँ तजि चरन तिहारे' ... कितनी विवशता है—कितनी कातरता है, विज्ञ पाठक ... विचार कर लेंगे। प्रत्येक पदमें आत्मनिवेदन है, आत्म-त्याग है और हैं हृदयके सच्चे सरल, निष्कपट उद्गार। पदावलीमें मौन-व्यथा, मूक-वेदना रह-रहकर मुखर ... उठती है।

'विनय-पत्रिका' तुलसीदासजीकी स्वानुभूतियोंकी ... मंजूषा है, जिसका ढक्कन राम-दरबारमें माता सीताके हाथों एक ऐसे उपयुक्त अवसरपर धीरे-धीरे खुलता है, जब दिन... दिवसके राज-काजकी झंझटोंसे थके-हारे भगवान् श्रीराम... रामचन्द्र पूर्ण विश्रान्तिके अनन्तर 'सिंहासन'पर विराजमान हैं। उनके मुखपर स्वाभाविक प्रसन्नता है, नेत्र प्रातःसरोज... प्रफुल्ल हैं और होठोंपर पतली विद्युत्‌रेखा-सी सुनहरी मुसकान थिरक रही है। जरा, दरबारी रंग-ढंग और अदब-कायदेकी एक झाँकी भी कर लीजिये।

दरबार सुसज्जित है। सर्वसाधारणके लिये खुला है। ... शीतल बेला है। मारुतिजी पेशकार हैं। चरितनायक श्रीभरतजी... जोरदार सिफारिश की है। श्रीलखनलालजी प्रस्तावक और ... पट्टमहिषी श्रीजनकनन्दिनीजी स्वयं अनुमोदन-समर्थन करनेवाली हैं। तह किया हुआ अर्जियोंका एक पुलिन्दा—दूसरे शब्दोंमें गुलदस्ता ही कह लीजिये—श्रीरामचन्द्रके ... कमलोंमें बड़ी ही शालीनतासे, राज्योचित मर्यादा और नारी-सुलभ शील-संकोचकी रक्षा करती हुई श्रीसीता महारानीजी ... देती हैं। दरबार निस्तब्ध है—चतुर्दिक् नीरव-निस्पन्द ... कविके शब्दोंमें ही उसका एक सजीव शब्द-चित्र ... लीजिये—

'मारुति-मन, रुचि भरत की लखि लखन कही है ।
कलिकालहु नाथ ! नाम सों परतीति-प्रीति एक किंकरकी निबही है ।
सकल सभा सुनि लै उठी, जानी रीति रही है ।
कृपा गरीबनिवाजकी देखत गरीबको साहब बाँह गही है ॥
बिहँसि राम कह्यो, 'सत्य हैं सुधि मैं हूँ लही है' ।
मुदित माथ नावत, बनी, तुलसी अनाथकी, परी रघुनाथ सही है ॥'

बस, अब क्या था। प्रार्थना स्वीकार कर ली गयी। तुलसीको अभयदान मिला। सम्राट्के अपने हस्ताक्षरपर दरबारी मुहर लग गयी, काम पक्का हो गया।

इस प्रसङ्गमें एक बात और कह लूँ-।

हाथ छुड़ाये जात हौ निबल जानि कै मोहि ।
हिरदै तें जो जाहुगे मरद कहौंगो तोहि ॥

—जैसी फटकार बतानेवाले सूरकी-सी न तो तुलसी गरीबमें हिम्मत ही थी और न उस तरह अपनी दरखास्तोंका पुलिंदा बगलमें दबाये वह राज-दरबारमें प्रवेश ही पा सकते थे। यहाँ राजदरबारका प्रश्न था। राजोचित मर्यादाका पालन करना था। जहाँ कदम-कदमपर धक्का, नम्रता और विनयसे ही काम निकल सकता है—बाबूगिरीसे नहीं। नम्रता, दीनता, विवशता और कातरता ही जहाँ एकमात्र संबल हो, जहाँ सेव्य-सेवक-भाव हो, साथ ही राजा-प्रजाका पिता-पुत्र-जैसा सम्बन्ध हो--वहाँ नतमस्तक होना ही पड़ता है। यही मूल कारण है कि विनय-पत्रिकामें वाक्-संयम है, अनौद्धत्य है और रीति-नीति बरती गयी है।

सूरदासजीकी श्रीकृष्णपरक उपासनाका मेरुदण्ड सख्यभाव है। बाल-गोपालके साथ उनकी गाढ़ी छनती है, खूब पटती है। दोस्ती है—वैसी-तैसी नहीं, दाँतकाटी रोटी-सी। लँगोटिया यारी है। माखन-चोरीसे लेकर द्वारका-पलायनतक दोनोंका साथ है। सूरदासजी कन्हैयाकी अभीर-गोष्ठीके एक अन्तरङ्ग सदस्य हैं और सूरका कन्हैया उनकी डाँट-फटकारोंका आदी, व्यङ्ग्य-आक्षेप, कटूक्ति-वक्रोक्तियोंका पुराना अभ्यस्त है। एक कानसे सुन लेना और दूसरेसे बाहर कर देना ही पड़ता है। अन्यथा दोस्तीमें दिन-दोपहर कुश्ती हो जाय। बना-बनाया खेल बिगड़ते कितनी देर ? एक शब्दमें यों कहा जा सकता है कि सूरदासको दरबारतक जानेकी कभी नौबत ही न आयी। गोकुलसे मथुरातक तो प्रतिदिनका आना-जाना है। यों तो डंडा फटफटाता हुआ अन्धा अपनी कफलीपर कोई अपना पीलू या आसावरी राग छेड़ता हुआ द्वारका और प्रभासक्षेत्रतक भी श्रीकृष्णका पिण्ड नहीं छोड़ता है। मान लिया जाय कि सूरदासजीको भी श्रीकृष्णके दरबारमें जाना ही पड़ता तो सुदामा दा' की तरह बड़े भइया बनकर मजेमें अपनी बवाई फटे शतच्छिद्र चरणोंकी धूल रुक्मिणीके कर-कमलोंसे धुलवा आते। परंतु तुलसीकी समस्या उनकी अपनी है।

साथ ही तुलसीकी समस्या सामान्य नहीं। उसका एक-मात्र हल विनय-पत्रिका है। और विनय-पत्रिकाका मूलाधार क्या है ? दीनता-प्रदर्शन और आत्मसमर्पण। जिसकी पृष्ठ-भूमिमें सीता-माताका वरदहस्त है—स्नेह-वात्सल्यकी सान्द्र सुशीतल वटच्छाया है।

तुलसीकी जगज्जननी सीताविषयक जो विनय है, उसे सुनकर ऐसा कौन पाषाणहृदय है जो द्रवित नहीं हो जाता। उसमें बड़े-से-बड़े वज्र-हृदयको भी द्रवित करनेकी शक्ति है। माताके अञ्चलके नीचे, जहाँ वात्सल्य और करुणा-के एक नहीं—दो-दो उत्स फूट पड़े हैं। रोना-बिलखना पुत्रकी दुर्बलता नहीं, सबलता है। वास्तवमें तुलसीदासजीने ही 'बालानां रोदनं बलम्' वाली कहावतको चरितार्थ कर दिखाया है।

प्रकृतिकी जड़ताको—भुवनमोहिनी महामायाके मिथ्या किंतु मजबूत बन्धनको छिन्न-भिन्न कर डालनेकी ताकत उसी पुत्रके हाथमें आ सकती है जिसपर त्रिपुरसुन्दरी जगदाधार-भूता महामायाके अभय और वरद उभय हस्त उठे हों। तान्त्रिक साधनाकी दार्शनिक पृष्ठ-भूमिमें जिसकी प्रसाद-प्राप्तिके लिये वामाचार और दक्षिणाचार दो मार्गोंका उल्लेख है। वहाँ दक्षिणाचारसे माताकी असीम दयाका अधिकारी होकर साधक उसकी दुस्तर मायाको पार कर सकता है।

या देवी सर्वभूतेषु मातृरूपेण संस्थिता ।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ॥

अथवा—

सीय राममय सब जग जानी ।
करौं प्रनाम जोरि जुग पानी ॥

जैसे बीजमन्त्रको तुलसीदासजीने ही चरितार्थ कर दिखाया है। जगज्जननीके कृपा-कटाक्ष बिना जीव पाशबन्धनसे विमुक्त ही क्योंकर हो सकता है। यही कारण है कि तुलसी गरीबने भी माका दामन थाम लिया है और एक निरीह बालककी भाँति फफक-फफककर रो रहा है।

तुलसीकी जीवन-यात्रामें—जिंदगीके लंबे सफर और

काँटेदार मंजिलमें यही तो एक पाथेय है । बेचारा पथिक करे भी तो क्या । अपना संबल लिये राजदरबारकी ओर बढ़ता जा रहा है । एक बात और । पितासे जो काम जल्दी नहीं बनता या बिगड़ जा सकता है, वही माके द्वारा बन तो जाता ही है, सँभल भी जाता है । तुलसीको भी अपनी स्नेह-ममता-वात्सल्यमयी माताका ही पूर्ण भरोसा है । उनमें आत्म-बल है—दृढ़ विश्वास है । वह आगे बढ़कर माका अञ्चल धरता है—पिताका दुपट्टा पकड़ना तो दूर रहा, छूते भी डरता है । सुनिये, सीताकी अञ्चल-छायामें खड़ा—अकुतोभय और निर्भीक-सा वह क्या कह रहा है—

> कबहुँक अंब, अवसर पाइ ।
> मेरिऔ सुधि द्याइबी, कछु करुन कथा चलाइ ॥

पूरा गीत पढ़कर देखिये । सिफारिशकी चिट्ठीके लिये कविने कितने निरीह, निर्दोष और निष्कपट शब्द कहे हैं । यह कोरा वाग्विलास नहीं—एक भक्तके हृदयके सच्चे उद्गार हैं । बालचपलता नहीं—विमुख या भूले हुए पिताका ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करनेका प्रयास है । आत्मनिवेदन है । अपने दुःख-दर्द, अपनी आह-कराह और वेदना-व्यथाका ब्यौरा है । वात्सल्यके वरदानकी विश्वासपूर्ण आकाङ्क्षा है ।

श्रीरामचरितमानस तुलसीदासजीका स्वाध्यायपूर्ण 'नाना-पुराणनिगमागमसम्मतम् ।' तथा 'क्वचिदन्यतोऽपि'—जैसे उन्हींके खुले शब्दोंमें रोक-उधारके आधारपर लिखा हुआ एक प्रबन्ध काव्य है । उसमें कविकी काव्य-प्रतिभा, अद्वितीय पाण्डित्य, विस्तृत ज्ञान-विज्ञान और व्यापक दृष्टि है । साथ ही प्रबन्ध काव्य होनेके कारण उसका क्षेत्र भी बहुत विस्तृत है । फिर भी वह उसकी अनुभूतिका पूरा चित्रण नहीं ।

विनय-पत्रिका ही कविकी स्वानुभूतियाँ लेकर राजा रामके दरबारतक पहुँच पायी है । इसका अभिप्राय कदापि यह नहीं कि रामचरितमानस, तुलसी-सतसई, गीतावली, कवितावली और दोहावली आदिमें अरण्यरोदन ही हैं । हाँ, इतना तो अवश्य कहूँगा कि महाकाव्यका थका-हारा कवि अपनी मुक्तरचनामें—विनयपत्रिका-जैसी भक्ति-मंदाकिनीमें गोते लगा-लगाकर जुड़ाता है—पूर्ण विश्राम पाता है । विनय-पत्रिका तुलसीका शान्तिनिकेतन है । उसकी पदावली सोपान-मालिकाकी भाँति भक्तको शीतल, शान्तिमयी भक्ति-सरिताकी गहराई तक निर्बाध गतिसे पहुँचा देती है ।

रामचरितमानसका तुलसी एक प्रबन्ध काव्यकार है, महाकवि है, महापण्डित है और है ज्ञानी, तार्किक, दार्शनिक और राजनैतिक; किंतु विनय-पत्रिकाका तुलसी पहले भक्त है, ज्ञानी और दार्शनिक बादमें । उसकी दार्शनिकता देखिये—

> माधव ! मोह-फाँस क्यों टूटै ।
> बाहिर कोटि उपाय करिय, अभ्यंतर ग्रन्थि न छूटै ।
> घृतपूरन कराह अंतरगत ससि प्रतिबिंब दिखावै ।
> ईंधन अनल लगाय कलपसत औटत नास न पावै ।

—में घटाकाश, महाकाश, जीव-ब्रह्मका बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव, आत्माकी अमरतादि दार्शनिक विषयका प्रतिपादन किया गया है । तारीफ़ तो यह है कि जिस गूढ़ तत्त्वको दार्शनिकोंने लच्छेदार, क्लिष्ट-संश्लिष्ट और समासयुक्त शब्द-जालमें उलझाया है, वहाँ तुलसीने सरल, सुबोध और ग्रामीण जनताकी अवधी और व्रजभाषामें सुस्पष्ट कर दिया है । आत्मा क्या है ? इस प्रश्नको लेकर नैयायिक, सांख्यकार, वैशेषिक, पातञ्जल, मीमांसक, उपनिषत्कार और वेदान्तियों में गहरा मतभेद आ रहा है । ऐकमत्य सम्भव भी नहीं । वेदान्तियोंमें अविच्छिन्नवाद और प्रतिबिम्बवाद—ये दो प्रमुख हो उठे हैं । अवच्छिन्नवादमें अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्यको और प्रतिबिम्बवादमें अन्तःकरण-प्रतिबिम्बित चैतन्यको जीवात्मा स्वीकार कर लिया गया है ।

अवच्छिन्नवादियोंके मतानुसार अनादि, अनन्त अद्वितीय चिन्मात्र सम्पूर्ण जगत्में व्यापक है । अन्तःकरण शरीर-भेदसे भिन्न-भिन्न हैं । अतएव अनेक हैं । अन्तःकरण परिच्छिन्न हैं । अतएव अन्तःकरण चैतन्यके अवच्छेदक हो सकते हैं । सुतराम् अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य ही जीवात्मा है और अन्तःकरणरूप उपाधिके भेदसे अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य जीवात्मा भिन्न-भिन्न होंगे । जैसे आकाश एक होनेपर भी सर्वगत होनेके कारण सभी पदार्थोंके साथ सम्बद्ध है । यही कारण है कि घटाकाश, पटाकाश इत्यादि रूपमें घट-पटादि उपाधिभेदसे आकाश भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं । इसी प्रकार आत्मा एक होनेपर भी नाना रूपमें प्रतीत होती है । सर्वगत आकाशका जिस प्रकार घटादि पदार्थोंके द्वारा अवच्छेद अवश्यम्भावी है, उसी प्रकार चैतन्यका भी अन्तःकरणके द्वारा अवच्छेद अपरिहार्य है । ब्रह्मसूत्रकार महर्षि वेदव्यासने अपने 'अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापि दाशकितवादित्व-मधीयत एके ।' (२।३।४३) इस सूत्रमें अवच्छिन्नवादका समर्थन किया है ।अतएव जो अविच्छिन्न है वही तो अंश है—निर्दिष्ट हो सकता है । जीवात्मा परमात्माका अंश है—गीतासे भी अनुमोदित है ।

प्रतिबिम्बवाद अवच्छिन्नवादका विरोधी है। प्रतिबिम्ब-वादियोंका कहना है कि अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य जीवात्मा नहीं है। उनका कथन है कि अन्तःकरणप्रति-बिम्बित चैतन्य ही जीवात्मा है। अन्तःकरण या बुद्धि सत्त्व-प्रधान है। अस्वच्छ है। उसमें चैतन्य प्रतिबिम्बित होता है। यह चित् प्रतिबिम्ब ही जीवात्मा है। बुद्धिरूप उपाधि-भेदसे अर्थात् भिन्न-भिन्न बुद्धिमें चित् प्रतिबिम्ब भी भिन्न-भिन्न होता है; अतएव इससे सुख-दुःख-भोगादिका भी अनायास ही समर्थन हो जाता है।

प्रतिबिम्बवाद ब्रह्मसूत्रके अनुकूल नहीं है। फिर भी जीवात्मा परमात्माका अंश है। इससे जिस प्रकार अवच्छिन्न-वाद प्रतिपन्न होता है उसी प्रकार अवच्छेदक उपाधि-भेदसे जीवात्माके भिन्न-भिन्न होनेपर भी आश्रयरूप उपाधि-भेदसे प्रतिबिम्ब भी भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। अतएव अन्तःकरणा-वच्छिन्न चैतन्य जिस प्रकार महाचैतन्यका अंश विवेचित हो सकता है; उसी प्रकार अन्तःकरण-प्रतिबिम्बित चैतन्य भी महा-चैतन्यका अंश विवेचित हो सकता है। अथ च 'अंशो नाना-व्यपदेशात्' व्यासके इस सूत्रके साथ प्रतिबिम्बवादका सामञ्जस्य है—कोई भी विरोध नहीं।

ज्योतिस्वरूप सूर्य या चन्द्र एक है। वह जिस प्रकार भिन्न-भिन्न जलमें अनुगत या अनुप्रविष्ट होकर अनेक हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा चिन्मात्र अथवा एक होनेपर भी उपाधिद्वारा क्षेत्र-देहादिमें अनेक हो जाती है।

केसव! कहि न जाइ का कहिये।
देखत तव रचना बिचित्र हरि! समुझि मनहिं मन रहिये॥
सून्य भीतिपर चित्र, रंग नहिं, तनु बिनु लिखा चितेरे।
धोये मिटइ न, मरइ भीति, दुख पाइअ एहि तनु हेरे॥
रबिकर-नीर बसै अति दारुन मकर रूप तेहि माहीं।
बदन-हीन सो ग्रसै चराचर, पान करन जे जाहीं॥
कोउ कह सत्य, झूठ कह कोऊ, जुगल प्रबल कोउ मानै।
तुलसिदास परिहरै तीन भ्रम, सो आपन पहिचानै॥

इसमें दार्शनिक तत्त्वका विश्लेषण और विशदीकरण किया गया है। सृष्टिका कोई स्थूल या भौतिक आधार नहीं है। यहाँ पौराणिक शेष, कच्छप या वाराहकी बात नहीं आयी है और वैदिक एवं वैज्ञानिक आधारको भी लचर एवं नगण्य करार दिया गया है। साथ ही 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' द्वैत-अद्वैत-द्वैताद्वैत और विशिष्टाद्वैतके आचार्योंका हवाला दिया गया है। दार्शनिकोंकी समस्याएँ प्रदर्शित हुई हैं, पर दार्शनिक मीमांसाका प्रयास नहीं किया गया है।

'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः'—गीता आदिके ऊहात्मक विषयकी ओर संकेत है।

इस पदकी दार्शनिक विवेचनासे निबन्धका कलेवर बढ़ तो जायगा ही, साथ ही विषयान्तर हो जायगा। अतएव तुलसीकी दार्शनिकतापर विहङ्गम दृष्टिसे ही काम लिया जा रहा है।

'बिछुड़े रबि-ससि मन-नैननि तें'·· ······और
'तहँ रिपु राहु बड़ेरो।'

—में यजुर्वेदोक्त—'चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्योऽजायत' का पाण्डित्यपूर्ण सरल अनुवाद है। साथ ही जहाँ क्रम-भंगदोष है। 'शशि-रवि' ऐसा पाठ्यक्रम हो तो फिर कोई दूषण नहीं। इस प्रकार स्थल-स्थलपर उनका शब्द-भाण्डार, दार्शनिक विद्वत्ता और गम्भीर पाण्डित्य है।

विनय-पत्रिकाकी रचना—रामचरितके बाद तुलसीदास-जीके तीर्थभ्रमणादिके अवसरोंपर चित्रकूट, काशी और अयोध्यादिमें हुई जान पड़ती है। सारे पदोंकी रचना एक जगह होनेकी बात मुझे मान्य नहीं। हाँ, अधिकांश पदोंकी रचना चित्रकूटमें हुई है यह सर्वतोग्राह्य है। एक बात और अनुभूतिप्रधान होनेके कारण विनय-पत्रिकाकी प्रभविष्णुता रामचरितमानससे भी कहीं बढ़-चढ़ गयी है। कतिपय विद्वानों-का तो अनुमान है कि विनय-पत्रिका कई अंशोंमें रामचरित-मानससे भी उत्कृष्ट ठहरती है।

विनय-पत्रिकाकी शैली मैथिलकोकिल विद्यापतिकी पदावलीके ढंगकी है। महामना सूर भी अपने 'सूरसागरकी शैलीके लिये विद्यापतिके ऋणी हैं। उक्त ग्रन्थोंकी तरह विनय-पत्रिका भी मुक्तक (फुटकर) रचनाओंका संग्रह है। दार्शनिक-जैसे गम्भीर और पाण्डित्यपूर्ण विषयोंके प्रतिपादन करनेका ढंग तुलसीका अपना है और यह उसकी खास खूबियाँ हैं।

विनय-पत्रिकाकी पदावली राग-रागिनीयुक्त गेय और लयात्मक है। कुछ क्लिष्ट पदोंके अतिरिक्त सभी गेय हैं। इसे वेणु-काव्य (Lyrics) भी कहा जा सकता है।

रामचरितमानस और विनय-पत्रिका दोनोंकी भाषा संस्कृतगर्भित है। वर्णन-प्रणाली और विषय-प्रतिपादन भिन्न-भिन्न। 'प्रिय-प्रवास'की भूमिकामें अपनी सफाई पेश करते हुए श्रीहरिऔधजीने लिखा है—'क्या रामचरितमानस, रामचन्द्रिका और विनय-पत्रिकासे भी प्रिय-प्रवास अधिक संस्कृत गर्भित है? हरिऔधजीका कहना यथार्थ और युक्ति-संगत

है। हाँ, रामचरित-मानसकी तरह विनय-पत्रिका अवधीप्रधान नहीं, व्रजभाषा-क्रियान्विता संस्कृतप्रधान है। जहाँ-तहाँ भोजपुरी मगहीकी टेढ़ी बोलियोंके शब्द भी व्यवहृत हुए हैं। जैसे—

काँट कुड़ाय लपेटन लोटन ठाँवहि ठाँव बझाऊ रे।

श्रीशिवपूजन सहायजीका कहना है कि ये शब्द भोजपुरिया कहारोंकी बोलियाँ हैं। वे इसी प्रकार रुपहला, सुनहला, कमरतोड़ इत्यादि लाक्षणिक शब्दोंके सफेद-पीले कटरेंगनीके फूलोंके लिये और ऊबड़-खाबड़ जमीनके लिये व्यवहार किया करते हैं।

रचना-प्रणाली, शब्द-विन्यास-पटुता, शैली-भाषा, भाव-गाम्भीर्य, शब्द-चयन-चातुरी तथा विषयप्रतिपादन सौष्ठवके अतिरिक्त विनय-पत्रिकामें जो सबसे बड़ी विशेषता है, है 'रसः शान्तस्तथा परम्' का कलकल प्रवाह। और ... यह है कि कविने इसमें अपना अन्तःकरण खोलकर ... दिया है। इस दर्पणमें तुलसीका कवि, उसका ... उसका दार्शनिक सभी स्वरूप सुस्पष्ट रूपमें प्रतिबिम्बित है। हैं। उसके आत्मनिवेदनने विनय-पत्रिकामें प्राण फूँक दिये। यही कारण है कि विनय-पत्रिका उसकी एक सजीव ... अमर रचना है। तुलसीका अन्तःकरण इसमें मूर्त ... जीवन्त हो उठा है। लाला कन्नोमल एम्० ए० के मत... डेविडके बाइबिलसम्बन्धी भजनोंकी तरह उसका ... प्रसार हो रहा है और होता रहेगा।

कामके पत्र

(१)

निराशाकी स्थितिसे निकलनेका अमोघ उपाय

प्रिय भाई, सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। आप जो अपनेको दीन, हीन, सर्वथा निराश और नष्टजीवन मानते हैं, सो ऐसी स्थितिमें इस प्रकारके भाव प्रायः आया करते हैं। इस अवस्थामें मनुष्य यह मान बैठता है कि 'अब इस जीवनमें मेरी स्थितिमें किसी प्रकार भी सुधारकी आशा नहीं है।' वस्तुतः यह स्थिति बड़ी ही दयनीय है। आपने अपने लिये क्या करना चाहिये पूछा, सो जहाँतक मेरी समझ है, इस स्थितिमें मनुष्यको चाहिये कि वह सब प्रकारसे भगवान्के शरण हो जाय। अपनेको सर्वथा निरुपाय मानकर भगवान्के चरणोंमें डाल दे। ऐसी हजारों उलझनोंसे भरी हुई और सर्वथा निराश स्थितिसे निकलनेका एक ही अमोघ उपाय है कि अपनेको भगवान्के भरोसे छोड़ दे और भगवान्की मङ्गलमयी इच्छाको—उनके कल्याणमय विधानको स्वच्छन्दताके साथ अभिव्यक्त होने दे। भगवान्की मङ्गलमयी इच्छामें, उनके मङ्गल विधानमें सभी कुछ सर्वथा सुन्दर, कल्याणमय, प्रेममय और आनन्दमय है। उसमें दीनता, हीनता, निराशा और जीवनकी नष्ट... कोई स्थान ही नहीं है। हम जो आज इतने दीन, ... तथा निराश हैं इसका कारण यही है कि हमने ... सक्तिके कारण भगवान्की मङ्गलमयी व्यवस्थासे ... अपनी कुछ इच्छाएँ बना ली हैं, और उन्हींकी ... जीवनमें सुख और कल्याणकी सम्भावना मान बैठे ... इसीसे बार-बार निराशाका सामना करना पड़ता है। इस निराशा और दुःखकी स्थितिसे पार पानेका ... है बस, दृढ़ विश्वासके साथ अपनेको सर्वथा पूर्ण... भगवान्के भरोसेपर छोड़ देना। उनके प्रति पूर्ण ... कर देना। और यह कठिन भी नहीं है। जो ... असहाय, निराश और आश्रयहीन है, वह दीन... भगवान्की शरण छोड़कर और कहाँ जायगा। ... लोग तो सफलताकी पूजा करते हैं, ऐसे अस... जीवनको कौन आश्रय देगा। ऐसे लोगोंके लिये तो ... मात्र अशरण-शरण, करुणावरुणालय भगवान् ही ... आश्रय हैं, जो अकारण ही नित्य प्राणिमात्रके ... सुहृद् हैं। उनका द्वार ऐसे लोगोंके लिये सदा ही ... है। अतएव भगवान्के प्रति आत्मसमर्पण करके ...

कृपाकी प्रतीक्षा करता रहे । भगवान्‌से यह न माँगे कि 'आप मेरे कष्टोंको, मेरी कठिनाइयोंको दूर कर दें ।' यह प्रार्थना भी न करे कि 'मेरी मनचाही चीज या स्थिति मुझे दे दें ।' बस, एकमात्र यही चाहे कि 'भगवान्‌की मङ्गलमयी इच्छा पूर्ण हो, चाहे बाह्यरूपसे वह कितनी ही पीड़ा देनेवाली क्यों न हो ।' उनसे यही कहे—

मेरी चाही करनकी, जो है तुम्हरी चाह ।
तो तुम्हरी चाही करो, यह है मेरी चाह ॥
मेरी चाही हो वही, जो हो तुम्हरी चाह ।
तुम्हरी अनचाही कभी, मत हो मेरी चाह ॥
तुम्हरी चाहीमें प्रभो ! है मेरा कल्यान ।
मेरी चाही मत करो, मैं मूरख अज्ञान ॥

इस प्रकार भगवान्‌को उनकी अपनी मनचाही करनेपर छोड़ दीजिये, फिर देखिये, किस आश्चर्यभरी रीतिसे आपके जीवनकी दशा बदलती है और भगवान्‌की व्यवस्थामें आते ही किस सुन्दरताके साथ सारी व्यवस्था सुसम्पन्न हो जाती है ।

इसमें सबसे पहली वस्तु है भगवान्‌पर विश्वास । भगवान् ही एक ऐसी वस्तु हैं जिनपर विश्वास करनेपर कभी निराश और दुखी नहीं होना पड़ता तथा जीवनमें सदा सहज ही सुख-शान्ति बनी रहती है । सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ और सदा सच्चे सुहृद् भगवान्‌पर विश्वास रखनेवाले पुरुष महान्-से-महान् विपत्ति और दुःखमें भी विचलित नहीं होते और बड़ी ही आसानीसे भगवद्विश्वासके प्रखर प्रकाशद्वारा उस दुःखके अन्धकारका नाश कर देते हैं । पर जो लोग भगवान्‌पर विश्वास न करके भोगोंपर विश्वास करते हैं, उनको तो पद-पदपर निराश ही होना पड़ता है !

अतएव आप भगवान्‌पर विश्वास कीजिये और अपनेको सचाईके साथ उनके मङ्गलमय विधानपर छोड़कर उनकी मङ्गलमयी इच्छाको प्रकट होनेका सुअवसर दीजिये, फिर आप ही सब ठीक हो जायगा ।

(२)

धनसे शान्ति नहीं मिल सकती

प्रिय महोदय, सप्रेम हरिस्मरण । आपका पत्र मिला । धनकी लालसा और धनके संग्रहमें शान्ति कहाँ ? आज लोग धनके पीछे इतने पागल हैं; धनके लिये धर्म, सत्य, प्रेम, शान्ति सबको तिलाञ्जलि देकर येन केन प्रकारेण धनके बटोरनेमें लगे हैं; इसी कारण इतनी चोरबाजारी, घूसखोरी, छीना-झपटी, लूट-खसोट, वैर-विरोध, हिंसा-प्रतिहिंसा और फलतः अशान्ति और दुःखका विस्तार हो रहा है । आज शासक-शासित सभी इस पीड़ासे ग्रस्त हैं । धनका मनोरथ और धन मनुष्यको इतना उन्मत्त बना देता है कि फिर वह आत्मविनाश करनेमें भी नहीं हिचकता । आज जगत्‌में यही हो रहा है—

कनक कनक ते सौगुनी मादकता अधिकाय ।
वह खाये बौरात है यह पाये बौराय ॥

'कनक (धतूरे) से कनक (स्वर्ण-धन) में सौगुनी अधिक मादकता है, धतूरेको मनुष्य खाता है, तब पागल होता है, पर इसके तो पाते ही पागल हो जाता है ।' श्रीमद्भागवतमें अर्थका अनर्थकारी परिणाम बतलाते हुए कहा है—

अर्थस्य साधने सिद्धे उत्कर्षे रक्षणे व्यये ।
नाशोपभोग आयासस्त्रासश्चिन्ता भ्रमो नृणाम् ॥
स्तेयं हिंसानृतं दम्भः कामः क्रोधः स्मयो मदः ।
भेदो वैरमविश्वासः संस्पर्धा व्यसनानि च ॥
एते पञ्चदशानर्था ह्यर्थमूला मता नृणाम् ।
तस्मादनर्थमर्थाख्यं श्रेयोऽर्थी दूरतस्त्यजेत् ॥
भिद्यन्ते भ्रातरो दाराः पितरः सुहृदस्तथा ।
एकास्निग्धाः काकिणिना सद्यः सर्वेऽरयः कृताः ॥
अर्थेनाल्पीयसा ह्येते संरब्धा दीप्तमन्यवः ।
त्यजन्त्याशु स्पृधो घ्नन्ति सहसोत्सृज्य सौहृदम् ॥

× × ×

स्वर्गापवर्गयोर्द्वारं प्राप्य लोकमिमं पुमान्।
द्रविणे कोऽनुषज्जेत मर्त्योऽनर्थस्य धामनि॥
(११ । २३ । १७–२१, २३)

'मनुष्योंको धनके कमानेमें, कमा लेनेपर उसकी रक्षा करने, बढ़ाने तथा खर्च करनेमें तथा उसके नाश तथा उपभोगमें सर्वत्र परिश्रम, भय, चिन्ता और भ्रमका ही सामना करना पड़ता है। चोरी, हिंसा, झूठ, दम्भ, काम, क्रोध, घमंड, मद, भेदबुद्धि, वैर, अविश्वास, स्पर्धा, लम्पटता, जूआ और शराब—ये पंद्रह अनर्थ अर्थ (धन) के कारण ही होते हैं ऐसा माना गया है। इसलिये कल्याण चाहनेवाले पुरुषको उचित है कि वह स्वार्थ तथा परमार्थके विरोधी इस अर्थनामधारी अनर्थको दूरसे ही त्याग दे। भाई-बन्धु, पुत्र-स्त्री, माता-पिता और सगे-सम्बन्धी जो स्नेहके कारण सदा एकमेक बने रहते हैं, कौड़ीके कारण इतने पराये हो जाते हैं कि एक दूसरेके वैरी ही बन जाते हैं। थोड़ेसे धनके लिये ही इन सबका क्षोभ और क्रोध भड़क उठता है, बात-की-बातमें सारा स्नेह-सम्बन्ध भूलकर ये लड़ने-झगड़ने लगते हैं और एक-दूसरेका प्राण लेनेवाले बन जाते हैं—यह मानव-शरीर स्वर्ग और मोक्षका द्वार है, इसको पाकर भी जो लोग इस अनर्थोंके मूल धनके फंदेमें फँस जाता है उसके समान मूर्ख और कौन होगा?'.

आजके बुद्धिमान् (?) मनुष्यने इसी अनर्थकारी धनको जीवनका मुख्य ध्येय मान लिया है और व्यष्टि और समष्टिके लिये इसीको एकमात्र परमसुखका साधन समझकर दिन-रात वह इसीकी चिन्तामें व्यस्त है और भाँति-भाँतिके कुकर्मोंके द्वारा इसके संग्रहमें लगा हुआ है। परम सुखस्वरूप 'भगवान्' और उनकी प्राप्तिके परमसाधन 'त्याग'के पवित्र आसनपर धनकी प्रतिष्ठा करके आज मानव अपने मनुष्यत्वसे गिरकर पशुत्व और पिशाचत्वको अपनाता जा रहा है। यह मनुष्यका बड़ा गहरा पतन है! ऐसी अवस्थामें सुख-शान्ति कैसे मि[ल] सकते हैं?

वस्तुके रूपमें धनका विरोध नहीं, और न यही [है] कि मानव-जीवनमें धन अनावश्यक है और उसे कमा[ना] नहीं चाहिये। बात तो यह है कि धन बुरा नहीं है [पर] उसे रहना चाहिये आज्ञाकारी सेवक बनकर, आराध्य स्[वामी] बनकर नहीं; उसका उपार्जन और उपयोग होना चाहि[ये] धर्मयुक्त सत्य, न्याय, लोकहित और भगवान्‌की सेवा[को] नित्य साथ रखकर। इस प्रकार अर्थ और उपभोग (अ[र्थ और] काम) जब 'धर्मसे संयुक्त और सुरक्षित' होतेहैं तभी [वे] मनुष्यको मोक्षकी ओर बढ़ानेवाले होते हैं। आज मनुष्य[को] धर्मकी कोई परवा नहीं है, उसे तो केवल धन चाहि[ये] फिर वह चाहे किसी भी उपायसे प्राप्त हो। परंतु [याद] रखना चाहिये, इससे शान्ति नहीं मिलेगी। सच्[ची] शान्ति और सुखकी प्राप्तिके लिये तो भगवान्‌के शर[ण] होकर, भगवान्‌का भजन करनेकी आवश्यकता है [...] असम्भव सम्भव हो जाय; परन्तु भजनके बिना न तो हमारे क्लेशोंका नाश होगा और न शान्ति और सुख[के] समुद्र भगवान्‌की ही प्राप्ति होगी।

बिनु हरिभजन न सुनहु खगेसा। मिटहि न जीवन केर कलेसा॥
कमठ पीठ जामहिं बरु बारा। बंध्यासुत बरु काहुहि मारा॥
फूलहिं नभ बरु बहुबिधि फूला। जीव न लह सुख हरि प्रतिकूला॥
अंधकारु बरु रबिहि नसावै। राम बिमुख न जीव सुख पावै॥
हिम ते अनल प्रगट बरु होई। बिमुख राम सुख पाव न कोई॥
बारि मथें घृत होइ बरु सिकता ते बरु तेल।
बिनु हरि भजन न भव तरिअ यह सिद्धांत अपेल॥

और भगवान्‌के भजनके लिये बाहरी पूजन-सामग्रियों[के] साथ-ही-साथ भीतरी पुष्पोंका भी चयन करना चाहिये। वे पुष्प ये आठ हैं—

अहिंसा प्रथमं पुष्पं पुष्पमिन्द्रियनिग्रहः।
तृतीयं तु दया पुष्पं क्षमा पुष्पं चतुर्थकम्॥
ध्यानपुष्पं तपः पुष्पं ज्ञानपुष्पं तु सप्तकम्।
सत्यं चैवाष्टमं पुष्पमेभिः तुष्यन्ति देवताः॥
(स्कन्दपुराण रेवाखण्ड ५१)

'अहिंसा प्रथम पुष्प है, (दूसरा) पुष्प इन्द्रियोंका निग्रह है, तीसरा 'दया' पुष्प, चौथा 'क्षमा' पुष्प, (पाँचवाँ) 'ध्यान' पुष्प, (छठा) 'तप' पुष्प, सातवाँ 'ज्ञान' पुष्प और 'सत्य' आठवाँ पुष्प है । इनके द्वारा देवता सन्तुष्ट होते हैं ।'

सुख-शान्ति चाहनेवालोंके लिये बस यही साधन है कि वे इन आठों पुष्पोंके द्वारा भगवान्‌का भजन करके भगवान्‌की सन्निधि प्राप्त कर लें ।

यह स्मरण रखना चाहिये कि लौकिक धनादि विनाशी पदार्थोंके द्वारा आजतक न तो किसीको शान्ति मिली है और न मिल ही सकती है ।

(३)

भगवान् सर्वसमर्थ हैं

सादर हरिस्मरण । आपका पत्र मिला । आप विश्वास कीजिये, भगवान् 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थ' हैं । उनके लिये कुछ भी असम्भव नहीं है—

× × ×

रीते भरै, भरै पुनि ढोरै, चाहे तो फेरि भरै ॥
कबहूँ तृन डूबै पानीमें, कबहूँ सिला तरै ।
बागर ते सागर करि राखै, चहुँदिसि नीर भरै ॥
पाहन बीच कमल बिकसावै, जलमें अग्नि जरै ।
सूर पतित तरि जाय तनिकमें जो प्रभु नेक ढरै ॥

भगवान्‌के भजनसे ऐसी अग्नि उत्पन्न होती है, जो जन्म-जन्मान्तरके पापोंको क्षणोंमें जला डालती है । भक्तिके प्रयासमें ही सारे प्रायश्चित्त और कर्मफल-भोग एक ही साथ हो जाते हैं । भगवत्कृपासे ऐसी-ऐसी विलक्षण बातें होती हैं जिनकी हमलोग कल्पना भी नहीं कर सकते । जो लोग तर्ककी कसौटीपर कस-कसकर —अपने विषयासक्तिसे दूषित गंदी बुद्धिरूपी तराजूपर तौल-तौलकर भगवान्‌को परखना चाहते हैं, उन्हें तो निराश ही होना पड़ता है पर जो संतों और भक्तोंके अनुभवको परम सत्य मानकर विश्वासके साथ भगवान्‌का भजन करने लगते हैं, भक्ति-मणिको अपने हृदयमें बसा लेते हैं, उनके लिये सब कुछ सुलभ और अनुकूल हो जाता है—

खल कामादि निकट नहिं जाहीं । बसइ भगति जाके उर माहीं ॥
गरल सुधासम अरि हित होई । तेहि मनि बिनु सुख पाव न कोई ॥
ब्यापहिं मानस रोग न भारी । जिन्ह के बस सब जीव दुखारी ॥
राम भगति मनि उर बस जाकें । दुख लवलेस न सपनेहु ताकें ॥

और वास्तवमें उसीमें सारे गुण भी आ जाते हैं—

सोइ सर्बग्य गुनी सोइ ग्याता । सोइ महि मंडित पंडित दाता ॥
धर्म परायन सोइ कुल त्राता । राम चरन जा कर मन राता ॥
नीति निपुन सोइ परम सयाना । श्रुति सिद्धांत नीक तेहिं जाना ॥
सोइ कबि कोबिद सोइ रनधीरा । जो छल छाड़ि भजइ रघुबीरा ॥

मैं ऐसे लोगोंको जानता हूँ, जिन्होंने भगवान्‌पर विश्वास करके असम्भव-से जान पड़नेवाले कार्योंमें विलक्षण सफलता प्राप्त की है और ऐसी महान् विपत्तियोंसे सहज ही तर गये हैं जिनसे तरनेका कोई भी उपाय सामने नहीं रह गया था और ये सब बातें जादूकी भाँति बहुत थोड़े ही समयमें हो गयी हैं ।

अवश्य ही इससे मैं यह नहीं कहना चाहता कि भगवान् हमारी अनुचित और विनाशकारी इच्छाको भी पूर्ण कर देंगे । बहुत बार ऐसा भी हुआ है कि इच्छाके विपरीत फल हुआ है; परंतु आगे चलकर यह प्रमाणित हो गया है कि उस विपरीत फलमें ही हमारा कल्याण था । कहीं अनुकूल फल होता तो बहुत बुरा होता । इसलिये सर्वशक्तिमान् भगवान्‌पर विश्वास करके अपनी समस्या उन्हींको सौंप दीजिये । वे मङ्गलमय मङ्गल ही करेंगे ।

आपने जिन उपायोंका उल्लेख किया है, वे तो वस्तुतः दुःख बढ़ानेवाले ही हैं । 'लोग उन उपायोंको काममें लाते हैं और उनमें सफल होते देखे जाते हैं ।' आपका यह लिखना बाहरी दृष्टिसे ठीक है; परंतु इसमें रहस्य यह है कि वे यदि इस समय सुख-भोग करते हैं

तो वह उनके पूर्वजन्मार्जित किसी पुण्यकर्मका परिणाम है, वर्तमान पापका फल नहीं। बीज बोते ही फल नहीं लग जाते। समय पूरा होनेपर ही परिणाम प्रकट होता है। उनके वर्तमान पापोंका परिणाम जब प्रकट होगा, तब वे सुखमें कदापि नहीं रहेंगे। दुःख और नरक-यन्त्रणामें ही छटपटाते मिलेंगे। आप निश्चय मानिये, बुरेका फल अच्छा और अच्छेका फल बुरा कभी हो नहीं सकता!

सकाम भक्ति बुरी नहीं है, न पाप ही है। सकाम करते-करते ही निष्कामता प्राप्त होती है। भगवान्‌ने तो अपने सकाम भक्तको भी 'सुकृती' और 'उदार' बतलाया है और अन्तमें उसे भगवान्‌की प्राप्ति होगी यह घोषणा की है (देखिये गीता अ० ७ श्लोक १६, १८, २३); परंतु सकाम भक्तिमें भी अनन्य निष्ठाकी आवश्यकता है। सच्ची सकाम भक्ति न तो मनचाही वस्तु प्राप्त होनेपर छूटती है और न मनचाही न प्राप्त होनेपर भी घटती ही है। वह भक्ति है, कोई मोल-तौलका सौदा नहीं है। किसी पतिव्रता स्त्रीको गहनों-कपड़ोंकी इच्छा है पर है वह एकमात्र पतिसे ही। गहने-कपड़े न मिलनेपर उसकी पति-भक्ति कम नहीं होती, और मिल जानेपर ऐसा भाव नहीं होता कि वस्तु मिल गयी, अब पतिसे क्या काम रहा। असलमें सच्चा सकाम भक्त किसी वस्तु या स्थितिको तो चाहता है; परंतु उसका अपने भगवान्‌में दृढ़ विश्वास होता है और वह उस वस्तुकी अपेक्षा अपने भगवान्‌को अधिक मूल्यवान् और आवश्यक समझता है। जो लोग भगवान्‌में श्रद्धा-भक्ति नहीं रखते और अवसर आनेपर किसी कार्यकी सिद्धिके लिये अनुष्ठान करते-कराते हैं, उनकी श्रद्धा सिद्धि न होनेपर तो घट ही जाती है। सिद्धि होनेपर भी स्थिर नहीं रहती। क्योंकि उन्हें भगवान्‌से काम नहीं है, उनका काम तो अपनी ममताकी वस्तुसे है। भगवान् और उनकी पूजाका अनुष्ठान तो उसका साधनमात्र था। साध्य प्राप्त होनेपर साधनसे क्या प्रयोजन! इसलिये सकाम भावसे अनुष्ठान करनेवालोंको भक्त बनना चाहिये सौदागर नहीं।

सबसे ऊँची तो निष्काम अहैतुकी प्रेमभक्ति ही है जो अकारण होती है और जिसके रहे बिना भक्तको चैन नहीं पड़ता। वह एक क्षण भी भगवान्‌को भूल जाता है तो उसे परम व्याकुलता होती है और उसे वह महान्-से-महान् विपत्ति मानता है। इसी भक्तिकी कामना और इसीकी प्राप्तिके लिये साधन-भक्तिका आचरण करना चाहिये।

(४)

सुधार या संहार

सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। आपने हमारे लिये लिखा कि 'आपलोग समाज-सुधारके विरोधी हैं, हजारों वर्षोंकी पुरानी लकीरके फकीर बने हुए उसी गंदगीमें फँसे रहना चाहते हैं। यह आपकी इच्छा है, पर आप दूसरे लोगोंको, जो उस गंदगीसे निकलना चाहते हैं, उसमें क्यों रोक रखना चाहते हैं। इस स्वतन्त्रताके युगमें दकियानूसी विचारोंको लादे रखना मूर्खताके सिवा और क्या है।'

इसका उत्तर यह है कि सुधारके हम भी पक्षपाती हैं। जहाँ-जहाँ बुराई आयी हो, वहाँसे उसे अवश्य हटाना चाहिये। परंतु कोई बात पुरानी है इसीलिये बुरी है और उसे नष्ट करना ही सुधार है, ऐसा मानना हमारी समझसे एक बड़ी भ्रान्ति है। सबसे बड़ा सुधार है—अपने मानस रोगोंको मिटाना। हम दूसरोंका सुधार करने जाते हैं मनमें गंदे विचारोंको भरकर। तब हम उनको क्या देंगे। हमारे अंदर जो गंदगी भरी है, उसीका वितरण करेंगे। सबसे पहले हमें करना चाहिये—आत्मसुधार। आत्मसुधारका अर्थ है अपने मनमें दैवी सम्पत्तिको भरना और फिर प्रत्यक्ष क्रियाके द्वारा उसका सर्वत्र वितरण करना। याद रखना

चाहिये—भाषणकी अपेक्षा क्रियाकी शक्ति प्रबल होती है और उसकी आवाज भी कहीं ऊँची तथा गहरी होती है। आज लोग सुधारके नामपर उन्मत्त हैं। आपने सुधारोंकी जो सूची दी है, वह तो वस्तुतः संहार है, सुधार नहीं। आपकी सूचीकी कुछ प्रधान बातें ये हैं—'जाति-पाँति मिटा दी जाय; अन्तर्राष्ट्रीय विवाह हो; विवाहके बन्धनोंको ढीला किया जाय, यदि विवाह न होकर स्वेच्छानुकूल स्त्री-पुरुष प्राकृतिक रूपसे मिलें तो और भी श्रेष्ठ; यज्ञोपवीत नहीं पहना जाय; हिंदू-मुसल्मानकी पृथक्ता बतलानेवाले चिह्न जैसे चोटी आदि हैं, वे न रक्खे जायँ; स्त्रीको तलाकका अधिकार हो; पूजा-पाठ बंद कर दिया जाय; तीर्थोंको न माना जाय; शास्त्रोंको न माना जाय; सत्य-अहिंसादिकी अपेक्षा तुरंत फल देनेवाली कपट, घृणा, द्वेष, असत्य तथा हिंसाकी क्रियाओंको आजके पीड़ित समाजमें प्रधानता दी जाय; कम्यूनिस्ट (साम्यवादी) भावोंका खूब प्रचार हो; रूसके आदर्शानुसार भगवान्‌को न माना जाय; क्रान्ति और सङ्घर्षको जीवनका प्रकाश बनाया जाय और पुरोहित तथा धनिक वर्गका समूल उच्छेद हो।'

हम तो इनमेंसे अधिकांश बातोंको प्रत्यक्ष संहार मानते हैं। सुधारके नामपर यदि इस संहारको अपनाया गया तो इससे भारतीय संस्कृतिकी जड़ ही कट जायगी। इस मानेमें हमें लकीरके फकीर तथा गंदगीमें फँसे रहनेवाले बतलाया जाय तो हमें सहर्ष स्वीकार है। हम ऐसे सुधारमें महान् हानि समझते हैं इसलिये दूसरे लोगोंको भी इसके न माननेके लिये कहते हैं और ऐसा करना अपना धर्म समझते हैं।

स्वतन्त्रताका अर्थ उच्छृङ्खलता नहीं है, स्वतन्त्रता तो संयम सिखाती है। जहाँ मनमाना आचरण करनेमें स्वतन्त्रता मानी जाती है, वहाँ तो उच्छृङ्खल यथेच्छाचार है और ऐसी उच्छृङ्खलताका तो नाश ही समाजके लिये कल्याणकारी है!

हम तो प्रत्येक क्रियाको इस कसौटीपर तौलना चाहते हैं कि उसके परिणाममें कर्ताका तथा दूसरोंका अहित है या हित। जिस क्रियाका परिणाम अपना तथा दूसरोंका हित है, वह पुण्य है; और जिसका परिणाम अपना तथा दूसरोंका अहित है उसका नाम पाप है।'

पाप-पुण्यकी इस परिभाषाके अनुसार सत्य-अहिंसादिका आचरण और भगवान्‌की सत्ताको मानना आवश्यक होता है। भगवान्‌को माने बिना तथा सत्य-अहिंसादि दैवी गुणोंका आचरण किये बिना ऐसी क्रिया हो ही नहीं सकती, जिसका निश्चित परिणाम दूसरोंके लिये और फलतः अपने लिये कल्याणकारी हो। स्वतन्त्रताके नामपर चलनेवाली उच्छृङ्खलता, सुधारके नामपर होनेवाला संहार और क्रान्तिके नामपर विस्तार पानेवाली भ्रान्ति तो पुण्यके नामपर पापहीको प्रश्रय देती है और उसीके आचरणमें प्रवृत्त करती है, जिसका निश्चित फल अकल्याण या दुर्गति है!

जहाँ सुधारकी आवश्यकता हो, वहाँ सुधार अवश्य करना चाहिये; परंतु पुरानी वस्तुमात्रको ही विघ्न समझना तो बहुत बड़ी भूल है। इस भूलसे भगवान् सबको सदा बचाते रहें।

(५)

भगवान्‌की कृपापर विश्वास करके उनके निज-जन बन जाइये

सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। मेरी आपसे बार-बार यही प्रार्थना है कि आप भगवान्‌की अहैतुकी कृपापर विश्वास करें। छोटे बालककी भाँति आप अपनेको श्रीभगवान्‌के सामने छोड़ दें। फिर आपको प्रार्थना करनेकी आवश्यकता नहीं होगी। सुन्दर सुथरी हुई भाषामें और अच्छे सुरीले शब्दोंमें पदगान करके उनको रिझानेकी बाहरी क्रिया नहीं करनी पड़ेगी। जैसे स्नेहमयी जननी मलमें सने हुए

बच्चेको, उसके बिना कहे ही, स्वयं अपने हाथोंसे धोती, पोंछती और सजाकर उसे गोदमें बैठा लेती है, वैसे ही भगवान् भी आपकी अपने-आप ही सँभाल करेंगे। अपनेको शिशुकी भाँति भगवान्पर छोड़ देनेवालेके 'योगक्षेम'का स्वयं वहन करनेकी भगवान्ने प्रतिज्ञा की है। 'योगक्षेमं वहाम्यहम्'। माताके हृदयमें अपत्य स्नेह है, एक वात्सल्य है जो उसे अबोध शिशुकी सार-सँभाल करनेको बाध्य करता है। फिर भगवान् तो माताओंकी माता हैं। अनन्त मातृहृदयोंमें अनादि कालसे लेकर अनन्त कालतक जो स्नेहका अखण्ड स्रोत बहता रहता है, कभी सूखता ही नहीं, उसका मूल उद्गमस्थान कहाँ है? वह है भगवान्में। जगत्में जो स्नेह-सुधा-रसके बिखरे हुए अनन्त कण दिखायी पड़ते हैं, वे सब-के-सब एकत्र कर लिये जायँ तो भी वे भगवान्के अनन्त गम्भीर स्नेह-सुधार्णवकी एक बूँदके बराबर भी नहीं होंगे। अतएव जगत्के जीवोंके प्रति भगवान्की स्वाभाविक कृपा है, सहज सौहार्द है। सब जीव उन्हींके अंश हैं, सदा उन्हींकी गोदमें हैं। पर जैसे कभी-कभी बालक अपने अज्ञानवश स्नेहमयी माताको कठोर समझ लेता है, उसके व्यवहारमें रूक्षता, कटुता, विषमता और उपेक्षा देख पाता है, वैसे ही अज्ञानी जीव भी भगवान्को स्नेहशून्य, कठोर, पक्षपाती और उदासीन मान लेता है एवं कह बैठता है कि भगवान् मेरी एक भी नहीं सुनते। पर वास्तवमें ऐसा नहीं है। भगवान्के समान शीघ्र पुकार सुननेवाला और कोई है ही नहीं। हम किसी भी भाषामें—अथवा बिना ही कुछ बोले मन-ही-मन भगवान्को अपने मनकी बात कहें, भगवान् तुरंत सुनते हैं और हमारे समझानेमें त्रुटि होनेपर भी उसे यथार्थ समझ लेते हैं तथा उसी क्षण उसका आशापूर्ण उत्तर भी दे देते हैं। वे हमारे पूर्वके पापोंको नहीं देखते, हमारे पापाचरणपर ध्यान नहीं देते। क्योंकि वे पतितपावन हैं। वे तो इतना ही चाहते हैं कि 'मुझपर विश्वास करके मेरा आश्रय ले ले' वैसे ही जैसा छोटा शिशु माताके आश्रित होता है। उनके सामने हृदयको खोलनेकी आवश्यकता है, वाणीको नहीं। वे हृदयमें रहते हैं, उनसे कुछ भी छिपा नहीं है। इसलिये जो लोग अपना हृदय खोलकर उनके सामने अपने पाप-तापोंको रख देते हैं, भगवान् उन्हें अपना लेते हैं और ऐसा बना देते हैं जिसमें फिर उन्हें पाप-ताप छू नहीं सकते। परंतु जो लोग पापोंको छिपाकर भगवान्को धोखा देना चाहते हैं, उनके सामने दम्भ करते हैं, अन्तर्यामी भगवान्के सामने कुछ छिपा तो सकते नहीं, उनकी पतित-पावनताके प्रभावसे अवश्य वञ्चित रह जाते हैं!

अतएव आप श्रीभगवान्की कृपापर विश्वास करके उनके निज जन बन जाइये। फिर वे आपके दोषोंको नहीं देखेंगे। भगवान् इतने मृदुलस्वभाव हैं कि अपने जनोंका दोष नहीं देखकर उन्हें सहज ही अपना लेते हैं—

> **जन अवगुन प्रभु मान न काऊ।**
> **दीनबंधु अति मृदुल सुभाऊ॥**

श्रीगोस्वामीजी महाराजने विनय-पत्रिकामें गाया है—

> **जौ पै हरि जनके औगुन गहते।**
> **तौ सुरपति कुरुराज बालिसों कत हठि बैर बिसहते॥**
> **जौ जप जाग जोग ब्रत बरजित, केवल प्रेम न चहते।**
> **तौ कत सुर मुनिबर बिहाय ब्रज, गोप-गेह बसि रहते॥**
> **जौ जहँ-तहँ प्रन राखि भगतको, भजन-प्रभाउ न कहते।**
> **तौ कलि कठिन करम-मारग जड़, हम केहि भाँति निबहते॥**
> **जौ सुत हित लिये नाम अजामिलके अघ अमित न दहते।**
> **तौ जम-घट साँसति-हर हम-से बृषभ खोजि-खोजि नहते॥**
> **जो जगबिदित पतित-पावन, अति बाँकुर बिरद न बहते।**
> **तौ बहु कलप कुटिल तुलसी-से सपनेहुँ सुगति न लहते॥**

'हे हरि! यदि तुम निज जनोंके दोषोंको

लाते तो इन्द्र, दुर्योधन और बालिसे हठ करके क्यों शत्रुता मोल लेते ? यदि तुम जप, यज्ञ, योग, व्रत आदि छोड़कर केवल प्रेमपर ही नहीं रीझते तो देवता और श्रेष्ठ मुनियोंको छोड़कर व्रजमें गोपोंके घर किसलिये निवास करते ? यदि तुम जहाँ-तहाँ भक्तोंका प्रण रखकर भजनका प्रभाव न बताते तो हम-सरीखे मूर्खों-का कलियुगके कठिन कर्मपदमें किस प्रकार निबाह होता ? हे कष्टहारी ! यदि तुमने पुत्रके संकेतसे नारायणका नाम लेनेवाले अजामिलके अनन्त पापोंको भस्म न किया होता, तो फिर यमराजके दूत तो हम-सरीखे बैलोंको खोज-खोजकर हलमें ही जोतते । और यदि तुमने जगत्-प्रसिद्ध पतितपावनताका बाँका विरद न धारण किया होता तो तुलसी-सरीखे कुटिल तो अनेक कल्पोंतक स्वप्नमें भी शुभ गतिको प्राप्त नहीं होते ।'

इस प्रकार जब भगवान् आपको अपना लेंगे तब आप सहज ही पाप और संतापसे सर्वथा रहित हो जायँगे । एवं समस्त दिव्य गुण अपने-आप ही अपने-को सार्थक करनेके लिये आपकी शरणमें आ जायँगे—

जाको हरि दृढ़ करि अंग कर्‌यो ।
सोइ सुसील, पुनीत, बेदबिद, बिद्या गुननि भर्‌यो ॥

(६)

श्रीकृष्णका स्वरूप-तत्त्व

सप्रेम हरिस्मरण । कृपापत्र मिला । आपके प्रश्नोंपर क्रमशः विचार किया जाता है ।

१–भगवान् वृन्दावन छोड़कर कहीं नहीं जाते तो सर्वव्यापी कैसे हुए ? यह शङ्का भगवान्‌के स्वरूप और स्वभावको न जाननेके कारण ही उठायी जाती है । भगवान् प्रेमस्वरूप हैं, प्रेमकी निधि हैं, प्रेममें ही प्रकट होते हैं, प्रेमियोंके साथ रहते, उन्हें सुख देने तथा उनके साथ प्रेममयी लीलाएँ करनेमें ही उनको आनन्द मिलता है । भगवान् शङ्करका कथन है—'हरि ब्यापक सर्बत्र समाना । प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना ॥' भगवान् सर्वत्र व्यापक हैं, कण-कणमें उनकी स्थिति है; किंतु प्रेमसे ही वे प्रकट होते हैं । ब्रह्मरूपसे, निर्गुण-निराकार स्वरूपसे वे सर्वत्र हैं, सर्वदा हैं और सबमें हैं; इसको कौन अस्वीकार कर सकता है ? किंतु सगुण-साकार विग्रह, जो कोटि-कोटि कन्दर्पका दर्प दलन करनेवाला है, सर्वत्र नहीं—प्रेम-धाममें ही प्रकट होता है । प्रेमके भूखे बाँके-बिहारी प्रेमधाम वृन्दावन छोड़कर और कहाँ रह सकते हैं ? जहाँ श्रीकृष्णको तन, मन, प्राण समर्पित करनेवाली प्रेममयी गोपियाँ नहीं हैं, श्रीकृष्णको ही जीवन-सर्वस्व मानकर तदेकप्राण होकर रहनेवाली श्रीराधा नहीं हैं तथा श्यामसुन्दरको सुख पहुँचानेके लिये ही जीवन धारण करनेवाले प्रेमी ग्वाल-बाल नहीं हैं, वहाँ प्रेमपरवश श्रीकृष्ण कैसे रह सकते हैं ? अतः जो श्रीकृष्णको पाना चाहता है, वह वृन्दावनका आश्रय ले, गोपी, ग्वालबाल तथा श्रीराधारानीकी कृपा प्राप्त करे; तभी वह गोपी-वल्लभकी रूपमाधुरीका पान कर सकता है । जिसके हृदयरूपी व्रजमें वृन्दावन, गोप-बाल, गोपी, श्रीराधा तथा श्रीकृष्णकी प्यारी गौएँ हैं, जो इन सबके साथ श्रीकृष्णको अपने हृदयमन्दिरमें बिठाकर उनका चिन्तन करता है, वह श्रीकृष्णको शीघ्रतापूर्वक पा सकता है ।

भगवान् सूर्यका प्रकाश तीनों लोकोंमें सर्वत्र व्यापक है; वह प्रकाश सूर्यमण्डलसे आता है; उसका केन्द्र सूर्यमण्डल है, जहाँतक प्रकाश जाता है, वहाँतक सूर्य-मण्डल नहीं जाता; वह उससे छोटा है, तो भी इस पृथ्वीसे बहुत बड़ा है । उस मण्डलमें रहनेवाले अधिदेवतारूप जो भगवान् आदित्य हैं, जिन्हें नारायण अथवा सूर्यनारायण कहते हैं, जिनके परम सुन्दर कमनीय विग्रहमें यथास्थान केयूर, मकर-कुण्डल, किरीट, हार आदि भी शोभा पाते हैं। वे अपने मण्डलसे भी छोटे हैं तथा सदा अपने धाममें ही रहते हैं; परंतु वह प्रकाश

और वह मण्डल सब उन्हींसे हैं। यदि वे न हों तो प्रकाश अथवा मण्डलकी सत्ता ही न रहे। सूर्यके उस अधिदैवरूपकी प्राप्तिके लिये आदित्यलोकमें ही जाना पड़ेगा, वरुणलोकमें नहीं; किंतु वे कारणरूपसे या तेज प्रकाशरूपसे सभी लोकोंमें व्यापक हैं। यही बात श्रीकृष्णके सम्बन्धमें भी है। इनके सर्वत्र व्यापकरूपको 'ब्रह्म' कहा गया है, जिसकी उपमा प्रकाशसे दी गयी है। यह निर्गुण-निराकार रूप है। श्रीकृष्णका जो दूसरा रूप सगुण-निराकार है, वह मण्डलके स्थानपर है; इसी रूपको हम 'परमात्मा' कहते हैं। इसका भी अन्तरात्म-भूत जो स्वरूप है, वही 'भगवान्' कहलाता है। यह भगवान् ही 'श्रीकृष्ण' हैं। ये अपने मण्डलमें, अपने नित्य-धाम वृन्दावनमें ही रहते हैं। जहाँ प्रकट होते हैं, वहाँ वृन्दावनको साथ लेकर ही प्रकट होते हैं। अथवा यों कहिये कि जहाँ ये प्रकट होते हैं वहीं वृन्दावन है। इस प्रकार श्रीकृष्णके ही तीन रूप भगवान्, परमात्मा और ब्रह्म नाम धारण करते हैं। तीनोंकी सत्ता श्रीकृष्णसे ही है। श्रीमद्भागवतमें भी कहा है—

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥

भगवत्स्वरूपके ज्ञाता इस बातको जानते हैं कि भगवान् सर्वव्यापक हैं। जो सर्वव्यापी तत्त्व है, वह कभी कोई भी स्थान छोड़कर कहीं नहीं जाता। वह कहाँ नहीं है, जहाँ जाय? सर्वत्र वही-वह तो है। जिनके पास आँख है, वे सर्वत्र उसीका दर्शन करते हैं, दूसरे लोग नहीं—'चक्षुष्मन्तोऽनुपश्यन्ति नेतरेऽतद्विदो जनाः।' इस दृष्टिसे भी, यह कहना कि भगवान् वृन्दावन छोड़कर कभी कहीं नहीं जाते, सर्वथा सत्य है। इससे उनकी व्यापकता ही सिद्ध होती है। जो सर्वत्र व्यापक नहीं है, वह एक स्थानसे दूसरे स्थानपर गये बिना रह नहीं सकता। श्रीकृष्ण वृन्दावनसे तथा श्रीराम अयोध्यासे अन्यत्र नहीं जाते; इस कथनका यह भी अर्थ है कि वृन्दावनमें 'श्रीकृष्णका ही दर्शन होता है और साकेतमें श्रीरामका ही।'

२—गोपियाँ श्रीकृष्णको ही कान्तभावसे भजती थीं, यह ठीक है। फिर उन्होंने सांसारिक पति क्यों किया? यह शङ्का ठीक नहीं। गोपियोंने कभी सांसारिक पति नहीं किया। उनकी दृष्टिमें न संसार था, न सांसारिक पति। वे तो बचपनसे ही श्रीकृष्णको पतिरूपमें पानेके लिये ही आराधना करती थीं—'नन्दगोपसुतं देवि पतिं मे कुरु ते नमः।' जब ब्रह्माजीने ग्वाल-बालोंको हर लिया था, उसी वर्ष ग्वाल-बालके रूपमें केवल श्रीकृष्ण ही गौएँ चराते रहे। उस समय गौ, ग्वाल-बाल, लकुटी, कमली, बछड़ा आदि सब कुछ श्रीकृष्ण ही थे। उन्हींके साथ गोप-कुमारियोंका विवाह श्रीकृष्णके साथ हुआ। साधारण लोग इस रहस्यको नहीं जानते थे, किंतु श्रीकृष्णप्रिया गोपियाँ इस रहस्यसे अनभिज्ञ नहीं थीं। वे ग्वाल भी वस्तुतः उन्हें अपनी पत्नी नहीं मानते थे।

३—माधुर्य-भावके उपासकको लौकिक विषयों और सुविधाओंसे परम विरक्त होकर ही प्रिया-प्रियतमके चरणोंमें परम अनुरक्त होना चाहिये। उनके लिये रोना, उन्हींको आर्तभावसे पुकारना ही उनकी प्राप्तिका सर्वोत्तम उपाय है। अपना जीवन, अपना सर्वस्व उन्हींपर निछावर करके उन्हींका होकर रहना और उन्हींके लिये जीवन धारण करना चाहिये।

४—आपको बचपनमें श्रीराम-मन्त्रकी दीक्षा मिली पर आप श्रीनन्दनन्दनके हाथों बिक गये हैं तो इसमें हानि नहीं है। श्रीराम और श्रीनन्दनन्दन एक ही हैं। आपकी रुचि श्रीनन्दनन्दनमें है तो उन्हींका भजन कीजिये। श्रीकृष्ण-प्रेमी संतसे दीक्षा लेनेमें भी कोई हर्ज नहीं

भगवान्‌के चरणोंमें निश्छल अनुराग होना ही जीवके लिये परम पुरुषार्थ है ।

(७)

भजनसे ही जीवनकी सफलता

भाई साहेब ! संसारका स्वरूप यही है । हमलोग जो इसको सुखस्वरूप मान बैठे हैं, इसीसे इसका असली रूप—जो सुखरहित, दुःखालय और दुःखोत्पत्तिका स्थान है (गीतामें देखिये 'इसको असुखम्, दुःखालयम्' और 'दुःखयोनि' कहा है), जब सामने आ जाता है तब हम घबड़ा उठते हैं । यह सुखस्वरूप था ही कब । वह तो हमारी भ्रान्ति थी । जो लोग संसारको सुखरूप मानकर इसमें सुख खोजते हैं, उनको तो अन्तमें रोना ही पड़ता है ! इसमें जो सुख है वह तो भगवान्‌को लेकर है । इसीसे भगवान्‌ने कहा है—'इस अनित्य और असुख लोकको पाकर (यदि वस्तुतः सुख चाहते हो तो) मुझको भजो' (माम् भजस्व) । आपकी मेरी तो अब एक प्रकारसे जीवन-सन्ध्या ही है । बालकों और तरुणोंको भी अपने जीवनका मुख्य ध्येय भगवान्‌को ही बनाना चाहिये । फिर हमलोग तो उन दोनों अवस्थाओंको पार कर चुके हैं । हमारा तो शेष जीवनका प्रत्येक पल अब श्रीभगवान्‌के चिन्तनमें ही बीतना चाहिये । जगत्‌के सृजन-संहार यों ही चलते रहेंगे । इनमें रमनेसे कोई लाभ नहीं । अब तो उन प्रभुका आश्रय ग्रहण करना चाहिये जो अशरण-शरण हैं और मुझ-सरीखे अधमोंको भी अपने विरदके कारण अपना लेते हैं । समय बीत रहा है । यहाँकी धन-दौलत, यश-कीर्ति, अधिकार-प्रभुत्व, कुछ भी हमारे काम नहीं आयेंगे । यह सब तो यहींके खिलौने हैं । हम अभागे हैं जो इन खिलौनोंमें ही रमते हैं और इन्हींको जीवनका ध्येय बनाये रखते हैं । इस समय आपके मनमें जो कुछ ग्लानि या निर्वेद-सा है, इसे सुअवसर मानिये । संसारसे मन हटाकर भगवान्‌में लगाइये । और कुछ न हो सके तो उनकी कृपापर विश्वास करके उनके नामका जप, स्मरण और कीर्तन आरम्भ कर दीजिये । भगवन्नाममें महान् शक्ति है । वह बहुत शीघ्र पाप-तापका नाश करके भगवान्‌को मिला देता है । वस्तुतः नाम और नामी एक ही हैं । नामका प्रेम हो जानेपर तो संसारमें सर्वत्र श्रीभगवान्‌की ही झाँकी होने लगती है । फिर संसारमें ऊँच-नीचका कोई भेद नहीं रह जाता । हर समय और हर स्थानमें नामप्रेमी भक्त प्रेमपूर्वक भगवान्‌का नाम-गान करता हुआ स्वयं पवित्र होता है और जगत्‌को पवित्र करता है ('भुवनं पुनाति') । श्रीमद्भागवतमें कहा है—पृथ्वीमें जो भगवान्‌के जन्मकी और लीलाओंकी मङ्गलमयी कथाएँ प्रसिद्ध हैं, उनको सुनते रहना चाहिये और उन गुणलीलाओंका स्मरण करानेवाले नामोंका लाज-संकोच छोड़कर गान करते रहना चाहिये । अन्य कहीं भी आसक्ति न रखकर संसारमें विचरना चाहिये । जो इस प्रकार भगवान्‌के दिव्य जन्म-कर्मकी कथाओंको तथा उनके कल्याणमय नामोंको सुनने और गानेका व्रत ले लेता है, उसके हृदयमें अपने परमप्रियतम प्रभुके नाम-कीर्तनसे प्रेमका अङ्कुर उत्पन्न हो जाता है । उसका चित्त द्रवित हो जाता है और लोक-साधारणकी स्थितिसे ऊपर उठकर वह प्रेमकी मादकतामें कभी खिलखिलाकर हँसने लगता है, कभी फूट-फूटकर रोने लगता है । कभी ऊँचे स्वरसे भगवान्‌को पुकारता है तो कभी मधुर स्वरसे उनके गुणोंका गान करने लगता

है। और कभी-कभी आनन्दमत्त हो लोक-लाज छोड़कर नाचने लगता है। यह आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, ग्रह-नक्षत्र, प्राणी, दिशाएँ, वृक्ष-लताएँ, नदी, समुद्र—सभी श्रीभगवान्‌के शरीर हैं। इन सब रूपोंमें स्वयं भगवान् ही प्रकट हैं। ऐसा समझकर वह जड-चेतन सभीको अनन्य भगवद्भावसे प्रणाम करता है—

शृण्वन् सुभद्राणि रथाङ्गपाणे-
र्जन्मानि कर्माणि च यानि लोके।
गीतानि नामानि तदर्थकानि
गायन् विलज्जो विचरेदसङ्गः॥
एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या
जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः।
हसत्यथो रोदिति रौति गाय-
त्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः॥
खं वायुमग्निं सलिलं महीं च
ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं
यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः॥

(११ । २ । ३९—४०)

अतएव अब इस ग्लानि और दुःखमय संसारसे उपराम होकर भगवद्भजनमें ही लग जाइये। इसीमें परम कल्याण है और यहीं मानव-जीवनकी सफलता है।

अनुकम्पानुनय

(लेखक—श्रीरूपनारायणजी चतुर्वेदी 'निधिनेह')

आवतो सरन नाहिं गहतो चरन तेरे,
जो हौं भव-सागर तैं एक बेर तरतो।
तरतो ही नाहिं प्रभु गहते न बाहिं मेरी,
याही भव-सागरमें बूड़ि बूड़ि मरतो॥
मरतो महेश हौं तौ अतिनीच मीचु पाइ,
लोभ काम क्रोधकी ही ज्वालनिमें जरतो।
जरतो औ गरतो सरीर मेरो सारो नाथ,
जौ न पातकीकी कोऊ बाँह कौं पकरतो॥
आपके अधार मझधार मैंने करी पार,
पार ल्याय मझधार ओर कौं न ठेलिए।
पापनके पुंज काहू नारकी कौं तारि नाथ,
पाइए असीस नैक पुन्यहू सकेलिए॥
एहो रघुराज, करुनाकी कोर मोपै करि,
मेरे दीन बैन कान आपुनै मैं मेलिए।
बाँह गहिवेकी महराज लाज लीजै राखि,
मोहि आपुनौ ही जानि एतो कष्ट झेलिए॥

प्राकृतिक चिकित्साके कुछ नये अनुभव

(लेखक—श्रीधर्मचन्दजी सरावगी)

हमारे देशके लिये प्राकृतिक चिकित्सा बड़ी ही अनुकूल प्रणाली है। इसमें कम खर्चसे रोगोंका नाश होता है, और रोग हमेशाके लिये विदा हो जाते हैं। जो मनुष्य प्राकृतिक चिकित्सा-प्रणालीके सिद्धान्तोंको एक बार भी समझ लेता है, वह सदाके लिये स्वस्थ तथा दीर्घजीवी हो जाता है, इन दिनोंमें कुछ ऐसा प्रचार हो गया है कि यहाँ प्राकृतिक चिकित्सा आरम्भ करनेके समय परिचित व्यक्ति और कुछ अपरिचित व्यक्ति भी मुझे याद कर ही लेते हैं और लोगोंका कहना होता है कि अपने अनुभव आप अवश्य लिखा करें। यदि मैं अपने सामने प्राकृतिक चिकित्सामें लाभ उठानेवाले व्यक्तियोंका लिखना शुरू करूँ तो एक पोथा तैयार हो सकता है, परंतु कुछ विशेष घटनाओंका वर्णन लोगोंकी जानकारीके लिये लिखता हूँ—

१. पिछली बार मेरी भानजी, जिसकी उम्र २८ वर्ष है, मेरे लड़केके लीवरका इलाज देखकर टीका-टिप्पणी किया करती थी और उसके ठीक होनेमें देर होनेके कारण काना-फूसी किया करती थी। उसने बच्चेके ठीक हो जानेपर प्रभावित हो अपना इलाज भी करना शुरू कर दिया। उसे गठियाकी शिकायत थी, साथ ही शरीरमें मोटापा आदि व्याधियाँ थीं, पंद्रह दिनोंतक सूखा मालिश, पेटपर गरम ठंडा डूस, वाष्प स्नान, पेटका लपेट, गरम पानीमें पैर डुबाकर बैठना आदि उपचार किये गये जिससे उसे आराम मालूम हुआ, उसने तीन महीनेतक इलाज कराया और वह स्वस्थ हो गयी। अब तो उसे पहली बार गर्भ रहा है।

२. मेरे यहाँका नौकर संयोगवश कपड़े इस्त्री करते समय बिजलीके तारका फ्युज होनेके कारण काफी जल गया, उसके हाथमें लगभग छः इंच लंबा और चार इंच चौड़ा दाग पड़ गया। वह उसकी जलनकी असह्य वेदनासे घबड़ाकर मेरे पास आया, मैंने उसे सान्त्वना देते हुए और कुछ न लगाकर उसका हाथ पानीके भरे गमलेमें रख दिया और बर्फ मँगाकर उसके पास रख दिया जो कि पानी हाथकी गर्मीसे ज्यों-ज्यों गरम होता जाय उसमें वह बर्फ डाल दे, उसने छोटे-मोटे जलनेपर पानीका प्रयोग देखा था, इसलिये मेरे सो जानेपर भी सारी रात पानीमें हाथ रक्खा, दूसरे दिन उपवास कराया गया और हाथ उसी प्रकार पानीमें रहा, सन्ध्या समय उसे जलन कम मालूम दी और शुद्ध मिट्टीको उबालकर ठंडीकर लगभग एक इंच मोटा पलस्तर उसके हाथपर चढ़ा दिया जो हर दूसरे-तीसरे घंटे बदल दिया जाता था और खानेके लिये फलका रस दिया, इस प्रकार उपचार करनेपर तीन-चार दिनोंमें उसका हाथ ठीक हो गया।

३. सहडोलके श्रीनथमल सरावगी अपने दाँतोंका इलाज करानेके लिये कलकत्ता आये, दाँतके विशेषज्ञोंको दिखाया, सैकड़ों रुपये दक्षिणामें चुकानेके बाद उन्हें यह आदेश मिला कि भयङ्कर पाइरिया हो गया है, सारे दाँत निकलवाने पड़ेंगे, जिसमें लगभग दो हजार रुपये लगेंगे और वापस नकली दाँत लगाकर सुचारुरूपसे काम करनेमें लगभग एक साल लग जायगा। धनी आदमी हैं, गाँवोंके डाक्टरोंका विश्वास नहीं होता, कलकत्तेके दाँतके विशेषज्ञोंकी शरण लेनी ही पड़ी। पर इतना लंबा और खर्चीला नुस्खा उनके दिमागमें कम जँचा, साथ ही कुछ दिनों पहले उनके भाईने प्राकृतिक चिकित्सा-द्वारा दमेकी बीमारीसे पिंड छुड़वाया था, इस कारण उन्होंने एक बार प्राकृतिक चिकित्सकोंकी राय ली। उन्होंने कहा कि आपको तीन-चार महीने समय तो जरूर लगेगा, पर बिना दाँत निकलवाये ही आपका पाइरिया भाग जायेगा। इतने लंबे समयतक वे इलाज करना नहीं चाहते थे, परंतु उनकी आँखोंके सामने, उनके एक दूसरे मित्रके दाँत निकलवाते समय टूट जानेके कारण उन्हें महीनों कष्ट पाना पड़ा था, यह दृश्य नाच रहा था, अतः बाध्य होकर उन्होंने प्राकृतिक चिकित्साकी शरण ली। उन्हें पहले पाँच रोज सारे शरीरका मालिश, डूस, पेटका लपेट और वाष्प-स्नान (स्टीमबाथ) किया। शरीर साफ होनेपर मुँहमें दो बार तीन-तीन मिनटके लिये गरम ठंडे पानीके कुल्ले और दो बार पाँच-पाँच मिनटके लिये शुद्ध मिट्टीसे दाँतोंका मंजन। बीचमें गरम ठंडा कटिस्नान, ठंडा मालिश और गरम चादरका लपेट तथा पथ्य फलका रस, उबाले हुए सागका रस, मट्ठा और दूध था। इस प्रकार दो महीनेतक इलाज होता रहा। अब उनके सारे दाँत मजबूत हो गये हैं। आशा है वे भी बहुत जल्द ठीक हो जायँगे। हमारे यहाँ अबतक यह हालत है कि थोड़ी-सी बीमारी होते ही हम डाक्टरोंके पास दौड़ते हैं। वहाँ ठीक न होनेपर वैद्यजीके पास जाते हैं और वहाँ भी किसी कारण ठीक नहीं हुए तो होमियोपैथिक इलाज कराते हैं। जब तीनोंसे हार जाते हैं तब प्राकृतिक इलाजकी ओर आते हैं। इसके बजाय यदि छोटी-छोटी बीमारियाँ होते ही प्राकृतिक चिकित्सा करा लें तो मुफ्तका कष्ट ही न भोगना पड़े, दिन-रात घरमें काम आनेवाले कुछ नुस्खे इस प्रकार हैं—

फोड़ा-फुंसीका प्राकृतिक इलाज

फोड़ा उठते ही उसके ऊपर गरम पानीका खूब सेंक देनेके बाद १० मिनटतक खूब ठंडे जलमें तौलिया भिगोकर उस जगहपर तौलियेको उलटते-पलटते रहना चाहिये। इससे फोड़े-फुंसी एवं सभी प्रकारका सूजन कभी भी प्रकट नहीं होता। फोड़ा पक जानेपर उसके ऊपर ५ मिनटतक मृदु सेंक देकर फिर ठंडा कर लेना चाहिये। एक ही समय इस प्रकार तीन बार करना जरूरी है, बाकी समय फोड़ेपर मिट्टीका पुल्टिस दिनमें दो-दो घंटेपर दो बार बदलना चाहिये और रातमें ठंडे पानीमें कपड़ा भिगोकर फोड़ेपर रखना आवश्यक है।

मलावरोध (कब्जियत)का प्राकृतिक इलाज

कटिस्नान (हिप-बाथ) मलावरोधका एक प्रधान इलाज है। एक पानीके गमलेमें नाभितक डुबाकर बैठे हुए तलपेट तथा जाँघोंमें लगातार घर्षण करनेको कटिस्नान (हिप-बाथ) कहते हैं, पहले-पहल गुनगुने पानीसे दो-एक मिनटतक हिप-बाथ लेकर फिर उससे ठंडे पानीमें आधा घंटातक लेकर क्रमशः अधिकतर ठंडे पानीमें आध घंटेतक हिप-बाथ लिया जा सकता है। हिप-बाथ सदैव बिना भोजन किये खाली पेट रहनेपर लेना आवश्यक है। बाथ लेनेके पहले शरीरको गरम रखना चाहिये और बाथ लेनेके बाद शरीरको गरम कपड़ेसे ढक लेना चाहिये। शरीरको गरम करनेके लिये मर्दन, व्यायाम या धूप-सेवन करना पड़ता है। इस इलाजके साथ प्रतिदिन बेल, अमरूद, खजूर, सेव, किसमिस आदि हर प्रकारका फल यथेष्ट मात्रामें खाना उचित है।

ज्वरका प्राकृतिक इलाज

बुखार आते ही गरम पानीका एक डूस लेना जरूरी है, इसके बाद दिनमें तीन बार ठंडे पानीसे सिर अच्छी तरह धोकर भीगी हुई तौलियासे बंद कमरेमें शरीर पोंछना चाहिये। तदनन्तर सूखे गमछेसे बदन पोंछकर चद्दर-कम्बल मिला ओढ़ा देना चाहिये। कम्बल ओढ़ना अच्छा न लगे तो [illegible] देर बाद उसे उतार दे सकते हैं। शरीरमें जलन रहनेपर [illegible] में दो बार पेटके ऊपर गीली मिट्टीका आधा इंच मोटा [illegible] रखना लाभदायक होता है। इसके साथ ही प्रतिदिन [illegible] नीबूके रसके साथ कम-से-कम ६ गिलास जल पीना [illegible] बुखारके पहले दिन ऊपर लिखे ढंगसे जल पीते हुए [illegible] करना ठीक है। इसके बाद मिश्रीके साथ साबूवाली [illegible] और नारंगी या अन्य किसी खट्टे फलका रस पथ्यके [illegible] लेना चाहिये। इस प्रकारके इलाजसे थोड़े ही समयमें [illegible] प्रतिशत रोगियोंको आश्चर्यजनक आरोग्य लाभ होता है।

अतिसार (डायरिया)का प्राकृतिक इलाज

पेट गरम होकर पतला दस्त आरम्भ होनेपर पेटके [illegible] आधा इंच मोटी गीली मिट्टीकी पुल्टिसका प्रयोग [illegible] चाहिये और दो-दो घंटेके अन्तरसे उसे बदलते रहना [illegible] है, इसके साथ दिनमें दो बार पेटके ऊपर गरम सेंक [illegible] लाभदायक है। इससे थोड़े ही समयमें अतिसार अच्छा [illegible] है। इस रोगमें पहले खाली पानी पीकर रहना चाहिये, [illegible] बाद मट्ठा, केलेका पानी आदि लिया जा सकता है।

दाँत-दर्दका प्राकृतिक इलाज

दाँतमें दर्द आरम्भ होते ही सबसे पहले सिर [illegible] सिरपर भीगा हुआ गमछा रख दो मिनटतक सहने[illegible] गरम जलसे कुल्ला करना चाहिये। इसी प्रकार उसी तरह [illegible] बार करना जरूरी है। उपर्युक्त क्रियाके लिये सबेरे तथा [illegible] का समय अच्छा है। नये दर्दमें ऐसा करनेसे दर्द शीघ्र ही [illegible] हो जाता है। जबतक दर्द न मिटे, गरम और ठंडे जलके [illegible] करने चाहिये। इस प्रकार हर हालतमें एक-दो दिनमें [illegible] मिट जाता है। दाँतमें दर्द होनेपर शुद्ध मिट्टीका मञ्जन [illegible] उचित है और पेट साफ रखना आवश्यक है। सभी रोगोंमें [illegible] जल पीना चाहिये।

मेरे हिय हुलसैं

सोहैं छबि स्याम। अभिराम सुख सोभाधाम,
लाजें लखि कोटि काम रूप देखि तरसैं।
पहिनें पट पीत सुपुनीत उपवीत काँछे,
बाँधे कटि तून तीर तेज अंग सरसैं॥
नेह भरे नैननसों बिलोकि जनसीदन त्यों,
बोलैं मृदु मीठे बैन मानों सुधा बरसैं।
लखनललाके साथ बानधनु लीन्हें हाथ,
दाहिने सियाके, नाथ मेरे हिय हुलसैं॥

—जनार्दन झा 'जनसीदन'

ग्राहक महोदयोंसे क्षमा-प्रार्थना और अनुरोध

(१) 'कल्याण' का 'उपनिषद्-अङ्क' प्रायः समाप्त हो गया। बहुत-से पुराने ग्राहकोंको भी वी० पी० से अङ्क नहीं भेजे जा सके और इस समय कई दिनोंसे लगातार नये ग्राहक बननेके लिये जो ढेर-के-ढेर पत्र आ रहे हैं, उनको बड़े खेदके साथ अस्वीकार किया जा रहा है और मनीआर्डर-से भेजे हुए रुपये लौटाये जा रहे हैं! 'कल्याण' के प्रेमी सज्जनोंको इस प्रकार हानि और निराशाके पात्र बनानेमें हमें बड़ा क्लेश है! कई पत्र ऐसे विनय-आग्रह-भरे और कई ऐसे रोषपूर्ण आते हैं कि हमें उनको 'नाहीं'में उत्तर लिखते बड़ा ही संकोच होता है। पर कागज तथा मशीनोंकी कमीके कारण हम विवश हैं और इसके लिये अपने समस्त कल्याणप्रेमी भाई-बहनोंसे हाथ जोड़कर क्षमा चाहते हैं।

यद्यपि यह सत्य है कि 'कल्याण'की ग्राहक-संख्या एक लाखसे कई हजार ऊपर होनेपर भी इसके पढ़नेवालोंकी संख्या पाँच लाखसे कम नहीं है। तथापि हम अपने ग्राहक महानुभावोंसे प्रार्थना करते हैं, वे 'कल्याण'को उदारतापूर्वक, जो भाई-बहन उसे पढ़ना चाहते हैं, उन सबको पढ़नेको दे दें। यदि प्रत्येक ग्राहक २०-२० प्रेमियोंको पढ़ा देंगे तो बीस लाख ग्राहकोंका काम हो जायगा। जबतक हम अधिक ग्राहक बनानेमें असमर्थ हैं तबतक हमारे ग्राहक महोदय कृपापूर्वक इस रूपमें हमारी, 'कल्याण'की और 'कल्याण'के प्रेमी पाठकोंकी सहायता करें।

(२) 'कल्याण'के अबतकके मासिक अङ्कोंके प्रकाशनमें देर होनेसे ग्राहकोंको बड़ी असुविधा रही। इसके लिये हम लज्जित हैं। मईतकके अङ्क पहले जा चुके हैं। हम ऐसा प्रयत्न कर रहे हैं कि जूनका यह अङ्क इसी महीनेमें सभी ग्राहकोंको भेज दें। आगेसे किसी भी महीनेका अङ्क यदि उस महीनेके अन्ततक न मिले तो पोस्ट-आफिसमें पता लगाकर हमें सूचित करें।

(३) जिन ग्राहकोंके रुपये हमको मिल गये हैं उन सबको प्रायः रजिस्ट्रीसे अङ्क भेजे जा चुके हैं अतः जिन महानुभावोंको उपनिषद्-अङ्क अभीतक न मिले हों वे हमें सूचना दें।

(४) मईके अन्तिम सप्ताहसे हम 'उपनिषद्-अङ्क'के मनीआर्डर लौटा रहे हैं। अतः यदि किसी सज्जनको पोस्ट-आफिससे वापिस रुपया नहीं मिला हो तो जाँच-पड़तालकर शीघ्र ही लेनेकी कृपा करें।

कल्याणका पुराना प्राप्य विशेषाङ्क

संक्षिप्त पद्मपुराणाङ्क

पूरी फाइल, पृष्ठ-संख्या ९७८, रंगीन चित्र २१, लाइन-चित्र २४१ मूल्य ४≡)।

पुराने वर्षोंके साधारण अङ्क आधे मूल्यमें—

२१ वें वर्षके साधारण अङ्क २, ३, ४, ५, ९, १०, ११, १२ कुल आठ अङ्क एक साथ मूल्य १।), रजिस्ट्रीखर्च ।) कुल १॥)

२२ वें वर्षके साधारण अङ्क ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, १०, ११, १२ कुल दस अङ्क एक साथ मूल्य १॥-), रजिस्ट्रीखर्च ।) कुल १॥।-)

उपर्युक्त दोनों वर्षोंके कुल १८ अङ्क एक साथ रजिस्ट्रीखर्चसहित मूल्य ३-)

व्यवस्थापक—**कल्याण, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

रजि० सं० ए० १७

हिंदू-कोडबिलपर सम्मतियाँ

(श्रीकरपात्रीजी महाराज)

'आजकलकी दृष्टिमें तीन बातोंसे किसी सिद्धान्तका निर्णय हो सकता है। पहली बात 'शास्त्रसम्मत' हो, दूसरी 'तर्कसम्मत' हो और तीसरी 'लोकसम्मत' हो। परंतु वर्तमान केन्द्रीय धारासभामें प्रस्तावित हिंदू-कोडबिल तो किन्हीं भी दृष्टियोंसे सम्मत नहीं है। यह कोडबिल वेदादि सत्-शास्त्रोंके सर्वथा विरुद्ध है। 'तर्कसम्मत' और 'लोकसम्मत' भी नहीं है।...........'

(श्रीअलगूराय शास्त्री एम० एल० ए०)

सदस्य–भारतीय विधान सभा

'प्रस्तावित हिंदू-कोडबिलसे क्या करने जा रहे हैं? हिंदू-धर्म क्या है, उसकी आधारशिला क्या है और उसके मूलभूत सिद्धान्त क्या हैं? यह उसके धर्माचार्योंको ही बतानेके लिये छोड़ दिया जाय। समाज-सुधारके मिथ्या आवेशमें आकर हिंदूधर्मके मूलभूत सिद्धान्तोंको हटाकर उसके स्थानमें कपोलकल्पित सिद्धान्तोंका प्रवेश करना ऐसा ही उदाहरण होगा जैसे 'विनायकं प्रकुर्वाणो रचयामास वानरम्' × × × वर्तमान धारासभाका यह नियम बनानेका कार्य वैसा ही है जैसे हम अपनी अनुपस्थितिमें अपने घरपर किसी व्यक्तिको वहाँ आनेवालोंको जलपानके प्रबन्धके लिये भेजें और वह वहाँ जाकर हमारी सब सम्पत्ति ही बेच डाले।'

वर्ष २३

अङ्क ८

कल्याण

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम। जय रघुनन्दन जय सियाराम॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर भाद्रपद, अगस्त सन् १९४९ की

चित्र-सूची

तिरंगा

वार्षिक मूल्य
भारतमें ६≡)
विदेशमें ८॥≡)
(१३ शिलिङ्ग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत् चित् आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

साधारण प्रति
भारतमें ।≶)
विदेशमें ॥-)
(१० पैंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

वेणुवादनशीलाय गोपालायाहिमर्दिने । कालिन्दीकूललीलाय लोलकुण्डलधारिणे ॥
वल्लवीनयनाम्भोजमालिने नृत्यशालिने । नमः प्रणतपालाय श्रीकृष्णाय नमो नमः ॥

वर्ष २३ } गोरखपुर, सौर भाद्रपद २००६, अगस्त १९४९ { संख्या ८
पूर्ण संख्या २७३

श्रीरघुनाथजीकी रूप-माधुरी

सखि ! रघुनाथ-रूप निहारु ।
सरद-बिधु रबि-सुवन मनसिज-मान-भंजनिहारु ॥
स्याम सुभग सरीर जन-मन-काम-पूरनिहारु ।
चारु चंदन मनहु मरकत-सिखर लसत निहारु ॥
रुचिर उर उपबीत राजत पदिक गजमनि-हारु ।
मनहु सुरधनु नखतगन बिच तिमिर-भंजनिहारु ॥
बिमल पीत दुकूल दामिनि-दुति-बिनिंदनिहारु ।
बदन सुषमा-सदन सोभित मदन-मोहनिहारु ॥
सकल अंग अनूप नहि कोउ सुकबि बरननिहारु ।
दास तुलसी निरखतहि सुख लहत निरखनिहारु ॥

—तुलसीदासजी

कल्याण

याद रक्खो—मानव-जीवनकी सफलता भगवत्-प्राप्तिमें है, विषयभोगोंकी प्राप्तिमें नहीं। जो मनुष्य जीवनके असली लक्ष्य भगवान्‌को भूलकर विषयभोगोंकी प्राप्ति और उनके भोगमें ही रचा-पचा रहता है, वह अपने दुर्लभ अमूल्य जीवनको केवल व्यर्थ ही नहीं खो रहा है वरं अमृत देकर बदलेमें भयानक विष ले रहा है।

याद रक्खो—बहुत जन्मोंके बाद बड़े पुण्यबल तथा भगवत्कृपासे जीवको मानव-शरीर प्राप्त होता है; इन्द्रियोंके भोग तो अन्यान्य योनियोंमें भी मिलते हैं. पर भगवत्प्राप्तिका साधन तो केवल इसी शरीरमें है, इसको पाकर भी जो मनुष्य विषयभोगोंमें ही फँसा रहता है—वह तो पशुसे भी अधिक मूढ है।

याद रक्खो—यदि तुमने इस जीवनमें भगवान्‌को नहीं प्राप्त किया,—कम-से-कम भगवत्प्राप्तिके पथपर नहीं आ गये तो तुम्हें पीछे इतना पछताना पड़ेगा कि जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता। अतः हाथमें आये हुए इस महान् सुअवसरके एक-एक क्षणको बड़ी ही सावधानीके साथ जीवनके असली लक्ष्य भगवत्प्राप्तिके साधनमें ही लगाना चाहिये।

याद रक्खो—यहाँके जिन धन-ऐश्वर्य, पद-अधिकार, यश-कीर्ति और मान-मर्यादाके लिये तुम पागल हो रहे हो; उनमेंसे कोई भी, कभी भी, तुमको तृप्ति नहीं दे सकेंगे। उनके अधूरेपनमें कभी पूर्णता आवेगी ही नहीं, और इस कारण तुम्हारी कमी कभी पूरी होगी ही नहीं।

याद रक्खो—इन विषयोंकी प्राप्तिके लिये जो तुम दिन-रात भाँति-भाँतिके नये-नये पाप कर रहे हो, इसीमें अपना कल्याण समझ रहे हो और गौरवका अनुभव कर रहे हो, यह तुम्हारे लिये बहुत ही घातक होगा। इससे तुम्हें जीवनमें कभी शान्ति और सुख तो मिलेगा ही नहीं; वरं वह सदा निराशा, दुःख, चिन्ता, शोक और विषादसे भरा रहेगा। मरनेके बाद भी तुम्हें इस पापके भारी बोझको ढोकर अपने साथ ले जाना पड़ेगा और विविध योनियोंमें अनेकों प्रकारके भीषण दु[illegible] भोगके लिये बाध्य होना पड़ेगा।

याद रक्खो—बुद्धिमान् मनुष्य वही है जो इन दु[illegible] उत्पन्न करनेवाले विषयभोगोंमें मनको नहीं फँसाता [illegible] भगवान्‌का स्मरण करता हुआ जगत्‌के सारे काम [illegible] प्रकार करता है जिस प्रकार नाट्यमञ्चपर अभि[illegible] अपने स्वाँगके अनुसार खेल करता है केवल प्र[illegible] रिझानेके लिये। असलमें वही सच्चा मनुष्य है।

याद रक्खो—तुम मनुष्य हो; अपने मनुष्य[illegible] सदा जगाये रक्खो। एक क्षणके लिये भी भगवा[illegible] मत भूलो। सदा स्मरण रक्खो कि यहाँ इस श[illegible] भगवान्‌ने तुमको पशुकी भाँति केवल इन्द्रियभो[illegible] भोगके लिये ही नहीं भेजा है। तुम्हें उस बहुत [illegible] सफलताको प्राप्त करना है जिससे अबतक तुम व[illegible] रहते आये हो। वह सफलता है—भगवत्प्राप्ति।

याद रक्खो—इसी सफलताको लक्ष्य बनाकर [illegible] मनुष्य निरन्तर भगवान्‌में मन रखकर ही जगत्‌के [illegible] करता है, उनमें कभी मनको फँसाता नहीं है—[illegible] चतुर है। जीवननिर्वाहके लिये जो काम आवश्यक है [illegible] उसे करो, पर करो भगवान्‌को याद रखते हुए ही [illegible] लक्ष्यपर दृष्टि रखकर ही।

याद रक्खो—भगवान्‌से विरोधी विषयको भू[illegible] भी ग्रहण करना बहुत बड़ी हानि है। अतएव वही [illegible] सोचो, वही काम करो जो शुभ है। शुभ वही है [illegible] भगवान्‌के अनुकूल है। आँखोंसे कभी बुरी चीजें, [illegible] दृश्य, स्त्रियोंके हाव-भाव मत देखो; कानोंसे कभी [illegible] बात मत सुनो; जीभसे कभी गंदे—अशुभ शब्द [illegible] उच्चारण करो। आँखोंसे भगवत्-सम्बन्धी वस्तुओं [illegible] संतोंको देखो, कानोंसे भगवद्गुण-गान श्रवण करो [illegible] जीभसे भगवान्‌के नाम-गुण-लीला, धाम, तत्त्व [illegible] महत्त्वका वर्णन करो। ऐसा करनेपर ही तुम जीव[illegible] सफलताको प्राप्त कर सकोगे।

'शिव'

हमारा जगत्

जगत्को हम जिस रूपमें देखेंगे, जगत्, हमारे लिये ठीक वैसा ही बन जायगा। यदि हम इसे सर्वथा प्रभुसे पूर्ण देखें, प्रत्येक रूपको प्रभुका रूप समझें—जो वास्तवमें सत्य तथ्य है—तो हमारे लिये प्रभुसे अतिरिक्त यहाँ अन्य कुछ भी नहीं है। पर कहीं यह हमारा शत्रु, यह मित्र, यह अपना, यह पराया, यह दुष्ट, यह साधु, यह ऊँचा, यह नीचा, यह अमीर, यह गरीब, यह सुन्दर, यह कुत्सित—इस प्रकार अगणित विभिन्न भावोंको स्वीकार कर हम जगत्को देखेंगे तो फिर हमारा जैसा भाव होगा, उसीके अनुरूप बनकर वह हमारे सामने आवेगा।

हम तनिक अन्तर्मुख होकर विचार करें तो दीखेगा कि हम जिन्हें शत्रु-मित्र आदि मानते हैं, उन सबमें आत्मारूपसे प्रभु तो एक ही हैं। आत्मामें, प्रभुमें कोई दोष नहीं, मलिनता नहीं, विकार नहीं। वहाँ तो सर्वथा विशुद्ध एकरस ज्ञान एवं आनन्द भरा है। फिर हम क्यों नहीं अपनी दृष्टि बाहरसे हटाकर आत्मामें, प्रभुमें केन्द्रित कर दें? यदि हम ऐसा कर सकें तो इसका निश्चित परिणाम यह होगा कि हमारी वह दृष्टि सबके अन्तरमें विराजित प्रभुको बाहर भी व्यक्त कर देगी। दूसरे शब्दोंमें कहनेपर यह कि फिर हमारे लिये शत्रु-मित्र, ऊँच-नीच आदि विभिन्न भावनाएँ मिटकर सदा सर्वत्र एकमात्र प्रभु एवं प्रभुकी लीला——बस, इतना ही बच रहेगा।

किंतु हमें अवकाश कहाँ जो प्रभुकी ओर हम झाँकें। हम तो हाथ धोकर पड़े हैं भोगोंके पीछे। एक कामना उठती है, उसकी पूर्तिके लिये एड़ी-चोटीका पसीना एक कर देते हैं। उसकी पूर्ति होते-न-होते दस-बीस नयी-नयी कामनाएँ खड़ी हो जाती हैं और हम उनके पीछे पागल हो उठते हैं। धर्म-अधर्म, न्याय-अन्यायके विचारको ताकपर रखकर उनकी पूर्तिके लिये सब कुछ करते रहते हैं। वे यदि पूर्ण होती हैं तो फिर लोभ बढ़ता है, अधिकाधिक मात्रामें उन्हें पानेके लिये हमारा मन लालायित हो जाता है। और कहीं उनकी पूर्तिमें बाधा आ गयी तो क्रोध उत्पन्न होता है। जिसके निमित्तसे बाधा आती है, उसके प्रति हमारे मनमें द्वेष भर जाता है। और हम उसे अपनी राहका काँटा समझकर उखाड़ फेंकनेमें जुट पड़ते हैं। इन झंझट-झमेलोंमें ही हम रचे-पचे रहते हैं, यही करते-करते जीवनकी सन्ध्या आ जाती है तथा संस्कारोंके ढेरको और भी बोझल बनाकर हम यहाँसे विदा हो जाते हैं। जीवनमें हमें बहुत ही कम समय मिलता है जब हम यह सोच सकें—जगत् क्या है, हम कौन हैं, कहाँसे आये हैं, किस लिये आये हैं, क्या करने आये हैं, हममें करनेकी शक्ति कहाँसे आ रही है, उस शक्तिसे हम कर क्या रहे हैं, प्रभुके प्रति भी हमारा कोई कर्तव्य है या नहीं, उनसे जुड़नेकी आवश्यकता भी हमें है या नहीं? इन प्रश्नोंकी ओर हमारा ध्यान ही नहीं जाता। जाता होता तो न्यूनाधिक मात्रामें हमें भी अवश्य दीखता कि यह जगत् प्रभुमय है—प्रभुका रङ्गमञ्च है, उन्हींके अभिनयका पसारा है। हम भी हैं उन चिदानन्दमय प्रभुके एक अंश, उन विश्व-सूत्रधारके इस महान् अभिनयके एक पात्र, अनन्त अपरिसीम, आनन्द-सागरमें ही उठी हुई एक तरङ्ग। हम आये हैं प्रभुमें रहकर प्रभुके साथ खेलने, उन्हींके साथ सदा रहकर उनकी सत्ता, शक्ति, स्फूर्ति और प्रेरणासे क्रियाशील होकर खेल-खेलकर उनका ही खेल उनको दिखाने, उनके सौंपे हुए अभिनयको पूर्ण करने। उन्हींकी शक्ति हमारी आँखोंमें सञ्चरित होती है और हमारी आँख इन अगणित रूपोंको ग्रहण करनेमें समर्थ होती है; उनकी शक्ति पानेपर ही कान, त्वक्, रसना, नासा——ये इन्द्रियाँ क्रमशः अपने-अपने विषय शब्द, स्पर्श, रस, गन्धका अनुभव कर पाती हैं। उनकी शक्तिसे ही हमारे हाथ-पैर स्पन्दित होते हैं, क्रियाशील—गतिशील होते हैं। हमारा मन मनन करता है उनकी शक्तिसे। बुद्धि निश्चय करती है उनकी शक्तिसे। उनकी शक्तिसे ही शक्तिशाली बनकर हम यहाँ निरन्तर खेल रहे हैं। हमारा एकमात्र कर्तव्य ही है कि हम उन विश्वसूत्रधार प्रभुके द्वारा सौंपे हुए अभिनयको उन्हींकी

शक्तिके बलपर ठीक-ठीक सुचारुरूपसे पूरा कर दें। साथ ही उनपर उनके आदेशोंपर दृष्टि रखते हुए ही हम ऐसा करें, अपना एक-एक कर्तव्य पूरा करें। अपने स्वरूपपर तथा प्रभु एवं जगत्के स्वरूपपर विचार करनेका यदि हमें समय होता और हम सचमुच विचार करते तो उपर्युक्त अनुभूति हमें होती ही तथा अन्तमें किसी दिन यह अनुभव भी होकर ही रहता कि 'हम' भी कथनमात्रको हैं, वास्तवमें हैं केवल प्रभु और यह है सब कुछ उनकी लीला।

जो हो, यदि हम अब भी चेत जायँ तो काम बन जाय। प्रातःका भूला सायंकाल भी घर पहुँच जाय तो कोई बात नहीं। जीवनके दिन जो गये सो गये, शेषके एक-एक क्षणका हम सदुपयोग करें। 'गयी सो गयी अब राख रही को'। बड़ी तत्परतासे लगकर जगत्के इन अगणित असंख्य विभिन्न बदलते हुए भावोंमें सदा समानरूपसे रहनेवाली सत्ताको, एकरस विराजित सच्चिदानन्दघन प्रभुको हम ढूँढ़ निकालें, उन्हें ढूँढ़कर हम उनमें स्थित हो जायँ। फिर जगत् हमारे लिये और ही बन जायगा। जिसे आज हम चोर-डाकू समझते हैं, सदा शङ्कित रहते हैं कि हमें लूट न ले, वही व्यक्ति फिर हमारे लिये चोर-डाकू नहीं रहेगा, प्रभु बन जायगा। जो आज हमारा विरोधी है, प्रतिद्वन्द्वी है, जिसे हम अपनी मान-मर्यादाका छीननेवाला मानते हैं, वही हमारे लिये अपना-से-अपना बन जायगा। आज जिसे दुष्ट, पतित मानकर हम घृणा करते हैं, फिर उसे देखकर आदर उमड़ आयेगा। आज किसी धनाढ्य व्यक्तिको देखकर या तो हम ललचा उठते हैं, वैसे ही बननेकी वृत्ति हममें उदय हो जाती है अथवा उसके वैभवको देखकर हमारे हृदयमें आग लग जाती है और उसे गरीबोंका शत्रु पूँजीवादी कहकर मटियामेट कर देनेकी योजनामें लग जाते हैं। पर फिर ऐसा नहीं होगा। अपितु ऐसा प्रतीत होगा—प्रभु ही तो इस रूपमें हैं, यह सारा वैभव उन्हींका तो है, हमारा ही है। आज तो यह बात है कि हम मोटरमें बैठे होते हैं, एक कोढ़ी अपने गले हुए हाथोंको हमारे सामने कर अथवा फटे चिथड़ोंसे शरीर ढँके नरकंकाल बना हुआ एक भिखारी हमें सलाम कर पैसे माँगता है, हम उसे एक-दो बार मना करते हैं फिर भी जब वह नहीं मानता तो हम या तो उबल पड़ते हैं, और 'अजी ये सब पैसे-वाले बदमाश हैं' कहकर घृणा, भर्त्सनासे उसे तर कर देते हैं, या जले-भुने मनसे ही पिण्ड छुड़ानेके लिये एक पैसा फेंक देते हैं। पर फिर ऐसा नहीं कर सकेंगे। वह कोढ़ी, वह भिखारी हमारे लिये वन्दनीय बन जायगा। हम उसे जो कुछ भी दे सकते हैं, देकर यथायोग्य उसकी सेवा कर अपनेको परम कृतार्थ अनुभव करेंगे, आँखें भर आयँगी—'नाथ! तुम्हारा यह स्वाँग कितना विचित्र है!' आज तो हमारी यह दशा है कि हम रेलके डिब्बेमें सफर करते होते हैं, किसी स्टेशनपर बेचारा भोलाभाला कोई ग्रामीण कहीं भी स्थान न पाकर गाड़ी छूटनेकी आशङ्कासे हमारे डिब्बेमें चढ़ना चाहता है, उस समय उसके साथ प्रेमका बर्ताव न कर उसे नीचे धक्का दे देनेमें, डिब्बेके दरवाजेपर पड़ी हुई उसकी गठरीको नीचे फेंक देनेमें हमें तनिक भी लज्जा नहीं आती; आँखें मटकाकर, हाथ नचाकर, खरी-खोटी सुनाते हुए उसपर रोब गाँठकर फाटक बंद कर लेनेमें हमें गौरवका अनुभव होता है। पर फिर ऐसा व्यवहार हमसे कदापि सम्भव नहीं होगा। फिर तो हमारे लिये बगलकी सीटपर सूट-बूटसे सज्जित गोरे चिकने चमकते चेहरेवाले हमारे साथी मुसाफिरमें एवं मैले-कुचैले कपड़े पहने खुरदरे मुखवाले उस ग्रामीणमें कोई अन्तर न होगा। दोनोंमें एक ही प्रभु समानरूपसे अवस्थित हैं, यह अनुभूति हमें निरन्तर बनी रहेगी। दोनोंके ही दर्शन हममें समान प्रेम एवं उल्लासका सञ्चार करेंगे, दोनोंके प्रति हमारा विनयपूर्ण आदर्श व्यवहार होगा। आज एक ओर तो यह हाल

है कि हम ठूँस-ठूँसकर खाते हैं, अधिक खा-खाकर बीमार पड़ते हैं; हमारे यहाँ पेटियों कपड़े भरे पड़े हैं, प्रातःकालके कपड़े अलग, आफिसके अलग, क्लब जानेके अलग, सोनेके अलग—घड़ी-घड़ी हम पोशाक बदलते रहते हैं। मतलब यह कि बिना हिचकके हम अन्न-वस्त्रका अपव्यय करते हैं तथा दूसरी ओर एक परिवार है, जहाँ किसीको भी पेटमें डालनेके लिये एक मुट्ठी दाना नहीं, अङ्ग ढँकनेको भी पर्याप्त वस्त्र नहीं—अन्न-वस्त्रके लाले पड़ रहे हैं तथा यह सब देख-सुनकर भी हम महलमें बैठे मौज उड़ाते हैं; किंतु फिर हमसे यह हाल देखा नहीं जायगा। अपना सर्वस्व हम दुखी अनाथके रूपमें विराजित प्रभुकी सेवामें अर्पण कर देंगे। आज हम जो युवक-युवती हैं, प्रेमी-प्रेमास्पद होनेका दम भरनेवाले हैं, वे सौन्दर्यकी अपनी-अपनी कल्पना कर उसके पीछे पागल हो जाते हैं—युवकके लिये उसकी सौन्दर्यविषयक कल्पनापर खरी उतरनेवाली युवती, युवतीके लिये उसकी कल्पनाका सुन्दर युवक उन्मादकी वस्तु है। पर फिर हमारी यह दशा होगी कि रूप-यौवनसम्पन्न युवक-युवतीमें तथा घूरेपर पड़ी, खाज-खुजाती हुई, उड़े हुए बालोंवाली कुतियामें, कुत्तेमें हमें एक प्रभुकी समान सत्ता व्यक्त दीखेगी; हमारा हृदय सुन्दर और बीभत्स दोनों ही रूपोंमें भगवान्‌को देखकर दोनोंको ही यथायोग्य प्यार देनेके लिये निरन्तर प्रस्तुत रहेगा। सौन्दर्यकी हमारी परिभाषा भी जो अब है, उससे सर्वथा दूसरी होगी। थोड़ेमें कहनेपर यह कि फिर हमारे लिये सम्पूर्ण जगत् एवं जगत्‌का व्यवहार ही पलट जायगा। एक ही प्रभु हमें इन अनन्त विभिन्न रूपोंमें और व्यवहारोंमें अनुस्यूत दीखने लगेंगे। सर्वत्र हमारे लिये आनन्द, प्रेम एवं शान्तिका समुद्र लहराता रहेगा। अवश्य ही ऐसा होगा तब, जब हम एक बार यहाँकी इस असीम विषमतासे दृष्टि हटाकर इसकी ओटमें नित्य समभावसे विराजित प्रभुको ढूँढ़ लेंगे और उन्हें पाकर उन्हींमें अविचलरूपसे स्थित हो जायँगे।

ऐसा हो जाना कोई अत्यन्त कठिन हो, सो बात भी नहीं। इसके लिये हमारी सच्ची इच्छा होनी चाहिये। फिर मन धीरे-धीरे बदलने लगेगा। यह सर्वथा सत्य है—

काममय एवायं पुरुष इति स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति यत्क्रतुर्भवति तत् कर्म कुरुते यत् कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यते। (बृहदारण्यक० ४। ४। ५)

'यह पुरुष काममय है, जैसी कामनावाला होता है, वैसे निश्चयवाला होता है, जैसे निश्चयवाला होता है, वैसे कर्म करता है, जैसे कर्म करता है, वैसे फलको प्राप्त होता है।'

अतः सबसे पहले हमारा यह प्रयास होना चाहिये कि 'हमें सर्वत्र प्रभुका साक्षात्कार हो' हमारे चित्तमें यह इच्छा जाग्रत् हो। मौखिक इच्छा तो बहुतोंमें देखी जाती है, पर उससे काम नहीं होता। यह इच्छा ऐसी हो कि इसमें अन्य समस्त इच्छाएँ विलीन हो जायँ। असलमें इच्छा उत्पन्न होनेमें तथा बढ़नेमें वातावरण ही प्रधान है। जिस वातावरणमें मनुष्य रहेगा, उससे प्रभावित होगा ही। इसलिये हम जिस क्षेत्रमें हों—वकील हों, डाक्टर हों, व्यवसायी हों, दलाल हों, एजेंट हों, क्लर्क हों, चपरासी हों, किसान हों, मजदूर हों—कुछ भी हों, उसी क्षेत्रमें प्रतिदिन कुछ समय (भले ही आध घंटेके लिये ही क्यों न हो) हम वैसे वातावरणमें अपनेको अवश्य ले जायँ जहाँ प्रभुसम्बन्धी भाव हममें प्रवेश पा सकें। यह जगन्नियन्ताका अटल नियम है कि जो इस दिशामें बढ़ना चाहता है, उसे पथ दिखाने, आगे बढ़ानेकी व्यवस्था पहले-से-पहले वे कर रखते हैं। हम यदि किसी ऐसे व्यक्तिकी, जो हमें प्रभुके मार्गमें यत्किञ्चित् प्रकाश दे सके, खोजमें लगें तो अपने ही क्षेत्रमें कोई-न-कोई व्यक्ति हमें अपने-आप ही अवश्य मिल जायगा। तथा फिर हम उसका प्रतिदिन आदरपूर्वक सङ्ग करें। उसके सङ्गसे दो लाभ होंगे। एक तो हमारी प्रभुविषयक क्षीण इच्छा पुष्ट होने लगेगी तथा दूसरा यह कि प्रभुकी सर्वत्र सर्वकालीन सत्ताके प्रति हमारी बुद्धिमें निश्चय होने लगेगा। यह दृढ़ निश्चय होनेभरकी देर है, फिर तो अपने अंदर ही नित्य विराजित प्रभुकी

ओर हम बरबस खिंच जायँगे । इसके बाद हमारी क्रियात्मक साधना आरम्भ होगी—हमारी चेष्टाओंका नियन्त्रण हम आरम्भ करेंगे । आज हमारी प्रत्येक चेष्टा, प्रत्येक कर्मका उद्देश्य भिन्न-भिन्न होता है । फिर सारी चेष्टा, समस्त कर्म एक उद्देश्यमें विलीन होने लगेंगे, हमारे द्वारा सब कुछ प्रभुके उद्देश्यसे होने लगेगा । प्रभुको यथावत् जाननेकी, उनसे व्यवधानरहित होकर मिल जानेकी लालसा हमारे अंदर उत्तरोत्तर बलवती होती जायगी । फिर हमारे और प्रभुके बीच जो 'अहम्' का आवरण है, वह फटने लगेगा । जैसे मेघ सूर्यसे ही उत्पन्न होता है, सूर्यसे ही प्रकाशित होता है, पर सूर्यके ही अंशभूत हमारे नेत्रोंके लिये आवरण बन जाता है, उसके (मेघके) बीचमें आ जानेपर हमारे नेत्र अपने अंशी सूर्यको देख नहीं पाते; वैसे ही यह 'अहम्' सचमुच है तो प्रभुका ही एक गुणमात्र—परिणाममात्र । उनकी सत्तासे ही यह प्रकाशित भी है । फिर भी प्रभुके ही अंशभूत आत्माके लिये—हमारे लिये यह बन्धन बन गया है, आवरण बन गया है । 'अहम्' बीचमें आ जानेके कारण ही हम प्रभुको देख नहीं पा रहे हैं, उनसे हमारा अबाध मिलन नहीं हो पा रहा है । उनसे नित्य मिले रहनेपर भी हम अलग-से हो रहे हैं; किंतु जैसे सूर्यसे उत्पन्न बादलके फट जानेपर नेत्रोंको अपने ही स्वरूपभूत सूर्यके दर्शन होने लगते हैं, वैसे ही जहाँ प्रभुको जाननेकी, उनसे मिलनेकी उत्कट लालसा हुई कि आत्माका—हमारा यह उपाधिभूत अहङ्कार नष्ट होने लगेगा । इसके नष्ट होते ही हमें प्रभुका साक्षात्कार हो जायगा, हम कृतार्थ हो जायँगे—

यथा घनोऽर्कप्रभवोऽर्कदर्शितो
ह्यर्कांशभूतस्य च चक्षुषस्तमः ।
एवं त्वहं ब्रह्मगुणस्तदीक्षितो
ब्रह्मांशकस्यात्मन आत्मबन्धनः ॥

घनो यदार्कप्रभवो विदीर्यते
चक्षुः स्वरूपं रविमीक्षते तदा ।
यदा ह्यहङ्कार उपाधिरात्मनो
जिज्ञासया नश्यति तर्ह्यनुस्मरेत् ॥

(श्रीमद्भा० १२ । ४ । ३२-३३)

जीवनका टिमटिमाता दीप बुझने लगे, उससे पूर्व ही इस दिशामें हमारा पूर्ण प्रयत्न होना चाहिये । अन्यथा हमारे जीवनमें अर्जित संस्कार यहीं समाप्त हो जायँ यह बात तो है नहीं । ये तो आगे भी साथ चलेंगे । हमारा जो निश्चय यहाँ है, हम जगत्‌को अभी जिस रूपमें देख रहे हैं, उसीके अनुरूप मृत्युके बाद भी देखेंगे अनेकों अशुभ कल्पनाओंसे जैसे हम यहाँ जलते रहते हैं, वैसे ही आगे भी जलते रहेंगे । अतः बुद्धिमानी इसीमें है कि अभीसे हम जगत्सम्बन्धी अपने निश्चयको बदल दें, विषमताको हटाकर परम शुभ निश्चयको ही अपने अंदर स्थान दें, इस अमर वैदिक सन्देशका हम आदर करें—

× × ×

यथाक्रतुरस्मिंल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति स क्रतुं कुर्वीत ।

(छान्दोग्य० ३ । १४ । १)

'इस लोकमें पुरुष जैसा निश्चयवाला होता है, वैसा ही यहाँसे मरकर होता है, इसलिये वह क्रतु यानी पक्का निश्चय करे ।'

परम शुभ निश्चय क्या है, कैसे करें, इस सम्बन्धमें भी हमें वहीं* यह सङ्केत मिल जाता है—

सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत ।

'यह सब पसारा निस्सन्देह प्रभु ही है । प्रभुसे ही जगत् उत्पन्न होता है, उन्हींमें विलीन होता है, उन्हींमें चेष्टा करता है । इस प्रकार निश्चय करके मनुष्य शान्त-भावसे उपासना करे ।'

* छान्दोग्य० ३ । १४ । १

श्रीकृष्णलीलाका चिन्तन

(३४)

व्रजपुरका राजमार्ग असंख्य शकटोंसे पूर्ण हो चुका है। उन शकटोंके ऊपरी अंशमें श्वेत, हरित, पाटल, पाण्डुर, पीत एवं अरुण वर्ण छींटके वस्त्रोंसे मण्डप बने हैं। मण्डप चारों ओरसे रंग-बिरंगे रेशमी वस्त्रोंके द्वारा प्राचीरके आकारमें घेर दिये गये हैं। उसके ठीक मध्यमें ऊपर स्वर्णकलश सुशोभित है। उनपर पताकाएँ फहरा रही हैं। मानो ये परम सुन्दर विशाल शकट अतिशय कलापूर्ण ढंगसे, कनक-कलशोंपर फर-फर करती हुई पताकारूप अपनी रसनाके द्वारा रविरश्मियोंका पान कर रहे हों, साथ ही अपने सुरदुर्लभ सौभाग्यसे उल्लसित होकर ऊपर उड़ते अमरविमानोंका परिहास कर रहे हों—

उपरि परितानितसितहरितपाटलपाण्डुरपीतारुणकिर्मीरचीरमण्डपेषु परितो वृतीकृतनानाविधपरार्द्ध्यपट्टवसनेषु कनककलशोपरिपरिपततपताकानिकररसनाभिरिव दिनकरकिरणकलापं कलापण्डिततया लेलिहानेषु परिहस्यमानामरविमानेषु विमानेषु।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

इन शकटोंमें स्वर्णमण्डित शृङ्गोंसे सुशोभित अतिशय सुपुष्ट बलीवर्द जुड़े हैं। प्रत्येकके ग्रीवादेशमें घंटियाँ बँधी हैं, उनसे परम मनोहर झुन्-झुन् टुन्-टुन् शब्द हो रहा है। ऐसे अगणित सुसज्जित एक पङ्क्तिमें खड़े शकटोंपर वृद्धा गोपिकाएँ, वृद्धगोप, नवयुवतियाँ, गोपकुमारिकाएँ, गोपशिशु यथास्थान आसीन हुए यात्राकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। जिस शकटपर अपने नीलमणिको अङ्कमें धारण किये व्रजराजमहिषी एवं रामको लिये श्रीरोहिणी विराजित हैं, उसकी छटा तो निराली है—

मणिखचितसुवर्णचित्रवर्णे
शुचिमृदुतूलिकयानुकूलमध्ये।
गृहनिभशकटे विरेजतुस्ते
सुतरुचिरोचिषि रोहिणीयशोदे॥

(श्रीगोपालचम्पूः)

'वह एक विचित्र मणिखचित स्वर्णिम वर्णका है। उसके मध्यदेशमें उज्ज्वल, मृदुल तूलिका (गद्दे) का आरामप्रद आस्तरण बिछा है। सुन्दर सज्जित गृहकोष्ठके समान उसकी रचना है। नन्दनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रके महामरकत श्यामकलेवरसे झरती हुई नीलज्योति एवं बलरामके गौर अङ्गोंसे निःसरित उज्ज्वल आभा उसे उद्भासित कर रही है। ऐसे परम सुन्दर शकटमें आसीन हुई व्रजेश्वरी एवं बलरामजननी सुशोभित हो रही हैं।'

इस शकट-पङ्क्तिसे आगे व्रजेश्वरके, व्रजवासियोंके अपार गोधनका समूह खड़ा है। बस, अब चलनेकी तैयारी ही है। अगणित गोपोंके द्वारा की हुई शृङ्गध्वनि, तुमुल तूर्यनाद और जयघोषसे आकाश गूँजने लगता है। गोपोंके पुरोहित मङ्गलपाठ करने लगते हैं। व्रजराजकुलपुरोहित महर्षि शाण्डिल्य आज स्वयं पधारे हैं तथा शिष्योंसहित यात्रासे पूर्व मङ्गलपाठ, स्तुतिपाठ कर रहे हैं—

गोधनानि पुरस्कृत्य शृङ्गाण्यापूर्य सर्वतः।
तूर्यघोषेण महता ययुः सहपुरोहिताः॥

(श्रीमद्भा० १० । ११ । ३२)

नील, पीत आदि विविध वर्णके सुन्दर वस्त्र पहने, वक्षःस्थलपर कुङ्कुमकी कान्ति धारण किये, कण्ठको पदकसे अलङ्कृत किये, अङ्गोंको नानाविध मणिमुक्तास्वर्णाभूषणोंसे भूषित किये, रथपर बैठी गोपसुन्दरियाँ भी प्रेमावेशसे श्रीकृष्णलीलाके गीत गा रही हैं—

गोप्यो रूढरथा नूत्नकुचकुङ्कुमकान्तयः।
कृष्णलीला जगुः प्रीता निष्ककण्ठ्यः सुवाससः॥

(श्रीमद्भा० १० । ११ । ३३)

कंचन सकटहिं चढ़ि चढ़ि गोपी, चली जु नंदसुवन-रस-ओपी।
कंठनि पदिक जगमगत जोती, लटकै ललित सुबेसर-मोती॥

केसरि आड़ ललाटन लसी, चंद मैं चंद-कला-दुति जसी ।
चंचल दृग अंजन छबि बढ़े, ससिन मैं जनु नव खंजन चढ़े ॥
लाल के बालचरित जु पुनीत, लये हैं बनाइ बनाइ सु गीत ।
ठाँ ठाँ गोपी गान जु करैं, सीतल कंठ सब कौ हिय हरैं ॥

(नन्ददास)

श्रीकृष्णचन्द्रके आविर्भावसे लेकर अबतककी समस्त लीलाएँ उनके मानसनेत्रोंके सामने एक-एक कर आ रही हैं तथा उनमें डूबती-उतराती रहकर उन-उनके सङ्केतसे ही वे श्रीकृष्णचन्द्रको पुकार रही हैं—

नन्दमहीपतिजात ! नन्दयशोदामात !
जन्ममहामहदिग्ध ! रमितसमस्तस्निग्ध !
स्पर्शार्दितविषयोष ! अपरिचितापरदोष !
शकटविघट्टनशेष ! गोकुलपुण्यविशेष !
कृतनामभिरभिराम ! सन्तततरामाराम !
रिङ्गभृताङ्गणरङ्ग ! अङ्गीकृतसखिसङ्ग !
लङ्घितमारुतचक्र ! नन्दितगोकुलशक्र !
वत्सविमोचनमोद ! व्रजजनशर्मयशोद !
सर्वानन्दनचौर्य ! तस्मिन् दर्शितशौर्य !
अयि ! दामोदरलील ! अखिलसुखप्रदशील !

(श्रीगोपालचम्पूः)

'अरे नन्द महाराजसे उत्पन्न होनेवाले ! नन्दरायको भी यशका दान करनेवाली यशोदाको माता बनानेवाले ! अपने जन्मके समय महामहोत्सवसे रञ्जित होनेवाले ! अपनी लीलासे सब कुछ ललित कर देनेवाले ! अपने स्पर्शमात्रसे ही विषभरी पूतनाको नष्ट करनेवाले ! दूसरोंकी मलिनतासे अनभिज्ञ रहनेवाले ! शकटके उलटनेपर भी उससे सर्वथा अक्षत बच निकलनेवाले ! गोकुलके पुण्यविशेषकी प्रतिमूर्ति ! गोप-गोपसुन्दरियोंके द्वारा रक्खे हुए नामोंके कारण अत्यन्त प्रिय प्रतीत होनेवाले ! बलरामका आनन्दवर्द्धन करनेवाले ! रिङ्गणकर नन्दप्राङ्गणको रङ्गशाला बना देनेवाले ! सखाओंको नित्य सङ्गमें लिये रहनेवाले ! चक्रवातकी गति शिथिल—शान्त कर देनेवाले ! व्रजेन्द्रको प्रसन्न करनेवाले ! गोदोहनसे पूर्व ही वत्सोंको बन्धनमुक्त कर उन्हें मातासे मिलाकर आनन्दित होनेवाले ! व्रजवासियोंके सुखशान्तिरूप धन ! सबको परमानन्दमें निमग्न कर दे ऐसी चोरी करनेवाले ! ऐसी चोरीमें शूरता ही दिखानेवाले ! अरे, उदरमें दामबन्धनकी लीलावाले ! चर-अचर अखिल विश्वके लिये अपरिसीम सुखदायिनी प्रवृत्तिमें रत रहनेवाले !'

—इस प्रकार श्रीकृष्णचन्द्रका वे आह्वान कर रही हैं ।

इनका यह लीलागान व्रजरानीके तथा श्रीरोहिणीके कर्णरन्ध्रोंमें अमृतकी वर्षा कर रहा है । राम-श्यामके साथ अपने उस शकटपर विराजित वे दोनों इस पीयूषपानमें—लीलाश्रवणमें एकाग्रचित्त हो रही हैं । उनकी श्रवणोत्कण्ठा उत्तरोत्तर प्रबल होती जा रही है—

तथा यशोदारोहिण्यावेकं शकटमास्थिते ।
रेजतुः कृष्णरामाभ्यां तत्कथाश्रवणोत्सुके ॥

(श्रीमद्भा० १० । ११ । ३४)

श्रीरोहिणी तो फिर भी कुछ सावधान हैं, क्योंकि उन्हें भय है कि ये दोनों चञ्चल बालक कहीं रथसे नीचे कूद न पड़ें । किंतु यशोदारानी तो इस यात्राके जगत्‌को भूल ही गयी हैं । नीलमणिको क्रोडमें धारण किये, सौन्दर्यपुत्तलिका-सी बनी वे गोपसुन्दरियोंके मुखसे निःसृत लीलागानमें सर्वथा तन्मय हो रही हैं—

राज-सकट बैठी जसु मोहै, उपमा कौं त्रिय त्रिभुवन को है।
सुरपति-रवनी रमा की चेरी, सो वह चेरी जसुमति केरी॥
गोद मैं सुत अति सोहत ऐसी, चंद-जननि चंदहि लिये जैसी।
सुत-गुन गोपी गावति जहाँ, दै रही कान जसोमति तहाँ॥

(नन्ददासकृत दशमस्कन्ध)

उनके गीतका केवल एक शब्द 'जन्ममहामहदिग्ध' व्रजरानीके हृत्पटपर अङ्कित उस लीलाको उनके लिये मूर्त कर देता है, व्रजेश्वरीके लिये फिर स्मरण एवं साक्षात्कारमें कुछ भी अन्तर नहीं रहता और वे अपने नीलमणिको पुनः सर्वथा अभी-अभी जन्म देकर जन्मोत्सव देखने लगती हैं—

तिहिं छिन नंद-सदन की सोभा,
नहिं कहि परत लगत जिय लोभा।
इत जु बेद-धुनि की छबि बढ़ी,
मंगल बेलि-सी त्रिभुवन चढ़ी॥
इत मागध सु बंस जस पढ़ैं,
इत बंदीजन गुनगन रढ़ैं।
गावत इत जु रागिनी राग,
चुये परत जिनके अनुराग॥
आनँदघन जिमि दुंदुभि बजैं,
जिन सुनि सकल अमंगल भजैं।
सुनि कै गोप महा मुद भरे,
चले महरि-घर रंगनि ररे॥
पहिरे अंबर सुंदर सुंदर,
जे कबहूँ निरखे न पुरंदर।
मंगल भेंट करन मैं लिये,
मैन-से लरिकन आगे किये॥
गोपी मुदित, भयौ मन भायौ,
महरि जसोदा ढोटा जायौ।
प्रफुलित ही सो लागति भली,
को है प्रात कमल की कली॥
कुंकुम-रस रंजित मुख लौने,
कनक-कमल अस नाहिंन हौने।
चली तुरत सजि सहज सिंगार,
छतियन उछरत मोतियन हार॥
श्रवननि मनि कुंडल झलमलैं,
बेगि चलन कौं जनु कलमलैं।
चले जु चपल नैन छबि बढ़े,
चंदन मनहुँ मीन हे चढ़े॥
सुसम कुसम सीसन तैं खसे,
जनु आनंद भरे कच हँसे।
हाथनि थार सु लागत भले,
कंजनि जनु कि चंद चढ़ि चले॥
मंगल गीतन गावति गावति,
चहुँ दिसि तैं आवति छबि पावति।
नंद-अजिर मैं लगी सुहाईं,
जनु ये सब कमला चलि आईं॥
छिरकत सबन हरद अरु दही,
तब की छबि कछु परत न कही।
सुंदर मंदिर भीतर गईं,
जसुमति अति आदर करि लईं॥

कभी गोपवनिताके मुखसे उच्चरित 'स्पर्शार्दितविषयोष' की ध्वनि पूतनाकी आर्तिको सामने कर देती है—

कुच छोड़ु छोड़ु रे हे मुरारि।
बेबरन ह्वै गई जरद नारि॥

—और कभी वे शकटभञ्जन-लीलामें आविष्ट हो जाती हैं—

नंदादिक तहँ धाये आये,
सकट बिलोकि सु बिस्मय पाये।
तिन सौं कहन लगे सिसु बात,
अहो महर! यह तेरौ तात॥
तनक चरन ऐसैं करि कर्यौ,
तौ यह सकट उलटि है पर्यौ।
कहत कि कह जानहिं ये बारे,
उलटत कूट कमल के मारे॥
सबन कही कि नंद बड़भागी,
लरिकहिं रंचक आँच न लागी।
तब तैं नंद महर की ललना,
पूतहि पर्यौ पत्याइ न पलना॥

व्रजेश्वरीके सामने एक-एक लीला अभी इसी क्षण हो रही है—

कनक मनिमय मनहिं मोहत।
परम सुंदर अजिर सोहत॥
मृदुल पगतल लसत लालन।
झकत उझकत करत चालन॥
हँसत किलकत लखत छाँहिय।
उर उमाहन भरत वा हिय॥
जुगल तन फबि धूरि धूसर।
अतुल छबि उपमा न दूसर॥
कच झडूले झलकि झूमत।
उड़त अलि फिरि घुमड़ि घूमत॥
अखिल छबि आनन अखंडित।
सरद ससि जनु अमिय मंडित॥
पयबदन द्वै रदन राजत।
बिसद छबि बिबि बीज छाजत॥

बचन कलबल कहत तोतल ।
अमृत रस ससि स्रवत सो तल ॥
कंठ कठुला मनहिं मोहत ।
बज्र मिलि नख सिंह सोहत ॥
मुखर रसना चलत चालिय ।
कामदूती बाकजालिय ॥
रुनित नूपुर कुनित पाइन ।
हंस सुत सुर चढ़े चाइन ॥
पद पदम नख नवल राजिय ।
मनहुँ मिलि नखतालि साजिय ॥
राम क्रस्न कुमार दोऊ ।
गौर स्याम सरीर सोऊ ॥
सिसुन में मिलि खेल खेलत ।
भजत फिरि फिरि मुरकि हेरत ॥
कबहुँ रुन झुन धाइ भागहिं ।
संक मानहिं अंक लागहिं ॥
कबहुँ फिरि फिरि करन फेरत ।
सिसुन कौं फिरि उच्च टेरत ॥
बदन बिधु कबहूँ कँपावत ।
मातु लखि उर उमगि आवत ॥
बक्ष पक्षनि झटकि डोलत ।
कबहुँ मर्कट निकट बोलत ॥
देखि रोहिनि महरि ठाढ़िय ।
पुलकि प्रेम पयोधि बाढ़िय ॥
स्रवत अस्तन दूध धारन ।
सिथिल तन आनंद भारन ॥
उमगि उरनि उठाइ ले तिय ।
चूमि मुख पयपान देतिय ॥
सीस अंचल झाँपि मेलहिं ।
तोरि तिन जल पानि फेरहिं ॥
देखि सिसु सुधि खेल आवत ।
छाँडि पय उठि गोद धावत ॥
जाइ मिलि खिल बाल ब्रंदन ।
देत आनँद नंदनंदन ॥
दौरि जननी लगहिं पाछै ।
संग ल्याइ लगाइ आँछै ॥
अगिनि जल कंटक बचावैं ।
कठिन छिति पक्षी बरावैं ॥

यशोदारानीको स्पष्ट दीख रहा है कि चक्र[illegible] अभी-अभी मेरे नीलमणिकी रक्षा हुई है, मेरे कुल[illegible] नारायणने की है, अन्यथा शिशुका जीवित बच [illegible] असम्भव था—

प्रकास उग्र बक्रवाइ तर्क तेज नेह गौ ।
दिखात दीह दंस बंस हंस छोड़ि देह गौ ॥
सनारि नंद रोहिनी सुदौरि ग्वाल गोप जे ।
उठाइ लाल अंक धारि प्रेम मोद सों पगे ॥
प्रचंड रूप भीम देखि जीव जे हहाइ गे ।
बच्यौ जु पुत्र कौन पुन्य नंद जू सँसाइ गे ॥
महा सुभाग्य नंदजू कहैं जु लोग गाँवरौ ।
क्रपा क्रपाल बिस्नु की बच्यौ जु सूनु साँवरौ ॥
निहारि नंदलाल कौं अनंद नंद लीन जे ।
बुलाइ बिप्र छिप्र सर्ब शास्त्र में प्रबीन जे ॥
बिधान दान मान सों प्रमान बेद के करैं ।
कुटुंब ज्ञाति भोजनादि बस्त्र द्रब्य दे भरैं ॥

मैया वृन्दावन-गमनके लिये रथपर तो बैठी हैं, कुछ क्षण पश्चात् रथ प्रस्थान करनेवाला है, पर अनुभव यह कर रही हैं कि गोपसुन्दरियाँ आयी हैं, हँस-हँसकर उराहने दे रही हैं—

अहो महरि ! यह तुम्हरौ तात,
कहा कहैं हम याकी बात ।
असमय देइ बछरुवन छोरि,
ठाढ़ौ हँसै खरिक की खोरि ।

× × ×

दरस कारन इकहि आवहि ।
उपालंभ बनाइ ल्यावहि ॥
महरि तू लघु सुत न मानहि ।
ढीठ अति लंगर न जानहि ॥
सखनि लै छबि भवन रंजतु ।
खात दधि भाजननि भंजतु ॥
बात सुत की सुनै कानन ।
ओढ़ि अंचल उमगि आनन ॥
परसपर तहँ हास पागहिं ।
देखि छबि नहिं पलक लागहिं ॥

अपने नीलमणिका दाम-बन्धन एवं बन्धनमोचन

दोनों ही दृश्य जननी क्षणभरमें सम्पूर्णरूपसे ठीक वैसे-के-वैसे अनुभव कर लेती है—

स्याम बँधे देखे कसिकैं, नंद बंध छोरे हँसि कैं।
सूँघि लये चूम्यौ मुख कौं, कंठ लगे पायो सुख कौं॥
गोप बधू चाहैं चलिकैं, देखन को नैना ललकैं।
गेह ललै ल्याए मिलिकैं, मोहभरी माता हिलकैं॥

व्रजरानी और भी न जाने क्या-क्या देखतीं; किंतु सहसा महर्षि शाण्डिल्य एवं बाबाको अपने रथके समीप आये देखकर श्रीकृष्णचन्द्र उनकी गोदसे उछल पड़ते हैं। यदि पट्टवसनका वह प्राचीराकार घेरा न होता तो वे नीचे गिर पड़ते! रोहिणीजी लपककर उन्हें पकड़ लेती हैं। इतनेमें मैयाके नेत्र खुल जाते हैं। वे शङ्कित होकर पुनः श्रीकृष्णचन्द्रको बरबस गोदमें बैठा लेती हैं।

अस्तु, अब महर्षि शाण्डिल्य शङ्खध्वनि करते हुए प्रस्थानके शुभ क्षणकी सूचना कर देते हैं। उनकी आज्ञा पाते ही उपनन्द तोरणके समीप एक अतिशय उच्च मञ्चपर खड़े हो जाते हैं तथा शकटश्रेणीको आगे बढ़नेके लिये हाथ हिला-हिलाकर संकेत करने लगते हैं। कुछ ही क्षणोंमें शकटपङ्क्ति गतिशील बन जाती है। सहस्र बलिष्ठ धनुर्धर गोप, जो व्रजेश्वरीके रथकी रक्षामें नियुक्त हैं, अपने धनुष-बाण सँभालकर चल पड़ते हैं। एक साथ अगणित कण्ठोंका जयघोष, 'हैं-हैं, आगे बढ़ो, आगे बढ़ो, स्थान दो' का तुमुल नाद असंख्य शकटोंका घड़त्-घड़त् शब्द, भेरी-शृङ्गोंका आकाशव्यापी रव—सभी मिलकर दिग्-दिगन्तको प्रतिनादित करने लगते हैं। इनके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं सुन पड़ता—

तदा व्रजे कलकलकोटिरुत्थिता
हिहीहिहीजिहिजिहिकारमिश्रिता।
घडद्घडद्घडदिति शाकटारवः
सवाद्यकः पुनरखिलङ्गिलः स्थितः॥
(श्रीगोपालचम्पूः)

किंतु सौ हाथ भी आगे बढ़ते-न-बढ़ते शकटोंकी गति रुक जाती है। आगे बढ़नेके लिये स्थान जो नहीं। व्रजेश्वरके तोरणद्वारसे लेकर सुदूर यमुनाकूल-तक—जहाँ यमुनाको पारकर वृन्दावनमें प्रवेश करना है, वहाँतक—सभी स्थान भरे हैं। आगे अपार गोधनकी पङ्क्ति है, उसके पीछे शकटपङ्क्ति। उन्हें दोनों ओरसे घेरकर अगणित गोपयुवा धनुष-बाण धारण किये, शृङ्ग लिये खड़े हैं। शकटपङ्क्ति न आगे बढ़ सकती है, न पीछे हट सकती है। दाहिने-बायें व्रजपुरका उत्तुङ्ग प्रासाद है, उपवन हैं, सघन वन हैं। शकट किस ओर जायँ? जो निर्धारित क्रम था—आगे गोधन जायँ, उनके पीछे-पीछे शकट चलें—वह तो सर्वथा सम्भव नहीं। इतनी अपार संख्या दोनोंकी है! एक घड़ीतक ऊहापोहके अनन्तर उपनन्दजीको इस बातकी सूचना मिल पाती है और वे आदेश देते हैं कि दो पङ्क्तियोंमें होकर गोधन एवं शकट साथ-साथ चलें। कलिन्द-नन्दिनीके कूलपर धारासे समानान्तर रेखारूपमें बहुत-सी गायें बढ़ा दी गयीं। बहुतोंको पीछे हाँककर नन्द-प्रासादके समीप लाया गया। अब धेनुपङ्क्ति एवं शकटपङ्क्ति दो पङ्क्तियाँ साथ-साथ चल रही हैं। फिर भी गन्तव्य स्थान वृन्दावन एवं जिसे छोड़कर जाना है, वह बृहद्वन—दोनोंकी सीमा गोधन एवं शकट-पङ्क्तिसे जुड़ी ही रहती है, वृन्दावनकी सीमा रविनन्दिनीको स्पर्श कर लेनेपर भी गोधन एवं शकट बृहद्वनके प्राचीरको पार नहीं कर पाते। इतनी लंबी पङ्क्ति है!—

प्राचुर्यतो न घटते क्रमतः प्रयातुं
धेन्वावलिश्च शकटावलिरप्यथेति।
पङ्क्तिद्वयेन चलिते युगपत्तदा ते
गम्यं गते अपि पदं जहितो न हेयम्॥
(श्रीगोपालचम्पूः)

इस समय यमुना-तटपर फैली धेनुपङ्क्तिकी शोभा देखने ही योग्य है। उन्हें देखकर व्रजेश्वरके वन्दीजन वितर्क करने लगते हैं—

किमियं यमुनया सह रहःकथाभिलाषुकतया समागता सुरधुनीधारा ।

'अहा ! क्या यह सुरधुनीकी धारा है जो यमुनाके साथ एकान्तचर्चाके लिये उत्सुक होकर आयी है, आकर मिल रही है ?'

मत्त महाकाय वृषभश्रेणी एवं धेनुश्रेणीके शरीरमें आकार-तारतम्यको देखकर, बीच-बीचमें ऊँचे-ऊँचे वृषभ एवं फिर ओछे कदकी गोराशिकी शोभा देखकर वे चारण सोचने लगते हैं—

किमियं वृन्दावनरेणुजिघृक्षयाक्षया समुपसीदन्ती क्षीरनीरधेस्तरङ्गपरम्परा ।

'ओह ! यह क्या क्षीरसमुद्रकी अक्षय तरङ्गमाला है जो परम पावन वृन्दावनकी रज ग्रहण करनेकी लालसासे यहाँ उपस्थित हुई है ?'

नहीं-नहीं, दूसरी वस्तु है ! यह बृहद्वनके मूलसे जो निकल रही है ! फिर क्या हो सकती है ?—

किमियं क्षीरोदशायिनः शयनभावमपहाय वृन्दावनदिदृक्षयैव समुपसीदतो भोगीन्द्रस्य परम-द्राघीयसी भोगकाण्डलता ।

'यह क्या पातालसे उठी हुई शेषनागकी फण-लताका विस्तार है ? प्रतीत होता है, क्षीरोदशायी श्रीनारायणके शय्याभूतरूपका परित्याग कर वृन्दावन-दर्शनकी अभिलाषासे अनन्तदेव पधारे हैं, यह उनके ही अत्यन्त दीर्घतम फण-समूहके जाल फैल रहे हैं ! क्यों ?

किंतु इसका चाकचिक्य तो विचित्र है ! तब—

किमियं भुवो मुक्तावली ।

'क्या यह धरणीका मुक्ताहार है !'

बस बस ! यही है !—इस प्रकार गोधनकी शोभासे हर्षित हुए वन्दीजन विविध प्रकारसे उसका वर्णन करते हैं । शकटपङ्क्तिकी शोभा भी निराली ही है । उसकी भी वे नाना प्रकारसे उत्प्रेक्षा करते हैं । उनकी उक्तियोंको सुन-सुनकर गोपगण आनन्दित हो रहे हैं ।

ज्यों-ज्यों धेनु एवं शकटश्रेणी आगे बढ़ती हैं त्यों-ही-त्यों आकाश गो-रजसे, धूलिपटलसे परिपूर्ण होने लगता है । मानो उस शून्य पथमें कोई शिल्पी एक सर्वथा अवलम्बनहीन, मृण्मय दुर्गकी रचना कर रहा हो ! अथवा—वह एक दिन था जब धरा असुरभाराक्रान्त हो रही थीं । असुरोंके अत्याचारसे पीड़ित होकर गोका रूप धारणकर अपना दुःख-निवेदन करने वे जगत्-विधाताके समीप गयी थीं । किंतु दिन बदले और आज श्रीकृष्णचन्द्रके पादपद्मोंका स्पर्श पाकर वे कृतार्थ हो गयी हैं । इस अप्रतिम सुखकी सूचना धाताको देनेके उद्देश्यसे ही वे आज मानो धैर्य छोड़कर ऊर्ध्वपवनसे सञ्चालित धूलिराशिके रूपमें हर्षातिरेकवश अपने स्वाभाविक रूपमें ब्रह्मलोककी ओर दौड़ी जा रही हैं । उस दिन दुःखके भारसे दबी रहने के कारण कृत्रिम रूपमें एवं मन्दगतिसे गयी थीं, आज आनन्दातिरेकसे चञ्चल हुई मानो अपने सत्यस्वरूपमें—रजकणरूपमें ही द्रुतगतिसे भागती जा रही हैं—

गोरूपेण पुरा सुरारिकदनव्याहारहेतोरगा-च्छ्रीकृष्णस्य पदाब्जसंगमसुखं व्याहर्तुकामा किमु । धूलीधोरणिभिर्धरेयमधुना धूताभिरूर्ध्वानिलै-र्धातुर्धावति धाम धैर्यरहिता स्वं धाम धृत्वा पुनः ॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पू)

इधर व्रजरानी भावसमाधिसे जागते ही कहीं नीलमणि फिर कोई चञ्चलता न कर बैठें, इस उद्देश्यसे विविध चर्चाके द्वारा उन्हें भुलाने लगती हैं । श्रीकृष्ण-चन्द्र भी कौतूहलमें भरकर जननीसे पूछने लगते हैं—

मातः क्व नु खलु गच्छन्तः स्मः ?

'मैया ! हमलोग कहाँ जा रहे हैं ?'

जननी उत्तर देती हैं—

पुत्र ! वृन्दावननामनि वनधामनि ।

'मेरे लाल वृन्दावननामक वनभूमिमें ।'

श्रीकृष्णचन्द्र किञ्चित् विचारते हुए पुनः बोले—

कदा सदनमायास्यामः ?

'घर कब लौटेंगे ?'

पुत्रके इस प्रश्नपर जननीके अधरोंपर मन्द मुसकान छा जाती है और वे कहती हैं—

वत्सासदनुषङ्गत एव सङ्गच्छमानं तदास्ते ।

'वत्स ! घर तो हमलोगोंके साथ ही वृन्दावन जा रहा है ।'

श्रीकृष्णचन्द्रके उल्लासका पार नहीं रहता । इसके अनन्तर कुछ देर वे बलरामके साथ, शकटगतिके कारण वृक्ष, गृह आदिको घूमते-से अनुभव कर उनके सम्बन्धमें चर्चा करते हैं । फिर जननीके कण्ठमें ही झूलकर उनसे ही प्रश्न करने लगते हैं—

भवतु, तद् वृन्दावनं कुत्र ?

'अच्छा, मैया ! यह बता, वृन्दावन कहाँ है ?'

इसका उत्तर जननी न देकर रोहिणी मैया देती हैं—

पुत्र यमुनायाः पारे ।

मेरे लाल ! यमुनाके उस पार !

फिर तो यमुनाके सम्बन्धमें अनेकों प्रश्नोत्तर चलते हैं । पूर्ण संतोष हो जानेपर श्रीकृष्णचन्द्र इस बार श्रीरोहिणीसे ही पूछने लगे—

लघुमातः ! का तत्र शातसम्पदस्ति ? यदेतावता प्रयासेन प्रयास्यामः ।

'छोटी मैया ! ठीक है, यह बताओ, आखिर वृन्दावनमें ऐसी कौन-सी सुख-सम्पत्ति है, जो हमलोग इतना प्रयास उठाकर वहाँ जा रहे हैं ?'

रोहिणी मैया बोलीं—

पुत्र ! क्रीडास्थानानि क्रीडनकानि च बहूनि सन्ति ।

'मेरे लाल ! वहाँ अनेकों क्रीडा-स्थान हैं । क्रीडा-सामग्रियाँ भी वहाँ बहुत हैं ।'

यह उत्तर सुनकर तो श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दसे नाच उठते हैं । कदाचित् शकटपर न होते तो वे अभी उस दिशाकी ओर भाग छूटते ।

जब रथ सघनवनके पथसे जाने लगता है, उस समय जननी एवं पुत्रका मनोहर संवाद सुननेयोग्य ही है । जानकर अनजान बने हुए-से श्रीकृष्णचन्द्र आज सर्वथा अबोध शिशुकी भाँति प्रश्न-पर-प्रश्न करते जा रहे हैं एवं जननी भी हँस-हँसकर उत्तर दे रही हैं—

कोऽसौ वृक्षः समन्तादनिश चलदलः
पिप्पलः कोऽण्डकोटिं
सूते सोदुम्बराख्यः क इह घनजटा-
व्याप्तमूर्त्तिर्वटः सः ।
इत्थं नव्यां वनान्तर्गतिमनु जननी-
डिम्भसंवादजातं
लोकं पीयूषवर्षैरसुखयदखिलं
तत्र तत्रातिचित्रम् ॥

(श्रीगोपालचम्पूः)

श्रीकृष्णने पूछा—'अपने चारों ओर असंख्य पत्रोंको निरन्तर सञ्चालित करता हुआ यह कौन-सा वृक्ष है ?' जननी बोलीं—'यह पीपल है ।' श्रीकृष्ण—'यह कोटि अण्डोंको प्रसवकर अङ्गोंमें लटकाये हुए कौन-सा वृक्ष है ?' जननी—'इसे उदुम्बर (गूलर) कहते हैं ।' श्रीकृष्ण—'अपने सघन जटाओंसे परिव्याप्त अङ्गवाला यह कौन तरु है ?' जननी—'यह वट है ।' इस प्रकार वनमें जाते समयकी यह विचित्र प्रश्नावली—जननी-पुत्रका यह मनोहर संवाद—गोप-गोपसुन्दरियों-पर पीयूषकी वर्षा कर उन्हें परमानन्दमें निमग्न कर रहा है ।

आश्चर्य यह है कि अपने-अपने रथपर आसीन प्रत्येक गोप-सुन्दरीको यह अनुभव हो रहा है कि हमारा रथ व्रजेश्वरीके रथके अत्यन्त समीप है और वह सचमुच सब संवाद अच्छी तरह सुन रही है ।

जो हो, श्रीकृष्णचन्द्र फिर पूछते हैं—

चित्रः कोऽयं मयूरः क इह मृदुकुहू-
गायकः कोकिलाख्यः
को वक्तुं वष्टि वाणीं नरवदपि शुकः
पुष्पपः कश्च भृङ्गः ।
इत्थं मातृद्वयेन प्रथमवनगमे
संलपन्तौ हसन्तौ
बालौ गोपालरामौ व्रजकुलमहिलाः
शर्मभिः सिञ्चतः स्म ॥
(श्रीगोपालचम्पूः)

'यह कौन पक्षी है ? यह मयूर है । यह मृदु-कण्ठसे कुहू-कुहू गानेवाला कौन है ? यह कोकिलनामक पक्षी है । और यह ठीक मनुष्यकी भाँति वाणी बोलनेमें समर्थ कौन है ? यह शुक है । पुष्पोंका पराग पीनेवाला यह क्या है ? यह तो भ्रमर है । इस प्रकार युगल माताओंसे राम-श्याम दोनों शिशु, वृहद्वनसे आगेके वनमें आनेपर बात कर रहे हैं, हँस रहे हैं और व्रजसुन्दरियोंपर आनन्द-धाराका प्रवाह बहाकर उनका अभिषेक कर रहे हैं ।'

रविनन्दिनीका तट आनेमें तो अभी भी पर्याप्त विलम्ब है । अतः जननी नीलमणिको कलेवा कराने जाती हैं । पर नीलमणि ऐसे सरल कहाँ कि शकटमें ही कलेवा कर लें ! वे तो नीचे उतरकर ही कलेवा करेंगे । अस्तु, शकट रोक लिया जाता है । नीचे उतरकर एक सुरम्य वन्यतरुवरकी छायामें बैठकर उनका कलेऊ होता है । अकेले नहीं, सखाओंके साथ—

बहु ब्यंजन बहु भाँति रसोई, षटरस के परकार।
सूर स्याम हलधर दोउ भैया, और सखा सब ग्वार।

आवाहन

(रचयिता—श्रीरामलालजी)

मेरे कब मिलोगे श्याम ?

बीहड़ पथपर है असफलता
धूल-कणोंमें . फूल-चरणके
कण्टकसे है खून निकलता,
चलते-चलते देर हो गयी मञ्जिलपर अविराम ।
कमल अर किसलय परागमें
नन्हीं-नन्हीं-सी कलियोंमें
मन-उपवनके हरे बागमें
रसकी रिमझिममें अबतक है मिल न सका आराम ।
चिड़िया गाकर गीत सो गयी
और पपीहा पापीके पी पी-
स्वरमें है रात खो गयी,
सता रही है विरह-वेदना मीठी और सकाम ।

जल जानेकी कीमत जानी,
सलभोंके शवपर भी मैंने
देखी जीवन-ज्योति-जवानी;
जन्म-जन्मसे करती आती है दुनिया बदनाम ।
दमक-दमक काले बादलमें
चम-चम बिजली चमक रही है,
मेरे नयनोंके काजलमें;
अन्धकारमें भी मैं तेरा भूल सका ना नाम ।
मेरी बानी सह न सकेगी
नन्दन-वनकी काली करनी
अहिवाती रति कह न सकेगी;
अमर और मरके बन्धनसे चल न सकेगा काम ।

अमृत-कण

(श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके प्रवचनोंसे)

१–मनुष्य-जीवनका समय बहुत मूल्यवान् है । यह बार-बार नहीं मिल सकता। इसलिये इसे उत्तरोत्तर भजन-ध्यानमें लगाना चाहिये ।

२–मृत्यु किसीको सूचना देकर नहीं आती, अचानक ही आ जाती है । यदि भगवान्के स्मरणके बिना ही मृत्यु हो गयी तो यह जन्म व्यर्थ ही गया । मृत्यु कब आ जाय इसका कोई भरोसा नहीं । अतः भगवान्के स्मरणका काम कभी भूलनेका नहीं ।

३–मनुष्यको विचार करना चाहिये कि मैं कौन हूँ, क्या कर रहा हूँ और किस काममें मुझे समय बिताना चाहिये । बुद्धिसे विचार कर वास्तवमें जिसमें अपना परम हित हो, वही काम करना चाहिये ।

४–यदि अपने आत्माका उद्धार करना हो तो सब सात-पाँचको छोड़कर हर समय भगवान्का भजन करे ।

५–भगवान्को छोड़कर और कहीं भी मनको न लगाये, जो भगवान्को छोड़कर अन्य किसीका भक्त नहीं, वही अनन्यभक्त है ।

६–अपनी बुद्धिसे विचार करे कि क्या करना अच्छा है और क्या करना बुरा । जो बुरा हो, उसका त्याग कर दे और जो अच्छा हो, उसके पालनमें तत्पर हो जाय ।

७–भगवान्का भजन-साधन करनेमें यदि शरीर सूखने लगे, मृत्यु भी हो जाय तो कोई हर्ज नहीं ।

८–जब शरीरके लिये संग्रह किये हुए संसारके पदार्थ साथ नहीं जा सकते तो उनके लिये अपना अमूल्य समय लगाना व्यर्थ है । जगत्में जितने मनुष्य हैं, प्रायः किसीको भी अपने पूर्वजन्मका ज्ञान नहीं है । इसी प्रकार इस वर्तमान घरको छोड़कर चले जायँगे तब इसे भी भूल जायँगे । फिर इतना परिवार और धन किस लिये इकट्ठा किया ? यह हमारे क्या काम आयेगा ? जब आगे यह किसी भी काम नहीं आयेगा तो हमें चाहिये कि इस लौकिक सम्पत्तिका मोह छोड़कर दैवी सम्पत्तिका भंडार भरें । अपने हृदयसे दुर्गुण-दुराचारोंको हटाकर सद्गुण-सदाचारोंको भर लें ।

९–साधन न होनेमें अश्रद्धा ही प्रधान कारण है, इसको हटाना चाहिये ।

१०–ईश्वरने हमको जो कुछ भी तन, मन, धन, कुटुम्ब, विद्या, बल, बुद्धि, विवेक आदि दिया है, उसे ईश्वरकी सेवामें ही लगा देना चाहिये । जिस प्रकार पतिव्रता स्त्री प्रत्येक कार्यमें पतिकी प्रसन्नताका ख्याल रखती है, इसी प्रकार हम जो भी कार्य करें, पहले विचार लें कि इससे भगवान् प्रसन्न हैं या नहीं । वही कार्य करे, जिससे भगवान्की प्रसन्नता प्राप्त हो ।

११–जिस प्रकार कठपुतलीको सूत्रधार नचाता है, वैसे ही वह नाचती है । उसी प्रकार भगवान्की आज्ञाके अनुसार चलें । जैसे वे करावें, वैसे ही करें ।

१२–भगवान्की भक्तिमें किसी भी जाति और वर्णके लिये कोई रुकावट नहीं है, आवश्यकता है केवल विशुद्ध प्रेमकी ।

१३–हर समय भगवान्को याद रखते हुए ही समस्त कार्य करे । भगवत्-स्मृतिरूप सूर्यके सामने अन्धकार नहीं रह सकता । भगवत्-स्मृतिसे सब दोष स्वतः ही दूर हो जाते हैं ।

१४–अपने ऊपर भगवान्की और महापुरुषोंकी विशेष दया समझकर यह अनुभव करे कि हमारी दिनों-दिन उन्नति हो रही है । सद्गुणोंका विकास, आसुरी सम्पत्तिका नाश और दैवी सम्पत्तिकी वृद्धि हो रही है एवं साधन प्रत्यक्ष बढ़ रहा है ।

१५—श्रीबलरामजीको गायों-बछड़ों और ग्वालबालों सभीमें भगवान् ही दीखते थे, वैसे ही समस्त प्राणियोंमें भगवान्‌को देखे और इस प्रकार देख-देखकर मुग्ध होता रहे।

१६—भगवान्‌का सारा विधान जीवोंके वास्तविक कल्याणके लिये ही होता है।

१७—कलियुगमें भगवान् थोड़े ही साधनसे मिल जाते हैं। हमलोगोंको यह मौका मिल गया है, अब इसे छोड़ना नहीं चाहिये।

१८—अपने प्रतिकूल जो भी घटना प्राप्त हो, उसे भगवान्‌का भेजा हुआ पुरस्कार समझे; उसमें घबराये नहीं; बल्कि परम आनन्दका अनुभव करे। विपत्ति जो भी आती है, भगवान्‌की भेजी हुई आती है। अतः उसे प्यारेका प्रसाद समझे और आनन्दमें मग्न हो जाय। विपत्तिमें भगवान्‌को देखे, क्योंकि विपत्तिमें भगवान्‌का छिपा हुआ प्यारभरा हाथ रहता है।

१९—मनुष्यकी मान्यता फलती है। जो जैसा मानता है, उसे वैसा ही फल होता है। अतः अच्छी-से-अच्छी भावना करनी चाहिये। भावनामें कृपणता क्यों?

२०—मान्यता करनेसे उसके अनुरूप ही अनुभव हो जाता है, अनुभव होनेके बाद वैसी ही स्थिति हो जाती है।

२१—नित्यकर्म, साधन, भजन सभीमें ऊँचे-से-ऊँचा भाव करना चाहिये।

२२—हर समय अपनेपर भगवान्‌की कृपा समझे। कृपा समझनेमें सहायक हैं—सत्सङ्ग और स्वाध्याय। अभिप्राय यह है कि भगवत्-सम्बन्धी बातोंका श्रवण, मनन, पठन और आलोचन करे।

२३—भगवद्विषयक ये ग्यारह बातें बहुत मनन करने योग्य हैं—१ नाम, २ रूप, ३ लीला, ४ धाम, ५ तत्त्व, ६ रहस्य, ७ गुण, ८ प्रभाव, ९ प्रेम, १० शक्ति और ११ आनन्द।

२४—चार बातें बड़ी अच्छी हैं—१—भगवान्‌के नामका जप, २—स्वरूपका ध्यान; ३—सत्संग (सत्पुरुषोंका सङ्ग और सत्-शास्त्रोंका मनन), ४—सेवा। यह साधनकी चतुःसूत्री है। हमको तो अपने ६० वर्षके जीवनमें ये चार बातें सबके साररूपमें मिलीं।

२५—वैराग्य, निष्कामभाव, सत्यभाषण और शास्त्रकी मर्यादाके अनुसार आचरण—इन चार बातोंपर भी मेरा विशेष आग्रह है। परमार्थ-मार्गपर चलनेवालोंको इनके पालनपर विशेष जोर देना चाहिये।

२६—चार चीजोंको विषतुल्य समझकर बिल्कुल त्याग दे—१—पाप, २—भोग, ३—प्रमाद और ४ आलस्य।

२७—साधनमें पाँच बड़ी प्रबल घाटियाँ हैं—१—कञ्चन, २—कामिनी, ३—शरीरका आराम, ४—मान और ५—यश (कीर्ति)।

२८—दूसरेका गुण ही देखे, अवगुण कभी न देखे। मनुष्यको गुणग्राही होना चाहिये।

२९—एक तो होती है सेवा और दूसरी है परम सेवा। सेवा तो यह कि दूसरोंके लौकिक हितके लिये, शारीरिक सुख पहुँचानेके लिये अपना तन, मन, धन लगा देना। किसी पीड़ित मनुष्यको अन्न, जल, वस्त्र, औषध अपनी योग्यताके अनुसार दे देना, यह उसकी भौतिक सेवा है। परम सेवा वह है कि किसीको भगवान्‌के मार्गमें लगाना तथा जो मनुष्य भगवान्‌के मार्गमें लगे हैं, उनको उनके साधनमें सहायक आवश्यकीय वस्तुओंकी पूर्ति करना, साधनकी अन्य सुविधाएँ प्रदान करना तथा उन्हें सत्संगमें लगाना—इस प्रकार भगवच्चर्चा आदिके द्वारा साधनकी उन्नतिमें हेतु बनना। तथा कोई मर रहा हो, उसे गीता, रामायण, भगवन्नाम आदि सुनाना। यह पारमार्थिक सेवा है। यही परम सेवा है। लाख आदमियोंकी

भौतिक सेवासे एक आदमीकी परम सेवा बढ़कर है।

३०–भगवान्‌से माँगना ही हो तो यह माँगे कि सारे जीवोंका कल्याण हो जाय, सब सुखी हो जायँ। इस प्रकार सकाम भावसे की गयी प्रार्थना भी निष्काम ही है।

३१–वक्ता और श्रोता दोनों ही पात्र हों तो असर अधिक होता है। दोनोंमेंसे एक पात्र हो तो कम असर होता है और दोनों ही अपात्र हों तो नहींके बराबर असर होता है।

३२–महापुरुषोंकी कोई भी क्रिया बिना प्रयोजन नहीं होती। उनकी सम्पूर्ण क्रियाएँ दूसरोंके हितके लिये-कल्याणके लिये ही होती हैं। वे किसीसे काम लेते हैं तो उसके कल्याणके लिये ही, अपने लिये नहीं।

३३–महान् पुरुष कभी अपनेको महान् नहीं मानते। श्रेष्ठ पुरुष कभी अपनी बड़ाई नहीं चाहते।

३४–जो महात्मा परमात्मामें मिल जाते हैं, वे परमात्मस्वरूप ही हो जाते हैं। परमात्माकी पूजा ही उनकी पूजा है।

३५–महात्मा पुरुषोंके दर्शनसे, उनसे वार्तालाप करनेसे मनुष्य पवित्र हो जाय—इसमें तो कहना ही क्या, उनका स्मरण करनेसे भी अन्तःकरण पवित्र हो जाता है।

३६–भगवान्‌का यह नियम है कि 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' जो मुझे जैसे भजते हैं, वैसे ही मैं उनको भजता हूँ।' परंतु महात्माओंका यह नियम नहीं है। उनका नियम इससे भिन्न है कि 'जो हमें नहीं भी भजते, उन्हें भी हम भजते हैं।'

३७–जैसे आगमें घास डाला जाय तो आग हो जाती है और घासमें आग डाली जाय तो आग हो जाती है। इसी तरह महात्माके पास अज्ञानी जाय तो वह भी महात्मा हो जाता है और अज्ञानियोंके पास महात्मा चला जाय तो भी वह अज्ञानी मनुष्य महात्मा हो जाता है; क्योंकि महात्माओंके पास ज्ञानाग्नि हैं, उससे अज्ञान नष्ट हो जाता है।

३८–महात्माओंका ज्ञान अव्यर्थ है, अमोघ है। उनका सङ्ग, दर्शन, भाषण, स्मरण सभी महान् फलदायक होते हैं।

३९–एक दीपकसे जब लाखों दीपक जल सकते हैं तो संसारमें एक महात्माके मौजूद रहते सब महात्मा क्यों नहीं बन सकते।

४०–महात्माका यथार्थ तत्त्व जाननेसे मनुष्य महात्मा ही हो जाता है, जिस प्रकार परमात्माका तत्त्व जाननेसे परमात्मा हो जाता है।

४१–महात्माका तत्त्व तब जाना जाता है, जब मनुष्य उनके आज्ञानुसार आचरण करता है।

प्रान गये पछितैहौ

जो तुम गोपालहि नहिं गैहौ।
तो तुमकाँ सुखमें दुख उपजै, सुखहि कहाँ ते पैहौ॥
माला नाय सकल जग डहको, झूठो भेख बनैहौ।
झूँठे ते साँचो तब होइहौ, हरिकी सरन जब ऐहौ॥
कनरस-बतरस और सबै रस झूँठहि मूड़ डोलैहौ।
जबलगि तेल दियामें बाती देखत ही बुझि जैहौ॥
जो जन राम-नाम-रँगराते, औरे रँग न सुहैहौ।
कह 'रैदास' सुनो रे कृपानिधि प्रान गये पछितैहौ॥

—संत रैदासजी

विश्व-प्रकृतिका रूप और स्वरूप

(लेखक—श्रीअक्षयकुमार वन्द्योपाध्याय एम्० ए०)

विश्व-जगत्‌में इन्द्रिय और मनके सम्मुख जितने भी पदार्थ प्रतिभासित होते हैं, सभी अनित्य, सभी ससीम और सभी अपूर्ण हैं; सभीके भीतर नाना प्रकारकी मलिनता और कदर्यता है; कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है जो मानव-प्राणको आत्यन्तिक शान्ति और आनन्द प्रदान कर सके। कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है जो उसकी ज्ञान-पिपासा, आनन्द-पिपासा, प्रेम-पिपासा और मुक्ति-पिपासाको चरितार्थ कर सके। देश-विशेष, काल-विशेष और अवस्था-विशेषमें जो कुछ भी उसे सुखप्रद प्रतीत होता है; सत्य, सुन्दर और कल्याणमय दिखायी देता है, वही देशान्तर, कालान्तर और अवस्थान्तरमें दुःख, ज्वाला और अशान्तिका कारण बन जाता है—उसीके भीतरसे अकल्याण, बीभत्सता और मिथ्यात्व फूट निकलता है। जगत्‌के इस इन्द्रिय-मनो-गोचर, अनन्त-वैषम्य-समाकुल, असंख्य घात-प्रतिघातोंके द्वारा जर्जरित, नियत-ध्वंसशील, नित्य चञ्चल, प्रवाहवान् रूपके साथ मानव-चेतना मानो किसी प्रकार भी अपनेको मिलाकर नहीं चल सकती; इस रूपको ही परम सत्य मानकर ग्रहण करने और इसके प्रति आत्मसमर्पण करनेमें मानव-चेतना किसी प्रकार भी सम्मत नहीं होती। इसी कारण मानवात्मा विश्व-जगत्‌के इस प्रतीयमान रूपके पीछे उसके प्राणाराध्य सत्यको ढूँढ़ता है—सुन्दरको, कल्याणको और आनन्दको खोजता है। मानवात्मा मानो अपने प्राणोंमें यह अनुभव करता है कि जगत्‌का यथार्थ स्वरूप इन सब अनित्य परिच्छिन्न संघर्षशील कदर्य रूप-रूपान्तरमें नहीं है। वह यथार्थ स्वरूप इन सबके पीछे छिप रहा है। मानवात्मा इस रूपकी आड़में छिपे हुए 'स्वरूप' का (आविष्कार करनेके लिये तपस्याका व्रत लेता है, 'रूप' के प्राणोंके अंदर प्रवेश करके वह 'स्वरूप' का) साक्षात्कार करना चाहता है। तपस्याके समय वह बहुधा उस वास्तव जगत्‌के बाहर दीखनेवाले 'रूप' के प्रति वैराग्य धारण करता है, पर उसका उद्देश्य है 'रूप' के प्राणका दर्शन प्राप्त करना, जगत्‌का ही यथार्थ परिचय प्राप्त करना, विश्व-जगत्‌के यथार्थ स्वरूपके साथ अपने प्राणोंका सम्यक् मिलन और समन्वय प्राप्त करना।

मानव-प्राण विश्व-जगत्‌को अन्तरसे प्रेम करता है। दोनोंमें चिरन्तन प्रेमका सम्बन्ध है। विश्व-जगत्‌के साथ मानव-प्राणका जो यह सनातन मधुर सम्बन्ध है, इसके न रहनेपर मानव-प्राण खाली हो जाता है, सूना हो जाता है, अपनेको खो देता है। अतएव जगत्‌की तो उसे आवश्यकता है ही। वह जगत्‌के प्रति स्वाभाविक ही प्रेम और श्रद्धा रखता है। इन्द्रिय और मनके द्वारसे जगत्‌का जो मुख उसके [illegible] आता है, उसके प्रति प्रेम तथा श्रद्धा रखना उसे [illegible] कठिन हो जाता है। मानव-प्राणका प्रेमास्पद और श्र[illegible] वही है जो सत्य है, नित्य है, सुन्दर है, पवित्र है, कल्[illegible] है, ऐश्वर्यमय है, माधुर्यमय है और असीम एवं पूर्ण है। [illegible] असत्य, अनित्य, अशुचि और अकल्याणकारी है, जो कु[illegible] कदर्य है एवं जो ज्ञानके क्षेत्रमें, कर्मके क्षेत्रमें और [illegible] क्षेत्रमें केवल आघात-पर-आघात करता है, उसके प्रति [illegible] नहीं कर सकता, श्रद्धा नहीं कर सकता एवं उसके साथ [illegible] कर कभी नहीं चल सकता। एक ओर विश्व-जगत्‌के [illegible] मानव-प्राणका चिरन्तन सम्बन्ध है और दूसरी ओर [illegible] पूर्ण सत्य शिव सुन्दर उसका चिरन्तन अन्तर्देवता [illegible] जगत्‌के साथ मानवात्माका प्रेमका सम्बन्ध है, इसीलिये इस मलिन, कदर्य, अनित्य, हिंसा-घृणा-भय-संघर्षसे [illegible] अकल्याणकारी रूपको जगत्‌का 'सत्य स्वरूप' या '[illegible] परिचय' माननेके लिये तैयार नहीं है। विश्व-जगत्‌को [illegible] चिरन्तन श्रद्धाके योग्य, प्रेमके योग्य, स्वयं पूर्ण सत्य-शि[illegible] सुन्दर मूर्तिमें साक्षात् करना ही मानव-प्राणका व्रत है। [illegible] उद्देश्यसे उसकी वैराग्य-साधना, कर्म-साधना और भक्ति-सा[illegible] होती है। विश्व-जगत्‌के परिदृश्यमान विचित्ररूपमें सर्वत्र [illegible] अन्तरके नित्य आराध्य नित्यपूर्ण देशकालापरिच्छिन्न सत्य-शि[illegible] सुन्दरके दर्शन प्राप्त कर लेना ही मानव-प्राणकी साधना[illegible] सिद्धि है; ऐसा होनेपर ही जगत्‌के साथ उसका यथार्थ [illegible] होता है, तभी जगत्‌के यथार्थ स्वरूपके साथ उसका [illegible] परिचय होता है और तभी जगत्‌में उसकी स्वभावनिहित [illegible] पिपासा, प्रेम-पिपासा, ऐश्वर्य-पिपासा, माधुर्य-पिपासा, [illegible] पिपासा और आनन्द-पिपासाकी सम्यक् सार्थकता होती है। [illegible] समय विश्व-जगत्‌के समस्त पदार्थोंके साथ उसका एकान्त [illegible] लिङ्गन होता है और उसी समय सबके अंदर उसे [illegible] अमृत-क्षेमका आस्वादन प्राप्त होता है।

मानव-प्राण जब विशुद्ध होकर विश्व-जगत्‌के प्रा[illegible] साक्षात्कार प्राप्त करता है, तब जागतिक सभी पदार्थों और [illegible] व्यापारोंका वह एक नया परिचय पाता है। बहिर्मुख [illegible] दर्शी इन्द्रियसमूह, वासनाकलुषित विक्षिप्त मन और इ[illegible] मनकी अधीनता-शृङ्खलासे आबद्ध बुद्धि उसे जबतक [illegible] का जो परिचय दे रही थी, वह सर्वथा बदल जाता है। [illegible]

सिद्ध हो जाता है। अब वह विश्वके प्रत्येक पदार्थमें विश्वके पूर्ण प्राणको देख पाता है, प्रत्येक व्यापारमें उस पूर्ण प्राणके ही लीला-विलासका आस्वादन करता है। अपनेको विश्व-प्राणके साथ ज्ञान और प्रेमसे मिलाकर उस प्राणके ही आत्मप्रकाशके रूपमें वह इन्द्रिय-मनोगोचर समस्त पदार्थोंको देखता, सुनता, आस्वादन करता और प्रेम करता है। उसका वैराग्य विशुद्ध प्रेमके रूपमें परिणत हो जाता है, उसके समस्त कर्म प्रेमास्पद-की सेवाके रूपमें परिणत हो जाते हैं, वह नित्य पूर्णताको प्राप्त करता है और उसकी अनुभूतिमें सभी पूर्ण दिखायी देते हैं। वह शुद्ध-बुद्ध-प्रेमालोकित सत्यस्वरूपदर्शी मानव-प्राण उस समय अनुभव करता है—

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

—जिसको अदः (वह) कहकर संकेत किया जाता है, जो इन्द्रिय-मनके अगोचर है, वाणीके द्वारा अवर्णनीय है, देश, काल, अवस्था, परिणामसे अतीत है, प्रत्यक्षानुमान-युक्तितर्कादिमूलक ज्ञानका अविषय है, वह भी पूर्ण है वह भी सत्य-शिव-सुन्दर है। उसके ध्यानसे, उसकी अनुभूतिसे, उसके प्रति प्रेमसे, उसके साथ एकान्त मिलनसे व्यष्टि प्राण भी अपनेको पूर्णरूपमें उपलब्ध करता है, ज्ञान, आनन्द और सौन्दर्यमें पूर्णता प्राप्त करता है। फिर 'इदम्' रूपसे जो उप-लब्धि-गोचर है, यह जो इन्द्रिय-मन-बुद्धिका विषयीभूत शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धादिमय नियत परिवर्तनशील जगत् है, जो देशकालावस्थासे परिच्छिन्न जड रूपमें प्रतिभासित है, जिसमें आपातदृष्टिसे कितना वैषम्य, कितना संघर्ष, कितनी बीभत्सता, कितनी कदर्यता है, वह भी वस्तुतः पूर्ण है, उसके भी प्रत्येक अङ्ग-प्रत्यङ्गमें, प्रत्येक अणु-परमाणुमें देशकाला-वस्थातीत, इन्द्रिय-मनोबुद्ध्यतीत, नित्यपूर्ण सत्य-शिव-सुन्दरका ही विचित्र प्रकाश है। वहाँ भी पूर्ण है, यहाँ भी पूर्ण है; भीतर भी पूर्ण है, बाहर भी पूर्ण है; सामने भी पूर्ण है, पीछे भी पूर्ण है—समस्त चेतना पूर्णके द्वारा ही समाविष्ट है और चेतनाका विषयीभूत जो कुछ भी है, सभीके भीतर पूर्णका ही दर्शन होता है, उसीका परिचय प्राप्त होता है। देश-कालके अतीत जो कुछ है, वह जैसे पूर्ण है, देश-कालसे विलसित जो कुछ है, वह भी वैसे ही पूर्ण है। 'पूर्णमदः पूर्णमिदम्।'

इसके पश्चात् कहा गया है—पूर्णसे पूर्ण ही प्रकट होता है और पूर्णसे पूर्ण ग्रहण कर लेनेपर भी पूर्ण ही बच रहता है। कारण भी पूर्ण और कार्य भी पूर्ण। इन्द्रिय-मन-बुद्धिके विषयीभूत, जगत्के सभी पदार्थ उत्पत्ति-स्थिति-विनाशशील हैं—सभी पदार्थ कारणसे उत्पन्न होते हैं और स्थितिकालमें परिणामको प्राप्त होते-होते फिर कारणमें ही विलीन हो जाते हैं। उत्पत्तिके पूर्व जो कारणस्वरूप है, विनाशकालमें वही मृत्युस्वरूप है। पूर्ण चेतन मानव-प्राणकी दृष्टिमें कारण भी पूर्ण है; कार्य भी पूर्ण है—कार्य-जगत्की उत्पत्तिके पूर्व भी पूर्णस्वरूप सत्य-शिव-सुन्दर ही अपनी महिमासे विराजमान हैं और कार्य-जगत्-रूपमें अपनेको विचित्र रूप-रस-गन्ध-स्पर्श शब्दके तरङ्गायित प्रवाहमें लीलायमान करके भी वह पूर्ण स्वरूप सत्य-शिव-सुन्दर ही प्रकाशित हैं। महाप्रलयके समय जब कार्य-जगत् परम कारणमें विलीन होता है—इन्द्रिय-मन-बुद्धि और उनका विषयीभूत सब कुछ तिरोहित हो जाता है, मृत्युग्रस्त हो जाता है, अव्यक्त अवस्थामें परिणत हो जाता है—तब भी सत्य-शिव-सुन्दर पूर्ण स्वरूपमें ही अवशिष्ट रहते हैं। किसी अवस्थामें भी सत्य-शिव-सुन्दरकी पूर्णतामें ह्रास-वृद्धि नहीं होती, आवरण-विक्षेप नहीं होता। सभी अवस्थाओंमें वह अपने पूर्णस्वरूपमें ही आस्वादन करते हैं और सम्यग्दर्शी मानव-प्राण भी सभी अवस्थाओंमें उनको पूर्ण स्वरूपमें ही दर्शन करता है।

श्रीमद्भागवतकी मूल सूत्रस्थानीय श्लोकचतुष्टयीके प्रथम श्लोकमें भगवान्ने स्वयं अपने इस नित्यपूर्ण सच्चित्-शिव-सुन्दर स्वरूपका सुस्पष्ट परिचय दिया है—

अहमेवासमेवाग्रे नान्यद् यत् सदसत्परम्।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम्॥

विश्व-सृष्टिके पूर्व जब स्थूल या सूक्ष्म अथवा उसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं था, उस समय भी मैं था ही; एवं मैं मैं ही था—अपने नित्यपूर्ण सच्चित्-शिव-सुन्दर स्वरूपमें ही था, मेरे स्वरूपमें तब भी कोई अपूर्णता नहीं थी, विश्व-रूपमें मेरी अभिव्यक्ति न होनेपर भी मैं अपनी स्वरूपगत पूर्णताके आस्वादनमें ही संलग्न था। इसके बाद विश्व-जगत्के दैशिक और कालिक सृष्टिमें यह जो कुछ देख रहे हो, यह सब भी मैं ही हूँ,—इस परिदृश्यमान जगत्के समस्त कारण और समस्त कार्य मैं ही हूँ, समस्त स्थूल और समस्त सूक्ष्म मैं ही हूँ; सभी रूपोंमें, सभी रसोंमें, सभी गन्धोंमें, सभी स्पर्शोंमें और सभी शब्दोंमें मेरा ही प्रकाश है; मेरी ही स्वरूपगत पूर्णताका विचित्र आस्वादन है। इन सबके अंदर मैं ही अपने पूर्णस्वरूपसे ही लीलायमान हूँ। फिर, ये सब जब महाप्रलयमें विलीन हो जायँगे, उस समय जो बच रहेगा, वह भी मैं ही हूँ, तब भी मैं ही अपनी पूर्ण महिमामें ही विराजित रहूँगा।

मानव-प्राणके नित्य अभीष्ट, नित्य प्रेमास्पद, नित्य अनुसन्धेय, नित्य पूर्ण सत्य-शिव-सुन्दरको देश-कालके ऊपर, देश-कालके मध्य, सृष्टिके अतीत निर्विशेष धाममें और सृष्टिकी प्रक्रियाके प्रत्येक स्तर-विशेषमें उपलब्ध और आस्वादन करनेके लिये ही तत्त्वानुसन्धानपरायण मानव-बुद्धि आदियुगसे अब-तक कितनी प्रकारकी कल्पनाओंका आश्रय ग्रहण करती आयी है। पूर्ण विकसित मानव-चेतनाने इन्द्रिय-मन-बुद्धिके ऊपर उठकर सर्वविशेषातीत स्वरूपमें भी जैसे चरम सत्यकी पूर्णताका आस्वादन किया है, वैसे ही इन्द्रिय-मन-बुद्धिके राज्यमें अवतरण करके सब प्रकारके विशेषमें भी उसी एक सत्यकी पूर्णताका आस्वादन किया है। इसी उपलब्धि और आस्वादनको ऋषि, कवि और दार्शनिकोंने नाना भाषाओं, नाना छन्दों, नाना रूपकों और नाना युक्तिविचारोंके द्वारा प्रकाशित करनेका प्रयास किया है और ऐसा करके उन्होंने साधारण मनुष्यकी विभिन्न स्तरोंकी अनुभूति और लोकोत्तर महापुरुषोंकी सम्यक् विकसित चेतनाकी तत्त्वानुभूतिके बीचमें पुल बाँधनेकी चेष्टा की है। यद्यपि भाषा, छन्द, उपमा, युक्तितर्क आदि सब स्वाभाविक ही अपूर्ण हैं—चरमतत्त्वका सम्यक् परिचय देनेमें असमर्थ हैं, तथापि तत्त्वानुसन्धानमें लगे हुए साधकोंको इन्हींका सहारा लेकर स्वाभाविक देश-कालाधीन मलिन विक्षिप्त खण्डित और आवृत ज्ञानकी भूमिसे चेतनाको क्रमशः मुक्त करनेके लिये प्रयत्न करना पड़ता है, मुक्त चेतनाकी अनुभूतिके आलोकसे इन्द्रिय-मन-बुद्धिकी अनुभूतिको भी समालोकित करनेका प्रयास करना पड़ता है।

ऋग्वेदके दशम मण्डलके नासदीय सूक्तमें नित्य स्वयं पूर्ण सत्य-शिव-सुन्दरके देशकालातीत सर्वद्वन्द्वातीत सर्व-विशेषातीत सर्वपरिणामातीत चैतन्यैकरस स्वरूपकी दिव्य अनुभूतिका एक अतुलनीय वर्णन दिया गया है। वहाँ न देश है, न काल है, न सत् है, न असत् है, न पृथ्वी है, न आकाश है, न उसके ऊपर या नीचे कोई स्थूल या सूक्ष्म लोक-लोकान्तर है, न दिन है, न रात्रि है, न प्रकाश है, न अन्धकार है, न मृत्यु है, न अमृत है, न किसी विशेषका अस्तित्व है और न किसीके भी उत्पन्न होनेकी सम्भावनाका ही लक्षण है, तब भी उस अन्धकारसमावृत प्रगाढ़ अन्धकारमें एक अद्वितीय चैतन्यैकरस परमात्मा अपनी अनन्त शक्तिकी अविक्षुब्ध अवस्थामें अपनेसे अभिन्न—अपने ही स्वरूपगत रूपका आस्वादन करते हुए अपनी महिमाके परिपूर्णस्वरूपमें विराजमान हैं। फिर इसी ऋग्वेदके दशम मण्डलमें ही पुरुष-सूक्तमें इस एक अद्वितीय चैतन्यैकरस परमपुरुषके ही सर्व-देशकालमय, सर्वद्वन्द्वमय, अनन्त-विशेषमय, अनन्त-परिणाम-मय, लीलायमान स्वरूपके दिव्य आस्वादनका एक चमत्कार-पूर्ण वर्णन दिया गया है। हमारे इन्द्रिय-मनके सम्मुख वह जो सत्य-शिव-सुन्दर परमपुरुष महिमोज्ज्वल रूपमें खड़े हैं—इनके असंख्य मस्तक हैं, असंख्य चक्षु हैं, असंख्य चरण हैं, सर्वत्र ही इनकी सभी इन्द्रियाँ हैं। सम्पूर्ण विश्व-ब्रह्माण्डके रूपमें आत्म-विस्तार करके, विश्व-ब्रह्माण्डके प्रत्येक पदार्थके भीतर-बाहरसे परिव्याप्त करके, मनको अपने चैतन्यालोकसे आलोकित करके, अपने सौन्दर्यसे समलङ्कृत, अपने स्वरूपगत रस-माधुर्यसे माधुर्यमण्डित करके, साथ ही सभी भावोंमें सभी विशेष सत्ताओंका अतिक्रमण करके वे विराजमान हैं। जो कुछ हमारे ज्ञानका विषयीभूत है, उस रूपमें भी वही हैं, साथ ही जो हमारे ज्ञानसे बाहर है, वह भी वही हैं। जो कुछ था, जो कुछ है और जो कुछ भविष्यमें होगा—वह सभी कुछ वही हैं, सभी रूपोंमें उन्हींका प्रकाश है—उन्हींका आत्मास्वादन है। पुरुषके अतिरिक्त अन्य किसीकी सत्ता नहीं है। अन्नके द्वारा जो जीव-शरीर पुष्ट होता है और अन्नके अभावसे या पुराना होकर जो मृत्युमुखमें चला जाता है, वह जीव-शरीर भी वही हैं, वह अन्न भी वही हैं, वह मृत्यु भी वही हैं, फिर अमृतस्वरूप भी वही हैं और अमृतत्वके विधाता भी वही हैं। यह सभी कुछ उन्हींकी महिमा है, साथ ही वे इन सबका अतिक्रमण करके विराजमान हैं। विश्वरूपमें उनके केवल एक पादका ही प्रकाश है, उनका त्रिपाद तो विश्वातीत अमृतमय दिव्य स्वरूप है।

फिर वेदने ही सृष्टिके क्रमविकाशके सभी, सोपानों सभी स्तरोंमें विश्लेषण करके प्रत्येक सोपान और स्तरमें इन सत्य-शिव-सुन्दर परमपुरुषकी नित्यपूर्णताके आस्वादनका ही मार्ग दिखलाया है। जगत्-प्रक्रियाका विश्लेषण करके पूर्णप्रज्ञ ऋषियोंने सृष्टिके मूलमें एक वस्तु देखी—उसका नाम रक्खा 'काम'। 'काम' शब्दका अर्थ है—चाह, इच्छा। सभी गतियोंके, सभी चेष्टाओंके, सभी आत्मपरिणामों और सभी आत्मविस्तारके मूलमें यह 'काम' है। कालिक सब प्रकारके व्यापारोंके मूलमें काम है। कालिक दृष्टिके द्वारा देखनेपर समस्त परिणाम, समस्त विकाश और सङ्कोच, समस्त सृष्टि और संहारकी मूल प्रेरणा कामसे ही उत्पन्न दिखायी देती है। 'वर्तमान' में जो अवस्था है, उसमें सम्यक् तृप्ति नहीं है, सम्यक् पूर्णताका आस्वादन नहीं है और भी कुछ 'चाहिये' और भी कुछ मिलना चाहिये, होना चाहिये, या भोग करना चाहिये। इस

'चाह' से ही कालका प्रवाह है—वर्त्तमानकी भविष्यकी ओर गति है। वर्तमानका भविष्यके प्रति काम न हो तो कालका अस्तित्व ही न रहे।

नासदीय सूक्तके ऋषि विश्वके कालिक प्रवाहका हेतु बतलाते हुए घोषणा करते हैं—

कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा॥

(ऋ० १०। १२९। ४)

सबसे पहले 'काम'का आविर्भाव हुआ। यह काम ही मनका प्रथम बीजस्वरूप बना। कामके प्रकाशसे ही मनका प्रथम परिचय मिलता है। मनके जितने खेल हैं, जितने परिणाम और जितनी सृष्टि है, सबके आदिमें यह काम है। कामसे ही सब उद्भूत हैं—सब प्रवाहित हैं। कामके आविर्भावके पूर्व सब अव्यक्त है—सदसत् किसीका परिचय नहीं है। काम मूलतः कहाँसे और क्यों उत्पन्न हुआ, यह कोई नहीं बता सकता। कामके आविर्भावके पूर्व कालका ही कोई लक्षण नहीं है—अतीत, वर्तमान और भविष्यका कोई अर्थ नहीं है। पक्षान्तरमें, कालका कोई जन्मनिरूपण नहीं होता। काल अनादि-अनन्त प्रवाहके रूपमें ही चिन्तनीय होता है। अतएव 'काम'का भी कोई जन्मनिरूपण सम्भव नहीं है, इसके लिये किसी हेतुका निर्देश करना सम्भव नहीं है। कामका जन्म भी कालिक दृष्टिसे अनादि है। देशकालातीत और देशकाल-विस्तारके बीचमें काम ही सेतु-स्वरूप है। परंतु एक अद्वितीय देशकालातीत सर्वद्वन्द्वातीत निर्विशेष चैतन्य तत्त्वको छोड़कर अन्य किसीकी भी सत्ता जब विश्व-सृष्टिके पूर्व नहीं रह सकती, तब इस चैतन्यतत्त्वको ही सर्वसृष्टिके मूलीभूत कामका आश्रयस्वरूप मानना पड़ेगा। इस कामके भीतर सर्वप्रथम निर्विशेष चैतन्यका ही आत्मपरिचय लक्ष्य करना पड़ेगा। अतीन्द्रिय सूक्ष्मदर्शी कवियोंने सूक्ष्म मनन और अन्तर्दृष्टिके द्वारा अपने ही हृदयमें उस असत्के अंदर (समस्त स्थूल, सूक्ष्म, व्यष्टि सत्ता और समष्टि सत्ताके आत्यन्तिक विशेष स्वरूप निर्विशेष चैतन्यके अंदर ही) सत् (स्थूल-सूक्ष्म समस्त व्यष्टिसत्ता और समष्टिसत्ता) के बन्धु ('अत्यागसहन' अभिन्नात्मा नित्य आश्रय) का निश्चित भावसे अनुभव किया था।

(शेष आगे)

राम प्रेम मूरति तनु आही

(लेखक—पं० श्रीरामकिङ्करजी उपाध्याय)

श्रीदेवर्षि नारदने 'प्रेमैव कार्यं प्रेमैव कार्यम्' कहकर जीवका एकमात्र कर्तव्य प्रेम ही है, भक्तिसूत्रमें ऐसा निर्देश किया; किंतु प्रश्न होता है कि प्रेम है क्या? विशेषरूपसे इस युगमें जब ज्ञान, भक्ति और धर्मके नामपर अनाचारका बोलबाला है। आज मनुष्यकी स्वाभाविक प्रवृत्ति उच्छृङ्खलताकी ओर है, और यह उच्छृङ्खलता न केवल भौतिकवादियोंमें, अपितु आध्यात्मिक कहे जानेवाले लोगोंमें भी व्याप्त है। 'बड़ो नेम ते प्रेम' कहकर प्रेमके नामपर नित्य-नैमित्तिक कर्मोंका त्याग और—

'जाके प्रिय न राम बैदेही।
तजिये ताहि कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही॥'

—कहकर गुरुजनोंका विरोध किया जाता है।

भविष्य-द्रष्टा महाकवि अपनी तत्कालीन परिस्थितियोंसे व्यथित हो गये। उन्होंने देखा—प्रेमकी आड़में किस प्रकार कुछ लोगोंके द्वारा जनता मार्गभ्रष्ट हो रही है। और तब उन्होंने हमारे समक्ष प्रेमका एक ऐसा दिव्य आदर्श उपस्थित किया, जिसमें उन्होंने यह पूर्ण रीतिसे सिद्ध कर दिया कि प्रेममें नियमका त्याग अवश्यम्भावी नहीं। नेमका त्याग प्रेममें हो जाय यह सम्भव है पर यह कोई आवश्यक नियम नहीं। और हमारे लिये यही प्रेमादर्श अनुकरणीय भी है। प्रेमके नामपर मन अनर्गल होकर यत्र-तत्र न बहने लगे, इसके लिये हमें सदा जागरूक रहना चाहिये।

उन्हींकी लेखनीसे श्रीभरतजीका दिव्य प्रेमादर्श व्यक्त हुआ और यह कहता हुआ हमारे हृदयको अपनी ओर आकृष्ट करने लगा—

सिय राम प्रेम पियूष पूरन होत जनमु न भरत को।
मुनि मन अगम जम नियम सम दम बिषम ब्रत आचरत को॥

दुख दाह दारिद दंभ दूषन सुजस मिस अपहरत को।
कलिकाल तुलसी से सठन्हि हठि राम सनमुख करत को॥

अन्तिम पङ्क्तिमें कलिकालकी कठिनताकी ओर सङ्केत किया गया। पर उसमें यही मार्ग निरापद है। आइये, हम भी उस प्रेमामृतके बिन्दुओंको पान करनेकी चेष्टा करें—जिसे भक्त कविकी लेखनीने हमारे लिये सुलभ कर दिया है।

(१)

लोकलोचनसुखदाता भगवान् श्रीराघवेन्द्रने भ्राताओं तथा सखापरिकरके साथ सरयूके समुज्ज्वल तटपर कन्दुक-क्रीड़ाका सङ्कल्प किया। खेलमें दो दल होना स्वाभाविक ही था। एक दलका नेतृत्व कर रहे थे स्वयं राघव। दूसरे दलका नेतृत्व किसे सौंपा जाय, यह एक समस्या थी। श्रीलक्ष्मणजीसे तो यह आशा की नहीं जा सकती। खेलमें भी रामके विरुद्ध होना उन्हें असह्य था। यह भी बहुत उच्च कोटिका प्रेम है इसमें सन्देह नहीं, किंतु फिर क्रीड़ा भी कैसे हो!

श्रीलक्ष्मणजी उतावले हो रहे थे। क्रीड़ाकी चुनाव-पद्धतिकी अवहेलना कर वे स्वयं ही श्रीराघवेन्द्रके निकट आकर खड़े हो गये। दर्शकोंने देखा और श्रीलक्ष्मणजीके प्रेमको देख वे आनन्दविभोर हो गये। किंतु श्रीभरतजी प्रभुके चरणकमलोंकी ओर दृष्टि किये शान्त खड़े थे। निश्चित रूपसे दर्शकोंको उनके प्रेममय उच्चभावोंका पता लगाना कठिन था। श्रीलक्ष्मणजीका प्रेम स्पष्ट था। इसका यह तात्पर्य नहीं कि वे दिखावा करते हों। पर वे तो सदा ही रामप्रेममें ऐसे उन्मत्त रहते थे कि साधारण व्यक्ति भी उनके प्रेमको देख सकता था। किंतु श्रीभरतजी स्वभावसे ही बड़े सङ्कोची और गम्भीर थे। उनके जीवनका एकमात्र लक्ष्य तो रामपदप्रेम ही था। फिर भी वे अपने हृद्गतभावोंको सदा छिपाये रखते थे, जिसे समझ सकना साधारण व्यक्तियोंकी तो कथा ही क्या, बड़े-बड़ोंके लिये भी कठिन था। उनकी विचारसरणी सर्वथा अलौकिक थी। वे क्रीड़ा-स्थलपर खड़े-खड़े मानो यही सोच रहे थे कि मैं तो प्रभुकी क्रीड़ाका एक उपकरणमात्र हूँ। वे चाहे जैसा उपयोग करें, मुझे इससे क्या? मुझे तो उनकी प्रसन्नता ही अभीष्ट है। और तब हम देखते हैं उनको प्रतिद्वन्द्वी दलका नेतृत्व करते हुए।

सारा आकाश भरा हुआ था देवताओंके विमानोंसे, वे आये हुए थे इस अद्भुत क्रीड़ाके दर्शनार्थ। भगवान् और भक्तका यह खेल बड़ा ही आनन्दवर्धक रहा। और हुआ वही जो सदासे होता आया है। भक्त विजयी और भगवान् पराजित! भैया भरतके जयकारसे सरयू-तट मुखरित हो उठा। सरयूका कल-कल निनाद भी मानो भरतकी जयका ही उच्चारण कर रहा था। श्रीभरतजी तो लज्जित हो रहे थे, साथ ही प्रसन्न भी। प्रभुकी इस महती कृपा और स्नेहको देखकर और अन्तरमें राघवेन्द्रकी वही इच्छा जानकर!

राम-लषन इक ओर,
भरत-रिपुदवन लाल इक ओर भये।
सरजुतीर सम सुखद भूमि-थल,
गनि गनि गोइयाँ बाँटि लये॥ १॥
कंदुक-केलि-कुसल हय चढ़ि चढ़ि,
मन कसि कसि ठोंकि ठोंकि खये।
कर-कमलनि बिचित्र चौगानैं,
खेलन लगे खेल रिझये॥ २॥
ब्योम बिमाननिं बिबुध बिलोकत,
खेलक पेखक छाँह छये।
सहित समाज सराहि दसरथहि,
बरषत निज तरु-कुसुम-चये॥ ३॥
एक लै बढ़त, एक फेरत,
सब प्रेम-प्रमोद-बिनोद-मये।
एक कहत भइ हारि रामजूकी,
एक कहत भइया भरत जये॥ ४॥
प्रभु बकसत गज-बाजि, बसन-मनि,
जय-धुनि गगन निसान हये।
पाइ सखा-सेवक-जाचक भरि
जनम न दुसरे द्वार गये॥ ५॥

नभ-पुर परति निछावरि जहँ तहँ,
सुर-सिद्धनि बरदान दये ।
भूरि-भाग अनुराग उमगि जे,
गावत-सुनत चरित नित ये ॥ ६ ॥
हारे हरष होत हिय भरतहि,
जिते सकुच सिर नयन नए ।
तुलसी सुमिरि सुभाव-सील सुकृती,
तेइ जे एहि रंग रए ॥ ७ ॥

धन्य है प्रभुके सौशील्य और उनकी भक्त-वत्सलताको । पर एक बात और भी तो है; यह भक्त भी कैसा है जिसने प्रभुकी इच्छामें अपनेको शून्य कर डाला है । अपनेको उनकी लीलाका सहज उपकरण बना दिया है । पर उसे लोगोंने उस समय नहीं जाना—प्रेमामृत अव्यक्त था । प्रभुको चिन्ता हुई 'इस प्रेमामृतको सुलभ करनेकी और तब............. ।

(२)

प्रभुकी परम पुनीत पत्रिका लेकर दूत पावन रामपुरमें पधारे । श्रीदशरथजी आनन्द-विभोर अपने लाड़ले लालका कुशल-मङ्गल पूछनेमें व्यस्त थे । उसी समय किसीने जाकर भैया भरतसे यह मङ्गलमय संवाद सुनाया । उस समय वे बालकोंके साथ क्रीड़ामें निमग्न थे—

'खेलत रहे तहाँ सुधि पाई'

आश्चर्य! महान् आश्चर्य!! प्रिय वियोगी और क्रीड़ा! भला रामसे पृथक् होकर वे खेलमें कैसे संलग्न थे । पर सचमुच वे खेलमें ही तो संलग्न थे ।

उनका खेल साधारण प्राकृत बालकों-जैसा न होकर प्रेमियों-जैसा था । प्रेमी अपने प्रियतमके वियोगमें उनकी ही लीलाओंका अनुकरण कर अपने व्यथित हृदयको सान्त्वना प्रदान करनेकी चेष्टा करते हैं । श्रीकाकभुशुण्डिजीने भी अपनी बाल्यावस्थाकी इसी स्थितिकी ओर सङ्केत किया है—

खेलउँ तहूँ बालकन मीला । करउँ सकल रघुनायक लीला ॥

प्रेममूर्ति गोपियोंने भी रासमण्डलसे भगवान् श्रीकृष्णके अन्तर्धान हो जानेपर ऐसा ही किया था ।

इत्युन्मत्तवचो गोप्यः कृष्णान्वेषणकातराः ।
लीला भगवतस्तास्ता ह्यनुचक्रुस्तदात्मिकाः ॥
(श्रीमद्भा० १० । ३० । १४)

श्रीकृष्णचन्द्रकी खोजमें व्याकुल हुई गोपियाँ इस प्रकार उन्मत्तोंके समान प्रलाप करती हुई तद्रूप होकर भगवान्‌की लीलाओंका अनुकरण करने लगीं ।

'तदात्मिका' शब्द भी बड़ा ही भावपूर्ण है। वियोगकी पराकाष्ठामें चिन्तनकी अधिकतासे तद्रूप हो जाना स्वाभाविक है । और ऐसी परिस्थितिमें अपने आप ही ऐसी लीला होने लगती है । हाँ, तो श्रीभरतजीने अपने प्राणधन प्रभुके लिये यह खेल प्रारम्भ किया था । इसी मिससे बाल्य-कालमें प्रभुद्वारा की गयी उनके साथ अनेक क्रीड़ाओंका स्मरण कर वे अपनेको प्रभुके निकट ही देखनेकी भावनामें निमग्न थे । फिर भरतजी उन गम्भीर प्रेमियोंमें भी तो हैं जो लोककी तो कथा ही क्या—प्रियतमपर भी अपने प्रेमको व्यक्त करना उचित नहीं समझते । उनकी उच्चाकाङ्क्षाका चित्रण इन चौपाइयोंसे होता है—

जानहुँ राम कुटिल करि मोही । लोग कहउ गुर साहिब द्रोही ॥
सीता राम चरन रति मोरें । अनुदिन बढ़उ अनुग्रह तोरें ॥

वे नहीं चाहते थे कि लोग उन्हें भक्त समझें, प्रेमी समझें । उनके हृदयमें प्रेमका विशाल समुद्र लहरा रहा था । पर था वह पूर्ण शान्त ! प्रभुकी पत्रिका मानो पूर्णचन्द्र बनकर इस प्रशान्त समुद्रको उद्वेलित करने आयी थी ।

समाचार सुनकर दौड़े हुए अनुजके साथ वे सभा-मण्डपमें आये । दौड़ते हुए आनेमें उत्साह था, पर वहाँ लोगोंकी भीड़ देख स्नेह, लज्जा, सङ्कोच और गम्भीरताके बोझसे चरण धीमे पड़ गये । पितृचरणोंमें नम्रतापूर्वक प्रणाम करके रुद्ध कण्ठको किसी प्रकार स्पष्ट करते हुए बोले—

(पूछत अति सनेह सकुचाई ।) तात कहाँ ते पाती आई ॥
कुसल प्रानप्रिय बंधु दोउ अहहिं कहहु केहि देस ।
....

उनकी इस स्नेहमयी उत्कण्ठाको देख श्रीदशरथजीने पत्र पढ़कर सुनाया। प्रेम-समुद्र पत्ररूप पूर्णचन्द्रके दर्शनसे तरङ्गायित हो उठा। रोमाञ्च और प्रेमाश्रुओंके मिससे वह व्यक्त होने लगा। उन प्रेमाश्रुओंके दर्शनसे लोग कृतकृत्य हो गये। लोगोंको क्या पता था कि उनके हृदयमें इतना स्नेह उमड़ रहा है। पर आज आँसुओंने उसे व्यक्त कर ही दिया।

प्रेम छिपानेकी वस्तु है सही, पर वह छिपनेकी नहीं। किसी भक्तने बड़ा ही सुन्दर कहा है—

प्रेम छिपाये ना छिपै, जा घट परगट होय।
जो मुखते कछु ना कहै, तो नैन देत हैं रोय॥

प्रेमीके इस प्रेमबिन्दुमें वह क्षमता है जो महासागरमें नहीं। प्रेमके इस एक बिन्दुमें सारा समुद्र समा जाय, फिर भी उसकी थाह नहीं। फिर श्रीभरतजीके निकले प्रेमबिन्दुमें डूब गयी वह सारी सभा, जिसमें बैठे हुए थे हिमालयके समान उच्च, गम्भीर, दृढ़ समुद्रके समान महामतिवाले। शेष कोई न बचा। इस प्रेमबिन्दुमें सिन्धु और हिमालयोंको भी लीन कर लिया। इस पवित्र बिन्दुमें स्नान कर सभी कृतकृत्य हो गये।

प्रीति पुनीत भरत कै देखी। सकल सभाँ सुखु लहेउ बिसेखी॥

क्या सचमुच लोगोंने उनके प्रेमको देखा! नहीं, नहीं, वह ऐसा नहीं, जिसे कोई देख ले। वह अगम है उनके लिये भी, जिन्होंने निर्माण किया है इस विश्व-प्रपञ्चका, जिनकी कृपासे पालित होता है सारा संसार और उनके लिये भी, जो अपनी दृष्टि-निक्षेपमात्रसे सृष्टिमें प्रलय कर देते हैं।

अगम सनेह भरत रघुबर को। जहँ न जाइ मन बिधि हरि हर को॥

सभासदोंने जिसे देखा था, वह तो प्रेमसिन्धुके बिन्दुका एक प्रतिबिम्बमात्र था। उनके प्रेमको कोई समझे, भला ऐसी क्षमता किसमें? कहाँ?

× × ×

बारातके वाहन सजानेका कार्य श्रीभरतजीको सौंपा गया और वह कार्य था भी उनको अत्यन्त प्रिय। प्रभुके वे महाभाग्यवान् अश्व, जिन्होंने बार-बार प्रभुके शरीरका सुखद स्पर्श प्राप्त किया है, जो प्रभुके स्नेह-सत्कारद्वारा पालित हुए हैं, उनकी सेवा करना तो श्रीभरतजीकी नित्य-क्रियाका सर्वप्रमुख अङ्ग था। और वे अश्व भी तो केवल इन्हींको देखकर सन्तुष्ट होते थे। प्रभुके वियोगी श्रीभरत ही उनके लिये प्राणप्यारे राघवेन्द्र थे। वही नीलनीरद वपु, वही कमनीय कान्ति-भेद करना भी कठिन हो जाता था।

अश्व सजाये गये और बारात जनकपुरमें पहुँच गयी। श्रीभरत और प्रभुका मिलन हुआ। दोनों आनन्द-मग्न हैं। श्रीभरतजीकी बड़ी इच्छा है कि वे प्रभुके मुखचन्द्रका एक बार दर्शन कर लें। पर नेत्र तो मानो प्रेम, नम्रता और सौशील्यके भारसे इतने झुके हुए हैं कि मुखकी ओर उठ ही नहीं पाते। एकटक प्रभुके चरणकमलोंपर ही दृष्टि गड़ाये वे खड़े रह गये।

× × ×

विवाहके पश्चात् ही मातुल-निमन्त्रण आता है और प्रभुकी इच्छा देख वे बिना ननु-नचके दीर्घ कालके लिये ननिहाल चले जाते हैं। प्रभुसे अलग होना पड़ रहा है, पर भक्त प्रसन्न है वेदना होते हुए भी। अहा! प्रभुकी इच्छा पूर्ण करनेमें उनका त्याग कितना महान् है, इसे तो कोई हृदयवाला ही समझ सकता है। पर कितना मूक बलिदान है यह!

पर लोगोंकी दृष्टिसे ओझल हो गया उनका वह स्नेहबिन्दु भी, जो पत्रिकाको सुनकर व्यक्त हुआ था। कौन समझे इस महात्यागी सनेहीके गुप्त सनेहको!

प्रभु तो चाहते थे प्रेमामृतको व्यक्त करना। तो उन्होंने उस महानाट्यका आयोजन किया जिससे वह 'प्रेम-सुधा' पूर्ण रूपसे प्रकट हो।

राम भगत अब अमिअँ अघाहूँ। कीन्हेउ सुलभ सुधा बसुधाहूँ॥

(क्रमशः)

जीवनकी नश्वरता

(गीत)

(रचयिता—पु० श्रीप्रतापनारायणजी)

मुट्ठी बाँधे आता है तू हाथ पसारे जाता है।
कैसा अंधा है तू मानव,
मोह जालमें फँस करके।
उसपर जल फिर डाल रहा है
अपना बरतन भर करके।
महल बनाता, बाग लगाता, निर्भय मौज उड़ाता है।
नहीं गरीबोंको देता है, धनको गाड़ छिपाता है।
मुट्ठी बाँधे आता है तू हाथ पसारे जाता है। १।
खूब समझ ले, खूब सोच ले,
तू ज्ञानी, विज्ञानी है।
तू ध्यानी है, तू दानी है,
तू ही सबसे मानी है।
बलवानोंके पैर पकड़ता, अबलोंको धमकाता है।
जानवरोंसे भी बढ़कर तू, स्वार्थभाव दरसाता है।
मुट्ठी बाँधे आता है तू हाथ पसारे जाता है। २।
दया-धर्म तजनेसे तेरी
जमी बुद्धिपर काई है।
लूट-पाटकी, मार-काटकी
धुन अब तेरे छाई है।
मा-बहिनोंकी लज्जाको भी ऐसे तू लुटवाता है।
गला काटता है भाईका, क्या-क्या पाप कमाता है।
मुट्ठी बाँधे आता है तू हाथ पसारे जाता है। ३।
तुझे बनानेवाला है जो
उसको भी तू भूल गया।
अपने हथियारोंके बलसे
आज इस तरह फूल गया।
तू बैठा है जिस डालीपर उसको काट गिराता है।
अपने बड़े नामको क्यों तू मिट्टी बीच मिलाता है।
मुट्ठी बाँधे आता है तू हाथ पसारे जाता है। ४।

प्रगतिशील जीवन और आध्यात्मिक चिन्तन

(लेखक—पं० श्रीलालजीरामजी शुक्ल, एम्० ए०)

मनुष्य-जीवनकी प्रगति दो बातोंपर निर्भर करती है—एक सदा नये काम करते रहनेपर और दूसरे सदा नये आध्यात्मिक विचारोंको मनमें लानेपर। काम करनेसे मनुष्यका लौकिक अनुभव बढ़ता है, उसके मानसिक भावोंका शोधन होता है और उसे अपने-आपको जाननेका अवसर मिलता है। आध्यात्मिक चिन्तनसे मनुष्य अपने भीतर रहनेवाली अमित शक्तिका ज्ञान प्राप्त करता है, इससे उसका आत्मविश्वास बढ़ता है। उसके मनमें नयी सूझ उत्पन्न होती है, इसके कारण वह अपनी भूलोंको सुधार सकता है और अपने कामको नये ढंगसे कर सकता है। इंगलिस्तानके प्रसिद्ध साहित्यकार बेकन महाशयने क्रिया और चिन्तन दोनोंको प्रगतिशील जीवनके लिये नितान्त आवश्यक बताया है। अरस्तू महाशयके अनुसार सच्चा सद्गुण वह है जिसका एक ओर आधार क्रिया हो और दूसरी ओर ज्ञान हो। सच्चा सद्गुणी मनुष्य बाहरी सफलतासे अपने जीवनकी मौलिकताको नहीं मापता, वह किसी कार्यकी सफलता इस विचारसे देखता है कि उसे कहाँतक मौलिक ज्ञान प्राप्त हुआ। हमारे पुराने ग्रन्थ योगवासिष्ठमें वसिष्ठजीने कर्म और ज्ञानको जीव-रूपी पक्षीके दो पंख माने हैं। मनुष्य न तो केवल कर्मसे और न केवल ज्ञानसे ही अपने जीवनको प्रगतिशील अथवा सफल बना सकता है। अच्छा ज्ञान वह है जो कर्मका सच्चा पथप्रदर्शक बने, जो मनुष्यकी विशुद्ध कार्यक्षमताको बढ़ावे। इसी प्रकार कोई भी भला कर्म मनुष्यमें नये ज्ञानकी वृद्धि करता है। सभी कर्मोंका अन्त नये आध्यात्मिक ज्ञानकी वृद्धि करना है।

जब मनुष्यके जीवनमें कर्म और ज्ञान दोनोंका साम्य न होकर किसी एककी अत्यधिक वृद्धि होने लगती है तो मानसिक विषमताकी स्थिति उत्पन्न हो जाती है। यही स्थिति मानसिक रोगकी स्थिति है। जो मनुष्य सदा काममें ही लगे रहते हैं, वे आध्यात्मिक चिन्तनकी क्षमताको खो देते हैं। ऐसे मनुष्य अपने जीवनकी सफलताको बाहरी परिणामोंके द्वारा मापने लगते हैं। जैसे-जैसे उन्हें बाह्य संसारमें सफलता मिलती जाती है वे आगे बढ़ते जाते हैं। बाहरी सफलताको अपने जीवनकी प्रगतिका माप-दण्ड बना लेनेपर मनुष्यमें अहङ्कारकी वृद्धि हो जाती है। फिर वह अपनी सफलताके आध्यात्मिक कारणको भूल जाता है। ऐसी अवस्थामें उसकी सूक्ष्म दृष्टिका ह्रास हो जाता है। इसके कारण उसके द्वारा नाना प्रकारकी भूलें होने लगती हैं। इन भूलोंके कारणको वह अपने-आपमें न खोजकर अपनेसे बाहर खोजने लगता है। वह अपनी असफलताका दोष दूसरोंके सिर मढ़ने लगता है। और जब उसमें दूसरोंके प्रति दोषदृष्टि आ जाती है तो वह अपने मित्रोंकी संख्या घटा लेता है एवं शत्रुओंकी संख्या बढ़ा लेता है। जब मनुष्यकी दृष्टि सर्वथा लौकिक हो जाती है तो प्रत्येक नये कामके हाथमें लेते ही उसके मनमें अनेक प्रकारके सन्देह होने लगते हैं। इन सन्देहोंके कारण वह किसी भी कामको पूरी लगनके साथ नहीं कर सकता। फिर वह अपने चारों ओर निराशावादका वातावरण देखता है। ऐसा व्यक्ति उत्साहहीन होकर क्रियाहीन हो जाता है। यदि उसका पूर्व अभ्यास भला हुआ तो वह क्रिया होनेपर अपने-आपमें ही अपनी असफलताका कारण खोजनेकी चेष्टा करता है। वह अपने अभिमानको त्याग कर अपने-आपको किसी महान् तत्त्वके प्रति समर्पित कर देता है। ऐसा करनेपर उसमें नया उत्साह आ जाता है। जिस मनुष्यका पूर्व अभ्यास आध्यात्मिकताके प्रतिकूल होता है वह लौकिक विफलताकी उपस्थिति होनेपर मृत्युका आवाहन करने लगता है। फिर जैसा उसका आन्तरिक मन चाहता है बाहरी घटना भी उसी प्रकार घटित होती है अर्थात् वह अपने-आपका विनाश कर डालता है।

जिस प्रकार केवल कर्म मनुष्यके जीवनको प्रगतिशील नहीं बनाता, इसी प्रकार केवल ज्ञान भी मनुष्यके जीवनको प्रगतिशील नहीं बनाता। कर्मके बिना ज्ञान अनुभवहीन होता है, वह पोथी-पण्डितका ज्ञान हो जाता है। कर्मके द्वारा मानसिक भाव परिष्कृत होते हैं। इसके न होनेपर मनुष्यका चिन्तन निराशावादी, नकारात्मक और अन्धकारमय हो जाता है। उसकी बुद्धि उसे किसी एक निश्चयके ऊपर नहीं ले जाती। उसे सभी दृष्टि-बिन्दु दोषपूर्ण दिखायी देने लगते हैं। वह सभी वादोंमें झूठ-ही-झूठको देखता है। किसी भी सिद्धान्तसे उसे संतोष नहीं होता। ऐसी अवस्थामें उसे बाध्य होकर आध्यात्मिक चिन्तनसे उदासीन होना पड़ता है। जिस प्रकार आध्यात्मिक चिन्तनहीन मनुष्य अन्तमें अपने

आत्मविश्वासको खो देता है, इसी प्रकार कर्मकी अवहेलना करके जो व्यक्ति सर्वदा आध्यात्मिक चिन्तनमें लगा रहता है, उसे भी ठोस ज्ञान लाभ नहीं होता। सच्चा आध्यात्मिक ज्ञान वह है जो कि अनुभवकी भित्तिपर खड़ा हो। यह अनुभव संसारमें अनेक प्रकारकी परिस्थितियोंमें पड़नेसे, अनेक प्रकारके लोगोंके सम्पर्कमें आनेसे और अनेक तरहके आचरण-व्यवहारमेंसे चलकर पार होनेसे आता है। जो मनुष्य जान-बूझकर अपने मनको कर्ममें नहीं लगाता, उसे बाध्य होकर अपने-आपको कर्ममें लगाना पड़ता है।

संसारके साधारण लोग भोगासक्त और कर्मासक्त होते हैं। आध्यात्मिक ज्ञानकी ओर वृत्ति बहुत थोड़े लोगोंकी होती है। अतएव जितनी आवश्यकता ज्ञानासक्त लोगोंको कर्मकी आवश्यकता बतानेकी है, उससे कहीं अधिक आवश्यकता कर्मासक्त लोगोंको ज्ञानमें अनुराग रखनेकी आवश्यकता बतानेकी है। आध्यात्मिक चिन्तनसे मनुष्य अपने-आपमें निहित मूल शक्तियोंका ज्ञान प्राप्त कर लेता है। मनुष्यकी कर्ममें सफलता उसके अपने आपके विषयमें अर्थात् अपनी मानसिक शक्तियोंके विषयमें समुचित ज्ञान प्राप्त करनेपर निर्भर करती है। जो व्यक्ति अपनी मानसिक शक्तियोंके विषयमें जितना ही अधिक सोचता है, वह उतना ही अधिक उन शक्तियोंके बारेमें ज्ञान प्राप्त करता है। विचारकी शक्ति कितनी अधिक है, इसका अनुमान लगाना कठिन है। जब मनुष्य अपने विचारकी शक्तिको केवल अपनी बाहरी सफलतासे मापता है तो वह एक भारी भूल करता है। हम जो कुछ कार्य बाह्य जगत्‌में कर सकते हैं, वह हमारी वास्तविक कार्य करनेकी योग्यताका क्षुद्र भाग है। मनुष्यमें कितनी कार्य करनेकी शक्ति है, इसका स्वयं उसे ज्ञान नहीं रहता। वह थोड़ी-सी सफलताको ही बहुत-सी मान लेता है और फिर वह उसे भी खो देता है।

मनुष्यकी किसी बातमें कार्यक्षमता उसके आत्म-विश्वास (अहङ्कार नहीं) पर निर्भर करती है। यह आत्मविश्वास सच्चे आध्यात्मिक चिन्तनका परिणाम होता है। जो मनुष्य वर्तमान कालके कर्तव्यपर ही अपने ध्यानको केन्द्रित करता है और बची हुई शक्तिको आध्यात्मिक चिन्तनमें लगाता है, उसका आत्मविश्वास कभी विनष्ट नहीं होता। जो व्यक्ति प्रत्येक कामके सम्बन्धमें आगे-पीछेकी बातको बहुत कुछ सोचता रहता है, जो भविष्यके बारेमें अत्यधिक चिन्तित रहता है, वह अपनी बहुत-सी शक्ति व्यर्थकी चिन्तामें खो देता है। ऐसे व्यक्तिका आत्मविश्वास नष्ट हो जाता है। फिर उसकी कार्यक्षमता भी जाती रहती है और उससे अनेक प्रकारकी भूलें होती रहती हैं। ये भूलें बिगड़े हुए मानसिक साम्यकी प्रतीक हैं। ये मनुष्यको आध्यात्मिक चिन्तनकी आवश्यकता दर्शाती हैं। जब मनुष्य अत्यधिक अपनी सफलतासे फूलकर लंबी-लंबी योजनाएँ बनाने लगता है तभी वह अपने मानसिक साम्यको खो देता है। उसकी योजनाएँ अनेक प्रकारकी चिन्ताएँ उत्पन्न करती हैं, उसके मनमें अनेक प्रकारके सन्देह लाती हैं और इस प्रकार उसकी मानसिक शक्तिको व्यर्थके आगे-पीछेके सोचनेमें खर्च कर देती हैं। इस प्रकार मनुष्यकी सफलता भी उसकी विफलताका कारण बन जाती है।

आध्यात्मिक चिन्तन चिन्ताओंके निवारणका सर्वोत्तम उपाय है। जब मनुष्यका मन नित्य तत्त्वकी पहचानमें लग जाता है तो वह अपने जीवनकी आने-जानेवाली घटनाओंको उतना महत्त्व नहीं देता जितना कि वह आध्यात्मिक चिन्तनको देता है। इसके कारण ये घटनाएँ उसके मनको उद्विग्न नहीं करतीं। जब मनुष्य शान्त रहता है तो वह मनकी अशान्त अवस्थाकी अपेक्षा कहीं अधिक काम कर सकता है। मनुष्य भावी अप्रिय घटनाओंके चिन्तन करनेसे जितना अपनी मानसिक शक्तिको खोता है, वह अपनी मानसिक शक्तिको काममें खर्च करनेसे नहीं खोता। मनुष्यकी अत्यधिक मानसिक शक्ति अपने मनमें भयके विचारोंको लानेसे नष्ट होती है। मनुष्यके भय उसके जीवनमें उन्हीं घटनाओंको घटा देते हैं जिनसे वह डरता रहता है। इन भयोंकी उत्पत्तिका कारण वर्तमान कर्तव्यको छोड़कर भविष्यके विषयमें अत्यधिक चिन्ता करना है। आध्यात्मिक चिन्तनसे मनुष्य वर्तमानमें रहना सीखता है और इस प्रकार वह अकारण भयोंसे अपने-आपको मुक्त कर लेता है।

आध्यात्मिक चिन्तन मनुष्यको नित्य तत्त्वकी ओर ले जाता है। मनुष्यकी शक्तिके ह्रासका प्रधान कारण उसका व्यक्तिगत स्वार्थोंके विषयमें अत्यधिक चिन्ता करना होता है। जब मनुष्य अपने कार्योंका लक्ष्य अपने व्यक्तिगत स्वार्थकी पूर्ति न बनाकर किसी महान् आदर्शकी प्राप्ति बना लेता है तो उसका मन डावाँडोल अवस्थासे मुक्त हो जाता है। वह क्षणिक सफलता और विफलतासे न तो उल्लसित होता है और न उद्विग्न। जिस मनुष्यके कार्योंका लक्ष्य सभीका कल्याण करना होता है, उसकी कार्यक्षमता अपार होती है। परंतु अपने कार्योंका लक्ष्य मनुष्य सभीका कल्याण

तबतक नहीं बना सकता जबतक कि वह अपने आन्तरिक स्वत्वकी सर्वव्यापी तत्त्वसे एकता नहीं देखता। जब मनुष्य यह देखने लगता है कि सभीके कल्याणके बारेमें सोचनेमें ही उसका कल्याण है और सबके हित-चिन्तनसे उसे वास्तविक सुख और शान्ति प्राप्त हो सकती है, तभी वह अपने वैयक्तिक स्वार्थको छोड़कर अपने मनको दूसरोंके कल्याणके कार्यमें लगा सकता है। इसके लिये प्रतिदिन आध्यात्मिक चिन्तन करना नितान्त आवश्यक है। जबतक मनुष्यको यह ज्ञान नहीं होता कि दूसरोंका लाभ करके न केवल उसे लौकिक लाभ होता है, वरं उसे आन्तरिक पूर्णता भी प्राप्त होती है तबतक वह पूरे मनसे कभी भी दूसरोंके कल्याणके कार्यमें नहीं लग सकता।

जो लोग आध्यात्मिक चिन्तनसे विमुख होकर केवल लोकोपकारी कार्यमें लगे रहते हैं वे अपनी ही सफलतापर अथवा अपने सद्गुणोंपर मोहित हो जाते हैं। वे अपने-आपको लोक-सेवकके रूपमें देखने लगते हैं। ऐसी अवस्थामें वे आशा करते हैं कि सब लोग उनके कार्योंकी प्रशंसा करें और उनका कहा मानें। अपनी ही बातको सच्ची माननेकी प्रवृत्ति ऐसे लोगोंमें उत्पन्न हो जाती है। फिर उनका बढ़ा हुआ अभिमान उन्हें अनेक लोगोंका शत्रु बना देता है। इससे उनकी लोक-सेवा उन्हें वास्तविक लोकसेवक न बनाकर लोकविनाशकका रूप धारण कर लेती है। जिस बातको वे भला समझते हैं उसे वे सब प्रकारके विरोध होते हुए भी करते ही चले जाते हैं। उनकी यह हठधर्मी उन्हें विनाशकी ओर ले जाती है। आध्यात्मिक चिन्तनके बिना मनुष्यमें विनीत भाव नहीं आता और न उसमें अपने-आपको सुधारने की क्षमता रह जाती है। वह भूलों-पर-भूल करता चला जाता है और इस प्रकार अपने जीवनको विफल बना लेता है।

वैशेषिक दर्शन और ईश्वर

(लेखिका—श्रीमती सुशीलादेवी)

सृष्टिकी उत्पत्ति, विनाश आदिका तत्त्व बतलानेवाले ग्रन्थों–विचारोंको 'दर्शन' कहा जाता है; परंतु सृष्टिकी उत्पत्ति स्वभावानुसार स्वयं हुई है या किसीने की है? इसपर चिरकालसे मतभेद चला आता है। इसी विचारको प्रतिपादन करनेके लिये प्रत्येक देश और प्रत्येक धर्ममें अनेकों दर्शन बने हैं और अनेकों तरहके विचार प्रतिपादित हुए हैं। वैशेषिक दर्शन भी उन्हींमेंसे एक है। भारतीय दर्शनोंमें—वैशेषिकको अनीश्वरवादी लोग अपनी ओर खींचते हैं; परंतु मेरे विचारसे वैशेषिक दर्शनमें ईश्वरके अस्तित्वका स्वीकार ही सिद्ध होता है। यदि अरस्तूका दर्शन 'ईश्वरवादी' माना जा सकता है तो कोई कारण नहीं जो वैशेषिकको 'अनीश्वरवादी' कहा जाय। प्रतिपादित तर्क—सिद्धान्त आदिके द्वारा अपने मतको पुष्ट करनेमें दर्शन सचेष्ट होता है और पाठक निर्णय करता है कि वास्तवमें कौन दर्शन किस मतका प्रतिपादन करता है। थेल्ससे लेकर मार्क्सतक सभी एक ही प्रमाणको एक दूसरेके विरुद्ध प्रयुक्त करते आये हैं और कणादने भी उन्हीं प्रमाणोंको अपने ढंगसे रक्खा है; परंतु प्रमाणोंकी प्रमुखता और गौणता देखनेसे ही यह स्पष्ट हो जाता है कि दर्शनका झुकाव किस ओर है। अस्तु, अब यह देखना है कि वैशेषिकमें क्या है?

वैशेषिक विशेषसे बना है। जगत्‌की विशेषतापर यह आधारभूत है। इस दर्शनके रचयिता कणाद (कण खानेवाले) माने जाते हैं। परंतु मेरे अनुमानसे कणाद नाम इसलिये पड़ा कि इस दर्शनमें कण या परमाणुपर विशेष जोर दिया गया है। मूल नाम चाहे जो भी हो; परंतु इस दर्शनके रचयिता कणाद नामसे ही विख्यात हुए हैं। यह दर्शन दस भागोंमें विभक्त है। प्रथम भागमें द्रव्य (तत्त्व), गुण, कर्म, सामान्य और विशेष—इन पाँचोंपर विचार किया गया है। दूसरे भागमें आत्मा और मनके अतिरिक्त अन्य विभिन्न द्रव्योंकी विवेचना की गयी है। तीसरेमें अनुमानके स्वरूप, इन्द्रियोंके उद्देश्यके साथ-साथ आत्मा और मनकी विवेचना की गयी है। चौथेमें प्रधानतया विश्वके आणविक निर्माणका विवेचन है। पाँचवेंमें कर्मके स्वरूप और विभेद तथा छठे भागमें आचारसम्बन्धी समस्याओंका विवेचन है। सातवें भागका विषय है गुण, आत्मा और अनुमान। शेष तीन भागोंमें मुख्यतः तर्कके आधारपर प्रत्यक्ष, अनुमान और नैमित्तिकता पर विचार किया गया है; परंतु देखनेसे पता लगता है कि कणादसूत्रोंमें समय-समयपर परिवर्द्धन होते रहे हैं। वस्तुतः कणादने अपने सूत्रोंमें तीन ही मूल श्रेणियोंका वर्णन किया

है। वैशेषिकके अनुसार ज्ञानके चार भेद हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, स्मृति और आर्षज्ञान। प्रत्यक्षसे द्रव्य, गुण और कर्मको जाननेमें समर्थ होते हैं। पूर्ण द्रव्य, जो हिस्सोंसे मिलकर बनते हैं, प्रत्यक्षकी पहुँचके भीतर हैं। जब कि परमाणु नहीं हैं। वैशेषिक यौगिक ज्ञानको भी स्वीकार करता है; परंतु उपमान ऐतिह्य और शब्द-ज्ञानको अनुमानगम्य मानता है। जब कि चेष्टा, अर्थापत्ति, संभाव और अभाव भी अनुमानके अंदर ही माने गये हैं। स्मृतिको स्वतन्त्र स्थान दिया गया है और आर्षज्ञानको ऋषियोंकी अन्तर्दृष्टि माना गया है। इस प्रकार यदि स्मृतिकी अवहेलना कर दी जाय; चूँकि यह अनुभूतिको सामने लाती है और आर्षज्ञानको प्रत्यक्षके अंदर लिया जाता है तो वैशेषिकमें हमें ज्ञानके दो ही मार्ग—प्रत्यक्ष और अनुमान मिलते हैं। कणादने छः तरहके पदार्थ (अब सात हो गये हैं) माने हैं। पर असल तीन ही द्रव्य, गुण और कर्मका अर्थ होते हैं। शेष सामान्य, विशेष, समवाय बुद्ध्यतिरेककी उपज है। अब देखना है कि कणाद पदार्थोंके सम्बन्धमें क्या कहते हैं ?

द्रव्य—जिसमें गुणकर्म निहित हैं और जो सहस्थित कारण है, उसे द्रव्य कहते हैं। यह गुणोंका आश्रय है, पर अन्य पदार्थ गुणोंसे मुक्त हैं। कणादके अनुसार द्रव्य गुणसे ऊँचा है। जिस समय द्रव्य उत्पन्न होता है उस समय वह गुणोंसे मुक्त रहता है। यदि गुण द्रव्यके साथ ही उत्पन्न होता तो कोई विभिन्नता नहीं की जा सकती; फिर भी द्रव्यमें गुण होता ही है। इसलिये द्रव्यकी यह परिभाषा है कि द्रव्य गुणोंका आश्रय या आधार है। नित्य और अनित्यके साथ-साथ सभी द्रव्योंके नौ द्रव्य माने गये हैं—पृथ्वी, जल, प्रकाश, वायु, आकाश, देश, काल, आत्मा और मन। इनमें पृथ्वी, जल, प्रकाश, वायु, आत्मा और मनके अनेक भेद हैं, जिसमें आत्माके सिवा पाँच कामके लिये समर्थ हैं और गति रखते हैं, आकाश और आकाश, काल और देश सर्वव्यापी हैं। कार्यशील होनेपर भी आत्मा, मन, आकाश, काल, देश और वायु (अपरिहार्यतः कण) साधारणतः प्रत्यक्षमें नहीं आते हैं। कणादने मूर्त और भूत द्रव्योंके अंदर भी भेद दिखाया है। मूर्त द्रव्यमें निश्चित क्षेत्र, क्रिया और गति होती है; पर भूत द्रव्य अकेले या समूहमें विश्वकी उपजके भौतिक कारण होते हैं। यद्यपि मन परमाणु माना गया है, पर वह कुछ पैदा नहीं करता है, जब कि आकाश सर्वव्यापी होते हुए भी शब्द पैदा करता है। वायु, जल, प्रकाश, पृथ्वी मूर्त्त और उत्पादनशील होते हैं। आत्माकी प्रत्यक्ष अनुभूति नहीं मानी गयी है, जिससे चैतन्य शरीर इन्द्रियोंकी सम्पत्ति नहीं हो सकता। फिर भी आँखोंकी पुतलियोंका खुलना, बंद होना, शरीरके घावोंका भरना, मनकी गति और इन्द्रियोंकी वासना आदि आत्माके अस्तित्वके प्रमाण दिये गये हैं। जब आत्माका शरीरके साथ सम्बन्ध हो जाता है तब उसे वस्तुओंका ज्ञान होता है। मनके द्वारा आत्मा केवल बाह्य चीजोंको ही नहीं जानता बल्कि अपने गुणोंको भी जानता है। यद्यपि आत्मा सर्वव्यापी है; परंतु उसकी जानकारी, अनुभूति और कर्मका जीवन वहीं बसता है जहाँ शरीर है। यद्यपि आत्माका विशेष-द्वारा भिन्न होना माना गया है पर हमारे लिये आत्मा क्या है जानना असम्भव है। जीव और ईश्वर दोनों आत्मा हैं, दोनोंमें सादृश्य है; परंतु एकरूपता नहीं।

गुण—द्रव्यका आश्रित है। नित्य द्रव्योंके गुण नित्य और अनित्य द्रव्योंके गुण अनित्य होते हैं।

कर्म—यह न द्रव्य है और न गुण। गुण द्रव्यका स्थायी स्वरूप है और कर्म परिवर्तनशील स्वरूप है। जैसे वस्तुका गुरुत्व गुण है और उसका गिरना कर्म है। कणादके अनुसार कर्म वह है जो केवल एक द्रव्यमें वास करता है, गुणोंसे हीन है और संयोग वा वियोगका प्रत्यक्ष और तत्क्षण कारण है।

सामान्य—जब किसी तत्त्वको अनेक द्रव्योंमें पाते हैं तो वे सामान्य कहे जाते हैं।

विशेष—यदि किसी एक द्रव्यमें एक तत्त्व पाया जाता है तो उसे विशेष कहते हैं।

समवाय—कणादके अनुसार कार्य और कारणके बीचके सम्बन्धको समवाय कहते हैं।

पदार्थोंके साथ-साथ कणादने आचारको अभ्युदय और निःश्रेयसकी प्राप्तिका सहायक माना है। दूसरी बातें छोड़ भी दी जायँ तो केवल इस आचारके प्रतिपादनसे ही कणाद ईश्वरवादी माने जा सकते हैं। अनीश्वरवादके लिये आचार-धर्मकी गुंजाइश नहीं रह जाती। अब आत्माके सम्बन्धमें कणादके विचार देखिये—

आत्मा संसारमें सर्वदा रहता है, जो प्रलयमें सूक्ष्म और सृष्टिमें स्थूल होता है। ऐसी अवस्था कभी नहीं आती, जब आत्मा अदृष्टसे दूर हो जाता है। कणादके अनुसार

नाम और शरीरके सम्पर्कसे उत्पन्न गुणोंसे छुटकारा पानेपर आत्मा मुक्त हो जाता है यानी ईश्वरमें मिल जाता है। यह सत्य है कि कणादने ईश्वरको खुले शब्दोंमें स्वीकार नहीं किया है; परंतु आत्मा और परमाणुओंकी प्रारम्भिक गतियोंका अदृश्यके द्वारा संचालित होना माना है। वही अदृश्य तो ईश्वर है। शंकरके अनुसार वैशेषिकमें ईश्वरका स्थान नहीं है। पर मेरे अनुमानसे कणादके परमाणुओं और आत्माके नित्य और असृजित तथा अदृष्टके सिद्धान्तद्वारा विभिन्न अवस्थाओंके वितरणमें विश्वासका अर्थ ही है ईश्वरमें विश्वास। कणादने विश्वको आरम्भमें एक यन्त्रखण्डके रूपमें समझा है। जो पूर्ण है, स्वपर्याप्त है और है अदृष्टके सिद्धान्त-द्वारा अपने-अपने स्थानोंमें ग्रथित परमाणुओं और आत्मा... साथ। पूर्ण, स्वपर्याप्त कौन है ? ईश्वर मानवात्माओंसे भि... है चूँकि वह सर्वज्ञ और सर्वसमर्थ है और यही गुण ... ब्रह्माण्डके शासनके लिये समर्थ करता है। वह ... कतिपय विधानोंके द्वारा सजा देता है और उसे चलने देता है परंतु वह इसके मार्गमें हस्तक्षेप नहीं करता है। यह ... एक महाकाय घड़ीके समान है, जिसे स्रष्टाने गति देकर ... कर दिया है और इस बातकी गारंटी कर दी है कि ... सदा-सर्वदा बिना किसी हस्तक्षेपके चलता रहता है। अरस्तू... भी तो ईश्वरको प्रथम संचालक ही कहा है। फिर अरस्तू ईश्वरवादी और कणाद अनीश्वरवादी कैसे हो सकता है।

वेदवेत्ता

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥

(गीता १५ । १)

'तू सत्य है, तू अमृत-पुत्र है। मृत्युसे जीवनमें, अन्धकारसे प्रकाशमें तेरी गति है।' माताकी लोरियाँ उपदेश बनने लगीं। उनका ऋभु अब उनकी अँगुली पकड़कर खड़ा हो लेता है और कुछ तुतलानेका प्रयत्न भी करता है। वह बड़े ध्यानसे माताके मुखकी ओर देखता है, जैसे अभी ही उनकी वाणी समझ लेना चाहता हो।

'अमृत क्या है ? मृत्यु कैसी होती है ? अन्धकार कहाँसे आता है ? प्रकाश कहाँ चला जाता है ?' आदियुगके उस बालकमें जैसे जन्मसे ही दृश्यके प्रति कोई जिज्ञासा नहीं। सात्त्विकताके उस शुभ्र समयमें सहज प्रकृति बालकमें बाह्य कुतूहल उत्पन्न करनेमें असमर्थ होकर अन्तःकुतूहल जाग्रत् कर रही थी। बच्चेके प्रश्नोंकी सीमा नहीं थी और माताके स्नेहकी सीमा तो होती ही कहाँ है।

साठ-साठ हाथ दीर्घ शरट (आदियुगके छिपकली-जैसे प्राणी), हाथीको पंजोंमें ले उड़नेवाले शरभ, दो-दो गजके पक्ष रखनेवाले मच्छर, परंतु बच्चेको कोई भय नहीं था। मनुष्यके हृदयमें द्वेष-हिंसाका कल्मष नहीं आया था। विश्व उसका अपना परिवार था। बालकके लिये उत्तुंग वृक्ष, महाकाय पशु, विशाल दानवाकार पक्षी, गजराज-से कपि, सभी अपने ही स्वजन थे। सबका स्नेह उसे प्राप्त था। माताके समान ही सब उसके लिये चिरपरिचित-से थे। उनके सम्बन्धमें वह जिज्ञासा क्या करे ? क्यों ? उसका नन्हा-सा हाथ फैलते ही वृक्षकी उच्च शाखाका फल वैसे ही ... टपकता है, जैसे माता उस हाथपर फल रख देती है। उसके सिर हिलाकर नाचते समय फण उठाकर सर्प झूम उठते हैं, गजराज सूँड़ उठा लेते हैं, सिंह पूँछ हिलाते हैं और कपि किलकने लगते हैं। वह माताके कन्धोंके समान शरटकी ... या शरभकी पीठपर जा बैठता है। इन परिचितोंमें उसकी जिज्ञासा कहाँ ? वह तो अन्तर्मुख है।

मानवी—आज वर्षोंसे वह जहाँ स्नेह संचित कर ... है, जहाँ प्रेरणा प्रोज्ज्वल करनेके प्रयत्नमें है, वहाँ प्रश्न प्रकट होनेके लिये मचल पड़ा है। विवश है वह—प्रश्न... ज्ञान, वह तो श्रुतिरूप है। उसके आराध्य यदि उठते, ... उनके ज्ञानके पावन आलोकमें दीप्त हो जाता। वह नारी है, उसका कण्ठ प्रणवका प्लुतनाद नहीं कर सकता। कोमल ... विकृत उच्चारण तो अमंगलमूल होगा। वह श्रुतिमें अपने अनधिकारको जानती है; पर ऋभु—वह ज्ञानघन आदि मानवकी प्रतिमूर्ति—उसकी जिज्ञासा मचल उठी है। माँ क्या करे ?

'तुम्हारे पिता जिस अश्वत्थके नीचे विराजमान हैं, ... ऐसा ही एक अश्वत्थ है !' माताने एक मार्ग निकाल लिया है। मनन ही तो ज्ञानका जनक है। यदि ऋभुको मन्त्रोंसे ... नहीं हो सकता तो उसे मननमें लगाया तो जा ही सकता है। 'उस अश्वत्थकी जड़ें नीचे पृथ्वीमें नहीं हैं। जड़ें ऊपर और शेष भाग नीचे। जैसे अश्वत्थको उलटा लटका ...

गया हो ! वह कभी सूखता नहीं। उसमें पतझड़ मात्र होते हैं।'

कुछ सुनना और उसे बाह्य जगत्में ढूँढ़ने लगना रजोगुणकी वृत्ति है। उस आदियुगमें रजोगुण जिज्ञासा एवं शरीरकी सामान्य क्रियासे आगे नहीं बढ़ा था। बालकने सुना और सोचने लगा। माताकी गोदमें ही उसके निर्मल नेत्र अर्द्धोन्मीलित हो गये।

पिता–माताके साथ वह सम्मुख सुदीर्घ अश्वत्थके नीचे शिलापीठपर स्थिर बैठे पिताको नित्य प्रणाम करने जाता है। प्रातः-सायं जब माता उस अचल निस्पन्द मानव-मूर्तिके पदोंपर अञ्जलिभर पुष्प डालकर वहाँ भूमिमें मस्तक रखती है, तो वह भी वही प्रणामका अनुकरण करता है। पिताके सम्बन्धमें उसका ज्ञान इतना ही है। 'पिता जिस वृक्षके नीचे बैठे हैं, वह अश्वत्थ उलटा कर दिया जाय तो ?' वह सोचने लगा।

'मा, तू मेरी बात करती है क्या ?' कुछ क्षणोंमें ही बालकने प्रसन्नतासे नेत्र खोल दिये। स्थिर, स्वच्छ चित्तका मनन क्या कालकी अपेक्षा करता है ?

'क्या ?' मानवीका मातृत्व उल्लसित हो उठा।

'मैं पहले सोचता हूँ और तब करता हूँ। मेरे कर्मोंका मूल मस्तकमें है। मस्तकसे ही यह सब शरीर, और कर्म नीचे फैले हैं। यही अश्वत्थ है न ? पर मृत्यु, अमृत, प्रकाश ?'

'जो तुझमें है, वही विश्वमें है। उस वृक्षकी ओर मत देख, वह तो जड है ! चेतनका ठीक उल्टा। यह उलटापन ही जडकी जडता है। नहीं तो वह भी ऊर्ध्वमूल चेतन ही है।' माताने बालकको स्नेहसे पुचकारा।

मन्द मलय मारुत बहता रहा। पक्षी कूजते रहे। पशु समीप आकर कूँ-कूँ करते और पूँछ हिलाते रहे। जीवनकी आवश्यकताएँ जल और फलतक सीमित हैं। उनकी बहुलता है वनमें। मानवीमें अपने आराध्यकी अर्चा और शिशुकी शिक्षाको छोड़ कोई वृत्ति नहीं। शिशु अपने जनकका उत्तराधिकारी है। उसकी निर्मल बुद्धि अबाध है। माता-पुत्रकी यह शिक्षा-जिज्ञासाका क्रम अबाध चले, इसमें कोई व्याघात सम्भव ही नहीं।

× × ×

(२)

चारों ओर पुष्पित लताएँ, फलभारसे झुके विटप और आनन्द-काकली करते पक्षी। ऋतुराजके इस महोत्सवमें एक दिन मानवीने अपने आराध्यका अनुग्रह प्राप्त किया। अनुग्रहके अतिरिक्त उसे और कुछ नहीं कहा जा सकता। सृष्टिकर्ताकी इच्छा थी कि उनकी समस्त सृष्टि अभिवृद्ध हो और कदाचित् वही इच्छा मानवमें काम बनी।

सहज निर्विकार मानव और साकार सेवा मानवी। मानव प्रकृतिके उल्लासमें अन्तर्मुख हो जानेका चिर अभ्यस्त तथा अपनी गुफाके अत्यल्प संचयमें भी समस्त पशु-पक्षियोंको निर्बाध भाग देनेवाली मानवी। मानवी जगन्माताकी मूर्तिमान् प्रतिमा थी उस आदियुगमें। समान रूपसे सरल एवं हिंस्र पशु उसके स्नेहभाजन थे और सहज भावसे वह जब किसीको डाँट देती, केहरी भी भोले बच्चेकी भाँति मस्तक झुका लेता।

मानवीके आराध्य—नित्य पद्मासनपर अर्धोन्मीलित शान्त स्थित ध्यानस्थ मानव। वह आदियुगका पुरुष केवल आराध्य हो सकता था। वह नारीका, पशु-पक्षियोंका और प्रकृतिका भी केवल आराध्य था। जडतक उसकी सेवामें अपनेको सार्थक मानते। परम पुरुषमें नित्य तदाकार मानव—यदा-कदा जब उसके सुदीर्घ पलकोंमें कम्पन आता; उसके पद्मपाणि हिलते और उसके कण्ठसे प्रणवका घन गम्भीर नाद गूँज उठता, नारीके साथ सम्पूर्ण कानन हर्षान्दोलित हो जाता।

नारी गृहिणी थी। उसके गुफा-गृहमें अवरोध नहीं था और संचय भी नहीं था। कुछ गिने-चुने फल, कुछ कन्द और नारिकेल-पात्रमें थोड़ा जल। वह भी कभी-कभी ही रह पाता था। कोई पशु, कोई पक्षी; कोई सरीसृप सर्प या शरट उसकी गुफामें चाहे जब आ जायगा और उसके संग्रहको प्रसाद मान लेगा। किसीके गुफामें आनेपर नारी उसे कुछ देना ही चाहती है। उसका मातृत्व उन्मुक्त है और उसका गृह—वह क्या उस गुफामें सीमित हो सकता है। वह इस सारे विस्तीर्ण जगत्की गृहिणी है। विश्व उसीका गृह है।

हमारे कलुषित भावोंने प्रकृतिको क्रुद्ध कर दिया है। हमें निरन्तर आघात और प्रताड़ना मिलती है। इसीसे रक्षाकी चिन्तामें हम व्यस्त रहते हैं। जब अन्तःकरण अबाध सौहार्दसे पूर्ण हो, जगत्में कहीं सुहृदोंका अभाव है ? नारी माता बनी—उस अपार वनमें, एकान्त गुहामें, शुश्रूषाहीन काननमें। वनजीवोंने अनुभव किया, उनमें उनका एक श्रेष्ठ आत्मीय आ गया है। नारीकी गुफा उपहारोंसे पूर्ण हो गयी थी उस दिन।

नारी सफल हो गयी—मातृत्व ही नारीकी सफलता है; किंतु उसे अभी सार्थक होना है। पुरुषको मुक्त करके ही नारी सार्थक होती है। पुरुष—वह तो उसकी गोदमें आज आया है। उसके आराध्य—वे तो नित्यमुक्त हैं। उनको बद्ध करे ऐसी शक्ति मायामें थी ही कब।

नारीने स्मरण किया—महर्षि उक्थ उसकी माताकी गुफामें एक दिन अचानक अतिथि हुए थे। उसके पिता उस समय पूरे एक पक्षसे अपने ध्यानासनसे उत्थित नहीं हुए थे। महर्षिके साथ उनके कुमार पुत्र थे। माताने महर्षिका आतिथ्य किया। कुछ कन्द, मूल, फल और अन्तिम उपहार बनी वह। माताने बड़े भावभरे कण्ठसे महर्षिसे अनुरोध किया था। 'कुमारकी आश्रमसेवाके लिये इस बालिकाको स्वीकार कर लें।'

उसके आराध्य—उस समय कुमार ही तो थे वे। उसके पिताके समीप आसन लगाकर पता नहीं कब बैठ गये और फिर उन्हें कौन उठाता। महर्षिने मातासे कहा था—'यह अब गृहस्थ हो गया। स्वतः अपना आश्रम बना लेगा।' जैसे पुत्रसे कोई ममता ही न हो। वे गये और फिर उनका पता तो लगना ही क्या। इस अनन्त मेदिनीमें कौन किसे ढूँढ़ सकता है। व्यक्तिका अन्वेषणीय जो अन्तस्तत्त्व है, वह उसीको ढूँढ़ ले तो बहुत।

पूरे तीन पक्ष ध्यानस्थ रहकर उसके आराध्य उठे थे। माताने उनका सत्कार किया और उन्होंने माताको प्रणाम किया। उसकी ओर केवल एक बार देखकर वे चल पड़े थे। वह तो अनुगामिनी थी। माताका आशीर्वाद उसके साथ था। कोई नहीं जानता था, कहाँ जाना है। यह निर्झरिणी-तट आराध्यको अच्छा लगा। अश्वत्थ-मूलकी शिलापर उन्होंने आसन लगाया और समाधिमें स्थित हो गये। नारी इस गुहामें गृहिणी बन गयी। अर्चाके अतिरिक्त उसके जीवनका और कुछ उद्देश्य भी तो नहीं।

'नारीकी सार्थकता है पुरुषको मुक्त करनेमें।' माताने उसे विदा होते समय आदेश दिया था। आज जब जननी होकर वह सफल हुई है, उसका भूतकाल जैसे उसके मानस-नेत्रोंके सम्मुख साकार हो गया है। 'उसकी सार्थकता पुरुष-को मुक्त करनेमें है!' उसके आराध्य—उनका अनुग्रह है कि उनके पावन पदोंमें वह पुष्पाञ्जलि अर्पित कर पाती है। आराध्यका प्रतीक, वैसा ही सौम्य, भव्य, मञ्जुल पुरुष आज उसकी गोदमें आया है। वह पुरुषको मुक्त करेगी। मुक्त करेगी! सफल करेगी अपने नारीत्वको। उस निर्मल मातृत्वमें मोहके लिये स्थान नहीं था। वात्सल्यकी सुधाधारा दिव्य प्रेमके आलोकमें उज्ज्वल हो गयी।

× × ×

(३)

'एक अनन्त अरूप चिन्मय ज्योति है। ज्योति बिन्दु बनी—उज्ज्वल शाश्वत बिन्दु। बिन्दुका क्षरण नाद हो गया। रक्तवर्ण द्वितीयाके चन्द्रके समान ज्योतिर्मय नाद। व्यापक चित्‌की नीलिमा घन हुई, 'अ'कार होकर और बिन्दुने उज्ज्वल 'उ'कारका स्वरूप बनाया। नाद ही 'म'के रक्तिम रूपमें आ गया। त्रिवर्ण, त्रिमात्रिक प्रणव और इन मात्राओंके देवता हैं।' ऋभु बालक होकर भी आदि-युगकी सहज सात्त्विकतासे सम्पन्न था। पिताकी स्थिरचित्तता उसे प्राप्त थी। वह ध्यान कर रहा था।

'त्रिमात्राकी ज्योति व्याहृतित्रयी बनी। प्रणवने गायत्री-का रूप लिया। स्थान एवं प्रयत्न-भेदसे अकार ही समस्त स्वर बना और स्वर बने व्यञ्जन। स्वर और व्यञ्जनोंके नाद हैं। उनका रंग है। उनके देवता हैं।' बालक हृदयमें प्रणवके प्रस्तारका साक्षात् कर रहा था। 'देवता—नादात्मक देवता! प्रत्येक देवशक्तिका नाद—देवताका मन्त्र और यह देव-जगत् ही स्थूलरूपमें व्यक्त हो गया है।' बालक उल्लसित हो गया। उसने नेत्र खोल दिये।

'मा! सचमुच अश्वत्थ तो उलटा ही है। यह सीधा अश्वत्थ तो भ्रम है। देख न, अनन्त ज्योति, बिन्दु, नाद, त्रिमात्रा, व्याहृति और फिर उससे ये प्रकाशमय अक्षर—हाँ मा! ये सब अक्षर हैं। नादात्मक ज्योतिर्मय और अक्षरित—कभी भ्रष्ट होते ही नहीं।' बालकने माताकी ठुड्डी पकड़कर ऊपर उठा दी, जैसे वह कोई प्रत्यक्ष वस्तु दिखला रहा हो। उसके अन्तरकी अनुभूति बाह्यसे एकाकार हो गयी थी। उसने स्थूल जगत्‌को ठीक-ठीक रूपमें देख लिया है।

'ऋभु—मेरा बच्चा!' माताके हर्षका क्या पूछना। उसका यह नन्हा-सा पुत्र आज मन्त्रद्रष्टा हो गया है। वह एक ऋषिकी पत्नी थी तो आज ऋषि-माता हो गयी है।

'मा! ये अक्षर मिलते हैं और मन्त्र बनाते हैं। मन्त्र और उनके देवता—अश्वत्थ इन मन्त्रोंके पत्तोंसे पूरा ढक

गया है। अश्वत्थके पत्ते ही तो ये हैं सब !' वृक्ष, लताएँ, पशु-पक्षी, पर्वत-निर्झर समस्त जड-चेतन जगत् मन्त्रात्मक है, सबके देवता हैं, जैसे देवताओंकी छाया हो यह मूर्त जगत्।

'ये अक्षर, मन्त्र, देवता तो सब प्रकाशमय हैं। अश्वत्थ तो नष्ट नहीं होता, फिर यह अन्धकार, मृत्यु क्या है मा ?' बालकने जिस अन्तर्ज्योतिका साक्षात्कार किया है, उससे तो बाह्यका मेल बैठकर भी नहीं बैठता। वहाँ तो मृत्यु है ही नहीं—फिर बाह्य जगत्में यह सब क्यों ?

'ऋभु ! सचमुच कहीं अन्धकार है क्या ?' माताको अपने ही मार्गसे समझाना है। वह मन्त्रोच्चार और मन्त्रव्याख्या करनेसे रही।

'हूँ—वह अपना झबरा सिंह जैसे कभी-कभी मेरे साथ खेलते-खेलते कुंजोंमें भाग छिपता है, ये सब पदार्थ कभी यहाँ व्यक्त होते हैं और कभी दिव्य जगत्में जा छिपते हैं।' ऋभुने माताके प्रोत्साहनसे पुनः निरीक्षण प्रारम्भ कर दिया। 'जैसे अश्वत्थ उल्टा ही है, उसका यह सीधापन—जडत्व झूठा है, वैसे ही अन्धकार और मृत्यु भी भ्रम ही हैं क्या मा ?'

'बेटा, तू देखता जा !' जो अन्तर्निरीक्षण करने लगा हो, उसे प्रेरणा ही दी जा सकती । उपदेशसे प्रोत्साहन उसे अधिक अपेक्षित होता है।

'मा ! विन्दुसे नाद और नादसे त्रिमात्रा, व्याहृति आदि यह क्षरण और फिर भी सब अक्षर हैं। अनादि—नित्य—यह सब कैसे ?' समस्या तो जटिल होती ही जायगी। श्रुतिका समाधान तो परम्पराप्राप्त है। वाणी और बुद्धि ही उसका समाधान प्राप्त कर ले तो वह अनन्त ईश्वरीय ज्ञान क्यों कहा जाय।

'ऋभु ! तेरे पितृपाद ही तेरा समाधान कर सकते हैं।' मानवीने अश्वत्थ-मूलकी ओर देखा। वहाँ शिलापर सृष्टिकर्ताकी सर्वश्रेष्ठ कलाकृति अचल प्रतिष्ठित थी—निश्चल, निःस्पन्द।

'पिता—पिता तो श्रीविग्रह हैं न ?' ऋभुने तो कभी उस श्रीविग्रहमें गति देखी नहीं। आज पाँच वर्ष हो चुके, वह माताके साथ श्रीविग्रहकी भाँति ही उन्हें प्रणिपात करता आ रहा है।

'वे तेरी ही भाँति ध्यानस्थ हैं। जैसे अभी तुझे कुछ क्षणको हो गया था !' माताके नेत्र क्यों सजल हो गये वह कहते हुए, यह ऋभु नहीं समझ सकेगा।

'मेरी भाँति ध्यानस्थ !' ऋभुने दो क्षण गम्भीर बनकर सोचा। 'मैं उन्हें जगा लूँगा मा ! तू पुष्पाञ्जलि देगी न ?'

'तू जगा लेगा ? बेटा ! मोहमें जाग्रत् होनेसे उनका ध्यानस्थ होना क्या ठीक नहीं ?' मानवी—वह पुरुषको बाँधनेवाली नहीं, उसे मुक्त करनेवाली महनीय नारी, किञ्चित् क्षुब्ध हुई।

'तू पुष्पाञ्जलि प्रस्तुत कर ! मैं उन्हें अश्वत्थके मूल नादसे विन्दुमें जाग्रत् करूँगा !' बालक अपना सहज चापल्य छोड़ दे तो वह बालक कहाँ रह जायगा।

× × ×

(४)

प्रणवका सुदीर्घ घण्टानाद—त्रिमात्रासे ऊपर नाद—नाद और जैसे प्रकृतिका अणु-अणु उस नादसे झंकृत हो उठा है। ऋभुका मुख-मण्डल अरुण दीप्त हो उठा बालरविकी भाँति। नाद दीर्घ, दीर्घतम, प्लुत होता जा रहा था। कम्पन—हिण्डन बनने लगा।

पशुओंने मुख ऊपर किये, पक्षियोंका झुंड एकत्र हो गया, भ्रमरोंकी गूँज एकाकार हो गयी—ऋभुका नाद सबकी वाणीमें व्याप्त हो रहा था और उसीमें आत्मविस्मृत-सी मानवीने देखा, उसके आराध्यकी पलकें काँप उठी हैं। अधर-संपुट हिले और नाद व्यक्त हुआ, ऋभुके नादसे कुछ अधिक गम्भीर स्वर वाणीका नाद।

जैसे मानवकी एक छोटी-सी प्रतिमूर्ति उसके सम्मुख खड़ी हो। नादने मात्रात्मक रूप लिया और मानव नेत्र खोलकर एकटक उस अपनी प्रतिमूर्तिको देख रहा था। कदाचित् समझनेका प्रयत्न कर रहा था।

'पितः' ऋभुने जाग्रत् पिताके चरणोंपर मस्तक रक्खा। नारीकी कुसुमाञ्जलि समर्पित हो चुकी थी। पशु-पक्षी अपने कुल-पिताका अपने-अपने इंगितमें सत्कार करनेमें तन्मय थे। मानव कदाचित् अब भी बाह्य जगत्में पूर्णतया जाग्रत् नहीं हुआ था।

'मैंने बाधा दी है···' बालकके कोमल कण्ठमें क्षमा और नम्रताके भाव थे। माताके समान पिता उससे बोलते क्यों नहीं ? रोष भी कुछ होता है, मानव तबतक इसे जानता ही न था, किंतु अनुत्तरकी अवस्थाका मौन विरामका

परिचायक है, यह बालक ऋभु भी जान चुका था। अनेक बार वह ध्यानस्थ रहता है तो माताके प्रश्नोंका उत्तर देनेकी इच्छा जो नहीं होती, कुछ वैसा ही।

'वत्स !' मानवका वात्सल्य स्वरमें व्यक्त हो गया। 'तू प्रणवका द्रष्टा है न ?' किसीको कुछ बतलानेकी आवश्यकता नहीं थी। शुद्ध एकाकार हृदय परस्पर सदा अनावरित रहते हैं और मानवके लिये तो 'अज्ञात' जैसा कुछ था ही नहीं। ईश्वरीय अनादि ज्ञान श्रुतिका जिसने दर्शन किया है, उसके लिये अज्ञात क्या रहेगा।

'बिन्दु और उससे नादका क्षरण !' ऋभुने अपना प्रश्न सीधे ही व्यक्त करना चाहा।

'क्षरण नहीं वत्स ! अश्वत्थ तो अव्यय है, वहाँ कारण और कार्य सब अनादि हैं। बिन्दुमें अव्यक्त नाद केवल कभी व्यक्त होता है और कभी अव्यक्त। नाद-बिन्दुकी एकात्मता ही तो चिन्मय ज्योति है।'

मानवी देख रही थी—उसका पुत्र ध्यानस्थ हो रहा है, उसके नेत्र अर्धोन्मीलित होते जा रहे हैं। पिताकी गोदमें ही वह अपने ज्ञानकी परम्पराको साक्षात् करनेके क्षणमें है।

'देवि ! तुम्हारा जीवन सार्थक हो गया !' मानवने नारीकी ओर देखा। सचमुच ही तो वह पुरुषको मुक्त करनेमें सफल होकर आज सार्थक हो गयी है।

'मेरे प्रभु !' नारीका भाव-क्षुब्ध स्वर भले व्यक्त न हो, किंतु उसके मस्तकके साथ उसके नेत्र-बिन्दुओंने अपने आराध्यके पादपद्मका स्पर्श कर लिया।

'ऋभु !' पुरुषके अमृतस्यन्दी कर बालकके मस्तकपर घूम गये। बालकने बाह्य बोध प्राप्त किया। वह उठा। उसने पिताके चरणोंमें मस्तक रक्खा और सहसा एक ओर मुड़ा—

'वासुदेव !' ऋभुने उस अश्वत्थको भूमिमें लेटकर प्रणिपात किया—'विराट् प्रभु ! आपने यह जडके विरोधाभासका नाट्य स्वीकार किया है—आनन्द-क्रीडाके लिये।'

वायुके मन्द वेगमें अश्वत्थके सुचिक्कण पत्र कम्पित हो रहे थे। उनकी मन्द ध्वनि ऋभुसे जैसे कुछ कह रही थी और ऋभु—उसके मानसमें विराट् विश्वके आधिदैवतमन्त्र जाग्रत् हो गये थे। वह प्रणवका गम्भीर नाद वाणीसे व्यक्त करता एक ओर चला जा रहा था।

'नाथ !' मानवीका वात्सल्य व्यग्र बना।

'वह प्रणवका द्रष्टा है। वेदवेत्ता है वह !' पुरुष स्वयं कहीं प्रस्थान करनेको उठ खड़ा हुआ। 'ऋषिमाता ! तुमने स्वयं जिसे मुक्त किया है, वह फिर क्या बन्धनमें रहेगा।'

'ऋभु—प्रणवका द्रष्टा—वेदवेत्ता !' मानवी एकटक अपने आराध्यके मुखकी ओर देखने लगी। 'वेदः प्रणव एवाग्रे' हम आप समझें या न समझें, पर मानवी—उसका बच्चा, उसका ऋभु—वात्सल्य बलवान् होता है। वह रोक नहीं सकती और सन्तोष कहाँ होता है उसे। आराध्य कहते हैं 'ऋभु मुक्त हो गया। वेदवेत्ता हो गया।' वात्सल्य कहता है—'वह बालक है। दूर चला गया।'

ऋभु—वह तो अश्वत्थके अन्तर्दर्शनमें एकाग्र हो गया। उसे पता नहीं, वह कहाँ जायगा।

अंजनीकुमारकी गुणगाथा

विपद-विनाशिनी, विकासिनी सुबुद्धिकी है, दारिनी समूल दृढ़ दारिद-पहारकी।
शान्ति-सुखदायिनी, विधायिनी सुकर्मकी है, धर्मकी सुभूमि, निधि विशद विचारकी॥
पापमर्दिनी, त्यों 'जनसीदन' रमेश-पद-प्रेम-वर्द्धिनी है, नाव बूड़े मझधारकी।
मोह-गंजिनी है, भव-भीति-भंजिनी है, गुण-गाथा मनरंजनी है अंजनीकुमारकी॥

—श्रीजनार्दन झा 'जनसीदन'

परमार्थ-पत्रावली

(श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र)

(१)

मुझको और भाई हनुमानको छोड़कर आप नहीं जाना चाहते, यह आपके प्रेमकी बात है; किंतु आपको अपने कुटुम्बवालोंकी रायसे रहना उत्तम है । कुटुम्बियोंको स्वार्थी समझकर उनकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये । ××× आपको पैसा एकत्र करनेकी इच्छा नहीं है लिखा सो यह सराहनीय बात है; पर अपनेमें विशेष योग्यता बढ़ाकर कुछ कमाकर पैदा करके कुटुम्बवालोंकी भी सेवा करनी चाहिये ।

भगवान्‌में प्रेम होनेसे भजन-ध्यानमें चित्त लगता है और उनका प्रभाव जाननेसे ही उनमें प्रेम होता है तथा सत्संग और शास्त्रोंके मननसे ही भगवान्‌का प्रभाव जाना जाता है । अतएव सत्पुरुषोंका सङ्ग और शास्त्रोंका मनन करनेकी कोशिश करनी चाहिये ।

भजन करते हुए काम नहीं होता लिखा सो यह तो सबमें स्वाभाविक दोष है ही । इसलिये स्वभाव बदलना चाहिये यानी काम करते हुए निरन्तर भजनकी कोशिश करनी चाहिये । विशेषरूपसे प्रयत्न करनेपर ही दायित्व-पूर्ण काम करते हुए भी भजन-ध्यानका अभ्यास बढ़ सकता है । मनुष्य सर्वथा काम छोड़ भी तो नहीं सकता, क्योंकि शरीरनिर्वाहके लिये तो सबको काम करना ही पड़ता है ।

आपने लिखा कि मुक्तिकी इच्छावालेके लिये काशीका वास और काशीमें मरना बहुत उत्तम है; किंतु मुझे मुक्तिकी इच्छा नहीं है, मुझे तो केवल भगवान्‌के दर्शनों-की ही इच्छा है ।' सो ठीक है । भगवान्‌के साक्षात् मिलनमें काशी बाधक नहीं है, वह तो सहायक ही है । भगवान्‌की प्राप्ति होती है प्रेमसे और प्रेमकी वृद्धि होती है सत्संगसे; सो सत्संग खोज करनेपर सभी जगह मिल सकता है, फिर काशीकी तो बात ही क्या है । आपको प्रातःकाल तथा सायंकाल डेढ़-डेढ़ घंटा समय मिल जाय तो कुछ दिन काशी रहकर देखना चाहिये । काशीका वास भी तो सब प्रकारसे उत्तम है ।

प्रभुमें अनन्य श्रद्धा और प्रेम होनेपर नित्य-निरन्तर भजन हो सकता है । नित्य-निरन्तर भजन होनेपर सारे दुःखों, पापों एवं क्लेशोंका सदाके लिये नाश होकर चिरस्थायी परमानन्द और परम शान्तिकी प्राप्ति हो जाती है; फिर उसको गर्भवास, मृत्युकाल तथा नरकके दुःख और नाना प्रकारकी क्लेशमय योनियोंमें जन्म होने-का भय कैसे हो सकता है, बल्कि वह तो सम्पूर्ण गुणोंका घर बन जाता है एवं निर्भयताको प्राप्त हो जाता है । इसलिये प्रभुमें अनन्य प्रेम और श्रद्धा होनेके लिये भजन, ध्यान तथा सत्पुरुषोंका सङ्ग करके प्रभुका प्रभाव जानना चाहिये ।

(२)

आपको········ने सब रास्ता बतलाया और उससे लाभ हुआ सो आनन्दकी बात है । पिता, माता, चाचा, भाई आदि आपके कार्यसे प्रसन्न न हों तो उनसे शान्ति-पूर्वक प्रार्थना करनी चाहिये तथा उनकी सेवाका विशेष ध्यान रखना चाहिये । माता-पिताको कड़ी बात कहना, जवाब देना और उपदेश देना छोड़ दिया सो बहुत ही अच्छा किया । माता-पिताको उपदेश देना पुत्रका अधिकार ही नहीं होता । यदि उनके हितकी कोई बात ध्यानमें आवे तो उनसे शान्तिपूर्वक प्रार्थना की जा सकती है, उसे मानना-न-मानना उनकी इच्छापर निर्भर है । बिना जरूरत जबान न खोलना ही अच्छा है । दूसरोंको उपदेश देनेके विषयमें पण्डितजीने बहुत ठीक कहा, अनधिकार उपदेश कुछ काम नहीं देता ।

दूसरोंके सामने ऐसी बातें भी नहीं करनी चाहिये, जिससे आप भजन करनेवाले या ईश्वरके भक्त सिद्ध होते हों। अपनेको हर हालतमें सबका दास समझना चाहिये; क्योंकि ईश्वर सबमें विराजमान हैं। अपनी बड़ाई करनेसे भजनमें बहुत बाधा पड़ती है। ईश्वर इससे प्रसन्न नहीं होते। दूसरे लोग हमें पागल या बेवकूफ कहें तो इसमें हमारी कोई हानि नहीं, बल्कि अच्छा ही है; परंतु दूसरे लोग ईश्वरका भक्त या महात्मा कहें— ऐसा मौका उन्हें नहीं देना चाहिये।

ईश्वर न तो जोरसे नाम लेनेके लिये मने करते हैं, न झूठ बोलनेका समर्थन करते हैं, न गीता पढ़ना बुरा बताते हैं, न सादा भोजन और संयमके लिये ही मने करते हैं और न पूजा-पाठ छोड़नेके लिये ही कहते हैं। यह सब तो आपके मनकी कल्पना है। इनको ईश्वरकी प्रेरणा समझना मनका धोखा है। ईश्वरकी प्रेरणा तो वही है, जो गीताके अनुकूल हो।

पिताजीकी आज्ञा न मिलनेके कारण यदि आप स्वर्गाश्रम सत्संगमें न जा सके तो कोई बात नहीं है; उनको सेवाके द्वारा प्रसन्न करनेसे तथा प्रार्थना करते रहनेसे कभी आज्ञा मिल सकती है। माता-पिताकी बात सुननी पड़ती है, यह बुरा नहीं है। यह तो एक प्रकारका तप है, इससे मनमें दुःख नहीं होना चाहिये। कोई अच्छी नौकरी मिल जाय और उसके बाद भी माता-पिता नाराज होकर कोई मनको प्रिय न लगनेवाली बात कहें तो उससे बुरा नहीं मानना चाहिये, बल्कि उनके मनमें दुःख न हो, इसके लिये सेवा आदि करते रहना चाहिये।

(१) आपने शयन और भोजन करनेके स्थानमें श्रीकृष्णका चित्र टाँग रक्खा है, यह बहुत उत्तम बात है। गीता और भागवतको पढ़नेमें मनको जबर्दस्ती लगाना पड़ता है, इसका कारण यह हो सकता है कि उनको अभी आप ठीक समझते न हों। पर जब उनका भाव ठीक समझमें आने लगेगा तब बहुत आनन्द आ सकता है। भजन-कीर्तनमें आनन्द आता है तथा भगवान् सामने खड़े हैं—ऐसी भावना होती है, यह बहुत ही अच्छा है। भगवान्को हर जगह देखनेका अभ्यास बहुत लाभदायक है।

(२) धूपमें बैठनेसे शरीरमें किसी प्रकारकी बीमारी पैदा नहीं होती तो बैठना कोई बुरी बात नहीं है; परंतु उसके लिये माता-पिताके द्वारा पूछे जानेपर बहानाबाजी न करके सच्ची बात स्पष्ट बता देनी चाहिये और यदि वे इससे नाराज होते हों तो ऐसा करनेकी कोई जरूरत नहीं है। माता-पिताकी आज्ञाके सामने यह बात कोई महत्त्व नहीं रखती। इस विषयमें उनकी प्रसन्नताके अनुसार मान लेना चाहिये।

(३) एकादशीका व्रत करनेके लिये पहले दशमीको एक बार भोजन करनेके विषयमें पूछा सो यदि शरीरमें किसी प्रकारसे हानि न होती हो तो ऐसा करना उत्तम है। परंतु इसके लिये माता-पितासे हठ नहीं करना चाहिये, उनको प्रसन्न रखकर ही ऐसा करना चाहिये। एकादशी और द्वादशी—दोनों दिन व्रत रखना उत्तम है; परंतु बिना अभ्यासके दोनों दिन व्रत रखनेसे शरीरमें हानि पहुँच सकती है और माता-पिता घरवाले भी नाराज हो सकते हैं। अतः दोनोंमेंसे जो अच्छा लगे, वही एक कर लेना ठीक है। प्यास रोकना उचित नहीं, आवश्यकतानुसार जल पी लेना उचित है। सिर भिगोना भी ठीक नहीं है, शरीरसे जो सुखपूर्वक हो सके, ऐसा ही व्रत करने चाहिये।

(४) गायत्री-जपमें पहली बात है—उसके अर्थका ध्यान रखना। यदि यह न हो सके तो भगवान्के स्वरूपको ही उसका अर्थ समझकर उसका चिन्तन करना चाहिये; यह भी न हो तो फिर अक्षरोंका ध्यान भी अच्छा ही है।

(५) श्वास-श्वासपर जप करनेका अभ्यास बहुत अच्छा है; इसे अवश्य करना चाहिये।

(६) कभी-कभी जो पूजा-पाठ छोड़नेकी भावना मनमें आ जाती है, यह पूर्वके पापोंसे आती है। अन्तःकरण शुद्ध हो जानेके बाद ऐसी भावना नहीं आ सकती। संसारी लोगोंसे मिलना-जुलना कम होता है, यह अच्छी बात है।

(७) खटाई, तेल, मिर्च खाना छोड़ देना तो बहुत अच्छा है; परंतु लोगोंमें इसकी प्रसिद्धि करना आवश्यक नहीं, इससे बड़ाई होती है। ऐसी बातोंको गुप्त रखनेका खयाल रखना चाहिये। रोटी, तरकारी आवश्यकतानुसार एक बार ले लेना और भोजन करते समय ईश्वरके नामका जप और रूपका ध्यान रखना भी बहुत उत्तम है, पर यह भी गुप्त होना चाहिये; दूसरोंको सुनाकर या समझाकर करना ठीक नहीं। खाते समय मौन रखना बहुत अच्छा है।

पत्र बड़ा होनेसे उत्तर देनेमें देर हो जाती है, यदि थोड़े शब्दोंमें लिखा करें तो और भी अच्छा है।

खाने-पीनेमें माता-पिताके प्रसन्नतानुसार कर लेना उचित है। हाँ, वे यदि कोई तामसी वस्तु खानेको कहें तो शान्तिपूर्वक प्रार्थना करके उनसे क्षमा माँग लेनी चाहिये कि 'मुझे यह पदार्थ अच्छे नहीं लगते, मेरी रुचि नहीं है, अतः क्षमा करें।' भगवान्‌की भक्ति—भजन, नाम-जप, गीता-पाठके लिये मने करते हों तो इन सबको गुप्तरूपसे करना चाहिये। दूसरोंसे गुप्त रखकर किया हुआ साधन अधिक लाभदायक होता है और इससे माता-पिता भी प्रसन्न रहेंगे। संसार छोड़नेकी भावना दिलमें उठे तो उसे नहीं मानना चाहिये, उसमें कोई लाभ नहीं है। भगवान्‌से प्रेम होनेके लिये आप जिस प्रकार प्रार्थना करते हैं, वह ठीक है।

(३)

........का शरीर शान्त हो गया सो बहुत चिन्ताकी बात है; किंतु मृत्युके आगे किसीका जोर नहीं चलता। पूजनीया माजी आदिको, बाल-बच्चों तथा स्त्रीको धीरज दिलाना चाहिये। आप समझदार हैं। बीती हुई बात वापस नहीं आती। उनके साथ अपना इतना ही संयोग था; अब चिन्ता-शोक करके अपने चित्तको चाहे जितना कष्ट दें, उससे कुछ भी फल नहीं होगा—इस प्रकार समझकर सबको धीरज बँधाना चाहिये। वस्तुतः संसारमें सुख है ही नहीं, यह तो मायाजाल है। अतः भगवान्‌की शरण लेनी चाहिये और भगवान्‌का भजन-ध्यान करना चाहिये। उसीसे शान्ति मिल सकती है। और कोई भी उपाय नहीं है। शास्त्रोंका अभ्यास करना चाहिये। समय बीता जा रहा है। समयका खयाल करके हमलोगोंको शीघ्र सचेत हो जाना चाहिये×××।

(४)

आपका पत्र मिला। आपने लिखा कि स्वाध्याय आदि चल रहे हैं और यहाँ पहाड़में चार महीने निकालनेका दिल हो रहा है सो ठीक है।

चार बजे बाद उदासीनता होनेका क्या कारण है? परमात्माकी निरन्तर कृपा समझकर प्रसन्न होना चाहिये। प्रसन्नता न भी हो, तो भी प्रसन्नताकी कल्पना करनी चाहिये। ऐसा करनेसे प्रसन्नता होनी सम्भव है।

एकान्तमें भय नहीं होना चाहिये। भयकी तो कोई वस्तु है ही नहीं। यदि प्रेतकी भावना होती हो तो प्रेतके स्थानमें परमात्माकी भावना करनी चाहिये। यदि कहें कि बिना देखी हुई वस्तुका चिन्तन कैसे हो तो जिस प्रकार प्रेतको बिना देखे ही उसका चिन्तन होता है, उसी प्रकार परमात्माका भी चिन्तन करना चाहिये। भगवान्‌को सर्वत्र समझना चाहिये। भगवान् तो सर्वत्र प्रसिद्ध हैं ही। प्रेतको तो न तो किसीने देखा ही है और न इस समयके लिये कोई प्रमाण ही है और न प्रेत किसीको मारता ही है। भगवान्‌की सर्वव्यापकताका प्रमाण तो शास्त्रोंमें अनेक जगह मिलता ही है और उनके भक्त प्रत्यक्ष बतलाते भी हैं।

मनके दमनके लिये एकान्त स्थानमें रहना तो उत्तम

ही है। इसके लिये गीताके छठे अध्यायके १० वेंसे १४ वें तकके श्लोकोंका अर्थ देखना चाहिये और तदनुसार ध्यानके लिये एकान्तमें बैठकर मनको एकाग्र करनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

तपस्वियोंका खयाल बार-बार आता है सो अत्युत्तम है, परंतु भगवान्‌का चिन्तन उनसे भी बढ़कर है। अतः निरन्तर भगवच्चिन्तन करना चाहिये। जहाँ-जहाँ मन जाय, वहाँ-वहाँ भगवान्‌का ही स्मरण करें।

जपके सम्बन्धमें लिखा सो जिस प्रकार करनेसे आपके चित्तकी एकाग्रता अधिक हो, शान्ति और आनन्द अधिक मिलें, उसी प्रकार जप करना चाहिये ××××।

ध्यानके समय निद्रा और स्फुरणा अधिक आती है, अतएव निद्रा न आवे, इसके लिये आसनसे बैठना चाहिये (समं कायशिरोग्रीवम्—गीता ६। १३) तथा हल्का और सात्त्विक आहार करना चाहिये। आहार कम मात्रामें करना उचित है। हमारा पापमय वासनाओंका बहुत समयका अभ्यास है—इसलिये पहले उन्हें शास्त्र-चिन्तन आदिके अभ्याससे सात्त्विक बनाना चाहिये। राजसी-तामसी वासनाओंको हटानेसे सात्त्विक वासनाएँ उदय होंगी; फिर सात्त्विक वासनाओंका भी त्याग किया जा सकता है। श्वासद्वारा जप करनेसे भी वासनाका नाश हो सकता है। निराहार व्रतसे उष्णता बढ़ती है अतः दूध या फल ले लेना उचित है।

यदि निद्रा-आलस्य अधिक आते हों तो खड़े होकर भजन करना चाहिये।

एकान्तमें बैठकर स्वाध्याय करना सर्वोत्तम है; परंतु माता-बहिन आदिको सुनानेमें कोई संकोच नहीं करना चाहिये। घरवालोंके समुदायमें सुनानेसे किसी प्रकारके भी अनिष्टकी सम्भावना नहीं है और संकोच भी नहीं करना चाहिये।

भगवान्‌में प्रेम होनेके लिये चेष्टा करनी चाहिये, फिर चित्तमें वैराग्य और आनन्द तो स्वतः ही होने लगेगा। सहायताके लिये लिखा सो सहायता करनेवाले तो एक परमेश्वर ही हैं। मैं तो साधारण मनुष्य हूँ। मैं क्या सहायता कर सकता हूँ।

क्षमाके लिये लिखा सो ऐसा नहीं लिखना चाहिये। आपका कोई अपराध ही नहीं फिर क्षमाकी क्या बात है।

भजन-ध्यानका साधन जोरसे करना चाहिये। और बालकोंको शास्त्रानुकूल बनानेकी चेष्टा करनी चाहिये। हमारे लक्ष्यको तो आप जानते ही हैं। आधुनिक सुधारवादसे हमारा सिद्धान्त अत्यन्त भिन्न है। समयको अमूल्य समझकर भजन-ध्यान और सेवा-सत्संगमें बिताना चाहिये। सत्संग न मिले तब पुस्तकोंमें भगवान्‌के प्रेम, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यकी कथा पढ़नी चाहिये। इस प्रकारकी पुस्तकोंका अभ्यास भी सत्संगके समान है। पुस्तकें भी किसी अंशमें सत्संगका काम दे सकती हैं।

मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा, ऐश, आराम, स्वाद, शौक, आलस्य और प्रमादको पापके समान समझकर उन्हें सर्वथा छोड़नेकी कोशिश करनी चाहिये। ये सब साक्षात् मृत्युके ही समान हैं।

विनती

प्रभु मैं पाछौ लियौ तुम्हारो।
तुम तौ दीनदयाल कहावत, सकल आपदा टारो॥
महाकुबुद्धि कुटिल अपराधी, औगुन भरि लियो भारो।
'सूर' क्रूरकी यही बीनती, लै चरननि मैं डारो॥

—सूरदासजी

बकरीद

(लेखक—सैयद कासिमअली साहित्यालङ्कार)

इस ईदके माने हैं 'प्रेमका बलिदान'। यथार्थमें मानव-समाजको बलिदान करनेकी अति आवश्यकता है, उसके लिये एक पर्वका निश्चित होना आवश्यक था। इसीलिये मुस्लिम-समाजने अपने एक तपस्वी महात्मा इब्राहीमकी स्मृतिमें इसे स्थापित किया। यह मुस्लिम मास जिल्हजकी १० वीं तारीखसे तीन दिनोंतक प्रति वर्ष मनाया जाता है। इस पर्वको स्थापित हुए सैकड़ों वर्ष व्यतीत हो गये हैं। हजरत मुहम्मद और प्रभु ईसाके पूर्व भी यह वीरपर्व मनाया जाता था। मुस्लिम-धर्मग्रन्थोंमें जो कुछ इस विषयमें लिखा है, वह यह है कि अरब देशके मक्का नगरमें प्राचीन कालमें महात्मा इब्राहीम बड़े ईश्वरभक्त थे। उनको स्वप्नमें 'बलिदान' का आदेश मिला, देशकालके अनुसार उन्होंने अपनी जायदादके कई ऊँट दान कर दिये। दूसरे दिन फिर वही स्वप्न दिखा, जिससे महात्मा इब्राहीमने सारी जायदाद दान-पुण्य कर दी। परंतु तीसरे दिन वही स्वप्न फिर दिखायी दिया। उसमें अपने प्रिय प्रेमीके बलिदानका आभास था।

महात्मा इब्राहीमके एक पुत्र इस्माइल नामके थे। उन्होंने आज्ञाकारी पुत्रको बुलाकर सब बातें कहीं। प्रभुप्रेमी इस्माइलने सहर्ष अपने बलिदानको उत्सुकतापूर्वक समर्पण करनेको प्रेरित किया। उसी क्षण अन्धभक्त इब्राहीम अपने पुत्रको जंगलमें ले गये और पशुकी भाँति रस्सीसे हाथ-पैर बाँधकर बच्चेकी और अपनी आँखोंमें पट्टी बाँध ली और ज्यों ही गर्दनपर छुरी फेरनी चाही कि ईश्वरने इस्माइलको उठवा लिया और वहाँ एक भेड़ डलवा दी गयी, जिसका वध हो गया। जब महात्मा इब्राहीमने आँखोंकी पट्टी खोली तो उन्हें इस ईश्वरीय रहस्यका पता चला। इसी त्यागवीर इब्राहीम और इस्माइलकी स्मृतिमें यह पवित्र पर्व प्रतिवर्ष मनाया जाता है। हर एक हैसियत-वाला मनुष्य बकरा, भेड़, ऊँट आदिकी कुर्बानी करता है। धन्यवादस्वरूप सङ्गठित होकर सब लोग दस बजे नमाज पढ़ते हैं। घर आकर वही दीन पशुकी प्रथानुसार कुर्बानी करते हैं और दीनहीन भिक्षुकोंमें उसे बाँटते मित्र-कुटुम्बी और घरवालोंको खिलाते हैं।

यथार्थमें कुर्बानी पशुकी नहीं, खुदकी करनी चाहिये और वह भी अनिष्ट और अनीतिपूर्ण विचारोंकी, परंतु पशुसंख्याकी वृद्धि रोकने और स्वादिष्ट मांस खानेके लोभसे ही ऐसा किया जाता है। कुरानशरीफमें कुर्बानीके सम्बन्धमें निम्न आदेश है। (सूरहज्ज पारा १७ में) 'ईश्वरीय काममें खूब प्रयत्न करो, जितना भी हो सके। तुमको दूसरे धर्मोंसे विभक्त कर सम्मानित किया है, और धार्मिक आदेशमें सङ्कोच नहीं दिया है। तुम अपने महात्मा इब्राहीमकी कुर्बानीको सदैव स्मरणकर अपनेको समर्पण करते रहो। त्यागी बनो, क्योंकि तुम्हारा नाम मुसल्मान (ईमानवाला) रक्खा गया है।' इन्हीं बातोंसे मुसल्मान कुर्बानी करते हैं। परंतु कुर्बानीका मांस और खून ईश्वरको नहीं पहुँचता। जैसा कि कुरानशरीफकी आयतमें है (लई नालल्लाह लुहु मुहाबला दिमाओहा बला कीयना लुहुत्तक़्वा मिन्कुम) अर्थात् 'ईश्वरके पास कुर्बानीका गोश्त और खून नहीं पहुँचता, वह तो हृदयके भावोंका सच्चा त्याग देखता है।' इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि उस अशिक्षित युगमें, जब कि पशुओंकी संख्या अधिक थी, पशु-वध ठीक माना जा सकता है; किंतु आजके सभ्य शिक्षित संसारमें जब कि पशुओंकी कमी है, तब व्यर्थ पशुवध करना कहाँतक उचित होगा, यह विचारणीय है। ईदकी इस पवित्र तिथिमें यदि आज हम राष्ट्रीय-भक्तिकी प्रेरणासे हिंदू-मुस्लिम प्रेमको अमर बनानेके लिये सारे भारतमें यह घोषणा कर दें कि 'गोरक्षा' करना हमारे पूज्य देशके लिये अति आवश्यक है, इसलिये कोई भी मुसल्मान कृषिके लिये तथा घी-दूधके लिये आवश्यक गौका आजसे वध करना पाप समझेगा तो सारे हिंदू हमारे हितैषी और भाईसे अधिक प्यारे हो जायँगे तथा साम्प्रदायिक मन-मुटाव बिल्कुल न रहेगा। इस गो-वधसे न तो धर्मका सम्बन्ध है और न सामाजिक, नैतिक और आर्थिक लाभ ही हो सकता है और न हम वफादारीका ही कोई परिचय दे सकते हैं। सच्ची वफादारीके लिये भी गोरक्षा करना प्रत्येक मुसल्मानका कर्तव्य है। इससे शान्ति और मेल बढ़ेगा तथा देशमें झगड़े सदैवके लिये समाप्त हो जायँगे ! क्या मेरे मुसल्मान भाई इस आवश्यक वफादारीको पूर्ण करनेका बीड़ा उठा इस ईदको सदा अमर करेंगे !

हिंदू-कोड-बिल

[कहानी]

(लेखक—स्वामी श्रीपारसनाथजी सरस्वती)

'कल्याण' में 'हिंदू-कोड-बिल' का विरोध पढ़कर मैं सो गया। सोते समय जैसे विचार होते हैं, बहुधा वैसा ही सपना दिखलायी पड़ता है; क्योंकि मरते समय जैसे विचार होते हैं,बहुधा वैसा ही उसका जन्म हो जाता है।

१५ जून ४९ की रात थी। आधी रातसे एक सपना शुरू हुआ और प्रातःतक जारी रहा। वह सपना 'हिंदू-कोड-बिल' के ही सम्बन्धमें था।

मैंने देखा कि कुछ दिन स्थगित रहनेके बाद, 'हिंदू-कोड-बिल' पास हो गया। उसे पास हुए तीन साल हो गये हैं। तबतक मैं हाईकोर्ट इलाहाबादका प्रधान जज बना दिया गया। एक दिन 'हिंदू-कोड-बिल' से सम्बन्धित एक मामला मेरी अदालतमें पेश हुआ।

फरियादी श्रीलीलावती त्रिवेदीने लिखित बयान पेश किया। 'मैं काशीनिवासी स्वर्गीय पं० चक्रधर वेदाचार्यकी पुत्री हूँ। मेरे पिता एक कर्मकाण्डी ब्राह्मण थे। मेरे पिता राजाओंके गुरु थे। राजाओंने उनको कई गाँव माफी दिये थे। मेरे पिता १४ गाँवके माफीदार रईस थे। घरमें कई लाखकी सम्पत्ति थी। मुझे पिताजीने संस्कृत, हिंदी तथा बँगला भाषाकी शिक्षा दी थी। मेरी माताजीका स्वर्गवास हो चुका था। मैं अपने छोटे भाई अरुण शर्माके साथ घरपर ही शिक्षा प्राप्त करती थी। जब मेरे पिताजी राजाओंके यहाँ चले जाते थे, तब हम दोनोंकी देख-भाल मेरे चाचाजी किया करते थे। चाचाजी यद्यपि मेरे घरके पास ही दूसरे घरमें रहते थे, तथापि वे हमारे शुभचिन्तक थे और विद्वान् याज्ञिक थे। जब मेरी आयु चौदह सालकी हुई तब मेरे पिताजी भी स्वर्ग सिधार गये। मेरे चाचाजी मेरे विवाहकी चिन्तामें रहने लगे।

एक दिन मैं जीनेपरसे गिर पड़ी। बायें हाथकी हड्डी टूट गयी। मेरा भाई गया और सरकारी अस्पतालके डाक्टरको लिवा लाया। उस नवयुवक, सुन्दर और सुशिक्षित डाक्टरने आठ ही दिनमें मेरा हाथ ठीक कर दिया।

मैंने फीसके २००) और ३००) इनाम—कुल ५००) के नोट डाक्टरके सामने रख दिये।

डाक्टर—यह मैं नहीं लूँगा।

मैं—क्यों?

डाक्टर—एकसे फीस और इनाम न लिया तो क्या होगा!

मैं—मैं यदि गरीब होती तो दूसरी बात थी। फिर आप प्रतिदिन यहाँ आते रहे हैं। आपने मेरे लिये खास तौरपर कष्ट सहा है। इसलिये इन थोड़ेसे रुपयों-को स्वीकार कीजिये। आपकी सेवा तो अमूल्य है। उसका बदला दिया ही नहीं जा सकता।

डाक्टर—मैं एक पैसा भी नहीं ले सकता।

मैं—क्यों?

डाक्टर—उसका कारण ऐसा है कि वह मैं कह नहीं सकता।

मैं—आपको कहना चाहिये।

डाक्टर—कहना चाहिये तो कहता हूँ कि मैं आपको प्यार करता हूँ।

मैं—(हँसकर) यदि सारी दुनिया, सारी दुनियाको प्यार करने लगे, तो लेन-देन ही बंद हो जायगा?

डाक्टर—प्रेममें लेना तो है ही नहीं, देना-ही-देना सूझता है।

मैं—आपका शुभ नाम?

डाक्टर—के० श्रृंगी।

मैं—'के' के क्या मानी?

डाक्टर—कल्याण!

मैं—श्रृंगीके क्या अर्थ?

डाक्टर—हम श्रृङ्गी ऋषिके वंशज हैं।

मैं—तब तो आप उच्च कुलीन ब्राह्मण हैं।

डाक्टर—हाँ।

मैं—आपके माता-पिता कहाँ हैं?

डाक्टर—वह तो मेरे बचपनमें ही मर गये थे।

मैं—आपकी जन्मभूमि कहाँ है ?

डाक्टर—मदरास।

मैं—आप मेरे चाचाजीसे विवाहका प्रस्ताव कर सकते हैं। मैं भी आपको चाहने लगी हूँ।

डाक्टरने मेरे चाचाके सामने विवाहका प्रस्ताव रक्खा। मेरी भी इच्छा विवाहके पक्षमें जानकर मेरे चाचाजीने एक दिन डाक्टरसे कहा—

चाचा—यद्यपि आप सरकारी डाक्टर हैं। आपने जो अपना परिचय दिया है, वह विश्वास योग्य होगा। परंतु समाजके विश्वासके लिये आपको एक गवाह पेश करना होगा, जो आपको जानता हो।

डाक्टर—अच्छी बात है। पटना हाईकोर्टमें एक वकील हैं—मि० जी० जादव। मैं उनको तार देकर बुलाऊँगा। आप उनसे मेरी बातकी तसदीक कर सकेंगे।

चाचा—शीघ्र बुलाइये।

तीसरे दिन जादव महाशय आ गये। उन्होंने डाक्टरकी प्रत्येक बातकी तसदीक की। अतः एक शुभ मुहूर्तमें मेरा विवाह डाक्टरके साथ कर दिया गया।

एक साल बाद डाक्टरका तबादला मंसूरीको हो गया। मैं साथ गयी। डाक्टरने मुझे अपने मिथ्या प्रेमसे मोह लिया था। उसने हिंदू-कोड कानूनके अनुसार अदालतद्वारा मेरे पिताकी जायदादका आधा भाग मेरे भाईको दिलाया और आधा मुझे। मेरी जायदाद बेचकर ढाई लाख रुपये उसने इकट्ठे किये। मुझे और मेरी सम्पत्तिको लेकर वह मंसूरी चला गया। मंसूरीमें दो सालसे मैं उसके साथ रहती हूँ। अब मुझे उसका कच्चा चिट्ठा मालूम हो गया है। उसने मुझे धोखा दिया है। मैं उसपर ४२० चलाना चाहती हूँ और तलाक देना चाहती हूँ। मेरा रुपया मुझे दिलाया जाय, मैं अपने भाईके साथ काशीमें रहना चाहती हूँ। अब मैं वैधव्य जीवन व्यतीत करूँगी और संयमसे रहकर भगवान्की भक्ति करूँगी।'

जजने पूछा—डाक्टरने क्या धोखा दिया ?

लीलावतीने कहा—डाक्टरकी डायरियोंसे, जो हाल मुझे ज्ञात हुआ वह मैं माननीय जजकी सेवामें उपस्थित करती हूँ।

डाक्टरने अपना नाम बतलाया था—'के० श्रृंगी !' उसका असली अर्थ है—'कल्लू भंगी !' डाक्टरने कल्लूको कल्याण बना दिया और भंगीको श्रृंगी कर दिया !

डाक्टरने जो वकील गवाह पेश किया था—उसने नाम बताया था—'जी० जादव'—वह वास्तवमें था—'घीसू चमार !' घीसूका जी० तो ठीक है; परंतु जाटवको जादव कर दिया। चमारोंमें जाटव एक विभाग होता है।

इस प्रकार एक चमार और एक भंगीने मिलकर, मुझ कुलीन ब्राह्मण-कन्याका धर्मनाश कर दिया !

जब मैंने डाक्टरसे उसकी करतूतकी शिकायत की तब वह पुनः ईसाई हो गया और उसने मुझे घरसे निकाल दिया। अब उसने एक भंगिन नर्सके साथ शादी कर ली है। मेरा ढाई लाख नहीं देता है।

जज—पुनः ईसाई हो गया, इसका क्या मतलब ?

लीलावती—वह अनाथ था। एक पादरीने उसे पाला था। उसीने उसे शिक्षा दिलायी थी। अतः वह बाल्य-कालसे ईसाई था। इसी प्रकारसे उसका वह चमार गवाह भी ईसाइयोंद्वारा पालित था। डाक्टरने मेरे लिये और मेरी सम्पत्तिके लिये, ब्राह्मण बननेका स्वाँग भरा था। वह जनेऊ पहनता था। ठाकुरकी पूजा करता था और अपने मस्तकमें चन्दनका टीका लगाता था। उसकी चोटी एक बालिश्त थी।

जजने दो वारंट जारी किये। डाक्टर और वकील गिरफ्तार होकर पेश किये गये।

उन दोनोंने मिलकर मि० अम्बेदकरको अपना वकील किया। जिरहमें विपक्षीके वकीलने बयान दिया—

'मैं केन्द्रीय महासभाका कानून-मन्त्री हूँ। हिंदू-कोड-बिलके अनुसार डाक्टर और वकीलने कोई जुर्म नहीं किया।'

जज—एक जजका सम्बन्ध सीधा सम्राट्से होता है और यदि भारतमें प्रजातन्त्र हो गया है तो राष्ट्रके

प्रधानसे जजका सम्बन्ध होता है। अर्थात् सम्राट् या प्रधानका प्रतिनिधि जज होता है।

मि० अम्बेदकर—जी हाँ।

जज—चूँकि आपकी विधानपरिषद्, कि जिसने हिंदू-कोड-बिल पास किया है—जनताकी चुनी हुई परिषद् नहीं है—इसलिये नाजायज है। गैर-कानूनी चीज है। अतः उसका बिल भी गैरकानूनी है। नाजायज बापका लड़का भी नाजायज औलाद कहलाती है।

मि० अम्बेदकर—हिंदू-जातिकी वर्णव्यवस्था तोड़ दी गयी है।

जज—हिंदू-जातिकी वर्णव्यवस्था तोड़ना मानो हिंदू-जातिको ही तोड़ना है; क्योंकि हिंदू-जातिका जीवन, वर्णव्यवस्थामें ही सुरक्षित है। वर्णव्यवस्था हटते ही वह जाति समाप्त हो जायगी। हिंदू-संस्कृतिका लोप हो जायगा।

मि० अम्बेदकर—कुछ परवा नहीं, लोप हो जाय तो हो जाय।

जज—हिंदू-संस्कृतिको लोप करनेका उद्योग नया नहीं है। हिरण्यकशिपु, रावण, कंस आदि नरेशोंने भी उसे लोप करना चाहा था; परंतु हिंदू-संस्कृति लोप नहीं हुई और उसको लोप करनेवाले लोप हो गये।

मि० अम्बेदकर—आप क्या फैसला देते हैं?

जज—लीलावतीको ढाई लाख उसकी सम्पत्तिसे दिये जायँ। जुर्मानेमें डाक्टरकी निजी सम्पत्ति भी लीलावतीको दी जाय। डाक्टर और वकीलको आजन्म कालापानी!

मि० अम्बेदकर—हम केन्द्रीय सरकारद्वारा आपको बरखास्त करा देंगे।

जज—हम प्रार्थनाद्वारा 'नेचर मदर'से कहेंगे कि जिस प्रकार असली अंग्रेज चले गये, उसी प्रकार ये काले अंग्रेज भी चले जायँ और भारतमें शुद्ध प्रजा-तन्त्र-सरकार कायम की जाय।

धनका सदुपयोग

(लेखक—साधुवेषमें एक पथिक)

दान, भोग या नाश—यही तीन दशाएँ धनकी होती हैं। जो धन पाकर न दान करता, न भोगता है उसकी तीसरी दशा (नाश) होती है।

धनके साथ प्यार करनेवालोंको बुद्धिमान् पुरुष अधम कहते हैं। धनके स्वामी बहुत कम दीख पड़ते हैं, धनके दास बहुत अधिक मिलते हैं।

धन ही मनुष्यको रंक बनाता है। यदि कोई धनकी ओर न देखे तो अपने-आपको निर्धन, गरीब मान ही नहीं सकता। बहुत धन कमानेका परिणाम भविष्यमें आलसी, भोगी और लालची होना है या अधिकारियोंको आलसी और भोगी बनाना है। धन कमाकर धर्मके लिये दान करना पुरुषार्थी और पुण्यवान् होना है। जो आवश्यकतासे अधिक धनका सञ्चय कर दान नहीं करता है, वह अपराधी और चोर है। धन साँप या बिच्छूकी तरह है, जो इसका मन्त्र नहीं जानता और छूता है उसपर इसका प्रभाव विषकी तरह पड़ता है। जो धनी होकर भी कृपण है वह दुर्भिक्ष, राज-दण्ड, भोगोंकी अधिकता और रोगोंसे घिरा रहता है। कभी-न-कभी इन विघ्नोंसे कृपणको अवश्य ही रोना पड़ता है।

जो निर्धनोंको तुच्छ समझकर धनवानोंसे प्रीति करता है, वह तुच्छ अधम और नीच है। सबका आधार परमेश्वरको समझकर बुद्धिमान् पुरुष निर्धनतासे कभी ग्लानि नहीं करता। मनकी शुद्धि और सार्थकता दानसे ही होती है। दानसे दोष नष्ट होते हैं, शत्रुता दूर होती है, पुण्य बढ़ते हैं। जो केवल आकृतिमात्र देखकर दीन वाणी सुननेके पहले ही दीन-दुखियोंके

मनोरथ पूरा कर देता है वह दानी पुरुष धन्य है। जो धनसे अतिथिका सत्कार, विद्यार्थीकी सहायता, रोगीका उपचार और विरक्तोंकी सेवा करता है, उसीका धन सञ्चित करना सार्थक है।

जो पुरुष धनी होकर विनम्र है, वह सराहनीय और स्तुत्य है। जो निर्धन होकर धनवानोंके अधीन नहीं है अपितु भगवान्‌का आश्रय लेकर सदा संतुष्ट है वह बहुत ही उच्च गुणोंसे सम्पन्न आदर्श व्यक्ति है, जो निर्धन होकर संतोषी होता है वह भगवान्‌का प्रिय है। जिसकी थैलीका मुख दानके लिये सदा खुला रहता है, उस दाताके लिये स्वर्गका दरवाजा भी खुला रहता है। जिसकी थैलीका मुख दानके लिये बंद रहता है और मरनेपर खुलता है, उसे नरकका दरवाजा खुला मिलता है।

सम्पत्तिसे प्रेम करनेवालोंका हृदय कठोर होता है। जो धनके लोभी हैं उनके पास धन रहनेके साथ धनसे प्रेम करनेवाले जितने दोष हैं, सभी अपनी तृप्तिकी घात लगाये रहते हैं। जो धनके त्यागी हैं, उनके पाससे धनके साथ रहनेवाले दोष भी चले जाते हैं।

धनको दे देना, हाथसे न छूना—वास्तविक त्याग नहीं है। धनको असार समझनेपर ही धनका त्याग सिद्ध हो सकता है। सच्चा धन वह है जिसे पानेपर निर्धनता न रह जाय।

प्रायः सुखका रूप धारण कर असन्तोष ही उन लोगोंको धोखा दे रहा है जो अधीर होकर धन कमानेमें लगे हुए हैं। जो धनका सदुपयोग नहीं करना चाहते हैं, उनका मुख ज्वरग्रस्त पुरुषके समान सर्वदा कटु ही रहता है। ऐसे धनाभिमानी अपने हितकारी प्रेमी भक्त-जनोंसे द्वेष करते हैं; प्रपञ्ची, तुच्छ प्रकृतिके मनुष्योंसे प्रेम करते हैं; गुरुकी आज्ञाका उल्लङ्घन करते हैं।

तुम अपनी धनादि शक्तिके द्वारा भोगमय जीवन बिताते हुए यदि उदार और विनम्र हो तो तुम परम प्रभुकी कृपासे वञ्चित नहीं रहोगे। लेकिन शक्तिसम्पन्न होकर यदि तुम कृपण और कठोर स्वभाववाले हो तो ये दोष तुम्हें दैवी कृपासे वञ्चित रक्खेंगे।

एक संतने दिव्यदृष्टिसे देखा तो स्वर्गमें निर्धन और नरकमें धनवान् ही अधिक दीख पड़े।

धनके होते हुए जिनमें उदारतापूर्वक दान या सेवा नहीं है वे महान् अभागे हैं, वे स्वयं उस सम्पत्तिका अपने लिये तो उपयोग कर नहीं पाते, उनके मरनेके बाद दूसरे ही लोग उसका भोग करते हैं।

उदार होकर धनके द्वारा भोगी होना अच्छा है लेकिन कृपण होकर धनका सञ्चय करते रहना अच्छा नहीं है; क्योंकि उदार होनेके कारण पुण्यकी वृद्धि कर सकता है, कृपण तो धन भले ही बढ़ा ले; किंतु पुण्य नहीं बढ़ा सकता।

जिसका ईश्वर ही सर्वस्व धन है वही सर्वोपरि धनी है; संसारकी धन-सम्पत्तिको अपना धन माननेवाले तो किसी-न-किसी अभावसे प्रायः दीन ही दीख पड़ते हैं और अन्तमें तो खाली हाथ अपने आपको अकिञ्चन ही पाते हैं।

प्राणाधार हरि

हरि मेरे जीवन प्रान अधार।
और आसरो नाहीं तुम बिनु तीनूँ लोक मँझार॥
आप बिना मोहि कछु न सुहावै, निरख्यो सब संसार।
'मीरा' कहै मैं दासि रावरी दीजो मती बिसार॥

—मीराबाई

कामके पत्र

(१)

निन्दासे डर नहीं, निन्दनीय आचरणसे डर है

सप्रेम हरिस्मरण । आपका पत्र मिला । आपने जो कुछ लिखा है, उससे पता लगता है आप सर्वथा निर्दोष हैं और वे लोग अकारण ही आपपर कलङ्क लगाकर आपका जी दुखा रहे हैं । संसारमें ऐसा प्रायः हुआ करता है । झूठा कलङ्क तो लोगोंने श्रीकृष्णपर भी लगा दिया था । जिनको परचर्चा और परनिन्दामें मजा आता है, वे लोग स्वभावतः ही ऐसा किया करते हैं । कुछ लोग बहुत बुरी नीयतसे जान-बूझकर ऐसा करते हैं । पर जिसकी निन्दा की जाती है, वह यदि निर्दोष है, भगवान्‌के सामने सच्चा है तो परिणाममें उसका कदापि अहित नहीं हो सकता । आपको यह समझना चाहिये कि भगवान् आपको कलङ्क-तापसे तपाकर और भी उज्ज्वल बनाना चाहते हैं । आपके जीवनको सर्वथा निर्मल बनानेके लिये ही ऐसा हो रहा है । आपको इससे डरना नहीं चाहिये, न उद्विग्न ही होना चाहिये । श्रीभगवान् सर्वान्तर्यामी, सर्वतोचक्षु और सदा सर्वत्र वर्तमान हैं, उनसे हमारे मनके भीतरकी भी कोई बात छिपी नहीं है, यदि हम उन भगवान्‌के सामने सच्चे हैं तो फिर हमें किस बातका भय है । साथ ही यह भी याद रखना चाहिये कि कर्मका फल देनेवाले भी भगवान् ही हैं; हमारे कर्मके अनुरूप ही हमें फल मिलेगा । दूसरोंके बकनेसे कुछ भी नहीं हो सकता ।

असलमें इस प्रकारकी झूठी निन्दामें जो भगवान्‌की कृपाका अनुभव करते हुए निर्विकार और प्रसन्न रहते हैं, वे ही विश्वासी साधु या भक्त हैं । जो लोग आपकी झूठी निन्दा करते हैं, वे बेचारे तो दयाके पात्र हैं क्योंकि आपपर मिथ्या कलङ्क लगाकर अपने ही हाथों अपनी ही हानि कर रहे हैं । इस कुकर्मका फल उन्हें भोगना पड़ेगा । पर आपको तो उनका उपकार मानना चाहिये । आपके लिये तो वे आपका चरित्र निर्मल बनानेमें सहायता कर रहे हैं । उनके प्रति जरा भी द्वेष नहीं करना चाहिये ।

> निंदक नियरे राखिये आँगन कुटी छवाय ।
> बिनु पानी बिन साबुना निर्मल करै सुभाय ॥

संतोंकी यह वाणी याद रखने योग्य है । आपका ऐसा भाव होगा तो भगवान् आपपर विशेष प्रसन्न होकर आपकी सहायता करेंगे ।

हाँ, आप अपने चरित्रको सदा सावधानीसे देखते रहिये। उसमें कहीं जरा-सा भी दोष दिखायी दे तो उसे दूर करनेकी चेष्टा कीजिये । किसीके द्वारा की जानेवाली मिथ्या निन्दासे आपका कुछ भी नहीं बिगड़ेगा, परंतु यदि आपके अंदर सचमुच दोष होगा, निन्दाके योग्य आचरण या भाव होगा तो जगत्‌के द्वारा प्रशंसा प्राप्त करके भी आप उसके बुरे परिणामसे—अनिष्टसे बच नहीं पायेंगे । अपने मनकी कालिमा ही सच्चा कलङ्क है, दूसरोंके द्वारा अकारण लगाया जानेवाला कलङ्क नहीं ।

(२)

आध्यात्मिक शक्ति ही जगत्‌को विनाशसे बचा सकती है

सादर सप्रेम हरिस्मरण । आपका कृपापत्र मिला। जहाँ जीवनका लक्ष्य केवल कामोपभोग होता है, वहाँ मनुष्यमें धीरे-धीरे समस्त आसुरी सम्पत्तियाँ आ जाती हैं। गीताके सोलहवें अध्यायमें आसुरी सम्पत्तिका वर्णन देखना चाहिये। आजका मनुष्य कामोपभोगपरायण है । उसका लक्ष्य भौतिक उन्नति—प्रचुर परिमाणमें जागतिक पदार्थोंकी प्राप्ति है । व्यक्ति और राष्ट्र सभी इसी होड़में लगे हैं । इसीका परिणाम संघर्ष, संहार, अशान्ति और दुःख है । और भौतिक उन्नतिकी दौड़में लगे हुए जगत्‌के लिये यह अनिवार्य है। परमाणु बम,—जिसने क्षणोंमें लाखों हिरोशिमा-निवासियोंका विनाश कर डाला और जिसकी दानवीय शक्तिपर आज भी अमेरिका जगत्‌को आतङ्कित कर रहा है एवं सोवियट रूसके वैज्ञानिक जिसके आश्चर्यजनक विकासकी साधनामें संलग्न हैं, यह इस आसुरी 'कामोपभोगपरायणता'की देन है। भगवान्‌की दिव्यतासे रहित भौतिक उन्नति मानवको रसातल-में ले जाती है; वह उन्नति, प्रगति और विकासके मोहक नामोंपर पतनकी अत्यन्त गहरी गर्तमें गिर जाता है जिससे उठनेका उसे जन्म-जन्मान्तरतक भी अवकाश नहीं मिलता, वरं उत्तरोत्तर उसे नीची-से-नीची गतिमें जाना पड़ता है। श्रीभगवान्‌ने ऐसे ही मनुष्योंके लिये कहा है—

> तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् ।
> क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥
(१६ । १९-२०)

'उन द्वेष करनेवाले, अशुभ कर्मोंमें लगे हुए, क्रूरहृदय नीच नरोंको मैं (भगवान्) संसारमें बार-बार आसुरी योनियोंमें ही गिराता हूँ। अर्जुन ! वे मूढ़ लोग (आसुरी सम्पत्तिका अर्जनकर काम-क्रोधादिकी परायणतासे केवल सांसारिक भोगोंकी प्राप्ति और भोगमें लगे रहकर अपने ही हाथों अपना पतन करनेवाले मूर्ख) एक जन्मके बाद दूसरे जन्ममें—बार-बार आसुरी योनिको प्राप्त होते हैं। मुझ (भगवान्) को न पाकर (मनुष्य-शरीरकी सच्ची सफलता भगवत्-प्राप्तिसे वञ्चित रहकर) आसुरी-योनिसे भी अति नीच गतिको प्राप्त करते हैं।'

ऐसे लोगोंका मानव-जीवन निष्फल होकर परलोक तो बिगड़ता ही है, यहाँ भी उन्हें क्षणभरके लिये सुख-शान्तिकी प्राप्ति नहीं होती। वरं जो लोग उनके सम्पर्कमें आते हैं, उनकी भी सुख-शान्ति नष्ट होने लगती है। आजका मानव-जगत् इसी आसुर-भावको प्राप्त है। जबतक वह इससे नहीं छूट जाता, जबतक भोगोंकी जगह भगवान्को जीवनका लक्ष्य नहीं बना लेता, जबतक भौतिक पदार्थोंसे मन हटाकर आध्यात्मिकताकी ओर प्रवृत्त नहीं हो जाता, तबतक सुख-शान्तिकी आशा करना आकाश-कुसुमके समान व्यर्थ ही है। मानवका मन जिस कालमें भगवान्से हट जाता है; और भौतिक शक्ति-सामर्थ्य-ऐश्वर्य-वैभव-प्रभाव-प्रख्याति, विज्ञान-ज्ञान आदि-की वृद्धि हो जाती है; तब उसकी दिव्य आध्यात्मिक शक्तियाँ सुप्त-सी हो जाती हैं—उनका विकास और प्रकाश रुक जाता है। वह काल मनुष्यके लिये घोर पतनका समझा जाता है। अवश्य ही उसकी विपरीत बुद्धि इस पतनको उत्थान, इस अवनतिको उन्नति और इस विनाशको विकास बतलाती है और मूढ़ मानव इसपर गर्व भी करता है। आज यही प्रत्यक्ष हो रहा है। आजका विकासवादी मानव भौतिक उन्नतिको देखकर फूला नहीं समाता और वह अपनी उन्नतिपर गर्वोन्मत्त होकर शीघ्र ही प्रचण्डरूपसे भड़क उठनेवाले सर्वसंहारक विस्फोटकी ढेरीपर खड़ा हर्षसे नाच रहा है ! वह उन्नतिका माप भौतिक पदार्थोंकी प्रचुरता और कर्मकी महान् विस्तृतिसे करता है। उसके हृदयमें जो काम-क्रोध, लोभ-मोह, द्वेष-दम्भ, मद-अहङ्कार, ईर्ष्या-असूया, हिंसा-प्रतिहिंसा और इनके फल-स्वरूप चिन्ता-शोक, दुःख-विषाद, अस्थिरता-अशान्तिकी भीषण आग जल रही है उसकी ओर वह नहीं देखता। यही विपरीत बुद्धिका मोह है—यही तामसी बुद्धिका स्वरूप है—

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥
(गीता १८ । ३२)

भगवान् कहते हैं—'अर्जुन ! तमोगुणसे ढकी हुई जो बुद्धि अधर्मको धर्म मानती है तथा अन्य भी सब अर्थोंको विपरीत (अवनतिको उन्नति, विनाशको विकास, हानिको लाभ, अकर्तव्यको कर्तव्य, अशुभको शुभ आदि) ही मानती है, वह बुद्धि तामसी है !' और तामस मनुष्य अधोगतिको प्राप्त होते हैं—'अधो गच्छन्ति तामसाः।' (गीता १४ । १८)

यह सब देखकर यही कहना पड़ता है कि आजका मानव-जगत् इस समय अवनतिके कालमें है और क्रमशः अवनति-की ओर ही जा रहा है; क्योंकि बुराई पहले मनमें आती है, पीछे वह क्रियारूपमें प्रकट होती है। आजकी मानव-मनकी यह काम-क्रोधादिपरायणता ही कल विनाशका भीषण स्वरूप धारण करके क्रियारूपमें प्रकट होनेवाली है। यदि इस स्थितिमें परिवर्तन नहीं हुआ, मानव कामोपभोगके लक्ष्यको छोड़कर आध्यात्मिकताकी ओर—भगवान्की ओर न मुड़ा तो तीसरे राक्षसी महायुद्धके रूपमें या अन्य किसी रूपमें उसका पतन या विनाश अवश्यम्भावी है। विनाशके मुखपर बैठे हुए जगत्को यदि कोई शक्ति बचा सकती है तो वह केवल आध्यात्मिक शक्ति ही है। मानव-जातिके शुभचिन्तकों-को चाहिये कि वे स्वयं सावधान हो जायँ और जहाँतक उनकी आवाज पहुँचती हो, नम्रता, विनय परंतु दृढ़ताके साथ इस आवाजको पहुँचानेका प्रयत्न करें।

(३)

भगवान्‌के नामोंमें कोई छोटा-बड़ा नहीं

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला था। उत्तरमें देर हुई, इसके लिये क्षमा करें।

भगवान्‌के नामोंमें छोटा-बड़ा कोई नहीं है। जिसको जिस नाममें रुचि हो, जो प्रिय लगे वह उसीका जप-कीर्तन करे, परंतु दूसरे किसीको भी छोटा न समझे, न किसीकी निन्दा करे। जैसे एक ही भगवान्के अनेक स्वरूप हैं वैसे ही अनेक नाम भी हैं। भगवान् दो नहीं हैं। जो भगवान्के जिस नाम-रूपका उपासक हो, वह उसी नाम-रूपकी उपासना करे, पर यह समझे कि दूसरे जितने नाम-रूप हैं, सब मेरे ही

भगवान्‌के हैं। जो दूसरे नाम-रूपोंको किसी दूसरे भगवान्‌के मानकर उनकी निन्दा करता है, वह अपने ही भगवान्‌को सीमित और अल्प बनाता है। श्रीकृष्णका उपासक यह माने कि श्रीराम, श्रीविष्णु, शिव, गणेश, दुर्गा, सूर्य, मुसल्मानोंके अल्लाह, खुदा, ईसाइयोंके परमपिता सब मेरे ही श्रीकृष्णके स्वरूप हैं और उन्हींके नाम हैं। इसी प्रकार दूसरे नाम-रूपोंके उपासक भी मानें। ऐसा माननेपर न तो अनन्यतामें बाधा आती है, न सम्प्रदायके नामपर राग-द्वेष बढ़ता है और न भगवान्‌के नामपर भगवान्‌की अवज्ञा ही होती है। अतएव हमलोगोंको चाहिये कि हम अपने इष्टका नाम-जप करें और दूसरोंके इष्टको भी अपने ही इष्टका स्वरूप समझें। क्योंकि भगवान् एक ही हैं।

(४)

परम वस्तुकी प्राप्तिके लिये अनिवार्य इच्छाकी आवश्यकता

सप्रेम हरिस्मरण, आपका पत्र मिला। धन्यवाद! आपने कृतज्ञता प्रकट की, इसकी कोई आवश्यकता नहीं है। मनुष्यका कर्तव्य ही है कि वह परस्पर सत्परामर्शका आदान-प्रदान करे, इसमें बड़ाईकी कौन-सी बात है। सच पूछिये तो आपके प्रति कृतज्ञ तो मुझको होना चाहिये, जो आपने सत्-चर्चा चलाकर मेरे मनको कुछ समयके लिये सच्चिन्तनमें लगाया।

आपने लिखा कि 'मैं इस विषयको बहुत दिनोंसे जानता हूँ, पर ऐसा कर नहीं पाता' सो इसमें मेरी समझसे आपकी इच्छाकी तीव्रताका तथा तदनुकूल क्रियाका अभाव ही प्रधान कारण है। किसी भी कार्यकी सिद्धि केवल जाननेसे नहीं होती, उसके साथ उसे सिद्ध करनेकी इच्छा एवं तदनुकूल कार्य करनेकी आवश्यकता है। भोजनसे भूख मिटती है यह जान लिया, परंतु इस जाननेसे पेट नहीं भरता। भोजनकी इच्छा होनी चाहिये तथा भोजनके पदार्थ बनाकर उनको खाना चाहिये। ज्ञानके साथ इच्छा होनी चाहिये और वह इच्छा भी ऐसी होनी चाहिये जो अनिवार्य आवश्यकताके रूपमें परिणत हो गयी हो—जैसे अत्यन्त प्यासेको जलकी इच्छा होती है। ऐसी इच्छा होनेपर क्रिया स्वयमेव होती है और फिर उसका फल प्रकट होता है। मैं समझता हूँ, आप केवल जानते ही हैं पर आपने न तो उसे प्राप्त करनेकी तीव्र इच्छा ही की है और न प्रयास ही।

एक बात यह भी है कि प्रयास भी मन्द नहीं होना चाहिये। उसके लिये अटूट धैर्य चाहिये और चाहिये परम श्रद्धा एवं आत्मविश्वास। योगदर्शनमें आया है कि अभ्यास वही दृढ़ होता है जो निरन्तर चलता हो, दीर्घकालतक चलता रहे और जिसके करनेमें सत्कार-बुद्धि हो। हम जिस वस्तुको पाना चाहते हों, उसकी सत्ता और श्रेष्ठतामें हमारी श्रद्धा होनी चाहिये, उसके प्राप्त होनेमें श्रद्धा होनी चाहिये। और हम उसे अवश्य प्राप्त कर लेंगे, इस निश्चयमें दृढ़ विश्वास होना चाहिये। जहाँ श्रद्धाका अभाव है, आत्मविश्वासकी कमी है, वहाँ सिद्धि तो दूर रही, साधन ही सुचारु रूपसे नहीं हो पाता। अतएव मैं तो आपको सलाह दूँगा कि आप अपने जाने हुए तत्त्वको पानेके लिये आतुर हो जाइये। फिर उसके लिये प्रयत्न आप ही होगा। और फिर आपको प्रशस्त पथ बतलानेवाले भी अवश्य मिल जायँगे। तीव्र इच्छा होनेपर विश्वासी साधककी सहायता स्वयं भगवान् करते हैं।

(५)

त्यागसे शान्ति मिलती ही है

सादर हरिस्मरण! आपका कृपापत्र मिला। आपने जो कुछ पूछा उसका एकमात्र उत्तर यही है कि वास्तविक त्याग होनेपर तो शान्ति मिलती ही है—'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्' (गीता १२। १२)। यदि शान्ति नहीं है तो त्यागमें ही त्रुटि है। सच्चा त्याग मनसे होता है। पर जबतक त्यागकी स्मृति है और त्यागका अहङ्कार है, तबतक भी यथार्थ त्याग नहीं समझना चाहिये। इसलिये त्यागका भी त्याग होना चाहिये। त्यागकी वास्तविकतामें त्याग किये हुए पदार्थोंमें आसक्ति या ममता नहीं रह जाती। उसमें एक आनन्दकी अनुभूति होती है, पर वह आनन्द भी अहङ्कारजनित नहीं होता। सहज तृप्तिजनित सुख होता है। वस्तुतः त्यागके बिना सच्ची सेवा भी नहीं हो पाती। जो सेवा करके बदला चाहता है, उसका कोई पुरस्कार चाहता है, उसमें त्यागका अभाव होनेसे उसकी सेवा मलिन और अशुद्ध हो जाती है। उससे शान्तिरूपी सच्चा सुख नहीं मिल सकता।

हम ऊपरसे वस्तुओंका त्याग करते हैं; परंतु मनमें उनके प्रति आसक्ति, मोह और महत्त्व बना रहता है। इसलिये उनकी बार-बार स्मृति होती है, मन उनके संगसे मुक्त नहीं होता। अतएव कभी तो उनका अभाव खटकता है और कभी यदि कोई वस्तु हमने किसीको दी है तो उसके प्रति यह भावना होती है कि मैंने उसका बड़ा उपकार किया है, ...

मेरा कृतज्ञ होना चाहिये । वह नहीं होता, उपकार नहीं मानता तो मनमें दुःख होता है । दोनों ही स्थितियोंमें यथार्थ त्यागका अभाव है । नहीं तो, त्यागमें न तो कोई अभाव दीखता और न दुःख ही होता । त्याग करनेवाला मनुष्य न तो त्याग की हुई वस्तुका स्मरण करके अभावका अनुभव करता है और न दूसरेके लिये उत्सर्ग की हुई वस्तुके लिये अहङ्कार करके उसपर अहसान ही करता है ।

त्यागकी कसौटी ही है शान्ति । जिस त्यागके अनन्तर शान्ति मिलती है और शान्तिजनित शुद्ध आनन्दकी अनुभूति होती है, वही यथार्थ त्याग है । आपको जो दोनों ही प्रकारसे शान्ति नहीं मिली, न तो वस्तुओंके छोड़नेपर और न उन्हें सुयोग्य पात्रोंको प्रदान करनेपर ही; इससे तो यही सिद्ध होता है कि वस्तुओंका परित्याग और दान दोनों ही किसी-न-किसी अंशमें त्रुटियुक्त हैं—त्यागकी सच्ची भावनासे रहित हैं । आप अपने मनको गहराईसे देखिये, आपको त्रुटियोंका पता लग ही जायगा ।

परंतु इससे आपको हताश नहीं होना चाहिये और न त्याग एवं दानको बुरा ही मानना चाहिये । जितने अंशमें त्याग और दान सम्पन्न हुआ है, उतने अंशमें वह उत्तम ही है । उससे शान्ति नहीं मिली, यह ठीक है; परंतु उसका परिणाम शान्तिकी प्राप्तिमें सहायक अवश्य होगा । सत्कर्मका फल किसी-न-किसी अंशमें कल्याणकारक ही होगा, उससे हानि तो होगी ही नहीं—

न हि कल्याणकृत् कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥
(गीता ६ । ४०)

'शुभ कर्म करनेवाला कभी दुर्गतिको प्राप्त नहीं होता ।' अतएव आपको ऐसे शुभ सङ्कल्पों और कार्योंसे कभी विरत नहीं होना चाहिये, वरं त्यागकी मानसिक भावनाको यथासाध्य विशुद्ध बनाना चाहिये । उसमें जितनी ही विशुद्धि आवेगी, उतना ही वह त्याग सच्ची शान्तिकी प्राप्ति करानेवाला होगा । इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है ।

इसके लिये एक बहुत अच्छा भाव यह है कि हम जो कुछ भी शुभ कार्य करें उसे भगवान्के लिये करें और यह समझें कि भगवान्की ही प्रेरणासे भगवत्प्रीत्यर्थ यह कार्य किया जा रहा है । त्यागका कार्य हो तो यह समझें कि भगवान्की ही वस्तु है और भगवत्प्रेरणासे भगवान्के लिये ही उसका त्याग हो रहा है । दानमें यह भावना करें कि भगवान्की ही वस्तु, भगवान्की ही प्रेरणासे, भगवान्के प्रति अर्पण की जा रही है । भगवान् जो इस काममें मुझको निमित्त बना रहे हैं और स्वयं ही ग्रहीताके रूपमें आकर उसे ग्रहण कर रहे हैं, यह उनकी परम कृपा है । इन भावोंके रहनेपर मनमें अहङ्कार, आसक्ति या ममता नहीं रहेगी और परिणाममें शान्ति अवश्य मिलेगी । विशेष भगवत्कृपा ।

(६)

भगवच्चिन्तनमें ही सुख है

सप्रेम हरिस्मरण ! आपका पत्र मिला । आपने जो कुछ लिखा सो आपकी दृष्टिसे ठीक है; परंतु यथार्थ बात तो यह है कि जबतक आपका यह विश्वास है कि जागतिक पदार्थोंमें—भोगोंमें सुख है, और जबतक उनके संग्रहको ही आप सुखका साधन मानते रहेंगे, तबतक आपको सच्चे सुखके दर्शन कदापि नहीं होंगे । अमुक-अमुक विषयोंकी प्राप्तिसे, अमुक प्रकारकी परिस्थितिसे मुझको सुख हो जायगा । यह बहुत बड़ा भ्रम है । इसी भ्रमके कारण मनुष्य दिन-रात विषय-चिन्तनमें लगा रहता है । आपको यह सत्य सदा याद रखना चाहिये कि समस्त पापोंका मूल विषय-चिन्तन है । श्रीमद्भगवद्गीतामें अर्जुनने भगवान्से पूछा था कि 'इच्छा न रहनेपर भी ऐसा कौन है जिसकी प्रेरणासे मनुष्य मानो बलपूर्वक लगाया हुआ-सा पाप करता है !' (३ । ३६) श्रीभगवान्ने इसके उत्तरमें स्पष्ट बतलाया कि 'काम (कामना) ही वह वैरी है जो महाशन है—जिसको कभी तृप्ति होती ही नहीं और जो महान् पापी है; यह काम ही क्रोध बनता है और इस कामकी उत्पत्ति होती है रजोगुणसे ।' रजोगुण रागात्मक है । अर्थात् आसक्ति ही रजोगुणका स्वरूप है । इस आसक्तिसे ही कामकी उत्पत्ति होती है और आसक्ति होती है विषयोंके चिन्तनसे, विषय-चिन्तनमें मनुष्यका मन जहाँ रम जाता है, वहाँ एकके बाद दूसरा क्रमशः सारे दोष उत्पन्न हो जाते हैं और अन्तमें उसका सर्वनाश होकर रहता है । भगवान्ने कहा है—

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात् सञ्जायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते ॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥
(गीता २ । ६२-६३)

'मनुष्य मनसे विषयोंका चिन्तन करता है, विषय-चिन्तनसे उसकी विषयोंमें आसक्ति होती है, आसक्तिसे उनको प्राप्त करनेकी कामना उत्पन्न होती है, कामनामें विघ्न पड़नेपर

क्रोध [कामनाके सफल होनेपर लोभ] उत्पन्न होता है, क्रोध [या लोभ] से मूढ़ता आती है, मूढ़ भावसे स्मरणशक्ति भ्रमित हो जाती है, स्मृतिके भ्रंश होनेपर बुद्धि मारी जाती है और बुद्धिके नाश हो जानेसे मनुष्यका पतन या सर्वनाश हो जाता है।'

इससे सिद्ध है कि समस्त पापोंका और सर्वनाशका मूल विषय-चिन्तन है। यह विषय-चिन्तन तबतक नहीं छूटता, जबतक विषयोंमें सुखकी प्राप्तिका भ्रम है। भगवान् तो कहते हैं—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥
(गीता ५। २२)

'इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न जितने भी भोग हैं, वे सब निश्चय ही दुःखयोनि हैं,—दुःखोंकी उत्पत्तिके स्थान हैं और आदि-अन्तवाले—अनित्य हैं, अतएव हे अर्जुन ! बुद्धिमान् पुरुष इनमें नहीं रमता—सुख नहीं मानता।' सच्चे अक्षय सुखका उपभोग तो उस भगवत्-रूप योगमें युक्त पुरुषको प्राप्त होता है, जिसका अन्तःकरण बाह्य जागतिक विषय-भोगोंमें आसक्त नहीं है, और जो अन्तःकरणके ध्यानजनित सुखको प्राप्त है। (गीता ५। २१)

अतएव हमें यदि सुखकी—सच्चे सुखकी चाह है तो चित्तके द्वारा निरन्तर भगवान्‌का चिन्तन-ध्यान करनेका प्रयत्न करना पड़ेगा। भगवान्‌ने श्रीमद्भागवतमें कहा है—

विषयान् ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते।
मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते॥
(११। १४। २७)

'जो मनुष्य निरन्तर विषय-चिन्तन करता है, उसका चित्त विषयोंमें आसक्त हो जाता है और जो मेरा (भगवान्‌का) स्मरण करता है, उसका चित्त मुझमें (श्रीभगवान्‌में) तल्लीन हो जाता है।'

एवं भगवान्‌के चित्तमें आते ही भगवत्-कृपासे चित्तगत समस्त अशुभों, दोषों और पापोंका नाश हो जाता है। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

पुंसां कलिकृतान् दोषान् द्रव्यदेशात्मसम्भवान्।
सर्वान् हरति चित्तस्थो भगवान् पुरुषोत्तमः॥
यथा हेम्नि स्थितो वह्निर्दुर्वर्णं हन्ति धातुजम्।
एवमात्मगतो विष्णुर्योगिनामशुभाशयम्॥
(१२। ३। ४५, ४७)

'कलियुगके कारण मनुष्यके वस्तु, स्थान, अन्तःकरण सभीमें दोष उत्पन्न हो जाते हैं, परंतु जब पुरुषोत्तम भगवान् चित्तमें आ जाते हैं, तब वे सारे दोष नष्ट हो जाते हैं। जैसे स्वर्णके साथ संयुक्त होकर अग्नि उसकी धातुसम्बन्धी मलिनता आदि दोषोंको नष्ट कर डालती है, वैसे ही हृदयमें आये हुए भगवान् विष्णु उसके समस्त अशुभ संस्कारोंको नष्ट कर देते हैं।'

परंतु भगवान्‌का चिन्तन तभी होगा, जब 'विषयोंमें सुख है'—यह भ्रम हमारे मनसे सर्वथा निकल जायगा और जब यह निश्चय हो जायगा कि सुख तो एकमात्र श्रीभगवान्‌में ही है। किसी वस्तुका यथार्थ त्याग मनुष्य तभी करता है जब वह समझ लेता है कि यह वस्तु सुख नहीं वरं नित्य नये-नये दुःख ही देनेवाली है। और यह दोष वैसे ही प्रत्यक्ष निश्चयके रूपमें आ जाना चाहिये, जैसे हमारा यह निश्चय है कि संखिया या अफीम खानेसे हमारी मृत्यु हो जायगी। बड़े-से-बड़े धनका लालच देनेपर भी मनुष्य अफीम या संखिया नहीं खाता, क्योंकि वह समझता है इसके खाते ही मैं मर जाऊँगा। ऐसी ही विषबुद्धि विषयोंमें होनी चाहिये। अष्टावक्रजीने कहा है—'विषयोंका विषके समान त्याग कर दो'—'विषयान् विषवत् त्यज।'

जबतक विषयोंमें निश्चित दुःखबुद्धि नहीं होती और भगवान्‌में निश्चित सुखबुद्धि नहीं होती, तबतक न तो विषयोंसे मन हटेगा और न भगवान्‌में लगेगा। और इसीलिये तबतक न तो दुःखका नाश होगा और न सुखकी प्राप्ति होगी। क्योंकि भगवान्‌से अलग विषयोंमें सुख है ही नहीं। इसलिये मेरी आपसे प्रार्थना है कि आप इस विषयपर गम्भीरतासे विचार करें, विषयोंके स्वरूपको समझें और उनमें दुःख-दोष देखकर उनसे चित्तको हटावें तथा परम सुखरूप भगवान्‌में लगावें। फिर देखें, आपको उत्तरोत्तर अधिक-से-अधिक सुख मिलता है या नहीं।

(७)

कुसंगका अवश्यम्भावी फल

सप्रेम हरिस्मरण ! आपका पत्र मिला। आपने लिखा कि 'बीचमें मेरे विचार और आचरण बहुत अच्छे हो गये थे। भगवान्‌का भजन भी होता था तथा दैवी सम्पत्तिके गुण—सत्य, अहिंसा, दया, प्रेम आदि भी पर्याप्त मात्रामें थे। मैंने समझ लिया था कि मेरे काम-क्रोधादि दुर्गुण नष्ट हो गये हैं और भजनमें मन लग गया है। पर ...

व्यापारमें विशेषरूपसे लगनेपर विचार और आचरण बिगड़ गये, भजन भी छूट गया तथा सत्य, अहिंसा, दया आदि गुण भी नहीं रहे। धन कमाया था, वह भी प्रायः चला गया; इस समय चित्तमें बड़ी अशान्ति है। शोक तथा चिन्तामें ही दिन बीतते हैं और आसुरी दुर्गुण बढ़ते जा रहे हैं। आपका यह लिखना बहुत ठीक है। बीचमें आप अच्छे सङ्गमें थे, भजन भी होता था, उसका असर था। सङ्गका असर होता ही है। जैसा सङ्ग होता है, मनुष्य वैसा ही बन जाता है। अच्छे सङ्गके कारण—जैसे अच्छे राजाके राज्यमें चोर-डाकू छिप जाया करते हैं, वैसे ही आपके दुर्गुण छिप गये थे। वे मरे नहीं थे। मर गये होते तो कलुषित और असत्यपूर्ण व्यापारमें धनके लोभसे आपकी प्रवृत्ति ही क्यों होती। कुछ भी हो, धन कमानेके लिये आपने व्यापार-क्षेत्रमें विशेष रूपसे प्रवेश किया। आजकल वह क्षेत्र प्रायः अत्यन्त दूषित है। आप रात-दिन उसी वातावरणमें रहे, वैसे ही विषयी मनुष्योंका सङ्ग हुआ। परिणाममें आपके वे दुर्गुण सुअवसर पाकर पुनः प्रबुद्ध हो गये और आज प्रबल रूपसे सामने आ रहे हैं। विषयासक्तिका परिणाम शोक-चिन्ता होता ही है। उसीसे आप ग्रस्त हो रहे हैं। यह जो कुछ हुआ है, ठीक ही हुआ है। ऐसा ही हुआ करता है। श्रीमद्भागवत-में कहा है—

यद्यसद्भिः पथि पुनः शिश्नोदरकृतोद्यमैः।
आस्थितो रमते जन्तुस्तमो विशति पूर्ववत्॥
सत्यं शौचं दया मौनं बुद्धिः श्रीर्ह्रीर्यशः क्षमा।
शमो दमो भगश्चेति यत्सङ्गाद्याति संक्षयम्॥

(३।३१।३२-३३)

'अच्छे मार्गपर चलता हुआ मनुष्य यदि किन्हीं शिश्नोदर-परायण विषयी पुरुषोंके सङ्गमें आ जाता है और उनमें विश्वास करके उन्हींके पीछे-पीछे चलने लगता है तो वह पहलेके समान ही पुनः पतनावस्थामें जा पड़ता है। उन विषयी पुरुषोंके सङ्गसे इसके सत्य (सत्य-भाषण, सत्य-व्यवहार, सत्य-आचरण), शौच (बाहर-भीतरकी पवित्रता), दया (दुखियों-दीनोंके प्रति सक्रिय करुणभाव), वाणीका संयम, बुद्धि (विचारशक्ति), धन-सम्पत्ति, लज्जा (बुरे कर्मोंमें होनेवाला सङ्कोच), यश, क्षमा, मन तथा इन्द्रियोंका संयम, एवं ऐश्वर्य आदि सभी सद्गुण नष्ट हो जाते हैं।'

यह कुसङ्गका अनिवार्य परिणाम है। इसीसे श्रीरामायण-में कहा गया है—

बरु भल बास नरक कर ताता। दुष्ट संग जनि देइ बिधाता॥

'नरकमें निवास करना कहीं अच्छा। नरककी यातनाएँ भोगनी अच्छी। पर विधाता दुष्ट सङ्ग न दें।'

मनुष्यको पता नहीं लगता, और दुष्ट संगसे उसके विचार और कर्म सर्वथा बदल जाते हैं और फलतः वह असत् विचारों एवं दुर्गुणों तथा दुःखोंकी खानि बन जाता है। आप यदि शान्ति चाहते हैं, सुख चाहते हैं, तो विषयों-की ओरसे मनको हटाकर तुरंत भगवान्‌की ओर जीवनको मोड़िये। पुनः अच्छे सङ्गकी प्राप्तिका प्रयास कीजिये। साथ ही भगवान्‌का भजन—उनके पावन नामका जप कीजिये। आपकी इच्छा सच्ची होगी तो भगवान् अवश्य आपकी सहायता करेंगे। सत्संग और भजन—दो ही ऐसे साधन हैं जिनसे सारे दोषोंका नाश होकर सारे सद्गुणोंकी प्राप्ति एवं फलतः समस्त दुःखोंका नाश होकर आत्यन्तिक सुखकी प्राप्ति हो सकती है—

ततो दुःसङ्गमुत्सृज्य सत्सु सज्जेत बुद्धिमान्।
सन्त एतस्यच्छिन्दन्ति मनोव्यासङ्गमुक्तिभिः॥
निमज्ज्योन्मज्जतां घोरे भवाब्धौ परमायनम्।
सन्तो ब्रह्मविदः शान्ता नौर्दृढेवाप्सु मज्जताम्॥

(श्रीमद्भा० ११।२६।२६, ३२)

'बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि दुःसङ्गका त्याग करके सत्पुरुषोंका सङ्ग करे। सत्पुरुष अपने सदुपदेशोंसे उसके मनकी विषय-वासनाके बन्धनको अनायास ही काट डालते हैं। जैसे जलमें डूब रहे लोगोंके लिये सुदृढ़ नौका ही एक-मात्र सहारा है, वैसे ही इस भयानक संसार-सागरमें डूबने-उतरानेवाले लोगोंके लिये ब्रह्मको जाननेवाले शान्त संत ही दृढ़ नौका हैं।' संतोंका संग करनेपर अनायास ही भव-सागरसे पार हुआ जा सकता है।

इसी प्रकार भजनके लिये भी कहा गया है—

जिह्वां लब्ध्वापि यो विष्णुं कीर्तनीयं न कीर्तयेत्।
लब्ध्वापि मोक्षनिःश्रेणीं स नारोहति दुर्मतिः॥

'जीभ पाकर भी जो मनुष्य कीर्तन करनेयोग्य श्री-भगवान्‌का नाम-गुण-कीर्तन नहीं करते, वे दुर्मति, मूर्ख मोक्षकी सीढ़ी पाकर भी उसपर नहीं चढ़ते।'

ते सभाग्या मनुष्येषु कृतार्था नृप निश्चितम्।
स्मरन्ति ये स्मारयन्ति हरेर्नाम कलौ युगे॥

'राजन्! मनुष्योंमें वे बड़े भाग्यवान् और निश्चय ही

कृतार्थ हैं, जो इस कलियुगमें स्वयं भगवान्‌का नाम-स्मरण करते हैं तथा दूसरोंसे कराते हैं।'

सत्संग और भजनके महत्त्वसे शास्त्र भरे हैं। महात्मा संत पुरुषोंके तथा संसारी पुरुषोंके भी असंख्य अनुभव हैं। सत्संग-भजनकी महिमा कहना तो उनकी महिमाको घटाना है। अतएव आप सत्संग-भजनमें लगनेका प्रयत्न कीजिये। सब प्रकारके सद्गुण, सुख, समृद्धि और शान्तिका यही सर्वोत्तम साधन है। भगवान् शङ्करजीने यही वरदान भगवान् श्रीराघवेन्द्रसे चाहा था और यही हम सबके लिये आदर्श है।

बार बार बर मागउँ हरषि देहु श्रीरंग।
पद सरोज अनपायनी भगति सदा सत्संग॥

(८)

साधु-संन्यासियोंका स्त्रियोंके साथ कैसा व्यवहार हो ?

सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। आपने लिखा कि 'श्रीस्वामीजी·· ···तथा उनके शिष्य स्वामीजी······ने कुमारी, सधवा, विधवा, युवती, वृद्धा—असंख्य स्त्रियोंको चेली बनाया है और वे उन्हें ईश्वरसे भी बढ़कर गुरुको समझनेका उपदेश करते हैं। भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने भी गुरु-सेवा की थी, गुरुके चरणोंको दबाया था, उनकी पूजा की थी; अतः उनकी कृपासे ही वे राक्षसोंका संहार कर सके थे। इसलिये गुरु-सेवा ही सार और मोक्ष देनेवाली है।' ऐसा कहते हैं। स्त्रियोंसे चरण धुलवाकर उन्हें चरणामृत पान कराना, उनसे पगचम्पी कराना, हवा कराना, अपनी पूजा-आरती कराना आदि कराते हैं। और माता-पिता, भाई-बन्धु, सास-ससुर, यहाँतक कि पतितकके व्यवहारको झूठा बताकर गृहस्थियोंसे अच्छे-अच्छे माल हड़प करते हैं। कहते हैं सास-ससुर और पतिकी सेवा करना निस्सार है। गुरुकी सेवा ही मोक्षका साधन है। इस प्रकार घर-घरमें विद्रोह उत्पन्न करके वे उनसे अपनी सेवा कराते हैं।' इतना लिखकर आप पूछते हैं कि 'क्या ऐसे साधनसे मोक्षकी प्राप्ति होती है ? क्या संन्यासियों-का गृहस्थ स्त्रियोंके साथ ऐसा सम्बन्ध होना चाहिये ? इन स्वामीजीकी ये बातें कहाँतक ठीक हैं ? क्या संन्यासियोंको स्त्रियोंको चेली बनाने, उन्हें चरणामृत देने, उनसे पैर दबवाने, एकान्तमें मिलने, अन्य प्रकारसे सेवा कराने तथा पूजा-आरती उतरवानेका अधिकार है और ऐसा करनेसे क्या उन स्त्रियोंका कल्याण हो सकता है ?'

इसके उत्तरमें यही निवेदन है कि सच्चे गुरुकी महिमा ऐसी ही है। गुरुदेव जीवनके परम ध्येय भगवान्‌की प्राप्ति कराने-वाले हैं, इस कारण शिष्यके लिये वे भगवान्‌से भी बढ़कर हैं। परंतु ऐसे गुरु विलक्षण ही होते हैं। आपने जिन स्वामीजीके तथा उनके शिष्यकी बात लिखी है, वे कैसे हैं—इसका तो मुझको पता नहीं। परंतु जहाँतक संन्यास-धर्मका सम्बन्ध है, इनके आचरण सर्वथा विपरीत और शास्त्रविरुद्ध हैं। साथ ही दूसरोंके लिये बहुत बुरे आदर्शरूप हैं। मेरी समझमें उन माताओं-बहनोंकी भी बहुत बड़ी भूल है, जो अपने भोले स्वभावके कारण इस प्रकारकी बातोंमें आकर अपना अकल्याण करती हैं। शास्त्रकी सम्मति तथा सत्पुरुषोंके आचरणोंके अनुसार न तो किसी भी स्त्रीको पर-पुरुषका स्पर्श करना चाहिये और न किसी संन्यासी त्यागीको स्त्रीमात्रका स्पर्श करना चाहिये। ऐसा करना पाप तो है ही, पापको बढ़ानेवाला भी है। इससे मोक्षकी प्राप्ति तो दूर रही, नरकोंमें जाकर वहाँकी भीषण यन्त्रणासे छुटकारा पाना भी कठिन है। यह मनुष्यका मोह है कि विषयासक्तिवश दुराचार करते समय मनुष्यको उसके भयानक परिणामका ध्यान नहीं रहता। इसीसे वह इस प्रकारके निषिद्ध आचरण करता है। जो लोग जड शरीरको महत्त्व देकर जान-बूझकर अपने पैर पुजवाना, चरणामृत पिलाना, स्त्रियोंसे पैर दबवाना, एकान्तमें मिलना, पूजा-आरती उतरवाना आदि करते-कराते हैं, वे मोहग्रस्त और दयाके पात्र हैं। ऐसा करने-करानेमें दोनोंमेंसे किसीका कल्याण नहीं है। हाँ, एक ऐसी स्थिति भी होती है, जिसमें मीराकी भाँति भगवत्प्रेमके विवश होकर घर-द्वार छोड़ दिया जाता है। भगवान् बुद्ध तथा चैतन्यदेवकी भाँति घरके लोगोंको रोते-बिलखते छोड़कर चले जाना पड़ता है; परंतु वैसी स्थिति सबकी नहीं होती। किसीको वैसा प्रेम एवं वैराग्य हो तो फिर किसी भी अन्य कर्तव्यका भार उसपर नहीं रहता। बीमारी, असमर्थता अथवा विशुद्ध वात्सल्य या स्नेहके कारण ऐसी स्थिति भी कहीं-कहीं होती है जहाँ पैर छुलाना, सेवा कराना आदि स्वीकार करना पड़ता है या ऐसी बाह्य ज्ञानशून्य स्थिति होती है जिसमें न तो पैर पूजनेका पता रहता है और न सिरपर जूतियाँ लगनेका। पर ये सब असाधारण स्थितियाँ हैं। दूकान खोलकर स्त्रियोंको चेली बनाना, उनसे निषिद्ध सेवा कराना और एकान्तमें मिलना आदि तो प्रत्यक्ष अनाचार हैं और आजकल अध्यात्मके नामपर ये खूब चल रहे हैं। पर इनसे प्रायः सर्वत्र ही हानि होती है। ऐसे करानेवाले अधिकांश लोगोंकी नीयतमें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष दोष रहता है। कुछ लोग सरलतासे भी ऐसा करते हैं; परंतु अपना कल्याण चाहनेवाले बुद्धिमान् पुरुषोंको इन दोषोंसे अवश्य बचना चाहिये। और स्त्रियोंको तो इससे सर्वथा दूर ही रहना

चाहिये । साधु-महात्माओंमें श्रद्धा-भक्ति इतनी ही होनी चाहिये कि उन्हें सच्ची श्रद्धा तथा आदरपूर्वक भिक्षा करायी जाय, उनके शरीरकी स्थितिके अनुसार उनके आरामकी यथासाध्य और यथायोग्य निर्दोष शास्त्रसम्मत व्यवस्था की जाय। और उनके शास्त्रविहित उपदेशोंके अनुसार जीवन बनाया जाय। साधु-संन्यासियोंको धन देना, विलासकी सामग्री देना या जिनसे उनके मन-इन्द्रियोंमें विकार उत्पन्न होना सम्भव हो, ऐसी कोई भी क्रिया करना तो उन्हें सत्पथसे गिराना है और एक प्रकारसे पाप करना है। गृहस्थोंको यह बात खूब समझ रखनी चाहिये। विशेष भगवत्कृपा।

(९)

बुद्धिमानी किसमें है ?

सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। आपके सभी सम्बन्धी क्रमशः चले गये, यह बहुत दुःखकी बात है। परंतु दुःख करनेसे कोई भी लाभ नहीं। जो कुछ पीछे बचा है, उसीको सँभालना आपका कर्तव्य है। घरमें केवल आप तथा आपकी पत्नी, दो ही बचे हैं तो अब आप दोनोंको सावधानीके साथ अपने जीवनका एक-एक क्षण भगवत्-सेवामें लगाना चाहिये। जैसे घरके अन्य सभी लोग चले गये, वैसे ही पता नहीं, किस क्षण आपलोग भी चले जायँ। ऐसी स्थिति आनेसे पूर्व ही यदि आप भगवान्के शरण होकर अपने जीवनको सार्थक कर सकें तो आपकी बुद्धिमानी है। और मानव-जीवनकी सफलता है। नहीं तो, जैसे अन्य विषयी पुरुष विषय-भोगोंकी चिन्ता करते हुए सियार-कुत्तोंकी मौत मर जाते हैं, वैसी ही दशा आपकी भी होगी।

तुलसिदास हरिनाम सुधा तजि सठ हठि पियत बिषय-बिष माँगी।
सूकर-स्वान-सृगाल सरिस जन जनमत जगत जननि-दुख लागी॥

अतएव आपलोगोंको इस महाप्रयाणके लिये पहलेसे ही तैयार हो जाना चाहिये। भगवान्के स्वरूपका ध्यान तथा उनके पवित्र नामोंका जप-कीर्तन करते रहिये। मृत्यु जब कभी भी आवे, उसे आप भगवान्का स्मरण करते हुए ही मिलें। फिर कोई डरकी बात नहीं है; आपको भगवत्प्राप्ति ही होगी। जो सर्वकालमें भगवान्का स्मरण करता हुआ ही अन्य सांसारिक कार्य करता है, उसे अन्तमें भगवान्के ही सुर-मुनि-सेवित अभय चरणारविन्दोंकी प्राप्ति होती है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। ऐसी ही मृत्यु वाञ्छनीय होनी चाहिये। एकमात्र यही मृत्यु ऐसी है, जो बार-बार होनेवाली मृत्युको मार देती है। जो जन्मा है, उसे मरना तो होगा ही। सभी संयोग निश्चय ही एक दिन वियोगके रूपमें परिणत होंगे। इस संयोग-वियोगरूप संसारमें बुद्धिमान् वही है, जो सदाके लिये अपना संयोग भगवान्के साथ कर लेता है। भगवान्के साथ संयोग हो जानेपर फिर कभी वियोग नहीं होता। वास्तवमें वे लोग बड़े अभागे हैं, जो जीवनभर विषय-भोगोंमें ही लगे रहते हैं, भगवान्से विमुख होकर उनके अभय चरणोंका सतत चिन्तन नहीं कर पाते।

सुनहु उमा ते लोग अभागी। हरि तजि होहिं बिषय अनुरागी॥

आप सन्तान-प्राप्तिका उपाय पूछ रहे हैं, सो मेरी समझसे यह भी आपका मोह ही है। इस बुढ़ौतीमें सन्तान पाकर आप क्या करेंगे। मनमें मोहका बन्धन और भी दृढ़ हो जायगा। फँसावट और भी गाढ़ी हो जायगी। पुत्र होते ही वह आपको तार देगा, ऐसी आशा रखना मूर्खता है। रही वंश चलनेकी बात, सो पता नहीं, कितनी मानव और मानवेतर योनियोंमें आपके वंश चल रहे होंगे। अबतक आप, पता नहीं; कितनी योनियोंमें कहाँ-कहाँ जन्मे हैं, उनमेंसे अधिकांश जगह वंश-परम्परा चलती होगी। एक जन्ममें वंश नहीं चला तो कौन-सी बड़ी हानि हो जायगी। इस मोहको मनसे दूर कीजिये और भगवान्के भजनमें लगिये। पासमें जो पूँजी है, उसे जीवन-निर्वाहमें खर्च करनेके साथ-ही-साथ कुछ-कुछ सत्कार्यमें भी लगाते रहिये। जिससे आपलोगोंके बाद उसका दुरुपयोग न हो। दान वही यथार्थ है, जो अपने हाथों-कर लिया जाता है। आजकल तो बने हुए ट्रस्टोंके भी तोड़नेकी बात सोची जा रही है।

परंतु यदि सन्तानकी एकान्त ही इच्छा हो तो उसके लिये भी भगवान्का आराधन ही प्रधान उपाय है। भगवान्की आराधनासे अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष—चारों ही पुरुषार्थोंकी सिद्धि होती है। शास्त्रोंमें कहा है कि श्रीहरिवंशपुराणके विधिपूर्वक पठन तथा श्रवणसे सन्तानकी प्राप्ति होती है। गोदान और पितृगणोंकी संतुष्टि भी सन्तान-प्राप्तिमें सहायक होती है। एक सन्तान-गोपालमन्त्र भी है। कहा गया है कि सच्ची श्रद्धा तथा विधिपूर्वक उसका ग्यारह लाख जप स्वयं करनेसे पुत्रोत्पत्ति होती है। वह मन्त्र यह है—

देवकीसुत गोविन्द वासुदेव जगत्पते।
देहि मे तनयं कृष्ण त्वामहं समुपाश्रितः॥

इन साधनोंमें एक या सभी आप कर सकते हैं; परंतु निश्चयपूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि इतनेसे पुत्र हो ही जायगा। पता नहीं आपका प्रतिबन्धक कैसा है। प्रतिबन्धक प्रबल होगा तो इन्हीं साधनोंको श्रद्धा और धैर्यपूर्वक कई बार भी करना पड़ेगा। विशेष भगवत्कृपा!

अहिंसा और जैन-धर्म

(लेखक—श्रीज्योतिप्रसादजी जैन, बी० ए०)

संसारमें छोटे-से-छोटे जीवसे लेकर बड़े-से-बड़े विचारवान् जीव मनुष्यतक सब सुख और शान्ति चाहते हैं। दुःख और अशान्तिसे सभी घबराते हैं। कोई यह नहीं चाहता कि उसके अधिकारपर कोई आक्रमण करे, और उसके स्वतन्त्र और सुखपूर्वक व्यतीत होते हुए जीवनमें कोई किसी प्रकारकी बाधा डाले; परंतु इस जगत्के सामाजिक जीवनमें व्यक्तिगत स्वतन्त्रता उसी हदतक सीमित है, जहाँतक दूसरे व्यक्तिकी स्वतन्त्रता उसकी स्वतन्त्रतासे नहीं टकराती। इसलिये सामाजिक जीवनमें हर एक व्यक्तिको इतना विवेकवान् होना आवश्यक है कि वह अपने हर-एक काममें और हर एक व्यवहारमें यह देखता जाय कि वह अपनी व्यक्तिगत स्वतन्त्रताका उपभोग करता हुआ किसी दूसरेकी सुख-शान्तिके अधिकार या स्वतन्त्रताकी अवहेलना तो नहीं कर रहा है ! यदि मनुष्य इस प्रकारकी उदार भावनाको हृदयमें रखकर विवेकके साथ इस जगत्में व्यवहार करता है तो उसके सुख और शान्तिपूर्वक जीवन-निर्वाहमें कोई बाधा नहीं आनी चाहिये; अन्यथा विपरीत भावना या लापरवाही और स्वार्थपूर्ण जीवननिर्वाहसे अशान्ति, संघर्ष और परिवर्तन स्वाभाविक परिणाम हैं। यह जीवनसिद्धान्त एक मनुष्यके व्यक्तिगत जीवनसे लेकर बड़े-से-बड़े सामाजिक जीवनमें घटाया जा सकता है। इस प्रकार सामाजिक जीवनमें अहिंसाका यह अर्थ है कि अपने अधिकारों, अपनी स्वतन्त्रता और अपनी सुख-शान्तिके साथ दूसरे जीवोंके भी इन अधिकारोंकी अवहेलना न करना और जहाँ कहीं दूसरेके अधिकारोंसे टकरानेका अवसर हो, वहाँ समझौते (Compromise) और त्याग (Sacrifice) की भावनासे काम करना। इसी हेतु सामाजिक जीवनमें 'अहिंसा' को परम आवश्यक समझते हुए हरएक धर्मके प्रवर्तकोंने और संसारके कुछ विचारशील सामाजिक और राजनीतिक नेताओंने भी 'अहिंसा' को जीवनके लिये परम आवश्यक बतलाया है, परंतु अहिंसाकी व्यावहारिक रूप-रेखा जैनधर्ममें सर्वथा अपूर्व है। इस युगके अहिंसाके पुजारी महात्मा गान्धीके ये शब्द हैं—'जब कभी अहिंसाकी प्रतिष्ठा होगी तो अवश्य अहिंसाके महान् प्रवर्तक भगवान् महावीरकी याद सबसे अधिक आदरसे होगी और उनकी बतायी अहिंसाका सबसे अधिक आदर होगा।'

पहले यह और जान लेना आवश्यक है कि जैन-धर्म कोई नया धर्म नहीं है। जगत्के प्राचीन-से-प्राचीन धर्मके साथ जैन-धर्म प्राचीनतामें होड़ कर सकता है। यह धर्म केवल आदर्शवादी ही नहीं, व्यवहारवादी भी है; और चरित्र-प्रधानता इस धर्मकी विशेषता है। चरित्र-मार्गमें नियम, उपनियम और विवेकपूर्ण व्यवहारकी दृढ़ताके कारण और जैन-धर्मानुयायियोंके प्रचारकी कमीके कारण उस धर्मका आजकी दुनियामें अधिक प्रचार नहीं है; परंतु जो इतना प्राचीनतम है, उसका कभी अधिक प्रचार अवश्य रहा है और यह तभी सम्भव है जब कि मनुष्यने केवल मन्दिर और गिरजोंमें जाकर कुछ धर्म-क्रियाओंको ही करना अपना धर्म न समझा हो बल्कि उपर्युक्त अहिंसाकी भावनाको हृदयमें रखते हुए विवेकपूर्ण व्यवहार करना अपना कर्तव्य तथा धर्म समझा हो। आज इस युगमें मनुष्यके स्वार्थपूर्ण जीवनकी जगत्में आखिरी टक्कर है। जैन-सिद्धान्तके अनुसार लालच और स्वार्थपूर्ण व्यवहारमें कुछ जीवन-तत्त्व न पाकर, और अपनी स्वाभाविक सुख-शान्तिके स्थानपर दुःख और अशान्तिमय जीवनको पाकर मनुष्य अवश्य ही इसके बाद अहिंसामय धर्मके सिद्धान्तको सुनेगा और उसका सम्मान करेगा। जैन-धर्मका अहिंसा-सिद्धान्त संक्षिप्तमें इस प्रकार है—

जैन-धर्मने चरित्र-मार्गमें जीवन-तत्त्वको दो दृष्टियोंसे देखा है—एक आदर्श, दूसरा व्यवहार। 'आदर्श-प्राप्ति' जीवनका लक्ष्य है; 'व्यवहार' परिस्थितिके अनुसार मनुष्यके जीवनका विवेकपूर्ण निर्वाह है। इसके अतिरिक्त जैन-धर्मने मानव-जीवनको दो भागोंमें बाँटा है—साधु और श्रावक ! गौतम आदि साधुओंको अहिंसाका उपदेश देते हुए भगवान् महावीरने फरमाया था कि 'साधु-जीवन लोकमें रहते हुए पारलौकिक जीवन है। साधु सांसारिक समस्त सम्बन्धी, घर-बार, जायदाद, सम्पत्तिको त्यागकर अपनी जीवनयात्रा आरम्भ करता है और धीरे-धीरे अपनी इन्द्रियोंको पूर्णरूपसे अधिकारमें करता हुआ वह साधारण भोजन-वस्त्र आदिकी आवश्यकताओंसे भी अपनेको मुक्त करना चाहता है। वह किसी भी जीवको तन-मन-वचनसे हिंसा नहीं करता और न किसी प्रकारसे किसीको कष्ट ही पहुँचाता है। विवेकसे विचरता है; वह

और जलके सूक्ष्म जीवोंको भी कष्ट न पहुँचानेका प्रयत्न करता है; अपने मार्गमें आयी हुई कठिनाई और शारीरिक दुःखकी ओर वह आँख उठाकर भी नहीं देखता; अपने साथ किये गये अत्याचारोंसे वह विचलित नहीं होता। वह हर समय समभावी, अर्थात् अपने स्वाभाविक गुण अहिंसा, प्रेम और क्षमामय रहता है; कोई उसकी प्रशंसा करता हो या निंदा, उसके लिये दोनों समान हैं। वह न प्रशंसासे प्रसन्न होता है और न निंदासे अप्रसन्न। उसके लिये सांसारिक पाप और पुण्यका भी कोई अर्थ नहीं है। वह तो दोनोंको ही अपनी आत्माके आवागमन दुःखका कारण समझता है, वह अपना कल्याण अर्थात् मुक्ति अपनी आत्मशुद्धिमें ही समझता है। उसकी आत्म-शुद्धि उसके 'समभाव', 'सहनशीलता' और 'तपस्या' पर निर्भर है। वह अपने ऊपर आयी हुई सांसारिक आपत्ति या उत्सर्गके समय और बार-बार अपने आत्माको तपस्यारूपी अग्निमें तपाकर उसकी शुद्धिकी जाँच करता है कि किस हदतक उसका आत्मा सांसारिक यातनाओंको हँसते-हँसते सह सकता है और वह सांसारिकतासे कितना ऊपर उठ आया है। ज्यों-ज्यों वह अपने चरित्र-मार्गपर ऊँचे-ऊँचे चढ़ता है, वह अपने आत्मामें स्वाभाविक ज्ञान-चेतना विकसित पाता है। ऐसे पुरुषोंका जीवन पूर्ण अहिंसामय होता है, जो सर्वसाधारणका नहीं हो सकता। यही ऐसा वर्ग हो सकता है, जिसे एक गालपर थप्पड़ खाकर दूसरा हमेशा आगे करना चाहिये। सर्वसाधारणके लिये अहिंसा-तत्त्वकी जैन-धर्ममें दूसरी व्याख्या है और वही सर्वसाधारणके लिये उपयोगी है। वह 'अहिंसा' किस प्रकार प्रतिदिनके व्यावहारिक जीवनमें घटायी जा सकती है, और किस प्रकार सर्वसाधारण उसको अपना सकता है—यही विशेष रूपसे हमारे समझनेका विषय है।

जैन-आगमका कथन है कि जिस समय भगवान् महावीर, जैनधर्मके अन्तिम तीर्थंकर, अपने गणधर गौतम स्वामी और दूसरे साधुओंको उपर्युक्त अहिंसाका उपदेश दे रहे थे, उस समय शिशुनाग-वंश (Sisunaga dynasty) के प्रसिद्ध राजा बिम्बिसार सभामें उपस्थित थे। राजाने भगवान्से प्रश्न किया—'हे प्रभो! अहिंसाका जो उपदेश आपने दिया है, उसको सर्वसाधारण किस प्रकार व्यवहारमें ला सकता है?' इसका भगवान् महावीरने उत्तर दिया—'राजन्! यह उपदेश मैंने महाव्रती साधुओंके लिये दिया है। साधुके चरित्र-मार्गमें सांसारिक परिस्थिति बाधा नहीं डालती; क्योंकि वह संसारके सब आकर्षणों और वैभवोंके लगावसे अपनेको पहले ही मुक्त कर चुका है। अतएव साधुओंके लिये तो अहिंसाका उपयुक्त आदर्श ही व्यवहार है; परंतु सर्वसाधारणके आदर्श और व्यवहारमें अन्तर हो सकता है। उसका व्यवहार उसके मार्गमें आयी हुई परिस्थितिपर निर्भर रहता है। राजन्! सर्वसाधारणको मनसे तो सदा साधुके समान ही शुद्ध अहिंसावादी ही रहना चाहिये, जैसा मैंने अभी कहा है। यदि परिस्थिति व्यावहारिक जीवनमें किसी व्यक्ति या व्यक्ति-समुदायको कोई ऐसा कार्य करनेके लिये बाध्य कर दे, जो साधारण तथा हिंसामय समझा जाय, तो उस समय भी उस व्यक्ति या व्यक्ति-समुदायको अपनी भावना अहिंसामयी अवश्य रखनी चाहिये और बाध्य होकर किये गये हिंसक कर्मसे अपनी आसक्ति (Attachment) का अनुभव नहीं करना चाहिये। इससे उसके आत्माके साथ उस कर्मका विशेष बन्धन नहीं होगा। कर्तव्यवश जो हिंसक कार्य करना पड़े, तो उसको भी अनिवार्य और मजबूरी समझकर ही करना चाहिये। मनुष्यको अपना संकल्प (Intention) और भाव (Thoughts) कभी भी, और किसी भी परिस्थितिमें हिंसामय नहीं बनाना चाहिये, चाहे परिस्थिति-वश हिंसारूप कर्म क्यों न करना पड़े।' अहिंसाका ऐसा उपदेश भगवान् महावीरने सर्वसाधारणके लिये दिया। इस भाव—आशय (Intention) और द्रव्य—प्रत्यक्ष क्रिया (Actual action) रूपके भेदको समझनेके लिये क० टाडके राजस्थानके इतिहासमें आया हुआ एक प्रसंग यहाँ उल्लेखनीय है।

बारहवीं शताब्दीमें, कच्छके पास भारतमें एक छोटा-सा राज्य था, जिसके राजाका नाम भीमसिंह था; उसको भोला भीम भी कहते थे। उसकी रानी परम सुन्दरी थी। पड़ोसकी एक दूसरी बड़ी रियासतके शक्तिशाली शासकने उस रानीको प्राप्त करनेके लिये राजा भीमसिंहके पास अपने दूतद्वारा संदेशा भेजा कि वह अपनी रानीको चुपचाप उसके हवाले कर दे, अन्यथा उसका सामना करनेको तैयार हो जाय। भीमसिंहकी रानीने जब यह सुना तो तुरंत अपने सेनापतिको, जो जैनी था, बुलाकर पूछा कि 'आपके हृदयमें इस अपमानको सहनेकी शक्ति कहाँतक है?' उस बूढ़े जैनी सेनापतिने उत्तर दिया—'रानीजी! जबतक इस बूढ़े सेनापतिके शरीरमें प्राण है, तुम्हारा कोई बाल बाँका नहीं कर सकता।' रानीने उसे मुकाबलेके लिये तैयार रहनेका आदेश दिया। इस रानीका

छोटा भाई राज्यका उपसेनापति था, जो नवयुवक और क्षत्रिय-वंशका था। वह अपने बूढ़े सेनापतिकी अहिंसा-भावनासे भली-भाँति परिचित हो चुका था, परंतु उसका पराक्रम देखनेका अवसर उसे नहीं मिला था। वह समझता था कि जो मनुष्य भावनासे इस प्रकार अहिंसावादी है कि रास्तेमें चलती चींटीको भी बचाकर चलता है, वह एक शक्तिशाली आक्रमणकारीके आक्रमणके समय अवश्य कायरता दिखायेगा। अतएव उसने अपनी बहन राज-रानीसे कहा कि 'बहन ! इस युद्धमें हमारे जीवन और मृत्युका प्रश्न है। इसलिये इस युद्धके संचालनका काम इस बूढ़े अहिंसावादी जैन सेनापतिको न देकर मेरे सुपुर्द किया जाय तो ठीक है।' रानीने उत्तर दिया कि 'भाई! तुम्हारी यह शंका उचित है; परंतु यह भी विचारणीय है कि यह सेनापति मेरे ससुरके सामनेका है और परम विश्वासपात्र माना जाता है। आज इसके कर्तव्यपालनको देखनेका मेरे लिये पहला अवसर आ रहा है, इसलिये मैं इस सेनाके संचालनका काम तो उसीसे लूँगी; परंतु यह उचित है कि तुम्हें और मुझे सतर्क अवश्य रहना चाहिये। जाओ, तुम कुछ अपनी सेना अलग तैयार करो।'

उस अत्याचारी शासकने रानीको न पानेका उत्तर पाकर राजा भीमसिंहके राज्यपर आक्रमणकी तैयारी शुरू कर दी। इधर उस बूढ़े सेनापतिने उस अज्ञानी और कामान्ध शासकको एक पत्र अपनी ओरसे लिखकर भेजा और उसमें उसे समझाया कि उसके शक्तिशाली होनेका यह अर्थ नहीं कि वह एक उससे कम शक्तिशाली पड़ोसी राजाकी रानीपर बुरी दृष्टि डाले, बल्कि उसको कुसमयमें अपने पड़ोसीकी सहायता करना अपना धर्म समझना चाहिये, और बहुत नम्रतासे निवेदन किया कि वह अपने इस गंदे विचारको बदल दे; परंतु उसने कोई ध्यान नहीं दिया। तदनन्तर दूतके द्वारा यह समाचार पाकर कि उस दुराचारीकी सेनाने कूच कर दिया है, इस बूढ़े सेनापतिने तुरंत अपनी सेना एकत्र करके एक गम्भीर और ओजस्वी आदेश दिया कि 'वीरो ! आज एक शक्तिशाली अत्याचारीके सम्मुख हमें अपने स्वाभिमानकी रक्षाके लिये मौतका खेल खेलना है। जिस किसी सैनिकको जरा भी अपने प्राणोंका मोह हो, वह तुरंत वापस जा सकता है। मुझे आज केवल वे ही सैनिक चाहिये, जो अपने राज्य और अपनी रानी-के स्वाभिमानकी रक्षाके लिये सानन्द प्राणोंकी बलि देनेको तैयार हों।' सभी वीर सैनिकोंने उत्साहमें भरकर अपनी-अपनी तलवारको म्यानसे बाहर निकाल लिया और उसे चूमकर ऊपर उठाकर जयनाद किया। वृद्ध और सेनापति तुरंत घोड़ेको एड़ लगाकर आगे-आगे चला और अपने राज्यके बाहर आकर शत्रु-सेनाका सामना किया। वह जैनी सेनापति इस वीरतासे लड़ा कि उसकी वीरता और उत्साहको देखकर सभी वीर सैनिक उत्साहमें भर गये और बड़ी वीरतासे लड़े। शत्रु-सेनाको चीरते हुए इस वीर सेनापतिने उस पापी शासकके हाथीके पास पहुँचकर एक भाला फेंककर उसे घायल किया और हौदेसे नीचे खींचकर तथा अपने घोड़ेपर डालकर पुनः सेनाको चीरता हुआ सेनासहित अपने राज्यमें वापस आ पहुँचा। खूनसे लथपथ सेना-सहित सेनापतिको देखकर वीर-रानी पुलकित हो उठी और उसने आदरपूर्वक उसका स्वागत किया एवं अपनी मान-रक्षाके लिये उसको बहुत-बहुत धन्यवाद दिया। सेनापतिने रानीके शत्रुको उसके सम्मुख उपस्थित किया। रानीने उस पापी आक्रमणकारीको अपने पैरोंसे ठुकराते हुए सेनापतिसे पूछा—'पिता-समान सेनापतिजी ! कृपाकर यह बताइये, आपके अहिंसामय हृदयमें आज ये वीरताके भाव किस प्रकार उत्पन्न हुए ? क्या आज आपके इस वीरताके कर्मकी आपके अहिंसा-धर्ममें गुंजायश है ? और यदि नहीं, तो क्यों आप एक ऐसे धर्मके साथ नाता जोड़े हुए हैं, जिसको आप पाल नहीं सकते!' सेनापतिने गम्भीरतासे उत्तर दिया—'बेटी ! तुमने अहिंसा-धर्मको गलत समझा है। जिस अहिंसाके व्यवहारको तुम अहिंसा-धर्म समझती हो, वह आदर्श और व्यवहार साधुका है। श्रावक अर्थात् एक गृहस्थीके लिये केवल भावनासे ही हर समय अहिंसामय रहनेके लिये जैन-धर्मकी आज्ञा है। ऐसी परिस्थिति-में जब कि एक अत्याचारी इस प्रकार उन्मत्त बन गया हो और समझानेसे भी न समझता हो तो सेनापतिके पदपर रहकर अपनी रानी और अपने राज्यके स्वाभिमानकी रक्षाके लिये युद्ध करना मेरा स्वाभाविक कर्तव्य है, उस कर्मके परिणामसे मेरे अनासक्त और अहंकाररहित आत्माका कोई लगाव नहीं है। मेरे धर्म-का यही सिद्धान्त है कि कर्ममें रागात्मिका बुद्धि होनेसे ही आत्माको कर्मबन्ध होता है। जब मैं कर्तव्यवश इस पापीकी सेनापर तलवार चला रहा था, उस समय मेरा आत्मा तो इस मूर्खके पागलपनपर दुःखित हो रहा था। रानी! चूँकि मैं लड़ते हुए भी भावनासे अहिंसात्मक रहा, इसलिये इस युद्ध-कर्मसे मैंने अहिंसा-धर्मकी अवहेलना नहीं की है और न इस

कर्मसे मेरी आत्माको कोई विशेष कर्मबन्ध हुआ है।' इसे सुनकर रानीको बहुत ही सन्तोष हुआ और उसने जैन-धर्मकी बड़ी सराहना की।

इस उपर्युक्त उदाहरणसे अहिंसाके आदर्श और व्यवहार, भाव और द्रव्यके भेद, पृथक्-पृथक् साधु और श्रावक जीवन तथा पृथक्-पृथक् परिस्थितिमें जो अहिंसा-धर्मकी व्याख्या है, वह आसानीसे समझमें आ जाती है। कुछ शब्दोंमें सर्वसाधारणके लिये पूर्ण अहिंसामय रहनेका उपदेश भावकी अपेक्षासे है, कर्म भावकी विशुद्धिके साथ-साथ परिस्थितिके अधीन है—अहिंसाकी ऐसी व्याख्या जैन-धर्मके शास्त्रोंमें है। इसलिये व्यावहारिक जगत्में अहिंसाके लिये न तो ईंटका जवाब पत्थरमें और न एक गालके थप्पड़के आगे दूसरा गाल करना ही सर्वथा अहिंसा-सिद्धान्त कहा जा सकता है; बल्कि भावनाको शुद्ध अहिंसामय रखते हुए परिस्थितिके अनुसार और विना आत्माकी रागात्मिकताका अनुभव किये हुए कर्म करना ही अहिंसामय कर्म है।

मृत्युके मुखसे

(लेखक—प्रो० श्रीजयगोविन्दरायजी, एम्० एड्०)

[सत्य घटना]

सन् १९४२ ई० के अक्टूबर मासकी बात है। मैं गोरखपुरकी एक संस्थामें अध्यापक नियुक्त होकर गया। रहनेके लिये घड़ियाल कोठीके सामने एक मकान किरायेपर मिल गया। उसमें नीचे आँगन और रसोई-घर था। ऊपर एक बरामदा और तीन कमरे थे। मेरे परिवारमें कुल तीन व्यक्ति थे—मेरी पत्नी (रानी), डेढ़ वर्षकी छोटी बच्ची (कमला) और मैं।

एक मासके पश्चात् मेरा स्वास्थ्य बिगड़ने लगा। लोगोंने बतलाया कि यह नये जलवायुका प्रभाव है। फिर धीरे-धीरे सब ठीक हो जायगा। पहले जुकाम हुआ। इसके बाद कुछ-कुछ खाँसी आने लगी। इसी बीच एक दिन थोड़ा दही खा लिया। इसका फल बहुत बुरा निकला। खाँसी बढ़ गयी और ज्वर आने लगा।

मित्रोंने इस आपत्तिकालमें मेरी बड़ी सहायता की। एक अनुभवी वैद्यजीका उपचार प्रारम्भ हुआ; किंतु मर्ज बढ़ता ही गया ज्यों-ज्यों दवा की। खाँसी भीषण होती चली गयी। ज्वरका ताप बहुत ऊँचा रहता था। उपवासके कारण मैं अत्यन्त निर्बल हो गया। दस-बारह दिनोंके बाद रानीका धैर्य छूटने लगा। वह अधीर होने लगी।

तेरहवें दिन दोपहरके पश्चात् ज्वर अधिक प्रचण्ड हो गया। मेरी आँखें तापसे बंद हो जाती थीं। रानी मेरे पैरके तलवोंको सुहला रही थी। उसके नेत्रोंसे अश्रुविन्दु मेरे तलवोंपर टपकने लगे। मेरी आँखें खुलीं। मैंने रानीके मुखपर भय, निराशा और विषादके मिश्रित चिह्न देखे, जैसे उसकी नैया मँझधारमें चक्कर काट रही हो।

मैंने धीरेसे पूछा—'रानी! तुम रो रही हो?'

आँसू पोंछते हुए उसने कहा—'आपका कष्ट अब मेरे लिये असह्य हो रहा है।'

मैंने ढाढ़स बँधाते हुए कहा—'तुम क्षत्राणी हो। तुम्हें विपत्तिमें अधीर नहीं होना चाहिये।'

'हमलोग घरसे इतनी दूर हैं'—सिसकते हुए उसने उत्तर दिया—'यहाँ अपना कौन है?'

मैं स्वयं अपने जीवनसे निराश हो चुका था। रानीके मनकी आशङ्का मुझे स्पष्ट समझमें आ रही थी। उसका अधीर होना स्वाभाविक था। अतः मैंने विषय बदलते हुए कहा—

'मुझे प्यास लग रही है। थोड़ा गुनगुना जल दो।'

वह पानी गरम करनेके लिये नीचे रसोईघरमें चली गयी।

इसके प्रायः दो मिनटके पश्चात् एक विचित्र घटना घटी, जो आज भी मेरे स्मृति-पटलपर ज्यों-की-त्यों अङ्कित है। वह घटना मेरे लिये अब भी एक समस्या है।

मैं अकेला उस कमरेमें चारपाईपर पड़ा था। ज्वरकी प्रचण्डतामें भी मुझे पूरा होश था। मेरी आँखें ऊपर छतकी ओर लगी थीं। रानीकी असमर्थता और व्यथा-पर मैं विचार कर रहा था।

इतनेमें कमरा दिव्य प्रकाशसे आलोकित हो उठा। मैंने देखा—एक भव्य मूर्ति मेरे सिरहाने चारपाईके पास खड़ी है। सिरपर छोटी-छोटी जटाएँ हैं। दाढ़ी वक्षःस्थलतक लहरा रही है। कमरमें लँगोटी और पैरोंमें खड़ाऊँ हैं। लंबा-चौड़ा विशाल शरीर श्रम-विन्दुओंसे सराबोर है।

मैंने चरणस्पर्श किया; किंतु यह पूछनेका साहस नहीं हुआ कि 'आप कौन हैं?' मैंने केवल इतना कहा—'आपने मेरे लिये बहुत कष्ट उठाया है। आप इतनी दूरसे आ रहे हैं। आपका शरीर पसीनेसे तर है।'

उस दिव्यात्माने कुछ उत्तर नहीं दिया। केवल अपना हाथ मेरे ललाटपर रख दिया। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ जैसे मेरे सम्पूर्ण शरीरपर चन्दनका लेप हो गया हो।

मैंने सोचा—रानी भी तो इस महान् विभूतिका दर्शन कर ले। मैंने जोरसे चिल्लाकर कहा—'रानी, जल्दी आओ।' वह बहुत घबरायी हुई दौड़कर आयी। उसने सोचा कि शायद मेरी हालत बहुत खराब हो गयी है; किंतु जब वह मेरे कमरेमें पहुँची, तबतक वह दिव्यात्मा अदृश्य हो चुकी थी।

मेरी आँखोंमें कृतज्ञताके आँसू थे। रानीने पूछा—'आप रोते क्यों हो? तबीयत कैसी है?' वह मुझे सान्त्वना देनेका प्रयत्न कर रही थी।

'रोता नहीं हूँ, रानी! मेरे ललाटपर हाथ रक्खो। मेरा शरीर देखो। मुझे अब ज्वर नहीं है। मुझे भूख लगी है, कुछ खिलाने-पिलानेका प्रबन्ध करो।'

रानी चकित हो गयी। उसने देखा मेरा शरीर शीतल था। उसके आश्चर्यका ठिकाना नहीं रहा। सब बातें सुनकर वह पुलकित हो उठी। मृत्युके मुखसे मुझको वरदानस्वरूप पाकर वह आत्मविभोर थी।

किंतु आज भी वह घटना मेरे लिये एक पहेली है।

साधक और साधना

(लेखक—श्रीराजेन्द्रकुमार जैन 'विशारद')

देव-विग्रह सामने था और उसके चरणोंपर था एक पद-धूलि-चर्चित मस्तक। दो रतनारी सीपियोंसे ढलते हुए अन्तरतमके परागसे मनमोहन मोहनके सलोने चरणोंका प्रक्षालन हो रहा था। आनन्द-घन श्यामकी मोहनी मूर्ति मुसकरा रही थी और उस बावरे साधकके लोचनकी नन्दा विग्रहके चरणोंपर सावन-सी बरस रही थी। उन पिघलती-सी लावण्यमयी आँखोंसे झरनेवाली अश्रु-लड़ियोंमें पानीके बिन्दु नहीं, अन्तरतमका पराग था, मानस-का सौन्दर्य था, और थी उस मौन आराधककी मूक आराधना। नवनील मेघमाला-सी सुन्दर श्यामल आभामें विनिमज्जित देव-प्रतिमाके हाथ बढ़े और……………! आलिंगन-बद्ध भक्तकी आँखें अपलक निहार रहीं थीं, अपने मनमोहनको। बाहु-पाश-गुंफित भक्त ही भगवान् बन गया और बन गयी वह साध्य-प्रतिमा ही साधक! दो दीप-शिखाएँ परस्पर गुँथकर एक हो गयीं तथा एक दिव्य दीप्ति, उज्ज्वल प्रकाश और एक ही सच्चिदानन्द आत्मा दृष्टि-गोचर हुई। साधककी साधना सफल हो गयी।

गोवध सर्वथा बंद हो

दुःखकी बात है कि स्वतन्त्र भारतमें अब भी गोवध बंद नहीं हो पाया है। महात्मा गाँधीजीने गोवध-निवारणपर बहुत जोर दिया था और हमारे नेतागण भी कहते थे। गत चुनावमें भी कहा गया था कि स्वतन्त्रता मिलते ही गोवध बंद हो जायगा; परंतु धर्म-निरपेक्ष (Secular) राजसत्ताके नामपर भारतीय जनताकी सदाकी यह माँग अभीतक ठुकरायी ही जा रही है। अत्यन्त अधिक संख्यामें भारतीय जनता चाहती है कि भारतमें गोवध कतई बंद हो जाय; न गोमांस खानेवालोंके लिये, न धर्मके नामपर और न विवाह-शादी आदिमें ही गोवध हो। कुछ समझदार मुसल्मान भाइयोंने भी यह कहा है कि उनके धर्मके अनुसार कुर्बानीके रूपमें गोवधकी कोई आवश्यकता नहीं है। (इसी अङ्कमें भाई सैयद कासिमअली महोदयका लेख पढ़िये।) परंतु अभीतक गोवध होता ही है। अभी हालमें आजमगढ़में विवाहके अवसरपर गोवध किया गया बताते हैं। गोरखपुरमें भी ऐसी एक घटना पिछले दिनों सुनी गयी थी। हमारे नेताओंको चाहिये था कि वे स्वतन्त्रता प्राप्त होनेपर सबसे पहले भारतमें कतई गोवध बंद करनेका कानून बनाते; पर जनताकी सम्मति-की सर्वथा अवहेलना करके उन्होंने अबतक कानूनके द्वारा गोवध बंद नहीं किया, जब कि जनताकी सम्मतिके विरुद्ध 'हिंदू-कोड-बिल'-जैसे काले कानून बनानेका अन्याययुक्त उपक्रम किया जा रहा है।

अभी हालमें केन्द्रीय सरकारने प्रान्तीय सरकारोंको गोवध-नियन्त्रणके सम्बन्धमें एक बिलका मसविदा भेजा है, इसके लिये सरकारको धन्यवाद है। पर उसमें अनुपयोगी-उपयोगीका ऐसा झमेला डाल दिया गया है कि जिससे अनुपयोगीके नामपर उपयोगी गौएँ मारी जाती रहेंगी। पिछले दिनों युद्धके समय भी ऐसा अस्थायी विधान कई प्रान्तोंमें वर्तमान था, परंतु उपयोगी पशु मारे ही जाते थे। इस बिलके अनुसार चौदह वर्षसे अधिक उम्रकी और गर्भधारण करनेमें असमर्थ गौ मारी जा सकेगी, काम न करने योग्य अथवा असाध्य रोगसे पीड़ित पशु भी मारे जा सकेंगे। इस विषयपर मत प्रकट करते हुए 'सन्मार्ग'ने बहुत ठीक लिखा है कि 'जब बूढ़े (काम न करने योग्य) पशुओंके लिये यह नियम है तो फिर बूढ़े मनुष्योंके लिये भी यही होना चाहिये; क्योंकि वे भी समाजपर भार ही प्रतीत होते हैं। आजकल 'मानवता'की बड़ी दुहाई दी जाती है। क्या मानवताका यही अर्थ है कि मनुष्य अपने सुखके लिये दूसरे प्राणियोंका विनाश करता रहे? यह कितनी बड़ी स्वार्थपरता है! जब ऐसी सरकारकी ओरसे, जो अहिंसामें विश्वास रखती है, इस तरहकी आज्ञा है, तब और भी आश्चर्य होता है।'

कौन जानता है कि भविष्यमें अनुपयोगी मनुष्यों-के लिये भी कोई ऐसा ही विधान नहीं बनेगा! पर गौका प्रश्न तो धार्मिक है। एक भी गौकी हत्या बहु-संख्यक समाजके चित्तमें खलबली पैदा कर देती है। इस स्थितिमें चौदह वर्षसे अधिक उम्रकी या अनुपयोगी समझी जानेवाली गौको मारनेकी छूट देना सरासर बहुसंख्यक जनसमाजकी धार्मिक भावनापर आघात करना है और जनमतकी प्रत्यक्ष अवहेलना करके जनतन्त्रके नामको उपहासास्पद बनाना है!

इस बिलमें एक बात और बड़ी भयानक है। इसमें धर्मके लिये (Religious), चिकित्सासम्बन्धी (Medicinal) और अन्वेषणसम्बन्धी कार्य (Research purposes) पशुवध करनेकी छूट दी गयी है। इसपर 'अखिल भारतीय गोसेवक-समाजके मन्त्री और भारत-सरकारके द्वारा नियुक्त गोरक्षण और गोसंवर्धन-समितिके

सदस्य श्रीहरदेवसहायजीने निम्नलिखित वक्तव्य दिया है—

'भारत-सरकारने उपयोगी गो-वंश तथा भैंस-वंशके वधको रोकनेके लिये प्रान्तीय सरकारोंको जो ड्राफ्ट बिल भेजा है, उसकी धारा १३ में धार्मिक कार्यके लिये गोवध या पशुवध करनेकी छुट्टी दी गयी है। किसी भी धार्मिककृत्यके लिये गोवध अनिवार्य नहीं है। कितने ही मुसल्मान बादशाहों तथा मुगल-साम्राज्यमें गोवध कतई नहीं होता था। पं० सुन्दरलालजी-जैसे साम्प्रदायिकताके कट्टर विरोधी विद्वान्ने अपनी 'भारतमें अंग्रेजी राज्य' पुस्तकमें औरंगजेब-जैसे धर्मान्ध बादशाहके समय भी गोवध बंद होने तथा अन्तिम मुगल-सम्राट् बहादुरशाहद्वारा अंग्रेजोंके जारी किये हुए गोवधके निषेधकी विशेष आज्ञाका जिक्र किया है। यदि मुसल्मानोंके लिये गोवध आवश्यक होता तो मुसल्मान बादशाह गोवध बंद न करते।

गोवधका आरम्भ हुआ अंग्रेजी राज्यके आरम्भसे। अंग्रेजी राज्यके जानेके साथ-साथ गोवध भी बंद होना चाहिये था, पर हमारी सरकारने इधर ध्यान नहीं दिया। अंग्रेजी सरकारने २४-७-४४ को उपयोगी पशुओंका वध बंद करनेके लिये जो विज्ञप्ति जारी की थी, उसमें भी धार्मिक पशुवधकी छूट नहीं थी। श्रीविनोबा भावे-जी भी धर्मके नामपर गोवध या पशुवध ठीक नहीं समझते। जनताकी माँगपर भारत-सरकारने जो गो-रक्षण तथा गोसंवर्धन-समिति बनायी, उसके अन्तिम सुझावोंमें भी धार्मिक पशुवधका जिक्र नहीं है। यदि धर्मके नामपर पशु-वधकी आज्ञा दे दी गयी तो चमड़े, चर्बी, हड्डी, खूनके व्यापार तथा व्यवहारसे रुपया पैदा करनेवाले लोग इस नियमका अनुचित लाभ उठावेंगे। उपयोगी पशुओंका वध तो जारी रहेगा ही, साम्प्रदायिक झगड़े भी बढ़ेंगे। भारत-सरकारको चाहिये कि धारा १३ को इस कानूनमें न रहने दे। अनुसन्धान तथा चिकित्साके लिये भी उपयोगी पशुओंका वध न हो। जन-तन्त्रमें जनताकी सम्मति प्रधान होती है। जनता गो-वध नहीं चाहती। सरकारको चाहिये था मुसल्मान बादशाहोंकी तरह ही जनताके भावोंको समझकर गो-वधको कतई रोक देती; पर दुःख है कि हमारी सरकारने गोवधको कतई बंद करना तो दूर रहा, उपयोगी पशुओंके वधको रोकनेके लिये भी दो सालकी ढील कर दी। इन दो सालोंमें लाखों उपयोगी पशु मारे गये। देशमें उपयोगी पशुओंकी बहुत कमी है, जिसके कारण दूध-घी नाममात्र रह गया। आवश्यक बैल भी नहीं रहे। केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारोंको चाहिये कि जनताकी धार्मिक-सांस्कृतिक भावना तथा आर्थिक एवं शारीरिक उन्नतिको दृष्टिमें रखते हुए गोवध कतई बंद कर दें। जबतक गोवध कतई बंद न होगा, अनुपयोगी-के नामसे उपयोगी पशुओंका वध होता ही रहेगा।'

इसपर टिप्पणी व्यर्थ है। हमारी सरकारसे प्रार्थना है कि वह अब भी जनमतका आदर करे और गोवध कतई बंद करनेका आदेश दे। जनताको भी चाहिये वह अपनी आवाज सरकारके पास बराबर पहुँचाती रहे।

हिंदू-संस्कृति-अङ्क

आगामी वर्ष 'कल्याण' का 'हिंदू-संस्कृति-अङ्क' प्रकाशित करनेका निश्चय किया गया है। लेख बहुत-से लिखे जा चुके हैं। बाहरसे विद्वानोंके अनेक लेख आये हैं और आ रहे हैं। बहुत-सी उपादेय सामग्री एकत्र की जा रही है। लेखोंकी विषय-सूची नीचे छापी जा रही है। इनमेंसे किसी विषयपर कोई सज्जन चाहें तो लेख भेज सकते हैं; पर लेख प्रकाशित होनेका निश्चय लेख देख लेनेके बाद ही हो सकेगा। लेख बहुत अधिक एकत्र हो गये हैं। एक विषयपर अनेक लेख आ जानेसे तथा अन्यान्य कारणोंसे यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि सब लेख छप ही जायँगे। ऐसी अवस्थामें किसी भी कारणवश लेख न छपें तो लेखक महोदयोंको दुःख नहीं होना चाहिये, यह बात समझकर ही लेख भेजना चाहिये। यह विनीत प्रार्थना है। लेख यथासम्भव छोटा होना चाहिये और सुन्दर स्पष्ट अक्षरोंमें कागजकी एक पीठपर ही लिखा होना चाहिये।

१-संस्कृति क्या है ?
२-संस्कृति और सभ्यतामें अन्तर।
३-धर्म और संस्कृति।
४-हिंदू-संस्कृति और मानव-विकास।
५-हिंदू कौन ?
६-हिंदुत्वका व्यापक स्वरूप।
७-हिंदू-संस्कृतिका मुख्य लक्षण एवं मूल आदर्श।
८-हिंदू-संस्कृतिकी विशेषता।
९-हिंदू-संस्कृतिसे संस्कृत-भाषाका अविच्छेद्य सम्बन्ध।
१०-हिंदू-संस्कृति और सदाचार।
११-हिंदू-संस्कृतिका आदिस्रोत भारत।
१२-हिंदुओंके सांस्कृतिक इतिहासकी रूप-रेखा।
१३-संस्कृतियोंकी आदिजननी हिंदू-संस्कृति।
१४-हिंदू-संस्कृतिकी अन्य संस्कृतियोंसे तुलना।
१५-हिंदू-संस्कृतिका अन्य संस्कृतियोंपर प्रभाव।
१६-हिंदू-संस्कृतिके वर्तमान ह्रासके कारण और उन्हें दूर करनेके उपाय।
१७-हिंदू-संस्कृतिकी रक्षाके साधन।
१८-हिंदू-संस्कृतिके रक्षक।
१९-हिंदू-संस्कृति और बृहत्तर भारतवर्ष।
२०-हिंदू-संस्कृतिकी विश्वको देन।
२१-हिंदुओंका अन्य देशोंपर तथा विदेशियोंका भारतपर आक्रमण और उसका प्रभाव।
२२-विदेशी यात्रियोंद्वारा लिखे गये ग्रन्थोंमें हिंदू-संस्कृतिका वर्णन।
२३-आर्योंके उपनिवेश।
२४-हिंदू-संस्कृतिमें नवयुगकी समस्त वर्तमान समस्याओंका हल।
२५-हिंदू-संस्कृति और विकासवाद।
२६-हिंदू-संस्कृति और बौद्ध-धर्म।
२७-हिंदू-संस्कृति और मार्क्सवाद।
२८-हिंदू-संस्कृति और इस्लाम।
२९-हिंदू-संस्कृति और ईसाई-मत।
३०-हिंदू-संस्कृति और सूफी-मत।
३१-हिंदू-संस्कृति और सिक्ख-सम्प्रदाय।
३२-हिंदू-संस्कृति और पारसी-मत।
३३-हिंदू-संस्कृति और आधुनिक हिंदू नेता।
३४-हिंदू-संस्कृतिपर हिंदुओंद्वारा ही कुठाराघात।
३५-हिंदू-संस्कृतिमें गौका स्थान।
३६-हिंदू-संस्कृतिमें देवतावाद और विभूतिपूजा।
३७- ,, ,, पुनर्जन्मवाद।
३८- ,, ,, ईश्वरवाद।
३९-हिंदू-संस्कृति और परलोकवाद।
४०- ,, ,, आत्मवाद।
४१- ,, ,, अवतारवाद।
४२- ,, ,, मूर्तिपूजा।
४३-हिंदू-संस्कृतिमें नारी-धर्मका उत्कर्ष।
४४- ,, ,, पुरुषका एकपत्नीव्रत।
४५- ,, ,, वीरपूजा।
४६- ,, ,, जातिभेद, वर्णभेद और आश्रमभेदका वैज्ञानिक रहस्य।
४७- ,, ,, स्पृश्यास्पृश्य-विवेक।
४८-हिंदुओंके धार्मिक मेले और उनका सामाजिक जीवनपर प्रभाव।
४९-हिंदू-संस्कृतिमें शारीरिक बल।
५०- ,, ,, तपस्या और मनोबल।
५१- ,, ,, चरित्र-बल और मनोबल।
५२- ,, ,, स्तुति, प्रार्थना, मन्त्रजप, नामस्मरण तथा उपासनाका बल।
५३-उपासनाका तत्त्व और उसके भेद।

५४–भगवद्भक्तिकी महिमा ।
५५–नवधा भक्ति ।
५६–गायत्रीका स्वरूप और महिमा ।
५७–षोडश संस्कार ।
५८–बयालीस संस्कार ।
५९–संस्कारका स्वरूप और महत्त्व ।
६०–यज्ञोपवीत और वैज्ञानिक रहस्य ।
६१–स्त्री और शूद्र वेदके अनधिकारी क्यों ?
६२–धर्मका लक्षण ।
६३–धर्मके सामान्य और विशेष रूप ।
६४–धर्म, सदाचार एवं शौचाचार ।
६५–धर्म-पालनसे अभ्युदय तथा निःश्रेयसकी सिद्धि ।
६६–निःश्रेयस अथवा मोक्षका स्वरूप ।
६७–मोक्षके प्रकार-भेद ।
६८–अभ्युदय तथा निःश्रेयसका परस्पर सम्बन्ध ।
६९–धर्मके त्यागसे हानि ।
७०–स्वधर्मका स्वरूप तथा परधर्म-परिहारकी आवश्यकता ।
७१–धर्म-परिवर्तनके सम्बन्धमें हिंदू-शास्त्रोंका मत ।
७२–एकमात्र परमेश्वर ही सभी मार्गोंके प्रवर्तक हैं—इस मतका आलोचन ।
७३–हिंदू-धर्मका व्यापक रूप ।
७४–हिंदू-धर्ममें अहिंसा ।
७५–हिंदू-धर्ममें जीव-दया तथा दानका महत्त्व ।
७६–हिंदू-धर्मके प्रधान आधार ।
७७–हिंदू-धर्मके भेद ।
७८–हिंदू-संस्कृतिके अनुसार नारीका आदर्श ।
७९–हिंदू-संस्कृतिमें नारीका महत्त्व और आदर ।
८०–आपद्धर्मका रहस्य ।
८१–वर्णधर्म ।
८२–'जन्मना जाति'के सिद्धान्तपर विचार ।
८३–रक्तशुद्धिसे लाभ और रक्तमिश्रणसे हानि ।
८४–वर्णसंकरता लानेवाले दोष और उनसे बचनेके उपाय ।
८५–ब्राह्मणका महत्त्व ।
८६–चारों वर्णोंका परस्पर सम्बन्ध ।
८७–आश्रम-धर्म ।
८८–चारों आश्रमोंका परस्पर सम्बन्ध ।
८९–ब्रह्मचर्य-आश्रमकी विशेषता ।
९०–ब्रह्मचारीके नियम ।
९१–वीर्यरक्षण ही जीवन है ।
९२–गुरु-सेवाका महत्त्व ।
९३–सन्ध्यावन्दन, गायत्री-जप तथा ब्रह्मयज्ञ आदि ।
९४–प्राणायाम ।
९५–ब्रह्मचिन्तनकी महिमा ।
९६–विवाहका आदर्श (पति-पत्नी-सम्बन्ध-विचार)
९७–विवाहके शास्त्रसम्मत रूप ।
९८–हिंदू-संस्कृतिके अनुसार गृहस्थ-जीवनका स्वरूप और आदर्श ।
९९–सामाजिक जीवनमें गृहस्थका महत्त्व ।
१००–भोग तथा त्यागका परस्पर समन्वय ।
१०१–भोग और उपभोगमें भेद ।
१०२–वैध और निषिद्ध भोग ।
१०३–त्यागका स्वरूप ।
१०४–वानप्रस्थका स्वरूप और महत्त्व ।
१०५–संन्यास-आश्रमका स्वरूप और संन्यास-ग्रहणकी योग्यता ।
१०६–संन्यास और संन्यासियोंके भेद ।
१०७–संन्यासीके नियम ।
१०८–संन्यास-आश्रमकी श्रेष्ठताका कारण ।
१०९–मठोंका स्वरूप कैसा हो ?
११०–हिंदू-संस्कृति और विविध सम्प्रदाय, पन्थ ।
१११–कुछ महत्त्वपूर्ण धार्मिक मत ।
११२–हिंदू-ज्योतिर्विज्ञान ।
११३–अङ्कविद्याका मूल स्रोत भारत ।
११४–अरब, ग्रीस आदि देशोंमें भारतसे किन-किन तत्त्वोंका प्रचार हुआ ।
११५–फलित ज्योतिषका वैज्ञानिक रहस्य तथा उसका धारावाहिक इतिहास ।
११६–फलित ज्योतिषके कुछ प्रत्यक्ष दृष्ट चमत्कार ।
११७–पर, परार्ध, कल्प, मन्वन्तर और युग आदि कालमान ।
११८–आयुर्वेदीय चिकित्सा-प्रणालीकी श्रेष्ठता ।
११९–आयुर्वेदके आठों अङ्गोंका सविशेष वर्णन ।
१२०–रासायनिक ज्ञानमें हिंदू-भारतकी देन ।
१२१–भौतिक ज्ञानमें भारतकी देन ।
१२२–प्राचीन भारतकी अस्थिविद्या तथा शल्यतन्त्र (सर्जरी) का विवरण ।
१२३–मन्त्र-प्रयोग एवं झाड़-फूँकके द्वारा चिकित्सा ।
१२४–टोने और टोटके ।
१२५–पशु-चिकित्सा तथा वनस्पति-चिकित्सा ।

१२६–रस-चिकित्साका वर्णन ।
१२७–हिंदुओंका रत्नविज्ञान ।
१२८–हिंदुओंका सूक्ष्म-जगत्‌विषयक ज्ञान ।
१२९–चतुर्दश भुवनात्मक ब्रह्माण्डका परिचय ।
१३०–नरकोंके भेद और स्थान ।
१३१–प्रेत-तत्त्व ।
१३२–मेरु-तत्त्व ।
१३३–सात समुद्रों, सात द्वीपों तथा उनके वर्षोंका वर्णन ।
१३४–वैदिक भूगोल ।
१३५–भारतवर्षका भूगोल और उसकी अखण्डता ।
१३६–भारत हिंदुओंका और हिंदू भारतके ।
१३७–मरणोत्तर गतिका भेद ।
१३८–हिंदुओंमें मृत्यु-समयके उपचार तथा और्ध्वदैहिक कृत्य ।
१३९–सम्पूर्ण भूतोंकी तृप्ति एवं हितके लिये चेष्टा ही मानव-जीवनका लक्ष्य ।
१४०–पञ्च महायज्ञ ।
१४१–देवतत्त्व तथा देवलोकका विचार ।
१४२–देवता, ऋषि, मनु एवं मनुपुत्र आदिका स्वरूप तथा परस्पर सम्बन्ध ।
१४३–पितरोंका वर्णन ।
१४४–यम, यमलोक एवं पितृलोक ।
१४५–यज्ञ एवं श्राद्ध आदिसे देवताओं तथा पितरोंकी तृप्तिका रहस्य ।
१४६–श्राद्धकी महत्ता ।
१४७–श्राद्धके विषयमें जानने योग्य कुछ आवश्यक बातें ।
१४८–ऋषितत्त्व तथा ऋषियोंके प्रकार-भेद ।
१४९–ऋषियोंसे जगद्‌व्यापारका सम्बन्ध ।
१५०–ज्ञानसंरक्षण तथा ज्ञानसंतान-वितानमें ऋषियोंका सहयोग ।
१५१–स्वाध्याय-यज्ञसे ऋषियोंकी संतुष्टि ।
१५२–ऋषि, मुनि, योगी और यतिमें भेद ।
१५३–कुण्डलिनी-रहस्य ।
१५४–तीर्थका स्वरूप और महिमा ।
१५५–ऊर्ध्व भुवनोंसे जगत्-कल्याणके लिये तीर्थोंका अवतरण ।
१५६–तीर्थकृत्य ।
१५७–भारतके प्रमुख तीर्थ और उनका आध्यात्मिक स्वरूप ।
१५८–विविध सर्ग ।
१५९–कर्म-विज्ञान ।
१६०–कर्म, अकर्म और विकर्म ।
१६१–सकाम तथा निष्काम कर्म ।
१६२–कर्मनाशके उपाय ।
१६३–यज्ञार्थ कर्म एवं भगवदर्पण कर्म ।
१६४–शुद्ध कर्तृत्वका स्वरूप ।
१६५–हिंदू-संस्कृति और कर्मकाण्ड ।
१६६–हिंदू-संस्कृति और शुद्धि ।
१६७–जीवन्मुक्तकी दृष्टि ।
१६८–देवयान और पितृयान ।
१६९–देहतत्त्व ।
१७०–ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्—इन तीनोंमें अन्तर एवं सम्बन्ध ।
१७१–परमार्थस्वरूप अज्ञेय अथवा अप्राप्य नहीं ।
१७२–एकमात्र योग ही परमार्थ-प्राप्तिका उपाय (कर्म, ज्ञान आदिका योगमें ही अन्तर्भाव) ।
१७३–माया, योगमाया आदिका रहस्य एवं स्वरूपभेद ।
१७४–धाम-तत्त्व ।
१७५–नाम, रूप, लीला और धामकी महत्ता ।
१७६–नित्यलीला-रहस्य ।
१७७–अर्थका उपार्जन और संरक्षण ।
१७८–आय-व्ययका समुचित आदर्श ।
१७९–धनका सदुपयोग ।
१८०–प्राचीन कालकी हिंदू-आर्थिक व्यवस्था ।
१८१–हिंदू-संस्कृतिमें काम-तत्त्व एवं कामविज्ञानका रहस्य ।
१८२–हिंदू-संस्कृति और वैदिक साहित्य ।
१८३– ,, ,, स्मृतियाँ ।
१८४– ,, ,, रामायण ।
१८५– ,, ,, महाभारत ।
१८६– ,, ,, तन्त्र ।
१८७–हिंदू-दर्शन ।
१८८–नास्तिक-दर्शन ।
१८९–संस्कृतिके साथ साहित्यका सम्बन्ध ।
१९०–हिंदू-संस्कृतिका सर्वश्रेष्ठ तत्त्व ।
१९१–पुराणोंमें हिंदू-संस्कृतिकी गति ।
१९२–हिंदूधर्म-शास्त्रका इतिहास ।
१९३–मध्ययुगके भक्त कवि ।
१९४–मध्ययुगके संत-साहित्यका हिंदू-संस्कृतिकी रक्षामें सहयोग ।
१९५–हिंदू-सामाजिक व्यवस्था ।
१९६–हिंदू-समाजका लक्ष्य और आदर्श ।
१९७–प्राचीन भारतके सामाजिक जीवनमें स्त्रियोंका स्थान ।
१९८–हिंदुओंका सामाजिक रहन-सहन, रीति-रिवाज ।

१९९–हिंदुओंके व्रत, उत्सव, पर्व और त्यौहार ।
२००–हिंदुओंकी वेष-भूषा ।
२०१–समाज-शासनके दोष-गुण ।
२०२–पतितका स्वरूप और पतितत्वकी निवृत्तिके उपाय ।
२०३–व्रत, नियम और उपवास आदिके भेद एवं उद्देश्य ।
२०४–हिंदू-समाजकी कुछ आधुनिक समस्याएँ और उनका हल ।
२०५–सामाजिक कुरीतियाँ और उनके निवारणका उपाय ।
२०६–हिंदू-समाजके इष्ट और आपूर्त कर्म ।
२०७–हिंदू-संस्कृतिके प्रतीक (चिह्न) कमल, स्वस्तिक, त्रिशूल, चक्र, वृषभ आदिका महत्त्व ।
२०८–अश्वत्थ, तुलसी और आमलकी आदिका महत्त्व ।
२०९–हिंदू-संस्कृतिके अनुसार सृष्टि और प्रलय ।
२१०–हिंदू-संस्कृतिमें ह्रासवाद या विकृतिवाद ।
२११–भारतीय मनोविज्ञान ।
२१२–भारतीय आदर्शके साथ नवीन आदर्शका भेद ।
२१३–आहार-शुद्धि ।
२१४–सात्त्विक एवं परिमित आहारसे लाभ ।
२१५–धनुर्वेद ।
२१६–हिंदू-राष्ट्रके लिये क्षात्र-बलकी परमावश्यकता ।
२१७–आदर्श युद्धके नियम और उनका पालन ।
२१८–वीर-धर्म ।
२१९–सेनापति एवं सैनिकोंके कर्तव्य ।
२२०–हमारे प्राचीन शस्त्रास्त्र ।
२२१–कलाके स्वरूपका विवेचन ।
२२२–भारतीय जीवनमें कलाका स्थान ।
२२३–भारतीय स्थापत्य-कलाके सिद्धान्त ।
२२४–भारतीय मूर्तिकला ।
२२५–मन्दिर-निर्माणकी रीतिमें भेद और उसकी तात्त्विक आलोचना ।
२२६–भारतके प्रसिद्ध मन्दिरोंका शिल्प-दृष्टिसे आलोचन ।
२२७–गुफाओंके मन्दिर ।
२२८–वास्तु-विद्या ।
२२९–प्राचीन भारतका नगर-संनिवेश ।
२३०–प्राचीन भारतीय चित्रकला }
२३१–मुगल चित्रकला } इनका विवेचन ।
२३२–राजपूत-चित्रकला }
२३३–गन्धर्ववेद ।
२३४–भारतीय नृत्यकला और संगीतका सांस्कृतिक पहलू ।
२३५–संगीतका अध्यात्म और कला-पक्ष ।
२३६–भारतीय संस्कृतिमें संगीतका स्थान ।
२३७–नाट्य-कलाकी उत्पत्ति तथा विकास ।
२३८–राग और रागिनियाँ ।
२३९–भारतके प्राचीन वाद्य ।
२४०–गीत, वाद्य और नृत्यका सम्बन्ध ।
२४१–भारतीय काव्य-कला ।
२४२–भाषा और संस्कृति ।
२४३–संस्कृतकी महत्ता ।
२४४–हिंदी और अन्य प्रदेशज भाषाएँ ।
२४५–संस्कृत-व्याकरणकी श्रेष्ठता ।
२४६–हिंदू-वर्णसमाम्नाय एवं नागरी लिपिकी वैज्ञानिकता तथा तान्त्रिक दृष्टिसे उसका महत्त्व ।
२४७–हिंदू-संस्कृति और पुरातत्त्व ।
२४८–भारतीय शिक्षाका आदर्श ।
२४९–भारतीय शिक्षा-पद्धति तथा शिक्षणके अधिकारी ।
२५०–प्राचीन शिक्षा-संस्थाएँ ।
२५१–वर्तमान शिक्षा-पद्धतिके दोष-गुण ।
२५२–गुरु-शिष्य-सम्बन्ध ।
२५३–स्त्री-शिक्षा ।
२५४–हिंदू-संस्कृतिके अनुसार पाठ्य-विषय ।
२५५–हिंदू-समाजकी प्राचीन नगर-प्रबन्ध-समिति (म्युनिसिपैलिटी) ।
२५६–मनोरञ्जनके प्राचीन साधन और आधुनिक साधनोंके साथ उनकी तुलना ।
२५७–हिंदू-समाजकी प्राचीन शासन-व्यवस्था ।
२५८–हिंदू-राजनीति ।
२५९–प्राचीन हिंदू-गणराज्य ।
२६०–हिंदू राजाके लक्षण और कर्तव्य ।
२६१–रामराज्य ।
२६२–आधुनिक भारतमें उद्योगीकरण और प्राचीन सांस्कृतिक परम्पराका समन्वय ।
२६३–ऋषि, आर्य तथा म्लेच्छका स्वरूप ।
२६४–विधर्मियों तथा अनार्योंके साथ हिंदुओंका कैसा सम्बन्ध होना चाहिये ?
२६५–पाश्चात्त्योंके अनुकरणसे हानि ।
२६६–बढ़ती हुई जीवहिंसा और उसे रोकनेके उपाय ।
२६७–यातायातके वर्तमान साधन कहाँतक शास्त्रसम्मत हैं ?
२६८–चौसठ कलाएँ ।
२६९–हिंदू-संस्कृतिकी फुटकर बातें ।
२७०–प्राचीन भारतीय भूगोल ।

'कल्याण'का 'हिंदू-संस्कृति-अङ्क'

चित्र तथा लेखोंकी पृष्ठ-संख्या बहुत अधिक होगी।

वार्षिक मूल्य केवल ७॥) रक्खा गया है।

आगामी वर्ष जनवरीमें हिंदू-संस्कृति-अङ्क' प्रकाशित करनेका निश्चय किया गया है। इस अङ्कमें बहुत ही अधिक उपयोगी सामग्री रहेगी। हिंदू-संस्कृतिके विविध विषयोंपर देशके गण्य मान्य बड़े-बड़े महात्मा, संत और परम आदरणीय विद्वानोंके सैकड़ों लेख रहेंगे। हिंदू-संस्कृतिके प्रधान केन्द्र काशी, अयोध्या, मथुरा, हरद्वार, द्वारका, रामेश्वर, बद्रीनाथ, श्रीजगन्नाथपुरी, अवन्तिकापुरी आदि तीर्थोंके तथा हिंदू-संस्कृतिके आदर्श पुरुष भगवान् श्रीराम, श्रीकृष्ण, वैदिक ऋषि, देवता, भीष्म, युधिष्ठिर, अर्जुन, व्यास, वशिष्ठ, बुद्ध, महावीर, श्रीशङ्कराचार्य, रामानुजाचार्य, वल्लभाचार्य, निम्बार्काचार्य, श्रीचैतन्य महाप्रभु, महाराज पृथ्वीराज, छत्रपति शिवाजी, महाराणा प्रताप आदि हिंदू-संस्कृतिके निर्माणकर्ता, संरक्षक तथा सेवक, सैकड़ों आदर्श महात्माओं, त्यागी संतों, ऋषि-महर्षियों, आचार्यों, वीरों तथा वीराङ्गनाओंके आदर्श चरित्र-चित्र रहेंगे। यह अङ्क अत्यन्त सुन्दर, सुपाठ्य और हिंदू-संस्कृतिकी श्रेष्ठताका प्रतिपादक होगा। विषय-सूची अन्यत्र छपी है। उससे पता लग सकता है, इसमें किन-किन विषयोंपर विचार किये जानेकी संभावना है।

इतने उपयोगी विषयोंपर लेख तथा चित्रादि प्रकाशित करनेके लिये विशेषाङ्कके पृष्ठ बढ़ाने पड़ेंगे। 'नारी-अङ्क'में और 'उपनिषद्-अङ्क'में जहाँ सब मिलाकर लगभग ८०० पृष्ठ थे, वहाँ इसमें लगभग ९००से अधिक पृष्ठ रहेंगे। चित्रोंकी पृष्ठ-संख्या भी बहुत अधिक होगी। और चित्र भी बढ़िया होनेके कारण आर्टपेपर या अन्य चिकने बढ़िया कागजोंपर छपेंगे। कर्मचारियोंके वेतनमें भी पर्याप्त वृद्धि हुई है, रजिस्ट्रीका डाकव्यय ≈) की जगह ।) हो गया है, पृष्ठ बढ़नेसे साधारण डाकव्यय भी बढ़ जायगा। इसके अतिरिक्त नारी-अंकसे कागजोंका मूल्य लगभग =)॥ प्रति पाउंड बढ़ गया है—सवायेसे अधिक हो गया है। पाठकोंको यह जानना चाहिये कि इस वर्ष लगभग ८००००० (आठ लाख) पाउंड कागज (चित्रोंको छोड़कर) लगनेकी सम्भावना है। इन सब कारणोंसे व्यय प्रायः ड्योढ़ेसे अधिक बढ़ गया है। इसलिये हमारी इच्छा न होनेपर बाध्य होकर 'कल्याण'के वार्षिक मूल्यमें १।~) बढ़ाकर ७॥) कर दिया गया है अर्थात् सवायेसे भी कम किया गया है। इतनेपर भी बहुत घाटा रहेगा, जो सदाकी भाँति कल्याण-कार्यालय सहन करेगा। हमारे पास ग्राहकोंके ऐसे कई पत्र आये थे, जिनमें 'हिंदू-संस्कृति' विशेषाङ्कके पृष्ठ बढ़ानेके लिये सम्मति दी और दाम १०) तक करनेका अनुरोध किया गया था। आशा है कि उपर्युक्त व्यवस्थासे सभी ग्राहकोंको संतोष होगा।

गत वर्ष और इस वर्ष बीसों हजार ग्राहकोंको विशेषाङ्क नहीं मिले। इस बार 'हिंदू-संस्कृति-अङ्क'के लिये तो अभीसे बड़ी माँग है। अतएव ग्राहकोंको चाहिये कि जल्दी रुपये भेजकर ग्राहक बन जायँ।

व्यवस्थापक—'कल्याण' गोरखपुर

भगवान्का स्वभाव
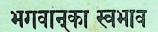
[स्वयं श्रीभगवान् रामकी घोषणा]

सत्य कहौं मेरो सहज सुभाउ ।
सुनहु सखा कपिपति लंकापति तुम्ह सन कौन दुराउ ॥ १ ॥
सब बिधि हीन-दीन, अति जड़मति, जाको कतहुँ न ठाउँ ।
आयो सरन भजौं, न तजौं तिहि, यह जानत रिषिराउ ॥ २ ॥
जिन्हके हौं हित सब प्रकार चित, नाहिन और उपाउ ।
तिन्हहिं लागि धरि देह करौं सब, डरौं न सुजस नसाउ ॥ ३ ॥
पुनि पुनि भुजा उठाइ कहत हौं, सकल सभा पतिआउ ।
नहिं कोऊ प्रिय मोहि दास सम, कपट-प्रीति बहि जाउ ॥ ४ ॥
सुनि रघुपतिके बचन बिभीषन प्रेम-मगन, मन चाउ ।
तुलसिदास तजि आस-त्रास सब ऐसे प्रभु कहँ गाउ ॥ ५ ॥

(गीतावली)

वर्ष २३]   [अङ्क १

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम । जय रघुनन्दन जय सियाराम ॥
रघुपति राघव राजा राम । पतितपावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा । जय गणेश जय शुभ-आगारा ॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर आश्विन, सितम्बर सन् १९४२ की

चित्र-सूची

तिरंगा

वार्षिक मूल्य भारतमें ६≡) विदेशमें ८॥=) (१३ शिलिङ्ग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत् चित् आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति भारतमें ।=) विदेशमें ॥-) (१० पेंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

चौबीसवें वर्षके 'कल्याण'का विशेषाङ्क

हिंदू-संस्कृति-अङ्क

प्रेमी ग्राहकों और पाठकोंसे प्रार्थना

'हिंदू-संस्कृति-अङ्क'की बहुत पुरानी माँग है। कई वर्षोंसे विचार भी चल रहा था; परंतु विषयकी अत्यन्त व्यापकताको देखकर साहस नहीं होता था। वस्तुतः यह विषय एक 'विशेषाङ्क'का है भी नहीं। पर अन्तमें ग्राहकोंके विशेष अनुरोधसे अगले वर्षके लिये 'हिंदू-संस्कृति-अङ्क' निकालना निश्चय हो गया। विषय-सूची बनायी गयी तो लगभग एक हजार विषय आ गये। संक्षेप करते-करते २७० विषय रहे। ये विषय भी इतने व्यापक हैं कि इनमेंसे कई विषयोंपर पृथक्-पृथक् विशेषाङ्क निकल सकते हैं। इस विशेषाङ्कमें इन विषयोंमेंसे अधिकांशपर न्यूनाधिकरूपसे विचार किया जायगा।

इस अङ्कमें विविध वैदिक सूक्तोंके सुन्दर, सरल पद्यानुवाद-गद्यानुवाद रहेंगे। महाभारत, भागवत, रामायण आदिकी चुनी हुई सूक्तियाँ सानुवाद रहेंगी। हिंदू-संस्कृति, संस्कृतिका स्वरूप तथा आचार, संस्कृति और धर्म, संस्कार, ज्ञान, भक्ति, योग, कर्म, अवतार, पुनर्जन्म, परलोकवाद, भूगोल, इतिहास, राजनीति, वर्णाश्रम, धर्म, ज्योतिष, आयुर्वेद, शस्त्रास्त्र-विज्ञान, विविध विज्ञान, अङ्कगणित, मूर्तिकला, स्थापत्यकला, चित्रकला, गन्धर्व-विद्या, मनोविज्ञान, काव्य, व्याकरण, शिक्षा, शासनव्यवस्था, रामराज्य, चौंसठ कला आदि-आदि अनेकों उपयोगी विषयोंपर सुन्दर, सुविचार युक्त, खोजपूर्ण लेख रहेंगे। सुन्दर सुबोध सद्भावपूर्ण कविताएँ और कहानियाँ भी रहेंगी। इस अङ्कके लिये बहुत ही मननके साथ लेख लिखे-लिखवाये गये हैं। बड़े-बड़े मनीषियोंने सहायता दी है।

लेखोंके अतिरिक्त भगवदवतारोंके, प्राचीन तथा अर्वाचीन महापुरुषों, महात्माओं, संतों, वीरों, देवियों और विद्वानोंके सुन्दर सुपाठ्य चरित्र और सुन्दर रंगीन तथा सादे चित्र भी रहेंगे। इसके सिवा प्राचीन कलाओंके, प्रायः सभी प्रसिद्ध हिंदू-तीर्थोंके, शास्त्रीय देव-मूर्तियोंके विदेशोंमें प्राप्त हिंदूकला तथा मूर्तियोंके चित्र रहेंगे। भूगोलके मानचित्र भी होंगे। कहना अत्युक्ति नहीं होगा कि हिंदू-संस्कृतिके सम्बन्धमें विविध विषयोंकी इतनी बहुमूल्य सामग्री एक स्थानपर हिंदीसाहित्यमें इतने सस्ते मूल्यपर इसी अङ्कमें मिल सकेंगी। अङ्क सब प्रकारसे उपादेय, सुन्दर, विचारपूर्ण, संग्रहणीय तथा प्रचार-प्रसारके योग्य होगा एवं गम्भीर तथा सरल दोनों प्रकारकी सामग्री होनेके कारण सभी श्रेणीके लोगोंके कामका होगा।

'हिंदू-संस्कृति-अङ्क'की पृष्ठ-संख्या चित्रोंसमेत लगभग ११०० होगी। इस सालके उपनिषद्-अङ्क-की पृष्ठ-संख्या लगभग ८०० थी। इस हिसाबसे विशेषाङ्कमें ३०० पृष्ठ बढ़ जाते हैं। इतनी तो सामग्री अधिक है। इसके अतिरिक्त बहुतसे चित्र भी सुन्दरता तथा टिकाऊपनके खयालसे उत्तम आर्ट पेपरपर छापे जायँगे। आर्ट पेपरका मूल्य बहुत अधिक है। फिर, छपाईके कागजोंके दाम भी पिछले दो सालसे अब बहुत बढ़ गये हैं। प्रेस-कर्मचारियोंका वेतन तथा अन्यान्य खर्च भी बहुत बढ़ा है। इतना सब होनेपर भी डाकखर्चसमेत 'कल्याण'का वार्षिक मूल्य ७॥) ही रक्खा गया है। इसमें ।) तो रजिस्ट्रीके चले जायँगे और वजन बढ़ जानेसे स्टाम्प अधिक लगेंगे सो अलग। ७॥) में ही हिंदू-संस्कृति-अङ्क तथा ग्यारह महीनोंके ग्यारह साधारण अङ्क सदाकी भाँति मिलेंगे। इस दृष्टिसे यह अङ्क बहुत सस्ता रहेगा।

गत वर्ष 'नारी-अङ्क' और इस वर्ष 'उपनिषद्-अङ्क' के लिये बीसों हजार ग्राहकोंको निराश रहना पड़ा। इस वर्ष हजारों पुराने ग्राहकोंको वी० पी० नहीं भेजी जा सकी। जिनके रुपये पहले आ गये थे, उनको भेजनेमें ही अङ्क समाप्त हो गये। इस बार तो 'हिंदू-संस्कृति-अङ्क'की माँग बहुत पहलेसे आने लगी है। इसलिये सम्भव है कि अङ्क निकलनेके बाद वह बहुत जल्दी ही समाप्त हो जाय। जो सज्जन मनीआर्डरसे रुपये भेजकर पहले ग्राहक बन जायँगे, उनको विशेषाङ्क अवश्य मिल जायगा।

अतएव 'हिंदू-संस्कृति-अङ्क' चाहनेवाले पुराने तथा नये ग्राहकोंको वार्षिक मूल्य ७॥) मनीआर्डरसे तुरंत भेजनेकी कृपा करनी चाहिये।

'हिंदू-संस्कृति-अङ्क'की बहुत-सी सामग्री प्रेसमें भेज दी गयी है। परंतु ११०० पृष्ठकी सवा लाख प्रतियाँ छापनेमें बहुत समय लगेगा। अतएव विशेषाङ्क जनवरीके अन्ततक प्रकाशित हो सकेगा। मनी-आर्डर फार्म इस अङ्कके साथ सेवामें जा रहा है। मनीआर्डर-कूपनमें अपना नाम, पता तथा ग्राहक-नम्बर साफ-साफ अक्षरोंमें लिखना चाहिये। नये ग्राहक हों तो 'नया ग्राहक' अवश्य लिखना चाहिये।

वितरणार्थ 'हिंदू-संस्कृति-अङ्क' खरीदनेवालोंसे निवेदन

हमारे पास ऐसे पत्र आये हैं जिनमें वितरणके लिये 'हिंदू-संस्कृति-अङ्क'की माँग है। अतः हमारी प्रार्थना है कि जिन महानुभावोंको वितरणके लिये जितने अङ्क चाहिये, वे तुरंत रुपये भेजकर अभीसे अङ्कोंकी संख्या नोट करवा देनेकी कृपा करें। संख्याका ठीक पता होनेपर उतने अङ्क अधिक छापनेका प्रयत्न किया जायगा। ऐसा न होगा तो पीछे वितरणके लिये अङ्क मिलने कठिन हो जायँगे। प्रचारकी दृष्टिसे केवल 'हिंदू-संस्कृति-अङ्क' खरीदनेवाले ऐसे सज्जनोंकी सुविधाके लिये इस एक अङ्कका मूल्य ६॥) रक्खा गया है।

नयी पुस्तकें ! **गीताप्रेस-चित्रावली** प्रकाशित हो गयीं !

भगवान् श्रीकृष्ण, श्रीराम, श्रीशिव, श्रीविष्णु, श्रीलक्ष्मी, श्रीदुर्गा आदिके भव्य दर्शन

साइज १५×२०, नं० १, २ और ३

ये तीनों अलग-अलग चित्रावली हैं। प्रत्येकमें १५×२० साइजके बढ़िया आर्टपेपरपर छपे हुए २-२ सुनहरे तथा ८-८ बहुरंगे सुन्दर चुने हुए चित्र छापकर उनपर अलग-अलग मोटे कागजपर छपे हुए टाइटल लगाये गये हैं।

प्रत्येक चित्रावलीका दाम २॥।), डाकखर्च ॥।), कुल ३॥), दोका ६॥=), तीनका ९॥।) डाकखर्चसहित।

साइज १०×७॥, नं० १ और २

इनमें प्रत्येकमें २-२ सुनहरे तथा १८-१८ बहुरंगे चित्र हैं। दाम प्रत्येकका १।-), डाकखर्च ॥), कुल १॥।-), दोका ३।) डाकखर्चसहित।

विक्रेताओंको कमीशन दिया जायगा। पेशगीसहित आर्डर भेजनेकी कृपा करेंगे।

गीताप्रेस—चित्रावलि-विक्रय-विभाग,
पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

वेणुवादनशीलाय गोपालायाहिमर्दिने । कालिन्दीकूललीलाय लोलकुण्डलधारिणे ॥
वल्लवीनयनाम्भोजमालिने नृत्यशालिने । नमः प्रणतपालाय श्रीकृष्णाय नमो नमः ॥

वर्ष २३ } गोरखपुर, सौर आश्विन २००६, सितम्बर १९४९ { संख्या ९
पूर्ण संख्या २७४

सीताकी खोजमें

राघव जनकनन्दिनिहिं हेरत ।
पंचवटी द्रुम-पुंज कुंज प्रति इत उत चितवत टेरत ॥
डगमग चरन, बदन विह्वल अति, झरत जुगल दृग नीर ।
अनुगत अनुज उदास अनवसर मौन महामति धीर ॥
नर-लीला अनुहरत परम प्रभु, समरथ त्रिभुवन-भूप ।
सोक, मोह, मद, मार मिटैं सुनि धरि हिय यह सुचि रूप ॥

—सुदर्शन

याद रक्खो—जगत्में छोटे-बड़े, नीचे-ऊँचे, अधम-उत्तम जितने भी जड-चेतन प्राणी हैं, सबमें भगवान् भरे हैं, सभी भगवान्से ओतप्रोत हैं। उनकी आकृति-प्रकृतिमें, खान-पानमें, व्यवहार-बर्तावमें चाहे जितना भेद हो, पर उन सबके अंदर नित्य समभावसे विराजमान भगवान्में तनिक भी भेद नहीं है।

याद रक्खो—जो मनुष्य इन सर्वस्वरूप, सर्वव्यापी, सर्वात्मा भगवान्की ओर देखता हुआ जगत्में व्यवहार करता है, उसके व्यवहारमें यथायोग्य व्यावहारिक विषमता रहनेपर भी मनमें कोई विषमता नहीं रहती। वह समतामें स्थित होकर वैसे ही विषम व्यवहार करता है, जैसे मनुष्य आत्मरूपसे सर्वत्र समान देखता हुआ भी अपने ही हाथसे दूसरे प्रकारका व्यवहार करता है और पैरसे दूसरे प्रकारका। पर उसके मनमें हाथ या पैर किसीके प्रति राग-द्वेष नहीं है। दोनोंमें ही समान आत्म-बुद्धि है। इसलिये व्यवहार कैसा भी हो, उससे जान-बूझकर न हाथका अपमान-अहित होता है, और न पैरका ही। इसी प्रकार उस मनुष्यके द्वारा किसीका अपमान या अहित नहीं होता।

याद रक्खो—जो मनुष्य मनमें विषमता रखता है, अनेक प्रकारसे भेद-बुद्धि रखता है, पर बाहर सबको समान बताकर सबके साथ समान बर्ताव करना चाहता है, उसका यह साम्यभाव कभी सफल नहीं होता। क्योंकि भिन्न-भिन्न स्वभावोंके विभिन्न प्रकारके प्राणियोंसे सभी प्रसङ्गोंमें समताका व्यवहार सम्भव ही नहीं है। बुद्धिमान् तथा श्रेष्ठ विचारवाले पुरुषोंके प्रति जितने आदरका व्यवहार होगा, उतना मूर्ख और नीच विचार-वाले पुरुषोंके साथ नहीं होगा। कुत्ते, गाय और हाथी-के साथ किसी भी क्षेत्रमें एक-सा व्यवहार सम्भव नहीं। साँप-बिच्छूके साथ वैसा व्यवहार तुम नहीं कर सकते, जैसा गाय-बकरीके साथ करते हो। परंतु व्यवहारमें विषमता रखते हुए भी तुम आत्मरूपसे सबमें समान भाव रख सकते हो। भगवत्-रूपसे मन-ही-मन सबको पूजनीय मानते हुए उनका सत्कार कर सकते हो।

याद रक्खो—भीतरकी समता ही सच्ची समता है, क्योंकि उसके प्राप्त होनेपर राग-द्वेषका, अपने-परायेका सर्वथा अभाव हो जाता है। फिर सभीमें समभावसे भगवद्बुद्धि रहती है, सभीके प्रति समान भावसे श्रद्धा-पूर्वक सेवाका आचरण होता है। किसीका बुरा करनेकी बात मनमें कभी आ ही नहीं सकती। कहीं किसीसे कोई हानि हो भी जाती है, तो भी मनमें वैसे ही उसपर क्रोध नहीं होता, जैसे दाँतोंसे जीभ कट जानेपर दाँतों-पर क्रोध नहीं होता।

याद रक्खो—भगवान्में स्थित रहकर अथवा सर्वात्मारूपसे विराजमान भगवान्की ओर देखता हुआ जो जगत्में व्यवहार करता है, उसका प्रत्येक कर्म भगवान्की पूजा होता है। वही यथार्थमें सर्वरूपोंमें विराजमान भगवान्का सर्वत्र पूजन कर सकता है। किसी भी देश, किसी भी काल और किसी भी पात्रमें उसके भगवान् उसकी आँखोंसे कभी ओझल नहीं होते, वह सर्वत्र उनको देख-देखकर श्रद्धावनत मस्तकसे प्रणाम करता है और उनकी विचित्र स्वरूपाकृतियाँ और भाव-भङ्गिमाओंको देख-देखकर मुग्ध होता रहता है। तुम यदि इस प्रकार सर्वत्र भगवान्को देख सको तो तुम्हारा भी विषम व्यवहार समरूप भगवान्की समरूप पूजामें परिणत हो जायगा।

याद रक्खो—जगत्में विषमता कभी मिट नहीं सकती। जगत् भगवान्का लीलाक्षेत्र है। लीलामें समता हो जाय तो लीला ही न रहे। जगत्में यदि प्रकृति साम्यभावको प्राप्त हो जाय तो जगत् ही न रहे। अतएव भगवान्की लीलाके लिये चित्र-विचित्र विभिन्न

भावों, गुणों, आकृतियों और क्रियाओंकी आवश्यकता है। पर इन सारे भावों, गुणों, आकृतियों और क्रियाओंमें सर्वत्र समभावसे भगवान् भरपूर हैं। जो इन भरपूर भगवान्को देखकर, पहचानकर जगत्में व्यवहार करता है, उसमें जगत्की दृष्टिसे व्यावहारिक यथायोग्य विषमता रहते हुए ही उसका व्यवहार वस्तुतः समत्वपूर्ण होता है। वही सच्चा साम्यवादी है जिसका बाह्य विषम व्यवहार आभ्यन्तरिक समतासे उत्पन्न और समतासे युक्त है। पर जो केवल बाहरसे सम व्यवहारका प्रयत्न करता है, अंदर विषमता रखता है वह तो समताका रहस्य ही नहीं समझता। ऐसे विषमतासे उत्पन्न और विषमतासे युक्त साम्यवादसे सदा दूर रहो।

'शिव'

प्रोत्साहन

(रचयिता—श्रीरूपनारायणजी चतुर्वेदी)

कर्म-रवि की दिव्य रेखा जाग जा उन्माद खोकर।
ज्ञान-दृग से हेर अग जग जग चुकी सब सृष्टि सोकर॥
कौन हम, जीवन मरण क्या, जीव तो आनन्दमय है।
कौन रचता पालता भव, हाथ में किस के प्रलय है॥

कौन भरता फूल में मधु, शूल में मीठी कसक है।
नेह निधि काले मधुप के मन बसी किस की चसक है॥
कर न शंका, भूल जा जिज्ञासु अपनी प्रश्न-माला।
स्रोत जीवन बह रहा पर सामने गिरि-शृंग-माला॥

पथ कठिन कंटक बिछे हैं पास थोड़ा समय तेरे।
साहसी भव-भीति क्या भुवनेश तो हैं साथ तेरे॥
क्या कहा सुख-नींद सो लूँ एक क्षण इस गोद में भी।
सोच ले कितनी व्यथा बैठी छिपी इस मोद में भी॥

हाथ धो ले बह रही गंगा न कल की आस तू कर।
कर क्रमण जो सामने भू, क्या करे नभ फूल छू कर॥
कर्म थल में सफल जीवन के मधुर फल तू उगा दे।
तू उनींदे देश-उर में ज्योति जीवन की जगा दे॥

हाथ में ले शम्भु शृंगी फूँक दे रण-रंग-भेरी।
सोचने का क्या समय जब जय बनी बिनमोल चेरी॥
सारथी कर बाग ढीली चल दिया मैं वायु-रथ में।
शक्ति दे सर्वेश विचलित हूँ न मैं निज कर्म-पथ में॥

है रमा जो रोम में निधि नेह का सुख-रूप प्यारा।
माधुरी मुसकान जिस की है युगान्तर का सहारा॥
प्रेममय उस दिव्य पंकज का मधुर मधुकर बना मैं।
जा रहा तिरता हुआ मलया समीरण में सना मैं॥

श्रद्धाका बीज बोयें

यदि हम मटरका एक बीज धरतीमें बो देते हैं, तो उस एक बीजसे ही मटरका पौधा उत्पन्न हो जाता है, उस पौधेमें सैकड़ों फलियाँ लगती हैं फिर उन फलियोंसे हजारों मटरके बीज बन जाते हैं। इसी प्रकार हमारी एक छोटी-सी शुभ या अशुभ क्रिया, शुभ या अशुभ संस्कार हजारों शुभ या अशुभके बीज तैयार कर देते हैं। इसके साथ ही जैसे उस मटरके एक बीजको यदि हम काममें न लें, यों ही पड़ा रहने दें, बहुत दिनोंतक जलसे उसका संयोग न होने दें, तो धीरे-धीरे उसके अंकुरित होनेकी शक्ति नष्ट हो जाती है, वैसे ही हमारे शुभ या अशुभ संस्कारोंको यदि हम क्रियात्मक रूप नहीं दें तो वे भी शनैः-शनैः क्षीण क्षीणतर होते हुए विनष्ट होने लगते हैं। यह नियम है। इस नियम-को ध्यानमें रखकर ही हम अपनी दिनचर्या बनावें, जीवनकी गति-विधिका निर्णय करें।

हम चाहते क्या हैं? अपने लिये सदा शुभ चाहते हैं। कोई भी मनुष्य अपना तनिक-सा भी अशुभ नहीं चाहता। इस परिस्थितिमें हमें करना यह होगा कि हम सदा शुभके ही बीज डालें। हमारे मनमें, क्रियामें सदा शुभ ही भरा रहे; भूलकर भी एक भी अशुभ भावना या क्रियाको हमारे जीवनमें स्थान न मिले। साथ ही हमारा यह प्रयत्न भी हो कि हमारे जितने शुभ संस्कार हों, वे यथासम्भव अधिकाधिक क्रियामें परिणत होते रहें तथा इससे विपरीत एक भी अशुभ संस्कारको कभी व्यक्त होनेका अवसर न दिया जाय। तब काम होगा।

आज हमारी सबसे बड़ी आवश्यकता यह है कि हम आस्तिक बनें, प्रभुकी सत्तामें हमारा विश्वास हो और यह विश्वास निरन्तर बढ़ता ही रहे। क्योंकि इसी विश्वासकी भित्तिपर ही समस्त शुभकी अट्टालिका खड़ी रहती है। कहनेको तो हममेंसे बहुत लोग अपनेको आस्तिक मानते हैं। पर वह आस्तिकता अपनेको ही धोखा देनेकी-सी वस्तु है। जबतक हमारा मन अत्यन्त मलिन वासनाओंसे भरा है; भाँति-भाँतिकी कामनाओंसे व्याकुल रहता है; क्षुद्र-से-क्षुद्र घटना हमारे अंदर क्रोधका सञ्चार कर देती है; कितना भी क्यों न मिले, कभी संतोष होता ही नहीं, और भी पानेका लोभ बना ही रहता है; बात-बातमें हम ऐंठते रहते हैं, अकड़के मारे अपने समान दूसरेको गिनते ही नहीं; ज्ञान, विद्या, बुद्धि, धन, जन, बल, प्रभुत्वके मदमें चूर रहते हैं, मोहके अँधेरेमें ही भटकते रहते हैं; क्या है, क्या नहीं, किसे ग्रहण करना है, किसे ग्रहण नहीं करना है—यह कुछ भी नहीं सूझता; किसीकी थोड़ी भी उन्नति देखनी दूर, सुनकर भी हम जल उठते हैं, परोन्नति तनिक भी सहन नहीं होता; दूसरा कितना भी अच्छा क्यों न हो, उसकी आलोचना किये बिना मन नहीं मानता, उसमें कोई-न-कोई दोष हमें दीख ही जाता है। जबतक हमारी यह दशा है तबतक हम आस्तिक केवल कहनेभरको ही हैं। ऐसी आस्तिकता हमारी ओर आते हुए अशुभके प्रवाहको कदापि नहीं रोक सकती। हमें तो सच्चा आस्तिक बनना पड़ेगा, सच्ची आस्तिकता-का बीज बोना पड़ेगा। यह बीज ही फूलेगा-फलेगा, फल-फूलकर हमारे लिये सर्वत्र सब ओर शुभके ढेर एकत्र कर देगा। तभी हम अशुभसे सदाके लिये त्राण पा सकेंगे।

आस्तिकताके बीज बोनेका अर्थ यह है कि हममें जो भी असली-नकली, थोड़ा बहुत प्रभुका विश्वास है, उसका हम क्रियात्मक प्रयोग करें। यदि हम किसी भी अंशमें आस्तिक हैं, तो कम-से-कम चार बातोंपर तो हमें यत्किञ्चित् सैद्धान्तिक विश्वास होना ही चाहिये—

(१) प्रभु सर्वत्र हैं। ऐसा कोई स्थान नहीं जहाँ वे न हों। महान्-से-महान् एवं क्षुद्र-से-क्षुद्रमें वे

नित्य स्थित हैं। आकाशमें, वायुमें, अग्निमें, जलमें, पृथ्वीमें, पृथ्वीसे बने पहाड़-पत्थर-ईंटमें, वृक्ष-लता-पौधोंमें, मनुष्य-पशु-पक्षी-कीट-पतङ्ग-भृङ्गमें, जड-सी दीखनेवाली कुर्सीमें, टेबिल-पलंग-किवाड़-खूँटी-कल-पुर्जा-धोती-कुर्ते-कमीज-कोट-पतलून-कालर-घड़ी-कलम-दावात-कागजमें—इन समस्त भौतिक विकारोंमें—हमारे सम्पर्कमें आनेवाली इन समस्त वस्तुओंके अणु-अणुमें वे पूर्ण हो रहे हैं। सूक्ष्मभूतमें वे समाये हुए हैं, महत्तत्त्वमें, सत्त्व-रज-तम तीनों गुणोंमें और गुणोंकी साम्यावस्था प्रकृतिमें वे परिपूर्ण हो रहे हैं—

परावरेषु भूतेषु ब्रह्मान्तस्थावरादिषु।
भौतिकेषु विकारेषु भूतेष्वथ महत्सु च॥
गुणेषु गुणसाम्ये च गुणव्यतिकरे तथा।
एक एव परो ह्यात्मा भगवानीश्वरोऽव्ययः॥
(श्रीमद्भा० ७। ६। २०-२१)

जो कुछ भी जगत् है, उसके अणु-अणुमें वे व्याप्त हैं—

ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
(ईश०)

दूरकी वस्तु छोड़ें, विशाल जगत्, जगत्के तत्त्वोंको भी जाने दें, हम सदा जिससे जुड़े रहते हैं, क्षणभरके लिये भी जिसे नहीं भूल पाते, भूलना नहीं चाहते, जो हमारे लिये अतिशय प्यारकी वस्तु बना हुआ है, उस हमारे शरीरमें भी 'स एष इह प्रविष्टः।' 'आ नखाग्रेभ्यः'* नखसे शिखपर्यन्त वे पूर्ण हो रहे हैं।

(२) वे सर्वसमर्थ हैं। जगत्में जो बात सर्वथा सबके लिये असम्भव मानी जाती है, उसे वे एक क्षणके लाख-करोड़वें हिस्से जितने समयमें सम्पादित कर सकते हैं। उनकी शक्तिकी कोई सीमा ही नहीं है। 'नात्येति कश्चन'† उनके शासनका कोई भी उल्लङ्घन नहीं कर सकता। 'तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम्'* वे ईश्वरोंके भी परम महान् ईश्वर हैं, स्थूल एवं सूक्ष्म जगत्के जितने शासक हैं उन सबके शासक वे हैं। उनकी शक्ति-सामर्थ्य विचित्र है। सर्वथा विरोधी गुण उनमें एक साथ एक समय वर्तमान रहते हैं। 'तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके'† एक साथ एक समयमें वे चलते भी हैं, और नहीं भी चलते; वे दूर भी हैं और समीपमें भी हैं। 'आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः'‡ वे बैठे हुए ही दूर चले जाते हैं, सोते हुए ही सर्वत्र पहुँच जाते हैं। 'अनेजदेकं मनसो जवीयः'§ वे चलनरहित हैं, फिर भी मनसे अधिक वेगवाले हैं। 'तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्'× वे बैठे रहकर ही दूसरे दौड़नेवालोंसे आगे निकल जाते हैं। ऐसे वे असंख्य विचित्र शक्तियोंसे सम्पन्न हैं।

(३) वे सर्वज्ञ हैं। 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्'+ विश्वके गुप्तसे-गुप्त, सूक्ष्म-से-सूक्ष्म कोनेतकमें अनादिकालसे अबतक क्या-क्या हो चुका है, अब क्या हो रहा है, एवं अनन्तकालतक क्या होगा—यह सब कुछ वे निरन्तर जानते रहते हैं। 'अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः'÷ वे प्रभु सबका अनुभव करनेवाले हैं।

(४) ऐसे महामहिम होते हुए भी वे हमारे सुहृद् हैं। केवल हमारे ही नहीं, 'सुहृदं सर्वभूतानाम्'= समस्त भूतप्राणियोंके सुहृद् हैं।

उपर्युक्त चार बातोंपर हमारा जितना, जैसा विश्वास हो, उसका हम अपने जीवनकी दैनिक क्रियाओंमें समावेश करना आरम्भ करें। प्रभुकी सर्वव्यापकता,

---

* बृहदारण्यक० १। ४। ७।
† कठ० २। १। ९।

* श्वेताश्वतर० ६। ७।
† ईश० ५।
‡ कठ० १। २। २१।
§ ईश० ४।
× ईश० ४।
\+ मुण्डक० १। १। ९।
÷ बृहदारण्यक० २। ५। १९।
= गीता ५। २९।

सर्वशक्तिमत्ता, सर्वज्ञता एवं सौहार्दपर हमारा जो भी टूटा-फूटा विश्वास हो, उसे हम अपनी क्रियाओंके साथ इस रूपमें जोड़ने लग जायँ—

यह नियम कर लें कि चौबीस घंटेमें दस-बीस-पचास-सौ बार, जितनी बार एवं जितनी देरके लिये बिल्कुल आसानीसे करना सम्भव हो, उतनी बार, उतनी देरके लिये ही हम दृढ़तासे यह भावना करें कि 'प्रभु सर्वत्र हैं' और इस भावनाके समय हम जिस किसी भी व्यक्तिसे जो भी यथायोग्य व्यवहार करें, उसमें ठीक-ठीक उतना ही सम्मान, प्रेम, अपनत्व, त्याग आदिका सच्चा भाव भरा हो, जितना स्वयं प्रभुके समक्ष होनेपर होता। इस भावनाके समय हम जिस किसी वस्तुको देखें, सुनें, चक्खें, स्पर्श करें, उसकी गन्ध लें, वहाँ उस वस्तुमें प्रभुकी सत्ताकी इतनी जीवन्त धारणा हो कि उस वस्तुका यथायोग्य उपयोग करते समय हमें उतने ही आनन्दकी अनुभूति होने लगे, जितना साक्षात् प्रभुके सम्पर्कमें आनेपर होनी सम्भव है। एक उदाहरणके द्वारा इसे इस प्रकार समझें। मान लें, हमने यह नियम ले लिया कि प्रतिदिन कम-से-कम बीस बार तीस-तीस सेकंडके लिये यह भावना करेंगे कि 'प्रभु सर्वत्र हैं,' हम ऐसी भावना करने लगे। एक बार भावना करते समय ही हमारा एक नौकर या आफिसका चपरासी गिलासमें जल लेकर हमें जल पिलाने आ गया। अब उस समय हमें ठीक-ठीक यह अनुभव करनेका प्रयास करना चाहिये कि प्रभु जब सर्वत्र हैं तो इस नौकरमें भी अवश्य-अवश्य हैं ही; अतः नौकर या चपरासीके वेषमें वे ही पधारे हैं। उसके प्रति हमारे मनमें ठीक वैसे ही सम्मान, प्रेम, अपनत्व आदि जाग उठें जैसे प्रभुको देखकर होते। वे हमारी अपेक्षा किञ्चित् छोटे पदका स्वाँग लेकर आये हैं, इसलिये हम अपने आसनसे उठें तो नहीं, पर हमारा अन्तस्तल तो उनके चरणोंमें लुट जाना चाहिये। हाथमें गिलास लेते समय हमारा रोम-रोम आनन्दसे नाच उठे। इतना ही नहीं, उस गिलासके अणु-अणुमें भी हमें प्रभुकी सत्ताका भान होना चाहिये, गिलासके जलमें भी प्रभुकी ही सत्ता हमें व्यक्त दीखे, तथा यह दर्शन हमारे रोम-रोमको आनन्दित कर दे। यदि ऐसी जीवन्त धारणा दिन-रातमें हमने एक बार ही, तीस सेकंडके लिये ही कर ली तो समझ लें, हमने श्रद्धाका एक बीज तो बो दिया। यह एक बीज ही, अल्पकालके लिये की हुई श्रद्धाकी यह भावना ही, इसमें जितनी जीवनी शक्ति है—इस श्रद्धामें जितनी प्रगाढ़ता है—उसीके अनुपातसे हमारे लिये कई बीज प्रस्तुत कर देगी, अन्य कई स्थलोंमें ऐसी श्रद्धा उत्पन्न कर देनेमें हेतु बन जायगी। ऐसी श्रद्धा, ऐसी भावना उत्पन्न कर देगी। जितनी बार हम यह बीज बोते जायँगे, उतनी बार उससे कई गुने अधिक बीज हमें प्राप्त होते जायँगे, हमारी श्रद्धा उत्तरोत्तर बढ़ती जायगी।

इसी प्रकार प्रभुके सर्वसमर्थतासम्बन्धी विश्वासको भी हम क्रियामें उतारें। यह इस रूपमें कि प्रत्येक कार्य करनेसे पूर्व हम—भले ही क्षणभरके लिये ही क्यों न हो,—प्रभुसे प्रार्थना कर लें, प्रभुसे शक्तिकी याचना कर लें। यह ध्रुव सत्य है कि शक्तिके केन्द्र तो प्रभु ही हैं। आज भी हमारे द्वारा जो काम होता है, वह होता है प्रभुकी शक्तिसामर्थ्यसे ही। पर हमारा अभिमान इस सत्यको हमारे सामने व्यक्त नहीं होने देता; साथ ही अभिमानके कारण ही प्रभुकी शक्तिको पूर्णरूपसे सञ्चारित होनेका मार्ग भी नहीं मिलता। अतः यदि हम प्रत्येक कार्यके आरम्भमें प्रभुकी प्रार्थना कर लें, उनकी शक्ति-सामर्थ्यका आवाहन कर लें तो फिर जो कार्य वर्षोंके अथक परिश्रमसे न हुआ हो, होता न दीखता हो, वही देखते-देखते पूर्ण हो जायगा। यदि हम इस अभ्यासको अपना लें तो पद-पदपर प्रभुकी सर्वसमर्थताका परिचय हमें मिलने लगेगा। यह नितान्त सत्य है कि कोई भी किसी कार्यमें यदि प्रभुकी प्रार्थना करके लगता है—

अवश्य ही वह कार्य शुभमूलक हो, जगत्के किसी भी प्राणीके अहितकी भावनासे प्रेरित न हो—तो उसमें उसकी आश्चर्यजनक प्रगति होगी। अस्तु, हम भी इस पद्धतिको स्वीकार करें। जितनी बार प्रार्थना करेंगे, उतनी बार प्रभुकी अमित शक्तिका कुछ-न-कुछ परिचय हमें मिलेगा ही, हमारी श्रद्धा पुष्ट होगी ही, इसके बीज बढ़ेंगे ही। हाँ, इस सम्बन्धमें इतनी-सी बात और भी ध्यानमें रखनेकी अवश्य है कि जहाँ अश्रद्धाके बड़े-बड़े पुष्ट पेड़ लगे होते हैं, वहाँ क्षणभरकी की हुई प्रार्थनासे उत्पन्न हुई श्रद्धाकी लता, उसके फल एवं फलोंमें समाये हुए श्रद्धाके अनेकों बीज एक बार सरसरी दृष्टिसे देखनेपर कभी-कभी नहीं भी दीखते। अतः धैर्यपूर्वक उन्हें ढूँढ़ना चाहिये। ढूँढ़नेपर वे अवश्य मिलेंगे। क्योंकि प्रत्येक प्रार्थनारूपी जलसे सिञ्चित होकर वे निश्चितरूपसे बढ़ते एवं फूलते-फलते हैं ही। ये बीज जहाँ प्रचुर मात्रामें एकत्र हुए कि फिर तो हमारे जीवनका स्वभाव हो जायगा—प्रत्येक कार्यके लिये प्रभुकी शक्ति-सामर्थ्यपर निर्भर करना, उनकी शक्तिसे शक्तिमान् होकर ही प्रत्येक कार्यमें प्रवृत्त होना। यह कार्य हमारे द्वारा नहीं हो सकता, हमारा यह कार्य कैसे होगा, ये वृत्तियाँ फिर कदापि नहीं उठेंगी। अपितु, प्रभुके बलपर क्या नहीं हो सकता, असम्भव सम्भव हो सकता है, यही श्रद्धा सतत जागरूक रहने लगेगी।

प्रभुकी सर्वज्ञताके विश्वासको क्रियात्मक रूप देनेकी आवश्यकता विशेषरूपसे वहाँ उन स्थलोंमें है, जहाँ हम अशुभ प्रवृत्तियोंमें जा गिरते हैं। हमारा अनुभव है कि अत्यधिक अशुभके आचरणसे जब मनपर बहुत अधिक मल एकत्र हो जाता है, तब हम निर्लज्ज हो जाते हैं, हमें खुलकर पाप करनेमें लज्जाकी अनुभूति नहीं होती। किंतु इससे पूर्व जबतक अन्तरात्माकी ओरका एक भी छिद्र खुला होता है, प्रभुकी प्यारभरी वाणी तनिक भी सुनायी पड़ती रहती है, अशुभमें अशुभ बुद्धि बनी रहती है, तबतक अशुभ आचरणमें लज्जाका अनुभव होता है और हम यथासम्भव छिपकर ही—लोगोंसे छिपाकर ही पापमें प्रवृत्त होते हैं। कोई देख रहा है, जान गया है, यह ज्ञात होनेपर कई बार हमारा बचाव हो जाता है। अतः यदि प्रभुकी सर्वज्ञतापर श्रद्धा करके, यह बीज बोना आरम्भ करके, यदि हम अशुभ प्रवृत्तियोंका धीरे-धीरे संकोच करने लगें तो दो लाभ हों—श्रद्धा तो बढ़े ही, क्रमशः अशुभ भी छूट जायँ। इस श्रद्धाको क्रियात्मक रूप देनेका प्रकार यह है कि हम अपनी अशुभ प्रवृत्तियोंकी एक सूची मन-ही-मन तैयार करें। इनमें जिनके प्रति कम-से-कम आकर्षण हो, उन कुछको चुन लें तथा जब जिस समय वे उदय हों, उसी समय दृढ़तासे यह स्मरण करें कि प्रभु इसे जान रहे हैं, वे देख रहे हैं, भले ही जगत्का कोई भी न जाने, कोई भी न देखे; और सबकी दृष्टिमें हम भले सत्पुरुष सज्जन बने रहें, किंतु प्रभुसे हमारा रूप छिपा नहीं है। इसकी स्मृति आते ही हमें उतनी ही लज्जा होनी चाहिये, जितनी हमारे पाप किसी अन्य व्यक्तिके द्वारा देख लिये जानेपर हमें होती है। साथ ही हठपूर्वक ही सही, एक-दो-चार-दस-बीस बार उन अशुभ प्रवृत्तियोंको हम मूर्त न होने दें, मनतक ही वे सीमित रह जायँ, यह प्रयास करें। इतनेमें तो इस श्रद्धाकी बेल पनप जायगी। फिर तो इनके बढ़े हुए बीज अपेक्षाकृत बहुत बड़े पापोंके समय भी 'अरे! प्रभु देख रहे हैं, जान रहे हैं' इस स्मृतिको जाग्रत् करने लगेंगे। और इस प्रकार एक-दो बार भी जहाँ वे बड़े पाप रुके कि यह श्रद्धा बद्धमूल हो जायगी, और क्रमशः शाखा-प्रशाखा निकलकर मनरूपी खेतको छा लेंगी।

अन्तमें है प्रभुके सौहार्द-श्रद्धा बढ़नेकी बात, इसे जीवनसे जोड़ देनेकी बात। तो इसके लिये हम यह करें कि कुतर्क छोड़कर प्रभुके स्नेहमय दानको, प्रतिक्षण पद-पदपर आगे-से-आगे हमारी सुख-सुविधाके लिये

उनके द्वारा की हुई व्यवस्थाको गिनने लग जायँ। यदि हमारी आँख फूटी न होगी 'अजी, ये सब तो संयोगसे यों-ही हो जाते हैं, होते रहते हैं, ईश्वर तो बहम है' इस विषके विस्फोटसे नेत्रोंकी ज्योति मारी नहीं गयी होगी तो हमें प्रत्यक्ष दीखेगा कि ओह ! प्रभुके अनन्त असीम उपकारोंकी गणना नहीं हो सकती ! ऐसा अहैतुक प्रेमी जगत्‌में और कोई है ही नहीं। फिर तो हमारी आँखें भर आयेंगी। अपनी नीचता और प्रभुके सौहार्दकी ओर देखते हुए, आँसू ढारते हुए हम भी संतशिरोमणि गोस्वामी तुलसीदासजीकी भाँति पुकार उठेंगे—'हे नाथ ! हमारे-जैसे नीचको नरककी आगमें ढकेल दो, भस्म हो जाने दो। तुम्हारे-जैसे परम पवित्र, सुहृद् स्वामीसे, अकारण हितूसे हठपूर्वक विमुख रहनेवालेके लिये यही उचित है। दस मासतक गर्भमें रखकर पालन-पोषण किया। हमारा कितना हित तुमने किया है स्वामिन् ! हम-जैसे मतिमन्दको भी तुमने विवेक दिया, दुष्टको भी सुन्दर शीलका दानकर भूषित किया। अगणित अपराध करनेपर भी, उस ओर न देखकर समाजमें हमें आदरका पात्र बनाया। फिर भी हम तो उलटे ही चलते रहे ! हमारी मूर्खता तो देखो ! प्रभो ! अन्तर्यामीके प्रति भी कपट है, सर्वव्यापकसे भी पाप छिपानेका प्रयास है; किंतु धन्य हो तुम नाथ ! इतनेपर भी तुम हमसे कभी नाराज नहीं हुए। 'ये बड़े भक्त हैं,' इसकी आड़में हमारी उदरपूर्ति हो रही है, पर सचमुच हृदयमें तो भक्तिका लेश भी नहीं है स्वामिन् ! हृदय तो विषयोंके हाथ बिक चुका है। फिर भी कृपालो ! ओह ! ऐसे वञ्चकके प्रति भी तुम्हारी कृपा तनिक भी कम नहीं हुई, ऐसेके लिये भी तुम्हारे प्रेमका द्वार बंद नहीं हुआ। सदा हमपर निष्कपट भावसे स्नेहकी ही वर्षा करते रहे हो। हाय रे यह हमारा वज्रसे भी अधिक कठोर हृदय; यह तुम्हारे पल-पलमें किये उपकारोंको भलीभाँति जान-बूझकर, सुन-समझकर भी द्रवित नहीं हुआ। तुम्हारे प्रेमसे सिक्त होकर, फटकर विगलित होकर बह नहीं चला। हमारे मालिक ! सुनो, अपनी बुद्धिरूपी तराजूके एक पलड़ेपर हमने तुम्हारी भृत्यवत्सलताकी राशि रख दी और दूसरे पलड़ेपर अपने स्वामीद्रोहका किञ्चित् अंश रख दिया; तौलकर देखने लगे। दीखा—स्वामीद्रोहका ही पलड़ा भारी है। इतनेपर भी तुमने सदा हमारा हित ही किया है, कर रहे हो, और आगे भी करोगे। हमें पता है नाथ ! तुम्हारा स्वभाव है—अपनी ओर देखना, दूसरेकी ओर नहीं। अनन्त उपकारसे हम सबको ढक देनेपर भी तुम देते ही जाते हो, तुम्हारे स्नेहमय दानका कभी विराम होता ही नहीं—

कीजै मोको जमजातनामई।
राम ! तुम-से सुचि सुहृद साहिबहिं, मैं सठ पीठि दई॥
गरभबास दस मास पालि पितु-मातुरूप हित कीन्हों।
जड़हिं बिबेक, सुसील खलहिं, अपराधिहिं आदर दीन्हों॥
कपट करौं अंतरजामिहुँ सों, अघ ब्यापकहिं दुरावौं।
ऐसेहु कुमति कुसेवक पर रघुपति न कियो मन बावौं॥
उदर भरौं किंकर कहाइ बेंच्यौ बिषयनि हाथ हियो है।
मोसे बंचकको कृपालु छल छाँडि कै छोह कियो है॥
पल-पलके उपकार रावरे जानि बूझि सुनि नीके।
भिद्‌यो न कुलिसहुँ ते कठोर चित कबहुँ प्रेम सिय-पीके॥
स्वामीकी सेवक-हितता सब, कछु निज साइँ-दोहाई।
मैं मति-तुला तौलि देखी भइ मेरेहि दिसि गरुआई॥
एतेहु पर हित करत नाथ मेरो, करि आये, अरु करिहैं।
तुलसी अपनी ओर जानियत, प्रभुहि कनौड़ो भरिहैं॥

इस प्रकार हम उपर्युक्त चारों विश्वासको केवल सिद्धान्तके रूपमें ही सीमित न रखकर उन्हें क्रियात्मक जीवनका अंश बना लें। प्रभुकी सर्वव्यापकता, सर्वशक्तिमत्ता, सर्वज्ञता एवं असीम सौहार्दकी ओर सक्रिय दृष्टि डालते ही श्रद्धाकी खेती धीरे-धीरे लहलहा उठेगी। उसमें इतने फल लगेंगे, इतने असंख्य बीज एकत्र होंगे कि फिर हम खुले हाथों अपने सम्पर्कमें आनेवाले सबको भगवद्विश्वासके बीजका दान कर सकेंगे। फिर हमारे

अंदर कोई कामना नहीं रहेगी । प्रभुके श्रद्धारूपी खेतसे हमारी समस्त कामनाएँ सदाके लिये पूर्ण हो जायँगी। फिर हमारे लिये क्रोधका अत्यन्ताभाव हो जायगा। क्योंकि जब काम नहीं तो क्रोध कैसे रहे ? लोभ भी निवृत्त हो जायगा। पूर्ण संतोषके अनन्तर लोभके लिये स्थान कहाँ ? फिर हमारे अंदर मद नहीं, मोह नहीं, ईर्ष्या नहीं, भय नहीं, चिन्ता नहीं, शोक नहीं, जन्म नहीं, मृत्यु नहीं—कोई भी विकार नहीं रहेगा। ये विकार तो अहङ्कारके आश्रित हैं—

शोकहर्षभयक्रोधलोभमोहस्पृहादयः ।
अहङ्कारस्य दृश्यन्ते जन्म मृत्युश्च नात्मनः ॥

(श्रीमद्भा० ११ । २८ । १५)

—जब श्रद्धाकी खेती लहलहा उठी तो खेतके स्वामी प्रभु भी उस शोभाका आनन्द लेने आ विराजे, उस खेतमें वहीं प्रकट हो गये। उनके आनेपर अहङ्कार रहता नहीं—

'जब मैं था तब हरि नहीं, जब हरि हैं मैं नाहिं।'

अहङ्कार गया कि सारे विकार विलीन हो गये। समस्त अशुभ प्रशान्त हो गये। अवशिष्ट रहे एकमात्र प्रभु। न रहे हम, न रहा हमारे लिये जगत्। इसके पश्चात् जगत्की दृष्टिमें हमारे मन-बुद्धि-शरीरका अस्तित्व भले ही कुछ कालतक रह सकता है। पर उससे भी, वह जितने समयतक रहेगा, निरन्तर भगवद्भावोंका विस्तार होता रहेगा। परम शुभका, प्रभुमें श्रद्धा करनेका, प्रभुसम्बन्धी श्रद्धाके बीजको बोते रहनेका यही परिणाम होता है। इसीलिये हमें श्रद्धाका बीज बोना चाहिये, स्वल्प श्रद्धाको क्रियामें उतारकर उसे सदा बढ़ाते रहना चाहिये।

श्रीकृष्णलीलाका चिन्तन

(३५)

शकटसमूह क्रमशः कलिन्दकन्याके तटपर एकत्र होने लगता है। इस प्रकार—मानो मन्दर, कैलास, हिमाचल आदि महान् महीधर-राजाओंके औरस शिशु खेलनेकी लालसासे श्रेणीबद्ध होकर यमुना-तटपर आये हों; सुरराजको भी आज दया आ गयी हो, 'ये शिशु हैं, क्रीड़ा करने जा रहे हैं, इनकी पाँख क्यों काटी जाय', यह सोचकर उन्होंने इनके पक्षच्छेदन न किये हों तथा इसलिये ही प्रगल्भ हुए ये निर्बाध दौड़े आ रहे हों—

यमुनातटघटमानखेलालसाः शिशव इति करुणया कुलिशकरेणाकृतपक्षच्छिदा कनकगिरिकैलासगौरीगुरुप्रभृतिमहामहीधरराजनिकराणां पङ्क्तीभूय चलन्ती कुमारश्रेणिरिव शकटानि पथि जनैर्व्यदृश्यन्त ।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

शस्त्रधारी गोपोंके कई दल गोश्रेणीसे पूर्व ही तटपर आ गये हैं। आगे-से-आगे प्रबन्ध जो करना है। शेष सैनिक दल गो-गोप-गोपीवृन्दको घेरे हुए उमड़ा आ रहा है। इन्हें देखकर प्रतीत होता है मानो व्रजपुरकी राज्यश्री ही स्वयं इस अपार सैन्यबलके रूपमें मूर्त होकर अत्यन्त वेगवश आकाशको स्पर्श करती हुई चल पड़ी है, आगे-से-आगे पहुँचकर वृन्दावनको अलङ्कृत करने जा रही है, यहाँ इस बृहद्वनमें तो अब भूमिमात्र अवशिष्ट बची है—

एवं चलति व्रजबले जवलेलिह्यमानगगनेव सा महावनराजधानीश्रीमूर्तिमतीव स्वयमग्रत एव गन्तव्यस्थलीमलङ्कर्तुमिव चलितवती केवलं भूमात्रमेव तत्रावशिष्टमिव ।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

जो हो, यमुनासंतरणकी व्यवस्थामें नियुक्त गोप, गोपसैनिक एक बार देखते हैं, रविनन्दिनीकी नील लोल लहरियोंकी ओर तथा फिर देखते हैं ढलते हुए भुवनभास्करके रश्मिजालकी ओर; एवं सबसे अन्तमें

नायक गोपकी दृष्टि जाती है बृहद्वनसे आते हुए, क्रमशः निरन्तर बढ़ रहे गोधनसमूह, शकटावलि और जनसमुदायकी ओर। सबको यह जानते देर नहीं लगती कि आज तो यमुनासंतरण सर्वथा असम्भव है, रात्रिका निवास यहीं इसी पार करना है । व्रजेश्वरकी आज्ञा असम्भव कार्यके लिये कदापि हो नहीं सकती । और वे तो अभी अत्यन्त दूर हैं। उनका रथ तटपर आते-आते अंशुमाली अस्ताचलमें समा जायँ तो भी आश्चर्य नहीं। अतः सर्वसम्मतिसे निश्चय कर, देश-कालके पूर्ण पण्डित वे पुरोवर्ती गोप एवं गोपसैनिक व्रजेशकी आज्ञा लिये बिना ही इस पार विश्राम करनेके प्रबन्धमें जुट पड़ते हैं—

तस्मिन्नहनि यमुनापारप्रयाणमघटमानमिति तत्रैव वसतिमिच्छवो विनापि घोषाधीशाज्ञया देशकालज्ञास्त एव तथा सन्निवेशं कारयाञ्चक्रुः।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

चार पहर ही विश्राम करना है पर व्रजेश्वरके उन कलाविद् प्रबन्धकोंने तो देखते-देखते एक वस्त्रमय सुन्दर नगरकी ही रचना कर दी—

आतानिताः पटगृहाः परितो वितान-
श्रेण्यस्तथोर्ध्वमभितः पटभित्तयश्च ।
शृङ्गाटकक्रमत एव समानसूत्र-
सुश्रेणयो विपणयो वणिजां विरेजुः ॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'चारों ओरसे वस्त्रोंके गृह (तम्बू) खड़े हो गये। उनके ऊपर अगणित वितान (चँदौआ) तान दिये गये। इसके अनन्तर सब ओरसे घेरकर प्राचीरके रूपमें वस्त्रोंकी ही भित्ती (कनात) खड़ी कर दी गयी। बृहद्वनके व्रजपुरमें जैसे जहाँ चौरास्ते थे, ठीक वैसे-के-वैसे चौरास्ते बन गये। उन चौराहोंके क्रमसे ही सर्वत्र समान दूरीपर डोरी बाँधकर निर्मित वणिकोंकी हाट (बाजार), हाट-वीथियाँ सुशोभित होने लगीं।'

इसी वस्त्रमयी पुरीके अन्तर्देशमें, बहिर्देशमें यथास्थान गायें आकर एकत्र होने लगती हैं। ओह! इस समय उनकी शोभाका क्या कहना!—

यत्रादौ प्रथमागता कतिपयी तस्थौ गवां संहति-स्तत्रैव क्रमतः समेत्य शनकैर्वृद्धिं प्रयान्ती ततः। ज्योत्स्नाखण्डमिवाग्रतः समभवत् पश्चादभूत् पायसः कासारः क्रमतोऽभ्यपद्यत तदा क्षीरस्य वारां निधिः॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'पहले वहाँ कुछ गोश्रेणियाँ आकर खड़ी हुईं, फिर क्रम-क्रमसे और आ-आकर उनमें मिलने लगीं। इस प्रकार धीरे-धीरे धेनुश्रेणीका विस्तार होने लगा। पहले तो प्रतीत होता था मानो वह धेनुराशि ज्योत्स्नाखण्ड हो! फिर संख्या बढ़नेपर ऐसा दीखने लगा जैसे दुग्धमय सरोवर हो! इसके अनन्तर तो देखते-ही-देखते वह ओर-छोर-विहीन क्षीरसमुद्र-सी बनकर लहराने लगी!'

मत्त गयन्द-से झूमते हुए बलीवर्द शकटोंको खींचते वस्त्रप्राचीरके विशाल द्वारसे प्रवेश करने लगते हैं। प्रबन्धक उन्हें यथायोग्य विश्रामशिविरतक पहुँचा आते हैं। बलीवर्द शकटसे खोलकर पृथक् कर दिये जाते हैं। फिर वृद्धाएँ, युवतियाँ, कुमारिकाएँ नीचे उतरती हैं। चार पहर विश्रामके लिये उपयोगी सामग्रियाँ भी वे रथसे उतारती हैं। बैलोंके रक्षकगण उनके लिये मृदुल तृण, जल, अन्न आदिका आहार प्रस्तुत करनेमें व्यस्त हो जाते हैं। वणिक् हाट सजा लेते हैं। यथायोग्य क्रय-विक्रय आरम्भ हो जाता है। अनुचरियाँ आवश्यक द्रव्य लेने हाट चली जाती हैं। गोपसुन्दरियाँ घर बसाने लगती हैं। अपने-अपने अधिकारमें आये स्थानको, अपनी रन्धनशाला, शयनागारको परिष्कृत, सुव्यवस्थित करनेमें अधिकारीगण जुट पड़ते हैं। इतनेमें ही भगवान् किरणमाली अपने चतुर्यामव्यापी यात्रापथकी परिसमाप्ति कर श्रान्त-से हुए

मानो पश्चिमदिक्-सुन्दरीके भवनमें निवास करनेकी इच्छासे नीचे उतर रहे हों—इस प्रकार क्षितिजको छूने लगते हैं—

अथैवं शकटपटलादवतरत्सु सकलजनेष्ववतार्यमाणेषु तत्समयोपयोगिभाजनेषु मोचितेष्वप्यनडुत्सु तदाहारोपपादनपरेषु तदधिकारिषु यथायथं क्रयविक्रयपरेषु परिचारिकादिषु रसवत्यादिस्थलपरिष्कारपरेषु तदधिकारिषु भगवानपि मयूखमाली यामचतुष्टयगम्यं गमनपथमतिक्रम्य श्रान्त इव वरुणदिङ्नागरीगृहे वासं विधित्सन्निव समपद्यत।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

व्रजेन्द्र, उपनन्द, अभिनन्द, सन्नन्द, नन्दन—पाँचों भाई एवं कतिपय विशिष्ट वृद्ध गोप तो व्यवस्थाका निरीक्षण करने पहले ही पहुँच चुके हैं। यद्यपि प्रबन्धकोंको यह आशा सर्वथा न थी कि इस अपार जनसमुदाय, शकटावलि एवं गोराशिको पार कर इनमेंसे कोई भी इतनी शीघ्रतासे तटपर आ पायेंगे, पर सब-के-सब शिविरकी रचना प्रारम्भ होते-न-होते आ पहुँचे और प्रबन्धकोंकी बुद्धिकी प्रशंसा करते हुए कालोचित कर्तव्यमें योगदान देने लगे; किंतु व्रजेश्वरीका रथ अब पहुँच पाया है। एक तो अपार भीड़ थी, स्वाभाविक विलम्ब होना ही था। दूसरे उसपर आरोही कौन हैं? यशोदारानीके चञ्चल नीलमणि एवं रोहिणीनन्दन बलराम, जो उस रथपर विराजित हैं! न जाने कितनी बार मैयाको शकट रुकवाना पड़ा, कितनी बार राम-श्यामने शकटसे उतरकर समीपवर्ती कासार (तालाब) के प्रस्फुटित पद्मोंका, पद्मपत्रोंका चयन किया, वन्यतरुओंकी छायामें बैठकर अपने द्वारा संगृहीत पत्रोंपर ही मिष्टान्न रखकर भोजन किया। फिर रथपर चढ़ते, कुछ दूर चलते। इतनेमें लतावल्लरियोंपर कोई सुन्दर कुसुम दीख जाता और वे उसे लेनेके लिये मचल उठते। कोई अन्य गोप या गोपी चयन कर ला दे, यह कैसे सम्भव है। वे तो स्वयं चयन करके ही रहेंगे। कुसुमको अपने हाथमें लेकर ही वे शान्त होते। इसके अतिरिक्त रथ जाता होता। पुष्पित तरुश्रेणी ऊपर झूमती होती, फलभारसे लदे वृक्ष नमित हुए होते, रथको स्पर्श करते होते। यदि श्रीकृष्णचन्द्र जननीके भुलावेमें पड़ गये हैं, उस ओर उनकी दृष्टि नहीं गयी, तब तो ठीक। अन्यथा उन रंग-विरंगे पुष्पगुच्छ एवं फलगुच्छोंको तोड़कर दे देनेके लिये वे जननीको विवश कर देते। रथ रुकता, व्रजेश्वरी एवं श्रीरोहिणी रथसे हाथ बढ़ाकर पुष्प तोड़तीं, फल तोड़तीं और जब श्रीकृष्णचन्द्रके दुकूल पूर्ण हो जाते, तब कहीं शकट बढ़ पाता। श्रीकृष्णचन्द्र दोनों हाथोंसे अन्य शकटोंपर पुष्पोंकी वर्षा करते और प्रसन्न होते। इसीलिये रथ इतने विलम्बसे आया है, सान्ध्यश्री जब रविनन्दिनीके परिसरको रञ्जित करने लगती हैं, तब पहुँच पाया है।

विहङ्गम मधुर कलरव करते हुए आकाशपथसे अपने आवास-नीड़की ओर उड़े जा रहे हैं। मयूर आदि पक्षी ऊँचे वृक्षोंकी शाखापर निविष्ट हो चुके हैं। मृगोंके दल मण्डलाकार हुए, सब दिशाओंकी ओर मुख किये शान्त बैठे मन्द-मन्द रोमन्थन (पागुर) में तल्लीन हैं। अतिशय मधुपानसे मुग्ध मधुकरवृन्द, कमलकोश निमीलित हो जानेके कारण वहीं बन्दी बन चुके हैं, कुमुदिनी अपनी अभिलषित वेलाका समागम देखकर प्रफुल्लित हो रही है, हँस उठी है। अभी-अभी निर्मित प्रत्येक वस्त्रगृहके अभ्यन्तर दीप प्रज्वलित हो चुके हैं, उन दीपोंकी ज्योति सहृदय जनकी हृदय-ज्योतिकी भाँति बाहर भी स्पष्ट परिलक्षित होने लगी है। प्रत्येक पथमें व्रजेशके प्रहरीगण अपने-अपने स्थान ग्रहण कर चुके हैं। ऐसे अपने अभिनव शासनका विस्तार कर प्रदोषलक्ष्मी, मानो भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रकी परिचर्या करनेके उद्देश्यसे वहाँ पधारी हों, इस प्रकार उस यमुनातरङ्गमुखरित वनप्रान्तरको आच्छादित कर लेती हैं—

ततश्च कुलायकुलाय समुन्मुखतया नभसि समुड्डीयमानेषु कलितकलरवेषु खगकुलेषु उच्चतरं तरुमनु कृतोपवेशेषु मयूरादिषु मण्डलीभूय सर्वतो दिगभिमुखं निषद्य रोमन्थमन्थरेषु मृगनिकुरम्बेषु कमलकुहरविहरणवशतया वन्दीभवत्सु मधुकर-निकरेषु × × × अभिलषितसमयासादनेनेव हसितविकसितवदनासु कुमुदिनीषु × × × प्रतिपटभवनकुहरमधिज्वाल्यमानेषु बहिरपि सहृदयहृदयप्रकाशेष्विव दृश्यमानेषु दीपेषु प्रतिसरणि समुपविष्टेषु यामिकेषु कापि प्रदोषलक्ष्मी-र्भगवन्तमुपचरितुमाजगामेव ।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

अब व्रजेश्वरी एवं श्रीरोहिणी श्रीकृष्णचन्द्र एवं श्रीबलरामको अङ्कमें धारण किये रथसे उतरती हैं, उतर-कर अपने लिये ही बने एक परम सुन्दर विश्रामागारमें चली जाती हैं । अगणित दास-दासियोंने सब कुछ पहलेसे ही सुव्यवस्थित कर रक्खा है । मैया एवं श्री-रोहिणीके लिये एक ही कार्य बचा है । वह यह कि यहाँ इस वनपथके वस्त्रमय गृहमें भी वे दोनों राम-श्यामके समीप बैठकर यथेच्छ लाड़ लड़ावें । इसीलिये मैया आते ही राम-श्यामको ब्यारू करानेमें लग जाती हैं । उसी समय असंख्य गायोंके एक साथ अविराम दोहनसे उत्थित 'घर-घर'का महान् रव श्रीकृष्णचन्द्रको सुन पड़ता है । पयोधिमन्थन-सी वह तुमुल ध्वनि—जैसे-जैसे दुग्ध एकत्र होकर दोहनपात्रमें घूमने लगता है वैसे-वैसे उत्तरोत्तर गंभीर मनोहर मधुर होती जाती है तथा उसे सुन-सुनकर श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दमें निमग्न होने लगते हैं—

भूयान् दोहरवः पयोधिमथनध्वानाकृतिर्दोहनी-
गर्भभ्रान्तगभीरमुग्धमधुरः कृष्णस्य रस्योऽभवत् ॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

किंतु कुछ ही क्षणोंमें शैशवोचित आलस्य श्री-कृष्णचन्द्रके नेत्रोंमें भरने लगता है । मैया अनेकों मनुहार कर, बातें सुना-सुनाकर उन्हें चैतन्य रखना चाहती हैं; अन्यथा उनके नीलमणि भूखे जो रह जायँगे । 'अरे नीलमणि ! देख बेटा, वह देख ! दुहनेवाले गोप तेरी धवलीको, शवलीको दुहने जा रहे हैं । अरे देख तो सही, उनके नाम ले-लेकर वे उन्हें उच्च कण्ठसे पुकार रहे हैं । अरे ! आयी ! आयी ! वह देख ! पुकारका उत्तर देती, बदलेमें हाम्बाराव करती शवली आ गयी, अहा हा ! गायोंकी भीड़से निकलकर 'हुम्मा-हुम्मा' करती धवली भी दौड़ आयी । जा, तू तो सो रहा है और तेरी गायें कूद रही हैं । वह देख, वे आकर गोपोंके निकट खड़ी हो गयीं, गोप उनके अङ्गोंपर बार-बार हाथ फेर रहे हैं, उनका अङ्गमार्जन कर रहे हैं । ओह ! सचमुच तेरी शवली गाय कितनी सुन्दर है, तू देख तो भला ! बलिहारी तेरी धवलीके मनोहर सौन्दर्यकी ।'

नामग्राहं प्लुतवचनया गोदुहाहूयमाना
हम्बारावैः प्रतिरवकरी धाविता धेनुवृन्दात् ।
अभ्यायाता निकटमसकृत् पाणिना मृष्टगात्री
काचित्काचित् कचन रुचिरा नैचिकी दृश्यते स्म ॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

—इस प्रकार तत्कालीन गोदोहनके दृश्योंका वर्णन कर मैया श्रीकृष्णचन्द्रको सजग रखनेका प्रयास करती हैं । पर श्रीकृष्णचन्द्र तो अर्द्धचर्वित ग्रास मुखमें लिये तन्द्रित होकर जननीकी गोदमें लुढ़क ही पड़ते हैं । यही स्थिति अग्रज श्रीबलरामकी भी है । अस्तु, मैया दोनोंका मुख प्रक्षालनकर, फिर क्रमशः शयनागारमें ले जाकर एक परम सुन्दर शय्यापर शयन करा देती हैं । इतनेमें ही विशिष्ट गोपोंके साथ व्रजेन्द्र अपने शिविरमें पधारते हैं । मैया उन सबको भोजन कराती हैं । फिर श्रीरोहिणीके सहित स्वयं भी किञ्चित् आहारकर अपने नीलमणिके समीप चली जाती हैं ।

प्रत्येक व्रजवासीको सभी प्रकारकी सुविधाएँ प्राप्त

हो गयी हैं। खान-पान-विश्रामकी इतनी सुन्दर व्यवस्था इस अस्थायी शिविरमें भी हो गयी है कि सबको बृहद्वनमें अपने पूर्व आवासमें ही होनेका-सा भान होने लगता है। भोजनपानसे निवृत्त होनेके अनन्तर उल्लासमें भरे, इस वस्त्रमयी पुरीकी रमणीय शोभा दर्शन करते हुए सर्वत्र घूमकर वे व्रजपुरवासी नर-नारी—आबाल-वृद्ध सभी सुखपूर्वक गम्भीर निद्रामें अचेत होने लगते हैं। किसीको कोई शंका नहीं, भय नहीं। सर्वत्र व्रजेशके प्रहरी सावधान-सजग जो हैं। चारों ओरसे प्रहरियोंके उच्चकण्ठसे निकली हुई, उनके जागरण-कौशलका प्रदर्शन करनेवाली ध्वनि जो आ रही है। और फिर वह कालिन्दीका 'कल-कल' नाद ! शरद्-हेमन्तकी सन्धिपरकी शुभ्र चन्द्र-ज्योत्स्ना—गोपी, गोप गम्भीर निद्रामें विभोर क्यों न हों !

अस्तु, मध्यनिशा आती है। फिर क्षण-क्षण करके तृतीय यामका भी अवसान हो जाता है। व्रजपुरन्ध्रियाँ जाग उठती हैं, शय्या परित्यागकर पवित्र होकर अतिशय पवित्र वेष-भूषा धारण करती हैं। फिर उस वस्त्रमयगृहके अलिन्ददेश (बाहरके चबूतरे) में चली जाती हैं। अलिन्द उस समय भी प्रज्वलित दीपसे उद्भासित हो रहा है। वहीं वे वास्तुपूजोपहार समर्पित करती हैं। यह करके दधिमन्थनमें संलग्न होती हैं। मन्थनके समय तो उनकी दैनन्दिनी चर्या ही है बाल्यलीलाविहारी स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रका गुणगान करना। अतः आज इस समय भी वे मधुर कण्ठसे गायन करने लगती हैं। साथ ही मन्थनक्रियासे स्पन्दित हुए उनके मणिमय मञ्जु मञ्जीर, वलय आदि विविध भूषण मृदु, मधुर झंकार करने लगते हैं। इनमें ही मन्थन-गगरीके अभ्यन्तर होनेवाले मसृण गभीर नादका, सङ्गीतकी सुन्दर स्वर-लहरीसे निस्सृत मधुरिमाकी पुट लेकर अतिशय ललित हुए 'घर-घर' रवका योग हो जाता है। ओह ! फिर तो जगत्के अशेष अमङ्गलको निर्मूल कर देनेवाली इस ध्वनिके लिये कहना ही क्या है ! दिगङ्गनाएँ प्रतिध्वनि करके इसका और भी विस्तार कर देती हैं। यह परम मङ्गल-घोष अन्तरिक्षके विमानोंपर सुप्त सुरसुन्दरियोंके कर्णरन्ध्र-में प्रविष्ट होने लगता है। अहा ! यह अप्रतिम लीला-श्रवण सुख ! इसकी तुलनामें तो देवस्पर्शसुख नगण्य है, हालाहलकी ज्वाला है। वे मुँह फेरकर उठ बैठती हैं। एकान्तभावसे गोपसुन्दरियोंके इस सुधास्रावी मङ्गल-गानको सुन-सुनकर आनन्द-रस-मग्न होने लगती हैं। उनके मनकी समस्त वृत्तियाँ व्रजशिविरकी ओरसे आनेवाली इस मनोहर ध्वनिमें ही विलीन हो जाती हैं—

यामैकशेषा रजनी यदा समजनि तदा शयनतलादुत्थितवतीभिरतिशुचितरवेशभूषाभिराभीरभीरुभिरपि प्रतिपटगृहालिन्दं दीपितदीपं कृतवास्तुवलिभिरभितो भगवद्बालकृष्णगुणगणगानकलरवकर्णरम्यं युगपद्विधीयमानस्य दधिमथनस्य मणिमयमञ्जुमञ्जीरवलयादिविविधभूषणशिञ्जितसहचरेण गर्गरीकुहरविहरमाणमसृणतरगभीरनिनदेन गानकलरवमधुरिमसरसतयातिशयसुललितेन जगदमङ्गलसमूलनिर्मूलीकरणकुशलेन दिगङ्गनागणकृतानुध्वननविरचितपरिपोषेण तत्क्षणममराङ्गनानामपि पतिशयनजुगुप्सया त्वरितमेव जाग्रतीनामेकान्तभावेन तमेव घोषनिर्घोषमाकर्णयन्तीनां श्रवणानन्दो जायते स्म।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

गोरसमथिनियोंका गान सुनकर यशोदारानी भी उठ बैठती हैं। सदा तो मैया प्रथम जागती थीं, फिर व्रजसीमन्तियोंका दधिमन्थन एवं श्रीकृष्णलीलागान आरम्भ होता था। पर आज क्रम बदल गया। आज मैया अतीतकी स्मृतिमें ऐसी फँसीं कि और सब कुछ भूल गयीं। नीलमणिका उनके कोखसे भूमिपर पदार्पण, श्रीवसुदेवके दूतका आगमन, छः दिनका अखण्ड जन्मोत्सव-समारोह एवं छठीपूजन, पूतनामोक्षण, श्रीधर ब्राह्मणका प्रवञ्चन, शकटभञ्जन, नामकरण, अन्नप्राशन, वर्षगाँठपूजन,

तृणावर्तनिधन, नीलमणिका नर्तन एवं चन्द्रखिलौना-याचन, रामलीलादर्शन, मृत्तिकाभक्षण, फलवालीके दिये फलका परिवेषण, विविध भाँतिसे लालन-पालन, कण्वका खीरभोजन, शालग्रामदेवका अपहरण, श्रीकृष्णचन्द्रका वन्यक्रीडन एवं जननीद्वारा 'हाऊ'का भयप्रदर्शन, चोटी बढ़नेके प्रलोभनसे नीलमणिका दुग्धपान, गोप-सुन्दरियोंके घर जा-जाकर नवनीत-अपहरण, नानाविध उपालम्भके मिससे गोप-सुन्दरियोंका व्रजेश्वरीके समक्ष श्रीकृष्णलीलाकीर्तन, मुक्तातरुसे मुक्ताफलका सृजन, अन्य गृहमें न जानेके लिये जननीका प्रबोधन, पुत्रके लिये दधिमन्थन, नीलमणिका दधिभाण्डभञ्जन, जननी-कृत शासन एवं उदरबन्धन, अनुजके बन्धनसे बलरामका रोदन, यमलार्जुनतरुका पतन, श्रीकृष्णचन्द्रका उन्मुक्त विहरण एवं जननीकृत आह्वान तथा अन्तमें सबके परामर्शसे वृन्दावनकी ओर गमन—इन समस्त लीलाओं-को, इनसे सम्बद्ध अगणित घटनावलीको, अपने नील-मणिकी असंख्य मृदुल मनोहर उन्मादिनी बाल्यभङ्गिमा-ओंको बारंबार स्मरण करती हुई जननी इनमें ऐसी डूबीं कि समयपर जागना भी भूल गयीं। अखण्डरूपसे दिन-भर अपने नीलमणिकी लीलाका ही गान सुनते रहनेपर वात्सल्यरसघनमूर्ति यशोदारानीके चित्तकी यह अवस्था हो, इसमें आश्चर्य ही क्या है? आश्चर्य तो यह है कि गोपरामाओंके इस समय पुनः उन्हीं गीतोंको श्रवणकर वे सर्वथा बेसुध नहीं हो गयी हैं, अपितु तन्द्रासे जाग उठी हैं! किसी अचिन्त्यशक्तिकी प्रेरणासे ही ऐसा हुआ है। अन्यथा मैया यदि सतत स्नेहोन्मादिनी बनी रहें तो नीलमणिकी सँभाल कौन करे? वास्तवमें तथ्य यही है कि उनके नीलमणिकी अचिन्त्य-लीलामहाशक्ति ही उन्हें रसास्वादन करानेके उद्देश्यसे ही मैयाको आत्मविस्मृत करती हैं और फिर आवश्यकताके समय बाह्य जगत्में ले आती हैं। अस्तु, व्रजेश्वरी उठती हैं, उठकर वस्त्रपरिवर्तनकर अपने नीलमणिके प्रातर्भोजनकी सामग्रियाँ एकत्र करने लगती हैं। वास्तुपूजन तो श्री-रोहिणीने जननीके उठनेसे पूर्व ही कर लिया है एवं दासियाँ दधिमन्थनमें लग चुकी हैं।

जिस प्रकार बृहद्वनसे यात्रा आरम्भ हुई थी, सभी अपने-अपने गोमहिषोंको एकत्रकर, सामग्रीको शकटोंपर आरोपितकर चले थे—

व्रजान् स्वान् स्वान् समायुज्य ययू रूढपरिच्छदाः॥
(श्रीमद्भा० १० । ११ । ३०)

—उसी प्रकार इस विश्रामशिविरसे भी चल पड़नेके लिये व्रजपुरवासी प्रस्तुत होने लगते हैं। किरणोदय होनेपर यमुनाको पार जो करना है। उपनन्दका यही आदेश सबको कल ही शयनसे पूर्व मिल चुका है। फिर भी दल-की-दल गोपसुन्दरियाँ एक बार नन्दनन्दन-का मुखचन्द्र निहार लेनेके लिये विविध बहानोंसे व्रजरानीके शिविरमें आ रही हैं। श्रीकृष्णचन्द्र भी आज अपने आप ब्राह्ममुहूर्तमें ही जाग गये हैं। उनके दर्शन पाकर व्रजपुरन्ध्रियाँ कृतार्थ हो रही हैं।

पूर्वगगन अरुण रागसे रञ्जित होने लगता है। व्रजेश्वर अपने इष्टदेव नारायणकी अर्चनामें संलग्न हैं। व्रजेश्वरी नीलमणिको अङ्कमें धारण किये अतिशय सन्निकट यमुनाप्रवाहमें स्नान करने जा रही हैं। उस समय तपनतनया श्रीयमुनाकी शोभा भी देखने ही योग्य है—

अति मंजुल जल प्रबाह, मनोहर सुखावगाह
बिदित राजत अति, तरनि-नंदिनी।
स्याम बरन झलकत रूप, लोल लहर बर अनूप,
सेवित संतत मनोज, बायु मंदिनी॥
कुमुद कुंज बन बिकास, मंडित दिसिदिसि सुवास,
कुंजत अलि हंस कोक, मधुर छंदिनी।
प्रफुलित अरबिंद पुंज, कोकिल कलसार गुंज,
गावत अलि मंजु पुंज, बिबुध बंदिनी॥
नारद सिव सनक ब्यास, ध्यावत मुनि धरत आस
चाहत पुलिन बास सकल दुख-निकंदिनी।
नाम लेत कटत पाप, मुनि किन्नर ऋषिकलाप,
करत जाप परमानंद, महा आनंदिनी॥

स्वधर्म-पालनकी आवश्यकता

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

जो मनुष्य ईश्वर-भक्ति और धर्मकी आड़में अधर्म करते हैं, उनको असलमें नास्तिकोंके भी जनक कहना चाहिये। वे नास्तिकोंसे भी बढ़कर नास्तिक हैं; क्योंकि उन दम्भी, पाखण्डी मनुष्योंको दण्ड देनेके लिये ही भगवान् नास्तिकताको उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार नास्तिकवादके उत्पन्न करनेमें हेतु होनेके कारण वे नास्तिकोंके जनक हैं। पता नहीं ऐसे कितने ही धर्म-ध्वजी मनुष्य आज अपनेको अवतार या महात्मा बतलाकर अनाचार फैला रहे हैं। बहुत-से लोग तो स्त्रियोंको चेलियाँ बनाकर पहले तो उनसे अपने चरण पुजवाते हैं, उन्हें अपना चरणोदक देते हैं, अपनी जूठन खिलाते हैं और बादमें वे अपनेको कृष्णका रूप बतलाकर उन्हें गोपी बनाकर और व्यभिचारको धर्म बतलाकर उनके साथ दुराचार करते हैं और उसका फल वे दम्भी दुराचार-परायण लोग परम धामकी प्राप्ति बतलाते हैं! ऐसे धर्मके नामपर दुराचार करनेवाले पाखण्डी यथार्थमें भगवान् श्रीकृष्णको तथा भक्तिमती गोपियोंको कलङ्क लगानेवाले हैं। असलमें भगवान् तथा भक्तोंपर तो कलङ्क क्या लगता है, ऐसा करके स्वयं अपना ही नाश करते हैं, वे स्वयं अपनेको ही महान् घोर अधोगतिमें ले जाते हैं। ऐसी घटनाएँ आजकल बहुत जगह हो रही हैं।*

* अभी एक पण्डितजीका पत्र मिला है, उसमें लिखे संवादका सार यह है—'यहाँ एक महापुरुष हैं, सिद्धिप्राप्त हैं, औषध देते हैं, गुरु बनते हैं, अपनेको······'संन्यासी तथा'······गद्दीके शिष्य बतलाते हैं। शराब-मांस उन्हें अत्यन्त प्रिय है। आप अपने चेले-चेलियोंको अपनी थालीमेंसे खिलाकर खाते हैं। चेलियोंसे सर्वस्व अर्पणकी बड़ी चाह है। विरोध करनेमें लोग इसलिये डरते हैं कि ये किसीका कोई अनिष्ट न कर दें। शिष्योंका धन और धर्म हरण कर रहे हैं।'
इस प्रकारके दुराचार धर्म और अध्यात्मके नामपर आज जगह-जगह हो रहे हैं और भोले नर-नारी अविवेकपूर्ण श्रद्धाको लेकर इनके जालमें फँस जाते हैं। ऐसे गुरुओंसे न कभी किसीका कल्याण हुआ है, न हो सकता है।—सम्पादक

यह महान् अनर्थकी बात है। ईश्वर-भक्तिके नाम-पर इस प्रकार दुराचारका विस्तार करना बहुत बड़ा पाप है। इसलिये सब लोगोंको इसका घोर विरोध करना चाहिये। ऐसी बातें न होने पावें, इसकी व्यवस्था करनी चाहिये। हमें धर्मके विषयमें खयाल करना चाहिये कि स्त्रीके लिये तो विवाहकी विधिको ही वैदिक संस्कार और पतिको ही गुरु बतलाया गया है, उसके लिये पतिगृहमें वास ही गुरुकुलवास है और गृहकार्य ही अग्निहोत्र है। मनुजी कहते हैं—

वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः।
पतिसेवा गुरौ वासो गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया॥
(मनु० २। ६७)

स्त्रियोंको तो पतिके सिवा अन्य पुरुषका स्पर्श करना भी पाप है। वाल्मीकीय रामायणमें कथा आती है कि जब श्रीहनुमान्जीने अशोकवाटिकामें श्रीसीताजीको अत्यन्त व्याकुल देखा, तो उन्होंने सीताजीसे कहा कि 'माता! आप मेरी पीठपर सवार हो जायँ। मैं आपको अभी यहाँसे ले चलता हूँ।' परंतु श्रीसीताजीने यह स्वीकार नहीं किया। वे बोलीं—

भर्तुर्भक्तिं पुरस्कृत्य रामादन्यस्य वानर।
नाहं स्प्रष्टुं स्वतो गात्रमिच्छेयं वानरोत्तम॥
(वा० रा० ५। ३७। ६२)

'वानरश्रेष्ठ! पतिभक्तिकी ओर दृष्टि रखकर मैं भगवान् श्रीरामके सिवा दूसरे किसी पुरुषके शरीरका स्वेच्छासे स्पर्श करना नहीं चाहती।'

यद्यपि सीताजी उस समय विपत्तिमें पड़ी हुई थीं; किंतु उन्होंने पातिव्रत-धर्मकी रक्षाकी दृष्टिसे मातृभाव रखनेवाले हनुमान्-सरीखे सेवकका भी स्पर्श करना उचित नहीं समझा। इससे यह शिक्षा लेनी चाहिये कि भारी विपत्तिके समय भी स्त्रीको यथासाध्य पर-पुरुषका स्पर्श नहीं करना चाहिये।

इस समय कई दम्भी स्त्री-पुरुष अपनेको महात्मा और ईश्वरके अवतारके स्थानमें स्थापित करके चेले-चेलियोंसे अपने ही नामका कीर्तन और स्वरूपका ध्यान कराते हैं, अपने चित्रकी पूजा कराते हैं और अपने नाम-गुणोंकी कीर्ति अपने ही सम्मुख कराकर स्वयं उसे सुनते हैं। इस प्रकारका आचरण करनेवाले लोग सचमुच नास्तिकवादके उत्पादक हैं। नास्तिकवादके कई हेतु हैं, जिनमें यह भी एक प्रधान हेतु है।

इसलिये सच्चे धर्माचार्य महानुभावोंको ऐसे धर्म-ध्वजी स्त्री-पुरुषोंका बहिष्कार करके स्वयं धर्मका पालन करते हुए संसारके भूले-भटके भाइयोंको सच्चा धर्म बतलाना चाहिये।

संसारमें जिनका जीवन धर्ममय है, उन्हींका जीवन धन्य है। धर्महीन जीवन पशु-जीवन है। एक कविने कहा है—

आहारनिद्राभयमैथुनं च
सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो
धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः॥
(चाणक्य)

'आहार, निद्रा, भय और मैथुन—ये मनुष्योंमें और पशुओंमें सभीमें समान हैं। मनुष्यमें अधिकता और विशेषता एक ही है कि उसमें धर्म है। जिस मनुष्यमें धर्म नहीं है, वह पशुके समान ही है।'

धर्म क्या है? ईश्वरका विधान, जो कि इस लोक और परलोकमें कल्याणकारक है, वही धर्म है। मनुजीने सर्वसाधारणके लिये संक्षेपमें सामान्य-धर्मके लक्षण इस प्रकार बतलाये हैं—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥
(मनु० ६। ९२)

'धैर्य, क्षमा, मनका निग्रह, चोरीका न करना, बाहर-भीतरकी पवित्रता, इन्द्रियोंका संयम, सात्त्विक बुद्धि, अध्यात्मविद्या, यथार्थ भाषण और क्रोधका न करना—ये धर्मके दस लक्षण हैं।'

इसको मानवमात्रके लिये सामान्य धर्म बतलाया है। इसके पालनसे मनुष्यका इस लोक और परलोक—दोनोंमें कल्याण होता है।

आजकल जो लोग ईश्वर और धर्मका विरोध करते हैं, वे स्वयं ही अपने-आपका हनन कर रहे हैं। सब कुछ जाकर भी जिसका धर्म सुरक्षित है, उसीको इस लोकमें सुख और परलोकमें परम गति मिलती है, पर जिसका धर्म चला गया, उसका तो सभी कुछ चला गया। शास्त्रमें बतलाया है—

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतोऽवधीत्॥
(मनु० ८। १५)

'विनाश किया हुआ ही धर्म मारता है, और रक्षा किया हुआ धर्म रक्षा करता है; इसलिये धर्मका विनाश न करे, जिससे कि वह विनष्ट हुआ धर्म हमें न मार दे।' अर्थात् धर्मका त्याग करनेवाले पुरुषका पतन हो जाता है—यही विनष्ट हुए धर्मसे मनुष्यका मारा जाना है।

अतएव मनुष्यको प्राण देकर भी धर्मकी रक्षा करनी चाहिये, क्योंकि धर्म नित्य है और जीवन अनित्य है। महाभारतमें कहा है—

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः॥
(स्वर्गारोहण० ५। ६३)

'मनुष्यको किसी भी समय कामसे, भयसे, लोभसे या जीवन-रक्षाके लिये भी धर्मका त्याग नहीं करना चाहिये; क्योंकि धर्म नित्य है और सुख-दुःख अनित्य हैं तथा जीव नित्य है और जीवनका हेतु अनित्य है।'

इसलिये काम, भय, लोभ आदि किसी भी कारणसे धर्मका परित्याग नहीं करना चाहिये, बल्कि प्राण देने

पड़ें तो प्रसन्नतापूर्वक दे देने चाहिये। धर्मके लिये प्राण देनेमें भी कल्याण ही है। श्रीभगवान्‌ने कहा है—

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥
(गीता ३। ३५)

'अच्छी प्रकार आचरणमें लाये हुए दूसरेके धर्मसे गुणरहित भी अपना धर्म अति उत्तम है। अपने धर्ममें तो मरना भी कल्याणकारक है और दूसरेका धर्म भयको देनेवाला है।'

गुरु गोविन्दसिंहके लड़कोंने धर्मके लिये प्राणोंकी भी परवा नहीं की। उन्होंने धर्मभावका खयाल करके ही धर्मका त्याग नहीं किया, और हँसते-हँसते प्राणोंकी आहुति दे डाली। इसीलिये उनकी इस लोकमें कीर्ति हुई और शास्त्रके हिसाबसे परलोकमें भी उनकी परम गति होनी चाहिये।

श्रुति, स्मृति, पुराण आदि शास्त्रोंमें धर्मका स्वरूप बहुत विस्तारसे बतलाया गया है, उन ग्रन्थोंमें देखना चाहिये। मनुजीने कहा है—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥
(मनु० २। १२)

'वेद, स्मृति, सत्पुरुषोंका आचार तथा जिसके आचरणसे अपना हित हो वह, इस तरह चार प्रकारका यह धर्मका साक्षात् लक्षण कहा गया है।'

यहाँ 'स्वस्य च प्रियमात्मनः' से 'जो अपनी आत्माके लिये हितकर हो'—ऐसा समझना चाहिये। इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि मनमाना आचरण किया जाना धर्म है। मनमाने आचरणका तो स्वयं भगवान्‌ने ही निषेध किया है। भगवान् कहते हैं—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥
(गीता १६। २३)

'जो पुरुष शास्त्रविधिको त्यागकर अपनी इच्छासे मनमाना आचरण करता है, वह न सिद्धिको प्राप्त होता है, न परम गतिको और न सुखको ही।'

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥
(गीता १६। २४)

'अतएव तेरे लिये इस कर्तव्य और अकर्तव्यकी व्यवस्थामें शास्त्र ही प्रमाण है। ऐसा जानकर तू शास्त्र-विधिसे नियत कर्म ही करनेयोग्य है।'

धर्मके विषयमें जहाँ श्रुति और स्मृतिमें विरोध प्रतीत होता हो, वहाँ श्रुति ही बलवती मानी जाती है, इसलिये श्रुतिके कथनानुसार ही पालन करना चाहिये। जहाँ एक श्रुतिसे दूसरी श्रुतिका विरोध हो, वहाँ वे दोनों ही मान्य हैं। और जहाँ श्रुति और सदाचारमें विरोध प्रतीत होता हो, वहाँ (श्रेष्ठ पुरुषोंके द्वारा आचरित) सदाचार ही प्रधान है। जैसे श्रुतिमें मांस-भक्षण आदि कई बातें आ जाती हैं, जो हमारी समझमें नहीं आतीं और हमें आत्माके लिये अहितकर प्रतीत होती हैं तथा सर्वसाधारण उनका निर्णय नहीं कर सकते कि ये कर्तव्य हैं या अकर्तव्य; परंतु भगवत्प्राप्त पुरुषोंके द्वारा किये गये आचरणोंमें कहीं भी अहितकी आशङ्काके लिये कोई गुंजाइश नहीं है। इसीलिये महाराज युधिष्ठिरने यह निर्णय दिया है कि—

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना
नैको ऋषिर्यस्य मतं प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां
महाजनो येन गतः स पन्थाः॥
(वन० ३१३। ११७)

'धर्मके विषयमें तर्ककी कोई प्रतिष्ठा (स्थिरता) नहीं, श्रुतियाँ भिन्न-भिन्न तात्पर्यवाली हैं तथा ऋषि-मुनि भी कोई एक नहीं हैं, जिससे उसीके मतको प्रमाणस्वरूप माना जाय। धर्मका तत्त्व गुहामें छिपा हुआ है—धर्मकी गति अत्यन्त गहन है, इसलिये (मेरी

समझमें) जिस मार्गसे कोई महापुरुष गया हो, वही मार्ग है, अर्थात् ऐसे महापुरुषका अनुसरण करना ही धर्म है ।'

अतः महापुरुष जिस मार्गसे गये हैं, वही मार्ग अनुसरणीय है । क्योंकि भगवत्प्राप्त महापुरुषोंद्वारा कभी भगवान्‌की आज्ञारूप धर्मका उल्लङ्घन नहीं किया जा सकता । इसमें प्रह्लादका उदाहरण प्रत्यक्ष है । भक्त प्रह्लादने अपने प्रिय पुत्रकी अवहेलना कर दी, परंतु धर्मका त्याग नहीं किया ।

केशिनी नामकी कन्या थी, उससे प्रह्लाद-पुत्र विरोचन और अङ्गिरा-पुत्र सुधन्वा—दोनों ही विवाह करना चाहते थे । इसी बातको लेकर दोनोंमें विवाद हो गया । कन्याने कहा कि 'तुम दोनोंमें जो श्रेष्ठ होगा, मैं उसीके साथ विवाह करूँगी ।' इसपर वे दोनों ही अपनेको श्रेष्ठ बतलाने लगे । अन्तमें यह निर्णय हुआ कि उनकी श्रेष्ठताका निर्णय न्याय तथा धर्मपरायण प्रह्लादजी करें । जो निकृष्ट हो, उसके प्राण हरण कर लिये जायँ । दोनोंने प्रह्लादकी सेवामें उपस्थित होकर अपनी कहानी सुनायी और निर्णयके लिये प्रार्थना की । प्रह्लादने सारी बातें सुनकर पुत्र विरोचनकी अपेक्षा सुधन्वा ब्राह्मणको ही श्रेष्ठ समझा और विरोचनसे कहा—

श्रेयान्सुधन्वा त्वत्तो वै मत्तः श्रेयांस्तथाङ्गिराः ।
माता सुधन्वनश्चापि मातृतः श्रेयसी तव ।
विरोचन सुधन्वायं प्राणानामीश्वरस्तव ॥

(महा० सभा० ६८ । ८७)

'सुधन्वा तुझसे श्रेष्ठ है, इसके पिता अङ्गिरा मुझसे श्रेष्ठ हैं और इस सुधन्वाकी माता तेरी मातासे श्रेष्ठ है, इसलिये यह सुधन्वा तेरे प्राणोंका स्वामी है ।'

इस निर्णयको सुनकर सुधन्वा मुग्ध हो गया और उसने कहा—

पुत्रस्नेहं परित्यज्य यस्त्वं धर्मे व्यवस्थितः ।
अनुजानामि ते पुत्रं जीवत्वेष शतं समाः ॥

(महा० सभा० ६८ । ८८)

'प्रह्लादजी ! पुत्रस्नेहको त्यागकर तुम धर्मपर अटल रहे, इसलिये तुम्हारा यह पुत्र सौ वर्षतक जीवित रहे । (मैं इसके प्राणहरण नहीं करूँगा) ।'

यह है सच्ची धर्मपरायणता और धर्मके लिये समस्त ममताओंका आदर्श त्याग ।

राजा हरिश्चन्द्रने भारी-से-भारी विपत्ति सही, किंतु धर्मका त्याग नहीं किया । यहाँतक कि धर्मपालनके लिये उन्होंने अपनी पत्नीको बेंच दिया और स्वयं चाण्डालके यहाँ नौकरी कर ली । इसीके प्रभावसे वे स्त्री-पुत्रोंसहित परम गतिको प्राप्त हुए ।

महाराज युधिष्ठिरपर ऐसी विपत्तियाँ कई बार आयीं, परंतु उन्होंने कभी धर्मका त्याग नहीं किया । जब द्रौपदी और चारों भाइयोंके गिर जानेपर महाराज युधिष्ठिर अकेले ही हिमालयकी ओर बढ़ रहे थे, एक कुत्ता उनके पीछे-पीछे चला आ रहा था । उसी समय देवराज इन्द्र रथ लेकर आये और उन्होंने युधिष्ठिरको रथपर चढ़नेके लिये अनुरोध किया । परंतु युधिष्ठिरने इन्द्रके बहुत आग्रह करनेपर भी अपने भक्त कुत्तेको छोड़कर अकेले स्वर्ग जाना नहीं चाहा । उन्होंने स्पष्ट कह दिया—'मैं इस कुत्तेको किसी प्रकार भी नहीं छोड़ सकता ।' इसपर साक्षात् धर्म—जो कि कुत्तेके रूपमें थे—प्रकट हो गये । उन्होंने युधिष्ठिरसे कहा—'तुमने कुत्तेको अपना भक्त बतलाकर स्वर्गतकका त्याग कर दिया । तुम्हारे इस त्यागकी बराबरी कोई स्वर्गवासी भी नहीं कर सकता ।' ऐसा कह वे युधिष्ठिरको रथमें चढ़ाकर स्वर्ग गये । इस प्रकार महाराज युधिष्ठिरने प्राणोंकी भी परवा न करके अन्ततक धर्मका पालन किया ।

जो लोग धर्म और ईश्वरको नहीं मानते, वे धर्म और ईश्वर क्या वस्तु है, इसीको नहीं समझते । उन्होंने न तो कभी इस विषयके शास्त्रोंका ही अध्ययन किया है और न इस विषयका तत्त्व समझनेकी ही कभी चेष्टा की है । उनका इस विषयके अन्तरमें प्रवेश न होनेके कारण ही वे इस महान् लाभसे वञ्चित हो रहे हैं ।

ईश्वरकी आज्ञारूप जो धर्म है, उसका सकामभावसे पालन किया जाता है तो उससे इस लोक और परलोक-में सुख मिलता है और यदि उसका निष्कामभावसे पालन किया जाता है तो उससे अपने आत्माका कल्याण हो जाता है। भगवान्‌ने कहा है—

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥
(गीता ३। ११)

'तुमलोग इस यज्ञके द्वारा देवताओंको उन्नत करो और वे देवता तुमलोगोंको उन्नत करें। इस प्रकार निःस्वार्थभावसे एक-दूसरेको उन्नत करते हुए तुमलोग परम कल्याणको प्राप्त हो जाओगे।'

इसलिये हमें निष्कामभावसे धर्मका पालन करना चाहिये। निष्कामभावसे धर्मका पालन करनेवाला मनुष्य परम पदको प्राप्त हो जाता है।

विश्व-प्रकृतिका रूप और स्वरूप

(लेखक—श्रीअक्षयकुमार वन्द्योपाध्याय, एम्० ए०)

[गताङ्कसे आगे]

जो सारे द्वन्द्वोंसे परे, आत्माराम और आत्मपूर्ण हैं, उनकी चेतनामें कामका उद्भव क्यों और कैसे हुआ—जो देश और कालके अतीत हैं, उनके भीतर देश-कालमें आत्मप्रकाश, आत्मसृष्टि और आत्मसम्भोगकी इच्छा क्यों और कैसे उद्बुद्ध हुई, यह कोई नहीं बतला सकता, कोई अनुमान भी नहीं कर सकता, इसकी कल्पना भी किसीके देश-काल-परिच्छिन्न चित्तमें नहीं हो सकती। नासदीय सूक्तके ऋषि तटस्थ होकर स्वयं कह रहे हैं—

को अद्धा वेद क इह प्र वोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः।
अर्वाग् देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आ बभूव॥
इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन् त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद॥
(ऋग्वेद १०। १२९। ६-७)

'कहाँसे, किस कारणसे, किस उद्देश्यसे देश-कालमें इस विचित्र सृष्टिका उद्भव हुआ है, इसे कौन जानता है, विश्व-जगत्‌में कौन इस बातको बतला सकता है? देवगणने भी तो इस विचित्र सृष्टिके बाद ही जन्म लिया है। जिस मूल कारणसे सबकी उत्पत्ति हुई है, उसका वृत्तान्त कौन जानता है? यह सृष्टि-वैचित्र्य जहाँसे हुआ है, उसका विधाता कोई था या न था—इसको एकमात्र वही जान सकते हैं, जो इस सृष्टिको अतिक्रम करके परम व्योममें (देशकालातीत सच्चिदानन्दमय स्वरूपमें) इसके अध्यक्षरूपसे स्व-महिमामें नित्य विराजमान हैं। अथवा वह भी जानते हैं या नहीं—इसे कौन जाने?'

अतएव वेद यह घोषित करता है कि सृष्टिका मूल रहस्य चिरकालसे ही रहस्यमय बना हुआ है और बना रहेगा। इस रहस्यका उद्घाटन करना किसीके लिये सम्भव नहीं है, स्वयं सृष्टि-विधाता भी इस रहस्यका द्वार जीव-बुद्धिके सामने खोलकर दिखला नहीं सकते; परंतु विश्व-जगत्‌का तात्त्विक स्वरूप जो देशकालातीत स्वयंपूर्ण, सत्य-शिव-सुन्दर है, तथा उसीका आश्रय लेकर उसकी ही सत्तासे सत्तावान् होकर कामने जो अनादि, अनन्त देश-कालमें विश्व-जगत्‌का विस्तार किया है और कर रहा है—सम्बुद्ध मानव-चेतनामें यह तथ्य निर्भ्रान्त रूपमें प्रतिभात होता है। विश्वातीत दृष्टिमें परम-तत्त्व 'प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतम्' है, वह नित्य 'आनीद-वातं स्वधया तदेकम्' 'नेह नानास्ति किञ्चन' है। और जागतिक दृष्टिमें जगत्‌के सम्बन्धसे वही नित्य 'सकामः' 'सर्वकामः' 'विश्वकामः' है। अनादि अनन्तकालसे उसके हृदयपर कामकी लीला हो रही है, चिरकालसे ही 'सोऽकाम-यत बहु स्यां प्रजायेय' है। समग्र दृष्टिका अवलम्बनकर सम्बुद्ध चेतन ऋषि देखते हैं कि उनके प्राणोंका चिर-आराध्य, चिर-आकाङ्क्षित, चिर-वरेण्य परमतत्त्व विश्व-जगत्‌में चिरकालसे अनन्त रूपोंमें काम-क्रीड़ा करता हुआ भी नित्य कामातीत है, सब प्रकारके व्यवहारोंमें आत्मप्रकाश करता हुआ भी नित्य सारे व्यवहारोंसे अतीत है, असंख्य प्रकारकी द्वन्द्वमयी गतियोंके भीतर—असंख्य प्रकारकी सृष्टि, परिणति और ध्वंसके भीतर, नित्य नये-नये रूपमें अपने ऐश्वर्य और माधुर्य-की पूर्णताका आस्वादन करता हुआ भी वह नित्य द्वन्द्वातीत

है, नित्य स्थाणु है, नित्य स्व-स्वरूपमें—स्व-महिमामें विराजमान है। सर्वभावातीत और सर्वभावमय स्वरूपमें ही वह सत्य-शिव-सुन्दर, नित्य स्वयंपूर्ण, नित्य परमानन्दमय है।

श्रुतिसिद्ध, पूर्णप्रज्ञानुभूत इस सर्वकामातीत, सर्वकाममय, अद्वैत, सच्चिदानन्दघन परम तत्त्वको पुराणों और तन्त्रोंमें, नाना प्रकारकी विचित्र मूर्तियोंमें आस्वादन और आराधन करनेकी शिक्षा दी गयी है। शैवपुराण और तन्त्रमें इस तत्त्वका नाम 'शिव' है, वैष्णव पुराण और तन्त्रमें इसी तत्त्वका नाम 'विष्णु' 'कृष्ण' है, रामायत सम्प्रदाय इसी तत्त्वकी 'राम' नामसे उपासना करता है, मातृभक्त इसी तत्त्वको 'मा' कहकर आराधना करता है। यह विश्वातीत और विश्वरूपमें लीलायमान तत्त्व ही मानवमात्रके लिये चिरकालसे आराधना करने तथा अनुसन्धान करनेकी वस्तु है। युगलमूर्तिमें इसी अद्वय परमतत्त्वकी भावना, आराधना और आस्वादन किया जाता है। यहाँ दो अति मनोहर युगलमूर्तिका उल्लेख किया जाता है।

शैव साधनामें शिवकी नित्य भिखारीरूपमें तथा वैष्णव साधनाके श्रीकृष्णको नित्य कामुक (!) रूपमें भावना और आस्वादन किया जाता है। इन दो प्रकारकी भजन-कल्पनाके मूलमें श्रुतिके 'आनीदवातं स्वधया तदेकम्' तथा 'कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि' वर्तमान है। क्रमविकाशशील अनन्त ऐश्वर्य और अनन्त सौन्दर्यके भाण्डार, इस विश्व-जगत्के पारमार्थिक नित्य-स्वरूप एक अद्वैत स्वयंपूर्ण पुरुष हैं जिनके विश्वातीत स्वरूपमें इस विचित्र ऐश्वर्य और सौन्दर्यका कोई भी बाह्य परिचय नहीं है, जो सर्वरिक्त सर्वशून्य सर्वशक्ति-विरहित रूपमें अपनेमें आप विराजमान हैं, जिनकी स्वरूपभूता अघटन-घटनापटीयसी महाशक्ति समस्त ऐश्वर्य और सौन्दर्यको बटोरकर सम्पूर्ण अव्यक्त भावमें उनके अङ्कमें (उनके एकरस चैतन्य स्वरूपमें) विलीन हो रही हैं, जो तत्त्वरूपमें 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्' हैं। अतएव यह पुरुष केवल 'हैं'—परंतु कोई वस्तु उनकी नहीं है, वे सर्वसम्पद्विहीन, सर्वसम्भोगविहीन—'अहमेवासमेव अग्रे नान्यद् यत् सदसत् परम्' हैं। परंतु वे 'आनीत्' जीवन्त हैं, उनके प्राण जाग्रत् हैं, और नित्य जाग्रत् और जीवन्त होनेके कारण ही वे प्राण उनकी स्वरूपभूत पूर्णताको सर्वतोभावेन आस्वादन करनेके लिये व्याकुल हैं। उनके अन्तर्निहित अनन्त ऐश्वर्य और सौन्दर्यको सम्भोगके विषयरूपमें प्रकट कर अनन्त आस्वाद्य आकारोंमें आकारित कर उपभोग करनेके लिये लालायित हैं। अतएव मानवीय दृष्टिसे इस प्रकारकी धारणा या कल्पना करना असमीचीन नहीं है कि विश्वके मूलकारणस्वरूप निर्विशेष आदिपुरुषके हृदयमें अनन्त क्षुधा, अनन्त सम्भोगकी लिप्सा है। इसीका नाम 'काम' है। उनकी स्वरूपभूता महाशक्तिकी परमाव्यक्त अवस्थामें—उनके अनन्त ऐश्वर्य और सौन्दर्यकी सम्पूर्ण अनभिव्यक्त अवस्थामें—यही काम उसकी सत्तामें विद्यमान है, यह कल्पना करनी ही पड़ेगी। अन्यथा कैसे कहा जा सकेगा कि वे जीवन्त पुरुष हैं, चैतन्यमय हैं, अनन्त शक्तिसम्पन्न हैं और अपने प्राणोंके भीतर अनन्त ऐश्वर्य और अनन्त सौन्दर्यको छिपाकर रिक्तवत् अवस्थान कर रहे हैं! 'शक्ति' की व्यक्त अवस्थामें जो अनन्त विषयरूपमें और विषयसम्भोग रूपमें प्रकटित हैं, अव्यक्त अवस्थामें वही कामरूपमें विराजित है, केवल अव्यक्त 'चाह' के रूपमें प्राणोंके भीतर विद्यमान है। यही काम उनकी शक्तिके भीतर स्पन्दन उत्पन्न करता है, शक्तिको परिणामशील करता है, शक्तिके भीतर जो छिपा हुआ है, उपलभ्य और सम्भोग्य विषयके रूपमें उसके प्रकाशकी व्यवस्था करता है। अतएव कहा जा सकता है कि काम ही शक्तिके वैचित्र्यमय प्रकाशका और विकाशका हेतु और नियामक है। अर्थात् अद्वय परमपुरुषके अन्तरमें स्थित कामसे ही सृष्टिका उद्भव होता है, इस कामके द्वारा ही सृष्ट-जगत्का क्रमविकाश नियन्त्रित है। परमपुरुषके 'अनन्त काम' की पूर्तिके लिये ही उनकी स्वरूपभूता महाशक्ति अनन्त रूपमें, अनन्त रसमें, अनन्त आकार-प्रकारमें अनादि अनन्त काल अपने अन्तर्निहित अनन्त ऐश्वर्य और अनन्त सौन्दर्यके क्रमविकाशके सम्पादनमें नियत हो रही है। देशकालातीत स्वयंपूर्ण अद्वय पुरुषका काम भी अनन्त है, इसलिये देश और कालमें, कहीं और कभी भी उसकी सम्यक् पूर्ति नहीं होती, अतएव सृष्टि-प्रवाहका भी कभी अन्त नहीं होता, विश्वप्रकृतिके ऐश्वर्य और माधुर्यका विकाश सृष्टिके किसी भी स्तरमें पहुँचकर रुकता नहीं।

विश्व-जगत्में क्रमशः अभिव्यक्त होनेवाले ऐश्वर्य तथा विचित्र भोग्यसम्पत्की ओर जिन कल्पनाप्रिय मनीषी साधकोंने विशेषरूपसे दृष्टि प्रदान की है, उन्होंने विश्वप्राण, विश्वनियन्ता, स्वयंपूर्ण, अद्वय, सच्चिदानन्दघन परमपुरुषकी कालिक दृष्टिसे भूखे भिखारीके रूपमें कल्पना की है। भूखे भिखारीके रूपमें वे परमपुरुष अपनी ही स्वरूपभूता, अपने ही अङ्कमें लीन अनन्त शक्तिमयी परमा प्रकृतिके सामने

भिक्षाकी झोली लेकर चिरकालसे हाथ फैलाये हुए हैं। उनके प्राणोंकी भूख मिटानेसे उसकी प्रकृति अन्नमयी हो गयी है। परमा प्रकृतिने अपने अव्यक्त भण्डारमें जितना अन्न, जितना ऐश्वर्य तथा जितनी भोग-सामग्री छिपायी हुई है, देश-कालमें क्रमशः उसको अभिव्यक्त करती जा रही हैं। कारणावस्थासे सूक्ष्मावस्था, सूक्ष्मावस्थासे स्थूलावस्था—तथा स्थूलावस्थाके क्रमिक परिणाममें कितने शब्द, स्पर्श, रस, रूप, गन्ध, कितनी इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहङ्कार, कितने नये-नये भोग्य-सम्पत् अभिव्यक्त हो रहे हैं। यह अभिव्यक्ति अनादिकालसे चल रही है, शिवकी क्षुधानिवृत्तिके उद्देश्यसे प्रकृतिकी साधना चल रही है। शिवकी अनन्त क्षुधा किसी प्रकार नहीं मिट रही है, उनकी भिक्षाकी झोली भर नहीं रही है। उनकी प्रकृतिकी साधनाकी भी पूर्ण प्रतिष्ठा नहीं हो रही है। विश्व-प्रकृति जैसे-जैसे नये-नये ऐश्वर्यका प्रसव करती जाती है, वैसे-ही-वैसे शिवकी क्षुधा भी बढ़ती जाती है। शिव असंख्य जीवात्माके रूपमें अपनी प्रकृतिके ही गर्भमें नये-नये जन्म लेकर (जीवेन आत्मना अनुप्रविश्य) प्रकृतिके द्वारा प्रदान किये हुए 'अन्न'का उपभोग कर रहा है, समस्त भोग्यसम्पत्का सम्भोग कर रहा है और नित्य नयी माँग उपस्थित कर रहा है। असंख्य जीवोंके रूपमें शिवकी इस चाहनाको पूर्ण करनेके लिये विश्व-प्रकृतिका ऐश्वर्य क्रमशः वृद्धिको प्राप्त हो रहा है, प्रकृतिदेवी क्रमशः अनन्ताभरणभूषिता अनन्त ऐश्वर्य-समन्विता राजराजेश्वरी अन्नपूर्णा महालक्ष्मी-मूर्तिमें शोभायमान हो रही हैं। यह अन्नपूर्णा महालक्ष्मी-मूर्ति ही समस्त विश्व-प्रकृतिकी आदर्श मूर्ति है। समस्त विश्व जब अन्नपूर्णा महालक्ष्मी-मूर्तिको ग्रहण कर लेगा, विश्वमें जब कहीं कोई अभाव-—अभियोग न रहेगा; कहीं अन्नके लिये, भोग-सामग्रीके लिये किसी प्रकारकी प्रतियोगिता, प्रतिद्वन्द्विता, छीना-झपटी या मारपीटकी आवश्यकता या अवकाश न रहेगा, सर्वत्र पूर्ण तृप्तिकी अनुभूतिसे आकाश, वायु, जल, स्थल, हृदय, मन, बुद्धि—सब परमानन्दसे भरपूर हो जायँगे, तभी शिवकी भिक्षा-झोली भरेगी, उनकी भूख मिटेगी, उनकी शक्तिमयी परमा प्रकृतिकी तपस्या, शिव-सेवाव्रत, ऐश्वर्य-सृष्टिकी साधना—सार्थक होगी। विश्वनाथ और अन्नपूर्णाके इस युगल-मिलनके दर्शनके लिये विश्व-प्रेमी भक्त चिरकालसे अभिलाषा कर रहे हैं, देश-कालमें परिणामशील इस जगत्में शिवात्मिका, शिवाभिन्ना, शिवसेवामें निरत रहनेवाली परमा प्रकृतिकी अन्नपूर्णा महालक्ष्मी-मूर्तिका सम्यक् विकाश हो, उसके साथ पूर्ण मिलनमें परम पुरुष शिवकी भिक्षाकी झोली पूर्ण हो, समस्त विश्व आनन्दसे भरपूर हो—यही शिव-अन्नपूर्णाके अनन्य भक्तकी इच्छा है। जगत्के सारे ऐश्वर्य शिवकी सेवामें निवेदित हों; विश्वके सम्पद्के विकाशके प्रत्येक स्तरमें सत्य-शिव-सुन्दरका आनन्दविलास आस्वादित हो—यही विश्व-प्रेमिक शिवभक्तकी आकाङ्क्षा है।

जो रसिक और भावुक साधक विश्वप्रकृतिके ऐश्वर्यकी अपेक्षा सौन्दर्यके प्रति अधिकतर आकृष्ट हैं, सौन्दर्य-विकाशमें ही जो ऐश्वर्यकी सम्यक् सार्थकताका अनुभव करते हैं, वे विश्व-जगत्के कालिक विवर्त्तमें परमपुरुषकी स्वरूपभूता परमा प्रकृतिके अन्तर्निहित सौन्दर्यका ही स्तर-स्तरमें प्रकाश देखा करते हैं। देश-कालातीत परम व्योममें (चित्स्वरूपमें) परमा प्रकृति परम पुरुषके साथ एकीभूत रहती हैं, उस समय परम पुरुष सर्वभावातीत रसस्वरूप होते हैं—उस समय रसमें कोई वैचित्र्य नहीं होता, विलास नहीं होता, हिल्लोल नहीं रहता। उस समय रहता है 'शान्तं शिवं अद्वैतं प्रज्ञानं ब्रह्म'। परंतु 'कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि'। उस रस-स्वरूप शान्त शिव अद्वैतके प्राणमें रस-विलासका काम आविर्भूत हुआ—नित्य आत्मारामके भीतर विचित्र रूपमें आत्मरमणकी पिपासा जाग्रत् हुई। विश्व-जगत्के चरम पारमार्थिक स्वरूप—सत्य-शिव-सुन्दर परम पुरुषकी इस आत्मरमण या रस-विलासकी कामनासे ही देश-कालकी उत्पत्ति हुई, विश्व-वैचित्र्यकी सृष्टि हुई। नित्य स्वयंपूर्ण परमपुरुष अपनी ही स्वरूपभूता अनन्त शक्तिमयी अनन्त रसमयी परमा प्रकृतिके प्रति 'कामुक' हो उठे—उनके अन्तर्निहित अनन्त रससम्पद्, अनन्त सौन्दर्य-माधुर्य अनन्त रूपोंमें—अनन्त भावोंमें सम्भोग करनेके लिये लालायित हो उठे। असीम रस-पिपासा, सौन्दर्य-पिपासा और सम्भोग-पिपासाको लेकर वे रसराज परमपुरुष अपने साथ एकीभूतभावसे नित्य विद्यमान परमा प्रकृतिके द्वारपर समुपस्थित हो गये।

निखिल रसामृतसिन्धु परमा प्रकृति परम पुरुषके 'काम' को चरितार्थ करनेके लिये—उनके रस-सम्भोगकी लालसाको परितृप्त करनेकी इच्छासे अव्यक्त अवस्थासे व्यक्त अवस्थामें आयी। कारणावस्थासे सूक्ष्मावस्था और उससे क्रमशः स्थूलावस्थामें आत्मप्रकाश किया। परमपुरुषके अतृप्त कामकी प्रेरणासे प्रकृतिके प्रत्येक अवयवमें, प्रत्येक अङ्ग-प्रत्यङ्गमें, प्रत्येक अणु-परमाणुमें भीतरका सौन्दर्य-माधुर्य बाहर फूट निकला। प्रकृतिके अन्तर्निहित सौन्दर्य-माधुर्यके ही क्रमिक विकाशके फल-स्वरूप विश्वमें जडसे प्राणका विकाश, प्राणसे

मनका विकाश, मनसे अहंकारका विकाश, अहङ्कारसे बुद्धिका विकाश—जडराज्यमें प्राणराज्यका उद्भव, प्राणराज्यमें अशेष वैचित्र्यमय मनोराज्यकी प्रतिष्ठा और मनोराज्यके ऊपर बुद्धिसम्पन्न अहंबोधका विजयलाभ हुआ। इन सारे क्रमिक विवर्त्तनोंके बीच रसराज परमपुरुषकी स्वरूपभूता अनन्त रसमयी परमा प्रकृति देश-कालमें क्रमशः अशेष सौन्दर्य-माधुर्यसे सुशोभित होकर परम पुरुषकी रस-कामनाको चरितार्थ कर रही है। सौन्दर्य-माधुर्यकी, रस-लावण्यकी चरम पराकाष्ठा ही वैष्णवीय भावनामें श्रीश्रीराधामूर्त्ति हैं। जिस मूर्त्तिमें रसका चरम विकाश है, जिसके किसी अङ्गमें सौन्दर्य-की किसी प्रकारकी अपूर्णता नहीं है, जिसके प्रत्येक अङ्ग-प्रत्यङ्गके प्रत्येक अणु-परमाणुमें माधुर्य उल्लसित हो रहा है। जिसके प्रत्येक हाव-भावके भीतरसे लावण्य बिखर रहा है, जिसकी प्रत्येक देहवृत्ति और इन्द्रियवृत्ति, प्रत्येक मनोवृत्ति और हृदय-वृत्ति, बुद्धिके प्रत्येक विचार और ज्ञान, अभिमानास्पद और ममतास्पद प्रत्येक सम्पद्के भीतर नित्य-निरन्तर परमपुरुष-सम्भोग्य-रसकी सृष्टि और रसका विलास हो रहा है, वही श्रीराधा हैं। रसके उपासक तत्त्वदर्शी प्रेमी भक्तोंने विश्वप्रकृतिकी इस चरम आदर्श मूर्तिका दर्शन किया है। यही कारण है कि उनकी दृष्टिमें विश्व-जगत्के चरमतत्त्व श्रीश्रीराधा-कृष्ण हैं—विश्वके चरम पारमार्थिक देशकालातीत चैतन्य तत्त्व उनकी दृष्टिमें रसराज श्रीकृष्ण हैं तथा देश-कालमें लीलायमान महाशक्तिका स्वरूप, महाभावमयी अनन्तरस-विलासिनी श्रीकृष्णप्रेयसी श्रीराधा हैं। विश्वमें सर्वत्र श्री-राधाकृष्णकी युगलमूर्तिका दर्शन करनेमें ही मानव-साधनाकी चरम सार्थकता है।

योग-भक्ति-निदिध्यासन

(लेखक—स्वामीजी श्रीकृष्णानन्दजी सरस्वती)

योगके सम्बन्धमें भ्रान्ति

मोक्ष तो ज्ञानसे होता है, इसलिये योगमें किया परिश्रम निष्फल है

योगके ब्रह्मविद्यामें उपयोगविषयक उपनिषद्-ग्रन्थोंके वचन

बृहदारण्यकोपनिषद् (४। ४। २३) में वर्णन आता है कि आत्माकी नित्य महिमाको जाननेवाला विद्वान् शान्त, दान्त, उपरत, तितिक्षु तथा समाहित होकर आत्माके आत्मा-में दर्शन करे। इसका अभिप्राय यह है कि एकाग्रभूमिके बिना उपनिषद्विद्याके श्रवणमें अधिकार नहीं होता।

कई सज्जन योगको ब्रह्मविद्यामें उचित महत्त्व नहीं देते और अपने इस पक्षके समर्थनमें कुछ श्रुति-वचनोंको उपस्थित करते हैं और वे ऐसा मानते हैं कि योगके बिना भी केवल शास्त्र-विचारके आधारपर भी आत्मज्ञानकी उपलब्धि तथा कृतकृत्यता प्राप्त हो सकती है। वे लोग केन० (३। ५), 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चनेति' (तैत्तिरीय० २। ९। १), (माण्डूक्य० ७)के आधारपर ब्रह्मको मन, वाणी आदिका अविषय कहकर, ब्रह्मज्ञानविषयक योगादिके साधनसम्बन्धी सब परिश्रमको निष्फल सिद्धकर उपराम हो जाते हैं। अथवा निम्नलिखित वचनोंके आधारपर यह सिद्ध करते हैं कि मोक्ष तो केवल ब्रह्मज्ञानसे होता है और ब्रह्मज्ञानके लिये श्रुति—उपनिषद् ही अपूर्व एकमात्र प्रमाण है। अतः योगादि अभ्यास व्यर्थ है—

तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥

(श्वेता० ३। ८)

'उस नित्य एकरस आनन्द चिद्घन परमात्माके ज्ञानसे मृत्युका अतिक्रमण कर जाता है। उत्पत्तिविनाशशील संसार-चक्रसे मुक्त होकर अमृतपदको प्राप्त कर लेता है। इस अमर धामके लिये परमात्म (साक्षात्कार) ज्ञानसे अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग या उपाय नहीं है।'

तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥

(ईश० ७)

'उस अद्वितीय परमात्माके दर्शन कर लेनेपर शोक-मोहका क्या काम ?'

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥

(मुण्डक० २। २। ८)

'उस परावर—कार्यकारणरूप अथवा शुद्ध शबलस्वरूप परमात्माके साक्षात्कारसे जीवकी आत्मानात्म-अविवेकरूपी हृदयकी गाँठ खुल जाती है। आत्मा, परमात्मा, परलोक

आदिके विषयमें इसके सम्पूर्ण संशयोंका उच्छेद हो जाता है और समस्त शुभाशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं।'

नियतकारणत्वान्न समुच्चयविकल्पौ।

(सांख्य० ३ । २५)

'नियत कारण होनेसे समुच्चय और विकल्प नहीं है। ज्ञानसे मुक्ति तथा विपरीत ज्ञानसे बन्ध होना निश्चित है। यह नहीं हो सकता कि ज्ञानसे मुक्ति तथा विपरीत ज्ञानसे बन्धन हो।'

विवेकान्निःशेषदुःखनिवृत्तौ कृतकृत्यता नेतरान्नेतरात्॥

(सांख्य० ३ । ८४)

'पुरुष प्रकृतिके विवेकज्ञानसे सम्पूर्ण दुःखोंके नाश हो जानेपर कृतकृत्य हो जाता है। अन्य कोई उपाय नहीं—अन्य कोई उपाय नहीं।'

दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदन्तरापायादपवर्गः॥ (न्यायसूत्र १ । १ । २)

'आत्मज्ञानद्वारा मिथ्याज्ञान, दोष-राग-द्वेष, प्रवृत्तिकर्म, पुनर्जन्म, दुःखके क्रमशः निवृत्त हो जानेपर अपवर्ग-मोक्षकी प्राप्ति होती है।'

तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि।

(बृहदारण्यक०)

'उस पुरुषके विषयमें मैं आपसे पूछता हूँ जिसका उपनिषद् निर्देश करते हैं। जिसके ज्ञानका उपनिषद्-शिक्षा एकमात्र अपूर्व उपाय है।'

ज्ञानादेव तु कैवल्यं प्राप्यते येन मुच्यते।

(स्मृति)

'ज्ञानसे ही कैवल्यकी प्राप्ति होती है जिससे संसार-चक्रसे मुक्त हो जाता है।'

सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते॥

(गीता ४ । ३३)

'हे अर्जुन! ज्ञानके उदय होनेपर सम्पूर्ण कर्म समाप्त हो जाते हैं। उनका नाश हो ज़ाता है अथवा सम्पूर्ण कर्मोंका परम फल प्राप्त हो जानेके कारण उनका व्यक्तिगत कुछ उपयोग नहीं रहता।'

एतेन योगः प्रत्युक्तः। (ब्रह्मसूत्र २ । १ । ३)

'पूर्वसूत्रोक्त सांख्यके खण्डनसे ही योगका भी खण्डन हो जाता है।'

न योगेन न सांख्येन कर्मणा नो न विद्यया।
ब्रह्मात्मैकत्वबोधेन मोक्षः सिद्ध्यति नान्यथा॥

(विवेकचूडामणि ५८)

'न योगसे, न सांख्यसे, न कर्मसे, न विद्या-उपासनासे मोक्षकी प्राप्ति हो सकती है। मोक्ष तो केवल ब्रह्म-आत्माके एकत्वज्ञानसे ही सिद्ध होता है। मोक्षसिद्धिका अन्य कोई साधन नहीं है।'

इन सब श्रुतियों, स्मृतियोंका एक स्वरसे यह कथन है कि ब्रह्मज्ञान ही साक्षात् मोक्षका साधन है। ज्ञानके बिना मोक्ष नहीं हो सकता।

उत्तर—यद्यपि यह शास्त्रसम्मत सिद्धान्त है कि ब्रह्म अवाङ्मनसगोचर है; परंतु श्रुतिका परम प्रयोजन तो ब्रह्मज्ञान ही है और इसीलिये प्रधानतया श्रुतिकी प्रवृत्ति हुई है अन्यथा श्रुति निष्फल तथा अप्रामाणिक हो जाती है। अतः यदि ब्रह्मज्ञानके उपाय ध्यानादिका निषेध होगा तो ज्ञानोपाय उपनिषद्-विद्या भी तो खण्डित हो जायगी। इसलिये ज्ञानके उपाय उपनिषद्को तो स्वीकार करना ही पड़ेगा। श्रुति-उपनिषद्को इस विषयमें अपूर्व प्रमाण स्वीकृत होनेपर भी जैसे अन्य प्रमाणोंकी सफलताके लिये अन्य सहकारी साधन अपेक्षित होते हैं; श्रुतिप्रमाणकी सफलताके लिये भी समाहित चित्तादि अन्य सहकारी साधनोंकी आवश्यकता है। इसलिये यद्यपि उपर्युक्त केन, तैत्तिरीय उपनिषदादिके श्रुति-वचन ब्रह्मको वाङ्मनसागोचर तत्त्व प्रतिपादित करते हैं। परंतु अन्य श्रुतियाँ बुद्धिके उपयोगका भी निर्देश करती हैं और योगका सहायक रूपसे प्रतिपादन करती हैं।

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः॥

(कठ० १ । ३ । १२)

'यह आत्मा सब जड-चेतन भूतोंमें मायाके पर्देके पीछे छिपा हुआ है। इसलिये सर्वसाधारण बहिर्मुख स्थूल बुद्धिवालोंको उसका प्रकाश (ज्ञान) नहीं होता। परंतु सूक्ष्मदर्शी कुशल जन इस सूक्ष्मतम तथा अन्तरतम तत्त्वका एकाग्र तथा सूक्ष्म बुद्धिद्वारा साक्षात्कार करते हैं।'

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं
गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं
मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति॥

(कठ० १ । २ । १२)

'जो आत्मतत्त्व योगमायाके पर्देमें छिपा हुआ है, जो सर्वपदार्थोंमें व्याप रहा है तथा सबके हृदयरूपी गुफामें स्थित है,

संसाररूप गहन वनमें निवास करता है। जो सनातन है इसीलिये जिसका दर्शन अत्यन्त कठिन है, उसको शुद्ध तथा स्थिर मतिवाले अध्यात्मयोगकी प्राप्तिद्वारा दर्शनकर हर्ष-शोक छोड़ देते हैं।'

शतं चैका च हृदयस्य नाड्य-
स्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका ।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति
विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति ॥

(कठ० २ । ३ । १६)

'मनुष्यके हृदयसे **१०१** नाड़ियाँ निकलती हैं, उनमेंसे **एक** सुषुम्णा ऊपरकी ओर जाती है। मूर्धा —(कपाल) **ब्रह्मरन्ध्र**की ओर निकलती है। उसके द्वारा ऊपरके लोकमें जाकर अमृतपदको प्राप्त होता है। शेष सौ नाड़ियोंद्वारा उत्क्रमण करनेपर पुनः संसारको प्राप्त होता है।'

त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं
हृदीन्द्रियाणि मनसा संनिवेश्य ।
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान्
स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि ॥

(श्वेता० २ । ८)

'विद्वान् (सिर, ग्रीवा और छाती) तीन उन्नत भागोंको सम (एक रेखामें सीधा) रखकर समस्त इन्द्रियोंको मन-सहित हृदयमें निरुद्ध करके ओंकाररूप नौकाके द्वारा सम्पूर्ण **भयङ्कर** प्रवाहोंको पार कर जाय।'

धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं
शरं ह्युपासानिशितं सन्धयीत ।
आयम्य तद्भावगतेन चेतसा
लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य विद्धि ॥

(मुण्डक० २ । २ । ३)

'उपनिषद्में प्रसिद्ध धनुषरूपी महान् अस्त्रको लेकर उसपर उपासना (निरन्तर ध्यान) द्वारा तीक्ष्ण किया हुआ बाण चढ़ाये। फिर उसको (इन्द्रियसहित मनको) खींच-कर (अपने-अपने विषयसे पृथक् करके) अक्षर-ब्रह्ममें अत्यन्त भक्तिद्वारा लगा दे। हे प्रिय ! उस अक्षर-ब्रह्मरूपी **लक्ष्यका** ही वेधन कर अर्थात् ब्रह्ममें ही मनको स्थिर कर दे। **मनको** ब्रह्माकार बना दे।'

ध्यानधारणाभ्यासवैराग्यादिभिस्तन्निरोधः ॥

(सांख्य० ६ । २९)

'ध्यान, धारणा, अभ्यास, वैराग्य आदिसे मनका निरोध होता है।'

वैराग्याभ्यासाच्च ॥ (सांख्य० ३ । ३६)

'वैराग्य और अभ्यासद्वारा मनका निरोध होता है।'

अरण्यगुहापुलिनादिषु योगाभ्यासोपदेशः ॥

(न्याय० ४ । २ । ४२)

'वन, गुफा, नदीतट आदि एकान्त शुद्ध निर्मल तथा अनुकूल स्थानोंमें अभ्यासका उपदेश है।'

तदर्थं यमनियमाभ्यामात्मसंस्कारः । (न्याय० ४ । २ । ४६)

'योगशास्त्रके विध्यनुसार यम-नियमादि आठ अङ्गोंके द्वारा आत्मसंस्कार करना चाहिये।'

तं शिष्यगुरुसब्रह्मचारिविशिष्टश्रेयोऽर्थिभिरनुसूयुभि-भ्युपेयात् । (न्याय० ४ । २ । ४८)

'अपनेसे अधिक विद्वान् गुरुसे संवाद करना चाहिये। यह संवाद विनीत-भावयुक्त होना चाहिये। उत्तर पाकर धृष्टता या हठ नहीं करना चाहिये। यदि सन्देह रह जाय तो नम्र तथा विनीत भावसे पुनः निवेदन करे। स्वाध्यायी तथा योग्य शिष्योंके साथ भी प्रेमपूर्वक संवाद करना चाहिये। इस प्रकार संवाद करनेसे तत्त्वज्ञानमें सहायता मिलती है। अपवर्गके साधन ज्ञानका विस्तृत निरूपण करनेके पश्चात् न्यायदर्शनके उपर्युक्त तीन सूत्रोंमें ज्ञानके साधन योगका यम-नियमादि अङ्गोंके सहित उपदेश मिलता है। जिसका सम्यक् विस्तार योगदर्शनमें हुआ है। और इसका आशय यह है कि तत्त्वज्ञान सामान्यतया केवल तर्क—ऊहापोह आदिके बलपर प्राप्त नहीं हो सकता। न्यायदर्शन तर्कप्रधान शास्त्र होनेपर भी यह स्वीकार करता है कि केवल तर्क या विवेचनद्वारा उस परम तत्त्वका सफल साक्षात्कार नहीं हो सकता, प्रत्युत तत्त्व प्रत्यक्ष तथा दोष-निवृत्तिसे होनेवाली तत्त्वनिष्ठाके लिये योगकी अनिवार्य आवश्यकताको स्वीकार करता है। योग-दर्शनका तो कहना ही क्या है जिसकी प्रवृत्ति ही योगके प्रति-पादनके निमित्त हुई है। ब्रह्मसूत्रके कर्ता श्रीव्यास भगवान्का योगदर्शनपर अति प्राचीन तथा प्रामाणिक भाष्य मिलता है इसलिये योगका समूल खण्डन नहीं किया जा सकता। ब्रह्म-सूत्र (२ । १ । ३) 'एतेन योगः प्रत्युक्तः'का उल्लेख किसी विशेष सिद्धान्तमें मतभेदके कारण किया गया हो सकता है। चित्तका समाधान ब्रह्मविद्याके अन्तरतम साधन षट्सम्पत्ति-का अत्युपयोगी अङ्ग है और जिस योगका वर्णन अनेक स्थलोंपर उपनिषदोंमें आता है उसका समर्थन तथा अ

उपनिषदोंमें वर्णित उपासनाओंके विषयोंमें संशयोंका निवारण स्वयं ब्रह्मसूत्रकार ब्रह्मसूत्र तृतीयपादमें करते हैं । वेदान्त-दर्शन (सूत्र ३ । २ । २४) में भी योगका इस प्रकार समर्थन मिलता है—

अपि च संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ।

'उपासनामें, भक्तिमें, ध्यानमें प्रत्यक्ष और अनुमानसे भी यही निश्चय होता है ।'

बृहदारण्यकोपनिषद् (४ । ५ । ६) के उस प्रसिद्ध उपाख्यानमें जिसमें याज्ञवल्क्यने मैत्रेयीको आत्मदर्शनके माहात्म्य तथा उपायोंको बताया—'न वा अरे पत्युः कामाय' से आरम्भ करके सर्वपदार्थोंका वर्णन करते हुए कहा कि ये सब आत्माको अपने लिये ही प्यारे होते हैं; अतः—

'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञात इदꣳ सर्वं विदितम् ।'

'हे मैत्रेयी ! आत्माको ही देखना, सुनना, ध्यान करना चाहिये; क्योंकि आत्माके देखने, सुनने, मनन करनेसे यह सब कुछ देखा, सुना, मनन किया तथा जाना जाता है ।' इस प्रसंगमें भी आत्मदर्शनके उपायरूपसे उपनिषद्-ब्रह्मविद्या-उपदेशके केवल श्रवण अथवा मननका ही निर्देश नहीं है, प्रत्युत निदिध्यासनका भी है अर्थात् निदिध्यासनकी भी इन उपायोंके साथ-साथ अनिवार्य आवश्यकता है । केवल इतना ही नहीं, प्रत्युत केवल श्रवणसे निदिध्यासनका महत्त्व बहुत अधिक है। जिसका निरूपण स्वयं भाष्यकार श्रीशङ्कराचार्यने विवेक-चूडामणिमें किया है—

अतीव सूक्ष्मं परमात्मतत्त्वं
न स्थूलदृष्ट्या प्रतिपत्तुमर्हति ।
समाधिनात्यन्तसुसूक्ष्मवृत्त्या
ज्ञातव्यमार्यैरतिशुद्धबुद्धिभिः ॥

(३६१)

निदिध्यासं लक्षगुणमनन्तं निर्विकल्पकम् ॥

(३६५)

निर्विकल्पकसमाधिना स्फुटं ब्रह्मतत्त्वमवगम्यते ध्रुवम् ।
नान्यथा चलतया मनोगतेः प्रत्ययान्तरविमिश्रितं भवेत् ॥

(३६६)

'परमात्मतत्त्व अति सूक्ष्म है इसलिये वह स्थूल दृष्टिसे समझमें नहीं आता । परञ्च वही समाधिके द्वारा अतिशुद्ध हुई बुद्धि तथा सूक्ष्म हुई वृत्तिसे जाना जा सकता है ।'

'श्रवणसे सौगुना अधिक मननको जानना चाहिये तथा मननसे भी निर्विकल्प निदिध्यासनको लाख गुना अधिक जानना चाहिये ।' 'निश्चय ही निर्विकल्प समाधिद्वारा ब्रह्मतत्त्व स्पष्ट समझमें आ जाता है । इसके विपरीत मनोगतिके चलनेपर तो वह अन्य-अन्य प्रत्ययोंमें मिला हुआ-सा हो जाता है ।'

पञ्चदशीमें भी योगका ब्रह्मके अपरोक्ष ज्ञानके सहकारी साधन होनेके रूपमें वर्णन है—

अमुना वासनाजाले निःशेषं प्रविलापिते ।
समूलोन्मूलिते पुण्यपापाख्ये कर्मसञ्चये ॥
वाक्यमप्रतिबद्धं सत्प्राक् परोक्षावभासिते ।
करामलकवद्बोधमपरोक्षं प्रसूयते ॥
परोक्षं ब्रह्मविज्ञानं शाब्दं देशिकपूर्वकम् ।
बुद्धिपूर्वकृतं पापं कृत्स्नं दहति वह्निवत् ॥
अपरोक्षात्मविज्ञानं शाब्दं देशिकपूर्वकम् ।
संसारकारणाज्ञानतमसश्चण्डभास्करः ॥

(तत्त्वविवेक० ६१—६४)

'निदिध्यासन अथवा योगद्वारा सम्पूर्ण वासनासमूह निःशेष विलीन हो जाता है और पाप-पुण्यरूप कर्म-सञ्चय अविद्या रागादि मूलसहित नाश हो जाता है । इसलिये निदिध्यासनसे पूर्व महावाक्यद्वारा वासना तथा कर्मोंके प्रतिबन्धके कारण परोक्ष ज्ञान ही होता था; परंतु अब उपर्युक्त निदिध्यासनद्वारा उपर्युक्त प्रतिबन्धोंके नाश हो जानेसे महावाक्य-द्वारा हथेलीपर रक्खे आँवलेके समान ब्रह्मात्माका प्रत्यक्ष ज्ञान होता है । श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरुसे महावाक्यके श्रवणसे उत्पन्न ब्रह्मका परोक्ष ज्ञान जान-बूझकर किये–ज्ञात पापोंको अग्निके समान जला देता है; परंतु उपर्युक्त साधनसे उत्पन्न आत्माका अपरोक्ष–प्रत्यक्षज्ञान संसारके कारण अज्ञानरूपी अन्धकारको सूर्यके समान नाश कर देता है ।'

इस विवेचनसे यह सिद्ध होता है कि ब्रह्मसाक्षात्कारके लिये निदिध्यासनरूपी योगकी अनिवार्य आवश्यकता है। यद्यपि ब्रह्म अवाङ्मनसगोचर तत्त्व है तो भी श्रुति उसके निरूपणका यत्न करती है। ब्रह्म—ईश्वर नितान्त अज्ञेय तो नहीं हैं । ब्रह्मज्ञान ही संसार-बन्धनके विमोचनका एकमात्र उपाय है । उसीका श्रुति प्रतिपादन करती है । इसीमें श्रुतिकी अपूर्वता है । समाहितचित्त एकाग्र भूमिवाला ही इस ब्रह्मविद्याके श्रवणका अधिकारी है । और श्रवणके अनन्तर भी सामान्यतया मनन और निदिध्यासनकी आवश्यकता रहती है । निस्सन्देह श्रुति ही ब्रह्मविषयमें परम तथा अपूर्व प्रमाण है ।

और यह स्वीकार कर लेनेपर भी कि श्रुतिके अनुसार महा-वाक्य-श्रवणके बिना ब्रह्मज्ञान नहीं हो सकता और सर्वोत्तम अधिकारीको श्रवणमात्रसे ज्ञान हो जाता है; परंतु ऐसा सर्वोत्तम कोई विरला भाग्यवान् ही हो सकता है और वह अन्य साधारण अधिकारियोंकी अपेक्षासे ही तो सर्वोत्तम कहलानेके लिये इसीलिये योग्य होता है। इसलिये यह नियम सर्वसाधारण अधिकारियोंके विषयमें तो लागू नहीं किया जा सकता। सामान्यतया तो यही नियम है कि ब्रह्मविद्या-श्रवणके अधिकारके लिये सामान्य समाहित चित्तका होना आवश्यक है। और श्रवणके पश्चात् भी मनन तथा निदिध्यासनका सामान्य नियम ही उपयुक्त है। सफल ज्ञाननिष्ठाका निरन्तर दीर्घकालीन निदिध्यासनके बिना होना असम्भव है। केवल शब्द-वाक्य-योजनासे तो निश्चित, असन्दिग्ध परोक्ष ज्ञानका होना भी कठिन है। श्रुति-तात्पर्यका दृढ़ निर्णय ही समाहित चित्तके बिना नहीं हो सकता; तो फिर सामान्य सूक्ष्म बुद्धिके भरोसे आत्मसाक्षात्कार तो असम्भव ही है।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्॥

(मुण्डक० ३।२।३)

ऐसा विस्तार करनेकी आवश्यकता इसलिये हुई है; क्योंकि आजकल प्रायः ऐसा समझा जाता है कि ब्रह्मतत्त्वके साक्षात्कारके लिये केवल श्रवण-मननका आश्रय ही पर्याप्त है; निदिध्यासनकी आवश्यकता नहीं मानी जाती।

इस भ्रान्तिका दुष्परिणाम

शास्त्रमें ज्ञानका महत्त्व दर्शानेके लिये अथवा अन्य प्रसङ्गोंमें किसी अन्य दृष्टिसे जिन वचनोंद्वारा योगका खण्डन किया गया है, मोह, प्रमाद अथवा आलस्यवश उनका यथार्थ तात्पर्य ग्रहण नहीं किया जाता। और इसीलिये प्रायः आजकल किसी प्रकारकी उपासना, ध्यान, योगको ब्रह्मविद्यामें बाधक समझा जाता है और अधिकारोचित साधनाको छोड़कर केवल विचारको ही ब्रह्मविद्याका एकमात्र साधन मान लिया गया है; जिससे ध्येयकी सिद्धि नहीं होती; केवल शब्दचातुर्य अवश्य हो जाता है। ऐसे लोगोंमें सामान्य बाह्य व्यवहार भी सर्वसाधारणसे कुछ विलक्षण नहीं होता तथा संसारसे विरति-का भी कोई चिह्न नहीं दीखता। ऐसे केवल वाचक ब्रह्म-ज्ञानियोंको देखकर सर्वसाधारणमें ब्रह्मविद्याके प्रति नास्तिकता तथा अश्रद्धा हो जाती है और उनके लिये भी यह केवल वाचक ब्रह्मविद्या परम लक्ष्य प्राप्त करवानेमें असमर्थ होती है; इसका दुरुपयोग होता है और मनुष्य उभयभ्रष्ट हो जाता है। जो श्रुतिवाक्यज्ञानमात्रसे मुक्ति होनेका प्रतिपादन करते हैं वे सर्वथा सत्य तथा तथ्य हैं; परंतु उनका तात्पर्य सामान्या-वस्थाके जिज्ञासुके लिये अन्य उपयोगी साधनोंके खण्डनमें नहीं है। श्रुति-प्रतिपादित ब्रह्मविद्याके अन्य उपयोगी योग असम्प्रज्ञात समाधि निदिध्यासन आदि साधनसम्बन्धी वचनोंकी सर्वथा उपेक्षा करके उपर्युक्त ज्ञानके माहात्म्यसम्बन्धी श्रुतिवचनोंका इस प्रकारसे अर्थ करना युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि दूसरे उपयोगी साधनोंके प्रतिपादक वचन भी तो श्रुतिके ही हैं। यहाँतक कि तर्कप्रधान शास्त्र न्यायदर्शन भी तत्त्वज्ञानके उपायरूपमें योगाभ्यास, ध्यान आदिका कथन करता है। निस्सन्देह योग, उपासना, वैराग्य आदि साधनोंके सम्पादन करनेकी अपेक्षा शास्त्रका पाठ कर लेना सरल है, परंतु इस सरल मार्गकी चाहरूपी प्रमाद-आलस्यके वश इन उपयोगी साधनोंको त्याग देना, उनका खण्डन करना अथवा जो कोई इन साधनोंको करता हो उसको अज्ञानीकी उपाधि प्रदानकर अपनी तथा भोले-भाले अन्य सज्जनोंकी वञ्चना नहीं करनी चाहिये। लाखों रुपयोंके गुणा-भाग कर लेनेमात्रसे जैसे कोई लखपति नहीं हो जाता, ऐसे ही शास्त्रोंके पाठ अथवा विचारमात्रसे विरति, शान्ति तथा परमानन्दकी प्राप्ति नहीं हो जाती। अतः शास्त्रनिर्दिष्ट साधनचतुष्टय-सम्पत्तिसे सम्पन्न होकर, ब्रह्मविद्याका अधिकार प्राप्त करके उपनिषदादिका श्रवण, मनन, निदिध्यासन (योगसहित) करनेसे ही परम लक्ष्यकी सिद्धि होती है। इस शास्त्रोक्त मार्ग-का अनुसरण करना ही श्रेयस्कर है। कुछ विचारशील यहाँ यह आक्षेप करते हैं कि हठयोग आदि अनन्त दीर्घकाल तथा बहुआयाससाध्य उपासनाओंके अनुष्ठानसे क्या लाभ है? कलियुगमें अल्पायु मनुष्य इनमें ही अपनी आयुका अपव्यय कैसे कर सकते हैं? यह बात सत्य है कि सब उपायोंको उपायदृष्टिसे ही प्रयोगमें लाना चाहिये। किसी साधनके विषयमें ही निन्यानबेके चक्करमें पड़े रहना महान् अनर्थकारी है, भूल है। इसलिये कुशल बुद्धिवाले ऐसे जिज्ञासुओंको, जिनका लक्ष्य मोक्ष है, इन साधनोंके ही अत्यन्त विस्तार करनेकी आवश्यकता नहीं। परंतु श्रुतिप्रतिपादित योग-मात्रका तिरस्कार तथा इस विषयमें प्रमाद भी वैसा ही तुल्य अनर्थका हेतु है, जैसे कि केवल इन साधनोंमें ही लगे रहना और

लक्ष्यको भूल जाना। अतः इससे सतर्क रहना चाहिये। और अपने अधिकारके अनुसार ब्रह्मविद्याके उपयोगी निष्काम-कर्म अथवा योग, उपासना आदिका अवलम्बन करना चाहिये। केवल ज्ञानके महत्त्वका पाठ करके इन सब अत्यन्त उपयोगी साधनोंको तिलाञ्जलि नहीं दे देनी चाहिये।

योगसम्बन्धी द्वितीय भ्रान्ति

परम लक्ष्यकी सिद्धिमें केवल योग पर्याप्त है, शास्त्र-ज्ञान निष्फल तथा बाधक है

आजकल ब्रह्मविद्याके परस्पर उपयोगी अङ्ग पृथक्-पृथक् पड़े हुए हैं। श्रुतिमें भिन्न-भिन्न उपयोगी साधनोंके वचन उन-उन साधनोंके यथास्थान मिलना, आश्चर्यकी बात नहीं है; परंतु उनके परस्पर समुच्चयरूपी तात्पर्यको ग्रहण न करके किसी एक उपायका अनुष्ठान तथा अन्योंका त्याग किया जाता है, जिसका अनिवार्य दुष्परिणाम यह होता है कि फलकी सिद्धि नहीं होती अथवा सिद्धिमें न्यूनता रह जाती है।

अध्यात्म-पथके जिज्ञासुओंके दो वर्ग देखनेमें आते हैं। एक वर्गका वर्णन ऊपर हो चुका है, जो केवल शास्त्रपाठ तथा विचारके आधारपर तत्त्वज्ञानकी उपलब्धि करना चाहते हैं। जो ज्ञानको मोक्ष-सिद्धिका स्वतन्त्र साक्षात् साधन मानते हैं और योगादि अन्य साधनोंको अनावश्यक अथवा ज्ञानका बाधक मानते हैं। वे लोग योगरूपी एक पक्षको छोड़कर केवल ज्ञानरूपी एक पक्षके आधारपर एक पक्षवाले पक्षीकी तरह निजधाममें शीघ्रतम पहुँच जानेकी इच्छा करनेकी भूल करते हैं। दूसरा वर्ग उन अध्यात्म-जिज्ञासुओंका है जिनपर योग-स्तुतिपरक शास्त्रवाक्योंका विशेष प्रभाव है; जिनकी यह दृढ़ धारणा है कि केवल योगसे ही परम लक्ष्यकी सिद्धि निश्चित है तथा शीघ्रतम हो सकती है; जो शास्त्र-श्रुति-पठन-पाठनको निरर्थक ही नहीं, प्रत्युत बाधारूप समझते हैं। जिन्हें योग-सम्बन्धी शास्त्रके भी पाठकी आवश्यकता नहीं प्रतीत होती; वे कहते हैं कि योगशास्त्र पढ़नेसे कहाँ समझमें आ सकता है? और ऐसा कहना उनका सत्य भी है। अतः जैसे-तैसे जो विधि योगकी प्राप्त हुई उसका अनुसरण करते हुए ही परम लक्ष्यसिद्धिका उन्हें दृढ़ विश्वास है, बुद्धिद्वारा विवेचन करनेकी भी वे कुछ आवश्यकता नहीं समझते। उनके ऐसे निश्चयका आधार भी शास्त्रवचन ही हैं। परंतु वे शास्त्र तत्सम्बन्धी तात्पर्यको न समझकर ऐसी भूल करते हैं। वे अपने पक्षमें अनेक शास्त्रवचनोंको प्रमाणरूपसे उपस्थित करते हैं—मुण्डक० (३।२।३), केन० (१।४), मैत्रायिणी उपनिषद् (४।८), कैवल्योपनिषद् (१।११), गीता (६।४६)

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्॥
(मुण्डक ३।२।३)

'अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि।
इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद्व्याचचक्षिरे॥
(केन० १।३)

आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः।
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसञ्ज्वरेत्॥
तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः।
नानुध्यायाद् बहूञ्छब्दान् वाचो विग्लापनं हि तत्॥
(बृहदारण्यक ४।४।१२, २१)

तावदेव निरोधव्यं हृदि यावत्क्षयं गतम्।
एतद् ज्ञानं च मोक्षं च शेषास्तु ग्रन्थविस्तराः॥
(मैत्रायिणी ४।८)

मुक्तियोगात्तथा योगः सम्यग्ज्ञानान्महीयते।
आत्मानमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्।
ज्ञाननिर्मथनाभ्यासात्पापं दहति पण्डितः॥
(कैवल्य० १।११)

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥
(गीता ६।४६)

समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु ब्रह्मरूपता॥
(सांख्यदर्शन ५।११६)

यतो निर्विषयस्यास्य मनसो भक्तिरिष्यते।
ततो निर्विषयं मनः कार्यं मुमुक्षुणा॥

योगदर्शन तो सम्पूर्ण योगके निरूपणके लिये ही प्रवृत्त हुआ है। वह चित्त-वृत्तिसे होनेवाली स्वरूप स्थितिसे ही परम लक्ष्यकी सिद्धिका निरूपण करता है। योगदर्शन (३।६) में कहा है 'तस्य भूमिषु विनियोगः' एक भूमिमें संयमद्वारा उस भूमिके विजय हो जानेपर उस भूमिमें संयमकी दृढ़, स्वाभाविक, निरायास स्थिति हो जानेपर दूसरी भूमिमें संयम [धारणा, ध्यान, समाधि] का अभ्यास करना चाहिये; क्योंकि निकृष्ट तथा मध्यम भूमि-जयके अनन्तर ही प्रान्त भूमिमें संयमकी समर्थता हो सकती है। इस भूमिके अनन्तर अब कौन-सी भूमि है अर्थात् अब आगे साधकको किस भूमिका अभ्यास करना चाहिये, इसका उपाध्याय-निर्देशक कौन है? इस प्रश्नके उत्तरमें व्यास भगवान् इस सूत्रके भाष्यमें लिखते हैं—

योगेन योगो ज्ञातव्यो योगो योगात् प्रवर्तते ।
योऽप्रमत्तस्तु योगेन स योगे रमते चिरम् ॥

'योग ही इस विषयमें अध्यापक—उपाध्याय [निर्देशक] है अन्य कोई शास्त्रादि शिक्षक नहीं, योगसे ही योग जानना चाहिये । योगके द्वारा ही योगकी अनन्तर भूमियोंमें प्रवृत्ति होती है, जो साधनमें प्रमाद नहीं करता, वह योगद्वारा योगमें दीर्घकालतक रमण करता है । अर्थात् उसकी स्थिति—निष्ठा दृढ़ हो जाती है ।' इस प्रकारके अनेक वचनोंका भ्रान्तिवश ऐसा अर्थ समझते हैं कि योगमें जिस किसी प्रकार एक बार प्रवृत्त हो जानेसे फिर किसी बाह्य अन्य शास्त्रादिके निर्देश-शिक्षाकी आवश्यकता नहीं रहती, फिर योग स्वयं ही अन्तिम ध्येयतक पहुँचा देता है । इस प्रकारकी भ्रान्त धारणाओंके कारण अपने आप तो शास्त्रका मनन त्याग देते हैं और दूसरोंमें इसी विचारका प्रचार करते हैं । ऐसा करके योगके अलौकिक सामर्थ्यकी स्थापनाको द्वार बनाकर अपने महत्त्वका प्रतिपादन करते हैं । इसी भ्रान्ति तथा मोहके कारण अनेक क्षुद्र योग-मार्गों तथा उन मार्गोंका आश्रय लेनेवाले सम्प्रदायोंका प्रचार हुआ है और आर्य सन्तान श्रुतिसम्मत योग-प्रणालीसे पृथक् हो गयी है । तथा प्राचीन योगप्रणालियोंके अति गौण, क्षुद्र भागोंको अनुचित महत्त्व दे दिया गया है । विना विशेष अनुभवके ग्रन्थोंकी रचना होने लगी है, जिसने रही सही योगकी सनातन आर्ष-प्रणालीको भी राखमें मिला दिया है । इसका कुछ निरूपण अगले प्रकरणमें होगा ।

न च तीव्रेण तपसा न स्वाध्यायैर्न चेज्यया ।
गतिं गन्तुं द्विजाः शक्ता योगात् संप्राप्नुवन्ति याम् ॥

(अत्रिस्मृतिः १ । ७)

'तीव्र तप, स्वाध्याय अथवा यज्ञोंद्वारा ब्राह्मण उस गतिको प्राप्त नहीं करता जिसको कि योगकी शक्तिसे प्राप्त कर लेता है ।' इस प्रकारके अनेक वचनोंके आधारपर अपने इस मतका कि शास्त्र-अध्ययन आदिकी अपेक्षा योगकी सामर्थ्य विलक्षण है, समर्थन तथा अवलम्बन किया जाता है । और कहा जाता है कि शास्त्रका अध्ययन उस अवाङ्मनसगोचर तत्त्वके बोधमें क्या काम दे सकता है । शास्त्रका अध्ययन निरर्थक है, ब्रह्मविषयक ध्यान, प्रज्ञा, निष्ठाको ही दृढ़ करनेका यत्न करना चाहिये । शास्त्र-अध्ययनसे तो वाणी तथा अन्य इन्द्रियों—बुद्धि आदिको श्रममात्र होता है । इससे परमार्थ-सिद्धि नहीं होती । अथवा यह भी कहा जाता है कि आत्म-तत्त्वरूप ध्येयवस्तुमें चित्तका निरोधरूपी योग ही ज्ञान तथा ध्यान है, शेष सब तो ग्रन्थोंका केवल उलझनोंमें डालनेवाला विस्तार या एक रूप है, जो कि जिज्ञासुके मनमें अनेक संशय, तर्क-वितर्कका हेतु बनकर अश्रद्धा उत्पन्न करके उसे स्थिर मार्गका अनुसरण करनेके योग्य नहीं रहने देता । अतः शास्त्रकी आवश्यकता ही क्या है; योगमें अद्भुत सामर्थ्य है, शास्त्र तो योगकी उपज हैं । योगी तो स्वयं ऐसे शास्त्रोंकी रचना कर सकते हैं । ऋषि-मुनियोंने सृष्टिके उत्पत्ति-कालमें कौनसे शास्त्र पढ़े थे, पूर्वकर्मोंके परिपाकके वश तथा ईश्वरानुग्रहसे उन्होंने इसी योग-विभूतिद्वारा तीसरे दिव्य ज्ञानचक्षुद्वारा ईश्वरीय नित्य ज्ञानको प्रत्यक्ष देखा था, क्या अब योगमें वह सामर्थ्य नहीं ? इस प्रकारके युक्ति-क्रमसे प्रमाद, मोह तथा भ्रान्तिके वश और अपनी अनुचित महिमाके विस्तारके लिये या अपने शास्त्रज्ञानके अभावरूपी हीनता आदिकी लज्जाको छिपानेके लिये शास्त्र-श्रुतिका उपयुक्त आदर तथा उपयोग नहीं किया जाता ।

उत्तर—परंतु ऐसा कहना अथवा करना मोहवश या जान-बूझकर श्रुतिवाक्योंके तात्पर्यका अन्यथा ग्रहण करना या प्रकट करना है । इसका समर्थन उपर्युक्त वचनोंसे तथा पूर्व प्रकरणमें उद्धृत श्रुति, श्रवण, मननसमर्थक वचनों तथा अन्य श्रुतिवाक्योंसे किया जा सकता है । निस्सन्देह योगमें बहुत सामर्थ्य है, सृष्टिके उत्पत्ति-कालमें वेदमन्त्रद्रष्टा ऋषियोंने किसी सामान्य गुरुद्वारा श्रुतिका स्वाध्याय नहीं किया था, परंतु ईश्वरकी यह उनपर विशेष कृपा निराधार नहीं थी । पूर्व कल्पमें श्रुति-अध्ययनके अनन्तर श्रुतिके मार्गका अनुसरण करनेके फलरूप ही तो यह अपार कृपा थी, अन्यथा जगत्-नियामक ईश्वरपर ही बिना कारणके रागद्वेष तथा अन्यायका दोष लागू होता है । ऐसा भी कहा जा सकता है कि उस समय तो वेद-श्रुति इस रूपमें उपस्थित ही नहीं था । अतः उनके अध्ययनका प्रश्न ही नहीं होता । या क्या सर्वसामान्य मनुष्य दिव्यचक्षुसम्पन्न है जो वह शास्त्रादेश या शिक्षाके बिना निर्वाह कर सकता है ? बृहदारण्यक उपनिषद् (४ । ५ । ६) 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः… निदिध्यासितव्यः'में भी आत्मदर्शनके लिये तीन प्रधान उपायोंका वर्णन है कि आत्मदर्शनके लिये आत्मा-सम्बन्धी उपनिषदादि का श्रवण करना चाहिये और मनन तथा निदिध्यासन करना चाहिये । इसका अभिप्राय यह है कि तीनमेंसे किसी एकसे सफलता सम्भव नहीं है । यह हो सकता है कि इन साधनोंमें तारतम्यता हो; परंतु अपने-अपने स्थानपर तीनों ही आवश्यक

है। निदिध्यासनका महत्त्व अधिक स्वीकार कर लें तो भी श्रवणके विना इसका अवकाश ही कहाँ है। बीजका प्रथम अङ्कुर बहुत कोमल बलहीन होता है; फूल, फल, पत्ते तथा शाखाओंसे युक्त महान् वृक्षसे जो कार्य सिद्ध हो सकता है वह अङ्कुरसे नहीं हो सकता, परंतु यदि अङ्कुर ही न हो तो यह विशाल पेड़ होगा ही कहाँसे। और यदि अङ्कुरकी समयपर उचित रक्षा न की जाय तो वह उगता ही नहीं; उग जाय तो बढ़ता नहीं, बढ़ भी जाय तो फलवान् नहीं होता, यदि फल हो भी जाय तो वह अनेक दोषोंसे युक्त होता है। इसी प्रकार यदि श्रवणहीन हो तो मनन-निदिध्यासन किसका होगा। जिसकी उत्पत्ति ही नहीं हुई उसके बाल्य तथा यौवनकी क्या कथा ? श्रुति ही ध्येय तथा साधनके विषयमें परम तथा अपूर्व प्रमाण है। अतः श्रुतिको छोड़कर स्वतन्त्र मतिसे इस पथमें परिश्रम कहाँतक सफल हो सकता है। ऐसे विचार रखना ईश्वर तथा योगमें परम नास्तिकता है, आस्तिकता नहीं। श्रुतिके विना यह निर्णय ही कैसे होगा कि जिज्ञासु सुपथपर चल रहा है या कुपथपर। श्रुति तो वह परम प्रकाश है जिसकी ज्योतिमें मनुष्य हर एक तत्त्वको याथातथ्यरूपमें देख सकता है। इस ज्ञानके प्रकाशके विना मनुष्यका सम्पूर्ण परिश्रम वैसा ही होता है जैसे किसी यात्रीका अमावस्याकी घोर अन्धकारमय रात्रिमें घने वनमें होता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रत्येक स्थानमें तथा प्रत्येक वार्ता तथा व्यवहारमें अति करनेसे, मर्यादाका उल्लङ्घन करनेसे हानि होती है। इसी प्रकार श्रुतिका व्यसन होना भी हानिप्रद है अथवा बहुशास्त्र-अध्ययनसे भी अनेक संशयों तथा वाद-विवादद्वारा नास्तिकताका भय होता है तथा इसीमें लगे रहनेसे अन्य उपयोगी निदिध्यासन आदि साधनोंमें प्रमाद हो सकता है; इस प्रमादसे बचानेके लिये ही श्रुतिने चेतावनीके रूपमें निर्देश किया है कि बहुत शब्दरूपी शास्त्रोंका अध्ययन न करे अर्थात् शास्त्र-अध्ययनमात्रको ही परम लक्ष्य अथवा परम साधन न मान ले। परंतु इन शास्त्र-वाक्योंका यह अभिप्राय कदापि नहीं हो सकता कि शास्त्रको सर्वथा तिलाञ्जलि दे दी जाय। क्योंकि शास्त्रका लक्ष्य तथा साधनके विषयमें उचित निर्देश पाकर ही मनुष्य वास्तविक मनन तथा निदिध्यासनमें प्रवृत्त हो सकता है। श्रुति-शास्त्र-ज्ञान तथा निदिध्यासनरूपी योग दोनोंका परस्परका सम्बन्ध तथा क्रम उपर्युक्त बृहदारण्यक उपनिषद् (४ । ५ । ६) से स्पष्ट ही है। दोनोंका ऐसा ही सम्बन्ध है जैसा चक्षु तथा सूक्ष्मवीक्षणयन्त्रका सम्बन्ध होता है। चक्षु जैसे अपने-आप विना सूक्ष्मवीक्षण यन्त्रके अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थोंको देखनेमें असमर्थ होता है और सूक्ष्मवीक्षणयन्त्र तो चक्षु न होनेपर सर्वथा निरर्थक होता ही है उससे कुछ भी दीख नहीं सकता; इसी प्रकार शास्त्र तो चक्षुरूपी अपूर्व प्रमाण है और निदिध्यासन उसका सहकारी साधनरूपी यन्त्र है। दोनोंका सहयोग होनेपर सूक्ष्म-से-सूक्ष्मतम ब्रह्मतत्त्वकी अनुभूति होती है। स्वतन्त्र रूपसे पृथक्-पृथक् दोनों निष्फल होते हैं। केवल श्रुतिके आधारपर अपरोक्षानुभूति यदि न भी हो तो भी परोक्ष ज्ञान तो सम्भव है; परंतु श्रुतिकी सहायताके विना स्वतन्त्र योग परमार्थ लक्ष्यमें विशेष उपयोगी नहीं है। जैसे भौतिक विज्ञानमें सिद्धान्त-शिक्षा (Theory) तथा प्रयोग (Practice) दोनों साथ-साथ चलते हैं। केवल सिद्धान्त प्रयोगके विना लँगड़ा है और प्रयोग सिद्धान्तके विना लक्ष्य, चक्षुहीन है। इसी प्रकार स्वाध्याय तथा योग दोनोंका साथ-साथ प्रयोग आवश्यक है।

योगदर्शनके भाष्यकी सम्मति

इसी रहस्यकी दृष्टिसे योगदर्शन (१ । २८) सूत्रकी व्याख्यामें व्यास भगवान् लिखते हैं—'स्वाध्यायाद् योगमासीद् योगात् स्वाध्यायमामतेन' अर्थात् योग तथा स्वाध्यायका पृथक्-पृथक् अनुष्ठान न करे; स्वाध्यायके पश्चात् अर्थात् अध्यात्मतत्त्वके श्रवण-मननके अनन्तर शास्त्रोक्त ज्ञानके असन्दिग्ध ज्ञानके लिये योगमें स्थित हो। जब मनुष्य शास्त्रका श्रवण और मनन कर लेता है, उसके अनन्तर ही उसको केवल तार्किक ज्ञानकी अपूर्णता भासती है और योगका महत्त्व सूझता है तथा सच्चे जिज्ञासुमें योगकी अदम्य जिज्ञासा उत्पन्न होती है। जिस प्रकार भौतिक विज्ञानके सिद्धान्त (Theory) सम्बन्धी शास्त्रके अध्ययनके पश्चात् ही प्रयोगात्मक ध्येयका पता चलता है; उसी प्रकार शास्त्रद्वारा योगके स्वरूप तथा लक्ष्यका ज्ञान होनेके पश्चात् योगरूपी साधनके करनेवाला किसी वास्तविक लक्ष्यको सामने रखकर उसमें प्रवृत्त हो सकता है। इन प्रयोजनोंको दृष्टिमें रखकर ही 'स्वाध्यायाद् योगमासीत्' ये पंक्तियाँ कही गयी हैं कि योगसे प्रत्यक्ष अनुभूति हुए विना केवल शास्त्रज्ञान अनादि चिज्जड-ग्रन्थिको भेदन नहीं कर सकता। इसी वचनके दूसरे भागमें यह कहा गया है कि योगसे निवृत्त होनेपर स्वाध्याय करे, शास्त्रका श्रवण तथा मनन करे। जिस प्रकार स्वाध्याय कर

लेनेपर ही उसकी अपूर्णता खटकती है; इसी प्रकार स्वतन्त्र योग भी कई प्रकारकी अनुभूतियोंसे कई प्रकारके संशय उत्पन्न कर देता है जिनकी निवृत्तिके लिये अनुभवी महात्मा तथा शास्त्रकी आवश्यकता प्रतीत होती है। सच्चे विचारवान् जिज्ञासुको अपने अनुभवका शास्त्रसे मिलान किये बिना सन्तोष नहीं होता। इसलिये उसे योग तथा स्वाध्यायकी पृथक्-पृथक् अपूर्णता स्वतः ही खटकती है। इसी रहस्यको दृष्टिमें रखकर उपर्युक्त वचन कहा गया है। और बृहदारण्यक उपनिषद् (४ । ५ । ६) में एक ही वाक्यमें इन दोनों साधनोंके समुच्चयका निर्देश किया गया है। (क्रमशः)

धर्मसे ही विश्वका परित्राण सम्भव है

(लेखक—श्रीधर्मदेवजी शास्त्री, दर्शनकेसरी)

वर्तमान युगको विज्ञानका युग कहा जाता है। विज्ञानके बलपर आज मानवकी प्रकृति-विजयकी इच्छा बहुत कुछ पूरी हुई है; परंतु इस प्रकृति-विजयसे जो अभिमान उत्पन्न हुआ, उसने आज मानवको आत्मविजय और आत्मनिरीक्षणसे विरत कर दिया है! परिणाम यह है कि विज्ञानके बलपर देश और कालकी दूरीको दूर करनेपर भी आज मानव और मानवकी तथा देश और देशकी मानसिक दूरी कम न होकर बढ़ रही है। मानवसमाज आज हिंसक जन्तुओंसे तथा बहुत हदतक दैवी विपत्तियोंसे सुरक्षित होनेपर भी सदा असुरक्षित, सशङ्कित और भयग्रस्त है। आज मानव ही ऐसा जन्तु है जो पैशाचिक संहार करनेपर भी सभ्य बननेका दावा कर रहा है, समुद्रकी गहराई और पर्वतकी ऊँचाईका गणित जाननेवाला मानव अपने मनकी गहराई और चढ़ाईको नहीं जान रहा है!

हम यह स्वीकार करते हैं कि प्रकृति-जयका इतिहास ही मानवकी प्रगतिका इतिहास है। मानवने प्रकृति विजयके साथ ही नैतिकता और संयमका सामाजिक विकास भी किया था, इसीका यह परिणाम है कि मानवने राज्य, विवाह, शासन-व्यवस्था आदि सामाजिक संस्थाओंको विकसित किया। ये सभी धर्मके अङ्ग हैं। जो लोग मानव-प्रगतिके क्रमिक विकासका इतिहास जानते हैं, वे हमारे इस कथनको स्वीकार करेंगे कि जितना-जितना मानव-समाजने धर्मके व्यावहारिक स्वरूप—सत्य, अहिंसा, प्रेम और सहिष्णुताको अपनाया है, उतना ही वह आगे बढ़ा है। धर्मने मानवको प्रगतिके साथ ही निरभिमानताका और आत्मदर्शनका पाठ पढ़ाया है, इसलिये मानवके द्वारा किये गये चमत्कारोंमें धर्मका प्रमुख स्थान है।

आजका मानव भूलसे धर्म और ईश्वर-विश्वासको छोड़नेमें गौरवका अनुभव करता है! हमारा दृढ़ विश्वास है कि ईश्वर और धर्मके प्रति होनेवाली उसकी यह अश्रद्धा अज्ञानमूलक है। समता और समाजका दार्शनिक आधार ईश्वरको छोड़कर कोई भौतिक तत्त्व नहीं हो सकता। हम सबमें एक समान तत्त्व विद्यमान है, और 'वही हमारी माता और पिता है। इसलिये सब मानव परस्पर भाई हैं।' यह भावना ही मानव-समाजका दार्शनिक आधार बन सकती है।

वेदने कहा है 'सम्भ्रातरो यूयम्' सब एकके लिये और एक सबके लिये यह सहकारिता और आदर्श समाजका सूत्र है। इसका आधार आध्यात्मिकताको छोड़कर कोई नहीं हो सकता। आध्यात्मिकता और आस्तिकताको छोड़नेका अर्थ है—अभेदमें भेद-दर्शन। यही व्यवहारमें आज चल रहा है। इसका परिणाम स्पष्ट है, अर्थात् विनाश, हिंसा और असहिष्णुताके साथ दुरभिमानको छिपानेका ढोंग आज मानव समानता, अधिकार और पर-दोषदर्शनके द्वारा करनेका प्रयत्न कर रहा है।

धर्मकी भावनाको जाग्रत् किये बिना अपरिग्रहको पुष्ट नहीं किया जा सकता। आवश्यकताओंको बढ़ानेकी कोई सीमा नहीं। यही युद्धों और संघर्षोंका जनक है। विज्ञानका प्रयोग निर्माणमें न होकर विनाशमें हो रहा है। युद्धके भयावह बादल फिर आकाशमें मँडराने लगे हैं। इसमें विज्ञानका दोष नहीं, दोष है विज्ञानका प्रयोग करनेवाले मानवका। कोई अच्छे-से-अच्छा साधन जब बुरे आदमीके हाथोंमें पहुँच जाता है, तब वही साधन हानिकर बन जाता है। इसलिये आज आवश्यकता है मानव-निर्माणकी। मानव-निर्माणका अर्थ है मानवताके निर्माणका प्रयत्न। मानवताका निर्माण धर्म और ईश्वरको छोड़कर हो नहीं सकता।

हम यह स्वीकार करते हैं कि 'धर्म' और 'ईश्वर'को माननेसे ही कुछ नहीं हो सकता। धर्मात्मा और ईश्वरविश्वासी पुरुषका आचरण सत्य, प्रेम और सेवासे ओतप्रोत होना चाहिये। जैसे आगके पास बैठनेसे गर्मी और जलके पास बैठनेसे ठंडक अनिवार्य रूपसे प्राप्त होती है इसी प्रकार धर्मात्मा पुरुषका संसर्ग भी मनुष्यको सच्चा और ईमानदार बनाये बिना नहीं रहेगा। वेदादि शास्त्रोक्त भारतीय धर्म केवल मान्यतापर नहीं, पर आचरणपर बल देता है। आर्यधर्म सदा प्रगतिशील और विकासोन्मुख है।

हमारा देश ईश्वरकी कृपासे राजनीतिक दृष्टिसे स्वतन्त्र हुआ है। राजनीतिक स्वतन्त्रता अन्तिम साध्य नहीं है। मनुष्यकी पूर्ण स्वतन्त्रता तभी होगी, जब वह आध्यात्मिक स्वराज्य प्राप्त करेगा। यह ठीक है कि समाज और सर्वभूत-हितके लिये व्यक्तिकी अपेक्षा नहीं रहनी चाहिये; परंतु इसके साथ यह भी सत्य है कि व्यक्तियोंके चरित्रका मानदण्ड जबतक ऊँचा नहीं हो सकता, तबतक समाजका नव-निर्माण असम्भव है। केवल कानून अथवा नियन्त्रणसे समाजकी शुद्धि कदापि नहीं हो सकती। उच्चतम समाजका निर्माण तो उच्चतम चरित्र और नैतिक साहसके बलपर ही सम्भव है। हमारा विनम्र मत है कि मनुष्यताका श्रीगणेश विनम्रतासे होता है। पूर्ण विनम्रता पूर्ण आस्तिकताके बिना सम्भव नहीं।

आजकल राजनीतिकी प्रबलता है। सभीपर राजनीतिका प्रभाव छाया है। राजनीतिक नेता कानून और अर्थदण्डको ही सब कुछ मानते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि कानून और अर्थदण्डको ठीक चलानेवाली शक्ति मनुष्यका मन है। यदि मन ही ठीक नहीं तो अच्छे-से-अच्छा कानून केवल छपा हुआ कागज है। इसलिये मानव-समाज और भारतीयोंको सर्व-प्रथम चरित्र-निर्माण तथा नैतिक जीवनके लिये प्रयत्नशील होना चाहिये। इसके लिये 'धर्मका' आश्रय लिये बिना कोई चारा नहीं है।

साम्यवाद और समाजवादके प्रचारक धर्म और ईश्वरको अतीतकी वस्तु बनाना चाहते हैं। हम भी धर्मको तथा ईश्वरको अतीतकी वस्तु मानते हैं, जब कि हमारा दृढ़ विश्वास है कि मानव-समाज धीरे-धीरे विश्वबन्धुत्व और विश्व-सौहार्दके व्यापक धर्मकी ओर अग्रसर हो रहा है। इसके बिना विश्वका परित्राण सम्भव नहीं। भावी युगमें धर्म तथा ईश्वर अतीतसे भी अधिक व्यापक होंगे।

विचारकी शक्तिका ह्रास

(लेखक—प्रो० पं० श्रीलालजीरामजी शुक्ल, एम० ए०, बी० टी०)

मनुष्यका जीवन विचारमय है। विचार ही उसके शरीर और स्वास्थ्यको बनाता है। वही घर, सम्पत्ति और सम्बन्धियोंमें परिणत हो जाता है। विचार अतिसूक्ष्म वस्तु है, परंतु वह स्थूल-से-स्थूल पदार्थोंका कारण है। विचारमें जैसी भावना प्रबलतासे आती है वैसी ही सृष्टि बन जाती है। संसारके स्थूल पदार्थ विचारके रूपान्तरमात्र हैं।

विचारका बल उसके सूक्ष्म बने रहनेपर निर्भर करता है। जब विचार स्थूल पदार्थोंका रूप धारण कर लेता है तो वह अपने ही लिये बोझरूप बन जाता है। विचारकी रचनात्मक शक्ति उसकी स्वतन्त्रताके ऊपर निर्भर करती है। यह स्वतन्त्रता—किसी विशेष पदार्थसे बँधे न रहनेकी स्वतन्त्रता है। जब मनुष्य किसी पदार्थकी रचना करता है तो वह अपने विचारमें स्वतन्त्र रहता है; परंतु जब रचनाके पश्चात् वह उस पदार्थके रूपसे मोहित होकर उसे अपनाना चाहता है तो वह उसीसे बँध जाता है। हम जितने पदार्थोंको अपना कहते हैं उतनोंसे ही हम बँध जाते हैं। विचार इस प्रकार एक भारी बोझको अपने ऊपर लाद लेता है और अपनी स्वतन्त्र उड़ानमें नहीं उड़ता।

जब विचारका बोझ किसी प्रकार अत्यन्त अधिक हो जाता है तो वह अपने आपको निकम्मा बना लेता है। वह अपनी सभी रचनात्मक शक्तिको खो देता है। ऐसी अवस्थामें विचार दुखी होकर अपनी ही रचनाके ध्वंसात्मक कार्यमें लग जाता है। जब मनुष्यके ऊपर धन-सम्पत्ति, मान-मर्यादा आदिका अधिक बोझ लद जाता है तो उसकी आत्मा पिंजड़ेमें कैद पंछीके समान अपनेको दुखी पाती है। वह स्वतन्त्र होनेकी चेष्टा करती है; परंतु फड़फड़ाकर रह जाती है। ऐसी अवस्थामें विचार अनेक प्रकारके रोगोंका आवाहन करने लगता है। फिर ये रोग मनुष्यको भयके रूपमें आते हैं। इन रोगोंसे वह अपने शरीरका अन्त कर डालता है। जब मनुष्यकी आत्मा अपने-आपको धन-सम्पत्ति और मान-मर्यादा आदिसे मुक्त करनेमें समर्थ नहीं होती तो वह उस मुख्य केन्द्रको ही नष्ट करनेकी चेष्टा करने लगती है, जिसके रहते हुए ये सभी बातें सार्थक होती हैं।

मनुष्यके पास जब अधिक धन हो जाता है तो वह असली सामर्थ्यको भूलकर धनके सामर्थ्यमें विश्वास करने लगता है। वह सोचता है कि धन ही उसे सुखी बनाता है और वही समाजसे आदर दिलाता है। वह भूल जाता है कि धनकी उपस्थितिका कारण भी विचार ही है और जब विचार अपने सामर्थ्यको नहीं पहचानता तो उसका धन भी उससे चला जाता है।

विचारकी शक्तिका ह्रास अपने विषयमें न सोचनेके कारण होता है। जब विचार अपनी सृष्टिमें भूल जाता है तो वह कर्ताको कर्म और कर्मको कर्ता मानने लगता है। इस प्रकार वह सोचने लगता है कि उसकी विशेष प्रकारकी रुचिका कारण बाह्य पदार्थ है और बाह्य पदार्थ ही उसका संचालक है। इस बाह्य पदार्थके अभावमें वह अपने-आपको

असहाय देखता है। इस प्रकार वह बाह्य पदार्थका दास बन जाता है। जितना ही अधिक मनुष्य किसी बाह्य पदार्थके बारेमें सोचता है, वह उस पदार्थसे उतना ही अधिक बँध जाता है। वह फिर बाह्य पदार्थको सच्चा और उसके सृष्टि-कर्ता विचारको झूठा मानने लगता है। कल्पना जगत्‌को जन्म देती है; पर जब नित्यप्रतिके अभ्यासके कारण जगत्‌में सत्यताका भान होने लगता है तो कल्पना अपने-आपको बाह्य जगत्‌के केवल प्रतिबिम्बके रूपमें मानने लगती है। जिस व्यक्तिको सांसारिक पदार्थोंमें जितनी अधिक सचाई दिखायी देती है, उसे अपने विचारकी शक्तिपर उतना ही कम भरोसा रहता है। ऐसे व्यक्तिका जीवन भी उतना ही अधिक दुखी होता है। वह अपने-आपको परिस्थितियोंका स्वामी न मानकर उनका दास मानता है। जो व्यक्ति जहाँ-तक संसारके पदार्थोंमें ममत्वका त्याग करता है वह उनकी पार्थिवताका उतना ही हरण करता है और उन्हें कल्पनाके रूपमें उतना ही अधिक देखता है। ममत्वके त्याग करनेपर जगत् विचारकी सृष्टिके रूपमें दिखायी देने लगता है और ममत्वकी वृद्धि होनेपर विचार जगत्‌के प्रतिबिम्बके रूपमें दिखायी देता है।

विचारकी शक्ति उतनी ही रहती है, जितनी विचार अपने-आपमें उसे मानता है। विचारके विषयमें विचार करनेसे विचारकी शक्तिकी वृद्धि होती है और विचारसे इतर पदार्थोंके विषयमें विचार करनेसे विचारकी शक्तिका ह्रास होता है। जब विचार अपने-आपको भूलकर बाह्य पदार्थोंमें फँस जाता है और उनकी प्रियतासे मोहित हो जाता है तो अपनी रचनात्मक शक्तिको खो देता है। वास्तवमें संसारमें जितनी भी प्रियता है; सब विचारकी देन है। परंतु इस बातको विचार नहीं जानता। इसीलिये ही अपनी ही सृष्टिके रूपसे मोहित हो जाता है। फिर वह इस सृष्टिको छोड़ना नहीं चाहता। वह उसे अपना समझने लगता है। यही उसकी शक्तिका ह्रास होता है।

मनुष्य चाहे जितनी रचना करे, परंतु यदि वह उस रचनाको अपनी न समझे तो वह अपनी रचनात्मक शक्तिको कदापि न खोये। विचारमें अनन्त शक्ति है। इस शक्तिकी वृद्धि अभ्याससे होती है। जो व्यक्ति जितना ही अधिक रचनात्मक कार्य करता है उसके विचारकी रचनात्मक शक्ति उतनी ही बढ़ जाती है; परंतु जब अपनी रचनासे कोई व्यक्ति मोहित हो जाता है और उसे वह अपनी समझकर सदा अपने साथ ही रखना चाहता है तो यही उसकी रचना उसके विनाशका कारण हो जाती है। सतत रचनासे विचार-की शक्ति बढ़ती है और रचित पदार्थमें ममत्वभाव जोड़नेसे विचारकी शक्तिका नाश होता है।

जब मनुष्य किसी पदार्थको अपना समझने लगता है तो उसके चले जानेके विषयमें उसके मनमें भय उत्पन्न होने लगता है। वह अनेक प्रकारकी चिन्ताएँ इस पदार्थके बारेमें करने लगता है। फिर चिन्ता करना ही मनका एक अभ्यास हो जाता है। चिन्ताके विचार नकारात्मक विचार होते हैं। इनसे मनुष्यके विचारकी शक्ति बढ़ती नहीं, वरं उसका ह्रास होता है। जो व्यक्ति जिस पदार्थके विषयमें जितनी अधिक चिन्ता करता है, वह उस पदार्थके विनाशकी उतनी अधिक सामग्री जोड़ता है।

किसी पदार्थमें अपनत्वका भाव बढ़ानेसे आसपासके दूसरे लोगोंके मनोंमें मालिकके प्रति ईर्ष्याका भाव आता है। इस भावके परिणामस्वरूप स्वयं वस्तुके मालिकके मनमें दूसरे लोगोंके प्रति अनुदार विचार आते हैं। ये अनुदार विचार मनुष्यके मनमें अनेक प्रकारके संघर्ष उत्पन्न कर देते हैं। इस प्रकार उसकी विचारकी शक्तिका ह्रास हो जाता है। यदि कोई मनुष्य पैसा-रुपया तो खूब कमाये; परंतु उसे अपना न समझे तो उसके पैसे-रुपये कमानेकी शक्तिका कभी भी ह्रास न हो। हमें जितना पैसा मिलता जाय उतना ही हम यदि उसको बाँटते रहें तो हमारा घर कुबेरके समान भर जाय। अपना पैसा छिपाकर रखनेवाले लोग न केवल धनके उपभोगसे वञ्चित रह जाते हैं, वरं अपनी धन कमाने-की शक्तिको भी खो देते हैं। वे कुढ़-कुढ़ कर अनेक प्रकारके रोगोंसे ग्रसित होकर मरते हैं। कभी-कभी ऐसे लोगों-के मनमें कोई अभद्र कल्पना घुस जाती है और फिर वह उनके निकाले नहीं निकलती। इस प्रकार दुर्बल मनके लोग अनेक प्रकारकी कल्पित भूत-बाधाओं और कल्पित रोगोंसे पीड़ित रहा करते हैं। जब मनकी दुर्बलता और बढ़ जाती है तो वे अपने आस-पास चारों ओर शत्रु-ही-शत्रुओंको देखने लगते हैं और फिर पागल कुत्तेके समान कल्पित शत्रुओंके प्रति भूँक-भूँककर अपने प्राण गँवा देते हैं

विश्व-तरु

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा
गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि
कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥
(गीता १५ । २)

शतद्रूका पावन तट महाराजके यज्ञधूम्रसे शुचितम हो रहा था। दूरसे अग्निकी लपटोंके समान लाल ध्वजा अतिथिका आह्वान करती और ऋषि-कण्ठोंका सामगान अमरावतीके दिव्य देहधारियोंको आकृष्ट करता गूँज रहा था। सुरभित धूम्रने तरुपल्लवोंकी हरीतिमाको विभूतिभूषित कर दिया था।

जैसे पृथ्वी पूर्वाग्र करके बिछाये कुशोंसे आच्छादित हो गयी है और स्वर्णस्तम्भोंपर खिंचे कौशेयपट मण्डपने गगनका विस्तार छीन लिया है। यज्ञमण्डप, ऋषियोंके आवास, पत्नीशाला, वास्तु-भण्डार, अतिथि-शाला, पशु-शाला— पता नहीं कितना विस्तृत है यह यज्ञ-नगर। महाराज मरुत्वमका बृहस्पति-सव महायज्ञ जो चल रहा है। महीनों नहीं, कई वर्ष लगने हैं उसमें।

संयम, सम्पत्ति और श्रद्धाकी त्रयी त्रेतामें न प्राप्त हो तो कहाँ प्राप्त होगी ! महाराजकी अतिथि-शालाएँ मणिप्रदीपोंसे आलोकित होती हैं और उनकी कुट्टिम भूमि दर्पणकी भाँति उपकरणोंको प्रतिबिम्बित करती है; किंतु स्वयं महाराज तृण-कुटीरमें गोबरसे लिपी हुई वेदिकापर कुशोंके ऊपर ही विश्राम करते हैं।

अरण्यवासी ऋषियों और अतिथियोंके लिये कौशेयाम्बर, रत्नाभरण एवं स्वर्ण थालोंमें विविध नैवेद्यराशि निवेदित करनेवाला चक्रवर्ती कृष्ण-मृगचर्म पहनता है, कदलीपत्रपर एक समय हविष्यान्न ग्रहण करता है और उसका आभूषण है उपवीती मात्र।

जिसके शरासनपर ज्या चढ़नेसे पूर्व ही असुर-कुल पातालका पथ लेता है, जिसकी कुटिल भ्रूकुटि-से लोकपाल भी कम्पित होते हैं, जिसकी प्रसन्न भंगिमा मात्रकी प्राप्तिके लिये सम्राटोंको साञ्जलि प्रतीक्षा करनी पड़ती है, आज वह सौम्यताकी मूर्ति है। एक आगत श्वपचके लिये भी उसके कर बद्ध हो जाते हैं और वह स्वतः अभ्युत्थान देता है। अन्ततः उपार्जनका इससे भव्य स्पृहास्पद और क्या उपयोग हो सकता है।

यज्ञवेदियाँ उपलिप्त हुईं, प्रोक्षित हुईं, उनपर मण्डल बने। अरणि-मन्थनका प्रारम्भ ही मात्र करना था, अग्निदेव तो स्वयं समुत्सुक थे यहाँकी पवित्र आहुति प्राप्त करनेके लिये। दिक्पालोंके कलश-प्रदीप भूषित हो चुके थे और उनकी ध्वजाएँ दिशाओंमें यज्ञ-कीर्ति विस्तीर्ण करने लगी थीं। भगवान् गणपति अग्रपूजा लेकर अपने आसनपर अरुणाम्बर-आवेष्टित इस प्रकार विराजमान थे, जैसे यजमानका मङ्गल मूर्तिमान् होकर अविचल स्थित हो गया हो।

यज्ञ-कुण्डमें पूर्वपूजनके अनन्तर होताने अग्निदेवको स्थापित किया। प्रोक्षण, परिसमूहनादि करके यज्ञ-स्रुवा उठाया उन्होंने। महाराजने सदसस्पतिकी ओर देखा— यज्ञकी आज्ञा तो वही देंगे न !

'यज्ञीय पशु अन्तर्हित हो गया है।' सूचकने नम्रतासे प्रणाम किया इसी समय। 'उसे पर्याप्त ढूँढ़ लिया गया, किंतु कोई पता नहीं।'

महाराज एक क्षणको चकित हो गये। पशु क्या हुआ ! अभी दो मुहूर्त पूर्वतक आशा थी कि वह भू-प्रदक्षिणा करके अविरोध लौटेगा। अग्नि-स्थापनके अनन्तर उसे अर्घ्य देनेकी समस्त प्रस्तुति हो गयी। अब उसे लौटना चाहिये था। उसका किसने हरण किया ?

'दानवेन्द्र ! देवराज !' महाराजने अपने दोनों सम्मान्य अतिथियोंकी ओर देखा। उनके आमन्त्रणको दैत्येश्वर विरोचनने स्वीकार किया था और देवराज तो उनपर सदा ही कृपा करते हैं। 'क्षत्रिय युद्धसे भयभीत नहीं होते, किंतु मुझे अपने अतिथियोंसे अन्यथा आशा नहीं करनी चाहिये !'

'असुरकुलने विश्वासघात नहीं सीखा है।' श्रीप्रह्लादजीके पुत्रकी वाणी उन्हींके उपयुक्त थी। 'दैत्य, दानव, राक्षस आदि किसी असुरकुलका कोई सदस्य मेरे यहाँ रहते आपके अहितकी बात भी नहीं सोच सकता।'

'राजन् ! जबतक किसी देवशक्तिकी अवहेलना अथवा पराभवकी भावना न आवे, देवता यज्ञ-विघ्न कर ही नहीं

सकते ! मानवके दोषकी ही वहाँसे प्रतिक्रिया होती है।' देवराजने स्पष्ट अपनेको तटस्थ घोषित किया। 'आप मेरे प्रिय हैं और आपके किसी परिजनका कोई देवापराध मैं स्मरण नहीं करता।'

'मैं अमरावतीके अधीश्वरकी अधिक अनुकम्पा चाहता हूँ, इस उन्हींकी समाराधनामें।' महाराजने प्रार्थना की।

'आपका अश्व मैं देख नहीं पा रहा हूँ।' महेन्द्रने सबको चौंका दिया। देवराजकी लोकव्यापिनी दृष्टिमें भी अश्व नहीं! हताश महाराज कुलगुरुके चरणोंपर गिर पड़े। अश्वके बिना यज्ञ होगा कैसे?

× × ×

[२]

'यह प्राणी कहाँसे आता है? क्यों आता है इस जगत्में?' महाराजके मनमें यह प्रश्न बराबर उठता रहा है। उन्होंने इसी शरीरसे देवराजका आतिथ्य स्वीकार किया है, भगवान् यमका न्याय-विधान देखा है और दैत्येन्द्रसे पातालके सम्बन्धमें पूछा है। कहीं उनके प्रश्नका समाधान नहीं। कोई कुछ बता नहीं पाता या फिर बताना नहीं चाहता।

'आप-जैसे पुण्यात्मा ही स्वर्गकी शोभा हैं। अमरावती तो धराका उपनिवेश है।' देवराजने ठीक ही तो बताया है। वहाँ जो कल्पान्ततक रहनेवाले कारक पुरुष या नित्य देवता हैं, वे पूर्वकल्पमें पृथ्वीपर थे। तब देवराज जीवकी गति क्या बता सकेंगे।

'यह तो न्यायालय है। स्वर्ग या नरक, अपने कर्मोंके अनुसार प्राणी यहाँसे भेजा जाता है। यहाँ भी सब पृथ्वीसे ही आते हैं।' पता नहीं क्यों धर्मराज यह कहते समय तनिक हँसे थे। कदाचित् इससे अधिक जो वे कह सकते हैं—कहना नहीं चाहते।

'देवता हमारे छोटे भाई हैं। जैसे देवता, वैसे हम। अन्तर है तो इतना ही कि हमारा देश सृष्टिके प्रारम्भमें ही बस जाता है। हमारे यहाँ अतिथियोंका आना-जाना नहीं होता, परंतु भूमि ही हमारी भी मातृभू है और हम सदा इस प्रयत्नमें रहते हैं कि अपने अधोलोकोंका अपार ऐश्वर्य छोड़कर भी पृथ्वीपर रह पावें।' दैत्यराजने सीधी स्पष्ट भाषामें अपनी बात समझा दी थी।

'भूमिसे स्वर्ग या नरक अथवा पाताल और वहाँसे फिर भूमिपर। इस क्रमका मूल क्या है। भूमि सबका केन्द्र तो है, पर क्या यहाँ इस चक्रको चलाते रहनेके लिये ही प्राणी आता है?' महाराजका समाधान हुआ नहीं।

उस दिन गुरुदेव सानुकूल थे। वे अग्निकी आराधना... सीधे अध्यापनके आसनपर जा बैठे थे। आश्रमके ... वासियोंने देखा कि महाराज हाथमें शमीकी सूखी समिधायें लिये उनमेंसे सबके पीछे प्रणिपात कर रहे हैं।

'शमी अग्निगर्भ होता है नरेश!' गुरुदेव प्रायः परोक्ष उपदेश ही देते हैं। 'समिधाओंकी सार्थकता है कि वे यज्ञ... आहुतियाँ प्राप्त करके प्रकाशको प्रदीप्त करें।'

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥

एक सबसे अल्पवयस्क बालककण्ठ कहीं भगवान् सविताकी स्तुति कर रहा था—'स्वर्णके पात्रसे सत्यका मुख आच्छादित है। भगवान् आदित्य—पोषणके अधिदेव प्रभु! आप उस आच्छादनको दूर कर दें। जिससे मैं उस सत्यस्वरूप धर्मका दर्शन कर सकूँ।'

महाराजके हृदयमें वह स्तोत्रके मन्त्र जैसे समुज्ज्वल हो गये। वे भी तो सत्य-धर्मका दर्शन चाहते हैं। उसे क्या सुवर्णके पात्रसे ढका गया है? क्या सम्पत्ति ही उस धर्म... दर्शनमें बाधक है? ये ज्ञानस्वरूप आदित्य-गुरुदेव क्या उसे अनाच्छादित कर रहे हैं। 'सम्पत्ति—अपने लिये ... सम्पत्तिका संग्रह कोई करता नहीं।' महाराजको क्या पता था कि उनके युगके पश्चात् मनुष्य केवल सम्पत्तिका अपने लिये संग्रह ही करे, यही नहीं—वह सम्पत्तिके लिये ही जीवन धारण करेगा!

'मैं भगवान् यज्ञ-पुरुषकी आराधना करूँगा! प्रभु अनुग्रह करें!' परोक्ष उपदेशकी महत्ता यही है कि जो जैसा अधिकारी होता है, उसके अनुरूप ही उपदेशका अर्थ-ग्रहण होता है। महाराजने समझा 'गुरुदेवने शमीकी अरणि... प्रकट भगवान् अग्निको आहुतियोंसे तृप्त करनेका आदेश दिया है। यज्ञके द्वारा ही मैं अधिकारी हो सकूँगा उस ज्ञानका, जो हिरण्यसे आच्छादित हो गया है। यज्ञमें सर्वस्वदानके अनन्तर गुरुदेव या भगवान् यज्ञपुरुष मुझे वह आलोक प्रदान करेंगे।'

गुरुदेवके मुखपर उस दिन मन्द स्मित आया था। उन्होंने अनुरोध स्वीकार कर लिया। प्रजाके लिये इससे आनन्दप्रद कोई संवाद हो ही नहीं सकता था। साक्षात् मन्त्रमूर्ति तपोधन अरण्यवासी महर्षियोंने कृपा की। यज्ञका समारम्भ हुआ। यज्ञ-पशु छोड़ा गया और उसे सर्वत्र विनम्र स्वागत ही मिला।

प्रथम बार देवेन्द्र एवं दैत्येन्द्र एक ही यज्ञ-मण्डपमें समान आसनोंपर आसीन हुए। कामनाहीन, केवल यज्ञ-पुरुषकी तृप्तिके लिये होनेवाले यज्ञमें स्व-पर पक्षका प्रश्न ही नहीं था। उन जनार्दनकी तृप्ति तो सभीकी समान पोषिका है। कहींसे किसी विघ्नकी जहाँ आशंका नहीं थी, वहीं विघ्न हुआ। यज्ञीय पशु अन्तर्हित हो गया और वह केवल स्थूल जगत्से ही नहीं, दिव्य जगत्से भी अन्तर्हित हो गया। महाराज गुरुदेवके सम्मुख करबद्ध बैठ गये थे पादपीठके समीप और गुरुदेव—उन्होंने तो नेत्र बंद किया और रोम-रोम हर्षोत्फुल्ल हो गया। विस्मृत हो गये वे कि कहाँ हैं, क्या हो रहा है।

× × ×

[३]

'देवराज! क्या ऐसा भी कोई स्थान है जो आपकी दृष्टिसे परे हो?' कुलगुरुकी दृष्टि देवेन्द्रके नयनोंपर स्थिर हो गयी।

'मेरी शक्ति सीमित है।' सुरपतिने मस्तक झुकाया। वे असत्य नहीं बोल सकते और इस अवसरपर सत्य बहुत ग्लानिकर है, सो भी मनुष्यों और दानवपतिके सम्मुख। 'अनन्त-अनन्त ब्रह्माण्ड हैं और उनके सम्बन्धमें पितामहको भी बहुत अल्पज्ञान है।' देवेन्द्रने जान-बूझकर भगवान्की अनन्तता सूचित की। इसी ब्रह्माण्डमें ब्रह्मलोक, भगवान् शङ्करका कैलाश, भगवान् शेषका पाताल ऐसे हैं, जहाँ महेन्द्रकी दिव्य-दृष्टि कुण्ठित हो जाती है। वे वहाँ गये बिना कुछ नहीं देख पाते।

'अनन्त-अनन्त ब्रह्माण्ड जिसकी एकतामें स्थित हैं, उसका भी धाम है न?' महर्षिकी वाणी गम्भीर बनी रही।

'प्रभुके दिव्यधामोंसे ही हमारे ब्रह्माण्डकी सत्ता है, परंतु वहाँ हमारी गति नहीं।' जहाँ लोकपितामह भी द्विपरार्धान्तमें ही क्वचित् प्रविष्ट हो पाते हैं, वहाँ गति न होना कोई खेदकी बात नहीं और न लज्जाकी।

'राजन्! यज्ञेशका उपस्थान करो!'

'यज्ञीय पशु········।'

'भगवान् यज्ञपति स्वयं उसकी व्यवस्था करेंगे।' महर्षिने महाराजको शङ्का करनेसे रोका। 'जो उपकरण दिव्य जगत्से भी ऊपर हों, जिन्हें देवराज भी देख न सकें, उनके अभावमें मानवकी क्रिया अपूर्ण नहीं रहती। कोई अपूर्णता हो तो भी भगवान्का नाम-कीर्तन उसे पूर्ण कर देता है।'

किसीको सन्देह नहीं था कि महर्षिकी सर्वज्ञता अबाध है और यज्ञीय अश्व उनसे अविदित नहीं है। होता, ऋत्विक् सावधान हुए। महाराजने प्रफुल्ल अरुण पद्म-पुष्पोंकी अञ्जलि उठायी। 'सहस्रशीर्षा पुरुषः······' स्तवन सस्वर होकर दिव्यजगत्से ऊपर गुंजित होने लगा।

'शुभं भूयात्!' गुरुदेवका कण्ठस्वर शङ्खध्वनिकी गम्भीरतासे गूँजा और साथ ही यज्ञशाला अश्वकी हिंकारसे पवित्र हो गयी। यज्ञीय पशु स्वयं यज्ञेशका स्वरूप होता है। महाराजके आश्चर्यकी सीमा नहीं थी। अश्व उनके सम्मुख इस प्रकार स्थिर खड़ा था, जैसे वह चिरकालसे वहीं हो। कोई नहीं जानता वह किधरसे आया। कौतूहल एवं जिज्ञासासे पूर्व उपस्थान पूर्ण हुआ। अश्वका पूजन हुआ। आलम्भन-कृत्यके पश्चात् यज्ञीय पशु विश्रामशालामें पहुँचाया गया।

'एक वृक्षके मूलसे ही दो तने हो गये हैं। बड़ा विचित्र है वह वृक्ष। एक तना अपनी शाखाओंके साथ थोड़ी दूर जाकर फैल गया है और दूसरा सीधे नीचे चला गया है। वृक्षकी जड़ ही ऊपर है तो तना कहाँ जाय। वह दूसरा तना सीधे नीचे चला आया है। नीचेवाले तनेसे फिर नीचे-ऊपर चारों ओर शाखाएँ गयी हैं और वट-वृक्षके समान इस तनेसे नीचे चारों ओर जड़ें फैली हैं। पर यह वट नहीं, पीपल है।' महाराजने विश्रामशालामें पशुको प्रणिपात किया और वैसे ही भूमिमें पड़े रह गये। वे यह क्या स्वप्न देख रहे हैं।

'प्रभो!' सेवकोंने संकोचसे सावधान करनेका प्रयत्न किया। यज्ञशालाके ऋत्विक् पूर्णाञ्जलिके लिये शीघ्रता कर रहे थे। अवभृथस्नान भी मध्याह्नके अभिजित् मुहूर्तमें होना चाहिये। महाराज तो कदाचित् यज्ञीय श्रमसे खिन्न होकर सो रहे हैं भूमिपर।

'कैसा है यह तेजोमय अश्वत्थ! उसके भीतरका श्वेत, लाल एवं काला रस बाहरसे ही दृष्टि पड़ता है। बड़े सुन्दर-सुन्दर लाल-लाल कोमल पल्लव हैं उसमें। ऊपरवाली शाखाके पल्लव तो और भी मृदुल-मंजुल हैं।' महाराज अपने अद्भुत हृदयमें तन्मय थे।

'अतिकाल हो रहा है!' यज्ञीय विधिका सम्यक् निरीक्षण ही तो 'ब्रह्मा' का कार्य है। उन्होंने कुलगुरुसे कोई समाधान चाहा। सेवक निराश लौट आये थे। पता नहीं महाराजको क्या हो गया। वे तो उठते ही नहीं। जाग्रत् भी नहीं होते। पुकारने और स्पर्श करनेपर भी नहीं।

'भगवान् वासुदेव!' महाराजने उस तन्द्रालोकमें भी अश्वत्थकी पूजा की और प्रणिपात किया।

'वत्स !' जैसे भगवान् वासुदेव ही प्रसन्न हो गये हों। महाराजने नेत्र खोले। मस्तकपर कोमल कर रक्खे गुरुदेव सम्मुख खड़े थे। 'कभी भी श्रद्धा असफल नहीं होती। तुम्हारा संकल्प सिद्ध हुआ। अब ऋत्विकों एवं देवताओंको अवभृथकी अर्चा प्राप्त हो।'

महाराजने कुछ नहीं समझा। इस समय कुछ समझने-सोचनेकी अपेक्षा आदेश-पालनकी अधिक आवश्यकता थी। सेवक पीछे करबद्ध खड़े थे। महाराज एक विनयी बालककी भाँति उठे और गुरुदेवके पीछे हो लिये।

'कैसा है यह यज्ञ ? कैसी है इसकी सांगता ?' महेन्द्रने अनेक बृहस्पति-सव यज्ञोंकी अर्चा प्राप्त की है; किंतु महाराज करन्धमका यह यज्ञ—इसमें यज्ञेशके दर्शन उन्हें नहीं हुए। संकल्पकी सिद्धि साकार नहीं हुई; किंतु यजमानने बड़ी प्रसन्नतासे देवताओंके साथ उनका विसर्जन कर दिया। देवेन्द्र अन्ततक कुछ समझ न सके।

× × ×

[४]

'प्रभु ! क्या त्रेतामें ही यज्ञपति भगवान् विष्णुका यज्ञान्तमें दर्शन शक्य नहीं रहा ?' गुरुदेव जब कह चुके कि यज्ञ सविधि पूर्ण हुआ तो श्रद्धाके अभावका प्रश्न ही कहाँ रहा।

'प्राणी इस लोकमें कहाँसे आता है ? क्यों आता है ? क्या है इस लोकका सत्य मूल ?' महर्षिने मन्दस्मितके साथ अपने शिष्यकी ओर देखा।

'श्रीचरणोंके आदेशसे क्रतुका आयोजन हुआ।' महाराजने तो इन्हीं समस्याओंके समाधानके लिये यज्ञ किया था। आज उन्हींसे ये प्रश्न क्यों किये जा रहे हैं। 'मुझे आशीर्वाद मिल गया है। यही मेरे आश्वासनका कारण है।'

'तुमने यज्ञेशके श्रीचरणोंमें अश्वत्थका साक्षात् किया है न ?' यज्ञीय अश्वको पशु मानकर भला कोई क्यों पूजेगा ?'

'मुझे अवकाश नहीं मिला कि वह दृश्य निवेदित करूँ।' महाराजने मस्तक झुका लिया।

'राजन् ! भगवान्के विराट्स्वरूपका वर्णन श्रुति करती है और श्रुति ही कहती है कि जिस वृक्षपर दो पक्षी बैठे हैं, वह अश्वत्थ वृक्ष है—पिप्पल है।' महर्षिके संकेत बहुत स्पष्ट न होकर भी पर्याप्त थे।

'मैं उस स्वरूपका स्पष्ट दर्शन कर सकता, ऐसी क्षमता मुझमें नहीं है।' सचमुच यदि अधिकारी हो तो क्या उसे अधिदैवत जगत्की बौद्धिक व्याख्या अपेक्षित है। 'श्रीचरणों-की परम्परासे प्राप्त ज्ञान ही मेरा मार्गदर्शक है।'

'महाराज ! आपने विषय-भोगोंका प्रलोभन छोड़ा। अश्वत्थके ये प्रवाल अत्यन्त मोहक हैं और लौकिक भोगोंसे स्वर्गके भोग—ऊपरी शाखाके प्रवाल तो और भी आकर्षक हैं। इन प्रवालोंकी पुष्टि जिन रसोंसे होती है, उन तीनों रसों, गुणोंके भी आप द्रष्टा बन सके और इसीलिये आपने पूरे अश्वत्थका साक्षात् पाया।' महर्षिने विश्व-तरुकी व्याख्या की।

'कल्पके आदिमें विश्वका एक भाग दिव्य स्वर्गादिलोक बनता है और एक हमारा मर्त्यलोक। स्वर्गलोक तो वैसे-का-वैसा है, कारक देवता कल्पान्ततक स्थित रहेंगे; परंतु मर्त्य-भूमिकी शाखाएँ ऊपर-नीचे चारों ओर फैली हैं। यहाँके कर्म भोग प्राणीको सर्वत्र पहुँचाते हैं।' व्याख्या और स्पष्ट हो गयी।

'अश्वत्थकी नीचेकी शाखासे निकली जड़ें—कदाचित् हमारे नाना प्रकारके कर्म हैं। यही तो जीवको बाँधते हैं। इन्हींसे तो विश्व-तरुकी स्थिति है; परंतु यज्ञीय पशुकी अदृश्य अवस्थिति कहाँ थी ? महाराजका यहीं समाधान नहीं हो रहा था।

'जहाँसे जीव आता है।' महर्षिने गम्भीरतासे समझाया 'यह विश्व-तरु कर्ममें बँधा उन कर्मसूत्रोंसे पोषित है जो जड़के समान कर्मलोकमें विस्तृत हैं। कर्म न हों तो विश्व न रहे; परंतु इसका मूल यहाँ नहीं। मूल तो ऊपर है। इन कर्म-सूत्रोंके विस्तृत मूलोंको काटकर विश्व-मूलमें जीवको जाना है।'

'देवता दृश्य नहीं हैं साधारणतः; किंतु वे चाहे जब व्यक्त हो जाते हैं। विश्वके पदार्थोंको वे कभी हमारे शुभ-कर्मोंके अनुकूल व्यक्त कर देते हैं और कभी अशुभ कर्म यहाँ प्रबल होनेपर पदार्थोंको तिरोहित कर देते हैं। इसी प्रकार देव-जगत् भी प्रलयमें जहाँ लीन हो जाता है, वही विश्वमूल है। वहींसे तुम्हारा अश्व सहसा प्रकट हो गया।'

शतद्रूका कल्कल नाद दिशाओंमें व्याप्त हो रहा था। यज्ञकुण्डसे सुरभित धूम्रकी कुण्डलियाँ उठ रही थीं। आश्रमवासी छात्र अपने आसनोंपर गायत्रीका प्रणिधान कर रहे थे और सात्त्विकताकी इसी पृष्ठभूमिमें महाराज करन्धम गुरुदेवके अमृतोपदेशका पान करके ध्यानस्थ-से हो गये।

'भगवान् यज्ञपति······!' दो क्षण पश्चात् महाराजने नेत्र खोले।

'वे तुम्हारे यज्ञमें पधारे। तुमने उनकी अर्चा की और उन्होंने अपने विश्वरूपका तुम्हें साक्षात् कराया।' महर्षि

आतुरतासे बोलते हुए बीचमें ही उठ खड़े हुए और उन्होंने अन्तेवासियोंको शीघ्रतासे अर्घ्य प्रस्तुत करनेका आदेश दिया।

'यह क्या, यह तो यज्ञीय अश्व है।' महाराज गुरुदेवके साथ ही उठ गये थे। अश्व आश्रमद्वारमें प्रविष्ट हो, इसके पूर्व ही आगे बढ़कर महर्षिने साष्टाङ्ग प्रणिपात किया। अर्घ्य निवेदित किया। 'हयशीर्ष्णे नमः।' महर्षि भावावेशमें अश्वको भगवान् हयशीर्षके रूपमें देख रहे हैं, यह सन्देह तब और भी अस्त-व्यस्त हो गया, जब अश्वने महर्षिका दिया हुआ आसन ग्रहण कर लिया।

'कुमार कार्तिकने महाराजका अश्व उन्मुक्त कर दिया है! अश्व इलावर्तमें प्रविष्ट ही होनेवाला था कि एक रुद्रगणने उसे निरुद्ध कर लिया। कुमारकी महाराजपर कृपा है। महाराजके लिये उनकी कीर्तिकामना।' जैसे कोई छाया गगनमें आश्रमद्वारसे दूर ही निकल गयी हो। महाराजका ध्यान उधर गया। द्वारसे यज्ञीय अश्व प्रविष्ट हो रहा था। उन्होंने चौंककर देखा—सिंहासन रिक्त है। गुरुदेव विह्वल हो रहे हैं। 'प्रभो!' महाराज भावविभोर होकर भूमिपर गिर गये।

अपने विचार दूसरोंपर न थोपो

(लेखिका—कुमारी भारती)

तुम यह मानते हो कि तुमने जो निर्णय किया है वह अन्तिम है, इसलिये तुम किसीकी सुनना नहीं चाहते, जहाँ भी जो कोई तुम्हारे तथाकथित सिद्धान्तके विरुद्ध बोलता है, तुम नाराज हो जाते हो और अपने सिद्धान्तका प्रचार छोड़कर क्रोधका प्रचार करने लगते हो। इसीसे तुम्हारा जीवन एकके बाद दूसरी उलझनोंमें फँस जाता है।

तुमने कभी यह भी सोचा है कि तुम्हें जिस प्रकार अपने आचार-विचार और सिद्धान्तसे प्रेम है, वैसा ही प्रेम दूसरेको भी अपने विचारोंसे हो सकता है।

तुम उस व्यक्तिसे प्रसन्न होते हो, जो तुम्हारे विचारके आगे नतमस्तक हो जाता है और अपनी बुद्धिको तुम्हारे सिद्धान्तके आगे बेच देता है।

तुम्हारी बात कोई क्यों माने, इसे समझनेकी तुमने कभी कोशिश नहीं की।

सम्भव है, तुमने अपने विचारोंको पक्का करनेके पूर्व अनुभव किया हो अथवा उन विचारोंके पीछे प्रबल तर्क और युक्तियाँ भी हों, परंतु जबतक तुम्हारे अनुभव और युक्तियोंका लोगोंको पता नहीं चलता, तबतक कोई तुम्हारी बातको वेदवाक्य मानकर क्यों चले?

और भी एक बात है। तुम्हारा अनुभव तुम्हारे लिये जिस प्रकार प्रमाण है, वैसे ही वह सबके लिये प्रमाण नहीं हो सकता। अनुभव भी विचारोंके अनुसार तथा योग्यता, शक्तिके अनुसार ही होता है। अनुभवका मूल्य भी समयके अनुसार कम और अधिक होता है। इसीलिये तुम्हें अपने अनुभवका मूल्य भी अधिक आँकनेका कोई अधिकार नहीं।

अपने अनुभव अथवा सेवाका यदि तुम यह अर्थ मानते हो कि तुम्हारी विचारधाराको बिना ननु-नचके मान लिया जाय तो क्षमा करना यह विचारधारा नहीं, अविचारधारा है। हमारे विचारसे यह भी मानसिक रोग है।

तुमने जो विचार किया है, उसपर तबतक दृढ़ रहनेका तुम्हें अधिकार है, जबतक वह विचार तुम्हें ग्राह्य प्रतीत होता है। ऐसा करना तुम्हारा धर्म है।

किसीके सामने बिना समझे झुकना आत्मसम्मानके विपरीत है। साथ ही अपने विचारको अन्तिम और एकमात्र मानकर उससे भिन्न विचारकोंको बुरा मानना भी भली बात नहीं।

मतवाद और मूढ़ग्राहका जन्म उक्त विचारसे ही होता है, कल्याण-मार्गके पथिकका यह धर्म है कि उसका अन्तःकरण भ्रमरके समान सब स्थानोंसे सत्यको एकत्र करनेका अभ्यासी बने, जिससे जीवनमें मधुरताका सञ्चार हो। मधुमय जीवनकी बात इसी प्रकार कार्यरूपमें परिणत हो सकती है।

सत्य असीम और अनन्त है, इसलिये उसके ठेकेदार बननेका दावा मूर्खता अथवा दम्भ है। अपने विचारको वाणीसे नहीं, आचरणसे यदि दूसरोंके सम्मुख रख सको तो अच्छा होगा। अपने विचारको दूसरोंपर बलात्कारसे थोपनेका प्रयत्न न करो।

दो सत्य घटनाएँ

(लेखक–पं० श्रीभवदेवजी झा)

लीलामयके इस परम पावन लीलाक्षेत्रमें ऐसी घटनाएँ न जाने कितनी घटा करती हैं; पर हमारा उनकी ओर ध्यान बहुत ही कम जाता है। यदि कभी कुछ ध्यान जाता भी है तो हमारा शङ्का-समाकुल हृदय उनकी सत्यताको शायद ही कभी स्वीकार करता है; परंतु हम भले ही उन्हें माननेको तैयार न हों—उनकी सत्ता स्वीकार न करें; किंतु सत्य तो सदा सत्य ही रहेगा। हाँ, इतना तो मानना ही पड़ेगा कि उनके अस्तित्वमें अनास्था होनेके कारण उनके द्वारा प्राप्त होनेवाले परमलाभसे हम वञ्चित ही रह जाते हैं। मैं यहाँ दो सत्य घटनाओंका ही उल्लेख करने जा रहा हूँ। अतः आशा है कि प्रिय पाठकगण इसे पढ़ते समय मनमें किसी प्रकारकी शंकाको स्थान न देंगे।

इनमेंसे एक घटना········स्टेटके········नामक स्थानकी है। दिनके लगभग ग्यारह बज रहे थे। एक ब्राह्मण अपने दरवाजेपर अकेले बैठे हुए थे। एकाएक उनकी दृष्टि सामने आते हुए एक चिरपरिचित व्यक्तिपर पड़ी। वह उन्हींके गाँवका एक लोहार था। ब्राह्मण तो हक्का-बक्का होकर एकटक उसका मुँह ताकने लगे। इतनेमें वह बिलकुल निकट आकर खड़ा हो गया। पहले तो वे सहमे, परंतु फिर धीरज धरके उससे बोले—'अरे, तू तो उस दिन मर चुका था, तुझे आज यहाँ कैसे पाता हूँ? तू कहाँसे आ रहा है? यहाँ किसलिये आया है?'

वह बोला—'महाराज! मैं ठीक वही लोहार हूँ जो आजसे छः महीने पूर्व ही मर चुका था और अब तो मेरी यमदूतोंमें भर्ती हो गयी है। लोगोंके मरनेपर उनके सूक्ष्म शरीरको पकड़कर यमलोकमें रख आना ही मेरा मुख्य काम है।'

इतना सुनते ही ब्राह्मण देवताके मुखपर हवाई उड़ गयी; परंतु तुरत सँभलकर उन्होंने कहा—'अच्छा तो क्या तुम वहाँकी कुछ बातें मुझे बतला सकते हो?'

उसने उत्तर दिया—'महाराज! मैं तो वहाँका एक साधारण नौकर हूँ; इसलिये मुझे तो वहाँकी सूक्ष्म बातोंका पता नहीं है। हाँ, फिर भी दो बातें वहाँकी जरूर जानता हूँ। जब कोई मरकर वहाँ पहुँचता है तो दो बातोंकी पूछ पहले ही होती है—एक तो यह कि 'क्या तूने एकादशी-व्रत किया है?' और दूसरी, 'तूने अपने जीवन-कालमें बैंगन खाया है या नहीं?'

शायद ब्राह्मण देवताको इसमें सन्देह नहीं रहा कि बैंगन भी हमारे भोजनमें अग्राह्य है। अतः इस विषयमें कोई प्रश्न न करके उन्होंने कुछ और ही प्रश्न किया—'हाँ, तो तुम यहाँ आये किसलिये? क्या इस गाँवमें भी कोई आज मरनेवाला है? मेरी समझसे तो ऐसा शायद ही कोई है!'

'क्यों नहीं महाराज! आज अभी ठीक बारह बजे एक आदमी मरनेवाला है। मैं उसीके लिये यहाँ आया हूँ। थोड़ी ही देरमें आप देख लेंगे, कौन मरता है!'

बस, इतना ही कहकर वह अन्तर्हित हो गया। इधर उसका गायब होना था कि गाँवमें हलचल मच गयी। ब्राह्मणदेव तो पहलेसे चौकन्ने थे ही, शोर-गुलके सुनते ही उठ पड़े। लोगोंसे पूछनेपर पता चला कि इसी गाँवका एक हलवाहा, जो अपने खेतमें अभी-अभी हल चला रहा था, खेतहीमें मरा पड़ा है। बात यह हुई कि जब ठीक दोपहर हुआ तो वह अपना हल खोलने लगा। बैलोंको हटाते समय एक बैलने अपने सींगसे ऐसा झटका दिया कि वह धड़ामसे पृथ्वीपर गिर पड़ा और इतनी चोट आयी कि सदाके लिये वहीं सो रहा।

ब्राह्मण देवताको तो उस यमदूतकी बातें याद थीं ही। उन्होंने ऊपर दृष्टि फेरी तो देखा कि अब सूर्य भी ठीक सिरकी सीधमें ऊपर आ चुके हैं। वे झट दौड़े हुए उस घटनास्थलपर गये और अपनी आँखों उस

हलवाहेकी आकस्मिक मृत्यु देखकर दंग रह गये। उन्होंने मन-ही-मन सोचा, ठीक वह यमदूत ही था। मुझे विश्वास नहीं हो रहा था, पर उसका कहा सच ही तो निकला।

उस दिनसे ब्राह्मण देवताको परलोकमें और भी गहरी आस्था हो गयी; और तभीसे उनके आदेश अथवा अनुरोधसे उनके परिवारके स्त्री-पुरुष, बाल-बच्चे, नौकर-चाकर सभी एकादशीव्रत रखते हैं और अब उनके परिवारमें कोई भी बैगन नहीं खाता।

यद्यपि हमारे स्मृति-शास्त्र या पुराणोंमें इस प्रकारका प्राय: कोई वचन नहीं मिलता कि बैगन भी अमेध्य या अखाद्य वस्तु है तथापि इतना तो अवश्य है कि परम्परासे ही कुछ लोग बैगनका उपयोग निषिद्ध मानते हैं। और एकादशीके दिन तो अत्यन्त निषिद्ध है। मेरे अनुमानसे तो उस यमदूतके उपर्युक्त कथनमें एकादशीव्रतके साथ बैगनका निर्देश यही सूचित करता है कि उसका निषेध केवल एकादशी तिथिमें ही है। आशा है विज्ञ पाठक इस विषयमें स्वयं अन्वेषण करके यह निर्णय करेंगे कि बैगन भी फूलगोभी या प्याज-लहसुनकी तरह सर्वथा अखाद्य है या केवल एकादशी तिथिको ही वर्जित माना गया है। अस्तु,

(२)

दूसरी घटना भी परलोकसे ही सम्बन्ध रखनेवाली है। ओ० टी० आर०............के निकट देहातकी ही बात है। एक आदमी मर गया था जो जातिका दुसाध था। जब वह चितापर रक्खा गया तो एकाएक जी उठा। फिर लोग बड़े प्रेमसे उसे घर ले आये। बातचीतके सिलसिलेमें उसने कहा—'भैया! मैं तो एक अनोखी दुनियामें पहुँच गया था। यमदूत पहले मुझे यमराजके दरबारमें ले गये। वे एक दिव्य सिंहासनपर विराजमान थे और उनके अगल-बगल कई एक सिपाही हाथ जोड़े खड़े थे। मेरे पहुँचते ही यमराजने उनमेंसे एकको इशारा किया और वह झट मुझे लेकर बाहर निकल पड़ा। वह घुमा-फिराकर उस दिव्य लोकका दर्शन कराने लगा। कह नहीं सकता, कितनी शानदार थीं वहाँकी अटारियाँ और कितनी लुभावनी थीं वे फुलवारियाँ। जिधर ही नजर दौड़ती उधर ही अटक जाती। मैं बीच-बीचमें उस व्यक्तिसे पूछ बैठता—ये कोठे-महल, ये बाग-बगीचे किनके हैं? और वह मुझे बतलाता जा रहा था। चलते-चलते मैं एकाएक ठिठुक गया और कुछ पूछनेहीवाला था कि वह बोला—'भई! धन-धान्य और ऐश्वर्योंसे लदे हुए इन कोठे-अटारियोंकी सारी सुख-समृद्धि जो तुम देख रहे हो वह सब कुछ तुम्हारे ही देहातके उस धनाढ्य........की है, जिसने अपने जीवनमें तीन बार गृहदान कर डाला है। जो वहाँ एक देता है, वह यहाँ हजार पाता है?'

इतना ही कहकर वह चुप हो गया। आगे कुछ नहीं कह सका। वह आदमी आज भी जीवित है; किंतु इस विषयमें और बातें बतलानेमें वह सर्वथा असमर्थ है।

ये दोनों घटनाएँ अभी हालहीकी हैं। बातें मैंने ज्यों-की-त्यों रखनेकी कोशिश की है, तथापि वार्तालापके प्रसंगमें यदि कहीं काल्पनिकताकी गन्ध आ गयी हो तो मैं उसके लिये पाठकोंसे क्षमा-प्रार्थी हूँ। शायद यह मुझे कहनेकी आवश्यकता नहीं, इन घटनाओंके उल्लेखका वास्तविक उद्देश्य क्या है। एकादशीव्रतका क्या महत्त्व है? दान (विशेषत: गृहदान) क्यों किया जाता है? हमारे विज्ञ पाठक इन बातोंपर स्वयं भी विचार कर सकते हैं। मेरा तो बस यही कहना है कि ऐसी घटनाओंके दर्शन, श्रवण-लाभको ईश्वरकी असीम अनुकम्पाका ही फल जानना चाहिये तथा इनकी शिक्षाको उन्हींका आदेश समझकर हमें भी तदनुसार ही कार्यमें प्रवृत्त हो जाना चाहिये।

सकाम उपासना (आस्तिक क्या करें ?)

(लेखक—पं० श्रीकाकूभाई दुर्गाशङ्कर दवे, साहित्याचार्य, विद्यालङ्कार)

ज्यौतिषियोंके दो वर्ग हैं—एक तो वे हैं, जो फलादेशके साथ-साथ क्रूरग्रहजनित अनिष्टफलके निवारणार्थ शान्तिकर्मके लिये आदेश देते हैं, जैसा कि निर्णयसिन्धु आदि ग्रन्थोंके संगृहीत वचनोंमें, प्रथम अनिष्टफल बतलाकर फिर मूल, ज्येष्ठा, वैधृति आदि कुयोगमें जन्म होने इत्यादि अनिष्टोंके निवारणार्थ शान्तिके विस्तृत विधान बतलाये गये हैं। वेदमें भी 'सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषद्' आदिमें स्पष्ट ही 'श्रीकामः सततं जपेत्' आदि विधान सकाम उपासनाके पक्षमें हैं। पुराणोंमें तो सकाम उपासना और तज्जनित श्रेयके पर्याप्त उदाहरण भरे पड़े हैं। पुराणका तो सिद्धान्त ही यह है कि सत्कर्मसे इष्ट-सिद्धि और मोक्ष तथा दुराचार और दुष्कृत्यसे पतन और हानि होती है।

ज्यौतिषियोंका द्वितीय वर्ग दृढ़तापूर्वक कहता है कि यदि अनिष्ट-निवारणार्थ शान्ति-कर्मानुष्ठानसे (मृत्युञ्जयादिसे) क्रूर ग्रहादिका उपशम हो जाय तो फिर नियति किसको कहें ? होनेवाला तो लाख उपाय करनेपर भी होकर ही रहेगा। इसकी पुष्टिके लिये निम्नलिखित उक्तियाँ प्रायः कही जाती हैं—

गोविन्दो मातुलो यस्य पिता यस्य धनंजयः।
अभिमन्यू रणे शेते नियतिः केन वार्यते॥
अवश्यम्भाविभावानां प्रतिकारो भवेद् यदि।
तदा दुःखे न लिप्येरन् नलरामयुधिष्ठिराः॥
यद् भावि न तद् भावि भवेच्चेन्न तदन्यथा।
इति चिन्ताविषघ्नोऽयमगदः किं न पीयते॥

क्योंकि 'तादृशी जायते बुद्धिर्यादृशी भवितव्यता'। इस सम्बन्धमें श्रीरामचन्द्रजी और स्वर्णमृगका प्रसंग लेकर 'विनाशकाले विपरीतबुद्धिः' कहा जाता है और रावणकी सीता-हरणकी कुचेष्टा और 'अपथ्यसेविनश्चौरा राजदाररता अपि' कहकर 'न चैतद् वारयितुमीश्वरेणापि शक्यते' के द्वारा भवितव्यताकी प्रबलताकी सिद्धिके लिये कहा जाता है कि स्वयं भगवान् भी इसके वशमें होना स्वीकार करते हैं। एतदर्थ महाभारतसे गान्धारीके शापके उत्तरमें दिये गये भगवान् श्रीकृष्णके वचन उद्धृत किये जाते हैं। निश्चित रूपसे स्वीकार किया जाता है कि अनिष्ट होनेहीवाला है, तब मित्र-शत्रु और सहायक-शुभचिन्तक सभी उसके हेतु और निमित्त बन जाते हैं।

इस सम्बन्धमें निवेदन है कि जो होनेवाला है, वह तो होकर ही रहता है। उसका यदि व्यवहारमें (In practice) तात्पर्य निकालें तो इसी निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि शुभाशुभ कर्मोंका फल ईश्वरसे जरूर मिलता है; क्योंकि फल-प्राप्तिकी क्रिया स्वतन्त्र रूपसे स्वयं नहीं हो सकती। यह क्रिया ईश्वर द्वारा नियन्त्रित है, (क्योंकि प्रत्येक क्रियाका कर्ता कोई-न-कोई अवश्य होना चाहिये) और इसीलिये यदि अनिष्टके निवारणार्थ शान्तिकर्मोपासना की जाय और वह सम्पूर्णतया श्रद्धासमन्वित एवं भलीभाँति परिचालित क्रमसे हो तो अनिष्टका प्रभाव अवश्य शिथिल हो जाता है, उसका प्राबल्य घट जाता है। (It lessened the intensity of effects) उदाहरणार्थ—यदि मृत्युका योग हो तो मृत्युञ्जयादि प्रयोगके यथोचित आश्रयसे मृत्यु-निवारण होना ही चाहिये, परंतु उसके बदलेमें प्रायः मृत्युतुल्य कष्ट सहना पड़ता है और यदि उस मृत्युतुल्य कष्टसे भी छुटकारा पाना है तो उसके लिये भी यथायोग्य शान्ति-कर्म-उपासना आदिका आश्रय आवश्यक है। इस प्रकार 'अधिकस्याधिकं फलम्'का वर्तुल बराबर चलता रहेगा। इससे 'न देवतोषणं व्यर्थं भविष्यति कदाचन' 'नाल्पस्य तपसः फलम्', 'नादत्तमुपतिष्ठते' और 'दानवीर कर्णने सुवर्णका ही दान दिया और अन्नका दान फिर दूसरे जन्ममें देना पड़ा' इत्यादि कथनोंकी पुष्टि होती है और यही सिद्धान्त सृष्टिक्रमके अनुकूल स्पष्ट प्रतीत होता है, क्योंकि धर्मार्थ औषधालय, विद्यालय, अन्नसत्र और छात्रवृत्ति आदि परोपकारजनित समस्त सार्वजनिक कार्योंकी प्रवृत्ति इसीसे फलित होती है। इस सिद्धान्तके न माननेसे उन पूर्वकथित परोपकारी कार्योंकी प्रवृत्ति नहीं होगी, उनके लिये प्रेरणा नहीं मिल सकेगी और फिर जनता कल्याणसे वञ्चित रह जायगी।

सत्पुरुषार्थसे यदि अनिष्ट-निवारण नहीं होता तो 'ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत' और सावित्रीका अपने पतिको साक्षात् यमराजके पाशसे छुड़ा लेना कैसे सम्भव हो सकता था। हाँ ! कभी-कभी ऐसा भी देखा जाता है कि अत्यधिक उपासना करनेपर भी फल प्रत्यक्ष नहीं दीखता और विवशतः मुखसे निकल जाता है कि 'क्या करें भाग्यमें नहीं था।' इसके उदाहरणस्वरूप कहा जाता है कि वेदभाष्यकार श्रीसायणाचार्यने धनेच्छासे गायत्र्युपासना की, पर उन

उपासनाका फल उन्हें अत्यन्त धैर्य रखनेके बाद मिला। परिणाम सामने आनेपर पता चलता है कि फल तो किसी-न-किसी प्रकार प्राप्त होता ही है, यदि उद्देश्य सच्चा और लगन सच्ची हो और यही शास्त्रकथित 'श्रद्धा' कही जाती है। (देशरत्न डॉ० राजेन्द्रप्रसादजीके लिये कलकत्तेके वृद्ध ज्यौतिषीने कहा था कि 'बहुत दिनोंके बाद तुम्हारी इच्छा पूरी होगी' (पृष्ठ ६०) और बाबू हरिजीके मुकदमेमें वे यूरोप गये भी (आत्मकथा, पृष्ठ २८१) ।

तात्पर्य यह कि 'न देवतोषणं व्यर्थं भविष्यति कदाचन' का सिद्धान्त ही मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे देखा जाय तो मनका समाधान और शान्तिप्रदाता होनेके कारण सुग्राह्य प्रतीत होता है, अन्यथा मनुष्य द्विविधामें पड़कर आकुल हो उठेगा। जो शास्त्रोंको कदापि अपेक्षित नहीं, यह उनका उद्देश्य नहीं। शास्त्रका उद्देश्य तो सत्पथ-प्रदर्शन है। कहनेका मतलब यह है, अभीप्साकी सिद्धि न हो तब भी श्रेय तो होता ही है। वह श्रेय भी 'श्रेय हुआ है' ऐसा स्पष्ट भान उपासकके चित्तको स्पन्दित करके होता है, जैसा कभी-कभी कोई अचिन्त्य लाभ (Windfull) होता है। जिसके लिये हमने कोई खास चेष्टा नहीं की हो। यह किसी-न-किसी पूर्वकृत सुकर्मका ही फल है, यह स्वीकार करना पड़ेगा।

यदि ऐसा न मानें तो 'सुकृते वः कथं श्रद्धा दुरिते च कथं न सा' इत्यादि कथित दोषोंका आविर्भाव होगा और सत्कार्यमें किसीकी प्रवृत्ति होगी ही नहीं। 'जो होनेवाला है वह तो होगा ही' यह कहकर हम निष्क्रिय बैठे रहें, यह धारणा गलत है। यह तो शङ्ख-तुल्य है, जिसके लिये कहा जाता है—

पिता रत्नाकरो यस्य लक्ष्मीर्यस्य सहोदरी।
भिक्षाटनं च शङ्खस्य नादत्तमुपतिष्ठते॥

वाञ्छित फलकी प्राप्ति सदुद्योग और सदाचारके सतत परिशीलनसे ही होती है। तभी तो कहा गया है—

उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी-
दैवेन देयमिति कापुरुषा वदन्ति॥

इस सिद्धान्तको स्वीकार करनेसे पूजापाठ, शान्तिकर्म, अनुष्ठान, यज्ञ-यागादि समस्त सत्कर्मोंकी आवश्यकता फलित होती है। ऐकान्तिक आत्यन्तिक सुखकी प्राप्ति और दुःखका नितान्त अभाव यदि सर्ववाञ्छित ध्येय है तो पूर्वकथित पूजा-पाठादि अनिवार्य हो जाते हैं।

यह जो देखा जाता है कि अभीष्ट-सिद्धिके लिये इधर तो अनुष्ठान चल रहे हैं और बीचमें वह हो जाता है, जो नहीं होना चाहिये। पर यह तो स्पष्ट है। एक रेलवे स्टेशनसे, जो हमारे यहाँसे पंद्रह मीलकी दूरीपर है, प्रातः दस बजे गाड़ी पकड़नी है। पैदल चलकर जानेके सिवा और कोई साधन नहीं है। ऐसी दशामें आवश्यक है कि हम अत्यन्त सवेरे द्रुतगतिसे चलकर गाड़ी आनेके पहले ही स्टेशनपर पहुँच जायँ। यह निर्विवाद सत्य है कि विलम्ब होनेसे गाड़ी छूट जायगी। ठीक ऐसी ही बात 'उपासनासे सिद्धि'में है। कार्य-सिद्धि और तदर्थ उपासनाके अनुपात और परिमाणमें समुचित सामञ्जस्य होना अत्यावश्यक है और इसीलिये कहा गया है कि ईश्वरोपासना तथा सत्कर्म नित्यप्रति करते ही रहना चाहिये। 'गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत्' क्योंकि आग लगनेपर कुआँ खोदनेके प्रयत्नसे कोई लाभ नहीं।

अनुष्ठान यदि सुयोग्य और सुचारु रीतिसे तथा यथाविधि संचालित न हो तो फलमें हानि होती है। 'दक्ष-यज्ञविध्वंस' और 'भार्या भक्षतु भैरवी' इसके उदाहरण हैं।

'भगवान् भी भवितव्यताके वशमें हैं' यह कहते हुए महामुनि वशिष्ठजीने मुहूर्त निश्चित किया था, फिर भी भगवान् श्रीरामचन्द्रजीका वनवास न टला—ऐसा कहा जाता है। पर यह नितान्त अनुचित प्रतीत होता है। भगवान् तो अवतार लेते हैं दुःख, अविद्या और दुराचार, पाप, अधर्म आदि कुप्रवृत्तियोंका विनाश करनेके लिये। भगवान् स्वयं सुख-दुःख, हर्ष-शोक, मोह-ममत्व आदिसे सर्वथा परे अलिप्त और निर्विकार हैं। वे तो सच्चिदानन्द-स्वरूप, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, नित्य, पवित्र हैं और इसीलिये 'भगवान्', 'सृष्टिकर्ता' और 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थ' हैं। निर्विकार और अलिप्त हैं, तभी तो—

आहूतस्याभिषेकाय प्रविष्टस्य वनाय च।
न मया लक्षितः कश्चित् स्वल्पोऽप्याकारविभ्रमः॥

इस प्रसंगके विषयमें कहा जाता है। वे परब्रह्म थे; परंतु प्राणप्रिया सीताके वियोगमें रुदन कर रहे थे, उनकी आँखोंसे आँसुओंकी वर्षा हुई थी, इससे इस कथनकी पुष्टि होती है। इसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण आदिपर पड़नेवाले दुःख, उन्होंने स्वेच्छासे जगत्को शिक्षा देनेके लिये स्वीकार किये थे। 'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्॥'

उनके इन आचरणोंका हेतु लोगोंको विपत्तिमें धैर्य बँधाना और धर्माचरणके लिये प्रेरित करना था, जिससे मनुष्य विपत्तिमें भी हतोत्साह न होकर सत्कार्य, पूजा-पाठ, नामस्मरण, सत्य, दया, अहिंसा, व्रत और ईश्वरपर विश्वास आदि सत्प्रवृत्तियोंमें सदुद्योगपूर्वक आगे बढ़ता रहे। तभी तो कहा गया है—

त्याज्यं न धैर्यं विधुरेऽपि काले
धैर्यात् कदाचिद् गतिमाप्नुयात् सः ।
यथा समुद्रेऽपि च पोतभङ्गे
सांयात्रिको वाञ्छति तर्तुमेव ॥

श्रीमार्कण्डेयजी अपने अल्पायुयोगको सर्वथा अन्यथा कर सके थे । युधिष्ठिर, नल, हरिश्चन्द्र इत्यादि महापुरुषोंके विषयमें भी ऐसा ही है । (lives of great men all remind us that we can make our lives sublime) और इसीलिये जो महात्मा आस्तिकताकी चरम सीमापर पहुँचे हुए होते हैं उनकी उक्ति भगवती महारानी कुन्तीके शब्दोंमें—

तथा परमहंसानां मुनीनाममलात्मनाम् ।
योगक्षेमविधानार्थं कथं पश्येमहि स्त्रियः ॥

तात्पर्य यह कि प्रथम योगक्षेमकी निश्चितता स्थापित करके, तदनन्तर—

विपदः सन्तु नः शश्वत्तत्र तत्र जगद्गुरो ।
भवतो दर्शनं यत्स्यादपुनर्भवदर्शनम् ॥

—होती है और—

'तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ।'

—भगवान्‌की इस प्रतिज्ञाके कारण श्रद्धापूर्वक किये गये कार्योंसे सिद्धि अवश्य प्राप्त होती है । आस्तिक साधक इस स्थितिमें पहुँच जाय तो फिर—

न नाकपृष्ठं न च सार्वभौमं न पारमेष्ठ्यं न रसाधिपत्यम् ।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा वाञ्छन्ति यत्पादरजःप्रपन्नाः ।

—उसे यह कहना ही पड़ेगा । इस प्रकार वैज्ञानिक दृष्टिसे देखनेसे पता चलता है कि आस्तिकताका यह वर्तुल सकामता-से शुरू होकर निष्कामतामें ही परिणमित होता है, यही इसका क्रम है ।

सत्कर्ममें विघ्न आना स्वाभाविक है । परीक्षाकी सफलता-में कितने विघ्न आते हैं, इसे तो परीक्षार्थी विद्यार्थी ही जान सकता है, पर यह निश्चित है कि लगनपूर्वक जो अभ्यासमें डटा रहता है, सफलता उसे ही वरण करती है—

रत्नैर्महार्हैस्तुतुषुर्न देवा न भेजिरे भीमविषेण भीतिम् ।
सुधां विना न प्रययुर्विरामं न ईप्सितार्थाद् विरमन्ति धीराः ।

प्रार्थनाके लिये प्रार्थना

(लेखक—ठाकुर श्रीरणवीरसिंहजी शक्तावत)

परमात्मा हमारे परम पिता हैं । जिस प्रकार हम अपनी उत्पत्तिके विषयमें अपने माता-पिताके प्रति शङ्का नहीं करते हैं, उसी प्रकार हमें परम पिता परमात्माके प्रति शङ्का नहीं करनी चाहिये । निर्विवाद और निस्सन्देह, ईश्वरके अस्तित्वको मानकर उनकी यथाशक्ति सेवा तथा उनका स्मरण यावज्जीवन येन केन प्रकारेण करते रहना हमारा परम कर्तव्य है । उनके नाम-गुणोंका श्रवण, उनका कीर्तन, उनके चरित्रोंकी चर्चा, उनकी वन्दना, उनमें मन, बुद्धि और कर्मका सर्वथा समर्पण करना और उनको सर्व देश और सर्व कालमें अपने साथ समझना हमारा परम धर्म है । महर्षि तिरुवल्लुवरका कथन है कि 'जो मनुष्य अष्ट गुणोंसे अभिभूत परब्रह्म—परमात्माके चरण-कमलोंमें सिर नहीं झुकाता, वह उस इन्द्रियके समान है, जिसमें अपने गुणके ग्रहण करनेकी शक्ति नहीं; जैसे अन्धी आँख और बहरा कान ।'

श्रीसूरदासजी कहते हैं—

'मो सम कौन कुटिल खल कामी ।
जिन तनु दियो ताहि बिसरायो ऐसो नमक हरामी ॥'

जिसने हमको पैदा किया है और जिसको हमारा पालन-पोषण करनेकी चिन्ता है, उसका चिन्तन न करना 'नमकहरामी' नहीं तो और क्या है ? 'नमकहरामी' मनुष्यके लिये महान् अपवादकी बात है । इससे बढ़कर कुटिलता और खलता और क्या होगी । कुत्ता—जिसकी हीन पशुओंमें गिनती है, टुकड़ा डालनेपर नमक-हरामी नहीं करता है तो भला हम मनुष्य होकर नमकहराम क्यों बनें ? यह हमारे सोचने-समझनेकी बात है ।

हमें चाहिये कि हमेशा हम अपने परम पिता परमात्माकी वन्दना कर कार्य आरम्भ किया करें। ईश्वर-का स्मरण करके और ईश्वरको साक्षी रखकर कार्य आरम्भ करनेकी आर्य-परम्परासे च्युत हो जानेके कारण ही हमारेमें वह हीनता आ गयी है जिससे हम अभीतक पनप नहीं पाये हैं। जहाँतक संस्कृतिका सम्बन्ध है, यह मानी हुई बात है कि 'भारतीय संस्कृति' सर्वश्रेष्ठ है और इसीलिये हमारे पूर्वजोंको 'आर्य' कहलानेका गौरव प्राप्त हुआ था। इस गौरवकी रक्षा करना हमारा प्रधान ध्येय होना चाहिये। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके वचन हमें याद रखने चाहिये—

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥
(गीता ३। ३५)

सुधार करनेके लिये आपको कोई नहीं रोकता। दिन-दुगुना—रात-चौगुना कीजिये; परंतु महामना महादेव गोविन्द रानडेके इन सारगर्भित शब्दोंको याद रखिये—'सुधार करनेवालोंको केवल कोरी पटियापर लिखना आरम्भ नहीं करना है। बहुधा उनका कार्य यही है कि वे अर्द्धलिखित वाक्यको पूर्ण करें। जो लोग कुछ किया चाहते हैं वे अपने अभिलषित स्थान-पर तभी पहुँच सकते हैं, जब उसे सत्य मान लें जो प्राचीन कालसे सत्य ठहराया गया है और बहावसे कभी यहाँ और कभी वहाँ धीमा-सा घुमाव दे दें, न कि उसमें बाँध बाँधें अथवा उसको किसी नूतन स्रोत-की ओर बरबस ले जायँ।'

आज महादेव गोविन्द रानडेके उपर्युक्त शब्दोंका हम यथार्थ मूल्य समझकर मनन करें तो हमारा कल्याण हो सकता है। नये और पुरानोंमें मेल-जोल हो सकता है। दलबंदियाँ समाप्त हो सकती हैं। हम और हमारा देश, दोनों उन्नतिके शिखरपर पहुँच सकते हैं।

हमारी संस्कृतिकी रक्षाके लिये सबसे पहला साधन, जो भारतके प्रत्येक परिवारको तथा भारतकी उत्तरदायी सरकारको करना चाहिये, वह यह है कि—

(१) प्रत्येक भारतवासी प्रतिदिन प्रातःकाल सूर्योदयके समय अपने परिवारके साथ पाँच मिनटके लिये परमात्मा (इष्टदेव) की प्रार्थना करनेका अनिवार्य आयोजन करे।

(२) भारत-सरकार प्रत्येक कार्यालयमें कार्यारम्भके पूर्व पाँच मिनटके लिये प्रार्थना होकर—जहाँ प्रार्थना हो वहीं—कर्मचारियों-की हाजिरी ली जानेका आदेश निकाल दे।

(३) इसी प्रकार कारखानों तथा कम्पनियोंके मालिक भी अपने कारखानोंके लोगोंके लिये आदेश दे दें।

महात्माजीके दैनिक कार्य सर्वप्रथम 'प्रार्थना' होनेके बाद ही आरम्भ होते थे। हमारी सरकार उनकी अनुयायी है, अतएव सरकारको इसपर अवश्य ध्यान देना चाहिये।

प्रार्थना ऐसी चुन ली जाय जो सभीको सहजमें याद हो सके, सभीके लिये उपयुक्त हो और जिसमें किसीको भी साम्प्रदायिक दृष्टिसे आपत्ति न हो। प्रार्थनाके साथ राष्ट्रीय गान भी रक्खा जा सकता है।

आशा है कि मेरी इस प्रार्थनापर हमारे आदरणीय 'राजाजी', 'पण्डितजी', स्वामीजी श्रीकरपात्रीजी महाराज और प्रिय बंधुगण ध्यान देकर इसको कार्यान्वित करने-का आयोजन अवश्य करेंगे।* विज्ञेषु किमधिकम्।

* श्रीशक्तावतजीका यह बहुत ही उत्तम प्रस्ताव है। इसके सम्बन्धमें पहले कुछ महानुभावोंको लिखा भी गया था। बातचीत भी की गयी थी। इसपर सभीको ध्यान देना चाहिये। इसका प्रचार हो जाय तो देशका बहुत बड़ा मङ्गल हो सकता है—सम्पादक

कामके पत्र

(१)

निःसङ्कोच भजन कीजिये

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण । आपका पत्र मिला । आपने लिखा कि 'भजन तो करता हूँ । पर माला न रखनेपर तो बहुत भूल हो जाती है और माला रखनेपर संकोच होता है । कुछ मित्र लोग मजाक करते हैं, और कुछ लोग भक्त समझकर सम्मान करने लगते हैं । अतएव क्या करूँ ?' इसके उत्तरमें निवेदन है कि यदि माला रक्खे बिना भूल होती है तो सारा सङ्कोच छोड़कर अवश्य माला रखनी चाहिये । इसमें लज्जा-सङ्कोचकी क्या बात है । मित्र लोग मजाक करते हैं तो करने दीजिये । मजाक करनेमें उनको सुख मिलता है तो आनन्दकी ही बात है । आपकी किसी क्रियासे मित्रोंका मनोरञ्जन हो, उन्हें सुख मिले, यह तो आपके लिये सुखकी बात है । पर कहीं ऐसा तो नहीं है कि सङ्कोच तो आपका अपना मन ही करता हो और अपना दोष छिपानेके लिये मित्रोंके मजाककी बात गौण होनेपर भी मनने उसको प्रधानता दे दी हो, ऐसा हो तो आपको सावधान हो जाना चाहिये । और मनको समझा देना चाहिये कि इसमें लज्जाकी बात तनिक भी नहीं है । लज्जा आनी चाहिये—झूठ बोलनेमें, गंदी जबान निकालनेमें, निन्दा-चुगली या व्यर्थकी बात करनेमें, किसीका अहित करनेमें, क्रोध और लोभके वश होनेमें, परस्त्रीके प्रति बुरी नजरसे देखने या मनमें भी बुरा भाव लानेमें, दूसरेकी वस्तुको—किसीके स्वत्वको हरण करनेमें, चोरी, ठगी और छल-कपट करनेमें तथा दूसरे-दूसरे बुरे काम तन-मन-वचनसे करनेमें । मनुष्यका बड़ा दुर्भाग्य है कि वह इन सब कामोंके करनेमें तो तनिक भी नहीं लजाता, बल्कि कोई-कोई तो ऐसे कार्योंमें गौरवतक मानते हैं तथा गर्व करते हैं ! और भगवान्का नाम लेने या भजन करनेमें उसे लज्जा आती है । यही एक ऐसा श्रेष्ठ कर्म है जिसको ल[illegible] छोड़कर करना श्रेष्ठ माना गया है । लज्जाको तिला[ञ्जलि] देकर भजन करनेवाला प्रेमी स्वयं ही पवित्र नहीं हो[ता] वह समस्त विश्वको पवित्र करता है—

वाग् गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं
रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च ।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च
मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति ॥
(श्रीमद्भा० ११ । १४ । २[४])

उद्धवजीसे श्रीभगवान् कहते हैं—

'जिसकी वाणी प्रेमसे गद्गद हो रही है, जिस[का] चित्त द्रवित होकर बहने लगा है, जो प्रेममें कभी रो[ता] रहता है, कभी खिलखिलाकर हँसने लगता है औ[र] कभी सारी लाज छोड़कर उच्च स्वरसे गाने और नाच[ने] लगता है । मेरा वह भक्त त्रिभुवनको पवित्र क[र] देता है ।'

भगवान्का जो नाम विवश होकर एक बार लेने[पर] भी मनुष्यको पापरहित कर देता है, उस मह[ान्] सहायक, परम कल्याणकारक, परम हितैषी भगवान्[के नाम] के लेनेमें लज्जा कैसी ? और उस प्रिय नामका स्म[रण] करानेवाली कल्याणकारिणी मालाके रखनेमें सङ्को[च] कैसा ? नामके सम्बन्धमें शास्त्र कहते हैं—

अवशेनापि संकीर्त्य सकृद् यन्नाम मुच्यते ।
भयेभ्यः सर्वपापेभ्यस्तं नमाम्यहमच्युतम् ॥
(स्कन्दपु०)

अवशेनापि यन्नाम्नि कीर्तिते सर्वपातकैः ।
पुमान् विमुच्यते सद्यः सिंहत्रस्तैर्मृगैरिव ॥
(विष्णुपु० ६ । ८ । १[९])

आपन्नः संसृतिं घोरां यन्नाम विवशो गृणन् ।
ततः सद्यो विमुच्येत यद् बिभेति स्वयं भयम् ॥
(श्रीमद्भा० १ । १ । १[४])

'जिनके नामका एक बार भी विवश होकर संकीर्तन कर लेनेपर समस्त भयों और समस्त पा[पों]

मनुष्य मुक्त हो जाता है, उन अच्युत भगवान्को मैं नमस्कार करता हूँ।'

'सिंहके भयसे जैसे मृग छूट जाता है वैसे ही उन भगवान्का नाम विवश होकर लिया जानेपर भी मनुष्य तुरंत समस्त पापोंसे छूट जाता है।'

'जिन भगवान्से स्वयं भय भी भयभीत रहता है उन भगवान्के नामका उच्चारण विवश होकर भी यदि मनुष्य कभी कर लेता है तो वह उसी क्षण मुक्त हो जाता है।'

रही सम्मान और बड़ाईसे डरनेकी बात सो यह बहुत अच्छी बात है। मनुष्यको मान-बड़ाईसे अवश्य ही डरना चाहिये। यह मीठा विष है जो प्राप्त करनेके समय मीठा लगनेपर भी वास्तवमें सतत विषमयी मृत्यु-के चक्रमें डालनेवाला है। परंतु इसके भयसे भगवन्नाम-की याद दिलानेवाली मालाका त्याग कर देना बुद्धिमानी नहीं है। भगवान्के सामने आप सदा ही विनम्र और विनयशील होकर रहिये। फिर जगत्का सम्मान आपका क्या बिगाड़ेगा। और भगवान्का नाम लेनेवालेको तो सदा विनम्र रहना ही चाहिये। महाप्रभु श्रीचैतन्यदेवजी-ने कहा है—

तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः॥

'जो अपनेको राहके तिनकेसे भी अधिक नीचा समझते हैं, जो वृक्षके समान सहनशील (काटने-तोड़ने और जलानेवालेका भी उपकार ही करता है ऐसा) हैं, स्वयं अमानी हैं और सबको मान देते हैं, उन्हींके द्वारा श्रीहरि सदा कीर्तनीय हैं।'

आप अपने मनमें मान-बड़ाईको स्थान मत दीजिये फिर लोगोंके द्वारा किया जानेवाला सम्मान आपका कुछ भी नहीं बिगाड़ सकेगा। भगवत्प्रेमी श्रीसूरदासजीके शब्दोंमें मनसे बार-बार यही कहते रहिये—

मन तोसों केतिक बार कही।
समुझ न चरन गहत गोबिंदके उर-अघ-सूल सही॥
सुमिरन-ध्यान कथा हरि जू की यह एकौ न भई।
लोभी लंपट बिषयन-सों हित यह तेरी निबही॥
छाँड़ि कनक, मनि, रतन अमोलक काँचकी किरच गही।
ऐसो तू है चतुर बिबेकी पय तजि पियत मही॥
ब्रह्मादिक रुद्रादिक रबि ससि देखे सुर सब ही।
सूरदास भगवंत-भजन बिनु सुख तिहुँ लोक नहीं॥

(२)

संकटमें कोई सहायक नहीं होगा

प्रिय महोदय, सप्रेम हरिस्मरण! आपका कृपापत्र मिला। समय तो बीता जा ही रहा है। काल हमारी प्रतीक्षा क्यों करेगा? मृत्यु निश्चय ही समीप आ रही है। सच्ची बात तो यह है कि हमलोगोंको सब कामों-से छुट्टी लेकर एक इसी काममें लग जाना चाहिये, सब प्रकारसे सब ओरसे और सारी इच्छा तथा क्रिया-शक्ति-को बटोरकर। यहाँके ये भोग-वैभव, ये मित्र-बन्धु, ये मान-सम्मान और ये पद-अधिकार आपके क्या काम आवेंगे? इनमेंसे न तो कोई साथ चलेगा, न मृत्युसे बचा सकेगा और न विपरीत कर्मफलके भोगसे ही। आप संसारकी पीड़ासे तड़पते कराहते रहेंगे, कोई आपकी तनिक भी सहायता नहीं कर सकेगा। आप जानते हैं, देख चुके हैं—आपके·······बीमार थे। कितना संकट था उनको। आप हृदयसे चाहते थे किसी प्रकार उनका संकट दूर हो। किसी भी खर्चसे हो। पर बताइये, आप क्या कर सके? यही परतन्त्र दशा कर्मफल-भोगमें सबकी है। मानव-शरीर सचमुच बहुत दुर्लभ है। यह भगवद्भजनके लिये ही प्राप्त हुआ है। विषयोंका सेवन तो न मालूम कितनी असंख्य योनियोंमें किया जा चुका है। अब इस मनुष्य-जीवनमें तो सब बातोंको भुलाकर—सबको छोड़कर एकमात्र श्रीहरिके चरणारविन्द-युगलका ध्यान और उनके पवित्र नामों, गुणों और लीलाओंका श्रवण, कीर्तन और चिन्तन

ही करना चाहिये । संसारके भोगोंसे चित्त उपरत हो जाय और भगवान्की एकरस अखण्ड मधुर स्मृति हो, ऐसी साधना करनी चाहिये ।

आप क्यों भूल रहे हैं, क्यों इस प्रमादमें लगे हैं । अब आपको संसारमें क्या प्राप्त करना है । जो कुछ प्राप्त किया है उससे आपको वास्तविक सुख-शान्ति मिली है क्या ? फिर अधिक प्राप्त करनेपर क्या होगा ? आप तो लिखते हैं, मेरी सुख-शान्ति घटी है, तब इस सुख-शान्ति घटानेवाले क्षेत्रमें आप क्यों सिर पटक-पटककर परेशान हो रहे हैं । छोड़िये इस झंझटको । मत्त-मधुप बनकर लग जाइये भगवान्के परम मङ्गलमय परम मधुर चरणारविन्द-मकरन्दके पानमें । भगवान् बड़े दयालु हैं, बड़े प्रेमी हैं । वे आपके हृदयका भाव ज्यों ही जानेंगे—और उनके जाननेमें देर होती नहीं—त्यों ही आपको अपने नित्य नव दिव्य मधुर सुधारससे आप्लावित कर देंगे । आप निहाल हो जायँगे । मानव-जन्म सार्थक हो जायगा । कृतकृत्य हो जायगा ।

(३)

दुराचार-भ्रष्टाचार कानूनसे नहीं मिट सकता

सप्रेम हरिस्मरण । आपका पत्र मिला । आजकल इस विषयपर बहुत अधिक चर्चा हो रही है । पत्रोंमें यही विषय है, सभाओंमें यही है, धारासभाओंमें यही है और पार्टियोंमें भी यही है । सभी इस रोगको समझते हैं, सभी दवा बताते हैं, नित्य नये-नये नुस्खे भी निकलते हैं, कानून बनते हैं, भ्रष्टाचार-निवारण-समितियाँ बनती हैं और उपदेश-आदेश होते हैं; परंतु फल विपरीत ही होता है । 'मर्ज बढ़ता गया ज्यों-ज्यों दवा की ।' इसपर मुझे भी बहुत-से मित्रोंको लिखना पड़ा है; परंतु इससे होता क्या है । यह ध्रुव निश्चय समझिये—दुराचार और भ्रष्टाचार समाचार-पत्रोंके लेखोंसे, दिखौआ व्याख्यानोंसे और कानूनोंसे कभी नहीं मिट सकते । इनकी जड़ तो हमलोगोंके हृदयोंमें है । भगवत्कृपासे जब मनुष्यकी चित्तवृत्ति भगवान्की ओर आकृष्ट होगी, जब वह सत्य और त्याग का महत्त्व समझेगा, और सर्वव्यापी भगवान्की सत्ता सर्वत्र समझकर एकान्तमें—मनमें भी पापका आचरण करनेमें लज्जा या भयका अनुभव करेगा, तभी दुराचार और भ्रष्टाचार बंद होंगे । नहीं तो, नये-नये कानून बनते जायँगे, नये-नये रास्ते निकलते जायँगे । एक दूसरेकी आलोचना लोग करेंगे, एक दूसरेके पापोंका उद्घाटन करनेमें सुखका अनुभव भी करेंगे; पर स्वयं पापका त्याग नहीं करेंगे । उसे लोभीके धनकी-ज्यों छिपा-छिपाकर रक्खेंगे और नया-नया बढ़ाते ही जायँगे । इस स्थितिमें कानून क्या करेगा । पापसे, दुराचारसे भ्रष्टाचारसे घृणा होनी चाहिये । मनमें उनके प्रति असह्य बुद्धि होनी चाहिये । तभी उनसे मनुष्य हट सकता है । जब मनमें प्रियबुद्धि है, गौरवबुद्धि है और उन्हें करनेमें बुद्धिमानीका गर्व है, तब मनुष्यसे ये कैसे छूटेंगे । वह वस्तुतः छोड़ना चाहता ही नहीं । फिर क्या किया जाय । आज तो 'कूएँ भाँग पड़ी' वाली कहावत चरितार्थ हो रही है । कोई सरकारी महकमा, कोई अधिकारीवर्ग, कोई क्लर्क-श्रेणी, कोई व्यापारी वर्ग, कोई उन्नतिकामी और दुराचार-भ्रष्टाचार विरोधी संस्थाओंका समुदाय,—कोई भी क्षेत्र ऐसा नहीं बचा है, जिसमें न्यूनाधिक रूपसे दुराचार और भ्रष्टाचारका दोष सर्वथा न आ गया हो । इसका एकमात्र कारण है—घोर विषयासक्ति—जिसके कारण शारीरिक सुखोपभोगकी राक्षसी इच्छा, भगवान्की सर्वव्यापी सत्तामें और कर्मफलभोगमें अविश्वास, शास्त्रमें अश्रद्धा और धर्मकी अवहेलना आदि दोष समाजमें प्रबलरूपसे आ गये हैं ।

इन दोषोंके दूर होनेका उपाय है—'हिंदू-संस्कृति' के अनुसार जीवनका लक्ष्य त्याग हो, और त्याग

तैयारी करनेमें ही बालकपनसे लेकर बुढ़ापेतक सारी क्रियाएँ हों। जीवनका आरम्भ संयमसे हो—बीजारोपण ही संयमसे हो, संयममें ही उसका पालन-पोषण हो, संयममें ही ज्ञान-विज्ञान, शिक्षा-दीक्षाकी प्राप्ति हो, संयममें ही धन-वैभव और पद-अधिकारोंकी प्राप्ति हो और संयममें उनका सदुपयोग होकर अन्तमें पूर्ण त्यागमें पहुँचकर जीवन त्यागरूपमें ही पर्यवसित हो जाय। यह सर्वस्वत्याग ही हिंदू-संस्कृतिका 'संन्यास' है। गर्भाधानसे लेकर संन्यासतक सारा जीवन संयममय होता है और उसकी धारा स्वाभाविक ही अनवरत उसी प्रकार भगवान्‌की ओर चलती है, जिस प्रकार गङ्गाकी धारा समुद्रकी ओर प्रवाहित होती है। इस प्रकार धर्मका आश्रय लेनेपर ही संसारसे दुराचार, भ्रष्टाचार, पाप-ताप दूर होंगे और तभी सच्चे सुख-शान्तिकी प्राप्ति होगी। इसके बिना बाहरी करोड़ों उपायोंसे भी पाप न मिटेंगे और जब पाप नहीं मिटेंगे तब ताप मिटनेका तो प्रश्न ही क्यों उठना चाहिये। पर आज तो दुर्भाग्य-वश हमलोग धर्मके नामसे ही चिढ़ने लगे हैं। धर्मका बहिष्कार करके ही सुख-शान्ति पाना चाहते हैं। इसी प्रमादका परिणाम प्रत्यक्ष है। इसीसे समाज-का नैतिक पतन उत्तरोत्तर गहरा होता जा रहा है और इसीके साथ-साथ क्रूरता, संघर्ष, संहार, हिंसा आदि दोष और भाँति-भाँतिके दुःख भी बढ़ रहे हैं। और यही दशा रही तो इनका सहज ही अन्त होना भी कठिन ही है।

(४)

मौनका स्वरूप और प्रभुकी प्रसन्नताका उपाय

सप्रेम हरिस्मरण! आपका कृपापत्र मिला। आपने जो कुछ पूछा, उसका उत्तर निम्नलिखित है—

(१) मौनका साधारण अर्थ है, वाणीसे कुछ भी न बोलना। यह मौनका स्थूल रूप है। इससे भी बड़ा लाभ है। मौन रहनेवाला पुरुष असत्यभाषण, अप्रियभाषण, अहितभाषण, गाली, निन्दा तथा व्यर्थ वार्तालाप आदि दोषोंसे सहज ही छुटकारा पा जाता है। साधन-भजन जितना गुप्त रहता है, उतना ही सफल होता है। इधर-उधर कहनेसे ही साधनकी गुप्तता नहीं रहने पाती। मौना-वलम्बी साधक अपने साधन-भजनको अनायास ही गुप्त रख सकता है पर मौन केवल वाणीका ही नहीं है, इन्द्रिय और मनका भी होता है। इन्द्रिय और मनका विषयोंकी ओर दौड़ लगाना ही उनकी वाचालता है। उनका संयम रखना, उन सबको परमात्म-चिन्तनमें विलीन कर देना मौनका यथार्थ स्वरूप है। इस प्रकार मनके मौन हो जानेपर वह सांसारिक संकल्पोंसे रहित होकर नित्य अपने परम इष्ट भगवान्‌के मननमें ही लगा रहता है। ऐसा करते-करते आगे चलकर मनमें समस्त भेद-प्रपञ्चका लय होकर केवल विशुद्ध सच्चिदानन्दघन एक भगवान् ही रह जाते हैं। 'सब कुछ भगवान् हैं' इस सत्यका उसे प्रत्यक्ष अनुभव हो जाता है। फिर तो ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेयकी त्रिपुटी नहीं रहती। गुरु और शिष्य तथा शङ्का और समाधान सब समाप्त हो जाते हैं। यही मौनका वास्तविक रूप है। इसी स्थितिको लक्ष्य करके कहा गया है। 'गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्यास्तु छिन्नसंशयाः।'

(२) भगवान्‌की प्रसन्नताका उपाय है—भगवान्‌का हो जाना, सबकी आशा-भरोसा छोड़कर केवल भगवान्-पर निर्भर रहना। भगवान् कहते हैं—'सब छोड़कर मेरी शरणमें आ जाओ।' 'यह संसार अनित्य और दुःखरूप है, इसमें आकर सुख चाहते हो तो मेरा भजन करो। 'अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥' (गीता ९। ३३) भगवान्‌की इन आज्ञाओंका उल्लङ्घन करके क्या हम भगवान्‌की अवहेलना नहीं करते। फिर उनकी प्रसन्नता कैसे हो? उन्हें प्रसन्न करना हो तो उनकी आज्ञाका यथावत् पालन करना चाहिये।

उनकी रुचि एवं आज्ञाके अनुसार हमें अपने जीवनका निर्माण करना चाहिये। तनसे, मनसे, प्राणसे और सर्वस्व-समर्पणद्वारा केवल भगवान्‌के प्रेमके लिये ही कार्य करना चाहिये। इसमें भगवान्‌का कोई उपकार नहीं, अपना ही उद्धार होगा।

(३) क्रोधकी वृत्ति मनमें आते ही भगवान्‌को याद करें। जिसके प्रति क्रोध हो, उसमें भी भगवान्‌को विराजमान देखनेका प्रयास करें। संसारके समस्त जड-चेतनमें प्रभु विराज रहे हैं, सब उन्हींके स्वरूप हैं। फिर हम किसपर क्रोध करें—

निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध ॥

क्रोध आते ही मौन हो जाय तो भी लाभ होता है। मौन न हुआ जाय तो और कुछ भी न बोलकर जोर-जोरसे भगवान्‌के नामोंका उच्चारण करने लग जाना चाहिये। इससे क्रोध अवश्य दूर हो जायगा।

(४) किसीके उत्कर्षको देखकर जो जलन पैदा होती है, उसीका नाम ईर्ष्या है। जो अज्ञानी हैं, जो शरीरको ही सब कुछ मानता है, वही दूसरोंसे ईर्ष्या करता है। जिसकी दृष्टिमें सम्पूर्ण विश्व भगवान्‌का स्वरूप है, वह ईर्ष्या भी किससे करेगा? वह तो सर्वत्र भगवान्‌को देखकर मन-ही-मन सबका आदर करके ही सुखी होगा। अतः सर्वत्र भगवद्दर्शन ही ईर्ष्या आदि सभी मनोविकारोंको दूर भगानेका एकमात्र अमोघ उपाय है।

(५)

भगवत्प्राप्तिके लिये तीव्र विरहतापकी आवश्यकता

प्रिय महोदय, सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। भगवान् श्रीकृष्णके लिये मनमें अत्यन्त तीव्र इच्छा होनी चाहिये। ऐसी आग भड़क उठनी चाहिये जो श्रीकृष्णके अजस्र दर्शन-वारि बिना कभी किसी प्रकार शान्त हो ही नहीं। ऐसी मार्मिक पीड़ा होनी चाहिये जो केवल श्रीकृष्ण-वैद्यकी मिलन-ओषधिसे ही दूर हो। मीराने गाया था—'मीराकी तब पीर मिटै जब बैद साँवलिया होय।' हमलोग तो भगवत्-प्राप्तिकी वैसी ही इच्छा करते हैं, जैसे कोई बालक किसी दूसरेके मुँहसे किसी खिलौनेकी प्रशंसा सुनकर अपने दस खिलौनोंके साथ उसे भी रखना चाहता है। और पिता-मातासे उसे मँगवा देनेके लिये आग्रह करता है। अथवा जैसे कोई शौकीन मनुष्य अपने घरमें सजावटके दूसरे सैकड़ों पदार्थोंके साथ-साथ भगवान्‌के चित्र भी रखना चाहता हो। वस्तुतः ऐसी चाहसे भगवान् नहीं मिलते। उनके लिये तो हृदयमें ऐसा तीव्र ताप होना चाहिये कि जिसके कारण क्षणभरके लिये भी चैन न पड़े। तीव्र विरहवेदनामें किसी दूसरी वस्तुका नाम भी नहीं सुहावे—कहीं किसी भी स्थिति या पदार्थमें मन नहीं टिके। दिन-रात उन्हींका चिन्तन हो, उन्हींका स्मरण हो और पल-पलमें उनके उद्देश्यसे सर्वस्व-त्यागके लिये—बड़े-से-बड़े बलिदानके लिये चित्तमें सुखभरी उमङ्गें उठती रहें। कबीरजी कहते हैं—

सीस उतारे भुइँ धरै तापै राखै पाँउ।
दास कबीरा यों कहै ऐसा होइ तो आउ॥

परंतु वह भगवान्‌का विरही तो निरन्तर सिरको हाथमें लिये ही फिरता है—कहता है, 'जौ सिर साटै हरि मिलै तो तेहि लीजे दौरि।' सिरका मूल्य तो उसे बहुत सस्ता जान पड़ता है।

ऐसी लगन हो जानेपर भगवान्‌की प्राप्तिमें देर नहीं होती। पर ऐसी लगन होती कहाँ है। हम कहते हैं कि हमें भगवत्प्राप्तिकी इच्छा है—पर उसके लिये जहाँ त्यागका प्रश्न आता है, वहाँ तुरंत पीछे हट जाते हैं। हम तो सब कुछको बचाकर, सब कुछको बढ़ाकर उन्हींके साथ भगवान्‌को भी रखना चाहते हैं। भगवान्‌की विरहाग्निमें जलता हुआ मनुष्य 'सब कुछ' को क्या समझेगा। उसके सारे सब कुछको तो विरहाग्नि सुलगाते ही जला डालती है। उसका अपना कुछ रहता ही

नहीं। वह सर्वथा अकिञ्चन होता है। और होता है एकमात्र प्रभु-दर्शनका भिखारी। पल-पलमें उसके हृदयमें हूक उठती है और वह उसे सह नहीं सकता। उसमें ऐसी चरम श्रेणीकी परम व्याकुलता निरन्तर जगी रहती है, जो एकमात्र प्रियतम भगवान्‌के सिवा और किसीके स्मरणकी कल्पना या संस्कारको भी नहीं रहने देती। वह अनन्य प्रेमिकाकी भाँति प्रतिपल अपने प्राणप्रियके मिलनके लिये अभिसारको प्रस्तुत रहता है। संसारके बड़े-से-बड़े प्रलोभन और बड़े-से-बड़े भय भी उसको उसके लक्ष्यसे--उसके पथसे तनिक भी विचलित नहीं कर सकते। वह संसारके भोगोंको तृणवत् समझकर उनका त्याग कर देता है और उसमें जो विरह-सन्ताप है, उसके सामने कोई भय तो उसके समीप आकर खड़ा ही नहीं हो सकता। उस भयानक सन्तापसे सारे जागतिक भय सदा भयभीत रहते हैं।

आपके मनमें भगवान्‌को पानेकी लालसा है, यह बड़ी ही शुभ बात है, यही लालसा मानव-जन्मको सार्थक करती है। इस लालसाको इतनी बढ़ाइये कि अन्य सारी लालसाएँ इसमें आकर अपने अस्तित्वको खो दें। भगवान्‌को प्राप्त करनेकी कामाग्नि इतनी प्रबल होनी चाहिये कि जिसमें अन्य सारी कामनाएँ जल जायँ। एकमात्र भगवत्प्राप्तिकी ही अनन्य और तीव्र कामना रह जाय। श्रीमद्भागवतमें वृत्रासुरके बड़े ही सुन्दर वचन हैं, वे भगवान्‌से प्रार्थना करते हुए कहते हैं—

न नाकपृष्ठं न च पारमेष्ठ्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
समञ्जस त्वा विरहय्य काङ्क्षे॥
अजातपक्षा इव मातरं खगाः
स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा
मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम्॥
(६। ११। २५-२६)

'प्रियतम! मैं तुमको छोड़कर स्वर्ग, ब्रह्माका पद, भूमण्डलका साम्राज्य, रसातलका एकच्छत्र राज्य, योगकी दुर्लभ सिद्धियाँ—यहाँतक कि पुनः जन्म न देनेवाला मोक्ष भी नहीं चाहता। जैसे पक्षियोंके पंखहीन छोटे बच्चे अपनी माकी आतुरतासे बाट देखते रहते हैं, जैसे भूखे बछड़े अपनी मा—गैयाका दूध पीनेके लिये व्याकुल रहते हैं और जैसे वियोगिनी पत्नी अपने परदेश गये हुए प्रियतमसे मिलनेके लिये उत्कण्ठित रहती है—वैसे ही हे कमलनयन! मेरा मन तुम्हारे दर्शनके लिये छटपटा रहा है।'

संसारके तुच्छ भोगोंकी तो बात ही क्या, दुर्लभ देवराज्यके भोग और कैवल्य-मोक्षका त्याग भी जो अनायास कर सकता है, वही भगवान्‌को अति शीघ्र प्राप्त करता है। इसी आदर्शको सामने रखकर भगवत्प्राप्तिके इच्छुक साधकोंको त्यागके लिये तैयार हो जाना चाहिये। और ऐसा सर्वस्व त्याग कोई बहुत बड़ी बात भी नहीं है, क्योंकि भगवान्‌की प्राप्तिका महत्त्व इससे अनन्तगुना अधिक है। बड़े महत्त्वकी, अमूल्य वस्तुके लिये साधारण वस्तुओंका त्याग सहज ही हो जाता है। और भगवान्‌के सामने सभी कुछ साधारण है, नगण्य है। असलमें भगवान्‌के समान अमूल्य वस्तु किसी भी मूल्य-पर नहीं मिल सकती। उसकी प्राप्ति तो केवल उनकी कृपासे ही होती है। पर जो उनका महत्त्व नहीं समझता, वह सबपर भगवान्‌की अनन्त कृपा होनेपर भी उस कृपासे वञ्चित ही रहता है, इसीलिये वह न तो सांसारिक वस्तुओंका त्याग कर सकता है और न उसके अंदर भगवत्प्राप्तिकी अनन्य और तीव्र इच्छा ही जाग्रत् होती है। इसलिये भगवान्‌का महत्त्व समझना आवश्यक है। महत्त्व समझमें आ जानेपर त्याग सहज ही हो जायगा। महत्त्व जाननेके लिये सत्संग और भजनकी आवश्यकता है....

बिनु सतसंग न हरि कथा तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गएँ बिनु राम पद होइ न दृढ़ अनुराग॥

यथार्थ भजनके बिना प्रेम सम्भव नहीं और प्रेमके बिना भगवान्‌का यथार्थ महत्त्व समझमें नहीं आता। इसलिये सत्संग-भजनहीन मनुष्यका जीवन व्यर्थ तो होता ही है—पशु-जीवनसे भी गया-गुजरा होता है। और ऐसा मनुष्य जीवनभर नारकी यन्त्रणा भोगता हुआ शरीर-त्यागके बाद भी पुनः प्रत्यक्ष नरकोंमें जाकर वहाँकी असह्य यन्त्रणाको भोगता है। बुद्धिमान् मनुष्य वही है जो इस बातको समझ ले और जीवनको सत्संग-भजनमें लगाकर उत्तरोत्तर प्रबल लालसाके साथ भगवान्‌की ओर बढ़ता रहे। विशेष भगवत्कृपा।

(६)

साध्वी पत्नीका त्याग बड़ा पाप है

श्रीगोयन्दकाजीके नाम खूँटीके एक भाईका पत्र आया है। पत्र-लेखकने अपना नाम नहीं लिखा है। वे लिखते हैं कि—"विवाहसे पहले मैंने माताजीसे कहा था कि मैं विवाह नहीं करूँगा। इसपर पिताजीने कहा कि—'तुम्हारी यदि विवाहकी इच्छा नहीं है तो वृन्दावन जाकर भजन करो, जिससे मुझे तुम्हारे विवाहके लिये कर्ज भी नहीं करना पड़ेगा, तुम्हारी विवाह न करनेकी इच्छा पूरी हो जायगी और हम-लोगोंको लड़कीवालोंसे यह कहनेका बहाना मिल जायगा कि लड़का भाग गया। हमलोग लाचार हैं।' इसपर मैंने उनसे कहा कि 'आप अपनी ओरसे काम बंद न करें। लड़कीवाला आप ही मने कर देगा।' मैंने यह बात एक प्रतिष्ठित पण्डितके भरोसे कह दी। पर ऐसा नहीं हुआ और मेरा विवाह गत वर्ष हो गया। मेरी पत्नी सरल, साध्वी, शीलवती और भगवत्सेवामें दृढ़ प्रेम रखने-वाली है। वह मेरी सेवा करना चाहती है। मेरे गुरुजन मुझे सिर्फ उससे बोलने और सेवा स्वीकार कर लेनेको कहते हैं। मैं 'हाँ' भर लेता हूँ पर ऐसा मुझसे होता नहीं। मेरे मनमें आता है कि मुझे चाहे नरक क्यों न भोगना पड़े, मैं अपनी जिद्द नहीं छोड़ूँगा, स्त्रीकी सेवा स्वीकार न करूँगा, न उससे बोलूँगा। मैं उसे त्याग देना चाहता हूँ और इसपर आपकी सम्मति चाहता हूँ।"

इस विचारमें सिवा मिथ्या हठ, प्रमाद एवं बेसमझी-के और कुछ भी नहीं है। विवाह न करना था तो पहले ही दृढ़ रहते, पिताकी बात मानकर स्पष्ट कह देते और भजनमें लगते। बिना इच्छाके किसीका विवाह कौन कर सकता है? इच्छासे विवाह किया, पत्नी बेचारी सरलहृदया, साध्वी तथा सेवापरायण भी है, पर आप उसका त्याग करना चाहते हैं हठवश। यह हमारी समझसे तो एक मूर्खतापूर्ण पाप है। बड़े वैराग्यवान् पुरुषोंके लिये भी ऐसी स्थितिमें विचार करना आवश्यक हो जाता है। फिर आपकी तो स्थिति ही दूसरी है। हमारा आपसे बलपूर्वक अनुरोध है कि आप इस प्रकारके पापभरे विचारोंको छोड़कर साध्वी पत्नीका आदर करें, उससे प्रेम करें और उसे निर्दोष सुख पहुँचानेका प्रयत्न करें। आपका मन शीलधर्म-पालन करनेका अथवा अधिक-से-अधिक संयम रखने-का हो तो पति-पत्नी दोनों सोच-समझकर अपने लिये संयमका नियम बना लें और उसीके अनुसार जीवनमें व्यवहार करें; परंतु त्यागकी तो कल्पना ही छोड़ दें। यदि आप हठवश साध्वी पत्नीका त्याग करनेकी बात सोचेंगे और वैसा करने जायँगे तो आपके लिये यह बहुत बड़ी मूर्खता और बड़े पापका कार्य होगा, और पीछे आपको बहुत पश्चात्ताप करना पड़ेगा। आशा है आप हमारी बात अवश्य मानेंगे और हमें तुरंत सूचना देंगे कि आपने हमारी सम्मति स्वीकार करके पत्नीके त्यागका विचार सर्वथा छोड़ दिया है और उनसे सप्रेम मिलने, बोलने लगे हैं।

(७)

कानूनके द्वारा पापको प्रोत्साहन

आपका पत्र मिला। आपका लिखना यथार्थ है। इस समय उच्छृङ्खलता और स्वेच्छाचारिता बढ़ती जा

रही है और भले-भले लोगोंके द्वारा भी 'प्रगति', 'सुधार' और 'व्यक्ति-स्वातन्त्र्य'के नामपर इस कुप्रवृत्तिको प्रोत्साहन दिया जा रहा है। मेरी ऐसी धारणा है कि स्त्रियोंकी अपेक्षा पुरुषोंका मन अधिक दुराचारी है। परंतु मालूम होता है कि अब स्त्रियाँ भी इस पापके क्षेत्रमें किसीसे पीछे नहीं रहना चाहतीं। गत दो-तीन साल पहलेकी बात है—दिल्लीकी विधानसभामें एक महिलाने कहा था कि 'हमपर सतीत्व क्यों थोपा जा रहा है।' सन् १९४७में बंबईमें एक सुधारक महिलाके द्वारा प्रस्तावित तलाकसम्बन्धी कानून पास हुआ था, उसके द्वारा स्त्रियोंको व्यभिचारकी कितनी सुविधा मिलती है, इसका एक ताजा उदाहरण बंबई हाईकोर्ट-का एक फैसला आपके सामने है। श्रीरंग सखाराम गायकवाड़ नामक एक व्यक्तिने उक्त कानूनके अनुसार अपनी पत्नी सुलोचनाको व्यभिचारिणी होनेके कारण तलाक करना चाहा और अदालतमें यह सिद्ध कर दिया कि उस स्त्रीका चार पर-पुरुषोंके साथ अनैतिक सम्बन्ध था। पर बंबई हाईकोर्टके न्यायाधीश श्रीकोयाजीने तलाककी आज्ञा नहीं दी और निर्णय किया कि 'चार पर-पुरुषोंके साथ व्यभिचार करनेवाली स्त्री दुराचारिणी तो है; परंतु इसको वेश्या-व्यवसाय नहीं माना जा सकता और न इस आधारपर तलाक ही दिया जा सकता है। वेश्या-व्यवसायका अर्थ है पैसा लेकर सर्वसाधारण-के साथ सम्बन्ध स्थापित करना।' ('सन्मार्ग', काशी)

इस निर्णयसे आजके सुधारक प्रवृत्तिके नर-नारियों और कानून-प्रवर्तकोंकी मनोवृत्तिका प्रत्यक्ष परिचय मिलता है। कहाँ तो भारतीय नारीका अनुपम सतीत्व और उसके लिये सर्वस्व त्यागकी सहज प्रतिज्ञा एवं कहाँ कानूनके द्वारा व्यभिचारकी छूट! इससे सिद्ध है कि हमारा समाज इस समय व्यवस्थापूर्वक पतनकी ओर जा रहा है। इससे बचनेके लिये बाहरी उपाय तो करने ही चाहिये; परंतु सर्वोत्तम उपाय एक यह है कि धर्मकी रक्षा करनेवाले सर्वसमर्थ श्रीभगवान्से प्रार्थना की जाय। वे कृपा करके अधर्मको धर्म बतानेवाली हमारी तामसी बुद्धिको बदल देंगे तो सब कुछ आप ही ठीक हो जायगा!

आपने जो समस्या लिखी, उसका किसी प्रकार साम-दानके द्वारा समझा-बुझाकर घरमें ही समाधान कर लीजिये। बात बढ़ानेमें कोई लाभ नहीं प्रतीत होता। अभी तो सर्वथा मामूली-सी बात है। बढ़ानेपर यदि बात बड़ी हो जायगी और परिस्थिति हाथसे निकल जायगी तो फिर बहुत बड़ी कठिनता होगी। इसका भी सर्वाङ्गसुन्दर उपाय मेरी समझसे तो भगवत्प्रार्थना ही है। आप कातरभावसे भगवान्से प्रार्थना कीजिये—श्रद्धा और विश्वासपूर्वक। सर्वसमर्थ भगवान् चाहेंगे तो तमाम वातावरण क्षणोंमें बदल जायगा और आपका संकट बड़ी सरलतासे टल जायगा। इसमें जरा भी सन्देह मत कीजिये।

जीवन-दर्शन

रम जाओ उनमें, जिनमें मालिकने तुम्हें रमाया।
छोड़ो ललचाई नज़रों देखना भव्य भवनोंको॥
उनका बहिरङ्ग प्रलोभक; अन्तरमें दाहक माया।
वे धूल-धूसरित, जिनने जीवनका दर्शन पाया॥

—बालकृष्ण बलदुवा

अधर्माचरणसे भारतका कल्याण नहीं

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

जिस तरह मछलियोंकी जलसे विलग होकर सुख-प्राप्तिकी चेष्टा हास्यास्पद है, ठीक उसी प्रकार भारतीयोंका अपनी स्वाभाविक धर्मप्रियतासे विद्वेष कर आगे बढ़ना असम्भव है । मनुष्य, पशु, पक्षी तथा जलचरोंकी खास अपनी-अपनी प्रकृतियाँ होती हैं । प्रकृतिविरुद्ध प्रयास व्यर्थ होते हैं । बेंत, कमल जलाशयोंमें उत्पन्न होते हैं, धान्यादि उर्वरा भूमिमें ही अच्छी तरह उपज सकते हैं, मरुभूमिमें नारियल, खजूर और तरबूज आदि ही उपयुक्त होते हैं । इन्हें अपने स्थानको छुड़ाकर अन्यत्र बोने, उपजानेकी चेष्टा करना व्यर्थ है । वैसे ही सारे प्रकृतिविरुद्ध प्रयास भी व्यर्थ हैं । भारत सदासे ही धर्मप्राण देश रहा है । यह शिवि, दधीचि, हरिश्चन्द्र, नल, राम, युधिष्ठिर, श्रीकृष्ण आदिकी जन्मभूमि है । यहाँके इतिहासमें पापियोंका सदा ही पराभव हुआ है । अरबों वर्षके इतिहासमें सदा ही धर्मकी विजय हुई है । इसलिये यह कहना भी मूर्खता होगी कि 'अबके युगमें पहला सिद्धान्त कामयाब न होगा ।' 'धर्मो जयति नाधर्मः' 'यतो धर्मस्ततो जयः' यही हमारा सदाका सिद्धान्त रहा है ।

लोग कहा करते हैं कि 'यदि बात ऐसी ही है, तब इन्हीं आचरणोंके पालते-पालते भारतको परतन्त्रता, दीनता, दरिद्रता क्यों देखनी पड़ी ?' पर यह प्रश्न व्यर्थ है । सभी तरहसे यह सिद्ध है कि अधर्माचरणसे ही भारतने अनेकों विपत्तियाँ मोल लीं । शास्त्रोंसे सिद्ध है कि युधिष्ठिरके रहते ही अधर्मका कारण कलियुग प्रवेश कर गया था—'अधर्महेतुः कलिरन्ववर्तत' । यही सब देखकर उन्होंने महाप्रस्थान किया था । बहुत कुछ उन्हींके समयमें 'जिह्मप्रायं व्यवहृतम्' 'शाठ्यमिश्रं च सौहृदम्,' 'पितृमातृसुहृद्भ्रातृदम्पतीनां च कल्कनम्' और 'पापीयसी नृणां वार्ता', 'क्रोधलोभानृतात्मनाम्' प्रारम्भ हो गये थे । आगे चलकर जब बौद्धोंका साम्राज्य स्थापित हुआ तब तो साफ ही सनातनधर्मकी इतिश्री हो गयी । सभी जानते हैं कि अशोक, कनिष्क आदि राजा बौद्ध ही थे । कनिष्क आदिके अनन्तर ही भारत परतन्त्र हुआ । फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि धर्माचरणके द्वारा ही भारत परतन्त्र हुआ । यह भारत-भूमिकी विशेषता थी कि यहाँ बौद्धमत या कोई अन्य मत जड़ न जमा सका, फिर भी धर्मकी दशा जो आज है, प्रायः कुछ ऐसी ही अवस्था उन दिनों भी थी, जब भारत परतन्त्र हुआ था ।

प्रश्न किया जा सकता है कि जब युधिष्ठिर आदि हो धर्मकी इतिश्रीको देखकर महाप्रस्थान कर गये तब अब धर्माभ्युत्थानका प्रयास कैसे होगा ? किंतु इसका यह तो अर्थ नहीं कि हमारा अधर्माचरणसे कल्याण होगा ! फल क्या होगा यह तो भगवान् जानें, पर हमारा कर्तव्य क्या है इसका तो हमें ज्ञान होना ही चाहिये । हमारे पूर्वजोंका यह प्रबल विश्वास रहा कि जिस कार्यको हम धर्माचरणपूर्वक नहीं सिद्ध कर सकते, वह अन्य प्रकारसे भी असम्भव ही रहेगा । यही कारण था कि किसी भी सङ्कटके समय उन लोगोंने सदा ही तपस्याद्वारा भगवान्‌की शरण ले ली । रावण, मेघनादके विषयमें भी पढ़ा जाता है कि वे भी सङ्कटके अवसरपर अपने इष्ट देवताओंकी उपासना ही करते थे ।

'राम ही के नामतें जो होइ, सोइ नीको लागै,
ऐसोई सुभाव कछु तुलसीके मनको ।'

या—

'रामके नामतें होउ सो होउ,
न सोउ हिये रसना ही कह्यो है ।'

—इत्यादि उक्तियोंमें गोस्वामीपादसे हमें क्या सङ्केत मिलता है, इसे हमें कभी भी न भूलना चाहिये ।

पूछा जा सकता है कि यदि धर्माचरणसे कल्याण नहीं दीख पड़े तो थोड़ी देरके लिये प्रयोग (Experiment)

की तौरपर अधर्माचरणद्वारा ही अभ्युदयके लिये प्रयास किया जाय तो क्या अनुचित होगा । साधारण बुद्धिवाले व्यक्तिको यह तर्क भले ही उचित जँचे, पर इतिहास तो इसका साक्षी है कि वह अधर्माचरण उसके लिये और भी अहितकर होगा और यही कारण है कि अपने त्रिकालज्ञानसम्पन्न पूर्वजोंने घोर कष्टमें भी न तो धर्म त्यागा और न इसका उपदेश ही किया, बल्कि उन्होंने हमें यही बतलाया कि अधर्माचरण करनेवाले पापियोंका शीघ्र ही संहार हो जाता है । इसे देखते हुए, बुद्धिमान् व्यक्तिको कष्टापन्न दशामें भी अधर्ममें मन न लगाना चाहिये—

न सीदन्नपि धर्मेण मनोऽधर्मे निवेशयेत् ।
अधार्मिकाणां पापानां शीघ्रं पश्यन्विपर्ययम् ॥

कहा जा सकता है कि 'आज तो अधर्माचरणसे प्रत्यक्ष ही बहुत-सी जातियाँ, बहुत-से देश उन्नतिके शिखरपर पहुँच रहे हैं । धर्म-कर्मका ज्ञान तो उन्हें दूर रहा । वे धार्मिकोंको एक पशुसे अधिक आदर भी नहीं करना चाहते । इसके अतिरिक्त अपने यहाँ भी तो रावण, हिरण्यकशिपु आदि कितने दैत्य योद्धा इसी आदर्शके थे, फिर अब लौकिक अभ्युदयमें धर्म केवल रोड़ा ही खड़ा कर सकता है । तब इसका बहिष्कार क्यों न किया जाय ।' पर ये विचार आपातरमणीय मात्र हैं । इनमें कोई दम नहीं । हम पहले कह आये हैं कि संसारके सभी प्राणी एक ही प्रकृतिके नहीं । उल्लूक तथा चमगादड़ आदि कुछ ऐसे भी प्राणी हैं जिन्हें अन्धकार ही इष्ट होता है । वे रात्रिमें ही फलते-फूलते हैं । असुरोंकी भी यही दशा है । रात्रिमें ही उनका बल बढ़ता है । हिरण्याक्षके साथ युद्ध करनेके समय ब्रह्माने भगवान्से प्रार्थना की थी कि देव ! जबतक यह आसुरी बेलाको प्राप्त कर अपनी शक्ति बढ़ा नहीं लेता तभीतक आप इस पापीका संहार कर डालें—

न यावदेष वर्धेत स्वां वेलां प्राप्य दारुणः ।
स्वां देवमायामास्थाय तावज्जह्यघमच्युत ॥

गोस्वामी तुलसीदासजीने भी लिखा है कि राक्षस लोग प्रदोषका बल पाकर रावणकी दुहाई देते हुए दौड़ पड़े—

जातुधान प्रदोष बल पाई । धाए करि दससीस दोहाई ॥

प्रायः कभी-कभी ऐसा हुआ भी है कि असुरोंने देवताओंपर विजय पा ली हो, पर अन्ततोगत्वा दैत्योंकी ही पराजय हुई है । इतिहास इस बातका साक्षी है कि देवताओंकी पराजयमें कभी गुरुका अपमान, कभी वृत्रादिकी ब्रह्महत्या तो कभी अहल्यादिके साथ व्यभिचार ही कारण रहा तथा असुरोंकी विजयमें भी बलि, प्रह्लादकी भगवद्भक्ति, धर्माचरण या अन्य असुर योद्धाओंमें भी तपःशक्ति या अन्यान्य देवताओंकी आराधना ही मुख्य कारण बनी । विभीषण, प्रह्लादादि असुर होते हुए भी धर्माचरणसे अन्तमें अभ्युदयको प्राप्त हुए । रावण, हिरण्यकशिपु आदि असुर पापाचरणसे बढ़कर भी अन्तमें विनाशको प्राप्त हुए ।

आज अनेक दिशाओंमें पापाचरणसे वृद्धिका प्रयास हो रहा है । बुद्धिमानोंसे छिपा नहीं है कि जो देश आज उन्नतिके शिखरपर पहुँचे समझे जाते हैं तथा जिनके ऐश्वर्यको देखकर आज भारतके भाग्यविधाताओंकी जीभमें पानी आ जाता है, वे भी अशान्तिकी आगमें ही दिन-रात जल रहे हैं । फिर उन्हींका अनुकरण कर हम उन्नतिके शिखरपर तो पहुँच न सकेंगे, पर अशान्तिके घोर गर्तमें अवश्य जा गिरेंगे, इसमें किसी प्रकारका सन्देह नहीं । आध्यात्मिकता, धार्मिकता, भगवद्भक्ति-परायणता हमारी सदासे विशेषता रही है । आध्यात्मिक शक्तिके बलसे च्यवनने, संवर्तने इन्द्रके वज्रको व्यर्थ बना दिया । धर्मके बलपर अकेले राम राक्षसोंपर विजयी बने । भक्तिसे प्रह्लादने हिरण्यकशिपुके सारे प्रयास व्यर्थ किये । यदि हम अपना कल्याण चाहते हैं तो शीघ्र ही सब छोड़-छाड़कर अपनी प्रकृतिसे पूछें कि वह हमें किधर प्रेरित करती है, यदि हम वर्णसङ्कर नहीं, हमारे शरीरमें अपने पूर्वजोंकी रक्तधारा प्रवाहित होती होगी

तो यह सर्वथा निश्चय है हमारी प्रकृति हमें सर्वदा धर्म तथा भगवान्‌की ओर ही लगायेगी । सारे जीव प्रकृतिके अनुसार ही कर्माचरण करते हुए सफल होते हैं, हठ करना सर्वथा व्यर्थ है—'प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥' भारतवर्ष धर्मभूमि है, यही कर्म-भूमि है । देवता इसकी इसी विशेषताके कारण यहाँ जन्म लेनेको तरसते हैं । पाश्चात्त्योंकी नकलकर, हिंदूकोड जैसे बिलोंको रचकर, सीता-सावित्रीके पातिव्रत्यकी हँसी उड़ाकर हम भारतमाताकी सेवा नहीं करते—उसके मुखपर कालिख पोत रहे हैं । यदि इसपर भी हम देशसेवा, भारतकी भक्तिका दावा करते हैं तो हमें तथा हमारी बुद्धिको शतशः धिक्कार है ।

धर्म, अध्यात्म, स्वास्थ्यकी उन्नति और अन्नसङ्कट-निवारणका उपाय

(कल्याणके पाठकोंसे प्रार्थना)

इस समय देशपर अन्न-सङ्कट छाया हुआ है । सरकारके पास चाहे पूरे सच्चे आँकड़े न हों और चाहे वस्तुतः देशमें अन्नकी कमी भी न हो । परंतु अन्नसङ्कट तो है ही । इसीलिये करोड़ों रुपयेका अन्न विदेशोंसे मँगाया जा रहा है और किसानोंके अतिरिक्त अन्य सभी श्रेणीके लोगोंको अन्न-नियन्त्रणके कारण जीवन-यापनमें बड़ी कठिनताका सामना करना पड़ रहा है । सरकारके मनमें ऐसी बात बैठा दी गयी है कि 'अन्न-नियन्त्रण रखना अत्यन्त आवश्यक है ।' दूसरी ओर कुछ अनुभवी लोगोंका ऐसा कथन है कि 'देशमें अन्नकी कमी नहीं है, नियन्त्रणके कारण वह छिपा हुआ है । यदि अन्नपरसे नियन्त्रण हटा दिया जाय और रेलगाड़ियोंकी सुविधा हो जाय तो कुछ ही समयमें अन्नसङ्कट स्वयमेव मिट जाय ।' परंतु सरकार इसे माननेको तैयार नहीं है । न आज कोई महात्मा गाँधीजी-सरीखा पुरुष है जो सरकारको अपने नैतिक बलसे यह बात मनवा दे और नियन्त्रण हट जाय । सरकारके विशेषज्ञ तो कमी ही बतलाते हैं और जबतक नियन्त्रण-विभागके अधिकारियोंकी राय मानी जायगी, तबतक यह प्रायः सरलतासे सम्भव भी नहीं है कि कमी न मानी जाय और नियन्त्रण हट जाय । पर यह भी दृढ़तापूर्वक नहीं कहा जा सकता कि अन्न-विशेषज्ञोंकी बात सत्य नहीं है । जो कुछ भी हो, अन्नसङ्कट तो है ही । प्रतिवर्ष करोड़ों रुपयोंका अन्न विदेशोंसे मँगाकर देशका आर्थिक सङ्कट बढ़ाना और देशकी आर्थिक उन्नतिके लिये आवश्यक मशीनें आदि इसी कारण न मँगा सकना देशके लिये बड़ा ही घातक है । इसीलिये सरकार बहुत चिन्तित है और इसीलिये 'अधिक अन्न उपजाओ' की योजना बनायी जा रही है । स्वयं श्रीनेहरूजीने अपने बागको खेतके रूपमें बदल दिया है । इस प्रचारके साथ-ही-साथ, मछली और मुर्गीके अंडोंका उत्पादन बढ़ानेकी भी बड़ी-बड़ी योजनाएँ बनायी जा रही हैं ।*

उस दिन पशु-संवर्धन (Animal Hsbandry) विभागके एक उच्च अधिकारीने बातचीतके सिलसिलेमें बतलाया था कि युक्तप्रान्तीय सरकार सूअरोंकी खेती कर रही है और खाद्यके रूपमें उनका उपयोग बढ़े, इसके बाबत सोचा जा रहा है ! इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि मछली, मुर्गीके अंडे और सूअर—ये सभी आसुरी आहार हैं, इनके प्रचार-प्रसारसे हिंसाका विस्तार बेहद बढ़ जायगा, देशमें पाप बढ़ेगा और लोगोंकी बुद्धि तामसी होगी । साथ ही मनुष्योंमें भाँति-भाँतिके पशु-रोगोंका भी विस्तार हो जायगा ! धर्म, अध्यात्म और सात्त्विकताकी बात तो अलग रही,

---

* इसी अङ्कमें प्रकाशित 'सार्वदेशिक'से उद्धृत 'हिंसामय आसुरी आहारकी योजना' शीर्षक लेख देखिये ।

कोई भी समझदार और स्वास्थ्यरक्षाका सच्चा जानकार पुरुष यह सम्मति नहीं दे सकता कि अन्नका स्थान मछली, मुर्गी और सूअरको दिया जाय। पर फिर यह प्रश्न होगा कि यदि ऐसा न किया जाय तो अन्नकी कमी कैसे पूरी होगी? कुछ महीनों पहले 'कल्याण' के किसी ग्राहकके पूछनेपर उन्हें उत्तर दिया गया था। उसमें कई उपाय बतलाये गये थे। वह पत्र 'कामके पत्र' शीर्षकमें गत सातवीं संख्यामें छप चुका है। हमारी समझसे देशमें ऐसी बहुत-सी भूमि है जो खेतीके योग्य बनायी जा सकती है और उसमें प्रचुर अन्न उत्पन्न किया जा सकता है। सरकारको यह कार्य बड़े पैमानेपर करना चाहिये। इसीके साथ-साथ गोपालन, गोरक्षण और गोसंवर्धनका कार्य होना चाहिये। यह कार्य होगा तो दूध और दुग्धान्नकी बहुतायत हो जायगी। अन्नकी कमी दूध और दुग्धान्नसे बड़ी ही सुन्दर रीतिसे बिना किसी प्रकारकी हानिके अनायास पूरी हो सकती है। ये दोनों काम सरकारके करनेके हैं और उसे अपने दायित्वका ध्यान रखकर अवश्य करने चाहिये।

तीसरा एक ऐसा कार्य है जो जनता बड़ी सरलतासे कर सकती है और जिसके करनेपर अन्नकी कमी तो बहुत अंशमें दूर हो ही जायगी; धार्मिक, आध्यात्मिक लाभके साथ ही स्वास्थ्य-रक्षामें भी बड़ी सहायता मिलेगी। यह कार्य है कुछ नियमित उपवास-व्रतोंका धारण करना। महीनेमें चार दिन ऐसे हैं जो बड़े पुण्य-पर्व हैं, शास्त्रोंमें उन दिनों उपवास करनेकी बड़ी महिमा लिखी है। और स्वास्थ्यकी दृष्टिसे भी उन दिनों उपवास बहुत लाभकर बताया गया है। वे चार दिन हैं—कृष्ण और शुक्लपक्षकी दो एकादशी, एक अमावस्या और एक पूर्णिमा। परमहंस महात्मा श्रीनारायण स्वामीजी इन चारों व्रतोंपर बहुत जोर देते हैं। शास्त्रकी आज्ञा तो है ही। इसी अङ्कमें एक घटना छपी है, उससे भी एकादशीका व्रत करना बहुत लाभदायक सिद्ध होता है। एकादशी और पूर्णिमा-अमावस्याको धार्मिक एवं आध्यात्मिक लाभकी दृष्टिसे उपवास करनेसे मनमें धार्मिक संकल्प होंगे। धार्मिक व्रतके दिन प्रायः मनुष्य स्वाभाविक ही पापाचारसे बचना और भजन-उपासना करना चाहते हैं, जिससे मन-बुद्धिमें सात्त्विकता आती है एवं जीवनका कुछ अमूल्य समय उत्तम-से-उत्तम कार्यमें लगता है, जो मानव-जीवनकी सफलताके लिये परम आवश्यक है। यह स्मरण रखना चाहिये कि किसी समय किया हुआ कोई शुभ कार्य उतने ही समयतक शुभ होता है, ऐसी बात नहीं है। उससे संस्कार बनते हैं जो मनुष्यको बार-बार वैसे ही कार्यमें लगाते हैं। धीरे-धीरे जीवन ही शुभ बन जाता है। चिकित्सा-शास्त्रियोंका कहना है कि एकादशीसे पूर्णिमा या अमावस्यातक रस-विकार होता है, उन दिनों अन्न न खाकर उपवास करनेसे उक्त विकार कम-से-कम होता है और शरीरको स्वस्थ बनाये रखनेमें प्रकृतिको बड़ी सहायता मिलती है। इस प्रकार धार्मिक, आध्यात्मिक और शारीरिक लाभ तो है ही, यदि देशवासी ये चारों व्रत स्वीकार कर लें तो आज सरकारी आँकड़ोंके अनुसार अन्नकी जितनी कमी है, वह भी बहुत अंशमें आसानीसे पूरी हो सकती है। इसलिये 'कल्याण' के सभी ग्राहकोंसे, प्रेमियोंसे तथा पाठकोंसे मेरी प्रार्थना है कि वे धर्म-सम्पादन, अध्यात्म-लाभ, स्वास्थ्य-रक्षा और अन्नसङ्कटका निवारण, इनमेंसे किसी भी दृष्टिसे (यद्यपि ये चारों ही फल यथार्थ हैं) महीनेमें उपर्युक्त अन्न-त्यागरूपी चार उपवास करनेका अवश्य नियम ले लें। ऐसा करनेसे देशका एक बहुत बड़ा सङ्कट सहज ही टल जायगा। और जब अन्नकी कथित कमी इस प्रकार दूर कर दी जायगी तब

सरकारको अन्न-नियन्त्रण हटानेके लिये भी बाध्य किया जा सकेगा । मैं चाहता हूँ कि 'कल्याण' के प्रेमी महानुभाव स्वयं ऐसा व्रत लें और अड़ोस-पड़ोस, मुहल्ले-गाँव सभी जगह इसका खूब प्रचार करें । दैनिक और साप्ताहिक समाचार-पत्रोंके सम्पादकोंसे मेरी विनम्र प्रार्थना है कि वे सभी कृपापूर्वक इस प्रश्नकी महत्ताको समझकर अपने सम्पादकीय लेखोंमें विविध युक्तियोंसे इसका समर्थन करें । ऐसा हो जाय तो ऐसी आशा भी की जा सकती है कि भारतकी धर्मप्राण अधिकांश जनताका महीनेमें चार व्रत करने लगना कोई बड़ी बात नहीं है ।

आशा है 'कल्याणप्रेमी' पाठक-पाठिकाएँ और पत्र-सम्पादक महोदय कृपापूर्वक मेरी प्रार्थनापर अवश्य ध्यान देंगे ।

इसीके साथ-साथ यह भी प्रार्थना है कि सर्व-साधारणको साग-तरकारी अधिक उपजानेका प्रयत्न करना चाहिये और गेहूँ-चावल आदिके बदले साग-तरकारीका अधिक उपयोग करनेकी आदत डालनी चाहिये । प्राकृतिक चिकित्साके मतानुसार इससे जनताको पीड़ा देनेवाले बहुत-से रोग नष्ट हो जायँगे, अन्नकी कमीको पूरी करनेमें भी बड़ी सहायता मिलेगी।

बाबा श्रीराघवदासजी आजकल अधिक अन्न और साग-तरकारी उपजाने, अन्नके स्थानपर साग-तरकारीका उपयोग करने तथा व्रत-उपवासादिका प्रचार करनेके प्रयत्नमें लगे हैं । आशा है 'कल्याण' के पाठक इस पुण्यकार्यमें मेरी उपर्युक्त प्रार्थना स्वीकार करके उनकी सहायता करेंगे ।

हनुमानप्रसाद पोद्दार

हिंदू-संस्कृतिकी आधारभूमि

(लेखक—श्रीसुदर्शनसिंहजी)

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥
अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ॥

(गीता ८ । ३-४)

परम ब्रह्म तो अक्षर—अविनाशी एवं अविकारी है । स्वभाव—प्रकृति—भावोंकी मूल सत्ता ही अध्यात्म है । अध्यात्म प्राणियोंकी सृष्टि, स्थिति एवं विनाशके रूपमें मूर्त होता है कर्मके कारण । जीवोंके कर्मसंस्कारकी सृष्टि प्रलयके कारण है । यह विसर्ग—सृष्टिपरम्परा कर्मात्मक है । अधिभूत—व्यक्त सृष्टि विनाशी अथच विकारी है । इस अधिभूतमें उसका चालक एवं आधार चेतन पुरुष ही उसका अधिदेवता है । सम्पूर्ण देहधारियोंमें वही परम पुरुष पुरुषोत्तम अधियज्ञ—साक्षी अधिष्ठाता है ।

भगवद्गीताके ये प्रकाशमय वर्ण ही हिंदू-संस्कृतिकी आधार स्वर्णिम-भूमिको प्रकाशित करते हैं । हिंदू-संस्कृतिका प्राण है—'एक सच्चिदानन्दघन अखण्ड चेतन । वही एकत्व इन नाना रूपोंमें उद्भासित है । प्रत्येक मार्गसे जीवनके प्रत्येक कार्यकलापमें अनेकत्वमें उस एकका साक्षात् ।' हिंदू-संस्कृतिका शरीर है—'शास्त्रीय वर्णाश्रम-विभाग एवं तदनुरूप आचार ।' हिंदू-संस्कृतिका हृदय है—'अधिदेववाद ।' अन्तमें हिंदू-संस्कृतिकी जीवन-प्रणालिका है—'अधिदैवको अधियज्ञके भीतर साक्षात् करनेका प्रयत्न ।' हमें समझ लेना चाहिये कि शरीर परिणाम होता है हृदयका और हृदय प्राणोंका अनुगामी है । तीनोंका सामञ्जस्य ही जीवन-प्रणाली है । हिंदू-संस्कृतिमेंसे अधिदैववाद तथा सर्वत्र चेतनकी उपलब्धि एवं शास्त्रमेंसे एकको भी निकाल देनेसे इस संस्कृतिकी आधारशिला भङ्ग हो जायगी ।

अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत—शास्त्रोंमें इनका विस्तृत विवेचन है । हमारी संस्कृतिके अणु-अणुका इनसे ही सृजन हुआ है । हम जानें, या न जानें, हिंदूके प्रत्येक कामका सञ्चालक, यदि वह सचमुच हिंदू है तो इनकी स्वीकृतिके कारण ही होता है, इनके सम्बन्धमें स्पष्टीकरणके लिये हमें अपने सृष्टि-क्रमपर विचार करना होगा । सृष्टि-

क्रमके सम्बन्धमें सोचते समय हमें एक बात ध्यानमें रखनी चाहिये—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।

(गीता २ । १६)

सत्का अभाव नहीं हुआ करता और असत् कभी भाव नहीं बनता । जैसे रज्जुमें सर्पकी प्रतीति भ्रान्ति है; किंतु वह है इसीलिये कि सर्प सत्य है । यदि सर्प शशशृङ्गके समान मिथ्या होता तो रज्जुमें उसकी भावरूप प्रतीति न होती । प्रतीति भी किसी सत्यके आधारपर ही होती है । यह क्षर-भावापन्न अधिभूत—यह नाम-रूपात्मक जगत् मिथ्या है । प्रतीति है, किंतु इस प्रतीतिका सत्य क्या है ? प्रतीयमानकी कल्पना कहाँसे आयी । असत् कभी सत् नहीं बनता । मनमें जो कल्पनाका भी सत् बना, उसका मूलरूप तो होना ही चाहिये । स्पष्ट यह कि मैं कह रहा हूँ कि असत्य केवल वह है जो न दृष्टिके सम्मुख आता है और न मनमें । जो भी दृश्य है, जो भी मनमें आता है—आ सकता है, सभी सत्य होता है । उस सत्यकी अन्यत्र प्रतीति ही भ्रान्ति है । अज्ञान है । सत्य-स्वरूप व्यापक चिन्मय तत्त्वमें असत्यको स्थान ही नहीं ।

हमें इस प्रतीयमान अधिभूतसे ही विचार करना चाहिये । जो स्थूल है, जो सम्मुख है, उसीका विश्लेषण अधिक सरल है । 'अधिभूतं क्षरो भावः ।' भगवान् कहते हैं, यह विनाशी है । जन्मसे पूर्व हम इस रूपमें नहीं थे, मृत्युके पश्चात् भी इस रूपमें नहीं रहेंगे । अतः मध्यका यह रूप सत्य नहीं हो सकता । मध्यके इस रूपका भी क्या अर्थ ? बाल्यकालसे जरठत्वतक शरीरने पता नहीं कितनी आकृतियाँ बदली हैं । उनमेंसे कोई किस आकृतिको सत्य माने ? सम्पूर्ण दृश्य विकारी है । सबमें परिवर्तन हुआ करता है । अतएव नाम-रूपकी वर्तमान प्रतीति तो मिथ्या है ही ।

वैज्ञानिकोंने स्थूल तत्त्वोंका विश्लेषण किया है और अब वे किसी सीमातक. परमाणुतक पहुँच गये हैं । विश्व असंख्य परमाणुओंसे बना है और ये परमाणु शक्तिके घनीभाव हैं । परमाणुके भंग होनेपर अपार शक्ति प्रकट होती है । एक परमाणु पूरे ब्रह्माण्डकी प्रतिकृति है । मध्यमें एक घन अणु तथा उसकी परिक्रमा करते अनेक ऋणाणु । यद्यपि अभी मध्यस्थ घन अणु तोड़ा नहीं जा सका है, किंतु उसके सम्बन्धमें वैज्ञानिकोंका कहना है कि उसके टूटते ही प्रलय हो जायगा । जो भी हो, जडवाद एक शक्तितक पहुँचा है जिसे वह व्यापक विद्युत् कहता है । परमाणु उस विद्युत्के शक्ति-केन्द्र हैं ।

ऋण और घन, आकर्षण और विकर्षण, विद्युत्के यही दो रूप हैं । दूसरे शब्दोंमें अहङ्कारके तामस रूपका ही यह स्थूलीकरण है । अहङ्कारके तीन रूपोंमेंसे तामस अहङ्कारके द्वारा ही स्थूल जगत् बना, यह शास्त्र कहता है । अहङ्कारका रूप है—अहं और त्वं । यही स्थूल रूपमें आकर्षण एवं विकर्षण बन गया है । परमाणुओंका वाहक इथर—केवल लहरियाँ और गति, महत्तत्त्व इस गतिके अतिरिक्त और कुछ नहीं । जब गति है तो उसकी शान्त स्थिति भी होगी । उस प्रकृतिको जडवादी स्वीकार तो करता है; किंतु उसके स्वरूपको बतलानेमें वह असमर्थ है ।

जड विचार नहीं करता । प्रकृतिमें यह भाव और विचार कहाँसे आये ? दो पदार्थोंके योगसे तीसरा पदार्थ बनता तो है; किंतु उस तीसरे पदार्थका स्वरूप उन दोनोंमें प्रथमसे विद्यमान रहता है और यदि दो पदार्थोंके संयोगसे कोई शक्ति प्रकट होती हो तो विश्लेषण सिद्ध कर देता है कि वह शक्ति ही वस्तुतः उन पदार्थोंके रूपमें घनीभूत थी । जैसे यदि गन्धक और पोटाशका मिश्रण अग्नि उत्पन्न करता है तो इसीलिये कि दोनों आग्नेय पदार्थ हैं । पदार्थोंसे विद्युत् इसीलिये प्रकट होती है कि उनके परमाणु ही विद्युत्के घनीभाव हैं । यह चेतना तो किसी जडमें है नहीं, अतः वह मिश्रण या योगसे कैसे हो सकती है । आज जडवादीके सम्मुख यह जटिल प्रश्न है । भाव, विचार ये जीवके लक्षण हैं और वे जडके परमाणुतकमें नहीं । अतएव आजका वैज्ञानिक जीवाणुको भी परमाणुकी भाँति विश्लिष्ट कर लेना चाहता है ।

बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च ।
तस्य भागस्य भागस्य एषा जीवस्य कल्पना ॥

शास्त्रोंने जहाँ जीवके अणुपरिणामका वर्णन किया है, वहाँ उसे रोमके अग्र भागका दस करोड़वाँ भाग कहा है । इतना सूक्ष्म विश्लेषण सम्भव है हो सके; किंतु वस्तुतः तो जडता ही भ्रान्ति है । नित्यव्यापक चेतनमें जडका तो केवल आभास है । जीवाणुका यदि विश्लेषण हो सके तो जैसे परमाणुके विश्लेषणने सिद्ध किया कि परमाणुओंकी असंख्यता मूलमें एक ही शक्तिसे ओतप्रोत है, वैसे ही एक ही चेतन-शक्ति ही उपलब्ध होगी । जीवाणु एवं परमाणु उस सीमापर अभिन्न हो जायँगे ।

दृश्य-जगत् विकारी है । उसका दृश्यरूप भ्रान्तिजन्य है । मूल रूपमें वह ऐसा नहीं । यहाँतक तो किसीको भी विवाद नहीं । यह दृश्य उपस्थित क्यों होता है ? यहीं

हिंदू-संस्कृति अपनी विशेषता लेकर उपस्थित होती है। हमारा अधिदैववाद विश्वमें और कहीं भी नहीं है। हमारी संस्कृतिकी यह अद्भुत विशेषता है कि हम प्रत्येक दृश्य जडको केवल जड नहीं मानते। हम उसका एक अधिदेवता मानते हैं। हमारा शरीर जड है और जीव उसका अधिदेव है। पृथ्वीका दृश्य रूप जड है, किंतु उसका अधिष्ठाता रूप भी है। इसी प्रकार सूर्य, चन्द्र, तारागण, पर्वत, नदियाँ, वन प्रभृतिके दृश्यरूप उनके अधिदेवोंके शरीर हैं। जैसे सांसारिक जीवोंके रूपके अणु ज्योतिर्मय कहे गये हैं, वैसे ही इन अधिदेवोंके विभिन्न स्वरूपोंका शास्त्रोंमें विशद वर्णन है।

हम मसिपात्र, लेखनी, पुस्तक, बही, तलवार, हल, सबकी पूजा करते हैं। सबके अधिदेवको मानते हैं। हमारी संस्कृति कहती है कि स्थूल-शरीरसे तभी अनुकूल कार्य सम्पन्न होता है जब उसका अधिष्ठाता सन्तुष्ट हो। हम मकान बनाते हैं और उसके बनते ही उसके अधिदेवता उसमें आ जाते हैं। मकानसे सुख-प्राप्तिके लिये हम वास्तुपूजन करते हैं। जैसे शरीरके प्रत्येक भागमें सहस्रशः जीवाणु हैं। उनमें स्वतन्त्र जीवन-व्यापार है; किंतु उनका सन्धीभाव शरीररूपमें होते ही शरीरका अधिष्ठाता हो जाता है; वैसे ही प्रत्येक वृक्ष या प्रत्येक पाषाण-खण्डके पृथक् अधिष्ठाता रहते भी उनके समूह वन, भवन, नगर एवं देशके अधिष्ठाता होते हैं।

'पुरुषश्चाधिदैवतम्।' जिस समूहमें चेतनका जो अंश अहंभाव कर लेता है, वही उसका देवता है। शरीराभिमानी जीव शरीरका अधिदेव। इसी प्रकार पृथ्वी, पर्वत, कानन, तरु, भवन, सूर्य, चन्द्रादिमें उनके अभिमानीरूपसे स्थित चेतनांश उनके अधिदेव हैं। इन अधिदेवोंकी स्वीकृतिमें ही हिंदू-संस्कृति, सम्पूर्ण आचार-व्यवहार-परम्परा है। हम सन्ध्या करते हैं, अर्घ्य देते हैं भगवान् सूर्यके निमित्त। तर्पण करते हैं पितरोंके लिये। हवनमें अनेक देवताओंको आहुतियाँ देते हैं। देवताओंको जो किसी-न-किसी क्रिया या पिण्डके अधिदेव हैं, न माननेपर हमारे सारे कार्यकलाप अवरुद्ध हो जायँगे।

अधिदेव क्या सचमुच हैं? एक ही व्यापक चेतनतत्त्व, सर्वव्यापक परमात्मा हैं। इतना होनेपर भी जीवका जीवत्व है, यह तो प्रत्यक्ष है और जब एक जड शरीरका अभिमानी है तो दूसरेका क्यों नहीं होना चाहिये? इसे आप स्पष्ट समझें? मकान, मेज, कुर्सी, चित्रादि जड पदार्थ कैसे बनते हैं? पहले वे अपने निर्माताके मनमें आते हैं। विचारोंमें उनका रूप मूर्त होता है और तब वे स्थूल रूपमें परिणत होते हैं। विचार और भाव चेतनके धर्म हैं। जड मिट्टी न मकान बन सकती और न जड काष्ठ मेज। उनका भवन या मेजरूप तो चेतनका मूर्तरूप है। आकृतिके लिये विचारका मूर्त होना आवश्यक है।

अधिक स्पष्ट समझिये—एक व्यक्ति मेस्मेरिज्मसे सम्मोहित कर दिया गया है। सम्मोहक कहता है 'अग्नि जल रही है।' सम्मोहित अपने वस्त्र बुझानेका प्रयास करता है और भागना चाहता है। यह भी देखा गया है कि उसे छाले पड़ जाते हैं। यहाँ अग्नि उसके लिये मूर्त थी। यह मूर्त अग्नि सम्मोहकके विचारके अतिरिक्त और क्या थी? विश्वके सभी पदार्थ इसी प्रकार विचारोंके मूर्त रूप हैं।

यह पृथ्वी, ये सूर्य, चन्द्र, तारे, पर्वत, नदी प्रभृति किसके विचारोंके मूर्त रूप हैं? अपनेसे ही समझिये। 'विसर्गः कर्मसंज्ञितः' सृष्टि होती है कर्मके कारण। कर्म है क्या! मैंने एक व्यक्तिको लाठी मार दी तो यह कर्म क्या लाठीमें या सिरमें है? 'मैंने लाठी मारी' केवल यह संस्कार ही कर्म है और वही फलोत्पादक हुआ करता है। भगवान्ने बताया है—

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥

(गीता १८। १७)

कर्म हैं संस्कारात्मक—विचारात्मक और वही जीवको जन्म-मृत्युके आवर्त-प्रत्यावर्तमें लगाये रहते हैं। जैसे आपके विचारोंने आपका उद्भव किया है, वैसे ही किसीके विचारोंने ही पृथ्वी, सूर्यादिका उद्भव किया है। स्रष्टाका मन जैसे हमारे कर्मोंसे प्रेरित होकर हमारी सृष्टि करता है, वैसे ही हमारा मन भी किन्हींके संस्कारोंसे प्रेरित होकर भवन, आसन, परिच्छदका निर्माण करता है।

क्रियाके मूलमें विचार होता है, उसका कम्पन सूक्ष्म जगत्की एक चेतन आकृतिसे सम्बद्ध होता है। उस आकृतिके कारण ही वह कम्पन है और स्थूलरूपमें उस क्रियाका एक परिणाम होता है। स्थूल रूप व्यक्त है, जड है। उसे व्यक्त करनेवाली क्रियाका कम्पन जिस सूक्ष्म रूपसे सम्बद्ध है, वह सूक्ष्म रूप उस व्यक्त रूपका अधिदेव है। अधिदेव चेतन है। वह नित्य है। स्थूलका वही संचालक है। रागों और ऋतुओंके अधिदेव भी इसी प्रकार माने गये हैं।

प्रत्येक क्रिया एवं आकृतिका आधार विचार है, वह विचार किसी सूक्ष्म चेतनसे प्रेरित ही होता है, अतः वह चेतन-तत्त्व उस क्रिया एवं आकृतिका अधिदेवता है। अधिदेवताकी एक दिव्याकृति होती है और वह आकृति है

विचार-जगत्में ऐसे कम्पनका सृजन करती है, जिससे क्रिया या स्थूलाकृति व्यक्त होती है। रिकार्डपर केवल ऊँची-नीची अस्पष्ट रेखाएँ होती हैं, किंतु उनपर सुई चलनेसे स्वर व्यक्त होता है। इसी प्रकार देवताओंकी अव्यक्त चेष्टा विचार-जगत्से स्थूल जगत्में व्यक्त होती है।

एक बालक उत्पन्न होता है। ज्यौतिषी ग्रह-गणित करके उसकी कुण्डली बना देते हैं। कुण्डली देखकर कोई भी निपुण ज्यौतिषी बालककी आकृति, वर्ण, प्रकृति, कर्म, भोगसे मृत्युतक बतला सकता है। बालकका जन्म उसके प्रारब्धके अनुसार हुआ है और प्रारब्धके ही फल उसे भोगने हैं। प्रारब्धका निर्माण हुआ है उसके पूर्वकृत कर्मोंसे। अतः पूर्वकृत कर्म, प्रारब्ध, उसके जन्म-समय और ग्रहोंकी अवस्थितिमें कोई सामञ्जस्य-श्रृङ्खला होनी चाहिये। ऐसा न होनेपर या तो कर्मको फलद मानना होगा या ग्रहोंका प्राबल्य स्वीकार करना होगा। बात ऐसी है नहीं। सृष्टिके प्रत्येक कार्य जिस नियन्त्रककी नियम-श्रृङ्खलामें श्रृङ्खलित हैं, प्रारब्ध और ग्रह दोनों उसीमें हैं। अतः दोनोंमें विपर्यय कभी नहीं होता।

ग्रहोंकी संख्या है और संख्या है नक्षत्रोंकी भी। अतः इनके संयोगोंकी भी संख्या होगी। यह संख्या बड़ी हो सकती है, किंतु अनन्त नहीं। शास्त्र बतलाते हैं कि इतिहास आवृत्ति करता है। 'धाता यथापूर्वमकल्पयत्' ब्रह्माने सृष्टिको प्रथमके समान ही बनाया। प्रत्येक युगके अवतार वह युग आनेपर होते हैं। जैसे त्रेतामें रामावतार और रामचरित प्रायः वही होता है। कल्पभेदसे चरितोंमें थोड़ा अन्तर पड़ता है, किंतु चौदह मन्वन्तरका एक कल्प या ब्रह्माका दिन होता है। तीस दिनोंका एक मास और बारह मासका एक वर्ष। इस प्रकार अपने सौ वर्ष ब्रह्माकी आयु होती है। कल्पभेदका विकल्प भी यहींतक रहता है। पुनः दूसरे ब्रह्माकी आयुमें प्रथमके समान ही सृष्टि आवृत्ति करती है। शास्त्रोंमें, वेदोंमें इतिहास देखकर लोग चौंकते हैं। उन्हें समझना चाहिये कि यही नित्य इतिहास शास्त्र एवं श्रुतियोंमें है। एक ही इतिहासमें जो अन्तर हैं, वे कल्पभेदसे पड़नेवाले अन्तर हैं।

ग्रह एवं नक्षत्रोंकी संख्या तथा उनके संयोग एक कल्पमें समाप्त हो जाते हैं। दूसरे कल्पमें बहुत सूक्ष्म अन्तरसे उनके संयोगोंकी पुनरावृत्ति होती है। फलतः एक कल्पका इतिहास साधारण अन्तरसे दूसरे कल्पमें आवृत्ति करता है। यह साधारण अन्तर भी ब्रह्माकी आयुतक ही रहता है और दूसरी सृष्टिमें ये अन्तर भी आवृत्ति करते हैं। विचार, भाव, पदार्थ, वर्ण, क्रिया प्रभृति समस्त अन्तर एवं बाह्य इतिहास इस प्रकार आवृत्ति करता है। वही आकृतियाँ, उन्हीं रूपोंमें, वैसे ही विचारोंसे प्रेरित होकर पुनः-पुनः वही क्रियाएँ करती हैं। अतः ग्रह-नक्षत्रोंके संयोग-प्रभावके अनुसार दृश्य परिणाम होनेमें कभी विपर्यय नहीं होता।

हम कह आये हैं कि विचार सूक्ष्म-चेतन तत्त्वसे प्रेरित होते हैं और वे चेतन उन विचारों तथा उनसे होनेवाली स्थूल क्रियाके अधिदेव होते हैं। अधिदेवोंकी संख्या है। इसका अर्थ हुआ कि विचारोंकी भी संख्या है। इसे यों समझ लीजिये कि जैसे रेडियो-यन्त्र रेडियो-स्तरोंसे स्वरको व्यक्त करता है, वैसे ही विचारोंके भी स्तर हैं। मन जिस स्तरमें होता है, उसीके विचार उसमें प्रतिफलित होते हैं। हम उतनी ही कल्पनाएँ, भावनाएँ या विचार कर सकते हैं, जितने स्तर हैं। क्योंकि बाह्य स्थूल या क्षर आधिभौतिक जगत् विचारोंका परिणाम है, अतः स्थूल जगत्में भी उतनी ही क्रियाएँ या पदार्थ हो सकते हैं, जितने विचार-स्तर हैं। यह दूसरी बात है कि विचार-स्तरोंका कोई भाग स्थूलमें व्यक्त न हो, किंतु स्थूल व्यक्त तो सदा उतना ही रहेगा जो विचार-स्तरोंमें है।

अधिदेवता ही अधिष्ठाता हैं विचारोंके, क्रियाओंके तथा स्थूल पदार्थोंके और वही अधिष्ठाता हैं ग्रह-नक्षत्र एवं उनके संयोगोंके। अतः कर्म और ग्रह-संयोगमें नित्य समन्वय है। विचार एवं क्रियाएँ उन्हीं क्रमोंसे सम्पन्न होती हैं, जिन क्रमोंसे ग्रहादि संयोग चलते हैं। अतः प्रारब्ध भी उसी नियमसे निर्मित होता है और प्रारब्धका परिपाक भी ग्रहोंका सहयात्री रहा करता है।

'पुरुषश्चाधिदैवतम्' पुरुष ही अधिदेवता है। चेतन शक्तियोंसे ही विचार-स्तर स्फुरित होते हैं और वही व्यष्टि एवं समष्टिकी क्रियाओंका संचालन करती हैं। वस्तुतः तो समष्टि एवं व्यष्टि एक ही नियमसे चालित हैं। जो गति समष्टिमें चन्द्रका चालन करती है, वही व्यष्टिमें मनका। इसीलिये व्यष्टिके कर्म एवं समष्टिके ग्रहादिका समन्वय सदा रहता है। उन चेतन शक्तियोंसे स्फुरित विचार-स्तर समष्टिमें ग्रह, नक्षत्र, पर्वत, समुद्र, नदी आदिका मूर्तरूप धारण करते हैं और व्यष्टिमें उसके विचार, भाव, क्रिया एवं भवनादि कृतियोंका। जिन सूर्य, चन्द्र, इन्द्र, रुद्रसे समष्टि अधिष्ठित है, वही व्यष्टिकी इन्द्रियोंके भी अधिदेव हैं।

जडता केवल प्रतीति है। वह चेतनकी स्फुरणा है। प्रत्येक क्रिया एवं वस्तुका अधिष्ठाता चेतन है। वही पुरुष उसका अधिदेव है। वही उस व्यक्त जडकी स्फुरणा एवं

संचालनका मूल तथा उसका स्वामी है। अधिदेवोंकी संख्या है, अतः विचार, क्रिया एवं आकृतियोंकी भी संख्या है और इसी कारण इतिहास सर्वाङ्गरूपसे आवृत्ति करता है। मिथ्या कोई वस्तु नहीं। मनमें जो आता है वह इसीलिये कि विचार-जगत्में वह है। अधिदेव उसके हैं। स्वप्नमें जैसे ऊँटके धड़पर गजका मस्तक दीखता है तो गज एवं ऊँट दोनों सत्य हैं। केवल उनके अङ्गोंकी यह एकरूपता ही असंगत है, वैसे ही विचार एवं कल्पनामें असंगति तो सम्भव है, मिथ्यात्व नहीं। किसी समय किसी ब्रह्माण्डमें वह घटित सत्य है या होगा; क्योंकि उसके विचार-स्तर हैं। उसके अधिदेव हैं।

इस प्रकार नित्य सत्य एवं चेतनकी स्वीकृतिके पश्चात् प्रश्न उठता है कि क्या ये चेतन स्वतन्त्र हैं? बहुजीववाद सांख्यने स्वीकार किया है। भगवान् कहते हैं 'अधियज्ञोऽह-मेवात्र देहे देहभृताम्' देहधारियोंके देहमें अधियज्ञ मैं हूँ। फिरिश्ते और उनसे पृथक् उनका नियन्ता माननेवाले बहुत हो गये हैं; किंतु हिंदू-संस्कृति नियन्ताको पृथक् नहीं बताती। नियन्ता तो अभिमानी चेतनके नित्य साथ रहता है और वही उसका संचालन करता है।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥
(गीता १८। ६१)

वह अधियज्ञ—क्रियाओंका अधिष्ठाता सबके हृदयमें रहता है और वही सबको अपनी शक्तिसे संचालित करता है। क्रियाओं—यों कहिये कि विचारस्तरों एवं उनके सङ्घों-के अधिदेव वस्तुतः उनका संचालन नहीं करते। वे उनमें अहङ्कार रखते हैं। जीव इसलिये शरीरका अधिष्ठाता है कि वह शरीर एवं उसकी क्रियाओंमें अहंबुद्धि रखता है। वस्तुतः तो शरीर और उसके कर्म समष्टि चालकके इच्छानुसार ही सम्पन्न होते हैं। जैसे जलमें सूर्यका पड़ा प्रतिविम्ब यह मान ले कि जल मेरी उष्णतासे उष्ण हो रहा है। वस्तुतः तो जल मूल बिम्ब सूर्यसे उष्ण होता है।

गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई॥

यह माया जीवकृत नहीं है। यह जीवके बन्धनका कारण भी नहीं; क्योंकि इसके द्वारा संस्कारोंकी प्राप्ति नहीं होती। यह तो ईश्वरकृत माया है। इसकी अनुपलब्धि तो हो सकती है, जैसे सुषुप्तिमें होती है; किंतु इसका विनाश जीवके द्वारा नहीं होता। किसीके मुक्त होनेसे सृष्टि नहीं नष्ट हो जायगी। सृष्टिके रहनेसे किसीको कोई बाधा भी नहीं।

मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहि बस कीन्हेसि जीव निकाया॥

'यह मैं हूँ। यह मेरा है। यह तुम हो। यह तुम्हारा है।' अथवा 'यह दूसरा है, यह दूसरेका है।' यही जीव-कृत माया है। इसीने सम्पूर्ण जीवोंको स्ववश कर रखा है। अधियज्ञ उत्तम पुरुष श्रीपुरुषोत्तम ही सबके संचालक हैं। उन्हींकी दिव्यलीला लोकमें प्रतिफलित हो रही है; किंतु अधिदेवोंने उसमें अपना अहं स्थापित कर लिया है। यह 'अहं' ही बन्धनका कारण है। 'अहं'के कारण ही यह द्विविध चेतनत्वकी उपलब्धि है।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया।
(मुण्डक० ३। १। १)

भगवती श्रुतिने इसी द्विविध चेतनकी ओर संकेत किया है। हिंदू-संस्कृति जडको अस्वीकार करती है और अपने आचार-व्यवहारमें वह इसी द्विविध चेतनको मानती है। प्रत्येक पदार्थका अधिदेव जो उसके स्थूल रूप एवं क्रियामें अहंभाव रखता है और सर्वत्र व्याप्त सर्वसंचालक ईश्वर। हमारा संचालक किसी सुदूर आकाशमें नहीं बैठता। वह तो प्रत्येकके हृदयमें रहकर उसका संचालन करता है। वही सबका नियन्त्रक, संचालक एवं व्यक्त रूपका कारण भी है।

तब क्या चेतन द्विविध है? एक संचालक और दूसरा जीव या देवता। योगदर्शनने कुछ ऐसी ही बात कही है, परंतु भगवान् अधियज्ञपर ही तो विराम नहीं करते। वे आगे कहते हैं 'स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते' स्वभावको अध्यात्म कहा जाता है। यह सृष्टि, विचारस्तर, उनके अधिदेवादि-का जो स्वभाव है—वास्तविक स्वरूप है, उसे अध्यात्म कहा जाता है। क्या है यह अध्यात्म? अधिभूतके प्रसंगमें हम कह आये हैं कि जो सत् नहीं है, उसकी प्रतीति भी सत्-रूपसे नहीं हो सकती। यह जो प्रतीयमान विराट् सत् है, वह इस रूपमें तो क्षर अथच मिथ्या है, किंतु उसका स्व-भाव क्या है? किस सत्की यहाँ प्रतीति हुई है? भगवान् कहते हैं, उसे अध्यात्म कहा जाता है। आत्माका ही जहाँ अधिष्ठान है, वह। इसको स्पष्ट करनेके लिये हमें अन्यत्र अन्वेषण करना होगा।

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥
एतावानस्य महिमातो ज्यायांश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि॥
त्रिपादूर्ध्वं उदैत् पुरुषः पादोऽस्येहाभवत् पुनः।
ततो विष्वङ् व्यक्रामत् साशनानशने अभि॥

'उन परम पुरुषके सहस्रों मस्तक, सहस्रों नेत्र एवं सहस्रों चरण हैं। वे सम्पूर्ण ब्रह्माण्डोंमें सब ओरसे व्याप्त होकर स्थित हैं और उससे दश अंगुल ऊपर भी हैं। यह समग्र व्यक्त जगत् उनकी ही महिमा है और वे इससे भी अधिक हैं। ये सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड उनके एक पाद एकांशमें ही स्थित हैं और उनके तीन पाद—त्रिपाद् विभूतिमें अमृत-अविनाशी-दिव्यलोक—शाश्वत लोक हैं। यह पुरुषकी त्रिपाद् विभूति मायासे परे प्रकाशमान है। मायिक विश्वमें भी वही पुरुष हैं। मायामें प्रविष्ट हुए उसी परम पुरुषसे जड एवं चेतनमय सृष्टिकी अभिव्यक्ति हुई।'

भगवती श्रुतिके इस प्रधान पुरुषसूक्तपर ध्यान रखते हुए हमें अध्यात्मके अन्वेषणके लिये प्रलय-क्रमपर ध्यान देना चाहिये। कल्पान्तमें अतिवृष्टिसे लोक जलमय हो जाते हैं; किंतु जब ब्रह्माजीकी आयु समाप्त हो जाती है तो केवल जलप्लावनसे सृष्टि-नाशतक ही बात नहीं रहती। पृथ्वी-तत्त्व जलमें, वह अग्निमें, अग्नि वायुमें, वायु आकाशमें, आकाश तन्मात्राओंमें, इस प्रकार क्रमशः तन्मात्राएँ अहंकारमें, वह महत्में और उसके लीन होनेपर प्रकृति रह जाती है। कल्पान्तमें तो महर्लोक, जनलोक, तपलोक तथा सत्यलोकका नाश नहीं होता; किंतु इस महाप्रलयमें इन सब लोकोंका भी विलय हो जाता है। इसी महाप्रलयको लक्ष्यकर भगवान्ने कहा है—

'आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।'
(गीता ८।१६)

ब्रह्मलोकतकका नाश होता है और वहाँसे भी संसारमें प्रत्यावर्तन होता है। इस महाप्रलयके पश्चात् क्या बचता है? साम्यावस्थामें स्थित प्रकृतिको आप कह सकते हैं। दूर जानेकी कोई आवश्यकता नहीं। जो पिण्डमें है, वही ब्रह्माण्डमें भी है। संस्कारहीन चित्तको आप जो संज्ञा दे सकें, वही संज्ञा उस समयकी प्रकृतिको दी जानी चाहिये। भगवान् बुद्धने उसे शून्य संज्ञा दी है। ठीक उसी अर्थमें तो नहीं, किंतु यह शून्य संज्ञा बहुत कुछ उपयुक्त है। उस समय केवल शून्य रह जाता है। जैसे चित्त संस्कारग्राही होता है, वैसे ही वह भी संस्कारग्राही होता है। उसके समीप जो आता है, उसीका प्रतिबिम्ब वह अपनेमें प्रतिफलित करता है।

ब्रह्मलोकतकके लोक तो महाप्रलयमें नष्ट हो जाते हैं; किंतु त्रिपाद्विभूति तो शाश्वत है। कैलास, वैकुण्ठ, साकेत, गोलोक ये मायिक ब्रह्माण्डसे परे हैं। श्रुतिने 'त्रिपादस्यामृतं दिवि' द्वारा उन्हें अमृत दिव्यलोक कहा है। भगवान्की नित्यलीला वहाँ शाश्वतरूपसे होती रहती है। न वहाँ कभी कोई व्याघात होता और न विपर्यय। एकरस स्थिति है वहाँ। वहाँ मायाका नामतक नहीं। वही सच्चिदानन्दघन तत्त्व नाना रूपोंमें घनीभूत होकर वहाँ क्रीड़ा करता है। वहाँकी भूमि, गृह, तरु, परिच्छद, पार्षद प्रभृति समस्त एक ही तत्त्वके घनीभाव हैं। भेद वहाँ आनन्दके लिये, रसास्वादके लिये, क्रीड़ाके लिये ही है। जो उस दिव्यधाममें जाते हैं, वे भी सायुज्य स्वीकार केवल इसलिये नहीं करते कि पार्थक्यमें ही रसास्वाद है, अन्यथा होते वे भी तद्रूप ही हैं।

कितने हैं ये दिव्यलोक? सम्भवतः ३०। यद्यपि यह कोई पूर्ण संख्या नहीं। कल्प ३० माने गये हैं। उनकी द्वादश आवृत्तिमें ब्रह्माका एक वर्ष पूर्ण होता है और १००वर्ष स्रष्टाकी परमायु है। ये कल्प होते हैं दिव्यलोकोंके अनुसार, इसीसे इन्हें ३० कहा जा सकता है। वैसे तो नित्यलोकोंकी कोई संख्या की नहीं जा सकती। यह शून्य, जिसमें कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड प्रतिफलित हैं, मायिक विस्तार एकपाद विभूति-रूप अण्ड गतिशील है। जब वह किसी दिव्यलोकके सान्निध्यमें पहुँचता है, प्रतिबिम्ब ग्रहण करने लगता है। यही उसमें सृष्टि है। जैसे-जैसे वह आगे बढ़ता है प्रतिबिम्ब स्पष्ट होता जाता है। सृष्टिमें विस्तार होता है और साथ ही परिवर्तन भी। अन्तमें जब वह पुनः दूर होने लगता है, प्रतिबिम्ब अस्पष्ट होने लगता है। सृष्टिका ह्रास होकर प्रलय हो जाती है।

यदि हम सृष्टिपर ध्यान दें तो ज्ञात होता है, इसमें तत्त्व-प्रधान तो होते हैं, किंतु रहते मिश्रित हैं। जैसे पृथ्वी-तत्त्व-में शेष चारों जल, वायु, अग्नि, आकाश गौण रूपसे हैं। प्रत्येक युगमें भी अवान्तरगत युग चला करते हैं। कलिमें भी त्रेता, द्वापर, सत्यके चक्र चलते हैं। ग्रहोंकी महादशामें अन्तर्दशा चलती है। प्रतिबिम्बकी इस स्थितिसे बिम्बके सम्बन्धमें अनुमान किया जा सकता है। उन नित्यलोकोंमें भी अन्तर्गत लोकके रूपसे लोक तथा उसके अधिष्ठाता हैं। अर्थात् शिवलोकमें प्रधानता भगवान् शङ्करकी है तथा विष्णु, राम, श्रीकृष्णादिके लोक तथा वे वहाँ गौणरूपसे हैं। उनकी लीला भी वहाँ होती है। इसी प्रकार विष्णुलोकमें शिवलोक तथा उसके अधिष्ठाता एवं उनकी लीलाएँ गौणरूपसे चलती हैं। प्रत्येक लोक उस पूर्णका स्वरूप है और इसीलिये पूर्ण है।

अब यदि शून्य शिवलोकके सान्निध्यमें है तो उस

कल्पमें भगवान् शिवसे सृष्टिका उद्भव होगा । विष्णु, राम, श्रीकृष्णादिकी लीलाएँ उसी लोककी अवान्तर लीलाएँ ही प्रतिफलित होंगी । उस कल्पमें भगवान् शशाङ्कशेखरकी प्रमुखता होगी । जब शून्य विष्णुलोकके सान्निध्यमें होगा तो विष्णुलोक एवं उसके अवान्तर्गत लोक प्रतिफलित होंगे । उस कल्पमें भगवान् विष्णुसे सृष्टिका उद्भव होगा और उन्हींकी प्रधानता होगी । महाशिव, महाविष्णु परस्पर अभिन्न हैं । एक ही तत्त्वके दो घनीभाव हैं । पुराणोंमें जहाँ शिवपरक वर्णन हैं, वहाँ शिवलोक, उनके अधिष्ठाता एवं उस लोकके अन्तर्गत लोकों तथा अधिष्ठाताओंका वर्णन है । जहाँ विष्णुलोकका वर्णन है, उन वैष्णव पुराणोंने उस लोकके अन्तर्गत लोकों एवं उनके अधिष्ठाताओंका वर्णन किया है । दिव्यलोकोंमें अन्तर्गत लोक होनेसे कल्पके इतिहासमें तो परिवर्तन नहीं होता; किंतु मुख्य एवं गौण अधिष्ठाताओंके क्रमभेदसे घटनाओंके क्रममें कुछ अन्तर होता है और साधारण भेद हुआ करता है ।

अन्तर्गत लोक एवं उनके अधिष्ठाताओंकी गौणताको गौण नहीं मानना चाहिये । स्मरण रखना चाहिये कि नित्य लोकोंमें उच्च-निम्न-जैसा कोई भेद है ही नहीं । वहाँ मुख्यता और गौणता केवल लीलाके लिये प्रतीतिमात्र है । अन्यथा एक ही चिन्मय तत्त्व उन सब रूपोंमें घनीभूत है । शक्ति, प्रभाव, गुणादिकी दृष्टिसे वहाँ पार्थक्य सम्भव नहीं । लोकान्तर्गत लोकोंके अधिष्ठाताओं एवं लोकके अधिष्ठातामें कोई न्यूनाधिक प्रभावका भेद नहीं है । ऐसी स्थितिमें दो लोकोंके अधिष्ठाताओंमें भेद हो कैसे सकता ।

मूलतत्त्व सच्चिदानन्दघन है । वहाँ प्रभुके साथ उनकी दिव्यतम शक्ति योगमाया सदा सेवामें उपस्थित रहती हैं । शून्यमें प्रतिफलित वही योगमायाका प्रतिबिम्ब यहाँ माया हो जाता है । सत् यहाँ तमस् बनकर प्रकट होता है, चित् रजस्के रूपमें और आनन्द सत्त्वके रूपमें । यहाँके मायिक वातावरणमें वे दिव्यभाव प्रतिबिम्बित होकर विकृत हो जाते हैं और अन्तःकरण-भेदसे विकार-बाहुल्य होता ही जाता है । यहींका मनोविज्ञान मानता है कि काम विकृतरूप है प्रेमका । द्वेषका शुद्ध रूप वैराग्य है । मानव यदि अपनी कामवासनापर नियन्त्रण प्राप्त कर ले तो वह उसमें कला, प्रेम एवं प्रतिभाके रूपमें प्रकट हो जायगा ।

यहाँके सब कुत्सित रूप विकृत हैं । अपने मूलरूपमें वे दिव्य हैं और उस दिव्यरूपका प्रतिफलन ही यहाँ इस रूपमें हो गया है । जैसे चिन्मय वियोगानुभूति जो रसरूप है, यहाँ विकृत होकर दुःख बन गयी । त्याग यहाँ क्रोध हो गया है । सत्त्व, जो स्थितिस्वरूप है, व्यष्टिमें जड़ता बना है और समष्टिमें स्थूल पदार्थ । चित् जो ज्ञान एवं क्रियारूप है, यहाँ गति एवं व्यग्रता बन गया । आनन्द जो शुद्ध स्वरूप था, यहाँ वैषयिक सुख हो रहा । अतएव यहाँके सब कुत्सित भाव एवं रूप उन नित्य लोकोंमें हैं, ऐसी भ्रान्तिमें नहीं पड़ना चाहिये । अवश्य ही इनका स्वभाव, जो शुद्ध रूप है, उसकी उपलब्धि उसी अध्यात्ममें होगी ।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
(गीता ४ । ११)

जो जिस भावसे जिस रूपमें प्रभुको चाहता है, उसी भावसे उसी रूपमें वे उसे उपलब्ध होते हैं । साथ ही उस चिन्मय अविनाशीके सभी स्वरूप, सभी लीलाएँ नित्य एवं शाश्वत हैं । यह इसलिये सम्भव है कि भाव एवं विचार आते ही हैं उनके नित्यलोकसे । उनके जितने स्वरूप हैं, उतने ही विचारस्तर हैं । उनसे अतिरिक्त विचार किसी अन्तःकरणमें आ नहीं सकते । अन्तर केवल विचारोंका ग्रहण करता है। जब कोई अन्तर किसी एक विचार या भावस्तरमें स्थिर हो जाता है तो उस स्तरके मूल दिव्यरूपसे वह सम्बन्ध बना लेता है और इस प्रकार जीवको प्रभुका साक्षात् प्राप्त होता है।

मनोविज्ञानने आज सिद्ध कर दिया है कि विचारोंके भी रूप होते हैं तथा रंग भी । प्रेम, दया, मैत्री, घृणा, द्वेष, क्रोधादिके विचारोंकी आकृतियों तथा उनके रंगके सम्बन्धमें बहुत कुछ जाना जा चुका है । अतः विचार एवं भावोंके अधिदेवताओंकी बात आजका वैज्ञानिक भी स्वीकार कर लेगा, यदि वह बुद्धिकी बात सुननेको प्रस्तुत हो । दिव्यलोकोंके प्रतिबिम्ब इस मायिक शून्यमें अधिदेव होते हैं और उनकी क्रिया विचारस्तरोंके रूपमें नित्य व्यक्त रहती है । विचार मनमें आते हैं और समष्टि या व्यष्टिके मनसे स्थूल रूपमें। पदार्थ एवं क्रिया और स्थूल आकृतिके अधिदेवता हैं। सूक्ष्ममें उनका प्रभाव विचारस्तरोंके रूपमें व्याप्त है। इन विचारस्तरोंका मूल नित्य दिव्यलोकोंमें है । एक ही विचारस्तरमें दृढ़तापूर्वक स्थित होकर नित्यलोकके उस आनन्दघनको आकृष्ट किया जा सकता है । स्थूल जगत्‌में अभीष्टकी सिद्धिके लिये उस स्थूल या अभीष्टके अधिदेवको अर्चासे तुष्ट करके सरलतासे कार्य सम्पादित किया जा सकता है ।

'अक्षरं ब्रह्म परमम्' सृष्टिसे मुख मोड़ते ही सृष्टिके मूल कारणकी ओर ध्यान जाता है । वह तत्त्व जो नित्यलोकोंमें घनीभूत हो गया है, जिसमें ये कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड प्रति

भासित हो रहे हैं और जो इन सबसे परे भी है। श्रीश्यामसुन्दर कहते हैं कि वह परमब्रह्म अविनाशी है। वह है और नित्य है। इससे अधिक उसके सम्बन्धमें और कहा भी क्या जा सकता है। श्रुतियाँ उसका वर्णन 'नेति-नेति' कहकर निषेध मुखसे करती हैं। सम्पूर्ण दर्शनशास्त्रोंका वही प्रतिपाद्य है और सभी आचार्योंने उसीकी ओर लक्षणावृत्तिसे संकेत किया है।

'यह समस्त दृश्यमान असत्य है। नामरूपात्मक जगत् मिथ्या है। केवल आत्मा ही सत्य है। द्वैतकी प्रतीति अज्ञानजन्य है।' विचारक इस प्रकार मनन करता है। भावुक कहता है 'भगवान् ही इन रूपोंमें प्रतिभासित हो रहे हैं। ये विविध रूप उन लीलामयने अपनी लीलासे धारण कर रक्खे हैं। इन रूपोंकी विविधता उन ऐन्द्रजालिकका जाल है। इन सबके रूपमें वे आनन्दघन ही सत्य हैं।' दृश्यका विनाश दोनोंमेंसे किसीको इष्ट नहीं और न समष्टि संचालककी समष्टिका विनाश सम्भव है। एक दृश्यमें अपने-आपका आधान करते आत्मानुभूति करनेका प्रयत्न करता है। उसे अन्तर्मुख होना है। वह बाह्यको अस्वीकार कर देता है और वहाँ अपना अनुभव करता है। दूसरा बाह्यकी विविधताको अस्वीकार करके वहाँ हृदयके अधिष्ठाताको विराजित करता है। बाह्यकी उसकी अस्वीकृतिका रूप दूसरा है, पर होना उसे भी अन्तर्मुख ही है। इसीसे बाह्यके स्थानपर वह अन्तरके आराध्यको प्रतिष्ठित करता है। दोनोंका उद्देश्य है 'अहं' की परिसमाप्ति। एक उसके विस्तारमें त्वंका हवन करके परिच्छिन्नतासे परित्राण पाना चाहता है और दूसरा त्वंमें अहंकी आहुति देना चाहता है।

अधिभूत तो क्षर है—विनाशी है। उस विनाशीमें अहंभाव करके ही अधिदेव बना जीव जन्म-मरणके आवर्त-प्रत्यावर्तमें कष्ट पा रहा है। यों इस विनाशी अधिभूतका भी संचालन वह नहीं करता। उसका संचालन तो उसमें स्थित अधियज्ञ कर रहा है और इस अधिभूतका स्वभाव है अध्यात्म। जीवके लिये दो मार्ग हैं—एक तो वह उस अध्यात्मको उपलब्ध करे भावके द्वारा। वह अध्यात्म ही इस अधिभूतके रूपमें स्थित है और वही इसका अधियज्ञरूपसे संचालन कर रहा है, इस सत्यको साक्षात् करके अपने 'अहं' से उपरत हो जाय। कर्तृत्वके अहङ्कारका त्याग करके किसी एक भावका दृढ़ आलम्बन लेकर अध्यात्मका सान्निध्य लाभ करे। दूसरा मार्ग है कि वह विचारके द्वारा शुद्ध हृदयमें अव्यवसायिन बुद्धिसे अधिदेव एवं अधियज्ञके अन्तरको लीन कर दे और उसका सायुज्य—तादात्म्य प्राप्त करे।

> उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
> यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥
> यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
> अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥
> (गीता १५। १७-१८)

जो परम ब्रह्म अक्षर है, वही देहोंमें अधियज्ञरूपसे स्थित है। सम्पूर्ण लोकोंमें व्याप्त वह अविनाशी ईश्वर उनका धारण करता है। वह उत्तम पुरुष और अधियज्ञ पृथक् नहीं हैं। दोनों श्रीश्यामसुन्दर स्वयं ही हैं। इस अधियज्ञ उत्तम पुरुषमें जो सर्वव्यापक परम ब्रह्म है तथा अधिदेव जीवमें वस्तुतः कोई अन्तर नहीं। अन्तर है केवल जीवके उपभोक्ता होनेके कारण—

'एकस्तयोः खादति पिप्पलान्नम्।'

एक ही शाखापर रहनेवाले वे दोनों पक्षी केवल इसलिये पृथक् हैं कि उनमेंसे एक फलको भक्षण करता है। अन्यथा दोनों 'सयुजा' हैं नित्य युक्त, एक स्वरूप हैं। 'अधिभूत'में कर्तृत्व अहङ्कार करके जीव उनके फलका भागी हो गया है। इसीलिये द्विविध चेतनकी उपलब्धि हो रही है। दृश्यकी अस्वीकृति करके जब वह पूर्णतः अन्तर्मुख हो जाता है, भोक्तृत्वकी निवृत्ति हो जाती है। आधिदैवत भाव उसका समाप्त हो जाता है, क्योंकि अधिभूतकी स्वीकृतिके बिना अधिदैव कैसे रहेगा। फल होता है कि वह अधियज्ञमें निर्वाण प्राप्त करता है।

समाजके व्यवहार-क्षेत्रमें सम्पूर्ण दृश्यको चेतनात्मक मानकर सबका समुचित आदर एवं यथायोग्य अर्चन करते हुए, विश्वमें सफलता और इसके द्वारा नित्य कारण परम चेतनका आराधन करके उस चिन्मय तत्त्वकी उपलब्धि, यही हिंदू-संस्कृतिका स्वरूप है। इसी आधार-भूमिपर हमारी संस्कृतिका भव्य सौध अवस्थित है और शास्त्र ही उसके संरक्षक, निर्देशक एवं व्यक्त करनेवाले हैं। श्रद्धा, विश्वास वह प्रथम वस्तु है जो एक मानवमें आवश्यक है। हिंदू-संस्कृतिमें अविश्वास एवं कुतर्कके लिये स्थान नहीं। हमारी मान्यता है और हम प्राणपणसे उसे सत्य मानते हैं कि बिना श्रद्धा एवं विश्वासकी पूर्णताके मानव कभी मानव कहलाने योग्य हो नहीं सकता और वह श्रद्धा-विश्वास शास्त्रके प्रति सम्पूर्ण होना चाहिये।

हिंसामय आसुरी आहारकी योजना

भारत-सरकारके वर्तमान कर्णधार पू० महात्मा गाँधीजी जैसे अहिंसाके परमोपासकके नामकी दुहाई देते हुए कभी नहीं थकते। किंतु हमें यह देखकर दु:ख होता है कि कई बार वे ऐसी-ऐसी योजनाएँ प्रस्तुत करते हैं जो महात्मा गाँधीजीके अहिंसा-सिद्धान्तके सर्वथा विरुद्ध होती हैं। उदाहरणार्थ—गत मास खाद्य-विषयक विषम समस्याके समाधानके लिये भारत-सरकारकी ओरसे एक योजनाकी घोषणा की गयी है। जिसमें कहा गया है कि भारतमें अब प्रतिवर्ष साढ़े तीन लाख टन मछली पकड़ी जाती है। इस संख्याको पाँच वर्षोंमें २० गुना बढ़ाकर ७० लाख टन कर दिया जाये। इसमें प्रारम्भिक व्यय २ करोड़ रुपये होगा और आगे जैसे-जैसे काम बढ़ेगा कई करोड़ रुपये लगेंगे। इस कार्यके लिये बम्बईमें एक केन्द्रिय अनुसन्धानशाला स्थापित की जायगी। कलकत्ता, मद्रास और कालीकटमें प्रादेशिक संस्थाएँ बनेंगी। भारतके समग्र समुद्री किनारेपर (जो ३२०० मील लंबा है) मछली पकड़नेके स्टेशनोंकी श्रृङ्खला भी फैला दी जायगी।…………इस योजनाके पूरा होनेसे देशके प्रत्येक नगर और ग्राममें मछलियाँ सुलभ हो जायँगी और घर-घरमें मछली-ही-मछली दिखायी देगी। भारतके एक माननीय शासक प्रमुखने इस विषयमें भाषण देते हुए कहा है कि 'देशमें अन्नकी समस्या विकट है। लोगोंको उचित है कि अंडोंकी वृद्धिके लिये खूब मुर्गियाँ पालें और घरोंमें हौज बनाकर मछलियोंकी वृद्धि करें।'

इसमें सन्देह नहीं कि देशकी भोजन-समस्या इस समय अत्यन्त विकट है और उसके समाधानके लिये उचित योजनाओंको शीघ्र कार्यमें परिणत करना चाहिये। किंतु इसका यह अर्थ कदापि न होना चाहिये कि भारत-सरकार महात्मा गाँधीजीद्वारा अभिमत अहिंसाकी दुहाई देते हुए और इसे आर्य इस पवित्र देशकी संसारको विशेष देन बताते हुए मछली, अंडे आदि अभक्ष्य पदार्थोंके सेवनमें जनताको प्रवृत्त तथा प्रोत्साहित करे। 'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धि:,' 'अन्नमयं हि सोम्य मन:', 'जैसा अन्न वैसा मन' इत्यादि वचनोंके अनुसार मछली आदि पदार्थोंसे भारतीयोंका मन भी दूषित हुए बिना न रहेगा। इसलिये भारत-सरकारकी इस योजनाको हम सर्वथा अनुचित समझते हैं। जिसका प्रबल विरोध धार्मिक संस्थाओंकी ओरसे होना चाहिये। जिस मछलीके भक्षणके विषयमें मनु आदि धर्मशास्त्रकारोंने लिखा है कि—

मत्स्याद: सर्वमांसादस्तस्मान्मत्स्यान् विवर्जयेत्।

(मनुस्मृति ५।१५)

अर्थात् मछलीका खानेवाला सब मांसोंके खानेवाले के समान पापभागी है अत: मछलीका सेवन न करना चाहिये। उसके सेवनका भारत-सरकारकी ओरसे प्रोत्साहित किया जाना कभी उचित नहीं कहा जा सकता। हाँ, अन्य समुचित समस्त उपायोंसे भारत-सरकार खाद्य-समस्याके समाधानकी जो योजनाएँ बनाये, उनमें जनताको पूर्ण सहयोग देना चाहिये।

(सार्वदेशिक)

कल्याणके नियम

उद्देश्य—भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, धर्म और सदाचार-समन्वित लेखोंद्वारा जनताको कल्याणके पथपर पहुँचानेका प्रयत्न करना इसका उद्देश्य है ।

नियम

(१) भगवद्भक्ति, भक्तचरित, ज्ञान, वैराग्यादि ईश्वर-परक कल्याणमार्गमें सहायक, अध्यात्मविषयक, व्यक्तिगत आक्षेपरहित लेखोंके अतिरिक्त अन्य विषयोंके लेख भेजनेका कोई सज्जन कष्ट न करें । लेखोंको घटाने-बढ़ाने और छापने अथवा न छापनेका अधिकार सम्पादकको है । अमुद्रित लेख बिना माँगे लौटाये नहीं जाते । **लेखोंमें प्रकाशित मतके लिये सम्पादक उत्तरदाता नहीं हैं ।**

(२) इसका डाकव्यय और विशेषाङ्कसहित अग्रिम वार्षिक मूल्य भारतवर्षमें ७॥) और भारतवर्षसे बाहरके लिये १०) (१५ शिलिंग) नियत है । **बिना अग्रिम मूल्य प्राप्त हुए पत्र प्रायः नहीं भेजा जाता ।**

(३) 'कल्याण'का नया वर्ष जनवरीसे आरम्भ होकर दिसम्बरमें समाप्त होता है, अतः ग्राहक जनवरीसे ही बनाये जाते हैं । वर्षके किसी भी महीनेमें ग्राहक बनाये जा सकते हैं, किन्तु जनवरीके अङ्कके बाद निकले हुए तब-तकके सब अङ्क उन्हें लेने होंगे । 'कल्याण'के बीचके किसी अङ्कसे ग्राहक नहीं बनाये जाते; छः या तीन महीनेके लिये भी ग्राहक नहीं बनाये जाते ।

(४) इसमें व्यवसायियोंके विज्ञापन किसी भी दरमें प्रकाशित नहीं किये जाते ।

(५) कार्यालयसे 'कल्याण' दो-तीन बार जाँच करके प्रत्येक ग्राहकके नामसे भेजा जाता है । यदि किसी मासका अङ्क समयपर न पहुँचे तो अपने डाकघरसे लिखा-पढ़ी करनी चाहिये । वहाँसे जो उत्तर मिले, वह हमें भेज देना चाहिये । डाकघरका जवाब शिकायती पत्रके साथ न आनेसे दूसरी प्रति बिना मूल्य मिलनेमें अड़चन हो सकती है ।

(६) पता बदलनेकी सूचना कम-से-कम १५ दिन पहले कार्यालयमें पहुँच जानी चाहिये । **लिखते समय ग्राहक-संख्या, पुराना और नया नाम, पता साफ-साफ लिखना चाहिये ।** महीने-दो-महीनोंके लिये पता बदलवाना हो तो अपने पोस्टमास्टरको ही लिखकर प्रबन्ध कर लेना चाहिये । पता-बदलनेकी सूचना न मिलनेपर अङ्क पुराने पतेसे चले जानेकी अवस्थामें दूसरी प्रति बिना मूल्य न भेजी जा सकेगी ।

(७) जनवरीसे बननेवाले ग्राहकोंको रंग-बिरंगे चित्रोंवाला जनवरीका अङ्क (चालू वर्षका विशेषाङ्क) दिया जायगा । विशेषाङ्क जनवरीका ही तथा वर्षका पहला अङ्क होगा । फरवरीसे दिसम्बरतक महीने-महीने नये अङ्क मिला करेंगे ।

(८) सात आना एक साधारण संख्याका मूल्य मिलनेपर नमूना भेजा जाता है; ग्राहक बननेपर वह अङ्क न लें तो सात आना बाद दिया जा सकता है ।

आवश्यक सूचनाएँ

(९) 'कल्याण'में किसी प्रकारका कमीशन या 'कल्याण'की किसीको एजेन्सी देनेका नियम नहीं है ।

(१०) पुरानी फाइलें तथा विशेषाङ्क कम या रियायती मूल्यमें नहीं दिये जाते ।

(११) ग्राहकोंको अपना नाम-पता स्पष्ट लिखनेके साथ-साथ **ग्राहक-संख्या** अवश्य लिखनी चाहिये । पत्रमें आवश्यकताका उल्लेख सर्वप्रथम करना चाहिये ।

(१२) पत्रके उत्तरके लिये जवाबी कार्ड या टिकट भेजना आवश्यक है । एक बातके लिये दुबारा पत्र देना हो तो उसमें पिछले पत्रकी तिथि तथा विषय भी देना चाहिये ।

(१३) ग्राहकोंको चंदा मनीआर्डरद्वारा भेजना चाहिये । वी० पी० से अङ्क बहुत देरसे जा पाते हैं ।

(१४) प्रेस-विभाग और कल्याण-विभागको अलग-अलग समझकर अलग-अलग पत्र-व्यवहार करना और रुपया आदि भेजना चाहिये । 'कल्याण'के साथ पुस्तकें और चित्र नहीं भेजे जा सकते । प्रेससे १) से कमकी वी० पी० प्रायः नहीं भेजी जाती ।

(१५) चालू वर्षके विशेषाङ्कके बदले पिछले वर्षोंके विशेषाङ्क नहीं दिये जाते ।

(१६) मनीआर्डरके कूपनपर रुपयोंकी तादाद, रुपये भेजनेका मतलब, ग्राहक-नम्बर (नये ग्राहक हों तो 'नया' लिखें), पूरा पता आदि सब बातें साफ-साफ लिखनी चाहिये ।

(१७) प्रबन्ध-सम्बन्धी पत्र, ग्राहक होनेकी सूचना मनीआर्डर आदि व्यवस्थापक "कल्याण" गोरखपुरके नामसे और सम्पादकसे सम्बन्ध रखनेवाले पत्रादि सम्पादक "कल्याण" गोरखपुरके नामसे भेजने चाहिये ।

(१८) स्वयं आकर ले जाने या एक साथ एकसे अधिक अङ्क रजिस्ट्रीसे या रेलसे मँगानेवालोंसे चंदा कम नहीं लिया जाता ।

नोट—सादी चिट्ठी या रजिस्ट्रीमें रुपये कभी नहीं भेजने चाहियें । ऐसा करना कानून-विरुद्ध है ।

लेखक महानुभावोंसे विनीत प्रार्थना

'कल्याण' के 'हिंदू-संस्कृति-अङ्क'के लिये इतनी अधिक सामग्री एकत्र हो गयी है कि उसका पूरा उपयोग करना सर्वथा असम्भव है। अब भी प्रतिदिन लेख आ ही रहे हैं। पर इनमेंसे, प्रयत्न करनेपर भी, अधिकांश लेख नहीं छप सकेंगे। लेख न छपनेपर, परिश्रम व्यर्थ होनेके कारण लेखकोंको असन्तोष होना स्वाभाविक है। इसके अतिरिक्त, 'हिंदू-संस्कृति-अङ्क' में चित्रोंसमेत लगभग १३५ फार्म होंगे और प्रायः सवा लाख प्रतियाँ छपेंगी। छपाईमें काफी समय लगेगा। अतः अभीसे सामग्री प्रेसमें दे दी गयी है। इसलिये भी नये लेख लेने बंद कर दिये गये हैं। अतएव लेखक महानुभावोंसे विनीत प्रार्थना है कि जिनसे लेख माँगे गये हैं, उनके अतिरिक्त कोई महानुभाव, बिना माँगे, लेख-कविता कृपया न भेजें। सम्पादक—कल्याण पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

कल्याणके पुराने प्राप्य विशेषाङ्क और साधारण अङ्क

वर्ष ११वाँ–साधारण अङ्क ११, १२ दो अङ्क एक साथ, मूल्य ॥)

वर्ष १५वाँ–साधारण अङ्क ३, ४ दो अङ्क एक साथ, मूल्य ॥)

वर्ष १८वाँ–साधारण अङ्क ६ठा, मूल्य ।) प्रति।

वर्ष १९वाँ–संक्षिप्त पद्मपुराणाङ्क—पूरी फाइल, पृष्ठ-संख्या ९७८, रंगीन चित्र २१, लाइन-चित्र २४१, मूल्य ४≡)

वर्ष २०वाँ–साधारण अङ्क ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, ११, १२ नौ अङ्क एक साथ, मूल्य २)

पुराने वर्षोंके साधारण अङ्क आधे मूल्यमें—

२१ वें वर्षके साधारण अङ्क २, ३, ४, ५, ९, १०, ११, १२ कुल आठ अङ्क एक साथ, मूल्य १।), रजिस्ट्रीखर्च ।) कुल १॥)

२२ वें वर्षके साधारण अङ्क ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, १०, ११, १२ कुल दस अङ्क एक साथ, मूल्य १॥-), रजिस्ट्रीखर्च ।) कुल १॥।-)

उपर्युक्त दोनों वर्षोंके कुल १८ अङ्क एक साथ रजिस्ट्रीखर्चसहित मूल्य ३-)

व्यवस्थापक—कल्याण, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

रजिस्ट्रीमें या सादे लिफाफोंमें रुपये मत भेजिये

कभी-कभी ग्राहक महोदय रजिस्ट्रीमें या सादे लिफाफेमें 'कल्याण' या पुस्तकोंके लिये रुपये भेज देते हैं और वे रुपये प्रायः रास्तेमें निकल जाते हैं। बारंबार प्रार्थना करनेपर भी इस वर्ष कुछ ग्राहकोंने अपने रुपये रजिस्ट्रीमें या सादे लिफाफेमें भेजे थे और उनमेंसे प्रायः रास्तेमें ही गुम हो गये। इसलिये कोई भी ग्राहक 'कल्याण' और पुस्तकोंके मूल्यके रुपये सादी या रजिस्ट्री चिट्ठीमें न भेजें। रुपये मनीआर्डरसे या बीमासे ही भेजनेकी कृपा करें। इसपर भी यदि कोई सज्जन अपने रुपये रजिस्ट्रीमें या सादे लिफाफेमें भेजेंगे तो उन रुपयोंके गायब हो जानेपर हम जिम्मेदार नहीं होंगे।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

कल्याण
वर्ष २३]
[अंक १०

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम । जय रघुनन्दन जय सियाराम ॥
रघुपति राघव राजा राम । पतितपावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा । जय गणेश जय शुभ-आगारा ॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर कार्तिक, अक्टूबर सन् १९५२ की

चित्र-सूची

तिरंगा

वार्षिक मूल्य
भारतमें ६≡)
विदेशमें ८॥≈)
(१३ शिलिङ्ग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत् चित् आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति
भारतमें ।≡)
विदेशमें ।≠)
(१० पैंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

हिंदू-संस्कृति-अङ्क

प्रेमी ग्राहकों और पाठकोंसे प्रार्थना

'हिंदू-संस्कृति-अङ्क'की बहुत पुरानी माँग है। कई वर्षोंसे विचार भी चल रहा था; परंतु विषयकी अत्यन्त व्यापकताको देखकर साहस नहीं होता था। वस्तुतः यह विषय एक 'विशेषाङ्क'का है भी नहीं। पर अन्तमें ग्राहकोंके विशेष अनुरोधसे अगले वर्षके लिये 'हिंदू-संस्कृति-अङ्क' निकालना निश्चय हो गया। विषय-सूची बनायी गयी तो लगभग एक हजार विषय आ गये। संक्षेप करते-करते २७० विषय रहे। ये विषय भी इतने व्यापक हैं कि इनमेंसे कई विषयोंपर पृथक्-पृथक् विशेषाङ्क निकल सकते हैं। इस विशेषाङ्कमें इन विषयोंमेंसे अधिकांशपर न्यूनाधिकरूपसे विचार किया जायगा।

इस अङ्कमें विविध वैदिक सूक्तोंके सुन्दर, सरल पद्यानुवाद-गद्यानुवाद रहेंगे। महाभारत, भागवत, रामायण आदिकी चुनी हुई सूक्तियाँ सानुवाद रहेंगी। हिंदू-संस्कृति, संस्कृतिका स्वरूप तथा आचार, संस्कृति और धर्म, संस्कार, ज्ञान, भक्ति, योग, कर्म, अवतार, पुनर्जन्म, परलोकवाद, भूगोल, इतिहास, राजनीति, वर्णाश्रमधर्म, ज्योतिष, आयुर्वेद, शस्त्रास्त्र-विज्ञान, विविध विज्ञान, अङ्कगणित, मूर्तिकला, स्थापत्यकला, चित्रकला, गन्धर्व-विद्या, मनोविज्ञान, काव्य, व्याकरण, शिक्षा, शासनव्यवस्था, रामराज्य, चौंसठ कला आदि-आदि अनेकों उपयोगी विषयोंपर सुन्दर, सुविचारयुक्त, खोजपूर्ण लेख रहेंगे। सुन्दर सुबोध सद्भावपूर्ण कविताएँ और कहानियाँ भी रहेंगी। इस अङ्कके लिये बहुत ही मननके साथ लेख लिखे-लिखवाये गये हैं। बड़े-बड़े मनीषियोंने सहायता दी है।

लेखोंके अतिरिक्त भगवदवतारोंके, प्राचीन तथा अर्वाचीन महापुरुषों, महात्माओं, संतों, वीरों, देवियों और विद्वानोंके सुन्दर सुपाठ्य चरित्र और सुन्दर रंगीन तथा सादे चित्र भी रहेंगे। इसके सिवा प्राचीन कलाओंके, प्रायः सभी प्रसिद्ध हिंदू-तीर्थोंके, शास्त्रीय देव-मूर्तियोंके विदेशोंमें प्राप्त हिंदूकला तथा मूर्तियोंके चित्र रहेंगे। भूगोलके मानचित्र भी होंगे। कहना अत्युक्ति नहीं होगा कि हिंदू-संस्कृतिके सम्बन्धमें विविध विषयोंकी इतनी बहुमूल्य सामग्री एक स्थानपर हिंदीसाहित्यमें इतने सस्ते मूल्यपर इसी अङ्कमें मिल सकेंगी। अङ्क सब प्रकारसे उपादेय, सुन्दर, विचारपूर्ण, संग्रहणीय तथा प्रचार-प्रसारके योग्य होगा एवं गम्भीर तथा सरल दोनों प्रकारकी सामग्री होनेके कारण सभी श्रेणीके लोगोंके कामका होगा।

'हिंदू-संस्कृति-अङ्क'की पृष्ठ-संख्या चित्रोंसमेत लगभग ११०० होगी। इस सालके उपनिषद्-अङ्क-की पृष्ठ-संख्या लगभग ८०० थी। इस हिसाबसे विशेषाङ्कमें ३०० पृष्ठ बढ़ जाते हैं। इतनी तो सामग्री अधिक है। इसके अतिरिक्त बहुतसे चित्र भी सुन्दरता तथा टिकाऊपनके खयालसे उत्तम आर्ट पेपरपर छापे जायँगे। आर्ट पेपरका मूल्य बहुत अधिक है। फिर, छपाईके कागजोंके दाम भी पिछले दो सालसे अब बहुत बढ़ गये हैं। प्रेस-कर्मचारियोंका वेतन तथा अन्यान्य खर्च भी बहुत बढ़ा है। इतना सब होनेपर भी डाकखर्चसमेत 'कल्याण'का वार्षिक मूल्य ७॥) ही रक्खा गया है। इसमें ।) तो रजिस्ट्रीके चले जायँगे और वजन बढ़ जानेसे स्टाम्प अधिक लगेंगे सो अलग। ७॥) में ही हिंदू-संस्कृति-अङ्क तथा ग्यारह महीनोंके ग्यारह साधारण अङ्क सदाकी भाँति मिलेंगे। इस दृष्टिसे यह अङ्क बहुत सस्ता रहेगा।

गत वर्ष 'नारी-अङ्क' और इस वर्ष 'उपनिषद्-अङ्क'के लिये बीसों हजार ग्राहकोंको निराश रहना पड़ा। इस वर्ष हजारों पुराने ग्राहकोंको वी० पी० नहीं भेजी जा सकी। जिनके रुपये पहले आ गये थे, उनको भेजनेमें ही अङ्क समाप्त हो गये। इस बार तो 'हिंदू-संस्कृति-अङ्क'की माँग बहुत पहलेसे आने लगी है। इसलिये सम्भव है कि अङ्क निकलनेके बाद वह बहुत जल्दी ही समाप्त हो जाय। जो सज्जन मनीआर्डरसे रुपये भेजकर पहले ग्राहक बन जायँगे, उनको विशेषाङ्क अवश्य मिल जायगा।

अतएव 'हिंदू-संस्कृति-अङ्क' चाहनेवाले पुराने तथा नये ग्राहकोंको वार्षिक मूल्य ७॥) मनीआर्डरसे तुरंत भेजनेकी कृपा करनी चाहिये।

'हिंदू-संस्कृति-अङ्क'की बहुत-सी सामग्री प्रेसमें भेज दी गयी है; परंतु ११०० पृष्ठकी सवा लाख प्रतियाँ छापनेमें बहुत समय लगेगा। अतएव विशेषाङ्क जनवरीके अन्ततक प्रकाशित हो सकेगा। मनी-आर्डर फार्म गताङ्कके साथ सेवामें भेजा जा चुका है। मनीआर्डर-कूपनमें अपना नाम, पता तथा ग्राहक-नम्बर साफ-साफ अक्षरोंमें लिखना चाहिये। नये ग्राहक हों तो 'नया ग्राहक' अवश्य लिखना चाहिये।

वितरणार्थ 'हिंदू-संस्कृति-अङ्क' खरीदनेवालोंसे निवेदन

हमारे पास ऐसे पत्र आये हैं जिनमें वितरणके लिये 'हिंदू-संस्कृति-अङ्क'की माँग है। अतः हमारी प्रार्थना है कि जिन महानुभावोंको वितरणके लिये जितने अङ्क चाहिये, वे तुरंत रुपये भेजकर अभीसे अङ्कोंकी संख्या नोट करवा देनेकी कृपा करें। संख्याका ठीक पता होनेपर उतने अङ्क अधिक छापनेका प्रयत्न किया जायगा। ऐसा न होगा तो पीछे वितरणके लिये अङ्क मिलने कठिन हो जायँगे। प्रचारकी दृष्टिसे केवल 'हिंदू-संस्कृति-अङ्क' खरीदनेवाले ऐसे सज्जनोंकी सुविधाके लिये इस एक अङ्कका मूल्य ६।।) रक्खा गया है।

छप गयी ! **गीता-डायरी सन् १९५०** प्रकाशित हो गयी !!

यहाँ आर्डर देनेसे पहले अपने शहरके पुस्तक-विक्रेतासे माँगिये। इसमें आपको पैसे तथा समय दोनोंकी बचत हो सकती है।

साइज २०×३० बत्तीसपेजी, साधारण जिल्द दाम ॥=) डाकखर्च ।≡); भारत-सरकारकी कागज-नियन्त्रण आज्ञाके डायरी-मुद्रणसम्बन्धी नियममें अभीतक कोई परिवर्तन न होनेके कारण इस साल भी तिथियोंके पृष्ठोंके अतिरिक्त अन्य उपयोगी बातें अधिक न दी जा सकीं। केवल नित्य प्रार्थना, अमूल्य शिक्षाएँ, संतवाणी, आत्मोन्नतिके मुख्य साधन, भक्त, गीताका मनन शीर्षक उपदेश और 'वन्दे नंदनंदनं देवं' का एक चित्र दिया गया है।

दो प्रतियोंके लिये मूल्य १।), पैकिंग और डाकखर्च ॥-) कुल १॥।-); तीनके लिये मूल्य १॥=), पैकिंग-डाकखर्च ॥=), कुल २॥); छः के लिये मूल्य ३॥।), पैकिंग-डाकखर्च ॥।≡), कुल ४॥≡); आठके लिये मूल्य ५), पैकिंग-डाकखर्च १-) कुल ६-) और बारह प्रतियोंके लिये मूल्य ७॥), पैकिंग तथा डाकखर्च १।≡) सहित कुल ८॥।≡) मनीआर्डरसे भेजना चाहिये।

पता—**गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

वेणुवादनशीलाय गोपालायाहिमर्दिने । कालिन्दीकूललीलाय लोलकुण्डलधारिणे ॥
वल्लवीनयनाम्भोजमालिने नृत्यशालिने । नमः प्रणतपालाय श्रीकृष्णाय नमो नमः ॥

वर्ष २३ | गोरखपुर, सौर कार्तिक २००६, अक्टूबर १९४९ | संख्या १० पूर्ण संख्या २७५

सेवक-सुखदाता

बन्दौं प्रभु सेवक सुखदाता ।
सिंहासनासीन रघुनन्दन वाम जानकी माता ॥
भरत लखन रिपुदमन पवनसुत सेवित करुनारूप ।
असरन-सरन दीन प्रतिपालक पावन त्रिभुवन भूप ॥
राजा राम अवध रजधानी चिन्मय सदा उदार ।
नाम-कामतरु भवभय भंजन स्तुति-सुभसाधन सार ॥
आरति-हरन अनाथ नाथ प्रभु अब अपनो करि लीजै ।
कलिकौ कलुष निवेरि कृपामय कोर कृपाको कीजै ॥

कल्याण

याद रक्खो—ऐसा कोई मनुष्य नहीं है, जिसमें कोई सद्गुण न हो, तथा ऐसा भी कोई नहीं जो दोषोंसे सर्वथा रहित हो । सभी गुण-दोषमय हैं । किसीमें दोष अधिक प्रकट हैं तो किसीमें गुण । ये दोष-गुण प्रकट होते हैं अनेक बाहरी कारणोंसे । हम किसीके सामने शुभ तथा सत् विषयोंको रखकर उनके सजातीय गुणोंको—जो छिपे हुए हैं, प्रकट कर सकते हैं और अशुभ तथा असत् विषयोंको रखकर उनके सजातीय दोषोंको प्रकट कर सकते हैं । गुण प्रकट होनेपर उन्हींके अनुसार क्रिया होती है, जिससे उसका तथा उसके सम्पर्कमें आनेवाले सभीका न्यूनाधिक हित होता है और सुख मिलता है । दोष प्रकट होनेपर भी उन्हींके अनुसार क्रिया होकर उसका तथा जगत्के लोगोंका अहित होता है और उन्हें दुःख मिलता है । अतएव ऐसी कोई चेष्टा मत करो जिससे किसीके अंदर छिपी हुई बुराई प्रकट हो और वह बुरा बन जाय । अपने सदाचरणोंके द्वारा मनुष्यके अंदर सोये हुए सद्गुणोंको जगाओ, बुरा आचरण करके दोषों-दुर्गुणोंको मत जगाओ ।

याद रक्खो—निन्दा-चुगली करके, गाली देकर या चुभनेवाली बात सुनाकर अहित और अप्रिय आचरण करके एवं क्रोध, मान या लोभवश अन्याय्य आचरण करके किसीके अंदर सोयी हुई बुराईको जगाओगे और बढ़ा दोगे तो तुम जगत्का बड़ा अमंगल करोगे । फलतः तुम्हारा भी अमंगल निश्चित होगा । इसी प्रकार यदि तुम सच्ची प्रशंसा करके, मधुर प्रिय बात सुनाकर, हितपूर्ण प्रिय आचरण करके, प्रेम, सौहार्द और हित-बुद्धिसे न्यायपूर्ण और प्रेमपूर्ण आचरण करके किसीके अंदर सोयी हुई भलाईको जगा दोगे तो तुम जगत्का मङ्गल करोगे और फलतः तुम्हारा भी मङ्गल अवश्य होगा ।

याद रक्खो—जैसा बीज होता है, वैसा ही फल होता है । भलाईके बीज बोओगे तो भलाई पैदा होगी और वह अनन्तगुनी होकर दूर-दूरतक फैल जायगी । इसलिये यदि किसीमें बुराई प्रकट है और वह तुम्हारे साथ भी बुरा बर्ताव कर रहा है, तब भी उसके साथ भलाईका भला बर्ताव करो । भलाईकी इतनी प्रबल धार हो कि उसमें उसके बुराईके सब पौधे समूल बह जाँ । फिर उनके स्थानमें तुम अपनी भलाईके बीज बिखेर दो—प्रचुर मात्रामें, जो निश्चितरूपसे भलाई-ही-भलाई उत्पन्न कर दें ।

याद रक्खो—यदि लोग बुराईके बदले बुराई करना छोड़ दें तो बुराईकी परम्परा कुछ ही समयमें नष्ट हो जायगी और फिर सभीमें सब ओर भलाई-ही-भलाई भर जायगी । क्योंकि बुराईसे बुराई और भलाईसे भलाई उत्पन्न होती है । इसलिये बुराई करनेवालेके साथ जी भरकर भलाई करो, निन्दा करनेवालेमें भी गुणोंको खोजकर उनकी तारीफ करो, गाली देनेवालोंको आशीर्वाद दो, मारनेवालोंके लिये भगवान्से प्रार्थना करो और अपने मनको सदा ही सद्भावनासे भरा रक्खो—जिसमें वह किसीकी बुराईके बदलेमें बुराई करनेकी कल्पना भी न कर सके ।

याद रक्खो—जो लोग तुम्हारी निन्दा करते हैं, वे चाहे किसी कारणसे करते हों, तुम्हारा भला ही करते हैं और उनकी की हुई निन्दामेंसे अधिकांश सत्य होती है । और प्रशंसा करनेवालोंकी प्रशंसामें अधिकांश झूठी होती है । गहराईसे देखोगे तो इसका स्पष्ट पता चल जायगा । अतएव प्रशंसामें भूलकर भी भूलो मत, फूलो मत; और निन्दामें दुखी मत होओ । वरं निन्दापर विचार करो और उसमें जितनी सत्यता हो उसका तुरंत संशोधन करके निन्दकका उपकार मानो और बदलेमें उसकी निःस्वार्थ सेवा करनेका शुद्ध प्रयत्न करो ।

'शिव'

समयका सदुपयोग

जो सुख-दुःखके स्तरसे ऊपर उठ गये हैं, उनकी बात अलग है। अन्यथा हममेंसे ऐसा कोई नहीं जो दुःख चाहता हो। किंतु हमारे न चाहनेपर भी दुःख तो पिण्ड नहीं छोड़ता। दुःखके लिये हम कोई प्रयत्न नहीं करते, फिर भी दुःखके निमित्त उपस्थित होते ही हैं। और अज्ञानवश अपने आपको उनसे जोड़कर हम दुखी भी होते ही हैं। ठीक इसी प्रकार यह सनातन नियम है कि इन्द्रियोंसे भोगे जानेवाले विषयसम्बन्धी सुखके निमित्त भी हमारे बिना प्रयत्न किये, हम जहाँ कहीं भी रहें, हमारे सामने आ जायँगे। कर्मजगत्के नियमोंसे नियन्त्रित होकर ये भी बिना प्रयास हमें प्राप्त हो जायँगे--

सुखमैन्द्रियकं दैत्या देहयोगेन देहिनाम्।
सर्वत्र लभ्यते दैवाद् यथा दुःखमयत्नतः॥

(श्रीमद्भा० ७।६।३)

इनके लिये चेष्टा करनेकी आवश्यकता नहीं है। भले ही इस सनातन नियमके प्रति हमारी श्रद्धा न हो, हम इसे न मानें, पर मानने न माननेसे सत्यमें हेर-फेर नहीं होता। यह ठीक है कि दृढ़ सङ्कल्पशक्तिसे अनुप्राणित हुए अपने किसी नवीन प्रबल कर्मके द्वारा वैषयिक सुखोंके लिये निमित्तोंकी रचना भी हम कर सकते हैं, यह स्वतन्त्रता हमें प्राप्त है, तथा यह स्वतन्त्रता भी कर्मजगत्के उस सनातन नियमके अन्तर्गत ही है, हमारा नवीन कर्म तुरंत नवीन प्रारब्धके रूपमें परिणत होकर निर्दिष्ट प्रारब्धके बीचमें ही अपना फल दान कर सकता है; किंतु जो फल मिलेगा, वह होगा आखिर नश्वर ही—जीवनके साथ ही समाप्त हो जानेवाला। दूसरे शब्दोंमें इस बातको कहें तो ऐसे कहना चाहिये कि जो वस्तु अपने आप मिलनेवाली (निर्दिष्ट प्रारब्धसे प्राप्त होनेवाले विषय-सुख) है, उसके लिये तथा जो नवीन चेष्टासे प्राप्त होनेवाली नाशवान् वस्तु (प्रबल क्रियमाणसे सृष्ट हुए तत्काल फलोन्मुख प्रारब्धके सुख) है, उसके लिये—दोनोंके लिये ही चेष्टा करना मानव-जीवनके अमूल्य समयका दुरुपयोग ही है, इन अनमोल क्षणोंको व्यर्थ खो देना है, या कौड़ीके मोल बेच देना है। चेष्टा तो हमें उस वस्तुके लिये करनी चाहिये जो बिना हमारी चेष्टाके अपने-आप हमें मिलनेकी है ही नहीं, तथा जो एक बार प्राप्त हो जानेके अनन्तर हमसे कभी पृथक् नहीं होती, मिलते ही हमें सदाके लिये परमानन्दमें निमग्न कर देती है, जिसे प्राप्त कर हम उस सुखका अनुभव करते हैं, जो नित्य एकरस रहता है, जिसमें दुःखका मिश्रण सर्वथा नहीं है। ऐसी वस्तु एकमात्र प्रभुके अतिरिक्त दूसरी है ही नहीं। एकमात्र प्रभु ही ऐसे हैं जो कर्मोंके फलकी भाँति हमें इस जीवनमें अपने-आप प्राप्त नहीं होंगे। उनके लिये तो हमें विशेष पद्धतिसे कुछ यत्न करना होगा। तभी वे मिलेंगे। और एक बार मिलनेके अनन्तर फिर अलग नहीं होंगे। मिलते ही उनका समग्र आनन्द हमारे अंदर व्यक्त हो जायगा, हम शाश्वत सुख-शान्तिका अनुभव कर कृतार्थ हो जायँगे तथा इस दिशामें प्रयास ही समयका सच्चा सदुपयोग है।

हममेंसे बहुतसे व्यक्ति ऐसे हैं जो जीवनकी अतीत घटनाओंको स्मरणकर दिन-रात चिन्तित रहते हैं, भली-बुरी बातें जो घट चुकी हैं, उनसे सुखी-दुखी होते रहते हैं। यह भी समयका दुरुपयोग ही है। घटनाएँ तो हमारे पूर्वकर्मके अनुसार घटी हैं। उनके लिये जब हमने कारणका निर्माण कर दिया था तो कार्य तो होकर ही रहता। यहाँ एक महलोंमें रहता है, दूसरेके लिये झोंपड़ीकी भी व्यवस्था नहीं; एकके यहाँ नष्ट करनेके लिये सम्पत्तिकी राशि एकत्र है, दूसरेके यहाँ पेट भरनेको दाने नहीं; एकका शरीर सदा नीरोग रहता है,

सुन्दरता अङ्गोंसे झरती रहती है, दूसरा अन्धा होकर जन्मा, एक पैर भी लँगड़ा था, जीवनभर बीमार भी रहता है; एकके जीवनमें पवित्रता, सद्गुण स्वभावसे ही भरे होते हैं, दूसरेमें क्रूरता एवं पशुभावका ही बोल-बाला होता है; एकके जीवनपथमें फूल बिछे होते हैं, वह क्रमशः उन्नत ही होता जाता है, सफलता पद-पद-पर उसका स्वागत करती है, दूसरेके पथमें काँटे फैले होते हैं, आगेकी गति सदा अवरुद्ध-सी रहती है, सदा निराशा, असफलता, जलन ही हाथ लगती है; एक तो अस्सी-नब्बे वर्षकी आयुका उपभोग करता है, दूसरा उत्पन्न होता है, और केवल क्षणभरके लिये संसारका प्रकाश देखकर पुनः मृत्युकी गोदमें समा जाता है। ये सारी बातें अपने-अपने विभिन्न कर्मोंके फलसे घटित होती हैं। इस कर्म-जगत्के सनातन नियमोंमें किसीके प्रति अन्याय नहीं होता, पक्षपात नहीं होता। जिसने जैसे बीज बोये हैं, जैसे कर्म सञ्चित किये हैं, वैसे ही फल, उसीके अनुरूप उसके लिये घटनाएँ बनेंगी। सञ्चितके अपार ढेरसे ही तो हमारे इस जीवनका प्रारब्ध बनता है। अपने बोये बीजके, अपने ही कर्मोंके फल ही तो हमें अबतक मिले हैं, उनका मिलना अवश्यम्भावी ही था। फिर वे तो भुगत ही लिये गये, समाप्त हो चुके, उनका खाता पूरा हो चुका। अब उनकी चिन्ता करके हम क्या लाभ पायँगे। उनका विचार करके हम अपना अनमोल समय क्यों खोयें ?

इसी प्रकार भविष्यमें क्या होगा, इसपर विचार करते रहना भी समय खोना है। सच पूछें तो भविष्य तो हमारे अपने हाथोंमें है। उसका निर्माण तो हम कर सकते हैं। यदि हम वर्तमानका सदुपयोग कर लें तो भविष्यका सुन्दर होना निश्चित है। प्रारब्धके वेगसे इस जीवनके अन्तिम क्षणतक अनुकूल-प्रतिकूल निमित्त आकर भले प्राप्त हो जायँ। यदि हम वर्तमानके समयको ठीक-ठीक काममें ले लें तो फिर ये आकर भी हमें एवं हमारे मनको छू नहीं सकेंगे, कदाचित् हमारे मनको छू भी लें, तो उसे उद्विग्न नहीं कर सकेंगे, मनमें प्रतिक्षणकी बढ़ती हुई शान्तिके साम्राज्यको ये नष्ट नहीं कर सकेंगे और इसके बाद—इस जीवनके अनन्तर जो नवजीवन आरम्भ होगा, वहाँ उस भविष्यमें—तो हमारे लिये चिन्ताका कोई कारण ही नहीं रह जायगा। यह नियम है, गोदाममें भरे हुए मालोंमेंसे वह माल पहले निकलता है, जो अन्तमें भरा जाता है। गोदाममें पहले चाहे प्याज-ही-प्याजकी बोरियाँ भरी हों, पर फिर अन्तमें यदि उसमें लगातार सब ओरसे केवल केसरकी बोरियाँ ही भरी जाने लगें तो निकालते समय केसरकी बोरियाँ ही पहले निकलेंगी, केसरके सुवाससे वातावरण सौरभ-मय हो उठेगा। इसी प्रकार अबसे—इस क्षणसे पहले हमारे कर्मकी गोदाममें चाहे अत्यन्त बुरे कर्मोंके ही संस्कार क्यों न भरे हों, पर हम अब वर्तमानके प्रत्येक क्षणोंको, अबसे आरम्भकर जीवनके अन्ततक, प्रभुकी खोजमें ही, खोजकी साधनामें ही व्यतीत करेंगे तो प्रभुसे ओतप्रोत संस्कार ही सञ्चित होते रहेंगे। नवजीवनका प्रारब्ध इन्हीं संस्कारोंको लेकर निर्मित होगा। और वहाँ इस संस्कारके सुवाससे हम तो निरंतर प्रफुल्लित, चिन्तारहित रहेंगे ही, हमारे सम्पर्कमें आनेवाले-की भी दुर्गन्धि मिट जायगी। अतः वर्तमानका सदुपयोग करें। अतीत एवं भविष्यकी चिन्ता हम शीघ्र-से-शीघ्र छोड़ दें।

अपने पहलेकी भूलोंको निरन्तर स्मरण रखते हुए पश्चात्तापके विचारमें निमग्न रहना भी समयका सच्चा सदुपयोग नहीं है। हाँ, यदि यह पश्चात्ताप सक्रिय (Positive) हो तब तो यह हमें जीवनके चरम उद्देश्यकी ओर बढ़ानेमें परम सहायक बन जायगा। सक्रिय पश्चात्तापका रूप यह है—जितना बुरा हमने किया है, उससे कई गुने अधिक भला, अपनी शक्ति-सामर्थ्यके अंदर अधिक-से-अधिक जितना भला करना

सम्भव है, उतना भला हम करें। पत्थरके समान कठोर बनकर यदि हमने बहुतेरे हृदयोंमें घाव किये हैं तो अब मक्खनसे भी अधिक कोमल एवं स्निग्ध बनकर, हमें जहाँ-जहाँ घाव दीखें, उन्हें भरनेका सच्चा प्रयास करें। यदि अपनी क्रूर चेष्टाओंसे हमने लोगोंको जलाया है तो अब प्रेमका मधु पिलाकर सबको शीतल करनेका व्रत ले लें। यह हुआ सक्रिय पश्चात्ताप, अन्यथा उन गयी हुई बातोंको याद करते रहनेमात्रसे कोई विशेष लाभ नहीं होता।

जो हो, समयका सच्चा सदुपयोग तो बस, यही है कि हम प्रभुकी खोजमें जुट पड़ें; और काम तो जैसे होने होंगे, हो जायँगे, हमारे बिना भी दूसरोंके द्वारा हो जायँगे, पर यह काम तो हमें ही करना पड़ेगा, हमारे ही किये होगा, दूसरा कोई भी हमारे बदले हमारे लिये इसे कर नहीं सकेगा। अतः इसीमें हमें लगना है, उन्हींको ढूँढ़ने चल पड़ना है। इस मार्गमें चलनेपर हमें एक विशेष पद्धतिका अनुसरण करना पड़ेगा। विशेष ढंगसे कुछ यत्न भी करना पड़ेगा। किन्तु साथ ही यह बात भी अवश्य है कि इसमें कोई खास परिश्रम हो, सो बात बिल्कुल नहीं है। क्योंकि 'आत्मत्वात् सर्वभूतानां सिद्धत्वादिह सर्वतः' वे प्रभु तो हम सबोंके स्वयं आत्मा ही जो ठहरे, उनकी उपस्थिति तो सर्वत्र है। उनको ढूँढ़ लेनेमें, उन अपनेसे अपनेको प्रसन्न कर लेनेमें परिश्रम ही क्या है?

लगन होनेपर पद्धतिका अनुसरण करना भी कोई खास कठिन नहीं है। बस, यही करना है कि सबसे पहले हमें उन्हें प्रत्येक रूपमें पहचानना है। अग्निके तत्त्वको तो हम जानते हैं। एक ही अग्नितत्त्व सर्वत्र व्याप्त है। जो आग काठमें है, वही पत्थरमें है, वही बादलोंमें है, वही सूर्यमें है, वही हमारे शरीरमें भी व्याप्त है। किंतु यदि हम यह सोचें कि अग्निका रूप क्या है तो यही कहना पड़ेगा कि अग्नि जिस आधारमें व्याप्त है, वही उसका रूप है। एक ही अग्नि नाना रूपोंमें व्याप्त होकर उनके समान रूपवाला हो रहा है। अग्निमें तत्त्वतः कहीं भी कोई अन्तर नहीं है। ऐसे ही समस्त भूतोंके अन्तरात्मा प्रभु एक होते हुए भी नाना रूपोंमें रहकर उन्हींके-जैसे रूपवाले हो रहे हैं—

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो
रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥
(कठ० २। २। ९)

इस तत्त्वको अच्छी तरह समझकर हम ठीक ऐसा ही अनुभव करनेकी चेष्टा करें। साथ ही यदि कदाचित् ऐसा अनुभव न होता हो, तब भी केवल इस सत्यपर विश्वास करके ही हम यह करें कि अपने आसुरभावको दबाकर, दूसरेको नष्ट करके स्वयं सुखी होनेकी भावनाको सर्वथा छोड़कर सब प्राणियोंके प्रति दया एवं सौहार्दका व्यवहार करें। बस, इतनी-सी बात ही अपेक्षित है। यदि हम यह कर सकें तो प्रभुकी प्रसन्नताके दर्शन होनेमें बिल्कुल देर नहीं होगी।—

तस्मात् सर्वेषु भूतेषु दयां कुरुत सौहृदम्।
आसुरं भावमुन्मुच्य यया तुष्यत्यधोक्षजः॥
(श्रीमद्भा० ७। ६। २४)

और यदि प्रभुकी प्रसन्नता हमने पा ली तो फिर हमारे लिये कौन-सी वस्तु अलभ्य रह जाती है?—

'तुष्टे च तत्र किमलभ्यमनन्त आद्ये।'

—कुछ भी नहीं। कदाचित् शरीर नष्ट होनेसे पहले-पहले हम चेत जाते, चेतकर प्रत्येक क्षणका उपयोग इसी उद्देश्यकी पूर्तिके लिये करते तो कितनी सुन्दर बात होती!

श्रीकृष्णलीलाका चिन्तन

(३६)

वृन्दावन पहुँचनेके उद्देश्यसे सर्वप्रथम गोपोंकी अपार धेनुराशि यमुना-संतरण कर रही है। गोप बार-बार 'ही-ही' का तुमुलनाद करते हुए उन्हें उत्साहित कर रहे हैं, पार पहुँच जानेकी प्रेरणा कर रहे हैं। गायें भी अपने हम्बारवसे उन गोपरक्षकोंके आदेशका अनुमोदन-सा करतीं, उन्हें प्रत्युत्तर-सा देतीं, प्रखर धाराको चीरती हुई अग्रसर हो रही हैं। परिश्रमजन्य निःश्वासकी गतिसे उनके नासापुट विस्फारित हो गये हैं, संतरण-क्रियासे शरीरके आगेवाले अंश ऊपर उठे हुए हैं। इस प्रकार क्रमशः धाराको पारकर वे यमुनाके उस पार पहुँच रही हैं—

हीहीकारध्वनिभिरसकृद्वल्लवैः प्रेर्यमाणं
हम्बारावैरनुमतिकराण्युत्तराणीव कुर्वत्।
स्फायद्घोणं श्वसितपवनैरुन्नमत्पूर्वकायं
पार्श्वस्रोतस्तदथ यमुनां धेनुवृन्दं ततार॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

असंख्य गोवत्स भी निःशङ्क उस पार पहुँच रहे हैं। अभी उनके मस्तकपर सींग भी नहीं उगे हैं, छोटा-सा सुन्दर सिर है, पर संतरणके उल्लाससे वे परिपूर्ण हैं। शरीर भी छोटा ही है, इसीलिये अतिशय वेगसे, सुखपूर्वक वे धाराका अतिक्रमण करते जा रहे हैं। उनके लघुपुच्छके लोम जलसे भीगकर भारी हो चुके हैं। अतः वे उसका संचालन नहीं कर पा रहे हैं। फिर भी उन्हें कोई भय नहीं है। उनकी जननी उनके आगे-आगे तैरती जो जा रही हैं। अपनी माताके पीछे-पीछे वे गोवत्स भी सर्वत्र सकुशल पार उतर रहे हैं—

शृङ्गाभाववशाल्लघूनि वदनान्युल्लासयन्तः सुखं
स्तोकत्वादपि वर्ष्मणोऽतितरसा निर्लङ्घयन्तो जलम्।
पुच्छानां सलिलाप्लुतौ गुरुतया नोल्लासनेऽतिक्षमाः
क्षेमं वत्सतराः प्रतेरुरभितः स्वस्वप्रसूपूर्वतः॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

जो नवप्रसूत, आजकलमें उत्पन्न हुए अत्यन्त छोटे गोवत्स हैं, स्वयं तैरकर पार जानेमें असमर्थ हैं, उन्हें संतरण-पटु गोप अपने कंधोंपर बिठाकर, स्वयं तैरकर उस पार ले जा रहे हैं। उनके चार पैरोंमेंसे दोको वामस्कन्धपर, दोको दक्षिणपर धारणकर, गोवत्सोंको प्रथम सुखपूर्वक पीठ एवं कंधेपर यथोचित बैठाकर, कहीं वे बीच धारामें कूद न पड़ें, इस भयकी रक्षाके लिये उनके चारों पैरोंको अपने वक्षःस्थलसे सटाकर एक हाथके द्वारा दृढ़तापूर्वक दबाये हुए एवं दूसरे हाथसे स्वच्छन्द तैरते हुए वे कुशल तैराक गोप उन्हें पार पहुँचा दे रहे हैं। आगे-आगे तो स्कन्ध एवं पीठपर गोवत्स धारण किये गोप तैरते जा रहे हैं एवं उनके पीछे-पीछे उन गोवत्सोंकी माताएँ 'हुम्मा-हुम्मा' करती रविनन्दिनीकी धाराको विदीर्ण करती अतिशय वेगसे संतरण करती जा रही हैं—

ग्रीवापीठेषु कृत्वोरसि मृदुचरणान् बाहुनैकेन रुद्ध्वा
वत्सान् सद्यःप्रसूतान् प्रतरणपटवो बाहुनान्येन केचित्।
स्वच्छन्दं संतरन्तः कलितकलघनस्वानमेषां प्रसूभिः
पश्चात् संगम्यमानास्तरणिदुहितरं गोदुहः संप्रतेरुः॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

उन परम श्रेष्ठ वृषभोंके यमुना-संतरणकी छटा तो निराली ही है। उनके पूर्ण परिपुष्ट विशाल ककुद्से कालिन्दीकी लहरें टकराती हैं, टकराकर छिन्न-भिन्न हो जाती हैं। स्रोतका वेग अत्यन्त प्रबल होनेपर भी ये बलदृप्त वृषभ अत्यन्त सरल भावसे तैरते जा रहे हैं। उनके ककुद्के निकट जलस्रोत किञ्चित् रुद्ध होकर ऊपर उछलने लगता है। तरङ्गें ककुद्का अभिषेक

करने लगती हैं । इस आघातसे उन वृषभोंको ऐसा भान होता है, मानो लहरें उनसे युद्ध करने आयी हों। वे क्रोधमें भरकर अतिशय सुन्दर मुद्राका प्रदर्शन करते हुए अपनी ग्रीवा टेढ़ी कर लेते हैं तथा सींगोंसे लहरोंपर प्रहार करने लग जाते हैं । इस प्रकार बीच-बीचमें लहरोंसे खेलते, सिर उठाये, अपने दीर्घश्वास एवं संतरणकी वेगपूर्ण गतिसे धाराको क्षुब्ध करते हुए वे उस किनारे जा खड़े होते हैं—

पूर्णाभोगे तरङ्गान् सुमहति ककुदे जर्जरीभावमाप्तान्
ग्रीवाभङ्गाभिरामं प्रकुपितमनसस्ताडयन्तो विषाणैः ।
स्रोतो वेगेऽपि तुङ्गे त्वरितमृजुतरं पुङ्गवाः पुङ्गवाना-
मुन्मूर्द्धानोऽतिदीर्घश्वसितजवभरोद्धूतमम्भः प्रतेरुः ॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

श्रीकृष्णचन्द्र एवं बलराम अपने विशाल शकटपर व्रजेश्वरी एवं श्रीरोहिणीके पार्श्वमें खड़े रहकर अपार गोधनकी यमुना-संतरण-लीला देख रहे हैं । ऐसा अभिनव कौतुक प्रथम बार देखनेको मिला है । उनके आनन्दका पार नहीं । अपने करपल्लव नचा-नचाकर वे रोहिणीमैयाको, व्रजरानीको बार-बार किसी-न-किसी गोविशेषकी ओर, उसकी संतरण-भङ्गिमाकी ओर देखनेकी प्रेरणा करते हैं तथा रह-रहकर शकटसे कूद पड़नेको उद्यत हो जाते हैं । यदि दोनों माताएँ निरन्तर सजग न होतीं तो न जाने अबसे कितना पहले वे धारामें कूदकर सम्भवतः किसी तैरते हुए गोवत्सकी पूँछ पकड़ लेते । उनसे कुछ ही दूरपर एक ऊँचे टीलेपर खड़े व्रजेश्वर अपने साँवरे पुत्रकी आनन्दमुद्रा निहार-निहारकर नेत्र शीतल कर रहे हैं । पार जाती हुई गायोंकी व्यवस्थाको तो वे कभीके भूल चुके हैं । उनकी वृत्ति सब ओरसे सिमटकर श्रीकृष्णचन्द्रमें लग रही है ।

जो हो, धीरे-धीरे धेनुसमूह, वृषभोंके दल—सभी पार हो गये, कालिन्दीके कर्पूरधूलि-पटलसदृश स्वच्छ सैकत तटपर श्रेणीबद्ध होकर खड़े हो गये। मानो संतरणजन्य परिश्रमके कारण थके-से होकर वे विश्राम कर रहे हों । इधर नौकाएँ एकत्र होने लगती हैं । गायें तो पार हो चुकीं, अब इन शकट-समूहोंको जो पार करना है । इन नौकाओंसे यमुनाके वक्षःस्थलपर सुन्दर सेतुकी रचना होगी और उसपर शकट एवं गोपी-गोप पार उतरेंगे । अस्तु, सेतुरचनामें कुशल गोप जुट पड़ते हैं । केवट उनके आदेशानुसार इस तटसे उस तटतक एक पङ्क्तिमें नौकाएँ खड़ी करते जा रहे हैं एवं कलाविद् गोप उन्हें काश, कुश, सरकंडे, बाँसके सहारे परस्पर सन्नद्ध करते जा रहे हैं । देखते-देखते दोनों किनारोंके मध्यमें अत्यन्त सुन्दर सेतु निर्मित हो जाता है । इतना सुदृढ़ एवं भयबाधाशून्य कि मानो एक विशाल राजपथ ही यमुनाकी लहरोंपर फैला हो !—

काशकुशशरवंशवरैरलङ्कर्मीणनिर्मितपरस्पर-
नद्धप्लवराजी राजपद्धतिरिवासम्बाधतया साधिता ।

(श्रीगोपालचम्पूः)

उसी सेतुपर 'घड़-घड़' करती हुई शकटश्रेणी चल पड़ती है । पुनः व्रज-सुन्दरियोंका गायन आरम्भ होता है । गोपोंके आनन्दातिरेकवश उच्च हास्यसे आकाश गूँज उठता है । दल-के-दल युवक गोप नाचते-कूदते, नाना प्रकारकी क्रीड़ा करते हुए चल पड़ते हैं । क्रमशः सेतुको पारकर सभी वृन्दावनकी भूमिमें पदार्पण करते हैं । राम-श्यामको अङ्कमें धारण किये श्रीरोहिणी एवं व्रजेश्वरी भी अपने विशाल रथपर आसीन हुई इस पार आ जाती हैं । बस, इस पार आने भरकी, शकट इस तटको छू भर ले, इस बातकी देर थी, फिर तो राम-श्यामको मैया रथपर बैठाये रख सकें, यह असम्भव है । मैयाकी सारी सावधानी धरी रह गयी, वे दोनों विद्युद्गतिसे शकटसे नीचे कूद ही तो पड़े । कूदकर सुबल, श्रीदाम आदि

सखाओंको अतिशय उच्च कण्ठसे पुकारने लगे। वे गोपशिशु भी मानो इस प्रेमिल आह्वानकी प्रतीक्षा ही कर रहे थे। सब-के-सब एकत्र हो जाते हैं। श्रीकृष्णचन्द्रकी अघटनघटनापटीयसी योगमायाशक्तिके प्रभावसे अबतक प्रत्येक गोपशिशुको यही अनुभव हो रहा था, बृहद्वनसे यात्रा आरम्भ होनेके समयसे अबतक सबकी यही प्रतीति थी कि उसका रथ एवं श्रीकृष्णचन्द्रका रथ—दोनों ही सदा साथ-साथ चल रहे हैं, उसका रथ ही अन्य सबकी अपेक्षा श्रीकृष्णचन्द्रके रथसे निकट है। फिर आह्वान पा लेनेपर उनके एकत्र होनेमें क्या विलम्ब होता! असंख्य रथोंपर आसीन वे गोपशिशु क्षणोंमें ही श्रीकृष्णचन्द्रके समीप आ पहुँचते हैं। आकर उन्हें चारों ओरसे घेर लेते हैं। श्रीकृष्णचन्द्र वृन्दावनकी शोभा निहारने उस ओर अग्रसर होने लगते हैं तथा ये गोपशिशु भी—कुछ उनके आगे, कुछ पीछे रहकर—साथ-साथ ही चल पड़ते हैं। प्रतिक्षण नव-नव शोभा धारण करनेवाले, अत्यन्त रहस्यपूर्ण इस वृन्दावनका तो कहना ही क्या है! जिधर दृष्टि जाती है शोभाकी राशि बिखर रही है। श्रीकृष्णचन्द्र एवं बलराम कभी बायीं तो कभी दाहिनी ओर दृष्टिपात करते हुए, वनका पर्यवेक्षण करते हुए सर्वत्र भ्रमण करने लगते हैं—

रामकृष्णौ च बद्धतृष्णावासादिततीरोपकण्ठावुत्कण्ठया भुवि शकटादुत्प्लुतौ प्लुतसम्प्लुताह्वानतः सुखसमन्वितं सखीनन्वग्विधाय प्रत्यग्रमपि प्रत्यग्रायमाणवैचित्रीगहनं गहनमवगाहमानौ सव्यापसव्ययोः पश्यन्तौ चरणचारितामेवाचरितवन्तौ।

(श्रीगोपालचम्पूः)

कविकी कल्पना आज सत्य हुई। उसकी रसनाकी ओटमें स्वरोंकी झंकार करती सुरसुन्दरीका स्वप्न आज मूर्त हो गया। कवि जब कभी भी शुक-पिक आदि कलकण्ठ वन-विहङ्गमोंकी काकली सुन पाता है तो उसे कल्पना-राज्यमें अनुभूति होती है, यह काकली नहीं, यह तो सङ्गीत-स्वरलहरी है। उसके नेत्र मन्द-समीर-सञ्चालित लतावल्लरियोंके स्पन्दनको नृत्यके रूपमें ही अनुभव करते हैं। मेघके समागमसे पृथ्वीपर उठी हुई अङ्कुरराशिको देखकर कविको यह भान होता है कि ये अङ्कुर नहीं, यह तो हर्षवश धरासुन्दरीको रोमाञ्च होने लग गया है। अपनी इस अनुभूतिको वह काव्यमें गुम्फित कर देता है। पर उसकी यह अनुभूति सार्वजनीन नहीं हो पाती। जनसाधारणके लिये विहङ्गम-काकली, लतास्पन्दन, भूमिका अङ्कुरोद्गम, सभी ज्यों-के-त्यों बने रहते हैं। किसीको इनमें गान, नृत्य एवं रोमाञ्चका अनुभव कदापि नहीं होता। कविकी कल्पना कल्पना ही रह जाती है, सत्य बनकर प्रकट नहीं होती। किंतु कदाचित् उसके नेत्र प्राकृत सौन्दर्यसे ऊपर उठ जाते, वाग्वादिनी भी कमलयोनिसे सृष्ट जगत्को भूलकर नित्य चिन्मय वृन्दावनको देखने लग जातीं, इस समय वृन्दावनमें विहरणशील श्रीकृष्णचन्द्रके दर्शन कर पातीं, वीणाधारिणीके नेत्रोंमें नेत्र मिलाकर कवि भी इस अप्रतिम सौन्दर्यकी झाँकी कर पाता और फिर काव्य-रचना होती, अनुभवको शब्दका रूप मिल जाता तो वह सौन्दर्योक्ति निश्चय ही कल्पना न होती, कल्पना प्रतीत होनेपर भी कविका वर्णन अक्षरशः सत्यका निदर्शन होता, क्योंकि श्रीकृष्णचन्द्रका सान्निध्य पाकर आज विहङ्गमोंकी काकली काकली नहीं रही है, वास्तवमें ही सङ्गीतकी मधुर रागिणी बन गयी है; आज तरु-शाखाओंसे लिपटी लतावल्लरियाँ पवन-सञ्चारित होकर स्पन्दित हो रही हों, यह बात नहीं, अपितु वे श्रीकृष्णचन्द्रके दर्शनसे उल्लसित होकर सचमुच ही नृत्य कर रही हैं; भूमिपर अङ्कुरराशि उग आयी हो, यह नहीं, सत्य-सत्य ही वृन्दाकाननको धारण करनेवाली धराकी अधिष्ठात्री श्रीकृष्णचन्द्रके चरणस्पर्शसे रोमाञ्चित हो रही है। ये गायन, नर्तन,

पुलकोद्गम कविकी कल्पनामात्र नहीं, काव्यशास्त्रके रूपक अलङ्कारभर नहीं । ये तो चिदानन्द-परब्रह्म पुरुषोत्तम श्रीकृष्णचन्द्रके वृन्दावनमें पदार्पणसे व्यक्त होनेवाले स्वाभाविक परम सत्य परिणाम हैं । प्राकृत नेत्र-मन, भले इन्हें देख न सकें, इनका अनुभव न कर पायें, किंतु श्रीकृष्णचन्द्रके कृपाकणसे पूत हुए दिव्य-शक्तिविशिष्ट नेत्रोंके लिये तो ये नित्य सत्य हैं, वृन्दाटवी सचमुच ही इस समय एक अभिनव गान, नृत्य एवं पुलकोद्गम आदि अगणित आनन्द-अनुभावोंसे परिपूर्ण हो गयी है, अरण्यका अणु-अणु अपनेमें न समाते हुए आनन्दको विभिन्न अनुभावोंसे व्यक्त कर रहा है—

यद्गानं विपिनस्य कोकिलकले नृत्यं लताविभ्रमे
रोम्णामुत्थितमङ्कुरे च कवितं योग्यान्निदानादृते ।
तन्मिथ्या यदि कृष्णसङ्गतिवशात्तस्मिंस्तथा वर्ण्यते
सत्यं तर्हि सदापि तत्तदखिलं यस्माद्दरीदृश्यते ॥

(श्रीगोपालचम्पूः)

श्रीकृष्णचन्द्र कभी तो दौड़ते हैं और कभी किसी अतिशय प्रिय, स्निग्ध वयस्क गोपबालकके कंधेपर चढ़ जाते हैं । गोपशिशुओंका उत्साह भी बढ़ता ही जा रहा है । वे श्रीकृष्णचन्द्रको नव-नव निकुञ्जस्थलीकी ओर लता-पल्लव-जालसे आवृत सुरम्य वनस्थलीकी ओर सङ्केत करके ले जाते हैं एवं वहाँकी शोभा निहारकर प्रफुल्लित होते हैं । श्रीकृष्णचन्द्र भी अपने सखाओंको एक-से-एक सुन्दर स्थानोंका दर्शन करा रहे हैं, इस प्रकार मानो वे यहाँसे, यहाँके अणु-अणुसे चिरपरिचित हों । दल-के-दल मृग एवं मयूर अपनी भङ्गिमासे शुभ शकुनकी सूचना देते हुए श्रीकृष्णचन्द्रके सम्मुख आते हैं, ललकभरे नेत्रोंसे उनकी ओर देखते रहते हैं, फिर चौकड़ी भरते, नृत्य करते सघन वनकी ओटमें छिप जाते हैं । उन्हींका अनुसरण करते हुए श्रीकृष्णचन्द्र भी इस कुञ्जसे उस कुञ्जमें, कभी तटसे वनकी ओर एवं कभी वनसे कालिन्दीकूलकी ओर अनवरत विचरण कर रहे हैं । यदि व्रजेश्वरीकी भेजी हुई परिचारिकाएँ उन्हें बुलाने न आ जातीं तो पता नहीं, श्रीकृष्णचन्द्र आज ही समस्त वनका निरीक्षण कर लेते । परिचारिकाओंके अनुरोधसे बाध्य होकर, उनके मनुहारसे द्रवित होकर वे जननी-के समीप चल तो पड़ते हैं, पर दृष्टि बार-बार जा रही है गिरिराज गोवर्द्धनके चरणप्रान्तमें जानेवाले तरुलता-मण्डित सुरम्य पथकी ओर ही । यदि और किञ्चिन्मात्र भी विलम्ब करके वे दासियाँ पहुँचतीं तो श्रीकृष्णचन्द्र-को वहाँ कदापि नहीं पातीं । मृगशावककी भाँति दौड़कर एक बार तो वे आज ही उस परम सुन्दर अतिशय आकर्षक भूधरको अत्यन्त निकटसे देख ही लेते ।

इधर नाविकोंको मुँहमाँगे पारितोषिक देकर, उससे भी बहुत अधिक देकर व्रजेश्वर उन्हें विदा करते हैं और पुनः फिर तूर्यनाद करनेकी आज्ञा देते हैं । 'नवीन व्रजपुर इसी वृन्दावनमें, यहीं इस वनखण्डमें बसने जा रहा है'—वह गगनभेदी तूर्यनाद इसीकी सूचना कर रहा है । आवास-प्रबन्धक सचेष्ट हो जाते हैं । गोप-पुरन्ध्रियाँ रथोंसे उतर पड़ती हैं । व्रजेश्वर एवं उपनन्दके मनमें नवीन व्रजपुरका मानचित्र पहलेसे ही प्रस्तुत है । वे प्रबन्धकोंको आदेश दे चुके हैं । उसके अनुसार ही वे सब गोप-परिवारोंको स्थानका निर्देश करते जा रहे हैं तथा गोपगण शकटोंसे ही अपने-अपने आवासका निर्माण करनेमें संलग्न हो जाते हैं । सदा सब कालमें परम सुखदायक इस वृन्दावनकी भूमि-पर अर्धचन्द्राकारमें नवीन व्रजपुरकी रचना आरम्भ हो जाती है—

वृन्दावनं सम्प्रविश्य सर्वकालसुखावहम् ।
तत्र चक्रुर्व्रजावासं शकटैरर्धचन्द्रवत् ॥

(श्रीमद्भा० १० । ११ । ३५)

इहि बिधि श्रीबृंदाबन आइ ।
निरखि अधिक आनंदहि पाइ ॥

सकट कौ बान बनायौ ऐसौ।
सुंदर अर्धचंद होइ जैसौ॥

'शकटावर्त' नामक स्थानतक इस अर्धचन्द्राकृति पुरीकी रचना होती चली गयी। आठ कोस लंबी एवं चार कोस चौड़ी भूमिको यह नवीन व्रजपुर देखते-देखते ही घेर लेता है—

शकटावर्तपर्यन्तं चन्द्रार्धाकारसंस्थितम्।
मध्ये योजनविस्तीर्णं तावद् द्विगुणमायतम्॥
(हरि० विष्णु० ९। २१)

अवश्य ही व्रजपुरकी आठ कोस यह दीर्घता एवं मध्यमें चार कोसकी विस्तीर्णता—यह मान, यह परिमिति लोकदृष्टिसे ही प्रतीत हो रही है। वास्तवमें तो यह अनन्त है, अचिन्त्यशक्तिसमन्वित है, इसकी कोई सीमा नहीं। चिदानन्दमय परब्रह्मकी, महामहेश्वर श्रीकृष्णचन्द्रकी यह पुरी है। उनके समान ही यह विभु है—

अष्टक्रोशीमायतं गोष्ठमेतन्
मध्ये तस्मिन् विस्तृतं चार्धमस्याः।
एतन्मानं चात्र लोकस्य दृष्ट्या
शक्त्यानन्ताचिन्त्यधामत्वमेव॥
(श्रीगोपालचम्पूः)

इसके ठीक मध्यमें व्रजेन्द्रका आवास निर्मित होता है। उनके पार्श्वदेशमें उपनन्द आदि भ्राताओंका। उनके आगे अन्य गोपकी शकटरचित गृहावली सुशोभित होने लगती है—

मध्ये राज्ञः सद्म तत् पार्श्वतस्तद्-
भ्रातॄणां तद्बाह्यतस्तत्परेषाम्।
(श्रीगोपालचम्पूः)

सबके परामर्शसे अन्य स्थायी व्यवस्थाएँ कल होंगी, आज तो जैसे-तैसे विश्राम कर लेना है—यह सूचना सबको मिल जाती है। फिर तो गोपगण निश्चिन्तसे होकर वनकी ओर चल पड़ते हैं। व्रजसुन्दरियाँ भी कलशोंमें जल भरने यमुना-तटपर चली जाती हैं। तटकी एवं वनपथकी शोभा निहारने लगती हैं, निहारकर विथकित रह जाती हैं। दल-की-दल, आनन्दविह्वल हुई, तरुशाखाओंको हाथसे खींचकर उनपर झूलने लग जाती हैं—

तोयमुत्तारयन्तीभिः प्रेक्षन्तीभिश्च तद्वनम्।
शाखाश्चाकर्षमाणाभिर्गोपीभिश्च समन्ततः॥
(हरि० विष्णु० ९। २८)

जननीसे संलालित होकर श्रीकृष्णचन्द्र भी दाऊ भैयाके साथ सखाओंके सहित पुनः वनकी शोभा देखने निकल पड़े हैं। जिधर उनकी सलोनी दृष्टि जाती है, जिस ओर वे चरणनिक्षेप करते हैं, उधर ही प्रतीत होता है, मानो सौन्दर्य अधिष्ठात्रीके कोशमें जितनी शोभा सञ्चित है, सब-की-सब बिखेर दी गयी है। वन, गोवर्द्धन, यमुनापुलिन—सब ओरसे जैसे सौन्दर्य-स्रोतस्विनी उमड़ी आ रही हो। उसमें अवगाहन कर सौन्दर्यनिधि श्रीकृष्णचन्द्र एवं शोभाधाम श्रीबलराम आज आनन्द-मुग्ध हो रहे हैं—

बन बृंदाबन गोधन गिरिवर, जमुना-पुलिन मनोहर तरुवर।
रसके पुंज, कुंज नव गहवर, अमृत समान भरे जल सरवर।
जदपि अलौकिक सुखके धाम, श्रीबलराम कुँवर घनस्याम।
रीझे तदपि देखि छबि बनकी, उत्तम प्रीति लागि गई मनकी।
औरै सुक, सारिक, पिक, मोर, औरै अंबुज, औरै भौंर।
रतन-सिखिर-गिरि गोधन-सोभा, निकसी मनहुँ नई छबि गोभा।
तिन बिच सुंदर रासस्थली, मनि-कंचनमय लागत भली।
गिरि तैं झरत जु निर्झर सोहै, निर्जर नगर अमृत-रसको है॥

छः प्रकारकी महत्त्वपूर्ण चार-चार बातें

(लेखक-श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

चार प्रकारके मनुष्य

संसारमें चार प्रकारके मनुष्य होते हैं—उत्तम, मध्यम, कनिष्ठ और नीच।

१. उत्तम मनुष्य वे हैं, जो अपने साथ बुराई करनेवालोंके प्रति भी बुराई न करके सदा भलाई ही करते हैं। ये मनुष्य प्रथम श्रेणीके हैं।

२. दूसरी श्रेणीके मध्यम मनुष्य वे हैं, जो अपने प्रति बुराई करनेवालोंके साथ न तो भलाई करते हैं और न बुराई ही। उनका निश्चय होता है कि हमारा जो कुछ अनिष्ट हुआ है या हो रहा है, इसमें प्रारब्ध ही कारण है। किसीका कोई दोष नहीं। वे तो बेचारे केवल निमित्तमात्र हैं।

३. तीसरी श्रेणीके वे कनिष्ठ मनुष्य हैं, जो अपने प्रति बुराई करनेवालोंके साथ बुराई करते हैं और उनसे बदला लेनेका प्रयत्न करते हैं।

इन प्रतिहिंसापरायण लोगोंमें भी चार प्रकार होते हैं। प्रथम, जो बुराई करनेवालेके साथ बदलेमें तुरंत उतनी ही या उससे न्यूनाधिक बुराई करके बदला ले लेते हैं। द्वितीय, जो अनिष्ट करनेवालेके साथ स्वयं अनिष्ट न करके अदालतमें दावा कर देते हैं। तृतीय, जो अदालतमें न जाकर पंचोंके द्वारा दण्ड दिलवाते हैं और चतुर्थ, पञ्चोंसे कुछ भी न कहकर अनिष्ट करनेवालेको समुचित दण्ड मिले, इसके लिये परमात्मासे प्रार्थना करते हैं। ये चारों ही कनिष्ठ श्रेणीके मनुष्य होते हैं।

४. चतुर्थ श्रेणीके नीच मनुष्य वे हैं जो भलाई करनेवालोंके साथ भी बुराई ही किया करते हैं। ऐसे लोगोंके द्वारा किसीका भला होना सम्भव नहीं।

उपर्युक्त चारों श्रेणियोंके मनुष्योंके साथ अपना भला चाहनेवाले पुरुषको सदा सद्व्यवहार ही करना चाहिये।

चार याद रखने और भूलनेकी बातें

चार बातोंमें दो सदा याद रखनेकी हैं और दो सर्वथा भुला देनेकी।

याद रखनेयोग्य बातोंमें पहली बात है—(१) 'किसीके द्वारा अपने प्रति किया गया कोई भी उपकार।' दूसरेका उपकार याद रखनेसे उसके प्रति मनमें पवित्र कृतज्ञताके भाव आते हैं, नम्रता आती है, उसके हितके विचार और कर्म होते हैं जिससे हम उसके ऋणसे मुक्त हो जाते हैं और परिणाममें हमारा हित एवं कल्याण होता है। दूसरी बात है (२) 'अपने द्वारा किया गया किसीका अपकार।' इसकी स्मृतिसे चित्तमें पश्चात्ताप होता है, दुबारा वैसी भूल न करनेके लिये प्रेरणा मिलती है और उस व्यक्तिको सुख पहुँचानेवाले हितकारक विचार और कार्य करके उससे और परमात्मासे क्षमा प्राप्त करनेका प्रयत्न होता है। यही इसका प्रायश्चित्त है, इससे पापका नाश होकर कल्याणकी प्राप्ति होती है।

भूलने योग्य दो बातोंमें पहली बात है (१) 'अपने द्वारा किया गया किसीका उपकार।' इसकी स्मृतिसे चित्तमें अभिमान उत्पन्न होता है, 'मैं उपकारक हूँ' और 'वह उपकार प्राप्त करनेवाला है' इस प्रकार अपनेमें श्रेष्ठबुद्धि और उसमें हीनबुद्धि होती है जिससे उसके तिरस्कारकी आशङ्का रहती है; और यदि कभी उसके आचरणमें कृतज्ञता नहीं दीखती तो अपने मनमें दुःख और उसके प्रति रोष भी हो सकता है। साथ ही उपकारकी स्मृति यदि प्रमादवश कहीं उसे लोगोंमें

कहलवा देती है तो उस उपकारका पुण्य नष्ट हो जाता है। अतएव अभिमानसे बचने और पुण्यकी रक्षा करनेके लिये उसे भुला देना चाहिये। दूसरी भुला देने योग्य बात है (२) 'दूसरेके द्वारा किया गया अपना अपकार।' इसे याद रखनेसे मनमें द्वेष, वैर और प्रतिहिंसाकी वृत्तियाँ पैदा होती हैं और उनके कारण अनिष्टाचरण और पाप होनेकी सम्भावना रहती है। द्वेष और वैरके कारणसे चित्तमें सदा जलन रहती है और कदाचित् वैरजनित कोई क्रिया हो जाय तो नयी-नयी जलन पैदा करनेवाले परिणाम उत्पन्न हो सकते हैं, इसलिये इसे भी भुला देना चाहिये।

चार प्रकारकी मुक्ति

चार प्रकारकी मुक्तियाँ हैं—सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य। सालोक्य—भगवान्‌के दिव्य-लोकमें रहना; सामीप्य—भगवान्‌के समीप रहना; सारूप्य—भगवान्‌के रूपके समान रूपका प्राप्त करना और सायुज्य—भगवान्‌के रूपमें मिल जाना। मुक्त पुरुष भी चार प्रकारके होते हैं—

१. जो मुक्ति ग्रहण करते हैं और संसारका काम भी करते हैं। उनके सांसारिक कामका अर्थ है—भूले-भटके लोगोंको अपने विशुद्ध आचरणोंका आदर्श सामने रखकर और भगवद्भक्तिका उपदेश देकर मुक्तिके सन्मार्गपर लगा देना।

२. जो मुक्तिके अधिकारी होकर भी मुक्ति नहीं लेते और भक्ति ही चाहते हैं। साथ ही लोगोंको भगवद्भक्तिमें लगानेका काम भी करते रहते हैं।

३. जो न तो मुक्ति ग्रहण करते हैं और न उपदेशादि कार्य ही करते हैं। निरन्तर एकान्त भाव-राज्यमें रहकर अपने प्रियतम भगवान्‌की प्रेमभावसे अनन्य भक्ति ही करते रहते हैं। 'मुक्ति निरादरि भगति लुभाने।'

४. जो मुक्त होकर नित्य उपरत अवस्थामें ... रहते हैं; किसीके उद्धारादिकी कोई चेष्टा नहीं करते।

चार प्रकारके स्त्री-पुरुष

संसारमें साधारण स्त्री-पुरुष भी चार श्रेणीके हैं। प्रथम, जो यहाँ भी आनन्दमें हैं और परलोकमें भी आनन्दमें रहेंगे। दूसरे वे जिन्हें यहाँ भी दुःख और परलोकमें भी दुःख ही भोगना पड़ेगा। तीसरे जिन्हें यहाँ तो सुख है; परंतु परलोकमें दुःख मिलेगा और चौथे वे जिन्हें यहाँ दुःख है; किंतु जो परलोकमें सुखके भागी होंगे। इनकी विशेष व्याख्या यों समझनी चाहिये।

१—मनुष्य-शरीरको प्राप्त करके परलोक और ईश्वरमें विश्वास करते हुए जो लोग प्रेमपूर्वक भजन, ध्यान और सत्संग करते हैं, वे यहाँ भी सुखी रहते हैं और परलोकमें भी परम सुख प्राप्त करते हैं। यहाँ उन्हें भजन, ध्यान और सत्संगसे प्रसन्नता एवं शान्ति मिलती है और देहत्यागके बाद भजनके फलस्वरूप परमगतिको पाकर परम शान्ति और परम आनन्द प्राप्त करते हैं।

२—राग-द्वेषयुक्त, काम-क्रोध-लोभ आदिके चंगुलमें फँसे हुए कलहपरायण लोग, जो निरन्तर परस्पर वैर-विद्वेष, लड़ाई-झगड़े, गाली-गलौज, मार-पीट और मुकदमेबाजी आदिमें स्वभावसे ही लगे रहते हैं। ऐसे लोग यहाँ भी दुखी रहते हैं और परलोकमें भी दुःख ही प्राप्त होंगे। यहाँ दिन-रात वैर-विरोधके कारण उनका जलते ही बीतता है और देह-त्यागके बाद वे ... पापोंके फलस्वरूप दुर्गतिको पाकर नाना प्रकारकी विविध योनिगत पीड़ाओं और नारकीय यन्त्रणाओंको भोगते हैं।

३—जिन्हें प्रारब्धके फलस्वरूप यहाँ नाना प्रकारके भोग-सुख प्राप्त हैं; परंतु जो भोगासक्तिमें फँसकर सर्व...

कामोपभोगकी प्राप्तिके लिये झूठ-कपट, चोरी-व्यभिचार आदिमें लगे रहते हैं, वे यहाँ तो प्रारब्धजनित सुख भोगते हैं; परंतु परलोकमें उनकी दुर्गति होगी और वे महान् दुःखको प्राप्त करेंगे।

४–जो यहाँ निष्कामभावसे यज्ञ, दान, जप, ध्यान, तीर्थ-पर्व, व्रत-उपवास, सेवा-संयम और त्याग-तप आदिमें लगे रहकर कष्ट सहते हैं और लोक-दृष्टिमें दुःखी माने जाते हैं; परंतु इन साधनों और तपस्याओंके फलस्वरूप देहत्यागके बाद वे परम गतिको पाकर सदाके लिये परम शान्ति और परम आत्यन्तिक सुखको प्राप्त करेंगे।

चार प्रकारके भक्त

भक्त भी चार प्रकारके होते हैं। प्रथम, जो स्त्री, पुत्र, धन, भवन आदि भोगपदार्थोंके लिये भगवान्का भजन करते हैं—जैसे ध्रुव आदि। ये अर्थार्थी भक्त हैं। द्वितीय, जो भोगपदार्थोंके लिये तो भजन नहीं करते परंतु लौकिक दुःखोंकी निवृत्तिके लिये भगवान्का भजन करते हैं—जैसे द्रौपदी, गजेन्द्र आदि। ये आर्त भक्त हैं। तृतीय, वे जिज्ञासु भक्त हैं, जो बड़ी-से-बड़ी विपत्तिमें भी भगवान्से कुछ नहीं चाहते, केवल भगवत्तत्त्व जाननेके लिये निरन्तर भजन, ध्यान, सत्संग करते रहते हैं—जैसे उद्धव आदि। और चतुर्थ, वे निष्काम भक्त हैं जो किसी भी इच्छा नहीं करते—जैसे प्रह्लाद आदि।

प्रह्लादमें निष्कामभाव चरम सीमाको पहुँचा हुआ था। भगवान् श्रीनृसिंहदेवने प्रकट होकर जब प्रह्लादसे बार-बार बड़े ही वात्सल्यभावसे वर माँगनेके लिये कहा तब प्रह्लादजी बोले—'भगवन्! मेरे मनमें कुछ भी इच्छा प्रतीत नहीं होती, पर जब आप बार-बार कह रहे हैं तब पता चलता है कि मेरे मनमें कोई छिपी इच्छा होगी। अतएव हे दयामय! आप मुझपर प्रसन्न हैं तो यही वर दीजिये कि यदि कोई छिपी वासना हो तो उसका सर्वथा नाश हो जाय।' यही निष्काम भक्ति है।

श्रीभगवान्ने गीता अध्याय ७ श्लोक १६में उपर्युक्त चार प्रकारके भक्तोंका वर्णन किया है। अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी—इन सबमें ज्ञानी भगवान्को अति प्रिय है—

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥
(गीता ७। १७)

'उनमें नित्य मुझमें एकीभावसे स्थित अनन्य प्रेम-भक्तिवाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम है, क्योंकि मुझको तत्त्वसे जाननेवाले ज्ञानीको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह ज्ञानी मुझे अत्यन्त प्रिय है।'

उपर्युक्त छः तरहके चार-चार प्रकारोंको समझकर यदि लोग इससे लाभ उठावेंगे तो मैं अपने प्रति उनकी कृपा समझूँगा।

पुण्य-पद

सुमन रँगीले दिखे शोभा अनुपम दिखी,
चंचल हो चला फूल-फूल मन-भँवरा।
घूम-घूम मधुरस पान करनेको मिला,
अपने आपको गया भूल मन-भँवरा॥
एकसे लगन नहीं राग-रंगमें मगन,
झेल चला सुरभित-शूल मन-भँवरा।
जाता वनमालीके चरण-कमलोंके पास,
पाता पुण्य-पद अनुकूल मन-भँवरा॥

—लाला जगदलपुरी

सांस्कृतिक ह्रासके कारण

(लेखक—पू० योगिराज महर्षि स्वामी श्रीमाधवानन्दजी महाराज)

पराधीनताके पिछले १५० वर्षोंमें पाश्चात्त्य शिक्षा अथवा सभ्यताके बहुमुखी व्यापक प्रचारसे, जिसे राज्य-सत्ताश्रय भी प्राप्त था, जो बुराइयाँ और बीमारियाँ यहाँ उत्पन्न हो गयी हैं, उनकी ओर संस्कारी भारतीयोंका ध्यान आकृष्ट हुआ है। वे उन बुराइयों और बीमारियोंको, जो पश्चिमी संसर्गकी देन हैं, मिटानेके स्तुत्य प्रयत्नमें लगे हैं। भारतीय संस्कृतिके सदाग्रही सत्पुरुषोंके प्रयत्नसे देशमें सांस्कृतिक उत्थानके सात्त्विक आयोजन सामने आने लगे हैं। जन्मना भारतीय किंतु शिक्षा-दीक्षासे अभारतीय बने हुए लोगोंको भी यह अनुभव होने लगा है कि भारतीय संस्कृतिके उच्च आदर्शोंमें, यदि मनसा, वाचा, कर्मणा उनका पालन किया जाय, तो विश्वके लिये परम शान्तिका सुखावह सन्देश निहित है।

भारतवर्ष प्रकृतिसे अध्यात्मवादी देश है। भौतिकताके लिये उसके निकट अनादर नहीं किंतु दूसरा स्थान है। वह भारतीय संस्कृतिको गवाँकर स्वराज्य भोगनेमें देशकी सांस्कृतिक हानि, और उसका पालन करते हुए स्वराज्य भोगनेमें देशका सांस्कृतिक उत्थान समझता आया है; क्योंकि भारतकी दृष्टिमें भारतीय संस्कृति दैवीसम्पदाका प्रतीक है। भारतवर्षका यह सहज विश्वास है और वह सत्य है कि जिस स्वराज्य-भवनकी नींव अभारतीय संस्कारोंपर अवलम्बित होगी, उसका ध्वस्त हो जाना निश्चित है। स्वराज्य होते हुए भी वह सुराज्य नहीं है। इसलिये भारतवर्ष प्रयत्न करता आया है कि देश अन्तर-बाह्य दोनों दृष्टियोंसे स्वतन्त्र बने। सच्चे भारतीयकी दृष्टिमें बाह्य स्वतन्त्रतासे मानसिक परतन्त्रताकी मुक्ति अर्थात् आन्तरिक स्वतन्त्रताका महत्त्व किसी प्रकार कम नहीं है। लोकमान्य तिलकके कार्य-कालमें जितना महत्त्व स्वतन्त्रता-प्राप्तिका समझा जाता था, उतना ही सांस्कृतिक संरक्षणके आयोजनोंका। उनके स्वर्गवासके बाद जो तत्त्व राजनीतिक क्षेत्रमें आगे आये, उन्होंने सम्भवतः अपनी शिक्षा-दीक्षाके कारण, सांस्कृतिक सदाग्रहको कोई विशेष स्थान न दिया। फलतः सांस्कृतिक आयोजन आश्रयके अभावमें अगलेसे पिछले पार्श्वमें चले गये। सार्वजनिक सम्पर्क-क्षेत्रमें रह गयी केवल राजनीतिकी आकर्षण-शील और मनोरम मधु-अंगुलि। जिसके रसास्वादनने समस्त भारतीयोंको अपनी ओर खींचकर सांस्कृतिक हलचलोंको निःसत्त्व और मन्द-रश्मि बना दिया। अप्रकटमें विदेशी हुकूमत भी यही चाहती थी।

अब स्वतन्त्रता-प्राप्तिके बाद, जब राजनीतिकी मधु-अंगुलिका उतना आकर्षण नहीं रहा, तब देशवासियोंका सांस्कृतिक उत्थानकी ओर आकृष्ट होना स्वाभाविक है। भारतका अपना शासन भी उन्हें इस दिशामें एक अच्छा प्रोत्साहन अथवा प्रेरणा है। जिसे पाकर कई प्रान्तोंके वयोवृद्ध एवं अनुभवी विद्वान् कांग्रेसी नेता भी सांस्कृतिक उत्थानकी प्रवृत्तियोंको समयोचित तथा आवश्यक मानकर उधर प्रवृत्त हुए हैं। उन्हें यह अनुभव हो रहा है कि भारतने अपनी भारतीयता अथवा लोकप्रसिद्ध विशेषता गवाँकर केवल ऊपरी स्वतन्त्रताका उपभोग किया तो पर-प्रकर्षको पुष्ट और स्व-गौरवको सुतरां कृश करनेवाली उस स्वतन्त्रताका अर्थ ही क्या हुआ? भाषा, भाव, वेष-भूषा, रहन-सहन तथा आचार-विचार इन सभीमें तो भारतीयताकी अमिट छाप होनी चाहिये। यह तब हो सकता है, जब हम पिछले विजेताओंके शासन-कालमें शुरू हुए अपने सांस्कृतिक ह्रासके कारणोंको समझकर उन्हें मिटानेका सतत प्रयत्न करें। सांस्कृतिक ह्रासके और कारण भी हो सकते हैं; किंतु मुख्यतः निम्नाङ्कित कारण हैं—

१—युगधर्मकी भावना।

२—पाश्चात्त्य शिक्षाका प्रभाव और संस्कृत-शिक्षाका अभाव।

३—संतों और ब्राह्मणोंद्वारा धर्म-प्रचारका अभाव।

४—वर्तमान शासनकी सांस्कृतिक उदासीनता।

अयं तु युगधर्मो हि वर्तते कस्य दूषणम्।

किसे दोष दिया जाय? यह धार्मिक अथवा सांस्कृतिक ह्रास विद्यमान युग-धर्मका ही प्रभाव अथवा परिणाम है। ऐसी धारणा बड़े-बड़े संस्कृतज्ञ विद्वानोंकी भी देखी और सुनी जाती है। वे प्रमादकृत धर्मापचय (ह्रास) को कालकृत अनिवार्य धर्मापचय मानकर मौन हो जाते हैं और अपने इस मौन-समर्थनमें श्रीमद्भागवतोक्त प्रह्लाद-स्तुतिका वह श्लोक* रख देते हैं, जिसमें भक्त प्रह्लादने भगवान्से युगानुरूप धर्म…

---

* इत्थं नृतिर्यगृषिदेवझषावतारै-
लोंकान् विभावयसि हंसि जगत्प्रतीपान्।
धर्मं महापुरुष पासि युगानुवृत्तं
छन्नः कलौ यदभवस्त्रियुगोऽथ स त्वम्॥
(श्रीमद्भा० ७। ९। ३८)

पालन करनेका कथन किया है। फिर अल्पमति लोगोंकी तो कथा ही क्या है ? पाश्चात्त्य शिक्षा-दीक्षित भारतीय भी, जिनकी विचारधाराका मूल स्रोत अथवा उद्गम-स्थान पश्चिम है, अपने बचावके लिये 'अयं तु युगधर्मो हि' कहकर अपने पश्चिमी प्रवाहानुगमनको पौरस्त्य सिद्ध करनेका प्रयत्न करते हैं; प्रश्न उठता है कि जब 'युगधर्म' है तब 'युगरूपा हि वै द्विजाः' की उक्तिके अनुसार युगानुकूल आचरण करनेमें क्या दोषापत्ति है ? यह तर्क देखने-सुननेमें बड़ा आकर्षक है। किंतु इसे मानकर अपनी गन्तव्य दिशाका निर्णय करनेवाले भारतीयों-से मेरा कथन यह है कि यदि हमने आवागमन-शील प्रत्येक युग और शासनके साथ अपने धर्म और संस्कृतिको बदलनेकी कुत्सित परम्परा डाली होती तो आज भारत न तो भारत ही रहता और न स्वतन्त्र ही होता। हमारे धर्म और संस्कृतिने भारतभूमिके प्रति जो पूज्यत्वपूर्ण मातृभाव सिखाया है, उसीने मातृभूमि भारतकी मुक्तिके लिये त्याग-बलिदानके निमित्त, भारतीय युवकोंको तैयार किया। फिर युगधर्म, जिसके पीछे हम दौड़ते हैं, तो एक कालिक, अशाश्वत और चल है; सार्वकालिक, सनातन और स्थायी नहीं। इसलिये उस अनित्य वस्तुका अनुगमन न कर हिंदूधर्मके सनातन और सर्वजनोपकारक सिद्धान्तोंपर आधारित भारतीय सांस्कृतिक परम्पराका ही पालन करना चाहिये। यही सुविचारित, सुदृष्ट और सुखावह मार्ग है। इसीके अनुगमनमें देशका हित सुरक्षित है।

देवासुर-संग्रामके समय एक बार बलि राजाके उदयका युग आया। महर्षि भृगुने तदनुवर्ती होकर शताश्वमेधद्वारा बलिको सदातन इन्द्र बनाना चाहा। बलिसे दिये दानसे इन्कार करनेवाली अभारतीय आचरणकी माँग की गयी, किंतु सुहृदय असुरराज बलिने विष्णु-भक्ति और भारतीय सत्यवादिताकी सांस्कृतिक परम्पराका त्याग नहीं किया। क्योंकि बलि युगधर्मको अस्थायी समझते थे। बलिसे वचन-भङ्ग और युगानुसारिताका आग्रह करनेवाले महर्षि अपनी एक आँख देकर घाटेमें रहे और राजा बलि अपने द्वारपर गदापाणि विष्णुको पाकर अमर और कृतार्थ हुए। इसी प्रकार त्रेतामें 'रावणका युग है' कहकर युगानुगतिक होनेवालोंकी कमी न थी, किंतु दूरदर्शी विभीषण सहोदर भाई होकर भी रावणानुयायी न हुए। क्यों ? इसलिये कि वे यह समझते थे कि रावणका प्रभाव और प्रताप युगीन होनेसे अस्थायी है। जो समाप्त होगा। इसलिये वे हरि-भक्तिकी भारतीय संस्कृतिपरक परम्पराके भक्त, घर और देशमें विद्रोही कहला-कर भी, बने रहे। द्वापरमें जब कंसका युग आया तब कितने ही 'वेतसीवृत्ति'वाले अपक्कमति यादव व्यासभगवान्‌के 'केचित् कंसानुवर्तिनः' इन शब्दोंमें कंसके अनुयायी बन गये। किंतु दूरदर्शी और सांस्कृतिक विश्वासवाले यादव कंसकी हलचलोंको युगवत् अस्थायी समझते हुए धर्म और संस्कृतिके रक्षणार्थ प्रकट होनेवाले भगवान् श्रीकृष्णके अलौकिक पराक्रममें विश्वास रखकर समयकी प्रतीक्षा करने लगे। उनके धैर्य और विश्वासने उन्हें श्रीकृष्णोदयकी सुरम्य वेला दिखा, उनके कष्टोंको दूर किया। इसी प्रकार महाभारत-कालमें भारतके अधिकांश क्षत्रिय युगानुवर्ती होकर दुर्योधनके साथ हो गये थे; किंतु विजयलक्ष्मी उन्हें मिली, जो युग-प्रवाहमें न बहकर पाण्डवोंके धर्मानुमोदित पक्षके साथ रहे थे। पितामह भीष्म कौरवपक्षमें रहे; किंतु उनकी दृष्टि युगानुसारिणी न होकर सनातन सत्यको देखती रही। वे समय-समयपर कौरवपक्षको सच्ची और खरी सुनाते रहे। द्वापरके बाद बुद्ध भगवान्‌का अभारतीय अनीश्वरवाद उनके युगतक ही भारतमें गृहीत और अनुगमित हुआ।

ये उपर्युक्त उदाहरण बताते हैं कि जो लोग युगधर्मकी आड़ लेकर भारतीय संस्कृतिकी सनातन तथा तथ्यपूर्ण परम्पराकी अवहेलना करते हैं। उनके विचार अभी विचार-वीथिमें ही हैं। वे विचार अपनी अपरिपक्वावस्थाको छोड़कर निश्चयके सोपानपर चढ़ने नहीं पाये हैं। ऐसे कच्चे विचार-वालोंको कविवर कालिदासने अपनी उत्कृष्ट रचना 'रघुवंश' में 'वेतसी-वृत्ति'वाले कहकर निकृष्ट बताया है। 'वेतसी-वृत्ति' का पर्याय 'अवसरवाद' है। ऐसे अवसरवादी लोग जगदीश्वर-की 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम्'की अखिल सामर्थ्यपूर्ण अद्भुत महाशक्तिमें प्रायः संशयशील होते हैं। वे यह नहीं जानते कि युगीन विचार एक सीमित युगमें जैसे पैदा होते हैं वैसे ही युगीन समाप्तिपर समाप्त हो जाते हैं। अतः सांस्कृतिक उत्थान और प्रसारमें युगधर्मकी भावनासे कोई बाधा या शिथिलता न आने देनी चाहिये।

२—यद्यपि पाश्चात्त्य संसर्गसे भारतको अनेक क्षेत्रोंमें कई प्रकारकी परिणाम-संदिग्ध सुविधाएँ प्राप्त हुई हैं, किंतु पाश्चात्त्य शिक्षाके अबाध प्रसारने भारतकी प्राचीन और विज्ञानपूर्ण वर्ण और आश्रम व्यवस्थाकी जड़ोंको शिथिल बना ब्राह्मणके शम-दमादि और क्षत्रियके शौर्य-तेज आदि सहजात गुण हर-कर उनमें अनेक अवगुण भर दिये। इस शिक्षाने वैश्यको

व्यापार-वृद्धिद्वारा देशको समृद्ध बनानेके स्पृहणीय गुणसे हीन बनाकर उसमें स्वार्थ, व्यापारिक छल-कपट तथा चोरबाजारको बढ़ानेके भाव भर दिये। अन्य वर्णवाले भी जो व्यापारिक वृत्तिधारी हैं, उक्त दोषोंसे बच नहीं सके हैं। चौथे वर्णके लोगोंको इस शिक्षाने अपने सहजात कर्मोंसे घृणा सिखायी और उनमें व्यतिक्रमके भाव भर दिये। जिनका दुष्परिणाम सामने है। इस शिक्षाने वर्ण-सांकर्य और कर्म-सांकर्य दोनोंको प्रोत्साहन दिया। और भारतीयोंकी प्रत्यभिज्ञा (पहचान) शक्तिको नष्ट कर दिया। यही कारण है कि दोनों सांकर्योंसे उत्पन्न हुए अनेक दोषोंको हम पहचान नहीं रहे हैं। प्रत्यभिज्ञा शक्तिके अभावमें मानसिक दासताके कुसंस्कारोंने हमारे हृदयको अपना घोसला बना लिया है। यही कारण है कि हमें अपने प्यारे देशके नाम तथा मातृ-भाषाके सहज स्नेहमें भी आस्था न रही। देखनेको तो आज केन्द्रिय राजप्रासादोंपर भारतका तिरंगा ध्वज है, किंतु हृदयमें अबतक अंग्रेजी कल्चरका ही प्रभुत्व बना हुआ है, नहीं तो, जिस देशके पास संस्कृत-भाषा-जैसा परमोज्ज्वल और अमोघ रत्न विद्यमान है, वह उसकी प्रत्यभिज्ञा (पहचान) से शून्य होकर विदेशसे भीख माँगे, इससे अधिक लज्जाकी बात और क्या हो सकती है ? विदेशी शासनमें हमने अपने प्राचीन साहित्य और अनेक भाषाओंकी जननी संस्कृत-भाषाकी दयनीय उपेक्षा की है। उसीका परिणाम है कि हम मानसिक परतन्त्रतासे अद्यावधि अभिभूत हैं। संस्कृत-भाषा हमारी संस्कृतिका मूल है। वह हममें सांस्कृतिक जागरण लानेकी सामर्थ्य रखती है। अतः हमें उसका आदरपूर्वक प्रसारकर अपने हृदयको प्रत्यभिज्ञा शक्ति-सम्पन्न तथा स्वतन्त्र बनाना चाहिये जिससे कि राजनीतिक मुक्तिके साथ-साथ मानसिक परतन्त्रतासे भी मुक्ति मिल सके।

३—भारतवर्ष धर्मस्थानों, देवस्थानों, ऋषियों, मुनियों, यतियों और साधु-संतों तथा योगियोंका देश इसलिये कहलाता रहा है कि अतीतमें इन्होंने देश, धर्म और संस्कृतिके लिये बड़े-बड़े त्याग और कष्ट सहन किये हैं। जिनके कारण साधु-संस्था आजतक पूज्यभावसे देखी तथा सम्मानित की जाती है। इस संस्थाके पास जो चल अथवा अचल सम्पत्ति विद्यमान है, वह एकमात्र धार्मिक और सांस्कृतिक उत्थानके लिये ही विहित और दत्त है। उसका उपयोग विहित अर्थोंमें न होनेके नामपर ही दक्षिणका धर्मादा कानून सामने आया है और देशमें इस प्राचीन संस्थाके विरुद्ध एक प्रबल आन्दोलन तथा असन्तोष फैल रहा है। विद्वान् ब्राह्मण, विशेषतः संत, महन्त गद्दी और मठ-मन्दिरोंसे इतने ज्यादा चिपक गये हैं कि उन्होंने अपने धर्म तथा सांस्कृतिक प्रचारके सहजात कर्तव्यको प्रायः भुला दिया है। फलतः उनसे मिलनेवाला संस्कृति-संरक्षणका सन्मार्ग-प्रदर्शन बंद-सा हो गया है। अन्वेषण करनेपर गिने-चुने मुष्टिमेय साधु-संत और योगी ही ऐसे मिलेंगे, जो अपनी साधना, चरित्र-बल, विद्वत्ता तथा जन-कल्याणकी भावनाद्वारा जनताके लिये सच्चा मार्ग-दर्शन कराते हुए सांस्कृतिक प्रचारके अपने सहजात कर्तव्यका पालन करते हों।

विद्वान् ब्राह्मणों, विशेषतः उन संत-महन्तों और मठाधीशोंसे, जो अपने कर्तव्यके प्रति समयानुसार जागरूक हैं, निवेदन है कि देशमें सांस्कृतिक जागरणकी स्वागतयोग्य भावना प्रबल हो रही है। यही समय है, जब साधु-संस्था सांस्कृतिक उत्थानके क्षेत्रमें आगे आकर स्वार्थ-परमार्थ दोनोंकी रक्षाके साथ नयी व्यवस्थामें अपना स्थान पूर्ववत् सुरक्षित रख सकती है।

अंग्रेज भारतसे चले गये, किंतु अंग्रेजियत अभी चिपकी हुई है। उसका हमारे मानस-तलोंसे छूटना कठिन हो रहा है। यदि वह साधारण भारतीयोंसे चिपकी हुई होती तो उपेक्षा की जा सकती थी, किंतु देशके राजनीतिक कर्णधारोंतकपर उसका रंग चढ़ा है। उन कर्णधारोंमें भारतीय संस्कृतिके पोषक भी हैं, जो अपने प्रयत्नोंसे सांस्कृतिक संरक्षणको पुष्ट करनेकी स्तुत्य भावना रखते हैं। किंतु शासन-शकटमें जुतकर उन्हें प्रवाहानुगमन स्वीकृत करना पड़ता है। फिर भी कृतज्ञतापूर्वक हमें यह मानना चाहिये कि शासन-शकटके ऐसे संस्कारी भारतीयोंके सत्प्रयासके फलस्वरूप अल्पमात्रामें भारत-सरकारका ध्यान सांस्कृतिक प्रोत्साहनकी तरफ गया अवश्य है। भारतके सांस्कृतिक चिह्नोंको पत्र-मुद्राओंमें लेने और सोमनाथ-मन्दिरके संवर्द्धन-प्रयत्नसे शासन-शकटकी दिशा बदलनेका सूक्ष्म और सांकेतिक परिचय मिलता है। यदि दूरदर्शितासे देखा जाय तो जितनी प्रेरणा भारतीय युवकोंको देशहितार्थ, त्याग, बलिदान करनेकी भारतीय संस्कृतिने दी है, उतनी और किसी आधुनिकवाद और नवीन सभ्यताने नहीं। भारतीयधर्म और संस्कृतिने ही उन्हें यह सिखाया कि 'भारत भूमि' भारतीयोंकी माता है। प्रातःकाल शय्यासे उठकर नीचे पैर रखते ही प्रत्येक स्व-धर्म-रत हिंदू—

समुद्रवसने देवि पर्वतस्तनमण्डिते।
विष्णुपत्नि नमो मातः पादस्पर्शं क्षमस्व मे॥

—इन शब्दोंमें भारतको माता कहकर अपने पद-स्पर्शकी क्षमा माँगता है। भारतीय हृदय-प्रदेशमें छिपी इस मातृ-

भक्तिको, जो भारतीय संस्कृतिकी देन है, व्यक्तकर उससे राजनीतिक लाभ लेनेके लिये ही 'वन्दे मातरम्' की मनोवैज्ञानिक सृष्टि हुई। वर्तमान भारतीय राजनीतिके मध्यकालमें 'वन्दे मातरम्' के मनोज्ञ और सुमधुर गीतने भारतकी सोती हुई हृत्तन्त्रीको जगाया। फिर आज मातृत्वके पूज्य भावसे भरे हुए सांस्कृतिक और राष्ट्रीय गान 'वन्दे मातरम्' के प्रति यह पुत्रौचित्यशून्य अकृतज्ञ भाव क्यों ? किसकी तुष्टि और पुष्टिके लिये ? जिस अभारतीय प्रकृतिकी प्रसन्नताके लिये यह किया जाता है, वह भूतमें न कभी तुष्ट हुई और न भविष्यमें हो सकती है। भारतका अनुभूत सिद्धान्त-वाक्य 'प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति' तो यही बताता है। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि विश्वकी महाशक्तियोंको हमें विभक्त करनेका अवसर देनेवाली त्रुटियोंपर निग्रहका अंकुश न रखा जाय। वह अवश्य रखना चाहिये, किंतु वह अंकुश तुष्टि-मूलक न होकर सामर्थ्यमूलक हो। सांस्कृतिक भारत यही चाहता है। इसके उपलब्ध होनेपर वह नहीं कहेगा कि सांस्कृतिक ह्रासके कारणोंमें एक कारण, वर्तमान शासनकी सांस्कृतिक उदासीनता भी है।

आज देश अभारतीय कम्युनिज्मके आतङ्कसे सशंक है; किंतु यह सोचने और पहचाननेकी कोई चेष्टा नहीं कि आखिर यह बला आयी कहाँसे ? यदि पश्चिमसे तो फिर हम अब भी तो सब बातोंमें पश्चिमकी नकल करनेसे रुककर उस भारतीय संस्कृतिकी ओर, जिसके लाखों वर्षोंके कालमें कभी कम्युनिज्म नहीं फैला, मुड़ जायँ। सच पूछिये तो एक भारतीय संस्कृति ही हिंसाप्रधान कम्युनिज्मको रोकनेकी सामर्थ्य रखती है। भारतीय संस्कृति सिखाती है कि 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्' अर्थात् जो बात तुम अपने लिये प्रतिकूल पाते हो, दूसरोंके लिये उसका आग्रह न करो। इसी प्रकार 'आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पश्यति' आदि कितने ही आदर्शसूत्र भारतीय संस्कृतिमें हैं, जिनका प्रसार हिंसा-प्रधान कम्युनिज्मको रोककर विश्व-बन्धुताका पाठ पढ़ानेकी सामर्थ्य रखता है। देशके वर्तमान राजनीतिक कर्णधारोंसे निवेदन है कि वे देशवासियोंके सहज सांस्कृतिक आकर्षण अथवा प्रेमका आदरकर उससे लाभ उठावें। सांस्कृतिक पुकार यदि सच्चे हृदयसे निकले, तो देशकी आत्माको स्पर्श करती है। उसे लेकर आगे आनेवाले इस देशमें कभी विफल नहीं हो सकते। यह बात पिछले आन्दोलनमें लक्षावधि भारतीयोंके कारावास-स्वीकारसे सिद्ध हो चुकी है। आशा है, देशकी मङ्गलकामनासे किये गये इस निवेदनपर ध्यान दिया जायगा।

योग-भक्ति-निदिध्यासन

(लेखक—स्वामीजी श्रीकृष्णानन्दजी सरस्वती)

[गताङ्कसे आगे]

योगदर्शनमें आये विरोधी वाक्योंका तात्पर्य

योगशास्त्रमें विभिन्न सूत्रोंके भाष्यमें उपर्युक्त स्वाध्याय तथा योगसम्बन्धी वचन आते हैं, जिनमेंसे एकमें तो यह कहा गया है कि योगसे ही योग जाना जाता है और दूसरेमें यह प्रतिपादन किया गया है कि स्वाध्यायसे योग होता है और योगके पश्चात् स्वाध्याय करे। स्थूल दृष्टिसे देखनेपर इन दो वाक्योंमें विरोध प्रतीत होता है, परन्तु एक ही शास्त्रमें आये हुए दो वाक्योंमें विरोध कदापि नहीं हो सकता। विचार करनेपर तो यही प्रतीत होता है कि जो भाव पहले दर्शाया गया है, वही इनका युक्तिसङ्गत अर्थ हो सकता है। योगसे योग जाना जाता है, यह वाक्य योग तथा स्वाध्यायके परस्पर सहयोगके खण्डन करनेके लिये नहीं है; इसका भाव तो यह है कि शास्त्र तो योग-भूमियोंके स्वरूपका निर्णय करता है; परन्तु जिज्ञासु किस भूमिके योग्य है; इस योग्यताका निर्णय तो उसके पूर्वकृत योगाभ्यासके तथा सामर्थ्यके बलपर ही हो सकता है। शास्त्र स्वतन्त्रतया किसीकी योग्यताका निर्णय नहीं कर सकता।

योगशास्त्रमें अश्रद्धाका कटु फल

वैदिक शास्त्रोंमें अश्रद्धा तथा स्वाध्यायरहित मार्गका अनुसरण करनेमें कितना महान् अनर्थ हो सकता है; यह योगदर्शनके (१। १९-२०) सूत्रोंके व्यासभाष्य तथा तत्त्ववैशारदी टीकामें वायुपुराणके उद्धृत वाक्योंके मननसे स्पष्ट प्रतीत होता है—

'यह असम्प्रज्ञातरूप परम योगके दो भेदोंका वर्णन है। श्रुतिमें श्रद्धा रखनेवाले, श्रुतिके श्रवण और मननके द्वारा परम लक्ष्य और उसके साधनोंकी शिक्षाके अनन्तर जो जिज्ञासु परम लक्ष्यकी सिद्धिके लिये यत्न करते हैं, बीसवें सूत्रमें उनके मार्गका निर्देश किया गया है कि वे किस प्रकार क्रमसे सच्ची विवेकख्यातिद्वारा गुण-अधिकार समाप्त हो जानेपर, असम्प्रज्ञात स्वरूपस्थितिसे परम लक्ष्यकी सिद्धिमें

सफलमनोरथ होते हैं। वे संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाते हैं और फिर संसारमें नहीं आते; परंतु जो लोग श्रुतिमार्गका अनुसरण न करके, अन्य मार्गोंका अवलम्बन कर असम्प्रज्ञात समाधि लाभ करते हैं, उनकी वह असम्प्रज्ञात समाधि स्वरूपस्थिति नहीं होती; वह एक प्रकारकी लय अवस्था होती है जिसको वेदान्तके ग्रन्थोंमें विघ्न कहा गया है।

भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम् ।
(योग० १ । १९)

व्यासभाष्य—

विदेहानां देवानां भवप्रत्ययः ते हि स्वसंस्कारमात्रोपयोगेन चित्तेन कैवल्यपदमिवानुभवन्तः स्वसंस्कारविपाकं तथाजातीयकमतिवाहयन्ति तथा प्रकृतिलयाः साधिकारे चेतसि प्रकृतिलीने कैवल्यपदमिवानुभवन्ति यावन्न पुनरावर्ततेऽधिकारवशाच्चित्तमिति ॥ (१ । १९)

तत्त्ववैशारदी—श्लोकः वायुपुराणे

दश मन्वन्तराणीह तिष्ठन्तीन्द्रियचिन्तकाः ।
भौतिकास्तु शतं पूर्णं सहस्रं त्वभिमानिकाः ॥
बौद्धा दश सहस्राणि तिष्ठन्ति विगतज्वराः ।
पूर्णं शतसहस्रं तु तिष्ठन्त्यव्यक्तचिन्तकाः ॥
पुरुषं निर्गुणं प्राप्य कालसंस्था न विद्यते ।

श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वमितरेषाम् ।
(योग० १ । २०)

व्यासभाष्य—

उपायप्रत्ययो योगिनां भवति, श्रद्धा चेतसः सम्प्रसादः सा हि जननीव कल्याणी योगिनं पाति । तस्य हि श्रद्दधानस्य विवेकार्थिनो वीर्यमुपजायते वीर्यस्य स्मृतिरुपातिष्ठते, स्मृत्युपस्थाने च चित्तमनाकुलं समाधीयते येन यथावद्वस्तु जानाति तदभ्यासात् तद्विषयाच्च वैराग्यादसम्प्रज्ञातः समाधिर्भवति ॥

सांख्यदर्शन (३ । ५४), (३ । ४६-४७), सांख्यकारिका (४५) तथा ईशोपनिषद् (१२-१३-१४) में भी विदेह तथा प्रकृतिलयोंका वर्णन मिलता है—

न कारणलयात् कृतकृत्यता मग्नवदुत्थानम् ।
(सांख्य० ३ । ५४)
दैवादिप्रभेदात् । (सांख्य० ३ । ४६)
आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं तत्कृते सृष्टिरविवेकात् ॥
(सांख्य० ३ । ४७)

वैराग्यात्प्रकृतिलयः संसारो भवति राजसाद्रागात् ।
ऐश्वर्यादविघातो विपर्ययात्तद्विपर्यासः ॥
(सांख्यकारिका ४५)

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्याꣳ रताः ॥
अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात् ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥
सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयꣳ सह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते ॥
(ईश० १२-१४)

विदेह तथा प्रकृतिलयकी अवस्थाएँ महान् परिश्रम करके योगद्वारा प्राप्त होती हैं और उन अवस्थाओंके अनस्थितिकालमें मोक्षके समान ही त्रिविध दुःखकी अत्यन्त निवृत्ति होती है; तभी इन अवस्थाओंमें मोक्षकी भ्रान्ति होती है। ये सब अवस्थाएँ दिव्यलोकके अधिपतियों (ब्रह्मा, प्रजापति, देवेन्द्र आदि) से भी अत्यन्त विलक्षण सुखदायी होती हैं। इन अवस्थाओंमें उनके वर्तमान रहते हुए दुःखका लेशमात्र भी नहीं होता। जब जिज्ञासु श्रुतिमें आस्तिक भाव न रखकर श्रुतिप्रतिपादित परम ध्येय ब्रह्म और उसके द्वारा प्रतिपादित ज्ञानकी साधना तथा श्रुति-अनुकूल योगका अनुसरण न करके, केवल अपनी विचित्र मतिके आधारपर स्वतन्त्रतापूर्वक किसी योगविधिका अनुसरण करता है; जैसे भौतिक पदार्थोंमें ही चित्तवृत्तिका निरोध करता है; तो इस प्रकारके साधनोंसे वह विदेह तथा प्रकृतिलय दशाओंको प्राप्त कर लेता है और इन्हीं स्थितियोंको कृतकृत्यता मान लेता है, अतः परम ध्येयको नहीं प्राप्त करता। वह इन स्थितियोंमें दिव्य गतियोंके समान ही सहस्रमन्वन्तर वर्षोंतक अर्थात् अनेक वर्षोंतक त्रिविध दुःखरहित स्थितिका अनुभव करता है और फिर इस दुःखमय संसारमें लौट आता है। जब इस निरुद्ध स्थितिसे ऐसे जीवोंका उत्थान होता है तो वे पुनः संसारगतिको प्राप्त करते हैं; क्योंकि उनका अज्ञान अभी बना हुआ ही है; यह अज्ञान आत्मसाक्षात्कारसे नष्ट हो सकता है जो उनको नहीं हुआ। उनकी भूत, तन्मात्रा आदिमें ही आत्मभावना है। श्रुति-आदेशहीन योगके फलका यह कितना भयानक चित्र है। महान् सिद्ध शक्तिसम्पन्न योगियोंका भी यदि श्रुतिश्रवण आदिके तिरस्कारसे इतना महान् अनर्थ हो सकता है तो अन्य सामान्य अनासक्ति आदिको परम ध्येय

माननेवाले अथवा शास्त्र-श्रद्धा तथा स्वाध्यायहीन सामान्य योगमात्रको ही सर्वस्व समझनेवाले और सामान्य चमत्कारों या शान्त स्थितिमें ही अपने-आपको कृतकृत्य समझनेवालों की भ्रान्त धारणाओंका दुष्परिणाम संसारगति होनेमें सन्देह ही क्या हो सकता है ? अतः शास्त्रमें अनन्य श्रद्धा रखकर उसका श्रवण (स्वाध्याय) ब्रह्मविद्याका प्रथम अनिवार्य साधन है। इसीलिये योगसूत्र (१-२०) में वेदोक्त योगके साधनोंमें श्रद्धाको प्रथम स्थान दिया गया है। क्योंकि वही श्रद्धा वीर्य (बल-धैर्य), स्मृति, समाधि तथा प्रज्ञादि और वेदोक्त असम्प्रज्ञातरूपी योगके उपायोंकी जननी है। अतः श्रद्धारूपी जननीके अभावमें अन्य उपायों तथा फलोंका होना अत्यन्त असम्भव है। इसलिये विचारवान् साधकोंको योगके साथ-साथ स्वाध्यायको भी उपयुक्त स्थान देना चाहिये।

योगके स्वरूप अथवा लक्ष्यसम्बन्धी भ्रान्ति

श्रुति और उसका अनुसरण करनेवाला योगदर्शन लक्ष्य तथा साधनको याथातथ्य प्रकारसे निरूपण करते हैं। योगके स्वरूप, साधनाके भेद, अनुभूतियोंका कार्यक्षेत्र तथा परम लक्ष्यका श्रुतिके संकेतके आधारपर भली प्रकार निरीक्षण किये बिना योगमें प्रवृत्ति सफल नहीं हो सकती। शारीरिक तथा मानसिक अनेक विघ्न योगमें उपस्थित हो सकते हैं। उनको पहलेसे ही सावधानीसे रोका जा सकता है। और उनके उपस्थित होनेपर उन्हें विघ्नरूपमें पहचानकर उनको निवारण भी किया जा सकता है।

एक डाक्टर लेखकने योगपर एक ग्रन्थ लिखा है। इस ग्रन्थमें उसने योगका लक्षण इस प्रकार किया है कि श्वास-प्रश्वास तथा हृदयके स्पन्दनका निरोध करना योग है। इसी लक्षण तथा स्वरूपके आधारपर अन्य कई योगसाधनोंका उसने निरूपण किया है। उस ग्रन्थमें लिखा है कि योगी लोग दूध-फलका अल्पाहार करते हैं, एकान्तमें रहते हैं, मौन धारण करते हैं और गुफाओंमें निवास करते हैं, ये आचरण वे लोग इसलिये करते हैं कि $c^{\circ}2$ कम उत्पन्न हो। क्योंकि $c^{\circ}2$ कम पैदा होनेसे यौगिक हृदयगति रोकनेके कार्योंमें सुविधा होती है। $c^{\circ}2$ वह कार्बोनिक एसिड गैस है जो श्वासके रूपमें मुख-नासिकासे बाहर निकलती है। इस $c^{\circ}2$ गैसका तथा श्वास-प्रश्वासका इस प्रकारका वर्णन किसी प्राचीन योगग्रन्थमें नहीं है। हठयोगके ग्रन्थोंमें भी यह उल्लेख कहीं नहीं है कि गुफा आदिमें इसीलिये ही निवास किया जाता है। आजकल योगके चमत्कार दिखानेवाले ऐसे योगी अवश्य मिलते हैं जो जनताको हृदय तथा फुफ्फुसकी गति बंद करके दिखाते हैं। डाक्टर ऐसे अवसरपर परीक्षा भी करते हैं; इससे सामान्य जनता तथा डाक्टरोंको यह भ्रान्ति हो सकती है कि योगका लक्ष्य तथा कार्य श्वास-प्रश्वास तथा नाड़ीकी गतिको रोकना है। इस प्रकार वे योगियोंके आहार, निवास आदिके सम्बन्धमें यह धारणा कर सकते हैं कि ये योगी अपनी क्रियाएँ $c^{\circ}2$ कम करनेके लिये करते हैं; क्योंकि ऐसे योगियोंका मुख्य चमत्कार श्वास-प्रश्वासकी गतिको रोकना ही है। अब कई महानुभावोंने राजयोगके ग्रन्थोंकी व्याख्यामें भी इसी शैलीका प्रयोग किया है। डाक्टरकी उपर्युक्त परिभाषाके साथ $c^{\circ}2$ की बातका कुछ युक्तिसंगत मेल भी हो सकता है; परंतु राजयोगमें; जहाँपर योगका लक्ष्य चित्त-वृत्तियोंका निरोध या जीवात्माका परमात्माके साथ मेल आदि है; वहाँपर इस $c^{\circ}2$ के भौतिक विज्ञानके सिद्धान्तका कैसे सामञ्जस्य हो सकता है, यह बात समझमें नहीं आती। इस एक उदाहरणसे ही स्पष्ट हो जाता है कि श्रुतिद्वारा निर्देश किये गये योगके स्वरूप तथा लक्ष्यको यदि सर्वदा सम्मुख न रक्खा जाय तो इस सम्बन्धमें भ्रान्ति हो जाना स्वाभाविक है। और इस भ्रान्तिसे साधनादिमें भी भ्रान्ति अनिवार्य है। इस प्रकारकी अनेक भ्रान्तियोंके कारण साधक सफल-मनोरथ नहीं होता।

योगकी अनुभूतियोंमें भ्रान्ति

योग अत्यन्त रहस्यमय है। सामान्य बुद्धिसे इस कार्य-क्षेत्रका निर्णय करना असम्भव है। जैसे एक समुद्रमें गोता लगानेपर अनेक पदार्थ हस्तगत होते हैं—रेत, पत्थर, मोती, हीरे और हीरोंमें भी बहुत भेद होता है छोटा, बड़ा, अच्छा, बुरा आदि। इन पदार्थोंका भेद-ज्ञान न हो तो मनुष्य जो कुछ भी उसे मिल जाय उसको ही हीरा समझनेकी भूल कर सकता है या हीरेको पत्थर समझकर फेंक भी सकता है। ऐसी भूल तथा मूर्खताके कारण मनुष्य जीवनकी बाजी लगाकर, समुद्रमें गोता लगाकर भी फलसे वञ्चित रह जाता है। ठीक इसी प्रकार योगरूपी क्षेत्र महान् रत्नोंसे भरा समुद्र है। इसका अनुष्ठान करनेपर अनेक पदार्थ उपलब्ध होते हैं। जो मूल्यवान् होते हैं उनमें भी अधिक-कम मूल्यके अनेक तारतम्य होते हैं। इनके भेदको न जानता हुआ साधक भूल कर सकता है और वह निरर्थकको मूल्यवान्, मूल्यवान्को निरर्थक या कम मूल्यवालेको अधिक

मूल्यवाला समझकर वैसा आचरण करके विफलमनोरथ हो जाता है। योगसिद्धिकी पहचान तथा उसकी प्राप्तिके लिये शास्त्र-ज्ञान तथा धैर्यकी बहुत आवश्यकता है। जब चित्त-वृत्तियोंका सामान्य निरोध भी होता है तो भी उसका कुछ-न-कुछ परिणाम अवश्य होता है। पहले तो साधकके अपने प्राचीन संस्कार ही वृत्तिका रूप धारण कर लेते हैं, वह इनको ही सूक्ष्म जगत्के यौगिक अनुभव मान लेता है तथा इस सामान्य तुच्छ रेतको ही योगकी सिद्धि मान बैठता है।

जैसे इस जगत्में अनेक प्रकारके भले-बुरे मनुष्य होते हैं, इसी प्रकार सूक्ष्म जगत्में भी असुर तथा देव-आत्माएँ तथा शक्तियाँ होती हैं। प्रारम्भिक जिज्ञासुके लिये इनमें भेद करना कठिन होता है। इसे जो भी अनुभव होता है, यह उसे ही अपने लोभ, मोह या अभिमानके वश होकर दिव्य, तथ्य और परमोपयोगी अनुभव मान लेता है। उसके अपने प्राचीन दबे संस्कार अपनी पूर्तिके लिये अनेक रूप धारण कर लेते हैं और आवेशके रूपमें पूर्ति चाहते हैं जिसका मनुष्यको ठीक बोध नहीं होता। किसी ऐसे अनुभवके दृश्य, शब्दादिको परम सत्य मान लेना बड़ी भूल है। जिस परम सत्यकी उपलब्धिके लिये 'अनेकजन्मसंसिद्धि' कहा गया है, उसे थोड़े ही दिनोंमें हस्तगत कर लेनेकी दुराशा केवल अभिमान तथा अज्ञानके कारण ही हो सकती है। बहुधा मनुष्य अधीरताके कारण उपयुक्त परीक्षा नहीं करता। दस बातोंमें यदि एक सच्ची और नौ झूठी निकलती हैं तो उन नौकी उपेक्षा करके एकका अधिक मूल्य लगाता है और उसके आधारपर दिव्य सन्देशकी घोषणा कर देता है। एकाध भविष्यकी वार्ता तो अनुमानसे भी ठीक निकल सकती है, इस एकाधसे वास्तविक सिद्धिकी क्या सम्भावना; परंतु मोह तथा अभिमान इन सन्देशों तथा वाणियोंमें असल-नकलकी तुलना नहीं करने देते। अपने ऐसे मनोभावों और आकाङ्क्षाओंको ही दिव्य सन्देश तथा दर्शनोंका ही नाम दे दिया जाता है। जो देवताओंके या अन्य दिव्य दर्शन कहे जाते हैं सम्भवतः वे भी संस्कारवश मिथ्या या आंशिक रूपसे सत्य हो सकते हैं। यदि उनके सत्य या मिथ्याका निश्चय करना हो तो उनके प्रभाव आदिकी विवेचना करनी आवश्यक होती है। परंतु आरम्भिक साधकमें न तो इस विवेचनाकी योग्यता होती है और न उसे ऐसा विश्लेषण करना प्रिय लगता है। वह तो अपने वृथा अभिमानके कारण जो कुछ भी उसके सामने आता है, उसपर भूखेके समान टूट पड़ता है। ऐसी अवस्थामें शुद्धाशुद्ध तथा सत्यासत्यविवेकका धैर्य ही दुर्लभ होता है। कई साधक अल्पकालकी साधनामें ही ऐसा मानने लगते हैं कि उन्हें वास्तविक दिव्य तथा सगुण दर्शन हो रहे हैं; परंतु उनके जीवन, व्यवहार तथा मानसिक सन्तोष और शान्ति आदिमें कुछ अन्तर नहीं आता। क्या शास्त्रोंमें भगवद्दर्शनका यही फल वर्णन किया गया है कि भगवद्दर्शन भी हो जाय और जीवन भी वैसा-का-वैसा अशान्त तथा विषयासक्त बना रहे। भगवान्के किसी रूपका दर्शन भी जीवनको आनन्दमय बना देता है; उसकी एक झलक भी एक बारमें ही संसार-दृष्टिको परिवर्तित कर देती है। भगवान्के दर्शनके पश्चात् भी वही राग-द्वेष तथा लोभादिसे युक्त व्यवहार कैसे रह सकता है? ऐसे तामसिक व्यवहार तो दर्शनाधिकारी अभ्यासीके दर्शनसे पूर्व ही निवृत्त हो जाते हैं; दर्शनके पश्चात् इनके ठहरनेकी बात ही क्या है? वह दिव्य दर्शन सम्पूर्ण जीवनको दिव्य बना देते हैं। कोई भाग्यवान् ऐसे दर्शन पाकर विस्मित होता है कि उसके लिये संसार कैसे परिवर्तित हो गया है, उसकी कायापलट हो जाती है। मनुष्य चित्रमें भी तो भगवान्के सगुणरूपके दर्शन करता है, इस दर्शनसे जीवनमें क्या विशेष परिवर्तन हो जाता है। यह चित्र इहलौकिक है, दिव्य नहीं; अतः उसका प्रभाव नहीं होता। ऐसे ही मनोभावनासे कल्पित दर्शन वास्तविक दिव्य दर्शनसे भिन्न है। इनका प्रभाव मनुष्यके मन तथा जीवनपर कुछ नहीं होता। परंतु इस प्रकारका भेद तथा मीमांसा करनेका जिज्ञासुके पास विवेक नहीं होता और न ऐसा करना उसको अच्छा लगता है; क्योंकि वह तो झट उसको सत्य मानकर योगोपाधि ग्रहण करनेको उत्सुक होता है, यह उत्सुकता उसकी विवेचना-शक्ति तथा सत्यासत्यनिर्णयकी सामर्थ्यको हर लेती है। इस प्रकार कुछ योगमार्गाभिमानी लोग झट बैठनेपर दिव्य प्रकाश आदि करना-कराना चाहते हैं। इन बातोंसे सिवा अपनी तथा दूसरोंकी वञ्चनाके और कुछ लाभ नहीं होता। ऐसे ही योगकी अनुभूतियाँ अनेक प्रकारकी होती हैं। योगमें ज्ञान, आवेश, शक्ति आदि भिन्न-भिन्न प्रकारकी होनेवाली अनुभूतियोंका विस्तृत विवेचन करनेका यहाँ न तो अवकाश है और न आवश्यकता ही है। इनके तथ्यातथ्य-निर्णय करनेके लिये शास्त्रबोध ही सहायक है। यह सत्य है कि ऐसे गुह्य अध्यात्मशास्त्रका स्वरूप भी किसी अनुभवीके द्वारा ही ज्ञात हो सकता है। अन्यथा जिज्ञासु कई यथार्थ वर्णनोंको कल्पनामात्र कह देता है अथवा किसी

कल्पनाका (वर्णनका) वास्तविक तात्पर्य क्या है, इसका केवल शब्दपाण्डित्यसे निर्णय नहीं हो सकता। अनुभवी महात्मा तो अत्यन्त दुर्लभ हैं ही, उनके महत्त्वका निरादर कौन कर सकता है; परंतु श्रुति तथा ऋषिप्रणीत अध्यात्मविद्या-सम्बन्धी ग्रन्थ भी रहस्यमय ब्रह्मविद्याके सच्चे अनुभवोंसे भरे हुए हैं; अतः शास्त्रमें अनन्य श्रद्धा रखकर उनका सदुपयोग करना ही युक्तियुक्त मार्ग है। भौतिक विज्ञानके विषयोंमें प्राचीन विद्वानोंके आविष्कारोंसे लाभ उठाये बिना स्वतन्त्र रूपसे मनुष्य क्या उन्नति कर सकता है। जैसे विज्ञानके क्षेत्रमें उन्नतिके लिये प्राचीन विद्वानोंके आविष्कार-सम्बन्धी ग्रन्थ, वर्तमान शिक्षक तथा यन्त्रोंका प्रयोग और अन्य प्रकारके प्रयत्न—ये तीन भिन्न-भिन्न साधन परस्पर सहायक हैं और उनके समुच्चय प्रयोगसे ही सफलता हो सकती है। अध्यात्म-विद्याके क्षेत्रमें तो यह नियम और भी अधिक आवश्यक है, क्योंकि यह विद्या अति रहस्यमय है तथा श्रुति सर्वज्ञ, सर्व-शक्तिमान्, परमहितैषी ईश्वरप्रणीत है और ऋषियोंके अनुभव इसका अनुमोदन करते हैं। वर्तमानकालीन साधारण योगाभ्यासी प्राचीन ऋषियोंके समुच्चय अनुभवसे अपने अनुभवकी सामान्यतया कैसे तुलना कर सकता है।

उपर्युक्त विवेचनका निष्कर्ष

उपर्युक्त विवेचनका निष्कर्ष यह है कि वर्तमान कालमें अध्यात्मविद्याके दो सहकारी तथा उपयोगी साधन 'श्रुतिका स्वाध्याय' तथा 'योग' पृथक्-पृथक् हो गये हैं, अतः परमलक्ष्यकी सिद्धिमें बाधा उपस्थित हो रही है जिससे श्रुति-सिद्धान्तके प्रति विमुखता बढ़ती जाती है। शास्त्रपरायण विद्वान् शास्त्रा-ध्ययन-अध्यापनको ही ब्रह्मविद्याका एकमात्र, परम तथा पर्याप्त साधन मानते हैं। ब्रह्मको औपनिषद-तत्त्व मानते हैं; [जो ठीक ही है] वह उपनिषदेकगम्य है, इसलिये वे लोग योगोपासना आदिको अज्ञानमूलक कहकर उनका तिरस्कार करते हैं और इन साधनोंको उचित स्थान नहीं देते। दूसरा वर्ग योगमार्गवालोंका है। वे केवल योगसे ही परम सिद्धिका होना मानते हैं। श्रुतिके अध्ययनको विवाद, संशय, अश्रद्धा आदिका कारण मानते हैं और उसमें श्रम करनेको वृथा तथा इन दूषणोंको उत्पन्न करनेवाला मानते हुए श्रुतिके अध्ययनको परम लक्ष्यमें बाधक मानते हैं। ये दोनों वर्ग आग्रहके कारण श्रुति तथा विचार-युक्ति-सम्मत दोनों श्रेय-साधनोंके समुच्चयका अनुसरण नहीं करते। अतः विफलमनोरथ होते हैं। इसलिये विचारशील जिज्ञासुओंको परम लक्ष्यकी सिद्धिके लिये इन दोनों परमोपयोगी साधनोंका उचित सदुपयोग करना चाहिये। शास्त्र-अध्ययन बिना योगके पङ्गु है और योग बिना शास्त्राध्ययनके अन्धा है। इन दोनोंका मेल ही एक दूसरेकी अपूर्णताको दूर करके मनुष्यको पूर्णताकी ओर ले जा सकता है।

यम-नियम

योगकी उपयोगिता तथा इसके सहकारी श्रुति-श्रद्धा-अध्ययन आदिका विवेचन हो चुका है। इसी बीचमें योगके कतिपय विघ्नोंका भी चेतावनीके लिये और असम्प्रज्ञात-समाधिके दो भेद और इनमें कौन-सा हेय तथा कौन-सा उपादेय है, इन सब विषयोंका निरूपण हो चुका है। अब योगविषयक कई अन्य उपयोगी बातोंका निरूपण किया जाता है।

समाधान-प्रकरणमें इस विषयका निरूपण हुआ है कि समाधियोग तथा उपनिषद्-विद्याके अभ्यासका सच्चा अधिकारी वही है जो एकाग्रभूमि—समाहित चित्तवाला हो। विक्षिप्त चित्तवालोंके लिये योगके साधनपादमें अन्य उपयोगी पाँच बहिरङ्ग साधन बताये गये हैं। इन पाँचमेंसे पहले दो यम-नियमोंका निरूपण (२। ३०-३२) सूत्रोंमें किया गया है—

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।
(योग० २। ३०)

शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।
(योग० २। ३२)

इन्हींका ही साररूपमें प्रजापतिके प्रथम दो उपदेशोंमें वर्णन है; जिनपर आचरण कर लेनेके पश्चात् ही जिज्ञासुको देवताओंके उपदेश इन्द्रिय-दमन अर्थात् वैराग्य-अभ्यास आदिका अधिकार प्राप्त होता है। समाधि-अभ्यासवालेके लिये इन यम-नियमोंका अनुष्ठान स्वाभाविक होता है और विक्षिप्त चित्तवालेको इनका अनुष्ठान यत्नसे करना पड़ता है, परंतु इनके अनुष्ठानके बिना किसी अध्यात्ममार्गोपयोगी योगका अभ्यास नहीं हो सकता। हठयोगका भी कोई ऐसा प्राचीन ग्रन्थ नहीं मिलेगा, जिसमें सबसे पहले इनका उपदेश न मिले। परंतु आजकलके भोगप्रधान युगमें यम-नियमकी ओर कम ध्यान दिया जाता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस युगमें इनका अनुष्ठान अत्यन्त कठिन है; परंतु कठिन होनेसे ही इनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इनके बिना प्राणायामादि सभी योगसाधन निरर्थक कुञ्जर-स्नानके समान

होते हैं तथा अनेक शारीरिक तथा मानसिक दुस्साध्य रोगोंका कारण बन सकते हैं और सर्वसाधारणमें योगसम्बन्धी अश्रद्धाकी वृद्धिका कारण बन सकते हैं। इसलिये यम-नियमोंकी ओर विशेष ध्यान देना चाहिये। यम-नियमका पालन करके आभ्यन्तर शुद्धिकी ओर हठयोगकी षट्क्रियासे घट-शुद्धिकी अपेक्षा अधिक ध्यान देनेकी आवश्यकता है। यम-नियम अर्थात् खान-पानका संयम तथा ब्रह्मचर्यादिके बिना यह षट्क्रिया भी दुःसाध्य रोग उत्पन्न कर देती हैं। इसका सामान्य निरूपण प्रजापतिके उपदेश तथा कर्म-प्रकरणमें हो चुका है। अतः यहाँपर इनकी उपयोगितापर विशेष विचार नहीं किया जाता।

हठयोग-षट्क्रिया-प्राणायामादि

आसनों तथा षट्क्रियाओंका विधान हठयोगसम्बन्धी ग्रन्थोंमें किया गया है। इनका उद्देश्य आध्यात्मिक होता है। केवल शारीरिक नीरोगताके सम्बन्धमें चमत्कारी प्रभावके कारण ही इनका उल्लेख नहीं है। यद्यपि दुःसाध्य रोगोंका निवारण भी इनसे हो सकता है। आजकल केवल इनकी शारीरिक उपयोगिताकी दृष्टिसे अनेक ग्रन्थ यौगिक चिकित्सापर लिखे गये हैं जिनमें आसनों आदिका सविस्तर निरूपण होता है। ऐसे कई योग-आश्रमोंकी स्थापना हुई है जिनमें विशेषतया केवल शारीरिक उपयोगिताकी दृष्टिसे इनकी शिक्षा होती है। इससे सामान्य जनताको यह भ्रान्ति होती है कि यह आसनादि ही योग हैं और इनका लक्ष्य केवल शारीरिक नीरोगता आदि ऐहिक लाभ है। यह बात भी सत्य है कि इन आसनादिमें ये सब ऐहिक लाभ शारीरिक नीरोगता आदि पहुँचानेके गुण हैं और जिनकी दृष्टि केवल ऐहिक लाभपर है वे भी इनकी ओर इसीलिये आकृष्ट होते हैं और वे लोग इनकी आध्यात्मिक मार्गमें गौणरूपसे ही उपयोगिता मानते हैं। क्योंकि 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्' का विचार भी उनके सम्मुख रहता है। परंतु यह दृष्टिकोण ठीक नहीं है। क्योंकि हठयोग आदि ग्रन्थ भी अध्यात्मविद्याका निरूपण करते हैं; चाहे ये वैदिक ग्रन्थ नहीं हैं; परंतु इनमें भी इन क्रियाओंका उल्लेख मुख्यतया आध्यात्मिक प्रभावकी दृष्टिसे किया गया है। हठयोगप्रदीपिका (१। ३९-४०-४१) में सिद्धासनके लाभ इस प्रकार वर्णित हैं—

चतुरशीतिपीठेषु सिद्धमेव सदाभ्यसेत्।
द्वासप्ततिसहस्राणां नाडीनां मलशोधनम्॥
आत्मध्यायी मिताहारी यावद् द्वादशवत्सरम्।
सदा सिद्धासनाभ्यासाद्योगी निष्पत्तिमाप्नुयात्॥
उत्पद्यते निरायासात्स्वयमेवोन्मनी कला।
तथैकस्मिन्नेव दृढे सिद्धे सिद्धासने सति।
बन्धत्रयमनायासात्स्वयमेवोपजायते॥

अर्थात् बहत्तर हजार नाड़ियों (जिनका वर्णन प्रश्नोपनिषद् (३—६) तथा कठोपनिषद्में मिलता है) के मलशोधन करना तथा बारह वर्षतक इस आसनका अन्य अङ्गों-सहित अभ्यास करनेसे उन्मनी समाधिकी सिद्धि आदि आध्यात्मिक लाभोंका यह उल्लेख है। इन आसनोंका मुख्य प्रयोजन यह आध्यात्मिक लाभ ही है। इसी प्रकार षट्-क्रियादिका उपयोग भी इसी दृष्टिसे किया गया है (हठयोग-प्रदीपिका २—४)। इनका तात्पर्य यह है कि षट्क्रिया आदिका निरूपण केवल शारीरिक आरोग्य-सम्पादनके लिये नहीं है; शारीरिक नीरोगता तो गौण है और उन्मनी अवस्थाकी प्राप्ति मध्य-मार्गप्रवेश तथा कुण्डलिनीके जागरणमें सहायक होना इन सब साधनोंके मुख्य उद्देश्य हैं, जो आध्यात्मिक दृष्टिकोणको लेकर हैं। यहाँपर इन सबका विस्तारसे निरूपण करना अभीष्ट नहीं है। विस्तृत निरूपणके पश्चात् भी इनके अनुष्ठानके लिये किसी जानकारकी सहायताकी आवश्यकता रहती है। केवल किसी ग्रन्थके वर्णनके आधारपर इन आसन, षट्क्रिया, प्राणायाम आदिको कोई विध्यनुसार नहीं कर सकता। अन्यथा अनेक भयानक प्राणनाशक रोग उत्पन्न हो सकते हैं। अतः बिना किसी दक्ष, अनुभवी, निपुण गुरुके इस मार्गमें प्रवेश कदापि नहीं करना चाहिये। अन्यथा 'फिर पछताये होत क्या, जब चिड़ियाँ चुग गयीं खेत'—वाली उक्ति चरितार्थ होगी।

प्राणायामादियुक्तेन सर्वरोगक्षयो भवेत्।
अयुक्ताभ्यासयोगेन सर्वरोगसमुद्भवः॥

(हठयोगप्रदीपिका २। १६)

'भली प्रकार किये गये प्राणायाम आदि साधनोंसे सब रोगोंका नाश होता है और अयुक्त ढंगसे किये गये योगके अभ्यास सब रोगोंको उत्पन्न करते हैं।' यहाँपर हमारा उद्देश्य इन साधनोंकी मर्यादा, अवधि तथा उपयोगितापर विचार करना है। क्योंकि उचित मर्यादा ही सर्वत्र दुर्लभ है। एक वर्ग ऐसा दीखता है जो इन क्रियाओंको ही और इनके शारीरिक लाभको ही योग मान लेता है और अपनी सम्पूर्ण आयु इन्हींके अभ्यासमें खपा देता है एवं परम लक्ष्यसे कोरा-कोरा रह जाता है। दूसरा वह वर्ग है जो इन साधनोंको योग-सिद्धिके लिये परमोपयोगी तथा अनिवार्य मानता है। वह

यम-नियमादिद्वारा भीतरी शुद्धिको भी उतना महत्त्व नहीं देता जितना इन साधनोंको। इस प्रकार इन साधनाओंका अति प्रयोग हो जाता है। काल, अवस्था आदिको बिना विचारे इनको अनिवार्य मान लिया जाता है। इनको अध्यात्मयोग-साधनाका सर्वस्व मान लेना भूल है; क्योंकि इनके स्थानमें सात्त्विक मिताहारमात्रसे भी दीर्घकालतक रहनेसे वही फलसिद्धि हो जाती है जो इन साधनोंसे होती है।

प्राणायामेषु सर्वेषु शमयन्ति मला इति।
आचार्याणां तु केषाञ्चिदन्यत् कर्म न सम्मतम्॥

(हठयोगप्रदीपिका २। ३४)

परन्तु जहाँ इनका अति उपयोग, दुरुपयोग अथवा अनुचित महत्त्व भ्रान्तियुक्त होनेसे हानिप्रद है, ऐसे ही हठयौगिक आसन तथा षट्क्रिया आदिका नितान्त तिरस्कार भी युक्तियुक्त नहीं है। इनका उचित उपयोग किसी दक्षकी देख-रेखमें इनके शारीरिक तथा मानसिक प्रभावके कारण लाभदायक ही है। हाँ! इन क्रियाओंमात्रको भोग समझना भूल है। दोनों वर्गोंको मध्यमार्ग ग्रहण करके स्वयं उचित लाभ उठाना श्रेयस्कर है तथा अनुचित धारणा, अनुष्ठान तथा वचनद्वारा दूसरोंको पथ-भ्रष्ट करनेके पापका भागी नहीं बनना चाहिये।

कर्मयोग

(स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराजके भाषणसे)

समतापूर्वक कर्तव्यकर्मोंका आचरण करना ही कर्मयोग कहलाता है। कर्मयोगमें खास निष्कामभावकी मुख्यता है। निष्कामभाव न रहनेपर कर्म केवल 'कर्म' होते हैं, वह कर्मयोग नहीं होता। शास्त्रविहित कर्तव्य-कर्म करनेपर भी यदि निष्कामभाव नहीं है तो उन्हें कर्म ही कहा जाता है; ऐसी क्रियाओंसे मुक्ति सम्भव नहीं। क्योंकि मुक्तिमें भावकी ही प्रधानता है। निष्कामभाव सिद्ध होनेमें राग-द्वेष ही बाधक हैं—'तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ' (गीता ३। ३४); वे इसके मार्गमें लुटेरे हैं। अतः राग-द्वेषके वशमें नहीं होना चाहिये। तो फिर क्या करना चाहिये?—

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥

(गीता ३। ३५)

—इस श्लोकमें बहुत विलक्षण बातें बतायी गयी हैं। इस एक श्लोकमें चार चरण हैं। भगवान्‌ने इस श्लोककी रचना कैसी सुन्दर की है! थोड़ेसे शब्दोंमें कितने गम्भीर भाव भर दिये हैं। कर्मोंके विषयमें कहा—

'श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः'

यहाँ 'श्रेयान्' क्यों कहा है? इसलिये कि अर्जुनने दूसरे अध्यायमें गुरुजनोंको मारनेकी अपेक्षा भीख माँगनेको 'श्रेय' कहा था—'श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके'—(२। ५); किंतु 'यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे' (२। ७) में अपने लिये निश्चित 'श्रेय' भी पूछा और तीसरे अध्यायमें भी पुनः निश्चित 'श्रेय' ही पूछा—'तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्' (३। २)। यहाँ भी 'निश्चित्य' कहा और दूसरे अध्यायके सातवें श्लोकमें भी 'निश्चितम्' कहा है। भाव यह है कि मेरे लिये कल्याणकारक अचूक रामबाण उपाय होना चाहिये। वहाँ अर्जुनने प्रश्न करते हुए कहा कि 'ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन' (३। १); यहाँ 'ज्यायसी' पद है। इस 'ज्यायसी' का भगवान्‌ने 'कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः' (३। ८) में 'ज्यायः' कहकर उत्तर दिया कि कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है। यहाँ भगवान्‌ने भीख माँगनेवाली बातको काट दिया। तो फिर कर्म कौन-सा करे? इसपर बतलाया कि जो स्वधर्म है, वही कर्तव्य है, उसीका आचरण करो। अर्जुनके लिये स्वधर्म क्या है? युद्ध करना। १८ वें अध्यायके ४३ वें श्लोकमें भगवान्‌ने क्षत्रियके स्वाभाविक कर्म बतलाये हैं, क्षत्रिय होनेके नाते अर्जुनके लिये वे ही कर्तव्य कर्म हैं। वहाँ भी भगवान्‌ने 'श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः'—(१८। ४७) कहा है। स्वकर्मका नाम स्वधर्म है। यहाँ स्वधर्म है—युद्ध करना। 'स्वधर्मः'के साथ 'विगुणः' विशेषण क्यों दिया? अर्जुनने तीसरे अध्यायके पहले श्लोकमें युद्धरूपी कर्मको 'घोर कर्म' बतलाया है। इसीलिये भगवान्‌ने उसके उत्तरमें उसे 'विगुणः' बतलाकर यह व्यक्त किया कि स्वधर्म विगुण होनेपर भी कर्तव्यकर्म होनेसे श्रेष्ठ है। अतः अर्जुनके लिये युद्ध करना ही कर्तव्य है; तथा दूसरे अध्यायके बत्तीसवें श्लोकमें भी भगवान्‌ने

बतलाया कि धर्मयुक्त युद्धसे बढ़कर क्षत्रियके लिये दूसरा कोई कल्याणकारक श्रेष्ठ साधन है ही नहीं।

परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।

मतलब यह है कि परधर्ममें गुणोंका बाहुल्य भी हो और उसका आचरण भी अच्छी तरहसे किया जाता हो, तथा अपने धर्ममें गुणोंकी कमी हो और उसका आचरण भी ठीक तरहसे नहीं बन पाता हो, तब भी परधर्मकी अपेक्षा स्वधर्म ही 'श्रेयान्'—अति श्रेष्ठ है। जैसे पतिव्रता स्त्रीके लिये अपना पति सेव्य है चाहे वह विगुण ही हो। श्रीरामचरितमानसमें कहे हुए—

'बृद्ध रोगबस जड़ धनहीना। अंध बधिर क्रोधी अति दीना॥'

—ये आठों अवगुण अपने पतिमें विद्यमान हों और उसकी सेवा भी साङ्गोपाङ्ग नहीं होती हो; तथा पर-पति गुणवान् भी हो और उसकी सेवा भी अच्छी तरह की जा सकती हो, तो भी पत्नीके लिये अपने पतिकी सेवा ही श्रेष्ठ है, वही सेवनीय है, पर-पति कदापि सेवनीय नहीं। उसी प्रकार स्वधर्म ही श्रेयान् (श्रेष्ठ) है, पर-धर्म कदापि नहीं।

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥

—इससे भगवान्ने यह भाव बतलाया है कि कर्मोंकी सीमा मृत्यु है, और स्वधर्म-पालनमें यदि मृत्यु भी होती हो तो वह भी परिणाममें कल्याणकारक है। तात्पर्य यह कि परधर्ममें प्रतीत होनेवाले गुण, उसके अनुष्ठानकी सुगमता और उसके सुखकी कोई कीमत नहीं है, क्योंकि वह परिणाममें महान् भयावह है। बल्कि अपने धर्ममें गुणोंकी कमी, अनुष्ठानकी दुष्करता और उसका कष्ट भी महान् मूल्यवान् है, क्योंकि वह परिणाममें कल्याणकारक है। और जिस स्वधर्ममें गुणोंकी कमी भी न हो, अनुष्ठान भी अच्छी प्रकार किया जा सकता हो तथा सुख भी होता हो वह सर्वथा श्रेष्ठ है, इसमें तो कहना ही क्या है!

ऊपर एक श्लोककी व्याख्या की गयी, मनुष्यको चाहिये कि इसके अनुसार कर्तव्यकर्मोंका निष्कामभावसे अनुष्ठान करे।

निर्लिप्तताका मनोविज्ञान

(लेखक—पं० श्रीलालजीरामजी शुक्ल, एम्० ए०)

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते॥

(गीता ५। ७)

'शरीर और इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त, विशुद्धान्तःकरण तथा सम्पूर्ण प्राणियोंके आत्मस्वरूप परमात्मामें नित्य स्थित पुरुष कर्म करता हुआ भी उनसे लिप्त नहीं होता।'

जीवनयात्राको सफल बनानेके लिये हमारे पूर्वजोंने कुशलतापूर्वक कर्म करनेका आदेश दिया है। कर्मत्यागकी अपेक्षा कर्म करना श्रेयस्कर है। योगवासिष्ठ, भगवद्गीता और उपनिषद्की शिक्षा यही है। सभी प्रकारके कर्म करके भी कर्मबन्धनसे मनुष्य मुक्त हो सकता है। खाते-पीते, चलते-फिरते, देखते, सूँघते सभी कामोंको करते हुए भी इन कामोंसे निर्लिप्त रह सकता है। काम करते हुए कामोंके परिणामसे मुक्त रहना मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे कैसे सम्भव है?

उपर्युक्त प्रश्नको सोऽहम् स्वामीने गीताकी समालोचना नामक पुस्तकमें रक्खा है। मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे कोई भी कर्म बिना हेतुके होना असम्भव है। हेतु ही कर्मके रूपमें प्रकाशित होता है। योगवासिष्ठमें भी इसी सिद्धान्तका प्रतिपादन किया गया है। आधुनिक कर्तव्य-शास्त्रमें भी यह माना गया है कि बिना हेतुके कोई कर्म नहीं होता। फिर क्या हेतुरहित कर्मकी कल्पनाका कोई आधार नहीं है? और यदि प्रत्येक कर्मका हेतु होता है तो मनुष्य कैसे कर्मके फलसे मुक्त रह सकता है?

कर्ममें निर्लिप्तताके सिद्धान्तके सम्बन्धमें दूसरी मनोवैज्ञानिक शङ्का यह होती है कि प्रत्येक कर्म हमारे मनपर विशेष प्रकारका संस्कार छोड़ जाता है। यह संस्कार हमारे मनमें विशेष प्रकारकी प्रवृत्तियाँ उत्पन्न करता है। मनुष्यकी प्रवृत्तियाँ उसके पुराने मानसिक संस्कारोंपर निर्भर करती हैं। जो व्यक्ति जिस प्रकारके काम करता रहता है, उसकी उसी प्रकारके काम करनेमें रुचि हो जाती है। जैसी मनुष्यकी रुचि होती है, वैसे वह और भी काम करता है। इस प्रकार कार्य-कारणकी परम्पराका प्रवाह चल जाता है। हमारी आदतोंका आधार भी यही कार्य-कारणके संस्कार हैं।

ऊपर जो दो शङ्काएँ कर्म-निर्लिप्तताके सिद्धान्तके विषयमें

की गयी हैं, उनका समाधान कर्मके हेतुपर विचार करनेसे हो जाता है। बिना हेतुके कर्मका होना सम्भव नहीं। यह एक मौलिक सत्य है। हेतु ही हमारे शरीरसे होनेवाली विभिन्न क्रियाओंमें एकता लाता है। हेतु इन क्रियाओंको सार्थक बनाता है। यह हेतु स्वार्थमय अथवा परमार्थमय हो सकता है। कार्यका मूल्य हेतुसे पृथक् नहीं आँका जा सकता। जिस कार्यका जैसा हेतु है, वह कार्य उसी मूल्यका है। ऊँचा हेतु रखकर हम अपनी सामान्य क्रियाओंको आत्म-साक्षात्कारका साधन बना सकते हैं। वही क्रियाएँ हेतुकी हीनतासे हमारे आत्मविनाशका कारण हो सकती हैं। हेतुकी हीनता ही कार्यको हीन बना देती है।

मनुष्य अनेक प्रकारकी शारीरिक क्रियाएँ सदा करता रहता है। ये क्रियाएँ रोकी नहीं जा सकतीं। इन क्रियाओंका रोकना प्राकृतिक विधानका रोकना है। प्राकृतिक विधानके रोकनेसे अनेक प्रकारके मानसिक और शारीरिक रोगोंके उत्पन्न होनेकी सम्भावना रहती है। मानसिक व्याधियोंका मूल कारण प्राकृतिक विधानके प्रतिकूल आचरण ही होता है। पर काम करना भी मानसिक ग्रन्थियोंका कारण होता है। जिस कामको मनुष्य नहीं करता, उसके सम्बन्धमें उसके मनमें कोई भी संस्कार अथवा ग्रन्थियाँ नहीं रहतीं। फिर कौन-सा वह मार्ग है, जिससे न तो प्राकृतिक विधानकी अवहेलना हो और न कर्मबन्धनमें ही मनुष्य पड़े।

इसके लिये मनुष्यको अपने परम लक्ष्यपर ध्यान रखना आवश्यक है। लक्ष्यकी प्राप्तिमें जो कार्य होते हैं वे कार्य आत्मसाक्षात्कारमें सहायक होते हैं। हमारे साधारण कर्म विवेकहीन होते हैं। हम अपने कर्मोंके करते समय उचित-अनुचितका विचार नहीं करते। यदि हम अपने कामोंके विषयमें पहलेसे यह सोच लें कि वे काम भले हैं अथवा नहीं, और जिन कामोंको भला समझते हैं (अर्थात् जिनका उद्देश्य संसारका मौलिक लाभ है), उन्हींको करें तो कामका किया जाना हमें बन्धनमें नहीं डाल सकता। मनुष्यके मनपर उन्हीं बातोंका स्थायी संस्कार होता है, जिन्हें वह बार-बार सोचता है। जिस व्यक्तिका जीवन किसी मौलिक तत्त्वकी प्राप्तिमें लगा है, वह उस तत्त्वके विषयमें ही सोचता है। उसको प्राप्त करनेके लिये उसे जो उपाय काममें लाने पड़ते हैं, उनके संस्कार उसके मनपर नहीं ठहरते।

एक साधारण भोजनकी क्रियाको लीजिये। कोई व्यक्ति भोजन पानेके लिये काम करते हैं और कोई काम करनेके लिये भोजन करते हैं। जो व्यक्ति भोजन-प्राप्तिके लिये काम करते हैं उनके मनमें भोजनसम्बन्धी संस्कार उत्पन्न होते हैं और जो व्यक्ति भोजन काम करनेके लिये करते हैं उनके मनमें कामके संस्कार दृढ़ होते हैं।

एक व्यक्तिके मनमें भोजनके प्रति रुचि बढ़ती है और दूसरेके मनमें कामके प्रति रुचि बढ़ती है। भोजनभट्टको भोजन न मिलनेपर दुःख होता है और कामके प्रेमीको काम न मिलनेपर दुःख होता है। यदि कोई व्यक्ति भोजनसम्बन्धी संस्कारोंसे मुक्त रहना चाहता है तो उसके लिये यह आवश्यक है कि वह अपना मन काममें ही सदा लगाये रहे। इनका अर्थ यह नहीं कि वह भोजन न करे। यदि वह भोजन नहीं करेगा तो काम भी न कर सकेगा। उसकी जीवनयात्रा भी सफल न हो सकेगी। पर भोजन करते हुए भोजनपर विचार न करना, उसके विषयमें चिन्तित न रहना भोजन न करनेके बराबर ही है।

किसी भी कार्यके दो परिणाम होते हैं—एक बाह्य परिणाम और दूसरा आन्तरिक परिणाम। कर्मके बाह्य परिणाममें कोई अकस्मात् परिवर्तन हो सकता है, पर कर्मके आन्तरिक परिणाममें कोई भी परिवर्तन नहीं होता। कर्म करनेवाले लोग प्रायः कर्मके बाह्य परिणामको ध्यानमें रखकर कर्म करते हैं। इसके कारण वे सुख और दुःखके भागी होते हैं। उन्हें कभी सफलता होती है और कभी असफलता। यदि कर्मके आन्तरिक परिणामको ध्यानमें रखकर कर्म किया जाय तो कर्मसे आध्यात्मिक लाभ ही हो और उसके फलसे मनुष्यका मन लिप्त न हो। इस रहस्यको भगवान् श्रीकृष्णने भगवद्गीतामें दर्शाया है—

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये॥
(५। ११)

'योगी लोग शरीर, मन, बुद्धि अथवा इन्द्रियोंसे आत्मशुद्धिके लिये सङ्ग अर्थात् बाहरी परिणामका विचार छोड़कर कार्य करते हैं।'

प्रत्येक कार्यसे मनुष्यमें मानसिक परिवर्तन होता है। मनुष्य अपनी शक्तियोंका ज्ञान काम करके ही प्राप्त कर सकता है। काम किये बिना उसे आत्मसाक्षात्कार नहीं होता। अपनी पाशविक प्रवृत्तियोंका शोधन शुभ कर्मोंसे होता है। कर्मके द्वारा हमारी वासनाओंमें क्रमशः परिवर्तन होता है। विलियम उंट महाशयके इस सिद्धान्तमें जो उन्होंने अपनी

इथिक्समें प्रतिपादन किया है, मौलिक सत्य है कि मनुष्यके हेतुओंमें काम करनेसे उत्तरोत्तर विकास होता है। मनुष्य एकाएक साधु अथवा परोपकारी नहीं बन जाता। वह पहले स्वार्थी ही रहता है। पर नित्य शुभ काममें लगे रहनेसे और अनुभवके परिपक्व होनेसे उसके हेतु स्वार्थमय न होकर परमार्थमय हो जाते हैं। अतएव अपने-आपमें सुधार करनेके लिये अपनी आध्यात्मिक शक्तियोंके विकसित करनेके लिये जो काम किया जाता है वह हमें बन्धनमें नहीं डालता।

मनुष्य जितने काम करता है, वे दोषपूर्ण होते हैं। सर्वथा निर्दोष कामका किया जाना सम्भव नहीं। यह दोष दो प्रकारका होता है—एक हेतुका दोष और दूसरा बाहरी परिणामका दोष। मनुष्यके कार्यका ज्ञात हेतु एक हो सकता है और उसका अज्ञात हेतु दूसरा। मनुष्य अपने कार्यके सम्पूर्ण हेतुको स्वयं भी नहीं जानता। कोई भी मनुष्य अपने विषयमें बुरी धारणा नहीं रखना चाहता। यदि वह ऐसी धारणा रक्खे तो उसे आत्मग्लानि हो। अतएव जब मनुष्य कोई काम करता है, तो चाहे उसका वास्तविक प्रबल हेतु नीचा ही क्यों न हो, वह अपने हेतुको ऊँचा ही समझता है। जब काम हो जाता है तो उसके कामकी आलोचना करनेवाले लोग उसके हेतुओंकी छानबीन करते हैं। उसके विरोधी लोग नीचे हेतुको ही प्रधान बताते हैं और उसके मित्र उच्च हेतुको। वह स्वयं अपने-आपको स्वीकार नहीं करता है। जितनी उसकी कटु आलोचना होती है, वह उतना ही अधिक अपने हेतुको उच्च समझता रहता है। पर वास्तविक सत्य यह है कि न तो मनुष्य पूर्णतः परोपकारी होता है और न पूर्णतः स्वार्थी। उसके प्रत्येक कार्यमें परोपकार और स्वार्थका संमिश्रण रहता है। किस तत्त्वकी प्रधानता किस कार्यमें है, इसकी खोज करना—यह एक भारी सूक्ष्म दृष्टिका कार्य है। जो व्यक्ति आत्मस्वीकृतिके लिये सदा तैयार रहता है, वही अपने कामोंके वास्तविक हेतुओंको भली प्रकारसे समझ सकता है। साधारण लोग जिस प्रकार दूसरे लोगोंको अपने हेतुओंके विषयमें धोखा देते रहते हैं, वैसे ही अपने-आपको भी धोखा देते रहते हैं। जो व्यक्ति सजग हैं, वे काम करनेसे इसलिये मुख नहीं मोड़ते कि उनके हेतु अभी सर्वथा पवित्र नहीं हैं। कामको सदा करते ही जाना भला है। हेतुकी पवित्रता काम करते-करते आती है। अपने-आपको किसी कामके लिये कोसते रहना और फिर अपना हाथ कामसे रोक देना, मनुष्यके आध्यात्मिक विकासके लिये बाधक होता है।

जिस तरह कामका कोई भी हेतु निर्दोष नहीं होता, इसी प्रकार उसका बाहरी परिणाम भी निर्दोष नहीं होता। प्रत्येक कार्यसे किसीका लाभ होता है तो किसीकी हानि भी होती है। जब हमारे कर्मका लक्ष्य दूसरोंका लाभ न कर हानि करना हो जाता है तो वह कर्म दूषित हो जाता है। पापकर्म दूसरोंकी हानि करनेके लक्ष्यसे किया जाता है और पुण्यकर्मका लक्ष्य दूसरोंका लाभ करना होता है। पापकर्मसे मानसिक निर्बलता उत्पन्न होती है और पुण्य-कर्मसे मानसिक बल आता है। पाप-पुण्य लक्ष्यके ऊपर निर्भर करता है न कि बाहरी परिणामपर! पुण्यकर्मका तुरंतका फल बुरा भले ही हो, उसका अन्तिम फल भला ही होता है। जो मनुष्य अपने कामसे किसीका भी अप्रिय नहीं करना चाहता, जो सब लोगोंका प्रिय बनना चाहता है, वह संसारमें कोई भी मौलिक कार्य नहीं कर सकता। जिस व्यक्तिको सभी लोग भला कहें वह वास्तवमें भला व्यक्ति नहीं। जब मनुष्य कोई महत्त्वका कार्य करेगा तो कुछ लोगोंका भला होगा और कुछ लोगोंकी हानि होगी। जिन लोगोंका भला होगा वे उस व्यक्तिको भला कहेंगे और जिनकी हानि होगी वे उसे बुरा कहेंगे। चोरबाजारको बंद करनेवाले व्यक्तिको सामान्य जनता यदि भला कहती है तो चोर लोग उसे अवश्य बुरा कहेंगे। जिन लोगोंके स्वार्थमें किसी भले कामके करनेसे बाधा पड़ती है, वे उस व्यक्तिको बुरा अवश्य कहेंगे और उसके साथ शत्रुताका व्यवहार भी रक्खेंगे। मनके कमजोर व्यक्तिमें यह सामर्थ्य नहीं होता कि वह दूसरोंकी कटु आलोचनाको सह सके, अतएव वह किसी भी महत्त्वके कामको करनेकी हिम्मत ही नहीं करता। जो व्यक्ति किसीका नुकसान न हो, इस डरसे उचित कार्योंको नहीं करते वे वास्तवमें कायर होते हैं। इससे मनुष्यका किसी प्रकारका आध्यात्मिक लाभ नहीं होता, अपितु मानसिक दुर्बलता ही बढ़ती है। मानसिक दृढ़ताकी वृद्धिके लिये सभी लोगोंको प्रसन्न रखनेकी भावना छोड़ देनी चाहिये। हमें सदा दूसरोंके द्वारा प्रतिकारके लिये तैयार भी रहना चाहिये। इससे डरना हमें पापसे मुक्त नहीं करता वरं पापका भागी बनाता है।

अपने लक्ष्यको निश्चित करके उसकी प्राप्तिके लिये उसके उपयुक्त मार्गपर चलनेसे ही मनुष्यका कल्याण होता है। जिस कामका लक्ष्य अपना और दूसरोंका कल्याण होता है, वह ऊपरसे देखनेमें कैसा भी क्यों न हो, भला कार्य है। ऐसे कार्यके बाहरी अशुभ परिणाम व्यक्तिकी आध्यात्मिक हानि नहीं करते।

बावरी गोपी

(लेखक—प्रेमभिखारी)

[पूर्वप्रकाशितसे आगे]

(१६*)

यह है प्रेम-परिणाम

प्यारे दामोदर !
मेरी इस दशाका तो तुम्हें कुछ भी पता न होगा ?
कैसी निर्दयतासे सासजीने रस्सियोंसे जकड़कर बाँधा है ।
कहती हैं—तेरा दिमाग ठिकाने नहीं है ।
इधर-उधर भागती हूँ,
बेसिर-पैरकी बात बकती हूँ,
हँसती हूँ तो हँसती ही रहती हूँ,
रोती हूँ तो बंद ही नहीं होती ।
कहती थीं, कई छोटे-छोटे सुन्दर गोपकुमारोंको इतनी जोरसे कसकर मैंने पकड़ लिया कि वे रो पड़े ।
मुझे तो कुछ भी याद नहीं आता ।
तुम्हीं बताओ मोहन !
भला मैं यह सब क्यों करने लगी ?
और भी कहती थीं कि मैं अपनी साड़ी फाड़-फाड़कर लताओंपर डालती थी,
घरका सारा दूध-दही मैंने मथुराकी ओर लुढ़का दिया ।
अन्तमें मेरे व्यवहारोंसे तंग आकर मुझे रस्सियोंसे बाँध दिया ।
अपने साथ नित्यकर्म कराकर फिर बाँध देती हैं,
यहीं भोजन दे जाती हैं,
बँधे-ही-बँधे किसी प्रकार पेट भर लेती हूँ ।
प्राणप्यारे !
तुम मेरी व्यथाको भलीभाँति समझ सकते हो !
घायलकी गति घायल जाने ।

तुम भी तो एक दिन रस्सियोंसे बँधे थे ।
किंतु आह !
कहाँ तुम्हारा बँधना, कहाँ मेरा ।
तुम्हें जसोदा मैयाने अपनी वेणीकी मुलायम रेशमी डोरीसे बाँधा था,
मेरी कठोर रस्सियोंको देखो तो कहो ।
तुम थोड़ी देरके लिये ही बँधे थे,
मुझको बँधे दो दिन हो गये ।
तुम्हारा बन्धन सुनकर सारी गोपियाँ दौड़ पड़ी थीं,
जसोदा मैयासे तुम्हें छोड़ देनेकी प्रार्थना की थी उन्होंने,
तुम्हारे प्रति सबने सहानुभूति प्रकट की थी ।
मुझे पूछनेवाला कौन है ?
कोई आता भी है तो सासजीसे कहता है कि ठीक किया ।
प्राणप्यारे !
तुम होते तो क्या मैं इस तरह बँधी रहती ?
समाचार पाते ही ग्वाल-वालोंको लिये हुए दौड़ पड़ते और मेरा बन्धन काट देते ।
पर क्या कहूँ !
तुमतक समाचार कैसे भेजूँ ?
बड़ी पीड़ा हो रही है ।
तुम्हीं बताओ कान्हा !
भला मेरा दिमाग खराब हो गया है कि इन लोगोंका ?
तुम न आ सको तो कम-से-कम एक पत्र लिखकर इनको समझा दो कि मेरा मस्तिष्क ठीक है, मुझे छोड़ दें ।
हाय ! यह तो बड़ी दुर्दशा हुई ।
स्वतन्त्र थी तब तो कुंज, यमुना-तट आदि स्थानोंमें जाकर कुछ जी बहला लेती थी,

* भूलसे सातवें अङ्कमें क्रम-संख्या १४-१५ की जगह १६-१७ छप गयी थी । पाठक कृपया सुधार लें ।

किंतु अब तो उससे भी गयी।
यह सब तुम्हारे ही कारण तो हो रहा है निष्ठुर !
आह, पीठमें खुजलाहट उठ रही है।
क्या करूँ मोहन !
मेरी विवशता देखो।
सासजी घरमें नहीं हैं,
पतिदेव अप्रसन्न हैं,
वे होते भी तो न खुजलाते।
हाय, कैसे करूँ ?
कौन मेरी पीड़ाको समझे ?
जानते सभी हैं कि प्रेममें सुख कहाँ,
मैं भी जानती थी कि प्रेम करना दुःखोंको बुलाना है,
किंतु प्रेम करते समय प्रेमको ऐसा मालूम होता है कि
दुःख हुआ होगा किसीको,
हमें नहीं होगा।
मैंने तो तुमसे प्रेम किया था,
फिर दुःख मिलनेकी बात क्यों सोचती ?
वह मधुर मूर्ति,
वह मन्द मुसकान,
वह चित्ताकर्षक रूप,
वह भोलापन,
आह !
अब समझमें आया कि भोली मूर्तिमें कितनी कठोरता
छिपी रहती है।
अच्छा फल मिला मुझे।
प्रियतम !
तुम नहीं आते तो न सही,
किंतु मुझे इस योग्य तो कर दो कि स्वतन्त्रतापूर्वक
अपने क्रीड़ा-स्थलोंपर विचरण कर सकूँ,
तुम्हारी मधुर स्मृतिमें मग्न रहा करूँ।
पर तुम्हें क्या पड़ी है,
तुम क्यों सुनने लगे।
देखो कान्हा !
इन मोटी रस्सियोंका बन्धन भला मेरे इस कोमल
शरीरके योग्य था ?
जिन अङ्गोंका स्पर्श करके तुम अत्यन्त आनन्दका
अनुभव करते थे,
उनकी यह दुर्दशा ?
क्या कहा जाय !
तुमसे कुछ कहना व्यर्थ है।
यह सब मेरी ही भूल है।
इतना तड़पनेके बाद समझमें आया,
यह है प्रेम-परिणाम।

(मूर्छित होकर वहीं गिर जाती है)

(१७)

यही आशा तो बैरिन हो गयी

मेरे कान्हा !
देखो, आज मैं कितनी प्रसन्न हूँ,
सासजीने मुझे छोड़ दिया।
तीन-चार दिनतक बाँध रक्खा,
मैं सचमुच पागल थोड़े थी, जो बहुत दिनोंतक बँधे
रहना पड़ता।
आखिर सासजीने कहा कि दिमाग ठीक है, कभी-कभी
गरमी बढ़ जाती है।
यह कहकर उन्होंने बन्धन खोल दिये।
पासमें बैठकर बहुत ऊँचा-नीचा समझाया भी।
किंतु तुमने तो वह जादू कर दिया है जिसपर दूसरा
रंग चढ़ता ही नहीं।
मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि मेरा ही दिमाग ठीक
है, बाकी सब पागल हैं।
विचित्रता तो देखो नटवर !
एक बुद्धिमान् और चतुरको पागलने बाँध दिया था।
वह बात बीत गयी,
उसका स्मरण व्यर्थ है।

आज मेरी प्रसन्नतासे तुम्हें भी प्रसन्न होना चाहिये ।
किंतु तुम प्रसन्न क्यों होने लगे,
प्रसन्न तो तब होते जब मेरे दुःखसे दुखी होते ।
मैंने तुम्हारा बड़ा भरोसा किया था कि आकर छुड़ाओगे ।
सोचा था, न आओगे तो कम-से-कम मेरे दुःखपर सहानुभूति प्रकट करते हुए मेरे घरवालोंको मुझे बन्धनमुक्त करनेके लिये लिख दोगे ।
पर हाय, न तुम आये न तुम्हारा कुछ सन्देश आया ।
यह तो कहो भगवान्ने सासजीके मनमें न जाने कौन-सी प्रेरणा कर दी जो उन्होंने छोड़ दिया ।
नहीं तो, पता नहीं मैं कबतक बँधे-बँधे जीवन बिताती ।
वह कष्ट भोगनेके लिये अधिक दिन न जीती मोहन !
वहीं पत्थरपर सर पटककर प्राण दे देती ।
वह भी अच्छा होता,
इस विरह-व्यथासे छुटकारा तो मिल जाता ।
बन्धनसे मुक्त होकर ही मैं कौन पलनेमें झूल रही हूँ ।
फिर वही तुम्हारा स्मरण,
उन्हीं क्रीड़ाओंका स्मरण,
वही रात-दिनकी कसक ।
व्रजके पेड़-पत्थर पसीज गये,
किंतु तुम न पसीजे ।
तुम्हारे ही कारण मेरी वह दुर्दशा हुई थी,
तुमने कुछ भी सुधि न ली ।
फिर भी मैं तुम्हारी यादमें घुल रही हूँ,
अब भी तुम्हारे दर्शनको तड़प रही हूँ ।
अच्छा जाने दो,
तुम्हारी करनी तुम्हारे साथ,
मेरी करनी मेरे साथ ।
तुम भले ही सुधि न लो,
चाहे मिलनेपर भी ठुकरा दो,
देखकर भी दूसरी ओर मुख फेर लो,
तो इससे मेरे प्रेममें कमी थोड़े आयेगी ।
यह तो अपने-अपने हृदयकी विशेषता है ।
किसीका कठोर होता है, किसीका कोमल ।
तुम्हारा हृदय वैसा है, मेरा ऐसा ।
इसमें कुछ कहनेकी क्या बात है ?
किंतु इतना फिर भी कहूँगी,
जब तुम्हारा हृदय ऐसा था तब क्यों हम भोली-भाली व्रजाङ्गनाओंके साथ तुमने प्रेम करके हमारा चित्त चुरा लिया ?
किसी दूसरेके हृदयका भी कुछ मूल्य होता है ।
अपनी इच्छा या अपना आनन्द ही सब कुछ नहीं होता ।
सबका हृदय हृदय है,
मिट्टीका खिलौना नहीं है
कि जबतक जी चाहा खेलते रहे
और जब जी चाहा पटककर चूर-चूर कर दिया ।
प्राणेश !
तुम क्या जानो कि चूर-चूर हुआ हृदय कैसा होता है,
उसे किस प्रकार दबाये रखना पड़ता है ।
वह शरीरसे सम्बन्ध तोड़कर बाहर निकलना चाहता है,
कहता है, जहाँ मेरा दुलार न हुआ वहाँ रहनेसे क्या लाभ ?
किंतु आहोंका बाड़ा बाँधकर उसे घेरे हुए हूँ ।
उसे जाने नहीं देती ।
क्यों ?
आशा जो लगी है ।
उसे समझाती हूँ कि धीरज मत छोड़,
इतना मान भी मत कर।
माना विरह-वेदनासे तू छलनी हो गया है,
तेरे शरीरमें घाव-ही-घाव हैं,
मनमोहनकी एक ही मधुर मुसकानसे तेरे सब घाव भर जायँगे ।

तू फिर हरा-भरा हो जायगा ।
तुझे पहलेसे भी अधिक मान मिलेगा ।
तू अपनी सारी पीड़ाओंको भूल जायगा ।
उस मधुर मूर्तिके सामने यदि तू अपनी व्यथाओंको स्मरण भी करना चाहेगा तो तुझे यादतक न आयेगी कि कभी तू तड़पा भी है
तू ही बता,
तड़प-तड़पकर अधीर होकर नष्ट हो जाना अच्छा या प्यारेके मुखारविन्दके दर्शन करके फिर आनन्दमें मग्न होना अच्छा ?
क्या पूछता है,
क्या वे फिर आवेंगे ?

आह ! यह तो बड़ा बेढब प्रश्न किया तूने,
किंतु प्रश्न ही भर बेढब है ।
उत्तर तो सहज है,
आशा बराबर लगी है कि वे आवेंगे ।
जिस दिन आशा टूट जायगी उस दिन सारे कष्टोंसे छुट्टी मिल जायगी ।
उस रूप-सुधाको फिर पान करनेकी आशामें ही तो तड़प रही हूँ ।
प्राणप्यारे !
तुम्हारे दर्शनकी आशा ही तो तमाम दुःखोंका कारण है।
हाय, यही आशा तो बैरिन हो गयी ।
(नेत्र बंद करके मौन हो जाती है ।)

सत्य चिन्तन

(लेखक—साधुवेषमें एक पथिक)

सुन्दर वस्तुकी केवल प्राप्ति ही सौभाग्य या लाभकी बात नहीं है । अपितु किसी भी अच्छी वस्तुका सदुपयोग करनेमें ही सौभाग्य या लाभकी सिद्धि होती है । अनेक प्रमाण ऐसे मिलते हैं कि किसीको अच्छे कुलमें जन्म मिला, अच्छी शिक्षा मिली, अच्छी विद्याकी योग्यता हुई, अच्छा धन-वैभव सुलभ हुआ, सुन्दर सम्बन्धी मिले, अच्छे गुरु मिले, रमणीय देशमें निवास मिला । फिर भी अच्छे कुलका, अच्छी विद्याका, सुन्दर धन-वैभव, अच्छे सम्बन्धी और संग, संत-महात्मा, गुरु आदिका सदुपयोग न जाननेके कारण किसी प्रकारकी अच्छी सुन्दर वस्तुकी प्राप्तिका दुरुपयोग करते हुए अनेक कुलीन, धनवान्, विद्यावान्, गृहस्थ, साधक आदि अन्यायी और अपराधी बने, मानवरूपमें राक्षस बने, पतित हुए, पर जिन भाग्यशाली पुरुषोंको अच्छी वस्तुकी प्राप्तिके सदुपयोगका ज्ञान था वे सब अच्छी वस्तुओंका सदुपयोग करते हुए मानवरूपमें देवता हुए, धर्मात्मा, पुण्यशाली, भक्त और प्रेमी हुए । शक्तिका सेवामें सदुपयोग करते हुए वे शान्ति पा सके।

जिस मनुष्यमें सारासार, धर्माधर्म, कर्तव्याकर्तव्यका विवेक नहीं है, सत्यासत्यका ज्ञान नहीं है उसके अधिकारमें किसी प्रकारकी अच्छी शक्तिका होना उन्मत्त मनुष्यके हाथमें तलवार-बंदूक होनेके बराबर है । अपने-आपको सुन्दर बनानेका साधन यह है कि तुम्हारे साथ जो कुछ भी तुच्छ, अनावश्यक, असुन्दर और अपवित्र हो उसीका त्याग करो, इसके विपरीत जो कुछ भी श्रेष्ठ, आवश्यक, सुन्दर तथा पवित्र हो उसका ग्रहणकर सदुपयोग करो । तुम्हारे पास जो कुछ भी उत्तम हो, उसीसे उनकी सहायता-सेवा करो, जो निकृष्ट वस्तुओंसे बोझल हों । तुम्हारे पास जो कुछ भी निकृष्ट हो उनका उन श्रेष्ठ पुरुषोंके समीप त्याग करो, जो उत्तम वस्तुओंसे सुसज्जित हों, वे तुम्हें उत्तमतासे उसी समय भरने लगेंगे जब तुम निकृष्टताका त्याग करोगे।

तुम श्रेष्ठ, सुन्दर और पवित्र वस्तुओंके अभावमें अपने भाग्यको न कोसते रहो । श्रेयस्कर तो यह है

कि श्रेष्ठ, सुन्दर और पवित्र पुरुषोंके समीप रहकर उत्तम वस्तुओंको, विशुद्ध भाव और यथार्थ ज्ञानको प्राप्त करो; जिज्ञासुओंके लिये इनका दरवाजा कहीं भी बंद नहीं है; अवरुद्धता अहंकारी, विषयी और सुखोन्मत्त जीवोंको ही दीख पड़ती है । तुम अपने पास होनेवाली उसी वस्तुको सुन्दर और श्रेष्ठ समझो जिसके सङ्गसे तुम कहीं असुन्दर और तुच्छ न बनकर स्वयं श्रेष्ठ तथा सुन्दर होते चले जाओ ।

तुम्हारे लिये वही अच्छा उत्तम सम्बन्धी है जिसके सङ्गसे तुम ज्ञानी बनो, अज्ञानी नहीं; त्यागी बनो, रागी नहीं; विरक्त बनो, आसक्त नहीं; सद्गुणसम्पन्न बनो, दोषी नहीं; परमार्थी बनो, प्रपंची नहीं । तुम्हारे लिये वही विद्या अच्छी है, सुन्दर है, जिससे तुम विनम्र बनो, अभिमानी नहीं; सत्यान्वेषक बनो, प्रमादी नहीं; यथार्थवादी बनो, बकवादी नहीं; गम्भीर बनो, अधीर नहीं; परार्थी बनो, सुखार्थी नहीं; परगुणदर्शी बनो, परदोषदर्शी नहीं; सत्यासत्यके योगी बनो, भौतिक सुखोंके भोगी नहीं; सत्स्वरूपके विज्ञानी बनो, असत्के स्वाभिमानी नहीं ।

तुम्हारे लिये वही धन उत्तम है जो तुम्हें दानी बना दे, कृपण-दरिद्र नहीं; उदार बना दे, कंजूस नहीं; संतुष्ट बना दे, असंतुष्ट नहीं; सरल बना दे, कठोर नहीं; धर्मपथमें सेवा-सहायताके लिये सहायक हो, बाधक नहीं; निश्चिन्त बना दे, चिन्ताग्रस्त नहीं; धर्मशील बना दे, अधर्मी नहीं । तुम्हारे लिये उच्चपदाधिकार वही अच्छा है जिसके द्वारा तुम आश्रितोंके संरक्षक बनो, शोषक नहीं; सामान्य सेवक बनो, अभिमानी स्वामी नहीं; प्यार करो, संहार नहीं; हितैषी बनो, द्वेषी नहीं; सरल बनो, अहङ्कारी नहीं; न्यायी बनो अन्यायी नहीं । तुम्हारे पास देहबल, मनोबल, बुद्धिबल या तपोबल तभी अच्छा है; सुन्दर है जब तुम उसके द्वारा अपना और दूसरोंका हित करो, सेवामें सब कुछका सदुपयोग करो, दुरुपयोग नहीं; परमात्माके योगी बनो, सांसारिक पदार्थोंके संयोगी या वियोगी नहीं ।

जो मनुष्य अविवेकी हैं, अज्ञानी हैं, वे प्रत्येक सुन्दर वस्तुका, विद्या-बुद्धि आदि शक्तिका दुरुपयोग करते हुए उसे असुन्दर और तुच्छ बनाते रहते हैं । अपने अधिकारमें मिले हुए पदार्थोंका या किसी भी प्रकारके बलका सदुपयोग या दुरुपयोग करते हुए सुन्दर या असुन्दर, श्रेष्ठ या तुच्छ, स्वर्गीय या नारकीय बनाते रहना तुम्हारी शुद्ध या अशुद्ध बुद्धिका ही कार्य है । ······ तुम्हारी बुद्धि यदि शुद्ध या सात्त्विक होगी तब देह, इन्द्रिय, मन तथा बुद्धिका और इनके साथ रहनेवाली शक्तियोंसमेत जीवनका सदुपयोग करोगे, इसके विपरीत यदि तमोगुणी बुद्धि होगी तो सब कुछके समेत जीवनका दुरुपयोग करोगे । सत्त्वगुणकी प्रधानतामें शान्ति-लाभके लिये शक्तिका सदुपयोग होता है, रजोगुणकी प्रधानतामें विषय-सुख-लाभके लिये शक्तिका उपयोग होता है और तमोगुणकी प्रधानतामें समुचित लाभका ज्ञान न होनेके कारण उन्माद-प्रमादके कारण शक्तिका दुरुपयोग होता है ।

किसी भी प्रकारकी वस्तुका या शक्तिका सदुपयोग करना पुण्यका पथ है और दुरुपयोग करना पापका पथ है । जो पुरुष सांसारिक भोगसुखोंसे सर्वथा विरक्त होकर आत्मशान्ति अथवा कल्याणके लिये त्यागी, ज्ञानी और प्रेमी होते हैं वे ही सात्त्विक शुद्ध बुद्धिवाले हैं । जो व्यक्ति भोगसुखोंमें आसक्त होकर रागी, अविवेकी और द्वेषी हैं वे ही तामसी अशुद्ध बुद्धिवाले हैं ।

तुम बुद्धिमान् हो इसलिये सारासारका, सत्यासत्यका विचार करो, ज्ञानी पुरुषोंके समीपस्थ होकर अपने दोषोंको जानो, दुर्गतिको देखो । सद्गति, परम गति, परम शान्तिके सुपथ तथा सुसाधनका ज्ञान प्राप्त करो और उसी ज्ञानके प्रकाशमें चलकर परम लक्ष्यको प्राप्त करो ।

साधन और साध्य

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते
नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा ।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल-
मसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥
ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं
यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः ।
(गीता १५ । ३-४)

'यही वह पीपल है ।' महात्माने इधर-उधर देखकर अपना निश्चय दृढ़ किया । 'ठीक इसी स्थानको मैंने कल स्वप्नमें देखा है । इसीकी जड़के नीचे होना चाहिये उस श्रीविग्रहको ।'

'निश्चय यहाँ कोई प्राचीन भवन रहा होगा ।' साथके तरुणने देखा कि भूमि यद्यपि तृणोंसे ढक गयी है, कोई विशेष चिह्न बाहर नहीं, फिर भी वहाँ कँटीली लताएँ ही यत्र-तत्र उग और बढ़ सकी हैं । पीपलके अतिरिक्त दूसरा कोई बड़ा वृक्ष आसपास नहीं । भूमि कंकरीली है, यह तो स्पष्ट ही था । 'ये छोटे कंकड़ ईंटोंके टुकड़े हैं । मिट्टीके स्वाभाविक कंकड़ यहाँ कम दीखते हैं । खोदनेपर ईंटोंके बड़े टुकड़े निकलेंगे ।'

'तुम कितनी देरमें इसे काट सकोगे ?' महात्माने अभी स्नान नहीं किया है । वे आध कोस दूर सरिता-तटपर जानेको उद्यत हुए । 'मैं चाहता हूँ कि इसकी जड़ मेरे ही सम्मुख खोदी जाय ।'

'दोपहरसे पहले तो इसके गिरनेकी आशा नहीं ।' तरुणने ध्यानसे पीपलके तनेकी मोटाई देखी । वह इस कामका अभ्यस्त नहीं । यदि महात्माका यह आग्रह न होता कि कोई तीसरा व्यक्ति साथ न चले तो बढ़इयोंसे यह काम करा लेना सरल होता ।

'मैं शीघ्र लौटनेका प्रयत्न करूँगा ।' साधु नित्य-कर्मसे निवृत्त होनेकी शीघ्रतामें थे । 'थक जानेपर विश्राम कर लेना । आते ही मैं तुम्हारी सहायता करूँगा ।'

'जय गणेश ! जय शम्भो !' तरुणने कुदाल एक ओर रख दी और कुल्हाड़ा सम्हाला ! पहला आघात करते ही वह समझ गया कि काम उतना सरल नहीं, जितना वह समझ रहा था । इस सूखे पीपलके तनेपर उसका कुल्हाड़ा उछल गया था । लकड़ीका बहुत छोटा-सा टुकड़ा पृथक् गिरा । केवल एक चिह्न भर बन सका तनेपर ।

'ठक्-ठक्-ठक्' तरुण कुल्हाड़ेपर कुल्हाड़ा चलाता जा रहा था । कभी यहाँ और कभी वहाँ, इधर-उधर तनेपर चिह्न बनते जा रहे थे । नन्हें लकड़ीके टुकड़े उछलकर कभी दूर गिरते और कभी मस्तक, हाथ या और किसी अङ्गपर चोट पहुँचाते । जिसने कभी लकड़ी नहीं काटी, उसके हाथ कैसे सधे स्थानपर पड़ें । वह जितना प्रयत्न करता, कुल्हाड़ा उतनी दूर लगता । कई बार उचटे कुल्हाड़ेकी चोट उसे लगते-लगते बची ।

हाथ लाल हो गये, भालसे विन्दु टपकने लगे । बार-बार कुल्हाड़ेको वृक्षमें अटकाकर बायें हाथकी तर्जनीसे उसने मस्तकका पसीना पोंछा । अभी तो कुछ इंच ही तना कट सका है । इस गतिसे तो वह तीन दिनमें भी नहीं कटेगा । काटना उसीको है; परंतु अब कुल्हाड़ा उठानेमें भी भुजाएँ दर्द करती हैं ।

'काटेगा वह—उसे ही काटना है । महात्माजीके लौटनेसे पूर्व कम-से-कम चारों ओरकी छालकी मोटाई तो काट ही देनी है ।' वेग घटता जा रहा था । उसने शरीरके साथ बलप्रयोग प्रारम्भ कर दिया था । 'ठक् !' एक बार पूरे वेगसे मारनेपर आशा थी कि बड़ा-सा चप्पड़ टूटेगा । लकड़ी जहाँसे स्वतः तड़क गयी है, वहाँसे अधिक कटे और बड़ा टुकड़ा गिरे; परंतु उस फटी सन्धिमें तो कुल्हाड़ा ही अटक गया ।

उसने हिलाया, बल लगाया और जब कुल्हाड़ेको हिला न सका तो बैठ गया । थोड़ी देर विश्राम कर लेना

ठीक है। वह बहुत थक भी गया है। हाथ लाल हो गये हैं। कदाचित् छाले पड़नेवाले हैं। महात्माजी-को लौटनेमें अभी बहुत देर होगी।

'वह, कोई आ रहा है। महात्माजी-जैसे ही लगते हैं। वही हैं हाथमें वह क्या तुम्बी दीखती है।' झटसे उठ खड़ा हुआ। वह थक गया है, यह महात्मा-जीपर प्रकट हो, इसकी उसे तनिक भी इच्छा नहीं थी। झटपट उसने कुल्हाड़ा पकड़ा। 'ठक्-ठक्' वेगसे वह आघात कर सके तो महात्मा दूरसे उसका कार्य चलता है, यह जान सकेंगे।

कुल्हाड़ा तो लकड़ीकी दरारमें जा अटका है। वह तो हिलता ही नहीं। उसने बहुत प्रयत्न किया। पूरा बल लगाया। कोई लाभ नहीं। कुछ झुँझलाहट आयी। दोनों ओर बगलोंमें दबाने लगा उसे।

'मैं देखता हूँ, तुम रहने दो!' साधुने कमण्डलु भूमिपर रक्खा। उसने पूरे बलसे एक ओर दबाया और उठा लिया, पर—पर कुल्हाड़ेका धारवाला पतला भाग टूट गया था।

'कोई चिन्ता नहीं! तुम बढ़ईके यहाँसे खूब सुदृढ़ कुल्हाड़ा ले आओ। पीपल इस कच्चे लोहेसे कटनेसे रहा! मैं प्रतीक्षा करूँगा।' उसके पास ग्राममें जाकर दूसरा कुल्हाड़ा लानेके अतिरिक्त उपाय भी क्या था।

× × × ×

[२]

'यह जीवन-मरणका चक्र कैसे छूटे?' प्रश्न सीधा पर श्रद्धासमन्वित था। ब्राह्मणकुलमें जन्म, सम्पन्न तथा सदाचारी परिवार ये बड़े पुण्यसे प्राप्त होते हैं। उसने इसके साथ स्वयं नम्रता, और शीलका अर्जन किया था। अध्ययन यदि विशुद्ध हो तो विद्या वैराग्यका कारण बनेगी ही। उसे स्वाध्यायका व्यसन था। समीप किसी महात्माके आनेपर उनकी सेवाका प्रयत्न एवं सत्संगका लाभ छोड़ना उसके स्वभावमें नहीं था। प्रातः किसीने समाचार दिया कि गङ्गातटपर एक विरक्त संत पधारे हैं। वह उसी समय चल पड़ा था। महात्माओंके समीप कुशल-प्रश्न तो जिज्ञासा और समाधानस्वरूप ही ठीक है।

'बिना श्रीहरिका सान्निध्य पाये जीवका जन्म-मरण कैसे छूट सकता है।' महात्मा तनिक सीधे बैठ गये। उस समय वहाँ दूसरा कोई न था। पलाशके पत्तोंमें छनकर आती किरणें उनके मुखको दीप्तिमय बना रही थीं। 'जीव जबतक मायाकी परिधिमें है, उसे आवा-गमनसे मुक्ति कहाँ। उसकी मुक्ति तो इस मायिक जगत्से पार पहुँचकर होती है। प्रभुके परधामको प्राप्त करके ही वह पुनः यहाँ नहीं लौटता।'

'श्रीहरिका वह सान्निध्य कैसे प्राप्त हो?' तरुणने चरण पकड़े।

'उपासना और प्रेमके द्वारा वह प्राप्त होता है?'

'उपासना?' तरुणका सन्तोष सूत्रोंसे कैसे हो जाय।

'अधिकारके अनुरूप आराध्य-विग्रहकी अर्चा और उसीका ध्यान, चिन्तन, गुणगान, मन्त्र एवं नाम-जप।'

'मैं अपने अधिकारको समझ सकूँ, इतनी शक्ति नहीं है!' तरुणने भावक्षुब्ध प्रार्थना की।

'तब कल आओ!' पता नहीं क्यों महात्माने उसे उस समय विदा करना चाहा। अधिकारकी परीक्षा जिज्ञासाकी तीव्रतासे होती है। जिज्ञासाकी तीव्रताका परीक्षण या स्वयंकी कोई आवश्यकता होगी।

जिसमें सचमुच जिज्ञासा है, वह 'कल' तो क्या 'एक वर्ष या एक युग'की भी प्रतीक्षा कर लेगा। विश्वास भर होना चाहिये। दूसरे दिन तरुण ठीक उसी समय उपस्थित हो गया।

'कहींसे एक अच्छा कुल्हाड़ा ले आओ!' महात्माने आदेश दिया 'खूब मोटा-सा एक पीपल काटना है। हम दोनोंके अतिरिक्त तीसरा साथ नहीं चलेगा।'

'पीपल काटना है!' तरुणके स्वरमें आश्चर्य था। पीपल काटना तो शास्त्रनिषिद्ध है।

'चौंको मत ! उसकी कोई प्रतिष्ठा अब नहीं। सूखकर ठूँठ हो गया है।' साधुने तरुणका असमंजस लक्षित कर लिया। 'उसका न तो वह स्वरूप है, जैसा तुम समझते हो और न उसमें जीवन ही है, पर है बड़ा सुदृढ़ मूल।'

'मैंने कल स्वप्नमें वह स्थान देखा है। यहाँसे समीप ही होना चाहिये।' तरुण कुल्हाड़ेके साथ कुदाल भी साथ लाया था। वृक्षकी जड़ खोदकर कहीं काटनेकी आवश्यकता हुई तो वह काम आवेगी। महात्मा बता रहे थे 'पता नहीं कबका वह पीपल है। कोई उसका आदि नहीं जानता। हमलोग न काटें तो पता नहीं कबतक रहेगा। कोई नहीं बता सकता उसका अन्त। उसके मूलके नीचे श्रीहरिका सुन्दर श्रीविग्रह है।'

'श्रीविग्रह अश्वत्थके नीचे।' तरुणने स्वाभाविक कुतूहलसे पूछा। 'हाँ, भाई! श्यामसुन्दर अश्वत्थ-मूलके नीचे छिपे हैं। अश्वत्थको काटकर, फिर उन्हें ढूँढ़ना है।' महात्माका स्वर विचित्र गम्भीर हो गया था।

'प्रभु आज मेरे यहाँ भिक्षा स्वीकार करेंगे।' तरुणने मार्गमें चलते-चलते अनुरोध किया।

'अभी तो तुम अश्वत्थको काटने चल रहे हो!' महात्मा खिलखिलाकर हँस पड़े। 'वहाँ सफल होनेपर क्या लौटना हो सकता है।'

'बहुत बड़ा पीपल होगा। उसे काटते-काटते ही सायंकाल हो जाय तो आश्चर्य नहीं। उसकी जड़ भी खोदनी है, पता नहीं कितने नीचेतक। ऐसी दशामें वहाँसे लौटना कैसे सम्भव है।' तरुणने संतके शब्दोंका अर्थ अपने भावके अनुसार लगा लिया। सायंकालतक कार्य करना है। कदाचित् रात्रिको भी जुटे रहना पड़े। क्या भोजन मिलेगा, कैसे रात्रि व्यतीत होगी, यह सब प्रश्न मनमें ही नहीं आये। पीपलके नीचेसे श्रीहरिका कोई प्राचीन विग्रह मिलेगा, यह क्या कम उत्साहप्रद आशा है। उत्साह प्रबल हो तो क्षुधा-पिपासा कैसी।

'तुम अकेले पीपल काट सको, ऐसा धैर्य तो है?' साधुने पता नहीं क्यों परीक्षा लेना आवश्यक मानकर पूछा। 'मैं तुम्हारी बहुत थोड़ी सहायता कर सकता हूँ; केवल बतलाने और समझाने भर।'

'मैं उसे काट लूँगा।' तरुणको कोई सन्देह नहीं था। पीपल चाहे जितना मोटा हो, देर ही तो लगेगी। शामतक उसे गिराया नहीं जा सकेगा, ऐसी क्या बात है। उसने कभी लकड़ी नहीं काटी है तो क्या हुआ; यह भी क्या कोई कला है। कुल्हाड़ा कुछ भारी अवश्य है; पर यह और सुविधाकी बात है। 'आप वृक्ष दिखला भर दें।'

'संकेत ही सम्भव है। हम समीप आ गये हैं।' साधु चले जा रहे थे।

× × × ×

[३]

'अरर् धाँ!' सन्ध्याकी अरुणिमामें पीपल नीड़ोंको लौटते पक्षियोंको चौंकाता गिर पड़ा।

'आज चाँदनी रात्रि है। पूर्णिमाके प्रकाशमें इसकी जड़का अन्वेषण कठिन नहीं होगा!' महात्माने देखा नहीं कि तरुण कुल्हाड़ा एक ओर फेंककर भूमिपर बैठ गया है और उसने पैर फैला दिये हैं। वह कदाचित् लेट जाना चाहता है। 'सायंकृत्य समाप्त करके फिर कार्यमें लगना चाहिये।' वे दो मील दूर नदीकी ओर मुड़ पड़े।

हाथोंमें छाले पड़े और फूट गये। शरीर जैसे गाँठ-गाँठसे व्रण हो गया हो। स्वेदकी धारा चल रही थी। साधुके कमण्डलुके जलके अतिरिक्त कण्ठमें कोई दाना दिनभरसे गया नहीं। परिश्रम—अनवरत परिश्रम। यदि महात्मा बराबर प्रोत्साहित न करते, उनकी झिड़कीका भय न होता तो वह कबका चला गया होता। यह भी ठीक है कि महात्माने यदि उसे बराबर वृक्ष काटनेकी कलाके सम्बन्धमें निर्देश न दिये होते तो वह सफल न होता। उन्होंने ही उसे

लक्ष्यपर आघात करना, सूखी लकड़ीकी दरारोंसे लाभ उठाना, बड़े चप्पड़ निकालना सिखाया। इतनी सरलता-से वृक्ष कटा उन्हींकी कृपासे; किंतु अब वह इतना श्रान्त हो गया है कि उठनेकी इच्छा ही नहीं होती। चेष्टा करके भी उठ सकेगा, इसमें सन्देह है।

सन्ध्या करनेकी इतनी इच्छा नहीं थी, जितनी महात्माकी भीति। किसी प्रकार वह उठा। वह दो मील उसे दो दिनका मार्ग प्रतीत हुआ, परंतु वायुने स्वेद सुखा दिया। स्नानसे श्रम दूर हुआ। सन्ध्या करनेकी स्थितिमें शरीर आया।

'बड़े तीक्ष्ण शस्त्रसे जो पर्याप्त सुदृढ़ हो, पीपल काटना है। पूरी दृढ़ता, धैर्य तथा श्रमसे ही वह कटेगा। पीपलकी जड़में ही वह श्रीधाम है, जिसे पाकर आवागमनसे परित्राण मिल जाता है।' महात्माने सन्ध्याके आसनपर बैठते-बैठते उसकी ओर गम्भीर दृष्टिसे देखकर कहा।

'पीपल तो कट गया!' उसने सोचा, कदाचित् महात्माजी ध्यानकी स्थितिके कारण आजके इस श्रमको भूल गये हैं। कहीं कोई और पीपल तो नहीं काटना है; उसे यह भी सन्देह हुआ। वह तो इस आशङ्कासे ही निराश हो गया। दिनभर उसे जो श्रम करना पड़ा है, वही अकल्पित है। उसकी पुनरावृत्ति करनी हो तो? उसकी शक्तिके बाहरकी बात है यह।

'पीपल कटता कहाँ है। वह तो अनादि है। अनन्त है। उसका कोई सुनिश्चित स्वरूप या स्थिति हो तो वह कटे भी।' महात्मा पता नहीं क्या कह रहे थे। 'पीपलका वास्तविक मूल तो ऊपर है। उसकी नीचे चारों ओर फैली जड़ें ही काट दी जाँ तो बहुत। इन जड़ोंको काटकर उसके मूलका अन्वेषण करना है।'

'अभी लौटकर मैं मूलको खोदूँगा, परंतु पीपलकी ऊपरकी जड़ें क्या? हमने जिस पीपलको काटा है, उसकी कोई जड़ मिट्टीसे ऊपर नहीं।' तरुणकी समझ-में बात आयी नहीं। उसने देखा कि यदि नीचेकी मूसला जड़को छोड़कर ऊपर गयी कोई जड़ खोदनी है तो वह चाहे जितनी दूर गयी हो, सीधे नीचे खोदने-की अपेक्षा श्रम कम ही पड़ेगा।

'तुम सन्ध्या कर लो!' महात्माने देखा कि तरुण इस प्रकार कुछ समझ सके, ऐसी मानसिक स्थितिमें नहीं है।

पीपलकी जड़ खोदी गयी। इधर-उधर फैली जड़ें काट दी गयीं। नीचेकी जड़ पता नहीं कितनी गहरी गयी है। तरुणके हाथोंके छाले पहलेसे घाव बन गये हैं। शरीर अपने वशमें नहीं है। उसे लगता है, यह जड़ पातालतक तो नहीं गयी है। थोड़ी-सी मिट्टी खोदकर वह उसे बाहर फेंकनेके लिये बैठ जाता है। प्रत्येक बार उठना उसके लिये भारी होता है।

मूल खोदना है—खोदना ही है। वहाँ मूलमें कहीं श्रीहरिका मङ्गल-विग्रह है। उसे पाते ही वह मुक्त हो जायगा। महात्माका प्रोत्साहन है। वह जुटा है—जुटा है। शरीरकी शक्ति अन्ततः सीमा रखती है। सिरमें चक्कर आने लगे हैं। कुदाली उठाकर चलाते समय अँधेरा हो जाता है। पता नहीं लगता कि कहाँ कुदाल गिर रही है।

वह गिरेगा—अब गिरेगा! बहुत सम्हालने, चेष्टा करनेपर भी वह एक बार कुदालीके साथ गिरा ही। 'ठक्!' जैसे किसी पत्थरपर कुदाल टकरायी हो। महात्माजीने लपककर हाथोंसे मिट्टी हटाकर कुछ उठा लिया। उसे कुछ पता नहीं—जैसे पृथ्वी घूम रही है।

'कितना मनोहारी विग्रह है!' कमण्डलुके जलसे विग्रहको प्रक्षालित किया महात्माजीने।

'ओह, मेरे प्रभु!' जैसे उसमें नवीन प्राण आ गये हों! उसने दोनों हाथ उठाकर बैठे-बैठे ही मूर्ति ले ली। मस्तकसे श्रीविग्रहके चरण लगाते ही नेत्रोंसे धाराएँ फूट निकलीं!

'यही बतलावेंगे कि वह अश्वत्थ कहाँ है, कैसा है! इन्हींकी कृपासे उसकी सुदृढ़ जड़ोंको काटने योग्य कुल्हाड़ा मिलता है। जड़ें काटकर इन्हींके उस पदका अन्वेषण होता है, जहाँ जाकर कोई फिर लौटता नहीं! तुम उसी अश्वत्थको काटो!' महात्माकी वाणी उसने सुन ली; किंतु जब भावावेशसे सावधान होकर उसने गड्ढेसे ऊपर देखा, महात्मा जा चुके थे। एक ओर कुदाली पड़ी थी पासमें और ऊपर था कुल्हाड़ा। थोड़ी-सी भूमि जलसे गीली दीखती थी।

[४]

'बन्धन क्या है? लोकमें व्याप्त मनुष्यकी आसक्ति—सङ्ग!' वह मूर्ति अपनी गम्भीर दृष्टिमें पता नहीं क्या भाव लिये है। काले पत्थरकी शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी एक छोटी-सी कलापूर्ण मूर्ति। घर लाकर जब उसने भली प्रकार उसे स्वच्छ किया तो उसे लगा, श्रीविग्रह-रूप नारायण उसीकी ओर बड़े ध्यानसे देख रहे हैं और उनके अधर-सम्पुट कुछ कहना ही चाहते हैं। छोटी-सी चौकी उनका सिंहासन बनी और वह पुजारी बन गया। नित्य पूजाके पश्चात् नीराजन करके जब वह आसनपर प्रार्थनाके अनन्तर बैठता है, उसकी दृष्टि श्रीविग्रहपर स्थिर हो जाती है। वह उस आराध्य-की दृष्टिको समझना चाहता है। आप चाहें तो इसे ध्यान कह लें।

श्रीविग्रह कैसे उसके यहाँ पधारे? क्या उद्देश्य था उसका इस मूर्तिको लानेमें? सब कुछ स्मरण होकर भी जैसे विस्मृत हो गया है। प्रभु उसपर कृपा करके पधारे हैं। उसका सौभाग्य है कि वह सेवा कर पाता है थोड़ी-सी। दूसरी सब बातें जैसे अनावश्यक हो गयीं। उसके भगवान् सुन्दर, माधुर्यकी मूर्ति प्रभु। उनकी पूजाका आनन्द क्या कम है जो मनुष्य कुछ और चाहे? इस पूजाके सुखसे बड़े किसी सुखकी कल्पना हो, तो उसकी इच्छा भी शक्य है; पर यह अपार आनन्द!

इतनेपर भी पूजाके अनन्तर वह प्रभुके नेत्रोंकी ओर एकटक देखता है कुछ देर। यह स्वभाव हो गया है। लगता है, प्रभु कुछ कहनेहीवाले हैं। सचमुच आज तो वह बोल ही पड़े हैं। हृदयके अन्तरतम प्रदेशसे यह और किसकी वाणी गूँजने लगी है। वह शान्त बैठा रहा।

'सङ्ग ही कर्मोंमें बन्धन उत्पन्न करता है। जीवने अपनी आसक्तिके सूत्र लोकमें फैला दिये हैं। बड़े सुदृढ़ बद्धमूल हो गये हैं ये कर्मबन्धन! प्रगाढ़ अनासक्ति—दृढ़ असङ्ग ही इनको काट सकता है! मुझमें जिसके मनका सङ्ग हो गया, लोकसङ्ग उसका स्वतः ही उच्छिन्न हो जायगा!' वह सुनता रहा उस सुधास्यन्दिनी दिव्य वाणीको।

'वत्स! तुमने अश्वत्थ काट लिया!' सहसा उसने पीछे देखा। पता नहीं कबसे उसके पीछे वे महात्मा आकर खड़े थे, जिनके अनुग्रहसे वह प्रभुका श्रीविग्रह पा सका था।

'प्रभु!' वैसे ही उसने चरणोंपर मस्तक रख दिया।

'वह पद जहाँ जाकर कोई फिर लौटता नहीं; वह नित्य अन्वेषणीय है!' महात्माकी दृष्टि श्रीविग्रह-पर थी और वे धीरे-धीरे हँस रहे थे।

'अश्वत्थ तो कटता ही नहीं!' उसने भी उठकर हँसते हुए ही कहा। 'यह अनादि, अनन्त विश्व जिसकी भली प्रकार कोई स्पष्ट तत्त्वतः स्थिति नहीं, इस अव्ययको काटा कैसे जा सकता है।' वाणीमें प्रश्न नहीं, कौतुक ही था।

'विश्व किसीका बिगाड़ता भी क्या है।' महात्मा प्रसन्न थे। 'इसकी नीचे फैली जड़ें—आसक्तिके बन्धनमय कर्मसूत्र तो तुमने नष्ट कर ही दिये।'

'श्रीचरणोंका अनुग्रह!' कृतज्ञतासे उसने मस्तक झुकाया!

'असङ्ग—अनासक्तिका दृढ़ शस्त्र केवल इस कर्मासक्तिका नाश करता है। यहीं बस नहीं है। अश्वत्थमूलका इसके पश्चात् अन्वेषण करना चाहिये, सतत अन्वेषण! प्रभुने कृपा करके तुम्हें अपनी ओर आकृष्ट किया है।' गुरुने शिष्यको प्रोत्साहन दिया।

'अन्वेषण ही या…………।'

'तुमने अश्वत्थ-मूल खोदा ही था न! जब तुम श्रान्त होकर असमर्थ हो गये थे।' महात्माने संकेतसे ही समझा दिया कि वह साधन साध्य नहीं। अन्वेषण तो अपनी शक्तिकी सीमाको श्रान्त कर देनेके लिये है। वह तो उस श्रान्तिकी सीमापर अपनी कृपासे स्वयं उपलब्ध होता है।

'उस दिन यदि मैं उतना न खोद सका होता!' अब भी उसे सन्देह था कि साधनको एक निश्चित सीमातक पहुँचाना ही है।

'तुमसे बलवान् अधिक खोद सकता था और निर्बल कम!' महात्मा गम्भीर हो गये 'तुम भूलते हो जब सोचते हो कि तुम एक जड मूर्तिका अन्वेषण कर रहे थे। थकनेकी सीमापर दोनोंको पहुँचना पड़ता और जो जहाँ थक जाता, श्रीविग्रह उसे वहीं मिलता। जिसकी दृष्टिकी सीमा जहाँ है, वहीं उसके लिये क्षितिजकी नीलिमा है।'

'मैं अब और किसका अन्वेषण करूँ?' उसने श्रीविग्रहके सम्मुख मस्तक झुकाया और बैठ गया। 'इससे अधिक तो उसकी शक्ति नहीं।'

'वह अन्वेषणीय पद इन भूमासे भिन्न कहाँ है!' संतकी वाणीने उसे दृष्टि उठानेको प्रेरित किया। उसे लगा उसकी आराध्य मूर्ति सहस्र-सहस्र सूर्यकी प्रभासे मण्डित हो गयी है और दिशाएँ दिव्य गन्धसे झूम उठी हैं।

बड़ी गोद किसकी ?

(लेखक—श्री 'दुर्गेश')

समस्त श्रान्त जीव जिसकी गोदमें विश्राम पाते हैं, अधम-से-अधमको भी जिसकी गोदमें सदा समान जगह है। भक्त प्रह्लाद आगमें तपे सुवर्णकी भाँति निर्मल, देदीप्यमान कीर्तियुक्तको जिस गोदने ललककर लिया था, उसीने अधमाधम दुष्ट हिरण्यकशिपुको भी उसी गोदमें सुलाया। जिसे कहीं भी स्थान नहीं मिलता, उसके लिये वह शीतल त्रयतापहारी गोद सदा उन्मुक्त रहती है। रावण, जिसने चराचरको व्यथित कर रक्खा था, जो सबके जीवनावलम्ब हैं, उनसे द्वेष किया था; परंतु उसके लिये भी उस महान् गोदमें किञ्चिन्मात्र भी संकीर्णता न आयी। कंस, पूतना, बकासुर इत्यादिने इतनी दुष्टता की, भ्रममें पड़कर; सारा विश्व उनसे व्यथित था, नरक भी डरता था उन्हें अपनेमें स्थान देनेको और मृत्यु भी उनके स्पर्शके भयसे भागती थी; किंतु उस महान् गोदने उन्हें बिना किसी हिचकके अपनेमें ले लिया। जब अखिल विश्व उसका है, तब वह किससे घृणा करे। माता अपने दुष्टसे भी दुष्ट बालकको क्या त्याग सकती है। उसकी हार्दिक इच्छा यही रहती है कि उसे सन्मार्गपर लाये और ऐसा ही उसका प्रयत्न भी होता है। वह दण्ड देती है, इसीलिये कि जिससे वह दुष्टता छोड़ दे और उसके दूसरे भोले बालक, जो कुमार्गमें पड़े हों, सँभल जायँ। यह देखकर समझ लें कि मा हमसे भी इसी तरह पेश आयेगी, परंतु वह क्या उन्हें कभी अपनी गोदसे दूर करेगी? नहीं। वह उन्हें समझा-बुझाकर ठोंक-पीटकर भी रक्खेगी अपनी ममत्वभरी गोदमें ही।

ऐसी उस विस्तृत महान् ममतामयी गोदवालेको भी मैं जब देखती हूँ किसी रानी या अहीरनीकी गोदके लिये मचलते, रोते, ठुनकते और मिन्नतें करते, तब मैं समझ नहीं पाती कि बड़ी गोद किसकी है?

वाल्मीकि रामायण महाभारतसे अर्वाचीन है ?

(लेखक—पं० श्रीदीनानाथजी शर्मा शास्त्री सारस्वत, विद्यावागीश, विद्याभूषण, विद्यानिधि)

अंग्रेजी दृष्टिकोणवाले वर्तमान ऐतिहासिकोंका यह विचार है कि 'वैदिककालमें 'नारायण' संज्ञक ईश्वरकी प्रसिद्धि नहीं थी; इसी कारण महाभारतमें बड़े प्रयत्नसे नारायणीय उपाख्यानद्वारा नारायणका गुणगान किया गया है। महाभारतकालके बाद ही जगत्में 'नारायण' यह संज्ञा परमात्माकी हुई। वाल्मीकि रामायणमें भी कविने रामको बहुत स्थलोंपर 'नारायण' संज्ञासे सत्कृत किया है—जिससे स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि वाल्मीकि रामायणकी रचना महाभारत-के निर्माणके बाद हुई।'

यहाँपर विचारणीय यह है कि 'महाभारत' कब बना ? सत्ययुगमें अथवा त्रेतायुगमें वा द्वापरके अन्तमें ? यदि द्वापरके अन्त वा कलियुगके आदिमें महाभारत बना तो द्वापर-त्रेतासे पूर्वकालीन पुस्तकोंमें यदि ईश्वरका 'नारायण' यह नाम मिल जाय; तो मानना पड़ेगा कि ऊपरका आरोप भ्रममूलक है। अब इसपर देखना चाहिये।

श्रीमनुजी सृष्टिके आदिकालमें माने जाते हैं, जैसे कि—श्रीयास्काचार्यने निरुक्तमें लिखा है—

मिथुनानां विसर्गादौ (सृष्टयादौ) मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत्। (३।४।२)

उसी सृष्टयादिजात मनुकी स्मृतिमें ईश्वरका नाम 'नारायण' आया है। जैसे कि—

आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः।
ता यदस्यायनं प्रोक्तं तेन नारायणः स्मृतः॥
(१।१०)

इस पद्यके वक्ता भी स्वयं मनु हैं। श्रीमनुको कोई भी आजका भी ऐतिहासिक महाभारतसे अर्वाचीन नहीं मानता; प्रत्युत उससे प्राचीन मानता है। तभी 'मनुस्मृति' के पद्य वा मनुका नाम महाभारतमें यत्र-तत्र सुलभ हैं; जैसे कि—'मनुरेवं प्रशंसति' (महा० अनुशासन० ४४ । २३) 'मनुनाभिहितं शास्त्रम्' (महा० अनुशासन० ४७ । ३५) इत्यादिमें मनुका नाम स्पष्ट है।

इधर 'मनुना मानवेन्द्रेण या पुरी निर्मिता स्वयम्' (१। ५ । ६) 'वाल्मीकि रामायण' के इस पद्यमें भी 'मनु' का वर्णन है। 'श्रूयते मनुना गीतौ श्लोकौ' (४। १८। ३०) यहाँपर रामायणकार 'मनुस्मृति' के दो पद्य भी स्मरण करते हैं। वर्तमान संस्कृत विद्वानोंमें अनुसन्धाननिरत श्रीसत्यव्रत-सामश्रमीने भी 'निरुक्तालोचन' में लिखा है—"रामायण-प्रणेतुरादिकवेर्वाल्मीकाच्च प्राचीनतमः' [मनुः] इससे स्पष्ट है कि मनुस्मृतिको आधारीभूत करके त्रेतामें श्रीवाल्मीकिने अपनी रामायणमें ईश्वरको 'नारायण' लिखा; और द्वापरके अन्तमें उन दोनों—'मनुस्मृति' एवं 'रामायण'को आधारीभूत करके श्रीव्यासने अपने 'महाभारत'में ईश्वरको 'नारायण' लिखा। इस प्रकार 'वाल्मीकि रामायण' 'महाभारत' से परभव सिद्ध नहीं हो सकता। हाँ, यदि रामायणमें मनुस्मृति-का नाम भी होता, महाभारतका भी; इधर महाभारतमें रामायणका नाम सर्वथा न होता; तब तो रामायणका महाभारतसे अर्वाचीन होना न्याय्य था; परंतु महाभारत-में ही मनुस्मृति तथा रामायणका नाम है, जैसे कि—'रामायणेऽति विख्यातः श्रीमान् वानरपुङ्गवः' (वनपर्व १४७। ११) परंतु रामायणमें महाभारतका नाम नहीं। इससे स्पष्ट है कि 'महाभारत' ही 'मनुस्मृति' तथा रामायणसे अर्वाचीन है। तब महाभारतमें नारायणका उल्लेख मनुस्मृति तथा रामायणको आधारीकृत करके किया गया है। तो फिर 'रामायण' महाभारतसे प्राचीन ही सिद्ध हुआ। इधर 'नारायणाथर्वशिरः उपनिषद्' तथा 'नारायणोपनिषद्' भी प्राचीन ग्रन्थ हैं। इनको आश्रित करके रामायणमें 'नारायण' नाम तथा महाभारतमें 'नारायणोपाख्यान' प्रसिद्ध है।

पर कई ऐतिहासिकोंका विचार है कि 'यह मनुस्मृति सृष्टिसमकालीन नहीं; न इसे मनुने ही बनाया है। यह तो 'भृगुसंहिता'रूपसे प्रसिद्ध जिस किसी भृगुके द्वारा बनायी गयी है। 'नारायणाथर्वशिराः' तथा 'नारायणोपनिषद्' भी अर्वाचीन हैं।'

हम इस विचारसे भी सहमत नहीं हैं। मनुस्मृतिको केवल हम ही सृष्टिके आदिमें बना नहीं मानते; किंतु आजकलके विद्वान् भी इसमें सहमत हैं। देखिये—स्वामी श्रीदयानन्दजीने भी अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाशके ग्यारहवें समुल्लासके आरम्भमें कहा है—'यह मनुस्मृति जो सृष्टिके आदिमें हुई है, उसका प्रमाण है।' (१७२ पृष्ठ)। श्रीतुलसीरामस्वामीने भी अपने भास्करप्रकाशके चतुर्थ समुल्लास नियोगप्रकरणमें कहा है—'मनु-स्वायम्भुव सृष्टिके आरम्भमें हुए।' आर्यसमाजमें अनुसन्धाननिष्णात श्रीभगवद्दत्तजीने अपने 'वैदिकवाङ्मयका इतिहास' (प्रथम भाग) के ३८ पृष्ठमें लिखा है—'वर्तमान स्मृतियोंमें मानवधर्मशास्त्र

(मनुस्मृति) सबसे पुराना है ।' उसीके २६३ पृष्ठमें मनुने कहा है—'अतः यह [मनुस्मृति तथा नारदस्मृति] ग्रन्थ भी आर्षकालके ही हैं। इसीलिये मनुके शतशः प्रमाण महाभारत आदिमें मिलते हैं ॥ यदि यत्न किया गया, तो मनुके इसी भृगुप्रोक्त धर्मशास्त्रपर ईसासे सैकड़ों वर्ष पहलेके भाष्य मिल जायँगे ।' श्रीयास्ककी साक्षी इस विषयमें पहले दी जा चुकी है ।

इत्येतन्मानवं शास्त्रं भृगुप्रोक्तं पठन् द्विजः ।
(मनु० १२ । १२६)

इस श्लोकके आधारसे मनुस्मृतिका भृगुप्रणीत वा अर्वाचीन होना माननीय नहीं । उक्त पद्यमें मनुस्मृतिको भृगुसे प्रोक्त कहा है, भृगुप्रणीत नहीं कहा। इसीलिये श्रीमनुने स्वयं ही कहा है—

एतद् वोऽयं भृगुः शास्त्रं श्रावयिष्यत्यशेषतः ।
एतद्धि मत्तोऽधिजगे सर्वमेषोऽखिलं मुनिः ॥
(१ । ५९)

यथेदमुक्तवान् शास्त्रं पुरा पृष्टो मनुर्मया (भृगुणा) ।
तथेदं यूयमप्यद्य मत्सकाशान्निबोधत ॥
(मनु० १ । ११९)

इनसे स्पष्ट सिद्ध होता है कि श्रीभृगुने यह स्मृति स्वयं नहीं बनायी; किंतु मनुसे पढ़कर उसीको कहा है । उसे भी मनुके परोक्ष अथवा बहुत समयके व्यवधानमें भृगुने नहीं कहा; किंतु उसके समान कालमें ही कहा है; क्योंकि भृगु मनुका ही पुत्र है; उसे भी श्रीमनुने सृष्टिके आदिमें ही उत्पन्न किया है । इसी कारण श्रीमनुने स्वयं ही कहा है—

अहं प्रजाः सिसृक्षुस्तु तपस्तप्त्वा सुदुश्चरम् ।
पतीन् प्रजानामसृजं महर्षीन् आदितो दश ॥
(१ । ३४)

मरीचिमत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यं पुलहं क्रतुम् ।
प्रचेतसं वसिष्ठं च भृगुं नारदमेव च ॥
(१ । ३५)

यहाँपर सृष्टिके आदिमें पहले यही मरीचि आदि दस प्रजापति उत्पन्न किये गये; इन्हींमें एक भृगु भी थे ।

ततस्तथा स तेनोक्तो महर्षिर्मनुना भृगुः ।
तानब्रवीद् ऋषीन् सर्वान् प्रीतात्मा श्रूयतामिति ॥
(मनु० १ । ६०)

इससे स्पष्ट है कि मनुके ही कालमें मनुप्रणीत ही स्मृतिको श्रीभृगुने मनुकी उपस्थितिमें ही ऋषियोंको सुनाया । तब भृगुप्रोक्त मनुस्मृति भी मनुसमकालीन अर्थात् सृष्ट्यादिकालीन सिद्ध हुई ।

इस प्रकार जब कृतयुगमें प्रकाशित मनुप्रणीत, कृतयुगोत्पन्न भृगुसे उपदिष्ट मनुस्मृतिमें ही परमात्माका 'नारायण' यह नाम कहा गया है; तब उसका अनुसरण करके श्रीवाल्मीकिने त्रेतायुगमें अपनी रामायणमें तथा उन्हीं दोनोंको अनुसृत करके उन दोनोंको ही स्मरण कर चुके हुए महाभारतकारने द्वापरके अन्तमें अथवा कलियुगके आदिमें यही बात (नारायणोपाख्यान) कही हो,—तब उसमें कोई बाधा सिद्ध न हो सकी । उसका प्रमाण यही है श्रीवाल्मीकि अपनी रामायणमें मनुस्मृतिका स्मरण करते हैं; और श्रीव्यास अपने महाभारतमें 'वाल्मीकि रामायण' तथा 'मनुस्मृति' दोनोंको याद करते हैं । जैसे कि—

श्रूयते मनुना गीतौ श्लोकौ चारित्रवत्सलौ ।
गृहीतौ धर्मकुशलैस्तथा तच्चरितं मया ॥
(वाल्मीकि० ४ । १८ । ३०)

यहाँपर मनुके दो श्लोक याद किये गये हैं । उन्हें रामायणकारने इस प्रकार लिखे हैं—

राजभिर्धृतदण्डाश्च कृत्वा पापानि मानवाः ।
निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा ॥
शासनाद् वापि मोक्षाद् वा स्तेनः पापात् प्रमुच्यते ।
राजा त्वशासन् पापस्य तदवाप्नोति किल्बिषम् ॥
(४ । १८ । ३१-३२)

ये दो मनुके पद्य भगवान् रामने वालीको कहे थे । वे श्लोक मनुस्मृति (८ । ३१८-३१६) में हैं । कुछ थोड़ा शब्दोंमें भेद है । स्मरणके आधारपर कहे हुए पद्योंमें कुछ थोड़ा-बहुत शब्दभेद हो जाना स्वाभाविक है ।

इस प्रकार जब त्रेतायुगमें भगवान् श्रीरामने इन दो मनुस्मृतिके पद्योंका स्मरण किया है; और उन्हें त्रेतायुगके अन्तमें श्रीवाल्मीकिने अपनी रामायणमें उपनिबद्ध किया; तब श्रीवाल्मीकिने परमात्माका 'नारायण' यह नाम भी सत्ययुगमें प्रणीत 'मनुस्मृति' को देखकर ही प्रयुक्त किया यह स्पष्ट ही है । महाभारतमें श्रीव्यासने—

अपि चायं पुरा गीतः श्लोको वाल्मीकिना भुवि ।
न हन्तव्याः स्त्रिय इति यद् ब्रवीषि प्लवङ्गम ॥
पीडाकरममित्राणां यत् स्यात् कर्तव्यमेव तत् ॥
(द्रोणपर्व १४३ । ६७)

यह 'वाल्मीकिरामायण' (६ । ८१ । २८) का पद्य स्मृत किया है।

इधर 'महाभारत' में श्रीव्यासने 'मनुनाभिहितं शास्त्रं' (अनुशासन० ४७ । ३५) इत्यादि स्थलमें बहुत जगह मनुस्मृतिको याद किया है। प्रत्युत—

प्रजापति (मनु) मतं ह्येतन्न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति।
(अनुशासन० २० । १४)

यहाँपर मनुस्मृतिके श्लोकको भी अनूदित किया है। वह श्लोक मनुस्मृतिके ९ । ३ स्थलमें है। इससे यदि अधिक देखनेकी इच्छा हो तो 'प्राच्य धर्मपुस्तकमाला' में प्रकाशित 'मनुस्मृति' का अंग्रेजी भाषानुवाद देखना चाहिये; जहाँपर बूलर महाशयने एक सूची जोड़ी है और वहाँ बताया है कि मनुस्मृतिके अमुकामुक पद्य महाभारतमें मिलते हैं—(एस्० वी० ई० भाग २५ पृष्ठ ५३३)। इस प्रकार स्पष्ट हुआ कि महाभारतमें मनुस्मृति एवं रामायण—इन दोनोंको ही आधारीभूत करके 'नारायण' यह परमात्माका नाम वर्णित किया है।

यदि मनुस्मृतिके पद्य भृगुप्रणीत होते तो 'वाल्मीकि रामायण' तथा 'महाभारत' में उद्धृत 'मनुस्मृति' के पद्योंमें मनुका नाम न होकर भृगुका होता; परंतु मनुका नाम दिखायी पड़नेसे वे मनुप्रणीत ही सिद्ध हुए। भृगु तो केवल उनका उपदेष्टा वा प्रवक्ता है। प्रणेता न होनेसे ही 'रामायण-महाभारत' में उद्धृत 'मनुस्मृति' के पद्योंके लिये भृगुका नाम नहीं आया है। इस प्रकार 'महाभारत' में 'मनुस्मृति'का 'नारायण' नामका प्रतिपादक उक्त पद्य अर्थतः भी अनूदित किया गया है। जैसे कि—

अपां नारा इति पुरा संज्ञाकार्यं कृतं मया।
तेन नारायणोऽप्युक्तो मम तत्त्वयनं सदा॥
(वनपर्व १८९ । ३)

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि 'नारायण' यह परमात्माकी संज्ञा 'पुरा' अर्थात् सृष्टिके आदि सत्ययुगसे प्रचलित है। उसीको आश्रित करके 'नारायण' नाम प्रसिद्ध हुआ। यदि 'नारायण' नाम महाभारतसमकालीन होता तो महाभारतमें 'पुरा नारायण उक्तः' इस प्रकार न कहा जाता। वही मनुप्रोक्त 'नारायण' यह नाम त्रेतामें श्रीवाल्मीकिने, द्वापरान्तमें श्रीव्यासने अनूदित किया है। तब 'नारायण' यह नाम 'महाभारत' के बाद जारी हुआ—ऐसा विचार भ्रमपूर्ण ही सिद्ध हुआ। इससे 'वाल्मीकि रामायण' 'महाभारत' से प्राचीन सिद्ध हो गया।

इधर 'नारायणोपनिषद्' 'तैत्तिरीय आरण्यक' (१० । १) के अन्तर्गत है। आरण्यक-उपनिषद्भाग ब्राह्मणभागके अन्तर्गत है। 'तैत्तिरीयसंहिता' (कृष्णयजुर्वेद) मन्त्रभाग है। मन्त्रभाग और ब्राह्मणभाग ये दोनों ही वेद हुआ करते हैं—यह पाणिनि आदि सब प्राचीनोंका सिद्धान्त है। महाभाष्यमें यजुर्वेदकी १०१ शाखाएँ जो बतायी गयी हैं, उनमें शुक्ल और कृष्ण दोनोंका योग हुआ करता है। ८६ शाखाएँ कृष्णयजुर्वेदकी हैं, शेष १५ शुक्लयजुर्वेदकी। इनमें तैत्तिरीयारण्यकमें—

नारायणाय विद्महे वासुदेवाय धीमहि। तन्नो विष्णुः प्रचोदयात्॥
(१० । १)

यहाँपर 'नारायण' शब्द स्पष्ट ही है। तब वेदकालमें भी नारायणसंज्ञक ईश्वरकी प्रसिद्धि सिद्ध हुई। तो नारायणोपाख्यानमें 'महाभारत' का नवीन यत्न नहीं हुआ। अथवा 'आरण्यककाल' से नारायणपूजा जारी हुई—यह माननेपर भी आरण्यककालके सब सूत्रोंसे प्राचीन होनेसे नारायणपूजा प्राचीन हुई। आरण्यककाल 'महाभारत' से प्राचीन है; क्योंकि महाभारतके शान्तिपर्व (३४३ । १३) तथा आदिपर्व (१ । २६५) में 'आरण्यक' को याद किया है। 'वैखानसधर्मसूत्र' (१ । ३ । ४, १ । ७ । ८) में भी नारायणका ध्यान वर्णित किया है। स्वयं महाभारत—

इदं महोपनिषदं चतुर्वेदसमन्वितम्।
....
नारायणमुखोद्गीतं नारदोऽश्रावयत् पुनः॥
(शान्ति० ३३९ । १११-११२)

इस पद्यमें 'नारायणोपनिषद्' को याद किया गया है। तब 'नारायणोपनिषद्' भी प्राचीन हुई। 'अथर्वशिराः' को महाभारत शान्तिपर्व (३३८ । ३) में स्मरण किया है। इस कारण 'नारायणाथर्वशिराः' भी प्राचीन हुआ।

इधर कृष्णयजुर्वेदकी 'मैत्रायणीसंहिता' में भी नारायणका नाम आया है। जैसे कि—

तत्पुरुषाय विद्महे नारायणाय धीमहि। तन्नो विष्णुः प्रचोदयात्॥
(२ । ९ । ८)

इस विष्णुगायत्रीमें नारायणका नाम स्पष्ट है। वेद-शाखा भी वेद हुआ करती हैं, यह किसी अन्य समयमें बताया जायगा। तब वेदकालमें ही 'नारायण' यह विष्णुकी ख्याति थी। 'लाट्यायनश्रौतसूत्र' (१० । १३ । ४) में भी 'नारायण' शब्द आया है। इस प्रकार ईश्वर रामको 'नारायण' कहती हुई 'वाल्मीकि रामायण' की रचना 'महाभारत' से पूर्व ही सिद्ध होती है।

जन अभिमान न राखहिं काऊ

(लेखक—श्रीभावसार 'विशारद')

श्रीरामचरितमानसके उत्तरकाण्डमें भक्तशिरोमणि श्रीकाकभुशुण्डिजीने गरुड़जीको एक परम मनोहर रहस्य बतलाते हुए कहा है—

सुनहु राम कर सहज सुभाऊ ।
जन अभिमान न राखहिं काऊ ॥
संसृति मूल सूलप्रद नाना ।
सकल सोक दायक अभिमाना ॥

मानसके रचनाकार भक्ताग्रगण्य महाकवि श्रीतुलसीदासजीने उक्त संवादके अन्तर्गत अभिमान—अहंकार अथवा दर्पको संसारमें पुनर्जन्म—आवागमनका मुख्य कारण और अनेक प्रकारके दुःखोंका मूल तथा तरह-तरहके शोकको प्रदान करनेवाला (पापमूल अभिमान) माना है और लिखा है कि कृपानिधि, करुणाके सागर जन-मन-रञ्जन जब अपने सेवकको अभिमानमें मदोन्मत्त देखते हैं, तो वे उसीके—अपने दासके—लाभार्थ अभिमानरूपी वृक्षको उखाड़नेके लिये तैयार हो जाते हैं—

जिमि सिसु तन ब्रन होइ गोसाईं । मातु चिराव कठिन की नाईं ॥
जदपि प्रथम दुख पावइ रोवइ बाल अधीर ।
ब्याधि नास हित जननी गनति न सो सिसु पीर ॥
तिमि रघुपति निज दास कर हरहिं मान हित लागि ।

(रामा० उत्तर०)

× × × ×

'माली अपनी वाटिकामें प्रतिदिन देख-भाल किया करता है और जिन-जिन झाड़ोंपर बहुत-से फूल खिले देखता है उनको तुरंत तोड़ लेता है ।'

इसी भाँति ईश्वर भी सृष्टिके समस्त जीवोंकी देख-भाल करता रहता है और जो कोई अहंकारसे उन्मत्त हो जाता है, उसका नाश कर देता है ।'

मालिन आती देख कर कलियाँ उठीं पुकार ।
फूले फूले चुन लिये काल हमारी बार ॥

× × × ×

'वस्तुतः भगवान्‌का न किसीमें द्वेष है, न राग, फिर भी वे समीका उद्धार करना चाहते हैं । हाँ, उद्धारके साधन भिन्न-भिन्न हैं । अभिमानीका उद्धार उसे दण्ड देकर और दीन सेवकका उसे प्रेमसे गले लगाकर करते हैं, अभिमानीके प्रति भगवान् द्वेषीकी-सी लीला करते हैं और दीनके साथ प्रेमीकी-सी; इसीसे दीन-बन्धु, अशरण-शरण, अनाथ-नाथ, अकारण-करुण, करुणावरुणालय आदि उनके नाम हैं, यथार्थमें तो अभिमानीके प्रति भी भगवान्‌के हृदयमें प्रेम ही होता है, इसीलिये तो वे उसका अभिमान दूर करते हैं…… इतना होनेपर भी भगवान्‌के दण्डविधानमें लोगोंको दोष दीखता है *।'

बालिवध क्यों ?

भगवान्‌के दण्डविधानमें दोष देखनेवाले प्रायः प्रश्न किया करते हैं कि बालिका वध क्यों किया गया ? मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामके चरित्रमें—बालिको निर्दोष बताकर—आज भी बहुतसे लोग एक धब्बा मानते हैं, इस आक्षेपके उत्तरमें पूज्यपाद गोस्वामीजीने स्पष्ट लिखा है कि भगवान् श्रीरामचन्द्रजीका यह सहज स्वभाव है कि वे अपने जन (प्रेमी) के अभिमानको दूरकर उसका उद्धार कर दिया करते हैं ।

देखना यह है कि क्या वास्तवमें बालि भी हरिजन था और उसमें अभिमानकी मात्रा भी थी या नहीं !

× × × ×

क्रोधमें भरकर बालि सुग्रीवसे लड़नेके लिये उद्यत हो गया है, स्त्री आकर पाँव पकड़ लेती है; किंतु बालिको अपने स्वामीकी समदर्शितापर पूरा-पूरा विश्वास है, और हाँ, यदि उसके प्यारे नाथने उसका वध कर

* पूज्य श्रीकरपात्रीजी कल्याण वर्ष २० अङ्क ५ ।

दिया तो क्या वह अनाथ हो जायगा ? नहीं वह तो फिर भी सनाथ ही रहेगा, यह बात भी वह जानता और मानता है—

कह बाली सुनु भीरु प्रिय समदरसी रघुनाथ ।
जौं कदाचि मोहि मारहिं तौ पुनि होउँ सनाथ ॥

डोरेमें जरा-सी भी तूस हो तो डोरा सूईके नाकेको पार नहीं कर सकता । इसीलिये तसवीरका दूसरा पहलू भी अमर-ग्रन्थके रचनाकारने दिखा दिया है, वे लिखते हैं—सुग्रीवको तृणके समान जानकर अभिमानी ही नहीं, महा-अभिमानी चला (वरदान जो था दुगुने बल हो जानेका) ।

अस कहि चला महा अभिमानी । तृन समान सुग्रीवहि जानी ॥

× × × ×

बालि विकल हो गया है । भूमिपर गिरा दिया है उसे रघुनाथजीके बाणने । वह उठ बैठता है और देखता है कि सामने उसके प्रभु खड़े हैं, श्याम शरीर है, सिरपर जटा शोभायमान है । नेत्र अरुण हो रहे हैं और धनुषपर बाण चढ़ा हुआ है—

पुनि पुनि चितइ चरन चित दीन्हा ।
सुफल जन्म माना प्रभु चीन्हा ॥
हृदयँ प्रीति मुख बचन कठोरा ।
बोला चितइ राम की ओरा ॥

रेखाङ्कित शब्द बालिराजको वैसा ही जन—जाननेवाला सिद्ध करते हैं, जिनके लिये कहा गया है—

जानें बिनु न होइ परतीती ।
बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती ॥
प्रीति बिना नहिं भगति दिढ़ाई ।

और—

सोइ जानइ जेहि देहु जनाई । जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई ॥

अस्तु, अधिक क्यों भटकें । आगे चलकर जन और उसके जनार्दन ही तो सारी समस्याको सुलझा रहे हैं—

बालि—

धर्म हेतु अवतरेहु गोसाईं । मारेहु मोहि ब्याध की नाईं ॥
मैं बैरी सुग्रीव पिआरा । अवगुन कवन नाथ मोहि मारा ॥

श्रीराम—

अनुज बधू भगिनी सुत नारी । सुनु सठ कन्या सम ए चारी ॥
इन्हहि कुदृष्टि बिलोकइ जोई । ताहि बधें कछु पाप न होई ॥
मूढ़ तोहि अतिसय अभिमाना । नारि सिखावन करसि न काना ॥
मम भुज बल आश्रित तेहि जानी । मारा चहसि अधम अभिमानी ॥

यद्यपि बालिका पहला अवगुन* अनुजवधूको कुदृष्टिसे विलोकना है, परंतु यहाँ जिस मुख्य दोषको दो बार कहकर विशेषता दी गयी है, वह है उसका अभिमानी होना । 'कुचाली' या 'चूक' कहकर बालिका 'कुदृष्टिरूपी अघ' सम्भव है, भगवान्ने वैसे ही टाल दिया हो, जिस प्रकार सुकण्ठ और विभीषणकी 'करतूति' पर करुणावरुणालय श्रीरामचन्द्रजीने स्वप्नमें भी विचार नहीं किया; क्योंकि 'किए' और 'हिए' की कोई बात सर्वान्तर्यामीसे छिपती नहीं है—

रहति न प्रभु चित चूक किए की । करत सुरति सय बार हिए की ॥
जेहिं अघ बधेउ ब्याध जिमि बाली । फिरि सुकंठ सोइ कीन्हि कुचाली ॥
सोइ 'करतूति' बिभीषन केरी । सपनेहुँ सो न राम हियँ हेरी ॥

× × × ×

बालि दीन बन गया । उसने चातुरी छोड़ दी । चलती भी कब उसकी चतुराई । दीनबन्धु दीनानाथको तो दीनता ही प्रिय है न ?

काको नाम पतित-पावन जग, केहि अति दीन पियारे ।

भगवान् बालिकी इस कोमल वाणीपर—

प्रभु अजहूँ मैं पापी अंतकाल गति तोरि ॥

—द्रवीभूत हो गये और उसके शरीरको अचल करने लगे; परंतु बालिने अपने उस शरीरको—जो अभिमानमें ओतप्रोत था—रखना उचित न समझा—

---

* जन अवगुन प्रभु मान न काऊ ।
दीन बंधु अति मृदुल सुभाऊ ॥
(भरतबचन उत्तरकाण्ड)

मोहि जानि अति अभिमान बस प्रभु कहेउ राखु सरीरही।
अस कवन सठ हठि काटि सुरतरु बारि करिहि बबूरही ॥

क्योंकि अभिमानजनित देहमें प्राण रखना वैसा ही था, जैसा काँटेदार वृक्षको सींचना। इसीलिये बालिने अपने तनको त्यागनेमें रंचमात्र खेद न किया। जिस प्रकार हाथीके गलेसे पुष्पमाला सहज ही गिर पड़ती है और हाथीको यह मालूम भी नहीं होता कि कब और कहाँ माला गिरी, उसी प्रकार बालिने देह-पिंजरेसे नेह दूरकर शरीर त्याग दिया। धन्य है! रामचरणके दृढ़ अनुरागी बालिको, धन्य है!

महामुनि नारदका अभिमान

एक बार नारद मुनि हरिगुण गाते, वीणा बजाते, क्षीरसागरमें श्रीशेषशायी भगवान्‌के पास गये। भक्तोंके प्रेमी भगवान्‌ने उठकर उन्हें गले लगाया और अपने पास बिठा लिया। चराचरपतिद्वारा कुशल-क्षेम पूछनेपर नारदजीने जो—

जिता काम अहमिति मन माहीं।

—लेकर आये थे—

काम चरित नारद सब भाषे। जद्यपि प्रथम बरजि सिवँ राखे ॥

सब कुछ अभिमानसहित वर्णन कर डाला—

नारद कहेउ सहित अभिमाना।

भक्तहितकारी भगवान्‌ने देखा कि ओहो, यहाँ तो अभिमानरूपी वृक्षकी जड़ें फैलने लगी हैं, डालियाँ और पत्ते भी निकल आये हैं—

उर अंकुरेउ गरब तरु भारी।
बेगि सो मैं डारिहउँ उखारी ॥

जल्दी-से-जल्दी उस पेड़को निर्मूल करनेके लिये भगवान् तैयार हो जाते हैं। हों भी क्यों नहीं? उनकी भक्तवत्सलतापर बात जो आती है। भगवान् स्वयं कहते हैं और डंकेकी चोट कहते हैं—

पन हमार सेवक हितकारी।

यहाँ भगवान्‌ने 'सेवक हितकारी'का जो प्रण ले रक्खा है, वह लें, या 'जन अभिमान न राखहिं काऊ' का उनका सहज स्वभाव लें, दोनों दशाओंमें अभिमान मिटानेके नाते उन निर्गुण निराकार भगवान्‌को उनके अनेकानेक नामोंके साथ एक नाम 'दर्पहारी' भी लेकर भक्तजन उन्हें याद किया करते हैं। विष्णुसहस्रनाममें आया है—

दर्पहा दर्पदो दृप्तो दुर्धरोऽथापराजितः ॥

भगवान् क्या खाते हैं?

प्रायः यह प्रश्न किया जाता है और इसके उत्तरमें बतलाया जाता है कि भगवान् 'अहंकार'का भक्षण करते हैं।

जगद्विख्यात अभिमानी

लङ्कापति रावण तो सदा ही अभिमानमें मदोन्मत्त रहता था। अभिमानने रावणका—जो महापण्डित था—ऐसा पतन किया कि मारीच, हनूमान्, मन्दोदरी, अङ्गद, कुम्भकर्ण आदिकी कोई भी सीख उसे न रुची, और जिसके लिये ग्रन्थकारको लिखना पड़ा—

फूलइ फरइ न बेत जदपि सुधा बरषहिं जलद।
मूरुख हृदयँ न चेत जौं गुर मिलहिं बिरंचि सम ॥
(रामा० लंका०)

श्रीरामचरितमानसमें स्थान-स्थानपर रावणके लिये लिखा गया है—

'सेन बिलोकि सहज अभिमानी।'
'बोला बिहसि महा अभिमानी।'
'बिहसा जगत बिदित अभिमानी ॥'
'अस अभिमान त्रास सब भूली।'
'सुना दसानन अति अहँकारी ॥'
'कथा कही सब तेहिं अभिमानी।'
'उमा रावनहि अस अभिमाना ॥'
'गर्जेउ मूढ़ महा अभिमानी।'

श्रीरामचरितमानसमें भरे हुए अनेकों रहस्योंकी महत्ता और मनोहरताको मुझ-जैसा अज्ञानी अभिमानी क्योंकर जान सकता है, क्योंकि प्रथम तो—

आवत एहिं सर अति कठिनाई ।

और दूसरे—

करि न जाइ सर मज्जन पाना । फिरि आवइ समेत अभिमाना ॥

अस्तु, मेरी इस धृष्टताको भगवान्‌के वे जन, जिनके—

अस अभिमान जाइ जनि भोरे ।
मैं सेवक रघुपति पति मोरे ॥

—क्षमा करेंगे, यही प्रार्थना है ।

रामचरितमानसका अध्ययन

(लेखक—श्रीपुरुषोत्तमलाल श्रीवास्तव एम्० ए०)

इस बातमें कोई संदेह नहीं कि हिंदी-साहित्यकी उन्नतिके साथ-साथ साहित्यालोचनके पाश्चात्त्य सिद्धान्तोंसे परिचित होकर हमने अपने साहित्यका अध्ययन ऐसे नये-नये पहलुओंसे भी करना आरम्भ किया जिनपर पहले हमारी दृष्टि कभी नहीं गयी थी । हमारा ध्यान साहित्यके वैज्ञानिक अध्ययनकी ओर गया, जिसमें ऐतिहासिक और तुलनात्मक दृष्टिकी प्रधानता है । इससे हमें केवल अपने नवीन साहित्यकी श्री-वृद्धि करनेमें ही सहायता नहीं मिली, हम अपने प्राचीन रत्नोंको भी निरख-परखकर आधुनिक सभ्य जगत्‌की दृष्टिमें उनका और उनके द्वारा अपना मान ऊँचा उठा सकनेमें समर्थ हुए । परंतु जहाँ प्राचीन और नवीनके संतुलित अध्ययनद्वारा हमारी दृष्टि पूर्वापेक्षया अधिक उदार और व्यापक होनी चाहिये थी, वहाँ हमने अपनी नवीन-प्राप्त दृष्टिको ही सर्वथा निर्दोष और पूर्ण वैज्ञानिक मान लिया । फलतः पूर्वोपेक्षित इतिहास-पक्ष तथा अन्य प्रासङ्गिक विषयोंके अध्ययनकी ओर तो हमारी विशेष प्रवृत्ति हुई और स्वयं साहित्यका अध्ययन कुछ गौण-सा हो गया । यहाँतक कि साहित्यिक 'रिसर्च'में ऐतिहासिक खोजका ही कार्य प्रधान हो गया । खोजकी महत्ताके कारण, धन, यश आदिकी कामनासे कोई नया ग्रन्थ या तथ्य ढूँढ़ निकालनेकी धुनमें कभी-कभी कैसे जाल भी रचे गये, यह साहित्यके पारखियोंसे छिपा नहीं है ।

किसी साहित्यिक कृति या कवि अथवा सामान्यरूपसे साहित्यके सर्वाङ्ग और वैज्ञानिक अध्ययनके लिये बाह्य प्रासङ्गिक तथ्योंका अन्वेषण और अनुशीलन अनिवार्य है, उसका महत्त्व किसी प्रकार कम नहीं किया जा सकता; परंतु फिर भी वह साधन ही है साहित्यको समझनेका, साध्य नहीं हो सकता । अतः साहित्यकारकी वाणीके द्वारा ही उसकी कृतिमें ही उसके अध्ययनको प्रथम स्थान देना पड़ेगा । कर्ता व्यक्त वाणीके रूपमें अपने जीवनका रस निचोड़कर रखता है । यदि हम उसीकी वाणीको गौण स्थान दे दें तो किस प्रकार हम उसके भावोंतक पहुँच सकते हैं ? मेरा विश्वास है, इस हेतु तथा बाह्य तथ्योंद्वारा मूल्याङ्कनकी अपनी आलोचनादृष्टिके कारण हम अपने अनेक कवियों, विशेषतः भक्त कवियोंके साथ, जिनमें महात्मा तुलसीदास भी हैं, पूरा-पूरा न्याय नहीं कर सके हैं।

भक्त कवि तुलसीदासजी साढ़े तीन सौ वर्षोंसे करोड़ों भारतीयोंके हृदय-हार तो बने ही हुए हैं, हम आधुनिक आलोचनादृष्टिसे भी उन्हें हिंदीका सर्वश्रेष्ठ कवि मानते हैं, यह उनकी असाधारण प्रतिभाका प्रत्यक्ष प्रमाण है । परंतु विशेषता तो यह है कि जो वस्तु तुलसीको सबसे प्यारी है, जिसमें उनके जीवनका तत्त्व है, उनको सर्वश्रेष्ठ मानकर भी उसे हम गौण ही रखते हैं । बात यह है कि काव्यालोचन-की जिस सामान्य तुलापर हम उनकी कृतियोंको, जिनमें रामचरितमानस प्रधान है, तौलते हैं वह उनके सर्वथा अनुपयुक्त है । हम भाषा और शैलीपर उनका अद्भुत अधिकार देखते हैं, मानव-हृदयके सूक्ष्म-से-सूक्ष्म भावोंतक उनकी पहुँच पाते हैं, उनके अलङ्कारोंकी रमणीयतामें अपना मन रमाते हैं, उनके चरित्रचित्रणकी चतुरतापर चकित होते हैं, उनके प्रबन्ध-कौशलकी प्रशंसा करते हैं और उनके समाज-सुधार तथा लोकमर्यादावादपर भी मुग्ध होते हैं। यह सर्वथा उचित है, इसमें तर्ककी आवश्यकता नहीं । तुलसी महाकवि हैं, उनमें इन गुणोंका होना स्वाभाविक है । परंतु विचारणीय यह है उनकी विशेषता, या कहिये कि उनकी आत्मा, जहाँ है वहाँ प्रायः हम दृष्टि डालना नहीं चाहते । उसका हमें तबतक साक्षात्कार नहीं हो सकता जबतक हम यह न समझ लें कि तुलसी विश्वको, उसकी प्रत्येक वस्तुको—काव्यको भी—एक भक्तकी दृष्टिसे देखते हैं, और हम उनकी भक्तिको

भी अपनी काव्यालोचनकी सामान्य दृष्टिसे। वस्तुतः उनकी भक्तिको गौण करके हम उनकी काव्य-दृष्टिको भी भलीभाँति नहीं समझ सकते।

जिस प्रकार सिद्ध लेखक व्याकरणके सूत्रोंको टटोल कर अपनी भाषाके लिये मार्ग नहीं ढूँढ़ता, प्रत्युत उसकी भाषा ही व्याकरणके लिये प्रमाण बन जाती है, उसी प्रकार सिद्ध कविको भी साहित्याचार्योंके नियमोंके संकीर्ण घेरेमें घूमनेकी आवश्यकता नहीं पड़ती, उसका काव्य ही साहित्याचार्योंका 'लक्ष्य' बनता है। रामचरितमानस ऐसा ही काव्य है और उससे विदित होता है कि काव्यके सम्बन्धमें तुलसीदासजीके अपने स्वतन्त्र विचार हैं। यों मानस-की भूमिका (बालकाण्ड) में उन्होंने अनेक बार अपनेको काव्य-गुणोंसे हीन बतलाकर नम्रता प्रकट की है—

१-भाषा भनिति भोरि मति मोरी। हँसिबे जोग हँसें नहिं खोरी॥
२-कबि न होउँ नहिं बचन प्रबीनू। सकल कला सब बिद्या हीनू॥
३-कबित बिबेक एक नहिं मोरें। सत्य कहउँ लिखि कागद कोरें॥
४-कबि न होउँ नहिं चतुर कहावउँ। मति अनुरूप राम गुन गावउँ॥
(इत्यादि)

परंतु इसका अर्थ यह तो नहीं कि वे अपने काव्यके गुणोंसे अनभिज्ञ हैं। यह एक ओर तो महाकविके अनुरूप स्वाभाविक शिष्टाचार है ही, दूसरी ओर इसमें उनका उच्च कोटिका व्यंग्यकौशल भी है जिसके द्वारा पूर्ण आत्मविश्वासके साथ वे अपने रूढिवादी या कुतर्की आलोचकोंको उत्तर देते हैं। यही नहीं, कभी-कभी वे इसी कौशलके साथ साहित्याचार्योंके मान्य सिद्धान्तोंमें भी ऐसे कवित्वपूर्ण ढंगसे इस्लाह दे जाते हैं कि उनकी विलक्षण सूझपर आश्चर्य होता है।

कहा गया था कि काव्य-पुरुषका शरीर शब्द और अर्थ है, रस उसका आत्मा है, गुण शौर्यादिकी भाँति, दोष काणत्वादिकी तरह और अलङ्कार कटक-कुण्डलादि आभूषणोंके सदृश हैं—

(शब्दार्थौ काव्यस्य शरीरम्, रसादिश्चात्मा, गुणाः शौर्यादिवत्, दोषाः काणत्वादिवत्, रीतयोऽवयव-संस्थानविशेषवत्, अलङ्काराः कटककुण्डलादिवत्)।

शरीर, आत्मा, गुण, दोष, अलङ्कारादि सबका विधान तो हो गया, पर देखिये तो सही, ऐसे काव्य-पुरुषको बिना वस्त्रके ही सहृदय-समाजके बीच खड़ा करनेमें न जाने कौन-सी बुद्धिमानी समझी गयी! भला कोमलमति, लोकमर्यादावादी तुलसी उसका यह भद्दा उपहास कैसे सहन कर सकते थे? उन्होंने केवल उसे वस्त्र ही नहीं पहनाया, (काव्य-) पुरुषकी परुषता दूर कर कविता-सुन्दरीकी सुकुमारताकी ओर भी संकेत किया और इस प्रकार उसकी अलङ्कारोंकी स्वाभाविक पात्रता स्पष्ट कर दी। वे कहते हैं—

भनिति बिचित्र सुकबि कृत जोऊ। राम नाम बिनु सोह न सोऊ॥
बिधुबदनी सब भाँति सँवारी। सोह न बसन बिना बर नारी॥

सब प्रकारसे सजायी-सँवारी सुन्दरीका अलङ्कारोंके बिना कुछ विशेष बनता-बिगड़ता नहीं (कविता बिना अलङ्कारकी भी हो सकती है, 'अनलङ्कृती पुनः क्वापि'—मम्मट), परंतु बिना वस्त्रके भला उसकी क्या शोभा होगी? तुलसीने राम-नामका वस्त्र पहनाकर मानो चीरहरणके इस अत्याचारसे कविता-सुन्दरीकी लाजकी रक्षा कर ली।

तुलसीने अपनी कविताको रामनामका वस्त्र पहनाया, उनके इस कथनका महत्त्व भलीभाँति समझे बिना हम उनकी कविताका मर्म नहीं पा सकते। वे कहते हैं कि शब्द, अर्थ, अलङ्कार, छन्द, प्रबन्ध, रस, भाव, दोष, गुण आदि काव्यके अङ्गोंमेंसे मुझे किसीका भी ज्ञान नहीं है। मेरी कविता सब गुणोंसे रहित है, उसमें केवल एक ही विश्वविदित गुण है—रामनाम।

आखर अरथ अलंकृति नाना। छंद प्रबंध अनेक बिधाना॥
भाव भेद रस भेद अपारा। कबित दोष गुन बिबिध प्रकारा॥
कबित बिबेक एक नहिं मोरें। सत्य कहउँ लिखि कागद कोरें॥
भनिति मोर सब गुन रहित बिस्व बिदित गुन एक।
सो बिचारि सुनिहहिं सुमति जिन्ह कें बिमल बिबेक॥
एहि महँ रघुपति नाम उदारा। अति पावन पुरान श्रुति सारा॥

अपने काव्यके सद्गुणोंको भलीभाँति जानते हुए भी (क्योंकि अन्यत्र 'सप्त प्रबंध सुभग सोपाना' आदिमें वे उसका विस्तृत उल्लेख करते हैं) उसे इस प्रकार सर्वगुणहीन बतलानेमें नम्रता-प्रदर्शनके साथ-साथ एक प्रकारसे कुछ सत्योक्ति भी है। वे जानते हैं कि शास्त्राभिमानी आलोचककी दृष्टिसे उनकी भाषा शिष्टकाव्यकी रूढ़िगत भाषा न होकर 'ग्राम्य गिरा' (देशभाषा अवधी) है, छन्द भी साधारण दोहे-चौपाई आदि हैं, और रस? मानसका प्रधान रस काव्य-के शृंगारादि नव रसोंमेंसे कोई भी नहीं—'कबित रस एकउ नाहीं।' अतः वे उसे अपने ढंगसे शास्त्रकी ही यह बात भी हृदयङ्गम करा देना चाहते हैं कि शास्त्रके अनुसार सभी काव्याङ्गोंका समावेश कर देनेसे ही सत्काव्य नहीं बन जाता। कविके पास कहनेके लिये कोई उत्तम विषय, कोई उत्तम अनुभूति होनी चाहिये। उसके बिना शास्त्राभ्यासी सुकविकी

वाणी भी 'विचित्र' भले ही हो, सुन्दर नहीं बन सकती। रचनामें अन्य कोई भी गुण न हों, पर वस्तु तो उत्तम ही होनी चाहिये—'भनिति भदेस बस्तु भलि बरनी।' तुलसीके मानसमें यह उत्तम वस्तु 'राम-नाम' है। यही उनकी साधना है, यही उनकी अनुभूति है, और 'संदेश' ढूँढ़ना आवश्यक हो तो यही उनका संदेश है। इसीके बलपर उन्हें पूर्ण विश्वास है कि उनकी कविताका आदर सब लोग करेंगे ही। वे कहते हैं—

सब गुन रहित कुकबि कृत बानी। राम नाम जस अंकित जानी॥
सादर कहहिं सुनहिं बुध ताही। मधुकर सरिस संत गुनग्राही॥

और मेरी कवितामें 'जदपि कबित रस एकउ नाहीं', तथापि—

'राम प्रताप प्रगट एहि माहीं';

अतः—

'प्रिय लागिहि अति सबहि मम भनिति राम-जस संग।'

—क्या उनका यह 'रामनाम' या 'रामयश' उनके काव्यमें गौण या उपेक्ष्य वस्तु हो सकता है?

अब उनके प्रधान विषय इस रामनामको थोड़ा और स्पष्ट रूपसे समझ लेना चाहिये। यह रामनाम या रामयश वस्तुतः किसका नाम या यश है? रामसे तात्पर्य है 'रामनामवाले ईश्वर'। मानसमें मङ्गलाचरणके ही श्लोकोंमें उन्होंने कहा है—

वन्देऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम्॥

फिर ये रामनामवाले ईश्वर कौन हैं? रघुपति, रघुनाथ, अर्थात् रघुवंशी राजा रामचन्द्र—

१. स्वान्तःसुखाय तुलसी रघुनाथगाथा-
भाषानिबन्धमतिमञ्जुलमातनोति॥

२. 'करन चहौं रघुपति गुन गाहा'

३. मत्वा तद्रघुनाथनामनिरतं स्वान्तस्तमःशान्तये

यह कैसे? रामचन्द्र तो मनुष्य थे, ईश्वर कैसे हो सकते हैं? बस, इसी सन्देहका निवारण रामचरितमानस महाकाव्यका विषय है।

श्रीरामचन्द्र सच्चिदानन्द परब्रह्मके अवतार हैं—

एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानंद पर धामा॥
ब्यापक बिस्वरूप भगवाना। तेहि धरि देह चरित कृत नाना॥

परंतु इस विषयमें प्रायः बड़े-बड़ोंको भी शङ्का हो जाया करती है। भरद्वाजने याज्ञवल्क्यसे शङ्का की—

एक राम अवधेस कुमारा। तिन्ह कर चरित बिदित संसारा॥
प्रभु सोइ राम कि अपर कोउ जाहि जपत त्रिपुरारि?

याज्ञवल्क्यने कहा—

'ऐसेइ संसय कीन्ह भवानी। महादेव तब कहा बखानी॥'

—और उमा-शम्भु-संवाद कह सुनाया। सतीके मनमें यही शङ्का हुई जिसके फलस्वरूप बेचारीको सती होकर देह-त्यागतक करना पड़ा। जब दूसरे जन्ममें वे पार्वती हुईं तब भी कुछ संदेह शेष रह गया और उन्होंने शिवसे पूछा—'जौं नृप तनय त ब्रह्म किमि?' तब शिवजीने पूरी रामकथा कह सुनायी। गरुड़जीको भी यही संदेह हुआ था तो काकभुशुण्डिजीने रामकथा कहकर उसे दूर किया था। और तो और, तुलसीदासको भी पहले शायद अच्छी तरह बात समझमें नहीं आयी थी—

तदपि कही गुर बारहिं बारा। समुझि परी कछु मति अनुसारा॥

पीछे जब उनका विश्वास दृढ़ हो गया तो उन्हें रामकी कथा प्रत्यक्ष हुई। उन्हें अत्यन्त आनन्द और हुआ और उन्होंने मानसकी रचना कर डाली—

अस मानस मानस चख चाही। भइ कबि बुद्धि बिमल अवगाही॥
भयउ हृदयँ आनंद उछाहू। उमगेउ प्रेम प्रमोद प्रबाहू॥
चली सुभग कबिता सरिता सो।.........................॥

उनके 'स्वान्तःसुखाय' रचना करनेका यह भी एक रहस्य है। रामकी कथा कहकर उन्होंने अपना मन और पोढ़ा किया—

भाषाबद्ध करबि मैं सोई। मोरें मन प्रबोध जेहिं होई।
निज संदेह मोह भ्रम हरनी। करउँ कथा भव सरिता तरनी॥

और यदि उनके मन कहीं कुछ संदेह रहा हो तो वह भी एकदम दूर हो गया—

.................................स्वान्तस्तमःशान्तये

भाषाबद्धमिदं चकार तुलसीदासस्तथा मानसम्॥

उक्त संवादोंमें एक बात यह भी विशेष रूपसे ध्यान देने योग्य है कि कोई वक्ता किसी श्रोताको तर्कद्वारा समझानेका प्रयत्न नहीं करता; क्योंकि 'राम अतर्क्य बुद्धि मन बानी।' वहाँ केवल कथा कही जाती है और उसीसे प्रत्येक श्रोताका अपूर्व समाधान होता है। इसका रहस्य है—श्रद्धा। रामचरितमानसके पाठकोंके लिये तुलसीका कहना है कि विषय-कथाके रसिकोंको तो इसमें कोई रुचि ही न होगी। और जिनके मनमें श्रद्धा नहीं, जिन्होंने सत्सङ्ग नहीं किया, जिनके हृदयमें श्रीरघुनाथजीके प्रति प्रेम नहीं है, उनके लिये मानसकी कथा अगम है—

जे श्रद्धा संबल रहित नहिं संतन्ह कर साथ।
तिन्ह कहुँ मानस अगम अति जिन्हहि न प्रिय रघुनाथ॥

अतः यदि मानसके किसी पाठककी शङ्का दूर न होती हो तो उसमें तुल्सीका क्या दोष ?

अस्तु, अब यह तो स्पष्ट ही है कि तुल्सी रामचरित-मानसकी रचना रामको पूर्ण ब्रह्म मानकर ही करते हैं। उनके राम न प्राकृत नर हैं, न उनका रामचरितमानस नर-काव्य। जो विद्वान् यह मानते हैं कि भारतीय सगुण भक्ति-मार्गमें नरमें ही नारायणकी कलाका पूर्ण विकास दिखायी पड़ा है, अतः वह अधिक स्वाभाविक, हृदयके अधिक समीप तथा काव्यके उपयुक्त है, उनकी दृष्टिसे राम या कृष्ण नारायणकी कलासे युक्त नर ही हैं; परंतु रामको बड़े-से-बड़े आदर्श लोकनायकके रूपमें भी, 'नर' मानना तुल्सीको कदापि इष्ट नहीं। ऐसा माननेवालोंके लिये उनके कोषमें कैसे-कैसे मधुर विशेषण हैं इसका कुछ अनुमान पार्वतीके शङ्का करनेपर शिवजीद्वारा दिये गये उत्तरसे लग सकता है (अधम, पाखण्डी, अज्ञ, अकोविद, अन्ध, अभागी, लंपट, कपटी, कुटिल, बातुल इत्यादि)। अब तुल्सीके भक्ति-सिद्धान्तसे ही हमारा मेल न बैठे, यह बिल्कुल दूसरी बात है, जो सर्वथा सम्भव है। परंतु इस मौलिक दृष्टिभेदके कारण मानसको लौकिक महा-काव्योंकी श्रेणीमें रखकर उसकी आलोचना करना तुल्सीकी दृष्टिके कैसे अनुकूल हो सकता है ? रामको 'नर इव चरित' करते देख जो उन्हें सचमुच 'नर' समझने लगते हैं उन्हींके मोहको दूर करना तो मानसका फल है। कथाके बीच-बीचमें भी जो वे बार-बार रामके ब्रह्म होनेका उल्लेख करते हैं उसका यही हेतु है। आलोचक जो इसे मानसमें एक बड़ा दोष समझता है वह उसे लौकिक काव्य समझनेके कारण। वस्तुतः यह भक्तिरसको पुष्ट करनेके लिये उतना ही स्वाभाविक और आवश्यक है जितना किसी श्रृङ्गार काव्यमें आश्रय और आलम्बनका बारंबार परस्पर प्रिय विशेषणोंद्वारा संबोधन। जो लोग इससे ऊबते हैं उन्होंने रसविशेष (भक्तिरस) को जाना ही नहीं—

रामचरित जे सुनत अघाहीं। रस बिसेष जाना तिन्ह नाहीं॥

इस प्रकार यदि हम तुल्सीकी उक्तियोंको उचित महत्त्व देकर रामचरितमानसका अध्ययन करें तो उनमें और उनके आधुनिक आलोचकोंमें पर्याप्त मौलिक दृष्टि-भेद दिखायी पड़ेगा। परंतु फिर भी हमने जो उनमें समाज-सुधार, मर्यादावाद, हिंदू-धर्मकी रक्षा आदि विशिष्ट गुण परख लिये हैं उनमें कमी करनेकी आवश्यकता नहीं पड़ेगी, प्रत्युत उनके विषयमें हमारी दृष्टि अधिक व्यापक हो जायगी, जिससे हम उनपर आरोपित संकीर्णता आदि दोषोंपर भी फिरसे विचार कर सकेंगे। क्योंकि तुल्सीकी लोक-कल्याणकी भावना, जितनी हम साधारणतः समझते हैं उससे कहीं ऊँची और व्यापक है। वे केवल हिंदू-हित या बहुजन हितके पक्षपाती नहीं, बल्कि सर्वजन क्या सर्वभूतहितको माननेवाले हैं और उसी भावनासे प्रेरित होकर काव्य-रचना भी करते हैं। वे मानते हैं कि उत्तम काव्य वही है जिससे बिना भेद-भावके सबका हित हो—

कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई॥

बड़े-से-बड़े पापीका कल्याण भी उन्हें इष्ट है, क्योंकि वह भी तो इसी 'राममय विश्व'का प्राणी है।

प्रस्तुत लेखके प्रसंगमें ऐसे कई महत्त्वपूर्ण विषय सामने आते हैं जिनपर विचार करना आवश्यक है। जैसे रामचरितमानसमें भक्तिरस, तुल्सीके दार्शनिक सिद्धान्त निर्गुण-सगुण-विचार इत्यादि। परंतु ये स्वतन्त्र लेखके विषय हैं, अतः यहाँ इनके सम्बन्धमें केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि तुल्सीकी विचारधाराका अध्ययन करनेके लिये हमें उस मूल ग्रन्थकी ओर भी ध्यान देना चाहिये जहाँसे उन्हें प्रेरणा मिल्ती है। यों कोई कहता है कि उन्होंने अनेक पुराण-वेद-शास्त्रोंसे अपनी सामग्री ली तो कोई वाल्मीकीय रामायण-को उनका मूल-ग्रन्थ समझता है; क्योंकि वे कहते हैं—

नानापुराणनिगमागमसम्मतं यद्
रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि।

मेरी समझमें इसका सीधा अर्थ यह है कि 'नाना पुराण-निगम-आगमसे सम्मत रामकी जो कथा रामायणमें है उसीका मैं भाषामें विस्तार करता हूँ।' परंतु प्रश्न यह है कि यह रामायण कौन-सी है ? जो इसे वाल्मीकीय या अन्य कोई रामायण मानते हैं। उनसे निवेदन है कि वे उपसंहारके इस श्लोकपर भी ध्यान दें—

यत्पूर्वं प्रभुणा कृतं सुकविना श्रीशम्भुना दुर्गमं
श्रीमद्रामपदाब्जभक्तिमनिशं प्राप्त्यै तु रामायणम्।
मत्वा तद्रघुनाथनामनिरतं स्वान्तस्तमःशान्तये
भाषाबद्धमिदं चकार तुलसीदासस्तथा मानसम्॥

और इन चौपाइयोंपर भी—

रचि महेस निज मानस राखा। पाइ सुसमउ सिवा सन भाषा॥
संभु प्रसाद सुमति हियँ हुलसी। रामचरितमानस कबि तुलसी॥

यह संकेत किधर है ? किसी और लेखमें इसपर विस्तारसे विचार किया जा सकता है।

कामके पत्र

(१)

सच्चा विचारस्वातन्त्र्य

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण । आपका पत्र मिला । उत्तर देरसे जा रहा है । क्षमा करें । विचार-स्वातन्त्र्यका अर्थ मनमाना आचरण करना नहीं है । 'मेरे मनको जो अच्छा लगेगा, मेरी इन्द्रियाँ जिसमें सुख मानेंगी, मैं वही करूँगा, किसी भी नियम-संयममें, बन्धनमें नहीं रहूँगा । किसीकी हानि हो या लाभ, अपना भी नैतिक पतन हो या उत्थान । मैं इसकी परवा नहीं करूँगा । मेरी स्वतन्त्रताके आगे किसीका भी कोई मूल्य नहीं है ।' ऐसा मानना विचारस्वातन्त्र्य नहीं है । यह तो यथेच्छाचार है । और प्रत्यक्ष ही मन-इन्द्रियोंकी गुलामी है । जो मन-इन्द्रियोंका गुलाम बनकर उनकी तृप्तिके लिये विवेकशून्य यथेच्छ आचरण करता है, वह स्वतन्त्र कहाँ है, असलमें तो वही परतन्त्र है । जो शरीरसे परतन्त्र है, पर मन-इन्द्रियोंपर जिसका अधिकार है, जो उनके वशमें नहीं है, पर वे ही जिसके वशमें हैं, वही वस्तुतः स्वतन्त्र है । इस स्वतन्त्रताके लिये नियमोंकी आवश्यकता है । संयमकी आवश्यकता है एवं नित्य अंदर छिपे रहनेवाले काम-क्रोध, ईर्ष्या-असूया, राग-द्वेष, दम्भ-हिंसा आदि शत्रुओंके पूर्ण दमनकी आवश्यकता है । जो मन-इन्द्रियोंको दोषोंसे रहित और नित्य संयमके बन्धनमें रखता है, वही बन्धनसे छूटता है । यह बन्धन मुक्तिके लिये होता है और इस बन्धनसे छूटना नित्य बन्धनमें बँधना होता है।

भगवान्ने गीतामें कहा है, 'समस्त पाप कामनासे होते हैं और कामना मन-इन्द्रियोंमें रहती है । आत्मा मन-इन्द्रियोंका दास नहीं, उनका स्वामी है, उनसे श्रेष्ठ है, इस प्रकार विचारकर कामरूपी शत्रुको मार डालना चाहिये ।' वस्तुतः यह सर्वथा सत्य है । आत्मामें बड़ी शक्ति है । यदि आत्माकी मूक सम्मति न हो और वह बलपूर्वक मन-इन्द्रियोंको रोके रहे तो मन-इन्द्रियोंमें शक्ति नहीं कि वे आत्माके विरुद्ध किसी भी पापमें प्रवृत्त हो सकें । पर हम जब अपनेको असमर्थ मानकर मन-इन्द्रियों की गुलामी स्वीकार कर लेते हैं, तब इन्द्रियाँ अश्व घोड़ोंकी भाँति मनरूपी लगामके साथ ही शरीररूपी रथको, उसमें सवार रथी (हम) को और बुद्धिरूपी सारथीको चाहे जिस गड्ढेमें ले जाकर डाल देती हैं और परिणाममें लगातार दुःखोंका भोग करना पड़ता है। भगवान्ने कहा है—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥

(गीता २ । ६४-६५)

'स्वाधीन अन्तःकरणवाला पुरुष राग-द्वेषरहित अपने वशमें की हुई इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंका (वैध) भोग करता हुआ प्रसन्नताको प्राप्त होता है और उस प्रसन्नतासे उसके सारे दुःखोंका नाश हो जाता है एवं फिर उस प्रसन्नचित्त पुरुषकी बुद्धि शीघ्र ही भलीभाँति स्थिर हो जाती है ।'

विषयोंका सेवन बुरा नहीं है, पर वह किया जाना चाहिये इन्द्रियोंको वशमें करके । उनके वशमें होकर नहीं । जो ऐसा पुरुष है, वही स्वतन्त्र है, और उसीके विचार भी स्वतन्त्र हैं । वह स्वयं बन्धनमुक्त होता है और दूसरोंको भी बन्धनसे मुक्त करता है । पर जो स्वयं बन्धनमें है, उसका दूसरोंको मुक्त करनेकी बात करना तो पागलपनमात्र है ।

(२)

मन-इन्द्रियोंकी सार्थकता

सप्रेम हरिस्मरण । आपका पत्र मिला । मैं क्या

लिखूँ। जीवनमें जो करना चाहिये था, जिसकी बड़ी आकाङ्क्षा थी; वह अभी नहीं कर पाया आज भी मन-इन्द्रिय संसारमें ही लगे हैं। वह धन्य और पुण्य दिवस तो आया ही नहीं, जब प्रत्येक इन्द्रिय अनवरत भगवान्‌की सेवामें ही लगी हो। आप जो कुछ कर रहे हैं, कीजिये। जीवनके प्रत्येक क्षणको और इन्द्रियोंकी प्रत्येक चेष्टाको प्रभुकी सेवामें लगाकर उन्हें कृतार्थ बनाइये। यही जीवनका परम और चरम फल है। मैं तो ऐसा नहीं हो सका। आप ऐसे बनिये। श्रीसूरदासजी-ने गाया है—

सोइ रसना जो हरिगुन गावै।
नैननकी छबि यहै चतुरता, ज्यों मकरंद मुकुंदहि ध्यावै॥
निर्मल चित तौ सोई साँचो, कृष्ण बिना जिय और न भावै।
स्रवननकी जु यहै अधिकाई, सुनि हरि-कथा सुधारस प्यावै॥
कर तेई जे स्यामहिं सेवैं, चरननि चलि बृंदाबन जावैं।
सूरदास जैये बलि ताके, जो हरिजू सों प्रीति बढ़ावै॥

धन्य है ऐसे मन-इन्द्रियोंको और धन्य है इनके धारण करनेवाले सफलजीवन भक्तोंको!

(३)

दुखी भाइयोंके प्रति हमारा कर्तव्य

सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। समाचार ज्ञात हुए। पंजाब और पूर्वबंगालके भाइयोंपर जो महान् विपत्ति आयी हुई है, उसके सम्बन्धमें आपके विचार पढ़े। यह सत्य है कि इस लोकमें किसी व्यक्ति या समाजपर जो कष्ट आता है, वह उसके पूर्वकृत कर्मोंका ही परिणाम है। आपने पूर्वबंगाल और पंजाबके भाइयोंमें जो दोष बतलाये हैं, संभव है न्यूनाधिक रूपमें वे उनमें हों। यह भी ठीक है कि उन लोगोंको अपने कर्मोंके फलस्वरूप ही इतने भारी दुःख सहने पड़ रहे हैं। पर यह बात उनके समझनेकी है जिस किसीपर दुःख पड़ता है, उसे चाहिये कि वह कर्मके रहस्यको समझकर सावधान हो जाय और यदि वास्तवमें उसके द्वारा अब भी निषिद्ध कर्म हो रहे हों तो उन्हें तुरंत छोड़ दे। साथ ही शास्त्रविहित सत्कर्म और श्रीभगवान्‌का भजन करे, जिससे भविष्यमें उसको सुखकी प्राप्ति हो; परंतु किसी दूसरेको दुःखमें देखकर हमें कभी ऐसा नहीं कहना चाहिये कि 'यह अपने पापोंका फल भोग रहा है, जैसा किया वैसा पाया, हम इसकी क्यों सहायता करें।' कर्मफलका सिद्धान्त ठीक होनेपर भी हमारे लिये ऐसा व्यवहार करना बड़ा भारी पाप होता है। यह कोई नहीं जानता कि पूर्वमें किसने कैसे कर्म किये हैं और उन कर्मोंके भयानक दुष्परिणाम कब किसके सामने आ जायँगे। आज पूर्वबंगालके और पंजाबके भाई संकटमें हैं तो कल दूसरे भाई भी हो सकते हैं। हम और आप सदा सुखी ही रहेंगे ऐसा कौन कह सकता है। ऐसी अवस्थामें प्रत्येक मनुष्य-का—चाहे वह साधु हो या गृहस्थ, धनी हो या गरीब—यही कर्तव्य है कि अपनी शक्तिके अनुसार संकटमें पड़े हुए भाइयोंकी सब प्रकारसे सहायता करे। कर्मफलके सिद्धान्तको मानकर स्वयं मनुष्य दुःखमें धैर्य धारण करे,—यह तो ठीक है। पर शक्ति रहते हुए भी दुखीकी सहायता करनेसे मुँह मोड़ ले, यह बड़ा पाप है। मनुष्यका यह स्वाभाविक धर्म होना चाहिये कि वह बिना किसी भेदभावके दुःखमें पड़े हुए जीवकी यथाशक्ति सहायता करे। उसे कष्टसे बचावे और सबको सुख पहुँचावे। मान लीजिये हमपर कोई घोर संकट आया हुआ हो और कोई समर्थ पुरुष हमारी सहायता न करके यह सिद्धान्त बतलाकर उपेक्षा करे कि 'तुम अपने पापका फल भोग रहे हो, हम क्यों सहायता करें।' तो यह हमें कितना बुरा लगेगा। ऐसा ही सबके लिये समझना चाहिये। महाभारतका एक श्लोक है जिसमें धर्मका सार बतलाया गया है—

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥

'यह धर्मका सर्वस्व है, इसे सुनो और धारण करो।

जो कुछ भी अपने मनसे प्रतिकूल हैं, दूसरेके प्रति उनका व्यवहार मत करो ।' इसी कसौटीपर कसकर हमें व्यवहार करना चाहिये । हमारी तो सदा यही कामना और यही प्रयत्न होना चाहिये—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत् ॥

आशा है, इन पंक्तियोंको पढ़कर शरणार्थी भाइयोंके प्रति आपका उपेक्षा-भाव दूर होगा और सहानुभूति बढ़ेगी । विशेष भगवत्कृपा ।

(४)

कल्प-भेदसे अवतार-भेद

सप्रेम हरिस्मरण । आपका कृपापत्र मिला । धन्यवाद । प्रत्येक कल्पमें भगवान् श्रीरामका अवतार होता है तथा प्रति कल्पमें ही वे रावण-कुम्भकर्णादिका वध करते हैं । सृष्टिचक्र अनादि कालसे चला आ रहा है । पता नहीं, अबतक कितने कोटि कल्प बीत गये होंगे । उन अनन्तकोटि कल्पोंमें अनन्त बार भगवान्‌ने श्रीराघवेन्द्रके रूपमें अवतरित होकर अनन्त प्रकारकी चित्र-विचित्र लीलाएँ की हैं । इसी प्रकार रावण आदि भी अनन्त बार हुए हैं । पर यह आवश्यक नहीं कि प्रति कल्पमें वही आत्मा रावणके शरीरमें रही हो । एक शरीरमें कई आत्माओंके रहनेकी तो कल्पना ही नहीं करनी चाहिये । प्रत्येक कल्पमें एक ही आत्मा रावणके शरीरमें रहती है । रामचरितमानसमें श्रीगोस्वामीजीने ऐसे कई व्यक्तियोंका उल्लेख किया है जो जन्मान्तरमें रावण-कुम्भकर्ण हुए थे । जैसे जय-विजय, जालन्धर आदि, दो हरगण तथा प्रतापभानु-अरिमर्दन आदि । जिस कल्पमें जय-विजय रावण-कुम्भकर्ण हुए, उस कल्पमें वैकुण्ठविहारी अखिल जगत्‌के स्वामी भगवान् श्रीविष्णु श्रीरामके रूपमें अवतरित हुए थे । और कश्यप तथा अदितिने दशरथ-कौसल्याके रूपमें जन्म लिया था । यह अवतार सनकादिके दिये हुए अपने पार्षदविषयक शापका निवारण करनेके लिये हुआ था ।

जिस कल्पमें प्रतापभानु और अरिमर्दन रावण-कुम्भकर्ण हुए, उस कल्पमें स्वायम्भुव मनु और शतरूपा दशरथ-कौसल्याके रूपमें आविर्भूत हुए । इनके यहाँ सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, दिव्यगुणसम्पन्न, प्राकृत-गुणरहित परमेश्वर श्रीसाकेतविहारीजी अवतीर्ण हुए थे । ऐसे ही प्रत्येक कल्पमें विभिन्न हेतुओंसे विभिन्न आत्माओंने रावण-कुम्भकर्णके रूपमें शरीर धारण किया था । और भी प्रभुके अनेक अवतार अनेकों हेतुओंसे हुए थे । श्रीगोस्वामीजी कहते हैं—

राम जनम के हेतु अनेका । परम बिचित्र एक तें एका ॥

× × × ×

कलप कलप प्रति प्रभु अवतरहीं । चारु चरित नानाबिधि करहीं ॥

अतएव ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये कि 'एक ही रावण-कुम्भकर्ण प्रतापभानु-अरिमर्दन भी थे । जय-विजय भी थे और दोनों हरगण भी थे ।' यह सब कल्पभेदकी विभिन्न कथाएँ हैं और सभी सत्य हैं ।

(५)

कुछ प्रश्नोत्तर

सप्रेम हरिस्मरण । आपका कृपापत्र मिला । आपके प्रश्नोंमें बहुत-से ऐसे हैं जो निरर्थक हैं । यों व्यर्थ प्रश्न करके आपको न तो अपना समय नष्ट करना चाहिये और न दूसरोंका ही । असलमें मनुष्यका भवबन्धनसे छुटकारा तो श्रीभगवान्‌के भजनसे ही होता है । भजनके बिना सारी बातें व्यर्थ हैं । अस्तु, आपके प्रश्नोंमेंसे कुछके उत्तर ये हैं—

(१) श्रीराधाजीको मैं भगवान् श्रीकृष्णसे नित्य अभिन्न मानता हूँ । वे भगवान्‌की स्वरूपभूता आनन्द-शक्ति हैं । आप अपनी श्रद्धानुसार मान सकते हैं; परंतु दोषबुद्धि नहीं करनी चाहिये । दोषबुद्धि करनेपर तो अकल्याण ही होगा । श्रीकृष्णके साथ उनका विवाह भी हुआ था । ब्रह्मवैवर्तपुराण इसका साक्षी है ।

(२) भगवती श्रीपार्वतीजी भगवान् शङ्करकी नित्य सहचारिणी हैं । वे पहले सतीरूपमें थीं । किसी भी रूपमें हों, वे नित्य हैं और श्रीशङ्करसे उनका अभिन्न सम्बन्ध है ।

(३) श्रीभगवतीके ५२ पीठोंका वर्णन 'कल्याण' के 'शक्ति-अङ्क' में देखिये ।

(४) गायत्रीमन्त्रका अर्थ है—'इस सबकी उत्पत्ति करनेवाले परमात्माके उस श्रेष्ठ तेजका हम चिन्तन करते हैं जो हमारी बुद्धियोंको सत्कर्मोंकी ओर प्रेरित करता है ।'

(५) भक्त कभी मूर्तिपूजन नहीं करता, वह मूर्तिके व्याजसे अपने इष्टदेव श्रीभगवान्‌का ही पूजन करता है । उसके लिये मूर्ति, मूर्ति नहीं है, साक्षात् सच्चिदानन्दघन भगवान् हैं । यही अर्चावतार है । ऐसे भक्तके साथ मूर्तिमें अवतरित भगवान् हँसते—बोलते हैं, उसका निवेदन किया हुआ प्रसाद भोग लगाते हैं । उसको उपदेश करते हैं । मूर्तिकी तो बात ही क्या, सच्ची निष्ठा और दृढ़ विश्वासके बलपर प्रह्लादने भगवान्‌को खंभेसे प्रकट कर लिया था ।

'प्रेम बढ्यो प्रहलादहिको जिन पाहनतें परमेसुर काढ्यो ।'

भक्तमालकी कथाएँ सच्ची ही हैं । आज भी विश्वासी, निष्ठावान् और प्रेमी भक्त वैसा अनुभव कर सकते हैं, करते हैं । इसमें तनिक भी सन्देह नहीं करना चाहिये ।

(६) ब्रह्मचर्यकी रक्षाके लिये सात्त्विक वातावरणमें रहना और इन्द्रिय-संयम रखना परम आवश्यक है । मन निरन्तर सात्त्विक कार्योंमें लगा रहेगा तो कामचिन्तन होगा ही नहीं । फिर ब्रह्मचर्यकी रक्षा अपने आप हो जायगी ।

(६)

पुराणोंकी नागजाति

सप्रेम हरिस्मरण । आपका पत्र मिला । नागजातिके सम्बन्धमें आपकी ही भाँति अन्य भी अनेकों लोग शङ्का किया करते हैं । आजका युग ही शङ्काका है । मनुष्य इतना अविश्वासी और अभिमानी हो गया है कि वह किसी भी शास्त्रकी बातपर विश्वास नहीं करना चाहता और अभिमानवश अपनी अत्यन्त सीमित बुद्धिके तराजूपर तौल-तौलकर सभीको मिथ्या सिद्ध करना चाहता है । नागोंकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें पुराणोंमें जो वर्णन आया है, उसे ध्यानपूर्वक पढ़ लेनेके बाद शङ्काके लिये कोई स्थान नहीं रह जाता । महर्षि कश्यप नागोंके पिता हैं और कद्रू उनकी आदिमाता हैं । विविध प्राणियोंकी सृष्टिके लिये ही विधाताने इनको उत्पन्न किया था और इसलिये इनके मनमें भी वैसे ही संकल्प उठते थे । कद्रूने अपने स्वामीसे नागोंको ही पुत्ररूपमें प्राप्त करनेका वरदान माँगा था । उनके सङ्कल्पके अनुसार सत्यसङ्कल्प प्रजापति कश्यपजीने स्वयं भी ऐसा ही सङ्कल्प किया और उस सङ्कल्पके अनुरूप ही सन्तान उत्पन्न हुई । सर्प, पक्षी आदि जीव भी परमात्माके ही उत्पन्न किये हुए हैं परंतु परमात्मा न सर्प हैं, न पक्षी । वे सब कुछ हैं और सबसे विलक्षण हैं । परमात्माने जैसा-जैसा सङ्कल्प किया, वैसी-वैसी ही सृष्टि हुई । उन्हींकी कामनासे जगत् बना । 'सोऽकामयत' । उन्हींका संकल्प प्रजापतियोंमें प्रतिफलित हुआ । ऐसी स्थितिसे कद्रूसे नागोंका और विनतासे पक्षिराज गरुड़का उत्पन्न होना असम्भव तो है ही नहीं, आश्चर्यकी बात भी नहीं है ।

नागों और गरुड़के माता-पिता परम तपस्वी, इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले, सर्व-भवन-समर्थ और सत्यसङ्कल्प थे । उनमें बड़ी शक्ति थी । ये ही गुण उनकी सन्तानमें आये । वे भी अपने इच्छानुरूप शरीर धारण कर सकते थे । उनकी बड़ी शक्ति थी । देवताओंकी अवतारभूता किष्किन्धाकी वानरजातिकी भाँति नाग भी मनुष्योचित व्यवहार करते थे । नागलोकके नागोंका जो वर्णन मिलता है उससे पता लगता है कि नागलोग कुण्डल और किरीट पहनते थे, वीणा आदि वाद्य बजाते तथा मधुर गीत भी गाते थे । कम्बल एवं अश्वतर नामक नागोंको तो साक्षात् भगवती सरस्वतीने वरदान देकर संगीत-कुशल बनाया था । इन नागोंकी कन्याएँ देवाङ्गनाओंके सदृश परम सुन्दरी होती थीं । उनके शरीर दिव्यरूपसम्पन्न तथा अजर होते थे । इतनेपर नाग सर्परूपमें ही रहते थे; परंतु वह सर्पकी खाल वस्तुतः

उनके लिये कवचका काम देती थी। वे जब मन करते, तभी उसे समेटकर देवता और मनुष्यके रूपमें बदल जाते थे। जल, स्थल, वायु और आकाशमें सर्वत्र उनकी अबाध गति थी। अर्जुनका ऐसी ही नागजातिकी कन्या उलूपीके साथ विवाह हुआ था। महर्षि जरत्कारुकी पत्नी जरत्कारु और राजा पुरुकुत्सकी पत्नी नर्मदा भी ऐसी नागकन्याएँ ही थीं। भगवान् श्रीकृष्णके कालिय-दमनके समय कालियकी पत्नियोंने मनुष्यरूपमें भगवान्की स्तुति की थी। यह श्रीमद्भागवतमें प्रसिद्ध है। यह नाग-जाति दिव्य शक्तिसम्पन्न थी। इन नागोंमें और देवताओंमें शक्तिकी दृष्टिसे कोई विशेष अन्तर नहीं है। केवल योनिका भेद है। दोनोंके पिता एक ही हैं। जो इस रहस्यको जानते हैं, वे कभी इसे न तो अप्राकृत मानते हैं और न असम्भव ही। जिन परमात्माके सङ्कल्पसे प्रकृति निरन्तर आश्चर्यमयी लीला करती रहती है, उनकी इच्छासे क्या नहीं हो सकता।

(७)

कष्टसे छूटनेका अमोघ उपाय

प्रिय महोदय, सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। आपके कष्टोंका समाचार पढ़कर खेद हुआ। मैं चाहता हूँ आपके कष्ट दूर हों और आप सारे अभावोंसे मुक्त हो जायँ। मेरे वशकी बात होती तो मैं आपको कष्टमुक्त करनेमें बहुत ही सुखका अनुभव करता; परंतु यह मेरे वशकी बात नहीं है। मनुष्यको जो इस शरीरमें सुख-दुःख प्राप्त होते हैं, वे अपने ही पूर्वजन्मोंमें किये हुए अच्छे-बुरे कर्मोंका फल है। इसीका नाम प्रारब्ध है। भगवान्के सिवा दूसरा ऐसा कौन है जो प्रारब्धकी गतिको रोक सके या उसको मिटा सके। आपको आर्तभावसे भगवान्को पुकारना चाहिये और विश्वासपूर्वक उनसे प्रार्थना करनी चाहिये। भगवान् सब कुछ कर सकते हैं और वे स्वाभाविक ही आपके परम सुहृद् हैं। आप उनकी कृपा और सुहृदतापर विश्वास करके उनका स्मरण कीजिये और उनको अपने कष्टोंकी कथा सुनाइये। यह एक ऐसा अमोघ साधन है जो अनायास ही सब प्रकारके सङ्कटोंसे छुटकारा दिला सकता है। भगवान्ने स्वयं कहा है—

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।

(गीता १८। ५८)

'मुझमें चित्त लगा लो, फिर मेरी कृपासे तुम सारी कठिनाइयोंको पार कर जाओगे।'

भगवान् शरणागतवत्सल हैं, वे शरणागतका कभी त्याग नहीं करते, न उसके पूर्वकर्मोंको ही देखते हैं। उनका व्रत ही है शरणागतको निर्भय करना—'मम पन सरनागत भयहारी।' अन्य सारे साधन विफल हो सकते हैं पर यह कभी विफल नहीं होगा। यह अमोघ है पर इसमें मुख्य बात है विश्वासकी। विश्वास होना चाहिये और होनी चाहिये निष्कपट हृदयकी आर्त पुकार। मैं तो आपसे यही कहता हूँ कि आप सब ओरसे सब आशा-भरोसा छोड़कर केवल सर्वसमर्थ प्रभुके शरणापन्न हो जाइये। फिर आपको आश्चर्यजनक रूपमें अपनी स्थितिमें परिवर्तन दिखायी देगा। अपने-आप ही ऐसे संयोग बन जायँगे, जो आपके संकटों और कष्टोंके मिटानेमें समर्थ होंगे।

जहाँतक बने नित्य-निरन्तर भगवान्के नाम-जपका अभ्यास कीजिये। जितना ही नाम-जप गहरा होगा, उतना ही लाभ अधिक होगा। साथ ही, श्रीमद्भागवतके अष्टम स्कन्धके तीसरे अध्याय—गजेन्द्र-स्तवन—का विश्वासपूर्वक आर्तभावसे प्रतिदिन पाठ कीजिये। आप यदि ऐसा करेंगे तो, मेरा विश्वास है, आपके संकट अवश्य दूर हो जायँगे।

(८)

पत्नीका त्याग अनुचित है

सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। आपके वैश्य मित्रके धर्म-संकटका हाल मालूम हुआ। भलीभाँति विचार करनेके बाद इस सम्बन्धमें मेरे मनमें जो बात आयी है, उसे मैं नीचे लिख रहा हूँ। मैं समझता हूँ कि इसके अनुसार करनेसे आपके मित्रकी तथा उनके

घरवालोंकी भलाई होगी । पत्नीके त्यागका विचार तो कभी नहीं करना चाहिये । जब वह अपनेको निर्दोष बतलाती है, तब केवल सन्देहवश उसके पल्ले दोष बाँधना सर्वथा अनुचित और हानिकारक है । सन्देहका लाभ तो अदालतमें भी मिलता है । दूसरी बात यह है कि उनकी पत्नीकी तथा······की उम्रमें इतना अन्तर है कि वह पत्नीके मनमें आकर्षण उत्पन्न करने योग्य नहीं है । मैं तो समझता हूँ, उनकी पत्नीसे ऐसा कोई दोष बिल्कुल नहीं हुआ है । और वह सर्वथा निर्दोष है । उसके साथ आपके मित्रको धर्मपत्नी मानकर वैसा ही सुन्दर और स्वाभाविक व्यवहार करना चाहिये ।

फिर यदि थोड़ी देरके लिये मान भी लें कि स्त्रीमें कोई दोष आया है (यद्यपि ऐसी बात प्रतीत नहीं होती) तो वैसी हालतमें वस्तुतः उसमें प्रधान दोष किसका है, इसपर विचार करना चाहिये । मेरी समझसे तो ऐसे प्रसङ्गोंमें स्त्रीका दोष जहाँ दो-चार आने होता है, वहाँ पुरुषका बारह-चौदह आने होता है। ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर दी जाती है कि स्त्री बेचारी विवश हो जाती है । इस दृष्टिसे भी वह सर्वथा क्षम्य है । दण्डका पात्र तो पुरुष होता है जो प्रायः बचा रह जाता है ।

पत्नीके त्यागमें तो हानि-ही-हानि है । कुछपर विचार कीजिये (१) यदि वह निर्दोष है और केवल सन्देहवश उसका त्याग कर दिया जायगा तो उसे महान् दुःख होगा । उसकी अन्तरात्माके मूक अभिशापसे आपके मित्रका अहित होगा । (२) परिस्थितिवश यदि कभी कोई दोष बना है, तो वह इसके लिये मन-ही-मन जलती ही होगी । त्यागकी बातसे उसकी वह जलन बढ़ेगी और उसको बड़ा दुःख होगा, जो आपके मित्रके लिये अनिष्टकारक होगा । (३) उसकी छोटी उम्र है, आजके गंदे वातावरणमें उसका जीवन पवित्र रहकर कैसे निभ सकेगा । यदि पवित्र न रह सका तो इसकी जिम्मेवारी भी आपके मित्रपर आवेगी । (४) आपके मित्र भी अभी युवक हैं, उनके जीवनमें भी पाप होना सर्वथा सम्भव है । (५) अभी तो घरमें ही क्लेश है, पर यह बात यदि मुहल्ले-गाँवमें फैली तो बड़ी बदनामी होगी, मान-सम्मानका नाश होगा और बच्चोंका सम्बन्ध होना कठिन हो जायगा । और यदि सन्देहवश इतनी बड़ी जोखिम उठायी जायगी तो वह बहुत बड़ी मूर्खताका कार्य होगा । और भी बहुत-सी हानियाँ हैं ।

आपके मित्रको चाहिये कि वे अपनी पत्नीके साथ हृदयसे प्रेम करें । मनुष्यमें कमजोरी होती है । मेरी तो ऐसी धारणा है कि स्त्रियोंकी अपेक्षा आजकल पुरुष अधिक पापी हैं । पापके प्रस्ताव और प्रयत्न पहले पुरुषोंकी ओरसे ही होते हैं । यदि कभी किसी परिस्थितिवश किसी स्त्रीसे कोई दोष बन भी गया हो तो उसे उसके पल्ले बाँधकर, उसे दोषी साबित कर उसके जीवनको बिगाड़ना नहीं चाहिये । यह और भी बड़ा पाप है; क्योंकि इसमें पापोंके बहुत अधिक बढ़नेकी सम्भावना है । किसीके छिद्रको प्रकाश करनेकी अपेक्षा अपना अंग देकर भी उसे ढक देना कहीं श्रेष्ठ है । फिर वह तो उनकी धर्मपत्नी है और आपके लिखनेके अनुसार बड़े अच्छे स्वभावकी भी है । उसे सर्वथा निर्दोष मानकर ही व्यवहार करना चाहिये । इसीमें उसका और आपके मित्रका तथा बच्चोंका कल्याण है । हाँ, यदि आवश्यक ही हो और सम्भव हो तो वृद्ध महाशयके लिये पृथक् प्रबन्ध किया जा सकता है । अवसरपर उनका तो त्याग भी किया जा सकता है, पर धर्मपत्नीका नहीं । यही धर्म है और यही कर्तव्य है ।

इसके अतिरिक्त विश्वासपूर्वक श्रीभगवान्से प्रार्थना करनी चाहिये और उनकी पत्नीको भी चाहिये कि वह भी नित्य भगवान्के नामका नियमित जप करें । तथा

सबको सद्बुद्धि प्राप्त हो, इसके लिये भगवान्‌से प्रार्थना करें। इससे पिछले पापोंका नाश होगा, मनमें पवित्रता आवेगी और भविष्यमें पापोंसे बचनेकी शक्ति प्राप्त होगी।

(९)

प्रेमसे ही सुधार हो सकता है

सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला, समाचार जाने। आपका लिखना यदि सत्य है और उसके सच्चे सबूत आपके पास हैं, तब तो वे भाई लोग अवश्य ही बड़े दोषी हैं और इस हालतमें उनके साथ सब प्रकारका व्यवहार छोड़ देना चाहिये। उनको कभी घरमें नहीं आने देना चाहिये। लड़ाई-झगड़ा न करके शान्तभावसे ही ऐसा निश्चय कर लेना उत्तम है। लड़ाई-झगड़ेमें कटुता बढ़ती है, बदनामी फैलती है और अपने मान-सम्मानको भी धक्का पहुँचता ही है। पत्नीको पिताके घर न रखकर अपने घर ही रखना चाहिये और अपने सद्व्यवहारके द्वारा उसके हृदयमें परिवर्तन हो, ऐसा प्रयत्न करना चाहिये। दोष सभीसे होते हैं, भगवान् ही बचाते हैं। यदि हम किसीको दोषी साबित करके उसके दोषकी घोषणा कर देंगे तो इसमें कोई लाभ न होगा। वह पक्का अपराधी बन जायगा। इसके स्थानपर यदि हम उससे प्रेम करेंगे और अपने सद्व्यवहारके द्वारा उसके हृदयको जीत लेंगे तो संभव है उसका जीवन सुधर जाय एवं वह पवित्र आचरण करने लगे। इसलिये दोषीके दोषसे तो घृणा करनी चाहिये, पर दोषीसे नहीं। उसे दोषमुक्त करनेका प्रयत्न करना चाहिये। जैसे किसी भयानक रोगमें रोगीके रोग-नाशके लिये निपुण चिकित्सक उसे कुचला, भिलावा, संखिया, अफीम और सर्पविष आदि विष भी दवाके रूपमें देते हैं—पर देते उतनी ही मात्रामें तथा वैसे ही ढंगसे हैं जिससे रोगीपर विषका असर उतना ही हो, जितना उसके रोगनाशके लिये आवश्यक है। इसी प्रकार कभी-कभी हित-कामनासे कटु व्यवहार भी करना पड़े तो कोई आपत्ति नहीं, परंतु उस समय भी मनमें प्रेम तथा हितके भाव ही होने चाहिये। द्वेष तथा दुःख पहुँचाकर सुखी होनेके नहीं। ऐसा व्यवहार वस्तुतः वही कर सकता है जो राग-द्वेषसे छूटा हुआ हो। राग-द्वेष होनेपर साधारणतः ऐसे व्यवहारमें भूल हो जाया करती है। इसलिये जहाँतक संभव हो, व्यवहार मधुर ही करना चाहिये। साथ ही सावधानी रखनी चाहिये, जिससे भविष्यमें इस प्रकारके दोष बननेका अवसर ही न आवे। ऐसे पाप एकान्त पानेपर हुआ करते हैं। अतः एकान्तसे बचाना चाहिये तथा पुरुष-संसर्ग न हो, इसके लिये सावधान रहना चाहिये। शास्त्रोंमें यह स्पष्ट आदेश है—

तप्ताङ्गारसमा नारी घृतकुम्भसमः पुमान्।
तस्माद् वह्निं घृतं चैव नैकत्र स्थापयेद् बुधः॥

(चाणक्य)

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति॥

(मनु)

'स्त्री जलती हुई आगके समान है और पुरुष घृतसे भरे घड़ेके समान। बुद्धिमान् पुरुष घी और अग्निरूप स्त्री-पुरुषको कभी एक स्थानपर न रक्खे।'

'माता, बहिन और पुत्रीके साथ भी एकान्तमें एक साथ नहीं बैठना चाहिये। बलवान् इन्द्रियाँ विद्वान्‌को भी विषयकी ओर खींच लेती हैं।'

आप भगवान् श्रीकृष्णके विग्रहकी पूजा करते हैं। दैवी सम्पत्तिके गुणोंको धारण करना चाहते हैं और काम-क्रोधपर विजय प्राप्त करना चाहते हैं—सो बड़े आनन्दकी बात है। विपरीत परिस्थितिमें ही इसकी परीक्षा होती है। आप श्रीमद्भगवद्गीताका अर्थ समझकर पाठ करते रहिये। भगवान्‌का नाम-जप तथा प्रार्थना करते रहिये। आपकी पत्नीको सद्बुद्धि मिले, इसके लिये भी भगवान्‌से प्रार्थना कीजिये। पत्नीको मैकेमें न रखकर अपने घरपर रखिये और उसके साथ प्रेमयुक्त यथायोग्य

व्यवहार करके उसका सुधार कीजिये। आपके घर रहनेपर वह मांस खाना आप ही छोड़ देगी।

घर छोड़कर एकान्तवास करनेमें लाभ नहीं होगा। घरमें ही रहकर अपनी साधनाकी रक्षा करते हुए भगवान्‌की कृपाके बलपर घरका सुधार कीजिये। भगवान्‌की कृपासे कुछ भी असंभव नहीं है, इसपर विश्वास कीजिये। साधुवृत्ति मनमें रखिये और उसे बढ़ाइये। उसको बाहर प्रकट करनेकी क्या आवश्यकता है। आपके बच्चे हैं, उनके लिये भी आपका घरमें रहना आवश्यक है।

संसारका यही स्वरूप है। इस घरके तो यही तमाशे हैं। तमाशोंकी भाँति इन्हें देखते रहिये और इस तमाशेमें जहाँ अपने स्वाँगके अनुसार जो खेल करना हो, उसे सावधानीसे पूरा करते रहिये——भगवान्‌की आज्ञा मानकर उन्हें सदा स्मरण रखते हुए, उन्हींकी प्रसन्नताके लिये ही। भगवान्‌के इस जगन्नाटकमें हम सभी पात्र हैं और सभीको ईमानदारीके साथ अपने-अपने जिम्मेका अभिनय सुचारुरूपसे करना चाहिये—यही निष्काम कर्मयोग भी है।

(१०)

भगवत्पूजामें भावकी प्रधानता

सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला, समाचार विदित हुए। आपको 'भगवान्‌की पूजासे प्रेम था, पूजामें बड़ा आनन्द आता था और एक दिन भी पूजा छूटनेपर बड़ा कष्ट होता था।' यह स्थिति बहुत ही सराहनीय है। अब आपको पहले-जैसा प्रेम नहीं प्रतीत होता, इसलिये आप चिन्तित हैं। यह भी शुभ लक्षण है। प्रेमका अभाव न प्रतीत होना प्रेमका अभाव सिद्ध करता है। प्रेम तो प्रतिक्षण बढ़नेवाला है। उसमें नित्य कमीका बोध होना चाहिये, तभी वह बढ़ता है। जो लोग प्रेमकी पूर्णता मान लेते हैं, वे प्रेममार्गसे च्युत हो जाते हैं, नहीं तो कम-से-कम उनका मार्ग रुक तो जाता ही है। भगवान्‌में नित्य-निरन्तर प्रेम बढ़ता रहे, इससे बढ़कर सौभाग्य और क्या हो सकता है। जो मनुष्य भगवत्प्रेम-की कमीसे व्यथित रहते हैं, उनपर भगवान्‌की बड़ी कृपा है और वे भगवत्कृपासे प्रेमको प्राप्त भी कर सकते हैं। साधनके क्षेत्रमें किसी भी प्रगतिपर रुकना बहुत बड़ा विघ्न है। वहाँ तो चलते ही जाना है——आगे-से-आगे। किसी भी स्थितिमें सन्तोष नहीं करना चाहिये। भजनमें सन्तोष कैसा। वह तो जितना बने, उतना ही थोड़ा। और इस थोड़ेकी भावना साधकको सदा अहङ्कार-शून्य एवं साधनसम्पन्न बनाये रखती है, जिससे उसकी प्रगति कभी रुकती नहीं।

आपने रजोधर्मकी अवस्थामें भी भगवान्‌का पूजन नहीं छोड़ा, यह जैसे एक ओर प्रेमका निदर्शन है, वैसे ही दूसरी ओर शास्त्र-मर्यादाका उल्लङ्घनजनित दुष्कृत भी है। जहाँ प्रेमकी इतनी प्रगाढ़ता हो कि बाह्य ज्ञान सर्वथा न रहे, वहाँ तो कोई विधि-निषेध नहीं है। पर जहाँ शरीरकी सुधि है, वहाँ शास्त्र-मर्यादाका पालन परम आवश्यक है। शास्त्र भगवान्‌की ही आज्ञा है। अतएव उसका पालन ही करना चाहिये। रजस्वलाकी स्थितिमें दूरसे भगवान्‌का दर्शन और प्रणाम किया जा सकता है और मानस ध्यान-पूजन-चिन्तन तो आप सभी अवस्थामें कर सकती हैं। मानस-पूजन कर लेनेपर पूजा भी नहीं छूटती, मानस-पूजनका महत्त्व भी अधिक है और शास्त्र-निषिद्ध आचरण भी नहीं होता। अतएव रजस्वला-अवस्थामें बाह्य पूजा किन्हीं शुद्ध ब्राह्मण या घरके अन्य श्रद्धालु व्यक्तिके द्वारा करा देनी चाहिये।

रजस्वला-अवस्थामें पूजन-स्पर्शादि किया, इसके लिये आपने प्रायश्चित्त पूछा सो भक्तिके क्षेत्रमें यह बहुत बड़ा अपराध तो नहीं है। यहाँ विधिकी अपेक्षा भावका मूल्य अधिक है। तथापि जब शास्त्रनिषिद्ध आचरणके लिये मनमें विचार है, तब उसका प्रायश्चित्त भी अवश्य कर लेना चाहिये। इसके लिये भगवान्‌के सर्वपापनाशक मङ्गलमय नामकी (हरे रामके १६ नामके मन्त्रकी) एक माला कम-से-कम एक वर्षतक प्रतिदिन जप लिया कीजिये। भगवान्‌का नाम-जप, पूजन, ध्यान आदि

साधन बड़े उत्साहके साथ करने चाहिये, साथ ही घरके काममें भी सावधान रहना चाहिये। घरको भगवान्‌का मन्दिर, पतिको परमेश्वर, घरके अन्य लोगोंको भगवान्‌के पार्षद एवं बालकोंको भगवान्‌के सखा मानकर जो भगवान्‌का स्मरण करते हुए ही अनासक्त भावसे घरका काम किया जाता है, वह भगवान्‌का पूजन ही होता है। पतिकी सर्वविध तथा गुरुजनोंकी मर्यादित सेवा, बालकोंका लालन-पालन और घरकी सार-सँभार करना स्त्रीका धर्म है। इस कर्मको यदि वह भगवान्‌के पूजनके भावसे करे तो और कुछ भी बिना किये वह भगवान्‌की प्रीति-पात्र हो सकती है एवं भगवान्‌की कृपासे भगवान्‌का दुर्लभ प्रेम प्राप्त कर सकती है

पशुओंके रोग और उनकी चिकित्सा

(लेखक—श्रीमङ्गलसिंहजी पँवार 'किसान-केसरी')

प्रत्येक देशमें पाल्तू पशु देशीय सम्पत्तिका एक बड़ा भारी अंश है। हमारा भारत अन्य देशोंके सम्मुख पशु-धनमें भी दरिद्र है। हम नाममात्रको गौको माता कहते हैं; परंतु वस्तुतः उसे गंदी जगहमें रखते हैं, गंदा पानी पिलाते हैं और उसके आहारका प्रबन्ध भलीभाँति नहीं कर सकते। यहाँ अकाल पड़ने अथवा पशु-रोग फैलनेपर तो ७५ फीसदी-तक पशु मरते पाये गये हैं।

हमारे देशमें खेतीका सब काम गाय-बैलके ऊपर निर्भर है और दूध-घीके लिये गाय, भैंस, भेड़ और बकरी हैं। इन पशुओंमें कोई-न-कोई रोग अवश्य फैलता है जिससे हजारों पशुओंको मृत्युका शिकार बनना पड़ता है। यदि पशु स्वस्थ रहे तो कृषि-सम्बन्धी सब कार्य अच्छे होंगे। पशुओंके थकने या मरनेसे कृषकोंकी खेती और अवस्था भी अत्यन्त खराब होगी। जिस प्रकार मनुष्योंको कई रोग हो जाते हैं ठीक उसी प्रकार पशुओंको भी हुआ करते हैं। परंतु कोई-कोई ऐसा भयङ्कर रोग भी होता है जिससे पशु मर जाता है और वह बीमारी एक पशुसे दूसरे पशुको लग जाती है—जैसे प्लेग, माता और सूगल्या।

अतः सर्वप्रथम हमें स्वस्थ और अस्वस्थ पशुकी परीक्षा करनी अत्यावश्यक प्रतीत होती है—

स्वस्थ पशुके लक्षण—स्वस्थ पशु गाय, भेड़, बकरी और बैल साधारण तौरसे सभी फटे खुरवाले होते हैं और बहुत शान्ति और रुचिसे घास खाते हैं और बैठे-बैठे जुगाली करते रहते हैं। उनकी थूथनका अग्रभाग हमेशा गीला रहता है। चमड़ा ढीला-सा और नरम होता है और पसलियोंपर साँस-के साथ हिलता रहता है। वह झुंडमें अपने साथियोंके साथ रहता है। आँखें सतेज दृष्टिगोचर होती हैं। गोबर सरस और नरम होता है। पेशाब अधिक करता है, पेशाबका रंग अधिक लाल या पीला नहीं होता। नर पशु चलते-चलते पेशाब करता जाता है।

अस्वस्थ पशुके लक्षण—बीमार पशुकी थूथन सूखी-सी होती है। पशु सुस्त दृष्टिगोचर होता है। झुंडसे दूर जाकर खड़ा रहता है, गोबर बहुत ही पतला होता है। लाल या पीले रंगका पेशाब थोड़ा-थोड़ा उतरता है। नाड़ीकी मामूली गति ५०, तापमान १०१ तथा १०२ डिग्रीतक और साँस एक मिनटमें १० से २० बार चलती है।

पशुओंको प्रायः दो प्रकारकी बीमारियाँ होती हैं—(१) वे मुख्य रोग—जो केवल गाय, भैंस, बैल, बकरी और भेड़ आदि पशुओंको ही होते हैं। (२) वे जो मनुष्य और पशु दोनोंको होते हैं। पहले वर्गके रोग अत्यन्त भयङ्कर होते हैं और छूतसे लगनेवाले होते हैं। दूसरे वर्गके रोग जैसे—दस्त, अजीर्ण और आफरा इत्यादि इतने भयङ्कर रोग नहीं हैं।

रोगके कारण—(१) रोगी पशुकी छूत, (२) वंश-परम्पराकी बीमारियाँ, (३) गंदी जलवायु, (४) सड़ी-गली खुराक और गंदा पानी तथा (५) परोपजीवी कीड़े आदि मुख्य रोग होनेके कारण हैं।

१–कुछ रोग छूतसे फैलते हैं। रोगी पशुसे या उसके मल, मूत्र, पानी, घास आदिके द्वारा रोगके कीड़े एक पशुसे दूसरे पशुके शरीरमें प्रवेश कर जाते हैं।

२–कई रोग ऐसे हैं, जिनके कीटाणु माता-पितासे सन्ततिमें उतर आते हैं। जबतक जलवायु और परिस्थिति कीटाणुओंकी वृद्धिके अनुकूल नहीं रहती है, पशु स्वस्थ रहता है; किंतु किसी कारणसे पशुके कमजोर हो जानेपर कीटाणु जोर पकड़ लेते हैं।

३–गंदे मकानोंमें रखनेसे भी पशुओंका स्वास्थ्य गिर जाता है। पशुओंको ऐसी जगहमें रखना चाहिये जहाँ कि उन्हें सर्वदा स्वच्छ वायु अत्यधिक मात्रामें प्राप्त होती रहे और गंदी वायु ठहरने नहीं पावे।

४–सड़ा-गला, अपर्याप्त और अपुष्टिकर भोजनके कारण भी कई रोग आ दबाते हैं। गंदा और मैला पानी भी स्वास्थ्यके लिये अहितकर है।

५–पशुके शरीरपर या शरीरके भीतर कई तरहके परोपजीवी कीटाणु घर कर लेते हैं। इन कीड़ोंके कारण भी अत्यधिक हानि होती है। जल, चारा या साँसके साथ ये कीटाणु पशुके पेटमें प्रवेश होते हैं। अतएव ठाणको स्वच्छ रखना अत्यावश्यक है। जमीन और दीवारोंपर कृमिनाशक ओषधियाँ छिड़कते रहना चाहिये।

पशुओंमें ये कीड़े फैलने नहीं पावें इसके लिये निम्नाङ्कित बातोंपर ध्यान रखना अत्यावश्यक है—

१–अच्छे स्वस्थ पशुओंको रोगी पशुओंसे पृथक् रखना चाहिये और एक ही बाड़ेमें या कोठेमें नहीं रखना चाहिये।

२–रोगी पशुओंकी जूँठी घास, चंदी, दाना-पानी पृथक् रखना चाहिये।

३–रोगी और स्वस्थ पशुओंको एक ही झुंड और एक ही चरोखरमें कभी भूलकर भी नहीं चराने चाहिये।

४–रोगी पशुका गोबर और मूत्र एकत्र करके जला देना चाहिये या गड्ढेमें गाड़कर दबा देना चाहिये जिससे बीमारीका कीड़ा नष्ट हो जाय और अन्य पशुओंको नहीं लगे।

५–पशु यदि मर जाय तो उसकी चमड़ी नहीं उतरवानी चाहिये, उसको जला देना चाहिये अथवा गहरे गड्ढेमें गड़वा देना चाहिये और ऊपरसे चूना डलवा देना चाहिये जिससे बीमारीका कीड़ा दूसरे पशुको नहीं लग सके। एक पशुके चमड़ेके लोभमें अन्य सैकड़ों पशुओंकी मृत्यु हो जाय, ऐसा कार्य कभी नहीं करना चाहिये। गाँवके रेगरोंको भी चाहिये कि ऐसी बीमारीसे मरनेवाले पशुओंकी खाल नहीं निकालें और उसको जला दें।

६–रोगी पशुको हलकी और पतली घास देनी चाहिये। हरी घास रोगी पशुओंको लाभप्रद है अतएव यदि हो सके तो ताजी हरी घास खिलानी चाहिये।

७–रोग मिट जानेपर जिस जगह रोगी पशु रक्खे गये हों, उस जमीनकी बालिश्त डेढ़ बालिश्त गहराई तककी मिट्टीको खोदकर ढीली कर देनी चाहिये और फिर उसपर घास और घासलेट डालकर जला देनी चाहिये। ऐसा करनेसे मिट्टीके भीतर छिपकर बैठे हुए कीटाणु नष्ट हो जायँगे। चूनेके पानीमें कारबोलिक एसिड या फिनाइल मिश्रणकर छिड़कनेसे भी कीटाणु मर जाते हैं।

८–छूआछूतकी बीमारीका प्रसार रोकनेके लिये ऊपर लिखी हुई बातोंपर अमल करना अत्यावश्यक है। खराब और बेकार चीजें पशुओंको खिलानेसे पैसोंकी तो बचत हो जाती है; परंतु आगे चलकर जानवर कमजोर होकर मर जाता है और घी-दूधकी मात्रा अत्यधिक न्यून हो जाती है। तेज धूप, कड़ाकेकी सर्दी और वर्षासे भी पशुओंको बचाये रखना आवश्यक है।

९–पशु-चिकित्सकसे पशुओंका हर समय निरीक्षण कराते रहना चाहिये, जिससे अस्वस्थ पशुकी चिकित्सा शीघ्रतया हो सके।

माता या चेचक—यह छूतकी बीमारी, गाय, बैल, भैंस, ऊँट, भेड़ और बकरी आदिको होती है। पहाड़ी और जंगली प्रान्तोंमें ९५ प्रतिशत रोगी पशु मर जाते हैं। मैदानी प्रान्तोंमें ५० प्रतिशततक मर जाते हैं। इस रोगका भलीभाँति इलाज करनेसे जो रोगी पशु बच जाता है उसको यह रोग फिर दुबारा नहीं लगता।

लक्षण—बीमार पशुका गोबर पतला और बदबूदार होता है। मुँहमें जिह्वाके नीचे छोटे-छोटे छाले होते हैं। मुँहमेंसे लार पड़ती है जो हाथ-माथेपर चिपक जाती है। औरय्या और नाक गरम होता है और उसमेंसे गाढ़ा-गाढ़ा पानी पड़ता है। शरीरमें रोगका विष फैलनेके पश्चात् १० से १५ दिनके अंदर रोगके लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं। आरम्भावस्थामें पशु सुस्त हो जाता है। तापमान बढ़ जाता है। घास कम चरता है। जुगाली करना शनैः-शनैः बंद हो जाता है। दूध देनेवाले पशुके दूधकी मात्रा न्यून हो जाती है। रोगी पशुके कान पीछेकी ओर ढुलक जाते हैं। गोबरपर एक प्रकारका सफेद आवरण-सा लगा होता है। धनुर्वातके रोगीकी भाँति रीढ़ टेढ़ी हो जाती है। नाड़ी और साँसकी गति बढ़ जाती है। दूसरी अवस्थामें तापमान कुछ घटता-बढ़ता रहता है। आँखें बहने लगती हैं। दस्त आरम्भ हो जाते हैं जो बहुत ही बदबूदार होते हैं। किसी-किसी रोगीको कफ बढ़ जानेके कारण हलकी खाँसी आनी आरम्भ हो जाती है। तीसरी अवस्थामें दस्त पतले आने लगते हैं और दस्तके साथ कुछ-कुछ रक्त

भी गिरता है। सींग, कान और शरीरका चमड़ा कुछ ठंडा-सा प्रतीत होता है। साँस फूलने लगती है। ग्याभिन पशुका गर्भ गिर जाता है। नाक बहने लगती है। पशु छटपटाने लगता है और मर जाता है।

इलाज——पशु-चिकित्सकको बुलवाकर रोगी पशुको पिचकारी लगवा देना सर्वोत्तम इलाज है और नीरोग पशुओंको भी पिचकारी लगा देनेसे रोग उनका कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता। परंतु स्वस्थ पशुको अस्वस्थ पशुसे पृथक् रक्खें। रोगी पशुको दस्त लगनेकी ओषधि देना। परंतु दस्त आरम्भ होनेसे पूर्व अलसीकी काँजीमें खानेका नमक या अलसीका तेल आधासेरमें सवा तोला सोंठका चूर्ण मिलाकर पिलानेसे जो दस्त लगेंगे उनसे रोगका विष बाहर निकल आवेगा। एलवा ५ तोला, सोडियम कार्बोनेट ५ तोलाको ४० तोला उबाले हुए जलमें मिला दिया जाय। इस प्रकार तैयार किये हुए २५ तोला मिश्रणमें २० तोला मेगनिशिया मिलाकर पिला देनेसे जुलाब लगेगा। अगर मुँहसे पिलाना मुमकिन न हो, तो तारपीनका तेल २½ तोला, एरंडीका तेल ५ तोला, भूनी हुई हींग ½ तोलाको साबुनके दो सेर पानीमें मिलाकर एनिमा दे दिया जाय। यह इलाज रोगके आरम्भमें यानी बुखारके चढ़नेसे पहले करना चाहिये। पोटेशियम परमेंगनेट (लाल दवा) १५ ग्रेन और देशी शराब ४ औंसको १ पिंट पानीमें मिश्रितकर मिश्रणको पिलानेसे भी पेटका विष नष्ट हो जाता है।

यदि रोगी पशु कमजोर मालूम हो तो (१) देशी शराब ४ औंस, सोंठका चूर्ण ½ औंस, काली मिर्चका चूर्ण २ ड्रामको एक पिंट काँजीमें मिलाकर पिलाया जाय या (२) अमोनिया क्लोराइड ½ औंस, सोंठका चूर्ण ½ औंस, कुचला (नक्सवॉमिका) ७ ड्रामको एक पिंट ठंडी काँजीमें मिलाकर पिलाया जाय। इन शक्तिदायक ओषधियोंको दिनमें २ या ३ बार देना चाहिये।

एक कोठेमें तीस-चालीस ढोर बाँध दिये जायँ और फिर सब दरवाजे और खिड़कियाँ बंद कर दी जायँ। खानेका नमक एक सेर कुछ गरम करके एक चीनीकी तश्तरीमें भरकर मकान (कोठे) के भीतर रख दिया जाय। इस नमकपर गन्धकका तेज तेजाब एक औंस डालकर, मनुष्य बाहर निकल आवे और शीघ्रातिशीघ्र दरवाजा बंद कर दे। इससे निकला हुआ धुआँ सारे कोठेमें फैलकर साँसके साथ पशुओंके शरीरमें प्रवेश कर जायगा—जिससे वे खाँसने लगेंगे। जबतक पशु जोरसे खाँसने नहीं लगें, दरवाजा नहीं खोलना चाहिये। कोठेका द्वार दस मिनट पश्चात् खोल देना चाहिये जिससे वायु भीतर प्रवेश कर सके और सब धुआँ बाहर निकल जाय। इस प्रकार प्रातःकाल और सायंकाल लगातार ३-४ दिनतक करना चाहिये। खाँसी हो जानेसे पशुओंको कुछ दिनोंतक कष्ट तो भुगतना पड़ेगा; परंतु उनपर इस बीमारीका हमला नहीं हो सकेगा। यह परीक्षित नुसखा है। इस प्रकार इलाजकर कई ढोरोंकी जानें बचायी जा चुकी हैं।

खुरपका या सुगलियाका रोग—यह भी छूतका रोग है। इसलिये यह रोग एक पशुसे दूसरे पशुको शीघ्रतया लग जाता है। यह बीमारी एकसे दूसरे पशुमें, दूसरे पशुसे मनुष्य, चारा, जंगल, रेल वगैरहके द्वारा जहाँपर रोगी पशु रहते हैं, प्रायः दूसरे पशुओंको लग जाया करती है।

लक्षण——इस बीमारीवाले रोगी पशुका बदन धूजता है और सुस्त रहने लगता है और भूख जाती रहती है। कभी-कभी पशुका पैर दुखता है जिंससे वह पैरोंको हिलाया करता है। बादमें पैर अकड़ जाता है और पशु लँगड़ा हो जाता है। पशुके मुँहसे लार टपकती है और मुँहके अंदर कभी-कभी छाले भी पड़ जाते हैं और फूटकर घाव पड़ जाते हैं। कभी-कभी पैरमें भी जख्म हो जाता है जिससे पशु थकने लग जाता है। इसकी चिन्ता नहीं की जाय तो पैरमें कीड़े पड़ जाते हैं और कीड़ेका उचित उपचार नहीं किया जाय तो पशु मर जाता है। गायके थनपर छाले निकल आते हैं। और कई पशुओंके मुँह, थन, खुर और आँचलपर छाले पड़ जाते हैं।

इलाज——रोगी पशुसे कतई काम नहीं लेना चाहिये। रोगी पशुको पूर्ण विश्राम करने देना चाहिये। स्वच्छताका पूर्ण ध्यान रक्खा जाय। जहाँ रोगी पशु बैठता है, उस जगहको स्वच्छ रखना अत्यावश्यक है और वहाँकी जमीन सूखी रखना भी आवश्यक है। रोगी पशुको नरम और शीघ्र पचनेवाली खुराक दी जाय, इसके लिये हरी घास उपयोगी है। खानेका नमक अत्यधिक मात्रामें दिया जाय। चावलकी पतली काँजीमें ७ तोला गुड़ और ३ तोला खानेका नमक मिलाकर देना भी लाभप्रद है। जुलाबके लिये दवा देनेसे रोगी पशुके बुखारकी शक्ति क्रम हो जाती है।

मुँहके छालोंका इलाज—फिटकरी या बोरैक्सके लोशनसे जीभ और मुँह धोना चाहिये। ४० भाग पानीमें एक भाग दवा मिलाकर लोशन बनाया जाता है। इसमें नरम कपड़ा

या रूई तर करके दिनमें तीन बार जीभ और मुँह धोना चाहिये।

खुरीके छालोंका इलाज—खुर तथा आसपासके भागको बहते हुए गरम जलसे अच्छी तरहसे धो डालना चाहिये। गरम पानीकी धार डालकर दिनमें दो या तीन बार सेक करना अच्छा है। एक भाग कपूर, ४ भाग मीठे तेल (तिल्लीके तेल) में ३/४ भाग तारपीनका तेल मिला दिया जाय। गरम तेलमें कपूर शीघ्रतया गल जाता है। इस ओषधिको घाव या छालेपर लगा देना चाहिये। अगर जख्म कुछ खराब हो गया हो तो फुलाये हुए नीलेथोथेका चूर्ण घावपर छिड़ककर उसपर कारबोलिक तेल या नीमके तेलमें भिगोया हुआ नरम पट्टा बाँध दिया जाय। अगर घाव अधिक गहरा हो और खुर निकल जानेका भय हो तो ढाई तोला पानीमें दस ग्रेन नीलाथोथा और पाँच ग्रेन जिंकसल्फेट डालकर जख्मको धो डालना चाहिये। दस भाग पानीमें एक भाग तम्बाकू डालकर उबाल लेना चाहिये और फिर छानकर इस्तेमाल करना चाहिये। इस पानीसे खुरीके फोड़े और जख्म धोये जा सकते हैं। पानीमें नीमके पत्ते डालकर उबालने चाहिये। इस पानीसे पाँव धोये जायँ। यदि रोजाना पाँव धोना उचित न हो तो टारलिनिमेंट लगाना चाहिये। खुरीके जख्मोंमें कीड़े पड़ जायँ तो उन्हें सावधानी-से निकालना चाहिये। इसके पश्चात् आधा सेर चूनेके पानीमें चार ग्रेन रसकपूर डालकर उससे जख्म धोते रहना चाहिये। कैलोमल और चाक समान भाग लेकर भलीभाँति मिश्रितकर खुरीमें भरकर पट्टा बाँध देना चाहिये।

थनके छाले—फिटकरी मिले हुए गरम पानीसे धोकर कपूर, तारपीनका तेल तथा तिल्लीके तेलके मिश्रणसे तैयार किया हुआ मलहम लगा देना चाहिये।

अकसर देखा जाता है कि खुरीमें फोड़े होनेपर ढोरोंको घुटनेतक कीचड़में खड़ा करते हैं। इससे छालोंपर कीचड़ जम जाता है और मक्खियाँ नहीं बैठतीं। गरम धूलमें पशुओंको खड़ा करनेसे पाँवोंकी सेंक तो हो जाती है परंतु घावमें कीचड़ और मिट्टी भर जानेसे घाव खराब हो जाता है और मुश्किलसे वापिस भर पाता है। सड़ना आरम्भ हो जानेसे पशुको कष्ट भी अधिक होता है। अक्सर खुरी भी निकल जाती है। रुग्ण भागको गरम पानीसे धोकर नरम कपड़ेका पट्टा बाँधकर ऊपरसे टाट लपेट देना चाहिये। रोगी पशुसे काम नहीं लेना चाहिये। गायको सावधानीसे दुहना चाहिये। इस बातका ध्यान रखना चाहिये कि छाले या जख्मपर हाथ नहीं लगने पावे।

गिल्टी या गोली—यह रोग मनुष्य आदि सभी प्राणियों-को होता है। घोड़े, गाय, बैल, भैंस, भेड़, हाथी, ऊँट और बकरीको यह रोग अतिशीघ्र हो जाता है। मैदानके पशुओंको यह रोग बहुत ही कम मात्रामें होता है। यह पशुओंके लिये अत्यन्त घातक रोग है। खूनकी खराबी ही इसका मुख्य कारण है। दल-दलवाले प्रान्तोंमें यह बीमारी अधिक होती है। चारा, पानी, शरीरपर हुए घाव और कभी-कभी साँससे यह रोग फैलता है। इस रोगके कीड़े बहुत लंबे समयतक जीवित रहते हैं। इससे ८० प्रति सैकड़ा रोगी पशु मर जाते हैं।

लक्षण—कई रोगी एकाएक मर जाते हैं। ऐसी अवस्थामें रोगके कोई प्रत्यक्ष लक्षण दृष्टिगोचर नहीं होते। बुखार १०६ डिग्रीतक चढ़ जाता है। भूख मिट जाती है। शरीरके किसी भी भागमें सूजन दिखायी देती है जो बहुत ही तेजीसे बढ़ती जाती है। सूजा हुआ भाग दबानेसे दर्द नहीं होता। पेटमें दर्द रहता है। पशु लड़खड़ाकर गिर पड़ता है और उसी वक्त मर जाता है। जब पशु मर जाता है तब मरनेके पश्चात् अक्सर खूनका दस्त होता है। मृत पशुका शरीर चीरकर देखनेसे खून बिल्कुल काला—स्याह दृष्टिगोचर होता है। छाती, पेट और चमड़ेके नीचे सूजन दिखायी देती है।

इलाज—इस रोगका कोई भी अचूक इलाज नहीं है। जुलाब देनेसे इस रोगका जहर मलके साथ शरीरसे बाहर निकल आता है। रोग आरम्भ होते ही जुलाब देना अत्यन्त आवश्यक है। फिनाइल आदि कृमिनाशक ओषधि उचित मात्रामें पिलानेसे कुछ लाभकी आशा की जा सकती है।

अगर जुलाबके लिये मुँहसे दवा पिलानेमें कुछ कठिनाई प्रतीत हो तो एनिमा देना चाहिये। खराब खूनके एकत्र हो जानेसे ही यह रोग हो जाता है। अतएव कुछ पशु-चिकित्सक नस काटकर खून निकालना उचित समझते हैं। यदि ऐसा करना आवश्यक हो तो रोगके आरम्भमें ही करना उचित है। अनुभवसे ज्ञात हुआ है कि गन्धककी धूनी देनेसे फायदा होता है। दो-दो या तीन-तीन घंटेके पश्चात् धूनी देना लाभप्रद है।

ढोरोंको एक कोठेमें बाँधकर कोठेके द्वार और खिड़कियाँ इस प्रकार बन्द किये जायँ कि कुछ-कुछ खुले रहें। सिगड़ी या तगारीमें आग रखकर उसपर गन्धक डाल दी जाय। पशुओंके कुछ जोरसे खाँसना आरम्भ करते ही दरवाजे और खिड़कियोंके द्वार पूरे खोल देने चाहिये जिससे ताजी स्वच्छ वायु भीतर प्रवेश कर सके। यदि एक ही पशुको धूनी देना हो तो आगपर गन्धक डालकर उसके नाक और मुँहके पास

रखना चाहिये और जोरसे खाँसी आना आरम्भ होते ही हटा लेना चाहिये ।

पशुरोगके कुछ परीक्षित नुसखे

जुलाबके लिये—अलसीका तेल या अरंडीका तेल ५ छटाँक, तिल्लीका तेल ५ छटाँक, जमालगोटाका तेल २० बूँद—इन सबका मिश्रणकर पशुको नालसे पिलाना चाहिये।

पशुओंकी शक्तिवर्द्धक ओषधि—(१) शराब २ छटाँक, पीसी हुई सोंठ पाव छटाँक, काली मिर्च ६ दुअन्नी भर—इन सबका मिश्रणकर लगभग तीन पाव पतले दलियेके साथ देना चाहिये। (२) नौसादर पाव छटाँक, पीसी हुई सोंठ पाव छटाँक, पीसा हुआ कुचला ३ दुअन्नी भर—इनको मिलाकर लगभग तीन पाव ठंडे पतले दलियेके साथ देना लाभप्रद है।

शक्तिवर्द्धक और पेटके कीटाणु मारनेकी ओषधि—पीसा हुआ हीराकसीस पाव छटाँक, कुचला ३ दुअन्नी भर, चिरायता आधी छटाँक—इन सबको मिलाकर लगभग तीन पाव दलियेके साथ या अन्य किसी खानेकी चीज़के साथ देना हितकारी है।

दस्त बंद करनेकी दवा—चाकमिट्टी आधी छटाँक, पीसा हुआ कत्था पाव छटाँक, पीसा हुआ अजवायन पाव छटाँक—इन सबको मिलाकर दिनमें दो बार पतले दलियेके साथ देना चाहिये।

दस्त बंद करने तथा पेटके कीड़े मारनेकी ओषधि—पीसा हुआ नीलाथोथा २ दुअन्नी भर, पानी १० छटाँक—इन दोनोंको मिश्रितकर पिलावें।

दर्द दूर करनेकी दवा—पीसी हुई भाँग ९ दुअन्नी भर, पीसी हुई हींग ९ दुअन्नी भर, पीसी हुई सोंठ पाव छटाँक, शराब दो छटाँक—इन सबको मिलाकर लगभग तीन पाव दलियेके साथ देना चाहिये।

दर्दको दूर करनेवाली और पेटके कीटाणु मारनेवाली दवा—तारपीनका तेल आधी छटाँक, अलसीका तेल दो छटाँक। इन सबको मिलाकर नालद्वारा पिलावें।

पेटके कीटाणु मारनेकी दवा—पीसी हुई हींग आधी छटाँक, पीसी हुई गन्धक एक छटाँक, पीसे हुए पलासके बीज १ छटाँक—इन सबको मिलाकर एक पुड़िया प्रतिदिन १० दिनतक पतले दलियेमें मिलाकर देनी चाहिये।

घावपर लगानेकी दवा—(१) फिनाइल एक हिस्सा, पानी १०० हिस्सा। (२) पीसा हुआ सुहागा, पीसा हुआ लकड़ीका कोयला, पीसी हुई फिटकरी, पीसा हुआ नीला-थोथा—सब समान भाग लेकर जब घावोंपर दवा छिड़कनी हो तो इस ओषधिको काममें लाना चाहिये।

दर्दकी जगह मालिश करनेका तेल—तारपीनका तेल और राईका तेल समान भाग लेकर लगाना चाहिये और खूब मालिश करनी चाहिये।

इस प्रकार पशुओंकी अन्य बीमारियोंकी भी चिकित्सा हो सकती है। इस तरह रोगी पशुओंकी चिकित्सा करके हम पशुओंकी जान बचा सकेंगे। परंतु खेद है कि हमारे भारतमें पशु-वधका एक बड़ा भारी रोग लगा हुआ है। जब कि उपयोगी पशुओंकी मात्रा दिनोंदिन कम होती जा रही है और उनके दूधकी मात्रा, बल और कद सब घटता जा रहा है। अन्य देशोंमें, जहाँ फसलोंकी पैदावार भारतसे कहीं अधिक है, वहाँके लोग पशुओंको पालकर मालामाल हो जाते हैं और हमारे भारतवासी मूर्खता और दरिद्रतावश पशुओंकी मात्रा बढ़ानेके बदले घटाते जा रहे हैं। उत्तम वैज्ञानिक पशुशाला जैसी होनी चाहिये, एक भी नहीं है। परंतु ईदके दिन लाखों गायोंकी एक ही दिनमें नाहक कुरबानी कर दी जाती है। यहाँपर लगभग चार करोड़ मुसलमान हैं, जो दरिद्रतावश बकरीका मांस न खरीदकर टके सेरवाला सस्ता गो-मांस भक्षण करते हैं। मानो गाय मुसल्मानोंके बच्चोंको दूध पिलाकर पुष्ट नहीं करती और अरबके रेगिस्तानसे ऊँट आकर इनके खेत जोत जाते हैं। यहाँपर ३४५९८० कसाई गोवध करनेवाले हैं। अन्य देशोंमें भी कसाई हैं और मांसाहारी भी हैं; परंतु वे यहाँके मांसाहारियोंकी भाँति अपनी दूध देनेवाली गायोंके गले काटकर देशपर छुरी नहीं फेरते और अपने राष्ट्रकी जड़पर कुठाराघात नहीं करते। अतएव भारतवर्षके सभी हिंदू कहलानेवालोंसे मेरी अपील है कि गौ और बैलको दरिद्रताके कारण कसाइयोंको नहीं बेचनेका प्रण कर लें, क्योंकि ये पशु ही आपलोगोंकी कृषिके आधार हैं। यदि इन पशुओंका बेचना और वध करना एकदम रोक दिया जाय तो मैं दावेके साथ कहता हूँ कि विदेशी यन्त्रोंकी हमारे कृषि-कार्यमें कभी भी आवश्यकता नहीं होगी और इनके द्वारा हमारा भारत शक्तिशाली तो बनेगा ही, साथ ही-साथ घी, दूध, दहीकी नदियाँ बहने लगेंगी और भारत फिर सोनेकी चिड़िया बन जायगी। खाद्यान्नकी इस देशमें फिर कभी भी कमी नहीं रहेगी, जिसके लिये कि आज हमें दूसरे देशोंकी ओर ताकना पड़ रहा है! फिर हम स्वावलम्बी बन जायँगे।

तबसे बैठा देख रहा हूँ फिर आनेकी राह !

[कहानी]

(लेखक—स्वामी श्रीपारसनाथजी सरस्वती)

उन दिनों हरिद्वारमें अर्द्धकुम्भीका मेला था । मैं भी गया था । मैंने तीन दिनसे लक्ष्य किया कि एक सिपाही सरकारी वर्दीमें, एक करीलके नीचे बैठा माला जपा करता है । तीसरे दिन मैं उसके पास गया, उसने हाथ जोड़कर 'जय सीताराम स्वामीजी !' कहा । मैं पास ही बैठ गया ।

मैं–तुम किस टाइपके सिपाही हो जी ?

वह–क्यों स्वामीजी ?

मैं–सिपाहीके हाथमें माला ? सिपाहीके हाथमें तो चाहिये भाला !

वह–क्या एक सिपाही भक्त नहीं बन सकता महाराज ?

मैं–जो भक्त होगा, वह सिपाही नहीं बनेगा और जो सिपाही होगा, वह भक्त नहीं बनेगा ! दोनों विपरीत अवस्थाएँ हैं ।

वह–परंतु मुझमें दोनों बातें हैं !

मैं–देखो सिपाहियोंका जीवन । वे देखो, वे दो सिपाही गाँजेकी दम लगा रहे हैं । वह देखो, एक सिपाही किसी गरीब यात्रीसे पैसे ऐंठ रहा है । उधर देखो, वे तीन सिपाही पुलपर आनेवाली युवतियोंको कैसे घूर रहे हैं, मानो विधातारचित सौन्दर्य-चन्द्रके राहु-केतु हैं !

वह–आप ठीक कह रहे हैं । आज हमारी सिपाहीकी कौम ही अधरमी हो गयी है ।

मैं–इधर तुमको देखो, सबसे अलग विरागीकी तरह, माला जप रहे हो । किसका मन्त्र जप रहे हो ?

वह–विष्णु भगवान्का ।

मैं–मन्त्र किसने दिया ?

वह–मेरे गुरुने !

मैं–तुम्हारा गुरु कौन है ?

वह–मेरी स्त्री !

मैं–खूब ! विरोधाभासका जोड़ा !

वह–सो क्यों स्वामीजी ?

मैं–(१) सिपाही भक्त और (२) स्त्री गुरु ! ये दोनों ही विरोधाभास हैं । यानी सिपाही भक्त नहीं बन सकता; क्योंकि सिपाहीकी जात आज जालिम हो गयी है । और स्त्री गुरु नहीं बन सकती, क्योंकि औरतकी जाति मायाविनी होती है; परंतु तुम्हारे पास दोनों विरुद्ध बातें उपस्थित हैं । यही आश्चर्य है ।

वह–कभी-कभी सिपाही भी भक्त बन जाता है और कभी-कभी स्त्री भी गुरु बन जाती है ।

मैं–यह भी ठीक है ! प्रकृति असम्भवको भी सम्भव बनाया करती है । सम्भव, असम्भव और अन्यथा सम्भव—ये तीनों हरकतें प्रकृतिमें हैं ।

वह–लक्ष्मणजीकी गुरु सुमित्रा देवी स्त्री जातिकी ही थीं । तुलसीजीकी गुरु रत्नावली स्त्री ही थीं और गोपीचन्दकी गुरु उनकी माता मैनावतीजी भी स्त्री ही थीं । इसी प्रकार मेरी स्त्री मेरी गुरु है ।

मैं–तुम्हारा नाम ?

वह–मुझे लोग ठाकुर जीवनसिंह कहते हैं ।

मैं–कहाँके रहनेवाले हो ?

वह–जौनपुर । यहाँ कुम्भभरके लिये मेरी भी ड्यूटी है ।

मैं–अच्छा तो जीवनसिंहजी ! आप अपनी कहानी सुना जाइये !

× × ×

जीवनसिंहने माला रख दी और कहने लगा—'आप नहीं मानते तो सुन लीजिये मेरी विचित्र कहानी !'

मैं—क्योंकि तुम्हारी कहानीमें अवश्य कोई अघट-घटना होगी ?

जीवन—अघट-घटना ! जरूर है ! उसी घटनाने मुझे पागल बना दिया है !

मैं—कहो क्या बात है । शायद मैं कोई सलाह दे सकूँ ।

जीवन—इसीलिये सुनाता हूँ कि शायद आप कोई रास्ता दिखलावें । बात यह है कि मैं पक्का सुधारक था । सबका खण्डन करता था और मेरी स्त्री थी परम श्रद्धालु, घोर सनातनधर्मी ।

मैं—घोर सनातनधर्मी ?

जीवन—घोर नहीं बल्कि घनघोर सनातनधर्मी !

मैं—इसके क्या मानी ?

जीवन—उसने आँगनमें तुलसीका वृक्ष लगा रक्खा था। उसीमें एक मूर्ति शालग्रामजीकी रख दी थी कि जो उसके गुरु उसे दे गये थे । तुलसीके घरोंदेमें भगवान् विष्णुजीकी तसबीर टँगी थी । रोज सबेरे उठकर वह स्नान करती और ठाकुरजीकी पूजा करती थी । रामायण पढ़ती और विष्णुसहस्रनामका पाठ करती । तब किसीसे बात करती थी ।

मैं—उसका नाम क्या था ?

जीवन—वह मर नहीं गयी है ! उसका नाम गोमती देवी है । तीन पुत्र तथा एक कन्याकी माता है ।

मैं—अच्छा, आगे कहो ।

जीवन—एक दिन रातको मैंने उससे कहा कि कप्तान साहब मुझपर नाराज हैं । एक दिन सलाम नहीं किया, इसीसे नाराज हो गया है । मेरा तबादला उस पाजीने अलमोड़ा कर दिया है ।

गोमती—अलमोड़ा कहाँ है ?

जीवन—जहाँके हमारे प्रधान मन्त्री और प्रसिद्ध कवि—दोनों पंतजी हैं । वह एक पहाड़ी जिला है । वहाँके लोग बड़े रूखे माने जाते हैं । यहाँसे बहुत दूर है ! धरतीके छोरपर समझो ।

गोमती—तो क्या करोगे ?

जीवन—इस्तीफा दूँगा ।

गोमती—गुजर कैसे होगी ?

जीवन—खेती करूँगा । उत्तम खेती ही है । नौकरी तो निकृष्ट है ।

गोमती—मत घबड़ाओ ! मैं अपने विष्णु भगवान्‌से प्रार्थना करूँगी । तुम्हारा तबादला मंसूख हो जायगा ।

जीवन—मैं कप्तानके पास जाकर तबादला रोकनेकी प्रार्थना कदापि न करूँगा ।

गोमती—मत करना ।

जीवन—फिर भी तबादला रुक जायगा ?

गोमती—हाँ, रुक जायगा ।

जीवन—कैसे ?

गोमती—विष्णु भगवान् रोक देंगे ।

जीवन—अरी भोली ! विष्णु भगवान् कोई चीज नहीं।

गोमती—वाह, वाह ! यह खूब कही !

जीवन—ब्रह्मा, विष्णु और शंकरकी कल्पना पोंगा-पंथी सनातनियोंके सड़े दिमागकी की हुई है । हमलोग कल्पनाके पीछे नहीं दौड़ते, सचाईको अपनाते हैं जो सदा हमारे सामने होती है । विष्णुको किसने देखा है ! असलमें विष्णु नामक कोई चीज इस संसारमें नहीं है। कोई परमात्मा है भी तो वह निराकार परमात्मा ही है।

गोमती—वही निराकार हैं, वही साकार हैं ! वही ब्रह्मा नामक साकारद्वारा जगत्‌की रचना करते हैं, वही विष्णु भगवान्‌के रूपसे संसारका पालन करते हैं और वही परमेश्वर रुद्र-शंकरके साकारद्वारा संहार करते हैं।

जीवन—(हँसकर) मैं यह तो मान ही नहीं सकता कि विष्णु भगवान् कोई चीज हैं । पर यदि विष्णु कहीं थे तो अब बूढ़े हो गये होंगे या मर गये होंगे !

गोमती—नहीं, देवता न तो बूढ़े होते हैं और न मरते हैं । फिर वे तो देवोंके भी देव हैं । साक्षात् ईश्वर ही हैं ।

जीवन—मैं तो तब जानूँ कि विष्णु भगवान् ही जगत्‌के पालक हैं कि जब मेरा तबादला रुक जाय और मुझे कप्तानके सामने गिड़गिड़ाना न पड़े ।

गोमती—ऐसा ही होगा ।

जीवन—यदि ऐसा हुआ तो मैं अपनी सुधारकीको भाड़में झोंक दूँगा और तुम्हारे सनातनधर्ममें आ जाऊँगा । इतना ही नहीं, तुमको गुरु मानूँगा ।

गोमती—आज मैं प्रार्थना करूँगी ।

जीवन—कल प्रातः मैं इस्तीफा दे दूँगा । लिखा रक्खा है । इसलिये आज ही जो कुछ करना हो कर डालना । क्योंकि परसों अलमोड़ा जानेका हुक्म मिलेगा । पेशकार साहबने पक्की खबर दी है । हुक्म तबादलाका लिखा जा चुका है । साहबके दस्तखत भी हो चुके हैं । परसों मुझे वह हुक्म दे दिया जायगा ।

गोमती—आप निश्चिन्त होकर अपने पहरेपर जाइये ।

× × ×

मैं—क्यों जीवनसिंह ! कप्तान साहब किस जातिका था ?

जीवन—अंग्रेज बच्चा था मि० यार्क साहब ! बड़े कड़े मिजाजका अफसर था । सुपरिंटेंडेंट पुलिसको भी 'कप्तान' कहते हैं हमलोग ।

मैंने कहा—अच्छा फिर क्या हुआ ?

जीवनसिंह—मैं कलक्टरीपर पहरा देने जा रहा था । आधी रातका समय था । आधी रातसे प्रातःतक मेरी ड्यूटी थी । जब कचहरीके पास पहुँचा तो मुझे एक पण्डितजी मिले । मेरे कुलपुरोहित पण्डित दुलीचंदको पहचान कर मैं खड़ा हो गया । सनातनधर्मी न होनेके कारण मैं तो उनको अपना पुरोहित नहीं मानता था, परंतु गोमती मानती थी और वह उनको बहुधा बुलाकर व्रतोंकी व्यवस्था लिया करती थी । मुझसे उन्होंने कहा—

'मुझे तुम्हारे तबादलेका हाल मालूम है । कल सुबह इस्तीफा मत पेश करना । कल दोपहरको मंसूखी-तबादलाका हुक्म मिल जायगा ।'

—इतना कहकर वे चले गये । मैंने उनकी बातपर कोई ध्यान नहीं दिया; क्योंकि ज्योतिषपर मुझे विश्वास नहीं था और वे एक ज्यौतिषी थे ।

मैंने पूछा—फिर सुबह इस्तीफा पेश किया ?

जीवन—मैंने इतनी बात निश्चय कर ली थी कि इस्तीफा सुबह नहीं, कल शामको दाखिल करूँगा । अपनी स्त्री तथा पण्डितजीकी बातकी जाँच भी तो करनी थी ।

मैं—आगे कहो ।

जीवन—जब पहरा देकर मैं सुबह घर गया तब अपनी स्त्रीसे ज्यौतिषीजीवाली बात कही । वह बोली कि उसने भी प्रार्थना की थी । इसके बाद बड़े लड़केको भेजकर पण्डित दुलीचंदजी ज्यौतिषीको मेरी स्त्रीने घरपर बुलवाया और वे आये ।

गोमतीने उनको सादर बैठाया और पूछा—'कल आधी रातको आपने ठाकुरसाहबसे क्या कहा था ?'

पं०जी—कुछ नहीं ।

जीवन—आप कल आधी रातको कचहरीके पास मुझे मिले थे या नहीं ?

पं०जी—नहीं ।

जीवन—तब वह कौन था ?

पं०जी—मुझे नहीं मालूम ।

जीवन—कल आधी रात आप कहीं गये थे ?

पं०जी—कल रातको मैंने घरसे बाहर कहीं डग भी नहीं मारी ।

जीवन—मैं यह नहीं मान सकता । मैं सिपाही हूँ—मुझे कोई चकमा नहीं दे सकता ।

पं०जी—मेरे पास सबूत भी है ।

जीवन—कैसा सबूत ?

पं०जी—मेरे घरके पास पण्डित शिवशङ्करदयालुजी वैद्य रहते हैं ।

जीवन–मैं उनको जानता हूँ । कई बार दवा भी लाया हूँ ।

पं०जी–उनको बुलवा लीजिये । वही मेरे गवाह हैं ।

लड़केको भेजकर मैंने वैद्यजीको बुलाया और वे आये । वैद्यजीसे मैंने कहा—'क्यों वैद्यजी ! मेरी एक बातका जवाब आप सच-सच देंगे ?'

वैद्य–भय या लोभसे लोग झूठ बोलते हैं । मुझे आपसे न तो भय है और न लोभ ।

जीवन–आपको अपने पुत्रकी शपथ है, सच जवाब देना ।

वैद्य–शपथ न देते तो भी सच बोलता । कहो क्या बात है ?

जीवन–कल रातको ज्यौतिषीजी कहीं बाहर गये थे ?

वैद्य–कल शामको मैंने भाँग बनायी थी । इनको जरा ज्यादा पिला दी थी । ये रातभर बेहोश पड़े रहे । इनकी स्त्री घबड़ा गयी थी । आधी रातको मुझे नाड़ी देखने बुलावा गया था । मैंने एक दवा देकर इनको कै करायी थी । मैं शपथसे कहता हूँ कि ये सुबहतक कहीं नहीं गये ।

जीवन–बस, अब आप दोनों साहब जा सकते हैं । वे दोनों चले गये ।

दोपहरीको पेशकारसाहबने मुझसे कहा कि—'तुम्हारे तबादलेका हुक्म मंसूख कर दिया गया । तुम जौनपुरमें ही रहोगे ।' जब मैंने कारण पूछा तो उन्होंने जवाब दिया—'साहबोंके मनकी बात मैं क्या जानूँ ।'

× × ×

जीवन–अब बताइये स्वामीजी ! ज्यौतिषीके रूपमें वह कौन था ?

मैंने कहा–विष्णु भगवान् ही थे ।

जीवन–वे क्यों आये थे ?

मैं–तुमने कहा था कि विष्णुजी मर गये मो... हाजिरी देने आये थे कि मैं अभी नहीं मरा हूँ ।

जीवन–लेकिन मैं तो मर गया । उसी समयसे मैं पागल हो गया हूँ । यदि मैं जानता कि विष्णु भगवान् ही ब्राह्मणके रूपसे खड़े हैं, तो मैं उनके चरण पकड़ लेता । भक्तिका वरदान माँगता ।

मैं–तुमको दर्शन हो गया । तुम धन्य हो । बड़े-बड़े भक्तोंको उनका दर्शन नहीं होता । फिर इस कलि-युगमें तो और भी कठिन बात है ।

जीवन–मेरी स्त्रीने 'हरिःशरणम्' वाला मन्त्र मुझे दिया । उसी मन्त्रको मालापर जपा करता हूँ और—

'तबसे बैठा देख रहा हूँ फिर आनेकी राह !'

मैं–इस प्रकार तुमको सुधारकीका भूत छोड़ गया !

जीवन–मैंने समझ लिया कि इस सुधारकीमें कुछ तथ्य नहीं है, केवल हठधर्मी ही है । ज्ञान तो इसमें नहींके समान है । यथार्थ ज्ञानसे इसका कोई सम्बन्ध ही नहीं है ।

मैं–ठीक है ।

जीवन–क्यों स्वामीजी ! अब क्या फिर दर्शन नहीं होंगे ?

मैं–मैं क्या जानूँ—साहबोंके मनकी बात ! यदि वे प्रसन्न हो जायँ तो प्रतिदिन दर्शन दे सकते हैं । प्रसन्न न हों तो सात जनम न मिलें । 'विष्णु भगवान समान न आन !'

जीवन–मैं प्रयत्न तो यही कर रहा हूँ कि एक बार फिर मिलें ।

मैं–किये जाओ प्रयत्न मेरे प्यारे ! यह प्रयत्न ही मनुष्य-जीवनका सबसे बड़ा फल है ।

जीवन–यही मेरे जीवनकी एक अघटन-घटना है !

मैं–खूब है भैया ! तुम सचमुच अजीब सिपाही हो !

श्रीहरिः

श्रीभगवन्नाम-जपके लिये सादर प्रार्थना

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

आज विश्वमें सर्वत्र अशान्ति है । सभी देशोंके जन-समाज नाना प्रकारके अभावोंसे पीड़ित और भविष्यके लिये चिन्तित हैं । अवर्षण, अतिवर्षण और विविध प्रकारकी आधि-व्याधियों-जैसे दैवी कोप बार-बार सर्वत्र हो रहे हैं । अनाचार, अत्याचार, भ्रष्टाचार, कलह, कलुष, संग्राम, संहार बढ़ रहे हैं । ये सभी लक्षण चिन्ताजनक हैं । ऐसी दशामें अन्यान्य बाह्य उपायोंके साथ-साथ अपने, अपनी मातृभूमि भारतवर्षके और सम्पूर्ण विश्वके कल्याणके लिये, पारलौकिक सुख-शान्तिके लिये और साधकोंके परम लक्ष्य तथा मानवजीवनके एकमात्र ध्येय भगवान्की प्राप्तिके लिये भगवन्नाम-जपके अमोघ साधनका भी आश्रय लेना नितान्त आवश्यक है । श्रीभगवान्के नामकी महिमाका कुछ पता उन्हींको है, जो नामके विलक्षण प्रभावका अनुभव कर चुके हैं । विश्वासपूर्वक नाम-जप करनेसे ऐसा कौन-सा कार्य है जो नहीं हो सकता । प्रतिबन्धक प्रबल होनेपर कुछ विलम्ब भले ही हो जाय, परंतु नाम कभी व्यर्थ नहीं जाता और इस घोर कलिकालमें तो बस जीवोंके लिये एकमात्र सहारा भगवन्नाम ही है । 'कल्याण'के भाग्यवान् ग्राहक, अनुग्राहक और पाठक-पाठिकाएँ स्वयं तथा अपने इष्ट-मित्रोंसे प्रतिवर्ष भगवन्नाम-जप करते-कराते आये हैं । प्रतिवर्षकी भाँति गत वर्ष भी २० करोड़ मन्त्र-जपकी प्रार्थना की गयी थी । अत्यन्त प्रसन्नताकी बात है कि ५०० स्थानोंसे अधिकके व्यक्तियोंने लगभग २०, २०, ५३, ८८० मन्त्र-जप किया है । नाम-जपकी संख्या जोड़नेपर ३, २३, ५९, ५८, ४०० (तीन अरब, तेईस करोड़, उनसठ लाख, अट्ठानबे हजार, चार सौ) होती है । इसके अतिरिक्त पञ्चाक्षरी, द्वादशाक्षर तथा अन्यान्य मन्त्रों एवं नामोंके जपकी भी सूचनाएँ आयी हैं । बहुतोंने जप करनेकी सूचना दी है, पर संख्या नहीं लिखी है । कितने ही सज्जन नियमित रूपसे व्रत लेकर जप करने लगे हैं । जप भारतके प्रायः सभी प्रान्तोंमें और भारतके बाहर भी हुआ है । इसके लिये हम समस्त जापकोंके आभारी हैं ।

इस वर्ष भी अपने, देशके, धर्मके तथा विश्वके कल्याणके लिये विशेषरूपसे प्रयत्न करके 'कल्याण' के भगवत्-विश्वासी पाठक-पाठिकाओंको नाम-जप करना-कराना चाहिये । गत वर्षकी भाँति इस वर्ष भी २० करोड़ मन्त्र-जपके लिये ही प्रार्थना की जाती है । आगामी कार्तिक शुक्ला १५ से जप आरम्भ किया जाय और चैत्र शुक्ल १५ तक हो । पूरे पाँच महीनेका समय है ।

भगवान्का नाम इतना प्रभावशाली होनेपर भी इसका जप स्त्री-पुरुष, ब्राह्मण-शूद्र सभी कर सकते हैं । इसलिये 'कल्याण'के भगवत्-विश्वासी पाठक-पाठिकाओंसे हाथ जोड़कर विनयपूर्वक प्रार्थना की जाती है कि वे कृपापूर्वक सबके परम कल्याणकी भावनासे स्वयं अधिक-से-अधिक नाम-जप करें और प्रेमके साथ विशेष चेष्टा करके दूसरोंसे करवायें । नियमादि सदाकी भाँति हैं ।

यह आवश्यक नहीं है कि अमुक समय आसनपर बैठकर ही जप किया जाय । प्रातःकाल उठनेसे लेकर रातको सोनेतक चलते-फिरते, उठते-बैठते और काम करते हुए सब समय इस मन्त्रका जप किया जा सकता है । संख्याकी गिनतीके लिये माला हाथमें या जेबमें रक्खी जा सकती है अथवा प्रत्येक मन्त्रके साथ संख्या याद रखकर भी गिनती की जा सकती है । बीमारी या अन्य किसी कारणवश जपका क्रम टूट जाय तो किसी दूसरे सज्जनसे जप करवा लेना चाहिये । यदि ऐसा न हो सके तो नीचे लिखे पतेपर उसकी सूचना भेज देनेसे उसके बदलेमें जपका प्रबन्ध करवाया जा सकता है । किसी अनिवार्य कारणवश

[दूसरी ओर देखिये]

यदि जप बीचमें छूट जाय, दूसरा प्रबन्ध न हो और यहाँ सूचना भी न भेजी जा सके, तब भी कोई आपत्ति नहीं। भगवन्नामका जप जितना भी किया जाय, उतना ही उत्तम है। भगवन्नामकी शरणागति अमोघ है और वह महान् भयसे तारनेवाली होती है।

जो लोग जपका नियम करें-करावें, वे नीचे लिखे अनुसार जोड़कर सूचना भेजनेकी कृपा करें।

मेरा तो विश्वास है कि यदि 'कल्याण' के प्रेमी पाठक-पाठिकागण अपने-अपने यहाँ इस बातकी पूरी-पूरी चेष्टा करें तो शीघ्र ही हमारी प्रार्थनासे भी बहुत अधिक संख्याकी सूचना आ सकती है। अतएव सबको इस महान् पुण्य कार्यमें मन लगाकर भाग लेना चाहिये।

१. जप किसी भी तिथिसे आरम्भ करें, इस नियमकी पूर्ति चैत्र शुक्ला १५ को समझनी चाहिये। उसके आगे भी जप किया जाय तो बहुत अच्छा है।

२. सभी वर्णों, सभी जातियों और सभी आश्रमके नर-नारी, बालक-वृद्ध, युवा इस मन्त्रका जप कर सकते हैं।

३. प्रतिदिन कम-से-कम एक मनुष्यको १०८ (एक सौ आठ) मन्त्र एक मालाका जप अवश्य करना चाहिये।

४. सूचना भेजनेवाले सज्जन केवल संख्याकी ही सूचना भेजें। जप करनेवालाके नाम भेजनेकी आवश्यकता नहीं। सूचना भेजनेवाले सज्जन केवल अपना नाम और पता लिख भेजें।

५. संख्या मन्त्रकी होनी चाहिये, नामकी नहीं। उदाहरणार्थ—यदि ऊपर दिये हुए सोलह नामोंके इस मन्त्रकी एक माला प्रति दिन जपें तो उसके प्रतिदिनके मन्त्र-जपकी संख्या १०८ होती है, जिसमें भूल-चूकके लिये आठ मन्त्र बाद कर देनेपर १०० (एक सौ) मन्त्र रह जाते हैं। जिस दिनसे जो भाई जप करें उस दिनसे चैत्र शुक्ल पूर्णिमातकके मन्त्रोंका हिसाब भी इसी क्रमसे जोड़कर सूचना भेजनी चाहिये।

६. संस्कृत, हिंदी, मारवाड़ी, मराठी, गुजराती, बंगला, अंग्रेजी और उर्दूमें सूचना भेजी जा सकती है।

७. सूचना भेजनेका पता—नाम-जप-विभाग 'कल्याण' कार्यालय, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

प्रार्थी—हनुमानप्रसाद पोद्दार

कृपालु लेखक महानुभावोंसे पुनः विनीत प्रार्थना

गताङ्कमें प्रार्थना करनेपर भी 'हिंदू-संस्कृति-अङ्क' के लिये अबतक प्रतिदिन ढेर-के-ढेर लेख आ रहे हैं। 'हिंदू-संस्कृति-अङ्क' के लिये जितने पृष्ठोंका निश्चय किया गया है, उससे अधिक पृष्ठ-संख्या बढ़ानेकी तनिक भी गुंजाइश नहीं है। इस अवस्थामें पीछेसे आये हुए इन लेखोंमेंसे अधिकांश लेख, मनमें बड़ा संकोच होते हुए भी, प्रकाशित नहीं किये जा सकेंगे और बाध्य होकर उन्हें वापस लौटाना पड़ेगा। अतएव पुनः प्रार्थना है कि अब कोई भी महानुभाव, बिना माँगे, लेख-कविता कृपया न भेजें। और हमारी स्थितिपर विचार करके कृपापूर्वक क्षमा प्रदान करें।

विनीत, सम्पादक—'कल्याण' पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)
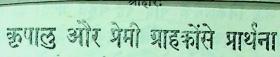
कृपालु और प्रेमी ग्राहकोंसे प्रार्थना

...ईसवें वर्षका ग्यारहवाँ अङ्क है । बारहवाँ अङ्क निकल जानेपर इस वर्षका मूल्य समाप्त

...ीसवें वर्षका पहला अङ्क (विशेषाङ्क) 'हिंदू-संस्कृति-अङ्क' होगा । इस अङ्कमें ...क सूक्तोंके सुन्दर, सरल पद्यानुवाद-गद्यानुवाद रहेंगे । महाभारत, भागवत,
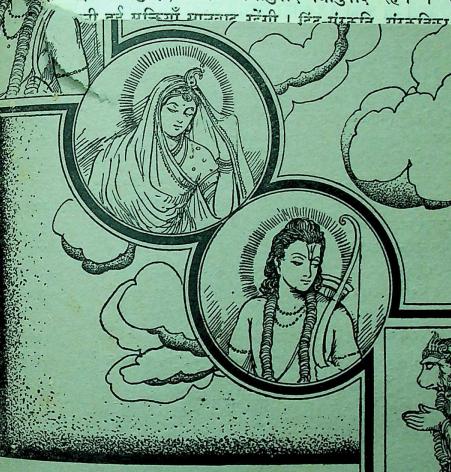
राम लछमन जानकी, जै बोलो हनुमानकी ।

वर्ष २३] [सं० ११

...जितना भी किया जाय, उतना ही उत्तम है। भगवन्नामका सीताराम॥
और वह महान् भयसे तारनेवाली होती है। ...गारा॥

जो लोग जपका नियम करें-करावें, वे नीचे लिखे अनुसार जोड़कर सूचना भेजने...

मेरा तो विश्वास है कि यदि 'कल्याण' के प्रेमी पाठक-पाठिकागण अपने-अपने... पूरी-पूरी चेष्टा करें तो शीघ्र ही हमारी प्रार्थनासे भी बहुत अधिक संख्याकी सूचना आ स... सबको इस महान् पुण्य कार्यमें मन लगाकर भाग लेना चाहिये।

१. जप किसी भी तिथिसे आरम्भ करें, इस नियमकी पूर्ति चैत्र शुक्ला १५ को ... उसके आगे भी जप किया जाय तो बहुत अच्छा है।

सन् १९५९

पृष्ठ-संख्या

चित्र-सूची

तिरंगा

वार्षिक मूल्य
भारतमें ६≡)
विदेशमें ८॥=)
(१३ शिलिङ्ग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत् चित् आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

साधारण प्रति
भारतमें ।≈)
विदेशमें ॥-)
(१० पैंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

श्रीहरिः

कृपालु और प्रेमी ग्राहकोंसे प्रार्थना

यह तेईसवें वर्षका ग्यारहवाँ अङ्क है। बारहवाँ अङ्क निकल जानेपर इस वर्षका मूल्य समाप्त हो जायगा।

चौबीसवें वर्षका पहला अङ्क (विशेषाङ्क) 'हिंदू-संस्कृति-अङ्क' होगा। इस अङ्कमें विविध वैदिक सूक्तोंके सुन्दर, सरल पद्यानुवाद-गद्यानुवाद रहेंगे। महाभारत, भागवत, रामायण आदिकी चुनी हुई सूक्तियाँ सानुवाद रहेंगी। हिंदू-संस्कृति, संस्कृतिका स्वरूप तथा आचार, संस्कृति और धर्म, संस्कार, ज्ञान, भक्ति, योग, कर्म, अवतार, पुनर्जन्म, परलोकवाद, भूगोल, इतिहास, राजनीति, वर्णाश्रमधर्म, ज्योतिष, आयुर्वेद, शस्त्रास्त्र-विज्ञान, विविध विज्ञान, अङ्कगणित, मूर्तिकला, स्थापत्यकला, चित्रकला, गन्धर्व-विद्या, मनोविज्ञान, काव्य, व्याकरण, शिक्षा, शासनव्यवस्था, रामराज्य, चौंसठ कला आदि-आदि अनेकों उपयोगी विषयोंपर सुन्दर, सुविचारयुक्त, खोजपूर्ण लेख रहेंगे। सुन्दर सुबोध सद्भावपूर्ण कविताएँ और कहानियाँ भी रहेंगी। इस अङ्कके लिये बहुत ही मननके साथ लेख लिखे-लिखवाये गये हैं। बड़े-बड़े मनीषियोंने सहायता दी है।

लेखोंके अतिरिक्त भगवदवतारोंके, प्राचीन तथा अर्वाचीन महापुरुषों, महात्माओं, संतों, वीरों, देवियों और विद्वानोंके सुन्दर सुपाठ्य चरित्र और सुन्दर रंगीन तथा सादे चित्र भी रहेंगे। इसके सिवा प्राचीन कलाओंके, प्रायः सभी प्रसिद्ध हिंदू-तीर्थोंके, शास्त्रीय देव-मूर्तियोंके, विदेशोंमें प्राप्त हिंदूकला तथा मूर्तियोंके चित्र रहेंगे। कहना अत्युक्ति नहीं होगा कि हिंदू-संस्कृतिके सम्बन्धमें विविध विषयोंकी इतनी बहुमूल्य सामग्री एक स्थानपर हिंदीसाहित्यमें इतने सस्ते मूल्यपर इसी अङ्कमें मिल सकेगी। अङ्क सब प्रकारसे उपादेय, सुन्दर, विचारपूर्ण, संग्रहणीय तथा प्रचार-प्रसारके योग्य होगा एवं गम्भीर तथा सरल दोनों प्रकारकी सामग्री होनेके कारण सभी श्रेणीके लोगोंके कामका होगा।

'हिंदू-संस्कृति-अङ्क'की पृष्ठ-संख्या चित्रोंसमेत लगभग ११०० होगी। इस सालके उपनिषद्-अङ्ककी पृष्ठ-संख्या लगभग ८०० थी। इस हिसाबसे विशेषाङ्कमें ३०० पृष्ठ बढ़ जाते हैं। इतनी तो सामग्री अधिक है। इसके अतिरिक्त बहुत-से चित्र भी सुन्दरता तथा टिकाऊपनके ख्यालसे उत्तम आर्ट पेपरपर छापे जायँगे। आर्ट पेपरका मूल्य बहुत अधिक है। फिर, छपाईके कागजोंके दाम भी पिछले दो सालसे अब बहुत बढ़ गये हैं। प्रेस-कर्मचारियोंका वेतन तथा अन्यान्य खर्च भी बहुत बढ़ा है। इतना सब होनेपर भी डाकखर्चसमेत 'कल्याण'का वार्षिक मूल्य ७।।) ही रक्खा गया है। इसमें ।) तो रजिस्ट्रीके चले जायँगे और वजन बढ़ जानेसे स्टाम्प अधिक लगेंगे सो अलग। ७।।) में ही 'हिंदू-संस्कृति-अङ्क' तथा ग्यारह महीनोंके ग्यारह साधारण अङ्क सदाकी भाँति मिलेंगे। इस दृष्टिसे यह अङ्क बहुत सस्ता रहेगा।

गत वर्ष 'नारी-अङ्क' और इस वर्ष 'उपनिषद्-अङ्क'के लिये बीसों हजार ग्राहकोंको निराश रहना पड़ा। इस वर्ष हजारों पुराने ग्राहकोंको वी० पी० नहीं भेजी जा सकी। जिनके रुपये पहले आ गये थे, उनको भेजनेमें ही अङ्क समाप्त हो गये। इस बार तो 'हिंदू-संस्कृति-अङ्क'की माँग बहुत पहलेसे आने लगी

है। इसलिये सम्भव है कि अङ्क निकलनेके बाद वह बहुत जल्दी ही समाप्त हो जाय। जो सज्जन मनीआर्डरसे रुपये भेजकर पहले ग्राहक बन जायँगे, उनको विशेषाङ्क अवश्य मिल जायगा।

अतएव 'हिंदू-संस्कृति-अङ्क' चाहनेवाले पुराने तथा नये ग्राहकोंको वार्षिक मूल्य ७॥) मनीआर्डरसे तुरंत भेजनेकी कृपा करनी चाहिये।

'हिंदू-संस्कृति-अङ्क'की बहुत-सी सामग्री प्रेसमें भेज दी गयी है; परंतु ११०० पृष्ठकी सवा लाख प्रतियाँ छापनेमें बहुत समय लगेगा। अतएव विशेषाङ्क जनवरीके अन्ततक प्रकाशित हो सकेगा। मनी-आर्डर फार्म नवें अङ्कमें भेजा जा चुका है। आर्डर-कूपनमें अपना नाम, पता तथा ग्राहक-नम्बर साफ-साफ अक्षरोंमें लिखना चाहिये। नये ग्राहक हों तो 'नया ग्राहक' अवश्य लिखना चाहिये।

वितरणार्थ 'हिंदू-संस्कृति-अङ्क' खरीदनेवालोंसे निवेदन

हमारे पास ऐसे पत्र आये हैं, जिनमें वितरणके लिये 'हिंदू-संस्कृति-अङ्क'की माँग है। अतः हमारी प्रार्थना है कि जिन महानुभावोंको वितरणके लिये जितने अङ्क चाहिये, वे तुरंत रुपये भेजकर अभीसे अङ्कोंकी संख्या नोट करवा देनेकी कृपा करें। संख्याका ठीक पता होनेपर उतने अङ्क अधिक छापनेका प्रयत्न किया जायगा। ऐसा न होगा तो पीछे वितरणके लिये अङ्क मिलने कठिन हो जायँगे। प्रचारकी दृष्टिसे केवल 'हिंदू-संस्कृति-अङ्क' खरीदनेवाले ऐसे सज्जनोंकी सुविधाके लिये इस एक अङ्कका मूल्य ६॥) रक्खा गया है।

गीताप्रेसके पुस्तक-विभागका प्रबन्ध 'कल्याण'के प्रबन्ध-विभागसे बिल्कुल अलग है इसलिये ग्राहक महोदयोंको न तो 'कल्याण'के रुपयोंके साथ पुस्तकोंके रुपये और न कल्याणके आर्डर-के साथ पुस्तकोंका आर्डर ही भेजना चाहिये। पुस्तकोंके लिये गीताप्रेसके मैनेजरके नाम अलग रुपये भेजने तथा अलग आर्डर लिखना चाहिये, और 'कल्याण'के लिये 'कल्याण'मैनेजरके नाम अलग। दोनोंके आर्डर और रुपये एक साथ भेजनेसे माँग पूरी होनेमें भी देर होती है और व्यवस्थामें भी गड़बड़ी रह जाती है।

व्यवस्थापक—**'कल्याण', पो० गीताप्रेस** (गोरखपुर)

रुपये बीमा अथवा मनीआर्डरसे ही भेजिये

'कल्याण' तथा गीताप्रेसको जो सज्जन रुपया भेजना चाहें, वे पूरी बीमा बेंचकर अथवा मनीआर्डरसे भेजें। सादे लिफाफेमें या रजिस्ट्री-पत्रमें रुपये न भेजें। ऐसे भेजे हुए रुपये रास्तेमें निकल जाते हैं। पहले भी बार-बार ऐसी प्रार्थना की गयी है। कोई सज्जन इस प्रकार रुपये भेजेंगे और वे यहाँ न पहुँचेंगे तो उनकी जिम्मेवारी 'कल्याण' और गीताप्रेसकी नहीं होगी।

व्यवस्थापक—**गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस** (गोरखपुर)

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

कल्याण

वेणुवादनशीलाय गोपालायाहिमर्दिने । कालिन्दीकूललीलाय लोलकुण्डलधारिणे ॥
वल्लवीनयनाम्भोजमालिने नृत्यशालिने । नमः प्रणतपालाय श्रीकृष्णाय नमो नमः ॥

वर्ष २३ } गोरखपुर, सौर मार्गशीर्ष २००६, नवम्बर १९४९ { संख्या ११ पूर्ण संख्या २७६

ध्यानस्थ योगी

ध्यानमें मन इस भाँति लगावे ।
शनैः शनैः अभ्यास बढ़ाकर चितमें उपरति लावे ॥
धृतिगृहीत मतिके द्वारा फिर मन आत्मस्थ बनावे ।
करे नहीं किंचित् भी चिन्तन, आत्माको, बस, ध्यावे ॥
निकल निकल, यह, जहाँ जहाँ अस्थिर चंचल मन जावे ।
वहाँ वहाँसे लौटा, फिर आत्मामें ही ले जावे ॥
निष्कल्मष प्रशान्तचित योगी शान्त-रजस् हो जावे ।
पारब्रह्म सच्चिदानन्दघनमें सो जाय समावे ॥

याद रक्खो—सच्चे संत भगवत्स्वरूप ही होते हैं। भगवान्‌की भाँति संत भी स्वभावसे सब हैं, सत्र उन्हींमें हैं, वे सबमें हैं, सबके हैं और सबसे पृथक् भी हैं। यह सब इसीलिये कि वे भगवान्‌को प्राप्त हैं।

याद रक्खो—सच्चे संत विश्वके आधार हैं, विश्वके आराध्य हैं, विश्वरूप हैं, विश्वकी रक्षा हैं और विश्वकी शोभा हैं। वे धर्मके आधार हैं, धर्मस्वरूप हैं, धर्ममय हैं और धर्मकी रक्षा हैं। उनके द्वारा स्वभावसे ही ऐसी क्रियाएँ होती हैं, जिनसे विश्व तथा धर्मकी रक्षा होती रहती है। इतनेपर भी वे विश्वसे सदा परे होते हैं।

याद रक्खो—संतमें अहङ्कारका लेश भी नहीं होता, इसीसे वे अपने पुरुषार्थसे भगवत्प्राप्तिका दावा नहीं करते। वे भगवत्प्राप्तिमें भगवत्कृपाको ही मुख्य मानते हैं। उनका पुरुषार्थ वस्तुतः भगवत्कृपासे ही संचालित और उससे अभिन्न होता है।

याद रक्खो—संत भगवान्‌की ही भाँति दयाके समुद्र होते हैं, वे स्वभावसे ही सबके सुहृद् होते हैं। उनकी दयामें न कायरता होती है, न ममता; न स्वार्थ होता है, न भय; न कामना होती है, न अभिमान। जैसे सूर्य स्वभावसे ही विश्वको प्रकाश देता है, वैसे ही संत विश्वके प्राणियोंपर दया करते हैं। पर संत बड़े दूरदर्शी या सर्वदर्शी होते हैं। अतः उनकी दया भी परिणामके यथार्थ हितको ही देखती है। इसीलिये संत अत्यन्त मृदुस्वभाव तथा नित्य दयासे द्रवित रहनेपर भी कहीं-कहीं बड़े कठोर-से प्रतीत होते हैं।

याद रक्खो—संत सर्वथा समभावापन्न, समतामय, मूर्तिमान् समत्व ही होते हैं। वे किसीमें कुछ भी आसक्ति न रखते हुए भी सबके प्रति निश्छल प्रेम करते हैं। साधारण मनुष्यको शरीरके चाहे किसी भी अङ्गमें कोई सुख-दुःख हो, जैसे उसकी समान रूपसे अनुभूति होती है; क्योंकि उसकी समस्त शरीरमें अहङ्कार और ममतायुक्त समता होती है। वैसे ही संतकी समस्त जीव-समूहोंमें अहङ्कार और ममतासे रहित स्वाभाविक समता होती है। वे दूसरे समस्त जीवोंके सुख-दुःखोंमें सुखी-दुखी-से होकर प्राणोंकी बलि देकर भी उनके दुःखोंको दूर करते और सुखोंको बढ़ाते हैं। विषयी लोग जहाँ अपने भ्रमात्मक स्वार्थके लिये दूसरेका चाहे जैसा अहित करनेमें भी नहीं सकुचाते, ठीक इसके विपरीत वे संतजन दूसरोंके यथार्थ हितके लिये हँसते-हँसते अपने शरीर तथा जगत्‌के माने हुए सर्वस्वको न्योछावर कर देते हैं। पर अपने ऊपर आये हुए सुख-दुःखकी ओर वे दृष्टिपात ही नहीं करते। उनके ऐसे व्यवहारमें विषमता दीखनेपर भी उनके अंदर नित्य निर्दोष समता रहती है। न तो उन्हें कोई बड़े-से-बड़ा सुख ही विचलित कर सकता है और न भयानक-से-भयानक दारुण दुःख ही।

याद रक्खो—मान-अपमान, स्तुति-निन्दा और लाभ-हानि—सभी द्वन्द्वोंमें संत सम रहते हैं। वे मान, स्तुति तथा लाभमें हर्षसे फूलते नहीं और अपमान, निन्दा तथा हानिमें विषादसे अपने स्वरूपको भूलते नहीं। पर यथायोग्य व्यवहार करनेमें सकुचाते भी नहीं। न तो वे मान, स्तुति और लाभको स्वीकार करनेमें डरते हैं और न अपमान, निन्दा और हानिका प्रतीकार करनेमें ही स्वरूपकी हानि समझते हैं। ऐसा करते हुए भी वे इनसे सदा परे, निर्लिप्त तथा नित्य निर्विकार रहते हैं।

याद रक्खो—संत स्वभावसे ही क्षमा, प्रेम, सन्तोष कल्याण, करुणा और सदाचारकी मूर्ति होते हैं, वे सर्वदा सन्तापहीन, आनन्दमय तथा शान्तिके भण्डार होते हैं और अपने स्वाभाविक आचरणोंके द्वारा जगत्‌के प्राणियोंका सन्ताप हरते हुए उनमें क्षमा, प्रेम, सन्तोष, कल्याण, करुणा, सदाचार, आनन्द और शान्तिका प्रचार, प्रसार और विस्तार करते रहते हैं।

याद रक्खो—संतोंके लिये कुछ भी कर्तव्य या

विधि-निषेध न होनेपर भी वे बड़े कर्तव्यपरायण और विधिका अनुसरण करनेवाले होते हैं। उनमें बसी हुई लोककल्याणकारिणी वृत्ति उनके द्वारा निरन्तर ऐसे कार्य करवाती है जिससे जगत्का कल्याण हो। वे वृत्तियोंसे परे नित्य, स्वरूपस्थित रहते हुए ही सावधान साधककी भाँति सदा शुभ आचरण करते हैं। ग्रहण-त्यागकी परिधिसे परे होते हुए ही शुभका ग्रहण और अशुभका त्याग करते हैं। इसीलिये उनका जीवन अन्य लोगोंके लिये आदर्श होता है।

याद रक्खो—सभी सच्चे संत अंदरसे वस्तुतः ऐसे होनेपर भी सबके बाहरी आचरण ऐसे ही हों,—एक-से ही हों, यह आवश्यक नहीं है।

'शिव'

अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामीजी श्रीब्रह्मानन्दजी सरस्वतीका उपदेशामृत

१–अनित्य और क्षणिक सुखमय संसारमें ऐसे कर्म करने चाहिये जिनसे नित्यसुखराशि भगवान्की प्रसन्नता प्राप्त हो।

२–भगवान्के आज्ञारूप वेदादिशास्त्रद्वारा प्रतिपादित कर्म, उपासना तथा ज्ञानसे ही लोक और परलोकमें कल्याण होता है।

३–साधिकार सविधि और भगवदर्पण बुद्धिपूर्वक किये हुए कर्म बलशाली होते हैं। कर्मोंके विधानका ज्ञान वेदशास्त्र और धर्माचार्योंसे होता है।

४–मनमाने उच्छृङ्खल (शास्त्रविरुद्ध) कर्मोंसे संसारमें अशान्ति और अव्यवस्था होकर दैवी उत्पात बढ़ते हैं और प्रजा दुःख पाती है।

५–धर्मका आचरण न करनेसे अन्तःकरणमें काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह आदि आन्तरिक शत्रुओंका अभ्युदय होकर मनुष्य दुराग्रही, दुराचारी और हिंसक बन जाते हैं।

६–आचार्य-प्रदर्शित सरल वैदिक मार्गका त्याग करनेसे मनुष्य संसारके नाना झंझटोंमें पीसा जाता है और उसका जीवन अशान्त एवं दुःखमय हो जाता है।

७–अधिकारानुसार सन्ध्यावन्दन, इष्ट-मन्त्रका जप-ध्यान, पञ्चमहायज्ञ तथा संस्कारादि नित्य-नैमित्तिक कर्म मनुष्यको सदाचारी बनाते हैं, मनको स्थिर करते हैं और भगवान्के समीप पहुँचाते हैं। स्वाध्यायके द्वारा ऋषियज्ञ, हवनके द्वारा देवयज्ञ, श्राद्धके द्वारा पितृयज्ञ, अतिथिसत्कारके द्वारा नृयज्ञ और बलिवैश्वके द्वारा भूतयज्ञ करना चाहिये—यही नित्य-के पञ्चमहायज्ञ हैं।

८–शुद्ध सात्त्विक आहार करनेसे बुद्धि बढ़ती है और इन्द्रियोंपर अधिकार रहता है। जितेन्द्रिय मनुष्यके लिये संसारमें कोई भी कार्य असाध्य नहीं रहता।

९–अपने गौरवको सदा जाग्रत् रखकर अपने विचारोंको शास्त्रसम्मत उदार और उन्नत बनाना चाहिये और अपने उपास्यदेवको सर्वत्र परिपूर्ण व्यापक देखना चाहिये। अपने इष्टको साम्प्रदायिक दृष्टिकोणसे परिच्छिन्न देखनेसे उपासक भी अपूर्ण ही रह जाता है।

१०–परमात्मोन्मुख रहकर स्वधर्मपालन करते हुए समयकी गतिविधिपर भी ध्यान रखना चाहिये। वर्तमान परिवर्तनकारी समयमें अपने धर्म, सभ्यता और संस्कृतिकी रक्षाके लिये संघटित होकर सचेष्ट रहना आवश्यक है। वर्तमान समय बहुमतका समय है, इसलिये अपने धार्मिक संघटनोंको व्यापक बनानेका प्रयत्न होना चाहिये, तभी वर्तमान कालकी वक्रदृष्टिसे हिंदूसमाज अपनी रक्षा कर सकेगा। प्रत्येक हिंदूका यह अपने प्रति सामयिक कर्तव्य है कि वह अपने स्थानीय धार्मिक संघटनको धर्मसंघ आदि अखिल भारतवर्षीय धार्मिक संस्थाओंसे सम्बद्ध करके उसे बलवान् बनाये।

११–हिंदूकोड आदि अधार्मिक बिलोंके विरुद्ध तथा गोहत्या-निषेधके लिये सामूहिक बल लगाना चाहिये।

१२–राष्ट्रको बलशाली बनानेके लिये दैवीशक्ति सम्पादन करनी चाहिये। सूक्ष्म दैवी सत्ता ही समस्त स्थूल जगत्की नियामिका है। बिना उसकी सहायताके न राष्ट्र ही बलवान् हो सकता है और न सुख-शान्तिका अनुभव हो सकता है।

१३–राष्ट्रकी उन्नति दैवीसम्पत्-सम्पन्न सदाचारी पुरुषोंके द्वारा ही होती है।

१४–गुरुजनोंमें पूज्यभाव, दीन-दुखियोंपर दया और दूसरोंका उत्कर्ष देखकर प्रसन्नता होनी चाहिये एवं परस्पर सद्भावना रखते हुए स्वधर्मानुष्ठानद्वारा विश्वकल्याणमें दत्तचित्त रहना चाहिये।

वीतराग महात्मा श्रीसेवारामजी महाराजके उपदेश

१. जो पुरुष मन, इन्द्रियाँ, शरीर आदिका संयम करके भजन करते हैं, उनका भजन बहुत कीमती होता है। भजनका प्रत्यक्ष लाभ नहीं दीखता, इसमें इनके संयमकी कमी ही प्रधान कारण है। श्रीमद्भागवत (११।१६।४३) में लिखा है—

यो वै वाङ्मनसी सम्यगसंयच्छन्धिया यतिः।
तस्य व्रतं तपो दानं स्रवत्यामघटाम्बुवत्॥

जब व्रत, तपस्या और ज्ञानवालोंका व्रत, तप, ज्ञान भी वाणी-मनका पूर्णतया संयम न करनेसे, कच्चे घड़ेमें भरे हुए जलके समान क्षीण हो जाता है, तब दूसरोंकी, जिनके व्रत, तप, ज्ञान नहीं हैं उनकी, तो बात ही क्या है। अतः इनका संयम करके भजन करना चाहिये।

२. लोगोंको शरीरकी सुन्दरता बहुत दुःख देती है, विचार करनेसे माल्रम होता है कि इसमें सुन्दरताका लेशमात्र भी नहीं है। वरं यह महान् गंदगीका पिटारा है। स्वास्थ्य-सम्बन्धी पुस्तकोंमें अस्थिपञ्जरका चित्र तथा अस्पतालोंमें अस्थिपञ्जरकी मूर्ति बार-बार देखकर यह विचारना चाहिये कि इसमें सुन्दरता है ही नहीं। इसमें तो केवल मांस, हड्डी, मल, मूत्र, खून आदि अपवित्र वस्तुएँ हैं और उनके ऊपर चमड़ा चढ़ाया हुआ है। इसकी इस भयानक सुन्दरताको बार-बार याद करना चाहिये।

३. दयामय भगवान्ने महती कृपा करके एक विचित्र आविष्कार किया है—वह है गीता अ० ९ के २७, २८ वें श्लोक। 'जो कुछ भी करो, खाओ, हवन करो, दान दो, तप करो—सब मेरे अर्पण कर दो। इसीसे तुम्हारा कर्म-बन्धनसे छुटकारा हो जायगा और तुम मुझ सच्चिदानन्दघन नित्यानन्दस्वरूपको प्राप्त हो जाओगे।' ऐसी दया भगवान्के सिवा और कौन कर सकता है।

४. नित्य सबेरे और शाम भगवान् तथा उनके भक्तोंको नमस्कार करना चाहिये। जैसे शेषजी और बलिको पातालमें, गन्धमादन पर्वतपर नर-नारायणको, महेन्द्राचलपर परशुरामजीको, कैलाशपर श्रीशंकरजीको एवं सनकादि, नारद आदि ब्रह्मलोकपर्यन्त जितने भी भक्त अपनेको याद हों——सबको नमस्कार करें। वर्तमानमें जिनको आप भक्त मानते हों, उनको भी मानसिक नमस्कार करना चाहिये। यह नमस्कार पाँच-दस मिनट या इससे अधिक समयतक लगातार बिना व्यवधान करते रहना चाहिये।

नमस्कारसे रामदास कर्म सभी कट जाय।
जाय मिले परब्रह्ममें आवागमन मिट जाय॥

यह साधन बड़ा ही लाभदायक है।

ब्रह्मज्योति

जागै जबै ब्रह्म-ज्योति मानुषके मानसमें
दिव्य तेज पाय जीव आनँद मनावै है।
आतमाकौं ढारि परमातमाके रूप माँहि
मुक्ति पाय नर तबै अमर कहावै है॥
साँचो अनुरागी तौ न निपट विरागी जौन
एक लव लागी ताहि ओर नित धावै है।
जगके प्रपंचनितैं पावै तबै पार जीव
एक दिव्य रेख जबै अन्तसमें आवै है॥

—श्रीरूपनारायण चतुर्वेदी

प्रभुके साथ सम्पर्क

किसी भी भावसे हम प्रभुकी ओर मुड़ें हमारा परम कल्याण ही होगा। यदि हम अपने स्वरूपको जानकर, प्रभुके साथ हमारा जो सम्बन्ध है, उसे समझकर हम उनकी ओर बढ़ें तो सर्वोत्तम बात है ही; किंतु यह सब कुछ भी न जानकर किसी सांसारिक दुःखसे ही व्याकुल हुए, उस दुःखसे त्राण पानेकी इच्छासे ही अथवा किसी लौकिक अभीष्ट वस्तुकी प्राप्तिको ही उद्देश्य बनाकर हम उन्हें अपने मनमें स्थान देने लगें, तब भी हम एक-न-एक दिन उनसे अवश्य जा मिलेंगे। इसमें तनिक भी संदेहके लिये स्थान नहीं है।

आजके युगमें, जब कि हमारा मानसिक धरातल अत्यन्त नीचा हो गया है, अतिशय संकुचित विचारोंसे हमारा मन भरा हुआ है, हम यह आशा करें कि हमको पहले अपने स्वरूपका ज्ञान हो जाय, प्रभुके साथ अपने सम्बन्धका भान होने लग जाय, तब इसके बाद हम जड जगत्से ऊपर उठकर, निष्काम होकर केवल प्रेमके लिये ही प्रभुसे प्रेम करें, भजनेके लिये ही उन्हें भजें, तो यह आशा केवल दुराशामात्र सिद्ध होगी। ऐसा हो जाय, यह कौन नहीं चाहेगा। प्रभुकी उपासनाका, भजनका, प्रार्थनाका आदर्श तो यही है। पर सर्वसाधारणके लिये इस आदर्शका अनुसरण सम्भव दीखता जो नहीं। कहनेको तो हम हजारों ऐसे हैं जो आत्मज्ञानी होनेका दम भरते हैं, किंतु हजारोंमेंसे किसी एकको भी वास्तवमें स्वरूपज्ञान है या नहीं, यह कहना कठिन है। क्योंकि यदि सचमुच ही स्वरूपज्ञान हो गया होता तो हममेंसे प्रायः एक-एककी ऐसी भेड़ियाधसान-गति, सर्वथा नीचेकी ओर—अधिक-से-अधिक केवल सांसारिक सुख ही बटोरनेकी ओर प्रवृत्ति कदापि न होती। अपने इस शरीरको आराम देनेके पीछे, अथवा शारीरिक कष्ट उठाकर भी अपने इस कल्पित नामकी झूठी ख्याति समाजमें, देशमें, संसारमें फैलानेके पीछे हम पागल-से नहीं बन गये होते। स्वरूपका ज्ञान होने पर यह संभव ही नहीं कि एक ओर तो हम धर्माचरण करनेका, दान-पुण्य करनेका, देश-सेवा तथा समाज-सेवा करनेका, गरीब-दुखियोंको सुख पहुँचानेका, तीर्थसेवनका और ईश्वरभक्तिसम्बन्धी विविध कर्मोंका अभिनय करें तथा दूसरी ओर धन बटोरनेके जितने भी अन्यायपूर्ण, पापपूर्ण साधन हैं, उनमें घृणा, लज्जा आदि सर्वथा छोड़कर उन सबको सदा अपनाये रक्खें। विश्वविद्यालयकी दार्शनिक कक्षाओंमें, वेदान्तकी पाठशालाओंमें आत्माके स्वरूपपर विचार कर लेना, पाठ पढ़ लेना तथा भरी सभामें जनताके समक्ष आत्मज्ञानकी महत्ता और त्यागकी प्रशंसाके पुल बाँधते हुए मनोरञ्जक सुन्दर-से-सुन्दर प्रवचन कर देना सहज है। ऐसा मौखिक स्वरूप-ज्ञान, शास्त्रीयज्ञान और दिखाऊ वैराग्य तो हममेंसे बहुतोंको है। परंतु यहाँ प्रस्तुत प्रसङ्गमें ऐसे ढुलमुल, कथन-मात्रके ज्ञान-वैराग्यसे तात्पर्य नहीं है। यहाँ तो उस यथार्थ स्वरूपज्ञानसे मतलब है, जिसके आलोकमें बुद्धि यह दृढ़ निश्चय कर लेती है, मन सचमुच यह स्वीकार कर लेता है—

> **जन्माद्याः षडिमे भावा दृष्टा देहस्य नात्मनः।**
> **फलानामिव वृक्षस्य कालेनेश्वरमूर्तिना॥**
> **आत्मा नित्योऽव्ययः शुद्ध एकः क्षेत्रज्ञ आश्रयः।**
> **अविक्रियः स्वदृग् हेतुर्व्यापकोऽसङ्ग्यनावृतः॥**
>
> (श्रीमद्भा० ७। ७। १८-१९)

जन्म, अस्तित्वकी प्रतीति, वृद्धि, परिणाम, क्षय और विनाश—ये छः विकार देहके हैं, देहमें ही दीखते हैं; ये आत्मामें नहीं हैं। आत्मासे, हमारे स्वरूपसे इनका कोई सम्बन्ध नहीं है। जैसे काल भगवान्की प्रेरणासे वृक्षोंमें प्रतिवर्ष फल लगते हैं, फलोंके अस्तित्वका अनुभव होता है, वे बढ़ते हैं, पकते हैं, क्षीण होते हैं और फिर नष्ट हो जाते हैं, वृक्ष ज्यों-का-त्यों सदा बना

रहता है, वैसे ही जन्मसे लेकर मृत्युपर्यन्त छहों विकार देहके ही होते हैं, आत्माके नहीं, आत्मा तो सदा एक-रस बना रहता है।* इस प्रकार शरीरके धर्मोंकी दृष्टिसे तो आत्मा विलक्षण है ही, स्वरूपगत धर्मोंके कारण भी वह शरीरसे सर्वथा भिन्न है। आत्मा नित्य है, उत्पत्ति-विनाशरूप दो विकारोंसे रहित है, पर यह शरीर अनित्य है, उत्पत्ति-विनाशयुक्त है; आत्मा अव्यय है, क्षय नामक विकारसे रहित है और शरीर क्षयसे युक्त है; आत्मा अविक्रिय—अस्तित्व, वृद्धि, परिणाम, इन तीनों विकारोंसे भी सर्वथा रहित है, शरीर इन तीनों विकारोंसे युक्त है; आत्मा शुद्ध है, शरीर मलिन है; आत्मा एक है, शरीर अनेक; आत्मा क्षेत्रज्ञ—ज्ञाता है, शरीर जड़ क्षेत्र है; आत्मा आश्रय है, शरीर उसके आश्रित है; आत्मा स्वयंप्रकाश है, शरीर है परप्रकाशित; आत्मा कारण है, शरीर कार्य है; आत्मा व्यापक है, शरीर व्याप्य है; आत्मा असङ्ग है, शरीर संसक्त है; और आत्मा निरावरण है एवं शरीर है आवरणरूप।'

—ऐसा निश्चय, ऐसी स्वीकृति हो जानेपर, आत्माके उपर्युक्त बारह उत्कृष्ट लक्षणोंको सचमुच हृदयङ्गम कर लेनेपर अनिवार्य परिणाम यह होता है कि देह आदिमें अज्ञानजनित 'मैं' एवं 'मेरा' जो मिथ्या भाव हैं, उन्हें हम छोड़ देते हैं, छोड़ ही देना चाहिये—

एतैर्द्वादशभिर्विद्वानात्मनो लक्षणैः परैः।
अहंममेत्यसद्भावं देहादौ मोहजं त्यजेत्॥
(श्रीमद्भा० ७।७।२०)

शरीर आदिमेंसे 'मैं' 'मेरा' निकालने भरकी देर है। फिर तो प्रभुके साथ हमारा जो नित्य सम्बन्ध है, उसका ज्ञान भी हमें उसी क्षण स्पष्ट हो जाता है। इसके बाद अनन्त लीलामय प्रभुकी इच्छासे हमारे लिये दो मार्ग बन जाते हैं। या तो प्रभुका चिदानन्दसिन्धु उमड़ता है, उसमें भक्तिरसकी बाढ़ आ जाती है और उसमें डूबकर हम कृतार्थ होते हैं। शास्त्रीय भाषामें इसे भक्तिनिष्ठाका मार्ग कहते हैं। अथवा प्रभुकी चिदानन्द-ज्योति हमारे कण-कणको उद्भासित कर हमें आत्मसात् कर लेती है। उससे एक होकर उसीमें हम सदाके लिये विलीन हो जाते हैं। यह ज्ञाननिष्ठाका पथ है। अस्तु,

स्वरूपज्ञान, इस ज्ञानका आनुसंगिक फल देहादिमें 'मैं' 'मेरा' इन मिथ्याभावोंका नाश, प्रभुके साथ अपने सम्बन्धका स्फुरण, फिर भक्ति या ज्ञानका प्रादुर्भाव—यह एक क्रम हुआ। अब हम सोचकर देखें, स्वरूपज्ञानसे आगेकी तो बात दूर, मन-बुद्धिमें सचमुच उतरा हुआ ऐसा स्वरूपज्ञान भी हममेंसे कितनोंको है? कहना पड़ेगा कि ऐसे इने-गिने उदाहरण ही मिलेंगे। किंतु इसे भी जाने दें, इतनी गम्भीरतासे इतने सूक्ष्म विचारके उपरान्त आत्मस्वरूपका निश्चय करके उसमें स्थित होनेकी बात छोड़ दें। केवल सरल विश्वास-मूलक स्वरूपज्ञान भी कितनोंको है, यह देखें। 'हम देह नहीं, प्रभुके सनातन अंश हैं, उनके चिदानन्द-सागरकी एक बूँद हैं, उनसे मिलनेका हमारा नित्यसिद्ध अधिकार है। उनसे मिलकर ही हम कृतार्थ हो सकेंगे' इतना-सा ज्ञान भी हममेंसे कितने व्यक्तियोंके पास है? शास्त्रको पढ़कर, अनुभवी पुरुषोंसे सुनकर इतना-सा विश्वास करनेवाले भी हम आज कितने हैं? वर्तमान भूगोलपर हम जितने मनुष्य हैं, उनमें कितने ऐसे हैं, जो प्रभुकी उपासनाको आवश्यक कर्तव्य अनुभव करते हैं? उपासनाके लिये ही हम उपासना करें, किसी कामनासे प्रेरित होकर नहीं, ऐसी मान्यता, यह सिद्धान्त कितने मनुष्योंका है? विचार करनेपर यही निर्णय होगा कि ऐसे पुरुषोंकी संख्या बहुत ही कम है। अतएव इस परिस्थितिमें श्रेयस्कर मार्ग यही है कि जिस-किसी भी

* वृक्षसे आत्माकी तुलना भी यहाँ आंशिक रूपसे ही समझनी चाहिये। क्योंकि वास्तवमें तो वृक्ष भी षड्विकार-युक्त हैं और आत्मा है सर्वथा विकाररहित। आत्माकी तुलनाके योग्य तो असलमें अन्य कोई वस्तु ही नहीं है।

भावसे हो, एक बार हम प्रभुकी ओर झुकें। एक बार उन्हें अपने मनमें स्थान दें तो सही। किसी भी निमित्तसे यदि वे एक बार हमारे मनमें आ गये तो अपने आलोक-की अमिट छाप तो वे छोड़ ही जायँगे। और क्या पता उनकी यही क्षुद्र-सी ज्योति किसी अनुकूल वातावरणका आधार पाकर ऐसी चमक उठे कि हमारा सारा अन्धकार सदाके लिये दूर हो जाय, हम अज्ञान-निद्रासे जग उठें तथा जीवन कुछ-से-कुछ हो जाय।

आज सर्वत्र दुःख-दैन्यकी भरमार है। लाखोंमें शायद ही एक व्यक्ति ऐसा मिलेगा जो छातीपर हाथ रखकर यह कह सके कि 'मुझे कोई दुःख नहीं'। अन्यथा कुछ-न-कुछ दुःख सबके पीछे लगा है। शरीर व्याधिसे ग्रस्त है, पुत्र-कलत्र, बन्धु-बान्धवमेंसे कोई-न-कोई मनके प्रतिकूल है, धनका अभाव है, सम्मान नहीं मिल रहा है। हमारा देश दरिद्र है, जगत्का सुधार कैसे हो—ऐसे न जाने कितने कारण हैं कि जो हमें दुखी बनाये रखते हैं। इन दुःखोंसे छूटनेके लिये हम कम प्रयास करते हों, यह बात भी नहीं। अपनी जितनी शक्ति है, सब खर्च कर देते हैं। फिर भी दुःखोंसे मुक्त नहीं हो पाते। कहीं एक मिटता है, तो दो नये खड़े हो जाते हैं। अब कदाचित् इन दुःखोंसे त्राण पानेके लिये भी हम प्रभुकी ओर मुड़ सकते, तो भी निहाल हो जाते। पर यह भी हम नहीं करते। शरीर रुग्ण होनेपर डाक्टर-वैद्योंके पीछे अनाप-शनाप धन खर्च करेंगे, उनकी बतायी हुई ओषधियोंका आँख मूँदकर सेवन कर लेंगे, किंतु एक बारके लिये भी यह मनमें नहीं आता कि सच्चे मनसे सरल विश्वासके साथ उन प्रभुको तो पुकार कर देखें कि जिन प्रभुके अनन्त ज्ञानसागरकी एक बूँदसे विश्वमें ज्ञानका सञ्चार होता है; जगत्में जितने डाक्टर-वैद्य थे, हैं और होंगे, उन सबमें रोग-निदान करनेका समस्त ज्ञान, जिनके उस बिन्दुमात्र ज्ञानसे ही आता है, जिनकी अपरिसीम शक्तिके एक क्षुद्र कणसे ही जगत्की समस्त ओषधियोंमें रोग-नाश करनेकी शक्ति आती है, उन प्रभुके प्रति तो हम विश्वास नहीं कर पाते, और डाक्टर-वैद्योंपर, ओषधियोंपर विश्वास कर लेते हैं। कई बार तो हम अपने इस अविश्वासको भ्रमवश अपनी निष्कामताका स्वाँग दे देते हैं, कह बैठते हैं कि 'प्रभुसे रोगमुक्तिके लिये प्रार्थना क्या करें, उसके लिये तो प्रभुने ओषधि-सेवनका विधान किया ही है'। बात भी ठीक है। पर यह बात तो उन्हें शोभा देती है कि जिनका जीवन सचमुच सर्वथा प्रभुको समर्पित हो चुका है, जिनके व्यावहारिक जीवनमें अनाचार-दुराचारकी छाया भी नहीं है, जो कभी किसी भी परिस्थितिमें प्रभुसे कुछ भी याचना नहीं करते। किंतु जब हमारा जीवन पापोंसे पूर्ण है, पद-पदपर हम अपने व्यवहारमें अवैध उपायोंका आश्रय ग्रहण करते हैं, प्रभुकी बाँधी मर्यादाको तोड़ते हैं, तब यह आदर्शवाद हमारे लिये क्या मूल्य रक्खेगा? जो हो, हमारा अविश्वास ही हमें प्रभुके सम्मुख जानेसे रोकता है। इसी प्रकार धनके लिये, मानके लिये अपनी अभीष्ट वस्तुको प्राप्त करनेके लिये हम जगत्की खाक छान डालेंगे, जो कभी नहीं करना चाहिये, यह सब करनेमें तनिक भी सङ्कुचित नहीं होंगे, बुरे-से-बुरे अनाचार और निषिद्ध आचरणका आश्रय ले लेंगे; पर यह सारा जगत् जिनके अनन्त वैभवके किसी क्षुद्र अंशकी छायामात्र है, उन प्रभुके द्वारपर जानेका विचार-तक मनमें उदय नहीं होगा। इसे हम इस युगका अभिशाप कहें, या अपनी बुद्धिकी जडता! कुछ भी कहें—आज हमारी दशा तो यही हो रही है!

अब जैसे भी हो, इस पतनके गड्ढेसे हमें ऊपर उठना है। जितना शीघ्र चेत जायँ, उठ जायँ, उतना ही कल्याणकर है। अन्यथा हमारे दुःख घटनेके बदले दिनोंदिन अधिकाधिक बढ़ते ही जायँगे। जबतक निरामय प्रभुकी शक्तिको हम स्पर्श नहीं करेंगे, तबतक

हमारे रोग मिटनेके ही नहीं हैं, भले ही हजारों अस्पताल खुल जायँ, सैकड़ों नवीन ओषधियोंका आविष्कार हो जाय। जबतक हमारा मन प्रभुकी एकरस, अखण्ड शान्तिको किसी भी अंशमें छूने नहीं लगेगा तबतक यहाँके समस्त साधन हमारे हृदयकी ज्वाला मेटनेमें व्यर्थ ही सिद्ध होंगे।

ओषधियोंका, चिकित्साका, जागतिक साधनोंका विरोध नहीं है। क्योंकि वे भी तो भगवान्‌से ही आये हैं। उनकी भी अपने स्थानपर उपयोगिता है ही। उनकी सहायता लेनी चाहिये। किंतु उसीके साथ-साथ हम ऐसी चिकित्सा क्यों न करें, जो यहाँके समस्त रोगोंपर, दुःखोंपर तो अव्यर्थ सिद्ध हो ही, लगे हाथ हमारे भवरोगको भी शान्त कर दे, अनादिकालसे हम जो जल रहे हैं, उस जलनको भी मिटाकर हमें स्थायी, शाश्वती शान्ति प्रदान कर दे। हमारे ज्योतिहीन नेत्रोंमें श्रद्धाकी ज्योति भर दे, जिससे हमारे इस जीवनमें तथा जीवनके उस पार भी—सर्वत्र सदाके लिये उजाला हो जाय। सचमुच ही यदि रोगों—दुःखोंसे त्राण पानेके उद्देश्यसे ही ऐसे प्रत्येक अवसरपर ही—यदि हम प्रभुको पुकारें, सरल विश्वास-के साथ, एकान्त मनसे उनकी सहायताका आवाहन करें तो हमारा यहाँका रोग-दुःख तो मिट ही जाय, बिना ओषधि किये, बिना कुछ प्रयत्न किये ही मिट जाय, साथ ही हमारे अंदर प्रभुके प्रति श्रद्धाका भी उन्मेष होने लगे और यह श्रद्धा निरन्तर बढ़ती ही जाय। इतना ही नहीं, अन्तमें कभी किसी दिन अनादि अज्ञानसे मुँदी हुई हमारी आँखें भी खुल जायँ, मोह-निद्रा टूटकर हमें यह अनुभव होने लगे कि यहाँ तो जगत् नामक कोई वस्तु असलमें है ही नहीं, हैं केवल एकमात्र प्रभु और है उनकी आनन्दमयी लीला तथा यह अनुभव करके हम सदाके लिये सुखी हो जायँ।

आजसे पंद्रह वर्ष पहलेकी एक सच्ची घटना है। १९३४ ई० की बात है। पोर्ट्स माउथ नगरके मिस्टर आलफ्रेड जी. सरले (Mr. Alfred G. Searle नामक सज्जनकी आँखोंमें ग्लूकोमा (Glaucoma) नामक रोग हो गया। आँखका यह एक भयङ्कर रोग है, जो सहजमें अच्छा नहीं होता। आँखके सर्जनने उन्हें बताया कि यदि तुरंत चीरा लगाया जाय तो शायद थोड़ी-सी रोशनी बच सकती है। पर यदि चीरा लगनेमें तनिक भी देर की गयी तो आप सर्वथा अंधे हो जायँगे। इतना ही नहीं, इतनी भयङ्कर पीड़ा शुरू हो जायगी कि आँखोंको निकाल देनेपर ही वह शान्त होगी। किंतु मिस्टर सरलेने चीरा लगवाना स्वीकार नहीं किया। वे प्रभुके दृढ़विश्वासी थे, उनका विश्वास था कि प्रभु मेरी आँखोंको बिना चीरा लगाये ही अवश्य ठीक कर देंगे। सर्जनके निदानमें तो भूलकी कोई सम्भावना थी ही नहीं। ग्लूकोमा रोगके लक्षण इतने स्पष्ट होते हैं कि आँखका साधारण डाक्टर भी उसे देखकर निश्चितरूपसे निदान कर सकता है। यहाँ भूल-की, मतभेदकी जगह नहीं रहती। अतः मिस्टर सरलेके लिये सर्जनके निदानपर संदेह करनेका कोई कारण न था, रोगकी भयङ्करताको वे समझ गये थे। फिर भी उनका विश्वास प्रभुपरसे हिला नहीं, और सर्जनसे यह कहकर कि आगामी शुक्रवारको आपसे मिलूँगा—वे लौट आये। जो हो, गुरुवारके प्रातःकालतक तो आँखोंमें कोई सुधार नहीं हुआ। किंतु मिस्टर सरलेके विश्वासमें तनिक भी शिथिलता नहीं आयी। 'मेरे नेत्रोंकी ज्योति पुनः लौट ही आयेगी, प्रभु मुझे निराश नहीं करेंगे।' उनकी यह भावना ज्यों-की-त्यों बनी रही। आखिर प्रभुके प्रति ऐसे विश्वासका जो फल होना चाहिये, वह हुआ ही। गुरुवारकी रात ढलते-न-ढलते उनकी आँखें सर्वथा चमत्कारपूर्ण ढंगसे बिल्कुल ठीक हो गयीं। नेत्रोंकी पूरी ज्योति लौट आयी; यहाँतक कि दीवालपर टँगे कलेंडरके बहुत छोटे अक्षरोंको भी वे स्पष्ट पढ़ सकते थे। अस्तु—

जिस प्रकार मिस्टर सरलेकी आँखें बिना चीरा लगाये ही, बिना किसी उपचारके ही, क्षणोंमें प्रभुने ठीक कर दीं, वैसे ही वे औरोंकी आँखें ठीक कर सकते हैं, किसीका भयङ्कर कैंसर मिटा सकते हैं, कुष्ठ दूर कर सकते हैं, यक्ष्मा आराम कर सकते हैं, ज्वरकी ज्वाला शान्त कर सकते हैं, संग्रहणी हर ले सकते हैं, जितने रोग हैं, सबसे मुक्त कर सकते हैं। कर तो सकते हैं, पर करते नहीं, यह बात भी नहीं। जहाँ विश्वासपूर्वक कोई उनसे यह करवाना चाहता है, वहाँ अवश्य-अवश्य वे करते हैं। ऐसी घटनाएँ एक नहीं, अनेक—ऊपर वर्णित घटनाकी अपेक्षा भी बहुत अधिक चमत्कारपूर्ण एवं विस्मयमें डाल देनेवाली घटनाएँ आज भी—जहाँ प्रभुके प्रति संशयहीन विश्वास है वहाँ—घटित होती हैं। यह बात दूसरी है कि हमारी श्रद्धाहीन आँखोंके सामने वे व्यक्त न हों, हमें सुननेतकको भी वे न मिलें। हमें अवकाश ही कहाँ है कि ऐसी घटनाओंको ढूँढ़ें, देखें, पढ़ें, सुनें और पक्ष छोड़कर उनपर विचार करें, मनन करें ? कदाचित् कभी कोई सुन भी लेते हैं तो उसे अपने मनोविज्ञानके अधूरे ज्ञानपर कसकर 'यह तो इच्छाशक्ति (Willpowe! का चमत्कार है' यह फतवा दे बैठते हैं। इस इच्छाशक्तिके भी मूल उद्गम प्रभु, प्रभुकी अपरिसीम शक्ति, उनकी शक्तिके अगणित असंख्य चमत्कारोंकी ओर हमारा ध्यान ही नहीं जाता। जो हो, यहाँ तो तात्पर्य इतनेसे ही है कि रोग-दुःखसे त्राण पानेके लिये यदि हम प्रभुको पुकारें तो वे अवश्य सुनते हैं। इस निमित्तसे भी यदि हम उनकी ओर ताकें, उन्हें अपने मनमें उतरने दें तो हमारा बड़ा कल्याण हो। अन्य समस्त चिकित्सा, उपचार जहाँ व्यर्थ हो जाते हैं, वहाँ प्रभुकी सहायता चमत्कार उत्पन्न कर देती है। प्रभुकी यह सहायता हमें केवल इच्छित फल देकर ही समाप्त नहीं हो जाती है, हमारे अंदर एक अमिट संस्मरण छोड़ जाती है। यह संस्मरण हमारे परम कल्याणका बीज बन जाता है। अनुकूल साधन मिलते जायँ तो यह बीज शीघ्र अङ्कुरित, पल्लवित, पुष्पित होकर फल देने लग जाय। पर हम कहीं प्रभुके इस उपकारको भूल जायँ—और अधिकांशमें यही होता भी है—तो भी इस बीजका नाश नहीं होता, यह भीतर-ही-भीतर हमारे अंदर कुछ-न-कुछ काम करता ही रहेगा; कम-से-कम इतना काम तो यह करेगा ही कि पुनः अन्य दुःख-विपत्तिके अवसरपर प्रभुकी सहायता माँगनेके लिये स्फुरणा उत्पन्न कर देगा। यह क्या कम है ? पथ भूले हुएको गन्तव्यपथका सङ्केत कर देना कितनी बड़ी सहायता है !

जैसे रोगसे छूटनेकी बात है, वैसे ही अन्य अभीष्ट वस्तुकी प्राप्तिके लिये भी हम प्रभुकी सहायता लेकर अपने कल्याणका पथ विस्तृत कर सकते हैं। यह स्मरण रखनेकी बात है कि अतिशय पवित्र, परम उत्कृष्ट, ऊँचा-से-ऊँचा भाव रखनेवाला एक मनुष्य—

न कामयेऽहं गतिमीश्वरात्परा-
मष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा।
आर्तिं प्रपद्येऽखिलदेहभाजा-
मन्तःस्थितो येन भवन्त्यदुःखाः॥

(श्रीमद्भा० ९। २१। १२)

'मैं प्रभुसे अष्टसिद्धियोंसे युक्त परम गति नहीं चाहता, वे मुझे त्रिविध दुःखसे मुक्त कर दें, यह कामना भी उनसे नहीं करता। मैं तो इतना ही चाहता हूँ कि विश्वके समस्त प्राणियोंके हृदयमें स्थित हो जाऊँ, और फिर उनका सारा दुःख मैं ही भोगूँ, सबका दुःखभार मुझपर आ जाय, जिससे और सभी दुःखसे त्राण पा जायँ, कहीं किसीको कोई दुःख रहे ही नहीं।'

—इस प्रकारका परम शुभ, आदर्श विचार रखनेवाला व्यक्ति प्रभुके लिये जितना स्नेहपात्र है, उतना ही स्नेहपात्र वह व्यक्ति है जो उनसे विश्वासपूर्वक यह माँग रहा है—'नाथ! अमुक ऑफिसमें मुझे सौ रुपयेवाला स्थान

दिला दो।' दोनोंपर ही प्रभुकी ओरसे तो अपरिसीम स्नेहकी वर्षा हो रही है। प्रभुके लिये यह कदापि सम्भव नहीं कि पहलेका सम्मान करें और दूसरेकी उपेक्षा। पहला ऊँचा और दूसरा क्षुद्र—यह अन्तर तो हमारी दृष्टिमें है। प्रभुकी दृष्टिमें तो दोनों ही उनके हृदयके टुकड़े हैं, दोनोंके रूपमें वे ही वे हैं। हाँ, ऐसा तो कह सकते हैं कि पहला तो प्रभुकी स्नेह-धारामें बहकर अपनी यात्रा समाप्त करके प्रभुके आनन्दरससिन्धुमें निमग्न होनेके लिये तटके अत्यन्त समीप पहुँचा हुआ उनका प्रौढ़ पुत्र है एवं दूसरा उनकी स्नेहभरी गोदमें खेलनेवाला अबोध शिशु है जो उनकी ठोड़ी पकड़कर उनसे मिट्टीका एक खिलौना माँग रहा है, खिलौनेके लिये मचला हुआ है, खिलौना न पाकर दुखी हो रहा है। भोला शिशु जो ठहरा, प्रभुके अनन्त पारावारविहीन आनन्द-रस-सागरकी बात जानता तक नहीं; अभी तो उसकी यात्रा आरम्भ हुई है। अस्तु, प्रभुसे अपने अभीष्टकी याचना करनेमें हमें तनिक भी संकोच नहीं करना चाहिये। इस निमित्तसे ही प्रभुसे जो हमारा सम्बन्ध जुड़ेगा, वह हमारे लिये अमूल्य निधि है। अवश्य ही इसमें दो बातोंकी सावधानी रखनेकी आवश्यकता है। एक तो हमारी माँगी हुई वस्तु ऐसी न हो, जिसमें जगत्के किसी भी प्राणीके लिये अमङ्गल, अहितकी भावना सनी हो, क्योंकि ऐसी याचनाका उत्तर प्रभुकी ओरसे निश्चितरूपसे नहीं ही मिलता। तथा दूसरी बात यह है कि मनमें, 'प्रभु देंगे कि नहीं देंगे' ऐसा संशय तनिक-सा भी क्षणमात्रके लिये भी भूलकर भी कभी न आने दें। 'अवश्य देंगे' यह दृढ़ विश्वास रखकर हम उनसे माँगें। फिर दो बातोंमें एक बात अवश्य होगी। या तो प्रभु वह वस्तु हमें दे देंगे, या हमारे मनसे उस वस्तुके पानेकी इच्छाको सर्वथा मिटाकर हमें शान्ति दे देंगे। इतना ही करके वे चुप बैठ जायँगे, सो बात नहीं, इसके साथ ही वे कुछ ऐसी चीज भी दे जायँगे, जो हमारी दरिद्रताको सदाके लिये जला देगी। भक्त-शिरोमणि गोस्वामी तुलसीदासका यह अमर संदेश अपने हृत्पटपर स्वर्णाक्षरोंमें हम लिख लें, यह कभी मिथ्या नहीं होगा—

जग जाचिअ कोउ न, जाचिअ जौं,
जियँ जाचिअ जानकि-जानहि रे।
जेहि जाचत जाचकता जरि जाइ,
जो जारति जोर जहानहि रे॥

'जगत्में किसीसे मत माँगो। यदि माँगना ही है तो मन-ही-मन प्रभुसे माँगो। प्रभुसे माँगते ही याचकता (दरिद्रता, कामना) जो सारे संसारको बरबस जला रही है, स्वयं जल जायगी।'

सचमुच प्रभुसे माँगनेवालेका मँगतापन सदाके लिये मिट ही जाता है—

तोहि माँगि माँगनो न माँगनो कहायो।

यह ठीक है कि अहितकर वस्तु माँगनेपर भी प्रभु नहीं देते। स्नेहमयी जननी भी तो अपने भोले बच्चेके माँगनेपर उसके हाथमें चमकती हुई छूरी नहीं देती। किंतु कहीं बच्चा मचल जाय, अड़ जाय, किसी भी फुसलावेमें न आवे तो मा छूरी हाथमें दे देती है, पर हाथको पकड़े रहती है कि कहीं काट न ले। फिर जगत्की अनन्त माताओंके हृदयोंमें अनादिकालसे सञ्चरित वात्सल्य-स्नेह, जिस स्नेहरसके अनन्त समुद्र प्रभुसे आता है; भूत, वर्तमान, भविष्यकी सब माताओंका पुञ्जीभूत, एकत्रित वात्सल्य जिनके स्नेहकी एक बूँदके भी बराबर नहीं ठहरता, वे प्रभु क्या ऐसा नहीं कर सकते? अवश्य कर सकते हैं। किसी अबोध, पर उनके सर्वथा परायण हुए परम विश्वासी शिशुके मचल जानेपर, अड़ जानेपर, हालाहल विषको भ्रमवश अमृत मानकर उसे ही पिला देनेके लिये हठ कर लेनेपर प्रभु भी ऐसा कर सकते हैं। यहाँकी मातामें तो शक्ति-सामर्थ्य सीमित है, वह किसी अंशतक ही अपने लाड़ले शिशुका हठ

निभा सकती है। पर प्रभुकी सामर्थ्य तो सर्वथा अनन्त, अपरिसीम है। वे सर्वभवनसमर्थ हैं, अघटन-घटन उनके लिये नित्य हँसी-खेल है। वे सचमुच लोकदृष्टिमें हालाहल विषरूप वस्तु दे सकते हैं; बाह्यदृष्टिमें वह वस्तु ज्यों-की-त्यों विषरूप ही दीखेगी, पर वह उनके जनके लिये, जिसे उन्होंने दी है, या देंगे, उसके लिये परम अमृत बन जायगी, उसे अमर कर देगी। भले ही प्रभुका यह अमित प्रभाव हमारी तर्कशील बुद्धिमें स्थान न पावे, हम इसपर विश्वास न कर सकें, यह बात दूसरी है। अथवा—'प्रभुके भक्तमें हठ हो ही नहीं सकता, प्रभुका भक्त तो अपनी इच्छा प्रभुकी इच्छामें ही मिला देता है, भक्तकी बुद्धि परम शुद्ध होती है, वह अपने लिये किसी भी अहितकर वस्तुकी याचना कर ही नहीं सकता'—इस प्रकार आदर्श भक्तोंकी बात कहकर हम इन बातोंका खण्डन भले कर दें। या ऐसा न करके अपने पाण्डित्यके बलसे 'सर्वसमर्थता' शब्द-की व्याख्या करते हुए प्रभुकी शक्ति-सामर्थ्यकी अपनी मनमानी एक सीमा निर्धारित कर दें तथा प्रमाणमें कुछ ऐसे युक्तिपूर्ण वाक्योंकी रचना कर लें कि उनके उत्तरमें बाध्य होकर किसीको कहना ही पड़े कि प्रभु यह तो नहीं कर सकते। पर इससे न तो प्रभुका अमित प्रभाव ही कम होता है, न प्रभुके साम्राज्यका यह अनन्त वैचित्र्य ही मिटता है और न यह सीमा ही बँधती है कि 'विश्वाससे यह तो हो सकता है, यह नहीं हो सकता।' जो सत्य है, वह सत्य ही रहेगा। हमारी इच्छा, हम उसे मानें, ढूँढ़ें, पहचानें, परीक्षा करें अथवा उसकी ओरसे मुँह मोड़े रहें। किंतु बुद्धिमानी इसीमें है कि दुराग्रह त्याग कर हम उसकी एक बार कम-से-कम परीक्षा तो अवश्य करें। यद्यपि प्रभु एवं प्रभुकी शक्ति-सामर्थ्यसम्बन्धी बातें परम सत्य होनेपर भी व्यक्त होनेके लिये श्रद्धाकी अपेक्षा अवश्य रखती हैं; किंतु पक्षपातशून्य परीक्षकको उनका आभास अवश्य मिल जाता है। हम सर्वसाधारणके लिये तो—यदि प्रभुके अस्तित्वमें थोड़ा भी विश्वास है तब—यही परम कल्याणकारी साधन है कि प्रभुपर विश्वास और भी दृढ़ करते हुए उनकी सहायता हम जिस किसी निमित्तसे भी लेने लग जायँ। इसमें लाभ-ही-लाभ है।

ऐसा भी कहा जाता है कि 'प्रभुकी सकाम उपासना नहीं करनी चाहिये। क्योंकि वास्तवमें सच्ची श्रद्धा तो होती नहीं और इस कारण इच्छित फल नहीं मिलता, जिससे उलटे और अश्रद्धा हो जाती है।' बात भी ठीक है। ऐसा होता है, पर हम यह सोचें कि हमारा इसमें बिगड़ा क्या? पहले भी श्रद्धा नहीं थी, श्रद्धाकी बिल्कुल झूठी नकल थी, श्रद्धा होनेका भ्रम था। क्योंकि सच्ची श्रद्धा होनेपर यह असम्भव है कि प्रभुकी ओरसे प्रत्युत्तर न मिले, अवश्य-अवश्य उत्तर मिलेगा ही। हमें कोई उत्तर नहीं मिला, यही इस बात-का ज्वलन्त प्रमाण है कि हमारा विश्वास प्रभुपर नहीं था, नहीं है। अब इच्छित उत्तर न मिलनेपर यदि भ्रम मिटकर हमारे मनका सच्चा रूप प्रकट हो गया तो इसमें लाभ हुआ या हानि हुई? हमारी स्थिति जो पहले थी वही अब है, अधिक लाभ यह हुआ कि श्रद्धा-का दम्भ अब हम नहीं करेंगे। साथ ही एक बहुत बड़ा लाभ हमारी जानकारीमें न आकर ही और हो गया। उतने मास, उतने दिन या उतने घंटे जो प्रभुके सम्पर्कमें बीते, इस निमित्तसे हमने प्रभुको इतने समयके लिये जो अपने मनमें बसाया, यह इतनी मूल्यवान् सम्पत्ति एकत्र हो गयी कि उसकी तुलना नश्वर जगत्-के किसी भी पदार्थसे सम्भव ही नहीं। इतना ही नहीं, सचमुच हमारे अंदर सच्ची श्रद्धाके बीज भी बिखेर दिये गये। उन बीजोंकी क्रिया बढ़नेपर अश्रद्धाका हमारा यह आवरण भी नष्ट हो जायगा। फिर हम बाहर-भीतर समान बन जायँगे। अतः ऐसी अश्रद्धा

भी होनेकी सम्भावना हो तो यह भी वरण करने योग्य है, प्रभुसे न जुड़नेकी अपेक्षा उनसे जुड़कर ऐसी अश्रद्धाको मोल ले लेना भी बहुत ही मङ्गलकारक है। जैसे भी हो, तथा परिणाममें कुछ भी हाथ लगे, किसी निमित्तसे हम प्रभुसे जुड़ें, यही सार बात है।

अन्तमें एक बात और रही, जिसका जानना आवश्यक है। रोग-दुःखसे त्राण पानेके लिये अथवा अपनी अभिलषित वस्तुकी प्राप्तिके लिये यदि हम प्रभुकी सहायता लें, तो उसका रूप क्या होना चाहिये, उसका ढंग क्या होना चाहिये? उसका प्रकार क्या है? तो इसके लिये अत्यन्त संक्षेपमें तथा सरलतासे समझमें आनेवाली कुछ बातें ये हैं—

(१) कल्पना करें शरीरमें कोई व्याधि हो गयी, गठियाकी पीड़ासे प्राण व्याकुल हैं, इससे मुक्त होनेके लिये हम प्रभुसे सहायता चाहते हैं। इसके लिये हमें चाहिये कि अपनी सारी शक्ति बटोरकर मनको एक बार पीड़ासे हटाकर हम ऐसी भावना करें—'हमारे भीतर, बाहर, दाहिने, बायें, आगे, पीछे, नीचे, ऊपर हमारे अणु-अणुमें आनन्दमय प्रभु भरे हुए हैं, यहाँ सर्वत्र प्रभुका अनन्त असीम अपार आनन्द भरा है। प्रभुकी अखण्ड अपरिसीम शान्ति सर्वत्र फैली हुई है, हम प्रभुके उस आनन्दमें, उस शान्तिमें ही डूबे हुए हैं, प्रभुके आनन्दका, उनकी शान्तिका समुद्र लहरा रहा है, हमारा अणु-अणु अपार अनन्त असीम आनन्दसे, शान्तिसे भर गया है·········।' इस प्रकारकी भावनामें मनको सर्वथा डुबो देनेका प्रयास करें। यह नहीं कि पीड़ाको याद कर-करके प्रभुको बार-बार पीड़ाकी स्मृति दिलावें। प्रभु पहलेसे जानते हैं कि हमारी इच्छा क्या है। अब यदि हम सचमुच इस भावनासे मनको एक बार पूरा-पूरा भर सकें, उस मनको जिसमें यह विश्वास पहलेसे ही भरा हो कि प्रभु हमारी गठियाकी पीड़ाको निश्चय मिटा देंगे तो सच मानें, भावना टूटते-न-टूटते गठियाकी पीड़ा भी न जाने कहाँ चली जायगी और हमारा रोम-रोम प्रभुके प्रति कृतज्ञतासे भर उठेगा। दृढ़ विश्वास एवं मनकी एकाग्रता—दो ही बातें अपेक्षित हैं। ये तो होनी ही चाहिये। इसमें भी पीड़ावश एकाग्रतामें त्रुटि आवे तो वह भी क्षम्य है। पर विश्वास शिथिल न हो, यह अत्यन्त आवश्यक बात है। विश्वासकी कमी ही फल-उत्पादनमें विलम्ब करती है। अतः एक बारकी भावनामें पीड़ा न मिटे तो विश्वासको और भी सुदृढ़ बनाकर यह भावना बार-बार करते ही जायँ। विश्वासका काँटा जहाँ अपेक्षित स्थानपर आया कि निश्चय ही या तो प्रभु हमारी पीड़ा हर लेंगे, या पीड़ा मिटानेकी वासना हर-कर हमारे अंदर एक अद्भुत शान्ति, सहिष्णुताका सञ्चार कर देंगे। फिर पीड़ाका अनुभव भले हो, पर मन सर्वथा अनुद्विग्न एवं शान्त होकर एक अनिर्वचनीय आनन्दसे भर उठेगा। यह आनन्द कैसा होता है, इसे हम केवल अनुभव कर पायेंगे, दूसरेको बता सकें, यह सम्भव नहीं।

(२) किसी अभिलषित वस्तुकी प्राप्तिका उद्देश्य होनेपर एक बार प्रभुसे अपनी इच्छा निवेदन कर दें। प्रभु जानते तो हैं ही, पर अपने संतोषके लिये ही ऐसा कर लें। फिर निश्चिन्त हो जाय—इस भावनासे कि प्रभु हमारी इस इच्छाको अवश्य-अवश्य पूरी करेंगे ही। इसके बाद प्रभुके अनन्त वैभवमय स्वरूपमें अपने मनको डुबो दें, डुबाये रक्खें। हठात् एक दिन देख पायेंगे कि वह मनोरथ पूर्ण हो चुका है अथवा यह प्रत्यक्ष-सा अनुभव हो जायगा कि अमुक समयपर वह वस्तु हमें मिल जायगी अथवा यह होगा कि मनमें उस वस्तुको प्राप्त करनेकी इच्छा ही सर्वथा मिट जायगी।

(३) दुःखमें पड़े हुए अपने किसी स्वजन-सम्बन्धी या मित्रके लिये भी हम प्रभुकी सहायताका आवाहन उपर्युक्त भावनाकी प्रक्रियासे कर सकते हैं। ऐसा करना अपने उस सम्बन्धी मित्रके प्रति हमारी इतनी अद्भुत चमत्कारपूर्ण सेवा होगी कि जिसकी

कल्पना भी अभी हम नहीं कर सकते । अपने जिस मित्र-स्वजनके लिये प्रभुकी सहायता अपेक्षित हो, उसकी मानसिक मूर्ति अपने सामने हम खड़ी कर लें। मन-ही-मन उसे देखते हुए हम यह भावना आरम्भ करें—'यहाँ इसके भीतर, बाहर, ऊपर, नीचे, दाहिने, बायें, सर्वत्र प्रभु भरे हैं, उनका आनन्द, उनकी शान्ति भरी है....।' ऊपर वर्णित भावनाको ही अपने मित्रकी उस मानसिक मूर्तिमें भर दें । यहाँतक कि मूर्तिका अस्तित्व, स्मृति तो विलुप्त हो जाय, और वहाँ बच रहें केवल प्रभु, उनका अखण्ड और अनन्त आनन्द, उनकी शाश्वती शान्ति । हमें पीछे यह जानकर विस्मय होगा कि हमारे उस मित्रके दुःखका अत्यन्त चमत्कारपूर्ण ढंगसे अवसान हो गया है, उसकी परिस्थिति अचानक अजीब ढंगसे सुधर गयी है अथवा बाह्य परिस्थिति तो ज्यों-की-त्यों है, पर मित्रके स्वभावमें, मनमें, कुछ जादू-सा हो गया है, उसकी चिन्ता, उद्विग्नता मिट गयी है और वह एक अद्भुत शान्तिका अनुभव करने लगा है । अवश्य ही उस प्रक्रिया-में भी सफलता निर्भर करती है इसी बातपर कि (१) स्वयं हमारे मनमें प्रभुके प्रति कितनी कैसी श्रद्धा है और (२) सहायताका आवाहन करते समय मनकी एकाग्रता कैसी—किस जातिकी थी ।

बस, सहायताके आवाहनका प्रकार उपर्युक्त तीन बातोंमें ही प्रायः आ जाता है । इतना ही बहुत है ।

इसमें किसीका मतभेद हो ही नहीं सकता कि प्रभु-के साथ सर्वथा निष्कामतापूर्ण सम्बन्ध ही उपासनाका पवित्र आदर्श है । प्रभुसे कुछ भी माँगना वास्तवमें है अज्ञता ही । हमारे लिये जो भी आवश्यक है, उसे प्रभु हमारे बिना माँगे ही आगे-से-आगे देते रहते हैं, देते रहेंगे । परम स्नेहमयी जननीकी भाँति हमारे लिये सब कुछ वे पहलेसे ही सुव्यवस्थित कर रखते हैं । उनसे हम क्या माँगे, क्यों माँगे ? यह बुद्धि भी हमारे अंदर कहाँ कि हम निर्णय कर लें—हमें क्या चाहिये और क्या नहीं चाहिये ? किंतु जब हमें अभावकी अनुभूति हो रही है और प्रभुसे विमुख होकर हम भटक रहे हैं, तो इस परिस्थितिमें जो भी निमित्त हमें प्रभुसे जोड़ सके, उसीको अवश्य-अवश्य ग्रहण कर लेना चाहिये । यह भी संतोंका अनुमोदित मत है, इसमें भी सभी एकमत हैं । हमें भी यह अभिप्रेत होना ही चाहिये कि जैसे भी हो हमारा मुख तो प्रभुकी ओर हो जाय । फिर—

सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं ।
जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं ॥

सदा रामकी गति

राम हैं मातु पिता गुरु बंधु औ
संगी सखा सुत स्वामि सनेही ।
रामकी सौंह भरोसो है रामको
राम रँग्यो रुचि राख्यो न केही ॥
जीयत राम, मुये पुनि राम,
सदा रघुनाथहिकी गति जेही ।
सोइ जियै जगमें तुलसी, न तु
डोलत और मुये धरि देही ॥

—तुलसीदासजी

श्रीकृष्णलीलाका चिन्तन

(३७)

शुभ्रज्योत्स्नाका परिधान धारण किये निशासुन्दरीने वृन्दावन-भूमिमें पदार्पण किया। आते ही उसने अपने अन्तस्तलकी नीरवता बृहद्वनसे आये हुए समस्त व्रजवासियोंपर बिखेर दी। क्रमशः सभी गोप अलसाङ्ग होकर निद्राकी सुखमयी गोदमें ढलक पड़े। प्रथम प्रहरमें कभी तन्द्रित न होनेवाले व्रजेश्वरको भी आज निद्रा आ गयी। व्रजराजमहिषी भी सो गयीं। मातृवक्षःस्थलको अलङ्कृत करते हुए, निद्राके अधीश्वर श्रीकृष्णचन्द्र भी सुनिद्रित हो गये। सुरम्य शय्यापर पौढ़ी वृद्धा व्रजगोपिकाओंको भी नींद आ गयी। पतिव्रता, पतिपरायणा, पतिसुखसुखिनी युवती गोप-सुन्दरियाँ भी सेवासुखकी भावनामें ही डूबी रहकर शयनपर्यङ्कपर निद्रामें निमग्न हो गयीं। शिशुको क्रोडमें धारणकर माताएँ निद्रित हो गयीं। सखीको भुजपाशमें बाँधे गोपकुमारिकाओंके नेत्र भी निद्रासे निमीलित हो गये। कोई शिबिरके अन्तर्देशमें तो कोई बाहर उन्मुक्त आकाशके वितानमें, कोई शकटपर तो कोई रथपर—जिस गोपसुन्दरीकी जहाँ इच्छा हुई वहीं पौढ़कर वह निद्रासुखका अनुभव करने लग गयी कानन में सर्वत्र राशि-राशि प्रस्फुटित कुसुमोंके सौरभसे सुरभित हुई शीतल मन्द बयार, नन्दनकाननकी शोभाको भी तुच्छ, अकिञ्चित्कर कर देनेवाली आजके राकाचन्द्रकी मनोहर चन्द्रिका गोपोंके, गोपसुन्दरियोंके श्रीअङ्गोंका स्पर्शकर उनके निद्रासुखको और भी गभीर बनाने लगी। इस प्रकार जब सभी निष्पन्द, निश्चेष्ट हो गये एवं रात्रि पाँच घड़ी व्यतीत हो चुकी, ठीक उस समय देवशिल्पी, समस्त शिल्पाचार्योंके परम आचार्य विश्वकर्मा श्रीवृन्दावनमें पधारे—

सुप्तेषु व्रजनन्देषु नक्तं वृन्दावने वने।
सुनिद्रिते च निद्रेशे मातृवक्षःस्थलस्थिते॥
निद्रितासु च गोपीषु रम्यतल्पस्थितासु च।
यूनां च सुखसंयोगानुषक्तमानसासु च॥
कासुचिच्छिशुयुक्तासु सखीयुक्तासु कासुचित्।
कासुचिच्छकटस्थासु स्यन्दनस्थासु कासुचित्॥
पूर्णेन्दुकौमुदीयुक्ते स्वर्गादपि मनोहरे।
नानाप्रकारकुसुमवायुना सुरभीकृते॥
सर्वप्राणिनि निश्चेष्टे मुहूर्ते पञ्चमे गते।
तत्र जगाम भगवाञ्छिल्पिनां च गुरोर्गुरुः॥

(श्रीब्रह्मवैवर्तपुराण)

दिव्य सूक्ष्म वस्त्र धारण किये, मनोहर रत्नमाल्य, मकरकुण्डल एवं विविध रत्नाभरणोंसे विभूषित, कामदेवके समान सुन्दर देवशिल्पीको आते किसी भी व्रजवासीने नहीं देखा। वे अकेले आये, यह बात भी नहीं, तीन कोटि शिल्पविशेषज्ञोंके साथ आये हैं—

विशिष्टशिल्पनिपुणैः सार्द्धं शिल्पित्रिकोटिभिः।

(ब्र० वै० पु०)

इनके पश्चात् अगणित असंख्य यक्षोंके समुदाय आये। वे अपने हाथोंमें पद्मराग, इन्द्रनील, स्यमन्तक, चन्द्रकान्त, सूर्यकान्त, प्रभाकर—इन भाँति-भाँतिके मणिसमूहोंको भर लाये हैं—

पद्मरागकराः केचिदिन्द्रनीलकरा वराः।
केचित्स्यमन्तककराश्चन्द्रकान्तकरास्तथा॥
सूर्यकान्तकराश्चान्ये प्रभाकरकरावराः।

समस्त कानन इन देवोंसे पूर्ण हो गया है। काननका कण-कण इन दिव्य मणियोंकी ज्योतिसे उद्भासित हो रहा है। फिर भी एक भी व्रजवासीकी निद्रा नहीं टूटी, एक प्रहरी भी नहीं जग पाया। जगे कैसे? व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रकी अघटघटनापटीयसी योगमाया-शक्ति इस समय एक अभिनव योजनामें जो लगी है। योगमायाने ही तो सबको सुला रक्खा है। फिर किसकी सामर्थ्य है जो इस आवरणको चीरकर क्षणभरके लिये भी झाँक ले। जब योजना पूर्ण हो जायगी, तभी सबकी आँखें एक साथ खुल जायँगी। इससे पूर्व कोई भी जग नहीं

सकेगा। व्रजराजके लिये इस वृन्दावनमें दिव्य नगरका निर्माण होगा, राजप्रासाद निर्मित होगा, प्रत्येक पुरवासीके लिये भवन निर्मित होंगे, सबके लिये यथायोग्य गोष्ठ बनेंगे, राजपथ एवं वीथियोंकी रचना होगी, व्रजेन्द्रकी अनन्तवैभवमयी, वृन्दावनकी यह राजधानी चमक उठेगी, सो भी ब्राह्ममुहूर्त आनेसे पूर्व। इसीके लिये देवशिल्पी विश्वकर्मा आये हैं। वे ही व्रजेन्द्रपुरीका निर्माण करेंगे। पुरनिर्माणकी सामग्री लेकर ये असंख्य कुबेर-अनुचर आये हैं तथा निर्माणकार्यमें विश्वकर्माके आज्ञानुसार यथायोग्य उन्हें सहायता देनेके लिये ये साढ़े तीन करोड़ शिल्पविशेषज्ञोंका आगमन हुआ है। सात घड़ीमें व्रजराजके नगरको, नवीन व्रजपुरको, व्रजपुरके अनन्त अपरिसीम वैभवको मूर्त करके ये चले जायँगे। इसके अनन्तर सबकी निद्रा टूटेगी और आनन्द-विह्वल होकर सभी अपने-अपने आवासमें प्रवेश करेंगे। अस्तु—

श्रीकृष्णपादपद्मोंका स्मरण कर, उनकी अशेष-शुभ-विधायिनी दृष्टिपर अपनी वृत्तियोंको केन्द्रितकर अमर-शिल्पीने पुरकी रचना प्रारम्भ की—

नगरं कर्तुमारेभे ध्यात्वा कृष्णं शुभेक्षणम्।
(ब्रह्मवैवर्तपुराण)

विश्वकर्माने अपने कलाकौशलकी इति कर दी। आयी हुई अपार सामग्रियोंसे उन्होंने असंख्य चतुःशाला, कपाट, स्तम्भ, सोपान, कलश, वेदी, प्राङ्गण, प्राकार, द्वार आदिका निर्माण किया। देखते-ही-देखते समस्त गोपोंके आवास बन गये एवं नवीन व्रजेन्द्रपुरी जगमग-जगमग करने लगी। किंतु पुरी सचमुच कैसी बनी, उसका मूर्तरूप कैसा हुआ, इस बातको स्वयं देवशिल्पीने भी जाना या नहीं, यह कहना कठिन है। क्योंकि वास्तवमें यह तो अचिन्त्यमहिमामयी योगमायाका एक खेल है जो विश्वकर्मापर पुररचनाका भार सौंपा गया। आधिदैविक जगत्की मर्यादाको अक्षुण्ण बने रहने देनेके लिये, दैवी कलाको आदर देनेके लिये, किसी अचिन्त्य सौभाग्यवश देवशिल्पीको, उन असंख्य शिल्पज्ञोंको, कुबेरकिङ्करोंको स्वयं भगवान् व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रके चिदानन्दमय धामका परम दुर्लभ स्पर्शसुख दान करनेके लिये योगमायाने इतना आडम्बर किया है। वास्तवमें व्रजपुरका, व्रजेन्द्रपुरीका निर्माण नहीं होता। यह तो सच्चिदानन्द परब्रह्म पुरुषोत्तम श्रीकृष्णचन्द्रकी सदंशमें रहनेवाली सन्धिनी शक्तिकी नित्य परिणति है। श्रीकृष्णचन्द्रके समान ही यह भी विभु है, नित्य चिन्मय है। अभी-अभी जहाँ—विश्वप्रपञ्चके जिस भूभागपर, वृन्दाकाननमें व्रजेन्द्रपुरी मूर्त हुई है वहाँ वह पुरी पहलेसे ही, अनादिकालसे है एवं अनन्तकालतक रहेगी। प्रपञ्चमें जिस समय श्रीकृष्णचन्द्रकी चिदानन्दमयी लीलाका प्रकाश होता है तथा क्रमशः लीलाका प्रकाश करते हुए जब वे वृन्दाकाननका—अपने द्वितीय रङ्गमञ्चका स्पर्श करते हैं तब तिरोहित हुई व्रजेन्द्रपुरी भी पुनः आविर्भूत हो जाती है; और जब लीलाका अन्तर्धान हो जाता है तो पुरी भी अन्तर्हित हो जाती है। यह आविर्भाव-तिरोभाव भी उनके लिये है जिनके नेत्रोंमें त्रिगुणका तेज भरा है। जिनकी आँखोंमें श्रीकृष्णचरण-नख-चन्द्रकी चन्द्रिका भरी है, उनके लिये व्रजपुर—व्रजराजकी पुरी सदा वर्तमान रहती है। वृन्दाकानन सदा उनके नेत्रोंमें भरा रहता है। अस्तु, आज भी पुरीका आविर्भाव हुआ है, न कि विश्वकर्माने सचमुच उसका निर्माण किया है। कदाचित् विश्वकर्मा इस रहस्यका अनुसन्धान पा गये होते तो उन्हें यही दीखता—उनके हाथसे सञ्चित किये हुए पद्मराग, स्यमन्तक, चन्द्रकान्त आदि मणिसमूहोंको योगमाया अपने हाथमें ले-लेकर विलुप्त करती जा रही है एवं उन-उन स्थलोंपर नित्य व्रजपुरके अनन्त अपरिसीम चिन्मय वैभवका प्रकाश होता जा रहा है। कविकी रसनामें यह सामर्थ्य नहीं कि उसका चित्रण कर सके। चित्रण दूर, मनकी कल्पना भी

वास्तवमें उस विचित्र वैभवके किसी एक अंशको भी, उस सर्वथा अतुलनीय नित्य चिदानन्दमय श्रीसौन्दर्यकी कणिका मात्रको भी छू नहीं पाती। केवल उसकी अनुभूति होती है; किसे होती है, कैसे होती है, यह बताना भी असम्भव है। पर होती है, यह सत्य है। फिर उसकी छायामात्र मनमें आती है। इस छायाके किसी क्षुद्र अंशको वाणी ग्रहण करती है और शाखाचन्द्रन्यायसे ही उस अनुभूत सत्यको व्यक्त करते हुए कवि आनन्द-कम्पित कण्ठसे पुकार उठता है—वह देखो, वृन्दावन-की—व्रजेन्द्रपुरीकी अप्रतिम शोभा !—

क्वचिन्मरकतस्थली कनकगुल्मवीरुद्द्रुमाः
क्वचित्कनकवीथिका मरकतस्य वल्ल्यादयः।
क्वचित्कमलरागभूः स्फटिकगुल्मवीरुद्द्रुमाः
क्वचित्स्फटिकवाटिका कमलरागवल्ल्यादयः॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'कहीं तो मरकत मणिमय अकृत्रिम भूमि है। उस भूमिपर स्वर्णमय गुल्मलता एवं द्रुमसमूह परिशोभित हैं कहीं स्वर्णकी ही वीथियाँ (गली) बनी हैं। नहीं-नहीं सर्वत्र स्वर्ण-ही-स्वर्ण आस्तृत है, मृत्तिकाका लेश भी नहीं। और इस स्वर्णभूमिमें मरकत मणिमय वल्लरियोंकी, गुल्मतरुपंक्तिकी छटा फैल रही है तथा कहीं पद्मराग-रचित भूमि है, उनपर स्फटिकनिर्मित गुल्मलता वृक्ष-समूह विराजित है; और कहीं स्फटिककी वाटिका बनी है, उसमें पद्मरागकी लताएँ, गुल्म, तरुराजि झूम रही है।'

और देखो—

क्वचिन्मरकतद्रुमाः कनकवल्लिभिर्वेल्लिताः
क्वचित्कनकपादपा मरकतस्य वल्लीजुषः।
क्वचित्स्फटिकभूरुहाः कमलरागवल्लीभृतो
द्रुमाः कमलरागजाः स्फटिकवल्लिभाजः क्वचित्॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'कहीं तो ये मरकतद्रुमसमूह कनकलताओंसे परिव्याप्त हैं एवं यह स्वर्णपादपश्रेणी मरकतकी बनी वल्लरियोंसे सुमण्डित हो रही है तथा कहीं स्फटिकोंकी वृक्षावलि है, जो पद्मरागमणिकी लताओंसे उद्भासित हो रही है और कहीं पद्मरागके वृक्ष हैं जो स्फटिकमय लताजालसे समुज्ज्वल हो रहे हैं।'

और भी सुनो, देखो, कितना आश्चर्य है !

न सोऽस्ति मणिभूरुहो विविधरत्नशाखो न यः
सुचित्रमणिपल्लवा न खलु या न शाखाश्च ताः।
न तेऽपि मणिपल्लवा विविधरत्नपुष्पा न ये
न पुष्पनिकरोऽप्यसौ विविधगन्धबन्धुर्न यः॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'यहाँ मणिमय ऐसा कोई वृक्ष नहीं जिसके शाखा-समूह विविध रत्नमय न हों ! प्रत्येक मणिमय वृक्षकी शाखावलि विविध रत्नोंसे ही निर्मित है। फिर इन शाखाओंमें ऐसी कोई शाखा नहीं जो विविध वर्णके मणिमय पल्लवजालसे मण्डित न हो—प्रत्येक वृक्षकी प्रत्येक शाखा बहुवर्ण मणिमयी पल्लवराजिसे राजित हो रही है ! ऐसे मणिपल्लव नहीं, जिनमें रत्नमय कुसुम-समूह प्रस्फुटित न हुए हों—सभी मणिपल्लवोंपर रत्नमय कुसुमनिकर झलमल-झलमल कर रहे हैं ! और फिर ऐसा कोई पुष्पनिकर नहीं जिससे विविध भाँतिकी सुगन्ध प्रसारित न हो रही हो—कुसुमसमूहोंसे भाँति-भाँतिके सौरभ झर रहे हैं !'

अहा ! देखो, कैसी सुन्दर शोभा है —

विहारमणिपर्वतप्रकरतः पतद्भिर्मणि-
द्रवैरिव सुनिर्झरैः स्वयमितस्ततः पूरिता।
स्थलस्थलरुहां मणीतरमणीभिराकल्पिता
तथा मणिपतत्त्रिभिर्विलसिताऽऽलवालावली॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'वृक्षोंके मूलदेशमें आलवाल (गड्ढा) निर्मित हैं। विहारसम्बन्धी मणिमय-पर्वत समूहोंसे निर्गलित मणिद्रव-की भाँति सुन्दर निर्झरोंके द्वारा ये आलवाल अपने-आप

सब ओरसे पूर्ण हुए रहते हैं। इन आलवालोंकी रचना भी कितनी सुन्दर है! जिन मणियोंकी भूमि है, तरु है, उनसे भिन्नवर्ण मणियोंके द्वारा इनका निर्माण हुआ है और फिर मणिमय विहङ्गम-कुल इनमें विहार कर रहे हैं!'

इन मणिमय वृक्षोंमेंसे कुछको तो भले ही तुरंत पहचान लो; केवल उन्हें जिनके रूप-रंग वैसे-के-वैसे ज्यों-के-त्यों हैं, कुछ भी परिवर्तन नहीं हुआ है; किंतु शेषको तो बड़े ध्यानसे देखनेपर, उनके पत्रोंकी आकृति, स्कन्धविन्यासपर गभीर विचार करके ही जान पाओगे कि यह अमुक तरुश्रेणी है। पर फिर भी वास्तवमें नहीं पहचान पाये। सुनो, इसका रहस्य सुन लो—यहाँ जितने वृक्ष हैं, सभी कल्पतरु हैं, जितनी वल्लरियाँ हैं, सभी कल्पलतिकाएँ हैं—

वल्ल्यः सर्वा यत्र ताः कल्पवल्ल्यो
वृक्षाः सर्वे कल्पवृक्षा वकारेः।

(श्रीगोविन्दलीलामृतम्)

शाल, ताल, तमाल, अश्वत्थ, कपित्थ, वकुल, नारिकेल, रसाल, पियाल, श्रीफल, करील, कोविदार, देवदारु, मन्दार, जम्बीर, चन्दन, अशोक, कदम्ब, गुगुल, पीलु, गन्धपिप्पली, गजपिप्पली आदि जितने वृक्ष हैं, सभी कल्पपादप हैं। वासन्ती, वनमल्लिका, स्वर्णयूथी, जाती, यूथीमल्लिका, मुद्गरा, अपराजिता, गुञ्जा, शतमूली, बिम्बफललता, लवङ्गलता आदि जितनी लताएँ हैं, सभी कल्पवल्लरियाँ हैं। नन्दकाननका कल्पपादप नहीं, उससे सर्वथा विलक्षण! प्राकृत कल्पवल्ली नहीं, उससे सर्वथा भिन्न! ये तो स्वयं भगवान् व्रजेन्द्रनन्दनके चिन्मय धामके चिन्मय तत्त्वसे गठित हैं।

इन विचित्र वैभवोंसे पूर्ण वहाँ न जाने कितनी पुरी हैं। व्रजेशके अधीन प्रत्येक गोपकी अपनी-अपनी पुरी है, प्रिय परिजनसहित सबके लिये पृथक्-पृथक् आवासगृह हैं। एक-एककी छटा देखते ही बनती है। कितना देखोगे? देखनेका अन्त जो नहीं आयेगा। इसलिये सबके प्रधानभूत केवल व्रजेन्द्रके आवासको देख लो, सो भी उसके अत्यन्त स्वल्पतम अंशको ही देख सकोगे। इसके सम्पूर्ण अंशको तो आजतक किसीने देखा ही नहीं! अहा!

मसारप्राचीरं मरकतगृहं हेमपटलं
प्रवालस्तम्भालिस्फटिकवृतिवैदूर्य्यवडभिः।
महानीलेन्द्राट्टं विमलकुरुविन्दोपलमहा-
प्रतीहारं नानाकृतिजितविमानावलि पुरम्॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

पुरीके प्राचीरका निर्माण तो हरितमणि (पन्ना) से हुआ है। गृहसमूह मरकतमय हैं। गृहके आच्छादन (छत) स्वर्णमय हैं। स्तम्भ प्रवालनिर्मित हैं। वेष्टनी (घेरा) स्फटिक-घटित हैं। गृहचूड़ा वैदूर्यरचित हैं। अट्टालिकाएँ महानीलकान्त-निर्मित हैं तथा सुदीर्घ द्वारावली कुरुविन्दमणि-प्रस्तरोंसे गठित हैं। विविध भाँतिसे सुचित्रित इस पुरीके सौन्दर्य-शोभाकी तुलनामें दिव्यातिदिव्य विमानपङ्क्ति भी हेय प्रतीत हो रही है।

स्थान-स्थानपर शिल्पनैपुण्यसे अङ्कित शुक-पिक आदि पक्षियोंकी प्रतिकृति भ्रम उत्पन्न कर दे रही है; यह निर्णय करना अत्यन्त कठिन हो जाता है कि ये छवि हैं या जीवन्त विहङ्गम? यह आश्चर्य अवश्य है कि छविमय होते हुए भी यहाँ सभी कुछ चिन्मय है। जड कुछ है ही नहीं। ये मणि, मुक्ता, रत्न और स्वर्ण आदि कठोर नहीं हैं। अत्यन्त कोमल हैं, ये रूक्ष नहीं, रसमय हैं। यहाँके कण-कणसे एक परम दिव्य ज्योति झर रही है। ऐसी उज्ज्वल ज्योति, जो प्राकृत जगत्‌के कोटि सूर्योंमें भी नहीं, पर साथ ही इतनी शीतल सुखद कि प्रपञ्चके कोटि चन्द्रोंकी पुञ्जीभूत किरणोंमें भी नहीं। यहाँ भी एक सूर्य तो है, पर वह प्राकृत विश्वका सूर्य नहीं, प्राकृत सूर्यसे अत्यन्त विलक्षण, परम सुन्दर शोभन-सूर्य है। एक पीयूषवर्षी चन्द्र यहाँ भी है, पर वह प्राकृत चन्द्र नहीं; प्राकृत चन्द्रसे सर्वथा भिन्न,

सौन्दर्यपुञ्ज अतिशय सुषमाशाली दूसरा ही चन्द्र है। यहाँ भी सुनील गगनमें मङ्गल है, बुध है, बृहस्पति है, शुक्र है, शनि है, केतु है, राहु है, असंख्य तारकपङ्क्ति है; पर प्रापञ्चिक भौम, बुध आदि नहीं; इनसे सर्वथा पृथक्, परम रमणीय, तेजोमय भौम, बुध, गुरु, शुक्र, शनि, केतु, राहु एवं नक्षत्रावलि है—

स्वतेजसा तु सुभास्वत् सुपीयूषकिरणं सुमङ्गलं सुबुधं सुजीवं सुकविगम्यं सुभानवं सुकेतु सुतमः सुतारकम्। (श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

ओह ! शब्द नहीं कि व्रजेन्द्रपुरीके अमित वैभवको कोई व्यक्त कर दे, उसकी ओर-छोरविहीन महिमाको भाषाका रूप दे दे। इसीलिये कहते-कहते अन्तमें हारकर मौन ही होना पड़ता है। पर कदाचित् चन्द्र-सूर्यकी बात सुनकर शंका न हो जाय, इसलिये एक बात और सुन लो। श्रुतियाँ जिसके लिये निर्देश करती हैं—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥
(कठ० २। २। १५)

'वहाँ न तो सूर्य प्रकाशित होता है, न चन्द्र एवं न तारकसमुदाय ही प्रकाशित होते हैं, और न विद्युत् ही प्रकाश करती है। फिर वहाँ अग्निका प्रकाश सम्भव कहाँ ? क्योंकि उसके नित्यप्रकाशसे ही तो इन सूर्य, चन्द्र आदिमें प्रकाशका संचार होता है, उसके आंशिक प्रकाशको पाकर ही तो ये प्रकाशित होते हैं, सारा जगत् भी उसीके क्षुद्रतम अंशसे ही प्रकाशित हो रहा है।'

श्रुतिप्रतिपादित यह धाम भी व्रजेन्द्रपुरीसे कोई पृथक् सत्ता नहीं रखता। अवश्य ही उस ज्योतिर्मय धाममें निमग्न होनेके अनन्तर ही यह अनुभव होता है कि व्रजेन्द्रपुरीमें सूर्य, चन्द्र आदिकी बात है तो परम सत्य; पर वे सूर्य, चन्द्र आदि ग्रहगण सर्वथा दूसरे हैं, प्राकृत ग्रहोंसे सर्वथा भिन्न हैं—

प्राकृतेभ्यो ग्रहेभ्योऽन्ये चन्द्रसूर्यादयो ग्रहाः।
(श्रीभागवतामृतम्)

यह बात भी नहीं कि ऊपर वर्णित वृक्ष, वल्लरी, भूमि, गृह, ग्रहसंस्थान आदि वस्तुओंका कोई इत्यम्भूत रूप है। इतना है, ऐसे है, ऐसे नहीं है—इस प्रकार इनके लिये सीमा बाँधी जा सके। यहाँकी एक-एक वस्तु स्वयं भगवान् व्रजेन्द्रनन्दनकी स्वरूपशक्तिकी परिणति है, इसीलिये ये सब भी अमर्यादित हैं। जड़ वस्तुकी भाँति इनके रूप, रंग, आकार, प्रकार, स्थिति, गुण, चेष्टा, भाव आदिकी इयत्ता नहीं। ये तो श्रीकृष्णचन्द्रकी अचिन्त्य लीलामहाशक्तिका निरन्तर अनुसरण करते हैं। श्रीकृष्णचन्द्रकी जब जैसी लीलाका प्रकाश होता है, उसके लिये जो जैसी जितनी सामग्री चाहिये, उसी रूपमें इनका प्रकाश होता है। लीलापरिकरोंकी सुख-सुविधाके लिये, उन्हें भाँति-भाँतिके उपकरण दे-देकर उनका प्रीतिविधान करनेके लिये, श्रीकृष्णचन्द्रकी लीलाको मधुरातिमधुर बनाकर, स्वयं उसका रसपान कर क्षण-क्षणमें आनन्दसिन्धुमें निमग्न होनेके लिये न जाने ये कितनी बार अपना विस्तार, संकोच, रूपपरिवर्तन, अपने अस्तित्वका ही अदर्शन आदि अतिशय चमत्कृत कर देनेवाली चेष्टाएँ करते हैं। एक स्थानसे दूसरे स्थानकी दूरी, मान लें, अभी इस क्षण सोलह कोस परिमित है। लीलापरिकर और स्वयं श्रीकृष्णचन्द्र अथवा लीलापरिकरके दो वर्ग, परस्पर एक दूसरेसे इतनी दूरपर अवस्थित हैं। यह दूरी भी लीलाप्रकाशके लिये उपयुक्त है, पर साथ ही तुरंत आवश्यकता हुई कि लीलापरिकर तुरंत मिल जायँ, एक क्षणमें ही उनका परस्पर मिलन हो जाय, तो उसी क्षण वह सोलह कोस परिमित भूमि अपनेको ठीक उतने समयके अनुरूप यात्राके योग्य कर लेगी, सङ्कुचित बन जायगी। लीलापरिकरोंमें कोई

अथवा श्रीकृष्णचन्द्र यदि ऐश्वर्यशक्तिकी सहायतासे चमत्कार उत्पन्न करें तब तो लीलाका माधुर्य ही जाता रहेगा। फिर तो व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रकी निराविल मधुरिमामय लीलारसपानका, रसदानका उद्देश्य ही अपूर्ण रह जायगा। इसीलिये बाहरसे तनिक भी, कुछ भी गन्ध न देकर ही, किसी भी अस्वाभाविकताका प्रकाश न करके, अचिन्त्यलीलाशक्तिकी प्रेरणा पाकर वह भूमि एक घड़ीमें यात्राके योग्य रूप धारण करेगी, नहीं-नहीं उसका ऐसा रूप बन जायगा। न तो लीलापरिकरको यह ज्ञान है कि भूमि इस क्षण सङ्कुचित हुई और न स्व उस भूमिको ही यह भान है कि उसने अपना रूप सङ्कुचित किया है। भूमि स्वयं उस लीलारसका पान कर रही है, उसकी अधिष्ठात्रीको, नहीं-नहीं, स्वयं उसको ही यही आवेश है कि मैं इतनी ही हूँ, लीला-परिकर भी उस समय यही अनुभव करते हैं कि भूमि इतनी ही है। असलमें तो इतनी है, इतनी नहीं, यह भान भी लीलापरिकरको कहाँ ? लीलाका अङ्ग बनकर, मिलनसुखकी परिपुष्टिके लिये, वियोगरसको परम आस्वाद्य बनानेके लिये आवश्यकता हुई तो इस ज्ञानका विकास लीलाशक्ति कर देती हैं, नहीं तो, जो जहाँ जिस रसके पानमें निमग्न है, बस, वह वहीं डूबा रहता है। अथवा रसकी तरङ्गें उसे जिधर बहा ले जाती हैं, वह बह जाता है। इन तत्त्वोंका, रहस्योंका विश्लेषण तो वह करता है, जो तटस्थ होकर लीलासुखका, लीलातत्त्व-रहस्योंका चिन्तन करता है। जो सदाके लिये लीलामें निमग्न हो गया, वह नहीं। अवश्य ही इन बातोंका ठीक-ठीक दर्शन—सब घटनाओंका पूरा-पूरा सामञ्जस्य भी केवल उसीको होता है, जिसे श्रीकृष्णचन्द्रकी कृपा भीतर-बाहरसे अत्यन्त परिशुद्ध बना देती है, कृपाकी स्रोतस्विनीमें अवगाहनकर, अपने नेत्रोंका मैल धोकर, श्रीकृष्णचन्द्रके नखचन्द्रकी ज्योतिमें वस्तुतत्त्वको देखता है। तथा जितना देखता है, अनुभव करता है, उसे भी वह वाणीसे व्यक्त नहीं कर पाता। प्राकृत धरातलपर अप्राकृतको ठीक-ठीक क्या, किसी अंशमें भी उतार देना प्राकृत शक्तिके लिये तो असम्भव है। प्राकृत मन-वाणीके द्वारा तो यह सम्भव है ही नहीं। अनन्तैश्वर्य-निकेतन, अनन्तशक्ति, सर्वभवनसमर्थ श्रीकृष्णचन्द्र चाहे सो भले ही कर सकते हैं।

जैसे व्रजभूमिके लिये संकोच-विस्तार आदिकी बात है, वैसे ही लीलासे सम्बद्ध समस्त वस्तुओंके लिये। इन्द्रनीलमणितरु लीलामें योगदान करनेके लिये आवश्यकता होनेपर कदम्बमें परिणत हो सकता है, मणिमय रहकर ही श्रीकृष्णचन्द्रके किसी प्रिय सखाके लिये, किसी भी परिकरके लिये मनोहर सौरभपूर्ण सुन्दरातिसुन्दर, पर देखनेमें प्राकृत कदम्ब-जैसे ही पुष्प दान कर सकता है; पद्मरागका अशोक प्राकृतकी भाँति बनकर अथवा ज्यों-का-त्यों रहकर कर्णाभरणके लिये गोपसुन्दरियोंके हस्तकमलोंपर परम सुन्दर स्तवकगुच्छ—प्राकृत अशोक-कुसुमके समान ही दर्शनीय कुसुम-गुच्छ देकर लीलाकी यथोचित धाराको अक्षुण्ण बनाये रह सकता है। मणिमय रसाल आम्र सुस्वादु फलोंकी वर्षा कर सकते हैं। समस्त वन-का-वन लीलापरिकरके भावानुरूप, अथवा लीलाके सूत्रधार श्रीकृष्णचन्द्रकी इच्छाके अनुरूप प्राकृत-सा बनकर रसपोषणमें अपना योगदान कर सकता है, करता है। मृत्तिकाकी आवश्यकता होनेपर व्रजरानीके उस चिन्तामणिमय उद्यानमें जहाँ एक क्षण पूर्व मृत्तिकाका लेश भी नहीं, सुरम्य वालुकाराशि, पङ्किल मृत्तिका—जो चाहिये, जहाँ चाहिये, जब चाहिये, वहीं वस्तु प्रस्तुत रहेगी तथा लीलाकी मधुमयी धारा निर्दिष्ट क्रमका अनुसरण करती आगे-से-आगे प्रसरित होती रहेगी।

वृन्दाकाननके लिये इस काननमें अभी-अभी प्रकाशित हुई पुरीके लिये जो सत्य है, वही अबसे सोलह प्रहर पूर्व परित्याग किये हुए बृहद्वनके लिये—बृहद्वनके

व्रजपुर, राजभवनके लिये, वहाँके अणु-अणुके लिये है । स्वयं भगवान् व्रजेन्द्रनन्दनकी प्रकट लीलासे सम्बद्ध प्रत्येक वन, पर्वत, नद, नदी, सरोवर—उनके कण-कणके लिये है । यहाँ यह जानने योग्य है कि श्रीकृष्णचन्द्रकी प्रत्येक लीलास्थली नित्य है, विभु है, चिन्मय है । उनका लीलाक्रमके अनुरूप आविर्भाव-तिरोभाव होता रहता है । अथवा इसे ऐसे कह सकते हैं कि जहाँकी लीला समाप्त होती है, वहाँका अनन्त वैभव, आगे जहाँ लीलाका प्रकाश हो रहा है, होने जा रहा है, वहाँ उसमें जाकर मिल जाता है । यह मिलन-पृथक्करण भी प्राकृत द्रव्य एवं भावोंके संयोग-वियोग-जैसा नहीं है । सर्वथा अचिन्त्य है, अतर्क्य है । पर किसी अंशमें उसे समझनेके लिये प्राकृत उपादान ही हमारे सामने रहेंगे । अस्तु, अभी-अभी एक बात हुई है, उसे हम ऐसे समझ सकते हैं वृन्दाकाननकी व्रजेन्द्रपुरी जैसे नित्य है, वैसे ही बृहद्वनकी भी; किंतु जैसे तेजमें तेज मिल जाता है, जलमें जल समा जाता है; एक स्थानसे आहृत अग्निका तेज, अन्य अग्निमें मिलते ही उसीमें विलीन हो जाता है, मन्दाकिनीकी परम पुनीत वारिधारा कलिन्दनन्दिनीके पावन प्रवाहमें मिलकर एक बन जाती है । ऐसे मिले हुए तेजमें, वारिधारामें जैसे न तो अनित्यताका प्रश्न है, न हेयताका, वैसे ही जब बृहद्वन-की, वहाँकी व्रजेन्द्रपुरीकी लीला समाप्त हुई, श्रीकृष्णचन्द्र वहाँसे वृन्दाकाननमें पधारे, तो वहाँकी समस्त श्री, वहाँ-का अनन्त अपरिसीम सम्पूर्ण वैभव भी आकर वृन्दावन-में मिल गया । वह यहाँकी सद्यःप्रकटित व्रजराजपुरीमें समा गया, वहाँ नित्य रहते हुए ही, पर वहाँसे तिरोहित होकर, वृन्दाटवीमें आ मिला, व्रजेशके आवासमें आकर, उससे मिलकर एक हो गया—

नित्यत्वं सकलस्य यद्यपि हरेर्धाम्नः सुसिद्धं तथा-
प्येकस्मिन्नपरस्य सम्मिलनतो नानित्यता दृश्यते ।
तेजस्तेजसि वारि वारिणि यथा लीनं च नो हीयते
तद्वत्सा च महावनस्थितपुरीलक्ष्मीरिमामाविशत् ॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

सचमुच, जगत्के प्राणियो ! श्रीकृष्णचन्द्रसे, उनकी लीलासे सम्बद्ध किसी भी तत्त्व-रहस्यको एकमात्र उनकी कृपावारिकी कणिकामात्रको ही संबल बनानेपर ही जान सकोगे । अचिन्त्य भावोंमें तर्कोंके लिये स्थान जो नहीं । श्रद्धापूत चित्तसे अनुशीलन करनेपर उनकी कृपाशक्ति सत्यको अपने-आप व्यक्त कर देगी । उसे जानकर, अनुभव कर कृतार्थ हो जाओगे । वाणी इससे आगे मौन हो जाती है ।

इस प्रकार श्रीकृष्णचरण-नखचन्द्रिकासे आलोकित चित्त हुए, दिव्य रसपानमें, आनन्दमें निमग्न हुए कविकी वाणी व्रजेन्द्रपुरीके लिये उपर्युक्त बातें,—किसी अंशमें उस वैभवको हृदयङ्गम करानेके लिये अथवा स्वान्तःसुखाय——कह उठती है । फिर भी पुरीका अनन्त वैभव तो इससे बहुत आगेकी वस्तु है । प्राकृत द्रव्योंके भावोंके सहारे उसका वास्तविक चित्रण, वर्णन होनेका ही जो नहीं, असम्भव है । इसीलिये ऐसी महामहिम पुरीकी रचना करके रचना-अभिनयके मिससे पुरीके प्रकाशित हो जानेपर स्वयं देवशिल्पी विश्वकर्माने भी पुरीकी वास्तविक अद्भुत श्रीको, उसके असमोर्द्ध वैभवको, उसकी रूपरेखाकी एक अल्प-सी छटाको भी देखा या नहीं, यह कौन बतावे ? किसीकी दिव्य आँखें इतना ही देख सकती हैं कि देवशिल्पी एक अभूतपूर्व परमानन्द-में निमग्न हुए, आत्मविस्मृत-से हुए इतस्ततः घूम रहे हैं । उनका शिल्पज्ञान जो कभी कुण्ठित नहीं होता, उसे भी वे मानो पद-पदपर भूले जा रहे हैं । बार-बार ठहर-ठहरकर सोचने-से लगते हैं——आगे अमुक रचना कैसे हो ? इतनेमें पुनः एक आवेश आरम्भ हो जाता है, उनका कौशलपूर्ण हस्त क्रियाशील बन जाता है और क्षणोंमें ही वहाँ एक चमत्कार मूर्त हो जाता है । फिर जो हो, प्रथम उन्होंने गोपावासोंकी रचना की । फिर दौड़ेसे कुछ दूर चले गये । एक सुरम्य स्थलपर वे कुछ निर्माण करने लगे और देखते-ही-देखते व्रजेश्वर नन्दबाबा-

के परम सुहृद् महाराज श्रीवृषभानुजीकी पुरी झक-झक करने लगीं ।* उनके मनके मानचित्रमें तो ऐसी संपदा त्रिकालमें भी नहीं थी, पर न जाने कैसे, उनके ही हाथोंकी ओटसे यह बिखर पड़ी है । जो हो, कुछ क्षण-के लिये तो उनका शिल्पज्ञान भूल गया । पर इसी बीचमें वे यथास्थान पुनः पहुँच गये । सोचने लगे व्रजेन्द्र नन्दकी पुररचनाकी बात । पुनः हाथोंमें तेज आया और क्या-से-क्या वस्तु प्रकाशित हो गयी । नन्द-भवनको प्रकाशितकर वे नगरमें घूमने लगे, राजमार्ग, पुरवीथियोंकी रचना की । इसीके साथ वणिक्-आवासों-का, हाट-बाजारका भी निर्माण हो गया । फिर उनके मनमें रसकी एक बाढ़ आयी । उसीमें बहकर वे पुनः वृन्दाकाननमें आये, एक स्थलपर अपने रस-सने हाथोंसे उन्होंने स्पर्श भर किया, अपनी कल्पनाका रासमण्डल निर्माण करनेके लिये । बस, व्रजेन्द्रनन्दनकी सर्वलीलामुकुटमणि रासलीलाके उपयुक्त वह नित्य स्थली देदीप्यमान हो उठी । किसकी शक्ति है कि उसका चित्रण कर सके ? जो हो, अब कुछ रचनाएँ और रही हैं और इसीलिये देवशिल्पी वृन्दावनमें घूमने लगते हैं । श्रीकृष्णचन्द्रकी निभृत निकुञ्जलीलाकी भी एक झाँकी इस प्रपञ्चमें प्रकाशित हो, इसका आयोजन होने चला । देखते-ही-देखते, देवशिल्पीके हाथके अन्तरालसे, वृन्दावन-में ही तीस मनोहर रमणीय वनोंका आविर्भाव हो गया । यहाँ इस वनराजिमें ही राधा-माधवके स्वरूपानन्दसे चिन्मय, आदिरसकी स्रोतस्विनी प्रकट होगी; जगद्-के आत्माराम योगीन्द्र-मुनीन्द्रगण भी उसके एक कणसे सिक्त होनेके लिये लालायित हो उठेंगे । अस्तु, उन वनोंके दर्शनसे अपनेको कृतार्थ करते हुए देवशिल्पी मधुवनके निकट आ पहुँचे । वहाँ वृन्दावनेश्वरके लिये, वृन्दावनेश्वरीके लिये, यत्परो नास्ति—सुन्दर एक विहार-मन्दिरका निर्माण कर, उसके आविर्भावका दर्शन करके वे नगरमें ही लौट आये । देवशिल्पीने अन्तमें यह किया—अपने ज्ञानमें जिनके निमित्तसे जिन-जिन आवासोंका उन्होंने निर्माण किया है, उन गोपोंके नाम उन्होंने उनपर अङ्कित कर दिये । इसी समय योगमाया यवनिका अपसारित करने लगती हैं, निर्धारित समय समाप्त हो रहा है, मानो कोई देवशिल्पीके कानोंमें यह कह देता है । क्षणभरका भी विलम्ब न कर, परमानन्दमें झूमते हुए—शिल्पशिष्योंके, यक्षसमुदायोंके साथ—वे वृन्दावनेश्वर श्रीकृष्णचन्द्रके चरणसरोरुहमें उपस्थित हो जाते हैं । आते समय यह साहस नहीं हुआ था, दूरसे ही उन्होंने वन्दना की थी; किंतु धामके स्पर्शने अब उन्हें यह अधिकार दे दिया है । विनयावनत हुए व्रजेश्वरीके शिविरद्वारपर ही अपना सिर रखकर, निद्रा-सुखमें निमग्न निदेशका नमनकर, निजपरिकरसहित देवशिल्पी अपने आवासकी ओर चल पड़ते हैं—

यानि येषां मन्दिराणि तन्नामानि लिलेख सः ।
मुदा युक्तो विश्वकर्मा शिष्यैर्यक्षगणैः सह ॥
निदेशं निद्रितं नत्वा प्रययौ स्वालयं मुने ।

(ब्रह्मवैवर्तपुराण)

एक वनकुक्कुटके मुखमें समस्त सुप्त व्रजवासियोंकी निद्रा हर लेनेकी शक्ति भरकर योगमाया स्वयं भी, मानो, वृन्दावनेश्वरके कमनीय श्रीअङ्गमें विलीन हो जाती है ! बड़भागी विहङ्गम तत्क्षण पुकार उठता है । फिर तो एक साथ वह तुमुल कोलाहल होता है कि जिसकी तुलना नहीं ।

'व्रजेन्द्रने कल जिस क्रमसे अपने जिस मनोनीत

* बृहद्वनसे जब व्रजेश्वर वृन्दावन आने लगे तो उनके परम सुहृद्, एक प्राण दो देह-जैसे स्नेही श्रीवृषभानुने भी अपने अपरिसीम वैभवका त्याग कर उनका अनुगमन किया । महाराज नन्दके न रहनेपर बृहद्वनकी सीमामें वे श्वास भी लें, यह सम्भव नहीं । ऐसा अतुल स्नेह दोनोंमें है । इसीलिये वे भी साथ ही वृन्दाकाननमें पधारे हैं । सकुटुम्ब, सपरिवार ही नहीं, अपनी सारी प्रजाके साथ, अपने पूरे व्रजके साथ ।

मानचित्रके अनुसार शकटमय नगरकी रचना की थी, करवायी थी, उसमें तनिक भी हेर-फेर नहीं; किंतु उस शकटपुरीके पीछे इतना विशाल एवं ऐसा वैभवमय नगर इतने अल्पकालमें निर्मित हो गया है, सब आवासोंपर यथायोग्य सबके नाम अङ्कित हैं; ऐसे, इस भाँति, मानो शकटमय पुर उसके प्राङ्गणमें विश्राम कर रहा हो। बृहद्वनका बसा हुआ व्रजपुर ज्यों-का-त्यों उठकर रात्रिमें मानो यहाँ चला आया—और भी शतसहस्रगुणी अधिक संपदासे विभूषित होकर !……।'—वयोवृद्ध विचारशील गोप आश्चर्यसे स्तब्ध हो गये।

केवल व्रजेश्वरको कोई आश्चर्य नहीं। उनका मन गुन-गुन कर रहा है—'यह तो मेरे इष्टदेव श्रीनारायणकी इच्छासे हुआ है, अपने दासको सुविधा देनेके लिये उन्होंने यह खेल किया है। उनके लिये ऐसे असंख्य वैभवमय नगरोंकी रचना एक तुच्छ क्रीड़ा है। पर ओह ! कृपामय !……।'—व्रजेश्वरके नेत्र छल-छल करने लगते हैं। दुकूलसे अपने सजल नेत्रोंका मार्जन करते हुए वे इस नवनिर्मित नगरमें घूमने लगते हैं, उन अङ्कित नामोंको पढ़-पढ़कर सबको प्रवेश करनेकी आज्ञा देते हैं—

भ्रामं भ्रामं तन्नगरं दर्शं दर्शं गृहं गृहम्।
पाठं पाठं च नामानि सर्वेभ्यो निलयं ददौ॥

(ब्रह्मवैवर्तपुराण)

गोपोंका तुमुल कोलाहल इस लीलाके सूत्रधारकी निद्रा भी हर लेता है। अकचकाये-से होकर वे जाग उठते हैं। जननी कितना समझाती है—'मेरे लाल ! अभी तो रात्रि है, किसी देवताने तुम्हारे लिये गृहका निर्माण किया है, नगरकी रचना की है, उस नगरकी मणिमय प्रभा राकाचन्द्रकी ज्योत्स्नासे मिलकर इतना प्रकाश फैला रही है। सूर्योदय होने दो, चलेंगे, देखेंगे……।' किंतु कौन सुने ? बलरामकी निद्रा भी भङ्ग हो गयी है। दोनों बाहर जानेके लिये अत्यन्त उत्सुक हैं। जननी दोनोंको क्रोडमें धारण किये अपने शकटशिविरके द्वारपर आनेके लिये बाध्य हो जाती हैं।

धीरे-धीरे भुवनभास्करकी किरणें हाथोंमें रोली भरकर नवीन व्रजपुरका दर्शन करने, उसे तिलक लगाने, उसे सब ओरसे कुङ्कुमरागमें रँग देनेके लिये आ पहुँचती हैं। शीघ्रतासे यशोदारानी दोनों पुत्रोंका शृङ्गार करती हैं, कलेवा कराती हैं। यह समाप्त होते-न-होते दोनों ही भाग छूटते हैं। अगणित सखाओंको साथ लेकर राम-श्याम—दोनों भाई पुरकी शोभा देखते हैं। नगरभ्रमण-का आनन्द लेते हुए यमुनापुलिनपर आ जाते हैं, फिर वहाँ-से वनकी ओर चल देते हैं। आज सबसे पहले तो उन्हें गिरिराजके उत्तुङ्ग शिखरको ही छूना है। वृन्दाटवीकी सुषमा, गिरिराजकी मनोहारिणी शोभा, रविनन्दिनीके पुलिनका उन्मादी सौन्दर्य—राम-श्याम जितना अधिक इनका पान करते हैं, उतनी ही अधिक मात्रामें उनकी पानकी लालसा बढ़ती जाती है, तृप्ति होती ही नहीं—

वृन्दावनं गोवर्धनं यमुनापुलिनानि च।
वीक्ष्यासीदुत्तमा प्रीती राममाधवयोर्नृप॥

(श्रीमद्भा० १०। ११। ३६)

'और अब तो यह नवीन नगर भी हमारे यथेच्छ आनन्दवर्द्धनके लिये बन गया है, रातोंरात किसीने इसकी रचना कर दी है।'—लीलारसमत्त श्रीकृष्णचन्द्र अपनी ही रचनामें, मानो आप ही भूल-से जाते हैं। भूले नहीं तो लीलारसकी पुष्टि कैसे हो ? इस पुरीकी एक-एक वस्तु उन्हें लुब्ध किये रहेगी; बलरामको, यशोदारानीके नीलमणिका मन इनमें ही उलझा रहेगा!—

मनिन जटित सब भूमि गुल्म तरुलता सुझूमत।
धवल धौरहर उच्च स्वच्छ कलसा नभ चूमत॥
झँझरिन झलक अपार द्वारपट मनिन पटल कर।
फटिक चटक चौहटिनि चारु चकचौंध अटन पर॥
भनि 'मान' बिपुल ब्रंदाबिपिन अर्धचंद्र सम पुरलसिव।
मन रमिव राम घनस्याम कहँ तिन इच्छामाया रचिव॥

श्रीअरविन्दका अमेरिकाको संदेश

[गत १५ अगस्तके दिन श्रीमती पर्लबककी अध्यक्षतामें श्रीअरविन्द-जयन्ती मनानेके लिये न्यूयार्कमें एक अधिवेशनकी आयोजना हुई थी। उस अधिवेशनके आयोजकोंने ही अमेरिकाके लिये एक संदेशकी प्रार्थना की थी। संदेशमें श्रीअरविन्द बतलाते हैं कि उन्हें जो कहना है 'वह समानरूपसे पूर्वके लिये भी संदेश हो सकता है'। वह संदेश पूरे-का-पूरा निम्न प्रकार है—]

'ऐसा मत सोचो कि तुम पश्चिमके हो और दूसरे पूर्वके। सब मनुष्य एक ही दिव्य स्रोतसे प्रकट हुए हैं और उसी स्रोतकी एकताको भूतलपर अभिव्यक्त करना ही उनका वास्तविक उद्देश्य है।'—श्रीमाताजी

पंद्रहवीं अगस्तके उपलक्ष्यमें पश्चिमके नाम संदेश भेजनेको मुझसे प्रार्थना की गयी है, परंतु मुझे जो संदेश देना है वह समानरूपसे पूर्वको भी दिया जा सकता है। मानवपरिवारके इन दो अङ्गोंके भेद-वैषम्यकी विस्तृत चर्चा करने और यहाँतक कि इन्हें एक दूसरेके विरोधमें खड़ा करनेकी आजकल प्रथा-सी पड़ गयी है; परंतु मैं तो भेद-वैषम्यकी अपेक्षा अभेद-एकत्वका ही विशेषकर विस्तारसे वर्णन करना चाहूँगा। सच पूछिये तो पूर्व और पश्चिमके लोगोंकी एक ही प्रकृति है, एक ही भवितव्यता है, महत्तर पूर्णताके लिये एक समान अभीप्सा है, अपनेसे उच्चतर किसी वस्तुके लिये एक समान जिज्ञासा है,—किसी ऐसी वस्तुके लिये जिसकी ओर हम भीतरसे और बाहरसे भी अग्रसर हो रहे हैं। कुछ विचारकोंकी ऐसी प्रवृत्ति ही हो गयी है कि वे पूर्वकी आध्यात्मिकता या गुह्यवाद तथा पश्चिमके जडवादपर दृष्टि गड़ाये रहते हैं; परंतु पश्चिममें भी आध्यात्मिक खोज एवं जिज्ञासा पूर्वसे कम नहीं रही है और चाहे वहाँ ऋषि-मुनि तथा गुह्यदर्शी पूर्वकी भाँति बहुतायतसे न हुए हों, पर हुए अवश्य हैं। दूसरी ओर पूर्वमें भी जडवादात्मक प्रवृत्तियाँ रही हैं और भौतिक ऐश्वर्य-वैभव तथा जीवन, जडतत्त्व एवं इहलोकके साथ पश्चिम-सरीखे या तदभिन्न व्यवहार भी रहे हैं। पूर्व और पश्चिममें न्यूनाधिक निकट संपर्क और मेल-जोल सदा ही रहा है, उन्होंने एक दूसरेपर प्रबल प्रभाव डाला है और आज तो निकटतर संपर्कके लिये विश्वप्रकृति तथा नियतिका अत्यधिक दबाव पड़ रहा है।

हमारे सामने आज आध्यात्मिक और भौतिक दोनों प्रकारकी एक ऐसी मिलित आशा तथा एक ऐसी मिलित भवितव्यता जगमगा रही है, जिसके लिये दोनोंको मिल-जुलकर काम करनेकी जरूरत है। हमें अपना ध्यान पहलेकी तरह भेद-वैषम्यपर नहीं, बल्कि मेल तथा ऐक्य और यहाँतक कि एकत्वपर लगाना चाहिये, क्योंकि उस मिलित आदर्श एवं अटल लक्ष्य तथा चरितार्थताको संपादित एवं साधित करनेके लिये इन्हीं चीजोंकी जरूरत है। उसी आदर्शके पथपर विश्वप्रकृतिने शुरू-शुरूमें अन्धवत् कदम रक्खा था और उसीकी ओर वह आज अपने प्रारम्भिक अज्ञानकी जगह उदीयमान वृद्धिशील ज्ञानकी ज्योतिमें निरन्तर धैर्यपूर्वक बढ़ रही है।

परंतु वह आदर्श और वह उद्देश्य क्या होगा। यह तो इस बातपर निर्भर है कि जीवनकी वास्तविकताओं तथा परम सद्वस्तुके सम्बन्धमें हमारा विचार क्या है।

यहाँ हमें यह ध्यानमें रखनेकी जरूरत है कि पूर्व और पश्चिमकी प्रवृत्तियोंमें कोई आत्यन्तिक भेद नहीं है। वे केवल उत्तरोत्तर भिन्न-भिन्न दिशाओंमें विकसित होती गयी हैं। सर्वोच्च सत्य है आत्माका सत्य। वह आत्मा विश्वातीत परम आत्मा होता हुआ भी संसारमें तथा सर्वभूतमें अन्तर्यामीरूपसे विद्यमान है। वह

सबको धारण कर रहा तथा चेतनाके विकासद्वारा उस उद्देश्य, लक्ष्य एवं चरितार्थताकी ओर ले चल रहा है, जो चरितार्थता प्रकृतिकी धुँधली अचेतन प्रारम्भिक अवस्थाओंसे लेकर निरन्तर उसका लक्ष्य रही है। वह परम आत्मा सत्ताका एक ऐसा रूप है जो हमारे अस्तित्वके रहस्यका सूत्र हमें पकड़वा देता है और संसारको सार्थकता प्रदान करता है। पूर्वने नित्य-निरन्तर तथा उत्तरोत्तर आत्माके परम सत्यपर ही अधिक-से-अधिक बल दिया है; यहाँतक कि इसने अपने ऐकान्तिक दर्शन-शास्त्रोंमें जगत्को माया कहकर त्याग दिया है और आत्माको एकमात्र सद्वस्तु माना है। पश्चिमने सदा-सर्वदा अधिकाधिक अपना सारा बल संसारपर लगाया है अर्थात् हमारी भौतिक सत्ताके साथ मन तथा प्राणके व्यवहारोंपर, ऐहिक प्रभुत्वपर, मन तथा प्राणकी पूर्णता और मानवप्राणीकी किसी-न-किसी प्रकारकी ऐहिक कृतार्थतापर, हालहीमें यह स्थिति पराकाष्ठाको पहुँच गयी है और उसने आत्माका निषेध कर डाला है; यहाँतक कि जडप्रकृतिको एकमात्र सद्वस्तुके रूपमें सिंहासनासीन कर दिया है। एक ओर तो आध्यात्मिक पूर्णताका अनन्य आदर्श और दूसरी ओर जातिकी पूर्णता, समाज-की पूर्णता तथा मानव मन एवं प्राणका और मनुष्यके भौतिक जीवनका पूर्ण विकास ही भविष्यका महान्-से-महान् स्वप्न बन गया है। तथापि दोनों ही सत्य हैं और दोनों ही विश्वप्रकृतिमें आत्माके उद्देश्यके अंग समझे जा सकते हैं, ये एक दूसरेसे असंगत नहीं। असलमें आवश्यकता इस बातकी है कि इन्हें विषमतासे मुक्तकर अपनी भविष्य-दृष्टिमें समाविष्ट तथा समन्वित कर लिया जाय।

पश्चिमके विज्ञानने यह गवेषणा की है कि विकास इस जड जगत्में जीवन तथा उसकी प्रक्रियाका रहस्य है; परंतु इसने चेतनाके विकासकी अपेक्षा आकृति और उपजातियोंके विकासपर ही अधिक बल दिया है; यहाँतक कि चेतनाको विकासके प्रयोजनका संपूर्ण मर्म नहीं वरं दैवसंयोग माना है। पूर्वमें भी कुछ विचारकों तथा कतिपय दर्शनों एवं धर्मशास्त्रोंने विकासका सिद्धान्त स्वीकार किया है, परंतु वहाँ इसका अभिप्राय है आत्मा-का विकास अर्थात् व्यक्तिके विकसनशील तथा क्रमिक रूपों और अनेक जन्मोंमेंसे गुजरते हुए आत्माका अपने सर्वोच्च सत्य स्वरूपमें विकसित होना। क्योंकि यदि आकारके भीतर कोई चेतन सत्ता है तो वह सत्ता चेतनाका अस्थायी दृग्विषय नहीं हो सकती; वह एक ऐसी आत्मा होनी चाहिये जो अपनेको चरितार्थ कर रही है और वह चरितार्थता तभी सम्पन्न हो सकती है, जब कि आत्मा अनेकानेक क्रमागत जन्मों तथा नाना क्रमिक शरीरोंमें फिर-फिर पृथ्वीपर प्रकट हो।

अबतक विकासकी प्रक्रिया यही रही है कि अचेतन जडप्रकृतिसे तथा उसमें पहले अवचेतनका और सचेतन प्राणका उद्भव और फिर सचेतन मनका विकास—प्रथमतः पशुके जीवनमें और फिर सचेतन तथा विचारशील मानवमें, जो मानव विकासात्मिका प्रकृतिकी सर्वोच्च वर्तमान उपलब्धि है। मनोमय प्राणीका सर्जन इस समय प्रकृतिका परमोच्च कार्य है और इसे ही उसका अन्तिम कार्य समझनेकी ओर विचारकोंकी प्रवृत्ति दीख पड़ती है; परंतु इससे आगे विकासके एक और कदम-की भी कल्पना की जा सकती है, प्रकृतिके सामने यह लक्ष्य भी हो सकता है कि वह मनुष्यके अपूर्ण मनसे परेकी एक ऐसी चेतनाका विकास करे जो मनके अज्ञानका अतिक्रमकर सत्यको अपने जन्मसिद्ध अधिकार एवं स्वभावके रूपमें धारण करे। निःसंदेह, एक ऐसी परमोच्च चेतनाका भी अस्तित्व है, जिसे वेदमें ऋत-चेतना कहा गया है और जिसे मैंने अतिमानसका नाम दिया है। उसमें परम ज्ञान अन्तर्निहित है और न तो उसे इसकी खोज करनी पड़ती है और न इससे बार-बार चूक जानेकी ही कोई बात उपस्थित होती है। एक उपनिषद्में कहा गया है कि मनोमय पुरुषसे आगला

और उपरला सोपान है विज्ञानमय जीव; उसीमें आत्माको आरोहण करना है और उसीके द्वारा इसे आध्यात्मिक सत्ताका पूर्ण आनन्द उपलब्ध करना है। यदि इहलोकमें विश्वप्रकृतिके अगले विकास-सोपानके रूपमें विज्ञानमय स्तरकी उपलब्धि हो सके तो प्रकृतिका उद्देश्य चरितार्थ हो जायगा और हम इस लोकमें भी जीवनकी पूर्णता तथा इस शरीरमें भी या संभवतः पूर्णताप्राप्त शरीरमें पूर्ण आध्यात्मिक जीवनकी प्राप्तिकी कल्पनाको हृदयङ्गम कर सकेंगे। यहाँतक कि हम पृथ्वीपर दिव्य जीवनकी प्रतिष्ठाकी चर्चा कर सकेंगे और पूर्णताकी संभावनाका हमारा मानवी स्वप्न सिद्ध हो जायगा। इसके साथ ही पृथ्वीपर स्वर्गको प्रतिष्ठित करनेकी हमारी वह अभीप्सा भी पूरी हो जायगी जो अनेक धर्मों तथा आध्यात्मिक ऋषियों एवं मनीषियोंमें समान रूपसे पायी जाती है।

मानव-जीवका परम आत्माकी ओर आरोहण ही जीवका सर्वोच्च लक्ष्य एवं ध्रुव नियति है, क्योंकि वह परम आत्मा ही सर्वोच्च सद्वस्तु है; परंतु आत्मा तथा उसकी शक्तियोंका इस जगत्‌में अवतरण भी हो सकता है और वह जड जगत्‌के अस्तित्वको उचित सिद्ध करेगा तथा सृष्टिको सार्थकता प्रदानकर उसका दिव्य प्रयोजन प्रकाशित करेगा और उसकी गुत्थी सुलझा देगा। इस अत्युच्च और अतिमहान् आदर्शके अनुसरणमें पूर्व और पश्चिमका समन्वय किया जा सकता है, आत्मा जड प्रकृतिका आलिङ्गन कर सकती है और प्रकृति आत्माके अन्तर्गत अपने निजी सत्य स्वरूपकी तथा वस्तुमात्रमें निगूढ सद्वस्तुकी उपलब्धि कर सकती है।

राम-नामकी महिमा

(लेखक—महामहोपाध्याय डा० श्रीगोपीनाथजी कविराज, एम्०ए०,डी०लिट्०)

श्रीभगवान्‌के रूप, लीला और गुणोंकी भाँति ही उनका नाम भी अप्राकृत और चिदानन्दमय है। नाम अलौकिक शक्ति-सम्पन्न है। नामके प्रभावसे ऐश्वर्य, मोक्ष और भगवत्प्रेमतककी प्राप्ति हो सकती है। नामाभासको छोड़कर गुरुप्रदत्त शक्तिसे सम्पन्न नामका यदि विधिपूर्वक अभ्यास किया जाय तो उससे जीवके सभी पुरुषार्थ सिद्ध हो सकते हैं। नामके जाग्रत् होनेपर उसके प्रभावसे सद्गुरुकी प्राप्ति और तदनन्तर सद्गुरुसे इष्ट मन्त्ररूपी विशुद्ध बीजकी प्राप्ति हो सकती है। बीजके क्रम-विकाससे चैतन्यकी अभिव्यक्ति होती है और देह एवं मनकी सारी मलिनता दूर होकर सिद्धावस्थाका उदय हो जाता है। मन्त्रसिद्धि वस्तुतः भूतशुद्धि और चित्तशुद्धिके फलस्वरूप होती है। इस अवस्थामें स्व-भावकी प्राप्ति हो जाती है इसलिये समस्त अभावोंकी निवृत्ति हो जाती है। यद्यपि यह अवस्था सिद्धावस्थाके अन्तर्गत मानी जाती है; परंतु यही भगवद्भजनकी प्रारम्भिक अवस्था है। माताके गर्भसे उत्पन्न मलिन देहसे यथार्थ भगवद्भजन नहीं होता। इसलिये, और राजमार्गके भगवद्भजनकी सुलभताके लिये मायिक अशुद्ध देहके उच्च स्तरपर भावदेहकी अभिव्यक्ति आवश्यक होती है। भावदेहमें जो भजन होता है, वह स्वभावका भजन होता है, वह विधिमार्गकी नियमबद्ध उपासना नहीं है। मन्त्र-चैतन्यके बाद, विधिमार्गकी कोई सार्थकता नहीं रह जाती।

भक्तके भावदेहके विकासके साथ-साथ उसकी भाव-रञ्जित दृष्टिके सम्मुख इष्ट देवताका ज्योतिर्मय धाम अपने-आप ही प्रस्फुटित हो जाता है। इसके पश्चात् भजनके प्रभावसे भावरूपा भक्तिके प्रेमभक्तिमें परिणत होनेपर पूर्ववर्णित ज्योतिर्मय धाममें इष्ट देवताका स्वरूप प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होने लगता है। यही प्रेमकी अवस्था है। इसके बाद भक्त और उसके इष्टकी पृथक् सत्ता विगलित होकर दोनोंके एकीभूत हो जानेपर रसकी अभिव्यक्ति होती है। यही अद्वैत अवस्था है। इसी अवस्थामें भक्तके स्थायी भावके अनुरूप अनन्त प्रकारकी नित्य लीलाओंका आविर्भाव हुआ करता है। यही भक्ति-साधनाकी सिद्धावस्था है।

श्रीभगवान्‌का नाम इस प्रकार रसके स्वरूपमें अपनेको प्रकट करता है। इसीका नाम साधनाका साधारण तत्त्व है।

श्रीरामनाम श्रीभगवान्‌का एक विशिष्ट नाम है। इसकी महिमा अनन्त है। शास्त्रोंने इसीको 'तारक ब्रह्म' कहा है। यह प्रणवसे अभिन्न है, इस बातको भी ऋषि-मुनियोंने बार-बार बतलाया है। कहा जाता है कि परम भागवत श्रीगोस्वामी तुलसीदासजीको देहत्यागके कुछ दिनों पूर्व अलौकिक भावसे श्रीमन्महावीरजीने रामनामका रहस्य बतलाया था। उन्होंने कहा कि विश्लेषण करनेपर रामनाममें पाँच अवयव या कलाओंकी प्राप्ति होती है। इनमें प्रथमका नाम 'तारक' है और पिछले चारों नाम क्रमशः—'दण्डक', 'कुण्डल', 'अर्धचन्द्र' और 'बिन्दु' हैं। मनुष्य स्थूल, सूक्ष्म और कारण देहको लेकर इस मायिक जगत्‌में विचरण करता रहता है। जबतक मायाका भेद नहीं होता, तबतक महाकारण देहकी प्राप्ति नहीं हो सकती। साधकको गुरूपदिष्ट क्रमके अनुसार स्थूल देहके समस्त तत्त्वोंको नामके प्रथम अवयव 'तारक'में लीन करना पड़ता है। स्थूल देह एवं अन्यान्य तीनों देह पाञ्चभौतिक हैं। स्थूलमें अस्थि, त्वक् आदि पाँच पृथ्वीके; मेद, रक्त, रेतः आदि पाँच जलके; क्षुधा, तृष्णा आदि पाँच तेजके; दौड़ना, चलना आदि पाँच वायुके और काम, क्रोध, लोभ आदि पाँच आकाशके कार्य हैं। अन्य तीनों देहोंमें भी इसी प्रकार पञ्चभूतोंके अंश हैं। प्रत्येक तत्त्वकी पाँच प्रकृति होती है। इसीसे स्थूल देहमें पाँच तत्त्वोंकी पचीस प्रकृति हैं। इसी प्रकार अन्य तीनों देहोंमें पचीस प्रकृति हैं।

साधनाके प्रभावसे स्थूल देहके पाँचों तत्त्व जब तारकमें लीन हो जाते हैं, तब सूक्ष्म देहके पाँचों तत्त्वोंको नामके दूसरे अवयव 'दण्डक'में लीन करना पड़ता है। इधर पूर्वोक्त तारक भी स्थूल तत्त्वोंको अपने अंदर लेकर 'दण्डक'में लीन हो जाता है। इसके बाद कारणदेहके तत्त्व नामके तीसरे अवयव 'कुण्डल'में लीन हो जाते हैं। साथ ही दण्डक भी कुण्डलमें लीन हो जाता है। कारणदेहकी निवृत्तिके पश्चात् शुद्ध सत्त्वमय महाकारण देहको नामके चतुर्थ अवयव 'अर्धचन्द्र'में लीन करना पड़ता है। महाकारण देहतक जड़का ही खेल समझना चाहिये। हाँ, महाकारण देह जड होनेपर भी शुद्ध है; परंतु स्थूल, सूक्ष्म और कारण जड अशुद्ध हैं। महाकारण देहके अर्धचन्द्रमें लीन हो जानेके बाद 'कैवल्य' देहमात्र बच रहता है। यह विशुद्ध चित्स्वरूप और जड सम्बन्धसे रहित है। अर्धचन्द्रके बादका नामका पाँचवाँ अवयव या कला बिन्दुरूपसे प्रसिद्ध है। बिन्दु पराशक्ति श्रीजानकीजीका स्वरूप है। बिन्दुरूपा श्रीजानकीजीका आश्रय लिये बिना कलातीत श्रीराघवका सन्धान नहीं मिल सकता। बिन्दुके अतीत रेफ ही परब्रह्म श्रीरामचन्द्र हैं। बिन्दुरूपिणी सीताजी और रेफरूपी श्रीरामचन्द्रजीमें दृढ़ अनुराग जब अचल हो जाता है, तब भवबन्धनसे मुक्ति मिल जाती है। और तभी सिद्ध पञ्चरसोंका आस्वादन हो सकता है, इससे पहले नहीं। शान्तरसके रसिक प्रह्लादादि, दास्यके हनूमान् आदि, सख्यके सुग्रीव-विभीषणादि, वात्सल्यके दशरथ आदि और शृङ्गार-रसके मूर्तस्वरूप जनकपुरकी युवतियाँ—विशेषतः श्रीजानकीजी स्वयं हैं।

कैवल्य देहमें चित्तत्त्वका स्फुरण वर्तमान है। उसके बाद तत्त्वातीत ब्रह्म वस्तु है, जो शक्तिरूपमें श्रीजानकीजीके नामसे और शक्तिके आश्रयरूपसे श्रीरामके नामसे भक्तोंके लिये सुपरिचित हैं। महावीरजीने जो उपदेश दिया है, उसका तात्पर्य यही है कि बिन्दुका आश्रय लिये बिना निष्कल परब्रह्मकी ओर अग्रसर नहीं हुआ जा सकता। वैसे प्रयत्नसे बड़े अनर्थकी सम्भावना है।

> तुलसी मेटैं रूप निज बिंदु सीयको रूप।
> देखि लखै सीता हिये राघव रेफ अनूप॥
> तुलसी जो तजि सीयको बिंदु रेफमें चाहु।
> तौ कुंभी महँ कल्पशत जाहु जाहु परि जाहु॥

अतएव जो रामनामके रसिक हैं, वे अर्धचन्द्र बिन्दु और रेफको एक कर डालते हैं। पृथक् नहीं होने देते। और इस एकमें ही उनके आस्वादनके लिये अचिन्त्य विचित्र लीलाएँ प्रस्फुटित हो उठती हैं।

राम नाम जपते रहौ, जब लगि घटमें प्रान।
कबहुँत दीनदयालके, भनक परैगी कान॥

अर्थ और रहस्यका भेद

(श्रीमद्भगवद्गीताके एक श्लोकका रहस्य)

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

एक बहुत ही संतोषी, सदाचारी और विद्वान् ब्राह्मण थे, किंतु थे वे निर्धन। उनकी पत्नी बड़ी पतिव्रता, विदुषी, तत्त्वज्ञानसे सम्पन्न और जीवन्मुक्त थी। उस देशके राजा भी तत्त्वज्ञानी, जीवन्मुक्त महात्मा थे। ब्राह्मणपत्नीने एक दिन विचार किया—मेरे पतिदेव संतोषी, सदाचारी और विद्वान् हैं, इसलिये वे मुक्तिके अधिकारी तो हैं ही, इनकी यदि हमारे जीवन्मुक्त राजासे भेंट हो जाय तो ये भी शीघ्र तत्त्वज्ञानी—जीवन्मुक्त हो सकते हैं। यह सोचकर उसने पतिसे प्रार्थना की—'पतिदेव! आजकल अपने शरीरनिर्वाहके लिये बड़ी ही तंगी हो गयी है और आयका कोई भी रास्ता नहीं दीखता। सुना जाता है, यहाँके राजा बड़े सदाचारी, जीवन्मुक्त महात्मा हैं तथा ब्राह्मणोंका आदर-सत्कार करनेवाले एवं परम उदार हैं, आप उनसे एक बार मिल लें तो वे आपका उचित सत्कार कर सकते हैं और शास्त्रविधिके अनुसार यदि राजा बिना याचना किये ही कुछ दें तो वह ब्राह्मणके लिये अमृतके समान है। यह आप जानते ही हैं।'

पण्डितजीने कहा—'तुम्हारा कहना ठीक है; परंतु मैं जबतक किसीका कोई उपकार न कर दूँ, तबतक अयाचक वृत्तिसे भी—बिना माँगे उससे दान लेकर जीवन-निर्वाह करना निन्दास्पद समझता हूँ; अतएव मैं ऐसा नहीं करूँगा, चाहे मुझे भूखों ही रहना पड़े।'

ब्राह्मणपत्नी बोली—'आप विद्वान् हैं, राजाको यथोचित उपदेश देकर उनका उपकार कर सकते हैं।'

यह बात पण्डितजीको कुछ रुची, पर उनका मन राजाके पास जानेका नहीं होता था। अन्तमें पत्नीके बहुत कहनेपर वे राजी हो गये और राजसभामें चले गये। पण्डितजीके सद्गुण और सदाचरणोंकी ख्याति देशभरमें फैली हुई थी। राजाने पण्डितजीका बड़ा आदर-सत्कार किया। कुशलक्षेम-प्रश्नोत्तरके अनन्तर राजाने बहुत-सी स्वर्णमुद्राएँ मँगाकर पण्डितजीको भेंट की। पण्डितजीने अस्वीकार करते हुए कहा—'राजन्! आप बड़े उदार हैं, यह मैं जानता हूँ। परंतु मेरा एक नियम है, मैं किसीका उपकार किये बिना उससे अयाचितरूपमें भी धन नहीं लेता। आप मुझे कोई काम सौंपें और उससे मैं आपका संतोष करा सकूँ, तो उसके बाद आप यदि कुछ दें तो वह लिया जा सकता है।' राजाने कहा—'पण्डितजी! बहुत अच्छा। आप सदाचारी विद्वान् ब्राह्मण हैं। मैं आपसे गीताका रहस्य सुनना चाहता हूँ। मुझे आप कृपापूर्वक गीताके बारहवें अध्यायके सोलहवें श्लोकका भावसहित स्पष्ट अर्थ समझाइये।'

पण्डितजीने पहले श्लोक पढ़ा, फिर उसका शब्दार्थ बतलाया—

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥

'जो पुरुष आकाङ्क्षासे रहित, बाहर-भीतरसे शुद्ध, चतुर, पक्षपातसे रहित और दुःखोंसे छूटा हुआ है, वह सब आरम्भोंका त्यागी मेरा भक्त मुझको प्रिय है।'

तदनन्तर वे श्लोकका भावार्थ इस प्रकार बतलाने लगे—

जिसे किसी भी प्रकारकी इच्छा, स्पृहा और कामना न हो, जो आप्तकाम हो एवं जिसे किसी बातकी भी परवा न हो, उसे 'अनपेक्ष' कहते हैं।

जिसका अन्तःकरण अत्यन्त पवित्र हो, जिसका बाहरका व्यवहार भी उद्वेगरहित, पवित्र और न्याययुक्त

हो; जिसके दर्शन, भाषण, स्पर्श और वार्तालापसे ही लोग पवित्र हो जायँ, वह 'शुचि' है ।

जिस महान् कार्यके लिये मनुष्य-शरीर मिला है, उसे प्राप्त कर लेना अर्थात् भगवान्को प्राप्त कर लेना ही मनुष्यकी यथार्थ 'दक्षता' है; जो अपना काम बना लेता है, वही 'दक्ष' कहलाता है ।

जो गवाही देते समय और न्याय या पंचायत करते समय कुटुम्बी, मित्र, बन्धु आदिकी दृष्टिसे या राग, द्वेष, लोभ, मोह एवं भय आदिके वश होकर किसीका भी पक्षपात नहीं करता—सदा सर्वथा पक्षपातरहित रहता है, उसे 'उदासीन' कहते हैं ।

किसी भी प्रकारके भारी-से-भारी दु:ख अथवा दु:खके हेतु प्राप्त होनेपर भी जो दुखी नहीं होता अर्थात् जिसके अन्त:करणमें कभी किसी तरहका विषाद, दु:ख या शोक नहीं होता, वही 'गतव्यथ' है ।

जो बाहर-भीतरके समस्त कर्मोंको त्यागकर केवल प्रारब्धपर ही निर्भर रहता है, अपने स्वार्थकी सिद्धिके लिये कुछ भी कर्म नहीं करता; अपने-आप जो कुछ प्राप्त हो जाय, उसीमें संतुष्ट रहता है तथा प्रारब्धवश होनेवाली क्रियाओंमें जिसके कर्तापनका अभिमान नहीं है, ऐसे बाहर और भीतरके त्यागीको 'सर्वारम्भपरित्यागी' कहते हैं ।

पण्डितजीके उपर्युक्त भावार्थ बतला चुकनेपर राजाने नम्रतासे कहा—'महाराजजी ! आपने बड़ा सुन्दर अर्थ किया । आपका कथन सर्वथा युक्तियुक्त और शास्त्र-संगत है । तथापि मेरा ऐसा अनुमान है कि श्लोकका बहुत सुन्दर अर्थ करनेपर भी आप अभी इसके रहस्यसे अनभिज्ञ हैं ।' पण्डितजी झुँझलाकर बोले—'रहस्य न जानता होता तो भावसहित अर्थ कैसे बतला सकता । मुझे गीताकी बावन टीकाएँ कण्ठस्थ हैं । इसके अतिरिक्त कोई विशेष रहस्य हो और उसे आप जानते हों तो आप ही बतलाइये ।'

राजाने इसका उत्तर न देकर बड़ी विनम्र वाणीमें कहा—'पण्डितजी ! मुझे आपकी शास्त्रसम्मत सुन्दर व्याख्यासे बड़ा सन्तोष हुआ है; मैं आपका बहुत आभारी हूँ । अतः मेरी दी हुई भेंट आप कृपया स्वीकार कीजिये ।'

पण्डितजीने कहा—'राजन् ! जब आप मेरे लिये यह कहते हैं कि मैं रहस्यसे अनभिज्ञ हूँ, तब सन्तोषकी बात कहाँ रही ? यह तो कहनेभरका सन्तोष है । मैं, जबतक आपको वास्तवमें सन्तोष न हो जाय, तबतक आपसे कुछ भी लेना नहीं चाहता ।' राजाके बहुत अनुनय-विनय करनेपर भी पण्डितजीने भेंट स्वीकार नहीं की और वे घर लौट आये । उधर राजाने एक विश्वासपात्र गुप्तचरको बुलाकर कहा—'ये ब्राह्मणदेवता बड़े त्यागी, सदाचारी और स्वाभिमानी विद्वान् हैं । तुम इनके पीछे जाकर देखो, घरपर इनका कैसा-क्या व्यवहार और वार्तालाप होता है और फिर उसकी सूचना मुझे दो ।' राजाका आदेश पाकर गुप्तचर उनके पीछे हो लिया और उनका सब व्यवहार-वार्तालाप देखता रहा ।

पण्डितजीने घर लौटकर पत्नीके पूछनेपर राजसभाकी सारी कथा आद्योपान्त उसे सुना दी । पत्नीने विनय और प्रेमसे कहा—'स्वामिन् ! राजाने जो कुछ कहा वह तो उचित ही मालूम होता है । आपको नाराज नहीं होना चाहिये था ।

पण्डितजी—(कुछ क्रोधावेशमें आकर तथा व्यथित-से होकर) वाह ! तुम भी राजाकी ही बातका समर्थन करती हो !

पत्नी—नाथ ! आप ही तो कहा करते हैं कि न्याययुक्त बातका समर्थन करना चाहिये ।

पण्डितजी—(कुछ और भी उत्तेजनासे, परंतु उसे दबाते हुए) क्या राजाका यह कहना न्याययुक्त है कि

मेरी व्याख्या तो सुन्दर है पर मैं इसके रहस्यको नहीं समझता ?

पत्नी—नाथ ! आप क्षमा करें । राजाकी बात तो बहुत ही ठीक है । किसी श्लोककी व्याख्या करना सहज है, पर उसका यथार्थ रहस्य जानना बहुत ही दुर्लभ है ।

पण्डितजी—कैसे ?

पत्नी—जैसे ग्रामोफोनपर जो चूड़ी चढ़ा दी जाती है, वह वही गाना गा देता है पर उसके रहस्यको वह थोड़े ही समझता है ।

पण्डितजी—तो क्या मैं ग्रामोफोनकी तरह हूँ ?

पत्नी—जो पुरुष दूसरोंको उपदेश-आदेश तो बड़ा सुन्दर करता हो, किंतु स्वयं उसमें वे बातें चरितार्थ न होती हों तो आप ही बतलाइये, ग्रामोफोनमें और उसमें क्या अन्तर है ? राजाके पूछनेपर आपने श्लोककी जो व्याख्या की, क्या वे सारी बातें आपमें चरितार्थ होती हैं ?

पण्डितजी—क्यों नहीं ? कौन-सी बात मुझमें नहीं है ?

पत्नी—आप शान्तिसे मेरा निवेदन सुनिये । मेरी प्रार्थना है—आप उस श्लोकके प्रत्येक पदका अर्थ पुनः मुझे बतलाइये । 'अनपेक्ष'का क्या भाव है ?

पण्डितजी—जिसे किसी भी प्रकारकी इच्छा, स्पृहा और कामना न हो, जो आप्तकाम हो एवं जिसे किसी बातकी भी परवा न हो, उसे 'अनपेक्ष' कहते हैं ।

पत्नी—क्या आप ऐसे हैं ?

पण्डितजी—क्यों नहीं ? मुझे तो कोई भी इच्छा, स्पृहा और कामना नहीं है । मैं तो तुम्हारे ही अनुरोध करनेपर राजाके पास गया था । और राजाके अनुनय-विनय करनेपर भी मैंने उनसे कुछ भी नहीं लिया ।

पत्नी—बहुत अच्छा ! सत्य है, आप मेरे ही आग्रह-से गये थे । यह आपकी मुझपर दया है । अच्छा, 'शुचि'का क्या अभिप्राय है ?

पण्डितजी—जिसका अन्तःकरण अत्यन्त पवित्र हो, जिसका बाहरका व्यवहार भी उद्वेगरहित, पवित्र और न्याययुक्त हो; जिसके दर्शन, भाषण, स्पर्श और वार्तालापसे ही लोग पवित्र हो जायँ, वह 'शुचि' है ।

पत्नी—क्या आप बाहर-भीतरसे इस प्रकार शुद्ध हैं ? क्या आपके दर्शन, भाषण, स्पर्श, वार्तालाप करनेसे मनुष्य पवित्र हो जाता है ? क्या आपके अन्तःकरणमें कोई विकार नहीं होता ? क्या आपका बाहरका व्यवहार उद्वेगरहित, न्याययुक्त और पवित्र है ? यदि ऐसा है तो फिर आपके मनमें क्रोध तथा उद्वेग क्यों हुआ और राजासे आपने अहङ्कारके वचन क्यों कहे ?

पण्डितजी—(विनम्र होकर) ठीक है, इस गुणकी तो मुझमें कमी है ।

पत्नी—अच्छा, 'दक्ष' का आपने क्या भाव बतलाया ?

पण्डितजी—जिस महान् कार्यके लिये मनुष्य-शरीर मिला है, उसे प्राप्त कर लेना अर्थात् भगवान्‌को प्राप्त कर लेना ही मनुष्यकी यथार्थ दक्षता है, जो अपना काम बना लेता है, वही दक्ष कहलाता है ।

पत्नी—तो क्या आप जिस महान् कार्यके लिये संसारमें आये थे, उसे पूरा कर चुके ? क्या आपने परमपदको प्राप्त कर लिया ? नहीं तो, फिर राजाका कहना उचित ही है ।

पण्डितजी—तुम्हारा कथन सत्य है । मुझमें यह गुण भी नहीं है ।

पत्नी—'उदासीन' पदका क्या अभिप्राय है ?

पण्डितजी—जो गवाही देते समय, न्याय या पंचायत करते समय कुटुम्बी, मित्र, बन्धु आदिकी दृष्टिसे या राग, द्वेष, लोभ, मोह एवं भय आदिके वश होकर किसीका भी पक्षपात नहीं करता—सदा-सर्वथा पक्षपात-रहित रहता है, उसे 'उदासीन' कहते हैं ।

पत्नी—क्या आप पक्षपातरहित हैं ? क्या आपने राजाके सम्मुख अपने पक्षका समर्थन नहीं किया ? क्या आपने राजाके इस कथनपर कि आप श्लोकके रहस्यको नहीं समझते, गम्भीरतापूर्वक ध्यान दिया ? नहीं तो, फिर राजाका कहना कैसे उचित नहीं है ?

पण्डितजी—(सरल और शुद्ध हृदयसे अपनी कमीको विनम्र भावसे स्वीकार करते हुए) तुम सच कहती हो। सचमुच तुमने आज मेरी आँखें खोल दीं। पक्षपातरहित होनेका तो मुझमें बड़ा अभाव है। कहीं वाद-विवाद होता है तो मैं अपने पक्षको दुर्बल जानकर भी अपने पक्षके दुराग्रहको नहीं छोड़ता।

पत्नी—अच्छा 'गतव्यथ' का आप क्या अर्थ करते हैं ?

पण्डितजी—किसी भी प्रकारके भारी-से-भारी दुःख अथवा दुःखके हेतु प्राप्त होनेपर भी जो दुखी नहीं होता अर्थात् जिसके अन्तःकरणमें कभी किसी तरहका विषाद, दुःख या शोक नहीं होता, वही 'गतव्यथ' है।

पत्नी—क्या आपके चित्तमें कोई व्यथा नहीं होती ? यदि नहीं होती तो फिर राजाके वचनोंपर और मेरे समर्थन करनेपर आपको इतना उद्वेग और व्यथा क्यों होनी चाहिये ?

पण्डितजी—तुम्हारा कहना सत्य है। यह भाव मुझमें बिल्कुल नहीं है। मनके विपरीत होनेपर प्रत्येक पदपर केवल व्यथा ही नहीं भय, उद्वेग, ईर्ष्या, शोक आदि विकार भी मुझमें पर्याप्त मात्रामें दिखायी पड़ते हैं।

पत्नी—अच्छा, 'सर्वारम्भपरित्यागी' से आप क्या समझते हैं ?

पण्डितजी—जो बाहर-भीतरके समस्त कर्मोंको त्यागकर केवल प्रारब्धपर ही निर्भर रहता है, अपने स्वार्थकी सिद्धिके लिये कुछ भी कर्म नहीं करता, अपने-आप जो कुछ प्राप्त हो जाय, उसीमें संतुष्ट रहता है तथा प्रारब्धवश होनेवाली क्रियाओंमें जिसके कर्तापनका अभिमान नहीं है, ऐसे बाहर और भीतरके त्यागीको 'सर्वारम्भपरित्यागी' कहते हैं।

पत्नी—बहुत सुन्दर व्याख्या है, परंतु बतलाइये क्या आपने बाहर और भीतरसे सब कर्मोंका त्याग कर दिया ? और क्या आपके अन्तःकरणमें कोई सांसारिक संकल्प नहीं होता ? यदि नहीं, तो फिर आपको इतना अहङ्कार क्यों होना चाहिये ? बाहरसे तो आप सब कर्म करते ही हैं।

पण्डितजी—सत्य है, यह बात तो मुझमें बिल्कुल ही नहीं घटती। मैं अपनी सारी त्रुटियोंको समझ गया। सचमुच मैं अबतक अर्थ ही करता था। रहस्यसे अनभिज्ञ था। अब कुछ-कुछ समझमें आ रहा है। अतः तुम अनुमति दो, अब मैं बाहर और भीतरसे सब कुछ त्यागकर सच्चा संन्यासी बनने जाता हूँ। यों कह पण्डितजी सब कुछ छोड़कर घरसे चलने लगे।

पत्नीने प्रार्थना की—महाराजजी ! मैं भी आपके साथ ही आपका अनुगमन करना चाहती हूँ।

पण्डितजी—मैं अपने साथ किसी झंझटको नहीं रखना चाहता। फिर स्त्रीको तो रक्खूँ ही कैसे।

पत्नी—नाथ ! मुझे आप झंझट न समझिये। मैं आपके साधनमें कोई विघ्न नहीं करूँगी। मैंने जो आपको राजाके पास भेजा था, सो धनके लिये नहीं। धनको तो मैंने एक निमित्त बनाया था। मेरा उद्देश्य तो यही था कि आप जीवनके मुख्य लक्ष्यको प्राप्त कर लें। राजा तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त महात्मा पुरुष हैं। आप धर्मज्ञ, सदाचारी, त्यागी, संतोषी विद्वान् तो हैं ही, तत्त्वज्ञ राजाके सङ्ग-प्रभावसे आपको परमात्माकी प्राप्ति भी हो जायगी—इसी लक्ष्यसे मैंने आपको वहाँ भेजा था। अब यदि आपकी आज्ञा हो तो मैं आपके साथ चलना चाहती हूँ।

पण्डितजी—(कृतज्ञताके साथ) मैं अब इस बातको

समझ गया। सचमुच तुमसे कोई हानि नहीं होगी। तुम्हीं तो मेरा सच्चा उपकार करनेवाली परम सुहृद् हो। वस्तुतः सच्चे सुहृद् वही हैं जो अपने प्रिय सम्बन्धीकी परमात्माकी प्राप्तिमें सहायता करते हैं। चलो, तुम तो वहाँ भी परमात्माकी प्राप्तिमें मेरी सहायता ही करोगी।

तदनन्तर वे दोनों सब कुछ त्यागकर घरसे निकल गये।

इधर, गुप्तचरने जो उन दोनोंकी परस्पर बातचीत सुनी और जो घटना देखी, वह सब राजाके पास जाकर ज्यों-की-त्यों कह दी। राजाने अपने राज्य, कोष आदि सब तो पहले ही अपने पुत्रको सँभला दिये थे, अब गुप्तचरकी बात सुनकर वे भी राज्य छोड़कर चल दिये। उन्हें रास्तेमें सम्मुख आते हुए ब्राह्मणदम्पति मिले। राजाने बड़े उल्लासके साथ उनसे कहा—'पण्डितजी महाराज! अब आप गीताके उस श्लोकका रहस्य समझे।'

पण्डितजीने नम्रताभरे शब्दोंमें उत्तर दिया—अभी समझा नहीं, समझनेके लिये जा रहा हूँ।

राजा भी उनके साथ ही चल पड़े। तीनों एक एकान्त पवित्र देशमें जाकर निवास करने लगे। राजा और ब्राह्मणपत्नी तो तत्त्वज्ञानी जीवन्मुक्त महात्मा थे ही। उनके सङ्गके प्रभावसे पण्डितजी भी परमात्माको प्राप्त हो गये।

[यह कहानी गीताके बारहवें अध्यायके १६ वें श्लोकका निवृत्तिपरक अर्थ करके बतलायी गयी है। इसका जो प्रवृत्तिपरक अर्थ होता है, वह इससे भिन्न है।]

योग-भक्ति-निदिध्यासन

(लेखक—स्वामीजी श्रीकृष्णानन्दजी सरस्वती)

[गताङ्कसे आगे]

योगके भेद

पातञ्जलयोग, मन्त्रयोग, हठयोग, कुण्डलिनीयोग, लययोग, भक्तियोग आदि योगके अनेक भेद हैं। उन सबका विस्तार यहाँ अनावश्यक है। यहाँ तो केवल ब्रह्मविद्याके प्रधान अङ्गके रूपसे योगके उचित महत्त्व, इसके शुद्ध स्वरूप, अन्य अङ्गोंके साथ इसका सम्बन्ध तथा योगके विघ्नविषयक विवेचन ही अभिप्रेत है; जिससे साधक केवल योगके अवलम्बनसे अथवा योगको नितान्त त्याग करके चिरकाल महाप्रयत्न करनेपर भी विफलमनोरथ न हो जावे। अथवा लक्ष्यकी भली प्रकार पहचान न होनेसे बीचमें ही अपने आपको कृतकृत्य मानकर प्रयत्नका त्याग न कर दे।

इन सब योगोंका अनुष्ठान केवल शास्त्रके सहारे किसी निपुण, परहितपरायण अनुभवी महात्माके बिना नहीं हो सकता। नहीं तो, अनेक प्रकारके विघ्न तथा भयानक रोग होनेका दुर्निवार्य भय है। इस भूलसे बहुत सचेत रहना चाहिये। इस चेतावनीको सदा स्मरण रखना चाहिये। इस कारणसे भी इनके विस्तारको अनुपयोगी समझकर विस्तृत वर्णन नहीं किया गया। और इनके अनन्त विस्तार तथा अनुष्ठानका ब्रह्मविद्यामें विशेष उपयोग भी नहीं है। यहाँपर तो योगका उपयोग केवल चित्तके सूक्ष्म, शुद्ध तथा समाहित करनेमें है। जिससे सूक्ष्मतम ब्रह्मतत्त्वकी अनुभूति हो सके। योगके अनन्त अनुष्ठानोंसे प्राप्त होनेवाले लोभनीय अतः बाधारूप अवान्तर फलोंसे कुछ प्रयोजन नहीं। इसलिये इस प्रकारके ग्रन्थमें इतने महा विस्तारका कुछ उपयोग नहीं।

योगका एक सरल तथा उत्तम मार्ग

इस साधनका महत्त्व तथा जनप्रमाद

केवल एक सरल परंतु सर्वोत्तम परमोपयोगी, परम

सामर्थ्यवान् अमोघ साधनका वर्णन कर देना सच्चे सात्त्विक श्रद्धासम्पन्न साधकके लिये उपयोगी होगा । इस अति सरल उपायकी महामहिमाके आधारपर प्राणायाम आदि कष्टसाध्य साधनोंका निरादर नहीं करना चाहिये । क्योंकि ये सब साधन भी शास्त्रसम्मत हैं और इनकी महिमा तथा फलोंका जो वर्णन शास्त्रोंमें मिलता है, वह सब सत्य है, अनुभवानुमोदित है । पर यह भी सत्य है कि ये सब रहस्यमयी विद्याएँ सामान्य मानवीय बुद्धिका काम नहीं हैं, ये परम हितैषी भगवान् तथा महापुरुषोंका मनुष्यजातिको दिव्यधामकी ओर ले जानेके लिये कृपाकटाक्षका प्रसाद हैं। जैसे वेदादि शास्त्रोंका महापुरुषोंपर अवतरण हुआ है उसी प्रकार प्राणायाम आदिके दिव्य ज्ञानका भी महापुरुषोंपर भगवत्कृपासे अवतरण हुआ है । जो दिव्य पुरुष जन्मसे ही इन दिव्य विभूतियोंसे सम्पन्न थे, उन्होंने मानवीय सामान्य बुद्धिके अगोचर इन मार्गोंका मानव-जातिके परम कल्याणके लिये उपदेश किया; परंतु फिर भी यह कहना आवश्यक प्रतीत होता है कि ये साधन हैं अति कष्टसाध्य और इनकी दीक्षा देनेवाले निपुण अनुभवी गुरुका मिलना भी आज सुलभ नहीं है और यह कठिनाई ही इन मार्गों तथा विद्याओंके अधिक महत्त्वका कारण बन गयी है। शास्त्रमें एक सरल उपाय भी वर्णित है। शास्त्र इसकी दूसरे मार्गोंकी अपेक्षा भूरि-भूरि प्रशंसा भी करता है; परंतु हम इसको साधारण समझकर इसे उचित महत्त्व नहीं देते। जैसे कोई बालक समझे कि मीलोंतक विस्तीर्ण महान् अन्धकार एक दियासलाई या दीपकके जलानेरूपी सामान्य क्रियासे कैसे दूर हो जायगा । इसके दूर करनेके लिये तो महान् प्रयासयुक्त कोई बहुत बड़ा यन्त्र चाहिये। इसी प्रकारकी धारणा हमने भी इस सामान्य सरल साधनके विषयमें बना ली है। हम इसका उपयोग विधि-अनुसार श्रद्धासहित नहीं करते। या तो हम सांसारिक मोह आदिके वश अध्यात्म लक्ष्यकी ओरसे आत्मघातक प्रमाद करते हैं; यदि कुछ चेतावनी आती है तो महान् आयाससाध्य साधनोंकी ओर आकृष्ट होते हैं । उन साधनोंकी उपयुक्त शिक्षाके अभावमें या तो उनका अनुसरण ही नहीं करते, केवल विचार मनमें उठउठकर वहीं लीन हो जाते हैं। अथवा स्वतन्त्र रूपसे कुछ करते हैं तो कई कष्टदायक विघ्न उपस्थित हो जाते हैं जिससे विवश और हताश होकर हमें इस पथको ही छोड़ देना पड़ता है । अथवा बहु-आयाससाध्य होनेके भयसे हम इनमें प्रवृत्त ही नहीं होते; कोई विरला ही इन साधनोंसे सफलता प्राप्त कर पाता है । इतना होनेपर भी प्राक्तन मलिन संस्कार, नास्तिकता तथा अश्रद्धाके कारण हम इस सरल और सामान्य परंतु सर्वोत्कृष्ट परमोपयोगी और सर्वविदित साधनकी ओर ध्यानतक नहीं देते । और इस साधनकी शास्त्रमें जो महिमा वर्णन की गयी है, वह भी उपर्युक्त अश्रद्धा आदि दोषोंके कारण कल्पना ही दीखती है । यह साधन ऐसा है कि इसका अनुष्ठान युवा, बाल, वृद्ध, पुरुष, स्त्री, अनपढ़, पण्डित, धनी, निर्धन, रोगी, बलवान्, सभी समान रूपसे कर सकते हैं । हमें इस सरल उपायका केवल इसकी सरलताके कारण या पाश्चात्त्य भौतिक शिक्षाके कारण ध्यानतक नहीं आता । आप पूछेंगे कि इतनी लंबी भूमिका तो हुई, परंतु साधनका नामनिर्देश आदि कुछ नहीं हुआ, वह भी तो होना चाहिये; परंतु यह लंबी भूमिकाकी अवतारणा भी इसीलिये करनी पड़ी है कि आप झट कहेंगे कि यह तो पहले भी कई बार सुना है, इसमें नयी बात ही क्या है ? परंतु इसमें नयी बात यही है कि आप इसके अमित प्रभावको नहीं जानते । इसलिये इसमें श्रद्धा नहीं होती; यदि कभी पढ़ते-सुनते भी हैं तो अनसुना-सा कर देते हैं और यही कहते हैं 'अजी ! यह तो दिल्बहलावकी बातें हैं । इससे क्या होता है ? अभीतक इससे किसीका क्या हुआ है । बहुतोंने किया, किसीको फल तो होते देखा नहीं, अमुक-अमुक वर्षोंसे इसको करते हैं, परंतु जीवनमें रत्तीभर उन्नति नहीं हुई; इसके माहात्म्यकी बातें सब दिल्लगीकी बातें हैं ।' इसीलिये हमें भी इसकी महिमाका विस्तार करना पड़ा है; क्योंकि जनसाधारण अश्रद्धा तथा प्रमादके वश इस पारसमणिसे उदासीन है । और अपने आध्यात्मिक दारिद्र्यका अमोघ उपाय सुलभ होनेपर भी दिन-रात मोहपाशमें बँधा हुआ अपार चिन्तामें डूबा रहता है । वह उपाय है भक्तियोग और उसका अत्यन्त सरल तथा अमोघ अङ्ग है ओंकार (अथवा अन्य किसी भगवन्नामका) अवलम्बन ।

उपनिषदादिमें प्रणवकी महिमा

इसकी महिमा उपनिषदोंमें अनेक स्थलोंमें वर्णित है। कठ० (१ । २ । १४-१५-१६-१७), प्रश्न० (५ । २), मैत्रायणी०, कैवल्य० (१ । ११), तैत्तिरीय० (१ । ८ । १), छान्दोग्य० (२ । २३ । २-३), मुण्डक० (२ । २ । ६), श्वेताश्वतर० (१ । १३-१४) ।

अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात् ।
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद् वद ॥
(कठ० १ । २ । १४)

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति
तपाꣳसि सर्वाणि च यद्वदन्ति ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदꣳसंग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥
(१ । २ । १५)

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम् ।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥
(१ । २ । १६)

एतदालम्बनꣳ श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम् ।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ॥
(१ । २ । १७)

एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोङ्कारः । तस्माद् विद्वानेतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति ॥　　(प्रश्न० ५ । २)

आत्मानमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम् ।
ज्ञाननिर्मथनाभ्यासात्पापं दहति पण्डितः ॥
(कैवल्य० १ । ११)

ओमिति ब्रह्म । ओमितीदꣳ सर्वम् । ओमित्येतदनुकृतिर्ह स्म वा अप्यो श्रावयेत्याश्रावयन्ति । ओमिति सामानि गायन्ति । ओꣳशोमिति शस्त्राणि शꣳसन्ति । ओमित्यध्वर्युः प्रतिगरं प्रतिगृणाति । ओमिति ब्रह्मा प्रसौति । ओमित्यग्निहोत्रमनुजानाति । ओमिति ब्राह्मणः प्रवक्ष्यन्नाह ब्रह्मोपाप्नवानीति । ब्रह्मैवोपाप्नोति ।　　(तैत्तिरीय० १ । ८ । १)

प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत्तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रयी विद्या संप्रास्रवत्तामभ्यतपत्तस्या अभितप्ताया एतान्यक्षराणि संप्रास्रवन्त भूर्भुवः स्वरिति ।　　(छान्दोग्य० २ । २३ । २)

तान्यभ्यतपत्तेभ्योऽभितप्तेभ्य ओꣳकारः संप्रास्रवत्तद्यथा शङ्कुना सर्वाणि पर्णानि संतृण्णान्येवमोङ्कारेण सर्वा वाक्संतृण्णोङ्कार एवेदꣳ सर्वमोङ्कार एवेदꣳसर्वम् ।
(छान्दोग्य० २ । २३ । ३)

वह्नेर्यथा योनिगतस्य मूर्ति-
र्न दृश्यते नैव च लिङ्गनाशः ।
स भूय एवेन्धनयोनिगृह्य-
स्तद्वोभयं वै प्रणवेन देहे ॥
(श्वेताश्वतर० १ । १३)

स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम् ।
ध्याननिर्मथनाभ्यासाद्देवं पश्येन्निगूढवत् ॥
(श्वेताश्वतर० १ । १४)

अरा इव रथनाभौ संहता यत्र नाड्यः
स एषोऽन्तश्चरते बहुधा जायमानः ।
ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं
स्वस्ति वः पाराय तमसः परस्तात् ॥
(मुण्डक० २ । २ । ६)

पतञ्जलि ऋषिने योगदर्शन समाधिपादमें, जहाँ अनेक विधियोंका वर्णन किया है तथा अभ्यासरूपी साधनके सम्प्रज्ञात तथा असम्प्रज्ञातरूपी भेदोंका सविस्तर वर्णन (१७-२० सूत्रोंमें) किया है और इसी अभ्यासद्वारा शीघ्रतम प्राप्तिका उपाय (२१-२२ सूत्रोंमें) वर्णन किया है । सूत्रकारका विशेष निर्दिष्ट मार्ग यही प्रतीत होता है; क्योंकि विभूतिपादमें भी इसीका अन्यत्र वर्णन है । परंतु यहाँ प्रथम समाधिपादमें अभ्यासके अनन्तर शीघ्रतम समाधि-लाभके उपाय रूपमें—विकल्परूपमें—सूत्र २३ में ईश्वरप्रणिधानका निरूपण है । भगवान् व्यासका भाष्य इस सूत्रपर बहुत महत्त्वका है तथा परम श्रद्धालुओंके बहुत कामकी वस्तु है—

ईश्वरप्रणिधानाद्वा ।　　(योग० १ । २३)

व्यासभाष्य—

प्रणिधानाद्भक्तिविशेषादावर्जित ईश्वरस्तमनुगृह्णात्यभिध्यानमात्रेण तदभिध्यानादपि योगिन आसन्नतमः समाधिलाभः फलं च भवति ।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥
(गीता ७ । १४)

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥
(गीता ६ । ४०)

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः ।
(योग० १ । ३०)

दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः ।
(योग० १ । ३१)

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ॥
(योग० १ । २९)

अर्थात् जहाँ इस समाधिके लाभके लिये अभ्यासके

अनेक भेद आदि बताये हैं, जिनका समझना तथा अनुष्ठान करना सुगम नहीं है, वहाँ इस सुलभ उपायका भी वर्णन किया है, जिससे बहुत अल्पकालमें समाधिका लाभ स्वतः ही हो जाता है। इसमें जो हेतु दिया गया है, वह मर्मभेदी रहस्यपूर्ण, अध्यात्मविद्याका सार तथा आस्थाकी वृद्धि करनेवाला है। अन्य उपायोंमें साधक अकेले अपनी ही अल्पशक्तिके सहारे इतने कठिन कार्यमें उत्तीर्ण होना चाहता है; परंतु इस ईश्वरप्रणिधान—ओंकारके जाप तथा अर्थ-भावनासे सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् परमात्मा प्रसन्न होते हैं और उनके प्रसादमात्रसे साधकका चित्त निज धाममें स्थिर हो जाता है। यह थोड़े-से विचारसे भी स्पष्ट हो जाता है कि जब इतनी महान् शक्तिका सहयोग हो तो फिर लक्ष्य-सिद्धिमें क्या विलम्ब है, फिर तो सिद्धि निश्चित और हाथमें ही समझनी चाहिये; परंतु यह है श्रद्धाका काम, जो अनन्त पुण्यसञ्चयसे प्राप्त होती है। जिनको अपनी बुद्धि तथा बलका मिथ्या अभिमान होता है, उनके लिये इसे अपनाना कठिन है। गीता (७। १४) में भी भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको मायापर विजय करनेका सरल उपाय भक्तिको ही बताया है। गीता (६। ४७) में भी सब योगोंसे भक्तियोगकी श्रेष्ठताका वर्णन किया है। योगसूत्र १। ३०-३१ में भी यही वर्णित है कि इस एक उपाय प्रणवके जापसे ही योगके नौ अन्तराय तथा विक्षेपोंकी निवृत्ति हो जाती है और स्वरूप-स्थितिका लाभ होता है। सूत्र १। २९ में प्रणव-जापका ऐसा महत्त्वपूर्ण फल बताया गया है।

परंतु मनुष्य इतने सुलभ और महान् सामर्थ्यवान् साधनको छोड़कर अन्यत्र भटकना चाहता है, यह उसकी इच्छा है; उसपर इस कलियुगमें कौन-सा अङ्कुश है। ईश्वरके ओम् आदि नामोंका अमित प्रभाव है; परंतु इतनेपर भी जनसाधारण और कोई महात्मा भी कहते सुने जाते हैं कि 'नामसे क्या होता है ? क्या भगवान् नाम तथा स्तुतिका भूखा है ! सब संसार भगवान्का नाम लेता है; कुछ फल तो दिखायी देता नहीं। अपने जीवनको सुधारना चाहिये, पाप तथा मलिन भोग-वासनाको धो डालना चाहिये; फिर ईश्वर तो स्वयं आपके पास आ जायगा। नामसे क्या बनता है ?' यदि इस प्रकारके वचन नामस्मरणका ढोंग करनेवाले बगुलाभक्तों तथा ऐसे साधकोंकी चेतावनीके लिये कहे जायँ, जो नामके साथ व्यवहार-की पवित्रतासे अनभिज्ञ हैं, तो उपयुक्त ही हैं; क्योंकि ओम् आदि भगवन्नामोंका जाप भावना (श्रद्धा तथा शुद्ध व्यवहार) सहित ही फल दे सकता है। कौन ऐसा व्यक्ति है, जो सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् ईश्वरमें श्रद्धा रक्खे और फिर ईश्वरकी आज्ञाके विरुद्ध अन्यायका आचरण भी करे। परंतु व्यवहारकी शुद्धिको स्वतन्त्र पर्याप्त साधन मानना और ईश्वरके नाम-जपादिको निरर्थक श्रम और तोतारटन्त कहना आध्यात्मिक लक्ष्य तथा साधनसे अत्यन्त अनभिज्ञताके कारण होता है। जैसे अग्निका स्वाभाविक कार्य तथा गुण जलाना है, उसी प्रकार ईश्वरके नामका प्रभाव भी है; परंतु जैसे अग्निके जलानेमें भी कई प्रतिबन्धक होते हैं, उसी प्रकार श्रद्धाशून्य जाप तथा ध्यान आदिका विशेष फल नहीं होता। अथवा जिस-जिस भावनासे कोई नाम-जप श्रद्धासहित करता है, उसको वही फल प्राप्त होता है। जो लौकिक फलोंकी कामनासे जाप करते हैं, उन्हें परमार्थसिद्धि कैसे हो सकती है। जो लोग बिना श्रद्धाके केवल दूसरोंको ठगनेके लिये दम्भमात्र करते हैं, उनको किस फलकी सिद्धि हो सकती है ? परंतु इन लोगोंके दम्भके कुफलके कारण शुद्ध सात्त्विक ईश्वर-प्रणिधान, भक्ति, ध्यान, जप आदिको निष्फल समझना भूल है। हाँ, यह जाप विधिसहित होना चाहिये। यदि कोई एकान्तमें शुद्ध भावनासे सत्यादिका आचरण करते हुए सिद्धादि किसी एक आसनपर स्थिर होकर ओंकारका प्राणसहित अजपा-जाप तथा ध्यान प्रतिदिन न्यून-से-न्यून तीन घंटे करे तो कुछ कालमें ही उसे इसका प्रभाव विभिन्न रूपसे अनुभव होने लगेगा। यह अनुभवकी वस्तु है, शब्द इसका क्या निरूपण करेगा ? अश्रद्धालुओंके लिये तो यह सब कल्पनामात्र ही है। अनुष्ठान ही सब सन्देहोंको भस्मसात् कर सकता है। शास्त्र तथा महात्मा तो इसका एक स्वरसे अनुमोदन कर रहे हैं। लाभ उठाना या न उठाना मनुष्यके अपने भाग्य तथा पूर्वकृत पुण्यपर निर्भर है।

योगमें महान् विघ्नरूप सिद्धियाँ

किसी साधनाका अनुष्ठान करनेपर अनेक विघ्न उपस्थित होते हैं, जिनमेंसे कुछका उल्लेख चेतावनीके लिये पहले किया जा चुका है। एक और महान् अनर्थकारी विघ्नके विषयमें उपयुक्त चेतावनी देकर विस्तार-भयसे इस विषयको समाप्त किया जाता है।

योगदर्शनके विभूतिपादमें अनेक संयमोंका वर्णन मिलता है, जिनके भिन्न-भिन्न विचित्र फल सिद्धिके रूपमें कहे गये हैं। बहुत-से लोग इन सिद्धियोंको ही योगका परम साध्य मानते हैं। और इस समय जब रेडियो आदि दूर-श्रवण तथा दूर-

दर्शनके यन्त्रोंका आविष्कार हो चुका है, तब वे लोग कहते हैं कि इस युगमें योगकी क्या आवश्यकता है; क्योंकि उनकी दृष्टिमें इन सिद्धियोंको प्राप्त कर लेना ही योगका एकमात्र लक्ष्य है। कई सज्जन इन सिद्धियोंसे आकृष्ट होकर ही योगमें प्रवृत्त होते हैं। परंतु ये सिद्धियाँ योगका वास्तविक ध्येय नहीं हैं, प्रत्युत ये तो उसके परम लक्ष्यमें बाधारूप हैं। शक्तिको योगका परम लक्ष्य समझना, शक्तिके बिना योगको निष्फल मानना तथा शक्तिका किसी रूपसे भी प्रलोभन साधकको सच्ची स्थितिसे भ्रष्ट करनेवाले होते हैं। प्रायः इस प्रकारकी विपरीत भावना, शक्तिका मोह तथा अपने वृथा अभिमानके कारण साधक अपनी असत्य मनोभावनाओंमें ही सिद्धि-शक्तिकी कल्पना करने लग जाता है। इस प्रकार वह सिद्धिकी भी असल और नकलमें पहचान नहीं कर पाता। और इस प्रकारकी काल्पनिक मनःस्थितिको ही भोले मनुष्योंमें अपनी महिमा और प्रतिष्ठाके लिये सिद्धि कहकर प्रकट करता है—जैसा पहले भी कहा गया है। यदि कभी किसी साधकको कुछ काल साधन करनेके पश्चात् इस प्रकारके कुछ विलक्षण या दिव्य अनुभव होने भी लगें, जिनको सिद्धि कहा जाता है, तो उसे धैर्यसे काम लेना चाहिये और अनेक बार परीक्षा करनेके पश्चात् निष्पक्षभावसे किसी निर्णीत परिणामपर पहुँचना चाहिये तथा उसे गुप्त रखना चाहिये। क्योंकि मिथ्याभिमान ही मिथ्या-धारणाका कारण बन जाता है। परंतु बिना प्रकट किये इस मिथ्याभिमानकी पूर्ति नहीं होती। अतः इस विषयमें मौन धारण कर लेनेसे अधीरता तथा निर्णय करनेमें भ्रान्तिका मुख्य कारण नाश हो जाता है। इस प्रकार योगमार्गमें अपनी उन्नति तथा किसी साधनके वास्तविक प्रभावके जाननेमें गलती नहीं होती। इसके अतिरिक्त प्रकट कर देनेसे उन्नतिमें बाधा पड़ती है। 'गुप्ता सो सिद्धा'वाली उक्ति सच्ची है, इसीका अनुसरण करना चाहिये।

सिद्धियोंका प्रलोभन केवल साधककी अपनी वास्तविक स्थितिके विषयमें निर्णय करनेमें भ्रान्ति तथा सामान्य उन्नतिमें बाधा ही उत्पन्न नहीं करती, प्रत्युत परम लक्ष्यकी प्राप्तिमें अतिभयप्रद प्रतिबन्ध है; क्योंकि शक्तिका प्रलोभन अज्ञान-मूलक तथा अयुक्त है और हृदय-ग्रन्थिको दृढ़ करता है। ये सिद्धियाँ तथा शक्तियाँ भी मायाका अतिसूक्ष्म दृढ़ पाश हैं, जिससे कोई विरला भाग्यवान्, परम सात्त्विक श्रद्धावान्, अतिसूक्ष्म तथा शुद्ध बुद्धिवाला, नीर-क्षीरविवेकी हंसके समान नित्यानित्यके दृढ़ विवेकवाला ही बच सकता है। इस विषयमें स्वयं भगवान् पतञ्जलि सिद्धियों तथा विभूतियोंका वर्णन करनेके पश्चात् साधकोंकी चेतावनीके लिये (सूत्र ३। ३७-५१ में) लिखते हैं—

ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः।

(योग० ३। ३७)

व्यासभाष्य—

ते प्रतिभादयः समाहितचित्तस्योत्पद्यमाना उपसर्गाः, तद्दर्शनप्रत्यनीकत्वाद् व्युत्थितचित्तस्योत्पद्यमानाः सिद्धयः।

(योग० ३। ५१)

स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसङ्गात्।

व्यासभाष्य—

चत्वारः खल्वमी योगिनः—प्रथमकल्पिको मधुभूमिकः प्रज्ञाज्योतिः, अतिक्रान्तभावनीयश्चेति तत्राभ्यासी प्रवृत्तमात्रज्योतिः प्रथमः, ऋतम्भराप्रज्ञो द्वितीयः, भूतेन्द्रियजयी तृतीयः, सर्वेषु भावितेषु भावनीयेषु कृतरक्षाबन्धः कृतकर्तव्यसाधनादिमानश्चतुर्थो यस्त्वतिक्रान्तभावनीयस्तस्य चित्तप्रतिसर्ग एकोऽर्थः सप्तविधास्य प्रान्तभूमिः प्रज्ञा, तत्र मधुमतीं भूमिं साक्षात्कुर्वतो ब्राह्मणस्य स्थानिनो देवाः सत्त्वशुद्धिमनुपश्यन्तः स्थानैरुपनिमन्त्रयन्ते भोरिहास्यतामिह रम्यतां कमनीयोऽयं योगः कमनीयोऽयं कन्यारसायनमिदं जरामृत्युं बाधते, वैहायसमिदं यानम्। अमी कल्पद्रुमाः पुण्या मन्दाकिनी सिद्धा महर्षयः, उत्तमा अनुकूला अप्सरसः, दिव्ये श्रोत्रचक्षुषी वज्रोपमः कायः, स्वगुणैः सर्वमिदमायुष्मता प्रतिपद्यतामिदमजरममरस्थानं देवानां प्रियमिति, एवमभिधीयमानः सङ्गदोषान् भावयेत्। घोरेषु संसाराङ्गारेषु पच्यमानेन जन्ममरणान्धकारे विपरिवर्तमानेन कथञ्चिदासादितः क्लेशतिमिरविनाशो योगप्रदीपः, तस्य चैते तृष्णायोनयो विषयवायवः प्रतिपक्षाः स खल्वहं लब्धालोकः कथमन्यविषयमृगतृष्णाया वञ्चितस्यैव पुनः प्रदीपस्य संसाराग्नेरात्मानमिन्धनीकुर्यामिति स्वस्ति नः स्वप्नोपमेभ्यः कृपणजनप्रार्थनीयेभ्यो विषयेभ्य इत्येवं निश्चितमतिः समाधिं भावयेत्, सङ्गमकृत्वा स्मयमपि न कुर्यात्, एवमहं देवानामपि प्रार्थनीय इति स्मयादयं सुस्थितमन्यतया मृत्युना केशेषु गृहीतमिवात्मानं न भावयिष्यति, तथा चास्यच्छिद्रान्तरप्रेक्षी नित्यं यत्नोपचर्यः प्रमादो लब्धविवरः क्लेशानुत्तम्भयिष्यति ततः पुनरनिष्टप्रसङ्गः, एवमस्य सङ्गस्मयावकुर्वतो भावितोऽर्थो दृढीभविष्यति, भावनीयश्चार्थोऽभिमुखीभविष्यतीति ॥ ५१ ॥

इसलिये सूत्रकार इन सिद्धियोंमें आकृष्ट न होनेके लिये कितनी मर्मभेदी चेतावनी दिलाते हैं कि इनका ग्रहण तो दूर रहा, इनको त्यागकर भी यदि अपनी महिमाका मिथ्या अज्ञानकृत अभिमान तथा विस्मय हो जाय तो इतना अभिमान-मात्र ही योगीके महान् प्रयत्नको निष्फल कर देता है; क्योंकि यह मिथ्या अनात्माभिमान ही संसार-बन्धनका मूल है। यदि यह शेष रह गया तो मानना चाहिये कि संसारपाश अभी दृढ़ ही है। इन सिद्धियोंको जो ग्रहण करता है, उसमें अनात्माभिमान तो स्पष्ट ही है; परंतु त्याग भी तभी सफल होता है, जब त्यागका अभिमान न करे। जो व्यक्ति इन सिद्धियोंको त्यागकर अभिमान करता है, वह अपने इस आचरणसे सिद्ध करता है कि उसके मनमें इन सिद्धियोंका महत्त्व है; क्योंकि अभिमान किसी महिमाका ही हो सकता है। अपवित्रता, मलिनता तथा संसार-बन्धनके त्यागका क्या अभिमान हो सकता है ? इसलिये इन सिद्धियोंके महत्त्वके विषयमें यह अभिमान भी इस भ्रान्तिका सूचक है। इस अनात्ममोह तथा संसारके मूल कारण अज्ञानमें क्या भेद है ? इसीलिये कहा है—

त्यज धर्ममधर्मं च उभे सत्यानृते त्यज।
उभे सत्यानृते त्यक्त्वा येन त्यजसि तत् त्यज ॥

(महाभारत)

'धर्म, अधर्म तथा सत्यानृत दोनोंको छोड़ दो—इन द्वन्द्वोंके भी अतीत हो जाओ; फिर जिससे यह छोड़ा है, उस त्यागाभिमानको भी छोड़ दो।'

पातञ्जल योगदर्शनके अनुसार असम्प्रज्ञात समाधिका परमोपाय विवेकख्याति-प्रज्ञा है। इसके बिना जो असम्प्रज्ञात समाधि लाभ होती है, उसे हेय कहा गया है; क्योंकि मनुष्य उससे उत्थित होनेपर पुनः दुःखमय संसारप्रवाहमें गिर जाता है। साधक-अवस्थामें यह सम्प्रज्ञातद्वारा विवेकख्यातिरूपी सिद्धि ही उपादेय कही गयी है; परंतु इस बोधस्वरूप वृत्तिमें भी यदि साधकको राग हो जाय, तो भी वह स्वरूप-स्थितिको लाभ नहीं कर सकता; इसीलिये सूत्र ३।५० 'तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम्' में उस विवेकख्याति-में दोषके निरीक्षण करनेसे चित्तकी उपरामता-सम्पादनका आदेश किया गया है। यदि परम स्वरूपकी तुलनामें यह बोधस्वरूप सिद्धि भी दोषपूर्ण है, तो संयमद्वारा या अन्य किसी साधनद्वारा प्राप्त होनेवाली अणिमादि कल्पनामय मिथ्या सिद्धियोंकी तो वार्ता ही क्या है ! वेदान्तके ग्रन्थोंमें इसी प्रकार सविकल्प (सम्प्रज्ञात) समाधिके रसास्वादनको भी विघ्नरूपसे वर्णन किया गया है। अर्थात् इसको भी लय, विक्षेप, कषाय आदि दोषोंके समान ही वर्जनीय ठहराया गया है; इनके छोड़े बिना निर्विकल्प अवस्था प्राप्त नहीं हो सकती।

उपर्युक्त विचारका निष्कर्ष

उपर्युक्त निष्कर्षका सार यह है कि योग तथा शास्त्र-ज्ञान दोनों ही ब्रह्मविद्याके परमोपयोगी साधन हैं। शास्त्रोंमें भिन्न-भिन्न प्रकरणोंमें जो इनकी प्रशंसा की गयी है, वह उचित ही है। इससे या अन्य किसी कारणसे भ्रान्तिमें पड़कर किसी एक साधनका त्याग अथवा केवल दूसरेका अवलम्बन नहीं करना चाहिये। ये दोनों परस्पर सहकारी हैं, दोनों प्रशंसनीय तथा उपादेय हैं। योगद्वारा सूक्ष्म बुद्धि हुए बिना शास्त्र-रहस्यका असंदिग्ध तथा याथातथ्य बोध सामान्यतया असम्भव होता है। कोरे वाचिक ज्ञानसे परम रसकी अनुभूतिद्वारा होनेवाली परम तृप्ति, अलं-प्रत्ययकी उत्पत्ति नहीं होती। अतः ऐसी स्थितिके विषयमें वास्तविक ज्ञान ही असम्भव है। अतएव अनेक मिथ्या कल्पनाओंके पङ्कमें निमज्जित करनेके अतिरिक्त इस अनधिकार चेष्टा, दुराग्रह तथा शास्त्रपाण्डित्यके मिथ्याभिमानसे किसी उत्तम फलकी सिद्धि नहीं होती। अतः योग-निदिध्यासनके उपयुक्त अनुष्ठानके द्वारा परमहित-साधन करना ही श्रेष्ठ है। इसी प्रकार योग भी बिना शास्त्ररूपी परमार्थचक्षुके अंधेके समान भरसक प्रयत्न करनेपर भी सफल-मनोरथ नहीं हो सकता। इसलिये योगाभ्यासियोंको भी श्रुति-श्रद्धाहीन केवल योगका आश्रय न लेकर लक्ष्यकी सिद्धिके लिये श्रुतिप्रतिपादित योगका ही अनुसरण करना चाहिये। इसके लिये वेदोपनिषद् आदि शास्त्रोंका ज्ञान अनिवार्य है। पुरुषोंकी परिमित बुद्धियोंसे निकली हुई संकुचित प्रणालियोंका अनुसरण नहीं करना चाहिये। और न ऐसी प्रणालियों तथा सम्प्रदायोंका प्रचार ही करना चाहिये; क्योंकि इससे अपना तथा दूसरोंका महान् अनर्थ होता है। हठयोगादि योगोंका अनुष्ठान बिना किसी निपुण आचार्यकी सहायताके शरीर तथा मनके अनेकानेक दुर्निवार्य क्लेशोंका कारण है, जिससे आध्यात्मिक लाभके स्थानपर प्राणोंका भी भय है। अतः इससे बचना चाहिये। परंतु ये सब भिन्न मार्ग ईश्वरके निर्दोष ज्ञानका साक्षात् प्रसाद हैं, अथवा महान् पुरुषोंको भगवत्कृपासे इनका निर्देश—आविष्कार हुआ है; ये किसी मानवीय बुद्धिकी जोड़-तोड़का परिणाम नहीं हैं। इनका अनुष्ठान शरीर, इन्द्रिय, मन तथा बुद्धिमें दिव्य परिवर्तन कर देता है; अतः इनमेंसे किसीका भी निरादर नहीं करना

चाहिये। हाँ, षट्क्रियादि किन्हीं सामान्य क्रियाओंको ही योगका सर्वस्व समझना अथवा देश-काल-मर्यादारहित इनका उपयोग करना अयुक्त है; शास्त्रविरुद्ध किसी मार्गका अनुष्ठान सिद्धिका कारण नहीं, अपितु अश्रद्धाका ही कारण होता है। इसलिये अतिका सर्वत्र त्याग करना चाहिये।

सर्वोत्तम, सरल, परम समर्थवान् साधन ओम् आदि नामोंका भावनासहित जाप है। जो श्रद्धा तथा अन्य सत्यादि नियमोंके पालनसहित निरन्तर अनुष्ठान किये जानेपर अवश्य अपने दिव्य प्रभावको प्रकट करता है। इस अजपा जापका युवा, वृद्ध, नर-नारी सभी अनुष्ठान कर सकते हैं। इसमें विशेष भय नहीं। अनन्य श्रद्धाद्वारा ईश्वरप्रसादसे सब विघ्न दूर होकर परम लक्ष्यकी सिद्धि इस साधनसे अपेक्षाकृत अल्पकालमें ही हो सकती है। यह संसार-विषूचिकाकी महान् औषध है। हाँ, सत्यादि व्यवहारका अनुपान लाभकारी है; परंतु सामान्य व्यवहारको ही परमार्थसिद्धिके लिये पर्याप्त समझना भूल है। श्रद्धा तथा शुद्ध भावनासे किया गया यह जाप सम्पूर्ण पाप तथा योगवासनाको दग्ध कर सकता है। हाँ, मनुष्यका उद्देश्य सत्य होना चाहिये। यदि केवल दम्भके लिये ही इसकी साधना की जाय तो साधनका क्या दोष?

सिद्धियोंका परम लक्ष्यके साथ कुछ सम्बन्ध नहीं। ये अनात्ममोह तथा शक्ति-लालसा योगमार्गमें महान् प्रतिबन्धक हैं। अतः इनसे सावधान रहना चाहिये। इनके त्यागका भी अभिमान नहीं करना चाहिये। यह अभिमान भी किये-कराये सबको मिट्टीमें मिला देता है। विवेकख्याति तथा सविकल्प समाधिका रस भी लय आदि प्रतिबन्धकोंके समान विक्षेप और त्याज्य है, तब उपर्युक्त सिद्धियोंकी क्या गणना है? इनकी विचित्रताके मोहसे बचना चाहिये। इसपर वैराग्यके द्वारा ही स्वरूपस्थितिका लाभ हो सकता है, अन्यथा कदापि नहीं। इसके दीर्घकालीन निरन्तर अभ्याससे ही ऐसी दृढ़ भूमि हो जाती है कि फिर निरोध तथा व्युत्थानमें कुछ अन्तर नहीं रह जाता; सर्वदा एकरस स्थिति बनी रहती है। जहाँ-कहीं वेदान्तशास्त्रोंमें योग अथवा समाधिके निरादरके वचन आते हैं; वे ऐसे प्रौढ़ योग अथवा अनुभूति-की परम निरङ्कुश तृप्तिकी दशाकी तुलनामें हैं। अथवा उस मिथ्या मतिके विचालनके लिये हैं, जो बुद्धिके व्युत्थान अथवा समाहित दशासे निज आत्मतत्त्वको प्रभावित मान रही है। अतः योगादि अन्य साधनोंका उचित उपयोग ब्रह्मविद्याके सम्बन्धमें शास्त्रसम्मत है।

भजनका प्रभाव

(लेखक—एक भक्त-चरण-रजोऽभिलाषी)

भजन-शब्द 'भज सेवायाम्' धातुसे बना है। सेवासे तात्पर्य किसीके कष्टका लाघव करने या उसे कुछ सुख पहुँचानेसे है। सुख शरीरका और मनका दोनों प्रकारका हो सकता है। किसी भूखेको भोजन कराकर या किसी श्रद्धेयके पैर दबाकर हम उसकी शारीरिक सेवा कर सकते हैं, अथवा किसी चिन्ताग्रस्तका मन बहलाकर या उसे आश्वासन देकर उसकी मानसिक सेवा कर सकते हैं। जिसकी सेवा की जाती है, उसे प्रसन्नता और सुख होता है एवं उसकी उस प्रसन्नता और सन्तोषका प्रभाव हमारी आत्मापर भी बिना पड़े नहीं रहता। अतएव भजनकी पहली सीढ़ी है—सेवा। यह सुननेमें जितनी सहज है, करनेमें उतनी ही कठिन भी है। श्रीरामचरित-मानसमें श्रीभरतलालजीके मुखसे तुलसीदासजीने कहला दिया—'सब ते सेवक धरम कठोरा'—सब धर्मोंसे यह कठोर धर्म है। एक सतीकी कथा है—रात्रिको नींदमें ही उसके स्वामीने पीनेका पानी माँगा। वह उठकर गिलासभर पानी लायी। पतिदेव सोये हैं, उन्हें पता भी नहीं; पर पत्नी जगाकर उनकी नींदमें बाधा भी नहीं डालना चाहती। और यदि सहसा उठकर पति पानी माँगे और उसे न मिले तो भी अधर्म होगा। इसलिये रातभर जागकर वह पानी माँगनेके आसरे गिलास लिये खड़ी रही। सबेरे उठकर पतिने देखा तो कारण विदित होनेपर उसके हर्ष-विस्मय तथा सन्तोषका ठिकाना न रहा। और पत्नी भी पतिके इस भावको देखकर तन्मय हो गयी। उसी दिनसे पत्नीमें यह शक्ति हो गयी कि बिना प्रयास ही वह दूसरोंके हृदयकी बात जान लेती थी।' इसे वास्तविक घटना न मानकर एक कहानी ही मान लें, तो भी इसके भीतर मानस-शास्त्रका एक गभीर विज्ञान छिपा है। वह है पत्नीकी तन्मयता और उससे उसकी एक विशेष शक्तिका विकास। यह तो सभी जानते हैं कि हमारी आत्मा अनन्त शक्तिका भंडार है। कब किस अवस्थामें किस प्रकारसे कौन-सी शक्तिका विकास हो जायगा, यह कौन जानता है? पर किसी भी विशेष शक्तिका विकास 'तन्मयता' अर्थात् मनकी वृत्तिके एकाग्र या निरोध होनेपर ही होता है। यह तो जब कभी भी परीक्षा करके देखा जा सकता है।

वाक्-संयम, मनः-संयम, शरीर-संयम, सारी सिद्धियोंका मूल 'संयम' है। एक लंपको जलाइये, बत्ती भकाभक जलने लगेगी और धूँआ उठने लगेगा। अब उसे संयमरूपी चिमनीसे ढँक दीजिये। नियमित प्रकाशकी सिद्धि प्राप्त होगी। अतः किसी भी कार्यको सुचारुरूपसे सम्पन्न करनेके लिये 'संयम' या 'तप' नितान्त आवश्यक है और यह तप ही है भजन। भजनपर बैठते ही हम मनका, वाणीका और शरीरका संयम या तप करते हैं और अपनी आत्माकी सेवामें तत्पर हो जाते हैं। मनके सारे उत्पात थमने लगते हैं, अपने कृत्योंपर विचार होने लगता है। मनके सारे कृत्य चित्तमें उदय होने लगते हैं और हमारे विश्वासानुसार उनमें जो दुष्कृत्य हैं, उनपर हमें पछतावा होने लगता है। हम एक ऐसी शक्तिके ध्यानद्वारा शुद्ध, पवित्र, निर्मल और शान्तिके वातावरणका उपभोग करना चाहते हैं जिसे हमने अपनी श्रद्धा और विश्वासके अनुसार अपना परम ध्येय या इष्ट माना होता है। जो जिसका परम ध्येय है, वही उसका ईश्वर है। पार्वतीको जाकर सप्तर्षि कहते हैं, 'क्या उस नग्न अमङ्गल-वेष शिवको वरनेके लिये तुम तप कर रही हो? हम सर्वमङ्गल-रूप वैकुण्ठाधिपति सौन्दर्यशाली विष्णुभगवान्‌से तुम्हारा विवाह करा देंगे।' पार्वती उत्तर देती हैं—

महादेव अवगुन भवन बिष्नु सकल गुन धाम।
जेहि कर मनु रम जाहि सन तेहि तेही सन काम॥
अब मैं जन्मु संभु हित हारा। को गुन दूषन करै बिचारा॥

यही है प्रेम या उच्चसोपानकी भक्ति और इसे ही प्राप्त करना है—भजनका उद्देश्य। चाहे किसी देवतामें, किसी यक्ष-राक्षसमें, किसी मनुष्यमें, किसी चैतन्य या अचैतन्य स्थावर-जङ्गममें, जिसे भी अपने स्वभावके अनुकूल हम अपना ध्येय बना लें, हमें भजनकी सिद्धि प्राप्त हो सकती है। भजनकी सिद्धिका प्राप्त होना यही है कि हम अपने उपास्य-देवके साथ तदाकार हो जायँ। वह विश्वशक्ति सब जगह है। 'यो मां पश्यति सर्वत्र'। जैसी भावना, वैसी प्राप्ति। इसमें ऊँच-नीचका कोई प्रश्न उठ ही नहीं सकता। भगवान् अपने एक अंशसे विश्वकी सारी विभूतियोंमें व्याप्त हैं अथवा उनके एक अंशमें सारा विश्व स्थित है। जिसका जो ध्येय है, उसके लिये वही उसकी विभूति है और विश्वेश्वर भगवान् तदनुसार उसे सिद्धि देते हैं एवं उसीमें उसे परमानन्दकी प्राप्ति होती है। रामायणके उत्तरकाण्डमें काकभुशुण्डिजी गरुड़के प्रति कहते हैं—

निरुपम न उपमा आन राम समान रामु निगम कहै।
जिमि कोटि सत खद्योत सम रबि कहत अति लघुता लहै॥
एहि भाँति निज निज मति बिलास मुनीस हरिहि बखानहीं।
प्रभु भाव गाहक अति कृपाल सप्रेम सुनि सुख मानहीं॥
भाव बस्य भगवान सुख निधान करुना भवन।
तजि ममता मद मान भजिअ सदा सीता रवन॥

'उस परमात्माकी कहीं उपमा नहीं है; क्योंकि उसके-ऐसा कोई है ही नहीं। जब हम भगवान्‌का ध्यान करने लगते हैं तब जहाँतक हमारे मनकी गति हो सकती है, जहाँतक हमारी कल्पना जा सकती है, हम एक नित्य सच्चिदानन्दघन 'सत्य, शिव, सुन्दर' के ध्यानमें निमग्न हो जाते हैं। हमारा ध्यान जब खूब जम जाता है, तब सामनेका कोई भी उपास्य प्रतीक उस समय गौण हो जाता है और मुख्य हो जाते हैं 'हम-ही-हम'। शरीरका, मनका भान नहीं रहता; एक अपूर्व आनन्दका अनुभव होता है। पर यह भी मन, बुद्धिसे ही लिया जाता है। एक अवस्था ऐसी भी होती है, जिसका शब्दोंके द्वारा वर्णन सम्भव नहीं। पर है सही। जैसे तृप्ति, जिसे गीताने 'आत्मतृप्त, आत्मसन्तुष्ट' कहा है। उसकी और कोई व्याख्या नहीं। अपनेमें आप ही सन्तुष्ट। जिसे जो मनमें भाया, उसीके अनुसार उसने अपने इष्टका ध्यान किया और उसीमें उसको अपने भगवान् मिले। भगवान्‌की महिमा अपार है। 'रामु अमित गुन सागर थाह कि पावइ कोइ।' पर वे भावके वश हो जाते हैं, क्योंकि सुखके निधान हैं, जीवोंपर उनकी अपार करुणा है। हममें उनको जाननेकी शक्ति नहीं है; फिर भी हम अशक्तोंपर उनकी ऐसी दया है कि हम जैसे चाहे ध्यावें, वैसे ही वे हमें मिल जाते हैं—वे 'सर्वभूतमय' जो ठहरे। आत्मा अपने ध्येयमें एकाकार होकर परमात्मस्वरूप हो जाता है। यही है भजनका चरम लक्ष्य। यह अवस्था कथनातीत है। संसारके सारे क्लेश, चिन्ता और दुःखोंका अवसान हो जाता है। भक्त केवट अपने भगवान्‌को पार उतारकर क्या कहता है—

नाथ आजु मैं काह न पावा। मिटे दोष दुख दारिद दावा॥

भक्तके उस समय सारे दोष, षड्रिपुजनित क्लेश, तीनों प्रकारके दुःख—आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक दारिद्रय (सब प्रकारकी कामना—यही दरिद्रता है), दावा (सब प्रकारके हृदयकी जलन) शान्त होकर आनन्द-ही-आनन्द रह जाता है।

भगवान् ऐसे दयालु हैं कि इस प्रकारसे जो सदा भजन

न करके अपने मतलबके लिये मौके-बेमौके भी उनका भजन करता है, उसका कार्य भी वे सिद्ध किया करते हैं; पर उसे भजन न कहकर प्रार्थना कहना चाहिये । यदि भगवान् उसमें भक्तका कल्याण समझते हैं तो उसकी प्रार्थना पूर्ण कर देते हैं; नहीं समझते तो नहीं भी करते । जब किसी प्रार्थना करनेपर उसका फल न मिले तो यही समझकर सन्तोष करना चाहिये कि भगवान् इसका पूर्ण करना हमारे लिये मङ्गलकारी नहीं समझते । एक शत्रु दूसरेके नाशके लिये प्रार्थना करता है तो भगवान् क्या दोनोंकाही नाश कर देंगे । यह तो सम्भव ही नहीं । पर इस प्रकारकी प्रार्थनाको भजन न कहकर मनका विकार ही कहना होगा । मनमें यदि किसी प्रकारका विकार है, किसीके प्रति द्वेष है, घृणा है, और इसलिये किसीके विनाशकी कामनासे जो प्रार्थना की जाती है, वह तो प्रार्थना ही नहीं है । क्योंकि ईश्वर सर्व-भूतमय है । जो किसीसे घृणा—द्वेष करके उसका विनाश चाहता है, वह तो भगवान्से ही घृणा—द्वेष करता है । ऐसी प्रार्थनाका फल सम्भव है कि हमें घृणाकी ही प्राप्ति हो । सब लोग हमसे घृणा करने लग जायँ । इसीलिये जघन्य कार्य, जिसमें किसी प्राणीकी कुछ सेवा न होकर हिंसा होती है, करनेवाले क्रूरकर्मीसे सब लोग घृणा करने लगते हैं । घृणा करो, बदलेमें घृणा प्राप्त होगी; प्रेम करो, बदलेमें प्रेम प्राप्त होगा । यह संसार एक दर्पण है; जैसा चेहरा बनाओगे, वैसा ही दीखेगा । भजनसे अपनेको सत्य, शिव, सुन्दर बनाओ; वैसा ही अपनेको देखोगे ।

गीतामें भगवान्ने चार प्रकारके भक्त कहे हैं, यह तो गीताध्यायी सभी लोगोंने पढ़ा होगा । पर ज्ञानी भक्त ही उच्च कोटिका भक्त है; क्योंकि वह सदा 'यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति'—सर्वत्र भगवान्को और सबको भगवान्में देखता है । प्रह्लाद पितासे कहते हैं—'मुझमें, आपमें, खड्ग-खम्भमें—सबमें वही हैं । हे पिता ! आप भी वही विष्णुरूप हैं, यह जानकर प्रसन्न हों; क्यों क्रोध कर रहे हैं ?' यही है ज्ञानी भक्तकी सच्ची भावना । अपना गला काटनेवाली तलवारमें और गला काटनेको उद्यत हुए पितामें उसे अपने उपास्यदेवके ही दर्शन होते हैं । फिर क्यों न हो उसका नाम 'प्रह्लाद' ? आगे भी आह्लाद, पीछे भी आह्लाद, सदा आह्लाद-ही-आह्लाद ! ऐसे भक्तको सदा आह्लादकीही प्राप्ति होती रहती है और यही ज्ञानी भक्त है । प्रह्लाद, शुकदेव, सनकादि और नारद ऐसे ही भजनानन्दी, हैं, जो सदा भगवान्का गुणानुवाद ही गाया करते हैं, जिनके लिये भगवान्की यह उक्ति है—'न तो मैं वैकुण्ठमें, न योगियोंके हृदयमें रहता हूँ । पर जहाँ मेरे भक्त निरन्तर मेरा गायन करते रहते हैं, वहीं रहता हूँ ।' जिस समय कोई सच्चा भक्त भगवान्का गायन करने लगता है, उस समय उसी गायनमें भगवान् उतर आते हैं । उस विश्वनाथके स्वरमें भक्तके हृदयका स्वर मिल जाता है, हृदय-तन्त्रीके तारोंके बज उठनेसे उसके शरीरके सारे तार बज उठते हैं । कबीरजी कहते हैं—

रग रग बजे रबाब तन, रोम रोम टंकार ।
सहजहि धुनि लागी रहे, निकसे नाम तुम्हार ॥

यह तो नित्य भजनानन्दीकी अवस्था है । एक भक्त होते हैं जिज्ञासु, उद्धव, अर्जुन ये जिज्ञासु भक्तोंमें गिनाये गये हैं । इन्हें तत्त्वकी जिज्ञासा थी, पर भगवान्का तथ्य जाननेपर ये भी ज्ञानी हो गये । एक होते हैं आर्त, जो किसी भारी विपत्तिके पड़नेपर अपने ध्येयको व्याकुल होकर पुकार उठते हैं । इस पुकारको भगवान् सुनते हैं और यदि उसमें प्रार्थीका मङ्गल समझते हैं तो उसकी पूर्ति भी करते हैं—जैसे जरासन्धके बंदीखानेसे आर्त बन्दी राजाओंको भगवान्ने उबारा । गज और द्रौपदीके उपाख्यान प्रसिद्ध ही हैं, इन्द्रकी वर्षासे व्रजवासियोंकी रक्षा की । अब ऐसे भी एक भक्त या प्रार्थी होते हैं, जो किसी सुख-भोगकी कामना परमात्मासे करते हैं । परमात्मा उचित समझते हैं तो उन्हें वह सुख-भोग देते हैं । अनुचित समझते हैं तो थोड़ी देरके लिये परीक्षार्थ उन्हें दुःखमें भी डाल देते हैं, जैसे एक समय उन्होंने नारदको डाल दिया था । रामायणमें नारदके मोहकी कथा प्रसिद्ध है, यद्यपि नारदको ज्ञानी भक्तोंमें कहा गया है । पर अभिमानका फल बुरा होता है । ज्ञानका अभिमान भी गिरा सकता है । यही नारद-उपाख्यानका सार है ।

कामना ही सारे दुःखोंकी जड़ है, जिसने संसारके सुख-भोगकी वासनासे हमारी आत्मापर मोहका पर्दा डाल रक्खा है । और इसी कारण हम दुर्लभ मनुष्यदेह पाकर भगवान्से अनित्य सुखभोगोंको माँगा करते हैं, जिसका परिणाम अन्तमें दुःख ही होता है । इन भक्तोंकी कोटिमें सुग्रीव, विभीषण, उपमन्यु आदि हैं । यद्यपि ऊपरसे सबोंने सुखभोग नहीं माँगा, तथापि इनमें भीतर-ही-भीतर सुखकी इच्छा बनी थी । भगवान्ने उन्हें पात्र समझकर दिया । पर भगवद्-भजनकी कुछ ऐसी महिमा है कि चाहे किसी प्रकारसे भी क्यों न भजो, परिणाममें वह आपको ज्ञानी बना ही देगा । इसीलिये भगवान्ने इन चारों प्रकारके भक्तोंको 'उदार' कहा । उदार

इसलिये कि ये भगवत्-शक्तिका पल्ला पकड़ते हैं, क्षुद्र सांसारिक शक्तियोंका नहीं। जो सांसारिक पदार्थोंकी ममता न छोड़ सके, उसे 'कृपण' कहते हैं और जो किसी भी प्रकारसे हो, भगवान्‌का पल्ला पकड़ लेता है, वह हो गया 'उदार' और समय पाकर वही ज्ञानी भक्तोंकी कोटिमें भी आ जाता है। यही है भगवान्‌की कृपा।

भगवान्‌के प्राप्त होनेकी शर्त केवल एक ही है—

निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥

मन कपटरहित–निर्मल होना चाहिये। बस, फिर सफलता आपके सामने है। मैले जलमें, धूलभरे दर्पणमें, कीचड़में प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता, तो इसमें सूर्यका दोष नहीं। वैसे ही हमारा अन्तःकरण यदि शुद्ध नहीं तो भगवान्‌के दर्शन हमें कैसे होंगे। फिर भी भजनका प्रताप कुछ ऐसा है कि छल, कपट, कुभाव, कुमति, आलस्य या प्रमादसे—किसी प्रकारसे भी भगवान्‌का भजन-स्मरण किया जाय तो उसका फल यह होता है कि समय पाकर ये सभी सद्गुण बन जाते हैं; क्योंकि भजन रसायनरूपी अमृत-ओषधि है, जो समय पाकर सब रोगोंको दूर कर ही देगी। पुराणोंमें ऐसी सैकड़ों कथाएँ हैं। न मानें तो परीक्षा करके देख लें। किसी भी रीतिसे अनन्य भावसे भजन, स्मरण, कीर्तन, चिन्तन करके देख लें; कुछ दिनोंमें आपको आनन्द आने लगेगा। फिर आप ही कहेंगे कि बस, आनन्द-ही-आनन्द है। भगवान् कहते हैं, 'बड़े-से-बड़ा दुराचारी भी यदि अनन्यभावसे मेरा भजन करने लगता है तो वह भी शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और शाश्वती शान्तिको प्राप्त होता है।' भजन जो सच्चे हृदय और पूरे उत्साहसे किया जाता है, बिजलीके सदृश अपना प्रभाव रखता है। ऐसे भक्तोंके सङ्गसे अभक्त भी भक्त और नास्तिक भी आस्तिक हो जाते हैं। ज्ञानीको तो भगवान्‌ने अपनी आत्मा कहा ही है; पर वे अज्ञानी भी, जिन्हें छल-कपट नहीं छू गया है, जो शिशु-जैसे सरलहृदय हैं और यह कहकर भगवान्‌को ध्याते हैं कि 'हे प्रभो! हम निपट अज्ञानी हैं, नहीं जानते कि आपको कैसे ध्यावें। आप चाहे जैसे हों, हमपर दया करें।' ऐसे भक्तोंका दर्जा भी परम ज्ञानियोंसे कम नहीं; क्योंकि चाहे कैसा ही ज्ञानी क्यों न हो, भगवान्‌का बहुत अल्प ही ज्ञान उसको होगा; क्योंकि वह तो अनादि-अनन्त है। हमें जितना समझने देता है, हम उतना ही समझ पाते हैं, इसलिये हम बिल्कुल नहीं समझ सकते, इस प्रकार समझनेवाले **भक्तका विश्वास भी अवश्य ही श्रेष्ठ है। क्योंकि बिल्कुल न समझनेपर भी भगवान्‌की सत्तामें तो उसे विश्वास है। शिशु-**सदृश सरलहृदय होकर—जैसे शिशु पूरे विश्वाससे अपनेको 'माँ' की गोदमें डाल देता है, वैसे ही जो भक्त अपनेको अज्ञ जानते हुए पूरे विश्वासके साथ उस विश्वमाता, जग-जननीकी गोदमें डाल देते हैं, उनका सब भार भगवान्‌को सँभालते ही बनता है। भगवान् माता, पिता, स्वजन, सुहृद् होकर सभी प्रकारसे उसकी रक्षा करते हैं—उसका योगक्षेम वहन करते हैं। भगवान्‌का भजन और सदाचरण करते हुए भी कभी-कभी सांसारिक आपद्-विपद् आ जाती है, इससे घबराना नहीं चाहिये। यह एक प्रकारका हमारे पूर्वपापोंका फल है, जो शीघ्र ही कटता है। जैसे बालकके फोड़ेको चिरवाते समय बच्चा रोता है, पर माता दया नहीं करती, वैसे ही कच्चे भक्त उस समय भगवान्‌को कोसने लगते हैं। पर पक्के लोग तो उसे भगवान्‌की दया ही समझकर प्रसन्न रहते हैं। कोसनेवालोंपर भी भगवान् अप्रसन्न नहीं होते वरं उसे बाल्यरुदनकी तरह मानकर हँसते हैं, और माता जैसे बच्चेके फोड़ेको चिरवाकर दूषित मलको निकलवा देती है, वैसे ही भक्तके तमाम मलको निकालकर ही जान छोड़ते हैं। किसी कविने कहा है—

रंग लाती है हिना पत्थर पै पिस जानेके बाद।
सुर्खरू होता है इन्साँ ठोकरें खानेके बाद॥

अहल्या-उपाख्यानमें अहल्या भगवान्‌से कहती है—

मुनि श्राप जो दीन्हा अति भल कीन्हा. परम अनुग्रह मैं माना।
देखेउँ भरि लोचन हरि भय मोचन इहइ लाभ संकर जाना॥

सुग्रीव श्रीरामजीसे कहते हैं—

बालि परम हित जासु प्रसादा। मिले राम तुम्ह समन बिषादा॥

यह बात ध्यान देकर सोचनेपर सत्य या नित्य सत्य प्रत्यक्ष होती है। भक्तोंका कष्ट तो क्षणस्थायी होता है, पर यों भी संसारचक्रकी सारी लीला परिवर्तनशील है ही। दुःखके बाद सुख अवश्यम्भावी है। घोर उत्तापके बाद वर्षा अवश्यम्भावी है और उस वर्षाका आनन्द पावसके मोरोंको नाचते देखकर अनुभव होता है। तुलसीदासजी कहते हैं—

जो अति आतप ब्याकुल होई। तरु छाया सुख जानइ सोई॥

पुराणोंमें तो सैकड़ों ऐसी कथाएँ हैं, जहाँ भक्तोंको कठिन परीक्षामें डालकर उन्हें खरा सोना बनाया गया है। एक मुसलमान भक्त नज़ीर कहते हैं—

राज़ी हैं हम उसीमें, जिसमें तेरी रज़ा है।
यहाँ यों भी वाह वाह है, और त्यों भी वाह वाह है॥
पालेगा असरतोंसे तो पेशसे पलेंगे।
जिल्लतमें डाल देगा तो जिल्लतमें जा रहेंगे॥

जिन्नतका ले चलेगा तो जिन्नतको उठ चलेंगे।
दोजखमें डाल देगा तो दोजखमें जा जलेंगे॥
पर जबतक दममें दम है, हम तो यों ही कहेंगे।
राजी हैं हम उसीमें, जिसमें तेरी रजा है॥

यह है सच्चे भक्तकी उक्ति। 'पूरे हैं वही, जो हर हालमें मस्त हैं।' उन्हें तो दुःखका भान ही नहीं होता; यदि कुछ होता भी है तो स्वप्नावस्थाकी तरह प्रारब्धका भोग भोग लेते हैं और फिर खरे सोने-के-सोने। किसीने तो यहाँतक कहा है कि—

पारसमें अरु संतमें बड़ो अंतरो जान।
वह लोहा सोना करे, वह करै आपु समान॥

संतोंकी महिमा कहाँतक कही जाय—

जो सहि दुख पर छिद्र दुरावा। बंदनीय जेहि जग जस पावा॥

आप दुःख सहकर दूसरोंका छिद्र ढाँकते हैं। जैसे वस्त्र बननेके पहले 'रूईको धूना, कूटा-पीटा और फटकारा जाता है, फिर बटा जाता है, इसके बाद वह धोबियोंके पाटकी, कुन्दीगरके यहाँ मोगरियोंकी मार सहकर, वस्त्र बनकर लोगोंके छिद्रको ढँकती, उनका शीत निवारण करती है, वैसे ही संत होते हैं। रामायणमें तो जगह-जगह उनकी महिमा कही है। तुलसीदासजीने तो यहाँतक कह दिया कि 'साग बनिक मनि गुन गन जैसे'—भक्ति मणिरूप है, मैं शाक बेचनेवाला उसकी महिमा कैसे वर्णन कर सकता हूँ। संतोंकी सबसे बड़ी पहचान यही है कि वे दूसरोंकी सेवा करना ही अपना धर्म समझते हैं, सेवा करवाना नहीं। वे भक्त भक्त ही नहीं, जो तुलसीदासजीके शब्दोंमें—

बहुत प्रीति पुजाइबे पर, पूजिबे पर थोरि।

इसीसे असली-नकली संतकी पहचान हो सकती है। चाहे वह संतोंके वेषमें हो या न हो, सेवापरायण जीव ही सच्चा भक्त है। इसीलिये लेख 'भज सेवायाम्' इस वाक्यसे आरम्भ किया गया और इसी वाक्यमें समाप्त किया जाता है। भजनकी महिमापर तो वेद-पुराणादि अगणित ग्रन्थ हैं। इस छोटे-से लेखमें केवल दिग्दर्शनमात्र किया गया। भगवान्‌ने गीताका उपसंहार—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

—इन शब्दोंमें किया है। यह सर्वसमर्पण ही यथार्थ सेवा है।

प्रति-भावनाका अभ्यास

(लेखक—पं० श्रीलालजीरामजी शुक्ल, एम्० ए०, बी० टी०)

मनुष्यके मनमें ऐसे अनेक प्रकारके विचार आते रहते हैं, जिनसे उसकी अपनी और दूसरोंकी भी क्षति होती है। जबतक मनुष्य इस प्रकारके विचारोंकी बुराईको नहीं समझता, तबतक उसके लिये उनसे मुक्त होना संभव नहीं। बहुत-से लोग अपने शत्रुओंको ही अपना मित्र समझते रहते हैं, वे उन्हींके साथ रमण करते और बार-बार कष्ट पानेपर भी उनके वास्तविक रूपको नहीं पहचान पाते। वस्तुतः हमारे बुरे विचार ही हमारे शत्रु हैं। ये ही भौतिक शत्रुओंका निर्माण कर डालते हैं। किसी भी बुरी भावनाके संस्कार मनमें रह जाते हैं। ये संस्कार हमारे स्वभावका अङ्ग बन जाते हैं। अभ्यासवश यह होता है। जब किसी प्रकारके विचार मनुष्यके स्वभावका अङ्ग बन जाते हैं, तब उन्हें मनसे निकालना अत्यन्त कठिन होता है। पर प्रयत्न करनेसे मनुष्य सभी काम कर सकता है। वह अपने-आपको भी बदल सकता है। अपना लक्ष्य निश्चित होनेपर लगे रहनेसे सभी प्रकारकी सफलता प्राप्त हो जाती है।

पहले तो यही महत्त्वकी बात है कि हम अपने वास्तविक शत्रुओंको जान लें। शत्रुओंको जान लेनेपर उनपर विजय प्राप्त करना सरल हो जाता है। कभी-कभी छिपे शत्रु जब प्रकट हो जाते हैं, तब वे शत्रु ही नहीं रहते। वे देखते हैं कि अब धोखा देनेसे काम नहीं चलेगा; अतएव वे मित्रका व्यवहार करने लगते हैं। विचाररूपी शत्रुओंके विषयमें यही सत्य है। पर हमें यह नहीं सोचना चाहिये कि हमारे चरित्रकी किसी प्रकारकी बुराई उसकी चर्चा करनेमात्रसे छूट जायगी। यदि ऐसा होता तो संसारके सभी विद्वान् भले मनुष्य होते। पर देखते हैं कि विद्वानोंमें जितनी नैतिक कमजोरियाँ रहती हैं, उतनी प्रायः भोले-भाले साधारण लोगोंमें नहीं रहतीं। जो मनुष्य सदा दूसरेकी शिक्षाके कार्यमें लगा रहता है, उसे अपने-आपको समझने और शिक्षा देनेका समय ही नहीं मिलता। फिर मनुष्यकी विद्वत्ता उसे यश प्राप्त करा देती है। तब उसका अभिमान बढ़ जाता है। फिर यदि कोई व्यक्ति उसके चरित्रकी आलोचना करता है अथवा उसे किसी प्रकारके सुधारके लिये सुझाव देता है तो वह उसे ग्रहण नहीं करता, वरं उलटा चिढ़ जाता है।

अपने-आपको महान् माननेवाला व्यक्ति बड़ी सरलतासे अपने आसपास अनेकों शत्रु पैदा कर लेता है। इस प्रकार उसका कल्याण चाहनेवालोंकी संख्या भी घट जाती है। पण्डितको कोई भी बात नयी नहीं दिखायी देती। यदि कोई आध्यात्मिक चर्चा किसीने की तो वह उसे पहलेसे ही जानता है। वह उस वक्ताकी अपेक्षा उस बातको और भी अच्छी तरहसे कह सकता है। इस प्रकार विद्वान् पुरुष किसीसे भी सन्निर्देश ग्रहण नहीं कर सकता।

विद्वान्‌को यह जानना आवश्यक है कि किसी बातका बुद्धिगम्य होना एक बात है और उसका हृदयग्राह्य होना दूसरी बात। मनुष्यका चरित्र, उसका सुख-दुःख उसकी बुद्धिपर उतना निर्भर नहीं है, जितना उसके हृदयकी स्थितिपर है। क्रियाकी शक्ति बुद्धिसे नहीं वरं हृदयसे आती है। जबतक मनुष्यके भाव पवित्र नहीं होते, उसका चरित्र ऊँचा नहीं हो जाता, तबतक केवल उसके विचार ऊँचे हो जानेसे उसे कोई आध्यात्मिक लाभ नहीं होता। कोई मनुष्य बुद्धिमें महान् होकर भी हृदयसे बच्चा ही रह सकता है। इसी प्रकार बुद्धिमें सामान्य रहकर भी कोई मनुष्य 'महात्मा' हो सकता है।

हृदयकी पवित्रता अभ्यासके ऊपर निर्भर करती है। यह अभ्यास—सद्भावनाका अभ्यास है। मनुष्यको चाहिये कि वह जिस बुरी भावनाकी अपनेमें प्रबलता पाये, उसकी विरोधी भावनाके ऊपर नित्यप्रति विचार करना आरम्भ कर दे। उसे अपने अनुभवको बार-बार देखना चाहिये कि उक्त भावनाके दुष्परिणाम क्या हैं और उसके जीवनके विकासमें उसने कैसे रुकावट डाली है। कुछ अपने मित्रोंके जीवनको भी देखना चाहिये। इस प्रकारका अभ्यास बार-बार करते रहनेसे मनुष्यके हृदयतक उसके विचार पहुँच जाते हैं, वे उसकी भावनाओंको प्रभावित करने लगते हैं। किसी प्रकारका बार-बार किया गया अभ्यास आत्मनिर्देशका रूप धारण कर लेता है और जब कोई भला विचार आत्मनिर्देश बन जाता है, तब वह मनुष्यको बिना प्रयत्न किये ही सन्मार्गपर चलाने लगता है। मनुष्य जैसा सदा अपने-आपको बनानेका आत्म-निर्देश देते रहता है, वह अपने-आप वैसा ही बन जाता है। उससे भले काम उसी प्रकार सहज भावमें हो जाते हैं, जैसे बुरे लोगोंसे बुरे काम सहज भावसे होते हैं।

प्रत्येक मनुष्यके मनमें काम, क्रोध और लोभजनित अनेकों प्रकारकी दुर्भावनाएँ चला करती हैं। इन तीन प्रमुख भावोंका विरोध उनके प्रति-भावोंसे किया जा सकता है। कामका विरोधी भाव शरीरादिके प्रति अशुभ भावना है, क्रोधका मैत्री-भावना है और लोभका अनित्य-भावना है। काम-वासनाके विनाशके लिये संसारके सभी संतोंने शरीरकी अशुभतापर विचार करनेकी शिक्षा दी है। भगवान् बुद्ध अपनी युवा-अवस्थामें ही संसारको छोड़कर चले गये थे। वे बहुत ही रूपवान् थे। उनकी पत्नी भी अत्यन्त सुन्दरी थी। फिर वे जहाँ जाते थे, राजालोग अपनी कन्याओंको उन्हें देनेके लिये तैयार रहते थे। जब बुद्ध भगवान् गयाके जंगलोंमें तपस्या कर रहे थे, तब राजा बिम्बसारने उन्हें अपने इस कठोर कार्यसे विरत करनेके लिये अपनी पुत्रीसे विवाह कर देने-का प्रस्ताव किया। पर वे दृढ़व्रती थे, अतएव अपने पथसे विचलित नहीं हुए। उन्होंने अपने आत्म-निरीक्षणसे जान लिया कि उनमें कामवासनाकी प्रबलता है। उनके मार-दर्शनका यही रहस्य है। अतएव बुद्धभगवान्‌ने जो कामवासनाको जीतनेका उपाय बताया है, वह सभी साधकों-के लिये उपादेय है।

कामवासनापर विजय शरीरकी अशुभतापर विचार करनेसे प्राप्त होती है। हम अपने-आपको रूपवान् समझते हैं। यह पहली भूल है। दूसरी भूल किसी दूसरे व्यक्तिको रूपवान् समझना है। शरीरका सौन्दर्य एक प्रकारका मोह है। अज्ञानके कारण ही असुन्दर वस्तु सुन्दर दिखायी देने लगती है। अपने शरीरकी रचनापर बार-बार विचार करनेसे रूप-सौन्दर्यका मोह मिट जाता है। इस शरीरमें मल, मूत्र, मांस-पेशियाँ, हड्डियाँ, रक्त, केश, नख, कफ, लार, कीचड़ आदि अनेकों प्रकारके अशुभ पदार्थ भरे हुए हैं। यह वास्तवमें कितना अशुभ है, इसकी कल्पना कौन कर सकता है। जब इनमेंसे कोई भी पदार्थ शरीरके बाहर आ जाता है, तब हम उसे छूतेतक नहीं। पर जबतक ये शरीरमें रहते हैं, तबतक हमें प्रिय बने हुए हैं। यह कितना बड़ा अज्ञान है! कितने ही लोग तो घंटों अपना चेहरा शीशेमें देखते रहते हैं और सदा शरीरका शृङ्गार करते रहते हैं। शरीरके लिये वे इतना समय देते हैं कि उन्हें कोई दूसरा भला काम करनेकी फुरसत ही नहीं मिलती। शरीरके विषयमें उसकी वास्तविकतापर विचार करनेसे काम-वासना निर्बल हो जाती है। जो व्यक्ति जितना ही अधिक अपने-आपको रूपवान् समझता है, वह उतना ही कामुक होता है। इस कामनाका विनाश करनेके लिये शरीरके दोषोंपर नित्य विचार करना आवश्यक है।

जिस प्रकार अपने शरीरके दोषोंपर विचार करनेसे कामवासनाका विनाश होता है, उसी प्रकार किसी रूपवान् पुरुष अथवा स्त्रीके शरीरपर विचार करनेसे भी कामवासनाका विनाश होता है । पुरुषको स्त्रीकी कुरूपतापर और स्त्रीको पुरुषकी कुरूपतापर विचार करना चाहिये । जिस सौन्दर्यके पीछे मनुष्य पागल हो जाता है, वह कैसी धोखेकी टट्टी है ! जब शरीरसे प्राण निकल जाता है, तब फिर उसे कोई छूतातक नहीं । मुर्देको पड़े हुए देखकर ही मन घबड़ाने लगता है। अतएव बुद्धभगवान्‌ने मुर्देकी कल्पनाको बार-बार मनमें लाना कामवासनासे मुक्त होनेका सर्वोत्तम उपाय बताया है। पुराने समयके बौद्ध भिक्षु श्मशानपर जाकर जलते मुर्देको देखते थे । रूपवती स्त्रीका मुर्दा देखनेसे शरीरके प्रति घृणा उत्पन्न हो जाती थी । यह अपनी कल्पनामें भी सदा चित्रण करते रहना चाहिये । ब्रह्मचारी साधुओंका तो यह नित्यका अभ्यास होना चाहिये । बार-बार इस प्रकारकी भावना मनमें लानेसे सौन्दर्यके प्रति सहज ही विरक्ति हो जाती है । इसी प्रकार मैत्री-भावनाके द्वारा क्रोधपर और अनित्य-भावनाके द्वारा लोभपर विजय प्राप्त करनी चाहिये ।

कम्यूनिज़मका खतरा

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

साम्यवादियोंके आश्चर्यजनक प्रभावको देखकर लोगोंके हृदयमें अनेक प्रकारकी भावनाएँ उठ रही हैं । कुछ लोग तो यहाँतक कहते हैं कि भारत भी अब इनके प्रभावसे अछूता न बचेगा । कुछ सनातनधर्मी भी इसमें संम्मति प्रदान करते हैं । कुछ लोगोंका कहना है कि भागवत, महाभारत तथा विष्णुपुराणादि ग्रन्थोंमें गुरुण्डोंके बाद मौनस्टोंका राज्य बतलाया गया है । जिस तरह 'गुरुण्ड' शब्द स्पष्टतया अंग्रेजोंको नहीं सूचित करता, उसी तरह मौनस्ट भी कम्यूनिस्टसे कुछ भिन्न है । पर गुरुण्ड और गौराङ्गका सादृश्य समझकर जिस तरह उक्त कथनकी पूरी सार्थकता मान ली जाती है, उसी तरह कम्यूनिस्टसे 'क' अक्षर निकाल लेनेपर प्रायः यह म्यूनिस्ट या मौनस्ट ही बच जाता है । सम्भव है महर्षियोंने इन अपशब्दोंको पूरा उच्चारण करना अनुचित समझा हो और एक प्रकारसे सांकेतिक शब्दमें उल्लेख कर दिया हो ।

सम्भव है ये उक्तियाँ आगे चलकर सच्ची ही हो जायँ, पर इसका तात्पर्य क्या ? राजनैतिक तथा धार्मिक व्यक्तियोंपर इसका बड़ा बुरा प्रभाव पड़े, शायद यही आशङ्का होती है । राजनैतिक क्षेत्रमें उनका क्या प्रभाव होगा, यह मैं नहीं कह सकता; पर 'धर्म' की इतिश्री हो जायगी, इसे लेकर किसी व्यक्तिको चिन्ता न होनी चाहिये । जिन्हें सनातनधर्मपर विश्वास है, उन्हें अपने धर्मग्रन्थोंपर भी पूरी आस्था होनी चाहिये । धार्मिकताको नाश करनेवाले ये दुराचारी व्यक्ति नहीं, प्रत्युत यह घोर कलिकाल ही धर्मका प्रबल शत्रु है । परतन्त्रताकी विपत्ति तो भारतने कितनी ही शताब्दियोंसे झेली । धर्मनाशके लिये प्रयास तो युग-युगान्तरोंमें भी रावण, हिरण्यकशिपु तथा कंसादिके द्वारा कोई साधारण नहीं हुए । पर धर्म तो अबतक अक्षुण्ण रहा । भागवतादि शास्त्रोंके अनुसार भावी समय अवश्य ही चिन्ताजनक है; फिर भी ज्ञानियों, बुद्धिमानोंके लिये कोई चिन्ताकी बात नहीं । भगवान् नहीं तो धर्म कौन-सी चीज है । यदि भगवान् हैं, तब तो धर्मनाशकी सबसे बड़ी चिन्ता उन्हें ही होनी चाहिये । यदि वे धर्मकी रक्षा कर रहे हैं, तब फिर धर्मका नाश कौन करेगा ?

सचमुच सनातन-धर्मको समझनेके लिये बड़े गहरे जाना होगा । जिन्हें धर्मग्रन्थोंपर विश्वास है; वे जान लें कि इस धर्मकी रक्षा तथा पालन करनेवाले सूर्य, चन्द्र, वायु, अग्नि, इन्द्रादि देवता तथा सभी ऋषि-महर्षि अभी जीवित हैं । वे कहाँ हैं, और क्यों चुप हैं—यह प्रश्न दूसरा है । सनकादिक, मार्कण्डेय, लोमश, पञ्चशिख, आसुरि, परशुराम, व्यास, अश्वत्थामा, विभीषण, कृपाचार्य, जाम्बवान्, हनुमान्, प्रह्लाद, काकभुशुण्डि तथा अन्य कितने ही सिद्ध मुनि अभीतक जीवित हैं और आगे भी रहेंगे । क्या धर्मरक्षाकी उन्हें कोई चिन्ता नहीं है ? प्रश्न किया जा सकता है कि क्या आँखोंके सामने धर्मका संहार देखते रहना अच्छा है ? 'स्कन्दपुराण'का कहना है कि जो मनुष्य धर्म-रक्षणमें समर्थ होकर भी चुप्पी साधे रहता हो, वह तो बड़ा नीच है; उसे मार डालना चाहिये । उसे मारनेमें कोई पाप नहीं, यह वेदका सुनिर्णीत सिद्धान्त है—

यश्च स्थापयितुं शक्तो नैव कुर्याद्विमोहितः ।
तस्य हन्ता न पापीयानिति वेदान्तनिर्णयः ॥

यह बात यद्यपि बिल्कुल सही है, फिर भी इस वैदिक मार्गको पूर्णतया स्थापित करनेकी हममें क्षमता है या नहीं—यह कहना बड़ा कठिन है। इसके अतिरिक्त उपर्युक्त सिद्ध-मुनीन्द्र अपनी शक्तिका इस समय परिचय क्यों नहीं देते, यह भी एक बड़ी विलक्षण बात है।

यह प्रश्न जटिल है अवश्य, पर विचारद्वारा इसका हल होना भी कुछ विशेष कठिन नहीं। पहले धर्म क्या है, इसीपर विचार चलना चाहिये। गोस्वामी तुलसीदासजीने एक जगह लिखा है कि 'जिस तरह बीजधात्री एकमात्र पृथ्वी ही है तथा नक्षत्रोंका निवासस्थान एकमात्र आकाश ही है, उसी तरह धर्म यद्यपि अनेक प्रकारके हैं, फिर भी उसमें किसी प्रकारका सन्देह नहीं कि सारे धर्मोंका पर्यवसान एकमात्र भगवन्नाममें ही है, भगवद्भजनमें ही है—

जथा भूमि सब बीजमय नखत निवास अकास।
रामनाम सब धर्ममय जानत तुलसीदास॥

श्रीमद्भागवतका कहना है कि 'जिस तरह वृक्षके मूलको सींचनेसे उसकी शाखाएँ और टहनियाँ तथा पत्र-पुष्प सभी तृप्त हो जाते हैं, या मुँहमें भोजन कर लेनेसे सारी इन्द्रियाँ तृप्त हो जाती हैं, उसी प्रकार भगवान्‌की सपर्यासे सभी प्राणियोंकी पूजा हो जाती है—

यथा तरोर्मूलनिषेचनेन तृप्यन्ति तत्स्कन्धभुजोपशाखाः।
प्राणोपहाराच्च यथेन्द्रियाणां तथैव सर्वार्हणमच्युतेज्या॥

(श्रीमद्भा० ४। ३१। १४)

यथा हि स्कन्धशाखानां तरोर्मूलावसेचनम्।
एवमाराधनं विष्णोः सर्वेषामात्मनश्च हि॥

(श्रीमद्भा० ८। ५। ४९)

अपने देह तथा स्त्री-पुत्रादिकोंमें जो मनुष्यद्वारा धन, बल, प्राण, मन, वचन और कर्मोंका उपयोग किया जाता है, वह सब पत्तोंके सींचनेकी भाँति असत् अर्थात् व्यर्थ हो जाता है; इसका परिणाम कुछ अच्छा नहीं निकलता। किंतु इन्हींका भगवान्‌में उपयोग किया जाय तो वह मूल-निषेचनकी भाँति सर्वथा सत् अर्थात् श्रेष्ठ फलप्रदायक होता है—

यद् युज्यतेऽसुवसुकर्ममनोवचोभि-
र्देहात्मजादिषु नृभिस्तदसत् पृथक्त्वात्।
तैरेव सद् भवति यत् क्रियतेऽपृथक्त्वात्
सर्वस्य तद् भवति मूलनिषेचनं यत्॥

(श्रीमद्भा० ८। ९। २९)

असुः प्राणः, वसु धनं प्राणादिभिर्देहात्मजादिषु नृभिर्यद् युज्यते प्रयुज्यते देहाद्यर्थं यत्क्रियते इत्यर्थः। तदसत्-व्यर्थं भवति। कुतः? पृथक्त्वाद् भेदाश्रयत्वात्? शाखा-निषेचनवत्। तैरेव प्राणादिभिरीश्वरोद्देशेन यत्क्रियते तत्तु सत्—महाफलं भवति। अपृथक्त्वात्—ईश्वरस्य सर्वत्रानुगतत्वात्। तत्र दृष्टान्तः। यत्तरोर्मूले निषेचनं तद् यथा सर्वस्य स्कन्धशाखादेरपि भवतीति।

(श्रीमद्भा० ८। ९। २९ की श्रीधरी टीका)

एकै साधे सब सधै, सब साधे सब जाय।
रहिमन मूलहि सींचिये, फूलै फलै अघाय॥

सखा परम परमारथ एहू। मन क्रम बचन राम पद नेहू॥

तो कहीं शायद यही बात तो इन महानुभावोंके हृदयमें भी नहीं है?

बात चाहे जो भी हो, इतना तो निश्चय है कि युगके प्रभावसे धर्मका बहुत कुछ ह्रास हो ही चुका है। धर्मके प्रधान अङ्ग हैं—यज्ञ, अध्ययन और दान। इन तीनोंकी तो साफ-साफ इतिश्री हो गयी। जब वेद ही लुप्त हो गये, तब कैसा उनका अध्ययन और कैसा यज्ञ। दानके विषयमें कुछ कहना ही नहीं। रही बात—

इज्याध्ययनदानानि तपः सत्यं धृतिः क्षमा।
अलोभ इति मार्गोऽयं धर्मस्याष्टविधः स्मृतः॥

या—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

—इन लक्षणोंकी तो आजके युगमें सच पूछा जाय तो इन सत्य और अक्रोध आदि धर्मोंका भी अब पता पाना मुश्किल है। यही दशा अन्य तप, इन्द्रियनिग्रहादिकी भी है—

जोग जाग जप बिराग तप सुतीरथ अटत।
बाँधिबे को भव गयंद रेनु की रजु बटत॥

जिस तरह धूलकी रस्सी बटकर हम हाथी नहीं बाँध सकते, ठीक उसी प्रकार अब इस युगमें इन धर्मोंके अनुष्ठानसे हम अपना मनोरथ नहीं सिद्ध कर सकते। कारण 'युगप्रभाव'ने इनकी विधियाँ लुप्त कर दीं। ये सभी साधन सिद्धिहीन हो गये; पर भगवदुपासना—भगवन्नाम-जपमें वह सभी शक्ति है। बड़ी ही आसानीसे—बिना किसी साधनाके हम सारे मनोरथोंको इसके द्वारा सफल कर सकते हैं।

साधन बिनु सिधि सकल विकल लोग लपत ।
कलिजुग बर बनिज बिपुल नाम नगर खपत ॥

बड़े हर्षकी बात है कि 'कल्याण' का इस ओर अत्यन्त सुन्दर प्रयास कई वर्षोंसे आरम्भ हो चुका है । भगवान्‌की सबसे कठिन प्रतिज्ञा यही है कि भक्तकी इच्छा पूर्ण करनेके लिये वे सभी सृष्टिके विधानको छोड़ सकते हैं, अपनी प्रतिज्ञा भी तोड़ सकते हैं—भरत और भीष्मका उदाहरण पर्याप्त है । भरतजी कहते हैं—

निज प्रन तजि राखेउ पनु मोरा । छोहु सनेहु कीन्ह नहिं थोरा ॥

सूरदास भीष्मकी प्रतिज्ञाके विषयमें कहते हैं—

गोबिंद कोपि चक्र कर लीन्हे ।
छाड़ि आपनो प्रन जादवपति जनको भायो कीनो ॥

इसके अतिरिक्त वेद, पुराण और लोक भी इसका साक्षी है कि भगवान्‌ने सर्वदा अपने भक्तोंकी इच्छा रक्खी है—

राम सदा सेवक रुचि राखी । बेद पुरान लोक सब साखी ॥

तात्पर्य यह है कि आजके भी भगवन्नामप्रेमी, अहर्निश नाम-जप करनेवाले, चाहें तो बहुत कुछ कर सकते हैं । पर इसमें दो बातोंकी आवश्यकता है । एक तो सब कुछ छोड़कर सर्वदा नामकी ओट लेनेकी और दूसरी अनन्य भगवद्विश्वासकी—

सकल अंग पद बिमुख नाथ मुख नाम की ओट लई है ।
है तुलसिहि परतीति एक प्रभु मूरति कृपामई है ॥

फिर सब कुछ बना-बनाया है ।

कम्यूनिज़मसे धार्मिकोंको कोई चिन्ता नहीं । ज्ञान या उपासना, जिस दृष्टिसे भी विचार किया जाय, इससे भगवदाश्रितोंकी कोई हानि नहीं । हानि तो इसमें एकमात्र उनकी ही है, जो सहर्ष इस मतको अङ्गीकारकर एवं इसका प्रचारकर अपना तथा पराया संहार कर रहे हैं । भौतिक दृष्टिसे यह साम्यवाद केवल संहारका ही मार्ग है । इन प्रकृतिके विरुद्ध किये गये प्रयासोंका उत्तर होगा प्रलय । पर इसमें भी जिनपर प्रभुकी कृपा होगी, जो पहलेसे ही सर्वथा भगवत्-शरण हैं, वे तो सर्वदा सुरक्षित ही रहेंगे ।

बावरी गोपी

(लेखक—प्रेमभिखारी)

[पूर्वप्रकाशितसे आगे]

(१८)

बस, एक झलक

नयनाभिराम !
ये हठीले नेत्र नहीं मानते ।
कितना समझाती हूँ कि फिर वह रूप देखनेकी लालसा मत करो ।
वर्षोंतक तो अपलक होकर देख चुके हो ।
उस रूपमें अब कुछ वृद्धि थोड़े ही हुई होगी ।
वृद्धिको कौन कहे, वैसा रूप भी न रह गया होगा ।
मोरपंखके स्थानपर रत्नोंसे जड़ा हुआ मुकुट होगा,
वह सुघर साँवला शरीर जरीदार रेशमी वस्त्रोंसे ढका होगा,
दुपट्टेकी वह फहरान न होगी,
पीताम्बर भी उस ढंगका न होगा,
छोटे-छोटे कर-कमलोंमें वह मुरली न होगी,
नेत्रोंमें चञ्चलताके स्थानपर गम्भीरता होगी ।
बोलो, देखोगे उनका यह परिवर्तित रूप ?
फिर जो नेत्र तुम्हें नहीं देखना चाहते, उन नेत्रोंको तुम देखोगे ?
सोच लो, समझ लो,
सबसे कठिन जाति-अपमान ।
किन्तु ये क्यों मानने लगे ।
ये तो रूप-मदिरासे मत्त हैं ।
इतनी मदिरा पी ली है कि उसकी खुमारी अभीतक नहीं मिटती ।
इनमें सोचने-समझनेकी शक्ति कहाँ ?
ठीक ही है, पागल क्या सोच सकता है ।
मदिरामें मत्त हुआ और मदिरा चाहता है,
वह यह नहीं समझ पाता कि पीछे उसकी क्या दशा होगी ।

प्यारे मोहन !
तो इन्हीं बेचारोंपर दया करो,
इन तृषितोंकी प्यास बुझा जाओ ।
तुम कैसे कठोर हो, माधव !
जिन नेत्रोंकी इतनी प्रशंसा करते थे,
जिनमें स्वयं काजल लगाते थे,
जिनमें कभी छोटी-सी किरकिरी पड़ जानेपर तुम्हारे नेत्र सजल हो जाते थे,
अपने पीताम्बरसे जबतक उसे निकाल न लेते, चैन न लेते थे ।
कभी-कभी ऐसी टकटकी लगा देते थे मानो इन नेत्रोंको नेत्रोंद्वारा खींचकर हृदयमें बिठा लोगे ।
हाय, उन्हीं नेत्रोंको आज तुमने इस तरह भुला दिया ?
मेरे इन नेत्रोंको देखो,
अब भी इनमें तुम्हारी ही मूर्ति बसी है ।
किसी भी दूसरे रूपपर ये नहीं ठहरते ।
अपनेमें बसे हुए रूपको ही प्रत्यक्ष देखना चाहते हैं ।
रो-रोकर ये अपनी सुन्दरता भी खो बैठे ।
अपनी श्वेततासे हाथ धो बैठे ।
देखो कितने लाल हो रहे हैं ।
पलकें मोटी हो गयी हैं,
वे स्वच्छ और नुकीली बरौनियाँ परस्पर गुँथकर सीधी पड़ गयी हैं ।
नेत्र पूरे खुलते भी नहीं,
किसके लिये खुलें ?
प्यारे कन्हैया !
जबसे तुम गये, तबसे इनमें काजल नहीं लगाया,
जब मैं काजलकी डिब्बी उठाती हूँ, तब ये बंद हो जाते हैं,
मैं फिर डिब्बी रख देती हूँ ।
सच कहती हूँ, श्याम !
ये बेचारे अधिक दिन नहीं चलेंगे ।
इनकी अवस्था बड़ी शोचनीय हो गयी है ।
ये न रहे और तुम आये तो क्या हुआ ?
अब इन्हें अधिक न तरसाओ,
बेचारे बहुत कष्ट पा चुके,
इन दीन, अनाथ, असहाय और अशक्तोंपर कृपा करो।
नटवर !
तुम शायद यह सोचते होओगे कि एक बार इनके सामने होनेसे ये फिर तुम्हें न छोड़ेंगे ।
ये निर्बल ऐसा क्या करेंगे ।
देखो, ये मुझसे कह रहे हैं कि एक बार देखनेको मिल जाय, बस ।
भला यह इनकी अज्ञानता ही है न ?
अरे, जब वर्षोंतक देखनेसे जी न भरा तो एक बार देखनेसे क्या हो जायगा ?
किंतु नहीं,
बेचारे कहते हैं कि तब हमें स्वप्नमें भी आशा न थी कि मनमोहन हमसे कभी ओझल भी होंगे ।
इसीसे इन्होंने ध्यान नहीं दिया,
रूप-मदिरा पीकर मत्त ही बने रहे ।
अब देखेंगे तो यह समझकर कि यह अन्तिम दर्शन है ।
अच्छा, यही सही ।
दे दो, प्यारे, इन्हें फिर एक बार दर्शन ।
ये भी समझ लें कि अन्तिम दर्शनका क्या आनन्द होता है !
पगले हैं,
समझते नहीं,
अन्तिम दर्शनमें भी कभी आनन्द हुआ है ?
वह कसक होगी कि उसी क्षण ये बेकाम हो जायँगे।
चलो, अच्छा ही होगा ।
इनसे मेरा पिण्ड तो छूटेगा ।
बहुत तंग करते हैं मुझे।
न रहेगा बाँस न बजेगी बाँसुरी ।

तब इच्छा रहते भी न तुम्हें और न किसी अन्यको ही देख सकेंगे ।
पीछे कुछ भी हो,
अभी तो इनको यही रट लगी है ।
बस, एक झलक ।

आह प्राणप्यारे !
क्या मैं आशा करूँ कि तुम इनपर दया करोगे ?
अधिक नहीं,
बस एक झलक ।
(चेतनाहीन होकर गिर पड़ती है ।)

महाकाल

[कहानी]

(लेखक—स्वामी श्रीपारसनाथजी सरस्वती)

सम्राट् विक्रमादित्य अन्य राजाओंकी तरह विलासी नहीं थे । वे हर समय इसी चिन्तामें रहा करते थे कि प्रजाको किस-किस बातकी तकलीफ है और वह किस प्रकारसे दूर की जा सकती है । जिस शासकको प्रजाकी चिन्ता नहीं—अपनी ही चिन्ता रहती है, उसे रक्षक नहीं, भक्षक ही समझना चाहिये ।

एक दिन प्रातः चार बजे महाराज अपने महलसे बाहर निकले । बिल्कुल अकेले । किसानी भेष । एक ओरको चल दिये । एक जंगलमें जाकर देखा कि एक तरफसे एक रीछ आया और उनकी सामनेवाली राहपर होकर आगे चलने लगा । उस रीछने महाराजाको नहीं देखा, परंतु सम्राट्ने उसे देख लिया था ।

थोड़ी दूर चलकर वह रीछ जमीनपर लोट-पोट हो गया और एक आलाबाला सोलहसाला नवयुवती बनकर एक कुएँपर जा बैठा । सम्राट् भी छिपकर यह निराला तमाशा देखने लगे ।

तबतक कुएँपर दो सिपाही आये । दोनों सगे भाई थे । छुट्टी लेकर घर जा रहे थे ।

युवतीने मुसकराकर बड़े भाईसे कहा—'तुम्हारे पास कुछ खानेको है ?'

बड़ा *सिपाही*—जी नहीं ।

युवतीने कटाक्ष मारकर कहा—'मुझे बड़ी भूख लगी है ।'

बड़ा सिपाही उस युवतीपर मोहित हो गया था । वह बोला—'यदि आपकी आज्ञा हो तो समीपके किसी गाँवसे कुछ खानेकी चीज ले आऊँ ?'

युवती—आपको तकलीफ होगी ।

बड़ा—आपके लिये तकलीफ ? आपके लिये मैं जानतक दे सकता हूँ ।

युवती—क्यों ?

बड़ा—सुन्दरताके कारण । सुन्दरता भी ईश्वरमें-से आती है । सुन्दर चीजको देखनेसे मालूम होता है मानो ईश्वरका दर्शन हो रहा है ।

युवती—तो ले आओ ।

बड़ा भाई चला गया ।

युवतीने छोटे भाईको कटाक्ष मारा और अपने पास बुलाया । वह आकर अदबसे अलग बैठ गया ।

युवती—मैं तुम्हींपर रीझ गयी हूँ ।

छोटा—ऐसी बात मत कहिये । आपने बड़े भाई साहबपर कृपाकटाक्ष किया था । आप मेरी भावज हैं । भावज होती है—माता ।

युवती—तुम बड़े मूर्ख मालूम पड़ते हो ?

छोटा—क्यों ?

युवती—तुम्हारे बड़े भाईकी क्या उम्र है ?

छोटा—पचास साल ।

युवती—तुम्हारी ?

छोटा—पैंतीस साल ।

युवती—और मेरी ?

छोटा—आप ही जानें ।

युवती—अपनी बुद्धिसे बताओ ।

छोटा—होगी पंद्रह-सोलह सालकी ।

युवती—अब तुम्हीं बताओ कि एक पंद्रह सालकी लड़की पैंतीस सालके आदमीको पसंद करेगी या पचास सालवाले बूढ़ेको ?

छोटा सिपाही निरुत्तर हो गया ।

युवती—जो मैं कहूँ, वही करो । तुम मेरे साथ भाग चलो ।

छोटा—कदापि नहीं । आप मेरे बड़े भाईसे सप्रेम बातचीत कर चुकी हैं । आप भावज हैं और माताके समान हैं ।

युवती—मेरी आज्ञा न मानोगे तो मारे जाओगे ।

छोटा—चाहे कुछ भी हो, इसकी परवा नहीं ।

थोड़ी देरमें पावभर पेड़ा लेकर बड़ा सिपाही आ गया । युवतीने अपनी साड़ी जहाँ-तहाँसे फाड़ डाली थी । उसी फटी साड़ीसे मुँह ढककर वह रोने लगी ।

बड़ा—रोती क्यों हो ? यह लो, पेड़ा खाओ ।

युवती—पेड़ा उधर डाल दो कुएँमें, और तुम भी उसीमें कूद पड़ो ।

बड़ा—क्यों ?

युवती—तुम्हारा यह छोटा भाई बड़ा दुष्ट है । यदि तुम जल्दी न आ जाते तो इसने मेरा सतीत्व नष्ट कर दिया होता । यह देखो छीना-झपटीमें मेरी रेशमी साड़ी तार-तार हो गयी है ।

बड़ा—क्यों बे ! यह हरकत ?

छोटा—भाई साहब ! यह झूठ कहती है ।

बड़ा—हूँ ! तू सच्चा है और वह झूठी है ?

छोटा—मैंने कुछ भी नहीं किया ।

बड़ा—और यह बिना कारण ही रोती है ? साड़ी कैसे फटी ?

छोटा—मैं क्या जानूँ ।

बड़ा—अबे साले ! तू बड़ा पाजी है ।

छोटा—देखो, गाली मत देना । गालीमें विष बसता है ।

बड़ा—चोरी और सीनाज़ोरी ! तू भाई नहीं, दुश्मन है ।

इतना कहकर उसने तलवार म्यानसे बाहर निकाली । छोटा भाई था तो सुशील; परंतु था कलियुगी ही न । वह भी आ गया सिपाहियाना गरमीमें । उसने देखा कि बेकसूर होनेपर भी उसका भाई, एक अनजानी और बदचलन औरतके कहनेसे, उसे धर्मभ्रष्ट समझ रहा है । उसने भी तलवार सँभाली ।

दोनोंने पैंतरे बदले और चलने लगी तलवार । पाँच मिनटमें दोनों मरकर गिर गये । युवती हँसी । जमीनपर लेट गयी और लोट-पोटकर काला साँप बन गयी । आगेको चल दी । सम्राट्ने प्रण कर लिया कि इस विचित्र जीवकी पूरी कारगुजारी वे अवश्य देखेंगे ।

× × ×

आगे चलकर मिली एक नदी । उसमें आ रही थी एक बड़ी नाव । उसमें बैठे थे तीन सौ आदमी । जब वह नाव बीच धारामें पहुँची, वही काला साँप नदीमें कूद पड़ा और नावकी सीधमें तैर चला । साँपोंका कायदा है कि पानीमें सीधे तैरते हैं । शेर, सूअर और साँप—ये तीनों धार काटकर सीधे चलते हैं । नावके पास पहुँचकर साँप चिटका और नावमें जा गिरा । लोगोंने यह तमाशा जो देखा तो साँपकी ओरसे हटकर दूसरी ओर भागे । तीन सौ आदमी नावके एक किनारे हो गये । नाव उलट गयी । सब डूबकर मर गये । वह साँप फिर लौटा और जमीनपर लोट मारने लगा ।

सम्राट्ने सोचा—अजब लीला है ।

अबकी बार वह एक वृद्ध ज्योतिषी बन गया । सफेद दाढ़ी शोभा दे रही थी । हाथमें पत्रा । पैरोंमें खड़ाऊँ । ललाटपर चन्दन । सम्राट्ने आगे दौड़कर उसके कदम पकड़ लिये ।

वह—तुम कौन ?

सम्राट्—मैं एक राजा हूँ ।

वह—क्या चाहते हो ?

सम्राट्—मैं सुबहसे आपके पीछे लगा हूँ कि जब आप रीछके रूपमें थे। आपने युवती बनकर और साँप बनकर जो-जो काम किये, वह मैंने देखे हैं। यह आपका चौथा रूप है।

वह—अच्छा तो तुम क्या पूछते हो ?

सम्राट्—यह कि आप कौन हैं ?

वह—तुम इस बवालमें मत पड़ो। अपने रास्ते जाओ।

सम्राट्—नहीं, स्वामिन्! जबतक आपका परिचय प्राप्त न कर लूँगा, तबतक डग न धरूँगा।

वह—मेरा नाम है महाकाल। मैं गीतामें वर्णित उत्कट काल हूँ। लोगोंके विनाशके काममें लगा रहता हूँ।

सम्राट्—आप जिसे चाहते हैं, उसे साफ कर डालते हैं ?

महाकाल—नहीं, मैं स्वतन्त्र नहीं हूँ। परमात्माका एक तुच्छ सेवक हूँ। परमात्मा सम्राट् हैं। प्रारब्ध प्रधान मन्त्री है। मैं एक अधिकारी हूँ। प्रधान मन्त्रीकी आज्ञासे मैं मारने योग्य पात्रोंको पहचानता हूँ।

सम्राट्—अच्छा महाकालजी! मेरी मौत कब आयेगी ?

महाकाल—यह बतानेकी सरकारी आज्ञा नहीं है। तुम अभी बहुत दिनोंतक जीवित रहोगे। तुम्हारे द्वारा ईश्वर अनेकों परोपकारके काम करायेंगे। तुम भी ईश्वराधीन–मैं भी ईश्वराधीन, जाओ।

सम्राट्—फिर भी इतना तो बतला ही दीजिये कि मेरी मौत कैसे होगी ?

महाकाल—कोठेपरसे गिरकर। जिस दिन तुम रपट पड़ोगे, समझ लेना कि बस, मौत आ गयी।

सम्राट्—अब आप किसकी घातमें हैं ?

महाकाल—तुम्हारे अधिकारसे बाहरका प्रश्न है।

सम्राट्—आपने रीछ बनकर क्या किया था ?

महाकाल—एक आदमी एक पेड़पर चढ़ा लकड़ी काट रहा था। उसको पेड़परसे गिरानेके लिये मैं रीछ बन गया था और पेड़पर चढ़ गया था। उसे गिराकर मारा था।

सम्राट्—आप विविध प्रकारके रूप क्यों बनाते हैं ?

महाकाल—जिसकी मौत जिस रूपसे लिखी होती है, उसे मैं उसी बहानेसे मारता हूँ।

'हीला रिजक, बहाने मौत!'

सम्राट्—क्या कोई आपके कराल हाथसे बचा भी है ?

महाकाल—

कोइ कोइ जोगी बच गये, पारब्रह्मकी ओट!
चक्की चलती कालकी, पड़ी सभीपर चोट!

सम्राट्—क्या करनेसे मौत नहीं आती ?

महाकाल—परमात्माकी शरणागतिसे। परमात्मा अपने भक्तका काल अपने हाथमें ले लेते हैं। उसपर मेरा अथवा प्रधान मन्त्रीका कोई अधिकार नहीं रह जाता।

सम्राट्—आपका यह आजका किस्सा यदि किसीको मैं सुनाऊँ तो क्या वह सुनेगा ? सुनकर भी क्या वह कुछ समझ सकेगा ?

महाकाल—लोग प्रेमके किस्से लिखते-पढ़ते हैं। दिल-बहलावकी कहानियाँ सुनते हैं। जिन कहानियोंसे दिमागको खूराक मिलती है, उन कहानियोंको वे नहीं सुनते।

सम्राट्—सुनेंगे भी तो उसे गप्प मानेंगे।

महाकाल—कहेंगे, ऐसा हो ही नहीं सकता।

सम्राट्—सचमुच यह जगत् विचित्रताओंकी रंगभूमि है। इस जगत्को कोई भी नहीं जानता है, यद्यपि सभी समझते हैं कि वे इस जगत्को जानते हैं।

महाकाल—यह भी इसकी एक विचित्रता ही समझो।

सम्राट्—मैं आपको प्रणाम करता हूँ। अब आप जाइये। आपके दर्शनसे मुझे यह उपदेश मिला कि 'काल और ईश्वरको कभी नहीं भूलना चाहिये।'

श्रीभागवत-धर्म-प्रश्नोत्तरी

(लेखक—श्रीजयनारायणजी मल्लिक, एम्० ए०, डिप्० एड्०, साहित्याचार्य)

शिष्य—भगवान्के भक्तोंके क्या लक्षण हैं ?

गुरु—भगवान्के भक्तोंके निम्न-लिखित लक्षण हैं—

१—वे अखिललोकपति परब्रह्मपरमात्माके ध्यानमें सदैव लीन रहते हैं। शरीरसे तो वे बहुत तरहके कार्य करते हैं, पर मन उनका सदैव भगवान्के श्रीचरणोंमें लगा रहता है। भगवान्में श्रद्धा, विश्वास और अखण्ड प्रेम ही भक्तिका रूप है।

२—वे संसारके कर्मोंमें लिप्त नहीं होते। वे निर्लिप्त और निष्काम होकर कर्म करते हैं। वे भोग-लालसासे नहीं, पर केवल कर्तव्यकी दृष्टिसे भगवत्प्रीत्यर्थ केवल कैङ्कर्य समझकर ही कर्म करते हैं।

३—उनका चरित्र निर्मल और आचरण पवित्र होता है। 'आचारः प्रथमो धर्मः।' भक्तोंके लिये अपने आचरणोंको पवित्र रखना पहला कर्तव्य है। वे गंदे और अपवित्र कामोंमें कभी नहीं लग सकते।

४—न्याय, सत्य, अहिंसा और प्रेम—ये चारों उनके आभूषण हैं। अनुचित कार्य जितने हैं, सभी अन्याय हैं। अन्यायकी ओर कभी नहीं जाना चाहिये। अन्यायी दुर्योधनका पक्ष लेनेके कारण भीष्म और द्रोणका नाश हुआ। 'न्यायार्थ अपने बन्धुओंको दण्ड देना धर्म है।'

सत्यका अर्थ है किसी वस्तुको अपने असलीरूपमें रख देना। यदि हमारे हृदयमें छल-कपट है और मुँहसे हम सच्ची बात बोलते भी हैं, तब भी वह सत्य नहीं है; क्योंकि हम अपने विचारोंको असली रूपमें लोगोंके सामने नहीं रखते। यदि हमारे हृदयमें वासना, पाप या किसी प्रकारका विकार है और लोगोंके सामने हम साधुओंके रूपमें रहते हैं, तब भी सत्यता नहीं है। अहिंसा और प्रेम तो परमावश्यक है।

५—श्रीवैष्णवोंको किसीकी निन्दा नहीं करनी चाहिये। दोष तो अपना ही देखना चाहिये, दूसरेका नहीं। यदि किसीके दोषोंका सुधार करना हो तो उसके पीछे नहीं, उसके सामने ही एकान्तमें, प्रेमसे और मीठी बातोंसे उसका ध्यान उसके दोषोंकी ओर ले आना चाहिये और उसके साथ कभी मजाक नहीं करना चाहिये। पर सहानुभूति दिखानी चाहिये। पहले अपनी त्रुटियाँ दूर कर लेनी चाहिये, तब दूसरोंकी त्रुटियोंकी ओर ध्यान देना चाहिये। निन्दा संसारके कल्याणकी दृष्टिसे, दूसरोंको सुधारनेके ख्यालसे नहीं की जाती, पर द्वेषके कारण दूसरोंकी बुराई करनेके लिये, संसारकी आँखोंमें दूसरोंको बुरा साबित करनेके लिये ही की जाती है। अतः निन्दा सर्वथा त्याज्य है।

६—क्रोध नहीं करना चाहिये, क्योंकि क्रोध करनेसे आत्मा दुर्बल हो जाती है। पर न्यायकी रक्षाके लिये, दूसरोंको सुधारनेके लिये केवल कर्तव्यकी दृष्टिसे जो क्रोधका नाट्य किया जाता है, वह उचित है। इसके विपरीत अपने सुख और स्वार्थमें बाधा पड़नेपर केवल द्वेषके कारण जो क्रोध होता है, वह सर्वथा अनुचित है। दूसरोंकी भलाईके लिये क्रोध करना चाहिये, दूसरोंकी बुराईके लिये नहीं। असलमें विवशताकी स्थितिमें होनेवाला तापरूप क्रोध ही क्रोध है। समझ-बूझकर किसी हितकामनासे किया हुआ क्रोध तो क्रोध है ही नहीं।

७—पाखण्ड और दिखावट नहीं रखनी चाहिये। परमात्मा सच्चे प्रेमसे, पवित्र आचरणसे और अनन्य भक्तिसे प्रसन्न होते हैं, दिखावटसे नहीं। भगवान्ने कहा है—

> **कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।**
> **इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥**
>
> (गीता ३। ६)

अर्थात् कर्म करनेवाली इन्द्रियों (हाथ, पैर, मुँह, गुदा और उपस्थ) को जो लोगोंको दिखानेके लिये अपकर्मोंसे और विषय-सुखभोगोंसे तो समेट लेते हैं, पर मनमें बारंबार उन्हीं पापों और सुखभोगोंका ध्यान करते रहते हैं, उन्हें संसारी सुख-भोग तो मिलता भी नहीं और भगवान्की दृष्टिमें वे मिथ्याचारी हो जाते हैं। लज्जासे, डरसे या संयोग नहीं मिलनेसे शरीर भले ही पाप-कर्मसे अलग रहे; पर मनमें जभी पापकी इच्छा हो गयी, तभी वह पापका भागी हो गया।

८—पर-नारियोंपर कभी बुरी निगाह नहीं डालनी चाहिये। पुरुष और नारीका संयोग केवल कर्तव्य-दृष्टिसे होना चाहिये, भोगलालसासे नहीं; केवल पुत्रोत्पत्तिके लिये होना चाहिये, मौज उड़ानेके लिये नहीं। पर-नारीका सेवन कोई पुत्रोत्पत्तिके लिये नहीं करता, वह तो सुखभोगके लिये ही करता है। अतः पर-नारीका सङ्ग सर्वथा त्याज्य है।

९—दूसरेके धनपर बुरी निगाह नहीं डालनी चाहिये।

ईमानदारी और उचित रूपसे द्रव्योपार्जन करो, पर चोरीसे या बेईमानीसे या ठगकर किसीकी भी चीज मत लो।

१०–दूसरेकी बुराई किसी तरह मत करो। दूसरेका दिल मत दुखाओ। ऐसी बात मत बोलो या ऐसा काम मत करो, जिससे दूसरेके हृदयमें चोट पहुँचे। साधुओंका जीवन दूसरोंको सुख पहुँचानेके लिये होता है, दूसरोंको तकलीफ देनेके लिये नहीं। दूसरोंका मन-वाणी-शरीरसे सदा हित सोचो और हित ही करो। जो दुखी है, गरीब है, बीमार है, व्यथित है, अनाथ है, भूखा है या जिसको कोई आसरा देनेवाला नहीं, ऐसे व्यक्तिको सुख देना, उपकार करना और सेवा करना सबसे बड़ा धर्म है।

११–तृष्णा (सुख-भोगोंकी इच्छा) ही दुःखकी जड़ है; अतः तृष्णाका सर्वथा त्याग करना चाहिये।

१२–साधु वही है; जो दूसरोंकी पीड़ाको समझे और उसको दूर करनेकी चेष्टा करे।

१३–अभिमान कभी मत करो, अभिमान आत्माका नाश कर देता है।

१४–किसीसे वैमनस्य और द्वेष मत रक्खो; वैमनस्यके कारण मनुष्य अपना बहुत-सा समय, धन और शारीरिक शक्ति भी गँवा देता है। शान्ति और सुखका नाश तो होता ही है।

१५–अपने शरीरपर ध्यान रक्खो। तुम्हारा शरीर सत्कार्यके लिये है, बुरे कामके लिये नहीं। तुम्हारा शरीर कभी भी बुरे कामोंमें अथवा व्यर्थ कामोंमें क्षीण नहीं होने पाये। तुम इस बातपर विचार करो कि जितनी शारीरिक शक्ति तुम बुरे या व्यर्थ कामोंमें खर्च करते हो, उतना परिश्रम यदि अच्छे कामोंके लिये करोगे तो तुम्हारी कितनी उन्नति होगी।

१६–अपने धन और अपने समयको भी व्यर्थ कामोंमें मत बरबाद करो। जिस कामसे तुम्हारी अपनी बुराई होती हो या किसी दूसरेकी बुराई होती हो, वह तो दुष्कर्म है और वह सर्वथा त्याज्य है। जिस कामसे तुम्हारी या किसी दूसरेकी न तो बुराई होती हो, न भलाई होती हो, वह भी व्यर्थ काम है और वह भी त्याज्य है। अपने धन और अपने समयको केवल उन्हीं कामोंमें लगाओ, जिनसे अपना भी कल्याण होता हो और संसारका भी। तुम यह सोचो कि जितना समय प्रतिदिन व्यर्थ गँवा देते हो, उतने समयमें यदि तुम कोई अच्छा काम करोगे, तो तुम्हारी बहुत उन्नति होगी।

१७–सदा मीठी और सच्ची बात बोलो। बुरे शब्द मुँहसे कभी मत निकालो।

१८–यथासाध्य संसारका कल्याण करो। निःसहायोंको सहायता देना; पीड़ितोंकी पीड़ा दूर करना और पापियोंको सन्मार्गपर लाना सबसे बड़ा धर्म है। अपने स्वार्थके लिये दूसरोंके जीवनको दुखी बनाना तथा दूसरोंको पाप और पतनकी ओर ढकेल देना सबसे बड़ा अधर्म है।

१९–भगवान्से यही प्रार्थना करो कि 'हे नाथ! संसारसे दुःख और दारिद्र्य नष्ट हो जाय; रोग, व्याधि और किसी प्रकारकी पीड़ा न रहे; कोई भूखा न रहे, किसीकी आँखसे आँसू न निकले; अज्ञान और मोहका नाश हो जाय; कोई किसीको नहीं सताये, कोई पाप और अन्यायकी ओर पैर नहीं रक्खे; सब नीरोग, सुखी, उन्नत, ज्ञानी, कर्तव्य-परायण और भगवद्भक्त हो जायँ। एक मनुष्य दूसरे मनुष्यकी मङ्गलकामना करे, अनिष्ट-कामना नहीं करे। जीवमात्र सुखी और सात्त्विक भावापन्न हों।' परमात्मा अन्तर्यामीरूपसे सबके हृदयमें वर्तमान हैं; अतः दूसरेकी भलाई करना परमात्माकी पवित्र सेवा है।

शिष्य–भगवान्के भक्त कितने प्रकारके होते हैं और उन सबोंमें कौन श्रेष्ठ है?

गुरु–भगवान्के भक्त चार प्रकारके होते हैं—

(१) आर्त्त–जो कर्तव्य समझकर भगवद्भक्ति नहीं करते, पर विवश होकर लाचारीके कारण भगवान्को पुकारते हैं। जब ये दुखी हो, चारों ओरसे निराश हो जाते हैं और यह समझने लगते हैं कि बिना भगवान्की शरणमें गये अब कोई दूसरा उपाय नहीं है, तब ये आर्त्त हो भगवान्की शरणमें गिर पड़ते हैं। पहले तो इन्हें बल-बुद्धिपर भरोसा रहता है; पर जब ये देखते हैं कोई उन्हें सहायता देनेवाला नहीं, तब निःसहाय हो भगवान्का स्मरण करने लगते हैं। दुःशासन जिस समय द्रौपदीका कपड़ा खींच रहा था, उस समय द्रौपदीने और ग्राह जिस समय गजको पकड़े हुए था, उस समय गजराजने यही आर्त्त-भक्ति दिखलायी थी।

(२) जिज्ञासु—जिज्ञासु भक्त वे हैं, जो कर्तव्य समझकर भगवान्की भक्ति नहीं करते, पर ज्ञान उपार्जन करनेके लिये भगवद्भक्ति करते हैं। अर्थात् भगवान्को जाननेके लिये भगवद्भक्ति करते हैं।

भगवत्कैङ्कर्य इनका लक्ष्य नहीं है, इनका उद्देश्य केवल ज्ञान उपार्जन करना है । भगवत्कैङ्कर्य इनका साधन-मात्र है ।

(३) अर्थार्थी—अर्थार्थी भक्त वे हैं, जो कर्तव्य समझकर भगवद्भक्ति नहीं करते, पर किसी कामनासे—किसी उद्देश्य-की पूर्तिके लिये भगवान्‌की भक्ति करते हैं । राज्यके लिये, पुत्रके लिये, विद्याके लिये अथवा किसी दूसरी वस्तुके लिये जो भगवान्‌की भक्ति की जाती है, वह इसी श्रेणीकी भक्ति है ।

(४) ज्ञानी—ज्ञानी भक्त वे हैं, जो कर्तव्य समझ निष्काम और निर्लिप्त होकर आजीवन भगवान्‌की भक्ति करते हैं । ज्ञानी समझते हैं कि भगवान् स्वामी हैं और जीव दास है, अतः जीवको सदैव बिना किसी फलकी इच्छा किये भगवत्कैङ्कर्यमें लीन रहना चाहिये । जीवका स्वाभाविक धर्म है भगवान्‌की सेवा करना । जो जीव ऐसा नहीं करता, वह आत्मापहारी (अर्थात् आत्माका चोर) है ।

इन चार प्रकारके भक्तोंमें ज्ञानी सबसे श्रेष्ठ हैं । वे तीनों तो किसी कारणवश भगवान्‌की भक्ति करते हैं, पर ज्ञानी कर्तव्य समझकर भगवद्भक्तिमें लीन रहते हैं । आर्त्त अपने भ्रष्ट ऐश्वर्यको पुनः प्राप्त करनेके लिये, जिज्ञासु ज्ञान प्राप्त करनेके लिये, तथा अर्थार्थी नवीन ऐश्वर्यको पुनः प्राप्त करनेके लिये भगवान्‌की आराधना करते हैं । आर्त्तके ऊपर यदि विपत्ति नहीं आती, जिज्ञासुको यदि ज्ञान प्राप्त करनेकी आवश्यकता नहीं होती, अर्थार्थीको यदि किसी वस्तुकी जरूरत नहीं रहती, तो ये भगवान्‌की शरणमें नहीं जाते । और इनकी भक्ति भी तभीतक रहती है, जबतक इनकी कामना पूरी नहीं होती । कामना पूरी होनेके बाद ये भगवान्‌को भी भूल जा सकते हैं । पर ज्ञानीके साथ यह बात नहीं है । ज्ञानी कर्तव्य समझकर आजीवन भगवान्‌की भक्ति करते हैं ।

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥

(गीता ७ । १६-१७)

हे अर्जुन ! चार प्रकारके भक्त मेरी सेवा करते हैं—आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी । इन सबोंमें ज्ञानी-की भक्ति सदा एक-सी रहती है, अतः वे श्रेष्ठ हैं । ज्ञानीको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और ज्ञानी भी मेरे प्रिय हैं ।

शिष्य—मायासे छुटकारा पानेके लिये कर्म करना चाहिये या नहीं ?

गुरु—अवश्य करना चाहिये; पर कर्मकाण्डी मत बनो, कर्मयोगी बनो । कर्मकाण्ड सकाम है, कर्मयोग निष्काम है । कर्म खूब करो; पर निर्लिप्त और निष्काम होकर करो, भगवत्प्रीत्यर्थ करो । उसमें स्वार्थबुद्धि या भोगबुद्धि मत रक्खो । स्नान और भोजन भी कर्म हैं; पर बिना उनके जीवन-निर्वाह भी नहीं हो सकता । यज्ञ, दान और तप-का तो कभी त्याग नहीं करना चाहिये ।

शिष्य—क्या हमलोग जो कुछ भोजन करें, सब भगवान्‌को अर्पण कर दें ?

गुरु—अवश्य । बिना भगवान्‌को अर्पण किये कोई वस्तु नहीं खानी चाहिये ।

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥

(गीता ३ । १३)

यज्ञ (भगवत्पूजा) से बचे हुए अर्थात् भगवान्‌को अर्पण किये हुए अन्नोंको खानेवाले साधु पुरुष सब पापोंसे छूट जाते हैं । पर जो भगवान्‌के लिये नहीं, केवल अपने ही लिये (अपने जिह्वा-स्वाद तथा इन्द्रिय-तृप्तिके लिये) रसोई बनाते हैं (कमाते खाते हैं), वे पापी पुरुष केवल पाप ही भोजन करते हैं ।

इस श्लोकसे यह सिद्ध हो गया कि जिह्वा-स्वाद और इन्द्रिय-तृप्तिके लिये रसोई नहीं बनानी चाहिये, पर भगवान्‌को भोग लगानेके लिये रसोई बनानी चाहिये । जो वस्तु अपवित्र है और भगवान्‌को भोग लगाने योग्य नहीं है, उसे त्याग देना चाहिये, चाहे उसमें कितना ही अधिक जिह्वा-स्वाद क्यों न हो ।

शिष्य—भगवान्‌से मिलनेका सबसे सुलभ मार्ग कौन-सा है ?

गुरु—भगवान्‌के शरणागत हो जाना और भगवान्‌के चरणोंपर अपने आपको समर्पित कर देना, यह प्रपत्ति-योग है । इस प्रपत्तियोगमें भक्तियोग (निष्काम होकर भगवान्‌की सेवा करना) का भी संमिश्रण रहना चाहिये । भक्ति-हीन ज्ञानका मार्ग कठिन है; कर्मयोग (निर्लिप्त होकर और कर्तव्य समझकर कर्म करना) और ज्ञानयोग (आत्मा तथा परमात्माके स्वरूपको जानकर अज्ञान, मोह तथा अविद्यासे दूर रहना) भक्तियोगके सहायक हैं ।

शिष्य—कुछ विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्तोंका वर्णन कीजिये ।

गुरु—चित्, अचित् और ईश्वर—ये तीन मूल तत्त्व हैं । चित् जीवको कहते हैं, अचित् प्रकृतिका नाम है । ये तीनों तत्त्व सत्य और नित्य हैं । इन तीनोंके समुदायको ही जगत् कहते हैं । चैतन्य और जड जगत्से निर्मित यह संसार परमात्माका शरीर है और ब्रह्म इसमें आत्मारूपसे वर्तमान रहते हैं । प्रलय-दशामें ये सूक्ष्मरूपमें रहते हैं और सृष्टिकी दशामें स्थूल संसारके अन्तर्गत परमात्मा अन्तर्यामी-रूपसे वर्तमान रहते हैं । प्रलय-दशामें चिदचिद्-विशिष्ट ब्रह्मकी कारणावस्था रहती है और सृष्टिदशामें कार्यावस्था । जीव अनादि अविद्यासे ढँका हुआ कर्मचक्रमें घूमता रहता है । परब्रह्म सभी कल्याण-गुणोंसे परिपूर्ण हैं ।

शरणागति

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥
(गीता १५ । ४)

'ओह, रात्रिका प्रारम्भ हो गया है ।' जब वह उस अत्यन्त शीतकी मूर्छासे जगा, तब और भी भयभीत हो गया । आकाशमें तारे खूब खिले थे बिजलीकी लहरें एक प्रकारका हल्का नीला प्रकाश फैला रही थीं । आकाश स्वच्छ हो गया था । वहाँ कुहरे या हिमका नाम भी नहीं था ।

चारों ओर एक-सी बर्फ बिछी थी । आकाशीय विद्युत्के प्रकाशमें नीली-सी उज्ज्वलताके अतिरिक्त जहाँ-तक दृष्टि जाती, और कुछ था ही नहीं । उसने किसी प्रकार अपनेको सम्हालना चाहा । अब उसे पता लगा कि प्रायः पूरा ही शरीर बर्फसे ढँका हुआ है । मस्तक हिलाकर रूईके समान हल्की बर्फ उसने दूर की । हाथोंको स्वतन्त्र करनेमें कठिनाई नहीं हुई । फिर तो धीरे-धीरे उसने पूरे शरीरपरसे वह गीली ठंढी रूई हटा दी ।

वस्त्र झाड़नेपर भी सूख तो सकते नहीं थे । वे गीले हो गये थे । शरीर उसे अकड़ता हुआ जान पड़ा । कण्ठ सूख रहा था और भीतर बड़ी गरमी जान पड़ती थी । वह बहुत शीघ्र समझ गया कि शरीरकी छूनेकी शक्ति सरदीसे लुप्त हो गयी है और नाड़ियोंमें रक्तका जमना प्रारम्भ हो रहा है । यह भीतर हिम-प्रदाहकी ही उष्णता है । शरीरपर बर्फदंशसे कई स्थानोंपर घाव हो गये थे; किन्तु नाड़ियोंके ठिठुर जानेसे उनमेंसे रक्त नहीं निकल सकता था । यदि कोई मार्ग गरमी प्राप्त करनेका शीघ्र न मिला तो वह बर्फमें उसीका एक अंश बन जायगा थोड़ी ही देरमें जमकर ।

किसी प्रकार उसने उठनेका प्रयत्न किया । जहाँतक दृष्टि जाती थी, केवल बर्फ ही बर्फ थी । समतल हिम-भूमिके अतिरिक्त न पेड़ थे, न पर्वत । नगर, ग्राम, भवन—किसीका कोई चिह्न कहीं नहीं था । दाँत कटकटा रहे थे । नेत्रकी पलकें भारी हो गयी थीं । पैर अपने वशमें न थे । किसी प्रकार उठकर खड़ा हुआ था । चलनेके लिये पैर बढ़ाते ही गिर पड़ा । भगवान्को प्राण-रक्षा करनी थी । यदि हाथोंमें वह कठोर बर्फीला भाग न आ गया होता, जहाँ वह बैठा था, तो फिर क्या पता लगना था । पता नहीं कितनी गहरी कच्ची बर्फ थी । इस दलदलमें डूबनेपर फिर उठना कैसा । हाथोंमें प्राण जैसे आ बैठे हों । छातीतक शरीर बर्फमें धँस चुका था सहसा गिरते ही । हाथोंके सहारे ऊपर टीलेपर आ सका ।

'यहाँसे हिला भी नहीं जा सकता ।' बड़ी निराशासे उसने चारों ओर देखा। वह पर्वतके एक शिखरपर है । चारों ओरकी भूमि कच्ची बर्फसे पर्वतके समान हो गयी

है। पैर हटे और गड्ढापूसे गया उसमें। यहीं रहे, तो भी सर्दी उसका हिलना बंद कर देगी।

'गरमी !' कहाँ मिलेगी गरमी इस समय ? यदि रात्रिका प्रारम्भ कहीं आज ही हुआ हो तो प्रातःकाल होनेमें छः महीनेकी देर है। यहाँ छः क्षण भी छः युग हैं। अन्तमें उसे एक युक्ति सूझ पड़ी। धीरेसे बैठ गया। शरीर अकड़ रहा था, आसन लगाना बहुत सरल नहीं था; परन्तु जितना सम्भव था, सीधा बैठा वह।

'रं, रं, रं' स्वाधिष्ठानचक्रकी लाल कमलकी कर्णिकाके त्रिकोण-यन्त्रमें महाज्वाला-प्रज्वलित रक्तवर्ण, मेषवाहन, दो मुखोंवाले, सोनेसे केशोंवाले भगवान् अग्निका ध्यान करने लगा वह। नेत्र बंद हो गये। शरीर सीधा हुआ। बीजमन्त्रका स्वर स्पष्ट हुआ। उठा और उठता गया। स्वरने नादका उत्थान किया। शरीरका तनाव दूर हो चुका था। बर्फ पिघलने लगी उसके समीपसे और चारों ओर हल्का जल-प्रवाह-सा चलने लगा।

'रं, रं, रं' नाद गूँजता गया। नेत्र बंद रहे। उसे पता नहीं था शरीरका। उसे पता नहीं था कि शरीरसे पसीना चलने लगा है। 'भगवान् अग्नि, उनका लाल वर्ण, उनके मुखोंसे निकलती ज्वालाएँ और उनसे प्रकाश, ताप, तेज, !' ध्यान कर रहा था वह।

'रं, रं, रं' नादका व्यञ्जन लुप्त होता जा रहा है। 'अं, अं, अं' तेजोमण्डल---महाज्योतिर्मय प्रचण्ड तेज---उसके भीतरी नेत्र भी उस तेजको सहन न कर सके। नेत्र खुल गये। नाद समाप्त हो गया। उसने अनुभव किया कि अब वह उठ सकता है सरलतासे। उसके वस्त्र पसीनेसे कुछ गीले हो गये थे, परन्तु पहलेसे सूखे थे। वह एक काले पत्थरकी शिलापर बैठा था, जिसकी बर्फ अभी ही जल बनकर बह चुकी है।

अग्निकी अन्तर्धारणा, वह उसे बंद न करता तो शरीर भस्म हो जाता; किन्तु ध्यानसे उठते ही यह जो कठोर शीतका पुनः अनुभव होने लगा है! एक छोटी-सी शिला—जिसपर वह है, सम्भवतः उसको छोड़कर बर्फने पूरे जगत्को निगल लिया है। कहीं जीव या सृष्टिका कोई चिह्न नहीं। कबतक वह इस प्रकार बार-बार अग्निकी धारणा करता रहेगा? अन्न-जलसे हीन इस बर्फ-भूमिपर, जहाँ दूसरा कोई जीवन-चिह्न नहीं, सृष्टिकर्ताने क्यों उसे जीवित रक्खा? क्या कर सकेगा वह यहाँ? चिन्ता एवं व्याकुलताने उसे अस्त-व्यस्त कर दिया।

× × × ×

(२)

'सत्त्वगुणका धर्म है शीतलता, वह तो आदरके योग्य है!' कुछ उच्छृङ्खल युवक हँस पड़े थे अपनेमेंसे एककी यह व्यङ्ग्योक्ति सुनकर।

'ऐश्वर्यने तुम्हें अन्धा कर दिया है। मर्यादाका तुम्हें ध्यान नहीं रहा है।' महर्षि क्रोधित हुए। उन्होंने अपने कमण्डलुके जलसे आचमन करके हाथमें जल लिया—'यह शुभ्र शीतलता तुम्हारे इस पूरे उन्मद प्रदेशको सायंकालकी समाप्तिके पूर्व ही आत्मसात् कर लेगी।'

'शाप !' एकके मुखसे चीख निकल गयी।

'शाप !' दूसरा पीला पड़ गया।

'शाप ! शाप ! शाप !' बात कुछ क्षणोंमें फैलने लगी और दो घड़ीमें तो घर-घर इसीकी चर्चा थी। सबके हृदय भयसे काँप रहे थे। लोगोंके मुखोंपर त्रासके भाव स्पष्ट हो गये थे। इधर-उधर दौड़-धूप मची हुई थी।

'महर्षि दुर्वासा विख्यात क्रोधी हैं। उनके शापका उपाय वही कर सकते हैं।' वहाँके विद्वानोंके पास एक ही उत्तर था 'महर्षिसे क्षमा-याचना की जाय।'

'महर्षिका तो कहीं पता नहीं।' उन अव्याहतगतिको मनुष्य कैसे पा सकता है। शाप देकर जब वे अन्तर्हित हो गये, तब इसका क्या ठिकाना कि वे पृथ्वी-

पर ही होंगे। देवलोक, सिद्धलोक, गन्धर्व लोकादि—जहाँ उनका पदार्पण हो, वहीं स्वागत होगा।

'मुझे शीघ्र कोई उष्ण स्थान बतलाओ। यहाँकी शीतलता मेरे ध्यानके उपयुक्त नहीं।' महर्षिने ठीक ही कहा था। उतावलीमें रहना उनका स्वभाव है और उचित स्वभाव है। जो नित्य अन्तरके आनन्दसिन्धुमें निमग्न रहनेका अभ्यासी है, उसे संसारमें जगनेका प्रत्येक क्षण व्याकुल करेगा ही। एक तो दक्षिणी ध्रुवका यह प्रदेश यों ही शीतल है, दूसरे यहाँका सायंकाल चल रहा है। भगवान् भास्कर ऊपर क्षितिजपर दूर अरुणाभ होते जा रहे हैं। महर्षि, पता नहीं किसके पुण्यसे इस आर्यनिन्दित देशमें पधारे थे; परन्तु भाग्य—यहाँके सायंकालकी समाप्तिमें तो अब केवल आठ प्रहरका विलम्ब है।

उस समय दक्षिणी ध्रुवका अन्टारकटिका प्रान्त आज-जैसा हिमदेश नहीं था। यद्यपि वहाँ छः महीने लंबे दिन, वैसी ही लंबी रात्रियाँ और लंबे सन्ध्याकाल आजकी ही भाँति होते थे; परन्तु वहाँकी स्थिति ऐसी नहीं थी कि वहाँ प्राणी एवं वनस्पति जीवन न धारण कर सकें।

आरम्भमें वहाँ सघन वन था। स्वच्छ शीतल जलपूर्ण नदियाँ थीं। उच्च शिखरोंवाले पर्वत थे। महर्षि वशिष्ठके शापसे सूर्यवंशी मनुपुत्र महाराज पृषध्र म्लेच्छत्वको प्राप्त हुए। गुरुकी गायोंकी रक्षा करते समय अन्धकारपूर्ण रात्रिमें सिंहके आनेपर उन्होंने आघात किया और भूलसे एक गौ घायल हो गयी। यही उनका अपराध था। उन्होंने खिन्न होकर आर्यावर्त छोड़ दिया। कालक्रमसे उनकी सन्तानें दक्षिणमें फैलती गयीं। दक्षिण ध्रुवके प्रदेशको उन्होंने जनपूर्ण कर दिया।

जंगल खेतोंमें बदल गये। बड़े-बड़े नगर और ग्राम बने। महाराजकी सन्ततिने अपने कुल-पुरुष भगवान् सूर्यके भव्य मन्दिर बनाये। कला-कौशलने देशको धन-धान्यसे पूर्ण कर दिया।

सम्पत्ति आयी, शूरता आयी; परंतु साथ ही औद्धत्य एवं उच्छृङ्खलता भी आयी। महाराज पृषध्र शाप पाकर ही भारतसे निर्वासित हुए थे। उनके साथ कोई ब्राह्मण नहीं थे और न थे कोई पुरोहित। यज्ञोपवीत एवं—अग्निकी आराधनाका भी उन्हें अधिकार नहीं रह गया था। भगवान् सूर्यकी कुल-पुरुषरूपमें वे उपासना करते रहे। उनकी सन्तति शस्त्र एवं भौतिक कलाओंमें निपुण होकर भी श्रुति तथा श्रुतिके आचारसे वञ्चित रही।

ऐश्वर्यके साथ परमार्थकी शिक्षा न हो तो स्वाभाविक ही भोगवृत्ति बढ़ती है। आज सैकड़ों वर्षोंके पश्चात् आर्योंसे निन्दित इस म्लेच्छभूमिमें महर्षि दुर्वासा पधारे थे। उनकी सेवासे जाति कृतार्थ हो जाती, परंतु विधाताकी इच्छा कुछ और थी—मिला शाप!

'महर्षिका शाप व्यर्थ हो, यह किसी प्रकार सम्भव नहीं।' पूरा नगर राजसभाके धर्माध्यक्षके सामने उपस्थित था। ये महाप्राग धर्माध्यक्ष एक बार आन्ध्रालय (आस्ट्रेलिया) तक जा चुके हैं। वहाँ इन्हें एक भारतीय योगिराजकी चरणसेवाका सौभाग्य प्राप्त हुआ है। इस आपत्तिमें उन्हींसे कुछ आशा हो सकती थी। धर्माध्यक्ष स्वयं मस्तक झुकाये गम्भीर चिन्तामें थे। उन्होंने एक बार सिर उठाया—'शापको सत्य मानकर ही आगेका प्रबन्ध हो सकता है और वह है भगवान् सूर्यकी शरणागति!'

'हमारी रक्षा कीजिये!' सबकी एक ही पुकार थी। कोई कुछ सुन नहीं रहा था। उस समाजने उपासनाकी शिक्षा ही व्यवस्थितरूपसे नहीं प्राप्त की थी; फिर शापकी सत्यताको स्वीकार करना—कितनी भयङ्कर बात। उसीसे तो रक्षा चाहिये।

'भगवान् ही कोई मार्ग निकाल सकते हैं।' धर्माध्यक्ष अपने स्थानसे उठे। लोगोंने क्या समझा, इसका उन्हें पता नहीं; पर वे स्वयं उस शिखरपर

पहुँचना चाहते थे जहाँ, अनेकों बार एकान्त साधनाके लिये बैठ चुके हैं । उनकी मौन उपेक्षाने लोगोंको निराश कर दिया । लोग शापके परिणामसे बचनेका भौतिक उपाय पानेके सम्बन्धमें छोटे-छोटे गुटोंमें परामर्श करने लगे थे ।

महाराजने राज्यके विद्वानों एवं विशेषज्ञोंको एकत्र करनेकी घोषणा की । घोषणा गली-गली, स्थान-स्थान प्रचारित हुई; किंतु जब विद्वानोंका समूह राजसभामें एकत्र हो रहा था, धर्माध्यक्ष पर्वत-शिखरपर आसन लगा चुके थे । उन्होंने देख लिया था कि क्षितिजपर बर्फके भयङ्कर मेघ एकत्र होने लगे हैं ।

'यह हमारी समुन्नत जाति, महाराज पृषध्रकी यह सन्तति-परम्परा—क्या यह नष्ट हो जायगी ।' धर्माध्यक्षने क्षितिजके उन मेघोंकी ओर देखा । 'वह आ रहा है महर्षिका साकार शाप ! भगवान् नारायण !' नेत्र बंद हो गये । वे यहीं अपने आराध्यका आह्वान करनेके लिये दृढ़चित्त थे ।

(३)

बर्फ पड़नेके पश्चात् मूर्छासे जगनेपर उसे सब बातें धीरे-धीरे स्मरण हुईं । उसने पुकारा 'देव ! नारायण !' आपत्तिकी पराकाष्ठा होनेपर ही सच्ची पुकार प्रकट होती है । मानव—वह एकाकी मानव इस दिगन्त-व्यापिनी हिम-धवलताका क्या कर लेगा ? बर्फ कठोर हो सकती है दो-चार दिनमें, परंतु वे दो-चार दिन—इस ठंढकमें तो घंटे भी वर्ष हैं । यदि बर्फ कठोर भी हुई तो क्या लाभ ? जहाँ तृणका दर्शनतक दुर्लभ है, वहाँ मनुष्य कैसे जीवित रहेगा ?

'अभी तो रात्रिका प्रारम्भ ही होगा ।' सच्ची पुकार सुनी न जाय, ऐसा कभी होता नहीं । वह चौंका यह देखकर कि भगवान् सूर्यका तेजोबिम्ब प्रकट हो रहा है । जहाँ रात्रि महीनों बड़ी होती है, वहाँ अभीसे सूर्य-दर्शन क्यों ? 'उष:काल हुआ नहीं और भगवान् प्रकट हो गये ।' बिम्ब ऊपर क्षितिजपर न होकर पश्चिमकी ओर था ।

'यह वायव्य कोण—आज प्रभु इधर कैसे प्रकट हुए ? वह उसी ओर बढ़ा । उसे लगा कि बिम्ब दूर होता जा रहा है उसीकी गतिसे, जैसे कोई उसे मार्ग दिखलाता हो ।

'हमारा पर्वत—मैं उसपर उस दिशामें जा रहा हूँ, जहाँ नागोंके समूह रहते हैं ।' एक बार उसकी गति रुक गयी । यह दिशा इस देशमें सदासे यात्राके लिये वर्जित थी । इस पर्वतके समतल शिखरपर जिसने यात्रा की, वह लौटकर नहीं आया । शताब्दियोंसे लोग कहते आ रहे हैं कि उस दिशामें घोर जंगलोंसे भरा महादेश है । वहाँ पातालसे आकर कामरूपधारी नाग निवास करते हैं । जो भी वहाँ जाता है, वह उनका आहार बन जाता है । भयसे उसके पैर एक बार रुके; किंतु वह ज्योतिर्बिम्ब उधर ही जा रहा है । प्रभु मार्ग-प्रदर्शन कर रहे हैं । रुका कैसे जा सकता है । यहाँ रुककर ही जीवनकी क्या आशा है ।

वह तेजोमय बिम्ब बढ़ता जाता है—चलता जाता है । उसे अनुगमन करना है । 'कितना दिव्य, कितना सुन्दर, कितना समुज्ज्वल है वह बिम्ब !' जितना ही देखता है, मन उतना ही उसमें लगता जाता है । नेत्र स्थिर होते जा रहे हैं । पलकोंने गिरना बंद कर दिया है । चरणोंमें गति है—बढ़ती जाती है । बिम्बको बढ़कर स्पर्श कर लेना है उसे ।

शीतलता, दिशाओंमें व्याप्त हिमकी धवलता, उस सर्वग्रासी हिमके दल-दल, मार्ग—उसे कुछ पता नहीं । उसके वस्त्र सूख गये हैं; पर वह जानता नहीं । भूख-प्यास-थकावट—इन सबका पता तो तब लगे, जब वह अपने आपेमें हो—शरीरका पता हो । वह तो उस दिव्यबिम्बमें तन्मय है । उसे पकड़ना, छूना, निकटसे देखना चाहता है ।

हिमने अपना रूई-सा रूप छोड़ा और रेतके कणोंके समान उसमें खसखसापन आया । वह देश-भूमि अपने एकमात्र बचे हुए पुरुषके, जो उसे छोड़कर जा रहा था, पदचिह्न अपने हृदयपर अङ्कित करने लगी । उसे पता नहीं । वह चला जा रहा था ।

बिम्ब ऊपर उठा और अदृश्य हो गया । वह कितनी दूर चला है, कौन बताये । हिमाच्छादित भू-भाग एवं सागरको पार करनेमें उसे कितना समय लगा है, क्या साधन इसको जाननेका । उसने देखा कि वह एक जंगली प्रान्तमें है । चारों ओर ऊँचे घने वृक्ष, उनके तनोंसे लिपटी लताएँ और ऊँची घासोंसे ढकी भूमि । पुष्पोंकी राशिसे मानो सम्पूर्ण काननने शृङ्गार किया है ।

'यही क्या नागदेश है ?' उसके मनमें आशङ्का हुई और काँप उठा वह । इस तृणोंसे भरी भूमिमें, इस घोर वनमें महाकाय सर्प घूमते हों तो क्या आश्चर्य; किंतु उसे भय उन सर्पोंसे उतना नहीं था । वह तो उन नागोंसे था; जिनके सम्बन्धमें उसने सुना है कि वे पातालसे पृथ्वीके इस भागपर आ बसे हैं । बड़े क्रूर, स्वेच्छानुसार मानव शरीर धारण करनेवाले, सब कहीं पहुँचनेकी शक्ति रखनेवाले नागोंसे वह डर रहा था ।

'महाराज पृषध्रका वंश नष्ट हो जायगा !' अपनी अपेक्षा उसे अपने पूर्वजोंकी अधिक चिन्ता है । उसने सुना है—'जिसके वंशमें कोई नहीं रह जाता, उसके पूर्वज ऊर्ध्वलोकसे गिर जाते हैं ।' अब पृषध्र-वंशमें वह एकाकी बचा है । कैसे रहेगा यह वंश ? इस नागदेशमें उसकी भी सुरक्षाका क्या ठिकाना ? परंतु उसे भयकी अपेक्षा भूख अधिक तंग कर रही है । थक भी बहुत ही गया है ।' वृक्षोंसे फल तोड़े । झरनेमें सुस्वादु जल था ही । भोजनने भयको कुछ दूर किया । उस तृण-भूमिपर ही वह लेटा और सो गया ।

× × ×

(४)

'अनन्त नील समुद्र—सम्पूर्ण लोकोंकी सत्ताको व्याप्त करके पूर्ण । उसकी उत्तुङ्ग तरङ्गें । कहीं ग्रह-नक्षत्रादिका नामतक नहीं ।' वह ध्यानसे देख रहा था । ध्यान कर रहा था समुद्रके अतल-तलमें सहस्रफण मस्तक हिमश्वेत, अनन्त विस्तीर्ण महानाग और उनके लोक-विस्तृत कुण्डलीभूत भोगपर मणिमय आभरणोंसे विभूषित, रत्नकिरीटी, पीताम्बरपरिवेष्टित महामरकतश्याम चतुर्भुज पुरुष आधे लेटे-से । उन अनन्त तेजोराशि पुरुषपर उसके नेत्र टिक न सके । पुरुषकी नाभिसे जो कमल-नाल ऊपर उठा था, आलोकसे चकाचौंध-प्राप्त दृष्टि नालके सहारे ऊपर उठी ।

'पाटलारुण सहस्रदलपद्म और उसकी पीताभ महाकर्णिकापर एक लाल वर्णके चतुर्मुख पुरुष आश्चर्य-से चारों ओर देखते हुए ।' वह देखता रहा—युगोंतक देखता रहा वह । बालकने कमल-नाल पकड़ी और जलमें डुबकी लगायी । भला, कँटीली कमल-नालको पकड़कर कहाँतक पकड़े जाता वह । कुल सहस्र वर्ष-में ही हारकर लौट आया । उदास होकर बैठ गया कमलपर । पता नहीं क्या हुआ—बालकने नेत्र बंद कर लिये । वह बहुत वर्षोंतक वैसे ही बैठा रहा और फिर सहसा अत्यन्त प्रसन्न हो गया ।

'मैं उसी आदि परम पुरुषकी शरणमें हूँ, जिनसे प्राचीन कल्पोंकी सृष्टि प्रवृत्त हुई ।' बालकने हाथ जोड़कर प्रार्थना की । सहसा उसके शरीरसे ऋषि, मुनि, गन्धर्व, देवता क्रमशः प्रकट होने लगे । वह तो सृष्टि करने लगा ।

'आदि परम पुरुष कौन ? वे महाप्रकाशमय भगवान् आदिनारायण आदित्य या वे मणिमौलि, सहस्रशीर्षा, तारक-श्वेत महानाग ?' उसने पूछा उस बालकसे ।

'महानाग भगवान् शेषकी जय !' कोई पासमें ही मधुर कण्ठसे पुकार उठा । उसकी निद्राभंग हो गयी,

वह चौंककर बैठ गया। इधर-उधर देखने लगा। 'महानाग-महानाग कौन ?' पूछा उसने।

'भगवान् शेषकी जय !' एक युवती समीप ही लता-कुञ्जके द्वारसे निकलकर आ रही थी।

'तुम—तुम नागिनी ?' भयसे उसका कण्ठ स्पष्ट नहीं हो सका। बड़ी शीघ्रतासे उठ खड़ा हुआ वह।

'हाँ, मैं नागकन्या हूँ !' युवती उसको भयातुर देखकर हँस पड़ी खुलकर। 'पर तुम ऐसे क्यों चौंक रहे हो ? पुरुष हो न तुम ! तुम क्या नाग नहीं हो ?' वह रुकी। उसने सोये हुए पुरुषको महानाग कहते सुनकर उसे नाग ही समझा था।

'मुझपर दया करो, नागकन्या ! मैं आपत्तिका मारा तुम्हारे देशमें आया हूँ ! मुझे काटो मत !' गिड़गिड़ाया वह। 'मैं दक्षिण ध्रुव देशका पृषध्रवंशीय उब्बट हूँ।' परिचय दिया उसने अपना।

'तो तुमने मुझे नागलोककी नागकन्या माना है क्या ?' वह ताली बजाकर बालिकाके समान हँस पड़ी। 'मेरे पूर्वज भारतसे यहाँ आकर बस गये पता नहीं किस युगमें। मैं महानाग भगवान् अनन्तकी उपासिका नागजातिकी मन्थुली हूँ।' उसने भी अपना नामके साथ पूरा परिचय दिया।

'तुम स्वेच्छानुसार स्वरूप नहीं बदल सकतीं ?' अब भी उसका सन्देह दूर नहीं हुआ था।

'मैं कोई सिद्ध हूँ क्या ?' युवतीने अप्रसन्नताकी आकृति बनायी। 'यहाँसे बहुत समीप मेरे पिताका खर्वट (छोटा ग्राम) है। तुम वहाँ चलो तो मेरे पिता तुम्हारा आतिथ्य करके प्रसन्न होंगे !'

'तुम्हारे पिता—नाग……!' उसके स्वरमें भय एवं अविश्वास था। उसे लग रहा था कि यह युवती उसे कहीं धोखा तो नहीं दे रही है।

'मेरे पिता तो मानव नाग हैं, पर यदि तुम यहाँ पड़े रहे तो कोई-न-कोई मुम्बा, कोबरा या अजगर अवश्य तुम्हें काट लेगा। इस वनमें इन क्रूर सरीसृपोंका अभाव नहीं—बहुलता है।' युवतीने कुछ उपेक्षाका ढंग बनाया। 'तुम्हारी इच्छा हो तो आओ ! मैं बाध्य नहीं करती। यहीं रहना हो तो बाघ, भालू, अरना और बड़े उग्र एवं मांसभक्षी महानादी कपियों (गुरिल्लों) से सावधान रहना !'

'मैं तुमपर विश्वास करूँगा !' वह चलनेके लिये विवश हुआ। इनमेंसे अधिकांश हिंसकोंके उसने नाम सुने थे। महाव्याल मुम्बा और उग्र कपियोंसे बचा नहीं जा सकता, यह भी उसे मालूम था।

'मैं भगवान् आदित्यका आराधक हूँ !' उसने ऊपर मुख उठाकर सूर्यकी ओर देखा। जैसे चेतावनी दे रहा हो युवतीको कि उसके साथ विश्वासघात हुआ तो उसके आराध्य क्षमा न करेंगे।

'हम सब भगवान् शेषको आराध्य मानते हैं !' युवतीने सरलतासे कहा।

'भगवान् शेष—वे तारकश्वेत महानाग और उनकी भोगशय्यापर आसीन वे परम प्रकाश नारायण, साक्षात् भगवान् आदित्य !' चलते-चलते उसे स्मरण आया। यह भी स्मरण आया कि यह युवती उन शेषकी उपासिका है और वह स्वयं भगवान् भास्करका। तब क्या महाराज पृषध्रकी वंशपरम्परा नष्ट न होगी ? आशा, उमंग, उल्लाससे उसने उस कमलासनासीन स्रष्टाकी स्तुति दुहरायी—'मैं उस आदिपुरुषकी शरण हूँ, जिससे पुरातन सृष्टि प्रवृत्त होती है।' उसका वह देश, उसका वह समाज, वह संसार क्या पुनः प्रकट हो सकेगा ? एक आशा हृदयमें व्यक्त हुई।

× × × ×

कहानी तो समाप्त हो गयी। दक्षिण ध्रुव महादेश (अन्टारकटिका) के एकमात्र पृषध्रवंशीय सूर्योपासक उब्बट और भूपाताल (अमेरिका) के महानाग (शेष) के आराधक गोन्थुम नागकी कन्या मन्थुलीका परिचय

बदला और दोनों पति-पत्नी हो गये। उनकी सन्तति अब भी अमेरिकाकी आदिवासी जाति (रेड इंडियन) के रूपमें विद्यमान है।

अमेरिकामें नाग-पूजा और सूर्य-उपासना तो तभी-से चली आती है। वहाँके मूलनिवासी यदि अबतक भगवान् इन्द्र एवं गणपतिकी उपासना भी साथ-साथ करते हैं तो इसमें आश्चर्यकी बात ही क्या है। आर्यसन्तति सदासे देवराजको अपना श्रद्धोपहार निवेदित करती आयी है तथा श्रीगणनायक तो प्रथम पूज्य हैं ही।

रेड इंडियनोंका 'रामसीतव' महोत्सव—अवश्य ही यह त्रेताके अन्त या द्वापरमें वहाँ कभी पहुँचा, जब राजसूय या अश्वमेधके लिये भारतीय सेना वहाँ पधारी। सूर्यवंशकी सन्ततिने अपने कुलभूषणका स्मरण-महोत्सव सहज ही अपना लिया होगा। यह अनुमान अनुचित तो नहीं ही है।

पति-प्रेममें एक सतीका जीवन-विसर्जन

(लेखक—श्रीहरिलालजी शर्मा 'व्यास' किश्तवाड़)

जम्मू (काश्मीर) के अन्तर्गत तहसील किश्तवाड़-के मता ग्राममें एक सनातन-धर्मानुयायी ठाकुर-परिवारमें आजसे लगभग बीस वर्ष पूर्व एक कन्याने जन्म लिया था। वह इस परिवारकी इकलौती बालिका थी। अतः इस सम्पन्न परिवारने उसके पालन-पोषणमें किसी असुविधाको कोई स्थान नहीं दिया। कन्याके पिता श्रीठाकुर श्यामलालजी कन्याओंके लिये वर्तमान स्कूलोंकी पाश्चात्त्य शिक्षाके प्रायः विरोधी रहे हैं। अतः आपने अपनी इकलौती बालिकाको केवल धार्मिक शिक्षा और तत्सम्बन्धी पुस्तकोंके पढ़ानेकी ओर ही अधिक ध्यान दिया। इस सत्-शिक्षाके कारण वह बालिका प्रायः अपना सारा समय रामायणादि धार्मिक पुस्तकोंके पढ़ने और उनके प्रचार करनेमें व्यतीत करने लगी। गतवर्ष उसका विवाह एक ठाकुर-परिवारमें हुआ। जिस लड़केसे उसका विवाह हुआ था, वह जम्मूमें तार-विभागमें कर्मचारी था। विवाहके पश्चात् कुछ काल घरपर रहनेके बाद वह अपनी नवविवाहिता धर्मपत्नीको घर ही रखकर अपने कामपर जम्मू चला गया। वहाँ उसे किसी सरकारी कार्यसे अखनूर जाना पड़ा और अखनूरमें वह एक दिन नौका उलट जानेसे नदीकी लहरोंमें फँसकर सदाके लिये मीठी नींदमें सो गया। उक्त शोकजनक घटनाकी सूचना जब उस लड़केके घरवालोंको मिली तो सारे परिवारमें वज्रपात-सा हुआ; किंतु उसकी धर्मपत्नीको जब यह दुःखद समाचार सुनाया गया, तो उसने बड़ी सावधानी और धीरतासे इस समाचार-को सुनकर ये शब्द कहे 'संसार नाशवान् है, नाशवान् वस्तुपर किसी तरहका शोक करना मनुष्यकी निर्बलता है। मनुष्यका धर्म है कि वह सारी निर्बलताओंसे सुरक्षित रहकर अपने कर्तव्यका पालन करता रहे।' बालिकाकी ये बातें और उसके धैर्यको देखकर उपस्थित जनसमूह आश्चर्यचकित हो गया। कुछ क्षण मौन रहनेपर उसने अत्यन्त ललित सुरोंमें रामायणकी यह चौपाई गानी प्रारम्भ कर दी—

जहँ लगि नाथ नेह अरु नाते। पिय बिनु तियहि तरनिहु ते ताते॥
तनु धनु धामु धरनि पुर राजू। पति बिहीन सबु सोक समाजू॥
भोग रोगसम भूषन भारू। जम जातना सरिस संसारू॥
प्राननाथ तुम्ह बिनु जग माहीं। मो कहुँ सुखद कतहुँ कछु नाहीं॥

इस प्रकार पूरे दो दिनोंतक हरिकीर्तन और भगवच्चर्चा करते हुए उस बालिकाने एक अद्भुत कौतुक दिखाया। तीसरे दिन प्रातःकाल उपस्थित व्यक्तियोंके देखते-देखते उस देवीके प्राणपखेरू उस लोकके लिये उड़ गये, जहाँ चार दिन पूर्व उसके पतिदेव गये थे। इस घटनाका इतना प्रभाव पड़ा है कि जिससे भी इस विषयमें बातचीत होती, वही उस देवीके प्रति अत्यन्त सम्मानसे अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पण करता है। वस्तुतः वह देवी इसी योग्य है।

कामके पत्र

(१)

पुरानी बुरी आदत कैसे छूटे ?

सप्रेम हरिस्मरण ! आपका पत्र मिला । आपकी वृद्धावस्था होनेपर भी लड़कपनके अभ्यासवश आपमें एक बुरी आदत है और उसके न छूटनेसे आप दुखी हैं, सो यह दुःख तो उत्तम ही है । अपनी बुराईके लिये मनुष्यके मनमें दुःख होने लगे और बहुत प्रबल हो जाय तो बुराई छूट जाती है । इस आदतके छूटनेका असली उपाय है—'भगवान्की कृपाके बलपर मनमें दृढ़ निश्चय करना कि अब आगेसे इस कामको कभी नहीं करूँगा ।' मनुष्यके निश्चयमें कमी रहती है और आत्मबलपर अविश्वास रहता है, इसीसे बुरी आदत नहीं छूटती । मेरे एक परिचित स्वर्गीय वृद्ध सज्जनने एक ही दिनमें तमाखू पीनेकी ही नहीं, अफीम खानेकी बरसोंकी पुरानी आदत छोड़ दी थी । उनके मनमें दृढ़ निश्चय था, इसलिये उनका कुछ नहीं बिगड़ा । न फिर वे अपनी प्रतिज्ञासे टले ही । मनुष्य मनमें अधूरा-सा निश्चय करता है; इसीसे प्रसङ्ग सामने आनेपर वह डिग जाता है, आसक्ति उसको दबा लेती है ।

दूसरी बात है—'मनमें विषयोंके प्रति विष-बुद्धि हो जाना ।' ऐसा हो जानेपर उक्त विषयका ग्रहण नहीं होता । संखिया विष है—यह निश्चय है; इसलिये किसी खाद्य पदार्थमें—जो देखनेमें सुन्दर और खानेमें सुस्वादु भी हो—संखियाका सन्देह होनेपर भी हम उसे नहीं खाते । इसी प्रकार विषयोंमें विष-बुद्धि हो जानेपर उनका त्याग हो जाता है ।

इसीके साथ-साथ सर्वशक्तिमान् परम सुहृद् श्रीभगवान्से प्रार्थना करनी चाहिये । प्रार्थनाके बलसे पापबुद्धिका नाश बहुत सहजमें किया जा सकता है । नाम-जपका अभ्यास कीजिये और प्रार्थना कीजिये । इन उपायोंको करके देखिये । मुझे तो आशा है कि इनसे आपकी आदत छूटनेमें अवश्य सहायता मिलेगी ।

(२)

भगवान्के सामने सच्चे रहिये

आपका पत्र मिला । आप जिस परिस्थितिमें हैं, वह अवश्य ही बहुत शोचनीय है । मुझे आपके साथ पूर्ण सहानुभूति है । आपने अबतक भयानक सन्ताप सहकर अपनेको बचाया, पर अब ऐसी परिस्थिति आ गयी कि उससे बचना असम्भव हो गया है और इस बातसे आपको बड़ा दुःख है । सो ऐसी स्थितिमें दुःख होना स्वाभाविक है । मनुष्य जिसको सबसे बढ़कर प्रिय वस्तु समझता है और जिसकी रक्षाके लिये अपना सब कुछ लगा देता है, वह वस्तु उसके पाससे जाने लगती है और वह अपनेको उसे बचानेमें जब सर्वथा असहाय और असमर्थ पाता है, तब उसे कितनी मानसिक पीड़ा होती है—इसे कोई भुक्तभोगी ही जानता है; साथ ही, जब निर्दोष होनेपर भी—मनमें पूरी ईमानदारी होनेपर भी उसे डंकेकी चोट दोषी और बेईमान बताया जाता है, तब तो बड़ी ही मर्मपीड़ा होती है । इन सब बातोंपर विचार करनेसे, आपने जो कुछ लिखा है तथा जैसी अपनी स्थिति बतायी है, वह सर्वथा सत्य सिद्ध होती है ।

यह भी सत्य है कि भगवान् सर्वशक्तिमान् हैं, वे चाहें तो क्षणभरमें स्थिति बदल दे सकते हैं । पर ऐसा करना, न करना उनकी इच्छापर निर्भर है । कोई भक्त अपनी एकान्त निष्ठा और अनन्य विश्वाससे उनमें ऐसे संकल्पका उदय करा दे तो यह हो सकता है । पर जो एकान्त निष्ठा और अनन्य विश्वाससम्पन्न होगा, वह किसी परिस्थितिविशेषको पलटनेकी इच्छा ही क्यों करेगा । जो कुछ हो रहा है, सब उसके परम सुहृद् एवं अनन्त मङ्गलमय भगवान्की दृष्टिमें और उन्हींकी

नियन्त्रणमें ही तो हो रहा है । वे यदि इसमें उसका कोई अहित समझते तो होने ही क्यों देते ? जब होने देते हैं, तब अवश्य ही इसीमें उसका हित और मङ्गल भरा है । ऐसी अवस्थामें परिस्थितिके परिवर्तनका कोई प्रश्न ही नहीं रह जाता । असलमें बात भी यही है । जिसकी जीभकी स्वाद जाननेकी शक्ति चली नहीं गयी है, जिसके शरीरमें चेतना है, उसे कड़वी दवाका भी अनुभव होगा और डाक्टरके द्वारा शस्त्रप्रयोग होनेपर पीड़ा भी होगी; परंतु वह इस बातसे न तो दुखी होगा और न इस परिस्थितिको पलटना ही चाहेगा । क्योंकि वह जानता है कि कड़वी दवासे दूर होगा मेरा रोग और चीरा लगनेसे मेरे शरीरके अंदरका विष निकलेगा । हमलोग जो ऐसी दशामें दुखी होते हैं सो अज्ञान और अविश्वासके कारण ही होते हैं । किसी वस्तुमें—धनमें, आराममें, भोगोंमें और मान-प्रतिष्ठामें—हमारी आसक्ति है, वह रोगकी तरह हमारे अणु-अणुमें व्याप्त है । भगवान् परम सुहृद् हैं, वे इस रोगसे हमें मुक्त करना चाहते हैं; इसीसे वैसी व्यवस्था करते हैं और हम अपनी आसक्तिकी वस्तुके बिछुड़ने लगने या बिछुड़ जानेपर व्याकुल होकर रोते-कलपते हैं । वास्तवमें भगवान् दया करके हमारे पाप-तापको जला देना चाहते हैं, इसीसे प्रिय वस्तुका विनाश करके हमें दुःखाग्निमें—जो वस्तुतः दयामय भगवान्‌की लीला होनेपर भी मोहवश हमें ज्वालामालामयी अग्नि प्रतीत होती है—जलाकर शुद्ध करते हैं । किसी अबोध बच्चेके किसी अङ्गमें दर्द हो जानेपर स्नेहमयी माता उस अङ्गको किसी गरम-गरम वस्तुसे सेंकती है, बच्चा रोता है । यहाँ माताका उद्देश्य बच्चेको दुःख देना नहीं, परंतु उसके उस दर्दको मिटाना है, जिससे वह अशान्त हो रहा है; पर बालक इस बातको न समझनेके कारण रोता-चिल्लाता है । ठीक यही दशा हमलोगोंकी है ।

आप सच मानिये—आप जिस परिस्थितिमें हैं और जिस वस्तुको बचाना चाहते हैं, उसका उसी रूपमें रहना यदि आपके लिये हितकर होता तो उसके मिटानेकी व्यवस्था कभी नहीं होती । उसमें कुछ ऐसी सड़न, ऐसी बीमारी उत्पन्न हो गयी है जो भविष्यमें आपको और भी दुखी बना सकती है, इसीलिये—आपको भावी सङ्कटसे बचाकर नवीन सुन्दर और सुरक्षित स्थिति प्राप्त करानेके लिये ही भगवान्‌के मङ्गलविधानमें यह व्यवस्था है । मनुष्य वर्तमान अनुकूल अवस्थाको—जो विषभरे स्वर्ण-कलश या रेशम-लिपटे विषधर सर्पकी भाँति सुन्दर प्रतीत होनेपर भी वस्तुतः अनुकूल नहीं है—देखता है और उसकी रक्षा करना चाहता है; पर उसे पता नहीं कि यह अवस्था उसके लिये बड़ी भयानक है—इसके नष्ट हो जानेपर ही वह नयी अवस्थामें प्रवेश कर सकेगा, जो उसके लिये यथार्थमें हितकर और अनुकूल होगी । मैं समझता हूँ—मङ्गलमय भगवान्‌के विधानसे जब आपकी प्रिय वस्तुकी रक्षा नहीं हो रही है, तब यह निश्चित है कि यह वस्तु प्रिय होनेपर भी वस्तुतः आपके लिये हितकर नहीं है और इसके नाशसे उत्पन्न होनेवाली स्थिति या वस्तु अप्रिय प्रतीत होनेपर भी परिणाममें आपके लिये कल्याणकारिणी सिद्ध होगी ।

अतएव आप घबड़ाइये नहीं । प्रत्येक परिस्थितिमें मङ्गलमय भगवान्‌पर विश्वास रखकर निश्चिन्त और निर्भय रहिये । लोग गाली देंगे, अपमान करेंगे, तिरस्कार करेंगे, चोर-बेईमान बतलायेंगे और सब जगह आपपर लोग थूकेंगे । यही तो होगा न ? इन सबको अपने परम सुहृद् भगवान्‌का भेजा हुआ आशीर्वाद समझकर सिर चढ़ाइये । ऐसा करना कठिन है, पर ऐसा करनेमें ही सुख-शान्ति है । साथ ही यह भी निश्चय मानिये कि भगवान्‌के सामने यदि आप सच्चे हैं, ईमानदार हैं, तो किसीके भी द्वारा झूठे और बेईमान बतलाये जानेसे आपकी परिणाममें कुछ भी हानि नहीं होगी ।

हानि तो वर्तमानमें भी नहीं है। क्योंकि यह तो आपके परम लाभका साधन हो रहा है, पर कड़वी दवाकी भाँति इसमें कड़वास मालूम होती है। परंतु परिणाममें तो प्रत्यक्ष परम कल्याण ही होगा, इसपर विश्वास कीजिये। आप कहेंगे कि 'मुझे अपमान-निन्दाके लिये कोई दुःख नहीं है। मुझे तो केवल इस बातका दुःख है कि इस स्थितिसे कई निरपराध लोगोंकी हानि होगी और उन्हें बड़ा दुःख पहुँचेगा।' आपकी यह भावना बहुत ही श्रेष्ठ है। आपके निमित्तसे यदि किसीकी कुछ भी हानि होती है और उसे दुःख पहुँचता है तो यह आपके लिये निःसन्देह बड़े ही संतापकी बात है। (यद्यपि उसकी वह हानि और दुःखप्राप्ति उसीके पूर्वकृत कर्मोंका फल है, आप तो उसमें निमित्तमात्र हैं, तथापि जब आप निमित्त हैं तो आपको दुःख होना ही चाहिये और यदि नीयत अशुद्ध है तो बड़ा पाप भी) पर इसके लिये अभी आप निरुपाय हैं। आपने जान-बूझकर उनको दुःख पहुँचाने या उनकी हानि करनेका प्रयत्न नहीं किया है; वरं उन्हें हानि न हो, हो तो भी कम-से-कम हो और उन्हें दुःख न पहुँचे, इसके लिये यथासाध्य पूरा प्रयत्न किया है। जब असहाय तथा असमर्थ हो गये हैं, तभी वह प्रयत्न छूटा है। इस स्थितिमें उनको दुःख होने तथा उनके दुःखसे आपके दुखी होनेकी बात स्वाभाविक होनेपर भी आप दोषी नहीं ठहरते। आप बेईमानी करते या उनके दुःखसे दुखी नहीं होते तो अवश्य दोषी होते। भगवान् आपके सद्भावका आदर करेंगे और संभव है, (भगवान्ने चाहा तो) कुछ समयके बाद आपको ऐसी व्यवस्था करनेके लिये समर्थ बना देंगे कि आज जिनको दुःख हुआ है, उनको आपके द्वारा उससे कहीं अधिक सुख मिल सके। पर यह तभी होगा, जब आपकी भावना इसी प्रकार निरन्तर शुद्ध बनी रहेगी और आपको ऐसा हुए बिना सन्तोष नहीं होगा।

यह भी संभव है कि आपलोगोंपर कानूनी कार्रवाई हो, और उसमें आपको अपमानित—तिरस्कृत भी होना पड़े। पर इससे घबरानेकी जरूरत नहीं है। भगवान्के सामने सच्चे, ईमानदार तथा निर्दोष रहिये और फिर आनेवाली प्रत्येक स्थितिको भगवान्का प्रेमोपहार समझकर विनम्रभावसे सिर चढ़ाकर स्वीकार कीजिये। इसमें आपका परिणाममें निश्चित कल्याण है। इस उज्ज्वल भविष्यका निर्माण करना आपके ही हाथमें है। यह आँधी तो निकल ही जायगी; पर आप इसमें निर्दोष तथा निर्लेप बच रहेंगे तो सब कुछ हो जायगा। भगवान्की कृपापर विश्वास करके ऐसा ही कीजिये!

'कल्याण'के इसी अङ्कमें प्रकाशित 'प्रभुके साथ सम्पर्क' शीर्षक लेख ध्यानपूर्वक पढ़ जाइये।

(३)

भगवान्के भजनकी महिमा

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। आप लिखते हैं कि 'मैं सोते-बैठते, चलते-फिरते, खाते-पीते सदा श्रीभगवान्का स्मरण करता हुआ उनकी प्रार्थना करता रहता हूँ। मैंने भगवान्को आत्म-समर्पण कर दिया है और मुझे भगवान्पर पूरा विश्वास भी है; तथापि अभीतक भगवान्ने मेरी प्रार्थना नहीं सुनी है। इसलिये मुझे निराशा हो रही है, कृपया बताइये इसमें क्या कारण है?' वास्तविक कारण तो भगवान् ही जानते हैं; परंतु महात्माओंका ऐसा अनुभव है और शास्त्र भी कहते हैं कि भगवान्में पूर्ण विश्वास करके जो पुरुष सदा भगवान्का स्मरण करता हुआ प्रार्थना करता है, उसकी प्रार्थना भगवान् अवश्य सुनते हैं। पर आपके प्रसंगमें ऐसा क्यों हुआ सो पता नहीं है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि भगवान्ने कहीं भूल की हो सो बात नहीं है। कहीं-न-कहीं आपकी ही भूल है। और वह भूल यों तो प्रत्यक्ष ही है। आप यदि सदा उनका स्मरण ही करते रहते तो

फिर दूसरे चिन्तनके लिये अवकाश ही क्यों मिलता। यदि भगवान्‌के लिये ही प्रार्थना करते हैं तो भगवान्‌का नित्य चिन्तन होनेसे बढ़कर और लाभ ही कौन-सा है और वह आपके कथनानुसार आपके हो ही रहा है। यदि आप स्मरणके अतिरिक्त भगवत्साक्षात्कार आदिके लिये प्रार्थना करते हैं तो फिर उसमें निराशा कैसी? जहाँ पूर्ण विश्वास है, वहाँ तो निराशाको स्थान ही नहीं है। और जो आत्मसमर्पण कर चुकता है, वह तो अपनी स्वतन्त्र इच्छासे किसी वस्तु या स्थितिकी प्रार्थना ही कैसे कर सकता है। इन सब बातोंपर विचार करनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि आपके 'निरन्तर स्मरण,' 'नित्य प्रार्थना,' 'आत्मसमर्पण' और 'पूर्ण विश्वास'में ही त्रुटि है। भगवान्‌से आपकी प्रार्थना यदि किसी सांसारिक विषयके लिये होती रही है, तब तो विश्वास, आत्मसमर्पण और नित्य स्मरणमें बड़ी त्रुटि है—

जहाँ राम तहँ काम नहिं जहाँ काम नहिं राम।
तुलसी कबहुँ कि रहि सकैं रबि रजनी एक ठाम॥

'जहाँ विषयासक्ति तथा भोग-कामनारूपी अन्धकार है, वहाँ भगवद्विश्वास और भगवान्‌के प्रति आत्म-समर्पणरूप सूर्यका प्रकाश कहाँ है? और जहाँ भगवान्‌का सूर्य उगा है, वहाँ भोगासक्तिरूप अन्धकार कहाँ है। सूर्य और रात्रि दोनों एक जगह एक साथ प्रकट नहीं रह सकते।' अतएव आप गहराईके साथ अपने मनके भावों तथा साधनाके स्वरूपपर विचार कीजिये। और जहाँ-जहाँ अपनेमें त्रुटि दिखायी दे, वहाँ-वहाँ उसे सावधानीके साथ पूरा कीजिये।

यह सब होनेपर भी आप जो कुछ कर रहे हैं, वह बहुत ही सराहनीय है। आपने अपने साधनको कुछ अधिक समझ लिया, इतनी आपकी भूल है; पर साधन तो होता ही है। आप अपनी समझसे विश्वास भी करते हैं, स्मरण-प्रार्थना भी करते हैं और आत्मसमर्पण भी कर चुके हैं। यह सब, इस युगमें, कम नहीं है। आपका बड़ा सौभाग्य है कि आप ऐसा कर पाते हैं। भगवान्‌की बड़ी कृपा समझिये जो आपकी ऐसी बुद्धि है। आप किसी प्रकारसे निराश न होइये। आप यदि भगवान्‌को सकामभावसे भजते हैं तो भी परिणाममें आपका कल्याण ही होगा। निष्काम भाव सर्वोत्तम है। प्रेम उससे भी ऊँचा है; परंतु सकामभावसे किया हुआ भजन भी अन्तमें भगवत्प्राप्ति करा देता है। भगवान्‌का सकाम भजन किसी फलको देकर नष्ट नहीं हो जाता, वह जीवको भगवान्‌तक पहुँचाकर ही छोड़ता है। किसी प्रकार भी कोई भगवान्‌को भजे, उनके साथ किसी भी इन्द्रियका, मनका, बुद्धिका किसी हेतुसे भी एक बार सम्बन्ध हो जाना चाहिये। वह भगवत्सम्बन्ध—वह ब्रह्मसंस्पर्श भगवान्‌की प्राप्ति करा ही देगा। काम-क्रोध और वैरसे सम्पर्क करनेवाले भी जब भगवान्‌को पा जाते हैं*, तब विश्वासके साथ सकामभावसे भजन करनेवाले अन्तमें भगवान्‌को पा जायँ, इसमें क्या आश्चर्य है? श्रीभगवान्‌ने आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी—चार प्रकारके भक्तोंका वर्णन करते और उनकी महत्ता बतलाते हुए अन्तमें कहा है—'मद्भक्ता यान्ति मामपि' (गीता ७। २३) —मेरे भक्त मुझको ही प्राप्त होते हैं।

हाँ, कामनाकी पूर्ति होना-न-होना भगवान्‌के मङ्गलमय सङ्कल्पपर अवलम्बित है। वे जिस बातमें हमारा कल्याण समझते हैं, वही करते हैं। कहीं कामनाकी विलक्षण पूर्ति कर देते हैं तो कहीं कामना-को सफल होने ही नहीं देते। हाँ, भजन करनेवाले-

---

* कामाद् द्वेषाद्भयात्स्नेहाद्यथा भक्त्येश्वरे मनः।
आवेश्य तदघं हित्वा बहवस्तद्गतिं गताः॥
(श्रीमद्भा०)

'काम, द्वेष, भय, स्नेह और भक्तिके द्वारा ईश्वरमें मन लगाकर बहुत-से लोग अपने-अपने पापोंका नाशकर भगवान्‌को प्राप्त हो गये हैं।'

की लौकिक कामना अन्तमें मिट अवश्य जाती है—चाहे पूर्ण होकर और चाहे नष्ट होकर। यह याद रखना चाहिये कि वस्तुतः कामनाकी पूर्तिसे कामना नहीं मिटती। उससे तो वह उत्तरोत्तर वैसे ही बढ़ती है, जैसे घी-ईंधन पड़नेसे अग्नि।

'बुझै न काम अगिनि तुलसी कहुँ बिषयभोग बहु घीते।'

भगवान् जब कृपा करके जीवके हृदयमें अपनी मधुर झाँकी कराते हैं, तब अन्य सारी कामनाएँ अपने-आप ही मिट जाती हैं। फिर न तो सांसारिक पदार्थोंकी प्रचुरता रहनेपर भी उनमें ममतासक्ति रह जाती है, न निपट दरिद्रता और दुःखमय स्थिति होनेपर भी उससे त्राण पानेकी अभिलाषा होती है।

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥
(गीता ६। २२)

'जिस लाभको प्राप्त होनेपर साधक उससे बढ़कर दूसरा कोई लाभ नहीं मानता और जिस स्थितिमें स्थित होकर वह बड़े भारी दुःखमें भी स्थितिसे विचलित नहीं होता।' भजन करनेवालेकी अन्तमें यही स्थिति होती है, जिससे उसकी कामनाका बीज ही दग्ध हो जाता है। इसलिये किसी भी हेतुसे भजन करना चाहिये। आप भजन करते हैं—यह आपका परम सौभाग्य है—

'भायँ कुभायँ अनख आलसहूँ।
नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ॥'

भजनमें यथाशक्ति निष्काम तथा प्रेमका भाव बढ़ाइये। अपनी भूलोंको देखते रहिये तथा भगवान्की असीम कृपाका अनुभव करते हुए भजनमें संलग्न रहिये। भजन अपने-आप ही सब काम कर देगा। शेष भगवत्कृपा।

(४)

गोहत्याके प्रायश्चित्तकी व्यवस्था

सप्रेम हरिस्मरण! पत्र मिला। उत्तरमें निवेदन है कि गोहत्या-सम्बन्धी प्रायश्चित्तकी व्यवस्थाकी विधि यह है कि गाय या बैलके गलेमें मृत्युके समय जो रस्सी रही हो, उसे लेकर वे सब लोग, जिनका उसकी मृत्युसे कुछ भी लगाव समझा जाता हो, किसी अच्छे धर्मशास्त्रके जाननेवाले निष्पक्ष विद्वान् ब्राह्मणके पास जायँ और उनकी आज्ञाके अनुसार विधिपूर्वक विनय एवं श्रद्धाके साथ प्रश्न करें। प्रश्न करते समय भगवान् और गोमाताको प्रणाम करके सारी बातें सच-सच बतला दें। उन बातोंको सुननेके बाद धर्मशास्त्रानुसार जो निर्णय वे दें, उसके अनुसार प्रायश्चित्त किया जाय। आपको भी इस प्रश्नका निर्णय इसी प्रकार करवाना चाहिये। प्रत्येक व्यक्ति ऐसे प्रश्नोंके निर्णयका अधिकार नहीं रखता। धर्मशास्त्रज्ञ एवं धर्मनिष्ठ विद्वान् ब्राह्मणोंको ही इसपर निर्णय देनेका अधिकार है। शेष प्रभुकी कृपा।

आपके पत्रमें पता लिखा न होनेसे उत्तर 'कल्याण' में प्रकाशित किया जा रहा है। नाम-पतेसे रहित पत्रोंका उत्तर नहीं दिया जा सकता और 'कल्याण' में प्रकाशित करना भी सम्भव नहीं होता। अतएव जिनको उत्तर प्राप्त करनेकी इच्छा हो, उनको अपना नाम-पता अवश्य लिखना चाहिये।

गीता-जयन्ती

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ (गीता १८ । ६६)

'सर्व धर्मोंको अर्थात् सम्पूर्ण कर्मोंके आश्रयको त्यागकर केवल एक मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेव परमात्माकी ही अनन्य शरणको प्राप्त हो, मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा । तू शोक मत कर ।'

विश्वकी स्थिति उत्तरोत्तर शोचनीय होती जा रही है । सभी ओर पाप और पापाचारियोंकी ही प्रबलता देखनेमें आती है । मानव-समाजका नैतिक स्तर बहुत ही नीचा हो गया है । भोगलालसाकी कोई सीमा नहीं रह गयी है । धर्ममें अथवा कर्तव्यपालनमें किसीकी रुचि नहीं है । रुचि है धर्मविरहित कामाचार, अनीतियुक्त अर्थोपार्जन और अन्यायमूलक अधिकार-विस्तारमें । यही सभ्य कहानेवाले समाजोंके जीवनका परम लक्ष्य बन रहा है । सर्वत्र अति गर्हित अनाचार, भ्रष्टाचार और अत्याचारका विस्तार हो रहा है । पापके इस प्रवाहको रोकनेका सफल मार्ग किसीको नहीं सूझ रहा है । इस विकट परिस्थितिमें सच्चा मार्ग प्राप्त करनेका यदि कोई सफल साधन है तो वह श्रीमद्भगवद्गीताकी शिक्षा ही है । किंकर्तव्यविमूढ़ अर्जुनको अखिल ब्रह्माण्डनायक भगवान् श्रीकृष्णकी दिव्यवाणी गीतासे ही चेतना, स्फूर्ति, शक्ति, ज्ञान और प्रकाश मिला था और इसीसे विजय तथा विभूतिकी प्राप्ति हुई थी । आज भी यदि हम ऐसा चाहते हैं तो हमें परम श्रद्धाके साथ गीताकी ही शरण लेनी चाहिये और उसीकी शिक्षाके अनुसार भक्तिसमन्वित निष्काम कर्ममें लगना चाहिये ।

आगामी मार्गशीर्ष शुक्ला ११ ता० १ दिसम्बर गुरुवारको श्रीगीता-जयन्तीका पर्व है । इस पर्वपर सब लोगोंको गीता-प्रचार तथा गीता-ज्ञानके क्रियात्मक अध्ययनकी योजनाएँ बनानी चाहिये और पर्वके उपलक्ष्यपर गीतामाताका आशीर्वाद प्राप्त करनेके लिये नीचे लिखे कार्य सभी जगह अवश्य करने चाहिये ।

१-गीताग्रन्थका पूजन ।

२-श्रीगीताके वक्ता भगवान् श्रीकृष्ण तथा गीताको महाभारतमें ग्रथित करनेवाले भगवान् व्यासदेवका पूजन ।

३-गीताका यथासाध्य पारायण ।

४-गीता-तत्त्वको समझने-समझानेके लिये तथा गीता-प्रचारके लिये सभाएँ, गीता-तत्त्व और गीता-स्वरूपपर प्रवचन और व्याख्यान तथा भगवन्नाम-कीर्तन आदि ।

५-पाठशालाओं और विद्यालयोंमें गीतापाठ और गीतापर व्याख्यान तथा गीतापरीक्षामें उत्तीर्ण छात्रोंको पुरस्कार-वितरण ।

६-प्रत्येक मन्दिरमें गीताकी कथा और श्रीभगवान्की विशेष पूजा ।

७-जहाँ कोई विशेष अड़चन न हो, वहाँ श्रीगीताजीकी सवारीका जुलूस ।

८-लेखक तथा कवि महोदय गीतासम्बन्धी लेखों और कविताओंद्वारा गीता-प्रचारमें सहायता करें ।

सम्पादक—'कल्याण' गोरखपुर

देशवासियोंसे विनीत प्रार्थना

अपने प्रिय और पूज्य स्वदेश भारतवर्षको अन्न-सङ्कटसे बचानेके लिये इस समय हमें निम्नलिखित बातें करनी चाहिये—

(१) हम प्रसन्नतापूर्वक प्रति सप्ताह एक बार भोजन न करें । इस तरह देशके लिये यह अन्न बचा लें ।

(२) नित्यके भोजनमें कन्द-मूल, फल, शाक और दूधका अधिक सेवन कर उतना अन्न बचा लें ।

(३) दावतें देना बंद करें, पत्तलोंपर जूठन छोड़नेकी आदत छोड़ दें, रसोईमें कोई चीज अधपकी कच्ची रह जानेसे अन्नकी जो हानि होती है वह न होने दें । अन्नका किसी प्रकार अपमान न हो ।

(४) राष्ट्रने १९५१ के बाद विदेशोंसे अन्न न मँगानेका जो संकल्प किया है उसे पूरा करनेमें अपनी शक्तिभर पूरा प्रयत्न करें ।

(५) इस संकल्पकी पूर्णता और स्वदेशकी धन-धान्य-समृद्धिके लिये नित्य ईश्वरसे प्रार्थना करें ।

राघवदास (बाबा) एम्० एल्० ए०

रजि० सं० ए० १७

गोवधको प्रोत्साहन

जनतासे प्रार्थना

१—पिछले दिनों समाचार-पत्रोंमें छपा था कि बंबईके थाना नामक स्थान के समीप सन् १९५१ तक एक बड़ा बूचड़खाना बननेवाला है। भारत-सरकारके पास योजना स्वीकृतिके लिये भेजी गयी है। कहा जाता है कि दक्षिण-पश्चिमी भारतका यह सबसे बड़ा बूचड़खाना होगा। इससे उधरके समस्त प्रदेशको मांस पहुँचाया जायगा। 'मांस' शब्दमें स्पष्टरूपसे 'गोमांस'का भी समावेश किया गया है और यह भी कहा गया है कि 'वहाँसे मांस अन्य देशोंको भी भेजा जा सकेगा।' यदि यह समाचार सत्य है तो बड़ा ही भयानक और रोमाञ्चकारी है।

२—एक ओर तो गोवध-निषेधके लिये कानून बनानेका प्रयत्न हो रहा है और दूसरी ओर इस प्रकारके विशाल कसाईखानेकी योजना बनाकर गोवधको प्रत्यक्ष प्रोत्साहन दिया जा रहा है! कुछ वर्षों पहले अंग्रेजोंके शासनमें पंजाब या सिन्धमें ऐसा ही एक बड़ा बूचड़खाना बननेवाला था। उस समय हिंदुओंने उसका प्रबल विरोध किया था तथा स्वर्गीय महामना श्रीमालवीयजीके प्रयत्नसे उसका विचार छोड़ देना पड़ा था। आज मालवीयजीके बिना हिंदूजाति अनाथ-सी हो रही है और विश्ववन्द्य महात्माजीके अहिंसा-सिद्धान्तपर विश्वास करनेवाली अपनी ही सरकार शासन कर रही है। कृषिकी उन्नति तथा दूध-दही-घीके लिये गौकी आवश्यकता भी सब मान चुके हैं। इसपर भी इस प्रकारका बूचड़खाना खोलकर मांसका व्यापार करने और उसे विदेशोंमें भेजनेकी योजनाएँ बन रही हैं! मैं प्रत्येक भारतीयसे हाथ जोड़कर प्रार्थना करता हूँ कि वे इसका शान्तिपूर्वक प्रबल विरोध करें, जिससे पहलेकी भाँति इस बार भी बूचड़खानेका विचार त्याग देना पड़े। बंबई-प्रान्तके लोगोंको इसपर विशेष ध्यान देना चाहिये।

३—इसीके साथ एक बातपर और सबका ध्यान आकर्षित किया जाता है। हमारी केन्द्रीय सरकारने गोवध-नियन्त्रणके सम्बन्धमें एक कानूनके बिलका मसविदा प्रान्तीय सरकारोंके पास भेजा है। इसकी धारा १३ में धर्मके नामपर गोवधकी छूट दे दी गयी है। इस मासमें ही यह विचारार्थ अर्पण होगा। अतएव इस धाराका भी प्रबल विरोध होना चाहिये। मैं अपने पत्रकार-बन्धुओंसे प्रार्थना करता हूँ कि वे इसका तथा बंबईमें बननेवाले बूचड़खानेका प्रबलरूपसे विरोध करें।

विनीत—हनुमानप्रसाद पोद्दार

कल्याण
वर्ष २३]
[संख्या १२

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम । जय रघुनन्दन जय सियाराम ॥
रघुपति राघव राजा राम । पतितपावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा । जय गणेश जय शुभ-आगारा ॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर पौष, दिसम्बर सन् १९४९

चित्र-सूची

तिरंगा

वार्षिक मूल्य भारतमें ६≡) विदेशमें ८॥=) (१३ शिलिङ्ग)

साधारण प्रति भारतमें ।=) विदेशमें ॥-) (१० पेंस)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत् चित् आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

कल्याण

वेणुवादनशीलाय गोपालायाहिमर्दिने । कालिन्दीकूललीलाय लोलकुण्डलधारिणे ॥
वल्लवीनयनाम्भोजमालिने नृत्यशालिने । नमः प्रणतपालाय श्रीकृष्णाय नमो नमः ॥

वर्ष २३ } गोरखपुर, सौर पौष २००६, दिसम्बर १९४९ { संख्या १२ पूर्ण संख्या २७७

ज्ञानखड्ग

भारत ! अब ज्ञानखड्ग लो धार ।
हृदयस्थित अज्ञानजनित संशयका करो सँहार ॥
हो स्थित नित्य समत्व-योगमें, छोड़ो अन्य विचार ।
उठो-उठो, रणमें तत्पर हो, करो वीर-व्यवहार ॥

(श्रीमद्भगवद्गीता)

कल्याण

निश्चय करो—मेरे मनमें सदा-सर्वदा मङ्गलमय भगवान् निवास करते हैं। उनके समस्त दिव्य गुण और भाव मेरे मनमें सदा तरङ्गित हो रहे हैं। अब मैं उनके सिवा मनमें किसी भी अन्य वस्तुको और किसी भी बुरे विचार और भावको नहीं आने दूँगा।

निश्चय करो—मैं सर्वत्र भगवान् और उनके मङ्गलमय भावोंको देखूँगा। सदा सद्विचार करूँगा, मेरे मुखसे सदा भगवान्‌की महिमाको बतानेवाले, सबका हित करनेवाले, सुख पहुँचानेवाले सत्य, मधुर और पवित्र वचन ही निकलेंगे।

निश्चय करो—मैं कभी कोई ऐसा काम नहीं करूँगा, जो श्रीभगवान्‌की प्रसन्नताका कारण न हो। सदा उनकी सेवाके लिये ही उनके प्रीतिकर कर्म करूँगा। मेरी इच्छा सदा उन्हीं कर्मोंके करनेकी होगी, जिनसे भगवान् और उन्हींके अभिव्यक्त रूप जगत्‌के प्राणियोंको सुख होता हो।

निश्चय करो—मुझे कभी भी सद्विचार तथा सत्कर्मको छोड़कर अन्य किसी भी विचार तथा कर्मके लिये अवकाश ही नहीं मिलेगा। मन तथा शरीर नित्य भगवान्‌की सेवामें ही लगे रहेंगे। एक क्षणका भी सेवा-वियोग मुझको सहन नहीं होगा।

निश्चय करो—मेरा कभी कोई अमङ्गल नहीं हो सकता, मेरा कभी कोई बुरा नहीं कर सकता। क्योंकि सभीमें सभी समय मेरे भगवान् ही निवास करते हैं और मेरे लिये जो कुछ भी, जिस किसीके द्वारा भी होता है, सब भगवान्‌के मङ्गलमय विधानसे मेरे मङ्गलके लिये ही होता है।

निश्चय करो—संसारमें मुझको कोई भी मनुष्य या घटना कभी भी निराश या उदास नहीं कर सकते; क्योंकि मेरे परम सुहृद् भगवान् नित्य स्वाभाविक ही मेरा मङ्गल करते रहते हैं। और जब सर्वशक्तिमान्, सर्वत्र विराजमान मेरे प्रभु मेरे मङ्गल-विधानमें संलग्न हैं, तब सफलतामें संदेहको स्थान ही कहाँ है, जिससे निराशा और उदासीकी सम्भावना हो।

निश्चय करो—जब भगवान्‌के मङ्गलमय राज्यमें अमङ्गलको स्थान ही नहीं है, तब अमङ्गलकी कल्पना करके मैं क्यों व्यर्थ ही अमङ्गलको बुलाऊँ?

निश्चय करो—जब सभीमें मेरे भगवान् भरे हैं, तब सभी मङ्गलसे ही ओतप्रोत है। फिर मैं किसीमें अमङ्गलके दर्शन करके इस सत्यका हनन क्यों करूँ?

निश्चय करो—जब सर्वत्र और सदा मङ्गल-ही-मङ्गल और आनन्द-ही-आनन्द है, तब मैं सदा आनन्दमें ही निमग्न रहूँगा। जीवन-मृत्यु, लाभ-हानि, सुख-दुःख, मान-अपमान, स्तुति-निन्दा—किसी भी बाहरी अवस्थाका मेरी इस नित्य आनन्दमयी स्थितिपर कोई प्रभाव नहीं पड़ सकेगा।

याद रक्खो—यहाँ जो तुम्हें दोष, दुःख, अमङ्गल तथा अशुभ दीखता है, वह इसीलिये दीखता है कि तुम सदा सर्वत्र नित्य मङ्गलमय और आनन्दमय भगवान्‌को नहीं देख पा रहे हो। यहाँ जो कुछ ऊपरसे दीखता है—वह उन मङ्गलमय भगवान्‌के ही विभिन्न छद्मवेष हैं। उन्हींकी लीलाके विविध दृश्य हैं। इनकी आड़में नित्यानन्द घनस्वरूप भगवान् सदा विराजमान हैं।

याद रक्खो—तुम अशुभकी कल्पना करते हो, इसीसे तुम्हें दुःख होता है। किसी भी अशुभसे अशुभ कहे और माने जानेवाले पदार्थ और भावमें भी, गहराईसे देखोगे तो, तुम्हें परम शुभ और परम सुखरूप भगवान् छिपे दिखायी देंगे। जहाँ जाओ, जहाँ देखो, उन्हें ही देखनेका प्रयत्न करो। अपनी तीक्ष्ण दृष्टिसे उन्हींका अनुसन्धान करो। उन्हें पहचान लो और निहाल हो जाओ।

'शिव'

समयकी सार्थकता

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

श्रीभर्तृहरिजी कहते हैं—

आदित्यस्य गतागतैरहरहः संक्षीयते जीवितं
व्यापारैर्बहुकार्यभारगुरुभिः कालो न विज्ञायते ।
दृष्ट्वा जन्मजराविपत्तिमरणं त्रासश्च नोत्पद्यते
पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरामुन्मत्तभूतं जगत् ॥

'सूर्यके उदय और अस्त—गमनागमनके द्वारा दिन-प्रतिदिन आयु नष्ट होती जा रही है; किंतु व्यापार-व्यवहारसम्बन्धी अनेक गुरुतर कार्यभारोंके कारण मनुष्यको इसका पता नहीं रहता कि कितना समय बीत गया और उसे जन्म, बुढ़ापा, विपत्ति तथा मृत्युको देखते हुए भी उनसे भय उत्पन्न नहीं होता । इस प्रकार यह समस्त जगत् प्रमादरूपी मोहमयी मदिराको पीकर उन्मत्त हो रहा है अर्थात् वह अपने कर्तव्या-कर्तव्यके विवेकसे शून्य हो प्रमत्तकी भाँति सो रहा है ।'

ऐसी दशामें इस प्रमादसे सावधान होकर हमें विचार करना चाहिये कि हमारे जीवनका कितना समय चला गया—जीवनके कितने वर्ष कम हो गये । विचारनेपर पता लगेगा कि हमारा बहुत समय चला गया, समय बीता ही जा रहा है और आयु बहुत ही कम रह गयी है । अतः मनुष्यको अपने जीवनका जो मुख्य लक्ष्य है, जो प्रथम कर्तव्य है, उसकी ओर ध्यान देना चाहिये और अपने कामको शीघ्र बनानेका प्रयत्न करना चाहिये ।

बंगालकी एक सुनी हुई घटना है—कहाँतक सच्ची है, पता नहीं । एक धनी सेठके यहाँ एक दिन दूध बेचनेवाली ग्वालिन आयी और उसने दूध देकर मुनीमसे उसकी कीमत माँगी । मुनीमने उससे कहा—'पहले बाजारका सौदा कर आ, घर जाते समय पैसा ले जाना ।' वह बेचारी उस समय चली गयी और बाजारका काम करके फिर सेठके यहाँ आयी और मुनीमसे पैसा माँगा । मुनीम कुछ कार्यव्यस्त थे । उन्होंने कहा—'अभी ठहरो ।' उस स्त्रीने दो-तीन बार पैसा माँगा; परंतु मुनीमजी वही जवाब देते रहे । आखिर, जब सूर्यास्त होनेको आया और मुनीमने पैसे नहीं दिये, तब वह स्त्री दुःखित हृदयसे बँगलामें ही बोली—'आर बेला नाइ'—अब समय नहीं है, मुझे बहुत दूर जाना है, सूर्य भगवान् अस्ताचलको जा रहे हैं ।' सेठजी भी उस समय पासमें ही बैठे काम कर रहे थे । उस बंगालिनके लाचारीके शब्द उनके कानोंमें पड़े । उन्होंने मुनीमसे कहकर उसके पैसे दिलवा दिये । सेठजीके हृदयमें उसकी वह वाणी चुभ गयी । उन्होंने उसी समय मुनीमसे कहा—'मेरा तलपट देखो और सब कारोबार बंद कर दो ।' मुनीमजी उनकी यह बात सुनकर आश्चर्यमें पड़ गये और बोले—'आप इस तरह क्या कह रहे हैं ?' सेठजीने कहा—'तुमने नहीं सुना, दूधवाली ग्वालिन क्या कह रही थी ? उसने कहा था 'आर बेला नाइ ।' बात बहुत ही सत्य है । जीवन-सन्ध्या आ गयी, भैया ! मुझको भी अब समय कहाँ ?' इस प्रकार कह, काम-काजका सब प्रबन्ध करके सेठजी घरसे चल दिये और अपनी शेष आयु अहर्निश हरिभजनमें ही बिताने लगे ।

हमलोगोंको इस घटनापर विशेषरूपसे ध्यान देना चाहिये । हमारी आयु प्रतिक्षण बीत रही है । जिनकी उम्र चालीस-पचास वर्षकी हो गयी, उनकी तो अधिकांश आयु बीत चुकी, थोड़ी ही बाकी रही है । जिनकी उम्र छोटी है, उनका भी क्या भरोसा ? मानव-जीवनकी पूर्णायु सौ वर्षकी बतलायी जाती है; किंतु आजकल पूरी आयु प्राप्त होनी कठिन है । आजकल तो अस्सी वर्षको ही पूर्ण आयु समझना चाहिये और इस परिमित आयुके हिसाबसे तो हमारे पास बहुत ही

स्वल्प समय बचता है। इसलिये हमें सचेत होकर जल्दी अपना काम बना लेना चाहिये। हमें चाहिये कि हम अपनी आयुके बचे हुए समयको इस प्रकार काममें लायें कि शीघ्र ही उसे सुधारकर अपने जीवन-को उन्नत बना सकें।

इसके लिये एक ऐसी कीमती बात बतलायी जाती है, जिसे सभी वर्गके मनुष्य कर सकते हैं और जो सुगम-से-सुगम है। इसमें न तो अधिक बुद्धिकी आवश्यकता है और न अधिक परिश्रमकी ही। निर्गुण-निराकारकी उपासनाको समझनेके लिये तीव्र बुद्धिकी आवश्यकता पड़ती है, किंतु इसमें नहीं। और यह इतनी सुगम होनेपर भी सर्वोत्तम महान् फल देनेवाली है। यह है ईश्वरकी अनन्यभक्ति। यह तो अंधे मनुष्यको लकड़ी पकड़ाकर ले जाने और उसे पार कर देनेके समान बड़ा ही सरल, सीधा और निश्चित मार्ग है। भगवद्भक्तिका यह मार्ग इतना सुगम, निष्कण्टक और अन्धकाररहित है कि इसमें कहीं भी ठोकर खाने या गिरनेका भय नहीं। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

ये वै भगवता प्रोक्ता उपाया ह्यात्मलब्धये।
अञ्जः पुंसामविदुषां विद्धि भागवतान् हि तान्॥
यानास्थाय नरो राजन् न प्रमाद्येत कर्हिचित्।
धावन् निमील्य वा नेत्रे न स्खलेन्न पतेदिह॥
(११।२।३४-३५)

'राजन्! अज्ञ मनुष्योंको भी शीघ्र ही निश्चयपूर्वक परमात्माकी प्राप्ति करा देनेके लिये जो उपाय भगवान्ने बतलाये हैं, उन्हें ही तुम भगवत्सम्बन्धी धर्म जानो, जिनका आश्रय लेकर मनुष्य कहीं भी प्रमादमें नहीं पड़ता। यदि वह आँखें मूँदकर दौड़ता हुआ उस मार्ग-पर चले, तो भी न तो कहीं फिसलता है और न कहीं गिरता ही है।'

जिस प्रकार सूरदासजीको रास्ता बतानेके लिये भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं आ गये थे, इसी तरह वे भक्तिका आश्रय लेनेवालोंको आगे-आगे रास्ता बतलानेके लिये आ जाते हैं। जब सूरदासजी बेलके काँटोंसे आँखें फोड़कर जंगल-जंगलमें भगवान्के दर्शनकी लालसासे घूम रहे थे, उस समय भगवान्ने बालकके रूपमें आकर उनको अपने हाथसे मिठाई दी। उस दुर्लभ प्रसादको पाकर सूरदासजीका हृदय आनन्दातिरेकसे छलकने लगा। उनके पूछनेपर बालक साधारण परिचय देकर चला गया। एक दिन जब वह फिर आया, तब वृन्दावन ले चलनेकी बात हुई। वह सूरदासजीकी लाठी पकड़-कर उन्हें मार्ग दिखानेके लिये आगे-आगे चलने लगा। सूरदासजीने उसका हाथ पकड़ लिया। भगवान्के हाथका स्पर्श होते ही उनके शरीरमें बिजली-सी दौड़ गयी। वे समझ गये कि ये साक्षात् भगवान् ही हैं। उन्होंने भगवान्का हाथ और भी जोरसे पकड़ा; पर भगवान्ने झटका देकर छुड़ा लिया। उस समय सूरदास-जीने उनसे कहा—

हाथ छुड़ाये जात हौ निबल जानि कै मोहि।
हिरदै तें जब जाहुगे मरद बदौंगो तोहि॥

'प्राणधन! तुम मुझे निर्बल जान हाथ छुड़ाकर जा रहे हो, इसमें तुम्हारी कोई बहादुरी नहीं। तुम्हारा पौरुष तो मैं तब जानूँ, जब तुम मेरे हृदयसे चले जाओ।'

कितना आत्मबल है! प्रेमकी सुदृढ़ रस्सीसे जिन्होंने अपने हृदयेश्वरको बाँध रक्खा है, उनके हृदयसे भगवान् कैसे जा सकते हैं। उनकी भक्ति और प्रेमको देखकर भगवान् उनके सामने प्रकट हो गये और अपना साक्षात् दर्शन देकर उन्हें कृतार्थ कर दिया।

भगवान्का सहारा लेकर चलनेवालोंके लिये कितना सुगम निश्चित उपाय है! भगवान् स्वयं गीतामें कहते हैं—

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥
(१२।७)

'हे अर्जुन! उन मुझमें चित्त लगानेवाले प्रेमी

भक्तोंका मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसार-समुद्रसे उद्धार करनेवाला होता हूँ ।'

इतना ही नहीं, उस अनन्य भक्तके योगक्षेमका दायित्व भी भगवान् अपने ऊपर ले लेते हैं। वे कहते हैं—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥
(गीता ९ । २२)

'जो अनन्यप्रेमी भक्तजन मुझ परमेश्वरको निरन्तर चिन्तन करते हुए निष्कामभावसे भजते हैं, उन नित्य-निरन्तर मेरा चिन्तन करनेवाले पुरुषोंका योगक्षेम मैं स्वयं प्राप्त कर देता हूँ ।'

अब प्रश्न यह होता है कि इस अनन्य चिन्तनका उपाय क्या है । इसके लिये बहुत सुगम और सर्वोत्कृष्ट उपाय है—सर्वत्र भगवद्बुद्धि ।

भगवान्ने कहा है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥
(गीता ७ । १९)

'बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें तत्त्वज्ञानको प्राप्त पुरुष 'सब कुछ वासुदेव ही है' इस प्रकार मुझको भजता है; वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है ।'

श्रीरामचरितमानसमें श्रीरघुनाथजीने हनुमान्‌जीसे कहा है—

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत ।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत ॥

'जिसकी यह बुद्धि कभी नहीं हटती—सदा अटल रहती है कि यह जो कुछ भी चर-अचररूप संसार है, सब सर्वलोकमहेश्वर भगवान् श्रीहरि ही हैं और मैं उनका दास हूँ, वही अनन्य भक्त है ।'

श्रीभगवान्‌के वचनोंपर विश्वास करके इस भावको समझना चाहिये । जिस तरह आँखोंपर हरे रंगका चश्मा लगा लेनेसे मनुष्यको सब कुछ वैसा ही—हरे रंगका ही दीखने लग जाता है, इसी तरह जो अपने हृदयनेत्रोंपर हरिरूपका चश्मा लगा लेता है, उसे सर्वत्र हरिभगवान् ही दीखने लग जाते हैं। अभिप्राय यह कि अपने हृदयके भावोंको हरिमय बना लेना चाहिये । ऐसा हो जानेपर फिर बाहरसे दूसरी चीज दीखनेपर भी उसके अन्तरमें हरि ही दीखने लगेंगे । जैसे मिट्टीके बने पदार्थ—घड़ा, सकोरा, दीया आदि सब तत्त्वतः एक मिट्टी ही हैं और लौहके बने हुए चाकू, कैंची, तलवार आदि अनेकों पदार्थ लौह ही हैं, उसी प्रकार यह सम्पूर्ण जगत्—समस्त सांसारिक पदार्थ—तत्त्वतः एक हरिभगवान् ही हैं । यही वास्तविक सिद्धान्त है । इसे समझकर प्रयत्न करनेपर शीघ्र ही ऐसा भाव हो सकता है । अनिच्छा या परेच्छासे जो भी चेष्टा-क्रिया हो, उसे भगवान्‌की लीला समझे; क्योंकि जो कुछ भी पदार्थ है, वह भगवान् हैं; अतः उनसे जो चेष्टा होती है, वह भगवान्‌की ही लीला है । इस प्रकारका भाव हो जाय तो फिर क्रोध आदि कोई भी विकार न आयें और परम शान्ति प्राप्त हो जाय । केवल इस प्रकारका भाव बनानेकी आवश्यकता है । आप चाहे कोई काम करें, कुछ भी आपत्ति नहीं; परंतु हृदयमें उपर्युक्त भाव होना चाहिये। इसमें आपका एक भी पैसा खर्च नहीं होता; करनेमें भी कोई परिश्रम नहीं, वरं बड़ी ही सुगमता है और यदि आपमें किसी प्रकारका कोई दोष भी विद्यमान हो तो इस भावमें इतनी शक्ति है कि यह उसे भी जलाकर भस्म कर देगा । केवल आपकी बुद्धिमें यह पवित्रतम भाव हर समय जाग्रत् रहना चाहिये कि 'यह सब कुछ तत्त्वतः एक हरि ही हैं तथा उनसे जो चेष्टा हो रही है, वह उनकी लीला है ।' जिस प्रकार सुनार सोनेके अनेक तरहके गहने बनाता है, किंतु गहनोंके नाना प्रकार बनाते समय भी उसकी बुद्धिमें वह सब

एक सोना ही रहता है तथा गहनोंको घुटालीमें डालकर गलाते समय भी उसकी उन गहनोंमें एक स्वर्ण-बुद्धि ही रहती है, उसी तरह अपने भी 'सब एक भगवान् ही हैं'—यह भाव हरदम बना रहना चाहिये। अभी जो हमारी बुद्धिमें संसारका नानाभाव धँसा हुआ है, वह न होकर उसके बदलेमें एक भगवद्भाव होना चाहिये।

ऊपर यह कहा गया कि 'समय बहुत थोड़ा रहा है'—इस बातको सुनकर घबराना नहीं चाहिये। जो समय बचा है, उसीमें हमारा कल्याण हो सकता है। आप कहें कि क्या जिनकी आयुमें एक-दो दिन ही अवशिष्ट हैं, उनका भी उद्धार हो सकता है, तो यह तो बहुत है; एक-दो घंटे जीनेवालेका भी कल्याण हो सकता है। भागवतकार कहते हैं—

किं प्रमत्तस्य बहुभिः परोक्षैर्हायनैरिह।
वरं मुहूर्तं विदितं घटेत श्रेयसे यतः॥
खट्वाङ्गो नाम राजर्षिर्ज्ञात्वेयत्तामिहायुषः।
मुहूर्तात्सर्वमुत्सृज्य गतवानभयं हरिम्॥
(२।१।१२-१३)

'भगवान्से विमुख और विषयासक्त रहकर संसारमें बहुत वर्षोंतक जीनेसे भी क्या लाभ? हमें तो जिससे कल्याणकी प्राप्ति हो, ऐसा (भगवद्भक्तियुक्त) एक मुहूर्तका जीवन भी अच्छा प्रतीत होता है। राजर्षि खट्वाङ्गको जब अपनी आयुका अन्त विदित हुआ, तब वे एक ही मुहूर्तमें सर्वस्व यहीं छोड़कर अभय देनेवाले श्रीहरिको प्राप्त हो गये।'

किसी कविने भी कहा है—

जीवन थोड़ा ही भला, जो हरि-सुमरन होय।
लाख बरसका जीवना लेखे धरै न कोय॥

बस, इसके लिये एक ही शर्त है—श्रीभगवान्को कभी मत छोड़ो। उन्हें हर वक्त याद रक्खो। भगवान्ने गीतामें कहा है—'मच्चित्तः सततं भव'(१८।५७)—निरन्तर मुझमें चित्तवाला हो।

जो हर वक्त भगवान्को याद रखता है, उसे भगवान् कैसे छोड़ सकते हैं। सदा भगवच्चिन्तन करनेवालेको अन्तकालमें भी भगवान्की स्मृति रहेगी ही और अन्तकालमें स्मृति बनी रहेगी तो कल्याण हो जायगा, इसमें कोई भी शङ्का नहीं है। स्वयं भगवान् कहते हैं—

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥
(गीता ८।५)

'जो पुरुष अन्तकालमें भी मुझको ही स्मरण करता हुआ शरीरको त्यागकर जाता है, वह मेरे साक्षात् स्वरूपको प्राप्त होता है—इसमें कुछ भी संशय नहीं है।'

आप कहें कि निरन्तर स्मरण होता नहीं; तो इसका हेतु यही है कि श्रद्धाकी कमीके कारण निरन्तर स्मरणके रहस्य और प्रभावको आप नहीं जानते। नदीमें डूबनेवाले किसी आदमीको यदि नौकाका रस्सा पकड़में आ जाय तो क्या फिर वह किसीके कहनेपर भी उसे छोड़ सकता है? कभी नहीं। वैसे ही यदि भगवान्पर आपको विश्वास हो तो क्या आप भगवान्को छोड़ सकते हैं। यह संसार समुद्र है। इसमें भगवान्के चरण ही सुदृढ़ नौका हैं। जो मनुष्य भगवच्चरण-कमलोंको भक्तिपूर्वक पकड़ लेता है, वह बिना किसी परिश्रमके ही पार हो सकता है। उन सर्वशक्तिमान् भगवान्की शरण लेना ही उनके चरणोंको पकड़ना है और हर समय उनको याद रखना ही उनकी शरण लेना है; इसीका नाम भक्ति है।

यदि कहें कि निरन्तर उनका चिन्तन होना कठिन है, तो यह बात नहीं है। केवल आपने इसे कठिन मान रक्खा है, इसीसे आपको यह कठिन प्रतीत हो रहा है। आप उसके असली तत्त्व और रहस्यको अभी समझे नहीं; यदि तत्त्व और रहस्यको समझ जाते तो

कभी उन्हें छोड़ नहीं सकते। यदि आप यह समझ जाते कि जहाँ भगवच्चिन्तन छूटा कि समुद्रमें डूबे, तो फिर आपसे भूल नहीं हो सकती। डूबनेवाला व्यक्ति इस तत्त्वको जानता है कि नौकासे ही उसकी रक्षा सम्भव है; अतः वह उसे एक बार पकड़ लेनेपर फिर छोड़ता ही नहीं।

यदि कहें कि हम तो पापी हैं, हमारा उद्धार इतना शीघ्र कैसे हो सकता है, तो इसके लिये भी डरनेकी कोई बात नहीं है। भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥
(गीता ९। ३०-३१)

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त होकर मुझको भजता है तो वह साधु ही मानने योग्य है; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है। अर्थात् उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है। वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है। हे अर्जुन! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता।'

जो प्राणपणसे साधनमें लग जाता है, कभी भी जी नहीं चुराता, अकर्मण्य नहीं होता—कमकसपना नहीं करता, उसके लिये कहीं कोई बाधा नहीं आती। जिसे एकमात्र भगवान्‌पर ही विश्वास है, जिसकी बुद्धिमें यह निश्चय हो गया है कि भगवान्‌से ही मेरा उद्धार होगा एवं जो दृढ़ विश्वासपूर्वक भगवान्‌के ही शरण हो गया है, उसके पास चाहे कितना ही कम समय हो और वह चाहे कैसा भी पापी हो, भक्तिका इतना प्रभाव है कि वह उसे तार ही देती है।

यदि कहें कि जिनमें ज्ञान नहीं है तथा जो मूर्ख हैं, उनका भी कल्याण हो सकता है क्या, तो हम कहेंगे, निश्चय हो सकता है। श्रीभगवान्‌ने बतलाया है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
(गीता १०। १०)

'उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥
(गीता १३। २५)

'परंतु इनसे दूसरे, अर्थात् जो मन्द बुद्धिवाले पुरुष हैं, वे इस प्रकार न जानते हुए दूसरोंसे अर्थात् तत्त्वके जाननेवाले पुरुषोंसे सुनकर ही तदनुसार उपासना करते हैं और वे श्रवणपरायण पुरुष भी मृत्युरूप संसार-सागरको निःसन्देह तर जाते हैं।'

भाव यह कि कोई कैसा भी अज्ञानी या मूर्ख क्यों न हो, यदि वह ईश्वरकी अनन्यभक्ति करने लगे या ज्ञानी महात्माके पास जाकर उनसे जो भी सुननेको मिले, उसमेंसे जो वह कर सके, उसे ही स्वयं करने लग जाय तो वह भी परमपदको पा सकता है। मूर्ख है तो भी चिन्ता न करे, उसे महात्मा अथवा स्वयं भगवान् ही ज्ञान प्रदान कर सकते हैं। चाहे पापी हो, मूर्ख हो, समय कम हो, तब भी भगवान्‌की कृपासे कल्याण हो सकता है। केवल एक काम हमें करना होगा। 'भगवान् हैं'—ऐसे दृढ़ विश्वासपूर्वक उठते-बैठते, खाते-पीते, चलते-फिरते, सोते-जागते—हर समय हम भगवान्‌को याद रक्खें। आप कहें कि रात्रिमें सोते हुए तो याद नहीं रहता, तो यदि आपका स्मरणका अभ्यास दिनमें बराबर चलता रहेगा तो रात्रिमें भी वही होगा; क्योंकि जो काम दिनमें किया जाता है, वही रात्रिमें स्वप्नमें याद आया करता है। रात्रिमें भी स्मरण होता रहे, इसके लिये एक सरल उपाय है। सोनेके समय

चाहे लेटे हुए ही इसे करें। दस-पंद्रह मिनट पहलेसे संसारके सङ्कल्पोंके प्रवाहको हटाकर भगवान्‌का स्मरण करते हुए तथा उनकी लीलाओंका मनन करते हुए ही सोयें। इससे रात्रिमें भी भगवत्स्मरण बना रह सकता है। अभिप्राय यह है कि हर समय भगवान्‌को याद रक्खें। उन्हें कभी नहीं भुलाना चाहिये। यदि त्रिलोकीका राज्य भी प्राप्त होता हो तो उसे भी अत्यन्त नगण्य समझकर छोड़ दे, किंतु भगवान्‌के चिन्तनको कभी न छोड़े। जो कभी भी भगवान्‌को नहीं भुलाता, जिसके एकमात्र भगवान् ही परम प्रिय और सर्वस्व हैं, वही धन्य है। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

त्रिभुवनविभवहेतवेऽप्यकुण्ठ-
स्मृतिरजितात्मसुरादिभिर्विमृग्यात्।
न चलति भगवत्पदारविन्दा-
ल्लवनिमिषार्धमपि यः स वैष्णवाग्र्यः॥
विसृजति हृदयं न यस्य साक्षा-
द्धरिरवशाभिहितोऽप्यघौघनाशः।
प्रणयरशनया धृताङ्घ्रिपद्मः
स भवति भागवतप्रधान उक्तः॥
(११।२।५३, ५५)

'त्रिभुवनके राज्य-वैभवके लिये भी जिसका भगवच्चिन्तन नहीं छूट सकता, जो भगवान्‌में ही मन लगाये रखनेवाले देवता आदिद्वारा खोज करने योग्य भगवच्चरणारविन्दोंसे आधे पलके लिये भी विचलित नहीं होता, वह भगवद्भक्तोंमें अग्रगण्य है। जो विवश होकर अपना नाम उच्चारण करनेवालेके भी सम्पूर्ण पाप-समूहको ध्वंस कर देते हैं, वे साक्षात् परम ब्रह्म परमेश्वर जिसके हृदयको इसलिये कभी नहीं छोड़ पाते कि उनके चरणकमल प्रेमकी रस्सीसे बँधे हैं, वही भगवद्भक्तोंमें श्रेष्ठ कहा गया है।'

ईश्वरने हमको विवेक, बुद्धि और ज्ञान इसलिये दिया है कि उन्हें हम काममें लायें। बुद्धिमान् पुरुष वही है, जो अपने समयको उत्तम कार्यमें लगाता है, एक क्षण भी व्यर्थ नहीं बिताता। वह जिस कामके लिये आया है, पहले उसी कामको करता है; वह कभी नुकसानका काम नहीं करता, सदा नफेका काम ही करता है और जो ज्यादा कीमती होता है, वही काम करता है, वही समझदार समझा जाता है।

जैसे किसी एक आदमीको जमींदारसे एक खानका एक सालके लिये ठेका मिला। उस खानमें बहुमूल्य हीरा-पन्ना, पत्थर तथा कोयला भरा हुआ है। अब ठेकेदार चाहे उसमेंसे हीरा-पन्ना निकाले, अथवा पत्थर-कोयला ही; या कुछ भी न निकाले अथवा उल्टे उसपर अपने घरका कूड़ा-कर्कट ही डाले। यह सब उसकी इच्छापर निर्भर है। जमींदारकी ओरसे तो उसे पूरा अधिकार है। परंतु समझदार आदमी वही है, जो उसमेंसे हीरे-पन्ने-रत्न निकालता है। वह तो मूर्ख है, जो कोयला-पत्थर निकालता है और वह उससे भी ज्यादा मूर्ख है, जो उसमेंसे कुछ भी नहीं निकालता, केवल फुलवाड़ी लगाता है। तथा वह तो उससे भी महान् मूर्ख है, जो उल्टे उसपर कूड़ा-कर्कट डालता है। इसी प्रकार भगवान्‌ने यह शरीररूपी क्षेत्र (खेत) हमें दिया है। जो इसके तत्त्वको समझ गया, वह तो इससे बढ़िया-बढ़िया काम लेता है। नवधा भक्तिके नाना प्रकारके अङ्ग ही नाना प्रकारके रत्न हैं, इससे जो उनका उपार्जन करता है, वह चतुर है। जो इसे संसारी स्त्री-पुत्र, धन आदि पदार्थोंके बटोरनेमें लगाता है, वह पत्थर-कोयला निकालनेवालेके समान मूर्ख है। इसे केवल सँवारने-सजानेमें ही समय बितानेवाला उससे भी ज्यादा मूर्ख है; तथा वह तो और भी महान् मूर्ख है, जो अपने समयको झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार इत्यादि पापोंको बटोरने और लोगोंकी निन्दा करनेमें बिताता है। समझदार आदमीको चाहिये कि वह समय रहते ही अपना काम बना ले। शरीर तो नाशवान् है; जितने दिनका ठेका मिला है, उतने ही दिन रहेगा—

जितने श्वास हैं, उतने ही आयेंगे; इसलिये प्राण रहते-रहते ही इससे जितना ऊँचे-से-ऊँचा काम ले लिया जाय, वही सर्वोत्कृष्ट है। नहीं तो समय बीत जानेपर फिर पछतानेके सिवा और कुछ हाथ नहीं लगनेका। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोष लगाइ॥

हमें विचार करना चाहिये कि यह शरीर क्यों मिला है। यह हमें मिला है—भगवान्‌को पानेके लिये। हमलोगोंका अभी जिस काममें समय बीतता है, वह प्रायः व्यर्थ बीतता है। जो काम केवल इन्द्रियोंसे होता है, उसकी कोई विशेष कीमत नहीं। जो काम मनसे होता है, वही दामी है। हमें देखना चाहिये कि हमारा मन क्या कर रहा है। आप क्रियासे तो पूजा करने बैठे हों; पर आपका मन यदि संसारमें चक्कर लगा रहा है तो यह कार्य कीमती नहीं, यह तो रत्नोंके बदले पत्थर निकालना है। किसी कविने कहा है—

माला तो करमें फिरै, जीभ फिरै मुख माहिं।
मनुवाँ तो चहुँ दिसि फिरै, यह तो सुमरन नाहिं॥

अतः बुद्धिसे विचारना चाहिये। विचारकर देखेंगे तो आपको पता लगेगा कि हमारा मन भजनमें एक आना भी नहीं लगता तथा स्वार्थमें दो-तीन आना लगता है और बाकी बारह आना तो व्यर्थ ही जाता है—यानी आलस्य, प्रमाद, भोग, पाप और व्यर्थ-चिन्तनमें ही जाता है, जिससे न इस लोकमें कोई लाभ है और न परलोकमें ही; बल्कि उल्टे महान् हानि-ही-हानि है। इसलिये मनुष्यको विवेकपूर्वक विचार करके अपना सुधार करना चाहिये। यदि आप इसे न करेंगे तो दूसरा कौन करेगा? यह आपका खास काम है और यह आपके किये ही होगा, दूसरेके द्वारा यह नहीं किया जा सकता। आप चाहें कि आपकी आत्माके उद्धारका काम धनसे, नौकरसे, मित्रसे या घरवालोंसे करा लिया जायगा तो कभी नहीं होनेका; यह तो आपको ही करना पड़ेगा। अतः सब काम छोड़कर सर्वप्रथम यही काम करना उचित है। साथ ही यह भी ध्यान रहे कि यह कार्य अन्य किसी भी योनिमें सिद्ध होनेवाला नहीं है। अन्य सब तो भोग-योनियाँ हैं। जब कभी होगा तो इस मानवयोनिमें ही होगा और यह मानवजीवन दुबारा फिर कब मिलेगा, इसका कोई ठिकाना नहीं। अन्य संसारी कार्योंमें तो यदि कुछ बाकी भी रह जायगा तो आपके उत्तराधिकारी उसे पूरा कर लेंगे या कोई नहीं भी करेगा तो उससे आपकी कुछ भी हानि नहीं है; किंतु साधनमें यदि कमी रह गयी तो उसकी पूर्ति कोई भी नहीं कर सकता। आत्मोद्धारमें थोड़ा-सा भी काम बाकी रह जायगा तो आपके लिये महान् हानि है! आपने संसारी कामोंको अज्ञानतावश ही जरूरी समझ रक्खा है, यह आपकी महान् भूल है। यहाँका कोई भी पदार्थ आपके साथ नहीं जानेका। पहले भी कहींसे इनको आप साथ नहीं लाये थे और जाते समय भी कोई साथ नहीं जायगा। मरनेके बाद सब यहीं रह जाते हैं; केवल पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच प्राण, मन और बुद्धि—ये सत्रह तत्त्व आपके साथ जायँगे। जो साथ जानेवाले हैं, उन्हें ही अच्छे बनायें। इनमें उत्तम-उत्तम गुण और आचरणरूप पदार्थ भर लेने चाहिये, जिससे यहीं काम बन जाय। यदि किसी कारणसे किञ्चित् कमी भी रह गयी तो योगभ्रष्ट होकर दूसरे जन्ममें उद्धार हो जायगा। इसलिये हमें इसमें दैवी सम्पदाके ही गुण और आचरण भरने चाहिये। आसुरी सम्पदाके अवगुण भरना तो कूड़ा-कर्कट इकट्ठा करना है। जो भी बुरा भाव और बुरा कर्म है, उसे तो निकाल देना चाहिये। जैसे किसी स्त्रीको देखकर हमारे मनमें बुरा भाव होता है तो उसे निकालकर नेत्रोंमें अञ्जन लगा लेना चाहिये। अञ्जन क्या है? उसे माता, बहिन, लड़कीके रूपमें समझना ही अञ्जन लगाकर देखना है। इसी प्रकार कान, वाणी आदि सभीको पवित्र बनाना चाहिये। तथा

हृदयमें भगवान्‌की लीला और भक्तोंके चरित्र आदि उत्तम बातोंको भरना चाहिये। यदि हम ऐसा नहीं करेंगे तो हमारा कल्याण सम्भव नहीं। कविने कहा है—

जाकी पूँजी साँस है, छिन आवै छिन जाय।
ताको ऐसो चाहिये रहै राम लौ लाय॥

इस पूँजीसे सर्वोत्तम लाभ उठाना चाहिये। यह मनुष्य-शरीर ही खेत यानी कर्मभूमि है, अन्य सब योनियाँ तो ऊसर भूमि हैं। इसमें चाहे आप मेवा पैदा कर लें, चाहे बबूल। मेवा क्या है?

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥
(श्रीमद्भा० ७।५।२३)

'भगवान् विष्णुके नाम, रूप, गुण और प्रभावादिका श्रवण, कीर्तन और स्मरण तथा भगवान्‌की चरणसेवा, पूजन और वन्दन एवं भगवान्‌में दासभाव, सखाभाव और अपनेको समर्पण कर देना—यह नौ प्रकारकी भक्ति है।'

यह नौ प्रकारकी भक्ति ही मेवा है। भक्तिके इन नौ प्रकारके अङ्गोंमेंसे एक भी कर लें तो भगवान् मिल जायँ; फिर जिसमें ये सभी हों, उसका तो कहना ही क्या है! वह तो बहुत ही उत्तम है।

केवल श्रवणभक्तिसे राजा परीक्षित् तथा धुन्धुकारी आदि; कीर्तनसे नारदजी, तुलसीदासजी, सूरदासजी, गौराङ्ग महाप्रभु आदि; स्मरणसे ध्रुव आदि; पादसेवनसे लक्ष्मी, भरत, केवट आदि; पूजनसे पृथु, द्रौपदी, गजेन्द्र, भीलनी, रन्तिदेव आदि; नमस्कारसे अक्रूर आदि; दास्यभावसे हनूमान् आदि; सख्यभावसे सुग्रीव, अर्जुन आदि एवं आत्मनिवेदनसे बलि आदि भगवान्‌को प्राप्त हो गये हैं।

अतएव हमें इन सब बातोंपर विचार करके कटिबद्ध होकर जल्दी-से-जल्दी उस कामको बना लेना चाहिये, जिसके लिये हमें यह मानवदेह प्राप्त हुआ है। भागवतकार चेतावनी देते हुए कहते हैं—

लब्ध्वा सुदुर्लभमिदं बहुसम्भवान्ते
मानुष्यमर्थदमनित्यमपीह धीरः।
तूर्णं यतेत न पतेदनुमृत्यु याव-
न्निःश्रेयसाय विषयः खलु सर्वतः स्यात्॥
(११।९।२९)

'यह मनुष्यदेह अनित्य होनेपर भी परम पुरुषार्थका साधन है। अतः अनेक जन्मोंके अनन्तर इस दुर्लभ नर-देहको पाकर बुद्धिमान् पुरुषको उचित है कि जबतक यह पुनः मृत्युके चंगुलमें न फँसे, तबतक शीघ्र ही अपने कल्याणके लिये प्रयत्न कर ले; क्योंकि विषय तो सभी योनियोंमें प्राप्त होते हैं (इनका संग्रह करनेमें इस अमूल्य अवसरको कदापि न खोये)।'

राम-रंग

कर्म करूँ इसलिये, प्राप्त हों प्रियतम प्यारे।
नहीं चाहना अन्य, परम धन वही हमारे॥
छोड़ा जगका संग, सभीसे रहते न्यारे।
सबसे हूँ निर्वैर, सभी हैं रूप तुम्हारे॥
स्वामी माता पिता गुरु मित्र बन्धु सतसंगि तुम।
पिचकारी-सा मन मेरा भर जाओ बन रंग तुम॥

—श्रीनयनजी

योग और परकाय-प्रवेश

(लेखक—महामहोपाध्याय डा० श्रीगोपीनाथजी कविराज, एम्०ए०, डी०लिट्०)

योगशास्त्रकी आलोचना करनेपर यह स्पष्ट समझमें आ जाता है कि योगीके आत्मविकाशके लिये परकाय-प्रवेशका एक विशेष स्थान है; परंतु यह भी अवश्य ही सत्य है कि स्वयं योगमार्गमें प्रविष्ट न होकर केवल शास्त्रकी आलोचनाके द्वारा इस रहस्यको समझना सम्भव नहीं। भगवान् शङ्कराचार्यने किसी विशिष्ट प्रयोजनको साधनेके लिये परकाय-प्रवेश किया था, यह उनके जीवनचरितके पढ़नेसे जाना जाता है। बहुत-से लोगोंकी यह धारणा है कि परकाय-प्रवेश एक साधारण विभूतिमात्र है तथा अन्यान्य विभूतियोंके समान अध्यात्म-मार्गमें अग्रसर होनेवाले योगीके लिये वह उपेक्षणीय है। यह धारणा निराधार है, यह बात परकाय-प्रवेशके तत्त्वकी आलोचना करनेपर शीघ्र ही समझमें आ जायगी।

प्रचलित योगमार्गके जो आठ अङ्ग हैं, उनमें पाँच बहिरङ्ग तथा तीन अन्तरङ्गके नामसे प्रसिद्ध हैं। अन्तरङ्ग योगके प्रारम्भमें ही धारणाका स्थान निर्दिष्ट है। चित्तको देहके किसी अंशमें बद्ध कर रखनेका अभ्यास धारणाकी सिद्धिके लिये एकान्त आवश्यक है। चित्त स्वभावतः ही चञ्चल है, यह कहीं आबद्ध होकर रहना नहीं चाहता; परंतु अभ्यासके द्वारा दीर्घकालके पश्चात् इसे इस प्रकार आबद्ध करना सम्भव हो जाता है। चित्तको आबद्ध न कर सकनेपर ध्यान और समाधिकी आशा दुराशामात्र है। यह जो धारणाकी बात कही गयी है, वह अपने देहको आश्रय बनाकर ही की जाती है; किंतु योगीके लिये विदेह धारणाकी भी आवश्यकता है। विदेह धारणाका तात्पर्य है कि चित्तको देहमें प्रतिष्ठित रखते हुए भी उसकी वृत्तिको देहके बाहर किसी अभीष्ट स्थानमें भेजा जा सके। चित्तके स्वरूप तथा उसकी वृत्तिमें जो भेद है, उसे इस प्रसंगमें स्मरण रखना उचित है। चक्षुसे जिस प्रकार समस्त चाक्षुष रश्मियाँ निकलती हैं तथा वे बाह्य दृश्य पदार्थके साथ युक्त होकर उसके आकारमें परिणत हो जाती हैं, उसी प्रकार चित्तसे भी रश्मियाँ निकलकर बाह्य पदार्थोंमें कार्य करती हैं। इस प्रकार दूरवर्ती वस्तुमें धारणाका अभ्यास सिद्ध हो जानेपर उस पदार्थका ध्यान, उसमें चित्तकी समाधि और उसके फल-स्वरूप उस पदार्थका साक्षात्कार प्राप्त हो जाता है। विदेह धारणाके बिना बाह्य पदार्थका अपरोक्ष ज्ञान नहीं हो सकता। शास्त्रमें अनेकों स्थानोंमें 'योगज प्रत्यक्ष' नामसे जिस अलौकिक प्रत्यक्षका उल्लेख पाया जाता है, उपर्युक्त साक्षात्कार उसीका एक प्रकारभेदमात्र है।

चित्तकी अनन्त रश्मियाँ हैं; परंतु किसी एक विशिष्ट पदार्थका साक्षात्कार करनेके लिये उसमें केवल एक रश्मिका सञ्चार आवश्यक होता है, अनेक रश्मियोंका नहीं। किंतु योग-शक्तिके क्रमिक विकाशके फलस्वरूप जब एक रश्मिके समान अन्यान्य समस्त रश्मियोंका सञ्चार हो जाता है, तब बाह्य जगत्के समस्त पदार्थोंके विषयमें प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है। यह सत्य है कि पदार्थ अनन्त हैं और चित्तकी रश्मियाँ भी अनन्त हैं; परंतु किसी विशिष्ट पदार्थका स्मरण करके उसमें रश्मिप्रयोग करनेसे कभी अनन्त पदार्थोंका ज्ञान नहीं हो सकता। इसी कारण खण्ड-खण्डरूपसे होनेवाले पृथक् पदार्थके ज्ञानसे जगत्के समस्त पदार्थोंका तथा वर्तमानके समान ही अतीत और अनागत समस्त विषयोंका ज्ञान सम्भव नहीं होता। सामान्य और विशेष भावमें परस्पर सम्बन्ध है। अतएव विशेष पदार्थमें संयम करके जिस प्रकार उसका अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है, उसी प्रकार सम्पूर्ण विशेषोंके व्यापक महासामान्यका अवलम्बन करके उसके संयमके द्वारा सर्वज्ञानकी उत्पत्ति हो सकती है।

विदेह धारणाका अभ्यास करके खण्डरूपसे अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त होनेपर भी इस ज्ञानमें ज्ञेय विषयका ज्ञेयरूपमें ही प्रतिभास होता है, ज्ञातारूपमें नहीं। अर्थात् प्रत्येक व्यक्तिका व्यक्तित्व इस ज्ञानका विषय नहीं बनता; क्योंकि एक अखण्ड चैतन्यके साथ व्यक्तित्व-नियामक अवच्छेदक-स्वरूप मनका सम्बन्ध रहनेके कारण उपर्युक्त व्यक्तिका वैशिष्ट्य निरूपित होता है। खण्डरूपमें आत्मा अनन्त हैं तथा मन भी अनन्त हैं। केवल यही बात नहीं, प्रत्येक आत्माके साथ उसके स्वकीय मनका सम्बन्ध भी पहलेसे ही निर्दिष्ट रहता है। आत्मा शुद्ध चिन्मात्र तथा सर्वत्र समभावापन्न होनेपर भी जैसे आत्मा-आत्मामें भेद होता है, ठीक वैसे ही मनका स्वरूप और प्रकृति भी सामान्यतः एक प्रकारकी होनेपर भी विभिन्न मनोंमें पारस्परिक भेद सृष्टि-कालसे ही चला आता है। केवल इतना ही नहीं; आत्माके

साथ मनका विशिष्ट सम्बन्ध भी पहलेसे ही निश्चित रहता है। इन समस्त कारणोंसे व्यक्तित्व स्वीकार किये बिना काम चल नहीं सकता। इसी कारण विदेह धारणासे जो प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है, उससे व्यक्तित्वमूलक ज्ञानका उदय नहीं हो सकता। प्रत्येक जीव व्यक्तित्वसम्पन्न होता है। इसका तात्पर्य यही है कि उसका एक अपना मन है। जबतक उस मनके साथ योगी योगबलके द्वारा अपने मनका तादात्म्य सम्पादन नहीं कर लेता, तबतक उस व्यक्तिगत जीवनके सुख-दुःख और विशेष अनुभूतियोंको वह ठीक उस रूपमें ग्रहण नहीं कर सकता, जिस रूपमें ग्रहण करनेपर वे उस व्यक्तिके ही जीवनकी अनुभूतिके अंशरूपमें अङ्गीकृत किये जा सकें। किसी व्यक्तिके साथ सब प्रकारसे अभिन्न होनेपर जबतक अभेद बना है, तबतक उसकी सुख-दुःखादि समस्त अनुभूतियाँ और संस्कार योगीके अपने हो जाते हैं। ऐसी अवस्थामें आकर्षण और विकर्षण दोनों ही सम्भव हो जाते हैं।

विदेह धारणासे इस प्रकार अभेद भावकी उत्पत्ति नहीं हो सकती; क्योंकि इस धारणाके लिये योगीको अपने मनके द्वारा प्रत्यक्षतः कोई कार्य करना नहीं पड़ता। मनकी रश्मिके द्वारा ही अभीष्ट कार्य सम्पादित हो जाता है। अर्थात् योगीका मन जिस प्रकार पहले देहावच्छिन्न था, वैसा ही रहता है; परंतु दूरवर्ती वस्तुका आश्रय लेकर केवल उसके वृत्तिरूपमें परिणत होता है। साधारण निकटवर्ती वस्तुके प्रत्यक्षके समय जिस प्रकार अन्तःकरणका परिणाम होता है, यह भी ठीक वैसे ही होता है। केवल एक अंशमें पृथक्ता होती है। लौकिक प्रत्यक्षके समय तो इन्द्रियोंके साथ विषयका लौकिक सन्निकर्ष रहता है; किंतु यहाँ विषय दूरवर्ती होता है और लौकिक इन्द्रियोंके लिये गोचर नहीं होता, अतएव इन्द्रियोंके साथ विषयका सन्निकर्ष लौकिक न होकर अलौकिक हो जाता है। इसका भी एक कारण है—लौकिक ज्ञानकी अवस्थामें चित्त विक्षिप्त रहता है, परंतु अलौकिक सन्निकर्षकी अवस्थामें वह अपेक्षाकृत एकाग्र हो जाता है। अर्थात् चित्तमें एकाग्रताके उदयके साथ-साथ एक विश्वरूपी आलोकके आविर्भावकी अनुभूति होती है। यह बाहरका आलोक नहीं होता, बल्कि चित्तका स्वभावगत अन्तर्हित आलोक प्रज्ञालोक होता है। विक्षिप्त अवस्थामें चित्त बहिर्मुख रहता है, अतएव इस आलोकका पता उसे नहीं लगता; परंतु आंशिकरूपमें अन्तर्मुखी भावका उदय होनेपर यह आलोक स्वयं ही प्रकाशित हो जाता है। वस्तुतः इस आलोकके ऊपर समस्त तथाकथित बाह्य जगत् प्रतिष्ठित है। इस आलोकका उदय हो जानेपर इच्छा होते ही पूर्व-निर्दिष्ट वस्तु इस आलोकमें प्रकाशित हो उठती है। तब पूर्वोक्त प्रणालीसे चित्तके रश्मिविशेषको अवधानरूपमें उस वस्तुके साथ योजित करना पड़ता है। वस्तुतः साधारणतया यह करना नहीं पड़ता, अपने-आप ही हो जाता है; क्योंकि इच्छा पहलेसे ही रहती है, अतएव आलोकके आविर्भावके साथ-साथ आलोकमें प्रतिभासित वस्तु भी प्रकाशित हो उठती है। इस प्रकार विश्वकी किसी भी वस्तुका योगज सन्निकर्षके द्वारा साक्षात्कार करना सम्भव हो जाता है। यहाँ दृश्य वस्तुके चेतनत्व या अचेतनत्वकी कोई बात नहीं रहती; क्योंकि वास्तवमें तो द्रष्टाकी दृष्टिके सामने भासमान होनेके कारण विश्वकी समस्त वस्तुएँ ही अचेतन हैं।

इस विवरणसे यह समझमें आ सकता है कि किसी मनुष्यका कोई दूरवर्ती योगी यदि विदेह धारणाके द्वारा साक्षात्कार करता है तो यह समझ लेना चाहिये वह साक्षात्कार अन्यान्य अचेतन पदार्थोंके साक्षात्कारके अनुरूप ही होगा। यही क्यों, उस मनुष्यके सुख-दुःख आदि आभ्यन्तर भावसमूह भी परम्परागतरूपमें उस योगीके साक्षात्कारमें आ सकते हैं। परंतु ऐसा होनेपर भी वह मनुष्य विशेष स्वतन्त्र व्यक्तिरूपमें अर्थात् स्वयं भोक्ता बनकर भोग्यस्वरूप इन समस्त आभ्यन्तर भावोंको जिस प्रकार प्राप्त होता है, द्रष्टा योगीके लिये वह सम्भव नहीं होता। योगी तो इन समस्त सुख-दुःख आदि भावोंको ठीक उसी प्रकार अनुभवमात्र करेगा, जिस प्रकार द्रष्टा दृश्यका अनुभव करता है। भोक्ता जिस प्रकार भोग्यरूपमें उन्हें ग्रहण करता है, उस प्रकार योगी नहीं कर सकेगा; क्योंकि वह द्रष्टा होनेके कारण निर्लिप्त, उदासीन तथा स्वच्छ होता है। दर्पण जिस प्रकार स्वच्छ होनेपर भी अपने समीपवर्ती नाना प्रकारके वर्णोंको ग्रहण करता है, योगी भी बहुत कुछ वैसे ही करता है, उससे अधिक नहीं।

यह एक ओर तो योगीकी निर्विकारताका परिचायक है, परंतु दूसरी ओर यह उसकी शक्तिकी न्यूनताका निदर्शन है। यदि योगी इस प्रकार उदासीन न रहकर भोक्ताके साथ सचमुच ही भोक्ता बन सकता अर्थात् पापीके साथ पापी, पुण्यात्माके साथ पुण्यात्मा, सुखीके साथ सुखी एवं

दुःखीके साथ दुखी बन सकता तथा ऐसा होते हुए भी वह सर्वातीत रह सकता तो उसका महत्त्व अधिक होता। इसको सम्भव बनानेके लिये योगीको अपने मनका विश्लेषण करनेकी सामर्थ्य प्राप्त करना आवश्यक है। तात्पर्य यह है कि मनको शरीरसे बाहर किये बिना केवल देहमें स्थित मनकी वृत्तिके द्वारा यह विशाल कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता। मन देह त्यागकर कभी बाहर नहीं जा सकता। अवश्य ही यह साधारण मनुष्यकी बात है। साधारण मनुष्य केवल मृत्युके समय ही देहसे बाहर निकल सकता है, अर्थात् मृत्युकालमें ही उसके मनका बाहर निकलना सम्भव है; परंतु विशेष योगाभ्यासके फलसे जीवित कालमें ही ऐसा नहीं हो सकता, सो बात नहीं है। इसे सिद्ध करनेके लिये मन और देहके पारस्परिक सम्बन्धको शिथिल करना होगा। मन कर्मके प्रभावसे अहङ्कारके अधीन होकर देहमें आबद्ध हो रहा है। अभिनव कर्मके द्वारा तथा गुरुदत्त कौशलके प्रभावसे जब यह बन्धन क्रमशः शिथिल हो जाता है, तब जिसे ग्रन्थिमोचन कहते हैं वही योगक्रिया निष्पन्न होती है। यद्यपि उस समय भी मन देहको आश्रय करके ही रहता है, तथापि वह इच्छा करनेपर देहको त्याग भी सकता है। इसके बाद एक विषयमें और भी योग्यता प्राप्त करना आवश्यक है। मन जिस समय देहमें सञ्चरण करता है, उस समय जिन मार्गोंका अवलम्बन करके उसे चलना पड़ता है, उनका नाम है 'मनोवहा नाडी'। देहके भीतर असंख्य मनोवहा नाड़ियाँ इधर-उधर प्रवाहित हो रही हैं; परंतु ये बहुधा नाना प्रकारके क्लेद और मलके द्वारा आबद्ध रहती हैं। जब क्रियाके प्रभावसे ये नाड़ियाँ शुद्ध हो जाती हैं, तब मनके लिये सञ्चरण करना सहजसाध्य हो जाता है। देहके भीतर जो नाड़ियाँ हैं, वे केवल देहमें ही हैं—ऐसी बात नहीं है। वे तो शरीरके बाहर विराट् विश्वमें भी फैली हुई हैं। इस नाड़ीजालके द्वारा प्रत्येक मनुष्यके साथ प्रत्येक मनुष्य—यही क्यों, प्रत्येक वस्तुके साथ प्रत्येक वस्तु संश्लिष्ट है। इन सबका ज्ञान न होनेके कारण मनके लिये इच्छानुसार सञ्चरण करना सम्भव नहीं होता। इसके सिवा एक वस्तु और आवश्यक है। जिस देहमें प्रविष्ट होकर भोक्तारूपमें उसके सुख-दुःख तथा अन्यान्य भावोंका अनुभव करना है, उसके साथ योगीके शरीरका योग जिस नाड़ीके द्वारा प्रतिष्ठित है उसे पृथक्‌रूपसे दृष्टिके सामने रखना आवश्यक है। क्योंकि इस मार्गका अवलम्बन करके ही उसे देहसे निकलना होगा। यह जानना बहुत कठिन नहीं है; क्योंकि विदेह धारणाका अभ्यास होनेपर इष्ट व्यक्तिको प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। उस समय उसके साथ जिस सूत्रका योग होता है, उसे पकड़ लेना कठिन नहीं होता।

इस प्रकारकी योग्यता प्राप्त कर लेनेपर योगी महाविदेहा नामकी धारणाके अभ्यासका अधिकारी होता है। इस महाविदेहा धारणाके द्वारा ही परकाय-प्रवेश सम्भव होता है। विदेह धारणा और महाविदेहा धारणा मूलतः अभिन्न हैं, तथापि पहली कृत्रिम है और दूसरी अकृत्रिम—यही पार्थक्य है। विदेह धारणाके अभ्याससे ही क्रमशः महाविदेहा धारणाकी योग्यता प्राप्त हो जाती है। जबतक मन और देहका सम्बन्ध शिथिल नहीं होता, तबतक देहसे मनको बाहर निकालना सम्भव नहीं होता। वस्तुतः जीवित अवस्थामें मनको पूर्णतया बहिर्गत होना कभी सम्भव नहीं होता। मन कुछ अंशमें देहको अवलम्बन करके स्थित रहता है तथा आंशिकरूपमें एक, दो अथवा अनेक होकर वह बहिर्गत होता है। एकको अनेक भागोंमें विभक्त किये बिना महाविदेहा धारणाका सूत्रपात होना कठिन है। मन अर्थात् मूल मन योगीकी इच्छाके अनुसार देहमें रहता है तथा विभक्त किया हुआ मन उससे निकलकर जिस कायामें प्रविष्ट होना होता है, उसके साथ युक्त हो जाता है। दोनोंके साथ अर्थात् देहस्थ मूल मनके साथ पृथक् किये गये अंशरूप मनका एक सम्बन्ध रहता है। अर्थात् दोनों एक सूत्राकार तेजोमय पदार्थके द्वारा जुड़े रहते हैं। यह सूत्र संकोच-विकासशील होता है, विकासके समय प्रयोजन होनेपर इसे इच्छानुसार दूर सञ्चालन किया जा सकता है और संकोचके समय यह मूल मनमें आकर लीन हो जाता है। अभीष्ट कायामें मनको प्रवेश करानेके लिये किसी एक प्रवेशद्वारका अवलम्बन करके ही काम बनाना पड़ता है। जिस कायामें मनको प्रवेश कराना है, उससे सम्बन्धित मनको उद्भूत नहीं किया जायगा, अथवा अपने साथ युक्त नहीं किया जायगा तो प्रवेश करनेवाला मन प्रयोजनके अनुरूप कार्य करनेमें समर्थ नहीं हो सकेगा। प्रबल इच्छाशक्तिसम्पन्न मनको अभिभूत करनेके लिये उसकी अपेक्षा कहीं अधिक प्रबल शक्तिकी आवश्यकता होती है। इस प्रकार अत्यन्त प्रबल शक्ति यदि स्वायत्त न हुई तो सब प्रकारकी कायाओंमें प्रवेश होना सम्भव नहीं होगा। दुर्बल मन सबल मनमें युक्त होने जायगा तो स्वयं ही उसमें लीन हो जानेकी आशङ्का रहेगी। अतएव कायान्तर-प्रवेशके पूर्व अपनी

सामर्थ्य और योजनाशक्ति किस परिणाममें विकासको प्राप्त हुई है, इसपर विचार कर लेना आवश्यक है। यदि यह समझमें आ जाय कि निर्दिष्ट कायासे सम्बद्ध मन अभिभूत होने योग्य नहीं है तो ऐसी स्थितिमें योगीके लिये इस प्रकारकी कायामें प्रवेश करनेकी चेष्टा करना उचित नहीं है।

अबतक जो कुछ कहा गया है, उससे यह समझमें आ सकता है कि केवल मनको पृथक् कर लेनेसे तथा देहसे बाहर निकाल लेनेसे ही अन्य शरीरमें प्रविष्ट होनेका कार्य नहीं किया जा सकता; इसके लिये मनका बलशाली होना आवश्यक है। मन किसी कायामें आविष्ट होता है तो उसके साथ उसकी इन्द्रियाँ भी आविष्ट हो जाती हैं। मनके बाहर निकलनेपर इन्द्रियोंको पृथक्रूपसे बाहर निकालनेमें कोई कष्ट नहीं होता। योगियोंका कहना है कि जिस प्रकार मधुमक्षिकाएँ अपने नायक अथवा नायिकाका बिना कोई विचार किये, अनुसरण करती हैं, उसी प्रकार इन्द्रियाँ भी मनका अनुसरण करती हैं। वस्तुतः सारी इन्द्रियाँ एक प्रकारसे मनका ही बहिर्मुख धारावाहिक आभासमात्र हैं। जिस कायामें मन आविष्ट होता है, उस कायाका मन अभिभूत होनेके साथ-साथ उसकी सारी इन्द्रियाँ भी उसी तरह अभिभूत हो जाती हैं। योगीके मन और इन्द्रियाँ उस कायामें प्रविष्ट होकर यथास्थान सन्निविष्ट हो जाते हैं तथा चारों ओर अपना अधिकार जमा लेते हैं।

इस आवेशकी स्थितिमें अभिभूत मन तथा अभिभावक मनकी अवस्थामें एक नियत सम्बन्ध विद्यमान रहता है। मन जिस परिमाणमें अभिभूत होता है, उसी परिमाणमें अभिभावक मन चैतन्यरूपसे कार्य करनेमें समर्थ होता है। यदि मन पूर्णतः अभिभूत हो जाय, तो आवेश-त्यागके पश्चात् उसमें लौकिकरूपसे किसी प्रकारकी स्मृति नहीं होती। परंतु संस्कारोंका सञ्चय तथा अलौकिक स्मृति अभिभवके उपरान्त भी रह सकती है। दूसरी ओर, अभिभावक मन आविष्ट देहके पूर्व संस्कारोंसे उत्पन्न भोगोंको तथा भाव आदिको ठीक अपने ही समान अर्थात् अभिन्नभावसे प्राप्त करता है। आवेशके बाद अभिभावक मन लौट जानेके समय आंशिक रूपसे इन सारे भोग और भावोंकी स्मृतिको साथ ले जाता है। इस प्रकारसे योगी दूसरेके सुख-दुःखको साक्षात् रूपसे भोग कर उसे क्षीण कर सकता है। इसका कारण यही है कि योगी उस समय आंशिक रूप होनेपर भी आविष्ट कायाके साथ अभिन्न होकर एक प्रकारसे उस कायाके भोक्ता-रूपमें परिणत हो जाता है। यदि मूल मनके साथ योग बनाये रखना सम्भव न होता, यदि पूर्णरूपसे पूर्व देह छोड़कर अभीष्ट देहमें प्रवेश हो जाता, तो इस प्रकारका व्यापार सम्भव नहीं था; क्योंकि वैसी स्थितिमें अपनी देहके त्यागके साथ ही योगीको परकायाका अभिमान उदित हो जाता और तब उस देहके लौकिक अभिमानीके रूपमें ही रहना पड़ता। यह उसके लिये आत्मलोपके अतिरिक्त और कुछ न होता। और यदि योगी दुर्बल होकर इस प्रकार किसी प्रबल आधारमें प्रविष्ट होनेकी चेष्टा करता तो इससे उसका चित्त लय हो जाता और वह जडत्व अर्थात् अचेतन स्थितिको प्राप्त हो जाता। ये दोनों ही अवस्थाएँ उसके लिये आत्मलोपके सिवा और कुछ न होतीं। परंतु अपने देहसे सम्बद्ध मूल मनके अवस्थित रहनेपर मन आंशिक रूपमें ही बाहर निकलता है तथा परकायामें आविष्ट होनेके समय योगी उसके साथ अभिन्न होकर उसकी सुख-दुःख आदिकी अनुभूति साक्षात् भावसे ग्रहण करनेमें समर्थ होता है; तथापि उसका मन चेतन द्रष्टाके रूपमें स्थिरतापूर्वक स्थित रहता है। यह चैतन्यकी अवस्था है, जडकी नहीं। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि देहके साथ मनके संयोगकी रक्षा न हो तो द्रष्टाके रूपमें चैतन्य अवस्थामें रहना सम्भव नहीं होता और लय अवश्यम्भावी होता है।

जब योगीके मन और इन्द्रिय पूर्वदेहमें यथास्थान लौट आते हैं, उस समय आविष्ट देहमें अनुभूत सुख-दुःख और भाव आदि उसे स्मरण होते हैं। वस्तुतः यह स्मरणात्मक होनेपर भी अत्यन्त स्पष्टताके कारण प्रत्यक्षवत् ही जान पड़ते हैं। इस प्रणालीसे कायाके साथ कायाका संयोग स्थापित होनेपर योगीके लिये आकर्षण और विकर्षण दोनों ही सम्भव हो जाते हैं। अर्थात् इच्छा करनेपर योगी आविष्ट कायासे संश्लिष्ट भोग और भाव आदिको इच्छानुसार खींच ले सकता है। इसके परिणामस्वरूप आविष्ट देह और तदभिमानी जीवके कर्मफलका भार अपेक्षाकृत हलका हो जाता है। इस प्रकार अपनी कायासे अपनी ही तपस्यासे उत्पन्न शुद्ध तेजको उस कायामें प्रेरित किया जा सकता है। इसके द्वारा उस शरीर तथा उसके अभिमानी जीवका उत्कर्ष और कल्याण-साधन किया जा सकता है।

परंतु परकाय-प्रवेश न कर सकनेपर केवल विदेह-धारणासे उत्पन्न अपरोक्ष ज्ञानके द्वारा इस प्रकार महाकरुणाका खेल नहीं खेला जा सकता; क्योंकि इस अवस्थामें योगी द्रष्टा ही रहता है, भोक्ता होकर भोग ग्रहण नहीं कर सकता।

दूसरेके प्राप्य भोगमें भाग न ले सकनेके कारण वह अपने भोगद्वारा किसीका भोग काटने या न्यून करनेमें समर्थ नहीं होता। द्रष्टा जिस प्रकार दृश्यसे परे रहता है, उसी प्रकार योगी परकीय सुख-दुःखके द्वारा अस्पृष्ट ही रह जाता है। यह महाकरुणाके विकासके लिये उपयोगी अवस्था नहीं है।

गुरुकी गुरुताका कार्य केवल दूर और समीपके समस्त पदार्थोंके अपरोक्ष ज्ञानकी प्राप्तिसे ही नहीं हो जाता। दीक्षादानके समय गुरुको अपने विशुद्ध ज्ञानशरीरका अंश प्रदान करके शिष्यके ज्ञानशरीरके निर्माणका मार्ग परिष्कृत करना पड़ता है। बीज खेतमें पड़नेपर जिस प्रकार अङ्कुरित होकर वृक्षरूपमें परिणत हो सकता है, उसी प्रकार गुरुके द्वारा प्रदान की हुई काया भी बीजरूपमें शिष्यक्षेत्रमें पड़कर विकसित हुआ करती है। उपर्युक्त प्रणालीसे पृथक् किया हुआ मन ही गुरुकी दी हुई ज्योतिर्मय कायाका स्वरूप है। अतएव अपने मनके अंशद्वारा जो दूसरोंकी कायामें प्रविष्ट नहीं हो सकते, वे गुरुके गुरुतापूर्ण कर्मको किस प्रकार सम्पन्न कर सकेंगे। केवल यही नहीं, एक स्थानसे दूसरे स्थानमें किसी शक्तिके सञ्चरित होनेपर उस दूसरे स्थानसे भी उस स्थानकी एक शक्ति प्रथम स्थानमें सञ्चारित हो जाती है। उपर्युक्त प्रणालीसे योगीका मन किसी कायामें समाविष्ट होकर जब अपने स्थानमें लौटता है, तब उस मनसे भी कुछ अंशको अलग करके अपने साथ ले आता है। इस प्रकार योगी अपने-अपने अभीष्ट मनोंको अपने भीतर लाकर धारण करनेमें समर्थ होता है।

यहाँ एक गम्भीर रहस्यका उल्लेख करना आवश्यक जान पड़ता है। साधारण भावसे परकाया-प्रवेश न करके यदि गुरुके किसी निजी कार्य-साधनके लिये वैसा किया जाय तो इससे गुरुके मनका अंश दीर्घकालतक अर्थात् शिष्यके देहत्यागतक उस शिष्यदेहमें ही निबद्ध रह जाता है। ऐसी स्थितिमें शिष्यके मनको अभिभूत कर रखनेकी आवश्यकता नहीं होती, तथापि प्रकारान्तरसे वह गुरुके मनके अधीन ही रहता है। इच्छा करनेपर गुरु इस अंशको किसी समय भी लौटा ले सकते हैं। परंतु इसमें शिष्यको वञ्चित करना पड़ता है, अतएव कृपामय गुरु ऐसा क्यों करेंगे। शिष्यकी मृत्युके साथ ही गुरुका मन शिष्यके मनको आकर्षण-कर अपनी कायामें लौट आता है। शिष्यका मन गुरुके मनके साथ मिलकर अपने कर्मके प्रभावसे जितनी उन्नति करता है, गुरुस्थानमें आकर गुरुकी कायामें उसे तदनुरूप ही स्थान प्राप्त होता है। इस स्थानमें आनेपर अर्थात् गुरु-कायामें स्थान प्राप्त करनेपर वह अजर और अमर सत्तामें सत्तावान् होकर मृत्युराज्यसे तर जाता है। इधर गुरुके द्वारा प्रेरित मनका अंश भी गुरुके मूल मनमें स्थान प्राप्त कर लेता है।

शिष्यके देहमें रहते समय वस्तुतः गुरुका मन ही कर्म करता है, पर करता है शिष्यकी काया और मनके साथ एक सूत्रमें जुड़कर ही; किंतु गुरुमें अभिमान न होनेके कारण तथा शिष्यमें स्वकायाका अभिमान विद्यमान रहनेके कारण, यह कर्म शिष्यके कर्मके रूपमें ही गिना जाता है तथा उसका फल भी शिष्यको ही प्राप्त होता है। गुरुकृपायुक्त कर्मका स्वरूप ही यह है।

जो योगी जितने अधिक लोगोंको कायप्रवेशद्वारा अपना सकते हैं, उतनी ही अधिक संख्यामें मन उनमें मिल जाते हैं तथा उतने ही अधिक व्यापकरूपमें वे विश्वकल्याण करनेमें अपनी क्रियाशक्तिका प्रयोग कर सकते हैं। काय-प्रवेश न कर सकनेपर ठीक-ठीक दूसरोंका उपकार नहीं किया जा सकता एवं खण्ड आत्मा अनेकोंको अपनाकर विशाल नहीं बन सकता।

उनका पता

समयका विस्तार अथाह है, गगनका लगता किसको पता।
रवि शशाङ्क बता सकते नहीं, क्षितिजमें उगते कितने उडु॥
जब पता इनका न लगा कभी, फिर लगा सकना उनका पता।
मनुजके बलके अति है परे, हरि-कथा अति गूढ़ विचित्र है॥

—बाबा मङ्गलदास

भौतिक और आध्यात्मिक धन

(लेखक--पं० श्रीलालजीरामजी शुक्ल, एम्० ए०)

मनुष्यका धन दो प्रकारका होता है--एक भौतिक और दूसरा आध्यात्मिक। दोनों ही प्रकारके धनका सञ्चय तपस्या और सतत प्रयत्नसे होता है। जो व्यक्ति भौतिक धनका सञ्चय करना चाहता है, उसे इसके लिये घोर परिश्रम करना पड़ता है। धन खर्च न हो, इसके लिये उसे अपने आपको अनेक प्रकारकी विलासिता और सुखके प्रलोभनोंसे रोकना पड़ता है। उसे अपनी इन्द्रियोंका संयम करना पड़ता है। विलासी और खाऊ-उड़ाऊ व्यक्ति धनी नहीं हो सकता। धन सञ्चय करनेवाला व्यक्ति न केवल अपने-आपके ऊपर कड़ा प्रतिबन्ध लगाता है वरं अपने आश्रितोंपर भी कड़ा प्रतिबन्ध लगाता है। वह जहाँ कहीं पैसा खर्च करता, अपने मतलबसे करता है। व्यर्थ खर्च कहीं पैसेका भी नहीं होता।

लेखक एक बार अपने एक धनी मित्रके भतीजेके विवाहमें जा रहा था। ये मित्र करोड़पति हैं। ऐसे तो लेखक-को एक करोड़पतिको अपना 'मित्र' कहना ही न चाहिये; क्योंकि करोड़पतिका मित्र कोई करोड़पति ही हो सकता है और वास्तवमें करोड़पति किसीको अपना मित्र बनाता ही नहीं। पर सभी लोगोंके प्रति मैत्री-भावनाका अभ्यास करनेवाला व्यक्ति करोड़पतिको भी अपना मित्र ही मानता है। जबतक लेखक इस करोड़पति मित्रके साथ रहा, उसने उसके साथ उसी प्रकार व्यवहार किया, जिस प्रकार वह अपने निर्धन जुलाहे मित्रके साथ करता है। वह मित्र भी उसी प्रकार उसकी बातें सुननेके लिये उत्सुक रहता था, जिस प्रकार लेखकके गरीब मित्र उत्सुक रहते हैं और अपने विचारोंको प्रकाशित करके उसे इसी प्रकार संतोष होता था, जिस प्रकार एक गरीब किसानको लेखकके समक्ष अपने विचार प्रकाशित करके सुख होता है। हमारा 'मित्र' वही है, जिससे हम अपने गम्भीरतम विचारोंका आदान-प्रदान कर सकें और जिसके साथ रहनेसे अपने-आपको ऊँचा उठा सकें।

अस्तु, जब वे मित्र इस काममें लगे थे, तबसे हजारों लोग उनके घरपर एकत्रित हुए थे। भतीजेके पिता मर चुके थे, अतएव मित्रको ही भतीजेके विवाहका पूरा इंतजाम करना पड़ा। बारात ले जानेके लिये एक पूरी गाड़ी रिजर्व करा ली गयी थी। गाड़ी स्टेशनसे एक बजे दिनको छूटनेवाली थी। यह मईका महीना था और कड़ाकेकी धूप पड़ रही थी। इस समय सभी सामान रेलगाड़ीपर लादा जा रहा था और बाराती-लोग इधर-उधर दौड़ते नजर आते थे। कोई अपना सामान रखवाते और कोई साथियोंको खोजते दिखायी देते थे। इन बारातियोंमें इस मित्रका गोद लिया हुआ लड़का भी था। यह दत्तक पुत्र विवाहित होनेवाले लड़केका सगा छोटा भाई था। अतएव इसे विवाहमें सबसे अधिक खुशी होनी स्वाभाविक होगी। इस अवसरपर उसे सबसे अधिक सजा-धजा रहना चाहिये था। पर वास्तवमें ऐसा नहीं देखा गया। वह एक सादा कुरता पहने नंगे पैर धूपमें अन्य लोगोंके समान इधर-उधर दौड़ता दिखायी दिया। उसकी उम्र चौदह सालके लगभग थी। उसे नंगे पैर स्टेशनके तपे पत्थरोंपर चलते हुए देखकर लेखकके मनमें वेदना हुई। यह बालक कभी-कभी लेखकसे कुछ पढ़ भी लेता था; अतएव जैसा दुःख लेखकको अपने दूसरे विद्यार्थियोंके कष्टका होता है, उसी प्रकारका कष्ट इसके कष्टका भी हुआ। उसके पिता जब रेलमें बैठ गये, तब लेखकने उनसे पूछा कि 'इस लड़केके जूते क्या हो गये! उसको धूपमें चलनेमें बड़ा कष्ट होता होगा।' उस बालकके पिताने तुरंत जवाब दिया, 'यह लड़का बड़ा लापरवाह है, वह अपने जूतोंको दो ही दिनोंमें खो देता है। उसने हालमें ही अपने नये जूते खो दिये। अब उसके पास जूते नहीं हैं और उसे इसके कारण पैर जलनेका अनुभव होता होगा। वह अब समझ जायगा कि जूता कितनी कीमती वस्तु है और उसके खोनेका क्या अर्थ होता है।'

लेखकके मित्रने जो कुछ कहा था, वह उसके दृष्टिकोणसे ठीक ही था। धनका सञ्चय इसी प्रकार होता है। उसका उक्त विचार उसके प्रतिदिनके अभ्यासके अनुसार ही था। धन सञ्चय करनेवाले सभी व्यापारी अपने पुत्रोंको धन एकत्र करनेकी विधि निम्नलिखित कथाके रूपमें (जिसे अपने मित्रसे ही लेखकने सुना) सुनाते हैं और वे अपनी सन्तानसे आशा करते हैं कि इस कथासे शिक्षा ग्रहण करें।

एक लखपती व्यापारीने मरते समय अपने दो पुत्रोंको अन्तिम उपदेश देनेके लिये बुलाया। उसने कहा 'पुत्रो! यदि तुम धनी बने रहना चाहते हो और अपने धनकी वृद्धि करना चाहते हो तो निम्नलिखित चार बातें करते रहना। पहली बात है अपनी दूकानपर छाँह-छाँह जाना और छाँह-छाँह

आना। दूसरी, मीठा करके खाना; तीसरी, नरम करके सोना और चौथी बात है जो पैसा किसीको देना तो उसे माँगना नहीं।' इतना कहकर पिता मर गये। बड़े भाईने पिताके कथन-का शाब्दिक अर्थ पकड़कर उसके अनुसार आचरण किया और वे थोड़े ही दिनोंमें निर्धन हो गये। छोटा कुछ दिनतक सोच-विचार करता रहा। अपने भाईको निर्धन होते हुए देख उसने पिताके कथनका गूढ़ अर्थ समझनेकी चेष्टा की। उसने जाना कि पहली बातका अर्थ है—दूकानपर सवेरे जाना और दिनभर वहीं रहकर सन्ध्या-समय लौटना; दूसरीका अर्थ है कि खूब भूख लगनेपर खाना; तीसरी बातका अर्थ है कि खूब थक जानेपर सोना और चौथी बातका अर्थ है—जिसे रुपया दिया जाय, उससे कुछ वस्तु गिरवी रखा ली जाय, जिससे रुपये पानेवालेको ही उसे चुकानेकी चिन्ता रहे, अपने आपको उसके विषयमें चिन्ता करनेकी आवश्यकता ही न हो।

उपर्युक्त कथा स्पष्ट करती है कि धन-सञ्चयके लिये मनुष्यको कितने त्याग और तपस्याकी आवश्यकता होती है। सतत प्रयत्नसे ही धन-सञ्चय होता है। जो व्यक्ति धन-सञ्चय-के लिये परिश्रम नहीं करते, जो विलासिता और आरामका जीवन व्यतीत करने लगते हैं, वे अपने बाप-दादोंका सञ्चित धन खो देते हैं। जिस प्रकार बूँद-बूँद जल एकत्र होकर तालाब भरता है, उसी प्रकार एक-एक पैसेके जोड़नेसे धनीलोगोंका खजाना भरता है। जो व्यक्ति अपने पैसोंके खर्च करनेमें लापरवाही करते हैं, वे कभी भी धनी नहीं हो सकते। उनका अभ्यास ही उनके धनको नष्ट कर देगा।

जिस प्रकारका सतत प्रयत्न भौतिक धनके उपार्जन, सञ्चय और संरक्षणके लिये संयमके रूपमें करना पड़ता है, उसी प्रकारका प्रयत्न आध्यात्मिक धनके सञ्चयमें करना पड़ता है। जितना आत्म-संयम भौतिक धनके इकट्ठा करनेके लिये आवश्यक है, उससे कहीं अधिक आत्म-संयम आध्यात्मिक धनके सञ्चयके लिये आवश्यक होता है। जब किसी धनी दूकानदारको कोई ग्राहक ऊँची-नीची सुना जाता है, तब वह शान्तिसे उसकी बातों-को सुन लेता है। वह उसके द्वारा किये गये अपमानका प्रतीकार करनेकी चेष्टा नहीं करने लगता। जो दूकानदार ऐसा नहीं करते, वे अपने आपको थोड़े ही कालमें बरबाद कर डालते हैं। मीठी बोली न बोलनेवाले और दूसरोंके कटुवाक्य न सह सकनेवाले दूकानदारके पास कोई नहीं जाता।

आध्यात्मिक धन-सञ्चयके लिये मनुष्यको अपने क्रोधको सामान्य दूकानदारसे कहीं अधिक सम्हालना पड़ता है। उसे अपने निन्दकोंको प्यारकी दृष्टिसे देखना पड़ता है! जिन्हें सामान्य लोग शत्रुके रूपमें देखते हैं, उन्हें वह अपना मित्र मानता है। महात्मा कबीर कहते हैं—

> निंदक नियरे राखिये आँगन कुटी छवाय।
> बिन पानी साबुन बिना निर्मल करै सुभाय॥

अतएव सभी लोगोंको कल्याणकारी मानकर आध्यात्मिक धनके प्रेमीको किसीके प्रति भी बुरी भावना नहीं लानी होगी।

यह आध्यात्मिक धन क्या है? भौतिक धन तो दृष्टि-गोचर है, अतएव इसे सभी लोग जानते हैं। जिस व्यक्तिके बहुत-से मकान हैं, घोड़े, हाथी, मोटरें आदि हैं और बैंकमें बहुत रुपये जमा हैं, बहुत-से नौकर काम करते हैं, उसे प्रायः धनी व्यक्ति कहा जाता है। आध्यात्मिक धनवाले व्यक्तिको पहचानना इतना सरल नहीं है। यदि कहा जाय कि जिस व्यक्तिके पास उक्त सभी सामग्रियाँ नहीं हैं, वह आध्यात्मिक दृष्टिसे धनी है तो यह ठीक न होगा। फिर तो प्रत्येक गरीब, भिखारी आध्यात्मिक धनका प्रभु मान लिया जायगा। यदि ऐसा ही होता तो आध्यात्मिक धन कमानेके लिये परिश्रमकी और सतत प्रयत्नकी कोई आवश्यकता ही नहीं होती। धन न कमानेवाले सभी निकम्मे लोग अपने-आपको आध्यात्मिक दृष्टिसे धनी मान लेते। पर वास्तवमें ऐसा नहीं है। जिन लोगोंके पास भौतिक धन नहीं होता और न आध्यात्मिक धन ही होता है, वे भौतिक धनवाले लोगोंके प्रति डाह करते हैं। जो धनहीन लोग धनी लोगोंके धनकी ईर्ष्या करते हैं और इस कारण उनका विनाश करना चाहते हैं, वे वास्तवमें आध्यात्मिक दृष्टिसे सर्वथा निर्धन हैं। जिन लोगोंको भौतिक धनकी इच्छा ही नहीं, और उसके मिल जानेपर वे उसे दूसरे लोगोंमें अनायास बाँट देते हैं, जो सदा आत्मसन्तोषकी एक-रस अनुभूति करते रहते हैं, वे ही आध्यात्मिक दृष्टिसे धनी कहे जा सकते हैं। इस प्रकारके धनके स्वामी भूमण्डलमें सदा वर्तमान रहते हैं, यद्यपि ये थोड़ी संख्यामें होते हैं; पर उनकी खोज करना आवश्यक होता है। क्योंकि वे जो कुछ करते हैं, सब सहज स्वभावसे ही करते हैं, विज्ञापनके लिये नहीं।

जब हालैंड देशके तत्त्ववेत्ता स्पैनोजासे धनके लिये उसकी बहिनने झगड़ा किया तब वे उससे मुकद्दमा लड़े। स्पैनोजा वेदान्तके विचारके थे और इस कारण वे अपने यहूदी-समाजसे बहिष्कृत कर दिये गये थे। उनकी इस आपत्तिका लाभ उनकी बहिन उठाना चाहती थी। स्पैनोजाने उसकी इस कलुषित भावनाको नष्ट करनेके लिये उससे

मुकद्दमा लड़ा। पर जब वे उस मुकद्दमेमें जीत गये और सरकारने बापकी सारी सम्पत्ति उन्हें सौंप दी, तब उन्होंने उस सम्पत्तिको अपनी बहिनको दे दिया। जब स्पैनोजाने ख्याति प्राप्त कर ली, तब फ्रांसके राजा चौदहवें लुईने उन्हें चौदह हजार फ्रैंक वार्षिक पेंशनके रूपमें देकर सम्मानित करना चाहा। स्पैनोजाने यह कहकर उस पेंशनको लेना अस्वीकार कर दिया कि 'मैं इतने रुपयोंका क्या करूँगा। मेरा खर्च बहुत ही कम है।' स्पैनोजाके अनेक धनी शिष्य थे; उनमेंसे एकने मरते समय अपने गुरुको ही अपनी सारी सम्पत्तिका उत्तराधिकारी बना दिया। स्पैनोजाने इसे स्वीकार कर लिया। पीछे उन्होंने इस धनको उसी शिष्यके सम्बन्धियोंमें बाँट दिया। एक बार जब उनके कपड़े पुराने हो गये थे, तब उनके एक शिष्यने उन्हें नये रेशमी कपड़े देने चाहे। स्पैनोजाने इन्हें लेना स्वीकार नहीं किया। जब उस शिष्यने अधिक आग्रह किया तब उन्होंने कहा, 'क्या तुम चाहते हो कि मैं इस मिट्टीके पुतलेकी इतनी इज्जत करूँ कि इसे मखमल और रेशममें लपेटकर रक्खूँ? आखिर इस शरीरको मिट्टीमें ही तो मिल जाना है।'

उपर्युक्त संतका आचरण आध्यात्मिक धन-सञ्चयकी स्थितिको बतलाता है। जिसे किसी भौतिक लाभकी चाह नहीं, जो संसारके धनीलोगोंकी निन्दा नहीं करता और न उनका विनाश ही चाहता है वरं उन्हें दयाका पात्र समझता है, वही आध्यात्मिक धनका स्वामी कहा जा सकता है। आध्यात्मिक धनका स्वामी अधिक धन प्राप्त होनेपर प्रसन्न न होकर उसे एक प्रकारकी झंझट ही मानता है। एक बार एक साधुके पास, जो जंगलमें अपनी कुटियामें अकेला रहता था और जो गाँवके लोगोंकी दी हुई रोटी खाकर अपना जीवननिर्वाह करता था, एक धनी व्यक्ति आया। उसने चाहा कि वह उस साधुकी कई दिनोंके लिये भोजनकी व्यवस्था कर दे। इस दृष्टिसे उसने एक अशरफ़ी निकालकर साधुको देनी चाही। जब उसने अपना हाथ साधुकी ओर बढ़ाया, तब साधुने उसके हाथमें अशरफ़ी देखकर कहा, 'भैया! इस अशरफ़ीकी मुझे आवश्यकता नहीं है। इसे तुम किसी गरीबको दे देना।'

साधुके उक्त वाक्यको सुनकर वह धनी व्यक्ति चकित हो गया। उसने सोचा कि 'इससे अधिक गरीब और कौन मनुष्य मिलेगा? यह तो प्रतिदिन गाँवके लोगोंकी दी हुई रोटी खाकर जीता है।' उसने फिर साधुसे पूछा, 'महाराज! मैं किस गरीबको इसे दे दूँ?' साधुने जवाब दिया, 'अभी थोड़ी देर ठहर जा; इधरसे एक गरीब प्रतिदिन निकलता है, उसीको यह अशरफ़ी दे देना।' वह थोड़ी देर ठहर गया, इतनेमें उस प्रान्तके राजाकी सवारी वहाँसे निकली। साधुने कहा, 'देख, वह गरीब आ गया, जा, उसके सामने जाकर इस अशरफ़ीको दिखाना; वह तेरे हाथसे इसे उठा लेगा।' उस धनी व्यक्तिने ऐसा ही किया। राजाको जब उसने अपने हाथमें अशरफ़ी रखकर दिखायी, तब उसने उसे भेंट समझकर ले लिया।

भौतिक धन मनुष्यके पास कितना ही हो, जबतक उसे इस धनकी चाह है, तबतक वह गरीब ही बना हुआ है। इस धनके बढ़नेसे धनकी चाह कम नहीं होती, अपितु और भी बढ़ जाती है। जो व्यक्ति धनीलोगोंकी खुशामद करता है, अथवा उनसे ईर्ष्या-वैर करता है, वह भौतिक और आध्यात्मिक दोनों ही दृष्टियोंसे निर्धन है। इस प्रकारकी निर्धनता मनुष्यको भारी दुःख देती है। वह सदा असन्तुष्ट रहता है। इस असन्तोषको मिटानेके लिये ही मनुष्य भौतिक धनका सञ्चय करता है। देखा गया है कि साधारणतः धनी लोगोंकी निन्दा करनेवाले लोगोंको जब धन मिल जाता है, तब वे भी उसी प्रकार धनके गुलाम हो जाते हैं जिस प्रकार दूसरे धनी हैं। इससे यह स्पष्ट है कि निर्धन होना ही पुरुषार्थ नहीं। आध्यात्मिक धन तात्त्विक वस्तु है। इसके प्राप्त होनेपर ही मनुष्य अपनी निर्धन अवस्थामें भी प्रसन्नचित्त रहता है। वह अपने आपको संसारके बादशाहके समान सुखी और भाग्यवान् मानता है। ऐसे लोगोंके ही बारेमें कबीर कहते हैं—

चाह गई, चिंता गई, मनुआ बेपरवाह।
जिनको कछू न चाहिये, वे नर शाहंशाह॥

जबतक मनुष्य दैन्यभावसे मुक्त नहीं होता, तबतक उसे आध्यात्मिक दृष्टिसे धनी नहीं माना जा सकता। जिस व्यक्तिके पास आध्यात्मिक धन होता है, उसमें भौतिक धनके लेनेकी इच्छा नहीं वरं उसे देनेकी ही इच्छा रहती है। वह दूसरोंकी सेवा धनप्राप्तिके लिये नहीं, वरं उन्हें प्रसन्न करने—उनका हित करनेमात्रके लिये ही करता है।

ऊपर आध्यात्मिक धनवाले व्यक्तिके कुछ लक्षण बताये गये हैं। इससे आध्यात्मिक धनका कुछ परिचय प्राप्त होता है। जिस प्रकार भौतिक धन भौतिक वस्तुओंका होता है, आध्यात्मिक धन मनुष्यके विचारोंका होता है। किसी मनुष्यके मनमें जबतक विचार है और जहाँतक वह दूसरोंके हितकी

कामना अपने मनमें रखता है, वहींतक वह आध्यात्मिक दृष्टिसे धनी है। भौतिक धनकी वृद्धिसे मनुष्यमें अपने आपके विषयमें चिन्ता करनेका अभ्यास बढ़ता है, आध्यात्मिक धनकी वृद्धि होनेपर वह अपने-आपके स्वार्थको विस्मरण करना सीखता है और दूसरोंको सुखी बनानेके लिये ही सदा चिन्तन करता रहता है। जो व्यक्ति जितना ही अधिक दूसरे लोगोंके कष्टनिवारणके लिये स्वभावसे ही तत्पर रहता है, वह उतना ही आध्यात्मिक दृष्टिसे धनी है। महात्मा बुद्ध, ईसा, सुकरात, स्वामी विवेकानन्द आदिके पास एक पैसा भी नहीं था। पर वे आध्यात्मिक दृष्टिसे धनी थे, क्योंकि वे अपने आपको भूलकर संसारके दुःखोंके विनाशमें ही सदा लगे रहते थे।

आध्यात्मिक धनकी एक परख यह है कि इस धनका स्वामी दूसरोंका प्यारा होता है। वे उसे हृदयसे चाहते हैं। भौतिक धनके स्वामीको अपने भाई, पुत्र और स्त्री भी हृदयसे नहीं चाहते। वह सदा उन्हें सन्देहकी दृष्टिसे देखता है; इसके कारण वे भी उससे वहींतक प्यार करते हैं, जहाँतक उन्हें धनका लाभ उससे होता है। यदि धनके स्वामीका धन एकाएक चला जाय तो फिर उसे कोई नहीं पूछता। अतएव ऐसे व्यक्तिका बुढ़ापेमें धन खो जानेपर वह मर ही जाता है। पर आध्यात्मिक धनके स्वामीको अपने आपके प्रेमियोंसे तिरस्कृत होनेका कोई भय नहीं रहता। मनुष्य जैसे विचार दूसरे व्यक्तिके पास भेजता है, उसे वैसे ही विचार उससे मिलते हैं। यदि हम वैर, द्वेष और सन्देहके विचार दूसरे व्यक्तिके पास भेजें तो हमें भी वैर, द्वेष और सन्देहके विचार ही मिलेंगे और यदि हम प्रेम और विश्वासके विचार उनके पास भेजें तो उनसे भी हमें प्रेम और विश्वासके विचार ही मिलेंगे। एक प्रकारके विचारोंसे जीवनका नाश होता है और दूसरे प्रकारके विचारोंसे उसकी वृद्धि होती है। मनुष्यका स्वभाव अभ्यासका दास है। जिस मनुष्यका अभ्यास जैसा हो जाता है, उसके पास वैसे ही विचार स्वभावतः आते हैं।

किसी भी व्यक्तिको दूसरे लोग इसलिये प्यार करते हैं कि उस व्यक्तिसे दूसरोंको कुछ मिलता है। धनी मनुष्यके पीछे लोग धन पानेकी आशासे लगते हैं और संत-महात्माओंके पीछे भले विचार पानेकी आशासे। प्रत्येक मनुष्यके जीवनकी मौलिकता उसके दान कर सकनेकी शक्तिपर निर्भर करती है। जो व्यक्ति जितना ही अधिक देनेकी अपने-आपमें क्षमता रखता है, वह उतना ही महान् है। दान कई प्रकारका होता है—धनका दान, विद्याका दान और सद्भावनाका दान आदि। धनका दान उत्तम है, पर उससे भी उत्तम विद्यादान है। धन मनुष्यके बाहरी सुखको बढ़ाता है, पर विद्यासे उसके मनका सुधार होता है। यदि किसी मनुष्यके पास विद्या है तो वह धन भी कमा सकता है। पर इन दोनों प्रकारके दानोंसे भी उत्तम दान सद्भावनाका अर्थात् प्रेमका दान है। इससे दूसरे मनुष्यके हृदयका परिवर्तन हो जाता है। धनके दानसे मनुष्य धनी कहलाता है, विद्यादानसे विद्वान् कहलाता है और सद्भावनाके दानसे वह महात्मा बन जाता है। जो पदार्थ हम दूसरोंको देते हैं, वे हमें भी शीघ्रतासे प्राप्त हो जाते हैं और बीज-फलन्यायसे बहुत बढ़कर मिलते हैं।

सभी प्रकारके दानोंमें सद्भावनाकी आवश्यकता होती है। बिना सद्भावनाके सभी दान निरर्थक हैं। हम सद्भावनाका दान अपने प्रत्येक कार्यके द्वारा कर सकते हैं। किसी व्यक्तिसे बोलने, उसके साथ उठने-बैठने, उसके विषयमें चिन्तन करने आदि कार्योंमें हम उसे अपनी सद्भावना दे सकते हैं। धनका दान, भोजनदान और विद्यादान भी अपनी सद्भावनाके प्रकट करनेके उपाय हैं।

मनुष्यका आध्यात्मिक धन उसका अभ्यास है। हमारे विचारोंका प्रवाह हमारे अभ्यासके ऊपर निर्भर करता है। जैसे विचार हम अपने मनमें सदा आने देते हैं, वैसे ही विचार बार-बार हमारे मनमें आते रहते हैं। जब हम किसी बुरे विचारको अपने मनमें लाते हैं, तब वह भी अपनी दूषित मनोवृत्तिके कारण उस समय हमें भला ही लगता है। पर वह हमारे मनको क्लेशकी अवस्थामें छोड़ जाता है। बार-बार अपने मनमें बुरे विचारोंको लानेसे मन इतना निर्बल हो जाता है कि फिर यदि हम उन विचारोंका मनमें आना रोकना भी चाहें तो वे विचार रुकते नहीं। मानसिक रोगकी अवस्थामें रोगीके मनमें कोई अभद्र विचार घुस जाता है और फिर वह रोकनेका प्रयत्न करनेपर भी नहीं रुकता। वह मनुष्यको बहुत भारी त्रास देता रहता है। ऐसी अवस्थामें सुखकी सभी बाह्य सामग्री उपस्थित होनेपर भी वह व्यक्ति सुखका उपभोग नहीं कर पाता। इस प्रकारके विचारोंको रोकनेके लिये कई दिनोंतक उसके विपरीत अभ्यासको करना पड़ता है। दूसरोंके विषयमें कुचिन्तन करनेसे मनुष्यकी आध्यात्मिक शक्तिका ह्रास हो जाता है। इसके ह्रास हो जानेपर फिर मनुष्य अपने ही विषयमें कुचिन्तन करने लगता है। उसके विचार आत्मविनाशक बन जाते हैं। अतएव हर समय अपने विचारोंको देखते रहना आवश्यक है। अपने मनके दरवाजेपर सदा-सर्वदा एक सावधान और नित्य जाग्रत् पहरेदार बैठा देना चाहिये, जो बुरे विचारोंका आना रोके और भले विचारोंका स्वागत करे। इस प्रकार अपने सञ्चित आध्यात्मिक धनकी रखवाली होती है।

उपनिषद्-अध्ययनके लिये अपेक्षित दृष्टिकोण

(लेखक--श्रीजीन हर्बर्ट)

सन् १८०१ में ऐंक्वेटिल ड्यूपेरनने लैटिनमें कईएक उपनिषदोंका अनुवाद प्रस्तुत किया। यूरोपीय भाषाओंमें उपनिषदोंके अनुवादका यह प्रथम प्रयास था। इतिहास-वेत्ताओं, धर्मोपदेशकों और भाषाशास्त्रियोंके लिये यह एक चमत्कृत कर देनेवाली और बिल्कुल नयी चीज तो थी ही। तत्त्वज्ञानके अनुसन्धानकर्ताओंको भी एक बड़ी निधि प्राप्त हुई। परंतु अपेक्षाकृत अल्पकाल तक ही उनके मन्त्रोंमें वास्तविक उपदेशोंको ढूँढ़ निकालनेके निमित्त छानबीन की गयी और पश्चिमके महत्तम विद्वानोंमेंसे कुछने ही उनके अध्ययनसे लाभ उठाया तथा इसे उदारतापूर्वक स्वीकार भी किया। पर प्रबल प्रतिक्रिया भी शीघ्र ही आरम्भ हो गयी। ईसाई धर्मके प्रतिनिधियोंको यह सम्भावना बड़ी कड़वी लगी कि ईसाका चरित-चतुष्टय उपनिषदोंकी आध्यात्मिक शिक्षाका मूलस्रोत नहीं हो सकता। ग्रीस देशके विद्वानोंसे यदि बढ़कर नहीं तो कम-से-कम उनकी ही-जैसी मूल्यवान् दार्शनिक पद्धतियाँ उनसे सैकड़ों वर्ष पहले प्रकट हो चुकी हैं, ऐसी सम्भावनासे पश्चिमीय सभ्यताके ठेकेदारोंको अपना गर्व खर्व होता दिखायी दिया और वे चिढ़ उठे। गोरी जातियोंकी गुरुता तथा राजनीतिक, आर्थिक एवं अन्य सभी क्षेत्रोंमें उनकी श्रेष्ठताकी वकालत करनेवालोंको यह बात असह्य हो गयी कि मानवजातिके विकास-मार्गमें बहुत पीछे रहनेवाली जंगली श्वेतेतर जातियाँ भी कुछ होनेका दम भर सकती हैं!

उपर्युक्त प्रवृत्तियोंके स्वाभाविक परिणामस्वरूप इस ज्ञाननिधिपर जान-बूझकर तौल-तौलकर आघात होने लगा। इस आक्रमके महारथी थे—पश्चिमके बड़े-बड़े विद्वान्, जैसे भाषाओंके आधारपर प्राचीन जातियोंकी संस्कृतिके अन्वेषक, धर्मोंके तुलनात्मक विवेचन नामक एक नवीन 'शास्त्र'के विद्यार्थी, प्राच्य-विद्या-विशारद तथा पुरातत्त्ववेत्ता। अपनी संस्कृतिके गौरवकी रक्षाके लिये इन लोगोंने अच्छे-से-अच्छे तर्कोंकी सेना तैयार की और यथासम्भव बड़ी फुर्तीसे लोगोंकी दृष्टिको अवान्तर दिशाकी ओर फेर दिया।

भाषाशास्त्री संस्कृतकी वाक्यरचना-प्रणाली एवं शब्द-व्युत्पत्तिके अध्ययनके पीछे पड़े। इस अध्ययनसे उन्हें तुलनात्मक भाषाशास्त्रका प्रासाद खड़ा करनेको एक आधारशिला अवश्य प्राप्त हुई। और स्वयं इस शास्त्रमें कोई दोष नहीं, पर इसके प्रचारसे संस्कृत ग्रन्थों (तथा आधुनिक पश्चिमीय भाषाओंमें उनके अनुवादों) का अध्ययन केवल वैयाकरणों-तक ही सीमित रह गया। अब भी संस्कृतके प्रायः सभी विद्यार्थियोंका ध्येय भाषाशास्त्रमें ही प्रमाणपत्र प्राप्त करनेका रहता है; अतएव वे केवलमात्र व्याकरणके ही अध्ययनसे प्रयोजन रखते हैं। इसका शोचनीय परिणाम यह हुआ कि कुछको छोड़कर और सभी अनुवादोंमें परमपावन मन्त्रोंके दार्शनिक एवं आध्यात्मिक अर्थोंकी अनुदार अवहेलना हुई। जब उनका व्याकरण-ज्ञान नितान्त निष्प्रयोजन अर्थों की सिद्धि करता है, तब जैसा कि भारतीय संस्कृति आदिके हमारे एक बड़े विद्वान्ने कहा है—'भोली बुद्धिवाले आर्योंसे' और आशा ही क्या की जा सकती थी। उनकी समझमें कभी यह बात आ ही नहीं सकती कि इन ग्रन्थोंका अनुवाद या अध्ययन करते समय यह मान लें कि इनके वाक्योंमें एक गम्भीर अर्थ निहित है, जिसे जान-बूझकर बड़ी सावधानीसे चुने हुए शब्दों, पदावलियों एवं रूपकोंमें छिपाकर रक्खा गया है। उनकी व्याकरणाश्रयी पद्धतिका व्यवहार यदि होमर, ह्लेक या दान्तेके साथ किया जाय तो विद्वन्मण्डली क्रोधके मारे दाँत पीसने लगेगी। इस प्रकार किये हुए भद्दे-से-भद्दे और अशुद्ध अनुवादोंपर पश्चिमके धुरन्धर विद्वानोंने अपनी सम्मतिकी पूरी-पूरी छाप लगा दी है और हिंदू-शास्त्रोंके पवित्र गौरवको भारी धक्का पहुँचाया है।

'तुलनात्मक धर्म' के विद्यार्थियोंने आक्रमणकी एक और ही प्रणालीको अपनाया। उन्होंने पहले ही एक अकाट्य सिद्धान्त मान लिया कि कोई धर्म जितना ही पुराना है, उसे उतना ही आदिकालीन अर्थात् विकासकी शैशवावस्था-में और अपरिपक्व समझना चाहिये। इस प्रकार वेद और उपनिषद् उसी कोटिमें आ गये, जिसमें आस्ट्रेलिया तथा मध्य अफ्रीकाकी जंगली जातियोंकी अस्फुट मान्यताएँ गिनी जाती हैं। इतना ही नहीं, भारतीय ऋषियोंकी मानसिक प्रक्रियाको समझना हो तो जंगली जातियोंकी उन मान्यताओं-का, जो आज भी अपने पुराने रूपमें प्रचलित हैं, अध्ययन करना आवश्यक है। इन विज्ञानवेत्ताओंने एक महत्त्वपूर्ण अनुसन्धान कर डाला है। इसका नाम है 'सौर उपाख्यान' (Solar Myth)। उनका कहना है कि प्राचीन और

अर्वाचीन जगत्में उपलब्ध सभी 'आदिकालीन' धर्मोंका आधार यही है। हिंदू-शास्त्रोंमें सूर्य, सवितृ, उषस् तथा कई अन्य देवताओंका, जिनकी सौर मूर्तियोंसे ही भौतिक जगत्में अभिव्यक्ति होती है, नाम बराबर आया है। हिंदूधर्मको आदिकालीन कहनेकी पुष्टिमें यह बड़ा मूल्यवान् प्रमाण माना गया है। इसलिये 'तुलनात्मक धर्म' के प्रत्येक ग्रन्थ एवं अध्यापकके लिये यह एक निर्विरोध तथ्य है कि प्राचीन आर्यलोग भौतिक शक्तियोंके स्थूल रूपके उपासक थे और उनकी दृष्टि इससे आगे नहीं गयी थी।

उपर्युक्त दोनों कुचेष्टाओंने इस बातको सिद्ध कर दिया कि भारतीय किसी भी वस्तुका अध्ययन पुरातत्त्व-साहित्यके क्षेत्रका विषय है। वह उसी कोटिमें है, जिसमें एशिया-माइनर अथवा यूकेटानकी प्राचीन मृत सभ्यताओंके विषयमें हमारा अल्पज्ञान। इसलिये यदि कोई यह कहता है कि भारतीय ज्ञानराशिमें भी प्रकाशकी ऐसी किरणें प्राप्य हैं, जो इस विज्ञानालोकित युगके कामकी हो सकती हैं, तो यह बात निरी मूर्खता और लड़कपनकी जान पड़ती है। यदि 'देशी आलोचकों' (फ्रांसके एक वर्तमान महान् प्राच्य-विद्या-विशारदके द्वारा श्रीअरविन्दके लिये प्रयुक्त विशेषण) ने कुछ लिखा तो उसका कोई मूल्य नहीं; वह निरर्थक है। केवल परम प्रवीण पाश्चात्त्य पण्डित ही प्राचीन भारतके धूलि-धूसरित एवं दीमकोंके खाये हुए ग्रन्थोंको पढ़ने तथा समझानेकी योग्यता रख सकते हैं। देशी विद्वान् उसी प्रकार अयोग्य हैं, जैसे मिस्रदेशका आधुनिक ग्रामनिवासी, जो वहाँके प्राचीन राजवंशकी समाधियोंसे प्राप्त ताड़पत्रोंको पढ़नेमें कोई सहायता नहीं दे सकता।

भारतीय आध्यात्मिक ज्ञानकी प्रतिष्ठाको नीचे गिरानेमें यात्रियों और ईसाई पादरियोंका भी बहुत बड़ा हाथ है। उन्होंने उन आचार-विचारोंकी, जिनका कि वे केवल बाहरी रूप देख सकते थे, जी भरकर खिल्ली उड़ायी है। इनमें कुछ और भी अर्थ निहित होगा, इसकी तो वे कल्पना भी नहीं कर सकते थे। उन्होंने कहा कि गोल पत्थरोंके उपासक, बंदर-हाथीके सिरवाले राक्षस तथा रुधिराशना काली एवं नंगी स्त्रीकी पूजा करनेवाले लोग भी क्या गम्भीर विचारका विषय बननेकी सम्भावना कर सकते थे? कुछ दिन हुए जिनेवा (स्विजलैंड) विश्वविद्यालयके दर्शनके अध्यापकने अपने विद्यार्थियोंको यह विचित्र बात बताकर खूब हँसाया कि हिंदू-मान्यताके अनुसार पृथ्वी एक हाथीपर टिकी हुई है; हाथी कछुएपर खड़ा है और कछुआ पता नहीं किस आधारपर स्थित है। इस पौराणिक कथामें जो गम्भीर तत्त्वज्ञान तथा विज्ञान छिपा है, उसके अणुमात्रका भी पता न तो विद्यार्थियोंको था और न अध्यापक महाशयको। विश्व स्थूल भौतिक शक्ति (हाथी) पर टिका है; इसका आधार दुर्बोध सूक्ष्म शक्तियाँ (कछुआ) हैं और वे स्वयं उपनिषदोंके अज्ञात, अनिर्वचनीय एवं एक अखण्ड ब्रह्मपर अवलम्बित हैं। यह व्याख्या भौतिक शास्त्र एवं रसायनशास्त्रके नवीनतम सिद्धान्तोंके उतनी ही समीप है, जितनी और भी कोई कल्पना हो सकती है। पर सभ्य कहानेवाली जाति उपेक्षाकी हँसीमें भाग लेनेमें कभी चूकती नहीं।

१९ वीं शताब्दीके वैज्ञानिक एवं ऐतिहासिक विचार-धारामें बहनेवाले तथा अपनी आविष्कृत भौतिक शक्तियोंके प्रदर्शनसे उसी विचारधारामें ग्रस्त पश्चिमी लोग भारतकी आध्यात्मिक शिक्षाओंमें कोई गम्भीरता न देख सकें तो कोई आश्चर्य भी नहीं। पर इससे भी अधिक दुःखकी और अस्वाभाविक बात यह है कि आज भी भारतीय नवयुवकोंका एक बड़ा समाज इस क्षेत्रमें पाश्चात्त्य आलोचकोंके ही पीछे आँख मूँदकर चल रहा है! उनके ध्यानमें यह बात नहीं आती कि जिस गहराईतक तथा सनातन सत्यके जितने समीप उनके शास्त्र जा चुके हैं, उतनी दूरीतक पश्चिमके धर्म, दर्शन, विज्ञान तथा कला-कौशल अभी नहीं पहुँच पाये हैं।

मेरा उद्देश्य यहाँपर उपनिषदोंकी मूल शिक्षाका परिचय देना नहीं है। पर एक पाश्चात्त्य व्यक्तिके नाते मैं इस विषयपर अपनी यह क्षुद्र सम्मति देनेकी अनुमति चाहता हूँ कि अपनी योग्यताके अनुरूप उपनिषदोंसे पूरा-पूरा लाभ उठानेके लिये किस दृष्टिकोणसे उनका अध्ययन अपेक्षित है—पश्चिमी विद्वानोंकी रीतिसे अथवा योगियोंकी प्रणालीसे।

भारतीय युवकोंसे मैं यह कह सकता हूँ कि ऐतिहासिक शोध, भाषावैज्ञानिक विश्लेषण, तुलनात्मक धर्म इत्यादि पाश्चात्त्य रीतियोंसे उपनिषदों या वेदमन्त्रोंका अध्ययन उसी प्रकार अस्वाभाविक और निष्प्रयोजन होगा, जैसे प्रसिद्ध गायक बीथोवेनके किसी सुन्दर पदको या महान् कलाकार लियोनार्डो डा विन्सीके किसी विख्यात चित्रको शल्य-चिकित्सककी छुरी अथवा रसायनशास्त्रीकी परख-नलियोंसे समझने बैठना। बड़े-बड़े लोगोंने इस मार्गपर चलकर असफलताको ही वरण किया है। इस प्रकार अनुपयुक्त

साधनोंद्वारा—भले ही वे और क्षेत्रोंके लिये परम उपयोगी हों—अर्थानुसन्धान करनेका अनिवार्य परिणाम होता है—अध्ययनकी मूल वस्तुका विनाश । जो कुछ सौन्दर्य, शिक्षा और गौरव उससे प्राप्त हो सकता था, उसे प्रदान करनेमें वह असमर्थ हो जाता है । प्रत्येक विषयका रहस्य जाननेके लिये उसमें उसके उपयुक्त मार्गसे प्रवेश करना चाहिये । साधारणतः नये यात्रियोंके लिये कम-से-कम कुछ दिनोंतक तो निष्कण्टक मार्ग वही है, जिसका उस विषयके आचार्योंने अनुसरण किया हो । इसके विरुद्ध चलना पाण्डित्य नहीं, प्रमादका परिचायक है । जो नियम इतिहास, दर्शन, त्रिकोणमिति या वनस्पतिशास्त्रके अध्ययनके लिये ठीक है, वही अध्यात्मके लिये भी । यह तो एक साधारण समझदारीकी बात है ।

अपने प्रस्तुत विषयके सम्बन्धमें ऐसी बात है कि सभी महान् आचार्योंकी सार्वभौम सम्मतिसे यहाँ बौद्धिक विश्लेषण, तर्क-वितर्क या वाद-विवादसे काम नहीं चलता; इसकी कुंजी है—नीरव निदिध्यासन । बिल्कुल भिन्न उद्देश्योंके लिये निर्मित पाश्चात्त्य नियमोंके प्रति अन्धश्रद्धाके कारण इस प्रणालीकी उपेक्षा करनेकी अपेक्षा इसका अनुसरण करके एक बार देखना तो चाहिये । जिन्होंने इसकी परीक्षा नहीं की है, उन्हें हिंदू-धर्मशास्त्रोंपर बोलनेका उसी प्रकार कोई अधिकार नहीं है, जैसे अंग्रेजीका एक शब्द भी न जाननेवाले-को शेक्सपियरकी कवितापर । यह बात ठीक है कि एक ऊपरसे देखनेवालेको, कुछ शब्दों अथवा मात्राओंपर घंटों ध्यानमें बैठे रहना तथा शोधकी प्रचलित प्रणाली, जिसमें ग्रन्थागारोंके विशाल भाण्डारकी छान-बीन, तुलनाओं, विश्लेषण, संश्लेषण तथा नाना प्रकारकी बौद्धिक गवेषणाओंकी क्रियाका समुच्चय है, इन दोनोंमें बड़ा अन्तर दिखायी पड़ेगा । पर मेरी धारणा यह है कि मानव-जातिके विकासके इतिहासमें अधिकांश क्षेत्रोंमें की गयी गवेषणाएँ ऐसे लोगोंके द्वारा हुई हैं, जिन्होंने यह सत्य है कि पहले बहुत कुछ पढ़ा-लिखा और सब तरहकी प्रारम्भिक तैयारियाँ कीं, पर बादमें अपने विचार और वाञ्छाको विषयके एक सूत्रपर केन्द्रित कर दिया—ठीक उसी तरहसे जैसे कि पतञ्जलिने बताया है । हमको एक बात और भी याद रखनी चाहिये कि बहुत अल्पकाल पूर्वतक वेद लिपिबद्ध नहीं हुए थे और तबतक गुरुलोग शिष्योंको थोड़ा-थोड़ा करके पढ़ाते थे । उनकी गति इतनी ही होती थी कि शिष्यको जो कुछ पढ़ाया जाय, उसे वह ग्रहण करता जाय, आत्मसात् करता जाय तथा विषयका साक्षात्कार भी करता जाय । जिसने आरम्भके मौलिक सिद्धान्तोंको ग्रहण नहीं कर लिया है, उसे इन ग्रन्थोंकी ऊँची शिक्षाओंके मूल्यका निर्णय करने नहीं बैठना चाहिये—ठीक वैसे ही, जैसे प्रारम्भिक शिक्षा देनेवाली पाठशालामें पढ़नेवाले बच्चेको नीहारिकाओंके सम्बन्धमें भौतिक विज्ञान क्या कहता है, इस विषयपर बोलनेका कोई अधिकार नहीं ।

बीसवीं शताब्दीकी शिक्षित बुद्धिके लिये उपनिषदोंपर ध्यान केन्द्रित करना शायद अपेक्षाकृत कुछ सरल हो; क्योंकि वैदिक स्तुतियों और पौराणिक कथाओंको समझना, ऊपरसे रहस्यका आवरण हटाना प्रायः बड़ा कठिन होता है जैसी कि अधिकांश व्यक्तियोंकी धारणा है, हिंदुओंका चार युगोंवाला सिद्धान्त, जिसके अनुसार उत्तरोत्तर युगोंमें सत्यका प्रत्यक्ष दर्शन करनेकी मानवीय शक्तिका ह्रास होता जाता है। और फलतः मनुष्यको इच्छाशक्ति, बुद्धि एवं नियमादिका अधिकाधिक सहारा लेना पड़ता है, एकदम निस्सार नहीं है। कुछ ही वर्ष हुए फ्रांसके दो प्रसिद्ध वैज्ञानिकोंने 'L'évolution régressive' नामक पुस्तकमें इसकी सत्यताको स्वीकार किया । इस पुस्तकने, जिसकी भूमिका एक रोमन कैथलिक पादरीने लिखी थी, एक आन्दोलन उत्पन्न कर दिया था । और जब श्रीअरविन्द-जैसे विशाल और गम्भीर दृष्टिके व्यक्ति, जिनका पाश्चात्त्य संस्कृतिके ऊँचे-से-ऊँचे स्तरमें भी प्रवेश है, इसको बिना ननु-नचके स्वीकार करते हैं, तब यह निस्सन्देह परीक्षणीय तो अवश्य है ।

जो कुछ भी हो, इसमें सन्देह नहीं कि आधुनिक कालके बुद्धिगर्वित लोगोंके लिये उपनिषदोंके द्रष्टा ऋषियोंकी सहज प्रसाद-गुणमयी वाणी उतनी अग्राह्य न होगी जितनी कि वेदोंकी स्तुतियाँ, जो उन देवताओंके प्रति उच्चरित हैं जिन्हें लोग भूल चुके हैं तथा पुराणोंकी कथाएँ, जो आधुनिक दृष्टिसे देखनेपर अविश्वसनीय सामग्रीसे भरी प्रतीत होती हैं। जिस तरहसे लोग यूनानके हिरैक्लीटस तथा प्लेटो आदि दार्शनिकोंकी रचनाओंको गम्भीरतापूर्वक अध्ययन करते और समझनेकी चेष्टा करते हैं, उसी प्रकार चलनेपर केन, ईश, मुण्डक तथा दर्जनों अन्य उपनिषदोंकी शिक्षाएँ उनसे अधिक रहस्यमयी नहीं जान पड़ेंगी । और इस बातके मूल्यवान् प्रमाण हैं कि यथार्थ प्रयत्न करनेवालोंको ये ग्रन्थ ज्ञानके साम्राज्यमें उन यूनानी दार्शनिकोंसे कहीं आगे पहुँचा

देते हैं। पर जैसे वीणा या पिआनो बजाना कोई किताबसे नहीं सीख सकता वरं उसके लिये धैर्य और तत्परतापूर्वक अभ्यासकी आवश्यकता है, उसी प्रकार उपनिषदोंका सन्देश वाद-विवाद या बौद्धिक तर्क-वितर्कसे नहीं प्राप्त हो सकता, वरं विद्यार्थियोंके लिये जिस बहुमुखी साधन तथा अभ्यासकी उनमें आज्ञा दी गयी है और नियमबद्ध ध्यानका जो प्रकार बताया गया है, उसीसे काम चलेगा।

स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामदास, कृष्णमूर्ति, श्रीअरविन्दकी रचनाओं तथा श्रीरामकृष्ण परमहंस, भगवान् रमणमहर्षि, मा आनन्दमयी आदिके मौखिक उपदेशोंको धन्यवाद है। यूरोपकी विभिन्न भाषाओंमें इनका अनुवाद छप चुका है और अब थोड़े दिनोंसे अनेक पश्चिमवासी भी भारतीय ज्ञानकी महिमाको कुछ-कुछ समझने लगे हैं। रोमाँ रोलाके मार्गका अनुसरण करके तथा शताब्दियोंका व्यवधान पार करके इमर्सन, शोपेनहार, मैक्समूलर, डायसन आदि व्यापक-दृष्टिसम्पन्न विद्वानोंका हाथ पकड़कर तथा नाना क्षेत्रोंमें तत्तच्छास्त्रीय शोधोंसे लाभ उठाकर यूरोपके बहुत-से अग्रणी व्यक्ति और उनसे कुछ कम संख्यामें अमेरिकाके लोग अब यह सोचने लगे हैं कि संसारका उद्धार अर्थशास्त्र, पारमाणव शोध या साम्राज्य-विस्तार एवं उसके दोहनसे नहीं होगा, बल्कि मानवीय शक्तिके किसी गम्भीर या ऊँचे स्तरपर चढ़कर प्रयत्न करना होगा—शायद उन्हीं तत्त्वोंको प्राप्त करनेके लिये जो उपनिषदोंमें इसीलिये छिपे पड़े हैं कि हम उनके योग्य होकर उनको खोजें।

भक्तिके भेद

(लेखक—पं० श्रीगोविन्दनारायणजी आसोपा, बी० ए०, एम्० आर० ए० एस्०)

श्रीमद्भागवतमें प्रह्लाद-चरित्रके वर्णनके प्रसङ्गमें भक्तिके निम्नलिखित नौ भेद बतलाये गये हैं—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥
(७।५।२३)

१—भगवान् विष्णुके नामका श्रवण, २—कीर्तन, ३—स्मरण, ४—चरण-सेवन, ५—पूजन, ६—नमस्कार, ७—दासता, ८—सखाभाव या मैत्री और ९—आत्म-समर्पण या शरणागति।

इन नवों ही भेदोंके उदाहरण बड़ी सुन्दरतासे निम्न श्लोकमें एकत्र कर दिये गये हैं—

श्रीविष्णोः श्रवणे परीक्षिदभवद्वैयासकिः कीर्तने
प्रह्लादः स्मरणे च सेवनविधौ लक्ष्मीः पृथुः पूजने।
अक्रूरस्त्वभिवादने च हनुमान् दास्ये च सख्येऽर्जुनः
सर्वस्वात्मनिवेदने बलिरभूत् कैवल्यमेषां पदम्॥

१—भगवान् विष्णुके नामके श्रवणका उदाहरण राजा परीक्षित्, २—कीर्तनमें श्रीशुकदेवजी, ३—स्मरणमें प्रह्लाद, ४—सेवा करनेमें लक्ष्मीजी, ५—पूजन करनेमें राजा पृथु, ६—नमस्कार करनेमें अक्रूर, ७—दासभावमें हनुमान्जी, ८—सखाभावमें अर्जुन और ९—आत्म-समर्पणमें दैत्यराट् बलि हुए। इन सभीको भगवत्प्राप्ति हुई।

भक्तिमार्गके श्रेष्ठ आचार्य महर्षि शाण्डिल्य भक्तिके निम्नलिखित दस भेद बतलाते हैं—

१—सम्मान, २—बहुमान, ३—प्रीति, ४—विरह, ५—इतर-विचिकित्सा, ६—महिमख्याति, ७—तदर्थ-प्राणस्थान, ८—तदीयता, ९—सर्वतद्भाव, १०—अप्रातिकूल्यादीनि च स्मरणेभ्यो बाहुल्यात्॥ ४४॥

अर्थात् १. सम्मानभक्ति—भगवान्में सम्मान या आदरबुद्धि रखकर उनके साथ प्रीति करना। जैसे पाण्डवकुलतिलक अर्जुनने की।

२. बहुमानभक्ति—भगवान्के नामवाले किसी पुरुषका नाम लेने या सुनने, कोई बाहरका पदार्थ देखनेसे भक्तके हृदयमें भगवान्की भक्तिका प्रादुर्भाव होता है। जैसे भक्ताग्रगण्य प्रह्लाद अक्षर-विज्ञानके समय 'क' अक्षर देखकर ही कृष्ण-प्रेममें उलझ गये और उन्मत्त-से हो गये।

३. प्रीतिभक्ति—भगवान्में स्वाभाविक या जन्म-सिद्ध प्रेमका होना प्रीतिभक्ति है—जैसे विदुरजीका भगवान्में नैष्ठिक प्रेम था।

४. विरहभक्ति—भगवान्के वियोगके कारण भगवान्में भक्तिका प्राकट्य—जैसे व्रजगोपियोंकी विरह-भक्ति प्रसिद्ध है।

५. इतर-विचिकित्साभक्ति—अत्यन्त आग्रहपूर्वक दूसरोंकी अपेक्षा न रखकर केवल भगवान्की ही अपेक्षा करना—जैसे चित्रकेतु गन्धर्व, उपमन्यु आदिकी भक्ति।

६. महिमख्यातिभक्ति—भगवान्की महिमाका कीर्तन करना—जैसे नारदजी, वेदव्यासजी आदिने भगवान्के माहात्म्यका ही गान किया।

७. तदर्थ-प्राणस्थानभक्ति—भगवान्के लिये ही प्राण धारण करना, जैसे हनूमान्जीका जीवन केवल भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके लिये ही था।

८. तदीयता-भक्ति—भगवान्के प्रति अकिञ्चन-दास-भाव रखना; जैसे दैत्येश्वर बलिकी भगवद्दासता, अम्बरीषका दास्य-भाव।

९. तद्भावभक्ति—भगवद्भाव रखकर रहना; जैसे नारदजीकी भगवद्भावके कारण भगवद्रूपता।

१०. अप्रातिकूल्य-भक्ति—भगवान्के कभी प्रतिकूल न होना और सब प्रकारसे सदा उनके अनुकूल रहना, जैसे वीरशिरोमणि भीष्मजी और धर्मावतार युधिष्ठिर सदा भगवान्के अनुकूल रहते और आचरण करते थे।

भक्तप्रवर देवर्षि नारदजीने भक्तिके निम्नलिखित ग्यारह भेद बतलाये हैं—

१—गुण-माहात्म्यासक्ति, २—रूपासक्ति, ३—पूजासक्ति, ४—स्मरणासक्ति, ५—दास्यासक्ति, ६—सख्यासक्ति, ७—कान्तासक्ति, ८—वात्सल्यासक्ति, ९—आत्मनिवेदनासक्ति, १०—तन्मयतासक्ति ११—परमविरहासक्तिरेकधाप्येकादशधा, ॥ ८२ ॥

अर्थात् भगवान्की प्रेमरूपा भक्ति वास्तवमें एक प्रकारकी होकर भी निम्नलिखित ग्यारह अवान्तर प्रकारकी हो जाती है—

१. गुणमाहात्म्यासक्ति—भगवान्के गुणोंको सुनकर या जानकर भगवान्में प्रेम करना, जैसे नारदजी, व्यास-जी, राजा परीक्षित् आदिने किया था।

२. रूपासक्ति—भगवान्के अचिन्त्यानन्तसौन्दर्य-सुधासमुद्र भुवनसुन्दर अति मनोहर रूपको देखकर प्रेम करना; जैसे गोपियाँ, मिथिलाके नर-नारी, राजा जनक आदि करते थे।

३. पूजासक्ति—भगवान्की पूजामें प्रेम करना, जैसे लक्ष्मीजी, राजा पृथु, उद्धवजी आदिने किया था।

४. स्मरणासक्ति—भगवान्के नाम-स्मरणमें प्रेम करना, जैसे प्रह्लाद, ध्रुव, श्रीचैतन्य महाप्रभु, मीराबाई आदिके विषयमें प्रसिद्ध है।

५. दास्यासक्ति—भगवान्का दास होकर प्रेम करना, जैसे हनूमान्जी, विदुरजी, अक्रूरजी आदिने किया था।

६. सख्यासक्ति—भगवान्का सखा या मित्र होकर प्रेम करना, जैसे सुग्रीव, गुहराज, अर्जुन, सुदामा, श्रीदाम आदिके विषयमें प्रसिद्ध है।

७. कान्तासक्ति—भगवान्को अपना पति मानकर प्रेम करना, जैसे रुक्मिणी, राधा, गोपियाँ, पटरानियाँ आदि करती थीं।

८. वात्सल्यासक्ति—भगवान्के 'अपने भक्तोंपर कृपा करने' के गुणपर मोहित होकर प्रेम करना, जैसे श्रीदशरथजी, श्रीवसुदेवजी, श्रीनन्दरायजी आदि करते थे।

९. निवेदनासक्ति—भगवान्को अपना सर्वस्व समर्पण कर उनसे प्रेम करना, जैसे गोपाङ्गना, राजा बलि, विभीषण, अम्बरीष, हनूमान्जी आदि करते थे।

१०. तन्मयतासक्ति—भगवान्में तन्मय या एकरूप होकर प्रेम करना, जैसे देवाधिदेव महादेवजी, सनकादि,

शुकदेवजी आदि तथा प्रेमभावमें श्रीराधाजी, गोपीगणादि।

११. विरहासक्ति—भगवान्‌का वियोग असह्य मानकर प्रेम करना, जैसे गोपियों, उद्धवजी, पाण्डव आदिने किया था।

भक्तिके और भी अनेक भेद आचार्योंने बतलाये हैं—साधनभक्ति, साध्यभक्ति, ज्ञानकर्ममिश्रा भक्ति, रागानुगा भक्ति, रागात्मिका भक्ति, प्रेमा भक्ति आदि-आदि।

भगवान्‌की भक्तिकी प्राप्तिके लिये किसी भक्तने भगवान्‌से यह प्रार्थना की है कि—

नास्था धर्मे न वसुनिचये नैव कामोपभोगे
यद्भाव्यं तद्भवतु भगवन् पूर्वकर्मानुरूपम्।
एतत् प्रार्थ्यं मम न बहुलं जन्म-जन्मान्तरेषु
त्वत्पादाम्भोरुहमुपगता निश्चला भक्तिरस्तु॥

इसका यह पद्यानुवाद है—

नहीं आस्था धर्ममें है, नहीं धनके पुञ्जमें।
नहीं इच्छा काममें है, नहीं योगनिकुञ्जमें॥
लिखा प्राक्तन कर्ममें जो, हो वही भगवन् यहाँ।
यही मेरी प्रार्थना है, जन्म मैं पाऊँ जहाँ॥
आपका गुणगान करके नाम-जप करता रहूँ।
चरण-रजका दास बनकर भक्तिरस पीता रहूँ॥

बावरी गोपी

(लेखक—प्रेमभिखारी)

[पूर्वप्रकाशितसे आगे]

(१९)

मैं तो चली पियाकी डागरिया

प्राणवल्लभ !
बस, अब हो चुका,
मैं प्रतीक्षाकी चरम सीमापर आ गयी,
स्वभावतः अब लुढ़कना ही है।
आखिर तुम नहीं ही आये।
तो सब कुछ भूलकर मुझे ही आना पड़ेगा।
अभी तो छूटी हुई हूँ,
पता नहीं सासजी फिर कब बाँध दें।
मन कहता है—चल,
नेत्र कहते हैं—चल,
कान कहते हैं—चल,
हाथ-पैर कहते हैं—चल,
तब कैसे रुकूँ, मोहन !
कहीं तुम मेरी विवशताको समझ पाते।
मेरे आनेपर तुम क्रुद्ध तो न होगे ?
क्रुद्ध ही होगे तो मेरा क्या वश है।
अब बिना तुम्हें देखे चैन नहीं।
बरबस ही सही,
निर्लज्जतासे ही सही।
एक बार तो भर आँखों तुम्हें देख ही लूँगी,
पीछे चाहे तुम धक्के देकर निकलवा ही देना।
मेरी साध तो पूरी हो जायगी,
कसक तो मिट जायगी।
तुम्हारा वह तिरस्कार भी मुझे सुख देनेवाला होगा।
और कहीं तुमने प्रेमका निर्वाह किया तो ?
नेत्रोंमें अश्रु भरे हुए प्रेमपूर्वक मुझसे मिले तो ?
आह !
क्या बताऊँ,
किस आनन्दसे उपमा दूँ,
उसके समान आनन्द तो मेरी कल्पनामें भी नहीं आता।
मुझे देखते ही पहले आदरपूर्वक राजभवनमें भेजोगे,
फिर राजकार्य छोड़कर शीघ्र ही मुझसे मिलोगे,
मिलते ही क्षमा माँगोगे,

सजल नेत्रोंसे मेरी ओर ताकोगे ।
तुम्हारे इस व्यवहारपर मैं क्या करूँगी ?
तुम्हारे चरणोंमें गिरनेके लिये आगे बढ़ूँगी,
तुम झपटकर अपने बाहु-पाशमें बाँध लोगे ।
आह, उसकी कल्पना ही कितनी मधुर और सुखद है ।
चलो, तब सब ठीक है ।
मेरे दोनों हाथोंमें लड्डू है ।
तिरस्कार किया तो भी ठीक,
एक बार जी भरकर देखके साध मिटा लूँगी ।
प्रेमसे मिले तो भी ठीक ।
अब देर करना उचित नहीं,
चलना चाहिये ।
कहीं सासजी आ गयीं तो मन-की-मनमें ही रह जायगी ।
अभी शृङ्गार भी तो करना है ।
अपने कुँवर कन्हैयाके पास क्या भद्देरूपमें जाऊँगी ?
यह चूनर ठीक नहीं,
उहुँ, यह भी अच्छी नहीं,
यह लहँगा तो बिल्कुल नहीं जँचता,
हाँ, यह मेरे प्यारेके पसंदकी वस्तु है ।
अरे, यह तो बहुत देर हुई जा रही है ।
अभी वेणी बाँधना, सेंदुर लगाना, काजल लगाना,
अङ्गराग आदि लेपना तो शेष ही है ।
ईश्वर करे सासजी किसीके घर अटक जायँ ।
ठहर, निगोड़े दर्पण !
बार-बार गिर क्यों पड़ता है ?
मेरे काममें बाधा देते तुझे लज्जा नहीं आती ?
मेरी समझमें तो अब कुछ कसर नहीं है ।
अरे हाँ, पैरोंमें महावर नहीं लगाया ।
संकोचके कारण कन्हैयाके नेत्र नीचे ही रहेंगे ।
मेरे पैरोंपर उनकी दृष्टि अवश्य ठहरेगी ।
इसलिये पैरोंको सूना रखना ठीक नहीं,
खूब चटक महावर लगाना चाहिये ।
हाँ, अब ठीक है ।
सासजी !
पतिदेव !
क्षमा करना,
मनमोहनके वियोगको सहन करनेकी शक्ति अब नहीं रह गयी ।
इसीसे आपलोगोंकी सेवा छोड़कर जा रही हूँ ।
मैं जानती हूँ कि आपलोगोंकी सेवा करना मेरा धर्म है,
आपकी सेवा छोड़कर जाना पाप है,
किंतु क्या करूँ ?
अपने वशकी बात नहीं है ।
पापका फल भोग लूँगी,
नरककी पीड़ा सह लूँगी,
किंतु अब चितचोरकी विरह-व्यथा नहीं सही जाती ।
भगवान्‌से मैं प्रार्थना करती हूँ कि अगले जन्ममें आपकी सेवा करनेका अवसर मुझे मिले ।
मेरी प्यारी धौरी !
प्यारे मुन्ना !
तुमलोगोंसे बिदा हो रही हूँ ।
क्या करूँ,
जब गोपाल ही तुमको छोड़ गया तो मैं कितना साथ दूँ ।
दुखी मत होना,
सासजी सेवा करेंगी ।
मैं वहाँसे कहला दूँगी कि मुन्नाके कंधेपर जल्दी हल न रक्खें ।
अच्छा चली ।
हे भगवान् !
दया करना ।
सासजी अभीतक तो नहीं मिलीं,

इसी प्रकार पूरा रास्ता कट जाय तो ठीक है।
बीचमें कहीं आती हुई मिल गयीं तो सीधे घर ले जाकर बाँध देंगी।
कैसे लोग हैं ?
मुझको देखकर हँसते हैं।
ओह, यह मैंने क्या किया ?
कमरमें थोड़ी साड़ी लिपटी है,
शेष सब आँचलकी ओर लटक रही है।
जल्दी-जल्दीमें ऐसा हो गया।
चलो रहने दो; जो हो गया, सो ठीक है।
हाय राम !
मेरे नेत्रोंसे यह लाल-लाल क्या निकल रहा है ?
अब याद आया।
भूलसे नेत्रोंमें सेंदुर लगा गयी और माँगमें काजल भर लिया।
भाई, जल्दीका काम ही ऐसा होता है।
अब क्या हो सकता है।
जैसा है, वैसा ही रहेगा।
वेष-भूषाके फेरमें पड़ जाऊँगी तो जाना कठिन हो जायगा।
इसकी ओर ध्यान ही न देना चाहिये।
अपने मनमोहनका स्मरण क्यों न करूँ ?
प्राणप्यारे !
देखो, मैं आ रही हूँ;
अपना सब कुछ छोड़कर आ रही हूँ।
व्रजके लोग सबसे अधिक बावरी मुझको ही समझते थे,
किंतु मैं तो अपनेको सबसे सयानी समझती हूँ।
तुम्हारे बिना रहना कैसा ?
ये कुंज जल जायँ,
लताएँ कुम्हला जायँ,
वृक्ष उखड़कर गिर पड़ें,
जमुना सूख जायँ,
तुम्हारे न रहनेपर इन सबका मूल्य ही क्या ?
इनका उपयोग ही क्या ?
वृन्दावनसे तो निकल आयी।
अब उतना डर नहीं है।
अहा ! आज आनन्द-ही-आनन्द है।
गाते हुए चलनेसे मार्ग जल्दी कटेगा।

(गाती है)

मैं तो चली पियाकी डागरिया।
डागरिया हाँ डागरिया,
मैं तो चली पियाकी डागरिया॥
जहाँ हमारो कान्ह बसत है,
वही हमारी नागरिया।
मैं तो चली पियाकी डागरिया॥
रात-दिना अपने प्यारेकी,
करूँगी मैं तो चाकरिया।
मैं तो चली पियाकी डागरिया॥

(प्रेम तथा आनन्दके कारण नेत्र बंद हो जाते हैं, पैर भी ठीक नहीं पड़ते, फिर भी गाती हुई आगे बढ़ी जा रही है।)

जाय निहारूँगी वा छबिको,
भले कहो सब बावरिया।
मैं तो चली पियाकी डागरिया॥

(इसके आनेके कुछ ही समय बाद सास घर पहुँची थी। किसीने इसके जानेका समाचार कह दिया। सास यह समझकर कि मथुराकी ओर ही गयी होगी इसके पीछे दौड़ी। कुछ दूर चलनेपर इसको देख भी लिया। सास पुकारती हुई पीछे-पीछे आ रही थी; किंतु इसे सासका शब्द नहीं सुनायी पड़ता था, अपनी धुनमें गाती हुई चली जा रही थी।)

आज कहूँगी वा छलियासे,
याद करो वा गागरिया।
मैं तो चली पियाकी डागरिया॥

(नेत्र बंद होनेके कारण मार्गसे अलग हो जाती है, सामने एक वृक्ष आ जाता है।)

छोड़ न सकती, मैं हूँ तुम्हारी

तुम हो हमारे साँ……(पेड़से सिर टकरा जाता है) **आह !**

वरिया ।

(सिरमें ठोकर लगनेसे शिथिलता बढ़ जाती है। पेड़के तनेको दोनों बाहुओंसे पकड़कर चुपचाप खड़ी हो जाती है। इसी समय सास पहुँच जाती है और बड़े स्नेहसे उसकी बाहोंको छुड़ाकर अपने कंधेका सहारा देकर घरकी ओर धीरे-धीरे ले जाती है। इसके नेत्र बंद हैं, प्रेम-विह्वल है, उसे सुधि नहीं कि कौन कहाँ लिये जा रहा है। वह समझती है कि मैं मथुरा जा रही हूँ, अतः रुक-रुककर उसके हृदयके अन्तरतमसे अब भी ये शब्द निकल रहे हैं)

मैं तो……

चली……

पियाकी………

डागरिया ।

(घर ले जाकर सास पलँगपर लिटा देती है, गोपी बेसुध ही रहती है।)

> **एक नहीं, या बिधि सबै, हहरि मरीं ब्रज-बाल।**
> **गोपीवल्लभ नाँव तुव व्यर्थ पर्यो, गोपाल॥**

आत्मदान

(लेखक—साधुवेषमें एक पथिक)

यदि तुम कहीं दुखी हो, दलित हो, भूले हो, बद्ध, व्यथित, दरिद्र और पीड़ित हो तो निस्सन्देह तुम अपने ही किसी पाप या दोषके दुर्भाव और दुर्विकारके कारण हो। अज्ञान-अन्धकारमें अपने-आपको, जैसे कुछ हो, छिपाते रहते हो; जैसे नहीं हो वैसे दिखाते रहते हो। अभीतक यदि तुम इस सत्यको नहीं जानते तो अब समझ लो कि तुम जैसे भी पापी या पुण्यवान्, मूर्ख या विद्वान्, दोषी या गुणवान्, बद्ध या मुक्त हो, वैसे ही अपने शरीरकी क्रियाओं, मनके भावों और विचारोंमें स्पष्ट होते रहते हो। तुम्हारे सुखों-दुःखोंके पीछे पाप या पुण्यकर्मोंका अनुभव होता है। प्रत्येक कर्मके पीछे दुर्भाव या शुद्ध भाव रहता है। भावोंके पीछे कुविचार या सुविचार दीख पड़ता है। विचारोंके पीछे कुसंग या सुसंगकी प्रेरणा प्रतीत होती है। संगके अनुसार ही सत्य या असत्यकी जानकारी होती है और ज्ञानके अनुरूप ही दुर्गति अथवा सद्गति मिलती है।

यदि तुम दुःखोंसे बचना चाहते हो तो पापकर्म न करो; कहीं भी दोष न रहने दो। पापोंका प्रेरक दुर्भाव है तथा दोष अविवेकके कारण बनते रहते हैं, इसलिये दुर्भावको मनमें स्थान न दो, विवेकी बनो। दुर्भावका सहायक कुविचार है, इसलिये कुविचारोंको बुद्धिमें आते ही हटा दो। कुविचारोंका पोषक कुसंग है, कुसंगका निवारक सत्संग है; इसलिये संतों, विरक्तों और ज्ञानी पुरुषोंके संगी बनो। सत्संगसे ही प्रत्येक जीवका अभ्युत्थान होता आ रहा है।

यदि तुम सुख-चाहते हो तो दूसरोंकी यथाशक्ति विचारपूर्वक सेवा करो। पुण्यवान् और सद्गुणसम्पन्न बनो, शारीरिक और मानसिक दुःखोंकी मूलभूमि दोष हैं और सुखोंका अधिष्ठान पुण्य है। यदि तुम शक्ति चाहते हो तो दूसरोंकी सेवा करते हुए तपस्वी बनो, तपसे दुर्बलता दूर होती है तथा शक्ति मिलती है। यदि तुम सुख-दुःखके बन्धनसे थककर शान्ति चाहते हो तो जो कुछ—'अहम्' के साथ मेरा स्वीकार कर रक्खा है, उसका त्याग करो। यदि तुम मुक्ति चाहते हो तो जो कुछ संसारमें बद्ध है, उसका आश्रय न लेकर

ज्ञानी पुरुषोंके सत्संगसे ज्ञान प्राप्त करो । यदि तुम भक्ति चाहते हो तो श्रीभगवान्‌को ही अपना जानकर उन्हींके अभिमानी बनो ।

अपने जीवनमें जहाँतक तुम भोगजनित सुखोंकी तृष्णाको तृप्त करनेके लिये अनावश्यक और नीच विचारोंके अधीन होकर समय और शक्तिका दुरुपयोग करते हो, वहाँतक मूर्खता, अदूरदर्शिता और अयोग्यताका ही परिचय देते हो; इसके विपरीत जब तुम कभी न तृप्त होनेवाली तृष्णाका त्याग करते हो और विचारोंको स्ववश रखते हुए परार्थी और परमार्थी बनते हो, तब अपनी बुद्धिमत्ता, योग्यता और दूरदर्शिताका परिचय देते हो ।

जहाँतक तुममें आहारमें अति आसक्ति, भोगकामनाओंकी प्रबलता, अमर्यादित निद्रा तथा अपनी ही शरीररक्षाका पक्ष और केवल बद्ध दशामें ही यन्त्रवत् कार्य करते रहनेकी आदत है, वहाँतक तुम अपनेमें पशुप्रकृतिकी प्रधानता समझो । जहाँतक तुम अपनी ही शक्तिका वृद्धि चाहते हो और प्राप्त शक्तिका अपनी ही तृप्तिके लिये सुखोपभोगमें दुरुपयोग करते हो, साथ ही सुखद पदार्थोंकी प्राप्तिके लिये दूसरे प्राणियोंके प्रति निर्दयता, क्रूरता, कठोरतापूर्वक हिंसात्मक व्यवहार करते हो, वहाँतक तुम अपनेमें आसुरी प्रकृतिको ही प्रबल समझो । जब तुम भोजन, निद्रा और सुखोपभोगमें समुचित मर्यादाका पालन करते हो, अपने सर्वाङ्गोंपर संयम रखते हो, शक्तिका कहीं भी दुरुपयोग नहीं होने देते, सद्भावपूर्वक शुभ कर्म करते हुए सद्गुणोंको बढ़ाते हो और जीवनमें दिव्यताको प्राप्त करना तुम्हारा लक्ष्य होता है, तब तुम अपनेमें मानवी प्रकृतिको जाग्रत् समझो । जब तुम संयमित शक्तिको अपनी अहङ्कृत रुचिपूर्तिमें व्यय न कर दूसरोंकी सेवाओंमें सदुपयोग करते हो, भोगाभ्यासके स्थानपर योगाभ्यास करते रहते हो, क्रोधके बदले दया और क्षमा, कृपणताके स्थानमें उदारता, लोभके बदले दानशीलता, कामनाके स्थानमें निष्कपटता, मोहके स्थानमें गम्भीर विवेक और द्वेषके स्थानमें प्रेमपूर्वक व्यवहारसे काम लेते हो, तुम्हारा अभ्युदय निःश्रेयसमें परिणत होने लगता है, प्रपञ्चसे उदासीनता एवं सांसारिक सुखों, वस्तुओं और व्यक्तियोंसे विरक्तिका भाव प्रबल होता है और वह तुम्हें परम शान्तिका दान करता है, तभी तुममें दैवी प्रकृतिकी प्रधानता कही जा सकती है ।

तुममें जहाँ कहीं कायरता, दुर्बलता, प्रभावशून्यता और दूसरोंके प्रति घृणा, विश्वासघात, छल तथा कपट आदि दोष दीख पड़ते हैं, वहीं तुम अपनी चरित्रहीनताका परिचय देते हो । जहाँ कहीं वीरता, दृढ़ता, प्रभावशालिता, सत्यता, सरलता, विनम्रता, जितेन्द्रियता तथा परोपकार आदिकी क्रियाएँ दीखती हैं, वहीं तुम सच्चरित्रवान् सिद्ध होते हो । जब तुम्हारे मनमें नवीन भोग-विलासोंकी इच्छा प्रबल होती है और तुम उसकी पूर्तिका प्रयत्न करते हो, तब तुम दुःखके पथपर उतरते हुए दरिद्रताका वरण करते हो । जब भोग-इच्छाओंको रोककर और सन्तोष धारणकर दूसरोंकी सेवाके लिये शक्ति और अपने लिये शान्तिकी आकाङ्क्षा करते हो, तब तुम अपनी प्रकृतिमें उदारताका परिचय देते हो ।

यदि तुम धनी होकर दानी नहीं, निर्धन होते हुए भी तपस्वी नहीं, विद्वान् होकर विनम्र नहीं, अशिक्षित होकर मितभाषी नहीं, बलवान् होकर परिश्रमी नहीं, निर्बल होकर विनयी नहीं, सुखी एवं सम्पन्न होकर सेवापरायण नहीं, दुखी होकर दोषोंके त्यागी नहीं, वयोवृद्ध होकर संसारसे विरक्त नहीं तथा मानव होकर भगवान्‌के भक्त नहीं हो, तब निस्सन्देह तुम अपने दुर्भाग्यको ही परिपुष्ट कर रहे हो ।

जब तुम प्रिय सम्बन्धियोंका वियोग होनेपर अनुद्विग्न रह सको, तभी तुम मोहजित् हो । जब अपने पास

सञ्चित धन आदि वस्तुओंकी हानिमें भी चिन्तित और व्यथित न हो सको, तभी लोभजित् हो। जब अपनी हानि पहुँचानेवालेके प्रति, अपना विरोध और अनादर करनेवालेके प्रति भी अनुत्तेजित रहकर उससे प्यार करते रहो, तभी क्रोधजित् हो। जब रूप, रस, शब्द, स्पर्श आदि सुखद विषयोंका संयोग होनेपर भी मनको असमर्पित रखकर किसीकी भी इच्छा नहीं करते हो, तभी तुम कामजित् हो। जब तुम संसारकी किसी सुखद या दुःखद वेदनासे विचलित न होकर सत्स्वरूपमें स्थित रहोगे, तब समदर्शी या तत्त्वदर्शी होगे। जब तुम प्राणिमात्रके प्रति प्यारका परिचय देते हुए अहिंसा-व्रत-पालनका स्वभाव बना लोगे और किसी भी वस्तुके आने तथा जानेमें संयोग-वियोगका अनुभव न करोगे, तभी तुम नित्य योगी बन सकोगे।

श्रीरामनामामृतम्

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

अंहः संहरदखिलं सकृदुदयादेव सकललोकस्य।
तरणिरिव तिमिरजलधिं जयति जगन्मङ्गलं हरेर्नाम॥

जो लोग सर्वदा भगवद्‌यशसुधा एवं भगवन्नामामृतका पान करते रहनेसे कृतार्थस्वरूप हैं, उनके लिये कुछ कहना आवश्यक न होनेपर भी अपनी लेखनीको पवित्र करनेके लिये मैं भगवन्नामके सम्बन्धमें कुछ लिख रहा हूँ। प्रत्येक बुद्धिमान् इस उद्देश्यसे भगवद्-यशका गान करता ही है—

'बुध बरनहिं हरि जस अस जानी।
करहिं पुनीत सुफल निज बानी॥'
'निज गिरा पावनि करन कारन राम जस तुलसी कह्यो।'
'पर-अपबाद बिबाद बिदूषित बानिहि।
पावन करौं सुगाइ भवेस भवानिहि॥'

पर आज लोग बुद्धि खो चुके हैं, इसलिये सर्वत्र ही 'सर्वार्थान् विपरीतांश्च'का बोध हो रहा है। आज बहुत कम लोगोंकी शास्त्रोंपर आस्था दिखायी देती है। आज सभी विदेशी नीतिकी नकल करनेमें लगे हैं। अब यहाँ वही सर्वाधिक बुद्धिमान् समझा जाता है, जो सर्वाधिक तन-मनसे विदेशी बन चुका हो। गीतापर इसीलिये कुछ श्रद्धा है कि उसकी आज विदेशोंमें भी बड़ी पूछ है; पर उसमें क्या लिखा है, इसपर कोई भी गहराईसे विचार नहीं करते। गीताकारने सात्त्विकी, राजसी और तामसी—इन तीन प्रकारकी बुद्धियोंकी चर्चा की है। आज तो सर्वदा विषय-सुखोंके ही चिन्तनमें निमग्न रहनेके कारण 'ध्यायतो विषयान् पुंसः' से चलकर 'स्मृतिभ्रंश और बुद्धिनाश'की दयनीय दशा सामने आ गयी है, और व्यापक बुद्धिनाशका परिणाम व्यापक विनाश भी परमाणु-बम, गृह-कलह तथा कम्यूनिस्ट-उपद्रवोंका रूप धारणकर तैयार हो गया है। अभी भी यदि सात्त्विक बुद्धिका स्मरण किया जाय तो बहुत कुछ काम बन सकता है; पर प्रश्न तो यह है कि सात्त्विक बुद्धिकी प्राप्ति क्या कोई हँसी-खेल है? नारदपुराणका कहना है कि 'सारे पापोंके नष्ट हो जानेपर मनुष्यकी बुद्धि निर्मल होती है—

सर्वपापेषु नष्टेषु बुद्धिर्भवति निर्मला।

(पू० भा० ३३, ३०)

पर आज हम आँखें मूँदकर पाप करते जा रहे हैं। फिर कैसे आशा रक्खी जाय कि हमारी बुद्धि स्वच्छ होगी। फिर जबतक बुद्धि स्वच्छ नहीं होती तबतक हमें यथार्थ दृष्टि कैसे मिल सकती है।

प्रत्येक बुद्धिमान् भगवद्‌यशका गान करता ही है। इस उक्तिके 'बुद्धिमान्' शब्दको लेकर बात यहाँतक बढ़ आयी। अस्तु, हमें देखना है कि हमारा परम कल्याण किसमें है। आजके बुद्धिमान् कहे जानेवाले लोग एक

ही वाक्यमें शास्त्रोंका प्रामाण्य समाप्त कर देते हैं—वह यह कि शास्त्रोंमें परस्पर-विरोधिनी बातें हैं और 'तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्नाः' इस महाभारतके श्लोकसे अपने मतका समर्थन भी कर डालते हैं। ऐसा कहनेवालोंको 'पूर्वमीमांसा' तथा 'न्यायदर्शन'के 'अभ्युपेत्य कालभेदे दोषवचनात्' आदि सूत्रोंकी व्याख्या समझनी चाहिये। सच्ची बात तो यह है कि 'तर्कोऽप्रतिष्ठः' श्लोकको शास्त्रोंमें विरोध दिखलानेवाला समझना भी बुद्धिभ्रान्तिका ही परिणाम है। असलमें तो इस श्लोकका तात्पर्य शास्त्रोंके समन्वयमें है। 'महाजनो येन गतः स पन्थाः' में स्पष्ट ही अपने कुलमार्गके अनुसरणकी बात कही गयी है। अस्तु,

अन्य बातोंमें भले ही इन श्रुतियों, स्मृतियों तथा मुनियोंके मतमें स्वल्प भेद रहा हो, पर भगवत्स्मरणमें तो इन सभीका एक ही डिण्डिम-घोष है। गोस्वामीजीने 'तर्कोऽप्रतिष्ठः' श्लोकका स्मरण करते हुए इसको बड़े सुन्दर शब्दोंमें लिखा है। रामायणका उपसंहार करते हुए वे कहते हैं—

सिव अज सुक सनकादिक नारद।
जे मुनि ब्रह्म बिचार बिसारद॥
सब कर मत खगनायक एहा।
करिअ राम पद पंकज नेहा॥
श्रुति पुरान सब ग्रंथ कहाहीं।
रघुपति भगति बिना सुख नाहीं॥

कितने स्पष्ट शब्द हैं। उपर्युक्त शङ्काका यह कैसा सुन्दर समाधान है! भगवत्स्मरण-भगवत्सपर्याका महत्त्व बतलाते हुए गोस्वामीजी आगे डंकेकी चोट कहते हैं—

कमठ पीठ जामहिं बरु बारा।
बंध्यासुत बरु काहुहि मारा॥
फूलहिं नभ बरु बहुबिधि फूला।
जीव न लह सुख हरि प्रतिकूला॥
तृषा जाइ बरु मृगजल पाना।
बरु जामहिं सस सीस बिषाना॥
अंधकारु बरु रबिहि नसावै।
रामबिमुख न जीव सुख पावै॥

हिम ते अनल प्रगट बरु होई।
बिमुख राम सुख पाव न कोई॥
बारि मथें घृत होइ बरु सिकता ते बरु तेल।
बिनु हरिभजन न भव तरिअ यह सिद्धांत अपेल॥

रामनाम सर्वोपरि सुधा है

आज किसी भी बातको जबतक तर्कदृष्टिसे नहीं समझाया जाता, समझमें नहीं आती—सिर चक्कर देकर फूट भले ही जाय। संसारकी विचित्रताओंपर ध्यान देनेसे प्रभुकी कृपा स्पष्ट ही झलकती है, पर मायाका प्रबल चक्र हमें देखते रहनेपर भी देखने नहीं देता। मणि, माणिक, वज्र, पन्ना, मोती और पद्मराग तथा इन्द्रनील मणि आदि रत्न कितने अधिक मूल्यमें बिकते हैं; पर ये कितने कामकी चीजें हैं। इनके बिना अबतक जीवनयापनमें किसे कठिनाई हुई? अन्न-वस्त्र हमारी अधिक जरूरतकी चीजें हैं; यदि इनकी वैसी कीमत होती तो हम कबतक जीवन धारण करते। पर ये चीजें भी जलकी अपेक्षा कम ही आवश्यक हैं। जलकी हमें पग-पगपर आवश्यकता पड़ती है, पर कृपाकन्द मुकुन्दने उसे निर्मूल्य दिया। आगे बढ़िये—वायुको देखिये। इसके लिये हमें यदि जल-जितना भी प्रयत्न करना पड़ता तो हमारे प्राण कभीके चले गये होते, उसके लिये प्रभुने कैसी सहज व्यवस्था की। इसे देखकर भी जो प्रभुके प्रति कृतज्ञ नहीं हो, उसके लिये क्या कहा जाय। कृतघ्नके लिये कहा गया है—

अल्पमप्युपकारं यो न स्मरेत्केनचित्कृतम्।
कृतघ्नः स तु लोकेऽस्मिन् ब्रह्मघ्नादपि पापकृत्॥

किंतु ऐसा करनेवाले तो संसारके सबसे बड़े कृतघ्न हैं। इसी तरह वायुसे भी अधिक मूल्यवान् एवं कामकी आवश्यक चीज परम अमृत साक्षात् सुधाको भगवान्ने कृपाकर हमारे सामने उँडेल दिया है। वह है—भगवन्नामामृत—भगवच्चरितामृत। पर हम इस कृपाकी कद्र नहीं करते—

सुगम उपाय पाइबे केरे। नर हतभाग्य देहिं भट भेरे॥

हम जान-बूझकर प्रमादवश अपना सुअवसर खो रहे हैं। देवताओंके अमृतके लिये हमलोग उत्सुक रहते हैं, पर वे सोमपायी पुण्यक्षीण होते ही मृत्युलोकको ढकेल दिये जाते हैं। उनका अमृतपान व्यर्थ हो जाता है, पर नामामृतके पान करनेवालेकी स्वप्नमें भी मृत्यु नहीं होती—

सततं श्रीहरेर्नाम भारते यो जपेन्नरः।
स एव चिरजीवी च ततो मृत्युः पलायते॥
(ब्रह्मवैवर्त० प्रकृति० २७।२१; देवी० ९।३०।२१)

राम रामेति ये नित्यं जपन्ति मनुजा भुवि।
तेषां मृत्युभयादीनि न भवन्ति कदाचन॥
(अध्यात्म० २।५।२६)

'नाम प्रसाद संभु अबिनासी। साजु अमंगल मंगल रासी॥
सुक सनकादि सिद्ध मुनि जोगी। नाम प्रसाद ब्रह्मसुख भोगी॥
नाम प्रभाउ जान सिव नीको। कालकूट फलु दीन्ह अमी को॥'

'भाई धारि फिरि कै, गोहारि हितकारी होति,
आई मीचु मिटति जपत रामनाम को।'
(कवितावली उत्तर०)

सून्य मरै अजपा मरै, अनहद हू मरि जाय।
नाम सनेही ना मरै, कह कबीर समुझाय॥

—आदि कितने ही प्रमाण, उदाहरण इसके भरे पड़े हैं। पर हम इतने अभागे हैं कि इधर ध्यान ही नहीं देते। इससे बढ़कर अब अधिक मोह क्या होगा। यह दशा अत्यन्त स्पष्ट होते हुए भी भगवत्कृपासे वञ्चित जन इसे नहीं समझ पाते—

मनि मानिक महँगे किए, सहँगे तृन जल नाज।
तुलसी एते जानिऐ, राम गरीबनेवाज॥

आजके प्रज्ञाभिमानी, पण्डितम्मन्य, मायामुग्ध जन हेत्वाभास तथा अनेक प्रकारके छल-छद्मोंद्वारा ईश्वरास्तित्वको खण्डन करनेका बाल-प्रयास करते हैं। यह उनका महामोह तथा बुद्धि-कालुष्यका जीता-जागता परिणाम है। हम पहले कह चुके हैं कि निर्मल सात्त्विक बुद्धि ही भगवत्तत्त्वको धारण कर सकती है। जिस तरह कच्चे घटमें जल नहीं रह सकता, ठीक उसी तरह अनधिकारीके हृदयमें ज्ञान नहीं ठहर सकता। मद-मोहादिके रहते यथार्थ ज्ञान कहाँ। श्रीहनुमान्‌जीने रावणसे कहा था—

राम नाम बिनु गिरा न सोहा।
देखु बिचारि त्यागि मद मोहा॥

यही बात गोस्वामीजीने रामायण-वन्दनामें कही है—

भनिति बिचित्र सुकबि कृत जोऊ।
राम नाम बिनु सोह न सोऊ॥
बिधुबदनी सब भाँति सँवारी।
सोह न बसन बिना बर नारी॥
सब गुन रहित कुकबि कृत बानी।
राम नाम जस अंकित जानी॥
सादर कहहिं सुनहिं बुध ताही।
मधुकर सरिस संत गुनग्राही॥

ठीक ये ही बातें भागवतके प्रथम स्कन्धके पाँचवें अध्यायमें तथा १२ वें स्कन्धके १२ वें अध्यायमें आती हैं। 'नानापुराणनिगमागमसम्मत'के रूपमें गोस्वामीजीने यहाँ—

न यद्वचश्चित्रपदं हरेर्यशो
जगत्पवित्रं प्रगृणीत कर्हिचित्।
तद्वायसं तीर्थमुशन्ति मानसा
न यत्र हंसा निरमन्त्युशिक्क्षयाः॥
तद्वाग्विसर्गो जनताघविप्लवो
यस्मिन्प्रतिश्लोकमबद्धवत्यपि।
नामान्यनन्तस्य यशोऽङ्कितानि य-
च्छृण्वन्ति गायन्ति गृणन्ति साधवः॥
(श्रीमद्भा० १।५।१०-११)

—इत्यादि श्लोकोंका अनुवाद ही कर दिया है। श्रीचैतन्यदेव तो विद्यारूपी स्त्रीका पति भगवन्नामको ही कहते हैं—'विद्यावधूजीवनम्।' 'अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते' इस उपनिषद्वचन तथा—

आधारः सर्वविद्यानां स्वयमेव हरिः स्थितः।

—इस विष्णुपुराणके वचनको देखते हुए इसमें कुछ विचित्रता भी नहीं। इस तरह यह स्पष्ट है कि जिसकी विद्या भक्तिविहीन है, वह इन तत्त्वदर्शियोंकी दृष्टिमें विधवा है—

वन्ध्यां गिरां तां बिभृयान्न धीरः।

भगवन्नामके माहात्म्यका यथार्थ वर्णन तो स्वयं भगवान् भी नहीं कर सकते—'राम न सकहिं नाम गुन गाई।' फिर भी संक्षेपमें ऐसा कहनेमें कोई अत्युक्ति नहीं कि सबसे बड़ा भाग्यवान् नामजापक ही है—

रामनाम-गति, रामनाम-मति, राम-नाम-अनुरागी।
ह्वै गये, हैं, जे होहिंगे, तेइ त्रिभुवन गनियत बड़भागी॥

सर्वप्रथम पूज्य देव श्रीगणेशजी रामनामकी ही कृपासे हुए—

महिमा जासु जान गनराऊ। प्रथम पूजिअत नाम प्रभाऊ॥

आदिकवि, अतुल्य विद्वान् रामनामके प्रसादसे ही हुए—

जान आदि कबि नाम प्रतापू। भयउ सुद्ध करि उलटा जापू॥

पतिव्रताशिरोमणि भगवती जगज्जननी पार्वती भी इसी नामको जपती हैं—

हरषे हेतु हेरि हर ही को। किय भूषन तिय भूषन ती को॥

और भगवान् शङ्कर तो—

तुम पुनि राम राम दिन राती। सादर जपहु अनँग आराती॥

—प्रसिद्ध ही है। अगस्त्यजीने इसीके प्रतापसे समुद्र-शोषण किया—

कलसयोनि जिय जानेउ नाम प्रतापू।
कौतुक सागर सोखते हियँ करि दापू॥

ध्रुव-प्रह्लाद भी इसीके आराधक रहे—

नामु जपत प्रभु कीन्ह प्रसादू। भगत सिरोमनि भे प्रहलादू॥
ध्रुवँ सगलानि जपेउ हरि नाऊँ। पायउ अचल अनूपम ठाऊँ॥

स्पष्ट बात तो यह है कि जिसने भी नामकी ओट ली, उसीने अभीष्टको पा लिया।

ताहि भजहि मन तजि कुटिलाई। राम भजें गति केहिं नहिं पाई॥

इन्हीं सब कारणोंसे भावुकोंने वेदोंकी सम्पूर्ण विधि-निषेधात्मक आज्ञाओंको दो ही वाक्योंमें समाप्त किया—

स्मर्तव्यः सततं विष्णुर्विस्मर्तव्यो न कर्हिचित्।
सर्वे विधिनिषेधाः स्युरेतयोरेव किङ्कराः॥

राम सुमिरत सब बिधि ही को राज रे।
राम को बिसारिबो निषेध-सिरताज रे॥

और आजके युगके लिये तो इसके अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय ही नहीं—

एक ही साधन सब रिद्धि-सिद्धि साधि रे।
ग्रसे कलि-रोग जोग-संजम-समाधि रे॥

नहिं कलि करम न भगति बिबेकू। राम नाम अवलंबन एकू॥

बस, गजेन्द्रकी नाईं हमने जहाँ अपने बुद्धिबल तथा विद्याके चातुर्यको छोड़कर भगवान्‌को स्मरण किया कि फिर भगवान् तो सामने हैं ही—

मन क्रम बचन छाँड़ि चतुराई। भजत कृपा करिहहिं रघुराई॥

राम-भजन

मूढ़ मन कहो रामसीता।
जो जपता हरिनाम प्रेमसे सो जगमें जीता॥ मूढ़०॥
तप-व्रत-योग कठिन कलियुगमें रहे सदा रीता।
जगमें सभी स्वार्थके संगी एक राम मीता॥ मूढ़०॥
नामामृत अति मधुर सुधा-से क्यों न सतत पीता।
कँवलबास नित भजन करो अब जीवन सब बीता॥ मूढ़०॥

—महात्मा जयगौरीशंकर सीताराम

भगवान्‌के शीघ्र मिलनमें भाव ही प्रधान साधन है

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

संसारमें क्रियाकी अपेक्षा भाव ही प्रधान है। छोटी-से-छोटी क्रिया भी भावकी प्रधानतासे मुक्तितक दे सकती है और उत्तम-से-उत्तम क्रिया भी निम्नश्रेणीका भाव होनेपर नरकमें ले जाती है। जैसे कोई मनुष्य जप, तप, ध्यान, स्तुति, प्रार्थना, पूजा, पाठ, यज्ञ और अनुष्ठान आदि दूसरोंके अनिष्ट या विनाशके लिये करता है तो उसके फलस्वरूप कर्ताको नरककी प्राप्ति होती है। अनुष्ठान आदि क्रिया तो बहुत ही उत्तम है; किंतु भाव तामसी होनेके कारण कर्ताकी अधोगति होती है। भगवान् कहते हैं—

जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥

(गीता १४ । १८)

'तमोगुणके कार्यरूप निद्रा, प्रमाद और आलस्यादिमें स्थित तामस पुरुष अधोगतिको अर्थात् कीट, पशु आदि नीच योनियोंको तथा नरकोंको प्राप्त होते हैं।' और यही उत्तम क्रिया स्त्री, धन, पुत्र आदिकी प्राप्तिके लिये अथवा रोगनिवृत्तिके लिये की जाय तो राजसी भाव होनेके कारण उससे मध्यम गति प्राप्त होती है। सारांश यह कि जिस-जिस भावनासे क्रिया की जाती है, उस-उसकी ही प्राप्ति होती है। उपर्युक्त उत्तम क्रिया ही जब कर्तव्य समझकर निष्काम प्रेमभावसे भगवदर्थ की जाती है, तब उसका फल अन्तःकरणकी शुद्धि होकर भगवान्‌की प्राप्ति होती है। इस प्रकार एक ही क्रिया भावके कारण उत्तम, मध्यम और अधम फल देनेवाली होती है। एक निम्नश्रेणीकी क्रिया है; किंतु भाव यदि उच्चकोटिका है तो वह भी मुक्ति प्रदान करनेवाली हो जाती है। जैसे माता-पिता, गुरुजनोंके रूपमें बच्चोंका शासन करना, डाक्टरके रूपमें चीर-फाड़ करना, सड़क आदिकी सफाई करना, जलानेके लिये लकड़ियोंका बोझ ढोना, वस्तुओंका न्याययुक्त क्रय-विक्रय करना, भृत्य तथा सेवाका काम करना—यहाँतक कि गंदगी मिटानेके लिये टट्टी-पेशाब साफ करना—इत्यादि जो निम्नश्रेणीकी क्रियाएँ हैं, ये सब भी कर्तव्य समझकर निष्काम प्रेमभावसे की जायँ तो उसके फलस्वरूप अन्तःकरणकी शुद्धि होकर परमात्माकी प्राप्तितक हो सकती है। और यही क्रियाएँ सकामभावसे की जायँ तो इनसे अर्थकी सिद्धि होती है।

कहा जाता है, भीलनी शबरी मार्गपर झाड़ू लगाया करती तथा कूड़ा-कर्कट, काँटे आदि साफ किया करती एवं जंगलसे लकड़ियाँ इकट्ठी करके ऋषि-मुनियोंके आश्रमोंके पास रख दिया करती थी। यह देखनेमें नीची श्रेणीका काम दीख पड़ता है; किंतु वह निष्कामभावसे कर्तव्य समझकर करती थी। इसलिये उसका भाव उत्तम होनेसे उसका अन्तःकरण शुद्ध होकर उसे भगवत्प्राप्ति हो गयी।

पद्मपुराणमें कथा आती है—जब नरोत्तम ब्राह्मण तुलाधार वैश्यके यहाँ गया, उस समय तुलाधार ग्राहकोंको माल बेचनेमें लगा था। इस कारण उसने कहा कि 'अभी मुझे अवकाश नहीं है। ग्राहकोंकी यह भीड़ एक पहर रात्रि बीतनेतक रहेगी, उसके बाद ही मुझे अवकाश मिल सकता है। यदि आप इतनी देर न रुक सकें तो आप सज्जन अद्रोहकके पास जाइये; आपके द्वारा जो बगुला मर गया और आपकी धोती आकाशमें सूखनी बंद हो गयी, इस सबका रहस्य आपको आगे मालूम हो जायगा।' भगवान्‌ने, जो कि ब्राह्मणके रूपमें नरोत्तमके साथ-साथ चल रहे थे, कहा—'चलो, हम सज्जन अद्रोहकके पास चलें।' यों कह वे वहाँसे सज्जन अद्रोहकके पास जाने लगे; तब रास्तेमें नरोत्तमने उनसे पूछा कि 'तुलाधारने मेरे द्वारा बगुलेके भस्म होनेकी बात कैसे जानी?' भगवान्‌ने बतलाया कि यह क्रय-विक्रयमें सबके साथ सत्य तथा सम व्यवहार करता है, इसीसे इसे तीनों कालोंका ज्ञान है। इसी कारण उस तुलाधारके घरमें भगवान् ब्राह्मणके रूपमें निवास करते थे और अन्तमें वह तुलाधार वैश्य विमानमें बैठकर परम धाममें चला गया।

यहाँ विचारना यह है कि तुलाधार वैश्यकी क्रय-विक्रयरूप क्रिया तो देखनेमें निम्नश्रेणीकी है; परंतु स्वार्थत्याग, सचाई, ईमानदारी और समताके व्यवहारके कारण वही क्रिया इतनी उच्च हो गयी कि उसे परमपद प्राप्त करानेवाली सिद्ध हुई।

इससे यही बात सिद्ध होती है कि भाव ही प्रधान है, क्रिया नहीं। इसलिये हमें उचित है कि हम जब कभी कोई क्रिया करें, उसे उत्तम-से-उत्तम भावसे करें।

जब नीची-से-नीची क्रिया भी उत्तम-से-उत्तम गति प्राप्त करा सकती है, तब फिर जहाँ क्रिया भी उत्तम-से-उत्तम हो और भाव भी उत्तम-से-उत्तम हो, वहाँ तो कहना ही क्या है।

इसी भावको समझनेके लिये निम्नलिखित एक कहानी है—

भगवान्‌का एक भक्त साधक था । वह एक पीपलके वृक्षके नीचे रहकर भजन-ध्यान, गीता-पाठ, साधु-सेवा, तप और उपवास आदि किया करता था । एक समय वहाँ देवर्षि नारदजी पधारे । साधकने उनकी बहुत सेवा-शुश्रूषा की । तदनन्तर जब नारदजी जाने लगे, तब उसने नारदजीसे पूछा 'भगवन् ! आप कहाँ जा रहे हैं ?' नारदजीने बतलाया 'मैं भगवान्‌के पास वैकुण्ठमें जा रहा हूँ ।' उसने नारदजीके चरणोंमें सिर नवाया और हाथ जोड़कर उत्सुकतापूर्वक दीनभावसे प्रार्थना की कि 'क्या आप मेरे लिये भी भगवान्‌से यह पूछ लेंगे कि मुझे उनके दर्शन कब होंगे ?' नारदजीने कहा—'क्यों नहीं, जरूर पूछकर तुझे उत्तर दूँगा ।' इतना कह नारदजी वहाँसे चल दिये और बड़े प्रेमसे भगवान्‌के नाम और गुणोंका कीर्तन करते हुए वैकुण्ठधाम पहुँचे ।

भगवान्‌ने पूछा—'नारद ! तुम कहाँसे आ रहे हो ?' नारदजीने कहा—'एक वृक्षके नीचे आपका एक भक्त आपके भजन-ध्यान और तपस्यामें संलग्न है, अभी मैं वहींसे आ रहा हूँ । भगवन् ! उसकी सेवा-पूजा, भजन-ध्यान और तपस्या प्रशंसाके योग्य है । प्रभो ! उसने मेरे द्वारा आपसे यह पुछवाया है कि उसे भगवान्‌के दर्शन कब होंगे ।' भगवान् बोले—'नारद ! यह बात तुम मत पूछो ।' नारदजीकी उत्सुकता और बढ़ी । उन्होंने कहा—'क्यों नहीं, भगवन् ?' भगवान्‌ने उत्तर दिया—'नारद ! वह जिस प्रकार भजन-ध्यान, सेवा-शुश्रूषा और तपस्या कर रहा है, उस प्रकार करते रहनेपर तो उसे मेरे दर्शन होनेमें बहुत विलम्ब होगा । इस प्रकार साधन करनेपर तो उसे उस पीपलके वृक्षके जितने पत्ते हैं, उतने वर्षोंमें मेरे दर्शन होंगे ।' भगवान्‌की यह बात सुनकर नारदजी सहम गये; उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ और वे बोले—'भगवन् ! वह तो बहुत ही तीव्रतासे सेवा-शुश्रूषा, जप-ध्यान, तपस्या आदि कर रहा है; फिर उसके लिये इतना विलम्ब क्यों ?' भगवान्‌ने कहा—'नारद ! तुम इसका रहस्य नहीं समझते; मैं जो कुछ कहता हूँ, वही उससे कह देना ।' तदनन्तर नारदजीने भगवान्‌से और भी भक्ति, प्रेम, ज्ञान, वैराग्यसम्बन्धिनी चर्चा की ।

फिर नारदजी वहाँसे लौटकर उसी पीपलके वृक्षके नीचे बैठे उस भक्तके पास पहुँचे । नारदजीको देखते ही भक्त उनके चरणोंमें गिर पड़ा और बड़ी व्यग्रतासे पूछने लगा—'प्रभो ! क्या मेरी भी चर्चा वहाँ चली थी ?' उसकी व्याकुलताभरी बात सुनकर नारदजी आश्चर्यान्वित हो गये और बोले—'तुम्हारा प्रसङ्ग चला तो था, किंतु कहनेमें संकोच होता है ।' भक्तने कहा—'भगवन् ! संकोच किस बातका है ? क्या भगवान्‌ने साफ इन्कार कर दिया ? क्या इस जन्ममें मुझे भगवान् नहीं मिलेंगे ? जो भी हो, आप मुझे बतलाइये तो सही । आप संकोच न करें, मुझे इससे कोई दुःख नहीं होगा ।'

उसके आग्रह करनेपर नारदजीने सारी बात ज्यों-की-त्यों बतला दी और कहा—'अन्तमें भगवान्‌ने तुम्हारे लिये यही कहा है कि इस प्रकार साधन करते-करते इस पीपलके वृक्षके जितने पत्ते हैं, उतने वर्षोंमें मेरे दर्शन होंगे ।' इतना सुनते ही वह भक्त आश्चर्यचकित हो गया और करुणाभावपूर्वक गद्‌गद वाणीसे कहने लगा—'क्या मुझ-जैसे अधमको भगवान्‌के दर्शन होंगे ? क्या यह बात भगवान्‌ने अपने श्रीमुखसे कही है ? अहा ! जब कभी हो, मुझे भगवान्‌के दर्शन तो अवश्य ही होंगे ।' नारदजी बोले—'होंगे तो सही, क्योंकि भगवान्‌ने स्वयं अपने मुखसे कहा है; किंतु होंगे बहुत ही विलम्बसे ।' यह सुनकर कि 'भगवान्‌के दर्शन अवश्य होंगे' उस भक्तके आनन्दका ठिकाना नहीं रहा । उसका भाव बदल गया । वह आनन्दविह्वल होकर प्रेमार्द्रभावसे भगवान्‌के नाम और गुणोंका कीर्तन करता हुआ जोरोंसे नाचने लगा । आनन्द और प्रेममें वह इतना निमग्न हो गया कि उसे अपने तन-बदनकी भी सुधि नहीं रही । फिर विलम्ब ही क्या था । भगवान् उसी क्षण वहाँ प्रकट हो गये । भगवान्‌को देखकर नारदजी अवाक् रह गये । उन्होंने पूछा—'भगवन् ! आप तो कहते थे कि इस प्रकार साधन करते-करते, इस वृक्षके जितने पत्ते हैं, उतने वर्षोंमें मेरे दर्शन होंगे । परंतु वर्षोंकी बात तो दूर रही, अभी तो एक मुहूर्त भी नहीं बीत पाया है कि आप प्रकट हो गये ।' भगवान् बोले—'नारद ! वह बात दूसरी थी और यह बात ही दूसरी है । मैंने तुमसे कहा था न कि तुम इसके रहस्यको नहीं जानते ।' नारदजीने कहा—'प्रभो ! इसका क्या रहस्य है, वह मुझे बतलाइये ।' भगवान् बोले—'नारद ! उस समय तो इसके साधनमें क्रिया-की ही प्रधानता थी, किंतु अब इस समय तो इसके क्रियाके साथ ही भावकी भी प्रधानता है । साधुओंकी सेवा-शुश्रूषा, व्रत-उपवास, तपस्या, गीता-पाठ, सत्पुरुषोंका संग, स्वाध्याय और भजन-ध्यान आदि साधनरूप मेरी भक्ति करना बहुत ही उत्तम क्रिया है । इन सब क्रियाओंके साथ जबतक अनन्य प्रेमभाव नहीं होता, तबतक उसके लिये विलम्ब होना उचित

ही है। जब भक्त अपनेको भुलाकर अनन्य प्रेमभावमें मुग्ध होकर केवल मेरे भजन-कीर्तनमें ही निमग्न हो जाता है, फिर मैं एक क्षण भी नहीं रुक सकता। इस समय इसका जो अपूर्व पवित्र प्रेमपूर्ण भाव है, उसकी ओर तो देखो; उस समय क्रिया उत्तम रहते हुए भी इसका ऐसा भाव नहीं था। इसीलिये मैंने यह कहा था कि इस प्रकारका साधन करनेपर तो उस वृक्षके जितने पत्ते हैं, उतने वर्षोंके बाद मेरे दर्शन होंगे।' इस रहस्यको सुनकर नारदजी भी प्रेमविह्वल हो गये और भावावेशमें अपनी सारी सुध भूलकर भगवान्‌के नाम और गुणोंका कीर्तन करते हुए उद्दण्ड नृत्य करने लगे।

दोनों भक्तोंकी इस प्रेमरूपी स्थितिसे स्वयं भगवान्‌में प्रेम प्रकट हो गया। उनकी भी वैसी ही स्थिति हो गयी। भगवान्‌की तो यह प्रतिज्ञा ही ठहरी—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

(गीता ४। ११)

अर्थात् 'जो भक्त मुझे जिस प्रकार भजते हैं, मैं भी उनको उसी प्रकार भजता हूँ।'

यों कुछ समयतक विचित्र प्रेमराज्यकी प्रगाढ़ स्थितिमें रहनेके अनन्तर तीनोंको जब बाह्य चेतना हुई, तब वे प्रेममें मुग्ध हुए परस्पर बातचीत करने लगे। तदनन्तर भगवान् उस भक्तके साथ विमानमें बैठकर परम धाममें पधार गये और नारदजी प्रेममें विभोर होकर भगवद्गुणानुवाद गाते हुए अपने गन्तव्य स्थानकी ओर चल दिये।

इस प्रसङ्गसे हमें यह शिक्षा लेनी चाहिये कि समस्त क्रियाओंमें भगवान्‌की भक्ति उत्तम है तथा उस भक्तिके साथ निष्काम और अनन्य प्रेमभावका समावेश होनेपर फिर भगवान्‌के मिलनमें एक क्षणका भी विलम्ब नहीं होता। इसलिये उपर्युक्त प्रकारसे निष्काम अनन्य प्रेमभावपूर्वक ही निरन्तर भजन-ध्यानादि उत्तम क्रिया करनी चाहिये।

अमूढ़

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्॥

(गीता १५। ५)

'आपके अभावमें पार्टीको पर्याप्त क्षति होगी।' आपका यह पार्टियोंका देश है। यहाँका शासन दलोंपर निर्भर करता है और ये दल उन विशेष व्यक्तियोंपर निर्भर होते हैं, जो अपनी वक्तृत्वशक्तिसे जनताको प्रभावित करनेमें समर्थ होते हैं। जो अपनी योग्यतासे चुनावमें विजय प्राप्त कर सकें, दल ऐसे ही पुरुषोंको अपना प्रमुख बनाता है। उस दिन उस प्रख्यात दलके मुख्य नेताओंकी अन्तरङ्ग बैठक थी। उनके प्रधानने सहसा सूचना दे दी थी कि वे भारत जायँगे और कदाचित् पुनः न लौटें। चुनाव समीप है। प्रचार-कार्य प्रारम्भ हो गया है। आशा की जा रही है कि इस बार दलका चुनावमें बहुमत हो जायगा और मन्त्रिमण्डल बनानेका अवसर मिलेगा। जिसपर यह सब निर्भर है—जो प्रधान मन्त्रित्व प्राप्त करेगा, वही पृथक् हो रहा है। बड़ी खलबली और आकुलता है नेताओंमें। 'आप चुनावके पश्चात् यदि भारत पधारें तो वहाँ अधिक सम्मान और सुविधा प्राप्त होगी।'

'मैं जानता हूँ—किसी देशका प्रधानमन्त्री दूसरे देशमें पूर्णतः सम्मानित होता है और विश्वमें हमारा देश प्रथम-कोटिका राष्ट्र है। भारतसे हमारे सम्बन्ध अत्यन्त मित्रतापूर्ण हैं। साथ ही चुनावमें अपने दलकी विजयमें मुझे कोई सन्देह नहीं।' प्रमुखका स्वर गम्भीर बना रहा। बीचके टेबलपर रक्खे अपने ही मुट्ठी बँधे हाथपर उनकी दृष्टि स्थिर रही। 'लेकिन मेरा कार्य अभी ही पर्याप्त कठिन हो गया है। मैं भारतसे सम्मान पानेको नहीं, वहाँके किसी महापुरुषके चरणोंमें बैठकर शान्ति पाने जाना चाहता हूँ।'

'आपको अशान्ति या क्लेश क्या ? चुनावके दौरे आप चाहें तो स्थगित कर सकते हैं। आपके रेडियो-भाषण ही पर्याप्त हैं।' नेताओंको अपने भविष्यकी चिन्ता अधिक है। यदि प्रमुख रुक जाय तो शेष दौड़-धूप वे कर लेंगे। इधर

पिछले वर्षसे प्रमुखकी रुचि दार्शनिक ग्रन्थोंकी ओर बढ़ती जा रही थी। वे भारतके प्रशंसक हो गये थे और बहुधा उनकी यह प्रशंसा उनके सहकर्मियोंको अरुचिकर हो उठती थी। इतनेपर भी उनकी योग्यता, मृदुता, उदारता, सहिष्णुतासे सब आकृष्ट थे। वे सहयोगियोंपर रुष्ट होना जानते ही नहीं; परंतु क्रमशः एकान्त-प्रियता बढ़ती गयी और यदि चुनाव समीप न होता तो दलने अवश्य किसी दूसरेको प्रमुखता देनेका प्रयास कर लिया होता। अब इतना समय नहीं।

'मेरी अशान्ति ऐसी नहीं, जैसी आप सब समझते हैं।' उन्होंने मस्तक उठाया। 'यह सभाएँ, यह भीड़, यह प्रशंसा और यह सम्मान ही मुझे अशान्ति देता है। मैं चाहता हूँ ऐसे स्थानमें रहना, जहाँ मुझे कोई न जाने। मुझे आन्तरिक शान्ति मिले।'

'आप कुछ सप्ताह कहीं एकान्तवास करें।' एकने प्रस्ताव किया। 'मेरा ग्राम-निवास इसके लिये उपयुक्त रहेगा।'

'लेकिन मैं एकान्तसे फिर इस कोलाहलमें आना जो नहीं चाहता।' किसीको सम्पत्ति एवं सम्मानका अजीर्ण भी हो सकता है, यह बात साधारण मस्तिष्कमें तो आनेसे रही। 'केवल भीड़से एकान्त ही नहीं—मुझे इस अपने शरीरसे भी एकान्त चाहिये। मुझे पूर्ण शान्ति पुकार रही है और भारतके अतिरिक्त दूसरा कोई स्थान मैं नहीं देखता; जहाँ उसके द्वारतक पहुँचानेवाला मार्गदर्शक प्राप्त हो सके।'

'भारतमें एक सामान्य यूरोपियनका अब वह सम्मान नहीं, जैसा पहले था।' वक्ताका संकेत पराधीन भारतकी स्थितिकी ओर था। 'वहाँके साधु आपको कदाचित् छूना भी पसंद न करेंगे और परिवारके साथ तो उनके आश्रममें आप नहीं ही रह सकते।' वक्ताने अपने दूसरे साथियोंकी ओर एक कटाक्षपूर्ण दृष्टि डाली।

'मैंने भारतके सम्बन्धमें पर्याप्त पढ़नेका प्रबन्ध किया है और भारतीय दूतावासके सदस्योंसे बहुत कुछ जानकारी मिली है।' जो विदेश जानेको तत्पर हो, वह उस देशके सम्बन्धमें कुछ न जानता हो—यह कैसे सम्भव है। 'मैं एकाकी जा रहा हूँ। एक भारतीय जलपोतमें मेरे लिये स्थान मिल गया है। इस प्रकार मार्गमें भी बहुत कुछ सीख सकूँगा।'

'अकेले!' जो सदाके लिये भारत जा रहा हो, वह यहाँ स्त्री-बच्चोंको किसके ऊपर छोड़ रहा है!

'तुम भूल गये हो कि प्रभु ईसाने बताया है कि परमात्माके निवासका द्वार इतना बड़ा नहीं कि वहाँ भीड़के साथ प्रवेश किया जा सके।' प्रमुखकी वाणी भावपूर्ण हो गयी। 'एलिस (उनकी स्त्री) के लिये बैंकमें पर्याप्त सम्पत्ति है। मैंने कल सब उसके नाम कर दी है। बच्चोंको वह प्यार करती है और उनकी शिक्षाका उसे मुझसे अधिक ध्यान है।'

'तो आपने अपने पौंड भारतीय सिक्कोंमें वहाँ पानेकी व्यवस्था नहीं की?' कैसा है यह विचित्र पुरुष जो सम्पत्ति इस प्रकार स्त्रीको दे डाले।

'मैं थोड़े-से सिक्के वहाँ पा सकूँगा।' अध्यक्ष हँस रहे थे। 'जहाँ रहना हो, उस देशके अनुकूल जीवन बनाये बिना वहाँका नैतिक लाभ नहीं पाया जा सकता।' जिसे स्त्री-बच्चे तथा अपना ही ध्यान न हो, उससे दूसरोंको—संस्थाको क्या आशा!

× × × ×

(२)

'मैं विवाद नहीं करूँगा। सम्भव है मैं भूल करता होऊँ; किंतु अपने निश्चयको केवल तर्कसे समर्थित न होनेके कारण त्याग नहीं सकता।' जलपोतमें अधिकांश यात्री भारतीय थे—कुछ बंगाली, कुछ मद्रासी तथा कुछ दूसरे प्रान्तोंके। यद्यपि उनमें थोड़े लोगोंने भारतीय वेश-भूषा धारण की थी, अधिकांश तो यूरोपीय वेशमें ही थे। उन्हें यह अंग्रेज बड़ा अद्भुत लगा, जो धोती-कुर्ता पहने,नंगे सिर भारत आ रहा था। स्वभावतः उसके आसपास दूसरे यात्रियोंकी भीड़ लगने लगी। वह हिंदी प्रायः शुद्ध बोल लेता था और टूटी-फूटी संस्कृत भी। आज जब विश्व 'प्रगति'के नवीन प्रकाशमें चल रहा है, यह वही धर्म एवं ब्रह्मका पुराना पागल है कोई। उसके पास प्रत्येकके तर्कोंका एक ही उत्तर है—मौन। वह बहसमें उतरता ही नहीं।

उसका घुटा सिर और उसपर बड़ी-सी चुटिया न होती तो उसे अवश्य लोग पहचान लेते। इतने प्रसिद्ध व्यक्तिको अपने मध्यमें देखकर सबको आश्चर्य होता; किंतु पूछनेपर भी वह अपना परिचय कहाँ देता है। 'सत्यशरण' उसने एक भारतीय नाम रख लिया है अपना और जहाजके कप्तान भी उसका परिचय किसीको देते नहीं। उसने अपना पासपोर्ट भी इसी नामसे बनवा लिया है।

'आपको भारतके किसी आश्रममें इतनी बहुलतासे शुद्ध मक्खन और पर्याप्त फल सदा मिलें, यह कठिन ही होगा।' जब वह स्वीकार करता है कि उसने पिछले वर्षतक अपनेको यहाँ सहज भोजनपर रक्खा है तो अब यह फल एवं मक्खनपर

रहनेका आडम्बर क्यों ? कुछ लोगोंको दूसरोंके संयममें सदा दम्भ ही दीखता है । संयमका उपहास आज गौरवकी वस्तु हो गयी है । उस यूरोपियनको चिढ़ानेमें, उसपर आक्षेप करनेमें लोग एक प्रकारका विनोद कर लेते हैं ।

'वहाँ तो रोटी, चावल, शाक और दूध—मेरे लिये इन आहारोंकी पर्याप्त सुविधा रहेगी !' वह जैसे क्षुब्ध होना जानता ही नहीं । 'यहाँ तो डिब्बेका जमा हुआ दूध विवशतः लेना पड़ता है ।' जैसे भारतीय आहार ही वह सदासे करता आया हो तथा उसके स्मरणसे सुविधाका ध्यान कर रहा हो ।

'आप अपनी इस छोटी कोठरीमें ऊबते नहीं !' उसे तो अपने कमरेसे निकलनेकी बहुत कम इच्छा होती है; परंतु दूसरोंसे उसके यहाँ आये बिना जो नहीं रहा जाता । 'आजके नृत्यमें आपको मेरा साथ देना है ।' एक युवतीने आमन्त्रित किया । यूरोपसे लौटनेपर वहाँका स्त्री-पुरुषोंका सम्मिलित नृत्य वहाँके आचारके साथ ही इन भारतीय तरुणोंने अपनाया है ।

'मुझे खेद है कि आपका साथ नहीं दे सकूँगा !' नम्रता-पूर्वक उसने प्रस्ताव अस्वीकृत किया । 'मेरे पास पढ़ने एवं सोचनेका इतना अधिक काम है कि मुझे अवकाश नहीं मिलता । भारत पहुँचनेसे पूर्व इन ग्रन्थोंको समाप्त कर लेना है ।'

'ये पुस्तकें !' भारतीय दर्शनों तथा योग-ग्रन्थोंके ये अनुवाद हैं, यह तो प्रायः सबको ज्ञात हो चुका है । 'आप इस शताब्दियों पुराने विचारोंके पीछे क्यों पड़े हैं !' युवतीने कटाक्ष किया ।

'इसलिये कि मैं स्वयं वृद्ध हो चला हूँ और पुरातन सत्य ही मेरे लिये खोजकी वस्तु है ।' बिना अप्रतिभ हुए उसने उत्तर दिया ।

'आज हम इन भावुकताओंसे मुक्त हो चुके हैं ।' युवती-का संकेत आधुनिक भारतीय प्रवृत्तिकी ओर था ।

'विश्वका—मानवका दुर्भाग्य !' उस यूरोपियनने एक दीर्घ निःश्वास लिया और मस्तक झुका लिया । 'जहाँसे प्रकाश पानेकी आशा है, वहीं अन्धकारका अनुगमन होने लगा है !' बहुत धीरे-धीरे फुसफुसाया वह । अवश्य ही युवतीने इन शब्दोंको सुन लिया । अन्यथा अपमानितकी भाँति रोषपूर्वक वह उठकर चल न देती । अपने साथीके रोकनेपर तो रुक ही जाना चाहिये था उसे ।

'पागल है यह !' साथके तरुणने कमरेसे बाहर आकर युवतीको समझाया ।

'पूरा पत्थर है !' युवती झल्लायी हुई थी । 'पत्थरकी भाँति ही उसपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता । हम सबके बीचमें रहकर भी जैसे वह जंगलमें है । ऐसे डूशको कोई पशु होना चाहिये था ।

'पत्थरसे भी गया बीता !' तरुणको चाटुकारी करनी थी । 'पत्थरको तो काट-पीटकर कोई रूप भी दिया जा सकता है, पर वह है जो अपने पागलपनमें पुस्तकोंमें सिर झुकाये लगा ही रहता है, किसी कीड़ेकी भाँति ।' तरुणने घृणा व्यक्त की ।

'राम ! राम ! राम !' बंद कमरेसे दीर्घ-मन्दस्वर आ रहा था ।

'वह क्या कह रहा है ?' युवतीने पूछा कुछ रोषपूर्वक ।

'कदाचित् वह घुरघुरा रहा है ।' तरुणने मुख बनाया । 'बराबर वह यही बोलता रहता है, फिर चाहे अपनी उन सड़ी पुस्तकोंमें उलझा हो या सिर झुकाकर कोई 'खयाली पुलाव' पका रहा हो । तुमने उसे बराबर ओठ हिलाते देखा था न । वह तब भी फुसफुसा रहा था ।' बात ठीक है । आजकल वह निरन्तर 'राम'नामके जप और उसके अर्थ-चिन्तनमें लगा है । उसके अध्ययनका विषय भी यही है ।

× × ×

(३)

'मैं न योगी हूँ और न सिद्ध !' औसरयूजीके किनारे ज्येष्ठकी चिलकती दोपहरीमें, जब कि तप्तवायु लोगोंको घरोंसे निकलने नहीं देती, एक बबूलकी साधारण छायामें कौपीन लगाये पड़े रहना किसी तपस्वीके लिये ही सहज हो सकता है । होठ धीरे-धीरे हिल रहे थे । केवल कौपीन लगाये वे बैठे थे । पासके तूंबेका जल आधा हो गया था और वायुने उसमें अवधकी पावन रेणुका मिला दी थी । इस एकान्तमें, इस मार्तण्डकी अग्निवृष्टिके मध्य जो उनके समीप बस्तीमें नंगे पैरों चलकर आया है, उसकी श्रद्धामें कैसे सन्देह किया जा सकता है । 'ये यूरोपियन बड़े कष्टसहिष्णु और धुनके पक्के होते हैं ।' बाबाजीने प्रातः आये संतोंसे इस यूरोपियनकी चर्चा सुनी है । उन्होंने पहले भी सुना है कि यूरोपके लोग योग एवं चमत्कारके प्रति बहुत उत्सुक होते हैं ।

'मुझे शान्ति चाहिये ।' आगन्तुकने महात्माके चरणोंके समीप भूमिमें मस्तक रक्खा । वह भारत आकर इतना समझ गया है कि उसे स्पृश्यास्पृश्यभावका आदर करना चाहिये ।

उसका श्वेत वर्ण कड़ी गरमीसे लाल हो गया है और पसीनेसे प्रायः भीग गये हैं उसके सब वस्त्र। 'मैं आपके चरणोंमें कृपाकी याचना करने आया हूँ।' शब्दोंकी अपेक्षा नेत्रोंने हृदयको अधिक स्पष्ट किया।

'तुम्हारी चमड़ी सफेद है। लोगोंका तुम्हारे प्रति इसीसे आकर्षण है।' साधु किसीका संकोच क्यों करने लगे। 'तुम किसी आश्रममें जाओ, वहाँ तुम्हें सब सुविधा मिलेगी।'

'मेरा रंग ही मेरा पाप है।' वह बच्चोंकी भाँति सिसक उठा। यात्रामें अदन पहुँचते ही जहाजके यात्रियोंमें धूम मच गयी थी। उसका परिचय समाचारपत्रोंने प्रकट कर दिया था। बम्बईकी भूमिपर पैर रखनेसे पूर्व ही भारतीय अधिकारियोंने उसका स्वागत किया। उसके बहुमूल्य समयमेंसे कई महीने स्वागत-सत्कार और शिष्टाचारमें नष्ट हो गये। राजनीतिने उसे अपना यन्त्र बनाना चाहा। कितनी कठिनाईसे वह अपनेको तब एक साधारण नागरिककी स्थितिमें लानेमें समर्थ हुआ, जब प्रायः सभी सम्पर्कमें आनेवालोंने उसे निकम्मा तथा अर्ध-विक्षिप्त समझ लिया। उसे राजनीतिने छुट्टी दी तो आश्रमोंने उलझाना चाहा। विद्वत्ता, चमत्कार तथा दूसरे प्रलोभन उसे दिये गये। उसे अपनी महत्ताका श्रेष्ठ विज्ञापन माना गया। दूसरी ओर जो समर्थ हैं, सचमुच साधु हैं, वे उसे—उसके रंगको अपने लिये बाधक मानते हैं। उसे वहाँसे हटा देना चाहते हैं। साधुके शब्दोंने मार्मिक व्यथा दी।

'तुम्हें व्यथित करना मुझे इष्ट नहीं।' साधु द्रवित हुए 'किंतु आराधनाका मार्ग केवल त्याग, विश्वास और प्रेमका मार्ग है। इसमें देना ही देना है, पाना नहीं! तुम किसी योगीके समीप जाते तो वह तुम्हें दिव्य सिद्धियोंके मार्गमें लगा सकता। मेरे पास तो श्रीअवधकिशोरका सीधा-सा नाम है।' कोई विदेशी केवल नामजपमें आस्था कर लेगा, बिना कुछ चमत्कार पाये—यह कैसे सहसा मान लिया जाय।

'मैंने परलोक एवं उसकी सिद्धियोंकी बातें सुनी हैं।' सच्चे साधक सभी देश और जातियोंमें हो सकते हैं। उन्हें तुच्छ प्रलोभन आकर्षित करनेमें असमर्थ ही रहे हैं। 'मुझे तो वह मार्ग दीजिये, जो हृदयके द्वारको खोल दे। मैं भीतर देख सकूँ।'

'तब तुम भगवान् श्रीरामका परमपावन नाम लो!' आप इसे चाहें तो दीक्षा कह सकते हैं। महापुरुषोंकी साधना उनकी वाणीमें जो शक्ति निहित कर देती है, वह साधकके लिये प्रेरणा होती है।

'मैं कृतार्थ हुआ।' उसने भालको वहाँकी रजसे भूषित कर लिया पृथ्वीपर मस्तक रखकर।

'उत्तराखण्ड ही तुम्हारे लिये उपयुक्त है।' साधुने आदेश दिया। 'सरयूजीके उद्गमके नीचे, उनके तटपर जहाँ एकान्त और सुविधा हो; किंतु जनपथसे दूर। तुम्हारा वर्ण लोगोंको फिर भी आकर्षित करेगा। सावधान रहना होगा तुम्हें!' महात्माने अपने हाथकी सुमिरनी दे दी प्रसाद-स्वरूप।

वह उठा, परिक्रमा की, प्रणाम किया और उसी दुपहरीकी लपलपाती लूमें निःशब्द लौट पड़ा। एक शब्द कृतज्ञता अथवा स्तुतिके नहीं निकले उसके मुखसे। कण्ठ भरा हुआ था और वायु नेत्रोंके जलको सुखा नहीं पा रहा था।

× × ×

(४)

'इधर कोई महात्मा रहते हैं!' वैद्य ओषधियाँ ढूँढ़ते हैं, भौगोलिक पाषाण एवं जलकी परख करते हैं, ऐतिहासिक फोटो लेते हैं, कवि गुनगुनाते हैं और चित्रकार इधर-उधर दृश्योंपर लुब्ध होते हैं, ये साधु यात्री साधुओंकी खोजमें हैं। पर्वतराजका यह विपुल विस्तार जो जिस रुचिका है, उसी रुचिका आकर बन जाता है।

'साधु तो उत्तरकाशीमें रहते हैं! ऊपर गङ्गोत्रीमें मिलेंगे और आप सब जायँ तो यमुनोत्रीमें भी।' पर्वतीय कुलीने जो वह जानता है, वही बताया। 'यहाँ रास्तेमें कोई साधु नहीं रहते।'

'यहाँसे सरयूजीकी धारा कितनी दूर है!' उत्तरकाशीसे गङ्गाजीका मार्ग छोड़कर इस पर्वतीय ग्रामोंके मार्गसे ये बाबाजी क्यों चल रहे हैं, यह कुली समझ नहीं सका था।

'दो दिन लगेगा, दो दिन!' उसने अँगुलियाँ दिखाकर बताया। उसे आशा थी कि इतनी दूर आनेपर भी दो दिनका और मार्ग सुनकर ये लोग लौट चलेंगे। उसे यह मार्ग पसंद न था। पगदण्डीका पथ—कहीं मार्गमें चट्टी (पड़ाव) नहीं। ग्रामवालोंकी दयापर ही निर्भर रहना पड़ता है। कहाँ वह इन लोगोंके साथ आ गया। जानता कि ऐसी यात्रा होगी तो वह दैनिक मजदूरीके लोभमें कभी न आया होता।

'श्रीसरयूजीके किनारे ऊपर एक महात्मा रहते हैं न!' उत्तरकाशीमें किसीने उनके दर्शन नहीं किये, पर लोगोंने उनकी चर्चा सुनी है।

'महात्मा ! नहीं तो।' कुलीने कुछ सोचा। 'हाँ, एक देवता वहाँ कभी-कभी किसीको दिखायी पड़ते हैं। वह क्या सबको दीखते हैं ? जिसे उनके दर्शन होते हैं, निहाल हो जाता है। मेरे एक साथीने उन्हें देखा था, उसे पिछली गर्मीमें छः सौ रुपये मिले।......' पता नहीं क्या-क्या बतलाता वह। ये लोग देवताके दर्शन करने जा रहे हैं। यदि भाग्यसे उसे भी दर्शन हो जायँ—उसे भैंस लेना है, एक घर बनाना है, बेटीका इस वर्ष विवाह करना है। यात्राके लिये उत्साह आया उसमें।

'कैसे हैं वे देवता ?' बीचमें ही एक साधुने पूछा।

'इस बरफ जैसे सफेद !' कुलीने मस्तक झुकाया। 'कभी-कभी वे बरफके बीचमें खड़े या बैठे दीख जाते हैं!' पता नहीं क्या-क्या सुना है उसने। देवताके शरीरसे कितना प्रकाश निकलता है, कितना विशाल शरीर है उनका, कैसे वे आकार बदल लेते हैं, कैसे अदृश्य हो जाते हैं, किस प्राचीन राजाके ऊपर कृपा करके वे वहाँ प्रकट होने लगे हैं, इस प्रकार अनेकों सुनी-सुनायी और कल्पनासे बनी हुई बातें सुनायीं उसने।

'यह किसी मनुष्यके पदचिह्न हैं!' एक साधुने अन्ततः यात्राके उन कठिन दिनोंके व्यतीत होनेपर श्रीसरयूजीके तटसे थोड़ी दूर हिमपर एक चिह्न देखा।

'परसों रातमें वर्षा हुई थी, यह उसके बाद यहाँ आया होगा।' कुलीने सोचकर बताया।

'कहीं यह तुम्हारे देवताका ही चरणचिह्न न हो।' एकने हँसकर कहा।

'देवताके चरणचिह्न।' कुली रुका। उसने ध्यानसे देखा 'नहीं, है तो मनुष्यके पैरका ही; परंतु यहाँ यह क्यों आया ?' ग्राम दो दिनसे कोई मिला नहीं। इस वृक्ष-तृण-हीन भूमिमें क्या करने कोई आवेगा। कुलीने इधर-उधर देखा। कोई समाधान नहीं था उसके समीप।

'देवता क्या मनुष्य-जैसा नहीं बन सकता ?'

'देवता ही होंगे!' कुलीने उस चिह्नपर मस्तक रक्खा। 'वे चले गये। हमलोगोंके भाग्य अच्छे नहीं!' उसकी निराशा दूसरे नहीं समझ सकेंगे।

'हमलोग इस चिह्नके पीछे चलें!' साधुने प्रस्ताव किया।

'देवताका क्या इस प्रकार पता लगता है!' आशा बड़ी बलवती होती है। कुली अपने तर्ककी चिन्ता न करके स्वयं उन चिह्नोंको देखता बढ़ता जा रहा था। एक छोटा-सा टीला था, जिसके पीछे तक वे चिह्न गये थे। 'प्रभो!' दूसरे ही कुछ देखकर वह भूमिपर साष्टाङ्ग प्रणाम करने लगा।

बड़े-बड़े कुछ पाषाणखण्ड, उनके ऊपर भी पत्थर रख लिये गये थे। बैठने भरको स्थान बन गया था उसमें। द्वारके अतिरिक्त शेष सब भाग ऊपर एवं बगलोंका हिमपातमें आच्छादित हो गया था। उस छोटी कृत्रिम गुफामें कोई आसन लगाये बैठा था। उसके शरीरसे आभा छिटक रही थी। वह आभा गुफाको प्रकाशित किये थी।

'राम! राम! राम!' मुख बंद था, नेत्रोंकी पलकें ऊपर उठ गयी थीं। होंठ हिलते नहीं थे; परंतु स्पष्ट सबने सुना कि जप चल रहा है। ध्वनि कहाँसे आती है, कहना कठिन है।

'रामनामदास!' यात्रियोंमेंसे वृद्ध साधु आगे बढ़ आये। धीरेसे जैसे अपने ही आप वे कुछ कह रहे हों। उनकी ध्वनिमें भाव, स्नेह, श्रद्धा, पता नहीं क्या था।

'राम!' एक बार पलकें खुलीं, मस्तक झुका और फिर ज्योति, कान्ति तथा ध्वनि सब अदृश्य हो गयी।

'वह चला गया!' वृद्ध महात्मा धीरेसे पीछे मुड़े। 'सम्भवतः मेरी प्रतीक्षा कर रहा था।'

'कहाँ चले गये ?' गुफा छोटी थी। वृद्ध द्वारपर थे। पीछेके लोगोंने कुछ देखा नहीं था। उन्होंने समझा, सचमुच देवता ही भीतर थे। उन्हींके अदृश्य होनेकी बात कही गयी।

'श्रीराघवेन्द्रके अविनाशी आनन्दमय साकेतमें!' वृद्धने थोड़े शब्दोंमें समझा दिया।

वैष्णव साधुओंके करोंसे गुफाद्वार बंद हो गया उसी दिन। हिमकी अपार राशिमें उस महातापसका शरीर सुरक्षित है या नहीं, कौन कह सकता है।

रामभक्तके लक्षण

तुलसी ममता रामसों समता सब संसार।
राग न रोष न दोष दुख दास भए भवपार॥

(दोहावली)

ईश्वर ही जानता है

(लेखक--श्रीलेस्ले ई० डन्किन)

जब भी कोई शारीरिक व्याधि हमारे घरमें आती है, तब अधिकतर हमारा झुकाव एक ऐसे तथ्यकी अवहेलनाकी ओर रहता है, जो हमारी परिस्थितिपर एक नया प्रकाश डालता तथा हमें नवीन शक्ति प्रदान करता है। अपने जीवनकी प्रथम तीन भयानक व्याधियोंसे, जिनका मुझपर आक्रमण हुआ, मैं घबरा-सा उठा; परंतु चौथी बार मैंने उसका बिना किसी विशेष डरके सामना किया, यद्यपि इस बार अपनी हानिका भय पूर्वापेक्षा अधिक था। इस समयतक मुझे इस बातका अनुभव एवं विश्वास हो गया था कि 'ईश्वर ही जानता है'।

जब मैं माकी गोदमें एक अबोध शिशु था, तब डाक्टरोंने मेरे माता-पिताको यह बताया कि वे मुझसे युवावस्थाके पूर्व ही हाथ धो बैठेंगे। बात भी कुछ ऐसी ही थी, सभी मेरे जीवित रहनेमें सन्देह करते थे। मेरी मा इन बातोंसे भयभीत हो उठी और वह मुझे ओषधियाँ तथा पौष्टिक पदार्थ इतनी अधिक मात्रामें देने लगी कि ऐसा प्रतीत होता था मानो इन सबको पचाकर तो मैं संयुक्त राष्ट्रके आधे दर्जन जहाजी बेड़ेको ही बहा ले जाऊँगा।

जब मैं स्कूलमें सातवीं कक्षामें पढ़ रहा था, तब मुझपर भयानक अन्त्र-प्रदाह (Appendicitis) का आक्रमण हुआ। डाक्टरने ऑपरेशन करानेपर जोर दिया और साथ ही यह चेतावनी दी कि यदि ऑपरेशन न हुआ तो जल्दी ही मेरी मृत्यु हो जायगी। मैंने प्रश्न किया—'यदि ऑपरेशन न हुआ तो मेरी मृत्यु शीघ्र-से-शीघ्र कितने समयमें हो जायगी?' डाक्टरने कुछ अनिश्चित शब्दोंमें उत्तर दिया—'कितनी शीघ्र होगी इस बातको तो केवल ईश्वर ही जानता है।' मैंने अपने निर्णयके अनुसार आगामी प्रातःकालतक प्रतीक्षा करनेके लिये कहा। मेरे मनमें आया कि जब मेरी मृत्युकी बात ईश्वर ही जानता है, तब मैं अपने-आपको तथा अपनी परिस्थितिको पूर्णरूपसे ईश्वरके ही हाथोंमें सौंपूँगा। रातको मुझे सबसे अधिक आराम रहा। और जब प्रातःकाल उठा तो मैं इतनी अच्छी अवस्थामें था कि डाक्टर महाशयको भी स्वीकार करना पड़ा कि तात्कालिक ऑपरेशनकी इतनी आवश्यकता नहीं है।

तीसरी बार भयभीत होनेकी अपेक्षा पहलेसे ही मैं निराश अधिक हुआ। वह प्रथम महायुद्धका समय था। मैं अपने युवक साथियोंके साथ संयुक्त-राष्ट्रकी सेनामें भर्ती होना चाहता था। परीक्षा करनेवाले डाक्टरने मेरी छातीपर अपने फुफ्फुस-परीक्षा-यन्त्र (स्टेथोस्कोप) को रक्खा और तुरंत ही अपनी सम्मति दी—'सेना या किसी अन्य कामके योग्य नहीं है।' बस, परीक्षा वहीं समाप्त हो गयी।

मैं हृद्-रोगके एक विशेषज्ञके पास पहुँचा। उसने पूर्णरूपसे मेरी परीक्षा की। अपनी सम्मति देते हुए उसने चिन्ताके भावमें अपना सिर हिलाकर कहा—'मानवी शक्तिसे बचनेकी कोई आशा नहीं।' मैंने पूछा—'कबतककी आशा है?'

चेतावनीके शब्दोंमें उसने कहा—'केवल ईश्वर ही जानता है।'

अपने पिछले अनुभवका स्मरण करते हुए मैंने उत्तर दिया—'हाँ, ईश्वर तो जानता ही है। और जब वही जानता है, तब मैं अपने-आपको पूर्णरूपसे उसीके हाथोंमें सौंपूँगा।'

इस बातको क्रियात्मक रूप देते हुए मैं अपने प्रतिदिनके खाली समयके अधिकांश भागको प्रार्थना, धर्मग्रन्थ-पाठ तथा अध्ययनमें बिताने लगा। मैंने ईश्वरसे मार्ग-प्रदर्शन तथा विवेकके लिये प्रार्थना की। स्वस्थ जीवनके लिये मार्ग-प्रदर्शनहेतु मैंने धर्मग्रन्थ अध्ययन किया।

इस प्रार्थना; चिन्तन तथा अध्ययनके परिणामस्वरूप दो प्रधान क्रियात्मक विचार मेरे सामने आये—प्रथम सादा जीवन तथा द्वितीय उन्नत विचार।

सादे जीवनमें मैंने पाँच बातोंको स्थान दिया—

१–यथासम्भव किसी भी प्रकारकी औषधका प्रयोग न करना। मेरी मा मुझे सभी प्रकारकी ओषधियाँ खूब धन खर्च करके दे चुकी थी, परंतु सब व्यर्थ हुईं; हृद्-रोग-विशेषज्ञकी भी यह निर्णयात्मक सम्मति थी—'मानवी शक्तिसे बचनेकी कोई आशा नहीं।' अतएव अब मैं यही चाहता था कि ईश्वर अपने ढंगसे मुझे औषध एवं स्वास्थ्य प्रदान करे; क्योंकि मैं अपने आपको पूर्णरूपसे उसीके हाथोंमें सौंप चुका था।

२–किसी भी रूपमें तम्बाकूका उपयोग एवं उत्तेजक पेय—मद्य आदि और औषध-सेवन आदिकी बुरी आदतोंको

आश्रय देना बंद कर दिया। साथ ही निद्रा और विश्राम कम लेने तथा इसी प्रकारकी अन्य आदतोंका, जिनका मुझपर बुरा प्रभाव पड़ा था, त्याग कर दिया।

३–विभिन्न प्रकारके स्वास्थ्यप्रद खाद्य पदार्थोंका सेवन आरम्भ किया। चर्बी उत्पन्न करनेवाले पदार्थोंके अधिक उपयोगको छोड़ दिया। इस प्रकार देखते-देखते विभिन्न प्रकारके खाद्य पदार्थों तथा उनके मिश्रणोंका मेरे शरीरपर बहुत सुन्दर प्रभाव पड़ा।

४–ईश्वरके अपने अर्थात् प्राकृतिक पौष्टिक पदार्थ तथा ओषधियों—दूध और पानीका प्रचुरतासे सेवन करने लगा।

५–उचित मात्रामें स्वास्थ्यवर्द्धक व्यायाम करना प्रारम्भ किया। पहलवान बननेकी मेरी इच्छा नहीं थी, मैं तो केवल स्वस्थ जीवन चाहता था।

उन्नत विचारके क्षेत्रमें मैंने तीन बातोंको प्रधानता दी।

१–मैं प्रत्येक व्यक्तिको प्रेम करनेकी चेष्टा रखता था तथा प्रत्येक वस्तुको, जो मेरे लिये हितकर थी, पसंद करता था। मैंने घृणा और पीड़नका परित्याग कर दिया; क्योंकि ये मस्तिष्क एवं शरीरको विषाक्त कर देते हैं। आध्यात्मिक प्रेम हृदय एवं शरीरको शक्ति और बल प्रदान करनेवाला है।

२–मैंने काम करनेका अभ्यास बढ़ाया। मैं इस बातका अनुभव कर चुका हूँ कि अकर्मण्यता एवं व्यर्थकी चर्चा वस्तुतः घातक हैं। विवेकपूर्ण कार्यसे किसीकी क्षति नहीं हो सकती। मैंने अपने कार्यका सुधार किया और इसका शुभ परिणाम यह हुआ कि मैं निरन्तर भगवत्सान्निध्यमें रहकर (भगवत्स्मरणपूर्वक) कार्य करने लगा।

३–प्रतिक्षण भगवद्विश्वासको बनाये रखने तथा इस बातको अनुभव करनेका प्रयत्न किया कि वे प्रभु मेरे और दूसरे प्राणियोंके जीवन एवं शुभ प्रयत्नोंके रूपमें निरन्तर अभिव्यक्त हैं। मैं अपने कर्तव्यको अपनी समझ तथा योग्यताके अनुसार सुन्दरतम रूपमें पूर्ण करनेका प्रयत्न करता और साथ ही यह समझता कि (मेरेद्वारा) ईश्वर अपना कार्य कर रहे हैं।

ईश्वरने मुझे कभी निराश नहीं किया, सदा मेरी सहायता की। हृद्-रोग-विशेषज्ञद्वारा 'मानव-शक्तिसे बचनेकी कोई आशा नहीं' घोषित किये जाने तथा मेरे पूर्णरूपसे ईश्वरोन्मुख हो जानेके एक वर्षके भीतर ही वहाँ भयानक इंफ्लुएँजा फैला। मैं अपने कॉलेजके उन बहुत थोड़े-से फौजी तथा शहरी विद्यार्थियोंमें था, जो इसके प्रभावसे वञ्चित रहे। मैं दिनके प्रत्येक खाली क्षणमें तथा रातको भी पर्याप्त समयतक सैकड़ों रोगियोंकी सेवा-शुश्रूषामें सहायता देता रहता था। सेवाका सबसे अधिक भार उठानेवाले व्यक्तियोंमें मैं ही था, तथापि मैं एक दिन भी अस्वस्थ नहीं हुआ।

इस घटनाको तीस वर्षसे अधिक बीत गये और यह मेरे व्यस्तजीवनका समय रहा है; परंतु एक भी दिन ऐसा नहीं हुआ, जब मैंने अस्वस्थ होनेके कारण अपने कार्यसे विश्राम लिया हो। हाँ, बीचमें एक बार दाहक गठियासे मैं तेरह सप्ताह अवश्य पीड़ित रहा। परंतु इसका मुझे कभी भय नहीं हुआ, यद्यपि डाक्टरोंने इसे असाध्य घोषित कर दिया था। मैं समझता था कि ईश्वर इसे जानता है, और वह मुझे मार्ग-प्रदर्शन करेगा। मैं शीघ्र ही स्वस्थ हो गया। इन तीस वर्षोंकी अवधिमें इस एक समयको छोड़कर मैं कभी शारीरिक अस्वस्थताको प्राप्त नहीं हुआ; मानसिक एवं आत्मिक अस्वस्थताकी तो बात ही क्या, वे तो मुझे कभी भी नहीं हुईं।

मेरा यह अनुभव असाधारण नहीं है। इस बातका अनुभव तथा विश्वास कि 'ईश्वर ही जानता है'—प्रत्येक दृष्टिसे जीवनको स्वस्थ बनानेमें सहायक होता है। वह महान् चिकित्सक शरीर, मन एवं आत्माको निरामय करने तथा उन्हें स्वस्थ और बलिष्ठ बनाये रखनेके लिये सदा प्रस्तुत है।

भजन कर ले

भजन बिनु तीनों पन बिगरे।
बालापन हँस खेल गँवायो, तरुन भये अकरे॥
वृद्ध भये तब कछू न सूझत अंध होय निबरे।
काहेको देह धरी मानुषकी पसु समान गुजरे॥
मन तो धन जोबन मदमातो बोलत गरब भरे।
कहत कबीर सुनो भाई साधो कर ले भजन हरे॥ —कबीर

पूर्वजन्म तथा कर्मफल

(सत्य घटनाएँ)

(१)

बंगाल, फरीदपुर जिला, पो० हाट, कृष्णपुर ग्राम यात्रावाड़ीके श्रीजितेन्द्रनाथ दास वर्मन नामक एक युवकको यक्ष्मा हो गया था । कलकत्तेके बड़े-बड़े डाक्टरोंसे इलाज कराया गया, परंतु कोई लाभ नहीं हुआ । रोग दिनों-दिन बढ़ता ही गया । अन्तमें उसने अपने कुलगुरुके आदेशके अनुसार श्रीतारकेश्वर बाबाके मन्दिरमें धरना दे दिया । कुछ ही दिनोंके बाद तारकेश्वर बाबासे उसको स्वप्नादेश मिला कि 'पूर्वजन्मके पिताके प्रति बड़ा भारी अपराध करनेके कारण तुझको यह रोग हुआ है । तू यदि उनके चरणरज-को ताबीजमें मढ़ाकर धारण कर सके और प्रतिदिन उनका चरणोदक ले सके एवं वे सन्तुष्ट होकर तुझको क्षमा कर दें तो तेरा रोग नष्ट हो सकता है; इसके सिवा अन्य कोई उपाय नहीं है । तेरे वे पूर्वजन्मके पिता इस समय फरीदपुरके बड़े डाक्टर श्रीसत्यरञ्जन घोष एम्० बी० हैं, वे एक महापुरुषके शिष्य हैं ।' युवकने पूरी घटना उक्त डाक्टर महोदयको लिख दी और उनके घर जाकर रहनेकी अनुमति माँगी । डाक्टर-बाबू ऐसे यक्ष्माके रोगीको घरमें रखनेसे घबराये । साथ ही उनके मनमें यह भी आया कि यदि मेरे अस्वीकार करनेसे लड़का मर जायगा तो उसका निमित्त मुझे होना पड़ेगा । वे कुछ भी निश्चय नहीं कर पाये और उन्होंने सारी घटना लिखकर श्रीस्वामी धनञ्जयदासजी व्रज-विदेहीसे सम्मति चाही । स्वामीजीने उनको लिखा—"इस प्रकारके संक्रामक रोगीको घरमें रखनेसे डरना स्वाभाविक ही है । परंतु वह अपने किसी परिचित या आत्मीयके घरपर ठहर सकता है, अथवा शहरके बाहर-की ओर किसी खुली जगहमें कोई घर किरायेपर लेकर आप उसे टिका सकते हैं और प्रतिदिन टहलते हुए आप एक बार जाकर उसे चरणरज और चरणोदक दे सकते हैं । फिर जब आपके मनमें क्षमा करनेकी आये, तब क्षमा कर दें । इसमें भी असुविधा हो तो आप अपना एक छायाचित्र (फोटो) उसको भेज दें और लिख दें कि वह इस छायाचित्रको ही आपकी साक्षात् प्राणमयी मूर्ति मानकर उसीकी चरणधूलि और चरणोदक ले लिया करे । ऐसा करनेसे वह साक्षात् आपसे ले रहा है, यही समझा जायगा । और यदि आप उसे रोगमुक्त करना चाहते हैं तो यह भी लिख सकते हैं कि 'मैंने तुम्हारे पूर्वजन्मके अपराधको क्षमा कर दिया है; मैं चाहता हूँ कि तुम रोगमुक्त हो जाओ ।"

स्वामीजीका, पत्र मिलनेपर डाक्टर साहबने उसको अपना एक छायाचित्र भेजकर यह लिख दिया कि 'तुम इसीको साक्षात् मेरा स्वरूप मानकर चरणरज और चरणोदक ले लिया करो, मैंने तुमको क्षमा कर दिया है ।'

इस पत्रके पानेके बाद युवक क्रमशः स्वस्थ होने लगा और कुछ ही समयमें पूर्ण स्वस्थ हो गया । फिर वह स्वयं डाक्टर साहबके पास गया । डाक्टरने परीक्षा करके देखा उसके फेफड़ोंमें कोई दोष नहीं है । शरीर-से भी खूब स्वस्थ और सबल है । वह एक दिन रहा और डाक्टरसाहबका चरणोदक पीकर तथा चरणरज लेकर चला गया ।

(२)

महात्मा श्रीसंतदास बाबाजीने कहा था कि कई वर्षों पहलेकी बात है । कलकत्ता हाईकोर्टके एक सुप्रसिद्ध जज (जस्टिस अमुक, उनका नाम प्रकाशित नहीं किया जा रहा है) परलोकवासी हो गये थे । कहा जाता है कि वे जब जीवित थे, तब उनके भोजन-

में प्रतिदिन दो मुर्गियोंकी आवश्यकता होती थी। उक्त जज महोदय मरकर प्रेत हुए और असह्य नरकयातना भोगने लगे। उस प्रेतात्माने सहायता पानेके लिये बहुतसे आत्मीय स्वजनोंके सामने प्रकट होकर उन्हें दर्शन दिये। परंतु प्रेतात्माको देखते ही सब लोगोंके डर जानेके कारण वह किसीको अपनी दुःखगाथा नहीं सुना सकी। अन्तमें एक धर्मप्राण सदाशय व्यक्तिके सामने प्रकट होकर उसने अपनी क्लेश-कहानी सुनायी। प्रेतात्माने कहा—'मैं बड़े भारी क्लेशमें हूँ; मुझे मानो सैकड़ों बिच्छू एक साथ काट रहे हों—ऐसी असह्य यातना मैं भोग रहा हूँ। दारुण प्यासके मारे मेरे प्राण छटपटाते रहते हैं; पर मुझको पीनेको जल नहीं दिया जाता, खून दिया जाता है। मेरे नामपर यदि कोई गयाजीमें पिण्ड दे दें तो मेरी यातना मिट सकती है।' उक्त सदाशय पुरुषने परलोकगत जज महोदयके नामसे गयाजीमें पिण्ड दिलवाये; पीछे पता लगा कि उनकी यातना शान्त हो गयी।

वे इस दुनियामें जस्टिस (न्यायमूर्ति—धर्मावतार) के नामसे प्रसिद्ध थे; परंतु यहाँ महामाननीय हाईकोर्टके न्यायमूर्ति होनेके कारण कोई परलोकमें नरकभोगसे बच जायगा, ऐसा मानना सर्वथा भ्रम है। समस्त न्यायके आधार सर्वनियन्ता मङ्गलमय भगवान्का अकाट्य विधान यहाँके प्रसिद्ध बड़े-छोटे, धनी-दरिद्र, पण्डित-मूर्ख, साधु-असाधु, पुण्यात्मा-पापी—सभीके प्रति यथायोग्य लागू होगा।

(३)

श्रीमत् कुलानन्द ब्रह्मचारी महोदयने श्रीश्रीसद्गुरुसङ्ग, द्वितीय खण्ड, पृष्ठ ९० में १२९७ बँगला संवत्की श्रावणकी डायरीमें महात्मा विजयकृष्ण गोस्वामीकी निम्नलिखित उक्ति लिखी है "एक दिन कालीदहके पास यमुनाके किनारे पहुँचते ही एक प्रेत मेरे सामने आकर छटपटाने लगा। मैंने पूछा—'यों किस लिये कर रहे हैं?' उसने कहा—'प्रभु! बचाइये, बचाइये; अब यह क्लेश मुझसे सहा नहीं जाता। सैकड़ों-हजारों बिच्छू मुझे सदा काटते रहते हैं। यन्त्रणासे छटपटाता हुआ मैं दिन-रात दौड़ा करता हूँ। एक घड़ीके लिये भी मैं निस्तार नहीं पाता। आप मेरी रक्षा कीजिये।' मैंने उससे पूछा—'यह आपके किस पापका दण्ड है?' प्रेतने चिल्लाकर रोते हुए कहा—'प्रभु! यहाँ मैं.... मन्दिरका पुजारी था। भगवान्की सेवाके लिये मुझे जो कुछ धनादि मिलता, उसे सेवामें न लगाकर मैं भोग-विलासमें उड़ा देता और बदमाशी करता। यही मेरा सबसे बड़ा अपराध है।' मैंने उससे पूछा—'आपके इस भोगकी शान्ति कैसे हो सकती है?' उसने कहा—'मेरा श्राद्ध नहीं हुआ। श्राद्ध होते ही मेरा यह क्लेश मिट जायगा। आप दया करके मेरे श्राद्धकी व्यवस्था करा दें।' मैंने फिर पूछा—'किस प्रकार व्यवस्था करें।' उसने कहा—'अपने श्राद्धके लिये मैंने १५००)—डेढ़ हजार रुपये अपने भतीजेको सौंपे थे, परंतु उसने अबतक मेरा श्राद्ध नहीं किया। आप दया करके उसके पाससे वे रुपये मँगवा लें। उनमेंसे कुछ भगवान्की सेवामें लगा दें और शेष रुपयोंसे मेरे कल्याणके लिये श्राद्ध करवा दें।'

"मैंने उस मन्दिरके पुजारीके पास जाकर उससे सारी बातें कहीं। फिर उस मृत पुजारीके भतीजेको सब बातें विस्तारपूर्वक बतलायी गयीं। उसने सोच लिया था कि इन रुपयोंको किसीको पता नहीं है, कौन पूछेगा। जो कुछ हो, उसने रुपये दे दिये और विधिपूर्वक श्राद्ध-महोत्सव हो गया। इस व्यवस्थासे प्रेतकी यन्त्रणा मिट गयी।"*

* ये तीनों घटनाएँ 'श्रीसुदर्शन' नामक त्रैमासिक पत्रके 'कः पन्थाः' शीर्षक लेखमें प्रकाशित हो चुकी हैं।

राम प्रेम मूरति तनु आही

(लेखक—पं० श्रीरामकिङ्करजी उपाध्याय)

[पृष्ठ ११८४ से आगे]

प्रभुने महानाट्यका आयोजन कर डाला—'वनगमन' के रूपमें । इसे देवताओंने भले ही भूभार-हरणार्थ माना हो, पर वास्तविक बात तो कुछ दूसरी ही थी । 'वीक्षितमेतस्य महा-प्रलयः ।' 'भ्रकुटि बिलास सृष्टि लय होई' रावणवधके लिये ही वे वन जायँ, यह पूर्ण सत्य नहीं । तब फिर क्या कारण है ? पूछिये हमारे पारखी भक्तशिरोमणिसे । वे कुछ विलक्षण रहस्य खोलना चाहते हैं—

पेम अमिअ मंदरु बिरहु भरतु पयोधि गँभीर ।
मथि प्रगटेउ सुर साधु हित कृपासिंधु रघुबीर ॥

श्रीभरतजीका प्रेम लोगोंसे अव्यक्त था । उस प्रेम-सुधाको वे छिपाये हुए थे । उसे प्रकट करना प्रभुको अभीष्ट था । यह पयोधि ऐसा नहीं, जो साधारण मन्थानसे मथा जा सके । तब 'बिरह मंदर' की सृष्टि की गयी । निश्चितरूपसे यदि वन-गमनकी घटना न होती तो श्रीभरतजीके प्रेमको संसार नहीं जान पाता । और 'राम भगत अब अमिअ अघाहूँ' का आमन्त्रण भी न प्राप्त होता । तब एकके-बाद-एक दुर्घटनाओंका एक ताँता लग जाता है ।

राज्याभिषेकका साज, कैकेयीकी कुबुद्धि, कुयाचना, प्रभुका वन-गमन और महाराजकी मृत्यु ।

घटनाएँ बड़ी ही भयानक हैं । किसी भी हृदयको व्यथित करनेवाली । पर यह समुद्र-मन्थनकी भूमिका थी । इसके बिना अमृतकी प्राप्ति असम्भव थी ।

महाराज श्रीदशरथके स्वर्ग-गमनके पश्चात् गुरुदेवके आज्ञानुसार दूत श्रीभरतजीको लेने गये । उन्हें आज्ञा थी 'केवल ले आनेकी', कोई और समाचार बताना निषिद्ध था । गुरु वशिष्ठकी आज्ञा सुनते ही श्रीगणेशका स्मरण कर वे अवधकी ओर प्रस्थान कर देते हैं । हृदयमें एक अज्ञात भय और व्यथा समायी हुई है । वायुवेग घोड़ोंपर बैठे श्रीअवधके निकट पहुँचते हैं ।

आज नगर-प्रवेश पूर्व-जैसा न था । मार्गमें न तो क्षेमकरीने क्षेमकी सूचना दी, न श्यामाने अपने मधुर कण्ठसे स्वागत किया । कौएका कर्कश कण्ठ ही मानो भविष्यकी सूचना दे रहा था । और उसके कण्ठमें भी न केवल कठोरता थी, अपितु करुण चीत्कार था । नगरकी विशाल अट्टालिका-ओंसे कीर्तन और सङ्गीतकी सुमधुर ध्वनि भी आज नहीं सुनायी पड़ रही थी । पर इसके विपरीत शृगाल और गर्दभ-का शब्द हृदयको प्रकम्पित कर रहा था । वे सुन्दर सरोवर, जहाँ नगरवासिनी ललनाओंकी भीड़ लगी रहती थी, जनशून्य हो रहे थे । सूर्योदय होनेपर भी कमल प्रफुल्लित नहीं थे । न थी वहाँ भ्रमरोंकी भीड़ । आज जल भी तरङ्गायित होकर जनसमूहको अपनी ओर आमन्त्रित नहीं कर रहा था । म्लान चुपचाप पड़ा मानो यह इच्छा व्यक्त कर रहा था कि मुझे न छुओ, मुझे मौन रहने दो । आज सरयूको व्यथा हो गयी है । महाभाग्यवती सरयू ऐसी म्लान, उदास-सी क्यों पड़ी है ? प्रभुके सुखद संस्पर्शका नित्य अनुभव पाने-वालीकी यह दशा क्यों ? पर उत्तर कौन दे । वृक्ष पुष्प-फलके बोझसे झुके हुए नदीके जलका स्पर्श नहीं कर रहे हैं । पत्र-पुष्पविहीन मानो, बस, एक ही इच्छा व्यक्त कर रहे हैं—'हमें काटकर कोई जला दो । हममें सदाके लिये पतझड़ आ गया । हम इस भूमिमें नहीं रहना चाहते ।' सारे सुन्दर उपवन मानो दावाग्निसे झुलस दिये गये हों । पर दावाग्नि भला यहाँ कैसे ? यदि किसी प्रकार आग लग भी गयी तो बुझानेका तो समुचित प्रबन्ध हो सकता था । पर उन्हें कौन बताये कि यह वह दावाग्नि लगी है, जिसने न केवल वनोंके वृक्षोंको, अपितु पशु-पक्षी-मृगोंकी तो कथा क्या—सारे नगर-वासियोंको जीवित होते हुए भी मृतवत् बना डाला है । वह दावाग्नि, जिसे बुझानेकी शक्ति प्रलयकालीन मेघोंमें भी नहीं है ! आज पक्षी अपने सुमधुर कण्ठसे 'भजहु राम रघुपति जन पालक' का उपदेश आने-जानेवालोंको नहीं दे रहे हैं । राजमार्ग जनशून्य कैसे ? यत्र-तत्र कोई दीखता भी है तो भूषणहीन, म्लान, आँसू बहाता हुआ । आज भैया भरतका स्वागत करनेके लिये जनसमूह उत्साहित होकर कोलाहल करता हुआ आगे नहीं बढ़ा । अट्टालिकाओंसे न तो युवतियोंने मङ्गलमय लाजा ही बरसाया ! कुछ लोगोंने देखा, वे दूरसे ही प्रणाम करते हैं; पर उनके जुड़े हुए हाथ थर-थर काँप क्यों रहे हैं ? धार्मिक पुरवासियोंसे ऐसी उपेक्षा और विधिहीनता ? हे भगवन् ! क्या हो गया इनको ?

पूछनेका मन होता है, पर पूछें किससे ? कोई निकट आये, तब न । चर भी साथ हैं अवश्य, पर मुख दूसरी ओर हैं । पूछनेके लिये हाथ उठता है, मुख चरोंकी ओर करते हैं; पर कण्ठ भय और शोकसे रुँध जाता है । हृदय सुनना नहीं चाहता । धैर्यशाली दूत भी अपने दुःखको छिपा नहीं पा रहे हैं । दीर्घ निःश्वास बरबस ही निकल पड़ता है । मुख दूसरी ओर करनेपर भी आँखोंसे आँसू निकलकर भेदको व्यक्त करना चाहते हैं और तब वे आकाशकी ओर देखने लग जाते हैं । स्वेदबिन्दुओंको पोंछनेके मिस अपने उत्तरीयसे आँसुओंको पोंछ लेते हैं । श्रीभरतकी स्थिति दावाग्नि-भयभीत मृग-जैसी हो रही थी । वे शीघ्र-से-शीघ्र अपने भैयाके सुखद शीतल अङ्कमें छिप जानेको उत्सुक हो उठे और तब वे घोड़ोंको कैकेयी अम्बाके महलकी ओर तीव्र गतिसे ले चले ।

अवश्य ही पुरवासियोंमेंसे कुछने इसका दूसरा ही अर्थ लिया होगा । सङ्केत किया होगा—'कहा न था कि भरतकी सम्मति बिना यह नहीं हुआ; तभी न देखो, पिताजी या बड़ी अम्बाके भवनकी ओर पहले नहीं गये, यद्यपि उचित यही था ।' उस समय उनकी मान्यताक्रान्त बुद्धि प्रत्येक क्रियाका उसी पक्षमें अर्थ लगाये, यह स्वाभाविक है । पर वस्तुतः इसमें भरतजीका कैकेयी अम्बाके महलमें जानेका भाव बड़ा ही पवित्र ! उन्होंने सोचा कि छोटी अम्बाके निकट ही सबके दर्शन हो जायँगे । उन्हें ज्ञात था कि भैया रामभद्र अपनी छोटी अम्बासे इतना प्रेम करते हैं कि उनके भवनको छोड़ और कहीं हो नहीं सकते । फिर जहाँ राघवेन्द्र हों, वहीं पिताजी और कौसल्या अम्बाका होना स्वाभाविक है । 'साधन सिद्धि राम पग नेहू' को माननेवाले श्रीभरतकी प्रेममयी दृष्टि उन्हें ऐसा पथ दिखाये यह स्वाभाविक था; पर उस समय वास्तविकताको समझनेके लिये लोगोंको अवकाश कहाँ था । पुरवासियोंकी बुद्धिको तो राम-वियोग-कुरोगने छीन लिया था ।

द्वारपर लेने आयी कैकेयी । हृदयसे लगा लिया, पर भरतको लगा मानो वात्सल्यमयी अम्बा नहीं, किसी प्रस्तर-प्रतिमासे मिल रहे हों । कैकेयी उनको उदास देख अपने मातृगृहकी कुशलताके लिये चिन्तित होकर पूछती हैं—

पूँछति नैहर कुसरु हमारें ॥

शीघ्रतापूर्वक उत्तर देकर आश्चर्य और भयग्रस्त कण्ठसे श्रीभरतजीने पूछा—

कहु कहँ तात कहाँ सब माता । कहँ सिय राम लखन प्रिय भ्राता ॥

यह प्रश्न ही उनके कैकेयी अम्बाके भवनमें सर्वप्रथम आनेका कारण व्यक्त कर रहा है । उनका यह पूछना कि 'पिताजी कहाँ हैं ? और कहाँ हैं सब माताएँ ? फिर भला, भाभी श्रीसीता और भैया राम-लक्ष्मण भी तो नहीं दीख पड़ते !' इससे ही स्पष्ट हो जाता है कि उन्हें यहाँ प्रत्येकके दर्शन हो जानेकी आशा थी, पर वहाँ तो उत्तर मिलता है—

कछुक काज बिधि बीच बिगारेउ । भूपति सुरपति पुर पगु धारेउ ॥

इस वाक्यने हृदय और मस्तिष्कपर इतना भीषण आघात पहुँचाया कि वे यह पूछना ही भूल जाते हैं कि उसने वह कौन-सा 'काज सँवारा' है, जिसके सामने महाराजकी मृत्यु 'कछुक काज' हो गयी । 'हा पिता !' कह पृथ्वीपर गिर पड़े । 'हा पिता ! मैंने चलते समय तुम्हें न देखा । तुमने रामके हाथमें मुझे न सौंप दिया ! पर अचानक मृत्यु कैसे हो गयी ? यदि रुग्ण होते तो मुझे सूचना अवश्य देते ।' और तब वे पुनः पूछते हैं लौह-कठोर कैकेयीसे—

कहु पितु मरन हेतु महतारी ॥

इस समय कैकेयीका हृदय इतना विषाक्त था कि उसे विश्वास था कि सम्पूर्ण घटना सुन लेनेके पश्चात् भरतका दुःख नष्ट हो जायगा; अतः उसके द्वारा श्रीभरतजीके हृदयको संतप्त करनेवाला उत्तर ही प्राप्त हुआ—

आदिहु तें सब आपनि करनी । कुटिल कठोर मुदित मन बरनी ॥

सुनकर भरत स्तब्ध हो गये । सम्पूर्ण अङ्ग जडवत् हो गये । भूमितलमें गिरनेकी भी क्षमता न थी । प्रत्येक इन्द्रियने अपना कार्य बंद कर दिया । इसके बाद हम पुनः उस कठोरहृदयाको समझाते हुए देखते हैं । पिताजीकी मृत्युको सुनकर भूमिपर गिर जाने और इस बार चुप रह जानेका अर्थ उसने यही लगाया कि भरतको पिताकी मृत्युका ही दुःख हुआ । पर यह तो उसका भ्रम था । अत्यधिक आघात लगनेपर मनुष्य मृततुल्य हो जाता है । वह पीड़ा इतनी असह्य होती है कि संवेदनशील तन्तु ही कार्य करना बंद कर देते हैं । अवश्य ही हम चोट लगने और अत्यधिक चोट लगनेपर इस अन्तरको नित्य देख सकते हैं । जहाँ आघातमें मनुष्य चीखता-चिल्लाता है, वहाँ अत्यधिक आघातमें एक शब्द भी उसके मुखसे नहीं निकलता । कैकेयी उनके पितृ-शोकको शान्त करनेके लिये महाराजकी प्रशंसा करती हुई 'सहित समाज राज पुर करहू' की सम्मति देती है । आह ! कैसी बुद्धिकी विडम्बना है ! यह आघातपर आघात कितना निर्मम था । यह वाणी-लेखनीका विषय नहीं । महाकविने

एक उपमाके द्वारा इसे किञ्चित् व्यक्त करनेकी चेष्टा की है—

मनहुँ जरे पर लोनु लगावति ॥

जलनेपर कितनी पीड़ा होती है, यह तो भुक्तभोगी ही जानता है। पर उसपर नमक छिड़कनेकी कल्पना तो कितनी भयावह है, जिसे सोचकर ही हृदय काँप उठता है। और तब असह्य पीड़ासे उनके मुखसे निकल पड़ता है—

पापिनि सबहि भाँति कुल नासा ॥

जौं पै कुरुचि रही अति तोही। जनमत काहे न मारे मोही ॥
पेड़ काटि तैं पालउ सींचा। मीन जिअन निति बारि उलीचा ॥

हंसबंसु दसरथु जनकु राम लखन से भाइ।
जननी तूँ जननी भई बिधि सन कछु न बसाइ ॥

जब तैं कुमति कुमत जियँ ठयऊ। खंड खंड होइ हृदउ न गयऊ ॥
बर मागत मन भइ नहिं पीरा। गरि न जीह मुहँ परेउ न कीरा ॥
भूपँ प्रतीति तोरि किमि कीन्ही। मरन काल बिधि मति हरि लीन्ही ॥
बिधिहुँ न नारि हृदय गति जानी। सकल कपट अघ अवगुन खानी ॥
सरल सुसील धरम रत राऊ। सो किमि जानै तीय सुभाऊ ॥
अस को जीव जंतु जग माहीं। जेहि रघुनाथ प्रानप्रिय नाहीं ॥
भे अति अहित रामु तेउ तोही। को तू अहसि सत्य कहु मोही ॥
जो हसि सो हसि मुहँ मसि लाई। आँखि ओट उठि बैठहि जाई ॥

यह श्रीभरत नहीं, उनके हृदयकी दुर्वह व्यथा और व्याकुलता बोल रही है। कुछ लोग श्रीभरतचरित्रके इस अंशको उनके निर्मल यशचन्द्रका धब्बा मानते हैं। मैं भी कहता हूँ वह श्यामता है अवश्य, पर यह श्यामता रामप्रेमकी है। इस श्यामतापर हम सौ-सौ शुभ्रचन्द्र निछावर करते हैं। इस श्यामताके बिना तो यह यशचन्द्र भक्तोंके किसी कामका न होता। श्रीहनुमान्‌जीको चन्द्रमा बड़ा प्रिय लगा; पर इसलिये नहीं कि वह शुभ्र, शीतल है। उसमें तो उन्हें कुछ और ही दीखा—जिसे देखकर कुछ लोगोंको जहाँ उसमें भूमिकी छाया या राहुका पद-प्रहार दीखा, वहाँ उन्हें अपने श्याम राम दीखे और तभी उसको भक्तशिरोमणि जानकर उन्होंने कहा—

कह हनुमंत सुनहु प्रभु ससि तुम्हार प्रिय दास।
तव मूरति बिधु उर बसति सोइ स्यामता अभास ॥

मैं कहता हूँ—भरत इसे सुनकर चुप रह जाते, उनकी धार्मिकता व्यक्त हो जाती। यशचन्द्र शुभ्र रहता, पर वह रामप्रेमकी श्यामता ? श्रीजनकजीको रोते देख किसीने कहा महाराजको मोह हो गया। जाननेवालोंने कहा—यह दूषण नहीं, भूषण है।

मोह मगन मति नहिं बिदेह की। महिमा सिय रघुबर सनेह की ॥

इस प्रेम-पयोधिको तैरकर पार कर लेनेमें प्रशंसा नहीं यहाँ तो डूबना ही पार होना है—

अनबूड़े बूड़े तरे, जे बूड़े सब अंग।

तो मैं भी कहता हूँ—

क्रोध मगन मति नहिं·····महिमा सिय रघुबर सनेह की ॥

कोई भी प्रेमी ऐसी स्थितिमें शान्त न रहेगा। इस विशेष धर्मके सामने सामान्य धर्म नगण्य है।

एक बात और हमारे महाकवि कहते हैं—

पेम अमिअ मंदरु बिरहु भरतु पयोधि गँभीर।
मथि प्रगटेउ सुर साधु हित कृपासिंधु रघुबीर ॥

विरह-मन्दरसे भरत-पयोधिका मन्थन हुआ अमृत प्रकट करनेके लिये। अमृत प्रकट होनेके पूर्व 'हलाहल' का प्रकट होना स्वाभाविक है। भले ही, वह विषकी ज्वाला काल-जैसी भयावनी प्रतीत हो रही हो; पर उससे कोई नष्ट नहीं हुआ। शङ्करजीने उसे पी लिया और वे नीलकण्ठ अमर हो गये। यह हलाहल प्रकट हुआ और पिया कैकेयी अम्बाने। वे ही इसको पान करनेवाली नीलकण्ठ शङ्कर हैं। श्रीशङ्करने पिया—'को कृपाल संकर सरिस' कहकर उनकी लोगोंने प्रशंसा की। कैकेयी अम्बाने पिया, लोगोंने उनके महत्त्वको नहीं पहचाना; पर सुजान प्रभुसे तो कुछ छिपा नहीं था। उन्होंने घोषणा की—

दोसु देहिं जननिहि जड़ तेई। जिन्ह गुर साधु सभा नहिं सेई ॥

हाँ, कैकेयी अम्बाने अपने लाल रामका कार्य बनानेके लिये ही यह सब कुछ किया था। उसके बदले उन्होंने पाया चिर-अपयश, विधवपन और प्राणप्रिय पुत्रसे तिरस्कार ! बलिहारी ! हाँ तो, प्रभु ही भरत-पयोधिके मन्थनकर्ता थे। उन्होंने 'सुर साधु'को प्रेमामृत पिलाकर अमर किया और अपनी अम्बाको अमर कर दिया यह 'कालकूट' पिलाकर; उन्होंने 'एका क्रिया द्व्यर्थकरी प्रसिद्धा' का बड़ा ही विलक्षण निर्वाह किया। हम इसमें एक ओर भरतका राम-प्रेम पाते हैं; प्रेमीके लिये लौकिक सम्बन्ध नहीं, उसके एकमात्र 'सब' राम ही हैं। तो दूसरी ओर, रामप्रेमी कैकेयीका महात्याग! सच्चे प्रेमीका आदर्श प्रेममार्ग अति कठिन है। वह फूल नहीं, शूलका मार्ग है। सम्भव है किन्हीं प्रेमियोंपर फूल बरसाये जाते हों, पर शूल-प्रहार भी हो सकता है; उसे सहन कर लेनेकी शक्तिवाला ही इसपर चल सकता है। निश्चित ही रामायण-कालमें सर्वाधिक तिरस्कृत कैकेयी अम्बा थीं; पर प्रभुने कह

ही दिया—'जननी कैकेयीको वे ही दोष देते हैं, जिन्होंने सत्संगके द्वारा इसका रहस्य नहीं जान लिया है !'

कहा जा सकता है, तब फिर कैकेयीजीको कटुवचन कहनेवाले हमारे कवि तथा श्रीभरत आदि सभी जड हैं। और यह सत्य भी है। अत्यधिक प्रेममें आगे-पीछे सोचनेकी क्षमताका अभाव होता है। अपने प्रभुको कष्टमें डालनेवालेके हृद्गत भावोंपर दृष्टि डाले—इतना अवकाश प्रेमीको कहाँ। वह तो प्रत्यक्ष कारण देखता है और अधीर होकर कारण प्रतीत होनेवालेपर बरस पड़ता है। श्रीलक्ष्मणजीका चरित्र इसका साक्षी है। महाकवि, श्रीभरत, पुरवासी आवेशमें जो कहते हैं, वह तो प्रेमियोंका हृदय है। पर 'दोषु देहिं जननिहि जड़ तेई' तो हमलोगोंके लिये है। कहीं तटस्थ दृष्टिसे बादमें विचार करनेवाले भी कैकेयी अम्बाको ऐसा न मान लें, यही प्रभुका अभिप्राय है।

लिखते हुए प्रसङ्गसे कुछ दूर हट गया; पर जो कुछ वहाँ श्रीभरतने कहा, वह उनके अनुरूप ही था—एक प्रेमीके अनुरूप। 'वैसे हम उनके चरित्र' की यह विलक्षणता पाते हैं कि वहाँ धर्म और प्रेम एकरूप हो गये हैं—एकार्थक हो गये हैं। पर यहाँ जो अलगाव है, वह मार्गनिर्देशमात्र करना है। यदि प्रेमीके सामने ऐसी विकट परिस्थिति हो, जहाँ साधारण धर्म एवं विशेष धर्म (भगवत्प्रेम)-का एक साथ निर्वाह असम्भव हो जाय, वहाँ प्रेमीका मार्ग स्पष्ट है—राम-प्रेम।

पर उन कठोर वाक्योंको कहते-कहते अन्तमें हम देखते हैं वे प्रकृतिस्थ हो जाते हैं। उनकी धार्मिकता और प्रेम एकमेक हो जाते हैं। वे स्वयं ही सब दोष अपने ऊपर ले लेते हैं। 'सारा दोष मेरा ही है' अदोषदर्शी भरतके चरित्रका कैसा सुन्दर चित्रण इस दोहेमें व्यक्त होता है—

> राम बिरोधी हृदय तें प्रगट कीन्ह बिधि मोहि।
> मो समान को पातकी बादि कहउँ कछु तोहि॥

कैसा विलक्षण दैन्य है। उनकी यह विलक्षणता ऐसी है, जो निजी है, जो अन्यत्र मिलनी कठिन है और यही वैलक्षण्य उन्हें अन्योंसे ऊपर उठाकर प्रेमाचार्यका पद प्रदान करता है। वह अहङ्कार जो प्रभुसे दूर करता है, उसकी यहाँ पैठ नहीं। वह अहङ्कार, जिसने देवर्षि नारदको पकड़ लिया, जो श्रीभक्तराज हनुमान्के हृदयको भी स्पर्श कर सका, इन्हें छू न सका। इसीसे हम देखते हैं क्यों प्रभु इनका नाम-जप करते रहते हैं, क्यों इनका नाम उन्हें विह्वल बना देता है। तभी कहना पड़ता है—'भरत भरत सम जानि।'

इसके पश्चात् ही आती है कुटिलमणि मन्थरा वस्त्राभूषणोंसे सुसज्जित होकर। श्रीशत्रुघ्नजी माताके कार्योंसे वैसे ही क्षुब्ध थे। सजी-धजी मन्थराको देखते ही उनकी क्षोभाग्नि भड़क उठती है। चरणप्रहारसे वे उसे भूमिपर गिरा देते हैं। मुँहसे रक्त निकलने लगता है। सिर फूट जाता है। निश्चितरूपसे उस कुटिलाके लिये यह दण्ड कम था। फिर जब उसने इतनेपर भी 'करत नीक फल अनइस पावा' कह दिया तो शत्रुघ्न पुनः उसे घसीटने लगते हैं। भला, लक्ष्मणानुजको कौन शान्त करे। पर 'दयानिधि भरत' छुड़ा देते हैं। यहाँ अन्तर स्पष्ट है। श्रीशत्रुघ्नके प्रेम और धर्ममें यहाँ विरोध हो जाता है और वे स्वभावतः ही प्रेमको प्राधान्य देते हैं। पर भरतका प्रेम और धर्म एकार्थक होकर मन्थराको छुड़वा देता है। वे 'दयानिधि' तो हैं ही; पर इससे भी अधिक ध्यान उन्हें इसका है कि प्रभुको इससे कष्ट होगा। उनकी प्रत्येक क्रियामें प्रभुकी इच्छाका ध्यान सर्वप्रथम रहता है। तभी हम उनके विषयमें पढ़ते हैं—

> जौं न होत जग जनम भरत को। सकल धरम धुर धरनि धरत को॥

(क्रमशः)

भजन बिना देह व्यर्थ है

> भजन बिनु काहेको देह धरी।
> काम क्रोध मद लोभ मोहमें वृथा उमर गुजरी॥
> ना हरिभक्ति न गुरुकी सेवा ना सत्संग करी।
> नौ दस मास गर्भमें राख्यो जननी भार भरी॥
> निसिदिन सोवत जागत विहरत कर ले हरी हरी।
> सूरदास प्रभु तिहारे मिलनकी गुरु बिनु सूझ न परी॥

—सूरदासजी

मानस-नवाह्नके विश्राम

(लेखक—श्रीवासुदेवजी गोस्वामी)

श्रीरामचरितमानसका पाठ करनेवाले भगवद्भक्तोंकी पर्याप्त संख्या है ही तथा उसमें नित्यप्रति वृद्धि ही होती जाती है। इसका कारण इस वन्दनीय ग्रन्थमें मन्त्रोंकी शक्ति रखनेवाली वाणीका विद्यमान होना है। दैनिक पाठ करनेवाले अधिकांश सज्जन अपनी-अपनी रुचि, सुविधा तथा समयको दृष्टिमें रखकर व्यक्तिगतरूपसे क्रम निश्चित कर लेते हैं। कुछ भक्त मासिक अथवा त्रैमासिक पारायणके उन विश्रामोंके अनुसार भी पाठ करते हैं, जिनको 'कल्याण'के 'मानसाङ्क'में निर्धारित कर दिया गया है; परंतु ऐसे श्रद्धालु पुरुषोंकी संख्या बहुत ही अधिक है, जो वर्षमें दो बार नवरात्रमें श्रीमानसका पारायण किया करते हैं। किसी उद्देश्यविशेषसे सिद्धि प्राप्त करनेके हेतु उसके विधि-विधानपर सूक्ष्मरूपसे दृष्टि देनी पड़ेगी; किन्तु जहाँ भगवत्प्रीत्यर्थ ही सब कुछ करना है, वहाँ अपनी और अपने भगवान्‌की राजीके अनुसार ही विधान अपना रूप बदल लेता है। अपने प्यारे प्रभुकी प्रीतिके हेतु जो नवाह्नपारायण होता है, उसका फल तो प्रत्यक्ष ही तुरंत मिल जाता है। वह यह कि चैत्रमें पारायण किया कि भगवान्‌का जन्मोत्सव तुरंत प्राप्त हुआ और आश्विनमें पारायण किया कि राक्षसोंपर विजय पानेका उत्सव-समारोह मिला। अर्थात् भगवान्‌के प्रकट होने और उस प्राकट्यके उद्देश्यकी पूर्ति होनेके समयोत्सव तो हमें प्रत्यक्ष ही दिखायी देते हैं। परोक्षके लाभ तो भगवान् ही जानते होंगे। भक्तको जाननेसे ही क्या सरोकार। उसने तो उनकी प्रीतिके लिये ही सब कुछ किया है। उनको अर्पण कर दिया। उसका कर्तव्य तो पूरा हुआ।

नवाह्नपारायणके विश्रामोंपर दृष्टि देनेसे पता चलता है कि पाठका प्रतिदिनका भाग समान नहीं है। एक बार मेरे विचारमें मानसकी छन्द-संख्यामें ९ का भाग देकर जो लब्धि हो, उसके समकक्ष भागोंपर विश्राम नियत करनेका भाव उदय हुआ। उस समय मुझे स्वयं इन बातोंका पता न था, जो आगे प्रस्तुत लेखमें प्रकट की गयी हैं। मानसके प्रणेता प्रातःस्मरणीय गोस्वामी तुलसीदासजीने ही नवाह्नपारायणके इन्हीं स्थलोंका उपयोग किया था, जो आजकल प्रचलित हैं। मानसके नवाह्न-पारायणपर उन्हें स्वयं ही इतना विश्वास था कि उसके बलपर और प्रभुकी कृपाके आधारसे वे किसी भी कार्यको असंभव नहीं समझते थे। उनके शिष्य श्रीबेनीमाधवदासने मूलगोसाईंचरितमें एक घटनाका उल्लेख किया है, जिसमें बताया गया है कि एक लड़कीको जन्मसे ही लड़केके वेषमें रक्खा गया था। उसके माता-पिताने उसका लड़का ही होना प्रसिद्ध कर रक्खा था। यह भावुकता इस हदतक पहुँची कि उसका विवाह भी एक लड़कीसे हो गया। इससे कुलमें अशान्ति और दुःखका उदय हुआ तथा कलह बढ़ गया। संवत् १६६९ के लगभग सौभाग्यसे श्रीगोस्वामीजी उस ग्रामसे होकर जा रहे थे। यह दुःख उनसे निवेदन किया गया और उससे मुक्त करानेके लिये उन्हींपर सब भार रख दिया गया। पड़ी हुई भँवरी तो खुल नहीं सकती थी। बस, यही उपाय था कि वह बालकप्रसिद्ध बालिका स्त्रीसे पुरुष हो जाय। इस हेतु श्रीगोस्वामीजीने मानसका नवाह्न-पारायण किया, जिसके प्रतापसे वह स्त्रीसे तुरंत ही पुरुष हो गया।

आज भी स्त्रीसे पुरुष तथा पुरुषसे स्त्री हो जानेके संवाद यदा-कदा समाचारपत्रोंमें प्रकाशित होते रहते हैं। यद्यपि इस ओर देशके प्रमुख विद्वान् तथा साहित्यिक संस्थाएँ भरसक प्रयत्न कर रहे हैं, फिर भी अभीतक श्रीगोस्वामीजीका ऐसा जीवनवृत्त ज्ञात नहीं हो सका है, जिसके आधारपर उनके सम्बन्धमें प्रचलित धारणाएँ अपना ठीक रूप पा सकें। इससे उक्त विषयपर और विस्तृत प्रकाश नहीं डाला जा सका।

'मूलगोसाईंचरित' से इस प्रसङ्गका उद्धरण नीचे दिया जाता है—

चरवारि के ठाकुर की दुहिता। जिसु सुन्दरता पै जग मुहिता॥
इक नारिहिं ते तिसु ब्याह भयो। जब जानेउ दारुन दाह भयो॥
बर की जननी जनमात्रत ही। सो प्रसिद्ध कियो तेहि पुत्र कही॥
अनुकूलहिं साज समान कियो। जे जानत भे तिहि पूजि दियो॥
यहि कारन घोषा भयो बहुतै। अब रोवत मीजत हाथ सबै॥
तिन घेरे दया लगि संत हिये। तिसु हेतु नवाह्निक पाठ किये॥
बिश्राम लगायो सो जानिय जू। तिसु सब्द प्रथम यह आनिय जू॥
हिय सत अरु कीन्ह रु स्यामलगा। औ रामसैलु पुनि हारि परा॥
१ २ ३ ४ ५ ६
कह मारुतसुत जहँ तहँ पुन्यं। इति पाउ नवाह्निक ठाम अयं॥
७ ८ ९

दोहा—नारी ते नर होइ गयो, करतहि पाउ बिराम।
पुलकित जय तुलसी कहै, जय जय सीताराम॥१८॥

श्रीगोस्वामीजीके ये दो दोहे भी उक्त घटनाका समर्थन करते हैं।

दोहा—कबहुँक दरसन संत के, पारस मनी अतीत ।
नारी पलट सो नर भयो, लेत प्रसादी सीत ॥
तुलसी रघुबर सेवतहिं, मिटिं गो कालो काल ।
नारी पलट सो नर भयो, ऐसे दीनदयाल ॥

उक्त दोहोंमें 'लेत प्रसादी सीत' तथा 'रघुबर सेवतहिं' अंश इस बातको प्रकट करते हैं कि उक्त घटना धीरे-धीरे न होकर एकाएक हुई, जो बाबा बेनीमाधवदासके 'करतहिं पाठ विराम' के अनुकूल ही है।

'मूलगोसाईंचरित' का रचनाकाल इसी पुस्तकमें दी गयी तिथिके अनुसार गोस्वामीजीके साकेतवाससे सात वर्ष पश्चात् संवत् १६८७ है। इसके रचयिता बाबा बेनीमाधवदास ७१ वर्ष श्रीगोस्वामीजीके सम्पर्कमें रहे।

'मूलगोसाईंचरित'के उपर्युक्त पद्योंमें अधोरेखाङ्कित शब्द क्रमशः उन पद्योंके प्रारम्भ करनेवाले अंश हैं, जिनके पश्चात् ही नवाह्न पाठके विश्रामस्थल हैं। रेखाएँ तथा उनके नीचे अङ्क सुविधाके लिये डाल दिये गये हैं। सभी विश्राम दोहों-पर ही होते हैं, सिवा अन्तिम विश्रामके, जो मानसके पूर्ण पाठ कर लेनेपर ही होना स्वाभाविक है। वह श्लोक मानसपाठकी फल-स्तुतिके रूपमें है; किंतु जो संकेत उक्त 'गोसाईंचरित'में विश्रामोंके लिये दिये गये हैं, वे इतने सूक्ष्म हैं कि कहीं-कहीं भ्रम भी पैदा कर सकते हैं। उदाहरणार्थ प्रथम विश्राम उस दोहेपर होता है जो 'हिय' से प्रारम्भ हो। 'हिय' से प्रारम्भ होनेवाला बालकाण्डमें एक यह भी दोहा है—

हिय हरषे मुनि बचन सुनि देखि प्रीति बिस्वास ।
चले भवानी नाय सिर गये हिमाचल पास ॥

किंतु इस दोहेपर कथाप्रसङ्ग समाप्त नहीं होता। अतः प्रथम विश्राम इससे आगे 'हिय'से प्रारम्भ होनेवाले दूसरे दोहेपर ही है। इसी प्रकार अन्य विश्राम भी हैं। अभीतक मेरी जानकारीमें जो रामायणें आयी हैं और जिनमें नवाह्नपाठके विश्राम दिये गये हैं, उनमें इस विषयपर मतभेद ही नहीं है। 'कल्याण'के 'मानसाङ्क' तथा गीताप्रेसके 'मानस'के गुटकोंमें दिये गये विश्राम उचित और उपयुक्त हैं। अब विश्राम-स्थलोंके दोहोंको नीचे दिया जाता है।

बालकाण्ड

१. हिय हरषे कामारि तब संकर सहज सुजान ।
बहु बिधि उमहि प्रसंसि पुनि बोले कृपानिधान ॥

२. सतानंद पद बंदि प्रभु बैठे गुरु पहिं जाय ।
चलहु तात मुनि कहेउ तब पठवा जनक बुलाय ॥

३. कीन्ह सौच सब सहज सुचि सरित पुनीत नहाइ ।
प्रातक्रिया करि तात पहिं आए चारिउ भाइ ॥

अयोध्याकाण्ड

४. स्यामल गौर किसोर बर सुंदर सुखमा ऐन ।
सरद सर्बरी नाथ मुखु सरद सरोरुह नैन ॥

५. राम सैल सोभा निरखि भरत हृदय अति पेमु ।
तापस तप फलु पाइ जिमि सुखी सिराने नेमु ॥

अरण्यकाण्ड

६. हारि परा खल बहु बिधि भय अरु प्रीति दिखाइ ।
तब असोक पादप तर राखिसि जतन कराइ ॥

लंकाकाण्ड

७. कह मारुतसुत सुनहु प्रभु ससि तुम्हार निज दास ।
तव मूरत बिधु उर बसति सोइ स्यामता अमास ॥

उत्तरकाण्ड

८. जहँ तहँ धावन पठइ पुनि मंगल द्रब्य मगाइ ।
हरष समेत बसिष्ट पद पुनि सिरु नायउ आइ ॥

९. **पुण्यं पापहरं सदा शिवकरं विज्ञानभक्तिप्रदं**
मायामोहमलापहं सुविमलं प्रेमाम्बुपूरं शुभम् ।
श्रीमद्रामचरित्रमानसमिदं भक्त्यावगाहन्ति ये
ते संसारपतङ्गघोरकिरणैर्दह्यन्ति नो मानवाः ॥

उक्त पद्योंका पाठ नागरीप्रचारिणी-सभा, काशीद्वारा प्रकाशित रामचरितमानससे लिया गया है। इस प्रकाशनमें दिये गये पाठ 'मूलगोसाईंचरित'में अङ्कित संकेतोंके पूर्णतया अनुरूप हैं। गीताप्रेससे प्रकाशित मानसके विश्राम-स्थलोंपर दिये गये प्रथम तथा सप्तम विश्रामपर नाममात्रका अन्तर है। पिङ्गलकी दृष्टिसे सातवें विश्रामका दोहेका प्रथम चरण 'कह मारुतसुत सुनहु प्रभु' पाठ गीताप्रेसके मानसके 'कह हनुमंत सुनहु प्रभु'से अपेक्षाकृत उपयुक्त है; किंतु मानस-के पाठभेद इतने अधिक संख्यामें हैं कि उनके कारण वास्तविकतामें भी कहीं-कहीं भ्रम हो जाता है। उक्त पाठभेद होनेपर भी अर्थमें अन्तर नहीं पड़ता। अधिकांश पाठभेद हैं भी ऐसे ही। अस्तु! आशा है उपर्युक्त कथनमें विश्राम-स्थलोंकी ऐतिहासिकता तथा उनके सिद्ध प्रयोग होने-का महत्त्व प्रेमी पाठकोंको आनन्द प्रदानकर उनमें मानस-पाठके प्रति श्रद्धा उत्पन्न करेगा। जय जय सीताराम!

कामके पत्र

(१)

अपने दोषोंसे ही दुःख होता है

सप्रेम हरिस्मरण ! आपका पत्र मिला । आपने जो कुछ लिखा है, उससे यह विदित होता है कि आपके प्रति उन लोगोंका बर्ताव अच्छा नहीं है । इसीसे आपको क्रोध होता है और आपका चित्त अशान्त रहता है; परंतु आपके शब्दोंसे यह भी सिद्ध होता है कि आप उनके सुखसे दुखी रहते हैं । उन लोगोंके प्रति आप घृणा रखते हैं और क्रोधका तो आप किसी भी समय त्याग नहीं कर पाते । मेरी समझसे आपके अपार दुःखमें जितना उनका दुर्व्यवहार कारण है, उससे अधिक कारण हैं आपके मनमें बसनेवाले ये आपके दोष ही । महात्मा श्रीविदुरजीने कहा है—

ईर्षुर्घृणी न सन्तुष्टः क्रोधनो नित्यशङ्कितः ।
परभाग्योपजीवी च षडेते नित्यदुःखिताः ॥

(महा० उद्योग० ३३ । ९०)

'जो ईर्ष्या करते हैं (दूसरेकी उन्नति या सुख देखकर जलते हैं), घृणा करते हैं (सभीमें दोष देखकर उनको बुरा समझते हैं), असन्तुष्ट हैं (किसी भी स्थितिमें सन्तोष नहीं करते), क्रोधी स्वभावके हैं, सदा शङ्कित रहते हैं (सब ओर सन्देहकी दृष्टिसे देखते हुए डरते रहते हैं) और दूसरेके भाग्यपर जीवन-निर्वाह करते हैं, ये छहों सदा दुखी रहते हैं ।'

मेरे एक परिचित सज्जन हैं, वे सदा उदास रहते हैं । उनमें भी यही दोष है कि वे सदा असन्तोषकी आगमें जला करते हैं, सदा सशङ्कित रहते हैं और स्वावलम्बी नहीं बनना चाहते । मैं उन्हें समझाया भी करता हूँ; पर उनकी समझमें बात आती नहीं और फलतः उनका दुःख भी नहीं मिटता ।

मनुष्य बहुधा अपने ही दोषोंसे दुखी होता है । अपने मनकी दूषित दृष्टि दूसरोंमें दोषारोपण करके उन्हें दोषी देखती है और परिणाममें घृणा, द्वेष और भी बढ़ जाते हैं, जिनसे अपना ही दुःख बढ़ता है । याद रखना चाहिये, जब हमारे मनमें किसीके प्रति द्वेष और क्रोध उत्पन्न होता है तो उसी समय हम जलने लगते हैं । वह तो तब जलता है, जब हमारे मनके इन दोषोंकी कोई क्रिया बाहर प्रकट होती है ।

आप अपने मनमें गहराईसे देखिये । अवश्य ही आपको ये दोष दिखायी देंगे । उन लोगोंके बुरे बर्तावके इलाज करनेकी चिन्ता छोड़कर पहले अपने इन मानस रोगोंको दूर भगानेका प्रयत्न कीजिये। जब आपके ये रोग नष्ट हो जायँगे, तब आपको उन लोगोंके दुर्व्यवहारमें अपने-आप ही कमी प्रतीत होने लगेगी । क्योंकि अभी तो आप द्वेष या क्रोधका चश्मा चढ़ाकर उनको देखते हैं, इससे आपकी दृष्टि यथार्थ नहीं है; फिर आपकी दृष्टि यथार्थ हो जायगी । उस समय जो जैसा है, ठीक वैसा ही आपको दिखायी देगा । इसलिये स्वाभाविक ही उनके दोष कम दीखेंगे । फिर उनके रहे-सहे दोष आपके सद्व्यवहारसे दूर हो जायँगे । दूसरेके दुर्व्यवहारका नाश करनेका उपाय बदलेमें सद्व्यवहार करना है, दुर्व्यवहार करना नहीं । किसी दूसरेमें तो दोष है ही, तभी वह दुर्व्यवहार करता है; हम यदि बदलेमें दुर्व्यवहार करेंगे तो हमारेमें भी वही दोष आ जायगा । इससे हमारी हानि ही होगी । और यदि हम अपने दुर्व्यवहारको दोष नहीं समझते तो फिर उसके दुर्व्यवहारको दोष समझनेका क्या अधिकार है । दोष समझते हैं, इसीलिये उसे दूर करना चाहते हैं । पर दूसरेका दोष तो दूर करना चाहें और उसे दूर करने जाकर अपने उसी दोषको ग्रहण कर लें, यह कहाँकी बुद्धिमानी है । इसलिये मनुष्यको चाहिये कि वह पहले अपने दोषोंको

बारीकीसे देखे और उन्हें दूर करनेका पूर्ण प्रयत्न करे। इसीमें उसका और जगत्‌का कल्याण है।

(२)

बिना नामके पत्र

आपका पत्र मिला। आपके लिखनेका सार यह है कि "कल्याण अङ्क ९ के पृष्ठ १२७४ में 'कामके पत्र' शीर्षकमें जिस पत्रका उत्तर दिया गया है, उसमें उल्लिखित व्यक्तिके सम्बन्धमें जो कुछ लिखा गया है, वह ठीक नहीं है। वे बहुत शिष्ट पुरुष हैं और अपना अधिकांश समय प्रेमपूर्वक भगवान्‌का भजन करनेमें लगाते हैं। यह सत्य है कि उनकी विवाह करनेकी इच्छा नहीं थी, पर उन्होंने गुरुजनोंकी आज्ञा तथा आग्रहसे ही विवाह किया था। परंतु पत्नीके प्रति उनकी कोई भी घृणा या नाराजी नहीं है। वे उसे भगवान्‌की दी हुई वस्तु समझते हैं इत्यादि।" पहले पत्रमें लेखकका नाम नहीं था। बिना नामके पत्रोंका उत्तर प्रायः नहीं दिया जाता। परंतु उस पत्रमें एक निरपराधा स्त्रीके प्रति दुर्व्यवहारकी बात थी, इससे उत्तर प्रकाशित कर दिया गया था। वह बात सत्य थी या नहीं, इसके जाननेका हमारे पास कोई साधन नहीं था; क्योंकि पत्रमें पूरा पता नहीं था। अब आपने जो पत्र लिखा है, यह भी बिना नामका ही है। हम कैसे परीक्षा करके निर्णय करें कि आपके इस पत्रकी बात ठीक है या पहले पत्रकी। परंतु यदि पहला पत्र ठीक न हो और वे सज्जन अपनी पत्नीके साथ सद्व्यवहार करते हों तो बड़े ही आनन्दकी बात है। हम भी यही चाहते हैं। भविष्यमें बिना नामके पत्रोंका उत्तर प्रायः नहीं दिया जायगा। पत्र लिखनेवाले सज्जनोंको अपना नाम-पता पूरा लिखना चाहिये। किसी पत्रको कोई गुप्त रखना चाहेंगे तो उसे गुप्त रक्खा जायगा। अब भी ऐसे पत्र आते हैं, जिनमें नाम-पते होते हैं और उनका उत्तर दे दिया जाता है; पर कहीं भी नाम प्रकट नहीं किया जाता।

(३)

संयुक्त परिवारमें लाभ है

आपका पत्र मिला। आपके प्रेमभरे परिवारको कुछ लोग नष्ट-भ्रष्ट करना चाहते हैं, यह दुःखकी बात है। आप दोनों भाइयोंका परस्पर बड़ा प्रेम है और आपलोग रामायण-पाठ तथा श्रीठाकुरजीकी पूजा किया करते हैं, सो बड़े ही आनन्दका विषय है। आपमेंसे छोटे भाईके पुत्र लोगोंके बहकावेमें आकर अनाचार कर रहे हैं, परिवारको हानि पहुँचाते हैं और अलग होना चाहते हैं—यह उनकी भूल है। उनको प्रेमसे समझानेकी कोशिश कीजिये। समझ जायँ तो अच्छी बात है। नहीं तो उन्हें अलग कर दीजिये। जो साथ नहीं रहना चाहेंगे, उन्हें जबरदस्ती आप कैसे रक्खेंगे। भगवान्‌से प्रार्थना कीजिये कि वे उनको सद्बुद्धि दें। शोभा, सुन्दरता और लाभ तो परिवारके संयुक्त बने रहनेमें ही हैं। पर यदि किसी प्रकार भी यह सम्भव न हो तो नित्यका दुःख मिटानेके लिये अलग कर देना ही श्रेयस्कर है। उन भाईसे भी हमारा अनुरोध है, वे शान्तिपूर्वक सारी स्थितिपर विचार करें। यदि उन्हें किसी बातसे असन्तोष हो तो उसे प्रकट करके शान्ति तथा प्रेमके साथ उसका निराकरण करा लें। अलग होनेमें तो हानि ही है।

(४)

सर्वोत्तम हिंदू-संस्कृति

सप्रेम हरिस्मरण! कृपापत्र मिला। धन्यवाद। आपका यह लिखना ठीक है कि आज अपना देश स्वतन्त्रता मिल जानेके बाद भी पाश्चात्त्य विचारधाराका गुलाम बना हुआ है। रहन-सहन, वेश-भूषा, भाषा, विचार-पद्धति और शासनप्रणाली आदि सभी दृष्टियोंसे हम पूर्णतः पाश्चात्त्य संस्कारोंसे आक्रान्त हैं।

सदियोंकी परतन्त्रता और विधर्मियोंके अत्याचारसे पराभूत होकर हममेंसे कुछ अग्रणी पुरुषोंने भी आत्म-

विश्वास खो दिया है। हमारे धर्म, हमारी संस्कृति, हमारी सभ्यता और हमारी विचारधारामें क्या अच्छाई है, यह देखनेकी भी इच्छा उन लोगोंमें नहीं रह गयी है। शिक्षा-दीक्षा ऐसी मिली, जिससे भारतीय शरीरमें अभारतीय मनका निर्माण हो गया। हृदय बदला, दृष्टि बदली। फिर कुछ-का-कुछ दिखायी देने लगा। अपनी अच्छाईमें भी बुराई नजर आयी और दूसरोंकी बुराईमें भी अच्छाई दिखायी देने लगी। यह विपरीत दृष्टि ही दुःख और अशान्तिकी जननी है। आज सारा भारत दुखी है, चिन्तित है और अशान्त है केवल इस विपरीत दृष्टिके ही कारण।

हमारा यह दृढ़ विश्वास है कि हमारी प्राचीन संस्कृति ही संसारके लिये कल्याणकारक है। आज सबको हाय-हाय लगी है। घर-घर व्यक्ति-व्यक्ति चिन्तित है। सबको अपनी-अपनी चिन्ता है। सब अपना पेट भरना चाहते हैं। सबको अपना तन ढकनेकी चिन्ता है। दूसरा कैसे है, वह सुखी होगा या नहीं—इस ओर किसीका ध्यान नहीं है। साम्यवादियोंका नारा है—'आज माँगता हिंदुस्थान। रोटी, कपड़ा और मकान।' आश्चर्य है इस स्थितिपर। भारतवर्ष इस प्रकार याचक तो कभी नहीं हुआ था। भारतवर्ष सदाका दानी रहा है। आज यह दैन्य, यह याचक-मनोवृत्ति उसमें कैसे पैदा हुई? यही तो आजके युगकी देन है।

जहाँ स्वार्थ है, लोभ है, वहाँ सुख नहीं रह सकता। वहाँ सदा हाहाकार ही बना रहेगा। जहाँ त्याग है, वहीं सुख है, शान्ति है। आज साम्यवादके नारे लोगोंमें स्वार्थमूलक प्रवृत्तिको प्रोत्साहन दे रहे हैं। काम कम करो और वेतन अधिक लो, यह भावना बढ़ रही है। जब उत्पादन और आयमें ही कमी होगी, तब वेतन कहाँसे बढ़ेगा? जो है, वह भी रह जायगा—इसीमें संदेह है। मेरा ही पेट भरे, यह भावना किसीके पेटको भरने नहीं देती। भूख और पेट दोनों बढ़ते जाते हैं। इसीके लिये वर्ग-संघर्ष होते हैं। लूट, खसोट, हिंसा—सभी उपाय काममें लाये जाते हैं। निर्माण नहीं होता, परंतु विध्वंसके कार्य बराबर हो रहे हैं। क्या यही सुख और शान्तिका उपाय है? दूसरेका घर लूटकर हम कबतक अपना पेट भर सकते हैं। जमींदारी प्रथा और पूँजीवादी प्रथामें यदि दोष आ गये हैं तो उन दोषोंका सुधार हो सकता है। ये प्रथाएँ तोड़ देनेमें ही लाभ दीखता हो तो तोड़ भी दी जायँ। इनके रखनेमें अपना कोई आग्रह नहीं है। आज जो जमींदारी और पूँजीवादी नीति है, यह प्राचीन भारतीय संस्कृति-के आदर्शसे बहुत नीचे गिर चुकी है। तथापि इन प्रथाओंके नाशसे ही सारी समस्या हल नहीं होगी। सबको वस्त्र मिले, सबको सुख-सुविधा और ज्ञान-वृद्धिके साधन प्राप्त हों; यह होनेपर ही आर्थिक दशाका सुधार माना जायगा।

नारा लगा देनेसे ही कोई मनचाही वस्तु सदा नहीं मिलती रहती। उसके लिये प्रयत्न आवश्यक होता है। उचित श्रमसे ही समुचित फलकी प्राप्ति होती है। आजकी नीति ऐसी है कि वोटके बलपर सभी शासनमें अधिकार प्राप्त करना चाहते हैं। इस कंपिटीशनमें भिन्न-भिन्न पार्टी संगठित करके सब एक दूसरेसे लड़ते हैं। जहाँ स्वार्थके लिये सदा संघर्ष चलता रहेगा, वहाँ सुख स्वप्नके समान है। मजदूर और किसान—ये ही तो भारतके प्रधान निवासी हैं। ये उत्पादन बढ़ाकर सभी वस्तुएँ सर्वसाधारणके लिये अधिक-से-अधिक सुलभ कर सकें, तभी अन्न-वस्त्र आदिकी वर्तमान समस्या सुलझ सकती है। जहाँ स्वार्थकी भावना काम करती हो, वहाँ ऐसी सद्बुद्धि कैसे जगेगी?

साम्यवाद सबको सुख पहुँचाना चाहता है; पर इसके लिये जिस प्रवृत्ति और भावनाको वह प्रोत्साहन देता है, वह सबको दुःखमें ही डालनेवाली है।

अब 'भारतीय संस्कृति'के साम्यवादपर दृष्टिपात कीजिये।

संसारके सभी प्राणी, न केवल मानव ही, भगवान्‌के चिन्मय अंश हैं। ये जड और चेतन सभी भगवान्‌के स्वरूप हैं, इस सत्यका साक्षात्कार करके सभी मनुष्य जगत्‌के समस्त जड-चेतनको शीश झुकायें और सुख पहुँचानेकी चेष्टा करें। यह भारतीय आदर्श है। दूसरे लोग अधिक-से-अधिक बन्धु अथवा मित्रकी भावनातक जाते हैं। कुछ लोग आत्मभावका समर्थन करते हैं केवल मानव-मानवके लिये। परंतु विश्वके समस्त जड-चेतन अपने आराध्य देव हैं, इस सद्भावनाका केवल हिंदू-धर्म संदेश देता है। इस अवस्थामें पहुँचकर हमारा सबके साथ राग-द्वेष, वैर-विरोध मिट जाता है—

निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध ॥

इससे बढ़कर साम्यदृष्टि और क्या हो सकती है। इसी उद्देश्यसे हिंदू-शास्त्र प्रत्येक गृहस्थको बलिवैश्वदेव यज्ञका आदेश देते हैं। बलिवैश्वदेव वह यज्ञ है, जिसमें सम्पूर्ण विश्वको तृप्त करनेकी भावनासे हम अन्न और जलका त्याग करते हैं। उसमें देवयज्ञ, पितृयज्ञ, भूतयज्ञ, ऋषियज्ञ और मनुष्ययज्ञ—ये पाँच प्रकारके यज्ञ हैं। मनुष्ययज्ञको ही अतिथियज्ञ कहते हैं। यज्ञका अर्थ है परोपकार। दूसरोंके हितकी दृष्टिसे हम जो कुछ भी करते हैं, वह सब यज्ञ है। यज्ञ त्यागकी आधारशिलापर ही सुप्रतिष्ठित है। यह यज्ञ भी भगवान्‌का ही स्वरूप है। इस प्रकार यज्ञरूपी क्रियामें भी हिंदू-धर्म भगवद्दृष्टि सिखाता है।

हिंदू-धर्म बतलाता है—यज्ञ-शेष अन्न अमृत है, इसके भोजनसे परमात्माकी प्राप्ति होती है। सबको देकर पीछे तुम खाओ। दूसरोंकी प्यास बुझाकर स्वयं पानी पीओ। दूसरोंको रहनेके लिये स्थान और आसन देकर स्वयं अपनी चिन्ता करो। तात्पर्य यह कि सदा दूसरोंको सुखी बनानेकी चेष्टा करो। जो स्वार्थी है, जो केवल अपने पेटकी चिन्ता करता है और अपने लिये भोजन बनाता—कमाता खाता है, वह पापका भागी होता है।

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥

दूसरोंको देकर भी यह अभिमान मत रक्खो कि तुम उनका उपकार करते हो। तुम तो उनकी ही वस्तु उन्हें दे रहे हो। वह सब तुमसे पानेका उन्हें अधिकार है। यदि तुम नहीं देते हो तो चोर हो—'स्तेन एव सः'। दूसरोंका हक पचानेका दुःसाहस करनेवाले वे मनुष्य सारी आयु पापका ही अर्जन करते हैं, उनका जीवन व्यर्थ है—

अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥

इसी भावनासे अनुप्राणित होकर भारतीय गृहस्थ अतिथिसेवाके लिये सदा उत्सुक रहते थे। वे प्रतिदिन दोपहरतक अतिथिकी बाट जोहते थे। कोई मेरे घरपर आ जाय, मैं भोजन आदिके द्वारा उसकी सेवा करके तब स्वयं अन्न ग्रहण करूँगा। श्रुतिके शब्दोंमें यही भावना इस प्रकार व्यक्त की गयी है—

बहु देयं च नोऽस्तु । अतिथींश्च लभेमहि याचितारश्च नः सन्तु मा च याचिष्म कञ्चन।

'मेरे पास देनेके लिये बहुत सामान हो। मैं सदा बहुतसे अतिथियोंकी सेवाका अवसर पाऊँ। मेरे पास माँगनेवाले आयें, किंतु मैं कहीं न माँगूँ।'

इस प्रकार प्रार्थना की जाती थी। जब सभी एक दूसरेको देना चाहेंगे, सभी सबको सुखी बनानेकी इच्छा रक्खेंगे, तो कौन दुखी रहेगा?

सम्पूर्ण मानव-समाजको सुखी बनानेकी इच्छासे ही भगवान्‌द्वारा वर्णाश्रम-व्यवस्थाका निर्माण हुआ है। चार वर्ण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र हैं। ब्राह्मण अपनी जीविकाका भार दूसरोंपर न डालकर फल-मूल आदिसे ही निर्वाह करता था, परंतु त्याग-तपस्याद्वारा ऐसे सद्ज्ञानका अर्जन करता था, जिसके द्वारा समस्त मानव-समाजके कल्याणमार्गका दर्शन हो सके। ऋषि

महर्षियोंने आजीवन तपस्या करके समाजहितके विधान ही तैयार किये। जो सत्य और सनातन हैं, उन आदर्शोंपर चलनेवाला कभी दुखी नहीं हो सकता। क्षत्रियसमाजको रक्षक बनाया गया। उसकी परम्पराने समाजको भयसे बचानेका ही व्रत लिया। इसी तरहकी उन्हें शिक्षा-दीक्षा मिली और जाति-परम्परासे उसमें पौरुषका ही अधिक विकास हुआ।

वैश्यने कृषि, गोरक्षा और वाणिज्यके द्वारा सम्पूर्ण समाजके लिये अन्न और धनका संग्रह किया तथा शूद्रने शिल्पकलाके द्वारा समाजकी सेवा अपनायी। ये सभी कर्म उन्हींकी परम्परामें प्रचलित और विकसित होते रहे। एक दूसरेने परस्परके कर्मको छीनने या अपनानेका प्रयास नहीं किया।

वैश्यने यज्ञद्वारा दक्षिणाके रूपमें ब्राह्मणको अन्न पहुँचाया। रक्षाका कर देकर क्षत्रियको अन्न-धनसे सम्पन्न बनाया और शूद्रको उसके शिल्पका मूल्य देकर उसकी भी जीविका चलायी। इस प्रकार चारों वर्णोंका जीवन सम्पूर्ण समाजके हितके लिये ही रहा। सब अपने वर्ण और कर्मकी शुद्धिके लिये यत्नशील थे, अतः वर्णसङ्करता एवं कर्मसङ्करता उनमें नहीं आने पाती थी। इसीलिये उनमें न छोटे-बड़ेकी भावना थी, न वर्ग-संघर्ष था।

शासनप्रणालीमें राजतन्त्रको ही महत्त्व दिया गया, जिसका सुविकसित रूप राम-राज्य है—जहाँ इतनी अच्छी व्यवस्था थी कि कभी अकाल नहीं पड़ता था, खेती नहीं मारी जाती थी। वृक्षोंके फूल और फल अधिक होते थे। गायें खूब दूध देती थीं। किसीको रोग नहीं, व्याधि नहीं। सब पूरी आयुतक जीवित रहते थे। उस राज्यमें कोई स्त्री विधवा नहीं। कोई अनाथ नहीं। सारा राष्ट्र एक कुटुम्ब था। राजा केवल घरके मालिक, ट्रस्टी या पंचकी भाँति व्यवस्थापकमात्र था। राजा प्रजाकी सारी चिन्ताको दूर करनेका प्रयास करता और प्रजा राजाके बलको बढ़ाती थी। मानो सभी एक पिताके पुत्र हों। राजा राज्यके संरक्षणकी शिक्षा पाता और प्रजा अपने उद्योग एवं अपने व्यवसायमें पटुता प्राप्त करती। सभी सुखी थे। सभी उन्नतिशील थे। शासनमें सुयोग्य व्यक्ति ले लिये जाते थे। कोई होड़ नहीं, कोई चुनावकी लड़ाई नहीं। शासन प्रजाके समर्थनपर ही टिक पाता था। प्रजाकी इच्छाके सामने राजा इतना नतमस्तक था कि अपने पिता, पुत्र, भाई अथवा पत्नीको भी त्याग देनेमें आनाकानी नहीं कर सकता था।

आजके साम्यवाद और समाजवाद जिन उद्देश्यों अथवा सुखोंको लानेका प्रयास कर रहे हैं, उनमेंसे कौन-सा सुख या उद्देश्य प्राचीन संस्कृतिद्वारा सिद्ध नहीं होता? उलटे आजके साम्यवादमें जो राग-द्वेष, संघर्ष और हिंसा आदि दोष हैं, वे प्राचीन हिंदू-संस्कृतिमें देखनेको नहीं मिलेंगे।

आदर्शका पालन नहीं होनेसे समाजमें बुराइयाँ आती हैं। प्राचीन हिंदू-संस्कृतिकी अवहेलनासे ही समाजमें नाना प्रकारके दोष आ गये। वे दोष प्राचीन व्यवस्थाकी देन नहीं, हमारी अपनी उपेक्षा और अकर्मण्यतासे ही आये हैं। आजका साम्यवाद भी एक आदर्श है। पर इसका आदर्श स्वरूप भी वैसा शुद्ध नहीं है, जैसा हमारी हिंदू-संस्कृतिके साम्यवादका है। हमारा धर्म धारणात्मक है, ध्वंसात्मक नहीं। धारण नाम है रक्षाका। यदि संसारकी रक्षा अभीष्ट है तो हिंदू-धर्मका ही आश्रय लेना चाहिये। जिससे लोक-परलोक दोनोंकी उन्नति हो, वही धर्मका आदर्श रूप है। 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।' हमारे हिंदू-धर्मके सभी सिद्धान्त इसी तुलापर तौलकर निश्चित किये गये हैं। अतः इन्हींसे जगत्में शान्ति, सुव्यवस्था एवं कल्याणकी प्राप्ति सम्भव है।

संसार जानता है, इतिहास साक्षी है, हिंदुओंने

कभी स्वार्थ या लोभवश किन्हीं अन्यधर्मावलम्बियोंपर आक्रमण नहीं किया। क्योंकि ये सबमें आत्मदृष्टि रखते हैं। जब इनके ही धर्म और संस्कृतिको कुचलनेका कभी प्रयास हुआ, तभी इन्होंने विपक्षीका सामना करनेके लिये शस्त्र ग्रहण किया। हिंदू मानते हैं, आत्मा अजर-अमर है। अतः वे मौतसे नहीं डरते। शरीरके त्यागसे उन्हें कष्ट नहीं होता। क्योंकि वह रहनेवाला नहीं है। इसलिये हिंदूका शौर्य कभी लुप्त नहीं होता। विपक्षीकी ललकारका वे स्वागत करते हैं। उनके सामने युद्ध स्वतः उपस्थित हो जाय तो वे उत्सव मनाते हैं। वे धर्मके लिये किसीको भी मारते नहीं । परंतु धर्म-रक्षाके लिये स्वयं मरना अपने लिये कल्याणकर समझते हैं—'स्वधर्मे निधनं श्रेयः।' संसारमें ऐसी कोई संस्कृति नहीं, जो हिंदू-संस्कृतिसे श्रेष्ठ मानी जा सके। शेष प्रभुकृपा।

(५)

श्रीभगवान् ही गुरु हैं—भगवन्नामकी महिमा

प्रिय बहिन! सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। आपने दीक्षा नहीं ली सो कोई हर्ज नहीं। दीक्षाकी कोई आवश्यकता नहीं है। आप जगद्गुरु भगवान् श्रीराम या भगवान् श्रीकृष्णको ही अपना परम गुरु मानिये और रामचरितमानस या गीताका पाठ शुरू कीजिये। रामायण और गीता भगवान्‌के मन्त्र हैं। बिना दीक्षाके किसीको पानी देना पाप है—इन सब बातोंको बिल्कुल मत मानिये। आजकल गुरुओंकी भरमार है। किसीसे कान फुँकवा लेनेसे ही कुछ नहीं होता। मनुष्यका वास्तविक कल्याण तो साधन-भजनसे ही होता है। परमार्थी गुरु भी परम कल्याण करते हैं। पर वैसे गुरुका मिलना बहुत दुर्लभ है। फिर स्त्रियोंको तो गुरुकी कोई आवश्यकता नहीं है, न विधान ही है। सधवाके लिये उसका पति ही गुरु है और विधवाके लिये परम पति भगवान् परम गुरु हैं। आजकल देखा जता है बहुत-सी भोली स्त्रियाँ गुरुओंके फेरमें पड़कर घर-परिवारमें एक भयङ्कर अशान्ति और कलहका वातावरण उत्पन्न कर देती हैं और शास्त्र-विरुद्ध आचरण करके अपना भी पतन करती हैं।

आपने लिखा—'मैं अपने पूज्यजनोंकी सेवा करना धर्म समझती हूँ पर किन्हींसे दीक्षा लेना या उनकी जूँठन खाना अथवा एकान्तमें सेवा करना अपने स्वभावसे निन्दनीय समझती हूँ।' सो बहुत ही उचित है। किसीकी भी जूँठन नहीं खानी चाहिये और एकान्तमें परपुरुषसे मिलनेको तो महान् पातक एवं दुश्चारका कारण मानकर उससे सर्वथा दूर रहना चाहिये। जो गुरु परस्त्रीसे एकान्तमें सेवा कराना चाहते हैं, उनपर कभी विश्वास नहीं करना चाहिये। घरके पूज्यजनोंकी सेवा भी बड़ी सावधानीसे करनी चाहिये। पुरुष-जाति आजकल बहुत ही हीनचरित्र हो गयी है। उससे सावधान रहनेमें ही लाभ है।

आप श्रीरामचरितमानसका पाठ करती हैं सो बड़ी अच्छी बात है। मालापर नामजपसे डरनेकी क्या आवश्यकता है? ज्यादा नाम लेनेका अभिमान हो जायगा, इस डरसे जप न करना तो भूलकी बात है। नामजप करनेसे चित्तके दुर्गुणोंका नाश होता है और सद्गुण अपने-आप आते हैं। अभिमानसे जरूर बचना चाहिये, पर भजनसे कभी नहीं हटना चाहिये। भगवान्‌के नामकी शक्तिपर विश्वास करके यह निश्चय करना चाहिये कि नाम-जपसे मेरे मनमें अभिमान आदि दोष कभी उत्पन्न नहीं हो सकते, वरं मेरे मनमें जो पहलेके दोष हैं, उन सबका भी नाश हो जायगा। नामका बड़ा प्रभाव है। भगवन्नामसे सारे पाप-ताप सहज ही नष्ट हो जाते हैं और श्रद्धापूर्वक नाम लेनेपर तो असम्भव भी सम्भव एवं अमङ्गल भी मङ्गलरूप बन जाते हैं।

शिवपुराणमें कहा है—

अग्निश्च शीततां यातो जलं च स्थलतां गतम्।
स्थलं च जलतां यातं विषं चामृततां गतम्॥
शस्त्राणि पुष्पभावं च हरेर्नाम्नश्च कीर्तनात्।
(विश्वेश्वरसंहिता १०। ३६)

'श्रीहरिनामकीर्तनसे अग्नि शीतल हो जाती है, जल स्थलरूपको प्राप्त हो जाता है, स्थल जल बन जाता है, विष अमृतमें परिणत हो जाता है और शस्त्र-समूह पुष्पके समान कोमल हो जाते हैं।'

फिर कलियुगमें तो भगवान्का नाम ही जीवके लिये एक आधार है—

है हरि-नामको आधार।
और या कलिकाल नाहिन रह्यो बिधि ब्यौहार॥
नारदादि सुकादि संकर कियो यहै बिचार।
सकल श्रुति दधि मथत काढ्यो इतो ई घृतसार॥
दसहु दिसि गुन करम रोक्यो, मीनको ज्यों जार।
सूर हरि को सुजस गावत, जेहि मिटे भव भार॥

कलिजुग जोग न जग्य न ग्याना। एक अधार राम गुन गाना॥

कलि नाम काम तरु राम को।
दलनिहार दारिद दुकाल दुख, दोष घोर घन घाम को॥

कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात्॥
(श्रीमद्भा० १२। ३। ५२)

कृतजुग त्रेताँ द्वापर पूजा मख अरु जोग।
जो गति होइ सो कलि हरि नाम ते पावहिं लोग॥

इन सब वचनोंपर विश्वास करके भगवन्नामका जप अवश्य करना चाहिये। इसमें मंगल-ही-मंगल है—

भायँ कुभायँ अनख आलसहूँ। नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ॥

(६)

भगवन्नामका महत्त्व

सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। विशुद्ध होकर तथा सारे पापोंको छोड़कर जो भगवान्का नाम लिया जाता है, उसका तो कहना ही क्या है। हमलोगोंको यही आदर्श सामने रखना चाहिये कि भगवन्नाम लेनेपर हमारे हृदयमें पाप-संस्कार-का लेश भी न रहे। परंतु जो लोग अभी पापसे नहीं छूटे हैं, इच्छा न होनेपर भी जिनके मन-तनसे पापाचरण बन जाते हैं, वे क्या करें? उनके पापनाशका उपाय भी तो नाम-जप ही है। अतएव पापनाश होनेके बाद नाम-जप करेंगे, ऐसी धारणा ठीक नहीं। पहले नाम-जप करके पापोंका नाश कर लीजिये, फिर विशुद्ध होकर परम प्रेमपूर्वक नाम-जपका विलक्षण आनन्द लूटिये। भगवान्के नाममें विलक्षण पापनाशिनी शक्ति है। जिस किसी प्रकार भी भगवान्के नामका जीभसे स्पर्श हो जाना चाहिये, उससे पाप-नाश होते हैं।

स्कन्दपुराणमें आता है—

हास्याद्भयात्तथा क्रोधाद् द्वेषात् कामादथापि वा।
स्नेहाद्वा सकृदुच्चार्य विष्णोर्नामाघहारि च॥
(वैशाख० २१। ३६)

'हँसीसे, भयसे, क्रोधसे, द्वेषसे, कामसे या स्नेहसे—किसी भी प्रकारसे एक बार भगवान्के नामका उच्चारण पापोंका नाश करनेवाला होता है।'

श्रीमद्भागवतमें कहा है—

साङ्केत्यं पारिहास्यं वा स्तोभं हेलनमेव वा।
वैकुण्ठनामग्रहणमशेषाघहरं विदुः॥
(६। २। १४)

'संकेतसे, हास-परिहाससे, स्तोभसे (विश्रामके लिये) अवहेलनासे—किसी प्रकार भी भगवान्का नाम लेनेपर वह पापोंका अशेष हरण करनेवाला होता है।'

यह उक्ति तो प्रसिद्ध ही है—

सकृदपि परिगीतं श्रद्धया हेलया वा
भृगुवर नरमात्रं तारयेत् कृष्णनाम।

'श्रद्धासे हो या अवहेलनासे, कोई मनुष्य एक बार भी श्रीकृष्णका नाम ले लेता है तो वह उसे तार देता है।'

(७)

विधवाएँ अपने धर्मकी रक्षा करें

एक उच्च हिंदूकुलकी विधवा महिला हैं। वे लिखती

हैं—'भगवान्‌ने मेरे जीवनका सहारा मुझसे हमेशाके लिये अलग कर दिया है।........मैंने पूर्व-जन्ममें कौन-सा पाप किया था, जिसका दुःख मुझे देखना पड़ रहा है ? किंतु इतनेपर भी मेरा विचार है कि यह दुनिया क्षणभंगुर है, जिंदगीका कोई भरोसा नहीं, शेष जीवन भगवान्‌के भजनमें व्यतीत करूँगी। परंतु समाज मेरे पीछे पड़ा हुआ है। मेरी उम्र २० वर्षकी है, एक लड़का दो सालका है। इसपर भी समाज मेरा पुनर्विवाह करनेपर तुला हुआ है तथा मुझे हर प्रकारकी बातसे पथभ्रष्ट किया जा रहा है। मुझको फिसलानेके लिये चिकनी मिट्टी दिखायी जा रही है। मैं कबतक अपने मनको दृढ़ रख सकूँगी ? क्या पुनर्विवाह शास्त्रसम्मत है ? इसके विषयमें 'कल्याण'में दो शब्द देंगे, जिससे दिलमें शान्ति हो।'

यह उनके पत्रके एक अंशका उद्धरण है। वे उच्च कुलकी महिला हैं। उनके उच्च विचार हैं। सीता और सावित्रीकी परम्परामें उनका जन्म हुआ है। उनमें भी वे सतीत्वके संस्कार वर्तमान हैं। वे नहीं चाहतीं, अब पुनर्विवाह हो। वे यह भी जानती हैं कि जीवन क्षणभंगुर है, इसका क्षणभर भी भरोसा नहीं। फिर इसके लिये पापपंकमें डूबकर अपनेको नरकमें क्यों ढकेला जाय ? प्रत्येक नारीको अपने वैधव्यके लिये दुःख होता है। उनको भी दुःख है। किंतु उस दुःखके आवेगमें वे अपने पवित्र धर्म एवं कर्तव्यको भुलाना नहीं चाहतीं। वे शेष जीवन भगवान्‌के भजनमें बिताना चाहती हैं। भगवान्‌का भजन सभी पापोंका एकमात्र अमोघ प्रायश्चित्त है। इससे तन-मन सभी पवित्र होते हैं और भविष्य मङ्गलमय हो जाता है।

मैं उक्त देवीसे विनयपूर्वक यही अनुरोध करना चाहता हूँ कि वे अपने धर्मपर दृढ़ रहें। आज जो दुःख प्राप्त हुआ है, वह अपने ही पूर्वकर्मका फल है; अतः दुःखसे छूटने और भविष्यमें कल्याण प्राप्त करनेके लिये सत्कर्म एवं श्रीभगवान्‌का सहारा लेना ही उनके लिये सर्वथा उचित है।

समाजके जो लोग उन्हें पथभ्रष्ट करनेकी चेष्टा करते हैं, वे पाप करते हैं। वे अपनी वासना या स्वार्थ-की पूर्तिके लिये उनको तो नरकमें ढकेलना चाहते ही हैं, उनके कुलीन बालकका भी भविष्य नष्ट करना चाहते हैं। ऐसे प्राणी अपने तो नरकमें डूबते ही हैं, अपने साथ दूसरोंको भी डुबोते हैं।

उन्होंने शास्त्रकी सम्मति जाननी चाही है। शास्त्र भगवान्‌की आज्ञा है, उनके आदेशका पालन करनेसे भगवान् संतुष्ट होते हैं और मनुष्यका परम हित होता है। शास्त्रके आदेश लोक-परलोक दोनोंको सुधारनेवाले होते हैं। वर्तमानमें सुख हो और भविष्य भी मङ्गलमय बना रहे, यह शास्त्रका उद्देश्य है। वही शास्त्र विधवा-को विवाहसे रोकता है। शास्त्रकी दृष्टिसे विधवाका पुनर्विवाह महापाप है (देखिये मनुस्मृति, अध्याय ९, श्लोक ६४ से ६८ तक)।

आजकलके सुधारक शास्त्रकारोंको निष्ठुर बताते हैं। परंतु शास्त्रकार कितने सदय हैं, इसका अनुभव उनको है ही नहीं। एक आदमी भूखसे अत्यन्त पीडित है, उसके सामने मधुर पकवान रक्खा हुआ है, वह उसपर टूट पड़ना चाहता है। एक सज्जन उस पकवानके पास बैठे हैं और उस भूखेसे कहते हैं, इसे न खाओ। इसे खा लेनेपर सुखके स्थानपर महान् दुःख होगा। वह उस मनुष्यको निष्ठुर बताकर भोजनपर टूट पड़ता है और सब चट कर जाता है। सोचता है, इतने मधुर भोजन-को यह दुःखकारक बता रहा था। कितना झूठा है !

परंतु वह झूठा नहीं था; वह जानता था इस भोजनमें घातक विष है। थोड़ी देरमें उसका असर हुआ। वह आदमी जो मौजसे माल उड़ाता था, मृत्युकी यन्त्रणासे छटपटाने लगा।

यही दशा वर्तमान विषयभोगकी सुविधाके लिये

आज्ञाके विपरीत चलनेवालोंकी होती है। पुनर्विवाहसे विधवाको वही सुख मिलता है, जो विषमिश्रित भोजन करनेवाले भूखे मनुष्यको मिला था। फिर असीम यन्त्रणा! अपार दुःखका सामना करना पड़ता है। अतः अपना परम कल्याण चाहनेवाली प्रत्येक विधवाको पुनर्विवाहका विचार मनमें न लाकर ब्रह्मचर्य-पालनपूर्वक भगवद्भजनमें संलग्न रहना चाहिये।

जिस विधवाकी गोदमें बालक है, उसे उस बालकके भविष्यकी भी रक्षा करनी है। उच्च कुलकी विधवा क्षणिक आवेशमें किसी मनचले युवकसे विवाह कर ले तो उसके पुत्रकी क्या दशा होगी? कौन उसे आश्रय देगा? जब वह बड़ा होगा, समाजमें आदरणीय व्यक्ति बनेगा, तब उसकी माताका कलङ्क उसे सब प्रकारके सम्मानसे वञ्चित कर देगा।

अतः समाजके श्रेष्ठ पुरुषोंको चाहिये वे विधवाओंके धर्म-रक्षणमें सहयोग दें, उन्हें पाप-पङ्कमें न घसीटें। विधवा भी अपने धर्ममें दृढ़ रहे। भगवान् मङ्गल करेंगे। शेष प्रभुकी दया।

(८)

भगवद्विश्वाससे रोगनाश

प्रिय बहिन! सादर हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। आपने लिखा कि आपके पतिदेव पागल हो गये; आपके दो बच्चे हैं; और घरवालोंका बर्ताव जितना अच्छा होना चाहिये, उतना अच्छा नहीं है। आपका चित्त बहुत व्यथित है। कोई सहारा देनेवाला नहीं है। भगवान् सुनते नहीं हैं। सो वास्तवमें ऐसी स्थितिमें आपको दुःख होना स्वाभाविक है। जिसपर विपत्ति पड़ती है, वही जानता है; परंतु आपने जो यह लिखा कि भगवान् सुनते नहीं हैं, यह भूलसे लिखा है। भगवान् सुनते हैं और खूब सुनते हैं। भगवान्पर विश्वास होना चाहिये। आप ऐसा विश्वास कीजिये कि 'भगवान् मेरी सुन रहे हैं, मेरा मनोरथ अवश्य सफल होगा, मेरे पतिदेव निश्चय ही अच्छे होंगे और वे अच्छे होने जा रहे हैं। भगवान्की मुझपर बड़ी कृपा है। उनकी कृपासे मेरे सारे दुःख-कष्ट निश्चय ही दूर हो जायँगे।' इस प्रकार दृढ़ भावना कीजिये और इन विश्वासके वाक्योंको बार-बार दुहराते हुए भगवान्से प्रार्थना कीजिये। आपको अवश्य सफलता मिलेगी। भगवान्ने गीतामें स्वयं कहा है—

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।
(१८।५८)

'मुझमें मन लगा लो, फिर मेरी कृपासे समस्त सङ्कटों और कठिनाइयोंसे तुम अनायास ही तर जाओगे।'……

भगवान्के ये वचन सर्वथा ध्रुव सत्य हैं। आप घबराइये मत, न निराश होइये और न भगवान्पर जरा भी अविश्वास कीजिये। भगवान्पर विश्वास न होनेके कारण ही निराशा, शोक, विषाद और चिन्ता होती है। सर्वशक्तिमान् परम सुहृद् मङ्गलमय भगवान्पर विश्वास करते ही निराशा, शोक, विषाद और चिन्ता मिट जाती हैं और फिर परिस्थिति भी पलट जाती है। आप विश्वासपूर्वक नित्य प्रार्थना कीजिये, आपकी प्रार्थना सच्ची श्रद्धासे युक्त होगी तो आपके पतिदेवका स्वास्थ्य शीघ्र ही सुधर जायगा।

साथ ही एक दवा कीजिये। 'धवलबरवा' नामक एक जड़ी होती है, सभी जगह मिलती है। इसको संस्कृतमें 'सर्पगन्धा' कहते हैं। वहाँ न मिलती हो तो पता लिखनेपर हमलोग यहाँसे भेज सकते हैं। यह जड़ी ॥) भर सबेरे एक छटाँक गुलाबजलमें भिगो दी जाय और शामको उसमें तीन काली मिर्च मिलाकर उसी जलमें पीसकर उसे बिना छाने ही पिला दिया जाय। इसी प्रकार रातको भिगोकर सुबह पिला देना चाहिये। इससे खूब नींद आयेगी और पागलपन दूर हो जायगा। कमजोरी ज्यादा मालूम दे तो बीचमें एक दो दिन दवा बंद कर देनी चाहिये या मात्रा घटा देनी चाहिये। रोगीको पौष्टिक भोजन नहीं देना चाहिये। अमरूद

खिलाना बहुत अच्छा है। कुछ दिन दवा देनेपर ही लाभ दिखायी देगा।

सबसे बड़ी दवा है विश्वासके साथ भगवान्‌का नाम लेना। श्रीधन्वन्तरिजीके वाक्य हैं—

अच्युतानन्तगोविन्दनामोच्चारणभेषजात् ।
नश्यन्ति सकला रोगाः सत्यं सत्यं वदाम्यहम् ॥

'अच्युत, अनन्त, गोविन्द—इन नामोंके उच्चारणरूपी औषधसे सब रोगोंका नाश होता है—यह मैं सत्य-सत्य कहता हूँ।'

अतएव आप फलमें सन्देहरहित होकर सरल विश्वासके साथ 'अच्युताय नमः, अनन्ताय नमः, गोविन्दाय नमः' इन नामोंका जप कीजिये। आपके पतिदेव कर सकें तो उनसे भी कराइये। अवश्य लाभ होगा। लौकिक दुःखनाशका ही नहीं, भयङ्कर-से-भयङ्कर भवरोगके नाशका भी यही सर्वोत्तम उपाय है। इसपर विश्वास कीजिये। विशेष भगवत्कृपा।

(९)

सन्ध्योपासन अवश्य करना चाहिये

सप्रेम हरिस्मरण! आपका पत्र मिला। उत्तर निम्नलिखित है—

१—गीता, रामायण, भागवत आदिका पाठ सभी कर सकते हैं। परंतु स्नान आदिके द्वारा शुद्ध होकर करना उत्तम है। प्रणवका उच्चारण स्त्री और शूद्रोंके लिये निषिद्ध है। सूतक-पातकमें भी मानस-पाठ किया जा सकता है।

२—यज्ञोपवीत-संस्कार हो जानेपर सन्ध्योपासनाके लिये जरूर समय निकालना चाहिये। मुसल्मान भाइयोंको यदि नमाजके लिये समय मिल जाता है तो हमें सन्ध्याके लिये क्यों नहीं मिलेगा? असलमें अपनी गौण-बुद्धि होनेपर ही अवहेलना होती है। सन्ध्यावन्दनको हम परम आवश्यक कार्य मान लें तो अन्य कार्योंसे इसके लिये अवकाश निकालना असम्भव नहीं है। जल आदि न मिलें तो समयपर मानसिक सन्ध्या कर लेनी चाहिये। सन्ध्या न होती हो, ऐसी अवस्थामें यज्ञोपवीत ही नहीं रक्खें—यह बात ठीक नहीं है। द्विजों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य)-के लिये यज्ञोपवीत धारण करना परम आवश्यक है। और यज्ञोपवीत धारण करनेके बाद सन्ध्या भी करनी ही चाहिये। यदि किसी अनिवार्य कारणवश कभी सन्ध्या न हो सके तो उसका प्रायश्चित्त किया जा सकता है; परंतु इसलिये यज्ञोपवीत धारण ही न करना सर्वथा अनुचित है।

३—सन्ध्या न होनेके कारण नाम-जप, गीता-पाठ और पूजा आदि व्यर्थ होते हैं, उनका फल नहीं होता—ऐसी बात नहीं है। इनके करनेका सुफल भी होगा और सन्ध्या न करनेके कारण पाप भी। श्रेष्ठ कर्म कभी शुभ फल देनेसे नहीं चूकते।

४—सूतक-पातकके समय वैदिक मन्त्रोंका मनसे उच्चारण कर लेना चाहिये। उस समय यज्ञोपवीत तो रहती है। इसमें कोई दोष नहीं है।

५—मानसिक पूजाके समय भगवान्‌के श्रीविग्रह, पूजाकी सामग्रीके साथ-साथ पूजा करनेवालेके रूपमें अपनी भी कल्पना करनी होगी, नहीं तो पूजा कौन करेगा; सो इसमें अलग अपनी कल्पना करनेकी आवश्यकता नहीं है। पूजा करनेवाला तो स्वयं बैठा ही है। वह कल्पना करता है अपने इष्टदेव भगवान्‌की, पूजन-सामग्रीकी और पूजनकी।

आश्चर्यजनक सत्य दैवी घटनाएँ

(१)

आश्चर्यजनक सत्यसे रक्षा

झालरापाटनसे श्रीकृष्णगोपालजी माथुर लिखते हैं—

एक घटना, जो हालमें ही इधर घटी है, जिसमें प्रभुने किस तरह एक अकेली स्त्री और बालककी रक्षा की है, सुनाता हूँ। यहाँ झालावाड़ राज्यकी सीमासे कोटा राज्य (राजस्थान) की सीमा मिली है। कोटेसे कोई पाँच कोसकी दूरीपर 'कैथोन' नामका एक कस्बा है, जहाँ कई वर्ष पहलेसे ही खादी बनती है, जो इधर बहुत प्रसिद्ध है। कोटेसे कैथोन किरायेकी मोटर जाती-आती है। उस रोज मोटर निकल चुकी थी। एक भले घरकी बाईको, जो जेवर पहने हुए थी, अपने बालकसमेत कोटेसे कैथोन जाना जरूरी था। एक सिंधी हिंदू अपने ताँगेमें बिठाकर उसे कैथोन पहुँचा देनेको तैयार हुआ। ताँगा चला। मार्गमें सिंधीने बाईसे कहा—यहाँ जंगल आ गया है; तुम अपने गहनोंको उतारकर कपड़ेमें बाँधकर ताँगेकी बैठकके नीचे रख दो, ताकि चोर-लुटेरोंका भय न रहे। उसने वैसा ही किया। आगे चलकर मार्गमें एक कुआँ आया। सिंधीने ताँगा ठहराया और वह अपनी बाल्टी कुएँसे भर लाया। फिर बाईसे बोला—'पानी पीना हो तो पी लो; आगे पानी नहीं आयेगा।' बाईने कहा—'मेरे पास लोटा-डोर नहीं है!' सिंधीने अपने पाससे लोटा-डोर दिया। वह बाई कुएँपर बालकसमेत गयी और ज्यों ही झुककर पानी खींचने लगी, त्यों ही पीछेसे सिंधीने आकर उसे कुएँमें ढकेल दिया और बालकको भी कुएँमें गिरा दिया। यह दुष्कृत्य करके वह ताँगा चलानेकी तैयारीमें लगा। परंतु फिर शायद यह विचार कर कि देखूँ, दोनों पानीमें डूबकर मर गये या नहीं, वह कुएँमें झाँकने लगा। देखता है—स्त्री अपने बालकको पकड़े हुए कुएँमें तैर रही है और कुएँकी एक खोहका सहारा लिये हुए है।

ताँगेवालेने शायद सोचा होगा कि यह जिंदा निकल आयेगी तो मुझे फँसा देगी—इसपर ऊपरसे भारी पत्थर डालकर इसका काम ही तमाम कर डालना चाहिये। वह पास ही एक बड़े पत्थरको उठाने लगा। ज्यों ही उसने पत्थरके एक सिरेको ऊँचा किया, त्यों ही उसके नीचेसे एक बड़ा भारी काला सर्प निकला और तुरंत सिंधीके दोनों हाथोंकी कलाइयोंमें लिपट गया, मानो हथकड़ी डाल दी गयी हो। और फन उसके मुँहके सामने फैला दिया। उसे काटा नहीं, और न फुंकार ही मारी।

इतनेमें ही उधरसे पुलिसके दो सिपाही चालानकी ड्यूटी बजाकर लौट रहे थे। उन्होंने सड़कपर ताँगा खड़ा देखा और ताँगेवालेको कुएँके पास घबराया हुआ देखा तो उन्हें सन्देह हुआ। ऊपरसे कुछ बोल-चाल सुनकर कुएँमेंसे स्त्री चिल्लायी। दोनों सिपाहियोंने सारा भेद खुलवाया। फिर नागदेवसे प्रार्थना की कि अब हमने इसे गिरफ्तार कर लिया है, आप चले जायँ। कहते हैं कि सर्प उसी समय हाथोंमेंसे निकलकर चला गया। (स्त्री बच्चेसहित कुएँसे निकाल ली गयी।) सिपाहियोंने सबको ताँगेमें बिठाया और कोटा पुलिसमें लाकर दाखिल किया। वहाँ नगरके राशि-राशि लोगोंने इसे सुना। बात दूर-दूरतक बिजलीकी तरह फैल गयी। सभीने परम रक्षक श्रीभगवान्‌को कोटिशः धन्यवाद दिये। धन्य है दयामय प्रभुको!

(२)

भगवतीके प्रसादसे रोगनाश

श्रीवैकुण्ठम्—तिन्नेवेली (दक्षिण भारत)-से एक बहिन लिखती हैं—यहाँ तिरुनेलवेलीमें एक ऑडीटर

महाशय रहते हैं। उनकी एक पुत्री लगभग आठ सालसे लकवेसे पीड़ित होकर शय्यासेविनी बन रही थी। कुछ भी बोल नहीं सकती थी। बुद्धि भी मन्द पड़ गयी थी। कितना ही औषधोपचार किया, परंतु कोई लाभ नहीं हुआ। पिछले भाद्रपद मासमें उसके घरके लोग उसको 'कुत्तलम' नामक तीर्थस्थानमें श्रीजगदम्बाके श्रीचक्रपीठको ले गये और महामायाके कृपाकटाक्षकी प्रतीक्षा करने लगे।

एक दिन रातको जब लड़कीको स्नान करवाकर श्रीचक्रपीठके सामने बैठाया गया, तब अचानक वह रोने और बोलने लगी तथा खड़ी होकर नृत्य करने लगी। सब लोग आश्चर्यमें पड़ गये। पूछनेपर उसने बताया—"अभी मेरी आँखोंके सामने एक दस वर्षकी सर्वाभरण-भूषिता कन्या आयी और मेरे सिरपर हाथ रखकर बोली—'तुम भी मेरे-ही-जैसे नृत्य करो और गाओ।' सहसा मेरी जीभ, जो खिंच गयी थी, खुल गयी, मानो किसीने हाथसे खोल दी हो।" यह कहकर लड़की नाचने और गाने लगी। हम सब लोग, जो वहाँ उपस्थित थे, फूले न समाये। करीब दो सप्ताहतक यह घटना समाचारपत्रोंका प्रधान विषय बनी रही। अब वह लड़की प्रसन्नचित्त और स्वस्थ है, खूब बोलती है और महामायाके ऊपर कविता रचकर गाती है। अपनी आँखोंके सामने ऐसी घटना देखकर किस मनुष्यका सिर भक्तिसे नहीं झुक जायगा? मैं तो भगवती माताजीकी यह दया देखकर निहाल हो गयी। मेरे-जैसे भक्तिके भूखे जो कोई भी भाई-बहिन हों, वे भी इसे सुनकर मेरी ही भाँति माताजीके आगे सिर झुकायें। यही मेरी विनती है।

(३)

गोदावरी-स्नानसे दर्शन, श्रवण और भाषणशक्ति प्राप्त

एक सज्जन लिखते हैं—आश्चर्यकी बात है कि देवादेशसे पुण्यसलिला गोदावरीमें स्नान करके एक अंधा, बहरा और गूँगा नवयुवक देखने, सुनने और बोलने लगा। घटना यों है—पश्चिम गोदावरीके ताडेपल्लीगुडेम (Tadepalligudem) स्थानमें मदासु पोर्तेराजू नामक एक बीस वर्षका अंधा, बहिरा और गूँगा युवक रहता था। उसे कुछ दिन पहले स्वप्नमें एक नराकृति पुरुषने दर्शन देकर कहा—'तुम भद्राचलम् तीर्थमें जाकर गोदावरीजीमें स्नान करो।' तदनुसार उसके माता-पिता उसे भद्राचलम् ले गये और भगवान् श्रीरामके नामका स्मरण करते हुए उन्होंने उसको गोदावरीजीमें गोता लगवाया। गोता लगाकर जब वह बाहर निकला तो सबने आश्चर्यसे देखा कि उसमें देखने-सुनने और बोलनेकी शक्ति आ गयी है। सभी लोग हर्षोत्फुल्ल हो गये। आज भी बीच-बीचमें तीर्थोंका ऐसा विचित्र माहात्म्य दिखलायी दे जाता है कि जिसको देखकर यह विश्वास होता है कि तीर्थों और देवताओंमें महान् शक्ति अन्तर्निहित है।

(४)

सत्यका चमत्कार

(लेखक—श्रीअमरनाथजी सत्सङ्गी)

बात है सन् १९२२ की। उस समय रियासत उदयपुरमें मि० विलकिसन साहब रेजीडेंट और आबूमें मि० कालोन एलियट, ए. जी.-जी. थे। मेरे ससुर उदयपुर रेजीडेंसीमें हेडक्लर्क थे। वे रहनेवाले तो थे अलवर राज्यके, किंतु मेरा विवाह उन्होंने उदयपुरमें ही किया था।

आर्. ई. ई. कालेज आगरा तीन महीनेके लिये बंद हो गया था, इस कारण गर्मीकी छुट्टी बितानेके लिये मैं उदयपुर चला गया था। एक दिन सन्ध्या-समय मैं और मेरे ससुर बगीचेमें बैठे हुए टहलनेका कार्यक्रम बना रहे थे कि अचानक पण्डितजी (मेरे ससुर) ने कहा, 'कल प्रातःकाल एक आवश्यक मुकदमेका

फैसला करने रेजीडेंट और ए. जी.-जी. सियारवाँ गाँव जायँगे। महाराणासाहब भी साथ रहेंगे; इच्छा हो तो तुम भी चल सकते हो । स्थान सुन्दर और आकर्षक है और जिस मामलेका फैसला करना है, वह भी विचित्र और पेचीदा है ।'

मामलेके विचित्र होनेका तो मुझे विश्वास हो गया था; क्योंकि महाराणा फतहसिंह-जैसे चतुर नरेशके लिये कोई मामला भी मुश्किल नहीं था। किंतु इस मामलेके लिये रेजीडेंट और ए. जी.-जी.को खास तौर-से बुलाया गया था । बात यह थी कि सियारवाँ-गाँव महाराज सज्जनसिंहने ब्राह्मणोंको माफीमें दे रक्खा था और गाँवके ब्राह्मण सरकारको कोई लगान तो देते नहीं थे। ऊपरसे १२००) रु० ब्रह्मभेंटके रूपमें प्राप्त करते थे, जिसे कि अब महाराणा फतहसिंहने बंद कर दिया था। और गाँववालोंपर वे जबर्दस्ती लगान लगाना चाहते थे। इसी कारण सियारवाँ गाँवके ब्राह्मणोंने ए. जी.-जी.से अपील की थी कि वे महाराणाको ऐसा करने-से रोकें। यद्यपि कानूनी तौरसे तो पोलिटिकल डिपार्टमेंट राज्यके आन्तरिक मामलेमें हस्तक्षेप नहीं कर सकता था, परंतु इस मामलेमें महाराणासाहबने स्वयं आदेश दे दिया था । उन्हें विश्वास था कि गाँववालोंके पास किसी प्रकारका लिखित प्रमाण नहीं है, फलतः ए. जी.-जी. का फैसला निश्चय ही राज्यके पक्षमें होगा ।

दूसरे दिन हमलोग प्रात:काल ही सियारवाँ गाँवके लिये चल पड़े । नावसे चलनेपर तो यह गाँव उदयपुरसे केवल छः फर्लांग पड़ता है; किंतु हमलोग गाड़ियोंसे गये थे। इसलिये साढ़े पाँच मीलकी दूरी तै करनी पड़ी; क्योंकि सड़क सागरके पाससे घूमकर जाती थी। हमें हौदी नामक स्थानपर उतरना पड़ा । यहाँसे डेढ़ मील तक पहाड़ी रास्ता पैदल चलना था । हौदी उदयपुरसे चार मीलपर एक अत्यन्त सुन्दर स्थान है, जहाँ प्रतिदिन सन्ध्याको पाँच बजे जंगली सूअरोंको मकई डाली जाती थी और मेवाड़के जंगली सूअर शामको वहाँ एकत्र हो जाते थे। अब पता नहीं, राज्यकी ओरसे इन सूअरोंको मकई डाली जाती है या नहीं । कुछ मोटे-मोटे जंगली सूअर प्रदर्शनीके लिये एक मकानमें बंद भी किये हुए थे। यहाँसे चलकर लगभग दो घंटेकी यात्राके बाद हमलोग सियारवाँ पहुँचे । ए. जी.-जी. और महाराणासाहब पालकीमें थे। इसलिये वे आरामसे रहे, पर हमलोग थकानका अनुभव कर रहे थे ।

जहाँ पड़ाव डाला गया था, वह अत्यन्त आकर्षक स्थान था। एक बहुत बड़ी बावली थी, जिसके चारों तरफ किनारोंपर दूर-दूरतक संगमर्मरका फर्श बिछा हुआ था। वहीं एक अत्यन्त पुरातन सघन वट-वृक्ष बावलीके एक कोनेपर था, जिसकी दाढ़ी बढ़ती हुई भूमिमें प्रवेश कर गयी थी और वह विशाल वृक्ष समस्त बावलीके बाहरी संगमर्मरके फर्शपर एक शानदार छतका काम दे रहा था । यह स्थान चारों तरफसे कुछ जगह छोड़कर पहाड़ों और घने जंगलोंसे ढका हुआ था ।

गाँव सियारवाँके ब्राह्मण एक ओर फर्शपर बैठे थे और दूसरी तरफ हमलोगोंके लिये मोढ़ोंका प्रबन्ध था। सबपर एक दृष्टि डालनेके बाद ए. जी.-जी., मि० कालोन एल्यिटने गाँवके मुखियाको अपने सामने बुलाकर कहा, 'तुम्हारे पास कोई ताम्रपत्र या लिखित प्रमाण हो तो उपस्थित करो ।' मुखिया बीस-बाईस वर्ष-का युवक था। वह कोई उत्तर नहीं दे सका। दूसरा एक अधेड़ वयका व्यक्ति सामने लाया गया। उसने बतलाया कि 'महाराजा सज्जनसिंहने जिस समय यह गाँव ब्राह्मणोंको माफीमें दिया था, उस समय ताम्रपत्रपर उन्हों-ने हस्ताक्षर अवश्य किया था—यह हम अपने पूर्वजोंसे सुनते आये हैं; किंतु वह ताम्रपत्र अब कहाँ या किसके पास है, यह हमें विदित नहीं ।' अधेड़ व्यक्तिके इस कथनपर मुसकराते हुए महाराणासाहब बोल उठे 'यदि

ऐसा कोई भी ताम्रपत्र होता तो वह अवश्य ही सुरक्षित रक्खा जाता।' ए. जी.-जी. ने गाँवके आदमियोंका ध्यान अपनी ओर आकर्षित करते हुए कहा, 'यदि तुम-लोग कोई लिखित प्रमाण उपस्थित नहीं कर सकते तो निर्णय महाराणासाहबके पक्षमें होगा।'

गाँवके ब्राह्मण परस्पर एक दूसरेका मुँह ताकने लगे; किंतु उसी समय एक वृद्ध ब्राह्मण लकड़ीके सहारे खड़ा हुआ और आँखें बंद करके कुछ गुनगुनाने लगा। मैं मेवाड़ी भाषासे परिचित नहीं था, इस कारण उस समय उसका अर्थ मेरी समझमें नहीं आया; किंतु बादमें विदित हुआ कि उसने कहा था कि 'दयामय प्रभो! यदि आजतक मेरे गाँवके आदमियोंने कोई अनर्थ नहीं किया हो और सच्चे हृदयसे मातृभूमिकी सेवा की हो तो आज इस संकटमें आप हमारी सहायता करें।'

जन-समुदाय वृद्धकी ओर देख रहा था कि अचानक वृक्षपरसे मनुष्यके बराबर कदका एक बंदर बावलीमें कूद पड़ा। फलतः सबका ध्यान उस वृद्ध ब्राह्मणकी ओर-से हटकर बावलीकी ओर चला गया। लगभग पंद्रह सेकंडके बाद बंदर पानीसे बाहर निकला और एक ताम्रपत्र ए. जी.-जी. के सामने रखकर वृक्षपर चढ़ गया। ए. जी.-जी. देवनागरी लिपि नहीं जानते थे, इस कारण उन्होंने वह पत्र दूसरे आदमीको पढ़नेके लिये दिया। उसने पढ़कर बतलाया कि यह महाराज सज्जनसिंहका उस समयका दस्तावेज है जब कि उन्होंने ब्राह्मणोंकी भक्तिसे प्रसन्न होकर यह गाँव उनको माफीमें दिया था। उस ताम्रपत्रको सबने बारी-बारीसे देखा और जब सब लोग देख चुके, तब वही बंदर वृक्ष-से नीचे उतरा और पत्र हाथसे छीनकर पुनः बावली-में कूद पड़ा। बंदर फिर वापस नहीं आया।

सब चकित थे और ए. जी.-जी. के कोई निर्णय देनेके पूर्व ही महाराणासाहबने खड़े होकर घोषित कर दिया कि जबतक मेवाड़के सिंहासनपर राजपूत हैं, तबतक यह गाँव माफीमें ब्राह्मणोंके पास ही रहेगा और उन्हें १२००) रु० वार्षिक सरकारी कोषसे पूर्ववत् मिलते रहेंगे।

इस घटनापर, सम्भव है, आजके युवक विश्वास न करें; किंतु मुझे पूर्ण विश्वास है कि आज भी भगवान्‌के दरबारमें सत्य और ईमानदारीका पूर्ण सम्मान है और अब भी वे सच्चे और ईमानदार लोगोंकी सहायता किया करते हैं।

(दिल्लीके उर्दूपत्र 'रियासत'के गत ३१ अक्टूबर सन् १९४९ के अङ्कमें प्रकाशित। प्रेषक—स्वामी पारसनाथ सरस्वती)

कैसे सामवेद गावैगो

बाँस बनी बाँसुरी न जानै स्वरभेद नेक, निकरैगो गीत सोई जन जो बजावैगो।
वायुकी लहर में न निजबल बोलिबो है, रेडियो में साधु-शब्द शोध सुधी भावैगो॥
बारिद बरसि सकै बिनु सिंधु जल कहाँ, मन-मति-गति नाहिं नाथ कौं रिझावैगो।
करिबो विनय वर 'सिरस'की शक्ति नाहिं, अवर-सवर कैसे सामवेद गावैगो॥

—श्रीशिवरत्न शुक्ल 'सिरस'

॥ श्रीहरिः ॥

कल्याण

[भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और सदाचारसम्बन्धी सचित्र मासिक पत्र]

सम्पादक—

हनुमानप्रसाद पोद्दार

सं० २००५-६] [सन् १९४९

निबन्ध, कविता तथा चित्र-सूची

वर्ष २३

लेख-सूची

पद्य-सूची

चित्र-सूची

रंगीन

इकरंगे

श्रीहरिः

पुराने और नये ग्राहकोंकी सेवामें नम्र निवेदन

१—यह तेईसवें वर्षका अन्तिम बारहवाँ अङ्क है। इस अङ्कमें इस वर्षका मूल्य समाप्त हो गया है।

२—चौबीसवें वर्षका पहला अङ्क 'हिंदू-संस्कृति-अङ्क' होगा। पूरे वर्षका मूल्य ७॥) होगा। डाकमहसूल अलग नहीं लगेगा। विशेषाङ्कका अलग मूल्य ६॥) है। अतः पूरे वर्षके लिये ही ग्राहक बनना चाहिये।

३—'विशेषाङ्क' आगामी जनवरीके अन्ततक प्रकाशित होकर ग्राहकोंकी सेवामें भेजना आरम्भ कर दिया जाय, ऐसा प्रयत्न हो रहा है। सवा लाखसे अधिक प्रतियाँ छपती हैं। तिरंगे चित्रोंके छपनेमें भी बहुत समय लगता है। इसलिये सम्भव है दो-तीन सप्ताह और अधिक लग जायँ।

४—मनीआर्डरसे रुपये भेजनेवाले महानुभावोंको चाहिये कि यदि भेजनेकी तारीखसे डेढ़ मासतक हमारे कार्यालयकी सही की हुई रसीद न मिले तो स्थानीय डाकघरमें शिकायत कर दें। रुपये भेजनेकी तारीखसे तीन महीनेके अंदर शिकायत नहीं की जायगी तो डाक-विभागकी ओरसे कोई सुनवायी नहीं होगी। साथ ही हमें भी पत्र लिखकर पूछ लेना चाहिये।

५—पत्र-व्यवहारमें और रुपये भेजते समय मनीआर्डर-कूपनमें अपना ग्राहक-नंबर जरूर लिखनेकी कृपा करें। ग्राहक-नंबर न याद हो तो मनीआर्डर-कूपनमें कम-से-कम 'पुराना ग्राहक' अवश्य ही लिख दें। नये ग्राहक हों तो 'नया ग्राहक' लिखनेकी कृपा करें।

६—'ग्राहक-नंबर' न लिखनेसे आपका नाम 'नये ग्राहकोंमें' दर्ज हो जायगा। इससे आपकी सेवामें 'हिंदू-संस्कृति-अङ्क' नये नंबरोंसे पहुँच जायगा और पुराने नंबरकी वी० पी० दुबारा जायगी। ऐसा भी हो सकता है कि उधरसे आपने रुपये भेजे हों, और उनके हमारे पास पहुँचनेके पहले ही आपके नाम वी० पी० चली जाय। दोनों ही सूरतोंमें आपसे यह प्रार्थना है कि आप कृपापूर्वक वी० पी० लौटावें नहीं। चेष्टा करके कृपया नया ग्राहक बनाकर उनके नाम-पते साफ-साफ हमें लिखनेकी कृपा करें।

७—जिन महानुभावोंको किसी कारणसे ग्राहक न रहना हो, वे कृपापूर्वक मनाहीका एक कार्ड लिख दें। ऐसा करनेसे उनके सिर्फ तीन पैसे खर्च होंगे, पर 'कल्याण-कार्यालय' कई आने डाकखर्चके नुकसानसे और समयके अपव्ययसे बच जायगा।

व्यवस्थापक—कल्याण, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

गीता-डायरी सन् १९५० ई०

साइज २०×३० बत्तीसपेजी, साधारण जिल्द, दाम ॥=), डाकखर्च ।≡); भारत-सरकारकी कागज-नियन्त्रण-आज्ञाके डायरी-मुद्रणसम्बन्धी नियममें अभीतक कोई परिवर्तन न होनेके कारण इस साल भी तिथियोंके पृष्ठोंके अतिरिक्त अन्य उपयोगी बातें अधिक न दी जा सकीं। केवल नित्य-प्रार्थना, अमूल्य शिक्षाएँ, संतवाणी, आत्मोन्नतिके मुख्य साधन, भक्त, गीताका मनन शीर्षक उपदेश और 'वन्दे नंदनंदनं देवं' का एक चित्र दिया गया है।

दो प्रतियोंके लिये मूल्य १।), पैकिंग और डाकखर्च ॥-) कुल १॥-), तीनके लिये मूल्य १॥=), पैकिंग-डाकखर्च ॥=), कुल २॥); छःके लिये मूल्य ३॥), पैकिंग-डाकखर्च ॥≡), कुल ४॥≡); आठके लिये मूल्य ५), पैकिंग-डाकखर्च १-) कुल ६-) और बारह प्रतियोंके लिये मूल्य ७॥), पैकिंग तथा डाकखर्च १।≡) सहित कुल ८॥≡) मनीआर्डरसे भेजना चाहिये।

यहाँ आर्डर देनेसे पहले अपने शहरके पुस्तक-विक्रेतासे माँगिये। इसमें आपको पैसे तथा समय दोनोंकी बचत हो सकती है।

श्रीरामचरितमानस—मझला साइज

(सटीक, सचित्र, महीन टाइप, तीसरा संस्करण)

कागज-प्राप्तिकी परिस्थिति सुधर जानेसे यह संस्करण पहले संस्करणकी तरह ही २२×२९ सोलह-पेजी साइजमें छापा गया है। मूल्य ३॥)

पता—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

गोवधको दूसरा एक और प्रोत्साहन !

देशवासियोंका कर्तव्य

बम्बईके पास बननेवाले कसाईखानेके प्रस्तावकी बात 'कल्याण' के पाठक गताङ्कमें पढ़ चुके हैं। अब गोवधको प्रोत्साहन देनेवाला एक और अनर्थकारी कुसंवाद मिला है। भारत-सरकार-द्वारा मुद्राका मूल्य घटाये जानेपर देशके निर्यात व्यापारकी वृद्धिके उपाय बतलानेके लिये एक कमेटी बनायी गयी थी। उस कमेटीने अन्य सिफारिशोंके साथ एक इस आशयकी सिफारिश भी बड़े जोरोंसे की है कि 'देशके खालोंकी निकासीका व्यापार इस वर्ष पहलेकी अपेक्षा घट रहा है और इसका कारण कुछ प्रान्तीय सरकारोंद्वारा पशु-वधपर लगाये हुए नियन्त्रण हैं। अतः इस व्यापारकी वृद्धिके लिये भारत-सरकारको चाहिये कि वह प्रान्तीय सरकारोंसे कहे कि वे पशु-वधपर रोक न लगावें।'

यह भी सुना गया है कि भारत-सरकार इस सिफारिशके अनुसार कार्य करने जा रही है! दूध-घी, जो मानव-जीवनके लिये परमावश्यक खाद्य हैं, दुर्लभ हो गये हैं। बच्चोंकी मृत्यु-संख्या दूधके अभावसे बढ़ी जा रही है और इधर आर्थिक लाभकी दृष्टिसे खालोंकी निकासीके लिये पशु-वधपर रोक हटानेकी सिफारिश की जा रही है! पता नहीं मूक पशुओंके रक्तसे सने और दूध-घीके अभावसे भारतके नर-नारियोंकी मृत्युमें कारणरूप जघन्य अर्थसे देशका क्या मङ्गल होगा। कहाँ तो वर्षोंसे यह सोचा जा रहा था कि चमड़े-खालका निर्यात सर्वथा बंद कर दिया जाय और यह विश्वास था कि देश स्वतन्त्र होनेपर यह अवश्य हो जायगा। (गतवर्ष देशरत्न डा० राजेन्द्रप्रसादजीसे एक डेप्युटेशन मिला था, उसमें पंजाबके पुराने कांग्रेस-कार्यकर्ता लाला हरदेवसहायजी और युक्तप्रान्तके प्रसिद्ध कांग्रेस-नेता बाबा राघवदासजीने आँखोंमें आँसू भरकर यह कहा था 'कि हमलोगोंने जनताको विश्वास दिलाया था कि स्वराज्य होनेपर गोवध बंद हो जायगा। अब उसे हम क्या उत्तर दें।') और कहाँ अब बहुत-बहुत प्रयत्नोंके पश्चात् कई प्रान्तोंने जो पशु-वधपर कुछ प्रतिबन्ध लगाये हैं उन्हें उठा देनेकी चर्चा हो रही है! 'कल्याण' के पाठकोंने गो-अङ्कमें यह पढ़ा ही होगा कि सरकारी रिपोर्टके अनुसार सन् १९४० में ५२७०००० केवल गो-जातिके पशु काटे गये थे। उसके बाद तो यह संख्या और भी बढ़ी थी। यह जान रखना चाहिये कि कसाईखानोंमें अधिक पशु खालोंके लिये ही काटे जाते हैं। खालोंकी निकासी बंद हो जाय तो कसाईखानोंकी गोहत्या अपने-आप ही घट जायगी। ये सब बातें जानने-सुननेपर भी, पता नहीं हमारे अग्रगण्य पुरुषोंको क्या सूझ रही है कि उनके द्वारा गोवधको कानूनी तौरसे कतई बंद करनेकी बात तो दूर रही—गोवधको प्रोत्साहन मिले, ऐसे प्रयत्न हो रहे हैं! भगवान् जानें, देशकी क्या दशा होनेवाली है! यदि वस्तुतः हिंदुओंमें कुछ भी सच्ची देशहितैषिता और धार्मिकता शेष है तो उन्हें इन अनिष्टकारी कार्योंका घोर विरोध करना चाहिये। हमारी अपने माननीय पत्रकार बन्धुओंसे भी विनीत प्रार्थना है कि वे नये बूचड़खानेके प्रस्ताव और खालके निर्यातके लिये प्रान्तीय सरकारोंद्वारा लगाये हुए प्रतिबन्धको हटानेका घोर विरोध कर देशवासियोंके तथा लाखों मूक पशुओंके आशीर्वादके भागी बनें।

विनीत—**हनुमानप्रसाद पोद्दार**